



श्री भगवत्-पुरुषदन्त-भूतबलि-प्रणीतः

# षट्खंडागमः

क०१२५४४ B

श्रीवीरसेनार्य-विरचित-धबला-टीका-समन्वितः

तस्य

प्रथम-खंडे जीवस्थाने

11/10/11  
३२

हिन्दीभाषाबुवाद्-बुलनाम्कटिप्पण-प्रस्तावनेनेकपरिशिष्टे सम्पादिता

## सत्प्ररूपणा १



सम्पादकः

अमरावतीस्य-किंग-एडवर्ड-कालेज-संस्कृतव्यापक. एम् ए, एल् एल्. वी., इत्युपाधिवारी

हीरालालो जैनः

सहसम्पादकौ

पं. फूलचन्द्रः सिद्धान्तशास्त्री

\* पं. हीरालालः सिद्धान्तशास्त्री, न्यायतीर्थः

सशोधने सहायकौ

व्या वा, सा. सू, पं. देवकीनन्दनः

\* डा. नेमिनाथ-तनय-आदिनाथः

सिद्धान्तशास्त्री

उपाध्याय एम्. ए, डी लिट्.

प्रकाशकः

श्रीमन्त सेठ लक्ष्मीचन्द्र शितावराय

जैन-साहित्योद्धारक-फुड-कार्यालयः

अमरावती ( वरार )

वि स. १९९६ ]

वीर-निर्वाण-सवत् २४६५

[ ई. स. १९३९

मूल्यं रूप्यक-दशकम्

खंड १  
भाग १

पुस्तक १

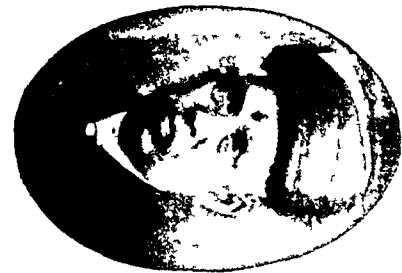




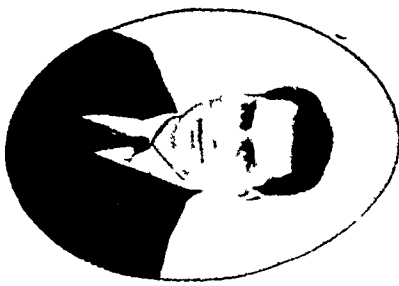
## चित्र-परिचय



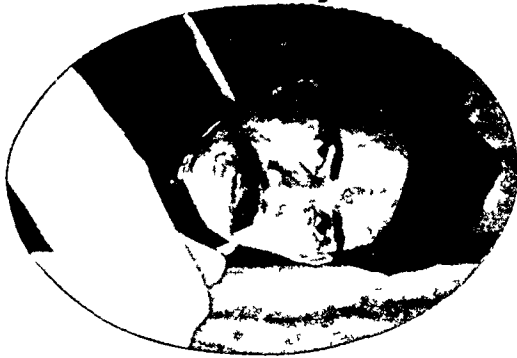
स्व० सेठ हीराचन्द्र नेमीचन्द्र



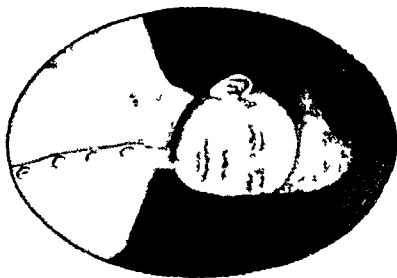
स्व० सेठ माणिकचन्द्र हीराचन्द्र जे० पी०



वैरिस्टर जमनाप्रसादजी



श्रीमत् सेठ लक्ष्मीचन्द्रजी



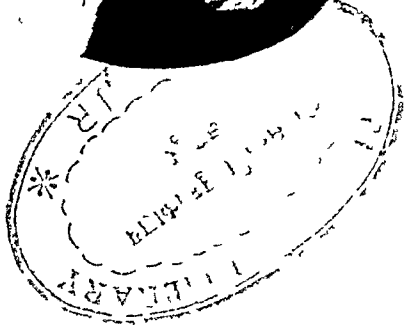
सेठ राजमलजी वडवागया



स्व० सेठ रावजी सदाशम दोशी



सिधार्ह पन्नालालजी

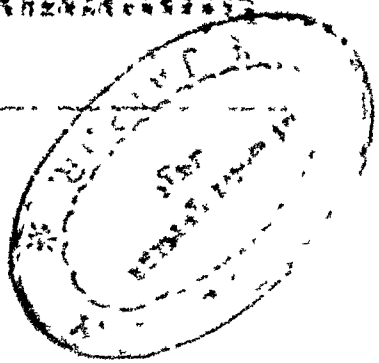


- १ स्व० सेठ हीराचन्द्र नेमीचन्द्र, सोलापुर, जिन्होंने मूडविद्यीमं सिद्धान्त-ग्रंथोंकी प्रतिलिपि करानेकी सर्व प्रथम व्यवस्था की।
- २ स्व० दानवीर सेठ माणिकचन्द्र हीराचन्द्र जोहरी बम्बई, जिन्होंने सिद्धान्त-ग्रंथोंके उद्धारका सर्व प्रथम प्रयत्न किया।
- ३ श्रीमन्त सेठ लक्ष्मीचन्द्र सितारवायजी, भेलसा, सस्थापक जन सार्द्धिय उद्धारक फड।
- ४ श्रीयुक्त वैरिस्टर जमनाप्रसादजी सब जल, जिन्होंने सेठ लक्ष्मीचन्द्रजीको प्रोत्साहित करके उद्धारक फंडकी स्थापना कराई।
- ५ श्रीयुक्त सेठ राजमलजी वडवागया, भेलसा, जिन्होंने उद्धारक फंडद्वारा सिद्धान्त ग्रंथोंके प्रकाशनकी प्रेरणा की।
- ६ स्व० सेठ रावजी सदाशमजी दोशी, सोलापुर, जो अभी अभी तक श्री महाधवल सिद्धान्तके उद्धारके लिये प्रयत्नशील थे।
- ७ श्रीमन्त सिधार्ह पन्नालाल वसीलालजी, अमरावती, जिन्होंने धवल जय-धवलकी प्रतिलिपियाँ कराकर मैनाई और सदाशम सस्थापन निमित्त सस्थाके सुपुर्दे की।

४३

... (The text in this box is extremely faint and largely illegible due to the image quality. It appears to be a list or a set of instructions.)

1. 2. 3. 4. 5. 6. 7. 8. 9. 10. 11. 12. 13. 14. 15. 16. 17. 18. 19. 20. 21. 22. 23. 24. 25. 26. 27. 28. 29. 30. 31. 32. 33. 34. 35. 36. 37. 38. 39. 40. 41. 42. 43. 44. 45. 46. 47. 48. 49. 50. 51. 52. 53. 54. 55. 56. 57. 58. 59. 60. 61. 62. 63. 64. 65. 66. 67. 68. 69. 70. 71. 72. 73. 74. 75. 76. 77. 78. 79. 80. 81. 82. 83. 84. 85. 86. 87. 88. 89. 90. 91. 92. 93. 94. 95. 96. 97. 98. 99. 100.



1. 2. 3. 4. 5. 6. 7. 8. 9. 10. 11. 12. 13. 14. 15. 16. 17. 18. 19. 20. 21. 22. 23. 24. 25. 26. 27. 28. 29. 30. 31. 32. 33. 34. 35. 36. 37. 38. 39. 40. 41. 42. 43. 44. 45. 46. 47. 48. 49. 50. 51. 52. 53. 54. 55. 56. 57. 58. 59. 60. 61. 62. 63. 64. 65. 66. 67. 68. 69. 70. 71. 72. 73. 74. 75. 76. 77. 78. 79. 80. 81. 82. 83. 84. 85. 86. 87. 88. 89. 90. 91. 92. 93. 94. 95. 96. 97. 98. 99. 100.

... (The text in this section is very faint and mostly illegible. It appears to be a list or a set of instructions, similar to the text in the box above.)

## भक्ति कथन

यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी ।

सन् १९२४ में मैंने कारजाके शालभंडारोंका अवलोकन किया और वहाँके ग्रंथोंकी सूची बनाई । वहाँ अपभ्रंश भाषाका बहुतसा अशुभतत्त्व साहित्य मेरे दृष्टिगोचर हुआ । उसको प्रकाशमें लानेकी उत्कंठा मेरे तथा सप्तारके अनेक भाषा-कोविदोंके हृदयमें उठने लगी । ठीक उसी समय मेरी कारजाके सर्मीप ही अमरावती, किंग एडवर्ड कालेजमें नियुक्ति हो गई और मेरे सदैवके सहयोगी सिद्धांतशास्त्री पं. देवकीनन्दनजीके सुभ्रयत्नसे व श्रीमान् सेठ गोपाल सावजी चवरे व बालाकारगण मन्दिरके अधिकारियोंके सदुत्साहसे उन अपभ्रंश ग्रंथोंके सम्पादन प्रकाशनका कार्य चल पड़ा, जिसके फलस्वरूप पाच छह अत्यन्त महत्वपूर्ण अपभ्रंश काव्योंका अत्र तरु प्रकाशन हो चुका है ।

मूडविट्टीके धवलादि सिद्धान्त ग्रंथोंकी कृति में वचनसे ही सुनता आ रहा हूँ । सन् १९२२ में मैंने जैनसाहित्यका विशेषरूपसे अध्ययन प्रारम्भ किया, और उसी समयके लगभग इन सिद्धान्त ग्रंथोंकी हस्तलिपित प्रतियोंके कुछ कुछ प्रचारकी चर्चा सुनाई पड़ने लगी । किन्तु उनके दर्शनोंका सौभाग्य मुझे पहले पहले तभी प्राप्त हुआ जब हमारे नगरके अत्यन्त धर्मगुरुगण, साहित्यमेधी श्रीमान् सिधार्थ पन्नालालजीने धवल और जयधवलकी प्रतिलिपियां कराने के जैनमन्दिरमें विराजमान कर दीं । अब हृदयमें चुपचाप आशा होने लगी कि कभी न कभी इन ग्रंथोंको प्रकाशमें लानेका अवश्य सुअवसर मिलेगा ।

सन् १९३३ के दिसम्बर मासमें अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन परिषद्का वार्षिक अधिवेशन इटारसीमें हुआ और उसके सभापति हुए मेरे परमप्रिय मित्र वैरिस्टर जमनाप्रसादजी सवज्ज । अधिवेशनमें भेलसानिवासी सेठ लक्ष्मीचन्द्र सिताचरारयणी भी आये थे । पहले दिनके जलसेके पश्चात् रात्रिके समय हम लोग एक कमरेमें बैठे हुए जैन साहित्यके उत्तरेके विषयमें चर्चा कर रहे थे । जजसाहब दिनभरकी धूमधाम व दौड़ धूपसे थककर मुस्तसे लेटे हुए थे । इसी बीच किसीने खबर दी कि भेलसानिवासी सेठ लक्ष्मीचन्द्रजी भी अधिवेशनमें आये हुए हैं और वे किसी धार्मिक कार्यमें, सम्भवतः रथ चलानेमें, कुछ द्रव्य लगाना चाहते हैं । इस खबरसे जजसाहबका चेहरा एकदम चमक उठा और उनमें न जाने क्वाकी स्रुति आ गई । वे हम लोगोंसे विना कुछ कहे सुने वहाँसे चल दिये । रातके कोई एक रजे लौटकर उन्होंने मुझे जगाया और एक पुर्जा मेरे हाथमें दिया जिसमें सेठ लक्ष्मीचन्द्रजीने साहित्योद्धारके लिये दस हजारके दानकी प्रतिज्ञा की थी । इस दानके उपलक्ष्यमें दूसरे दिन प्रातःकाल उपस्थित समाजने सेठजीको श्रीमन्त सेठकी पदवीसे विभूषित किया ।

( २ )

आगामी गर्मीकी छुट्टियोंमें जजसाहब मुझे लेकर भेलसा पहुंचे और वहा सेठ राजमलजी बडजात्या व श्रीमान् तरुतमलजी वकीलके सहयोगसे सेठजीके उक्त दानका ट्रस्ट रजिस्ट्री करा लिया गया और यह भी निश्चय हो गया कि उस द्रव्यसे श्री धवलादि सिद्धान्तोंके सशोधन प्रकाशनका कार्य किया जाय ।

गर्मीके पश्चात् अमरावती लौटने पर मुझे श्रीमन्त सेठजीके दानपत्रकी सद्भावनाकी क्रियात्मक रूप देनेकी चिन्ता हुई । पहली चिन्ता धवल जयधवलकी प्रतिलिपि प्राप्त करने की हुई । उस समय इन ग्रंथोंको प्रकाशित करनेके नामसे ही धार्मिक लोग चौकन्ने हो जाते थे और उस कार्यके लिये कोई प्रतिलिपि देनेके लिये तैयार नहीं थे । ऐसे समयमें श्रीमान् सिधार्थ पन्नालालजीने व अमरावती पंचायतने सत्साहस करके अपने यहांकी प्रतियोंका सदुपयोग करनेकी अनुमति दे दी ।

इन प्रतियोंके सूझावलोक्तसे मुझे स्पष्ट हो गया कि यह कार्य अत्यन्त कष्टसाध्य है क्योंकि ग्रंथोंका परिमाण बहुत विशाल, विषय अत्यन्त गहन और दुरुह, भाषा संस्कृत मिश्रित प्राकृत, और प्रायः प्रति बहुत अशुद्ध व खलन-प्रचुर ज्ञात हुई । हमारे सम्मुख जो धवल और जयधवलकी प्रतियां थीं उनमेंसे जयधवलकी प्रति सीताराम शास्त्रीकी लिखी हुई थी और दूसरीकी अपेक्षा कम अशुद्ध जान पड़ी । अतः मैंने इसके प्रारम्भका कुछ अंश संस्कृत रूपान्तर और हिन्दी भाषान्तर सहित छपाकर चुने हुए विद्वानोंके पास इस हेतु भेजा कि वे उसके आधारसे उक्त ग्रंथोंके सम्पादन प्रकाशनादिके सम्बन्धमें उचित परामर्श दे सकें । इरा प्रकार मुझे जो सम्मतियां प्राप्त हो सकीं उनपरसे मैंने सम्पादन कार्यके विषयमें निम्न निर्णय किये—

१ सम्पादन कार्य धवलासे ही प्रारम्भ किया जाय, क्योंकि, रचना-क्रमकी दृष्टिसे तथा प्रचलित परंपरामें इसीका नाम पहले आता है ।

२ मूलपाठ एक ही प्रतिके भरोसे न रखा जाय । समस्त प्रचलित प्रतियां एक ही आधुनिक प्रतिकी प्रायः एक ही द्वाथकी न गलें होते हुए भी उनमेंसे जितनी मिल सकें उनका उपयोग किया जाय तथा मूडविट्टीकी ताड़पत्रकी प्रतिलिपि मिलान करनेका प्रयत्न किया जाय, और उसके अभावमें संहारनपुरकी प्रतिके मिलानका उद्योग किया जाय ।

३ मूलके अतिरिक्त हिन्दी अनुवाद दिया जाय, क्योंकि, उसके बिना सर्व स्वाभाव्य-प्रेमियोंको ग्रंथराजसे लाभ उठाना कठिन है । संस्कृत छाया न दी जाय क्योंकि एक तो उससे ग्रंथका कलेवर बहुत बढ़ता है, दूसरे उससे प्राकृतके पठन पाठनका प्रचार नहीं होने पाता, क्योंकि, लोग उस छायाका ही आश्रय लेकर बैठ रहते हैं और प्राकृतकी ओर ध्यान नहीं देते. और तीसरे जिन्हें संस्कृतका अच्छा ज्ञान है उन्हें मूलानुगामी अनुवादकी सहायतासे प्राकृतके समझनेमें भी कोई कठिनाई नहीं होगी ।

४. संस्कृत छाया न देनेसे जो स्थानकी बचत होगी उसमें अन्य प्राचीन जैन ग्रंथोंमेंसे तुलनात्मक टिप्पण दिये जाय ।

प्रयत्नका सुफल है कि आज हमें इन महान् सिद्धान्तोंके एक अंशको सर्वसुलभ बनानेका सौभाग्य प्राप्त हो रहा है। स्व. लाला जम्भूरामदाजी रईसकी भी लक्ष्मी सफल है जो उन्होंने इन ग्रंथोंकी एक प्रतिलिपिको अपने यहां सुरक्षित रखनेकी उदारता दिखाई और इस प्रकार उनके प्रकट होनेमें निमित्त कारण हुए। हमारे विशेष धन्यवादके पात्र स्व. पं. गजपतिजी उपाध्याय और उनकी स्व भार्या विदुयी लक्ष्मीबाई तथा पं. सीतारामजी शास्त्री हैं जिन्होंने इन ग्रंथोंकी प्रतिलिपियोंके प्रचारका कठिन कार्य किया और उस कारण उन भाइयोंके क्रोध और विद्वेषको सहन किया जो इन ग्रंथोंके प्रकट होनेमें अपने धर्मकी हानि समझते हैं। श्रीमान् सिधार्थ पन्नालालजीने जिस धार्मिकभाव और उत्साहसे बहुत धन व्यय करके इन ग्रंथोंकी प्रतियां अमरावतीमें मगई और उन्हें संशोधन व प्रकाशनके लिये हमें प्रदान की उसका ऊपर उल्लेख कर ही आये हैं। इस कार्यके लिये उनका जितना उपकार माना जावे सब शोड़ा है। प्रिय सुहृत् वैरि जमनाप्रसादजी सवजनका भारी उपकार है जो उन्होंने सेठ लक्ष्मीचन्द्रजीको इस साहित्योद्धार कार्यके लिये प्रेरित किया। वे ऐसे धार्मिक व सामाजिक कार्यमें सदैव कप्तानका कार्य करते हैं। श्रीमन्त सेठ लक्ष्मीचन्द्रजी तो इस समस्त व्यवस्थाके आधार-स्तम्भ ही हैं। आर्थिक सकटमय वर्तमान कालमें उनके हायस्कूल, छात्रवृत्ति, व साहित्योद्धार निमित्त दिये हुए अनेक बड़े बड़े दानोंद्वारा धर्म और समाजका जो उपकार हो रहा है उसका पूरा मूल्य अभी आंका नहीं जा सकता। वह कार्य कदाचित् हमारी भावी पीढ़ीद्वारा ही सुचारुरूपसे किया जा सकेगा। सेठजीको उनके इन उदार कार्योंमें प्रवृत्त कराने और उनका निर्वाह करनेवाले भेलसानिवासी सेठ राजमलजी वृजुजात्या और श्रीमान् तखतमलजी वकील हैं जिन्होंने इस योजनामें भी बड़ी रुचि दिखाई और हमें हर प्रकारसे सहायता पहुंचाकर उपकृत किया। साहित्योद्धारकी दृष्ट कमेटीमें सि. पन्नालालजी, प देवकीनन्दनजी व सेठ राजमलजीके अतिरिक्त भेलसाके श्रीयुत मिश्रीलालजी व सरसावा निवासी पं. जुगोलकिशोरजी सुखतार भी हैं। इन्होंने प्रस्तुत कार्यको सफल बनानेमें सदैव अपना पूरा योग दिया है। पं. जुगलकिशोरजी मुब्तारसे हमें सम्पादन कार्यमें विशेष सहाय्य मिलनेकी आशा थी, किन्तु हमारे दुर्भाग्यसे इसी बीच उनका स्वास्थ्य बिगड़ गया और हम उनके साहाय्यसे विलकुल वंचित रहे। किन्तु आगे संशोधन कार्यमें उनसे सहायता मिलनेकी हमें पूरी आशा है। जबसे इन ग्रंथोंके प्रकाशनका निश्चय हुआ है तबसे शायद ही कोई माह ऐसा गया हो जब हमारी समाजके अद्वितीय कार्यकर्ता श्रीयुक्त ब्रह्मचारी शीतल-प्रसादजीके हमें इस कार्यको आगे बढ़ाने और पूरा करनेकी प्रेरणा न की हो। धर्मप्रभावनाके ऐसे कार्योंको सफल देखनेके लिये ब्रह्मचारीजीका हृदय ऐसा तड़पता है जैसे कोई शिशु अपने माताके दूधके लिये तड़पे। उनकी इस निरन्तर प्रेरणाके लिये हम उनके बहुत उपकृत हैं। हम जानते हैं वे इतने कार्यको सफल देख बहुत ही प्रसन्न होंगे। सम्पादन व प्रकाशन सम्बन्धी अनेक व्यावहारिक कठिनाइयोंको सुलझानेमें निरन्तर साहाय्य हमें अपने समाजके महारथी साहित्यिक विद्वान् श्रेय्य पं. नाथूरामजी प्रेमीसे मिला है। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि प्रेमीजी जैन समाजमें नवीन युगके साहित्यिकोंके प्रमुख

५ ऐसे ग्रंथोंका सम्पादन प्रकाशन बरंबार नहीं होता, अतएव इस कार्यमें कोई ऐसी उतावली न की जाय जिससे ग्रंथकी प्रामाणिकता व शुद्धतामें त्रुटि पड़े।

६ उक्त कार्यमें जितना हो सके उतना अन्य विद्वानोंका सहयोग प्राप्त किया जाय।

इन निर्णयोंको समुच्च रखकर मैंने सम्पादन कार्यकी व्यवस्थाका प्रयत्न किया। भरे पास तो अपने कालेजके दैनिक कर्तव्यसे तथा गृहस्थीकी अनेक चिन्ताओं और विद्म-बाधाओंसे बचा हुआ ही समय था। जिसके कारण कार्य बहुत ही मन्दगतिसे चल सकता था। अतएव एक सहायक स्थायी रूपसे रख लेनेकी आवश्यकता प्रतीत हुई। सन् १९३५ में बीनानिवासी पं. वशीधरजी व्याकरणाचार्यको मैंने बुला लिया, किन्तु लगभग एक माह कार्य करनेके पश्चात् ही कुछ गार्हस्थ्यक आवश्यकताके कारण उन्हें कार्य छोड़कर चले जाना पड़ा। तत्पश्चात् सादूमल (झासी) के निवासी पं. हीरालालजी शास्त्री न्यायतीर्थको बुलानेकी बात आई। वे प्रथम तीन वर्ष उज्जैनमें रायबहादुर सेठ लालचन्द्रजीके यहां रहते हुए ही कार्य करते रहे। किन्तु गत जनवरीसे वे यहां बुला लिये गये और तबसे वे इस कार्यमें मेरी सहायता कर रहे हैं। उसी समयसे बीना निवासी पं. फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीकी भी नियुक्ति करली गई है और वे भी अब इसी कार्यमें मेरे साथ तत्परतासे संलग्न हैं। तथा व्यक्तिगत रूपसे यथावसर अन्य विद्वानोंका भी परामर्श लेते रहे हैं।

प्राकृतपाठ संशोधनसम्बन्धी नियम हमने प्रेस कापीके दो सौ पृष्ठ राजाराम कालेज कोल्हापुरके अध्यागधीके प्रोफेसर, हमारे सहयोगी व अनेक प्राकृत ग्रंथोंका अत्यन्त कुशलतासे सम्पादन करनेवाले डाक्टर ए. एन्. उपाध्येके साथ पढ़कर निश्चित किये। तथा अनुवादके संशोधनमें जैनधर्मके प्रकाण्ड विद्वान् सि. शा. प. देवकीनन्दनजीका भी समय समय पर साहाय्य लिया गया। इन दोनों सहयोगियोंकी इस नियोजित सहायताका मुझ पर बड़ा अनुग्रह है। शेष समस्त सम्पादन, प्रूफ शोधनादि कार्य भरे स्थायी सहयोगी पं. हीरालालजी शास्त्री व पं. फूलचन्द्रजी शास्त्रीके निरन्तर साहाय्यसे हुआ है, जिसके लिये मैं उन सबका बहुत कृतज्ञ हूँ। यदि इस कृतिमें कुछ अछाई व सौन्दर्य हो तो वह सब इसी सहयोगका ही सुफल है।

अब जिनके पूर्व परिश्रम, सहायता और सहयोगसे यह कार्य सम्पन्न हो रहा है उनका हम उपकार मानते हैं। कालके दोषसे कहीं या समाजके प्रमादसे, इन सिद्धान्त ग्रंथोंका पठन चिरकालसे विच्छिन्न हो गया था। ऐसी अवस्थामें भी परमात्र अवशिष्ट प्रतिकी शताब्दियोंतक सावधानीसे रक्षा करनेवाले मूढविद्वान्के सम्मान्य भट्टारकजी हमारे महात्त्व उपकारी हुए हैं। गत पचास वर्षोंमें इन ग्रंथोंको प्रकाशमें लानेका महान् प्रयत्न करनेवाले स्व. सेठ माणिकचन्द्रजी जवेरी, बम्बई, मूलचन्द्रजी सोनी, अजमेर, व स्व. सेठ हीराचन्द्र नेमीचन्द्रजी सोलापुरके हम अत्यन्त कृतज्ञ हैं। यह स्व. सेठ हीराचन्द्रजीके ही

१. मेरी गृहिणी सन् १९३७ से हृदयगत ग्रसित हो गई थी। अनेक औषधि उपचार काले पर भी उसका यह रोग हटाया नहीं जा सका, किन्तु धीरे धीरे चढ़ता ही गया। गुरुवार मरणयाय अवस्थामें बड़े सहरी इलाजोंके निमित्तसे प्राणरक्षा की गई। इसीप्रकार ग्यारह वर्ष तक उसकी जीवनयात्रा चलाई। अतत सन् १९३८ के दिसम्बर मासमें उसका चिरविश्राम हो गया।

देखनेसे हम जैसे अल्प शान्तियाकी बुद्धि चकरा जाती है और अच्छे अच्छे विद्वानोंका भी गर्व खर्ब होने लगता है। हम ऐसी उच्च और विपुल साहित्यिक सम्पत्तिके उत्तराधिकारी हैं इसका हमें भारी गौरव है।

इस गौरवकी वस्तुके एक अंशको प्रस्तुत रूपमें पाकर पाठक प्रसन्न होंगे। किन्तु इसके तैयार करनेमें हमें जो अनुभव मिला है उससे हमारा हृदय भीतर ही भीतर रोद और विषादके आवेगसे रो रहा है। इन सिद्धान्त ग्रंथोंमें जो अपार ज्ञाननिधि भरी हुई है उसका गत कई शताब्दियोंमें हमारे साहित्यको कोई लाभ नहीं मिल सका, क्योंकि, इनकी एकमात्र प्रति किसीप्रकार तालोंके भीतर बन्द होगई और अध्ययनकी वस्तु न रहकर पूजाकी वस्तु बन गई। यदि ये ग्रंथ साहित्यक्षेत्रमें प्रस्तुत रहते तो उनके आधारसे अनेक न जाने कितना किस कोटिका साहित्य निर्माण हो गया होता और हमारे साहित्यको कौनसी दिशा व गति मिल गई होती। कितनी ही सैद्धान्तिक गुरथियां जिनमें विद्वत्समाजके समय और शक्तिका न जाने कितना हास होता रहता है, यहाँ छुलझी हुई पड़ी हैं। ऐसी विशाल सम्पत्ति पाकर भी हम दरिद्री ही बने रहे और इस दरिद्रताका सबसे अधिक सन्ताप और दुःख हमें इनके संशोधन करते समय हुआ। जिन प्रतियोंको लेकर हम संशोधन करने बैठे थे उट्टियों और स्वलन्तिसि परिपूर्ण हैं। हमें उनके एक एक शब्दके संशोधनार्थ न जाने कितनी मानसिक कसरतें करनी पड़ी हैं और कितने दिनोंतक रातके दो दो बजे तक बैठकर अपने खूनको सुखाना पड़ा है। फिर भी हमने जो संशोधन किया उसका सोलहों आने यह भी विश्वास नहीं कि वे ही आचार्य-रचित शब्द हैं। और यह सब कराना पड़ा, जब कि मूडविद्वान्की आदर्श प्रतियोंके दृष्टिगत मानसे संभवतः उन कठिन श्लोकोंका निर्विवाद रूपसे निर्णय हो सकता था। हमें उस अनुभवके जीवन कैसा अनुभव हुआ जिसके पिताकी अपार कर्मार्हपर कोई ताला लगाकर बंद जाय और वह स्वयं एक एक डुकड़ेके लिये दर दर भील मागता फिरे। और इससे जो हानि हुई वह किसकी? जितना समय और परिश्रम इनके संशोधनमें खर्च हो रहा है उससे मूल प्रतियोंकी उपलब्धिमें न जाने कितनी साहित्यसेवा हो सकती थी और समाजका उपकार किया जा सकता था। ऐसे ही समय और शक्तिके अपव्यवरो समाजकी गति रुकती है। इस मंगलतिसे न जाने कितना समय इन ग्रंथोंके उद्धारमें खर्च होगा। यह समय साहित्य, कला व सस्कृतिके लिये बड़े संकटक है। राजनैतिक विफलसे हजारों वर्षाकी सांस्कृतिक सम्पत्ति कदाचित् मिनटोंमें भस्मसार हो सकती है। दैव रक्षा नरे, किन्तु यदि ऐसा ही सन्त यहाँ आ गया तो ये द्वादशशताब्दिके अवशिष्ट रूप फिर कदा रहेंगे? हस्त, चीन आदि देशोंके उदाहरण हमारे सम्मुख हैं। प्राचीन प्रतिमाएं खण्डित हो जानेपर नई कभी भी प्रतिष्ठित हो सकती हैं, पुराने मन्दिर जीर्ण होकर गिर जानेपर नये कभी भी निर्माण करारक खड़े किये जा सकते हैं, धर्मके अनुयायियोंकी संख्या कम होनेपर कदाचित् प्रचारकारा बढ़ाई जा सकती है, किन्तु प्राचीन आचार्योंके जो शब्द ग्रंथोंमें प्रथित हैं उनके प्रचार नष्ट हो

सर्हदवाला है। जिन जिन कार्योंमें जिस जिस प्रकार हमने प्रेमीजीकी सहायता ली है और उन्हें उनकी दृग्गवश्यामें ऋण पट्टुचाया है उसका यहाँ विवरण न देकर इतना ही कहना वश है कि हमारी इस इतिके क्लेशमें जो कुछ उत्तम और सुन्दर है उसमें हमारे प्रेमीजीका अनुभवी और कुशल दाय प्रत्यक्ष व परोक्ष रूपसे विद्यमान है। बिना उनके तात्कालिक मरपरमार्थ, मनुदेश और सत्साहाय्यके न जाने हमारे इस कार्यकी क्या गति होती। जेना भूमिकाने गत होगा, प्रस्तुत ग्रंथके संशोधनमें हमें सिद्धान्तभवन, आरा, व महावीर ब्रह्मचर्याश्रम, कारंजा, की प्रतियोंसे बड़ी सहायता मिली है, इस हेतु हम इन दोनों नमश्रांथोंके अत्रिकार्योंके व प्रतिकी प्राप्तिमें सहायक पं के. भुजवली शाली व पं देवकी-नन्दनजी गार्सी के बहुत रुतय हैं। जिन्होंने हमारी प्रशावलीका उत्तर देकर हमें मूडविद्वान्से न तन्पश्चात् राठानपुरसे प्रतिलिपि बाहर आनेका इतिहास लिखनेमें सहायता दी उनका हम बहुत उपकार मानते हैं। उनकी नामावली अन्यत्र प्रकाशित है। इनमें श्रीमान् सेठ राजजी रासरामजी दोशी, सोलापुर, प. लोकनाथजी शाली, मूडविद्वान्, व श्रीयुक्त नेमिचन्द्रजी वकील, उसमानाबादका नाम विशेष उल्लेखनीय है। अमरावतीके सुप्रसिद्ध प्रवीण ज्योतिर्विद् श्रीयुक्त प्रेमशंकरजी देवेकी सहायतासे ही हम धवलाकी प्रशस्तिके ज्योतिष सम्पत्ती उल्लेखनी छाननीन और संशोधन करनेमें समर्थ हुए हैं। इस हेतु हम उनके बहुत रुतय हैं। इन ग्रंथका मुद्रण स्थानीय 'सरसती प्रेसमें' हुआ है। यह कश्चित् ही होता है कि सम्पादकको प्रेसके कार्य और विशेषतः उसकी मुद्रणकी गति और वेगसे सन्तोष हो। किन्तु इस प्रेसके मैनेजर मि. टी. एम्. पाटलिको हम दार्दिक धन्यवाद देते हैं कि उन्होंने हमारे कार्योंमें कभी आसन्तोषका जारण उत्पन्न नहीं होने दिया और अरप समयमें ही इस ग्रंथका मुद्रण पूरा करनेमें उन्होंने व उनके कर्मचारियोंके वेहद परिश्रम किया है।

इस नक्त्यको पूरा करते समय हृदयके पावित्र्य और दृढताके लिये हमारा ध्यान पुनः हमारे तीर्थंकर भगवान् महावीर व उनकी धरसेन, पुण्यदन्त और भूतवलितककी आचार्य-परम्पराकी ओर जाता है जिनके प्रसाद-लनसे हमें यह साहित्य प्राप्त हुआ है। तीर्थंकरों और केवलगानियोंका जो विश्वव्यापी ज्ञान द्वादशशताब्दिके साहित्यमें प्रथित हुआ था, उससे सीधा सम्बन्ध रखनेवाला नेवल इतना ही साहित्याश वचा है जो धवल, जयधवल व महाधवल कालोत्थाके ग्रंथोंमें निबद्ध है, दिग्गम्बर मान्यतासुसार शेष सब कालके गालमें समा गया। किन्तु जितना भी शेष बचा है वह भी विषय और रचनाकी दृष्टिसे हिमाचल जैसा विशाल और मद्योत्थि जेसा गंभीर है। उसके विवेचनकी सूक्ष्मता और प्रतिपादनके विस्तारको

\* इसके लिये उपरि श्रेय समान्तर मिला है कि बोधीजीका २० अक्षरको स्वर्णाम हो गया, इसका हमें पान्त शोक है। पारो ममाजना एक मारी कर्मठ पुत्रान उठ गया।

जानेपर उनका पुनरुद्धार सर्वथा असम्भव है। क्या लाखों करोड़ों रुपया खर्च करके भी पूरे द्वादशांग श्रुतका उद्धार किया जा सकता है? कभी नहीं। इसी कारण सर्जिव देश, राष्ट्र और समाज अपने पूर्व साहित्यके एक एक टुकड़ेपर अपनी सारी शक्ति लगाकर उसकी रक्षा करते हैं। यह खयाल रहे कि जिन उपयोगोंसे अभीतक ग्रंथ रक्षा होती रही, वे उपाय अब कार्यकारी नहीं। सद्धारक शक्तिने आजकल भीषण रूप धारण कर लिया है। आजकल साहित्य रक्षाका इससे बढ़कर दूसरा कोई उपाय नहीं कि ग्रंथोंकी हजारों प्रतियां छपाकर सर्वत्र फैला दी जाय ताकि किसी भी अवस्थामें कहीं न कहीं उनका अस्तित्व बना ही रहेगा। यह हमारी श्रुत-भक्तिका अत्यन्त बुद्धिहीन स्वरूप है जो हम ज्ञानके इन उत्तम संग्रहोंकी ओर इतने उदासीन है और उनके सर्वथा विनाशकी जोखिम लिये चुपचाप बैठे हैं। यह प्रश्न समस्त जैन समाजके लिये विचारणीय है। इसमें उदासीनता घातक है। हृदयके इन उद्गारोंके साथ अब मैं अपने प्राक्कथनको समाप्त करता हूं और इस ग्रंथको पाठकोंके हाथोंमें सौंपता हूँ।

किंग एडवर्ड कालेज.

अमरावती.

१-११-३९.

हीरालाल जैन.

## विषय सूची

|    |  |     |   |       |
|----|--|-----|---|-------|
| १  | आदर्श प्रतियोंके चित्र (शुद्ध पृष्ठके पश्चात्)         | ११  | सत्यरूपणाका विषय                            | ७५    |
| २  | ग्रंथोद्धारमें सहायक महाबुभावोंके चित्र व चित्र-परिचय। | १२  | ग्रंथकी भाषा                                | ७८    |
| ३  | प्राक् कथन   | १-७ | उपसंहार                                     | ८८    |
|    | प्रस्तावना   |     | टिप्पणियोंमें उल्लिखित ग्रंथोंकी संकेत-सूची | ८९    |
|    | षट्खंडागम परिचय (अधेजीमें) 1-IV                        |     | सत्यरूपणाकी विषय-सूची                       | ९१    |
| १  | श्री धवलादि सिद्धान्तोंके प्रकारोंमें आनेका इतिहास     | १   | शुद्धिपत्र                                  | ९४    |
| २  | हमारी आदर्श प्रतियां                                   | ६   | मंगलाचरण                                    | ९६    |
| ३  | पाठसंशोधनके नियम                                       | १०  | सत्प्ररूपणा (मूल, अनुवाद और टिप्पण)         | १-४१० |
| ४  | षट्खंडागमके रचयिता                                     | १३  | परिशिष्ट                                    |       |
| ५  | आचार्य परम्परा   | २१  | १ संत-परूषणा-सुत्ताणि                       | १     |
| ६  | वीर-निर्वाण-काल  | ३२  | २ अवतरण-नाथा-सूची                           | ११    |
| ७  | षट्खंडागमकी टीका धवलाके रचयिता                         | ३५  | ३ ऐतिहासिक नाम सूची                         | १६    |
| ८  | धवलासे पूर्वके टीकाकार                                 | ४६  | ४ भौगोलिक नाम सूची                          | १७    |
| ९  | धवलाकारके सम्मुख उपस्थित साहित्य                       | ५३  | ५ ग्रंथ नामोल्लेख                           | १८    |
| १० | षट्खंडागमका परिचय                                      | ६३  | ६ वरा नामोल्लेख                             | १८    |
|    |  |     | ७ प्रतियोंके पाठ-भेद                        | १९    |
|    |  |     | ८ प्रतियोंमें छूटे हुए पाठ                  | २६    |
|    |  |     | ९ विशेष टिप्पण                              | २७    |



## INTRODUCTION TO ŚATKHAṆḌĀGAMA

The only surviving pieces of the original Jain Canon of twelve *Angas*, are, according to Digambara tradition, preserved in what are popularly known as *Dhavalā*, *Jai-dhavalā* and *Mahadhavalā* *siddhāntas*. Manuscripts of these were preserved only at the Jain pontifical seat of *Mudbhūri* in South *Kannāra*. It is only during the last twenty years that copies of the first two have become available, while the last still remains inaccessible.

The story of the composition of *Śatkhandaḡama* is told in the introductory part of the *Dhavalā* which is the commentary. The teachings of Lord *Mahāvīra* were arranged into Twelve *Angas* by his pupil *Indrabhūti* (antuna, and they were handed down from preceptor to pupil by word of mouth till gradually they fell into oblivion. Only fractions of them were known to *Dharaṣena* who practised penance in the *Chandra Guphā* of (*Uruvāra* in the country of *Saurāṣṭri* (modern *Kathwar*). He felt the necessity of preserving the knowledge and so he called two sages who afterwards became famous as *Puspadanta* and *Śhātubali*, and taught to them portions of the fifth *Anga*, *Vāhupannatta* and of the twelfth *Anga*, *Ditthavāda*. They were subsequently reduced to writing in *Sūtra* form by the two eminent pupils *Puspadanta* composed the first 177 *Sūtras* which are all embodied in the present edition of *satpraitippana*, and his colleague *Śhātubali* wrote the rest, the total being 600 *Sūtras*.

As regards the time of this composition we are told definitely that *Dharaṣena* lived after *Lohitya* the 28th in succession after *Mahāvīra*, but how long afterwards is left uncertain. Most of the succession lists available show that the time that elapsed from the *Nirvāna* of *Mahāvīra* up to *Lohitya* was 68 years. But the *Prakṛit Pattavāli* of *Nandi* (which carries on the list of succession from *Lohitya* to five more *Acharyas*, the last three of which are *Dharaṣena*, *Puspadanta* and *Śhātubali*, and makes them all fall within the 68 years after *Nirvāna*). According to this account *Dharaṣena* succeeded his predecessor *Māghandi* 614 years after *Nirvāna*. Though this account stands by itself in opposition to the unanimous account given in the *Dhavalā* commentary and many other works, it is in every way supported by an old list *Bṛihad-tippanika* which attributes a work by name *Joni pahudā* to *Dharaṣena* and assigns it to 600 years after *Nirvāna*. The reliability of this *tippana* has been unquestioned so far and the statement is corroborated by the fact that in the *Dhavalā* itself is found a reference to *Jonipahudā* as a work on *Mantri* *śāstra* and with the knowledge of this subject *Dharaṣena* has also been associated. There is, thus, a strong case for identifying our *Dharaṣena* with the author of the *Jonipahudā* and then the combined evidence

of the *Bṛhad-tippana* and the *Prakṛit Pattavāli* would make the composition of *Śatkhandaḡama* fall between 614 and 683 years after *Nirvāna* i. e. between the 1st and 2nd centuries of the Christian Era.

This inference about the period of the composition of *Śatkhandaḡama* is corroborated by the account of its commentaries as given by *Indrabhūti* in his *Śatkhandaḡama* which work I have now come to regard as authentically preserving old traditions. According to *Indrabhūti*, six commentaries were written on *Śatkhandaḡama* in succession, the last being the *Dhavalā*. The first of these commentaries was *Parikarma* written by *Kundakunda*. References to *Parikarma* are many and various in the *Dhavalā* itself, and a careful examination of them has led me to believe that it was really a commentary by *Kundakunda* on this work. The time of *Kundakunda* is approximately the 2nd century A. D. and so the *Śatkhandaḡama* has to be assigned to a period before that. Other commentators mentioned by *Indrabhūti* are *Shamalakunda*, *Tumbufura*, *Samantabhadra* and *Bappadeva*, before we come to *Virasena* the author of *Dhavalā*, and we would not be far wrong in separating them each in succession by about a century, and assign them to 1st, 4th, 5th and 6th century respectively. None of these commentaries have so far been discovered, but traces of most of them may be found in the existing literature.

As regards the time of the commentary *Dhavalā* there is no uncertainty. Its author *Virasena* has recorded many astronomical details of the ending verses but unfortunately the available text of these verses is very corrupt. After a careful scrutiny of the text and its contents, however, I have been able to interpret it correctly, and it yields the result that the *Dhavalā* was completed by *Virasena* on the 13th day of the bright fortnight of *Kārttika* in the year 738 of the *Saka era*, when *Jagattunga* (i. e. *Govinda III* of the *Hastinapura* dynasty) had abandoned the throne and *Bodhana Rāya* (probably *Amoghavarsha I*) was ruling. I have worked out the astronomical details and found them correct, and the date corresponds, according to *Swami Kannu Pillai's* Indian Ephemeris, to the 8th October 816 A. D., Wednesday morning.

In the ending verses of the *Jayadhavalā* we are told that *Virasena's* pupil *Jināsena* completed that commentary in *Saka* 759. The Volume of 60 thousand *ślokas*, thus, took 21 years to compose, which comes roughly to 3000 verses per year. If we take this as the average speed at which *Virasena* wrote, it gives us the period between 792 and 823 A. D. for the vigorous literary activity of *Virasena* alone, which produced the complete *Dhavalā* equal to 72 thousand *ślokas*, and the first one-third of the *Jayadhavalā* i. e. equal to 20 thousand *ślokas*. This single man, thus, accomplished the stupendous and extraordinary task of writing philosophical prose equal to 92 thousand *ślokas* in the course of 31 years, and he was succeeded by an equally



gigantic writer Jinasena, his pupil, who wrote the 10 thousand ślokas of the Jayadhavalā, the beautiful little poem Pūrvābhyudaya and the magnificent Śaṅkṛt Ādipurāna, before he died What a bewildering amount of literary effusion ?

The various mentions found in the Dhavalā reveal to us that there was a good deal of manuscript material before Virasena, and he utilised it very judiciously and cautiously He had to deal with various recensions of the Sūtras which did not always agree in their statements Virasena satisfied himself by giving their alternative views, leaving the question of right and wrong between them to those who might know better than himself He also had to deal with opposite opinions of earlier commentators and teachers, and here he boldly criticizes their views in offering his own explanation On certain points he mentions two different schools of thought which he calls the Northern and the Southern At present I am examining these views a bit more closely They may ultimately turn out to be the Svetāmbara and Digambara schools Works mentioned and quoted from are ( 1 ) Santa-kṛmṇa Pāhuda, ( 2 ) Kasiya Pāhuda, ( 3 ) Sammasūtra, ( 4 ) Tiloya-pannatti Sutta, ( 5 ) Pancatthi Pāhuda ( 6 ) Tattvārtha Sūtra of Griddhapinehha, ( 7 ) Ācāraṅga, ( 8 ) Sārasaṅgraha of Pūjyapada, ( 9 ) Tattvārtha Bhāṣya of Akalanā, ( 10 ) Jivasamāsa ( 11 ) Chhedasūtri ( 12 ) Kammapavāda and ( 13 ) Dāśakarani saṅgraha, while others mentioned without the name of their works are Arya maṅkshu, Nāgahasti, Prabhūchandra and others

Besides these, there are numerous quotations both prose and verse without the mention of their source In the Satprairūpanā alone there are 216 such verses of which I have been able to trace many in the Acāraṅga, Bṛhatkalpa Sūtra, Daśakūhika Sūtra, Sthānāṅga tikā, Anuyogadvāra, and Āvśyaka Niryuṅga of the Svetāmbara canon, besides quite a large number of them in the Digambara literature These mentions give us an insight into the comparative and critical faculty as well as the coordinating power of Virasena

The Satkhandāgama, was reduced to writing, as told before, just at the time Relation with the Canon, and the six Khandas when the whole Jain Canon was on the point of being forgotten. In this connection it is important to note that according to the Digambara tradition all the twelve Aṅgas have been lost except these portions of the last of them i e Dittivāya and a bit of the fifth Aṅga According to the Svetāmbaras, on the other hand, the first eleven are preserved though in a mutilated form, while the Dittivāya is totally lost Thus, to a certain extent, the two traditions mutually complement each other

A look at the tables showing the connection of the present work with the original canon will convey some idea of the extraordinary extent of the Purvas in particular and of the whole canon in general The section dealing with the twenty four subjects Kṛti, Vedanā and others was called in the canon Mahakamma-Payadi Pākṛda The same twenty four subjects have been dealt with in the present work which was called Sūtra Kamma-Pāhuda, but which, owing to its six subdivisions

acquired the hardy title of Shatkhandagama Its six subdivisions are Jivatthana Khudda Bandha, Bandha-Samitta-Vichaya, Vedana, Vaggana and Mahabandha

The whole work deals with the Karma philosophy, the first three divisions from the point of view of the soul which is the agent of the Subject matter of bondage, and the last three from the point of view of the objective the present work. The portion now published is the first part of the Jivatthana and it deals with the quest of the soul qualities and the stages of spiritual advancement through some expressed characteristics such as conditions of existence, senses, bodies, vibratory activities and the like I propose to deal with the subject in some detail in the next volume when Satprairūpanā will be completed

The present work consists of the original Sūtras, the commentary of Virasena called Dhavalā and the various quotations given by the commentator Language from the writings of his predecessors. The language of the Sūtras is Prakrit and so also of the most of the quoted Gāthās The prose of Virasena is Prakrit alternating with Sanskrit In the present portion Sanskrit predominates, being three times as much as Prakrit This condition of the whole text clearly reflects the comparative position of Prakrit and Sanskrit in the Digambara Jain literature of the South The most ancient literature was all in Prakrit as shown by the Sūtras and their first reputed commentary Parikarma as well as all the other works of Kundakunda, and also by the preponderance of Prakrit verses quoted in the Dhavalā But about the time of Virasena the tables had turned against Prakrit and Sanskrit had got the upperhand as revealed by the present portion of Dhavalā as well as its contemporary literature

The Prakrit of the Sūtras, the Gāthas as well as of the commentary, is Sauraseni influenced by the older Ardhr Magadhi on the one hand and the Mahārāṣṭrī on the other, and thus is exactly the nature of the language called Jain Sauraseni by Dr Pischel and subsequent writers It is, however, only a very small fraction of the whole text that has now been edited critically so far as was possible with the available material Final conclusions on this subject as well as on all others pertaining to this work must wait till the whole or at least a good deal of it has been so edited

I have avoided details in this survey of Shatkhandagama because I have discussed all these topics fully in my introduction in Hindi to which my learned readers are referred for details The available manuscripts of the work are all very corrupt and full of lacunae, being very recent copies of a transcript which, so to say, had to be stolen from Mudbudri My great regret is that in spite of all efforts, I could not get at the only old manuscript preserved there So the text had to be constituted from the available copies as critically as was possible according to the principles which I have explained in full in my Hindi introduction In spite of all these difficulties, however, I hope my readers will not find the text as unsatisfactory as it might have been expected under the circumstances

## १. श्री ध्वलादि सिद्धान्तोंके प्रकाशमें आनेका इतिहास

सुना जाता है कि श्री ध्वलादि सिद्धान्त प्रयोगोंको प्रकाशमें लाने और उनके प्रचार करनेका विचार पण्डित टोडरमलजीके समयमें जयपुर और भारतमें पठनपाठनद्वारा प्रचार करनेका भी महान् कार्य सुसपादित होनेके लिये किसी अजमेरकी ओरसे प्रारंभ हुआ था। किंतु कोई भी महान् कार्य सुसपादित होनेके लिये किसी महान् आत्माकी याद तोहता रहता है। बन्धुईके दानवीर, परमोपकारी स्व. सेठ माणिकचंदजी जे. पी. का नाम किसने न सुना होगा? आजसे छपन वर्ष पहले वि. स. १९४० ( सन् १८८३ ई. ) की बात है। सेठ जी सब लेकर मूडविदीकी यात्राको गये थे। वहा उन्होंने रत्नमयी प्रतिमाओं और ध्वलादि सिद्धान्त प्रयोगोंकी प्रतिभोंके दर्शन किये। सेठजीका ध्यान नितना उन बहुमूल्य प्रतिमाओंकी ओर गया, उससे कहीं अधिक उन प्रतिभोंकी ओर आकर्षित हुआ। उनकी मूल्य धर्मरक्षक दृष्टिसे यह बात छुपी नहीं रही कि उन प्रतिभोंके ताड़पत्र जीर्ण हो रहे हैं। उन्होंने उस समयके मद्धारकजी तथा वहाँके पंचोंका ध्यान भी उस ओर दिलाया और इस बातकी पृच्छा की कि क्या कोई उन प्रयोगोंको पढ़ सकना भी सकता है या नहीं? पंचोंने उत्तर दिया 'हम लोग तो इनका दर्शन पूजन करके ही अपने जन्मको सफल मानते हैं। हा, त्रैलोक्यी ( श्रवणवेलगुल ) में ब्रह्मसूरि शास्त्री है, वे इनको पढना जानते हैं'। यह सुनकर सेठजी गभीर विचारमें पड़ गये। उस समय इससे अधिक कुछ न कर सके, किंतु उनके मनमें सिद्धान्त प्रयोगोंके उद्धारकी चिन्ता स्थान कर गई।

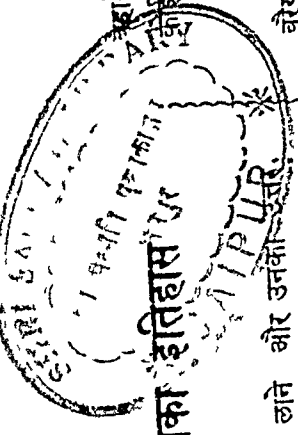
यात्रामे छोटकर सेठजीने अपनं परम सहयोगी मित्र, सोलापुरनिवासी श्री सेठ हीराचंद नेमचन्दजी को पत्र लिखा और उसमें श्री ध्वलादि प्रयोगोंके उद्धारकी चिन्ता प्रगट की, तथा स्थं भी जाकर उक्त प्रयोगोंके दर्शन करने और फिर उद्धारके उपाय सोचनेकी प्रेरणा की। सेठ माणिकचन्दजीकी इस इच्छाको मान देकर सेठ हीराचन्दजीने दूसरे ही वर्ष, अर्थात् वि. स. १९४१ ( सन् १८८४ ) में स्वयं मूडविदीकी यात्रा की। वे अपने साथ श्रवणवेलगुलके पण्डित ब्रह्मसूरि शास्त्रीको भी ले गये। ब्रह्मसूरिजीने उन्हें तथा उपस्थित सज्जनोंको श्री धवल सिद्धान्तका महाप्रचरण पटकर सुनाया, जिसे सुनकर वे सब अतिप्रसन्न हुए। सेठ हीराचन्दजीके मनमें सिद्धान्त प्रयोगोंकी प्रतिलिपि मरानेकी भावना दृढ हो गई और उन्होंने ब्रह्मसूरि शास्त्रीसे प्रतिलिपिका कार्य अपने हाथमें लेनेका आग्रह किया। वहासे लौटकर सेठ हीराचंदजी बन्धुई आये और सेठ माणिकचन्दजीसे मिलकर उन्होंने प्रयोगोंकी प्रतिलिपि करानेका विचार पक्का किया। किंतु उनके

वहासे लौटनेपर वे तथा सेठ माणिकचन्दजी अपने अपने व्यावसायिक कार्योंमें गुप्त गये और दश वर्षतक प्रतिलिपि करानेकी बात उनके मनमें ही रह गई।

इसी बीचमें अजमेरनिवासी श्रीयुक्त सेठ मूलचन्दजी सोनी श्रीयुक्त प, गोपालदासजी चौयाके साथ मूडविदीकी यात्राको गये। उस समय उन्होंने सिद्धान्त प्रयोगोंके दर्शनकर वहाके पंचों और ब्रह्मसूरि शास्त्रीके साथ यह बात निश्चित की कि उन प्रयोगोंकी प्रतिलिपिया की जाय। तदनुसार लेखनकार्य भी प्रारंभ हो गया। यात्रासे लौटते समय सेठ मूलचन्दजी सोनी सोलापुर और बन्धुई भी गये और उन्होंने सेठ हीराचंदजी व माणिकचन्दजीको भी अपने उक्त कार्यकी सूचना दी, जिसका उन्होंने अनुमोदन किया। श्रीमान् सिधई पनालालजी अमरावतीवालसे ज्ञात हुआ है कि जब उनके पिता स्व० सिधई वंशीलालजी स. १९४७ ( सन् १८९० ) के लगभग मूडविदीकी यात्राको गये थे तब ब्रह्मसूरि शास्त्री द्वारा लेखनकार्य प्रारंभ हो गया था। किंतु लगभग तीनसौ दशक प्रमाण प्रतिलिपि होनेके पश्चात् ही यह कार्य बन्द पड़ गया, क्योंकि, सेठजी यह प्रतिलिपि अजमेरके लिये चाहते थे और यह बात मूडविदीके मद्धारकजी व पंचोंको इष्ट नहीं थी।

इसी विषयको लेकर स० १९५२ ( सन १८९५ ) में सेठ माणिकचन्दजी और सेठ हीराचन्दजी के बीच पुनः पत्रव्यवहार हुआ, जिसके फलस्वरूप सेठ हीराचन्दजीने प्रतिलिपि करानेके लक्षके लिये चन्दा एकत्र करनेका बीडा उठाया। उन्होंने अपने पत्र त्रैलोक्यकमें सौ सौ रुपयोंके सहायक बननेके लिये अपील निकालना प्रारंभ कर दिया। फलतः एक वर्षके भीतर चौदह हजारसे ऊपरके चन्देकी स्वीकारता आगई। तब सेठ हीराचन्दजीने सेठ माणिकचन्दजीको सोलापुर बुलाया और उनके समक्ष ब्रह्मसूरि शास्त्रीसे एकसौ पचास ( १२५ ) रुपया मासिक वृत्तिपर प्रतिलिपि करानेकी बात पक्की होगई। उनकी सहायताके लिये मिरजनिवासी गजपति शास्त्री भी नियुक्त कर दिये गये। ये दोनों शास्त्री मूडविदी पहुचे और उसी वर्षकी फाल्गुन शुक्ला ७ बुधवारको ग्रथकी प्रतिलिपि करनेका कार्य प्रारंभ हो गया। उसके एक माह और तीन दिन पश्चात् चैत्र शुक्ला १० को ब्रह्मसूरि शास्त्रीने सेठ हीराचन्दजीको पत्रद्वारा सूचित किया कि जयधवलके पन्द्रह पत्र अर्थात् लगभग १५०० श्लोकोंकी कापी हो चुकी। इसके कुछ ही पश्चात् ब्रह्मसूरि शास्त्री अस्वस्थ हो गये और अन्ततः स्वर्गवासी हुए।

ब्रह्मसूरि शास्त्रीके पश्चात् गजपति शास्त्रीने प्रतिलेखनका कार्य चाल रखा और लगभग सोलह वर्षमें धवल और जयधवलकी प्रतिलिपि नागरी लिपिमें पूरी की। इसी अवसरमें मूडविदीके पण्डित देवराज सेठी, शातपा उपाध्याय तथा ब्रह्मथ इन्द्रद्वारा उक्त प्रयोगोंकी कनाडी लिपिमें भी प्रतिलिपि कर ली गई। उस समय सेठ हीराचंदजी पुनः मूडविदी पहुचे और उन्होंने यह इच्छा



प्रगट की कि तीसरे ग्रंथराज महाधवलकी भी प्रतिलिपि हो जाय और इन ग्रंथोंकी सुरक्षा तथा पठनपाठनरूप सदुपयोगके लिये अनेक प्रतिया कराकर भिन्न भिन्न स्थानोंमें रखी जावें। किंतु इस बातार मद्धारकजी व पचबोग राजी नहीं हुए। तथापि महाधवलकी कनाडी प्रतिलिपि पण्डित नेमिराजजी द्वारा किये जानेकी व्यवस्था करा दी गई। यह कार्य सन् १९१८ से पूर्व पूर्ण हो गया। इसके पश्चात् सेठ हीराचदजीके प्रयत्नसे महाधवलकी नागरी प्रतिलिपि प. लोकनाथजी शास्त्रीद्वारा लगभग चार वर्षोंमें पूरी हुई। इसप्रकार इन ग्रंथोंका प्रतिलिपि कार्य सन् १८९६ से १९२२ तक अर्थात् २६ वर्ष चला, और इतने समयमें इनकी कनाडी लिपि प. देवराज सेठी, प. शातपा इन्द्र, प. ब्रह्मय इन्द्र तथा प. नेमिराज सेठी द्वारा, तथा नागरी लिपि पं. ब्रह्मसूरि शास्त्री, प. गजपति उपाध्याय और प. लोकनाथजी शास्त्री द्वारा की गई। इस कार्यमें लगभग बीस हजार रुपया खर्च हुआ।

### धवल और जयधवलकी प्रतिके बाहर निकलनेका इतिहास

धवल और जयधवलकी नागरी प्रतिलिपि करते समय श्री गजपति उपाध्यायने गुप्त-रीतिसं उनकी एक कनाडी प्रतिलिपि भी कर ली और उसे अपने ही पास रख लिया। इस कार्य में विशेष हाथ उनकी धिदुषी पत्नी लक्ष्मीबाईका था, जिनकी यह प्रबल इच्छा थी कि इन ग्रंथोंके पठनपाठनका प्रचार हो। सन् १९१५ में उन प्रतिलिपियोंको लेकर गजपति उपाध्याय सेठ हीराचदजीके पास सोलपुर पहुंचे और न्योलावर देकर उन्हें अपने पास रखनेके लिये कहा। किंतु सेठजीने उन्हें अपने पास रखना स्वीकार नहीं किया, तथा अपने वनिष्ठ मित्र सेठ माणिकचदजी को भी लिख दिया कि वे भी उन प्रतियोंको अपने पास न रखें। उनके ऐसा करनेका कारण यही जाना जाता है कि वे मूढविद्भिसे बाहर प्रतियोंको न ले जानेके लिये मूढविद्भिके पच्चों और मद्धारकजी से वचनबद्ध हो चुके थे। अतएव प्रतियोंके प्रचारकी भावना रखते हुए भी उन्होंने प्रतियोंको अपने पास रखना नैतिक दृष्टिसे उचित नहीं समझा। तब गजपति उपाध्याय उन प्रतियोंको लेकर सहरानपुर पहुंचे, और वहां श्री लाटा जन्मूपसादजी रईसने उन्हें यथोचित पुरस्कार देकर उन प्रतियोंको अपने मदिरजीमें विराजमान कर दिया।

गजपति उपाध्यायने लाटाजी को यह आश्वासन दिया था कि वे स्वयं उन कनाडी प्रतियोंकी नागरी लिपि कर देंगे। किंतु पुत्रकी बीमारीके कारण उन्हें शीघ्र घर लौटना पडा। पश्चात् उनकी पत्नी भी बीमार हुई और उनका देहान्त हो गया। इन संकटोंके कारण उपाध्यायजी फिर सहरानपुर न जा सके और सन् १९२३ में उनका भी शरीरान्त हो गया। लाटाजीने उन ग्रंथोंकी नागरी प्रतिलिपि पण्डित विजयचद्रया और प. सीताराम शास्त्रीके द्वारा

कराई। यह कार्य सन् १९१६ से १९२३ तक संपन्न हुआ। सन् १९२४ में सहरानपुरवालेने मूढविद्भिके पं. लोकनाथ जी शास्त्रीको बुलाकर उनसे कनाडी और नागरी लिपियोंका मिलान करा लिया।

सहरानपुरकी कनाडी प्रतिकी नागरी लिपि करते समय पं. सीताराम शास्त्रीने एक और कापी कर ली और उसे अपने ही पास रख लिया, यह लाटा प्रबुद्धजुमारजी रईस, सहरानपुर, की सूचनासे ज्ञात हुआ है। पर यह भी सुना जाता है कि जिस समय पं. विजयचद्रया और प. सीताराम शास्त्री कनाडीकी नागरी प्रतिलिपि करने में उतरे उस समय प. विजयचद्रया पढते जाते थे और पं. सीताराम शास्त्री सुविधा और जल्दीके लिये कागजके खरोंपर नागरीमें लिखते जाते थे। इन्हीं खरोंपरसे उन्होंने पीछे शास्त्राकार प्रति सावधानीसे लिखकर लाटाजीको दे दी, किंतु उन खरोंको अपने पास ही रख लिया, और उन्हीं खरोंपरसे पीछे सीताराम शास्त्रीने अनेक स्थानोंपर धवल जयधवल की लिपियां करके दीं। वे ही तथा उन परसे की गईं प्रतिया अब अमरावती, आरा, कारजा, दिल्ली, नम्बई, सोलपुर, सागर, झालरापटन, इन्दौर, सिवनी, ब्यावर, और अजमेरमें विराजमान हैं।

प. गजपति उपाध्याय तथा प. सीताराम शास्त्रीने चाहे जिस भावनासे उक्त कार्य किया हो और भले ही नीतिकी कसौटी पर वह कार्य ठीक न उतरता हो, किंतु इन महान् सिद्धान्त ग्रंथोंको सैकड़ों वर्षोंके कैदसे मुक्त करके विद्वत् और जिज्ञासु ससारका महान् उपकार करनेका श्रेय भी उन्हींको है। इस प्रसंगमें मुझे गुमानी कविका निम्न पद्य याद आता है—

पूर्वजशुद्धिमिपाद् भुवि गगा प्राणितवान् स भगीरथरूप ।  
बन्धुरभूजगत. परमोऽसौ सज्जन है सबका उपकारी ॥

सिद्धान्त प्रयोगोंकी प्रतियोंका इतिहास स्पष्ट करनेके लिये हमने जो प्रश्नावली प्रकाशित की थी उसका जिन अनेक महातुभावोंने सूचनात्मक उत्तर भेजनेकी कृपा की। हम उन्हीं उत्तरोंके आधारसे पूर्णक इतिहास प्रस्तुत करनेमें समर्थ हुए, इस हेतु हम इन सज्जनोंका आभार मानते हैं।

यद्यपि सिद्धान्त प्रयोगोंकी प्रति-उद्धारसम्बन्धी प्रश्नावलीका उत्तर भेजनेवाले सज्जनोंकी नामावली—

- १ श्रीमान् सेठ रावजी सखारामजी दोशी, सोलापुर
- २ " लाळा प्रथुमकुमारजी रईस, सहरानपुर
- ३ " पंडित नाथूराम जी प्रेमी, बम्बई
- ४ " प. लोकनाथजी शाही, मंत्री, वीरवाणी सिद्धान्त भवन, मूडविंद्री
- ५ " ब्र. शीतलप्रसादजी
- ६ " प. देवकीनन्दनजी सिद्धान्तशाही, कारजा
- ७ " सिवई पनालालजी वशीलालजी, अमरावती
- ८ " पं. मखमलालजी शास्त्री, मोरेना
- ९ " पं. रामप्रसादजी शाही, श्री. ऐ. पनालाल दि. जैन सरस्वती भवन, बम्बई
- १० " प. के. युजवलीजी शाही, जैन सिद्धान्त भवन, आरा
- ११ " प. दयाचन्दजी न्यायातीर्थ, सत्तकसुधातरागिणी पाठशाला, सागर
- १२ " सेठ वीरचंद कौदरजी गांधी, फलटन
- १३ " सेठ ठाकुरदास भगवानदामजी जब्हेरी, बम्बई
- १४ " सेठ मूलचन्द किशनदास जी कापडिया, सूरत
- १५ " सेठ राजमल जी बडजाया, भेलसा
- १६ " गान्धी नेमचंद बालचंदजी, वकील, उममानाबाद
- १७ " मासू कामताप्रसादजी, सम्पादक वीर, अलीगज

## २. हमारी आदर्श प्रतियां

१. ववलादि सिद्धान्तप्रयोगोंकी एकमात्र प्राचीन प्रति दक्षिण कर्नाटक देशके मूडविंद्री नगरके गुरुवसदि नामक जैन मंदिरमें वहाँके भट्टारक श्रीचारुकीर्तिजी महाराज तथा जैन पत्रोंके अधिकारमें है। तीनों प्रयोगोंकी प्रतिया ताडपत्र पर कनाडी लिपिमें है। ववलाके ताडपत्रोंकी लम्बाई लगभग २। फुट, चौड़ाई ३ इंच, और कुलसख्या ५९२ है। यह प्रति कवकी लिखी हुई है इसका ठीक ज्ञान प्राप्त प्रतियों पर से नहीं होता है। किन्तु लिपि प्राचीन कनाडी है जो पाच छैसौ वर्षोंसे कम प्राचीन नहीं अनुमान की जाती। कहा जाता है कि ये सिद्धान्त ग्रंथ पहले जैनविंद्री अर्थात् श्रवणबेलगोल नगर के एक मंदिरजी में विराजमान थे। इसी कारण उस मंदिरकी अभी तक 'सिद्धान्त वस्ती' नामसे प्रसिद्धि है। वहा से किसी समय ये ग्रंथ मूडविंद्री पहुँचे। ( एपीग्राफिया कर्नाटिका, जिल्द २, भूमिका पृ २८ )।

२. इसी प्रतिकी धवलाकी कनाडी प्रतिलिपि प० देवराज सेठी, शान्तप्पा उपव्याय और ब्रह्मय इन्द्र द्वारा सन् १८९६ और १९१६ के बीच पूर्ण की गयी थी। यह लगभग १ फुट २ इंच लम्बे और ६ इंच चौड़े काश्मीरी कागज के २८०० पत्रों पर है। यह भी मूडविंद्री के गुरुवसदि मंदिर में सुरक्षित है।

३. ववलाके ताडपत्रोंकी नागरी प्रतिलिपि प० गजपति उपाध्याय द्वारा सन् १८९६ और १९१६ के बीच की गई थी। यह प्रति १ फुट ३ इंच लम्बे, १० इंच चौड़े काश्मीरी कागज के १३२३ पत्रों पर है। यह भी मूडविंद्री के गुरुवसदि मंदिरमें सुरक्षित है।

४. मूडविंद्रीके ताडपत्रों परसे सन् १८९६ और १९१६ के बीच पं. गजपति उपाध्यायने उनकी विदुषी पत्नी लक्ष्मीबाई की सहायतासे जो प्रति गुप्त रीतिसे की थी वह आधुनिक कनाडी लिपिमें कागजपर है। यह प्रति अब सहरानपुरमें लाळा प्रथुमकुमारजी रईसके अधिकारमें है।

५. पूर्वोक्त न. ४ की प्रति की नागरी प्रतिलिपि सहरानपुर में प विजयचंद्रैया और प. सीतारामगाल्हीके द्वारा सन् १९१६ और १९२४ के बीच कराई गई थी। यह प्रति १ फुट लम्बे, ८ इंच चौड़े कागजके १६५० पत्रोंपर हुई है। इसका न ४ की कनाडी प्रतिसे मिलान मूडविंद्री के प लोकनाथजी शाहीद्वारा सन् १९२४ में किया गया था। यह प्रति भी उक्त लाळाजीके ही अधिकारमें है।

६ पूर्वोक्त न ५ की नागरी प्रतिलिपि करते समय प सीताराम शास्त्रीने एक और नागरी प्रतिलिपि करके अपने पास रख ली थी, ऐसा श्रीमान् लाला प्रधुनकुमारजी रईस, सहारनपुर, की सूचनासे जाना जाता है। यह प्रति अब भी प सीताराम शास्त्रीके अधिकारमें है।

७ पूर्वोक्त न ६ की प्रतिपरसे ही सीताराम शास्त्रीने वे अनेक प्रतिया की है जो अब कारजा, आरा, सागर आदि स्थानों में विराजमान है। सागर की प्रति १३॥ इच लम्बे ७॥ इच चौड़े कागज के १५९६ पत्रोंपर है। यह प्रति सत्कर्कसुधातरिणी पाठशाला, सागर, के चैत्यालयमें विराजमान है और श्रीमान प गणेशप्रसादजी वर्णीके अधिकारमें है।

८ न ७ परसे अमरावतीकी धवल प्रति १७ इच लम्बे, ७ इच चौड़े कागजके १४६५ पत्रोंपर बटुकप्रसादजी कायस्थके हाथसे सवत् १९८५ के माघकृष्णा ८ शनि० को लिखी गई है। यह प्रति अब इस साहित्य उद्धारक फंडके ट्रस्टी श्रीमान् सि पन्नालाल बगीलालजी के अधिकारमें है और अमरावतीके परिवार दि जैन मन्दिरमें विराजमान है। इसके ३७५ पत्रोंका ससोधन सहारनपुरवाली न ५ की प्रतिपरसे १९३८ में कर लिया गया था।

प्रस्तुत ग्रंथ की प्रथम प्रेसकापी इसी प्रतिपरसे की गई थी। इसका उल्लेख प्रस्तुत ग्रंथकी टिप्पणियों में 'अ' संकेत द्वारा किया गया है।

९ दूसरी प्रति जिसका हमने पाठ ससोधनमें उपयोग किया है, आराके जैनसिद्धान्त भवन में विराजमान है, और लाला निर्मलकुमारजी चक्रेश्वरकुमारजीके अधिकारमें है। यह उपर्युक्त प्रति न ६ पर से स्वय सीताराम शास्त्री द्वारा वि स १९८३ माघ शुक्ला ५ रविवार को लिखकर समाप्त की हुई है। इसके कागज १४॥ इच लम्बे और ६॥ इच चौड़े है, तथा पत्रसंख्या ११२७ है। यह हमारी टिप्पणियों आदि की 'आ' प्रति है।

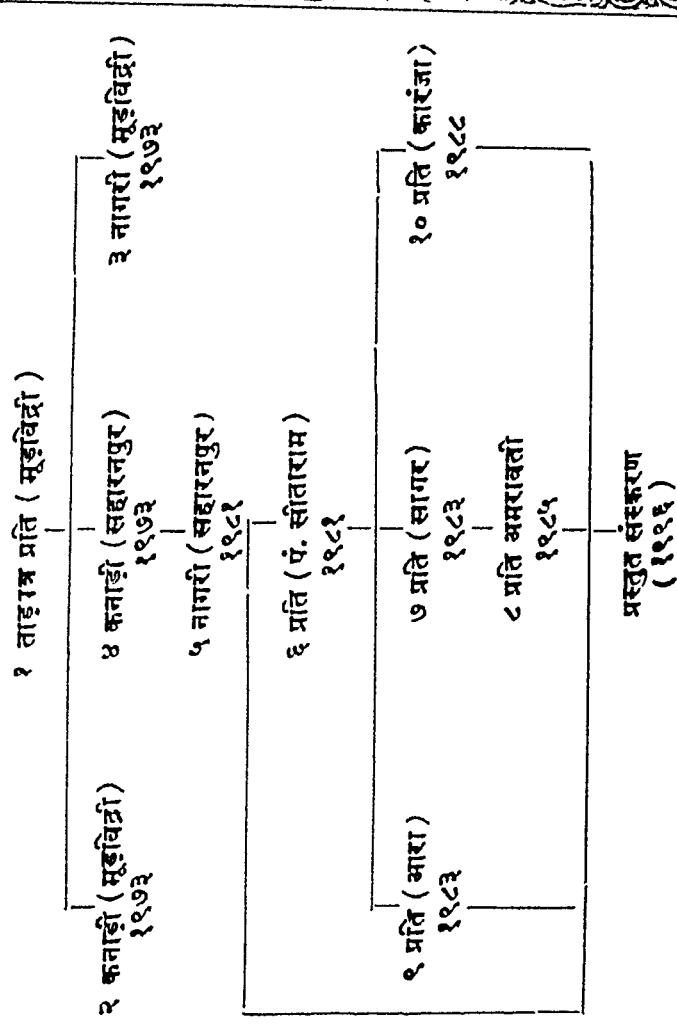
१० हमारेद्वारा उपयोगमें ली गई तीसरी प्रति कारजाके श्री महावीर ब्रह्मचर्याश्रमकी है और हमें प देवकीनन्दनजी सिद्धान्तशास्त्रीके द्वारा प्राप्त हुई। यह भी उपर्युक्त न ६ परसे स्वय सीताराम शास्त्री द्वारा १३॥ इच लम्बे ८ इच चौड़े कागजके १४१२ पत्रोंपर श्रावण शुक्ला १५ स १९८८ में लिखी गई है। इस प्रतिका उल्लेख टिप्पणियों आदि में 'क' संकेत द्वारा किया गया है।

सहारनपुर की प्रतिसे लिए गए ससोधनोंका संकेत 'स' प्रति के नामसे किया गया है।

इनके अतिरिक्त, जहातक हमें ज्ञात है, सिद्धान्त ग्रंथोंकी प्रतिया सोलापुर, झालरा-पाटन, ब्यावर, बम्बई, इन्दौर, अजमेर, दिल्ली और सिवनीमें भी है। इनमेंसे केवल बम्बई दि जैन सरस्वती भवन की प्रति का परिचय हमारी प्रभावलीके उत्तरमें बहा के मैनेजर श्रीयुक्त प. रामप्रसादजी शास्त्रीने भेजनेकी कृपा की, जिससे ज्ञात हुआ कि बट प्रति आराकी उपर्युक्त न ९ की प्रति पर से प रोगानलालद्वारा स १९८९ में लिखी गई है, और उसी परसे झालरा-पाटन ऐलक पन्नालाल दि जैन सरस्वतीभवन के लिए प्रति कराई गई है। सागरकी सत्कर्कसुधा-तरिणी पाठशालाकी प्रतिका जो परिचय बहा के प्रधानाध्यापक प दयाचदजी शास्त्रीने भेजने की कृपा की है, उससे ज्ञात हुआ है कि सिवनी की प्रति सागरकी प्रतिपरसे ही की गई है। ओष प्रतियोंका हमें हमारी प्रभावलीके उत्तरमें कोई परिचय भी नहीं मिल सका।

इससे स्पष्ट है कि स्वय सीताराम शास्त्रीके हाथकी लिखी हुई जो तीन प्रतिया कारजा, आरा और सागरकी है, उनमेंसे पूर्व दोका तो हमने सीधा उपयोग किया है और सागरकी प्रतिका उसकी अमरावतीवाली प्रतिलिपि परसे लाभ लिया है।

## धवल सिद्धान्तकी प्रतियोंकी पूर्वोक्त परम्पराका निदर्शक वंशवृक्ष



उस विवरण और दृष्टान्त में स्पष्ट है कि यथार्थमें प्राचीन प्रति एक ही है किंतु खेद है कि अत्यन्त प्रयत्न करनेपर भी हमें मूडविद्दीकी प्रतिके मिथ्यात्वका लाभ नहीं मिल सका । यही नाप, जिस प्रति परम हमारी प्रथम प्रेम-जापी तैयार हुई वह उस प्रतिकी छठवीं पीढ़ीकी है । उसमें सशोधनके लिये हम पूर्णतः दो पांचवीं पीढ़ीकी प्रतियोंका लाभ पा सके । तीसरी पीढ़ीकी सभ्यतापूर्वाकी प्रति अन्तिम संगोवनके समय हमारे सामने नहीं थी । उसके जो पाठ-भेद अमरावतीकी प्रतिपर अभित्त कर लिये गये थे उन्होंने लाम उठाया गया है । इस परंपरामें भी दो पीढ़ियोंकी प्रतियां गुप्त शीतसे की गई थीं । ऐसी अवस्थामें पाठ-सशोधनका कार्य कितना कठिन हुआ है यह वे पाठक विशेषरूपमें समझ सकेंगे जिन्हें प्राचीन ग्रंथोंके सशोधनका कार्य पडा है । भाषाके प्राकृत होने और विषयकी अत्यन्त गहनता और दुरुहतामें सशोवन कार्य और भी जटिल बना दिया था ।

यह सा होते हुए भी हम प्रस्तुत ग्रंथ पाठकोंके हाथमें कुछ दृढता और विश्वासके साथ दे रहे हैं । उपर्युक्त अवस्थामें जो कुछ सामग्री हमें उपलब्ध हो सकी उसका पूरा लाभ लेनेमें कसर नहीं रही गई । सभी प्रतियोंमें नहीं कहीं लिपिकारके प्रगादसे एक शब्दमे लेकर कोईसी शब्दतक छूट गये हैं । इनकी पूर्ति एक दूसरी प्रतिसे कर ली गई है । प्रतियोंमें वाक्य-समाप्ति-सूचक चिह्न-चिह्न नहीं हैं । कारजाकी प्रतिमें लाल स्याहोंके दण्डक लगे हुए हैं, जो वाक्य-समाप्तिके समाप्तमें सहायक होनेकी अपेक्षा आमक ही अधिक है । ये दण्डक किस प्रकार लगाये गये थे ये हमका इतिहास श्रीमान् प. देवकीन्दनजी शास्त्री सुनाते थे । जब पं. सीतारामजी शास्त्री ग्रंथोंको देते तब कारजा पहुँचे तब पंडितजीने ग्रंथोंको देखकर कहा कि उनमें विराम-चिह्नोंकी कमी है । प. सीतारामजी शास्त्रीने इस कमीकी पूर्ति कर देनेका वचन दिया और लाल स्याही लेकर कामसे दृढावट दण्डक लगाना प्रारम्भ कर दिया । जब पण्डितजीने उन दण्डकोंको जाकर देखा और उन्हें अनुचित स्थानोंपर भी लगा पाया तब उन्होंने कहा यह क्या किया ? प. सीतारामजीने कहा जहाँ प्रतिमें स्थान मिला, आखिर वहाँ तो दण्डक लगाये जा सकते हैं ? पण्डितजी इस अनर्थको देखकर अपनी ठुतिपर पड़ताये । अतएव वाक्यका निर्णय करनेमें ऐसे विराम-चिह्नोंका स्वाभाव मिलजुल ही छोड़कर विषयके तारतम्यद्वारा ही हमें वाक्य-समाप्तिका निर्णय करना पडा है । हममन्तार तथा अन्यत्र दिये हुए सशोधनके नियमोंद्वारा अब जो पाठ प्रस्तुत किया जा रहा है वह समुचित साधनोंकी अप्राप्ति को देखते हुए असंतोषजनक नहीं कहा जा सकता । हमें तो बहुत मोटे स्थानोंपर शुद्ध पाठमें संदेह रहा है । हमें आश्चर्य इस बातका नहीं है कि ये थोड़े स्थल

शंकास्पद रह गये, किंतु आश्चर्य इस बातका है कि प्रतियोंकी पूर्णतः अदृश्य होते हुए भी उन परसे इतना शुद्ध पाठ प्रस्तुत किया जा सका । इस संबन्धमें हमसे पुन यह कहे बिना नहीं रहा जाता कि गजपतिजी उपाध्याय और प. सीतारामजी शास्त्रीने भले ही किमी प्रयोजनवश नकलें की हों, किंतु उन्होंने कार्य किया उनती शक्तिभर ईमानदारीसे और इसने लिये उनके प्रति, और विशेषतः प. गजपतिजी उपाध्यायकी धर्मपत्नी लक्ष्मीबाईके प्रति हमारी कृतज्ञता कम नहीं है ।

### ३. पाठ संशोधनके नियम

१. प्रस्तुत ग्रंथके पाठ-संगोवनमें ऊपर बतलाई हुई अमरावती, सहारनपुर, कारजा और आराकी चार हस्तलिखित प्रतियोंका उपयोग किया गया है । यद्यपि ये सब प्रतियां एक ही प्रतिकी प्रायः एक ही व्यक्तिद्वारा गत पंद्रह वर्षोंके भीतर की हुईं नकले हैं, तथापि उनसे पूर्वकी प्रति अलभ्य होनेकी अवस्थामें पाठ-संगोवनमें इन चार प्रतियोंसे बहुत सहायता मिली है । कमसे कम उनके मिलानद्वारा भिन्न भिन्न प्रतियोंमें छूटे हुए भिन्न भिन्न पाठ, जो एक मात्रसे लगा कर लगभग सौ शब्दांतक पाये जाते हैं, उपलब्ध हो गये और इसप्रकार कमसे कम उन सबकी उस एक आदर्श प्रतिका पाठ हमारे सामने आ गया । पाठका विचार करते समय सहारनपुरकी प्रति हमारे सामने नहीं थी, इस कारण उसका जितना उपयोग चाहिये उतना हम नहीं कर सके । केवल उसके जो पाठ-भेद अमरावतीकी हस्त-प्रति पर अंकित कर लिये गये थे, उन्हेंसे लाभ उठाया गया है । जहाँ पर अन्य सब प्रतियोंसे इसका पाठ भिन्न पाया गया वहाँ दर्सीको प्रामाण्य दिया गया है । ऐसे स्थल परिशिष्टमें दी हुईं प्रति-मिलानकी तालिकाके देखनेसे ज्ञान हो जावेगा । प्रति-प्रामाण्यके बिना पाठ-परिवर्तन केवल ऐसे ही स्थानोंपर किया गया है जहाँ वह विषय और व्याकरणको देखते हुये नितान्त आवश्यक जचा । फिर भी वहाँ पर कमसे कम परिवर्तनद्वारा काम चलाया गया है ।

२. जहाँ पर प्रतियोंके पाठ-मिलानमात्रसे शुद्ध पाठ नहीं मिल सका वहाँ पहले यह विचार किया गया है कि क्या कनाटीसे नागरी लिपि करनेमें कोई दृष्टि-दोषजन्य भ्रम वहाँ संभव है ? ऐसे विचारद्वारा हम निम्न प्रकारके संगोवन कर सके—

( अ ) प्राचीन कनाडीमें प्राकृत लिखते समय अनुस्वार और वर्ण-द्विव-बोक्क संकेत एक चिह्न ही होता है, भेद केवल इतना है कि अनुस्वारका चिह्न कुछ छोटा ( ० ) और द्विवका



कुछ बडा (०) होता है। फिर अनुस्वार का बिन्दु वर्णसे पश्चात् और द्वित्वाका वर्णसे पूर्व रखा जाता है। अतएव लिपिकार द्वित्वाको अनुस्वार और अनुस्वारको द्वित्व भी पढ सकता है। उदाहरणार्थ, प्रो० पाठकने अपने एक लेखमें\* त्रिलोकसाकी कनाडी ताडपत्र प्रति परसे कुछ नागरीमें गायाए उद्धृत की है जिनमेंसे एक यथा देते हैं—

सो उ०भ०गाहिमुहो चउ०मुहो सदरि०वास०परमाज ।  
चालीस र०जओ जिदभूमि पु०छइ स०मति०गण ॥

इसका शुद्धरूप है—

सो उ०भ०गाहिमुहो चउ०मुहो सदरि०वास०परमाज ।  
चालीस—रजओ जिदभूमि पु०छइ स०मति०गण ॥

ऐसे भ्रमकी संभवता ध्यानमें रखकर निम्न प्रकारके पाठ सुधार लिये गये हैं—

(१) अनुस्वारके स्थान पर अगले वर्णका द्वित्व—  
अग गिल्खा—अगगिल्खा ( पृ ६ ), लकखण खइणो—लकखणखइणो ( पृ. १५ )  
सत्रध—संत्रध ( पृ. २५, २९२, ) वस—वस्स ( पृ. ११० ) आदि ।

(२) द्वित्वके स्थानपर अनुस्वार—

भग—भग ( पृ ४९ ) अक्कुलेसर—अकुलेसर ( पृ ७१ ) कत्रबा—कंखा ( पृ. ७३ ) समिइइस्स्या दत्त—समिइइवई सया दत्त ( पृ. ७ ) सव्येयणी—सवेयणी ( पृ. १०४ ) ओराखिय सि ओराखिय ति ( पृ. २९१ ) पावगालिय—पावं गालिय ( पृ. ४८ ) पडिभवा—पडिंमं वा ( पृ. ५८ ) इत्यादि ।

(आ) कनाडीमें द और व प्रायः एकसे ही लिखे जाते हैं जिससे एक दूसरेमें भ्रम हो सकता है ।

द—ध, दरिद—धरिद ( पृ. २९ ) ध—द, इविध—इविद ( पृ. २० ) हरथणु—  
हरदणु ( पृ. २७३ ) इत्यादि ।

(इ) कनाडीमें य और व में अन्तर केवल वर्णके मध्यमें एक बिंदुके रहने न रहनेका

है, अतएव इनके लिखने पढनेमें भ्रान्ति हो सकती है। अतः कर्तव्य के स्थानपर कथ और इसको तथा पूर्वोक्त अनुस्वार द्वित्व-विभ्रमको ध्यानमें रखकर संशोधन के स्थान पर सव्ययौवा कर दिये गये हैं ।

यद्यपि शौरसेनीके नियमानुसार कथ आदिमें य के स्थान पर व ही रखा है, किंतु जहां ध करनेसे किसी अल्प शब्दसे भ्रम होनेकी संभावना हुई वहां य ही रहने दिया। उदाहरणार्थ—  
किसी किसी प्रतिमें ' गयो ' के स्थान पर ' गघो ' भी है किंतु हमने ' गयो ' ही रखा है ।

(ई) ऋस्व और दीर्घ स्वरोंमें बहुत व्यत्यय पाया जाता है, विशेषतः प्राकृत रूपोंमें । इसका कारण यही जान पड़ता है कि प्राचीन कनाडी लिपिमें ऋस्व और दीर्घका कोई भेद ही नहीं किया जाता। अतः संशोधनमें ऋस्वाव और दीर्घव व्यकरणके नियमानुसार रखा गया है ।

(उ) प्राचीन कनाडी ग्रंथोंमें बहुधा आदि ल के स्थान पर अ लिखा मिळता है जैसा कि प्रो. उपाध्येने परमात्मप्रकाशकी भूमिकामें (पृ ८३ पर) कहा है। हमें भी पृ. ३२६ की अवतरण गाथा न. १६९ में ' बहइ ' के स्थान पर ' लहइ ' करना पडा ।

३. प्रतियोंमें न और ण के द्वित्वको छोड़कर शेष पंचमाक्षरोंमें हलत रूप नहीं पाये जाते । किंतु यथा संशोधित संस्कृतमें पंचमाक्षर यथास्थान रखे गये हैं ।

४. प और य में प्राचीन कनाडी तथा वर्तमान नागरी लिपिमें बहुधा भ्रम पाया जाता है । यही बात हमारी प्रतियोंमें भी पाई गई । अतः संशोधनमें वे दोनों यथास्थान रखे गये हैं ।

५. प्रतियोंमें व और व का भेद नहीं दिखाई देता, सर्वत्र व ही दिखाई देता है । अतः संशोधनमें दोनों अक्षर यथास्थान रखे गये हैं । प्राकृतमें व या व संस्कृतके वर्णानुसार रखा गया है ।

६. ' अरिहत. ' संस्कृतमें अकारातके रूपसे प्रतियोंमें पाया जाता है । हमने उसके स्थानपर संस्कृत नियमानुसार अरिहता ही रखा है । ( देखो, भाषा व व्याकरणका प्रकरण )

७. प्रथमें संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओंका खूब उपयोग हुआ है, तथा प्रति-  
यौकी नकल करनेवाले संस्कृतके ही जानकर रहे हैं । अतएव बहुत स्थानोंपर प्राकृतके वीच संस्कृतके और संस्कृतके वीच प्राकृतके रूप आ गये हैं । ऐसे स्थानोंपर शुद्ध करके उनको प्राकृत और संस्कृत रूप ही दिये गये हैं । जैसे, इदि-इति, वण-वन, गदि-गति, आदि ।

८. प्रतियोंमें अत्ररण गायए प्राय अनियमितरूपसे उक्त च या उत्त च कहकर उद्धृत की गई हैं। नियमके लिये हमने सर्वत्र संस्कृत पाठके पश्चात् उक्त च रस्य है।

९. प्रतियोंमें सधिके सबधमें भी बहुत अनियम पाया जाता है। हमने व्याकरणके सप्तिसवर्धो नियमोंको ध्यानमें रखकर यथाशक्ति मूलके अनुसार ही पाठ रखनेका प्रयत्न किया है, किंतु जहा विराम चिह्न आगया हे वहां सवि अवश्य ही तोड दी गई है।

१०. प्रतियोंमें प्राकृत शब्दोंमें लुप्त व्यजनोंके स्थानोंमें कहीं य श्रुति पाई जाती है और कहीं नहीं। हमने यह नियम पालनेका प्रयत्न किया है कि जहा आदर्श प्रतियोंमें अवाशिष्ट स्वर ही हो वहां यदि सयोगी स्वर अ या आ हो तो य श्रुतिका उपयोग करना, नहीं तो य श्रुतिका उपयोग नहीं करना। प्रतियोंमें अधिकांश स्थानोंपर इसी नियमका प्रभाव पाया जाता है। पर ओ के साथ भी बहुत स्थानों पर य श्रुति मिलती है और ऊ अथवा ए के साथ क्वचित् ही, अन्य धरोंके साथ नहीं।

(१) ओ के साथ य श्रुतिके उदाहरण—

भणियो, जाणथो, विसारवो, पारवो, आदि।

(२) ऊ के साथ—वज्रियण

(३) ए के साथ—परिणयेण ( परिणतेन ) एस्कारसीये, आदीये, इत्यादि।

## ४. पट्संडागमके रचयिता

प्रस्तुत ग्रन्थके अनुसार ( पृ. ६७ ) पटखडागमके विषयके ज्ञाता धरसेनाचार्य थे, जो मोरठ देशके गिरिनगरकी चन्द्रगुफामें ध्यान करते थे। नदिसवकी प्राकृत पद्यावलकिके अनुसारवे आचाराग के पूर्णज्ञाताये किन्तु 'धवल' के शब्दोंमें वे अगों और पूर्वोंके एकदेश ज्ञाताये। कुछ भी हो वे थे भारी विद्वान् और श्रुत-वत्सल। उन्हें इस बातकी चिन्ता हुई कि उनके पश्चात् श्रुतज्ञानका लोप हो जाया, अतः उन्होंने महिमा नगरीके मुनिसमेलनको पत्र लिखा जिसके फलस्वरूप वहासे दो मुनि उनके पास पहुंचे। आचार्यने उनकी बुद्धिकी परीक्षा करके उन्हें सिद्धान्त पदाया। ये दोनों मुनि पुण्यदत्त और भूतबलि थे। धरसेनाचार्यने इन्हें सिखाया तो उत्तम-

तासे किंतु ज्यों ही आपाड शुक्का एकादशीको अभ्ययन पूरा हुआ लों ही वर्षाकालके नहुत समीप होते हुए भी उन्हें उसी दिन अपने पाससे विदा कर दिया। दोनों शिष्योंने गुरुकी बात अनुष्ठानीय मानकर उसका पालन किया और वहासे चलकर अकुलेस्वरमें चातुर्मास किया। धरसेनाचार्यने इन्हें वहासे तत्क्षण क्यों स्वाना कर दिया यह प्रस्तुत ग्रन्थमें नहीं बतलाया गया है। किंतु इन्द्रनन्दिकृत श्रुतान्तर तथा विबुध श्रीधररुत श्रुतावतारमें लिखा है कि धरसेनाचार्यको ज्ञात हुआ कि उनकी मृत्यु निकट है, अतएव इन्हें उस कारण वलेश न हो इससे उन्होंने उन मुनियोंको तत्काल अपने पाससे विदा कर दिया। संभव है उनके वहा रहनेसे आचार्यके ध्यान और तपमें विघ्न होता, विशेषतः जब कि वे श्रुतज्ञानका रक्षासंबन्धी अपना कर्तव्य पूरा कर चुके थे। वे संभवतः यह भी चाहते होंगे कि उनके वे शिष्य वहासे जल्दी निकल कर उस श्रुतज्ञानका प्रचार करें। जो भी हो, धरसेनाचार्यकी हमें फिर कोई छटा देखनेको नहीं मिलती, वे सदाके लिये हमारी आखोंसे ओझल हो गये।

धवलकालसे धरसेनाचार्यके गुरुका नाम नहीं दिया। इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारमें लोहार्थ आचार्य तक्की गुरुपरम्पराके पश्चात् विनयदत्त, श्रीदत्त, शिवदत्त और अर्हदत्त इन चार अर्हद्वलिके आचार्योंका उल्लेख किया गया है। वे सब अगो और पूर्वोंके एकदेश ज्ञाता थे। इनके पश्चात् अर्हद्वलिका उल्लेख आया है। अर्हद्वलिके बड़े भारी सप्तनायक ये। वे पूर्वदेशमें पुड्वर्धनपुरके कहे गये हैं। उन्होंने पचवर्षीय युग-अतिक्रमणके समय बडा भारी यति-सम्मेलन किया जिसमें सौ योजनके यति एकत्र हुए। उनकी भावनाओं परसे उन्होंने जान लिया कि अब पक्षपातका जमाना आगया है। अतः उन्होंने नन्दि, वीर, अपराजित, देव, पचस्तप, सेन, भद्र, गुणधर, गुप्त, सिंह, चन्द्र आदि नामोंसे भिन्न भिन्न सब स्थापित क्रिये जिसमें एकत्र और अपनत्वकी भावनासे सब धर्म-वात्सल्य और र्म-प्रभावना बड़े।

श्रुतावतारके अनुसार अर्हद्वलिके अनन्तर माघनन्दि हुए जो मुनियोंमें श्रेष्ठ थे। उन्होंने अगों और पूर्वोंका एकदेश प्रकाश फैलाया और पश्चात् समाविमरण किया। उनके पश्चात् ही

१ इन्द्रनन्दिके अनुसार धरसेनाचार्यने उन्हें दूसरे दिन विदा किया।

२ इन्द्रनन्दिके इस पत्रनका नाम कुरीश्वर दिया हे। वहा वे नौ दिनकी यात्रा करके पहुंचे।

३ स्वासवधुति ज्ञाता मा भूमस्वलेशमंतयोरारिभन् । इति गुरुणा सचिन्य द्वितीयदिवसे ततस्तेन । इन्द्रनन्दि, श्रुतावतार. आत्मनो निकम्पण ज्ञाना धरसेनस्तयोर्मा क्लेशो भवतु इति मत्वा तन्मुनिविसर्जन करिष्यति ।

विजयश्रीधर, श्रुतावतार. मा. दि. नै. म. २१, पृ. ३१७



सौराष्ट्र देशके गिरिनगरके समीप ऊर्जयन्त पर्वतकी चन्द्रगुफाके निवासी धरसेनाचार्यका वर्णन आया है ।

इन चार आरातीय यतियों और अर्हद्वलि, माघनन्दि व धरसेन आचार्योंके बीच इन्द्र-नन्दिने कोई गुरु-शिष्य-परम्पराका उल्लेख नहीं किया । केवल अर्हद्वलि आदि तीन आचार्योंके एकके पश्चात् दूसरेके होनेका स्पष्ट संकेत किया है । पर इन तीनोंके गुरु-शिष्य तारतम्यके सन्धमे भी उन्होंने कुछ नहीं कहा । यही नहीं प्रत्युत उन्होंने स्पष्ट कह दिया है कि—

गुणधरधरसेनान्वयगुर्वो पूर्वापरक्रमोऽस्माभि ।  
न ज्ञायते तदन्यकथकागममुनिजनाभावात् ॥१५१॥

अर्थात् गुणधर और धरसेनकी पूर्वापर गुरुपरम्परा हमें ज्ञात नहीं है, क्योंकि, उसका वृत्तान्त न तो हमें किसी आगममें मिला और न किसी मुनिने ही वतलाया ।

किंतु नन्दिसधकी प्राकृत पट्टवलीमें अर्हद्वलि, माघनन्दि और धरसेन तथा उनके पश्चात् पुण्यदन्त और भूतवलिको एक दूसरेके उत्तराधिकारी वतलाया है जिससे ज्ञात होता है कि धरसेनके दादागुरु अर्हद्वलि और गुरु माघनन्दि थे ।

नन्दिसधकी सस्कृत गुर्वावलीमें भी माघनन्दिका नाम आया है । इस पट्टवलीके प्रारम्भमें भद्रबाहु और उनके शिष्य गुप्तिगुप्तकी वदना की गई है, किंतु उनके नामके साथ सध आदिका उल्लेख नहीं किया गया है । उनकी वन्दनाके पश्चात् मूलसधमें नन्दिसध बलात्कारणके उपन होनेके साथ ही माघनन्दिका उल्लेख किया गया है । सभव है कि सधभेदके विधाता अर्हद्वलि आचार्यने उन्हे ही नन्दिसधका अग्रणी बनाया हो । उनके नामके साथ 'नन्दि' पद होनेसे भी उनका इस गणके साथ सन्ध प्रकट होता है । यथा—

श्रीमानशेपनरनाथकवन्दितात्रि श्रीगुप्तिगुप्त इति विश्रुतनामधेय ।  
यो भद्रबाहुमुनियुगपट्टपन्न सध सधो दिशतु निर्मलसधबुद्धिम् ॥ १ ॥  
श्रीमूलसधेऽजनि नन्दिसध तस्मिन्बलात्कारणोऽतिरम्य ।  
तत्रामवत्पूर्वपदाशवेदी श्रीमाघनन्दी नदेवन्ध ॥ २ ॥

जे सि मा १, ४, ५ ५१

पट्टवलीमें इनके पट्टधारी जिनचन्द्र और उनके पश्चात् पघनन्दि कुन्दकुन्दका उल्लेख किया गया है, पर धरसेनका नहीं । अतः संशय हो सकता है कि ये वे ही धरसेनके गुरु हैं या

नहीं । किंतु उनके 'पूर्वपदाशवेदी' अर्थात् पूर्वोक्त एकदेशको जाननेवाले, ऐसे विशेषणसे पता चलता है कि ये वे ही हैं । पट्टवलीमें उनके शिष्य धरसेनका उल्लेख न आनेका कारण यह हो सकता है कि धरसेन विधानुरागी थे और वे सधसे अलग रहकर शास्त्रान्यास किया करते थे । अतः उनकी अनुपस्थितिमें सधका नाथकत्व माघनन्दिके अन्य शिष्य जिनचन्द्रपर पडा हो । उन्ध धरसेनाचार्यने अपनी विधाद्वारा शिष्यपरम्परा पुण्यदन्त और भूतवलिद्वारा चलाई ।

माघनन्दिका उल्लेख 'जंबूद्वीवपण्णात्ति' के कर्ता पघनन्दिने भी किया है और उन्हे, राग, द्वेष और मोह से रहित, श्रुतसागरके पारगामी, मति प्रगल्भ, तप और संयमसे सम्पन्न तथा विल्यात कहा है । इनके शिष्य सकलचन्द्र गुरु थे जिन्होंने सिद्धान्तमहोदधिमें अपने पापरूपी मैल धो डाले थे । उनके शिष्य श्रीनन्दि गुरु हुए जिनके निमित्त जंबूद्वीवपण्णात्ति लिखी गई । यथा—

गय-यथ-दोस-मोहो सुद-सायर-पारओ मह-पग-भो ।  
तव-संजम-संपण्णो विक्खाओ माघनन्दि गुरु ॥ १५४ ॥  
तस्सेव य वरसिस्सो सिद्धत-महोदहिमि धुय-कल्लसो ।  
णय-णियम-सील-कल्लिदो गुणउत्तो सयलचंद-गुरु ॥ १५५ ॥  
तस्सेव य वर-मिस्सो गिम्मल-वर-णाण-चरण-संजुत्तो ।  
सम्मइसण-सुओ सिरिण्दि-गुरु त्ति विक्खाओ ॥ १५६ ॥  
तरस्स णिमित्त लिहिय जंबूद्वीवस्स तह य पण्णत्ती ।  
जो पडइ सुणइ एद सो गच्छइ उत्तम ठाण ॥ १५७ ॥

( जैन साहित्य सशोधक, खं १. जंबूद्वीवपण्णात्ति. लेखक प नाथरामजी प्रेमी )

जंबूद्वीवपण्णात्तिका रचनाकाल निश्चित नहीं है । किंतु यहा माघनन्दिको श्रुतसागर पारगामी कहा है जिससे जान पडता है कि सभवत. यहा हमारे माघनन्दिसे ही तापर्य है ।

माघनन्दि सिद्धान्तवेदीके सन्धका एक कथानक भी प्रचलित है । कहा जाता है कि माघनन्दि मुनि एकत्रार चर्चीके लिये नगरमें गये थे । वहा एक कुम्हारकी कन्याने इनसे प्रेम प्रगट किया और वे उसीके साथ रहने लगे । कालान्तरमें एकत्रार सर्वमें किसी सैद्धान्तिक विषयपर मत-भेद उपस्थित हुआ और जब किसीसे उसका समाधान नहीं हो सका तब सघनायकने आज्ञा दी कि इसका समाधान माघनन्दिके पास जाकर किया जाय । अतः साधु माघनन्दिके पास पहुँचे और उनसे ज्ञानकी व्यवस्था मागी । माघनन्दिने पूछा ' क्या सघ सुझे जब भी यह सत्कार देता है ? मुनियोंने उत्तर दिया आपके श्रुतज्ञानका सैद्ध आदर होगा । ' यह सुनकर माघनन्दीको पुन

‘भाग्य ही गया और वे अपने सुरक्षित रूपें हुए पीछी कर्मडलु लेकर पुनः सवमें आ मिले । जैन सिद्धान्तभास्कर, सन् १९१३, अंक ४, पृष्ठ १५१ पर ‘ एक ऐतिहासिक स्तुति ’ शीर्षकसे इसी तथानकता पर भाग छपा है और उसके साथ सोलह श्लोकोंकी एक स्तुति छपी है जिसे कहा है कि माघनन्दिने अपने कुम्हार-जीवनके समय कच्चे बर्तोंपर थाप देते समय गाते गाते बनाया था ।

यदि इस कथानकमें कुछ तथ्याश हो भी तो समभवतः वह उन माघनन्दि नामके आचार्योंसे किसी एकके सम्बन्धना हो सकता है जिनका उल्लेख श्रवणवेलगोलके अनेक शिलालेखों में आया है । ( देगो जैनशिलालेखसंग्रह ) । इनमेंसे न. ४७१ के शिलालेखमें शुभचंद्र त्रिभुवनेके गुरु माघनन्दि सिद्धान्तदेव कहे गये हैं । शिलालेख न. १२९ में विना किसी गुरु-शिष्य सम्बन्धके माघनन्दिमो जगन्नाथसिद्ध सिद्धान्तदेवी कहा है । यथा—

नमो नम्रजनानन्दस्यन्दिने माघनन्दिने ।

जगन्नाथसिद्धसिद्धान्तदेविने चिप्रमोदिने ॥ ४ ॥

ये दोनों आचार्य हमारे पट्खण्डागमके सच्चे रचयिता हैं । प्रस्तुत ग्रथमें इनके प्रारम्भिक नाम, नाम व गुरु परम्पराका कोई परिचय नहीं पाया जाता । धयलानारने उनके सवन्धमें केवल इतना ही कहा है कि जब महिमा नगरीमें सम्भलित यतिसवधको वरसेनाचार्यका पत्र मिला तब उन्होंने

आचार्य पुण्यदन्त  
और भूतबलि

शुत-श्वासवन्धी उनके अभिप्रायको समझकर अपने सवमेंसे दो साधु चुने जो विद्याग्रहण करने और स्मरण रचनेमें समर्थ थे, जो अत्यन्त विनयशील थे, शीलवान् थे, जिनका देश, कुल और जाति शुद्ध था और जो समस्त कलाओंमें पारंगत थे । उन दोनोंको वरसेनाचार्यके पास गिरिनगर ( गिरनार ) भेज दिया । धरसेनाचार्यने उनकी परीक्षा की । एकको अधिकाक्षरी और दूसरेको धीनाक्षरी गिया बतान्तर उनसे उन्हें पद्योपवासेसे सिद्ध करनेको कहा । जब विद्यार्थ सिद्ध हुई तो एक बड़े बड़े दातोंवाली और दूसरी कानी देवीके रूपमें प्रगट हुई । इन्हें देख कर चतुर साधकोंने जान लिया कि उनके मंत्रोंमें कुछ त्रुटि है । उन्होंने विचारपूर्वक उनके अधिक और हीन अक्षरोंकी कभी येशी करके पुन साधना की, जिससे देविग्या अपने सामाधिक सौम्यरूपमें प्रकट हुई । उनकी इस कुशलतासे गुरुने जान लिया कि ये सिद्धान्त सिखानेके योग्य पात्र हैं । फिर उन्हें ऋषसे सब सिद्धान्त पढा दिया । यह श्रुताग्यास आगाड शुक्ल एकादशीको समाप्त हुआ और उसी समय भूतोंने पुण्यापहारोद्वारा शंख, तर्पण और वादित्तोंकी घनिके साथ एककी बडी पूजा की । इसीसे आचार्यश्रीने उनका नाम भूतबलि रक्खा । दूसरेकी दत्तपत्ति अस्त-व्यस्त थी, उसे भूतोंने ठीक कर दी, इससे उनका नाम पुण्यदन्त रक्खा गया । ये ही दो आचार्य पुण्यदन्त और भूतबलि पट्खण्डागमके रचयिता हुए ।

इन दोनोंने धरसेनाचार्यसे सिद्धान्त सीखकर प्रथ-रचना की, अतः धरसेनाचार्य उनके शिक्षागुरु थे । पर उनके दीक्षागुरु कौन थे इसका कोई उल्लेख प्रस्तुत ग्रथमें नहीं मिलना । ब्रह्म नेमिदत्तने अपने आराधना-कथाकोपमें भी धरसेनाचार्यकी कथा दी है । उसमें कहा है कि धरसेनाचार्यने जिस मुनिसवधको पत्र भेजा था उसके सधाधिपति महासेनाचार्य थे और उन्होंने अपने सवमेंसे पुण्यदन्त और भूतबलि को उनके पास भेजा । यह कहना कठिन है कि ब्रह्म नेमिदत्तने सधाधिपतिका नाम कथानकके लिये कल्पित कर लिया है या वे किसी आनार परसे उसे लिख रहे हैं ।

त्रिभुध श्रीधरने अपने श्रुतावतारमें भविष्यवाणी के रूपमें एक भिन्न ही कथानक दिया है जो इस प्रकार है—

इसी भरतक्षेत्रके वामिदेश ( बलदेश ? ) में वसुधरा नामकी नगरी होगी । वहाके राजा नरवाहन और रानी सुरूपको पुत्र न होनेसे राजा खेदखिन्न होगा । तब सुबुद्धि नामके सेठ उन्हें पद्मावतीकी पूजा करनेका उपदेश देंगे । राजाके तदनुसार देवीकी पूजा करनेपर पुत्रप्राप्ति होगी और वे उस पुत्रका नाम पद्म रखेंगे । फिर राजा सहस्रकूट चैत्यालय वनवाँगे और प्रतिवर्ष यात्रा करेंगे । सेठजी भी राजमासादसे पद पदपर पृथ्वीको जिनमहिरोसे मडित करेंगे । इसी समय वसत ऋतुमें समस्त सत्र बहा एकत्र होगा और राजा भेठजीके साथ जिनपूजा करके रथ चलावेंगे । उसी समय राजा अपने मित्र मगवस्वामीको मुनींद्र हुआ देख सुबुद्धि सेठके साथ धैराग्यसे जैनी दीक्षा वारण करेंगे । इसी समय एक लेखवाहक बहा आवेगा । वह जिन देवोंको नमस्कार करके व मुनियोंकी तथा ( परीक्षमें ) धरसेन गुरुकी वन्दना करके लेख समर्पित करेगा । वे मुनि उसे बाँधेंगे कि गिरिनगरके समीप गुफावासी धरसेन मुनीश्वर आप्रायणीय पूर्वकी पंचम वस्तुके चौथे प्राशुतशाहका व्याख्यान प्रारम्भ करनेवाले हैं । धरसेन भट्टारक कुछ दिनोंमें नरवाहन और सुबुद्धि नामके मुनियों को पठन, श्रवण और चिन्तनकिया कराकर आपाड शुक्ल एकादशीको शाल समाप्त करेंगे । उनमेंसे एककी भूत रात्रिको बलिविधि करेंगे और दूसरेके चार दातोंको सुन्दर बना देंगे । अतएव भूत-बलिके प्रभावसे नरवाहन मुनिका नाम भूतबलि और चार दात समाप्त हो जानेसे सुबुद्धि मुनिका नाम पुण्यदन्त होगा । इसके लेखकका समय आदि अज्ञात है और यह कथानक कल्पित जान पड़ता है । अतएव उसमें कही गई बातोंपर कोई जोर नहीं दिया जासकता ।

श्रवणवेलगोलके एक शिलालेख ( न. १०५ ) में पुण्यदन्त और भूतबलिको स्पष्टरूपसे सवभेद-कर्ता अहंद्धलिके शिष्य कहा है । यथा—

य. पुष्पदन्तेन च भूतबल्याल्येनापि शिष्यद्वितयेन रेने ।

फलप्रदानाय जगज्जानाना प्रातोऽङ्कुराभ्याभिव कल्पभूजः ॥ २५ ॥

अर्हद्वलिससचतुर्विध स श्रीकोण्डकुन्दान्वयमूलसवधम् ।

कालस्वभावादिह जायमान-द्वैपतरालवीकरणाय चक्रे ॥ २६ ॥

यद्यपि यह लेख बहुत पीछे अर्थात् शक स १३२० का है, तथापि संभवतः लेखकने किसी आधार पर से ही इन्हें अर्हद्वलिके शिष्य कहा होगा । यदि ऐसा हो तो यह भी संभव है कि ये इन दोनोंके दीक्षानुगृहों और वरसेनाचार्यने जिस मुनि-सम्प्रेषणको पत्र भेजा था वह अर्हद्वलिका युग-प्रातिक्रमणके समय एकरत्र किया हुआ समाज ही हो, और वहीसे उन्होंने अपने अत्यन्त कुशाग्रबुद्धि शिष्य पुष्पदन्त और भूतबलिको धरसेनाचार्यके पास भेजा हो । पट्टावलीके अनुसार अर्हद्वलिके अन्तिम समय और पुष्पदन्तके प्रारम्भ समयमें २१ + १९ = ४० वर्षका अन्तर पड़ता है जिससे उनका समसामयिक होना असंभव नहीं है । केवल इतना ही है कि इस अवस्थामें, लेख लिखते समय धरसेनाचार्यकी आयु अपेक्षाकृत कम ही मानना पड़ेगी ।

प्रस्तुत ग्रन्थमें पुष्पदन्तका सम्पर्क एरु और व्यक्तिसे वतलाया गया है । अकुलेश्वरसे चतुर्मास समाप्त करके जत्र वे निकले तत्र उन्हें जिनपालित मिल गये और उनके साथ वे वनवास देशजो चले गये । ( 'जिणवालयि दद्रूण पुष्पयताडरियो

पुष्पदन्त और जिनपालित वणवासविसय गदो' पृष्ठ ७१ । ) दद्रूण का साधारणत दृष्टा अर्थात् देखकर अर्थ होता है । पर यहाँ पर यदि दद्रूण का देखकर यही अर्थ ले लिया जाता है तो यह नहीं माहूम होता कि वहाँ जिनपालित कहासे आ गये? दद्रूणका अर्थ दृष्टा अर्थात् देखनेके लिये भी हो सकता है, जिसका तात्पर्य यह होगा कि पुष्पदन्त अकुलेश्वरसे निकलकर जिनपालितको देखनेके लिये वनवास चले गये । सगतिकी दृष्टिसे यह अर्थ ठीक बैठता है । इन्द्रनन्दिने जिनपालितजो पुष्पदन्तका भागिनिय अर्थात् भनेज कहा है । पर इस स्थितिके कारण वे उन्हें देखनेके लिये गये यह कदाचित् सायुके आचारकी दृष्टिसे ठीक न समझा जाय इसलिये वैसा अर्थ नहीं किया । वनवास देशसे ही वे गिरिनार गये थे और वहाँसे फिर वनवास देशजो ही लौट गये । इससे यही प्रान्त पुष्पदन्ताचार्यकी जन्मभूमि ज्ञात होती है । वहाँ पहुँचकर उन्होंने जिनपालितको दीक्षा दी और

१ विदुष श्रीधरकृत श्रुतावतारके अनुसार पुष्पदन्त और भूतबलिके अकुलेश्वरमें ही पडग आगमकी रचना की । ( तमुनिद्वय अकुलेश्वरपुरे गत्वा मत्वा षड्मासवनी क्त्वा शायेगु लिखाय )

२ जैसे, रामो तिससुह मेरुह पुरह पालेजण समयो । पउम च ३१, ४० ससार गमण-मीओ इच्छं धेत्तु प-सज्ज । पउम च ३१, ४८

'वीसदि सूत्रो' की रचना करके उन्हें पढाया, और फिर उन्हें भूतबलिके पास भेज दिया । भूतबलिके उन्हें अल्पायु जान, महाकर्मप्रकृति पाहुडके विच्छेद-भयसे द्रव्यप्रमाणसे लगाकर आगेकी ग्रन्थ-रचना की । इसप्रकार पुष्पदन्त और भूतबलि दोनों इस सिद्धान्त ग्रन्थके रचयिता है और जिनपालित उस रचनेके निमित्त कारण हुए ।

पुष्पदन्त और भूतबलिके बीच आयुमें पुष्पदन्त ही जेठे प्रतीत होते हैं । थलानारने अपनी टीकाने मगलाचरणमें उन्हे ही पहले नमस्कार किया है और उन्हे 'इसि-समिइ-वड' ( ऋषिसमिति-यति ) अर्थात् ऋषियो व मुनियोकी समाके नायक कहा है । उनकी ग्रन्थ-रचना भी आदिमें हुई और भूतबलिके अपनी रचना अन्तत उन्हींके पास भेजी जिसे देख वे प्रसन्न हुए । इन बातोंसे उनका ज्येष्ठत्व पाया जाता है । नन्दिसवधकी प्राकृत पट्टावलीमें वे स्पष्टत भूतबलिसे पूर्व पट्टाविकारी हुए वतलये गये हैं ।

वर्तमान ग्रन्थमें पुष्पदन्तकी रचना कितनी है और भूतबलिकी कितनी, इसका स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है । पुष्पदन्तने आदिके प्रथम 'वीसदि सूत्र' रचे । पर इन वीस सूत्रोंसे थलानारका समस्त सत्प्ररूपणोंके वीस अधिकारोंसे तात्पर्य है, न कि आदिके २० नम्बर तकके सूत्रोंसे, क्योंकि, उन्हेने स्पष्ट कहा है कि भूतबलिके द्रव्यप्रमाणानुगमसे लेकर रचना की ( पृ ७१ ) । जहाँसे द्रव्य-कितना ग्रंथ रचा प्रमाणानुगम अर्थात् सत्याप्ररूपणा प्रारभ होती है वहाँपर भी कहा गया है कि—

सपहि चोदसह जीवसमासाणमयित्तमवगदाण सिस्साण तेसि चैव परिमाण पडिचोहणं भूदबलियाइरियो सुत्तमाह ।

अर्थात्—'अत्र चौदह जीवसमासों के अस्तित्व को जान लेनेवाले शिष्यों को उन्हीं जीवसमासोंके परिमाण वतलानेके लिये भूतबलि आचार्य सूत्र कहते हैं' ।

इसप्रकार सत्प्ररूपणा अधिकारके कर्ता पुष्पदन्त और श्रेय समस्त ग्रन्थके कर्ता भूतबलि ठहरते हैं ।

थलामें इस ग्रन्थकी रचनाका इतना ही इतिहास पाया जाना है । इससे आगेका वृत्तान्त इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतारमें मिलता है । उसके अनुसार भूतबलि आचार्यने पट्टखण्डागमकी रचना पुस्तकात्सुद करके ज्येष्ठ शुक्र ५ को चतुर्भिन्न सवधके साथ उन पुस्तकोंको उपकरण मान श्रुतज्ञानकी पूजा की जिससे श्रुतपंचमी तिथिकी प्रचार

श्रुतपंचमीका

प्रचार

प्रत्याति जन्मिर्नाम आनतक चली आती है और उस तिथिको वे श्रुतकी पूजा करते हैं \* । फिर भूतवर्द्धिने उन पट्टपडागम पुस्तकोंको जिनपालितके हाथ पुण्यदत्त गुरुके पास भेजा । पुण्यदत्त उन्हें देखकर आर अपने चिन्तित कार्यको सफ़्त जान अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने भी चातुर्वर्ण्य ममसिद्धि सिद्धान्तकी पूजा की ।

## ५. आचार्य-परम्परा

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि धरमेनाचार्य और उनसे सिद्धान्त सीखकर प्रथम-धरसेनाचार्य से रचना करनेवाले पुण्यदत्त और भूतवर्द्धि आचार्य कब हुए ? प्रस्तुत ग्रंथ में इस सम्बन्ध की कुछ सूचना महावीर स्वामीसे लगाकर लोहाचार्य तक की परम्परासे मिलती है । यह परम्परा इस प्रकार है, महावीर भगवान्के परचात् क्रमशः गोतम, लोहार्य और जम्बूदाम्नी समस्त श्रुत के ज्ञायक और अन्तमें केवलज्ञानी हुए । उनके परचात् क्रमश विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रवाहु, ये पाँच श्रुतकेवली हुए । उनके परचात् विशाखाचार्य, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जय, नाग, सिद्धार्थ, धृतिसेन, विजय, बुद्धिल, गणदेव, ओर धर्मसेन, ये ग्यारह एकादश अग और दशपूर्वके पारगामी हुए । तत्पश्चात् नक्षत्र, जयपाल, पाहु, धुम्सेन और कस, ये पाँच एकादश अगोंके धारक हुए, और इनके परचात् सुभद्र, यशोमद्, यशोवाहु और लोहार्य, ये चार आचार्य एक आचार्य के धारक और शेष श्रुतके एकदेश ज्ञाता हुए । इसके पश्चात् समस्त अगों और पूर्वोक्ता एकदेश ज्ञान आचार्य परम्परासे आकर धरसेनाचार्यको प्राप्त हुआ ( ६५-६६ ) । यह परम्परा इस प्रकार है—

\* ज्योतिषतत्त्वप्रणयन्या चातुर्वर्ण्यसप्तममेत ।

तनुन्तकोपकरोर्षेयथात् क्रियापूर्कं प्लाम् ॥ १४३ ॥

शुभपनमीति तेन यत्प्राति तिथिरिय पामाम ।

अमापि येन तस्मा श्रुतपूर्वा मुक्ते जैना ॥ १४४ ॥

इन्द्रनन्दि-भुतावतार

## महावीर की शिष्य-परम्परा

|               |              |            |
|---------------|--------------|------------|
| १ गोतम        | ३ केवली      | १५ धृतिसेन |
| २ लोहार्य     |              | १६ विजय    |
| ३ जम्बू       |              | १७ बुद्धिल |
| ४ विष्णु      |              | १८ गणदेव   |
| ५ नन्दिमित्र  | ५ श्रुतकेवली | १९ धर्मसेन |
| ६ अपराजित     |              | २० नक्षत्र |
| ७ गोवर्धन     |              | २१ जयपाल   |
| ८ भद्रवाहु    |              | २२ पाण्डु  |
| ९ विशाखाचार्य |              | २३ धुम्सेन |
| १० प्रोष्ठिल  | ११ दशपूर्व   | २४ कस      |
| ११ क्षत्रिय   |              | २५ सुभद्र  |
| १२ जय         |              | २६ यशोमद्  |
| १३ नाग        |              | २७ यशोवाहु |
| १४ सिद्धार्थ  |              | २८ लोहार्य |

ठीक यही परम्परा धवलमें आगे पुन. वेङ्गनाखडके आदिमें मिलती है । इन दोनों स्थानोंपर तथा वेङ्गनाखडके शिलालेख नं. १ में नं. २ के आचार्य का नाम लोहार्य ही पाया जाता है, किन्तु हरिवंशपुराण, श्रुतावतार व ब्रह्म हेमकृत श्रुतस्कंध व शिलालेख नं. १०५ ( २५४ ) में उस स्थान पर सुधर्मका नाम मिलता है । यही नहीं, स्वयं धवलकाकारद्वारा ही रची हुई 'जयत्रयला' में भी उस स्थानपर लोहार्य नहीं सुधर्मका नाम है । इस उलझनको सुलझानेवाला उल्लेख 'जवूदीवण्णत्ति' में पाया जाता है । वहा यह स्पष्ट कहा गया है कि लोहार्यका ही दूसरा नाम सुधर्म था । यथा—

‘तेण वि लोहज्जस्स य लोहज्जेण य सुधम्मणामेण ।

गणधर-सुधम्मणा खल जंचूणामस्स णिद्धिं ॥ १० ॥

( जै. सा. स. १ पृ. १४९ )

नं. ४ पर विष्णुके स्थानमें भी नामभेद पाया जाता है । जंबूदीवण्णत्ति, आदिपुराण व श्रुतस्कंधमें उस स्थानपर 'नन्दी' या नन्दीमुनि नाम मिलता है । यह भी लोहार्य और सुधर्मके समान एक ही आचार्यके दो नाम प्रतीत होते हैं । इस भेदका कारण यह प्रतीत होता है कि इन आचार्यका पूरा नाम विष्णुनन्दि होगा और वे ही एक स्थानपर संक्षेपसे विष्णु और

वर्षमें पाच श्रुतकेवली, १८३ वर्षमें म्याह दशपूर्वी, २२० वर्षमें पाच एकादशगधारी और ११८ वर्षमें चार एकागधारी आचार्य हुए। इसप्रकार महावीर निर्वाणसे लोहाचार्य ( द्वि. ) तक ६२ + १०० + १८३ + २२० + ११८ = ६८३ वर्ष व्यतीत हुए और इसके पश्चात् किसी समय धरसेनाचार्य हुए।

अब प्रश्न यह है कि लोहाचार्यसे कितने समय पश्चात् धरसेनाचार्य हुए। प्रस्तुत ग्रन्थमें तो इसके सत्रन्धमें इतना ही कहा गया है कि इसके पश्चात् की आचार्य-परम्परामें धरसेनाचार्य हुए (पृष्ठ ६७)। अन्यत्र जहां यह आचार्य-परम्परा पाई जाती है वहां सर्वत्र वह परम्परा लोहाचार्य पर ही समाप्त हो जाती है। इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें प्रस्तुत ग्रन्थोंके निर्माणका वृत्तांत विस्तारसे दिया है। किंतु लोहार्यके पश्चात् आचार्योंका क्रम स्पष्ट सूचित नहीं किया। प्रस्तुत, जैसा ऊपर बता आये हैं, उन्होंने कहा है कि इन आचार्योंकी गुरु-परंपराका कोई निश्चय नहीं, क्योंकि, उसके कोई प्रमाण नहीं मिलते हैं। उन्होंने लोहार्यके पश्चात् चार और आचार्योंके नाम गिनाये हैं, विनयधर, श्रीदत्त, शिवदत्त, और अर्हदत्त। और उन्हें आरातीय तथा अंगों और पूर्वोंके एकदेश ज्ञाता कहा है।

लोहार्यके पश्चात् चार आरातीय यतियोंका जिसप्रकार इन्द्रनन्दिने एकसाथ उल्लेख किया है उससे जान पड़ता है कि सबवत वे सब एक ही कालमें हुए थे। इसीसे श्रियुक्त प जगलकिशोरजी सुल्लारने उन चारोंका एकत्र समय २० वर्ष अनुमान किया है। उनके पश्चात् के अर्हद्वलि आदि आचार्योंका समय सुल्लारजी क्रमशः १० वर्ष अनुमान करते हैं ( समन्तभद्र पृ १६१)। इसके अनुसार धरसेनाचार्यका समय वीरनिर्वाणसे ६८३+२०+१०+१०=७२३ वर्ष पश्चात् आता है।

किंतु नन्दिसवकी प्राकृत पट्टावली इसका समर्थन नहीं करती। यथार्थतः यह पट्टावली अन्य सब परम्पराओं और पट्टावलियोंसे इतनी विलक्षण है और उन विलक्षणताओंका प्रस्तुत आचार्योंके काल-निर्णयसे इतना वनिष्ट सन्बन्ध है कि उसका पूरा परिचय यहां देना आवश्यक प्रतीत होता है। और चूंकि यह पट्टावली, जहां तक हमें ज्ञात है, केवल जैनसिद्धान्तभास्कर, भाग १, किरण ४, सन् १९१३ में छपी थी जो अब अप्राप्य है, अतः उसे हम यहां पूरी बिना संशोधनका प्रयत्न किये उद्धृत करते हैं—

### नन्दि-आम्रायकी पट्टावली

श्रौत्रैलोक्याधिप नवा सृत्वा सदगुरुभारतीम् ।  
चक्ष्ये पट्टावली स्या मूलसवगणाधिपाम् ॥ १ ॥

दूसरे स्थानपर नन्दि नामसे निर्दिष्ट किये गये हैं। यही बात आगे न. १८ के गगदेवके विषयमें पाई जाती है।

न ५ और ६ के आचार्योंका शिलालेख न १०५ में विपरीत क्रमसे उल्लेख किया गया है, अर्थात् वहां अपराजितका नाम पहिले और नदिमित्र का पश्चात् किया गया है। संभवतः यह छंद-निर्वाहमात्रके लिये है, कोई भिन्न मान्यताका बौतक नहीं।

आगेके अनेक आचार्योंके नाम भी शिलालेख न १०५ में भिन्न क्रमसे दिये गये हैं जिसका कारण भी छंदरचना प्रतीत होता है और इसी कारण सम्वत-धर्मसेनका नाम यहां भिन्न क्रमसे सुधर्म दिया गया है।

उसीप्रकार न ११ और १२ का उल्लेख श्रुतस्तथमें विपरीत है, अर्थात् जयका नाम पहले और क्षत्रियका नाम पश्चात् दिया गया है। क्षत्रियके स्थानमें शिलालेख न १ में कृतिकार्य नाम है जो अनुमानतः प्राकृत पाठ 'क्वत्सियारिय' का भ्रान्त संस्कृत रूप प्रतीत होता है। नदिसवकी प्राकृत पट्टावलीमें न १७ के बुद्धिलेखके स्थानपर बुद्धिलिंग व न १८ के गगदेवके स्थानपर केवल 'देव' नाम है।

न २१ के जयपालके स्थान पर जयधवलामे 'जसफल' तथा हरिवंशपुराणमें यशःपाल नाम दिये हैं।

न २३ के ध्रुवसेनके स्थान पर श्रुतावतार व शिलालेख न १०५ में द्रुमसेन तथा श्रुतस्तथामे 'ध्रुतसेन' नाम है।

न २६ के यशोभद्रके स्थान पर श्रुतावतारमें अभयभद्र नाम है।

न २७ के यशोवाहुके स्थानपर जयधवलामे जहवाहु, श्रुतावतारमें जयवाहु, व नदि सव प्राकृत पट्टावलीमें व आदिपुराणमें भद्रवाहु नाम है। संभवतः ये ही नदिसवकी संस्कृत पट्टावलीके भद्रवाहु द्वितीय हैं।

इन सब नाम-भेदोंका मूलकारण प्राकृत नामों परसे भ्रमवग संस्कृत रूप बनाना प्रतीत होता है। कहीं कहीं लिपिमें भ्रम होनेसे भी पाठ-भेद पड जाना संभव है।

उक्त आचार्य-परंपराका प्रस्तुत खण्डमें समय नहीं दिया गया है। किंतु धवलके धरसेनाचार्य के वेदनाखण्डके आदिमें, जयधवलामें व इन्द्रनन्दिंकृत श्रुतावतारमें गौतम स्वामीसे लगाकर लोहार्य तकका समय मिलता है, जिससे ज्ञात होता है कि महावीर निर्वाणके पश्चात् तमश ६२ वर्षमें तीन केवली, १००

श्रीमलसवप्रारं नन्यान्नाये मनोहरे ।  
वयःकारणोत्तमे गच्छे सारस्वतीयके ॥ २ ॥  
कुन्दकुन्दान्ने श्रेष्ठसुपन्न श्रीगणाधिपम् ।  
नमोऽन्व प्रसन्न्यामि श्रयता सञ्जना जना ॥ ३ ॥

### पट्टावली

अतिम-निग-णिब्बाणे केवल्लणाणी य गोयम-सुण्णिदो ।  
वारह-नासे य गये सुयम्म-सामी य सजादो ॥ १ ॥  
तट वारह-नासे पुण सजादो जम्भु-सामि मुणिणाहो ।  
अट्ठीस-वास रहियो केवल्लणाणी य उक्किट्ठो ॥ २ ॥  
गसिट्ठि-केवल्ल-वासे तिण्हि मुणी गोयम सुवम्म जवू य ।  
वारह वारह दो जण तिय दुगहीणं च चालीस ॥ ३ ॥  
सुयकेवल्लि पच जणा वासिट्ठि-वासे गये सुसजादा  
पडम चउदह-वास विण्हुकुम्मार मुणेयव्व ॥ ४ ॥  
नंदिमिच्च नास सोल्लह तिय अपराजिय वास वावीस ॥  
इग-हीण वीस वास गोयद्वण भद्दवाहु गुणतीस ॥ ५ ॥  
सद सुयकेवल्लणाणी पच जणा विण्हु नंदिमित्तो य ॥  
अपराजिय गोवद्वण तह भद्दवाहु य सजादा ॥ ६ ॥  
सद-वासिट्ठि गुवासे गए सु-उपण्ण दह सुपुब्बहरा ॥  
सद-तिरासि वासाणि य एगादह मुणिवरा जादा ॥ ७ ॥  
आयरिय विसार पोडुल सत्तिय जयसेण नागसेण मुणी ॥  
सिद्धत्थ धित्ति विजयं बुहिल्लिग देव धमसेणं ॥ ८ ॥  
दह उगणीस य सत्तर इक्कीस अट्टारह सत्तर ॥  
अट्टारह तेरह वीस चउदह चोदय ( सोडस ) कमेणंयं ॥ ९ ॥  
अतिम निग-णिब्बाणे तियसय-पण-चालवास जादेसु ।  
एगादहंगारिय पच जणा मुणिवरा जादा ॥ १० ॥  
नक्खत्तो जयपालग पंडव बुवसेन कंस आयरिया ।  
अठारह वीस-वास गुणचाल चोद वत्तीस ॥ ११ ॥  
सद तेतीस वासे एगादह अगधरा जादा ।

वास सत्ताणवदिय दसंग नव अग अट्टधरा ॥ १२ ॥  
सुभदं च जसोभदं भद्दवाहु कमेण च ।  
लोहाचय्य मुणीस च कहिय च जिगागमे ॥ १३ ॥  
छह अट्टारह वासे तेवीस वावण ( पणास ) वास मुणिणाह ।  
दस णव अट्टगधरा वास दुसदवीस सधेसु ॥ १४ ॥  
पचसये पणसठे अतिम-निग-समय-जादेसु ।  
उपण्णा पच जणा इयगवारी मुणेयव्व ॥ १५ ॥  
अहिवालि साधनंदि य धरसेणं पुण्णयंत भूदवली ।  
अडवीसं इगवीस उगणीस तीस वीस वास पुणो ॥ १६ ॥  
इगसय-अठार वासे इयगवारी य मुणिवरा जादा ।  
छसय-तिरासिय-वासे णिव्वाणा अगदित्ति कहिय जिणे ॥ १७ ॥  
सत्तरि-चउ-सद-युत्तो तिणकाला विक्कमो हवइ जम्मो ।  
अठ-वरस वाललीला सोडस-वासेहि भम्मिए देसे ॥ १८ ॥  
पणरस-वासे रज कुणति मिच्छोवेदेससंयुत्तो ।  
चालीस-वरस जिणवर-वम्म पालीय सुरपय लहिय ॥ १९ ॥

प्राकृत पट्टावलीके अनुसार वीर निर्वाणके पश्चात् की काल-गणना इसप्रकार आती है-

|               |            | वीर निर्वाणके पश्चात् |                |           |
|---------------|------------|-----------------------|----------------|-----------|
| १ गौतम        | केवली      | १२                    | ९ विशाखाचार्य  | २०        |
| २ सुधर्म      | "          | १२                    | १० प्रोष्ठिल   | १९        |
| ३ जम्बूस्वामी | "          | ३८                    | ११ क्षत्रिय    | १७        |
|               |            | ६२                    | १२ जयसेन       | २१        |
|               |            |                       | १३ नागसेन      | १८        |
|               |            |                       | १४ सिद्धार्थ   | १७        |
|               |            |                       | १५ धृतिपेण     | १८        |
| ४ विण्णु      | श्रुतकेवली | १४                    | १६ विजय        | १३        |
| ५ नन्दिमित्र  | "          | १६                    | १७ बुद्धिल्लिग | २०        |
| ६ अपराजित     | "          | २२                    | १८ देव         | १४        |
| ७ गोवर्धन     | "          | १९                    | १९ धर्मसेन     | १४ (१६)   |
| ८ भद्रवाहु    | "          | २९                    |                |           |
|               |            | १००                   |                | १८१ (१८३) |



|              |     |             |
|--------------|-----|-------------|
| २० नक्षत्र   | १८  | ५२ (५०)     |
| २१ जयपाल     | २०  | ९९ (९७)     |
| २२ पाँचव     | ३९  |             |
| २३ ध्रुवसेन  | १४  |             |
| २४ कंस       | ३२  |             |
|              | १२३ |             |
| २५ सुभद्र    | ६   |             |
| २६ यद्योमद्र | १८  |             |
| २७ भद्रबाहु  | २३  |             |
|              |     | कुलजोड़ ६८३ |

इस पद्यावलीमें प्रत्येक आचार्यका समय अलग अलग निर्दिष्ट किया गया है, जो अन्यत्र नहीं पाया जाता, और समष्टिरूपसे भी वर्ष-सख्यायें दी गई हैं। प्रथम तीन केवलियों, पाच श्रुतकेवलियों और ग्यारह दशपूर्वियोंका समय क्रमशः वही ६२, १००, और १८३ वर्ष बतलाया गया है और इसका योग ३४५ वर्ष कहा है। किन्तु दशपूर्वधारी एक एक आचार्यका जो काल दिया है उसका योग १८१ वर्ष आता है। अतएव स्पष्टतः कहीं दो वर्ष की भूल ज्ञात होती है, क्योंकि, नहीं तो यहा तकका योग ३४५ वर्ष नहीं आसकता। इसके आगे जो पाँच एकादशशाखायियोंका समय अन्यत्र २२० वर्ष बतलाया गया है उनका समय यहा १२३ वर्ष दिया है। इनके पश्चात् आगेके जिन चार आचार्योंको अन्यत्र एकागधारी कहा कर श्रुतज्ञानकी परंपरा पूरी कर दी गई है उन्हें यहा क्रमशः दश, नव और आठ आगेके धारक कहा है, पर यह स्पष्ट नहीं किया गया कि कौन कितने अंगोंका ज्ञाता था। इससे दश अंगोंका अचानक लोप नहीं पाया जाता, जैसा कि अन्यत्र। इनका समय ११८ वर्ष के स्थानपर ९७ वर्ष बतलाया गया है। पर आचार्योंका समय जोड़नेसे ९९ आता है अतः दो वर्ष की यहा भी भूल है। तथा उनसे आगे पाच और आचार्योंके नाम गिनाये गये है जो एकागधारी कहे गये हैं। उनके नाम अहिवह्नि (अर्हद्वलि) माघनन्दि, धरसेन, पुष्यदन्त और भूतबलि है। इनका समय क्रमशः २८, २१, १९, ३० और २० वर्ष दिया गया है जिसका योग ११८ वर्ष होता है। इससे पूर्व श्रुतावतारमें विनयधर आदि जिन चार आचार्योंके नाम दिये गये हैं वे यहा नहीं पाये जाते। इसप्रकार इस पद्यावलीके अनुसार भी अग-परंपराका कुल काल ६२ + १०० + १८३ + १२३ + ९७ + ११८ = ६८३ वर्ष ही आता है जितना कि अन्यत्र बतलाया गया है। परतु भेद यह है कि अन्यत्र यह काल लोहाचार्य तक ही पूरा कर दिया गया है और यहापर उसके अन्तर्गत वे पाच

आचार्य भी हो जाते हैं जिनके भीतर हमारे प्रथकर्ता धरसेन, पुष्यदन्त और भूतबलि भी सम्मिलित है।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि जो एकादशशाखायियों और उनके पश्चात्के आचार्योंके समयोंमें अन्तर पडता है वह क्यों और किसप्रकार ?

कालसन्धी अक्रोपर विचार करनेसे ही स्पष्ट हो जाता है कि जहा पर अन्यत्र पाच एकादशशाखायियों और चार एकागधारियोंका समय अलग अलग २२० और ११८ वर्ष बतलाया गया है वहा इस पद्यावलीमें उनका समय क्रमशः १२३ और ९७ वर्ष बतलाया है अर्थात् २२० वर्षके भीतर नौ ही आचार्य आ जाते हैं और आगे ११८ वर्षमें अन्य पाच आचार्य गिनाये गये हैं जिनके अन्तर्गत धरसेन, पुष्यदन्त और भूतबलि भी हैं।

जहा अनेक क्रमागत व्यक्तियोंका समय समष्टिरूपसे दिया जाता है वहा बहुधा ऐसी भूल हो जाया करती है। किन्तु जहा एक एक व्यक्तिका काल निर्दिष्ट किया जाता है वहा ऐसी भूलकी संभावना बहुत कम हो जाती है। हिन्दु पुराणोंमें अनेक स्थानोंपर दो राजवंशोंका काल एक ही वशके साथ दे दिया गया है। खय महावीर तीर्थकरके निर्वाणसे पश्चात्के राजवंशोंका जो समय जैन ग्रंथोंमें पाया जाता है उसमें भी इसप्रकारकी एक भूल हुई है, जिसके कारण वीरनिर्वाणके समयके सन्धमें दो मान्यतायें हो गई हैं जिनमें परस्पर ६० वर्षका अन्तर पड गया है। (देखो आगे वीरनिर्वाण सन्ध)। प्रस्तुत परंपरामें इन २२० वर्षोंके कालमें भी ऐसा ही भ्रम हुआ प्रतीत होता है।

यह भी प्रश्न उठता है कि यदि अर्हद्वलि आदि आचार्य अज्ञाताओंकी परंपरामें थे तो उनके नाम सर्वत्र परंपराओंमें क्यों नहीं रहे, इसका कारण अर्हद्वलिके द्वारा स्थापित किया गया सधभेद प्रतीत होता है। उनके पश्चात् प्रत्येक सध अपनी अपनी परंपरा अलग रखने लगा, जिसमें सभावतः सधभेदके पश्चात्के केवल उन्हीं आचार्योंके नाम रखे जा सकते थे जो उसी सधके हो या जो सधभेदसे पूर्वके हो। अतः केवल लोहार्य तककी ही परंपरा सर्वमान्य रही। समय है कि इसी कारण काल-गणनामें भी वह गड़बड़ी आई हो, क्योंकि अज्ञाताओंकी परंपराको सध-पक्षपातसे बचानेके लिये लेखकोंका यह प्रयत्न हो सकता है कि अग-परंपराका काल ६८३ वर्ष ही बना रहे और उसमें अर्हद्वलि आदि सध-भेदसे सन्ध रखनेवाले आचार्य भी न दिखाये जायें।

प्रश्न यह है कि क्या हम इस पद्यावलीको प्रमाण मान सकते हैं, विशेषतः जब कि उसकी वार्ता प्रस्तुत ग्रंथों व श्रुतावतारादि अन्य प्रमाणोंके विरुद्ध जाती है ? इस पद्यावलीकी जाच करनेके लिये हमने सिद्धान्तमयन आराको उसकी मूल हस्तलिखित प्रति भेजनेके लिये लिखा,

किंतु ब्राह्मणों से पं. गुणवलिजी आनी सूचित करते हैं कि बहुत खोज करने पर भी उस पद्यावलीकी मूल प्रति मिल नहीं रही है। ऐसी अवस्थामें हमें उसकी जाच सुद्विज पाठ परसे ही करनी पडती है। यह पद्यावली प्राकृतमें है और समयत एक प्रतिपरसे विना कुछ संशोधनके छपाई गई होनेसे उसमें अनेक भ्राष्ट्रि-दोष हैं। इसलिये उस परसे उसकी रचनाके समयके सन्धमे कुछ कहना अशक्य है। पद्यावलीके ऊपर जो तीन संस्कृत श्लोक हैं उनकी रचना बहुत शिथिल है। तीसरा श्लोक सद्योप है। पर उन पर विचार करनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि उनका रचयिता खय पद्यावलीकी रचना नहीं कर रहा, किंतु वह अपनी उस प्रस्तावनाके साथ एक प्राचीन पद्यावलीको प्रस्तुत कर रहा है। पद्यावलीको नन्दि आम्नाय, बलात्कार गण, सरस्वती गण्ड व कुन्दकुन्दान्वयकी कहनेका यह तो तार्पर्य ही नहीं सकता कि उसमें उल्लिखित आचार्य उस अन्यमे कुन्द-कुन्दके पश्चात् हुए हैं, किंतु उसका अभिप्राय यही है कि लेखक उक्त अन्यका था और ये सब आचार्य उक्त अन्यमें माने जाते थे। इस पद्यावलीमें जो अगविच्छेदका क्रम और उसकी काल-गणना पाई जाती है वह अन्यकी मान्यताके विरुद्ध जाती है। किंतु उससे अकस्मात् अगलोप-सन्धी कठिनाई कुछ कम हो जाती है और जो पाच आचार्योंका २२० वर्षका काल असभव नहीं तो दुःशक्य जचता है उसका समाधान हो जाता है। पर यदि यह ठीक हो तो कहना पड़ेगा कि श्रुत-परम्पराके सन्धमे हरिविगपुराणके कर्तासे लगाकर श्रुतवतारके कर्ता इन्द्रनन्दितकके राम आचार्यों ने भोगा खाया है और उन्हें वे प्रमाण उपलब्ध नहीं थे जो इस पद्यावलीके कर्ताको थे। समयभावके कारण इस समय हम इसकी और अधिक जाच पडताल नहीं कर सकते। किंतु साधक वाचक प्रमाणोंका सग्रह करके इसका निर्णय किये जानेकी आवश्यकता है।

यदि यह पद्यावली ठीक प्रमाणित हो जाय तो हमारे आचार्योंका समय वीर निर्वाणके पश्चात् ६२ + १०० + १८३ + १२३ + ९७ + २८ + २१ = ६१४ और ६८३ वर्षके भीतर पटना है।

वरसेन, पुण्डन्त और भूतलिके समय पर प्रकाश डालनेवाला एक और प्रमाण है। धरसेनकृत प्रस्तुत ग्रन्थकी उत्थानिकामें कहा गया है कि जब धरसेनाचार्य के पत्रके उत्तरमें जोणिपाण्ड आश्वदेशे दो साधु, जो पीछे पुण्डन्त और भूतवलिके कहलये, उनके पास पहुंचे तब धरसेनाचार्यने उनकी परीक्षाके लिये उन्हें कुछ मंत्रत्रिधाए सिद्ध करनेके लिये दीं। इससे धरसेनाचार्यकी मन्त्रत्रियांमें कुशलता सिद्ध होती है। अनेकान्त भाग २ के गत १ जुलाई के अंक ९ में श्रीपुत्र प जुगलकिशोरजी मुस्तारका लिखा हुआ योनिप्राभृत ग्रन्थका परिचय प्रकाशित हुआ है, जिससे ज्ञात होता है कि यह ग्रन्थ ८०० श्लोक प्रमाण प्राकृत गाथाओंमें है, उसका विषय मन्-तन्नाद दे, तथा वह १५५६ वि. सवत्समें लिखी गई बृहद्विष्णुणिका नामकी ग्रन्थ-सूचीके

आधारपर से धरसेनद्वारा वीर निर्वाणसे ६०० वर्ष पश्चात् बना हुआ माना गया है। इस ग्रन्थकी एक प्रति भाडारकर इस्टीट्यूट पनामें है, जिसे देखकर प वेचरदासजीने जो नोट्स लिये थे उन्हीं परसे मुख्तारजीने उक्त परिचय लिखा है। इस प्रतिमें ग्रन्थका नाम तो योनिप्राभृत ही है किंतु उसने कर्ताका नाम पण्डसवण मुनि पाया जाता है। इन महासुनिने उसे कूष्माण्डिनी महादेवीसे प्राप्त किया था और अपने शिष्य पुण्डन्त और भूतवलिके लिये लिखा था। इन दो नामोंके कथनसे इस ग्रन्थका धरसेनकृत होना बहुत संभव जचता है। प्रज्ञाश्रमण एक ऋद्धिका नाम है और उसने धारण करनेवाले मुनि प्रज्ञाश्रमण कहलते थे। जोणिपाण्डकी इस प्रतिका लेखन-काल सवत् १५८२ है, अर्थात् वह चारसौ वर्षसे भी अधिक प्राचीन है। 'जोणिपाण्ड' नामक ग्रन्थका उल्लेख वज्रलमें भी आया है। जो इस प्रकार है—

‘ जोणिपाण्डे भण्डि-मंत-त-सतीओ पोगलणुमागो ति घेतसवो ’

( धवला अ प्रति पत्र ११९८ )

इससे स्पष्ट है कि योनिप्राभृत नामका मन्त्रशास्त्रसन्धी कोई अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ अवश्य है। उपर्युक्त अवशमे आचार्य धरसेननिर्मित योनिप्राभृत ग्रन्थके होनेमें अविश्वासका कोई कारण नहीं है। तथा बृहद्विष्णुणिकामें जो उसका रचनाकाल वीर निर्वाणसे ६०० वर्ष पश्चात् सूचित किया है वह भी गलत सिद्ध नहीं होता। अभी अभी अनेकान्त (वर्ष २, किरण १२, पृ ६६६) में श्रीमान् प. नाथुरामजी प्रेमीका 'योनिप्राभृत और प्रयोगमाला' शीर्षक लेख छपा है, जिसमें उन्होंने प्रमाण देकर बतलाया है कि भडारकर इस्टीट्यूटवाला 'योनिप्राभृत' और उसीके साथ गुंथा हुआ 'जगसुदरी योगमाला' संभवतः हरिवेणकृत है, किंतु हरिवेणके समयमें एक और प्राचीन योनिप्राभृत विद्यमान था। बृहद्विष्णुणिकाकी प्रामाणिकताके विषयमें प्रेमीजीने कहा है कि

१ योनिप्राभृत वीरात् ६०० धारसेनम् । ( बृहद्विष्णुणिका जे सा स ' , २ ( परिशिष्ट )

२ धवलामें पण्डसवणको नमस्कार किया है और अन्य ऋद्धियोंके साथ प्रज्ञाश्रमणत्व ऋद्धिका विवरण दिया है। यथा—

णमो पण्डसवणण ॥ १८ ॥ औत्पत्तिकी वेत्तिपकी कर्मजा पारिणाभिकी चेति चतुविधा यज्ञा । एदेह पण्डसवणेणु केमि गहण । चटुण्ह पि गहण । यज्ञा एव श्रवण येयां ते प्रज्ञाश्रमणा

धवला अ प्रति ६८४

जयधवलानी प्रगस्तिमें कहा गया है कि वीरसेनके ज्ञानके प्रसादको देसकर विद्वान् उन्हें श्रुतमेवली और प्रज्ञाश्रमण करते थे। यथा—

यमाहु प्रस्तुद्वीधदीधितिप्रसारीदयम् ।

श्रुतकेवलिन ज्ञाना यज्ञाश्रवणसचसम् ॥ २२ ॥

तिलोयपण्णति गाथा ७० में कहा गया है कि प्रज्ञाश्रमणमें अंतिम मुनि 'धत्रयज्ञ' नामके हुए। यथा—  
पण्डसवणेणु चरिमो वडजसो गाम । ( अनेकान्त, २, १२ पृ ६६८ )



‘ यह सूची एक स्तंभार विद्वान्ने प्रलेक प्रय देखकर तैयार की थी और अभी तक वह बहुत ही प्राणिक समी जाती है । नन्दिसर्वमी प्राकृत पद्यार्थके अनुसार धरसेनका काल वीर निर्वाणसे ६२+१००+१८३+१२३+१७+२८+२१=६१४ वर्ष पश्चात् पड़ता है, अतः अपने पद्य-कालसे १४ वर्ष पूर्व तन्होंने यह प्रय रचा होगा । इस समीकरणसे प्राकृत पद्यावली और वृहद्विषय-गिराके सेकेन, इन दोनोंकी प्राणिकता भिन्न होती है, क्योंकि, ये दोनों एक दूसरेसे स्वतंत्र आधारर लिये हुए प्रतीत होते हैं ।

पट्टखण्डागमके रचनाकाल पर कुछ प्रकाश कुन्दकुन्दार्थके सन्दर्भसे भी पड़ता है । कुन्दकुन्दकृत इन्द्रनन्दिने श्रुतावतारमें कहा है कि जत्र कर्ममायुत और कपायप्रायुत दोनों परिकर्म पुस्तकारुड हो चुके तत्र कोण्डकुन्दपुरमें पञ्चनन्दि मुनिने, जिन्हें सिद्धान्तका ज्ञान गुरु-परिपाटीसे मिला था, उन छह खण्डोंमें प्रथम तीन खण्डोंपर परिकर्म नामक चारह हजार श्लोक प्रमाण टीका प्रय रचा । पञ्चनन्दि कुन्दकुन्दार्थका भी नाम था और श्रुतावतारमें कोण्डकुन्दपुरका उल्लेख आनेसे इसमें संदेह नहीं रहता कि यहा उर्हत्से अभिप्राय है । यद्यपि प्रो. उपाध्ये कुन्दकुन्दके ऐसे किसी प्रयकी रचनाकी बातकी प्रामाणिक नहीं स्वीकार करते, क्योंकि उन्हें वजला व जयप्रयागमें इनका कोई संकेत नहीं मिला । किन्तु कुन्दकुन्दके सिद्धान्त ग्रंथोंपर टीका बनानेकी बात संयथा निर्मूल नहीं कही जा सकती, क्योंकि, जैसा कि हम अन्यत्र बता रहे हैं, परिकर्म नामक प्रयने उल्लेख धयत्रा १ जयप्रयागमें अनेक जगह पाये जाते हैं ।

प्रो. उपाध्येने कुन्दकुन्दके लिये ईश्वीका प्रारम्भ काल, लगभग प्रथम दो शताब्दियोंके भीतरका समय, अनुमान किया है उससे भी पट्टखण्डागमकी रचनाका समय उपरोक्त टीका नचता है ।

धरसेनाचार्य गिरिनगरकी चन्द्रगुफामें रहते थे । यह स्थान काठियावाड़के अन्तर्गत है । **भौगोलिक** यह कोईसे तीर्थंकर नेमिनाथकी निर्माणभूमि होनेसे जैनियोंके लिये बहुत प्राचीन **उल्लेख** कालसे अत्यन्त महत्वपूर्ण है । मौर्य राजाओंके समयसे लगाकर गुप्त काल अर्थात् ४ थी, ५ थीं शताब्दिक इमका भारी महत्व रहा जैसा कि यहापर एक ही चट्टान पर पाये गये अशोक मौर्य, रुद्रदामन और गुप्तवंशी स्तम्भशुल्कके समयके लेखोंसे पाया जाता है ।

धरसेनाचार्यने ‘ महिमा ’ में सम्मिलित सप्तको पत्र भेजा था जिससे महिमा किसी नगर या स्थान का नाम ज्ञात होता है, जो कि आन्ध्र प्रदेशके अन्तर्गत त्रेणाक नदीके तीरपर था । येषथा नामकी एक नदी बम्बई प्रान्तके सतारा जिल्लेमें है और उसी जिल्लेमें महिमानगड नामका एक गाँव भी है, जो हमारी महिमा नगरी हो सकता है । इससे अनुमानत. यहीं सतारा जिल्लेमें वह

जैन मुनियोंका सम्मेलन हुआ था । यदि यह अनुमान ठीक हो तो मानना पड़ेगा कि सतारा जिल्लाका भाग उस समय आन्ध्र प्रदेशके अन्तर्गत था । आन्ध्रोंका राज्य पुराणों व शिलादि लेखोंपरसे ईश्वी पूर्व २३२ से ई० सन् २२५ तक पाया जाता है । इसके पश्चात् क्रमसे कम इस भागपर आन्ध्रोंका अधिकार नहीं रहा । अतएव इस देशको आन्ध्र विषयान्तर्गत लेना इसी समयके भीतर माना जा सकता है । गिरिनगरसे लौटते हुए पुष्पदत्त और भूत्वलिने जिस अकुलेश्वर स्थानमें वर्षाकाल व्यतीत किया था वह निरसन्देह गुजरातमें भड़ोच जिल्लाका प्रसिद्ध नगर अकुलेश्वर ही होना चाहिये । वहासे पुष्पदत्त जिस वनवास देशको गये वह उत्तर कर्नाटकका ही प्राचीन नाम है जो तुगमद्रा और बरदा नदियोंके बीच बसा हुआ है । प्राचीन कालमें यहा कदम्ब वंशका राज्य था । वहा इसकी राजधानी ‘ वनवासि ’ थी वहा अब भी उम नामका एक ग्राम विद्यमान है । तथा भूत्वलि जिस द्रमिल देशको गये वह दक्षिण भारतका वह भाग है जो मद्राससे सेरिंगपट्टम और कामोरिन तक फैला हुआ है और जिसकी प्राचीन राजधानी काचीपुरी थी । प्रस्तुत प्रयकी रचना-सम्बन्धी इन भौगोलिक सीमाओंसे स्पष्ट जाना जाता है कि उस प्राचीन कालमें कठियावाड़से लगकर देशके दक्षिणतम भाग तक जैन मुनियोंका प्रचुरतासे विहार होता था और उनके बीच पारस्परिक धार्मिक व साहित्यिक आदान-प्रदान सुचारुरूपसे चलता था । यह परिस्थिति विक्रमकी दूसरी शताब्दिकतक के समयका संकेत करती है ।

## ६. वीर-निर्वाण-काल

पूर्वोक्त प्रकार से पट्टखण्डागमकी रचनाका समय वीरनिर्वाणके पश्चात् सातवीं शताब्दिके अन्तिम या आठवीं शताब्दिके प्रारम्भिक भागमें पड़ता है । अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि महावीर भगवान्का निर्वाणकाल क्या है ?

जैनियोंमें एक वीरनिर्वाण सवत् प्रचलित है जिसका इस समय २४६५ वा वर्ष चाट्ट है । इसे लिखते समय मेरे सन्मुख ‘ जैनमित्र ’ का ता १४ सितम्बर १९३९ का अंक प्रस्तुत है जिसपर वीर स २४६५ भादो सुदी १, दिया हुआ है । यह सवत् वीरनिर्वाण दिवस अर्थात् पूर्णिमान्त मास-गणनाके अनुसार कार्तिक कृष्ण पक्ष १४ के पश्चात् बदलता है । अत आगामी नवम्बर ११ सन् १९३९ से निर्वाण सवत् २४६६ प्रारम्भ हो जायगा । इस समय विक्रम सवत् १९९६ प्रचलित है और यह चैत्र शुक्ल पक्षसे प्रारम्भ होता है । इसके अनुसार निर्वाण सवत् और विक्रम सवत् में २४६६-१-१९९६=४७० वर्ष का अन्तर है । दोनों सवत्तोंके प्रारम्भ मासमें भेद होनेसे कुछ मासोंमें यह अन्तर ४६९ वर्ष आता है जैसा कि वर्तमान में । अत इस मान्यताके अनुसार महावीरका निर्वाण विक्रम सवत्से कुछ मास कम ४७० वर्ष पूर्व हुआ ।

किन्तु निरुद्ध मन्त्रके प्रारम्भके सम्बन्धमें प्राचीन कालसे बहुत मतभेद चला आ रहा है जिसके कारण वीरनिर्वाण कालके सम्बन्धमें भी कुछ गटवटी और मतभेद उत्पन्न हो गया है। उदाहरणार्थ, जो नन्दिस्वर्ण की प्राकृत पद्यावली ऊपर उद्धृत की गई है उसमें वीरनिर्वाणसे २७० वर्ष पश्चात् विकासका नाम हुआ, ऐसा कहा गया है, और चूँकि ४७० वर्षका ही अन्तर प्रचलित निर्वाण सन्त आर निरुद्ध सन्तमें पाया जाता है, इससे प्रतीत होता है कि निरुद्ध सन्त निरुद्धके जन्मसे ही प्रारम्भ हो गया था। किन्तु मेरुतुगुल्लन स्थविरावली' तपगच्छ पदावली, निरुद्धसम्बन्धित पात्रपुरीकल्प, 'प्रभावच्छन्दश्चित्त प्रभावकचरित आदि ग्रथोंमें उल्लेख है कि निरुद्ध सन्त का प्रारम्भ विक्रम राजाके राज्यकालसे या उससे भी कुछ पश्चात् प्रारम्भ हुआ।

श्रीरघुत् भस्मिन् काशीप्रसादजी जायसवालने इसी मतको मान देकर निश्चित किया कि चाँकि जन प्रथम ४७० वर्ष पश्चात् विक्रमका जन्म हुआ कहा गया है और चूँकि विक्रमका राजारम्भ उनकी १८ र्षीकी आयुमें होना पाया जाता है, अतः वीर निर्वाणका ठीक समय जाननेके लिये ४७० वर्षों १८ वर्षों और जोड़ना चाहिये अर्थात् प्रचलित विक्रम सन्तसे ४८८ वर्ष पूर्व महावीरका निर्वाण हुआ।

एक और तीसरा मत हेमचन्द्राचार्य के उल्लेखपरसे प्रारम्भ हो गया है। हेमचन्द्रने अपने पारीपट्ट परमें कहा है कि महावीरकी मूर्तिके से १५५ वर्ष जाने पर चन्द्रगुप्त राजा हुआ। यद्यपि उगका नामपर स्पष्ट चन्द्रगुप्त मौर्यसे है, और चूँकि चन्द्रगुप्तसे लगाकर विक्रमतक का काल मौर २५५ वर्ष पाया जाता है, अतः वीर निर्वाणका समय विक्रमसे २५५ + १५५ = ४१० वर्ष पूर्व ठहरा। इन मतके अनुसार ४७० मैसे ६० वर्ष घटा देनेसे ठीक विक्रम पूर्व वीर निर्वाण काल ठहरता है। पार्थिविक विद्वानों, जैसे डॉ. याकोबी' डॉ. चॉपेटियर' आदिने इसी मत का प्रतिपादन किया है और इन्वर मुनि कल्याणविजयजीने भी इसी मतकी पुष्टि की है।

- १ निरुद्ध सन्तका पुरानी मूर्ति वीर गिन्दुरै मणिया। युग मुणि नेत्र-बुधो निरुद्ध कालाउ विणकालो ॥  
(मेरुतुगु स्वर्णपुरावली)
- २ तत्रायतु भी गिरात मन्तवि-यर्ष शत-चतुष्टये ४७० मजानम् । (तपगच्छ पद्यावली)
- ३ म' परत नामाभी पाल्य नद-चन्द्रगुप्तार ररिसु वोलिणसु चउमयमत्तरेहि वासेहि पिकमाहन्वो रारा गीही । (विनरुद्धपरि पात्रपुरीकल्प)
- ४ इत भीमिन्मादिय शास्यवर्ली नराधिप । अत्रुणा पृथिया कुर्वन् प्रवर्तयति वत्सम् ॥  
(प्रभावच्छन्दश्चित्त)
- ५ Bihar and Orissa Research Society Journal, 1915.
- ६ पुरा न भीमहापीरपुनैरिण्णते गते । पत्तपचक्रदधिने चन्द्रगुप्तोऽसन्तनूप ॥  
(परिपिट्ट-परम)
- ७ Sacred books of the East XXII.
- ८ Indian Antiquary XLIII
- ९ 'वीर निर्वाण मन्त्र और जैनकालगणना', सन्त १९८७

किन्तु दिग्दर्शक सभ्रजन्ममें जो उल्लेख मिलते हैं वे इस उल्लेखनको बहुत कुछ सुलझा देते हैं। इन उल्लेखोंके अनुसार शक सन्तकी उत्पत्ति वीरनिर्वाणमें कुछ मान अधिक ६०५ वर्ष पश्चात् हुई तथा जो विक्रम सन्त प्रचलित है और जिसका अन्तर वीरनिर्वाण का ४७० वर्ष पड़ता है उसका प्रारम्भ विक्रमके जन्म या राज्यकालसे नहीं किन्तु विक्रमकी मृत्युसे हुआ था। ये उल्लेख उपर्युक्त उल्लेखोंकी अपेक्षा अधिक प्राचीन भी हैं। उनसे पूर्व प्रचलित वीर और बुद्धके निर्वाण सन्त मृत्युकालसेही सम्बद्ध पाये जाते हैं।

इन उल्लेखोंसे पूर्वोक्त उल्लेखन इसप्रकार सुलझती है। प्रथम शक सन्त की लीजिये। यह वीर निर्वाणसे ६०५ वर्ष पश्चात् चला। प्रचलित विक्रम सन्त और शक सन्त में १३५ वर्ष का अन्तर पाया जाता है। अतः इस मतके अनुसार विक्रम सन्त का प्रारम्भ वीरनिर्वाणसे ६०५-१३५=४७० वर्ष पश्चात् हुआ। अब विक्रम सन्त पर विचार कीजिये जो विक्रमकी मृत्युसे प्रारम्भ हुआ। मेरुतुगुाचार्यने विक्रमका राज्यकाल ६० वर्ष कहा है, अतएव ४७० वर्षसे ये ६० वर्ष निकाल देनेसे विक्रम के राज्यका प्रारम्भ वीरनिर्वाणसे ४१० वर्ष पश्चात् सिद्ध होता है। इसप्रकार हेमचन्द्रके उल्लेखानुसार जो वीरनिर्वाणसे ४१० वर्ष पश्चात् विक्रमका

- १ गिन्दुरै वीरिण्णे उज्जास सदेह पक्ववसिंसु । पणणामसु गदेसु मजाडा सगणिजां जह्वा ॥  
(तिलोपणणत्ति)  
वर्षाणा पटशती यत्तना पचात्रा मामपचम् । मुत्ति गते मत्तीरे अरराजस्ततोऽभयम् ॥  
(विनमेन-हरियसाराण)  
पणउससयस्स पणमामसुद्ध गमिय वीरणिन्दुरइदो । गगराजो ॥ ८५० ॥  
(नभिवच्छ विओरार)
- एसो वीरिजिण्णिद-णिव्याण-गद-विजसादो जाा समालस्स आदा हांदि । नामयिय-नाला तुजा ६०१-५,  
पुदाभि काले सग णदि-नात्रभि पविखत्ते वट्टमाणजिण णिन्दु-कालासमणडो । वृत्ता च —  
पच य मासा पच य वासा उच्चैन हांति वापमया । मणकल्लिण य सहिया सांप यो तदां समी ॥  
२ ज्जामि वरिस सए धिअरुमरायस्स मरण पत्तस्स । सोट्टे वल्लंए उणण्णा मण्डो मवो ॥११॥  
पच-सए उच्चैमे विअरुमरायस्स मरणपत्तस्स । दणिसण-महुआ-जादो दाणिययो महामाओ ॥२८॥  
मत्तमए तेवण्णे विअरुमरायस्स मरणपत्तस्स । णट्ठिये उण्णाम क्ख्वा सवो पुण्येव्वो ॥ ३८ ॥  
(डेजमन-ठर्गनसार)  
सपट्ठिंणं गतेऽटानां सुते विक्रमराजानि । मांसाट वरुभायुंमभूत्तं पत्त मया ॥  
(वामदेव मानमसह)  
समाच्छे पृत-त्रिदशवसति विक्रमसुत्तपे । सहये वर्षाणा प्रभवति हि पचाशट्ठविंसे ।  
समान्त पचम्याभवति धरिणां सुजन्तुपत्तो । भित्ते पक्षे पोये बुवहिनभिद गात्रमनचम ॥  
सुते विक्रम-भूपाले मत्तविशति सुते । दशपचसत्तेऽदानामतीति उल्लापस ॥ १५७ ॥  
(स्सनन्दि-भट्टमालुचरित)  
३ विक्रमय्य राज्य ६० वर्षाणि । (मेरुतुगु विचारवर्णी, पृष्ठ ३, जं मा मवो म २)

गद्य प्रारम्भ माना गया है यह टीका नेट जाता है, किंतु उसे विक्रम सप्तमत्ता प्रारम्भ नहीं समझना चाहिये। निम्न मनामें विक्रमके राज्यसे पूर्व या जन्मसे पूर्व ४७० वर्ष वतलाये गये हैं उनमें विस्तारके तन्म, राज्यकाल १ मृत्युके समयसे सप्त-प्रारम्भके सम्बन्धमें लेखकोकी श्रान्ति ज्ञात होती है। श्रान्तिका एक दूसरा भी कारण हुआ है। हेमचन्द्रने वीरनिर्वाणसे नन्द राजानक ६० वर्षका अन्तर मत्वाया है और चन्द्रगुप्त मौर्य तक १५५ वर्षका। इसप्रकार नन्दोका राज्यकाल ९५ वर्ष पड़ता है। किंतु अन्य लेखकोंने चन्द्रगुप्तके राज्यकाल तकके १५५ वर्षोंको नन्दराजका ही काल मान लिया है और उससे पूर्व ६० वर्षोंको नन्दकाल तक भी कायम रखा है। इसप्रकार जो ६० वर्ष गढ़ गये उसे उन्होंने अन्तमें विक्रमकालमें घटाकर जन्म या राज्यकाल में ही मत्त्वा प्रारम्भ मान लिया और इसप्रकार ४७० वर्षकी सत्या कायम रखी। इस मत का प्रतिपादन प. गुणलकिशोरी मुह्तारने किया है।

इस मतका दुर्दनिर्वाण १ आचार्य-परम्पराकी गणना आदिसे केसा सम्बन्ध भेटता है, यह पुन विनाशानन्द विषय है जिसका स्वतंत्रतासे विचार करना आवश्यक है। यहा पर तो प्रस्तुत प्रमाणों पर से यह मान लेनेमें आपत्ति नहीं कि वीर-निर्वाणसे ४७० वर्ष पश्चात् विक्रमकी प्रत्युक्ते साय प्रचलित विक्रम सप्तत् प्रारम्भ हुआ। अतः प्रस्तुत पट्टखण्डागमका रचना काल विक्रम संवत् ६१४ - ४७० = १४४, शक सप्तत् ६१४ - ६०५ = ९ तथा ईस्वी सन् ६१४ - ५२७ = ८७ के पश्चात् पडता है।

## ७. पट्टखण्डागमकी टीका धवलके रचयिता

प्रस्तुत ग्रंथ धवलके अन्तमें निम्न नौ गाथाएं पाई जाती है जो इसके रचयिताकी प्रशस्ति है—

### धवलकी अन्तिम प्रशस्ति

जस सेसाएण (पसाएण) मए सिद्धतमिद हि अहिल्लुंदी (अहिल्लुंद) ।

महु सो एलाइरियो पसियउ बरवीरसेणस्स । १ ।

चदामि उसहसेणं तिहुएण-जिय-बंधवं सिवं सत ।

पाण निरणान्हासिय-सयल-इयर-तम-पणासिय दिट्ठ । २ ।

अरहंतपदो ( अरहंतो ) भगवंतो सिद्धा सिद्धा पसिद्ध आइरिया ।

सह माहू य मई पसियतु भडारया सत्थे । ३ ।

अञ्जलजर्णदिसिसेणुञ्जव-कम्मरस चंदसेणस्स ।  
तह गत्तुवेण पंचत्थुहुप्यंभाणणा मुणिणा ।। ४ ।।  
सिद्धंत-छद-जोइस वायरण-पमाण-सय-णिणुणेण ।  
भट्टारण टीका लिहिइसा वीरसेणेण ।। ५ ।।  
अट्ठीसिंहि सासिय विक्कमरायसिंहि एसु सगरसो । ( १ )  
पासे सुतेरसीए भाव-विल्लगे धवल-पवसे ।। ६ ।।  
जगतुंगदेवज्जे रियसिंहि कुभसिंहि राहुणा कोणे ।  
सूरे तुलयए संते गुरुसिंहि कुलविल्लए होते ।। ७ ।।  
चात्रसिंहि वरणिबुत्ते भिये सुम्कम्मि गेमिचदम्मि ।  
कत्तियमासे एमा टीका हु समाणिआ धवला ।। ८ ।।  
नोइणराय-णरिंदे णरिंद-चूडामणिहि मुजते ।  
सिद्धतगयमथिय गुरुप्पसाएण विगत्ता सा ।। ९ ।।

दुर्भाग्यत इम प्रशस्तिका पाठ अनेक जगह अशुद्ध है जिसे उपलब्ध अनेक प्रतियोंके मिलानसे भी अभी तक हम पूरी तरह शुद्ध नहीं कर सके। तो भी इस प्रशस्तिसे टीकाकारके विषयमें हमें बहुतसी ज्ञातव्य बातें विदित हो जाती हैं। पहली गाथासे स्पष्ट है कि इस टीकाके रचयिताका नाम वीरसेन है और उनके गुरुका नाम एलाचार्य। फिर चौथी गाथामें वीरसेनके गुरुका नाम आर्यनन्दि और दादा गुरुका नाम चन्द्रसेन कहा गया है। संभवत एलाचार्य उनके विद्यागुरु और आर्यनन्दि दीक्षागुरु थे। इसी गाथामें उनकी शाखाका नाम भी पंचस्तूपान्वय दिया है। पाचवी गाथामें कहा गया है कि इस टीकाके कर्ता वीरसेन सिद्धान्त, छंद, ज्योतिष, व्याकरण और प्रमाण अर्थात् न्याय, इन शास्त्रोंमें निपुण थे और भट्टारक पदसे विभूषित थे। आगेकी तीन अर्थात् ६ से ८ वीं तककी गाथाओंमें इस टीकाका नाम 'धवला' दिया गया है और उसके समाप्त होनेका समय वर्ष, मास, पक्ष, तिथि, नक्षत्र व अन्य ज्योतिषसंबन्धी योगोंके सहित दिया है और जगतुंगदेव के राज्यका भी उल्लेख किया है। अन्तिम अर्थात् ९ वीं गाथामें पुन राजाका नाम दिया है जो प्रतियोंमें 'वोइणराय' पडा जाता है। ये नरेन्द्रचूडामणि थे। उन्हींके राज्यमें सिद्धान्त ग्रन्थके ऊपर गुरेके प्रसादसे लेखकने इस टीकाकी रचना की।

द्वितीय सिद्धान्त ग्रन्थ कपायप्रामृतकी टीका 'जयधवला' का भी एक भाग इन्हीं वीरसेनाचार्यका लिखा हुआ है। शेष भाग उनके शिष्य जिनसेनेने पूरा किया था। उसकी प्रश-

स्त्रियों भी वीरसेनके मन्त्र-मंत्रोंमें प्रायः ये ही बातें कही गई हैं। चूंकि वह प्रशस्ति ' उनके शिष्यद्वारा प्रिथी गई है अतएव उसमें उनकी कीर्ति तिगुन रूपसे वर्णित पाई जाती है। वहा उन्हें साक्षात् केन्द्रीके समान समस्त त्रिदशके पाठार्थी कहा है। उनकी वाणी पटुखण्ड आगममें अखलित रूपसे प्रकृत होती थी। उनकी मन्त्रांगमिनी नैसर्गिक प्रज्ञाको देखकर सर्वज्ञकी सत्तामें किसी मन्त्रीकी जगता नहीं रही थी। विद्वान् लोग उनकी ज्ञानरूपी किरणोंके प्रसारको देखकर उन्हें प्रज्ञाश्रमणोंमें श्रेष्ठ आचार्य और श्रुतकेन्द्री कहते थे। सिद्धान्तरूपी समुद्रके जलसे उनकी बुद्धि शुद्ध हुई थी जिससे वे तीव्रबुद्धि प्रत्येकबुद्धोंसे भी रचर्चा करते थे। उनके विषयमें एक मार्मिक बात यह कही गई है कि उन्होंने चिरतन कालकी पुस्तकों (अर्थात् पुस्तकालङ्कार सिद्धान्तों) की खूब पृष्टि की और इस कार्यमें वे अपनेमे पूर्णतः समस्त पुस्तक-पाठियोंमे बढ गये। इसमें सन्देह नहीं कि वीरसेनकी इस टीकाने इन आगम-मन्त्रोंको चमका दिया और अपनेसे पूर्वकी अनेक टीकाओंको अस्तमित कर दिया।

जिनसेनने अपने आदिपुराणमें भी गुरु वीरसेनकी स्तुति की है और उनकी भट्टारक पदनीता उद्धृत किया है। उन्हें वादि-द्वारक मुनि कहा है, उनकी लोकविज्ञता, कविवशक्ति और गायत्रीके तन्मान वाग्विज्ञताकी प्रगसा की है, उन्हें सिद्धान्तोपनिबन्धकर्ता कहा है तथा उनकी ' गवला ' भारतीको भुवनव्यापिनी कहा है।

- १ न्यायपीठोत्तराय विरसेनस्य शासनम् । शासन विरसेनस्य विरसेन-सुखेशयम् ॥ १७ ॥  
आनीदामीन्द्रवासमभ्यमत्तकृष्टुतीम् । सुहृतीं ऋणींशो य शर्वाक इव पुष्कल ॥ १८ ॥  
अनीरसेन इत्याचमद्वारस्पृष्टम् । पाठन्यायविद्वानां साक्षादिन स केवली ॥ १९ ॥  
श्रीशिवशिवमपिरात्तानेश्वरगोचरा । भारती भारतीनासा पटुखण्ड यस्य नाहलत् ॥ २० ॥  
यदा नमनिका प्रसी ह्यु सार्वांगमिनीम् । जाता सर्वजगदने निरारोना मनीषिण ॥ २१ ॥  
य श्राटु प्रसन्नद्वेषद्वेषविप्रमरोदयम् । श्रुतमेतलिन प्राज्ञा प्रनाथमणममम् ॥ २२ ॥  
प्रति ह्मिन्दुमिन्द्रात्तार्थनिधातशुद्धी । मारुद मल्लिकजुद्धेयै स्पर्धते धीदुदुद्धि ॥ २३ ॥  
पुनराना विरागाना युक्तमिह कुर्वता । येनातिशयिता पूर्व सर्वे पुनकशियुता ॥ २४ ॥  
यत्तद्विद्वेषिणमपिराम्नीमोचानि बोधयन् । व्यदोतिष्ठ शुनैनिन पवस्त्पान्वाचर ॥ २५ ॥  
प्रनियन्त्रमेतस्य य शिष्योऽन्यार्जनद्विनाम् । कुल गण च स तान द्युणैरुद्विज्जलत् ॥ २६ ॥  
तदा शिष्योन्मास्त्रुमाम् विनसेनमभिदधी । ( जयगवला-श्रवस्ति )
- २ श्री वीरसेन इत्यात्त मटारकपुष्टम् । स न पुनातु पूतात्मा वादिद्वारो मुनि ॥ ५५ ॥  
लोकानां कृषित् च शिष्य मटारके द्वयम् । गामिता गामिनो यस्य नाचा वाचस्तेरपि ॥ ५६ ॥  
मिद्वानेपनिबन्धानां निबानुर्मदुशोरिचम् । मन्मन मरमि स्तेयामुपादकुशेयम् ॥ ५७ ॥  
भान्नी भारती तस्य कीर्ति च प्रवि निर्मलाम् । धवलीह्यननि त्रेपमुनानां तां नमाम्यहम् ॥ ५८ ॥

आदिपुराण-उत्थानिका

इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें वीरसेनद्वारा धवला और जयववला टीका लिखे जानेका इसप्रकार वृत्तान्त दिया है। वषट्देव गुरुद्वारा सिद्धान्त ग्रंथोंकी टीका लिखे जानेके कितने ही काल पश्चात् सिद्धान्तोंके तत्वज्ञ श्रीमान् एलाचार्य हुए जो चित्रकूटपुरमें निवास करते थे। उनके पास वीरसेन गुरुने समस्त सिद्धान्तका अध्ययन किया और ऊपरके निबन्धनादि आठ अविकार लिखे। फिर गुरुकी अनुज्ञा पाकर वे वाटप्राममें आये और वहाके आनतेन्द्रद्वारा वनबाग्ये हुए जिनालयमें ठहरे। वहा उन्हें व्याख्याप्रज्ञानि (वषट्देव गुरुकी वनाई हुई टीका) प्राप्त हो गई। फिर उन्होंने ऊपरके वधनादि अठारह अविकार पूरे करके सत्कर्म नामका छठवा खण्ड संक्षेपसे तैयार किया और इसप्रकार छह खण्डोंकी ७२ हजार श्लोक प्रमाण प्राकृत और संस्कृत मिश्रित धवला टीका लिखी। तत्पश्चात् कयायप्राश्रुतकी चार विभक्तियोंकी २० हजार श्लोक प्रमाण टीका लिखनेके पश्चात् ही वे स्वर्गवासी हो गये। तम उनके शिष्य जयसेन (जिनसेन) गुरुने ४० हजार श्लोक प्रमाण टीका और लिखकर उसे पूरा किया। इसप्रकार जयववला ६० हजार श्लोक-प्रमाण तैयार हुई।

वीरसेन स्मार्मीकी अन्य कोई रचना हमें प्राप्त नहीं हुई और यह स्याभाविक ही है, क्योंकि उनका समस्त सज्ञान अस्याका जीवन निश्चयतः इन सिद्धान्त ग्रंथोंके अध्ययन, सकलन और टीका-लेखनमें ही बीता होगा। उनके कृतज्ञ शिष्य जिनसेनचार्यने उन्हें जिन विशेषणों और पदविधियोंसे अलङ्कृत किया है उन सबके पोषक प्रमाण उनकी धवला और जयववला टीकामें प्रचुरतासे पाये जाते हैं। उनकी सूक्ष्म मार्मिक बुद्धि, अपार पाण्डित्य, विशाल स्मृति और अलुपम व्यासग उनकी रचनाके पृष्ठ पृष्ठ पर शलक रहे है। उनकी उपलभ्य रचना ७२ + २० = ९२ हजार श्लोक प्रमाण है। महाभारत शतसाहस्री अर्थात् एक लाख श्लोक-प्रमाण होनेमे सत्तारका सबसे बडा काव्य समझा जाता है। पर वह सत्र एक व्यक्तिकी रचना नहीं है। वीरसेनकी रचना मात्रामें शतसाहस्री महाभारतसे थोड़ी ही कम है, पर वह उन्हीं एक व्यक्तिके परिश्रमका फल

- १ काले गते कियस्यपि तत पुनश्चित्रकूटपुरवासी । श्रीमानिलाचार्यो नमु मिक्षान्ततरया ॥ १७७ ॥  
तस्य समीपे सकल मिद्वान्तमधीय वीरसेनयुक् । उपरितमनिन्यवनायाधिकारानष्ट च लिलेख ॥ १७८ ॥  
आगत्य चिवद्वयात्तत स मगान्युरोखुजानाम् । वाटप्रामे चापानतेन्द्रकृन्जिनगुरे स्थिया ॥ १७९ ॥  
व्यास्याप्रज्ञानिमनाय धृष्टपटुखण्डतस्तस्तस्मिन् । उपरितमन्यवनायात्रिकारेणदशमिक्ल्ये ॥ १८० ॥  
सत्कर्मनामवय पष्ट खण्ड विधाय सक्षिय । इति पण्णां खण्डानां प्रथमहयैर्द्विपत्तरया ॥ १८१ ॥  
श्राष्टत-संस्कृत-भाषा-मिथ्या टीकां विलिख्य ववलाख्याम् । जयववला च कयायप्राश्रुतके चित्तवृण्णां विभक्तौनाम् ॥ १८२ ॥  
निशानिसहस्रसद्व्यथचनया सयुता विरच्य दिग्म् । यातस्तत पुनस्तच्छिष्यो जयसेन (जिनसेन) —  
गुन्नामा ॥ १८३ ॥  
तद्ये चत्वारिंशता सत्वं समापितवान् । जयध्वलैव पटिसहस्रप्रयोगमट्टीका ॥ १८४ ॥

है। धन्य है वीरसेन स्वामीकी अपार प्रशा और अनुपम साहित्यिक परिश्रमको। उनके विषयमें भव-भूति कविके वे शब्द याद आते है

उपस्थितेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा,  
कालो ह्यय निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ।

वीरसेनार्चयिका समय निश्चित है। उनकी अपूर्णटीका जयध्वलाको उनके शिष्य जिनसेनेम शक स० ७५९ की फाल्गुन शुद्ध दशमी तिथिको पूर्ण की थी और उस समय अमोघवर्षका राज्य था<sup>१</sup>। मान्यलेटके राष्ट्रकूट नरेश अमोघ-वर्ष प्रथमके उल्लेख उनके समयके ताम्रपटोंमें शक स० ७३७ से लगाकर ७८८ तक अर्थात् उनके राज्यके ५२ वीं वर्ष तकके मिलते हैं<sup>२</sup>। अतः जयध्वला टीका अमोघ-वर्षके राज्यके २३ वीं वर्ष में समाप्त हुई सिद्ध होती है। स्पष्टतः इससे कई वर्ष पूर्व ध्वला टीका समाप्त हो चुकी थी और वीरसेनार्चय स्वर्गवासी हो चुके थे।

ध्वला टीकाके अन्तकी जो भ्रष्टास्ति स्वय वीरसेनार्चयकी लिखी हुई हम ऊपर उद्धृत कर आये है उसकी छठयी गायामे उस टीकाकी समाप्तिके सूचक कालका निर्देश है। किंतु दुर्भाग्यत हमारी उपलब्ध प्रतियोंमे उसका पाठ बहुत भ्रष्ट है इससे वहा अंकित वर्षका ठीक निश्चय नहीं होता। किंतु उसमे जगदुगदेवके राज्यका स्पष्ट उल्लेख है। राष्ट्रकूट नरेशोमे जगदुग उपाधि अनेक राजाओकी पाई जाती है। इनमेसे प्रथम जगदुग गोविंद तृतीय थे जिनके ताम्रपट शक सवत् ७१६ से ७३५ तकके मिले है। इन्हींके पुत्र अमोघवर्ष प्रथम थे जिनके राज्यमें जयध्वला टीका जिनसेन द्वारा समाप्त हुई। अतएव यह स्पष्ट है कि ध्वलाकी प्रशास्तिमे इन्हीं गोविन्दराज जग-दुगका उल्लेख होना चाहिये।

१ इति श्रीवीरसेनीया टीका त्रयार्थदक्षिणी। वाद्यभामपुरे श्रीमद्गुरुर्जयगुण्ड्यालिते ॥ ६ ॥  
फाल्गुने मासि पूर्वाह्ने दशम्या शुक्लपक्षे। प्रवर्द्धमानप्रजोत्तमन्दीश्वरमहोत्सवे ॥ ७ ॥  
अमोघवर्षाजैत्रेन्द्रराज्यप्राप्त्युपदेश्या। निधिता प्रचय यायादाकथातमनोप्यका ॥ ८ ॥  
एकोनपष्टिसमिधिस्रस्रगतोन्देगु शकनरेन्द्रस्य। समतीतु समाप्ता जयध्वला प्रपद्यन्त्याहया ॥ ९ ॥

२ Altekar The Kashtrakutas and their times, p 71 Dr. Altekar, on page 87 of his book says "His (Amoghavarsha's) latest known date is Phalgun S'uddha 10, S'aka 799 (1 e March 878 A. D.), when the Jayadhavalā tika of Virasena was finished. This is a gross mistake. He has wrongly taken S'aka 759 to be saka 799.

३ रेक भारतके प्राचीन राजवंश ३ पृ ३६, ६५-६७

अत्र कुठ प्रशास्तिकी उन शकास्पद गायोओपर विचार कीजिये। गायान. ६ में 'अद्वृतासिंह' और 'विक्रमरायसिंह' स्पष्ट हैं। शताब्दिकी सूचनाके अभावमें अद्वितीय वर्ष हम जगदुगदेवके राज्यका ले सकते थे। किंतु न तो उसका विक्रमराजसे कुछ सवन्ध वैठता और न जगदुगका राज्य ही ३८ वर्ष रहा। जैसा हम ऊपर बतला चुके हैं उनका राज्य केवल २० वर्ष के लगभग रहा था। अतएव इस ३८ वर्ष का सवन्ध विक्रमसेही होना चाहिये। गायामें शतसूचक शब्द गडवडीमें है। किंतु जान पडना है लेखकका तास्यं कुछ सौ ३८ वर्ष विक्रम सवत्के कहनेका है। किंतु विक्रम सवत्के अनुसार जगदुगका राज्य ८५१ से ८७० के लगभग आता है। अतः उसके अनुसार ३८ के अंककी कुछ सार्थकता नहीं बैठती। यह भी कुछ साधारण नहीं जान पडता कि वीरसेनने यहा विक्रम सवत्का उल्लेख किया हो। उन्होंने जहा जहा वीर निर्वाणकी काल-गणना दी है वहा शक-कालका ही उल्लेख किया है। उनके शिष्य जिनसेनेने जयध्वलाकी समाप्तिका काल शक गणनानुसार ही सूचित किया है। दक्षिणके प्राय समस्त जैन लेखकोने शककालका ही उल्लेख किया है। ऐसी अवस्थामें आश्चर्य नहीं जो यहां भी लेखकका अभिप्राय शक कालसे हो। यदि हम उक्त सल्या ३८ के साथ सातसौ और मिला दे और ७३८ शक सवत्के ले तो यह काल जगदुगके ज्ञात काल अर्थात् शक सवत् ७३५ के बहुत समीप आ जाता है।

अत्र प्रश्न यह है कि जब गायामें विक्रमराजका स्पष्ट उल्लेख है तब हम उसे शक सवत् अनुमान कैसे कर सकते हैं? पर खोज करनेसे जान पडता है कि अनेक जैन लेखकोने प्राचीन कालसे शक कालके साथ भी विक्रमका नाम जोड़ रखा है। अकालचरितमें अकालकके बौद्धोंके साथ शालार्थका समय इसप्रकार बतलाया है।

विक्रमार्कशकाब्दीयशतसप्तप्रमाजुभि ।  
कालेऽकलकृत्यतिनो बौद्धैर्वादी महानभूत् ॥

यद्यपि इस विषयमें मतभेद है कि यहा लेखकका अभिप्राय विक्रम सवत् से है या शकसे, किंतु यह तो स्पष्ट है कि विक्रम और शकका सवन्ध एक ही काल गणनासे जोडा गया है। यह भ्रमवश हो और चाहे किसी मान्यतानुसार। यह भी ब्रान नहीं है कि अनेका ही इस-प्रकारका उदाहरण हो। विलोमसारकी गायान. ८५० की टीका करते हुए टीकाकार श्री माधव-चन्द्र त्रैविच लिखते हैं—

'श्रीवीरगायनिवृत्ते सकागात् पञ्चोत्तरपट्यतवयाणि (६०५) पञ्चमास्युतानि गत्वा पश्चात् विक्रमार्कशकाराजो जायते। तत उपरि चतुर्णव्युत्तत्रिंशत् (३९४) त्र्याणि सतमाना-धिकानि गत्वा पश्चात् कल्की जायते'।

यहा विक्रमाक शकराजका उल्लेख है और उसका तात्पर्य स्पष्टन शकसंवत्के संस्था-पक्रंस है। उक्त अनवरणपर डा. पाठकोने टिप्पणी की है कि यह उल्लेख त्रुटि-पूर्ण है। उन्होंने ऐसा समझकर यह कथा ज्ञान देता है कि उस शब्दका तात्पर्य विक्रम सम्वत्से ही हो सकता है। किंतु ऐसा नहीं है। शक सम्वत्की सूचनामें ही लेवकने विक्रमना नाम जोड़ा है, और उसे शकराजकी उगानि कथा है जो सर्वथा समभव है। शक और विक्रमके संबन्धका कालगणनाके विषयमें जैन श्रेयशकोंमें कुछ धम रहा है यह तो अवश्य है। शिलोकप्रबन्धित्तमें जो शककी उत्पत्ति वीरनिर्वाणसे ४६१ वर्ष पश्चात् या विक्रमसे ६०५ वर्ष पश्चात् बतलाई गई है ' उसमें यही भ्रम या मान्यता कार्यकारी है, क्योंकि, वीर नि. से ४६१ वा वर्ष विक्रमके राज्यमें पडता है और ६०५ वर्षसे शकका प्रारंभ होता है। ऐसी अवस्थामें प्रस्तुत गायमें यदि ' विक्रमरायगिह्' से शकसंवत्की सूचना ही हो तो हम कह सकते हैं कि उस गथाके शुद्ध पाठमें धवलाके समाप्त होनेका समय शक सम्वत् ७३८ निर्दिष्ट रहा है।

इस निर्णयमें एक कठिनाई उपस्थित होती है। शक सम्वत् ७३८ में लिखे गये नव-साराके ताम्रपटमें जगत्तुंगके उत्तराधिकारी अमोघवर्षके राज्यका उल्लेख है। यही नहीं, किंतु शक सम्वत् ७८८ के सिद्धसे मिले हुए ताम्रपटमें अमोघवर्षके राज्यके ५२ वें वर्षका उल्लेख है, जिससे ज्ञात होता है कि अमोघवर्षका राज्य ७३७ से प्रारंभ हो गया था। तत्र फिर शक ७३८ में जगत्तुंगका उल्लेख किम प्रकार किया जा सकता है? इस प्रश्नपर विचार करते हुए हमारी दृष्टि गथा नं. ७ में 'जगत्तुंगदेवराजे' के अनन्तर आये हुए 'रियगिह्' शब्दपर जाती है जिसका अर्थ होता है 'हते' या 'रित्ते'। समभवतः उसीसे कुछ पूर्व जगत्तुंगदेवका राज्य गत हुआ था और अमोघवर्ष सिंहासनारूढ हुए थे। इस कल्पनासे आगे गथा न ९ में जो 'वोद्दणराय नरेन्द्रका उल्लेख है, उस ती उल्लेख भी सुलभ जाती है। वोद्दणराय समभवत अमोघवर्षका ही उपनाम होगा। या यह त्रिगकाही रूप हो और वरुण अमोघवर्षका उपनाम हो। अमोघवर्ष तृतीयका उपनाम त्रिग या त्रिगका तो उल्लेख सिद्धता ही है। यदि यह कल्पना ठीक हो तो वीरसेन स्वामीके इन उल्लेखोंका यह तात्पर्य निरूढता है कि उन्होंने धवला ठीका शक सम्वत् ७३८ में समाप्त की जम जगत्तुंगदेवका राज्य पूरा हो चुका था और वोद्दणराय (अमोघवर्ष) राजगद्दीपर बैठ चुके थे। 'जगत्तुंगदेवराजे रियगिह्' और 'वोद्दणरायणरिंटे गरिंदच्छामणिगिह् भुंजते' पाठोंपर च्यान देनेसे यह कल्पना बहुत कुछ पुष्ट हो जाती है।

' वीरसेन गिरिगदे नउन्नद-सगमटि वाम-परिमाणे । कालमि अदिकते उषण्णो ए-व सगराजो ॥८६॥

चित्तानो परिचिनो ज्ञानाम-सदेसु पच-वरिणेष । पण-नामेसु गदेसु मजादो सगणिको अहमा ॥ ८९ ॥

तिलोपपण्णत्ति

अमोघवर्षके राज्यके प्रारंभिक इतिहासको देखनेसे ज्ञान पडता है कि समभवतः गोविन्दराजने अपने जीवन कालमें ही अपने अल्पवयस्क पुत्र अमोघवर्षको राजतिलक कर दिया था और उनके सक्षक भी नियुक्त कर दिये थे, और आप राज्यभारसे मुक्त होकर, आश्रय नहीं, धर्मन्याय करने लगे हों। नवसाराके शक ७३८ के ताम्रपटमें अमोघवर्षके राज्यमें किसी प्रकारकी गड़बड़ीकी सूचना नहीं है, किंतु सूरतसे मिले हुए शक सम्वत् ७४३ के ताम्रपटोंमें एक विप्लवके समनके पश्चात् अमोघवर्षके पुन. राज्यारोहणका उल्लेख है। इस विप्लवका वृत्तान्त वडैदासे मिले हुए शक सम्वत् ७५७ के ताम्रपटोंमें भी पाया जाता है। अनुमान होता है कि गोविन्दराजके जीवन-कालमें तो कुछ गड़बड़ी नहीं हुई किंतु उनकी मृत्युके पश्चात् राज्यसिंहासनके लिये विप्लव मचा जो शक सम्वत् ७४३ के पूर्व समन हो गया। अतएव शक ७३८ में जगत्तुंग ( गोविन्दराज ) जीवित थे इस कारण उनका उल्लेख किया और उनके पुत्र सिंहासनारूढ हो चुके थे इससे उनका भी कथन किया, यह उचित जान पडता है।

यदि यह कालसंवत्की निर्णय ठीक हो तो उस परसे वीरसेनस्वामिके कुल रचनाकाल व वयलाके प्रारंभकालका भी कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। धवला ठीका ७३८ शकमें समाप्त हुई और जयधवला उसके पश्चात् ७५९ शक में। तापर्य यह कि कोई २० वर्ष में जयधवलाके ६० हजार श्लोक रचे गये जिसकी औसत एक वर्षमें ३ हजार आती है। इस अनुमानसे धवलाके ७२ हजार श्लोक रचनेमें २४ वर्ष लगना चाहिये। अतः उसकी रचना ७३८ - २४ = ७१४ शकमें प्रारंभ हुई होगी, और चूकि जयधवलाके २० हजार श्लोक रचे जानेके पश्चात् वीरसेन स्वामीकी मृत्यु हुई और उतने श्लोककी रचनामें लगभग ७ वर्ष लगे होंगे, अतः वीरसेन स्वामिके स्वर्गवासका समय ७३८ + ७ = ७४५ शकके लगभग आता है। तथा उनका कुल रचना-काल शक ७१४ से ७४५ अर्थात् ३१ वर्ष पडता है।

, Altkar The Rashtrakutas and their times p. 71 II

२ आजमें कोई ३० वर्ष पूर्व विद्वत् प नाथूरामजी प्रेमाने अपनी विद्वत्काला नामक लेखमालामें वीरसेनके शिष्य जिनसेन स्वामीका पूरा परिचय देते हुए बहुत मयुक्तिक रूपमें जिनसेनका जन्मकाल शक सम्वत् ६७५ अनुमान किया था और कहा था कि उनके शुक्रजन्म उनसे 'अधिक नहीं तो १० वर्ष पहले लगभग ६६५ शकमें हुआ होगा'। इससे वीरसेन स्वामीका जीवनकाल शक ६६५ से ७४५ तक अर्थात् ८० वर्ष पडता है। ठीक यही अनुमान अन्य प्रकारसे सख्या जोडकर प्रेमानेजिन किया था और लिखा था कि 'जिनसेन स्वामीके पुत्र वीरसेन स्वामीकी अवस्था मी ८० वर्षसे कम न हुई होगी ऐसा जान पडता है। विद्वत्काला पृ २५ आदि, व पृ. ३६. इन हमारे कविगणोंके पूर्ण परिचयके लिये पाठकोंको प्रेमलीला वृ ८९ पृथीका पूरा लेख पडना चाहिये।



अत्र हम प्रशस्तिमें दी हुई ग्रह-स्थितिपर भी विचार कर सकते हैं। सूर्यकी स्थिति तुला राशिमें बताई गई है सो ठीक ही है, क्योंकि, कार्तिक मासमें सूर्य तुलामें ही रहता है। चन्द्रकी स्थितिका योक्तक पद अशुद्ध है। शुक्लपक्ष होनेसे चन्द्र सूर्यसे सात राशिके भीतर ही होना चाहिये और कार्तिक मासकी त्रयोदशीको चन्द्र मीन या मेष राशिमें ही हो सकता है। अतएव 'गोमिचंद्रमि' की जगह शुद्ध पाठ 'मीणे चंद्रमि' प्रतीत होता है जिससे चन्द्रकी स्थिति मीन राशिमें पडती है। लिपिकारके प्रमादसे लेखनमें वर्णव्यत्यय होगया जान पडता है। शुक्रकी स्थिति सिंह राशिमें बताई है जो तुलाके सूर्यके साथ ठीक बैठती है।

सबसस्त्रके निर्णयमें नौ ग्रहोंमेंसे केवल तीन ही ग्रह अर्थात् गुरु, राहु और शनिकी स्थिति सहायक हो सकती है। इनमेंसे शनिका नाम तो प्रशस्तिमें कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। राहु और गुरुके नामोल्लेख स्पष्ट हैं किन्तु पाठ-भ्रमके कारण उनकी स्थितिका निर्भ्रान्त ज्ञान नहीं होता। अतएव इन ग्रहोंकी वर्तमान स्थितिपरसे प्रशस्तिके उल्लेखोंका निर्णय करना आवश्यक प्रतीत हुआ। आज इसका विवेचन करते समय शक १८६१, आश्विन शुक्ल ५, मंगलवार, है और इस समय गुरु मीनमें, राहु तुलामें तथा शनि मेषमें है। गुरुकी एक परिक्रमा वारह वर्षमें होती है, अतः शक ७३८ से १८६१ अर्थात् ११२३ वर्षमें उसकी ९३ परिक्रमाएँ पूरी हुईं और शेष सात वर्षमें सात राशियाँ आगे बढ़ीं। इसप्रकार शक ७३८ में गुरुकी स्थिति कन्या या तुला राशिमें होना चाहिये। अब प्रशस्तिमें गुरुको हम सूर्यके साथ तुला राशिमें ले सकते हैं।

राहुकी परिक्रमा अठारह वर्षमें पूरी होती है अतः गत ११२३ वर्षमें उसकी ६२ परिक्रमाएँ पूरी हुईं और शेष सात वर्षमें वह लगभग पाच राशि आगे बढ़ा। राहुकी गति सदैव वक्री होती है। तदनुसार शक ७३८ में राहुकी स्थिति तुलासे पाचवी राशि अर्थात् कुंभमें होना चाहिये। अतएव प्रशस्तिमें हम राहुका सम्बन्ध कुम्भिह से लगा सकते हैं। राहु यहाँ तृतीयान्त पद स्यों है इसका समाधान आगे करेंगे।

शनिकी परिक्रमा तीस वर्षमें पूरी होती है। तदनुसार गत ११२३ वर्षमें उसकी ३७ परिक्रमाएँ पूरी हुईं और शेष १३ वर्षमें वह कोई पाच राशि आगे बढ़ा। अतः शक ७३८ में शनि धनु राशिमें होना चाहिये। जब धवलकारने इतने ग्रहोंकी स्थितियाँ दी हैं, तब वे शनि जैसे प्रमुख ग्रहोंको भूल जाय यह सम्भव न जान हमारी दृष्टि प्रशस्तिके चापम्भि वरणिबुत्ते पाठपर गई। चाप का अर्थ तो धनु होता ही है, किन्तु वरणिबुत्ते से शनिका अर्थ नहीं निकल सका। पर साय ही यह ध्यानमें आते देर न लगी कि सम्भवतः शुद्ध पाठ तरणि-बुत्ते (तरणिपुत्रे) है। तरणि सूर्यका पर्यायवाची है और शनि सूर्यपुत्र कहलाता है। इसप्रकार प्रशस्तिमें शनिका भी उल्लेख मिल गया और इन तीन ग्रहोंकी स्थितिसे हमारे अनुमान किए हुए धवलके समाप्तिकाल शक ७३८ की पूरी पुष्टि हो गई।

इन ग्रहोंका इन्ही राशियोंमें योग शक ७३८ के अतिरिक्त केवल शक ३७८, ५५८, ९१८, १०९८, १२७८, १४५८, १६३८ और १८१८ मेंही पाया जाता है, और ये कोईभी सबत् धवलके रचनाकालके लिये उपयुक्त नहीं हो सकते।

अत्र ग्रहोंमेंसे केवल तीन अर्थात् केतु, मंगल और बुध ही ऐसे रह गये जिनका नामोल्लेख प्रशस्तिमें हमारे दृष्टिगोचर नहीं हुआ। केतुकी स्थिति सदैव राहुसे सप्तम राशिपर रहती है, अतः राहुकी स्थिति बता देने पर उसकी स्थिति आप ही स्पष्ट हो जाती है कि उस समय केतु सिंह राशिमें था। प्रशस्तिके शेष शब्दोंपर विचार करनेमें हमें मंगल और बुधका भी पता लग जाता है। प्रशस्तिमें 'कोणे' शब्द आया है। कोण शब्द कोपके अनुसार मंगलका भी पर्यायवाची है। जैसा आगे चलकर ज्ञात होगा, कुडली-चक्रमें मंगलकी स्थिति कोनेमें आती है, इसीसे सम्भवतः मंगलका यह पर्याय कुशल कविको यहा उपयुक्त प्रतीत हुआ। अतः मंगलकी स्थिति राहुके साथ कुंभ राशिमें थी। राहु पदकी तृतीया विभक्ति इसी सायको व्यक्त करनेके लिये रखी गई जान पड़ती है। अब केवल 'भावविलगने' और 'कुलविलगए' शब्द प्रशस्तिमें ऐसे बच रहे हैं जिनका अभीतक उपयोग नहीं हुआ। कुल का अर्थ कोषानुसार बुध भी होता है, और बुध सूर्यकी आज बाजूकी राशियोंसे बाहर नहीं जा सकता। जान पडता है यहा कुलविलगए का अर्थ 'कुलविलये' है। अर्थात् बुधकी सूर्यकी ही राशिमें स्थिति होनेसे उसका विलय था। गाथामें मात्रापूर्तिके लिये विलगए का विलगए कर दिया प्रतीत होता है।

जब तक लग्नका समय नहीं दिया जाता तब तक ज्योतिष कुडली पूरी नहीं कही जा सकती। इस कमी की पूर्ति 'भागविलगने' पद से होती है। 'भावविलगने' का कुछ ठीक अर्थ नहीं बैठता। पर यदि हम उसकी जगह 'माणुविलगने' पाठ ले लें तो उससे यह अर्थ निकलता है कि उस समय सूर्य लग्नकी राशिमें था, और क्योंकि सूर्यकी राशि अन्यत्र तुला बतला दी है, अतः ज्ञात हुआ कि धवल टाँका को वरसेन स्वामीने प्रातःकालके समय पूरी की थी जब तुला राशिके साथ सूर्यदेव उदय हो रहे थे।

इस विवेचनद्वारा उक्त प्रशस्तिके समयसूचक पदोंका पूरा सशोधन हो जाता है, और उससे धवलकी समाप्तिका काल निर्विवाद रूपसे शक ७३८ कार्तिक शुक्ल १३, तदनुसार तारीख ८ अक्टूबर सन् ८१६, दिन बुधवार का प्रातःकाल, सिद्ध हो जाता है। उससे वरसेन स्वामीके सूक्ष्म ज्योतिष ज्ञानका भी पता चल जाता है।

आ हम उन तीन पंक्तियों को शुद्धता में इस प्रकार पढ़ सकते हैं—

अठतीसमिह सतसए विक्रमरायंक्रिए सु-सगणोम ।

त्रामे मुतेरसीए भाणु-विलगो धवल-पक्खे ॥ ६ ॥

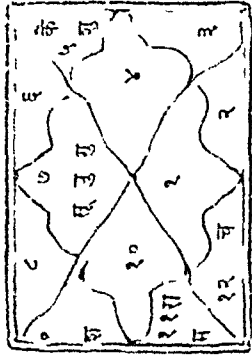
जगंतुंगदेव-रजे रियमिह कुंभमिह राहुणा कोणे ।

येरे तुलाए संते गुरुमिह कुलविछए होंते ॥ ७ ॥

चावमिह तरणि-त्रुत्ते सिंघे मुक्कम्मि मीणे चंदम्मि ।

कचिय-मासे एसा टीका हु समाणिआ धवला ॥ ८ ॥

इस पर से धवला की जन्मकुण्डली निम्नप्रकारसे खींची जा सकती है—



नीम्नेन चामिने अपनी टीकाका नाम धवला स्यो रखवा यह कहीं बतलाया गया

दृष्टिगोचर नहीं हुआ । धवलाका शब्दार्थ शुक्लके अतिरिक्त शुद्ध, विशुद्ध, स्पष्ट

भी होता है । सभ्य है अपनी टीकाके इसी प्रसाद गुणको व्यक्त करनेके लिये

उन्होंने यह नाम चुना हो । ऊपर दी हुई प्रवृत्तिसे ज्ञात है कि यह टीका

कार्तिक मासके चतुर्थ पक्षकी त्रयोदशीको समाप्त हुई थी । अतएव संभव है इसी निमित्तसे

रचयिताको यह नाम उपयुक्त जान पड़ा हो । ऊपर बतला चुके हैं कि यह टीका बहिरंग उपनाम-

धारा अमोचर्पण ( प्रथम ) के राज्यके प्रारम्भकालमें समाप्त हुई थी । अमोचर्पणकी अनेक उपाधियोंमें

एक उपाधि ' अतिगय-धवल ' भी मिलती है । उनकी इस उपाधियोंकी सार्थकता या तो उनके

शरीरके अत्यन्त गौरवणमें हो या उनकी अत्यन्त शुद्ध सात्विक प्रकृतिमें । अमोचर्पण बड़े धार्मिक

बुद्धिमान थे । उन्होंने अपने बृहत्कालमें राज्यपाट छोड़कर वैराग्य धारण किया था और

' प्रशोत्तरानमालिका ' नामक सुन्दर काव्य लिखा था । बाल्यकालसे ही उनकी यह धार्मिक बुद्धि

प्रकट हुई होगी । अतः संभव है उनकी यह ' अतिगय धवल ' उपाधि भी धवलाके नाम-करणमें

एक निमित्तकारण हुआ हो ।

## ८. धवलासे पूर्वके टीकाकार

ऊपर कह आये हैं कि जयधवलाकी प्रशास्तिके अनुसार चारसेनाचार्यने अपनी टीकाद्वारा सिद्धान्त ग्रन्थकी बहुत पुष्टि की, जिससे वे अपनेसे पूर्वके समस्त पुरस्तकाशिष्यकोसे बढ गये । इससे प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या चारसेनासे भा पूर्व इस सिद्धान्त ग्रन्थकी अन्य टीकाएँ लिखी गई थीं ? ' इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें दोनो सिद्धान्त ग्रन्थोंपर लिखी गई अनेक टीकाओंका उल्लेख किया है जिसके आधारसे पट्टखण्डागमकी धवलासे पूर्व रची गई टीकाओंका यहाँ परिचय दिया जाता है ।

कर्मप्राभृत ( पट्टखण्डागम ) और कृपायाप्राभृत इन दोनो सिद्धान्तोंका ज्ञान गुरु-परिपाटीसे कुन्दकुन्दपुरके पद्मनन्दि मुनिको प्राप्त हुआ, और उन्होंने सबसे पहले पट्टखण्डागमके प्रथम तीन खण्डोंपर चारह हजार श्लोक प्रमाण एक टीका ग्रन्थ रचा जिसका नाम परिकर्म था । हम ऊपर बतला आये हैं कि इन्द्रनन्दिका कुन्दकुन्दपुरके पद्मनन्दिसे हमारे उन्हीं प्रातः स्मरणीय कुन्दकुन्दाचार्यका ही अभिप्राय हो सकता है जो दिगम्बर जैन संप्रदायमें सबसे बड़े आचार्य गिने गये हैं और जिनके प्रवचनसार, समयसार आदि ग्रन्थ जैन सिद्धान्तके सर्वोपरि प्रमाण माने जाते हैं । दुर्भाग्यवत् उनकी

बनायी यह टीका प्रायः नहीं है और न किन्हीं अन्य लेखकोंने उसके कोई उल्लेख दिया है । किंतु

स्वयं धवला टीकामें परिकर्म नामके ग्रन्थका अनेकवार उल्लेख आया है । धवलाकारने कहीं

' परिकर्म ' से उद्धृत किया है, कहीं कहा है कि यह बात ' परिकर्म ' के कथनपरसे जानी

जाती है' और कहीं अपने कथनका परिकर्मके कथनसे विरोध आनेकी शका उठाकर उसका

समाधान किया है । एक स्थानपर उन्होंने परिकर्मके कथनके विरुद्ध अपने कथनकी पुष्टि भी की है और

१ पुस्तकाना धिरानाना कुन्दाभिह कुर्वता । येनातिशयिता पूरे सेरे पुस्तनकी शोष्यताः ॥ २३ ॥

( जयधलाप्रशस्ति )

२ एव द्विभियो द्रव्यभावपुस्तकगत समागच्छन् । गुरुपरिपाठ्या ज्ञात सिद्धान्त कुण्डकुन्दपुरे ॥ २६० ॥

श्रीपद्मनन्दिमुनिना तोडपि दादशमहयपरिमाण । ग्रन्थपरिकर्मरुचो पट्टखण्डायाविलिखण्डस्य ॥ २६१ ॥

इन्द्र उवाचवतार

३ ' सि परियम्मे बुत्त ' ( धवला अ. १४१ ) ५ ' ण च परियम्मेण सह निरोहो ( धवला अ. २०३ )

' परियम्ममि बुत्त ' ( " " ६७८ ) परियम्मवयणेण सह एद सुत्त

४ ' परियम्मवयणदो णक्खदे ' ( " " १६७ ) विक्कदि ति ण

' इदि परियम्मवयणदो ' ( " " २०३ )



कहा है कि उर्ध्वके व्याख्यानको प्रश्न करना चाहिए, परिकर्मके व्याख्यानको नहीं, क्योंकि, वह व्याख्यान सूत्रके विरुद्ध जाता है । इससे स्पष्ट ही ज्ञात होता है कि 'परिकर्म' इसी पट्खण्डानगामी टीका थी । इसकी पुष्टि एक और उल्लेखसे होती है जहा ऐसा ही विरोध उत्पन्न होनेपर कहा है कि वह कथन उत्सप्रकार नहीं है, क्योंकि, राय 'परिकर्मकी' प्रवृत्ति इसी सूत्रके बलसे हुई है । इन उल्लेखोंसे इस बातमें कोई सन्देह नहीं रहता कि 'परिकर्म' नामका ग्रंथ था, उसमें इसी आगम का व्याख्यान था और यह ग्रंथ श्रीसेनाचार्यके समुख विद्यमान था । एक उच्छेप द्वारा धवलाकारने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि 'परिकर्म' ग्रंथको सभी आचार्य प्रमाण मानने थे ।

उक्त उल्लेखोंमेंसे प्रायः सभीका समन्वय पट्खण्डगमके प्रथम तीन खण्डोंके विषयसे ही है जिससे इन्द्रनन्दिने इस कथन की पुष्टि होती है कि वह ग्रंथ प्रथम तीन खण्डोंपर ही लिखा गया था । उक्त उल्लेखोंमेंसे 'परिकर्मके' कर्ताके नामादिकका कुछ पता नहीं लगता । किन्तु ऐसी भी कोई बात उनमें नहीं है कि जिससे वह ग्रंथ कुन्दकुन्दकृत न कहा जा सके । धवलाकारने कुन्दकुन्दके अन्य सुश्रित्यात ग्रंथोंका भी कर्ताका नाम दिये बिना ही उल्लेख किया है । यथा, उक्त च पचविंशतिहृदे ( धवला. अ. पृ. २८९ )

इन्द्रनन्दिने ने इस टीकाको सर्व प्रथम व्रतलाया है और धवलाकारने उसे सर्व-आचार्य-सम्मत कहा है, तथा उसका स्थान स्थानपर उल्लेख किया है, इससे इस ग्रंथके कुन्दकुन्द-आचार्यकृत माननेमें कोई आपत्ति नहीं दिखती । यद्यपि इन्द्रनन्दिने यह नहीं कहा है कि यह ग्रंथ किस भाषामें लिखा गया था, किन्तु उसके जो 'अवतरण' धवलाकारने आये हैं वे सब प्राकृतमें ही हैं, जिससे जान पड़ता है कि वह टीका प्राकृतमें ही लिखी गई होगी । कुन्दकुन्दके अन्य सब ग्रंथ भी प्राकृतमें ही हैं ।

भाषाओं परिकर्मका एक उच्छेप इसप्रकार से आया है—

“ अपदेसं नेव इंदिए गेज्जं ” इति परमाणुण गिरवयवत्त परिस्से वुत्तमिदि ” ( ध. १११० )

१ परिस्सेण एद इत्ताण किण्ण विरुद्धे ? एदेण सह विरुद्धे, किंणु सुचेण सह ण विरुद्धे । तस एदस्स इत्ताण्ण गृहण तावत्त, ण परिस्सेणस्स तस्स सुत्तमिदिगुत्तवादी । ( धवला अ २५९ )

२ परिस्सेमाथे अन्तेत्ताओ जोगकोडोओ मेदीए पमाणमत्तमदिमिदि वे ण, एदस्स सुत्तस्स वलेण परिस्सेमपवृत्तो । ( धवला अ पृ १८६ )

३ ' वपणापरिस्सेमत्तवगिरस्सेममिदिगुत्तवादी । ( धवला अ पृ १४२ )

इसका कुन्दकुन्दके नियमसारकी इस गाथासे मिलान कीजिये—

अत्तादि अत्तमज्जा अत्तत नेव इंदिए गेज्जं ।

अविभागी ज दब्ब परमाणू त विआणाहि ॥ २६ ॥

इन दोनों अवतरणोंके मिलानसे स्पष्ट है कि धवलाकारने आया हुआ उल्लेख नियमसारसे भिन्न है, फिर भी दोनोंकी रचनामें एक ही हाथ सुस्पष्टरूपसे दिखाई देता है । इन सब प्रमाणोंसे कुन्दकुन्दकृत परिकर्म के अस्तित्वमें बहुत कम सन्देह रह जाता है ।

धवलाकारने एक स्थानपर 'परिकर्म' का सूत्र कह कर उल्लेख किया है । यथा—  
' रूवाहियाणि ति परियम्मसुत्तेण सह विरुद्धाह ' ( धवला अ. पृ. १४३ ) । बहुधा वृत्तिरूप जो व्याख्या होती है उसे सूत्र भी कहते हैं । जयधवलामें यतिवृषभाचार्यको ' कथायप्राश्रुत ' का ' वृत्तिसूत्रकर्ता ' कहा है । यथा—

' सो विसिमुत्तकत्ता जह्वसहो मे वरं देज ' ( जयध० मगलाचरण गा ८ )

इससे जान पड़ता है कि परिकर्म नामक व्याख्यान वृत्तिरूप था । इन्द्रनन्दिने परिकर्मको ग्रंथ कहा है । वैजयन्ती कोपके अनुसार ग्रंथ वृत्तिका एक पर्याय-वाचक नाम है । यथा—  
' वृत्तिर्ग्रन्थजीवनयो ' । वृत्ति उसे कहते हैं जिसमें सूत्रोंका ही विवरण हो, शब्द रचना सक्षिप्त हो और फिर भी सूत्रके समस्त अर्थोंका जिसमें सप्रह हो । यथा—

' सुत्तसेव विवरणाए सखित्त-सह-नरणाए संगहिय-सुत्तासेसत्याए वित्तसुत्त-ववएसदाओ ।  
( जयध० अ. ५२. )

इन्द्रनन्दिने दूसरी जिस टीकाका उल्लेख किया है, वह शामकुंड नामक आचार्य-कृत २ शामकुंडकृत पद्धति ग्रंथ ( कथायप्राश्रुत ) पर भी थी । यह टीका पद्धति रूप थी । वृत्तिसूत्रके विषय-पदोंका भजन अर्थात् विस्लेषणात्मक विवरणको पद्धति कहते हैं । यथा—

वित्तिसुत्त-विसम-पयाभजिए विवरणाए पड्डू-ववएसदाओ ( जयध. पृ. ५२ )

इससे स्पष्ट है कि शामकुंडके समुख कोई वृत्तिसूत्र रहे हैं जिनकी उन्होंने पद्धति लिखी । हम ऊपर कह ही आये हैं कि कुन्दकुन्दकृत परिकर्म सम्भवतः वृत्तिरूप ग्रंथ था । अतः शामकुंडने उसी वृत्तिपर और उग्र कथायप्राश्रुतकी यतिवृषभाचार्यकृत वृत्तिपर अपनी पद्धति लिखी ।

इस समस्त टीकासा परिमाण भी वारु हज़ार श्लोक था और उसकी भाषा प्राकृत गन्धर्व और कनाडी तीनों मिश्रित थी। यह टीका परिकर्मसे कितने ही काल पश्चात् लिखी गई थी। इस टीकाके कोई उद्देश्य आदि धवला व पयधवलमें अभी तक हमारे दृष्टिगोचर नहीं हुए।

इन्द्रनिन्द्या उद्धिहित नीमरी मिहान्दीना तुम्बुलर नामके आचार्यद्वारा लिखी गई। ३ चूडामणिकर्ता ये आचार्य 'तुम्बुलर' नामके एक सुन्दर ग्राममें रहते थे, इसीसे वे तुम्बुलर-तुम्बुलरआचार्य चाये कहल्यये, जैसे कुण्डकुन्दपुरमें रहनेके कारण पन्नान्दि आचार्यकी बुन्दुन्द नामसे प्रसिद्धि हुई। इनका असली नाम क्या था यह ज्ञान नहीं होगा। इन्होंने छठों मुद्रकों छोट छेप दोनों सिद्धान्तोंपर एक बड़ी भारी व्याख्या लिखी, जिसका नाम 'चूडामणि' था और परिमाण चारसी हज़ार। इस महती व्याख्याकी भाषा कनाडी थी। इसके अतिरिक्त उन्होंने छठवें खटपर सात हज़ार प्रमाण 'पञ्चिका' लिखी। इस प्रकार इनकी कुल रचनासा प्रमाण ९१ हज़ार श्लोक हो जाता है। इन रचनाओंका भी कोई उल्लेख नबला व जयप्रलामें हमारे दृष्टिगोचर नहीं हुआ। किन्तु महाधवलका जो परिचय 'धवलदि-मिगान्त ग्रंथोत् प्रशान्तिग्रह' में दिया गया है उसमें पञ्चिकारूप विवरणका उल्लेख पाया जाता है। यथा—

गोच्छामि सतकस्मे पंचियस्त्रेण विरण सुमह्य ॥ पुणो तेहितो सेसट्टारसणि-  
गोछाणणि मतरस्मे सञ्चणि परविनाणि । तो वि तस्सडगभरत्तादो अत्यविसमपदाणमथे थोर-  
दयेण पंचिय-सरणेण भणित्तासो ।

जान पड़ता है यही तुम्बुलरआचार्यकृत पद्यमें खडकी बट पञ्चिका है जिसका इन्द्रनिन्दने उद्देश्य किया है। यदि यह टीक हो तो कहना पड़ेगा कि चूडामणि व्याख्याकी भाषा कनाडी थी, किन्तु इस पञ्चिकाको उन्होंने प्राकृतमें रचा था।

मह्दाकलंकरेवने अपने कर्णाटक शब्दाशुशासनमें कनाडी भाषामें रचित 'चूडामणि' नामक तथार्थमहाशास्त्र व्याख्यानका उल्लेख किया है। यद्यपि वहा इसका प्रमाण ९६ हज़ार बतलया है जो इन्द्रनिन्दने कथनमें अविक है, तथापि उसका तात्पर्य इसी तुम्बुलरआचार्यकृत 'चूडामणि' से है ऐसा जान पड़ता है। इनके रचना-कालके विषयमें इन्द्रनिन्दने इतना

१ कोडे तत निययमि गते पुन शामकुण्डमतेन । आचोयेण ज्ञाता द्विभेदमप्यागम कास्यारि ॥ १६२ ॥  
गदराणिगएय प्रप सि पान्तयोरुमयो । पठेन त्तिना सण्डेन पृथुमहाप्रथसजेन ॥ १६३ ॥

प्राकृतसंस्कृतकर्णाटभाषया पद्धति परा रचिता ॥ इन्द्र. श्रुतावतार

२ गोसायाविलम जनेमिहान्तवनना प्रथम गारिक सिपेट, १९३५

३ न पंगा ( कादिनी ) भाषा शान्तापुणेगिनी, तत्त्वार्थमहाशास्त्राख्यानर पणवतिमहयमित-

ही कहा है कि शामकुटसे कितने ही काल पश्चात् तुम्बुलरआचार्य हुए।

तुम्बुलरआचार्यके पश्चात् कालान्तरमें समन्तभद्र स्वामी हुए, जिन्हें इन्द्रनिन्दने 'ताकिर्कार्क' कहा है। उन्होंने दोनों सिद्धान्तोंका अध्ययन करके ४ समन्तभद्रस्वामी-पट्टखण्डागमके पाच खंडोंपर ४८ हज़ार श्लोकप्रमाण टीका रची। इस कृत टीका टीकाकी भाषा अखंत सुंदर और मृदुल संस्कृत थी।

यहा इन्द्रनिन्दिका अभिप्राय निश्चयत आप्तमीमासादि सुप्रसिद्ध ग्रन्थोंके रचयितासे ही है, जिन्हें अष्टसहस्रीके टिप्पणकारने भी 'ताकिर्कार्क' कहा है। यथा—

तदेव महायोगेस्ताकिर्कार्कैरुपज्ञाता . . आप्तमीमासाम् . .  
( अष्टम. पृ १ टिप्पण )

धवला टीकामें समन्तभद्रस्वामीके नामसहित दो अवतरण हमारे दृष्टिगोचर हुए हैं। इन्मेंसे प्रथम पत्र ४९४ पर है। यथा—

'तथा समंतभद्रसामिणा वि उक्तं, त्रिधिविपक्तभतियधरूप इत्यादि'

यह श्लोक बृहत्स्यभूस्तोत्रका है। दूसरा अवतरण पत्र ७०० पर है। यथा—

'तथा समंतभद्रस्वामिनायुक्त, स्याद्वादप्रविभक्तार्थविशेषव्यजको नय ।'

यह आप्तमीमासाके श्लोक १०६ का पूर्वार्ध है। और भी कुछ अवतरण केवल 'उक्त च' रूपसे आये हैं जो बृहत्स्यभूस्तोत्रादि ग्रन्थोंमें मिलते हैं। पर हमें ऐसा कहीं कुछ अभी तक नहीं मिल

अथसदर्भरूपस्य चूडामण्यभिवानस्य महाशास्त्रस्याप्येवा च शब्दागम युक्त्यागम-परमाणु-विषयाणां तथा काय-वाटक  
कटाशान्त-विषयाणां च गृह्णा प्रथ्यानामपि भाषावृत्तानामुपलब्धमानानां । ( समन्तभद्र पृ २१८ )

अथ तुम्बुलरनामाचार्योऽभूत्तुम्बुलरमद्वेषामे । पठेन त्तिना सण्डेन सोऽपि सिद्धान्तयोरुमयो ॥ १६५ ॥  
चतुरविंशतिमहस्रप्रथरचनया युक्ताम् । कर्णाटभाषयाऽस्त महती चूडामणिं व्याख्याय ॥ १६६ ॥  
मन्तसहस्रग्रथां पठस्य च पंचिका पुनरकार्यात् । इन्द्र श्रुतावतार

२ कालात्तरं तत पुनरासध्नां पलरि(?) ताकिर्कार्कोभूत् ॥ १६७ ॥

श्रीमान् समन्तभद्रस्वामीलिय सोऽप्यवीत्य त द्विधियम् ।

सिद्धातमत पट्टखण्डागमतखण्डपत्रस्य पुन ॥ १६८ ॥

अष्टौ चत्वारिंशत्सहस्रमद्वयस्वचनया युक्ताम् ।

विरचितवानतिसुट्टमृदुसंस्कृतभाषया टीकाम् ॥ १६९ ॥ इन्द्र श्रुतावतार

सका जिससे उक्त टीकाका पना चलता । श्रुतावतारके ' आसन्धा पलरि ' पाठमें संभवत आचार्यके निवासस्थानका उल्लेख है, किन्तु पाठ अशुद्धसा होनेके कारण ठीक ज्ञात नहीं होता ।

जिनसेनाचार्यकृत हरिवंशपुराणमें समन्तभद्रनिर्मित ' जीवसिद्धि ' का उल्लेख आया है, किन्तु यह ग्रंथ अभीतक मिला नहीं है । कहीं यह समन्तभद्रकृत ' जीवद्वाना ' की टीकाका ही तो उल्लेख न हो ? समन्तभद्रकृत गंधहस्तिमहाभाष्यके भी उल्लेख मिलते हैं, जिनमें उमें तत्त्वार्थ या तत्त्वार्थसूत्रना व्याख्यान कहा है । इस परसे माना जाता है कि समन्तभद्रने यह भाष्य उमास्वातिकृत तत्त्वार्थसूत्रपर लिखा होगा । किन्तु यह भी संभव है कि उन उल्लेखोंका अभिप्राय समन्तभद्रकृत इन्हीं सिद्धान्तग्रंथोंकी टीकासे हो । इन ग्रंथोंकी भी ' तत्त्वार्थमहाशास्त्र ' नामसे प्रसिद्धि रही है, क्योंकि, जैसा हम ऊपर कह आये हैं, तुम्बुड्याचार्यकृत इन्हीं ग्रंथोंकी ' चूडामणि ' टीकाको अकलकदेवने तत्त्वार्थमहाशास्त्र व्याख्यान कहा है ।

इन्द्रनदिने कहा है कि समन्तभद्र स्वामी द्वितीय सिद्धान्तकी भी टीका लिखनेवाले थे, किन्तु उनके एक सधर्मने उन्हें ऐसा करनेसे रोक दिया । उनके ऐसा करनेका कारण द्रव्यारि-शुद्धि-करण-प्रयत्नका अभाव बतलाया गया है\* । संभव है कि यहां समन्तभद्रकी उस भस्मज व्याधिकी ओर संकेत हो, जिसके कारण कहा गया है कि उन्हें कुछ काल अपने मुनि आचारका अतिरेक करना पड़ा था । उनके इन्हीं भावों और शरीरकी अपरध्याकी उनके सहधर्मोंने द्वितीय सिद्धान्त ग्रंथकी टीका लिखनेमें अनुकूल न देख उन्हें रोक दिया हो ।

यदि समन्तभद्रकृत टीका सस्कृतमें लिखी गई थी और बीरसेनाचार्यके समय तक, विद्यमान थी तो उसका बचला जयधवलमें उल्लेख न पाया जाना बड़े आश्चर्यकी बात होगी ।

सिद्धान्तग्रंथोंका व्याख्यानक्रम गुरु-परम्परासे चलता रहा । इसी परम्परामें शुभनन्दि

\* देखो, प. जगन्निर्गोर पुरतारुत समन्तमद्र पृ. २१२.

१ जीवसिद्धिभाष्योह इत्युक्त्युदाहरणम् । वच समन्तभद्रस्य वीरसेना निजुमते ॥

२ तत्त्वार्थसूत्रव्याख्यानगन्धहस्तिप्रवर्तक । स्वामी समन्तभद्रोऽभूद्रंगममनिदेशक ॥  
(हस्तिमद्र निकातकौरवनाटक, मा प्र मा )

तत्त्वार्थ-व्याख्यान-पणवति सहस्र-गन्धहस्ति महाभाष्य त्रिवाक्य देवनाग कर्त्तार स्याद्वाद-त्रिपारि-पति-समन्तमद्र ॥ ( एक याचीन कनाडी ग्रन्थ, देवी समन्तमद्र पृ. २२० )  
श्रीमत्त्वार्थशास्त्राद्भुतमखिलनिर्वेदिद्वालोद्भवस्य । प्रोधानारम्भकाले सकलमखलिदे शास्त्रकार कृत यत् ।  
( नियानन्द आत्ममीमासा )

४ खिलिखत् द्वितीयमिद्वान्तस्य व्याख्या सर्वमंगा स्वेन । द्रव्यादिशुद्धिरणप्रयनविरहात् प्रतिषिद्धम् ॥ १७० ॥

इन्द्र शुतावतार

५ वृषदेव गुरुकृत व्याख्याप्रज्ञप्ति

समीप मगणवह्नी ग्राममें हुआ था । भीमरथि कृष्णा नदीकी शाखा है और इनके बीचका प्रदेश अत्र ब्रेलगात्र व धारणाड कहलाता है । वही यह वृषदेव गुरुका सिद्धान्त-अध्ययन हुआ होगा । इस अध्ययनके पश्चात् उन्होंने महाभागको छोड़ डेप पाच लडोंपर ' व्याख्याप्रज्ञप्ति ' नामकी टीका लिखी । तपश्चात् उन्होंने छठे गण्डकी सक्षेपमें व्याख्या लिखी । इस प्रकार छहों गण्डोंके नियन्त्रण हो जानेके पश्चात् उन्होंने कयायप्राश्रुतकी भी टीका रची । उक्त पाच खंडों और कयायप्राश्रुतकी टीकाका परिमाण साठ हजार, और महाशयकी टीकाका ' पांच अंगिक अठ हजार ' था, और इस सब रचनाका भाषा प्राकृत थी ।

धवलामें व्याख्याप्रज्ञप्तिके दो उल्लेख हमारी दृष्टिमें आये हैं । एक स्थानपर उपनेक अपतरण द्वारा टीकाकारने अपने मतकी पुष्टि की है । यथा-

लोगो वादप्रदिष्टित्ति वियाहपण्णचिक्वणादो ( व. १४३ )

दूसरे स्थानपर उससे अपने मतका विरोध दिखाया है और कहा है कि आचार्य भेदसे वह भिन्न मान्यताको लिये हुए है और इसलिये उसका हमारे मतमें ऐसा नहीं है । यथा-

' एदेण वियाहपण्णचिसुचोण सह कथं ण विरोहो ः ण, एदमइदो तत्स पुयसुदत्स आरियभेएण भेदमानण्णस एवचाभावादो ( ध० ८०८ )

इस प्रकारके स्पष्ट मतभेदसे तथा उसके सूत्र नहे जानेसे इस व्याख्याप्रज्ञप्तिको इन सिद्धान्त ग्रंथोंकी टीका मानने में आशंका उपपन्न हो सकती है । किन्तु जयधवलमें एक स्थानपर लेखकने वृषदेवका नाम देकर उनके और अपने बीचके मतभेदकी बतलाया है । यथा-

वुणिसुत्तमि वृषदेवइरियखिद्धिचरणए अंतोसुहुत्तमिदि भणितो । अह्वेहि खिद्धिचरणए पुण जह० एगसमओ, उक्क० सहेजा समया त्ति परुविदो ( जय० १८५ )

१ एव व्याख्यानक्रममागतत्त परमपुरपरपरसा । जगन्नुत्तमिद्धन्तो द्विपि भोऽव्यतिनिश्चिन्नुद्विभ्याम् ॥ १७१ ॥  
शुभ रति-नदिमुनिन्या भीमरथि कृष्णमेखयो सरितो । मय्यमात्रिपने रमणयोत्कलिकामामामीव्यम् ॥ १७२ ॥  
नियतमगणवह्नीप्रामेडय त्रियेवन्पेण । शुत्रा तयोत्र पारदे तमसोय वृषदेवगुत्त ॥ १७३ ॥  
अपनीय महाशय पदगुण्डारिष्येपचपडे तु । व्याख्याप्रज्ञप्ति च यथ सड च तत सक्षिय ॥ १७४ ॥  
पुष्पां हजानामिति नि-पचानां तथा कयायस्य-नाश्रुतस्य च पण्डित्प्रम्यप्रमाणसुताम् ॥ १७५ ॥  
व्यलिखसाट्ठमापासुर्वा संयन्पुरततन्त्याह्याम् । अष्टमहसमथी व्याख्या पन्चाभिरी महाशये ॥ १७६ ॥

इन अग्रतर्गणोंसे ऋषदेरा और उनकी टीका 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' का अस्तित्व सिद्ध होता है। यन्त्राकार वीरसेनाचार्यके परिचयमें हम कह ही आये है कि इन्द्रनन्दिके अनुसार उन्होंने व्याख्याप्रज्ञप्तिको पाकर ही अपनी टीका लिखना प्रारम्भ किया था।

उक्त पात्र टीकाएँ पट्टखण्डगमके पुस्तकाखण्ड होनेके काल (विक्रमकी २ वीं शताब्दि) में यथालोक रचना काल (विक्रमकी ९ वीं शताब्दि) तक रची गई जिसके अनुसार स्थूल मानसे बुन्दकुन्द वृषरी शताब्दिमें, शामकुण्ड तीसरीमें, तुम्बुडूर चौथीमें, समन्तभद्र पाचवींमें और वण्णदेव छठवीं और आठवीं शताब्दिके बीच अनुमान किये जा सकते हैं।

प्रश्न हो सकता है कि ये सब टीकाएँ कहाँ गईं और उनका पठन-पाठनरूपसे प्रचार क्यों विरिष्ठ हो गया? हम यथालोकके परिचयमें ऊपर कह ही आये है कि उन्होंने, उनके शिष्य विनसेनके शब्दोंमें, चिरकालीन पुस्तकोंका गौरव बढ़ाया और इस कार्यमें वे अपनेसे पूर्वके समस्त पुस्तक-शिष्योंसे बढ गये। जान पड़ता है कि इसी टीकाके प्रभावमें उक्त सब प्राचीन टीकाओंका प्रचार रुक गया। वीरसेनाचार्यने अपनी टीकाके विस्तार व विषयके पूर्ण परिचय तथा पूर्वमान्यताओं व मतभेदोंके स्पष्ट, आलोचन व मंथनद्वारा उन पूर्ववर्ती टीकाओंको पाठकोंकी दृष्टिसे ओसल कर दिया। किन्तु स्वयं यह वीरसेनीया टीका भी उसी प्रकारके अन्धकारमें पड़नेसे अपनेको नहीं बचा सकी। नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीने इसका पूरा सार लेकर सक्षेपमें सरल और मुशष्टरूपसे गोमटसारकी रचना कर दी, जिससे इम टीकाका भी पठन-पाठन प्रचार रुक गया। यह बात इसीसे सिद्ध है कि गत सात-आठ शताब्दियोंमें इसका कोई साहित्यिक उप-योग हुआ नहीं जान पड़ता और इसकी एकमात्र प्रति पूजाकी वस्तु बनकर तालोंमें बन्द पड़ी रही। किन्तु यह असंभव नहीं है कि पूर्वकी टीकाओंकी प्रतिया अभी भी दक्षिणके किसी शायभडारों पड़ी हुई प्रजाशक्ती बाट जोह रही हों। दक्षिणमें पुस्तकें ताडपत्रोंपर लिखी जाती थीं और ताडपत्र जल्दी क्षीण नहीं होते। साहित्यप्रेमियोंको दक्षिणप्रान्तके भण्डारोंका इस दृष्टिसे भी योनिन करते रहना चाहिए।

## ९. धवलकारके सन्मुख उपस्थित साहित्य

धारा और जयधरालोकों देखनेसे पता चलता है कि उनके रचयिता वीरसेन आचार्यके सत्प्ररूपणामें सन्मुख बहुत विगाळ जैन साहित्य प्रस्तुत था। सत्प्ररूपणका जो भाग अब प्रकाशित हो रहा है उसमें उन्होंने सत्कर्मप्राभृत व कषायप्राभृतके नामोल्लेख व उनके विविध अधिकारोंके उल्लेख व अवतरण आदि दिये हैं। इनके अतिरिक्त निम्नमेन दिनाकरकृत 'सन्मतिरकता' (सन्मतिमत्र) नामसे

१ पृ २०८, २२१, २२६ आदि

उल्लेख किया है और एक स्थलपर उसके कथनसे विरोध ब्रताकर उसका समाधान किया है, तथा उसकी सात गाथाओंको उद्धृत किया है। उन्होंने अकलकदेवकृत तत्पार्षाजवार्तिकका 'तत्पार्षा-भाष्य' नामसे उल्लेख किया है और उसके अनेक अवतरण कहीं शब्दश और कहीं कुछ परि-वर्तनके साथ दिये हैं। इनके सिवाय उन्होंने जो २१६ सस्कृत व प्राकृत पद्य बहुरा 'उक्त च' कहकर और कहीं कहीं बिना ऐसी सूचनाके उद्धृत किये हैं उनमेंसे हमें ६ कुन्दकुण्डकृत प्रवचनसार, पंचास्तिकाय व उसकी जयसेनकृत टीकामें, ७ तिलोयपण्णात्तिमें, १२ बड़े-कुकृत मूलाचारमें, १ अकलकदेवकृत लघवीयस्वर्यामें, २ मूलााराधनमें, ५ वसुनन्दिश्रवकाचारमें, १ प्रभाचन्द्रकृत शाकटायन-न्यासमें, १ देवसनकृत नयचक्रमें, व १ विद्यानन्दकृत आत्-परीक्षामें" मिले हैं। गोमटसार जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड, व जीवप्रबोधनी टीकामें इसकी ११० गाथाएँ पाई गई हैं जो स्पष्टत बहापर यहाँसे ली गई हैं। कई जगह तिलोयपण्णात्तिकी गाथाओंके विषयका उन्हीं शब्दोंमें सस्कृत पद्य अथवा गद्यद्वारा वर्णन किया है व यतिवृषभाचार्यके मतका भी यहाँ उल्लेख आया है<sup>१</sup>। इनके अतिरिक्त इन गाथाओंमेंसे अनेक श्वेताम्बर साहित्यमें भी मिली हैं। सन्मतितर्ककी सात गाथाओंका हम ऊपर उल्लेख कर ही आये हैं। उनके सिवाय हमें ५ गाथाएँ आचारांगमें, १ बृहत्कल्पसूत्रमें, ३ दशैवालिकसूत्रमें, १ स्थानांगटीकामें, १ अनुयोग-द्वारमें" व २ आवश्यक-नियुक्तिमें" मिली हैं। इसके अतिरिक्त और विशेष खोज करनेमें डिगम्बर और श्वेताम्बर साहित्यमें प्राय सभी गाथाओंके पाये जानेकी संभावना है।

किन्तु वीरसेनाचार्यके सन्मुख उपस्थित साहित्यकी विशालताको समझनेके लिये उनकी सूत्र-पुस्तकोंमें समस्त रचना अर्थात् क्वला और जयधरालापर कमसे कम एक त्रिहाग-दृष्टि पाठभेद व मतभेद सन्मुख पुष्पदन्त, भूतवलि व गुणधर आचार्यकृत पूरा सूत्र-साहित्य प्रस्तुत

१ पृ १५ व गाथा न ५, ६, ७, ८, ९, ६७, ६९

२ पृ १०३, २२६, २३२, २३४, २३९

३ गाथा न. १, ३३, ४६, ७२, ७३, १९८

४ गाथा न २०, ३५, ३७, ५५, ५६, ६०

५ गाथा न १८, ३१ (पाठभेद) ६५ (पाठभेद) ७०, ७१, १३४, १४७, १४८, १८९, १५०,

१५१, १५२ व गाथा न १७ गाथा न १६७, १६८ गाथा न ५८, १६७, १६८, ३०, ७४,

९ गाथा न २, १० गाथा न १०, ११ गाथा न २२

१२ देखी पृ १०, २८, २९, ३२, ३३, आदि १३ देखी पृ ३०२

१४ गाथा न १४, १४९, १५०, १५१, १५२ (पाठभेद) १५ गाथा न. ६२.

१६ गाथा न. ३४, ७०, ७१. १७ गाथा न, ८८ १८ गाथा न १४ १९ गाथा न ६८, १००

था। पर इसमें भी यह बात उल्लेखनीय है कि इन सूत्र-ग्रन्थोंके अनेक संस्करण छोटे-बड़े पाठ-भेदोंको रखते हुए उनके सम्बुद्ध विद्यमान थे। उन्होंने अनेक जगह सूत्र-पुस्तकोंके भिन्न भिन्न पाठों व तज्जन्य मतभेदोंका उल्लेख व यथाशक्ति समाधान किया है।

कहीं कहीं सूत्रोंमें परस्पर विरोध पाया जाता था। ऐसे स्थलोंपर टीकाकारने निर्णय करनेमें अपनी असमर्थता प्रकट की है और स्पष्ट कह दिया है कि इनमें कौन सूत्र है और कौन असूत्र है इसका निर्णय आगममें निपुण आचार्य करे। हम इस विषयमें कुछ नहीं कह सकते, क्योंकि, हमें इसका उपदेश कुछ नहीं मिला। कहीं उन्होंने दोनों विरोधी सूत्रोंका व्याख्यान कर दिया है, यह कह कर कि 'इसका निर्णय तो चतुर्दश पूर्वधारी व केवलज्ञानी ही कर सकते हैं, किंतु वर्तमान कालमें वे है नहीं, और अत्र उनके पासमें सुनकर आये हुए भी कोई नहीं पाये जाते। अतः सूत्रोंकी प्रमाणिकता नष्ट करनेसे दर्शनेवाले आचार्योंको तो दोनों सूत्रोंका व्याख्यान करना चाहिये'। कहीं कहीं तो सूत्रोंपर उठाई गई शंका पर टीकाकारने यहतक कह दिया है कि 'इस विषयकी पूलताछ गौतमसे करना चाहिये, हमने तो यहा उनका अभिप्राय कहा है'।

सूत्रविरोधका कहीं कहीं ऐसा कहकर भी उन्होंने समाधान किया है कि 'यह विरोध तो सत्य है किंतु एकान्तग्रहण नहीं करना चाहिये, क्योंकि, वह विरोध सूत्रोंका नहीं है, किंतु इन सूत्रोंके उपसंग्रहकर्ता आचार्य सकल श्रुतके ज्ञाता न होनेसे उनके द्वारा विरोध आ जाना समभव है'। इससे वीरसेन स्वामीका यह मत जाना जाता है कि सूत्रोंमें पाठ-भेदादि परंपरागत

१ ऋषु वि सुत्तपोत्थयएषु पुरिसवेदस्सतर छम्मासा। धवला अ ३४५

केषु वि सुत्तपोत्थयएषु उनल्लमई, तदो एय उवएस लद्धूण वत्तव। धवला अ ५९१

केषु वि सुत्तपोत्थयएषु विदियमद्धमस्सिणू पक्खविद-अण्णान्हुअमात्तादो। धवला अ. १२०६

केषु वि सुत्तपोत्थयएषु एसो पाठो। धवला अ १२४३

२ तदो तेहि एत्तेहि एदेसिं सुत्ताण विरोधो होदि, ति मणिदे जदि एउ उदंम लद्धूण रद सुत्त रद चासुत्तमिदि आगम णिउणा मणु, ण च अदे एय बोत्तु सत्था अलद्धोउदयत्तादो। धवला अ ५६३

३ होसु णाम सुदेहेहि वुत्तथस्स सच्च, नहुएसु सुत्तेसु वण्णफदीण उवरि णिगोदपदस्स अण्णवलमादो। XX चौदसपुत्तवरो केवलणानी वा, ण च वट्टमाणकाले ते जीवि। ण च तेसिं पांम सोदूणागदा वि सपहि उवलभति। तदो अप्प काज्ज वे वि सुत्ताणि सुत्तामायण मीळ्धि आगुरिण्हि वन्खणियव्याणि। धवला अ ५६७

४ सुत्ते नणफदिसण्णा णिण्ण णिदिट्ठा? गोदमो एय पुरच्छेय्जो। अहेदि गोदमो बादरणिगोदपदिट्ठिण्ण नणफदिसण्ण णेच्छदि ति तस्स अभिपपोजो कहिओ। धवला अ ५६७

५ वसायपाहुड्ढत्तेणिद एत्त निस्सन्धीद ति तुत्ते सच्च रिक्कन्न किंनु पयंतमहो ए व ण कायन्नो। XX क्व सुत्ताणं विरोधो? ण, सुत्तोसथाराणममयल्लसुद-वारयाइरियपत्तताण विरोध-समव-दसणादो। वत्तला अ ५८९

आचार्योंद्वारा भी हो चुके थे। और यह स्वाभाविक ही है, क्योंकि, उनके उल्लेखोंमें ज्ञात होता है कि सूत्रोंका अध्ययन कई प्रकारसे चला करता था जिसके अनुसार कोई सूत्राचार्य थे, कोई उच्चारणाचार्य, कोई निक्षेपाचार्य और कोई व्याख्यानाचार्य। इनसे भी ऊपर 'महावाचकोंका' पद ज्ञात होता है। कथायमाश्रुतके प्रकाण्ड ज्ञाता आर्यमंशु और नागहस्तिनो अनेक जगह महावाचक कहा है। आर्यनन्दिना भी महावाचकरूपमें एक जगह उल्लेख है। संभवतः ये स्वयं वीरसेनके गुरु थे जिनका उल्लेख वत्तलाकी प्रशस्तिमें भी किया गया है।

वत्तलाकारने कई जगह ऐसे प्रसंग भी उठाये हैं जहा सूत्रोंपर इन आचार्योंका कोई मत उपलब्ध नहीं था। इनका निर्णय उन्होंने अपने गुरुके उपदेशके बल पर व परंपरागत उपदेशद्वारा तथा सूत्रोंसे अविरल अन्य आचार्योंके वचनोंद्वारा किया है।

धवला पत्र १०, ६ पर तथा जयधवलाके मंगलाचरणमें कहा गया है कि गुणधराचार्य विरचित कथायप्राश्रुत आचार्यपरपरोसे आर्यमंशु और नागहस्ति आचार्योंको प्राप्त हुआ और उनसे सीखकर यत्तिवृषभने उनपर वृत्तिवृत्र रचे। वीरसेन और जिनसेनके सम्बुद्ध, जान पड़ता है, उन दोनों आचार्योंके अलग अलग व्याख्यान प्रस्तुत थे क्योंकि उन्होंने अनेक जगह उन दोनोंके

१ सुत्ताइरिय वत्तखण-पण्हिदो उवल्लमदे। तन्हा तेषु सुत्ताइरिय वत्तखण-पण्हिण, व २९४  
२ एसो उच्चारणाइरिय-अभिपपओ। धवला अ ७६४ एदेमिण्णिगोदाराणमुच्चारणाइरियो-नएसल्लेण पक्खण वत्तस्सगामी। जयव अ ८४२

३ णिमखेवाइरिय-पक्खमिद गाहाणमाय मणिसामो। धवला अ ८६३

४ वन्नालाणाइरिय-पक्खमिद वत्तस्सामो। धवला अ १२३५

धन्नाणाणाइरियायणममात्तादो। धवला अ ३४८

५ महावाचयणमउम तुगमणणपुरदेसेण महावाचयणमउमणदीण उवदेसेण। धवला अ १४५७ महावाचया अउण्णदीणा सतरम्म णरति। द्विदिसतरम्म पयासति। धवला अ १४५८ अज्जमणु गागहिय महावाचय सुक्कमल-णिग्गियण्ण सम्पारस। जयव अ ९७३

६ क्वमंद णव्वदे? गुरुव्वेदसादो। धवला अ ३१२

७ सुत्तामांमं मत्त चेत्त लउणि कौरति णि वध णव्वदे? ण, आइरिय परंपरागदुन्देमादो। धवला अ ५९२

८ दुदो णव्वदे? अरिग्गदाइरिययणदो सुत्त-समाणादो। धवला अ १२५७ सुत्तण णिणा

वुदो णव्वदे? सुत्तविरुद्धाइरियवयणादो। धवला अ १३३७

( ५७ )

मन्त्रोक्ता उद्देश्य किया है' तथा उन्हें महावाचकके अतिरिक्त 'क्षमाश्रमण' भी कहा है। यतिप्रभृति चूणिसूत्रोंकी पुस्तक भी उनके सामने थी और उसके सूत्र-सत्या-क्रमका भी वीरसेनने यथा 'यान राग्या है'।

मंत्रों आर उनके व्याख्यानमें त्रिषोक्ते अतिरिक्त एक और विरोधका उल्लेख मिलता है जिसमें धवलाकारने उत्तर-प्रतिपत्ति और दक्षिण-प्रतिपत्ति कहा है। ये दो भिन्न मान्यताएँ थीं जिनमेंसे टीकाकार स्वयं दक्षिण-प्रतिपत्तिको स्वीकार करते थे, क्योंकि, वह ऋजु अर्थात् सरल, सुस्पष्ट और आचार्य-परंपरागत है, तथा उत्तर-प्रतिपत्ति अमृजु है और आचार्य-परंपरागत नहीं है। धवलामे इस प्रकारके तीन मत-भेद हमारे दृष्टिगोचर हुए हैं। प्रथम द्रव्यप्रमाणानुयोगद्वारामे उपशमश्रेणीकी सत्या ३०४ वताकार कहा है—

'केचि पुबुत्तपमाण पचूण कोति । एद पचूण वक्खाण पवाड्डजमाण दक्खिणमाइरिय-परारणमिदि ज बुत्त होई । पुबुत्त-वस्वणमपवाड्डज-माण वाउं आइरियपरपरा-अणागदमिदि णायत्त ।'

अर्थात् कोई कोई पूर्वोक्त प्रमाणमें पाचकी कर्मा करते हैं। यह पाचकी कर्माका व्याख्यान प्रवचन-श्रावण है, दक्षिण है और आचार्य-परंपरागत है। पूर्वोक्त व्याख्यान प्रवचन-श्रावण नहीं है, ताम हे और आचार्यपरंपरासे आया हुआ भी नहीं है, ऐसा जानना चाहिये।

इसीके आगे क्षपकश्रेणीकी सत्या ६०५ वताकार कहा गया है—

एसा उत्तर-पडिवची । एय दस अवणिदे दिक्खिण-पडिवची हवदि ।

अर्थात् यह ( ६०५ ) ही सत्यासवधी ) उत्तर प्रतिपत्ति है। इससे दश निकाल देने पर दक्षिण-प्रतिपत्ति हो जानी है।

आगे चल्त्तार द्रव्यप्रमाणानुयोगद्वारामे ही सत्यतोकी सत्या ८९९९९९७ वतलकार कहा है ' एसा दक्खिण-पडिवची '। इसके अन्तर्गत भी मतभेदादिका निरसन करके, फिर

१ स्यादिति वि अपियोगदारे वि मण्णामणे वे उवदेसा होति । जहणुवत्सद्विदीण पमाणपरूवणा ऋम्म-दिपरूवणे वि णागहृदिय वमाममणा मणति । अजामंखुत्तरमाममणा पुण कम्मद्विदपरूवणे वि मणति । एव तोदि परेमेदि स्यादितिरूपणा मग्गवा । (धवला अ १४६०) एय दूते उपपसा महावाचयणमज्जमंखुत्तवणा-णपरूवणे लोमणदि आउगसमाण णामानोद वेदणीयाण द्विदिसत-कम्म ठवेदि । महानाचयाण णागहृदिय खवणाण-परूवणे लोमं परेरे णामा गोर वेदणीयाण द्विदिसत-कम्म अतोपुटुवपमाण होदि । जयथ अ १२३९

२ जइरसह ग्गिणुवणमि पत्त-जइलमादो । जइरसहठविद गारइकादो । जयथ अ २५

( ५८ )

कहा है ' एतो उत्तर-पडिवचिं वत्तइस्सामो ' और तत्पश्चात् सत्यतो की सत्या ६९९९९९९९६ वतलाई है। यहा इनकी समाचीनताके विषयमें कुछ नहीं कहा।

दक्षिण-प्रतिपत्तिके अतर्गत एक और मतभेदका भी उल्लेख किया गया है। कुछ आचार्योंने उक्त सत्याके सबवमे जो शका उठाई है उसका निरसन करके धवलाकार कहते हैं—

' ज दूसण भणिट तण्ण दूसण, बुद्धिदिहूणाइरियमुहुविणिगगयत्तादो ।'

अर्थात् 'जो दूषण कहा गया है वह दूषण नहीं है, क्योंकि वह बुद्धिविहीन आचार्योंके मुखसे निकली हुई बात है'। सभव है वीरसेन स्वामीने किसी समसामयिक आचार्यकी शकाकी ही दृष्टिमें रखकर यह भर्त्सना की हो।

उत्तर और दक्षिण प्रतिपत्ति भेदका तीसरा उल्लेख अन्तरानुयोगद्वारामे आया है जहा तिर्यक और मनुष्योंके सम्यक्त्व और सयमादि वारण करनेकी योग्यताके कालका विवेचन करते हुए लिखते हैं—

' एय वे उवदेसा, त जहा-तिरिम्बेसु वेमासमुहुत्तपुवत्तस्खुरि सम्मत सजमासजम च जीवो पडिवज्जदि । मणुसेसु गम्भादिअट्टवस्सेसु अतोमुहुत्तम्भिएसु सम्मत सजम सजमासजम च पडिवज्जदि त्ति । एसा दक्खिणपडिवची । दक्खिण उज्जुव आइरियपरपरागदमिदि एय्हो । तिरिम्बेसु तिणिण पक्ख तिणिण दिवस अतोमुहुत्तस्खुरि सम्मत सजमासजम च पडिवज्जदि । मणुसेसु अट्टवत्साणमुवरि सम्मत सजम सजमासजम च पडिवज्जदि । एसा उत्तरपडिवची, उत्तरमणुज्जुव आइरियपरपराए णागदमिदि एय्हो ववला अ. ३३०

इसका तात्पर्य यह है कि सम्यक्त्व और सयमासयमादि वारण करनेकी योग्यता दक्षिण प्रतिपत्तिके अनुसार तिर्यचोमे ( जन्मसे ) २ मास और मुहुत्तपुपस्त्वके पश्चात् होती है, तथा मनुष्योंमें गर्भसे ८ वर्ष और अन्तर्मुहुत्तके पश्चात् होती है। किन्तु उत्तर प्रतिपत्तिके अनुसार तिर्यचोमे वही योग्यता ३ पक्ष, ३ दिन और अन्तर्मुहुत्तके उपरान्त, तथा मनुष्योंमें ८ वर्षके उपरान्त होती है। धवलाकारने दक्षिण प्रतिपत्तिको यहा भी दक्षिण, ऋजु व आचार्य-परंपरागत कहा है और उत्तर प्रतिपत्तिको उत्तर, अमृजु और आचार्य-परंपरासे अनागत कहा है।

हमने इन उल्लेखोंका दूसरे उल्लेखोंकी अपेक्षा कुछ विस्तारसे परिचय इस कारण दिया है, क्योंकि, यह उत्तर और दक्षिण प्रतिपत्तिका मतभेद अत्यन्त महत्वपूर्ण और विचारणीय है। सभव है इनसे धवलाकारका तात्पर्य जैन समाजके भीतरकी किन्ही विवेक साम्प्रदायिक मान्यताओंसे ही हो ?



धवलमें जिन अन्य आचार्यों व रचनाओंके उल्लेख दृष्टिगोचर हुए है वे इसप्रकार हैं । त्रिलोकप्रज्ञप्तिको धवलाकारने सूत्र कहा है और उसका यथास्थान खून उपयोग किया है<sup>१</sup> । हम उपर कह आये हैं कि सप्ररूपणमें त्रिलोयपणत्तिके मुद्रित अंशकी सात गाथाएँ ज्योंकी त्यों पाई जाती है और उसके कुछ प्रकरण भाषा परिवर्तन करके ज्योंके त्यों लिखे गये है । इस प्रथके कर्ता यतिवृषभाचार्य<sup>२</sup> कहे जाते है जो जयधवलके अन्तर्गत कृपायाम्भुतपर चूर्णिल्ल रचनेवाले यतिवृषभसे अभिन्न प्रतीत होते है ।<sup>३</sup> सप्ररूपणमें भी यतिवृषभका उल्लेख आया है<sup>४</sup> व आगे भी उनके मतका उल्लेख किया गया है ।

कुदकुदके पचास्तिकायका ' पंचस्थिपाहुड ' नामसे उल्लेख आया है और उसकी दो गाथाएँ भी उद्धृत की गई है<sup>५</sup> । सप्ररूपणमें उनके प्रयोगके जो अवतरण पाये जाते है उनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है । परिकर्म प्रथके उल्लेख और उसके साथ कुदकुदाचार्यके सवन्धका विवेचन भी हम ऊपर कर आये हैं ।

धवलाकारने तत्त्वार्थसूत्रको गुद्धपिच्छाचार्यकृत कहा है और उसके कई सूत्र भी उद्धृत किये है<sup>६</sup> । इससे तत्वार्थसूत्रसवन्धी एक श्लोक व श्रवणवेलगोलके कुछ शिलालेखके उस कथनकी पुष्टि होती है जिसमें उमास्वातिको ' गुद्धपिच्छोपलंछित ' कहा है । सप्ररूपणमें भी तत्वार्थसूत्रके अनेक उल्लेख आये है ।

१ त्रियिलोगो त्रि त्रिलोयपणत्तिसुचादो । धवला अ १४३

चदाइच्चविवपमाणपरुययत्रिलोयपणत्तिसुचादो । धवला अ १४३

त्रिलोयपणत्तिसुचादो । धवला अ २५९

२ Catalogue of Sans & Prak. Mss in C. P & Berar, Intro p XV

३ यतिवृषभोपदेशात् सर्वधातिकर्मणा इत्यादि । धवला अ ३०२

४ एसो दसणमोहणीय-वनमामभो ति जइवसहेण भाणिद । धवला अ ४२५

५ धवला अ २८९ 'तुच च 'पंचस्थिपाहुडे' कहकर चार गाथाएँ उद्धृत की गई है जिनमें दो पचास्तिकाय में क्रमशः १०८, १०७ नंबर पर मिलती हैं । अन्य दो ' ण य परिणमइ स तो ' आदि व ' लोया यासपदेशे ' आदि गाथाएँ हमारे समुल्लेख वर्तमान पचास्तिकायमें दृष्टिगोचर नहीं होतीं । किन्तु वे दानों गो जीमें क्रमशः न ५७० और ५८९ पर पाई जाती है । धवलके उसी पत्रपर आगे पुन वही ' बुल्लं च पंचस्थिपाहुडे ' कहकर तीन गाथाएँ उद्धृत की है जो पचास्तिकायमें क्रमशः २३, २५ और २६ नंबर पर मिलती है । ( पचास्तिकायसार, आरा, १९२० )

६ देखो ऊपर पृ ४६ आदि

७ देखो पृ १५१, २३२, २३६, २३९, २४०

धवलमें एक गाथा इसप्रकारसे उद्धृत मिलती है—

पचस्थिकाया य छज्जीवणिकायकालदब्बमण्णे य ।  
आणागेज्जे भावे आणाविचएण विचिणादि ॥

धवला अ २८९

यह गाथा बड़केरकृत मूलाचार्यमें निम्न प्रकारसे पाई जाती है—

पचस्थिकायछज्जीवणिकाये कालदब्बमण्णे य ।  
आणागेज्जे भावे आणाविचयेण विचिणादि ॥ ३९९ ॥

यदि उक्त गाथा यहींसे धवलमें उद्धृत की गई हो तो कहा जा सकता है कि उस समय मूलाचार्यकी प्रख्याति आचारागके नामसे थी ।

स्वामी समन्तभद्रके जो उल्लेख दृष्टिगोचर होते है उनका परिचय हम पट्टखडगमकी अन्य टीकाओंके प्रकरणमें करा ही आये है ।

धवलाकारने नयका निरूपण करते हुए एक जगह पूज्यपादद्वारा सारसप्रहमे दिया हुआ नयका लक्षण उद्धृत किया है । यथा—

सारसंग्रहेऽयुक्त पूज्यपादैः—अनन्तपर्यायाम्कस्य वस्तुनोऽन्यतम-पर्यायाधिगमे कर्तव्ये जात्यहेत्वपेक्षो निरवधप्रयोगो नय इति । धवला अ ७०० वेदनाखंड

पहले अनुमान होता है कि समभव है पूज्यपादकृत सर्वार्थसिद्धिको ही यथा सारसग्रह कहा गया हो । किन्तु उपलब्ध सर्वार्थसिद्धिमें नयका लक्षण इस प्रकारसे नहीं पाया जाता । इससे पता चलता है कि पूज्यपादकृत सारसग्रह नामका कोई और ग्रन्थ धवलाकारके समुल्लेख था । ग्रन्थके नामपरसे जान पडता है कि उसमें सिद्धान्तोक्ता महितार्थ संग्रह किया गया होगा । समभव है ऐसे ही सुन्दर लक्षणोको दृष्टिमें रखकर वनज्जयने अपने नाममालाकोयकी प्रशस्तिमें पूज्यपादके ' लक्षण ' को अपश्चिम अर्थात् वेजोड कहा है । यथा—

प्रमाणपरुल्लस्य पूज्यपादस्य लक्षणम् ।

द्विसंधानग्नेयः काव्य रत्नत्रयमपश्चिमम् ॥ २०३ ॥

अत्रलक्षणेवक्तु तत्त्वार्थराजवातिकका धवलाकारने खूब उपयोग किया है और, जैसा

हम ऊपर कह आये हैं, कहीं शब्दश और कहीं कुछ हेरफेरके साथ

उसके अनेक अवतरण दिये है । किन्तु न तो उनके साथ कहीं अत्रलक्षणा नाम आया और न ' राजवातिकका ' । उन अवतरणोंको प्राय ' उक्त

च तत्त्वार्थभाष्ये' या 'तत्त्वार्थभाष्यगत' प्रकट किया गया है। यत्रलामे एक स्थान (प ७००) पर कहा गया है—

पूज्यपादभट्टारकैरव्यभाषि—सामान्य-नय-लक्षणमिदमेव । तद्यथा, प्रमाण-प्रकाशितार्थ-निर्गम-प्रत्ययतो नयः इति ।

इसके आगे 'प्रकरणेण मान प्रमाणम्' आदि उक्त लक्षणकी व्याख्या भी दी है। यही लक्षण य न्यायन्या तत्त्वार्थराजवार्तिक, १, ३३, १ में आई है। जयध्वला (पत्र २६) में भी यह व्याख्या दी गई है और वहाँ उसे 'तत्त्वार्थभाष्यगत' कहा है। 'अयं वाक्यनयः तत्त्वार्थ-भाष्यगतः'। इससे सिद्ध होता है कि राजवार्तिकका असली प्राचीन नाम 'तत्त्वार्थभाष्य' है और उसके कर्ता अकलकका सन्मानमूचक उपनाम 'पूज्यपाद भट्टारक' भी था। उनका नाम भट्टारककृदेव तो मिलता ही है।

प्रभाचन्द्र भट्टारक यत्रलामे वेदनागुडावर्तगत नयके निरूपणमें (प. ७००) प्रभाचन्द्र भट्टारक-द्वारा कहा गया नयका लक्षण उद्धृत किया गया है, जो इस प्रकार है—  
'प्रभाचन्द्र-भट्टारकैरव्यभाषि-प्रमाण-व्यपाश्रय-परिणाम-विकल्प-वशीकृतार्थ-विशेष-प्ररूपण-प्रवचन. प्रणिविर्ष. स नय इति ।'

ठीक यही लक्षण 'प्रमाणव्यपाश्रय' आदि जयध्वला (प २६) में भी आया है और उसके पश्चात् लिखा है 'अय नारय नय-प्रभाचन्द्रो यः'। यह हमारी प्रतीकी अशुद्धि ज्ञात होती है और इसका ठीक रूप 'अय वाच्यनय प्रभाचन्द्रीय' ऐसा प्रतीत होता है।

प्रभाचन्द्रकृत दो प्रौढ न्याय-प्रथ सुप्रसिद्ध हैं, एक प्रमेयकमलमार्तण्ड और दूसरा न्याय-उपुरचन्द्रोदय । इस दूसरे प्रथका अभी एक ही खड प्रकाशित हुआ है। इन दोनों प्रथोंमें उक्त लक्षणका पता लगानेका हमने प्रयत्न किया किन्तु वह उनमें नहीं मिला। तत्र हमने न्या. कु. वा. के नुयोग्य संपादनक प. महेन्द्रकुमारजीसे भी इसकी खोज करनेकी प्रार्थना की। किन्तु उन्होंने भी परिश्रम करनेके पश्चात् हमें सूचित किया कि बहुत खोज करनेपर भी उस लक्षणका पता नहीं लग रहा। हमने प्रतीत होता है कि प्रभाचन्द्रकृत कोई और भी प्रथ रहा है जो अभी तक प्रसिद्धिमें नहीं आया और उसीके अन्तर्गत वह लक्षण हो, या इसके कर्ता कोई दूसरे ही प्रभाचन्द्र हुए हों।

वत्रलामे 'इति' के अनेक अर्थ वत्रलानेके लिये 'एतय उवजंतथो सिलोपो' अर्थात्

इस विषय का एक उपयोगी श्लोक कहकर निम्न श्लोक उद्धृत किया है—  
हेतोवैव प्रकाराद्यैः व्यवच्छेदे विपर्यय ।

प्रादुर्भावे समाप्त च इति शब्द विदुर्बुधाः ॥ धवला अ ३८७

यह श्लोक धनञ्जयकृत अनेकार्थ नाममालाका है और वहाँ यह अपने शुद्धरूपमें इसप्रकार पाना जाता है—

हेतोवैव प्रकारादौ व्यवच्छेदे विपर्यये ।

प्रादुर्भावे समाप्तौ च इति शब्द प्रक्रीर्तित ॥ ३९ ॥

इन्हीं वनञ्जयका बनाया हुआ नाममाला कोप भी है जिसमें उन्होंने अपने द्विसंश्रान न्नाव्यको तथा अकलकके प्रमाण और पूज्यपादके लक्षणको अपेक्षित कहा है अर्थात् उनके समान फिर कोई नहीं लिख सका ।

इससे यह तो स्पष्ट था कि उक्त कोपकार वनञ्जय, पूज्यपाद और अकलकके पश्चात् हूए । किन्तु कितने पश्चात् इसका अभीतक निर्णय नहीं होता था। धवलाके उल्लेखसे प्रमाणित होता है कि वनञ्जयका समय धवलाकी समाप्तिसे अर्थात् शक ७३८ से पूर्व है।

धवलामें कुछ ऐसे प्रथोंके उल्लेख भी पाये जाते हैं जिनके रावत्रमें अभीतक कुछ भी नहीं कहा जा सकता कि वे कहेके और किसके द्वाये हुए हैं। इसप्रकारका एक उल्लेख जीविसमाप्तका है। यथा, (धवला प २८९) जीविसमाप्ताए वि उत्त—

छपचणव-विहाणं आयाण विणवरोवद्दणं ।

आणाए अदिगमेण य सहहण होइ समत ॥

यह गाथा 'उक्त च' रूपसे स प्ररूपणमें भी दो बार आई है और गोम्मटसार जीवकाण्डमें भी है।

एक जगह धवलाकारने छेदमूत्र का उल्लेख किया है। यथा—

ण च दन्विण्णिवंसुवेटाण चेवादिवाजो अयि छेदसुत्तेण सह विरोडादो ।

धवला अ. ९०७.

एक उल्लेख कर्मप्रवादका भी है। यथा—



‘ सा कम्मपवादे सवित्तयेण परुविदा ’ ( धवला अ १३७१. )

जयधवलामें एक स्थानपर दशकरणीसग्रहका उल्लेख आया है । यथा—

.. शुक्कलुब्धपतित्तिसिक्कतामुष्टिवदनत्तरसमये निर्वर्तते कर्मयोग्य नीतरागाणामिति । दस-  
करणीसंगहे पुण पयडिक्खसम्भवेत्तमेविल्लय वेदणीयस्स वीयरायुण्डाणेसु वि वधगाकरणमेवड-  
णाकरण च दो वि भणिदाणि ति । जयध० अ १०४२.

इस अवतरणपरसे इस ग्रंथमें कर्मोंकी बन्ध, उदय, संक्रमण आदि दश अवस्थाओंका वर्णन है ऐसा प्रतीत होता है ।

ये थोड़ेसे ऐसे उल्लेख हैं जो धवला और जयधवलापर एक स्थूल दृष्टि डालनेसे प्राप्त हुए हैं । हमें विश्वास है कि इन ग्रंथोंके सूत्रम अवलोकनसे जैन धार्मिक और साहित्यिक इतिहासके सम्बन्धमें बहुतसी नई बातें ज्ञात होंगी जिनसे अनेक साहित्यिक ग्रंथिया सुलभ संकेगी ।

## १०. षट्खंडागमका परिचय

पुण्यदन्त और भूतबलिद्वारा जो ग्रंथ रचा गया उसका नाम क्या था ? स्वयं सूत्रोंमें तो ग्रंथका कोई नाम हमारे देखनेमें नहीं आया, किंतु धवलाकारने ग्रंथकी उत्थानिकामें

ग्रंथके मगल, निमित्त, हेतु, परिमाण, नाम और कर्ता, इन छह ज्ञातव्य बातोंका परिचय कराया है । वहां इसे ‘ खंडसिद्धान्त ’ कहा है और इसके खंडोंकी सख्या छह बतलाई है । इस प्रकार धवलाकारने इस ग्रंथका नाम ‘ षट्खंड सिद्धान्त ’ प्रकट किया है । उन्होंने यह भी कहा है कि सिद्धान्त और आगम एकार्थवाची हैं । धवलाकारके पश्चात् इन ग्रंथोंकी प्रासिद्धि आगम परमागम व षट्खंडागम नामसे ही विशेषतः हुई । अपभ्रंश महापुराणके कर्ता पुण्यदन्तने धवला और जयधवलको आगम सिद्धान्त<sup>१</sup>, गोम्मतसारके टीकाकारने परमागम<sup>२</sup>

१ तदो एय खंडसिद्धंतं पडुच्च भूदवलि पुण्यताहरिया वि कच्चारो उच्चति । ( पु ७१ )  
इद पुण जीवट्टाणं खंडसिद्धंतं पडुच्च पुब्बाणुज्जीए ष्टिद छण्हं खंडाण पदमसड जीवट्टाणमिदि  
( पृ ७४ )

२ आगमो सिद्धतो पवणमिदि एय्हो । ( पु २० ) आगम सिद्धात् । ( पु २९ )

३ ऋतातागम सिद्धान्त-यथा गालमत्त परम् ॥ ( धनजय नाममाला ४ )

४ ण उ बुद्धिश्च आयमु सद्धथासु । सिद्धंतु धवलु जयधवलु णाम ॥ ( महापु १, ९, ८ )

५ एव विशतिसख्या गुणस्थानादय मरुचणा भगवदईरणधरशिय मशियादिगुण्यवर्गमितया परिपाट्या अडुक्कमेण मणिता परमागमे सूवाचोयं प्रतिपादिता ( गो जी टी २१ ) परमागमे निगोदजीवाना द्वैत्रियस्य सुमसिद्धत्वात् । ( गो जी टी ४४२ )

तथा श्रुतावताके कर्ता इन्द्रनिन्दने षट्खंडागम<sup>३</sup> कहा है, और इन ग्रंथोंको आगम कहनेकी बड़ी भारी सार्थकता भी है । सिद्धान्त और आगम यद्यपि साधारणत पर्यायवाची गिने जाते हैं, किंतु निरुक्ति और सूत्रमार्थकी दृष्टिसे उनमें भेद है । कोई भी निश्चित या सिद्ध मत सिद्धान्त कहा जा सकता है, किंतु आगम वही सिद्धान्त कहलाता है जो आप्तवाक्य है और पूर्व-परम्परासे आया है । इसप्रकार सभी आगमको सिद्धान्त कह सकते हैं किंतु सभी सिद्धान्त आगम नहीं कहला सकते । सिद्धान्त सामान्य सज्ञा है और आगम विशेष ।

इस विवेचनके अनुसार प्रस्तुत ग्रंथ पूर्णरूपसे आगम सिद्धान्त ही है । वरसेनाचार्यने पुण्यदन्त और भूतबलिको वे ही सिद्धान्त सिखाये जो उन्हें उनसे पूर्ववर्ती आचार्योंद्वारा प्राप्त हुए और जिनकी परंपरा महावीरस्वामीतक पहुंचती है । पुण्यदन्त और भूतबलिने भी उन्हीं आगम सिद्धान्तोंको पुस्तकारूढ किया और टीकाकारने भी उनका विवेचन पूर्व मान्यताओं और पूर्व आचार्योंके उपदेशोंके अनुसार ही किया है जैसा कि उनकी टीकामें स्थान स्थानपर प्रकट है । आगमकी यह भी विशेषता है कि उसमें हेतुवाद नहीं चलता, क्योंकि, आगम अनुमान आदिकी अपेक्षा नहीं रखता किंतु स्वयं प्रत्यक्षके बराबरका प्रमाण माना जाता है ।

पुण्यदन्त व भूतबलिकी रचना तथा उस पर वीरसेनकी टीका इसी पूर्व परंपराकी मर्यादाको लिये हुए हैं इसीलिये इन्द्रनिन्दने उसे आगम कहा है और हमने भी इसी सार्थकताको मान देकर इन्द्रनिन्दद्वारा निर्दिष्ट नाम षट्खंडागम स्वीकार किया है ।

षट्खंडोंमें प्रथम खंडका नाम ‘ जीवट्टाण ’ है । उसके अन्तर्गत १ सत्, २ संख्या, ३ क्षेत्र, ४ प्रकृति-धरुपदर्शन, ५ काल, ६ अन्तर, ७ भाव और ८ अल्पबहुत्व, ये आठ अनुयोगद्वारा तथा १ प्रकृति-

१ षट्खंडागमरचनाभिमाय पुण्यदत्तपुरो ॥ १३७ ॥ षट्खंडागमरचनां त्रिविधाय भूतबल्यार्य ॥ १३८ ॥  
षट्खंडागममुत्तकमहो मया चितित कार्यम् ॥ १४६ ॥ एव षट्खंडागमहतीसृषि मरुच्य पुनरधुना ॥ १४९ ॥  
षट्खंडागमगत-खंड पचकस्य पुन ॥ १६८ ॥  
इन्द्र श्रुतावता

२ राद्ध सिद्ध त्तेस्योऽत आप्तोऽकि समयगमौ ( हैम २, १५६ ) पूर्वोपरविरुद्धदेव्यर्षितो दोष-  
सहते । योतक सर्वमावानामाप्तव्याहृतिरागम । ( धवला अ ७१६ )

३ ‘ भूयसासाचार्योणमुपदेखादा तदवगते ’ ( १९७ ) ‘ किमिवागमे तत्र तस्य सच्च नोक्तमिति चैत्र, आगमस्यातर्कगोचरत्वात् ’ ( २०६ ) ‘ जिणा ण अपणहवाइरणो ’ ( २२१ ) ‘ आइरियपरं-  
पराए णिततरमागयाण आइरिएहि पोथेसु चडाऽवीयाण असुत्तवणविरोहो ’ ( २२१ ) ‘ प्रतिपादकाषोपलमात् ’  
( २३९ ) ‘ आपीरादवगतैः ’ ( २५८ ) ‘ प्रवाहरूणेणोपैण्येत्तत्तत्तैरिदददयोऽस्य न्यास्यताए एव न क्तोर ’  
( ३४९ )

४ ‘ किमिवागमे तत्र तस्य सच्च नोक्तमिति चैत्र, आगमस्यातर्कगोचरत्वात् ( २०६ )

५ सुदवेवल च णाण दोणि वि सरिमाणि होति बोहोदो । मुदणण तु परोक्ख पच्चवल केवल णाण ॥

गा जी ३६९

नम्यमानता, ० न्यानसमुच्चरिता, ३-५ तीन मशरुडक, ६ जपन्य स्थिति, ७ उच्छृष्ट न्यिति, ८ मय्यस्यो पति और ९ गति-आगति ये नो चूलिकाए ह । ३५ पटका परिमाण वलकाएने अठारह हजार पट कहा हे ( ५ ६० ) । पूर्वोक्त आठ अनुयोगद्वारों और नो चूलिकाओंमें गुणस्थानों और मार्गणाओंका आश्रय देकर यहा विन्मारेय वर्णन किया गया है ।

१ नग पट मुद्राबंध ( शुद्धकवच ) ह । इसके ग्यारह अकार है, १ त्वामिन्व, २ काट, ३ अन्तर, ४ मगविचय, ५ द्रव्यप्रमाणानुगम, ६ क्षेत्रानुगम, ७ न्यर्णी-नानुगम, ८ नाना-जीव-काल, ९ नाना-जीव-अन्तर, १० भागाभागाणुगम और ११ अपपट्ट्याणुगम । इस गडमें इन ग्यारह प्ररूपणाओंद्वारा कर्मवच्य करनेवाले जीवका कर्मवच्यके भेदोत्सहित वर्णन किया गया ह ।

यह गड अ प्रतिके १७५ पत्रसे प्रारम्भ होकर ५७६ पत्रपर समाप्त हुआ है ।

तीसरे गडका नाम बंधस्वामित्वविचय ह । कितनी प्रकृतियोंका किस जीवके कृता कर नव होता ह, किसके नहीं होता है, कितनी प्रकृतियोंकी किस गुणस्थानमें व्युच्छित्ति होती ह, स्रोदय वचरूप प्रकृतिया कितनी है आर परोदय वचरूप कितनी है, इत्यादि कर्मवच्यमन्त्री विपयोका वचक जीवकी अप भासे इस गडमें वर्णन हे ।

यह खड अ. प्रतिके ५७६ वें पत्रसे प्रारम्भ होकर ६६७ वें पत्र पर समाप्त हुआ है ।

चौथे गडका नाम वेदना ह । इसके आदिमें पुन मगलचरण किया गया है । इसी गडके अन्तर्गत कृति और वेदना अनुयोगद्वार है । किंतु वेदनाके कथनकी प्रवानता आर अधिक विस्तारके कारण इस गडका नाम वेदना रखना सख्य गया है ।

कृतिमें आदारिकादि पाच शरीरोंकी सघातन और परिशातनरूप कृतिका तथा भवके प्रथम आर अग्रथम मयमे स्थित जीवोंके कृति, नोकृति और अवकव्यरूप सखाओंका वर्णन है । १ नाम, २ स्थापना, ३ द्रव्य, ४ गणना, ५ प्रथ, ६ करण और ७ भाव, ये कृतिके सात प्रकार ह, विन्मारेसे प्रकृतमें गणनाकृति मुख्य बतलाई गई है ।

वेदनामें १ निक्षेप, २ नय, ३ नाम, ४ द्रव्य, ५ क्षेत्र, ६ काल, ७ भाव, ८ प्रलाय,

१ यदि पाप कर्म पाटि-अभियोगद्वाराणि वि मय परुविशणि, तेमि खडयमन्त्रमन्त्रजग तिणिण्य चैव मगलि पि किमड उक्कदे ? न, तेमि पहाणसामावादे । त पि उनो गव्दे ? संखेवेण पक्खणादि ।

९ त्वामिन्व, १० वेदना, ११ गति, १२ अनन्तर, १३ सचिकर्ष, १४ परिमाण, १५ भागा-भागाणुगम और १६ अल्पबहुचानुगम, इन सोलह अधिकारोंके द्वारा वेदनाका वर्णन हे ।

इस खडका परिमाण सोलह हजार पद बतलाया गया हे । यह समस्त खड अ. प्रतिके ६६७ वें पत्रसे प्रारम्भ होकर ११०६ वें पत्रपर समाप्त हुआ हे, जहा कहा गया है—

एवं वेयण-अपावटुगणिओगद्वारे समत्ते वेयणाखंडं समत्ता (खडो समत्तो) ।

पाचवें खडका नाम वर्णना है । इसी खडमें बंधनीयके अन्तर्गत वर्णना अधिकारके अतिरिक्त स्पर्श, कर्म, प्रकृति आर बन्धनका पहला भेद नव, इन अनुयोगद्वारोंका भी अन्तर्भाव कर लिया गया है ।

स्पर्शमें निक्षेप, नय आदि सोलह अधिकारोंद्वारा तेरह प्रकारके रशोंका वर्णन करके प्रकृतमें कर्म-रपर्शसे प्रयोजन बतलाया है ।

कर्ममें पूर्वोक्त सोलह अधिकारोंद्वारा १ नाम, २ स्थापना, ३ द्रव्य, ४ प्रयोग, ५ समवधान ६ अव., ७ ईर्यापिय, ८ तप ९ क्रिया और १० भाव, इन दश प्रकारके कर्मोंका वर्णन है ।

प्रकृतिमें शील और स्वभावको प्रकृतिके पर्यायवाची बताकर उसके नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव, इन चार भेदोंमेंसे कर्म-द्रव्य-प्रकृतिका पूर्वोक्त १६ अधिकारोंद्वारा विस्तारसे वर्णन किया गया है ।

इस खंडका प्रधान अधिकार बंधनीय है, जिसमें २३ प्रकारकी वर्णणाओंका वर्णन और उनमेंसे कर्मवच्यके योग्य वर्णनावोका विस्तारसे कथन किया हे ।

यह खड अ प्रतिके ११०६ वें पत्रसे प्रारम्भ होकर १३३२ वें पत्रपर समाप्त हुआ है और वहा कहा है—

एव विस्मसोवचय-परुवणाए समत्ताए वाहिरिय-गुग्गणा समत्ता होदि ।

इन्द्रनिन्दने श्रुतावतारमें कहा हे कि भूतत्रलिने पाच खडोंके पुण्यदन्त त्रिचित सूत्रों-६ महाबंध सहित छह हजार सूत्र रचनेके पश्चात् महाबंध नामके छठवें खंडकी तीस हजार श्लोक प्रमाण रचना की ।

२ तेन तत परिपठिता भूतचलि सम्परुवणा शुना । पट्टडगमरचनामिमाय पुण्यदन्तगो ॥ १३७ ॥

विजायात्पायुयानन्यमतीन्मानयान प्रतीत्य तत । द्रव्यप्ररूपणावधिकार पंडपंचकस्याचर ॥ १३८ ॥

सूत्राणि पट्टमहमप्रथायथ पूर्ववृत्तसहितानि । त्रिक्रिय महाबंधात्तयं ततः पष्टकं खंडम् ॥ १३९ ॥

इन्द्र, श्रुतावतार

धवलामें जहा वर्णाखड समाप्त हुआ है वहा सूचना की गई है कि—

‘ ज त बंधविहाण त चउव्विह, पयडिवधो द्विदिवधो अणुभागवो पदेसवधो चेदि । एदेसि चटुण्ह वधाण विहाण भूदन्नलि-भडारएण महाबंधे सपवचेण लिहिद ति अम्हेहि एय ण लिहिद । तदो सयले महाबधे एथ परुविदे बंधविहाण सम्पदि’ । (धवला क १२५९-१२६०)

अर्थात् बंधविधान चार प्रकारका है, प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध और प्रदेशबंध । इन चारो प्रकारके बंधोका विधान भूतबलि भडारकने महाबंधमें सविस्तररूपसे लिखा है, इस कारण हमने ( वीरसेनाचार्यने ) उसे यहा नहीं लिखा । इसप्रकारसे समस्त महाबंधके यहा प्ररूपण हो जानेपर बंधविधान समाप्त होता है ।

ऐसा ही एक उल्लेख जयवलामें भी पाया जाता है जहा कहा गया है कि प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बंधका वर्णन विस्तरसे महाबंधमें प्ररूपित है और उसे वहासे देय लेना चाहिये, क्योंकि, जो बात प्रकाशित हो चुकी है उसे पुन प्रकाशित करनेमें कोई फल नहीं । यथा—

सो पुण पयडिद्विद्विअणुभागपदेसवधो वहुसो परुविदो । ( चूर्णिमूल ) । सो उण गाहाए पुव्वम्मि णिलीणो पयडि-द्विदि-अणुभाग-पदेस-विसओ वधो बहुसो गयतरेसु परुविदो ति तयेव विल्यो दट्टवो, ण एय पुणो परुविज्जदे, पयासियपयासणे फलविसेसाणुवलभादो । तदो महाबंधा-णुसारेण्य पयडि-द्विदि-अणुभाग-पदेसवधेसु विहासियसमतेसु तदो वधो समचो होई । जयध अ ५४८

इससे इन्द्रनिदिके कथनकी पुष्टि होती है कि छठवा खट स्वय भूतबलि आचार्यद्वारा रचित सविस्तर पुस्तकारूढ है ।

किंतु इन्द्रनिदिने श्रुतावतारसे आगे चलकर कहा है कि वीरसेनाचार्यने एलाचार्यसे सिद्धान्त सीखनेके अनन्तर निबन्धनादि अठारह अधिकारोद्वारा सत्कर्म नामक छठवे खडका संक्षेपसे विधान किया और इसप्रकार छहो खडको वृत्तर हजार प्रथमाण बवला टीका रची गई । ( देखो ऊपर पृ. ३८ )

धवलामें वर्णाखडकी समाप्ति तथा उपर्युक्त भूतबलिद्वारा महाबंधकी सूचनाके पश्चात् निबन्धन, प्रक्रम, उपक्रम, उदय, मोक्ष, सक्रम, लेस्या, लेस्याकर्म, लेस्यापरिणाम, सातासात, दीर्घ-वृत्त्व, भवधारणीय, पुद्रलाम, निधत्त-अनिधत्त, निक्काचित्त-अनिक्काचित्त, कर्मस्थिति, पथिमस्कव और अत्यबहुत्त्व, इन अठारह अनुयोगद्वारोका कथन किया गया है और इस समस्त भागको चूलिका कहा है । यथा—

एतो उव्विसि-गयो चूलिया णाम ।

इन्द्रनिदिके उपर्युक्त कथनानुसार यही चूलिका संक्षेपसे छठवा खड ठहरता है, और इसका नाम सत्कर्म प्रतीत होता है, तथा इसके सहित धवला पट्खडगाम ७२ हजार श्लोक प्रमाण सिद्ध होता है । विबुध श्रीधरके मतानुसार वीरसेनद्वारा ७२ हजार प्रमाण समस्त बवला टीकाका ही नाम सत्कर्म है । यथा—

अत्रान्तरे एलाचार्यभट्टारकपार्श्वे सिद्धान्तद्वय वीरसेननामा मुनि पठित्वाऽपराण्यपि अग्रादशा धिकाराणि प्राप्य पच-खडे पट्-खड संकल्प्य संस्कृतभाकृतभापया सत्कर्मनामटीका द्वासप्ततिसहस्रप्रमिता धवलनामाकिता लिखाथ विशतिसहस्रकर्मभाश्रुत विचार्य वीरसेनो मुनि स्वर्ग यास्यति । ( विबुध श्रीधर श्रुतावतार मा प्रं. मा २१, पृ. ३१८ )

दुर्भाग्यत महाबंध ( महाबंध ) हमें उपलब्ध नहीं है, इस कारण महाबंध और स कर्म नामोंकी इस उलझनको सुलझाना कठिन प्रतीत होता है । किन्तु मूढविद्विमें सुरक्षित महाबंधलका जो थोडासा परिचय उपलब्ध हुआ है उससे ज्ञात होता है कि वह ग्रंथ भी सत्कर्म नामसे है और उसपर एक पंचिकारूप विवरण है जिसके आदिमें ही कहा गया है—

‘ वोच्छामि संतकम्मे पचियरुत्तेण विवरण सुमहल्यं । चोळ्वासमणियोगद्वारेसु तय कद्विदेदणा ति जाणि अणियोगद्वाराणि वेदणाखंडग्धि पुणो फास ( कम्म-पयडि-बंधणाणि ) चत्तारि अणियोगद्वारेसु तय वध बंधणिज्जणामणियोगेहि सह वगणासंडग्धि, पुणो बध-विधाणणामणियोगो’ खुदाबंधग्धि सपवचेण परुविदाणि । तो वि तस्सइंगभोरत्तादो अत्य-विसम पदाणमथे योरुद्वेयेण (१) पचियसरुत्तेण भणित्सामो । ( वीरवाणी सि म. रिपेटे, १९३५ )

इसका भावार्थ यह है कि महाकर्मप्रकृति पाहुडके चौथिस अनुयोगद्वारोंमें कृति और वेदनाका वेदना खडमें, स्पर्श, कर्म, प्रकृति और बंधनके बंध और बंधनीयका वर्णाखडमें और बंधविधान नामक अनुयोगद्वारका खुदाबंधमें विस्तरसे वर्णन किया जा चुका है । इनसे शेष अठारह अनुयोगद्वार सब सत्कर्ममें प्ररूपित किये गये हैं । तो भी उनके अतिगर्भर होनेसे उसके धिवम पदोंका अर्थ संक्षेपमें पंचिकारूपमें यहा कहा जाता है ।

इससे जान पडा कि महाबंधलका मूलग्रंथ सत्कम्म ( सत्कर्म ) नामका है और उसमें महाकर्मप्रकृतिपाहुडके चौथीस अनुयोगद्वारोंसे वेदना और वर्णाखडमें वर्णित प्रथम छठको छोटकार शेष निबंधनादि अठारह अनुयोगद्वारोंका प्ररूपण है ।

१ यही पाठमें कुछ त्रुटि जान पडती है, क्योंकि, धवलामें अठारह गुरादकमें बधनका वर्णन है और बंधविधान महाबंधका विषय है ।

महावज्र या मन्त्रमकी उक्त पवित्रा कवकी और किमकी है ? समस्त यह वही पवित्रा है जिमको इन्द्रनिदिने समस्तसदसे भी पूर्व तुम्बुराचार्यद्वारा सात हजार श्लोक प्रमाण विरचित रहा है । [ देखो ऊपर पृ. ४९ ]

किंतु जयवज्रमें एक स्थानपर स्पष्ट कहा गया है कि सत्कर्म महाधिकारमें कृति, वेदनादि चौबीस अनुयोगद्वारा प्रतिवह्र है और उनमें उदय नामक अर्थाधिकार प्रकृति सहित स्थिति, अनुभाग और प्रदेशोंके उक्तृष्ट, अनुक्तृष्ट, जन्म्य व अजन्म्य उदयके प्ररूपणमें व्यापार करता है । यथा—

**मंतकर्ममहाहियारे कदि-वेदनादि-चउवीसमणियोगद्वारेसु पडिवद्वेसु उदबो गाम**  
आथाहियारो द्विदि-अणुभाग-गदेसाण पयडिसमणियाणमुक्करसाणुक्करस-जहण्णाजहणुदयपरूवणे य वाधारो । जयव. अ. ५१२.

इममें जाना जाता है कि कृति, वेदनादि चौबीस अनुयोगद्वारोंका ही समष्टिरूपसे सत्कर्म महाधिकार नाम है और चूँकि ये चौबीस अतिकार तीसरे अर्थात् बवस्वामिबिबिचयके पथात् तमसे वर्णन किये गये है, अत उस समस्त विभाग अर्थात् अन्तिम तीन खडोका न म संतकर्म या सत्कर्मपाहुड महाधिकार है ।

किंतु, जैसा आगे चलकर ज्ञात होगा, इन्हीं चौबीस अनुयोगद्वारोंसे जीवद्वानके थोड़ेसे भागको छोड़कर शेष समस्त पट्खंडागमकी उत्पत्ति हुई है । अत जयवज्रके उल्लेखपरसे इस समस्त प्रथका नाम भी सत्कर्म महाधिकार सिद्ध होता है । इस अनुमानकी पुष्टि प्रस्तुत प्रथमे दो उल्लेखोंसे अच्छीतरह हो जाती है । पृ २१७ पर कयायपाहुड और सत्कर्मपाहुडके उदयगमें मतभेदका उल्लेख किया गया है । यथा—

‘ एतो संतकर्म-पाहुड-उवएतो । रुसायपाहुड-उवएतो पुण . . . ’

आगे चलकर पृ २२१ पर शका की गई कि इनमें एक वचन मूत्र और दूसरा अमृत होना चाहिये और यह सभव भी है, क्योंकि, ये जिनेन्द्र वचन नहीं हैं किंतु आचार्योंके वचन हैं । इसका ममान किना गया है कि नहीं, सत्कर्म और कयायपाहुड दोनों ही सूत्र हैं, क्योंकि उनमें तीर्थकरदारा मथित, गणनद्वारा रचित तथा आचार्यपरपरास आगत अर्थका ही ग्रथन किया गया है । यथा—

‘ आउरियत्तदियाण संतकर्म-रुसाय-पाहुडाणं कय सुत्तणमिदि चे ण . . . [ पृ. २२१ ]

यथा स्पष्ट कयाय पाहुड के साथ सत्कर्मपाहुटसे प्रस्तुत समस्त पट्खंडागमसे ही

प्रयोजन हो सकता है और यह ठीक भी है, क्योंकि, पूर्वोक्ती रचनामें उक्त चौबीस अनुयोगद्वारोंका नाम महाकर्मप्रकृतिपाहुड है । उसीका धरसेन गुरुने पुण्यदन्त भूतबलि द्वारा उद्धार कराया है, जैसा कि जीवद्वानके अन्त व खुदावज्रके आदिकी एरु गायामे प्रकट होता है—

जयउ धरसेणणाहो जेण महाकम्मपयडिपाहुडसेलो ।

बुद्धिसिरेणुदरिओ समपिओ पुण्ययतस्स ॥ ( धमला अ. ४७५ )

महाकर्मप्रकृति और सत्कर्म सज्ञाए एक ही अर्थकी द्योतक है । अत सिद्ध होता है कि इस समस्त पट्खंडागमका नाम सत्कर्मप्राभृत है । और चूँकि इसका बहुभाग धवला टीकामें प्रथित है, अत समस्त धवलाको भी सत्कर्मप्राभृत कहना अनुचित नहीं । उसीप्रकार महावध या निबन्धनादि अठारह अतिकार भी इसीके एक खड होनेसे सत्कर्म कहे जा सकते हैं । और जिसप्रकार खड विभागकी दृष्टिसे कृतिका वेदना खडमें, और स्पर्श, कर्म, प्रकृति तथा वधनके प्रथम भेद वनका वर्णनाखडमें अन्तर्भाव कर लिया गया है, उसीप्रकार निबन्धनादि अठारह अतिकारोंका महावध नामक खडमें अन्तर्भाव अनुमान किया जा सकता है जिससे महा-धवलान्तर्गत उक्त पवित्राके कथनकी सार्थकता सिद्ध हो जाती है, क्योंकि, सत्कर्मका एक विभाग होनेसे वह भी सत्कर्म कहा जा सकता है ।

सत्कर्मप्राभृत व पट्खंडागम तथा उसकी टीका वज्रकी इस रचनाको देखनेसे ज्ञात होता है कि उसके मुख्यत दो विभाग हैं । प्रथम विभागके अन्तर्गत जीवद्वान, खुदावध व व-स्वामित्वविचय है । इनका मगलाचरण, शुतावतार आदि एक ही वार जीवद्वानके आदिमे किया गया है और उन सबका विषय भी जीव या वज्रकी मुख्यतासे है । जीवद्वानमें गुणस्थान और मार्गणवोकी अपेक्षा सत्, सत्या आदि रूपसे जीवतत्वका विचार किया गया है । खुदावधमें सामान्यकी अपेक्षा वज्रक, और वंशस्वामित्वविचयमें वियेपकी अपेक्षा वज्रकता विवरण है ।

दूसरे विभागके आदिमे पुन मगलाचरण व शुतावतार दिया गया है, और उसमें यथार्थत कृति, वेदना आदि चौबीस अतिकारोंका क्रमय वर्णन किया गया है और इस समस्त विभागमें प्रधानतासे कर्मोंकी समस्त दशाओंका विवरण होनेसे उसकी वियेप सजा स कर्मप्राभृत है । इन चौबीसोंसे द्वितीय अतिकार वेदनाका विस्तारसे वर्णन किये जानेके कारण उसे प्रधानता प्राप्त हो गई और उसके नामसे चौथा खड खडा हो गया । वज्रकके तीसरे भेद वज्रनीयमें वर्णनाओका विस्तारसे वर्णन आया और उसके महत्वके कारण वर्णना नामका पाचवा खड हो गया । इसी वज्रकके चौथे भेद वज्रवियानके खड विस्तारसे वर्णन किये जानेके कारण उसका महावंध नामक छठवा खट बन गया और जीव अठारह अतिकार उन्टीके आज्ञाजुती वस्तु रह गये ।

धवलकी रचनाके पश्चात् उसके सबसे बड़े पारगामी विद्वान् नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीने इन दो ही विभागोंको ध्याने रखकर जीवकाण्ड और कर्मकाण्डकी रचना की, ऐसा प्रतीत होता है। तथा उसके छोटे खंडोका ख्याल करके उन्होने गर्वके साथ कहा है कि ' जिसप्रकार एक चक्रवर्ती अपने चक्रके द्वारा छह खंड पृथिवीको निर्विघ्नरूपसे अपने वशमें कर लेता है, उसीप्रकार अपने मतिरूपी चक्रद्वारा मैंने छह खंड सिद्धान्तका सम्यक् प्रकारसे साधन कर लिया '—

जह चक्केण य चक्की छक्खंडं साहिय अविघेण ।

तह महचक्केण मया छक्खंडं साहिय सम्म ॥ ३९७ ॥ गो. क.

इसमें आचार्य नेमिचन्द्रको सिद्धान्तचक्रवर्तीका पद मिल गया और तभीसे उक्त पुरे सिद्धान्तके ज्ञाताको इस पदवीसे विभूषित करनेकी प्रथा चल पडी। जो इसके केवल प्रथम तीन खंडोंमें पारगत होते थे, उन्हें ही जान पड़ता है, त्रैविद्यदेवका पद दिया जाता था। श्रवणवेलगोलके शिल्लेखोंमें अनेक मुनियोंके नाम इन पदवियोंसे अलंकृत पाये जाते हैं। इन उपाधियोंने वीरसेनसे पूर्वकी सूत्राचार्य, उच्चारणाचार्य, व्याख्यानाचार्य, निक्षेपाचार्य व महावाचककी पदवियोंका सर्वथा स्थान ले लिया। किंतु थोड़े ही कालमें गोम्पटसामने इन सिद्धान्तोंका भी स्थान ले लिया और उनका पठन-पाठन सर्वथा रुक गया। आज कई शताब्दियोंके पश्चात् इनके सुप्रचारका पुनः सुअवसर मिल रहा है।

दिगम्बर सम्प्रदायकी मान्यतानुसार पटखंडागम और कपायप्राशुत ही ऐसे ग्रंथ है

### पटखंडागमका

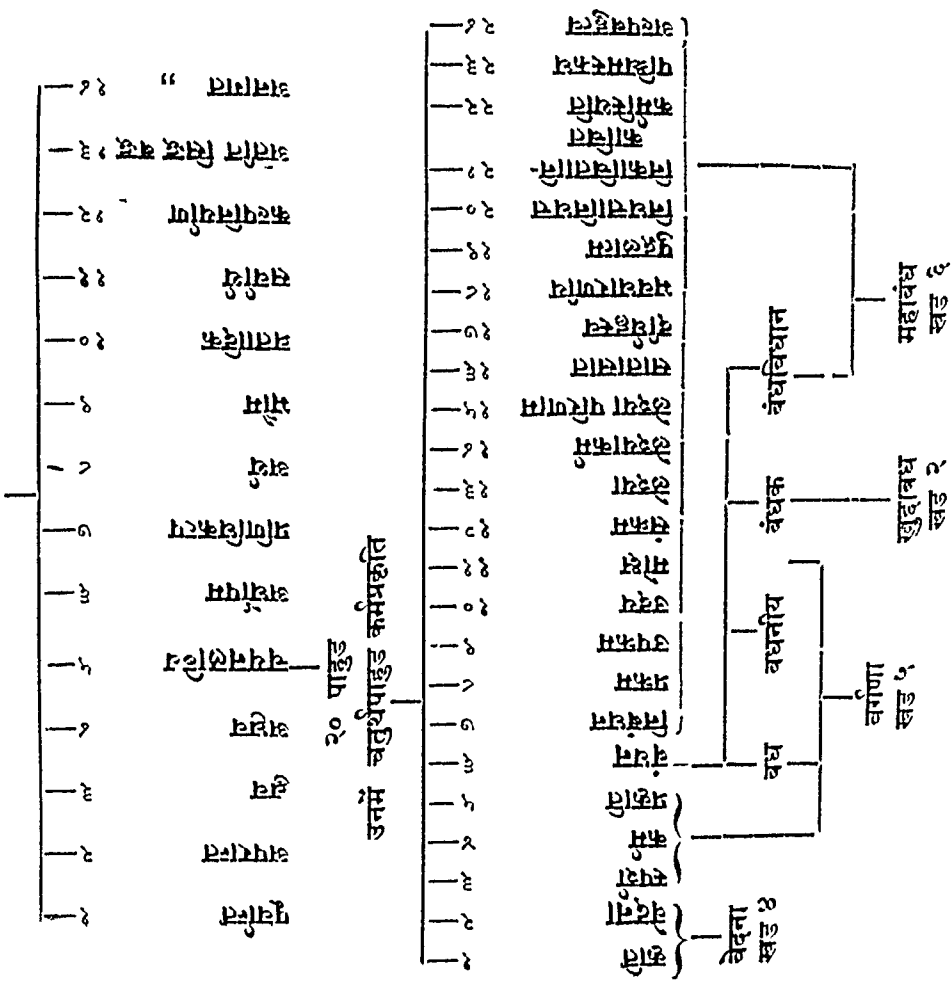
#### द्वादशांगसे

#### सम्बन्ध

जिनका सीवा सम्बन्ध महावीरस्वामीकी द्वादशांग वाणीसे माना जाता है। शेष सब श्रुतज्ञान इससे पूर्व ही क्रमशः लुप्त व लीन भिन होगया। द्वादशांग श्रुतका प्रस्तुत प्रथमे विस्तारसे परिचय कराया गया है (पृ १९ से)। इनमेंसे चारहठें अगको छोडकर शेष सब ही नामोंके अग-प्रथ श्रेताम्बर सम्प्रदायमें अब भी पाये जाते है। इन ग्रंथोंकी परम्परा क्या है और उनका विषय विस्तारदि दिगम्बर मान्यताके कहातज अनुकूल प्रतिकूल है इसका विवेचन आगेके किसी खंडमें किया जायगा, यहा केवल यह बात ध्यान देने योग्य है कि जो ग्यारह अंग श्रेताम्बर साहित्यमें है वे दिगम्बर साहित्यमें नहीं है और जिस चारहठें अगका श्रेताम्बर साहित्यमें सर्वथा अभाव है वही दृष्टिवाद नामक बारहवा अंग प्रस्तुत सिद्धान्त ग्रन्थोंका उद्गमस्थान ह।

चारहठें दृष्टिवादके अन्तर्गत परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका ये पांच प्रभेद है। इनमेंसे पूर्वगतके चौदह भेदोंके द्वितीय आप्रायणीय पूर्वसे ही जंबिहानका बहुभाग और शेष पांच खंड संपूर्ण निकले है जिनका क्रमभेद नीचेके वंशवृक्षोंसे स्पष्ट हो जायगा।

## १. चारहठें अंग दृष्टिवादके चतुर्थ भेद पूर्वगतका द्वितीय भेद आप्रायणीय पूर्व.



इस वंशवृक्षसे स्पष्ट है कि आप्रायणीय पूर्वके चयनलब्धि अधिकारके चतुर्थ भेद कर्म प्रकृति पाण्डु के चौबीस अनुयोगद्वारोंसे ही चार खंड निष्पन्न हुए है। इन्हींके बंधन अनुयोग-द्वार के एकभेद बंधविधानसे जीवद्वान का बहुभाग और तीसरा खंड बंधविधानसे निकल कर निकले यह आगेके वंश वृक्षोंसे स्पष्ट हो जायगा।







१०. ऋषयसे अनुसूचित योगोंकी प्रवृत्ति व अर्थके वर्णोंका नाम लेण्या है। उनके छह भेद ऋग्यजुष्य, नील, कापान, पीत, पद्म और शुक्र।

११. तिस अक्षिके निमित्तसे आमके दर्शन, ज्ञान और चाञ्चि गुण प्रगट होते है उमें भयच कहते है। तदनुसार जीम भव्य व अभव्य होते है

१२. तत्त्वार्थके श्रद्धानका नाम मर्मयक्त्रस्य ट, और दर्शनमोहके उपशम, अयोपशम, वायिक, सम्यग्गिन्यान्व, सामादन व मिथ्याव्यवह रूप भावोंके अनुसार सम्यक्मार्गणके छह भेद हो जाते है।

१३. मनके द्वारा शिखादिके ग्रहण करनेको सजा कहते है और ऐसी सजा जिसमें हो न संज्ञी कहलाना है। तदनुसार जीव संज्ञी व असंज्ञी होने है।

१४. औदारिक आदि शरीर और पर्याप्तिके ग्रहण करनेको आहार कहते है। तदनुसार जीव आहारक आर अनाहारक होते है।

इन चोदर गुणस्थानों और मार्गणओंका प्ररूपण करनेवाले सत्परूपणके अन्तर्गत १७७ मंत्र हैं निम्नका विषयक्रम इसप्रकार है। प्रथम सूत्रमें पचपरमेष्ठीको नमस्कार किया है। आगेके तीन मंत्रोंमें मार्गणओंका प्रयोजन बतलाया गया है और उनका गति आदि नाम निर्देश किया गया है। ५, ६ और ७ वे मंत्रोंमें मार्गणओंके प्ररूपण निमित्त आठ अनुयोगद्वारोंके जाननेकी आशयसूचना बनाई है आर उनके सत्, द्रव्यप्रमाण (सल्या) आदि नामनिर्देश किये है। ८ वे सत्से उन अनुयोगद्वारोंमें प्रथम सत् प्ररूपणका विवरण प्रारम्भ होना है जिसके आदिमें ही ओष आर अद्वेग अर्थात् सामान्य और विशेष रूपसे विषयका प्रतिपादन करनेकी प्रतिज्ञा करके मिथ्यादृष्टि आदि चोदर गुणस्थानोंका निरूपण किया है जो ९ वे मंत्रसे २३ वे सूत्रतक चला है। २४ वे मंत्रसे विशेष अर्थान् गति आदि मार्गणओंका विवरण प्रारम्भ हुआ है जो अन्त तक अर्थात् १७७ मंत्रों तक चलता रहा है। गति मार्गणा ३२ वे सूत्रतक है। यहापर नरकादि चांगे गतियोंके गुणस्थान बतलाकर यह प्रतिपादन किया है कि एकोन्धियसे असंज्ञी पचोन्धियतक शुद्ध तिर्यच होने हैं, गनी मिथ्यादृष्टिसे सयतासयत गुणस्थानतक मिश्र तिर्यच होने है, आर इसी प्रकार मनुष्य भी। देव और नारकी असयत गुणस्थानतक मिश्र अर्थात् परिणामोंकी अपेक्षा दूसरी तीन गतियोंके जीवोंके साथ समान होने हैं। प्रमत्तसयतसे आगे शुद्ध मनुष्य होते है। ३३ वे मंत्रसे ३८ वे तक इन्द्रिय मार्गणाका कथन है और उससे आगे ४६ वे सूत्र तक कायका और फिर १०० वे सूत्र तक योगका कथन है। इस मार्गणमें योगके साथ पर्याप्ति अपर्याप्तियोंका भी प्ररूपण

किया गया है। तपश्चात् ११० वे सूत्रतक वेद, ११४ तक कपाय, १२२ तक ज्ञान, १३० तक सयम, १३५ तक दर्शन, १४० तक लेख्या, १४३ तक भव्य १७१ तक सम्यक्ता १७४ तक संज्ञी और फिर १७७ तक आहार मार्गणाका निवरण है।

प्रतियोगमें सूत्रोंका क्रमांक दो कम पाया जाता है, क्योंकि, वहा प्रथम मालाचरण व तीसरे सूत्र 'त जहा' की पृथक गणना नहीं की। किन्तु टीकाकारने स्पष्टत उनका सूत्ररूपसे व्याख्यान किया है, अतएव हमने उन्हें सूत्र गिना है।

टीकाकारने प्रथम मालाचरण सूत्रमें व्याख्यानमें इस अर्थका मंगल, निमित्त, हेतु परिमाण, नाम और कर्ताका विस्तारसे विवेचन करके दूसरे सूत्रमें व्याख्यानमें द्वादशागाका पूरा परिचय करया है और उसमें द्वादशाग श्रुतसे जीवद्वाराणके भिन्न भिन्न अधिकारोंकी उत्पत्ति बतलाई है। चौथे सूत्रमें व्याख्यानमें गति आदि चोदर मार्गणओंके नामोंकी निरुक्ति और सार्थकता बतलाते हुए उनका सामान्य परिचय करा दिया गया है। उसके पश्चात् विषयका सूत्र विस्तार सहित न्यायशैलीसे विवेचन किया है। टीकाकारकी शैली सर्वत्र प्रथम उदाहरण उनका समाधान करनेकी रही है। इस प्रकार प्रस्तुत अर्थमें कोई छह सौ शक्याए उठाई गई हैं और उनके समाधान किये गये है। उदाहरणों, दृष्टान्तों, युक्तियों और तर्कों द्वारा टीकाकारने विषयको खूब ही झाना है और स्पष्ट किया है, किन्तु ये सब युक्ति और तर्क, जैसा हम ऊपर कह आये है, आगमकी मर्यादाको लिए हुए है, और आगम ही यहा सर्वोपरि प्रमाण है। टीकाकारद्वारा व्याख्यात विषयकी गभीरता, मूर्खता और तुलनात्मक विवेचना हम अगले खड्मे करेंगे जिसमें सत्परूपणाका आलाप प्रवरण भी पूरा हो जावेगा। तत्रतक पाठक स्वय सूत्रकार और टीकाकारके शब्दोंका स्वा याय और मनन करनेकी कृपा करे।

## १२. ग्रंथकी भाषा

प्रस्तुत प्रथ रचनाकी दृष्टिसे तीन भागोंमें बटा हुआ है। प्रथम पुष्पदन्ताचार्यके सूत्र, दूसरे वीरसेनाचार्यकी टीका और तीसरे टीकामें स्थान स्थान पर उद्धृत किये गये प्राचीन गद्य और पद्य। सूत्रोंकी भाषा आदिसे अन्त तक प्राकृत है और इन सूत्रोंकी सल्या है १७७। वीरसेनाचार्यकी टीकाका लगभग तृतीय भाग प्राकृतमें और शेष भाग सस्कृतमें है। उद्धृत पद्योंकी सल्या २१६ है जिनमें १७ सस्कृतमें और शेष सब प्राकृतमें है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि वीरसेनाचार्यके समुदाह जो जैन साहित्य उपरियत था उसका अधिकांश भाग प्राकृतमें ही था। किन्तु उनके समयके लगभग जैन साहित्यमें सस्कृतका प्राधान्य

हो गया और उनकी टीकामें जो सस्कृत-प्राकृतका परिमाण पाया जाता है वह प्रायः उन दोनों भाषाओंकी तात्कालिक आपेक्षिक प्रवृत्तिका द्योतक है। इस समयसे प्राकृतका बल बढ़ चला और सस्कृतका बड़ा, यहातक कि आजकल जैनियोंमें प्राकृत भाषाके पठन पाठनकी बहुत ही मन्दता है। दिगम्बर समाजके विद्यालयोंमें तो व्यवस्थित रूपसे प्राकृत पढ़ानेकी सर्वथा व्यवस्था रही ही नहीं। ऐसी अवस्थामें प्रस्तुत ग्रन्थका परिचय कराने समय प्राकृत भाषाका परिचय करा देना भी उचित प्रतीत होता है। प्राकृत साहित्यमें प्राकृत भाषा मुख्यतः पाच प्रकारकी पाई जाती है—**मागधी, अर्धमागधी, औरसेनी, महाराष्ट्री, और अपभ्रंश।**

महावीरस्वामीके समयमें अर्थात् आजसे लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व जो भाषा मगर प्रातमें प्रचलित थी वह **मागधी** कहलती है। इस भाषाका कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं पाया जाता। किंतु प्राकृत व्याकरणोंमें इस भाषाका स्वरूप बतलाया गया है, और कुछ शिखरों और नाटकोंमें इस भाषाके उदाहरण मिलते हैं जिनपर से हम भाषाकी तीन विशेषताएं स्पष्ट समझमें आ जाती हैं—

१. र के स्थानमें ल, जैसे, राजा-लजा, नगर-णगल,
२. अ, ए और सके स्थानपर अ। जैसे, शम-शम, दामी-दामी, मसुर-मसुश।
३. संज्ञाओंके कर्ताकारक एकवचन पुछिंग रूपमें ए। जैसे, देग-देगे, नर-णगे,

उदाहरण—

अले कुमीलथा। कहेहि, कहिं दुए एशे मणिवग्गुकिगणमणए लाअकीएए अंगुठी-  
अए शमाशादिए। ( शकुतला )

‘ और कुमीलक ! कह, कहा वने इस मणिवध ओर उरुकोर्ण नाम राजकीय अंगुठी तो पाया ’।

दूसरे प्रकारकी प्राकृत **अर्धमागधी** इस कारण कहलाई कि उसमें मागधीके आधे लक्षण पाये जाते हैं और क्योंकि, समस्त यह आधे मगध देशमें प्रचलित थी। इसी भाषामें प्राचीन जैन सूत्रोंकी रचना हुई थी और इसका रूप अत्र ज्योताम्बरीय मूत्र-मंत्रोंमें पाया जाता है, इसीलिये डा याकोवीने इसे जैन प्राकृत कहा है। इसमें ए और स के स्थानपर श न होकर सर्वत्र स ही पाया जाता है, र के स्थानपर ल तथा कर्ता कारकमें ‘ ए ’ विकल्पसे होता है, अर्थात् कहीं होता है और कहीं नहीं होता, और अधिराण कारकका रूप ‘ ए ’ न ‘ म्मि ’ के अतिरिक्त ‘ अंसि ’ लगाकर भी बनाया जाता है।

उदाहरण —

कोहाउ माणं हणिया य चारे चोमस्म पामे निरयं महुंनं ।  
नह्य दि चारे निरओ स्योओ त्रिजो मोधं च्चुभयगामी ॥ ( आचाराग )

तो टि १ मान का हनन करके महावीरं चोमंके नान् पयकों नोट डाया । उन प्रकार चारे म्पमे िगिन होतर भूतगामी शोकका छिन्दन करें ।

सुमणमि म सुत्राणांमि वा गिरिगुडमि वा इत्तमष्टमि म । ( आचाराग )  
अज्ञानमें या ज्ञान्यगारमें या गिरिगुफामें १ प्रश्नके मूलमें ( माधु निरयम करे )  
ये मागधीकी प्रशुभिया अर्धमागधीमें भी चारे चारे तम क्षेत्री मंड हैं ।

प्राचीन शूरसेन अणत् मधुपके आस्तमानं प्रदंशकी भाषाका नाम **औरसेनी** है । पैसाहणोंमें इस भाषाका ऐसा नमन बनाया है जैसा मस्कृत नाटकोंमें कहीं कहीं मिलता है. पर इसका नमन नाहिं दिगम्बर जैन ग्रंथोंमें ही पाया जाता है। प्रचनत्तारादि बुद्धुंदाचारिके मर उसी प्रातमें है। ह्या जा सकता है कि यह दिगम्बर चैतियोनी सुय प्राचीन साहित्यिक भाषा है। किंतु इस भाषाका रूप कुछ विशेषताओंको लिये हुए होनेसे उनका योजनोता औरसेनिसि प्रएक् निर्देश करनेके हेतु उसे ‘ **जैन औरसेनी** ’ कहलौका रिवाज हो गया है। जैसा कि आगे चर्चा कतलाया जायगा, प्रस्तुत मंत्रकी प्रातन मुख्यतः यही है।

औरसेनातो िगिताए ये ि कि उसमें र ल ल कश्चि ही होता है, तनीं सत्तारों के स्थानपर स ही होता है, ओर तनींकारक पुछिंग एकवचनमें ओ होता है। इसकी अन्य िगिताए ये ि कि शत्रोके मचमें त के स्थानपर द, थ के स्थानपर थ, म के स्थानपर रूप कही ह और पूरुत्तानि हृत्तने त्व मस्कृत प्रचय त्वा के स्थानपर चा, इअ वा दूण होला ह । जैसे—

सुत -सुतो; पपति-ओदि वा होर, कयए-कयं, दूग-करिता, त्रिअ, करिदुय, आदि  
उदाहरण—

रतो चयदि कय सुचदि त्तमंलिं राम-रहिदपा ।  
एसो चेरसमानो जीगण जाण णिच्छयदो ॥ प्रच. २, ८७  
णो सकलति सोरुत्त मुट्टेसु पयम ति िगिद-पादांग ।  
सुणिएण ते अभया भया वा त पडिच्छति ॥ प्रच. १. ६२.

अर्थात् आमा रक्त होकर कर्म वाचता है तथा रागरहित होकर कर्मसे मुक्त होता है । यह जीवोत्ता वचनमास है, ऐसा निश्चय जानो ।

वात्सिया कंगोसे रहित ( केन्द्री भगवान् ) का सुख ही सुखोंमें श्रेष्ठ है, ऐसा सुनकर जो श्रद्धा नहीं करते वे अभय्य ई, और जो भय्य ई वे उसे मानते हैं ।

महाराष्ट्री प्रायतन प्राचीन महाराष्ट्रकी भाषा है जिसका स्वरूप गाथासप्तशती, सेतुबन्ध, गडउच्चट आदि काव्योंमें पाया जाता है । संस्कृत नाटकोंमें जहां प्राकृतका प्रयोग होता है वहां पाग वातचीत तो शोरसेनीमें करते हैं और गते महाराष्ट्रीमें हैं, ऐसा निद्वानांका मत है । इसका उपयोग जैनियोंने भी खूब किया है । पउमचरित्र, समराइचकाहा, युगपुराणीचरित्र, पामणाहचरित्र आदि काव्य आर श्रेताम्बर आगम सूत्रोंके भाष्य, चूर्णी, टीका, आदिनी भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है । पर यहां भी जैनियोंने इधर उधरसे अर्थमागावीकी प्रवृत्तियां लाकर उसपर अपनी छाप लगा दी है, और इस कारण इन ग्रंथोंकी भाषा जैन महाराष्ट्री मन्थनी है । जैन महाराष्ट्रीमें सप्तशती व सेतुबन्ध आदिकी भाषासे विलक्षण आदि व, द्विल्लमें न और लस वर्णके स्थानपर य श्रुतिमा उपयोग हुआ है, जैसा जैन शोरसेनीमें भी होता है । महाराष्ट्रीमें भिन्न लक्षण जो उसे शोरसेनीसे ग्रह्य करते हैं, ये हैं कि यहां मन्थवर्ती त का छाप टोंकर केवल उसका स्वर रह जाता है, किन्तु वह द में परिवर्तित नहीं होता । उसीप्रकार य यहां द में परिवर्तित न होकर ह में परिवर्तित होता है, और क्रियाका पूर्वकालिक रूप उण लगाकर बनाया जाता है । जैन महाराष्ट्रीमें इन विशेषताओंके अतिरिक्त कहीं कहीं र का ल व प्रथमान्त ए आजाता है । जैसे—

जानाति-जाणट, कथम्-कह, भूचा-होजण, आदि ।

उदाहरणार्थ—

सन्नायेणे चलणे गुरुरस नमिउण दमरहो राया ।

परिसरड नियय-नयरि साएयं जण-वणाएण ॥

( पउम. च ३१, ३८, पृ १३२ )

अर्थात् सत्र प्रकारसे गुरुके चरणोंको नमस्कार करके दशरथ राजा जन-वन-परिपूर्ण अपनी नगरी साकेतमें प्रवेश करते हैं ।

कामिकासनी दृष्टिसे अपभ्रंश भाग प्राकृतका सबसे अन्तिम रूप है, उससे आगे फिर प्राकृत वर्तमान हिन्दी, गुजराती, मराठी आदि भाषाओंका रूप धारण कर लेती है । इस भाषापर अपभ्रंश भी जैनियों का प्रायः एकलत्र अधिकार रहा है । जितना साहित्य इस भाषाका अभी-

तक प्रकाशमें आया है उसमेंका कमसे कम तीन चौथाई हिस्सा दिग्गम्बर जैन साहित्यका है । कुछ विद्वानों का ऐसा मत है कि जितनी प्राकृत भाषाएं थीं उन सबका विकसित होकर एक एक अपभ्रंश बना । जैसे, मागधी अपभ्रंश, शोरसेनी अपभ्रंश, महाराष्ट्री अपभ्रंश आदि । बौद्ध चर्यापदों व विद्यापतिकी कीर्तिलतामें मागधी अपभ्रंश पाया जाता है । किन्तु विशेष साहित्यिक उन्नति जिस अपभ्रंशकी हुई वह शोरसेनी महाराष्ट्री मिश्रित अपभ्रंश है, जिसे कुछ वैया-करणोंने नागर अपभ्रंश भी कहा है, क्योंकि, किसी समय समस्त वह नागरिक लोगोंकी बोलचालकी भाषा थी । पुण्यदत्तकृत महापुराण, गायकुमारचरित, जसहरचरित, तथा अन्य कवियोंके करकंडचरित, भविसयत्तकथा, सणकुमारचरित, सावयवमदोहा, पाहुडदोहा, इमी भाषाके काव्य है । इस भाषाको अपभ्रंश नाम देयाकरणोंने दिया है, क्योंकि वे स्थितिपालक होनेसे भाषाके स्वाभाविक परिवर्तनको विकाश न समझकर विकार समझते थे । पर इस अपमानजनक नामको लेकर भी यह भाषा खूब फली फूली और उसीकी पुत्रिया आज समस्त उत्तर भारतका काजव्यवहार सम्हाले हुए है ।

इस भाषाकी सज्ञा व क्रियाकी रूपरचना अन्य प्राकृतोंसे बहुत कुछ भिन्न हो गई है । उदाहरणार्थ, कर्ता व कर्म कारक एकवचन, उकारान्त होता है जैसे, पुत्रो, पुत्रम्-पुत्त, पुत्रेण-पुत्ते, पुत्राय, पुत्रात्, पुत्रस्य-पुत्तह, पुत्रे-पुत्ते, पुत्ति, पुत्तहि, आदि ।

क्रियामें, करोमि-करउ, कुर्वन्ति-करहि, कुरुथ-करहु, आदि ।

इसमें नये नये छन्दोंका प्रादुर्भाव हुआ जो पुरानी संस्कृत व प्राकृतमें नहीं पाये जाते, किन्तु जो हिन्दी, गुजराती, मराठी आदि आधुनिक भाषाओंमें सुप्रचलित हुए । अन्त-यमक अर्थात् एकवचनी इन छन्दोंकी एक बड़ी विशेषता है । दोहा, चौपाई आदि छन्द यहांसे ही हिन्दोमें आये ।

अपभ्रंशका उदाहरण—

सुहु सारउ मणुयत्तणह तं सुहु धम्मायत्तु ।

वम्भु वि रे जिय तं करहि ज अरहतइ बुत्तु ॥

सावयवमदोहा ॥ ४ ॥

अर्थात् सुख मनुष्यत्वका सार है और वह सुख वर्मके आनीन है । रे जीव ! वह वर्म कर जो अरहंतका कहा हुआ है ।

इन विशेष लक्षणोंके अतिरिक्त स्वर और व्यंजनसम्बन्धी कुछ विलक्षणताएँ सभी प्राकृतोंमें समानरूपसे पाई जाती हैं । जैसे, स्वरोंमें ऐ और औ, ऋ और लृ का अभाव और उनके स्थान पर क्रमशः अइ, अउ, अयवा ए, ओ, तथा अ या इ का आदेश, मन्थवर्ती

शोरसेनापिन स्थिर है। यथा, गाथा २०७ में यथा 'खमइ बहुअं हि' है यथा गो. जी. ५१६ में 'खमदि बहुगं पि' पाया जाता है। गाथा २१० में यथा 'एय-णिगोद' है, किन्तु गोम्पटसार १९६ में उसी जगह 'एग-णिगोद' है। ऐसे स्वर्णोपर गोम्पटसारमें प्राचीन पाठ रक्षित रह गया प्रतीत होता है। इन उदाहरणोंसे यह भी स्पष्ट है कि जबतक प्राचीन ग्रंथोंकी पुरानी हस्तलिखित प्रतियोंकी सावधानीसे परीक्षा न की जाय और थोड़े उदाहरण सम्बुल उपस्थित न हों तबतक इनकी भाषाके विषयमें निश्चयत कुछ कहना अनुचित है।

टीका का प्राकृत गद्य प्रोट, महाबरोदार और विषयके अनुसार सस्कृतकी तर्जुनीसे प्रभावित है। सन्धि और समासोंका भी यथास्थान बाहुल्य है। यथा यह वात उल्लेखनीय है कि सूत्र-ग्रंथोंकी या सुष्ट छोटी मोटी खड रचनाओंको छोड़कर दिगम्बर माहिरयमें अभूतक यहाँ एक ग्रंथ ऐसा प्रकाशित हो रहा है जिसमें साहित्यिक प्राकृत गद्य पाया जाता है। अभी इस गद्यका बहुत बड़ा भाग आगे प्रकाशित होने वाला है। अतः ज्यों ज्यों यह साहित्य सामने आता जायगा त्यों त्यों इस प्राकृतके स्वरूपपर अविनायिक प्रकाश डालनेका प्रयत्न किया जायगा।

इसी कारण ग्रंथकी सस्कृत भाषाके विषयमें भी अभी हम विशेष कुछ नहीं लिखते। केवल इतना सूचित कर देना पर्याप्त समझते हैं कि ग्रंथकी सस्कृत शैली अत्यन्त प्रोट, सुपरिभाषित और व्यायशास्त्रके ग्रंथोंके अनुरूप है। हम अपने पाठ-संशोधन के निमित्तोंमें कह आये हैं कि प्रस्तुत ग्रंथमें अरिहंत शब्द अनेकवार आया है और उसकी निरुक्ति भी अरिहन्नाद् अरिहत आदि की गई है। सस्कृत व्याकरणके नियमानुसार हमें यह रूप विचारणीय ज्ञात हुआ। अर्हं वातसे बना अर्हत् होता है और उसके एकवचन व बहुवचनके रूप क्रमशः अर्हन् और अर्हन्तः होते हैं। यदि अरि-महन् से कर्तृवाचक रूप बनाया जाय तो अरिहन्तृ होगा जिसके कर्ता एकवचन व बहुवचन रूप अरिहन्ता और अरिहन्ताः होना चाहिये। चूँकि यथा न्युत्पात्तमें अरिहन्नात् कहा गया है अतः अर्हन् व अर्हन्त शब्द ग्रहण नहीं किया जा सकता। हमने प्रस्तुत ग्रंथमें अरिहन्ता कर दिया है, किन्तु है यह प्रश्न विचारणीय कि सस्कृतमें अरिहन्तः जैसा रूप रचना चाहिये या नहीं। यदि हम हन् वातसे बना हुआ 'अरिहा' शब्द ग्रहण करें और पाणिनि के 'मधवा बहुलम्' सूत्रका इस शब्दपर भी अधिकार चलाने तो बहुवचनमें अरिहन्तः हो सकता है। सस्कृतभाषा की प्रगतिके अनुसार यह भी असम्भव नहीं है कि यह अकारान्त शब्द अर्हत् के प्राकृत रूप अरहंत, अरिहंत, अरुहंत परसे ही सस्कृतमें रूढ़ हो गया हो। विद्वानोंका मत है कि गोविन्द शब्द सस्कृतके गोपेन्द्र का प्राकृत रूप है। किन्तु पीछे से सरकृतमें भी वह रूढ़ हो गया और उसीकी न्युत्पत्ति संस्कृतमें दी जाने लगी। उस अर्थयामें अरिहन्तः शब्द अकारान्त जैन संस्कृतमें रूढ़ माना जा सकता है। वैयाकरणोंको इसका विचार करना चाहिये।

## उपसंहार-

अन्तिम तीर्थंकर श्रीमहामास्वामीके वचनोंकी उनके प्रमुत्तु शिष्य इन्द्रभूति गौतमने द्वादशांग श्रुतके रूपमें ग्रंथ रचना की जिसका ज्ञान आर्चापं परम्परासे क्रमशः कम होते हुए धरसेनाचार्यतक आया। उन्होंने वारहवें अंग दृष्टिवादनके अन्तर्गत पूर्वोक्त तथा पाचवें अंग व्याख्याप्रवृत्तिके कुछ अध्यायोंको पुष्पदन्त और भूतबलि आचार्योंको पढ़ाया। और उन्होंने वीर निर्वाण के पश्चात् ७ वीं शताब्दिके लगभग मन्त्रमयाहुडकी दृष्टि हजार नूत्रोंमें रचना की। इसीकी प्रसिद्धि पदसंज्ञागम नामसे हुई। इतनी टीकाएँ जमना कुन्दकुन्द, ग्रामकुंड, तुम्बुलू, ममन्तभद्र और चण्णदेवने बनाईं, ऐसा कहा जाता है, पर ये टीकाएँ अब मिलनी नहीं हैं। इनके अन्तिम टीकाकार वीरसेनाचार्य हुए जिन्होंने अपनी सुप्रसिद्ध टीका धवलाली रचना अंक ७३८ क्रांतिक शुक १३ को पूरी की। यह टीका ७२ हजार श्लोक प्रमाण है।

पद्मदागमका छठवा गड महाबंध है। जिसकी रचना स्वयं भूतबलि आचार्यके बहुत विन्तासे की थी। अतएव पश्चिमार्थिकको छोड़ उमपर विशेष टीकाएँ नहीं रची गईं। इसी महाबंधकी प्रसिद्धि महाघमलके नामसे है जिसका प्रमाण ३० या ४० हजार कहा जाता है।

धरसेनाचार्यके समयके लगभग एक और आर्चान् गुणधर हुए जिन्हें भी द्वादशांग श्रुतका कुछ ज्ञान था। उन्होंने कयायप्राभृत की रचना की। इसका आर्यमंडु और नागहस्तिने व्याख्यान किया और यतिवृषभ आचार्यने चूणिनूत्र रचें। इसपर भी वीरसेनाचार्यने टीका लिखी। किन्तु वे उने २० हजार प्रमाण गिन्नकर ही स्वर्णवासी हुए। तब उनके मुयोग शिष्य जिनसेनाचार्यने ४० हजार प्रमाण और लिगकर उसे शक ७५९ में पूरा किया। इस टीकाका नाम जयघमला है आर यह ६० हजार श्लोक प्रमाण है।

इन दोनों या तीनों महाग्रंथों की केवल एकमात्र प्रति ताड़पत्रपर शेष रही थी जो सैकड़ों वर्षोंमें मूडभित्ति भंडारमें बन्द थी। गत २०१२५ वर्षोंमें उनमेंसे प्रथम व जयघमलाकी प्रतिलिपिया किसी प्रकार बाहर निकाल पाई गईं। महाबंध या महाबल अब भी दुःप्राप्य है। उनमेंसे बालाके प्रथम अक्षरात्मक हो रहा है। इस अक्षरमें द्वादशांगभाषणी व ग्रंथ रचनाके इतिहासके गतिरिक्त सत्स्वरूपणा अर्थात् जगसमासों और मार्गणाओं का विशेष विवरण है। सूत्रोंकी भाषा पूर्णतः प्राकृत है। टीकामें जगद उद्युत पूर्वाचार्योंके पद्य २१६ हैं जिनमें केवल १७ संस्कृतमें और शेष प्राकृतमें हैं, टीकाका कोई तृतीयांश प्राकृतमें और शेष संस्कृतमें है। यह सब प्राकृत प्रायः वही शौरसेनी है जिनमें कुन्दकुन्ददि आचार्यों के ग्रंथ रचे पाये जाते हैं। प्राकृत और सस्कृत दोनोंका शैली अत्यंत सुन्दर, परिभाषित और प्रौढ है।

## टिप्पणियोंमें उल्लिखित ग्रन्थोंकी

## संकेत-सूची

| संकेत                     | ग्रन्थ नाम               | संकेत             | ग्रन्थ नाम                          |
|---------------------------|--------------------------|-------------------|-------------------------------------|
| १ अनु. सू.                | अनुयोगद्वारसूत्र         | २४ जी. द. सू.     | जीवद्वयण दृग्वाणिओग-<br>द्वार सूत्र |
| २ अभि. रा. को.            | अभिवानराजेन्द्रकोष       | २५ जी. वि. प्र.   | जीवविचारप्रकरण                      |
| ३ अक. वि.                 | अलङ्कारचिन्तामणि         | २६ जी. स. सू.     | जीवद्वयण सतपरुष्यणा<br>सूत्र        |
| ४ अष्टश. ती.              | अष्टशती                  | २७ ज्यो. क.       | ज्योतिष्करण्डक सटीक                 |
| ५ अष्टस. ती.              | अष्टसहस्री               | २८ गाय. सू.       | गायाममकहासूत्र                      |
| ६ आचा. नि.                | आचारान्त-नियुक्ति        | २९ तत्त्वार्थ भा. | तत्त्वार्थभाष्य (स्वै.)             |
| ७ शा. नि.                 | आश्रयक-नियुक्ति          | ३० त. रा. वा.     | तत्त्वार्थराजवार्तिक                |
| ८ आ पा.                   | आलपपद्धति                | ३१ त. श्यो. वा.   | तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक              |
| ९ आ. पु.                  | आद्रिपुराण               | ३२ त. सू.         | तत्त्वार्थसूत्र                     |
| १० आ. गी.                 | आत्ममीमासा               | ३३ ति प           | तिरोपपण्णति                         |
| ११ इन्द्र शुना.           | इन्द्रनन्दिश्रुतावतार    | ३४ द. भ.          | दशभक्ति                             |
| १२ उत्त                   | उत्तराध्ययन              | ३५ द वै           | दशवैकालिक                           |
| १३ आप. म्.                | औपपातिकसूत्र             | ३६ देगीना.        | देगीनाममाला                         |
| १४ क प्र.                 | कर्मग्रन्थ               | ३७ द. स. दृ.      | द्रव्यसप्तश्लोचि                    |
| १५ क. प्र.                | कर्मप्रकृति              | ३८ धवला.          | धवला ( लिखित )                      |
| १६ त प्र ग. उ टी          | कर्मप्रकृति यज्ञोपनिषय   | ३९ न च.           | नयचत्रा                             |
| १७ त्सायपाहुट्युणि        | उपा यायकृत नि. टी        | ४० न्या कु च      | न्यायकुमुदचन्द्र                    |
| १८ गुण. क प्र.            | ( लिखित )                | ४१ न. सू.         | नन्दिसूत्र                          |
| १९ गो क.                  | गुणस्थान-कर्मरोह-        | ४२ पञ्चस          | पञ्चसप्तश्लो ( दि. )                |
| २० गो. ती.                | प्रकरण                   | ४३ पञ्चा.         | पञ्चास्तिकाय                        |
| २१ गो. ती., जी. प्र., टी. | गोमटसार कर्मकाण्ड        | ४४ पञ्चा या       | पञ्चायायी                           |
| २२ गो. जी, म. प्र., टी.   | ” जीवकाण्ड               | ४५ पञ्चा. वि.     | पञ्चाशक सटीक वि                     |
| २३ जयध.                   | जीवकाण्ड                 | ४६ प सु           | परीक्षामुख                          |
|                           | जीवतत्त्वप्रदीपिका टीका. | ४७ पा. उ.         | पाणिनि उणादि                        |
|                           | गी० जी० मद्रघ्नो-        |                   | पातञ्जल महाभाष्य                    |
|                           | धिनी टीका.               |                   |                                     |
|                           | जयधवला ( लिखित )         |                   |                                     |

| संकेत          | ग्रन्थ नाम                 | संकेत               | ग्रन्थ नाम                    |
|----------------|----------------------------|---------------------|-------------------------------|
| ४९ पु सि       | पुरुषार्थसिद्ध्युपाय       | ३४ मूला.            | मूलाराधना ( भगवती<br>आराधना ) |
| ५० प. स        | पचसप्तश्लो ( स्वे )        | ६५ रत्नक.           | रत्नकरण्ड श्रानकाचार          |
| ५१ प्र क मा.   | प्रमेयकमलमार्तण्ड          | ६६ ल क्ष.           | लक्ष्मिसार क्षपणासार          |
| ५२ प्रज्ञा सू. | प्रज्ञापना सूत्र           | ६७ लघीय.            | लघीयखण्ड                      |
| ५३ प्रमाणनयत   | प्रमाणनयतत्वालोकाल-<br>कार | ६८ ” स्त्रो. वृ लि. | ” स्त्रोपज्ञवृत्ति लिखित      |
| ५४ प्रमाणमी    | प्रमाणमीमासा ( स्वे )      | ६९ लो प्र.          | लोकप्रकाश                     |
| ५५ प्रवच       | प्रवचनसार                  | ७० वि भा.           | विशेषपादशयकभाष्य              |
| ५६ प्र सा पू   | प्रवचनसरोद्वार पूर्वार्ध   | ७१ स. त.            | सन्मतितर्क                    |
| ५७ वा अ        | वास अणुवेम्बा              | ७२ स त. टी.         | सम्मतितर्क टीका               |
| ५८ वृ क सू     | वृहत्कल्पसूत्र             | ७३ स. त. सू         | सभाष्यतवार्थोविगमसू           |
| ५९ वृ स्व रतो. | वृहत्स्वयम्भूस्तोत्र       | ७४ स सि.            | सर्वार्थसिद्धि                |
| ६० त्र शु.     | ब्रह्महेमचन्द्र श्रुतस्कव  | ७५ सम. सू           | समवायाङ्गसूत्र                |
| ६१ भग गी       | भगवद्गीता                  | ७६ स्था. सू.        | स्थानान्नसूत्र                |
| ६२ भग सू       | भगवती सूत्र                | ७७ ह पु.            | हरिवंशपुराण                   |
| ६३ मूलाचा      | मूलाचार                    |                     |                               |

## सत्प्ररूपणाकी विषय-सूची

|    |  |        |  |    |
|----|--|--------|--|----|
| १  | मंगलाचरण   | १-७२   | चक्रवर्ती और तीर्थकारका स्वरूप         | ५७ |
| २  | मंगलाचरण टीकाकारकृत                                      | १      | २. नै.श्रेयस-सुख-कथन                   | ५८ |
| ३  | सूत्रकारकृत पंच परमेश्री नमस्काररूप मंगलाचरण             | ८      | ३. प्रकारान्तरसे निमित्त और हेतुका कथन | ६० |
| ४  | मंगल, निमित्त आदि छह अधिकारोंकी प्रतिज्ञा                | ८      | ७ प्रंय-परिमाण                         | ६० |
| ५  | मंगलका स्वरूप और त्रिवेचन                                | ९      | ८ प्रंय-नाम                            | ६० |
| ६  | १. नय-निरूपण   | १०     | ९ कर्ता के भेदोंका निरूपण              | ६१ |
| ७  | २. नयोंमें निक्षेपोंका अन्तर्भाव                         | ११     | १. क्षेत्र-विशिष्ट अर्थकर्ता           | ६२ |
| ८  | ३. निक्षेप-निरूपण  | १७     | २. कालकी अपेक्षा अर्थकर्ता             | ६३ |
| ९  | ४. मंगलके पर्यायवाची नाम, निरुक्ति व अनुयोगद्वारासे कथन. | ३१     | ३. भावकी अपेक्षा अर्थकर्ता             | ६४ |
| १० | ५. छह ढंडकोंद्वारा मंगल-निरूपण                           | ३९     | ४. प्रंय-कर्ता                         | ६५ |
| ११ | ६. सूत्रके मंगल-अमंगलका विवेचन                           | ४१     | ५ अर्थापरियोंकी परस्परा                | ६७ |
| १२ | ७. अरिहतका शब्दार्थ और स्वरूप                            | ४२     | ६. श्रुतावतार-वर्णन                    |    |
| १३ | ८. सिद्धका " "   | ४६     |  |    |
| १४ | ९. अर्हत और सिद्धमें भेदभेद विवेचन                       | ४६     |  |    |
| १५ | १०. आचार्यका शब्दार्थ और स्वरूप                          | ४८     |  |    |
| १६ | ११. उपाध्याय " "   | ५०     |  |    |
| १७ | १२. साधु " "   | ५१     |  |    |
| १८ | १३. आचार्यादि परमेश्रियोंमें भी देवत्वकी सिद्धि          | ५२     |  |    |
| १९ | १४. अरिहतोंको प्रथम नमस्कार कर-नेका प्रयोजन              | ५३     |  |    |
| २० | ५ निमित्त-कथन  | ५४     |  |    |
| २१ | ६ हेतु-कथन   | ५५     |  |    |
| २२ | १. अनुदय सुखमें राजा, महाराजा, मडलीक, महामडलीक, नारायण,  | ५९-१३२ |  |    |
| २३ | २. प्रमाणानुगमके भेदोंका निरूपण                          | ९३     |  |    |

( ९२ )

|    |   |         |   |         |
|----|---|---------|---|---------|
| २  | श्रुतज्ञानके भेद-प्रभेदोंका स्वरूप  | ९६      | २ श्रुतज्ञानके भेद-प्रभेदोंका स्वरूप  | ९६      |
| ३  | आध्यायणीय पूर्वके १४ अर्थधिकार और जीवद्वारा खडके अन्तर्गता-धिकारोंकी उत्पत्ति | १२३     | ३ आध्यायणीय पूर्वके १४ अर्थधिकार और जीवद्वारा खडके अन्तर्गता-धिकारोंकी उत्पत्ति | १२३     |
| ४  | विषयकी उत्थानिका  | १३२-१५९ | ४ विषयकी उत्थानिका  | १३२-१५९ |
| ५  | चौदह मार्गणोंका सामान्य स्वरूप-निरूपण   | १३२-१५३ | ५ चौदह मार्गणोंका सामान्य स्वरूप-निरूपण   | १३२-१५३ |
| ६  | १. गतिमार्गणा   | १३४     | ६ १. गतिमार्गणा   | १३४     |
| ७  | २. इन्द्रियमार्गणा  | १३५     | ७ २. इन्द्रियमार्गणा  | १३५     |
| ८  | ३. कायमार्गणा   | १३८     | ८ ३. कायमार्गणा   | १३८     |
| ९  | ४. योगमार्गणा   | १३९     | ९ ४. योगमार्गणा   | १३९     |
| १० | ५. वेदमार्गणा   | १४०     | १० ५. वेदमार्गणा  | १४०     |
| ११ | ६. कथामार्गणा   | १४१     | ११ ६. कथामार्गणा  | १४१     |
| १२ | ७. ज्ञानमार्गणा   | १४२     | १२ ७. ज्ञानमार्गणा  | १४२     |
| १३ | ८. समयमार्गणा   | १४४     | १३ ८. समयमार्गणा  | १४४     |
| १४ | ९. दर्शनमार्गणा   | १४५     | १४ ९. दर्शनमार्गणा  | १४५     |
| १५ | १०. छेदमार्गणा  | १४५     | १५ १०. छेदमार्गणा   | १४५     |
| १६ | ११. भव्यमार्गणा   | १४५     | १६ ११. भव्यमार्गणा  | १४५     |
| १७ | १२. सम्यक्त्वमार्गणा  | १४५     | १७ १२. सम्यक्त्वमार्गणा   | १४५     |
| १८ | १३. संज्ञिमार्गणा   | १४५     | १८ १३. संज्ञिमार्गणा  | १४५     |
| १९ | १४. आहारमार्गणा   | १४५     | १९ १४. आहारमार्गणा  | १४५     |
| २० | अनुयोगद्वाराके आठों भेदोंका सोपपत्तिक निरूपण                                  | १५३     | २० अनुयोगद्वाराके आठों भेदोंका सोपपत्तिक निरूपण                                 | १५३     |
| २१ | सत्प्ररूपणा   | १५९-४१० | २१ सत्प्ररूपणा  | १५९-४१० |
| २२ | ओष और आदेशकी प्रतिज्ञा तथा गुणस्थान-निरूपण                                    | १५९-२०० | २२ ओष और आदेशकी प्रतिज्ञा तथा गुणस्थान-निरूपण                                   | १५९-२०० |
| २३ | १. मिथ्यादृष्टिगुणस्थान   | १६१     | २३ १. मिथ्यादृष्टिगुणस्थान  | १६१     |
| २४ | २. सासादनसम्यग्दृष्टि गुण०  | १६३     | २४ २. सासादनसम्यग्दृष्टि गुण०   | १६३     |



|  |     |   |     |
|--|-----|---|-----|
| १५. पर्याप्ति और प्राणमें भेद                              | २५६ | ३४. आदेशकी अपेक्षा वेद-सत्त्व-प्रतिपादन       | ३४५ |
| १६. इन्द्रियदि जीवोंके भेद                                 | २५८ | ३५. कर्मायमार्गणके भेद व स्वरूप               | ३४८ |
| १७. अपर्याप्त अवस्थामें मनका निरूपण                        | २५९ | ३६. कर्मायमार्गणमें गुणस्थान-विचार            | ३५१ |
| १८. इन्द्रियमार्गणमें गुणस्थान-सत्त्व-प्रतिपादन            | २६१ | ३७. ज्ञानमार्गणके भेद व स्वरूप                | ३५३ |
| १९. कर्मायमार्गणके भेद                                     | २६४ | ३८. ज्ञानमार्गणमें गुणस्थान-विचार             | ३६० |
| २०. स्थावरकायिक जीवोंके भेद                                | २६७ | ३९. समयमार्गणके भेद व स्वरूप                  | ३६८ |
| २१. जसकायिक जीवोंके भेद                                    | २७२ | ४०. समयमार्गणमें गुणस्थान-विचार               | ३७४ |
| २२. कायमार्गणमें गुणस्थान-निरूपण                           | २७४ | ४१. दर्शनमार्गणके भेद व स्वरूप                | ३७८ |
| २३. योग मार्गणके भेद व स्वरूप                              | २७८ | ४२. दर्शनमार्गणमें गुणस्थान विचार             | ३८३ |
| २४. मनोयोगके भेद और उनमें गुणस्थान-निरूपण                  | २८० | ४३. लेख्यमार्गणके भेद व स्वरूप                | ३८६ |
| २५. वचनयोगके भेद   | २८६ | ४४. लेख्यमार्गणमें गुणस्थान-विचार             | ३९० |
| २६. काययोगके भेद   | २८९ | ४५. मध्यमार्गणके भेद व स्वरूप                 | ३९२ |
| २७. केवल-समुद्रात-विचार                                    | ३०० | ४६. मध्यमार्गणमें गुणस्थान-विचार              | ३९४ |
| २८. त्रिसयोगी योगोंके स्वामी                               | ३०८ | ४७. सम्यक्त्वमार्गणके भेद व स्वरूप            | ३९५ |
| २९. त्रिसयोगी और एकसयोगी योगोंके स्वामी                    | ३०९ | ४८. सम्यक्त्वमार्गणमें गुणस्थान-विचार         | ३९६ |
| ३०. योगोंमें पर्याप्त व अपर्याप्त-विचार                    | ३१० | ४९. आदेशकी अपेक्षा सम्यक्त्व-सत्त्व प्रतिपादन | ३९९ |
| ३१. आदेशकी अपेक्षा गतिमार्गणमें पर्याप्त व अपर्याप्त-विचार | ३२२ | ५०. सन्निमार्गणके भेद व स्वरूप                | ४०८ |
| ३२. वेदमार्गणके भेद व स्वरूप                               | ३४० | ५१. सन्निमार्गणमें गुणस्थान-विचार             | ४०८ |
| ३३. वेदमार्गणमें गुणस्थान-विचार                            | ३४२ | ५२. आहारमार्गणके भेद और उत्तम गुणस्थान-विचार  | ४०९ |

## शुद्धिपत्र

|        |       |                |                          |          |       |                    |                    |
|--------|-------|----------------|--------------------------|----------|-------|--------------------|--------------------|
| पृष्ठ  | पक्ति | अशुद्धि        | शुद्धि                   | पृष्ठ    | पक्ति | अशुद्धि            | शुद्धि             |
| ८      | ४     | साहण ॥१॥ इदि । | साहण ॥१॥ इदि ।           | ११४      | १     | लम्ब छायाल         | लम्ब-छायाल         |
| २३     | २     | ॥१२॥ इदि ।     | ॥१२॥ इदि ।               | ११५(दि.) | २     | वर्णयति            | वर्णयति । गो. जी   |
| "      | ४     | चात्तमिदि      | चात्तमिदि                | १२३      | १०    | पुञ्जतादो          | पुञ्जतादो          |
| २५     | ७     | एव             | एवं                      | "        | "     | अवरत्तादो          | अवरत्तादो          |
| २६     | ३     | मङ्गल          | मङ्गल                    | "        | "     | पुञ्जतादो          | पुञ्जतादो          |
| ३२     | ५     | विनाशयति       | विनाशयति घात-यति         | "        | "     | अवरत्तादो          | अवरत्तादो          |
| ३४     | ६     | सव्वे          | सव्व-                    | १२५      | ४     | पयडी पु बंधणे      | पयडीपु बंधणे       |
| ३५     | २     | मङ्गलम् ?      | मङ्गलम् ? जीवस्य         | १२७      | १०    | तेवीसविमादो        | तेवीसविमादो        |
| ४०     | ५     | फल पावेतु      | फल हि पावेतु             |          |       |                    |                    |
| "      | ६     | लहु-पास्या     | लहु पास्या               |          |       |                    |                    |
| ४७     | २     | गुणकृत         | गुणकृतो                  | १३३      | १     | -विरुद्ध स         | -विरुद्धः । स      |
| ४८[हि] | ६     | जो पुरुषाकार   | जो सब अवय-वोसि पुरुषाकार | १५६      | ६     | कथं                | कथ                 |
| ५५     | १     | ' भोयण-वेलाए   | ' भोयण-वेलाए             | २२६      | ३     | -स्थानेषु मार्गणा- | -स्थानेषु मार्गणा- |
|        |       | संघवमाणि '     | संघवमाणि '               | २२७      | ६     | यत्परिष्ठाण-       | यत्परिष्ठाण-       |
| ५६     | ५     | अभ्युदयनै-     | अभ्युदयं                 | २५४      | ५     | आहा.               | आहा.               |
|        |       | श्रेयसम्       | शैःश्रेयसम्              | २६९      | ५     | वनस्पति-           | वनस्पति-           |
| ५९     | ६     | पवयणादो        | पवयणदो                   | २७७      | ४     | निवन्धन            | निवन्धन            |
| ७०     | ४     | अहिय-स्वरा     | अहिय-स्वरा               | २८०      | ७     | ॥ १५५ ॥            | ॥ १५५ ॥            |
| "      | "     | विहीण-स्वरा    | विहीण-स्वरा              | २८१      | २     | ॥ १५६ ॥            | ॥ १५६ ॥            |
| "      | ६     | दिय-स्वराण-    | दिय-स्वराण               | २८२      | ४     | ॥ १५७ ॥            | ॥ १५७ ॥            |
| ८२     | १०    | सा             | तथ सा                    | २८६      | ९     | ॥ १५८ ॥            | ॥ १५८ ॥            |
| ९३     | ६     | पुत्रत्तं ।    | पुत्रत्तं,               | "        | ११    | ॥ १५९ ॥            | ॥ १५९ ॥            |
| ९७     | ३     | पुरिसं         | पुरिसं                   | ३०५      | ३     | वाङ्मनसो-          | वाङ्मनसो-          |
| १०१    | ८     | छापण सहस्स     | छापण-सहस्स               | ३०८      | ९     | वाङ्मनोभ्या-       | वाङ्मनोभ्या-       |
| १०७    | ६     | पणारह-लम्बा-   | पणारह-लम्बा              | ३१०      | ५     | "                  | "                  |
|        |       | वे-सहस्सं      | वे सहस्स                 |          |       |                    |                    |

## मंगलाचरणम्

श्रीमत्परम-गम्भीर-स्याद्वादासोष-लाञ्छनम् ।

जीयात् त्रैलोक्य-नाथस्य शासनं जिन-शासनम् ॥ १ ॥

सः श्रीमात् धरसेन-नाम-सुगुरुः श्रीजैन-सिद्धान्त-सद्-

वाद्धिर्धुधर-पुष्पदन्त-सुमुनिः श्रीभूतपूर्वो बलिः ।

एते सन्मुनयो जगत्त्रय-हिताः स्वर्गामैरर्चिताः

कुर्युर्मे जिनधर्म-कर्मणि मतिं स्वर्गपवर्गप्रदे ॥ २ ॥

श्रीवीरसेन इत्याप्त-भट्टारक-पृथु-प्रथः ।

स नः पुनातु पूतात्मा वादि-वृन्दारको मुनिः ॥ ३ ॥

धवलां भारती तस्य कीर्तिं च शुचि-निर्मलाम् ।

धवलीकृत-निःशेष-शुवनां तां नमाम्यहम् ॥ ४ ॥

भूयादावीरसेनस्य वीरसेनस्य शासनम् ।

शासनं वीरसेनस्य वीरसेन-कुशेशयम् ॥ ५ ॥

सिद्धानां कीर्तनादन्ते यः सिद्धान्त-प्रसिद्ध-वाक् ।

सोऽनाधनन्त-सन्तानः सिद्धान्तो नोऽवताञ्चिरम् ॥ ६ ॥

१ श्रवणवेलगोल शिलालेख न ३९ आदि । २ तत्र नेमिदत्तकृत आराधनकथाकोष पृ ३५९ ।

३-४ सरस्वत महापुराण उक्तानिका । ५-६ जयधवलान्तर्गत ।

विशेषार्थ—‘सिद्धे’ शब्दका अर्थ कृतकृत्य होता है, अर्थात्, जिन्होंने अपने करने योग्य सब कार्योंको कर लिया है, जिन्होंने अनधिकालसे बंधे हुए शलाकरणादि कर्मोंको प्रवण्ड ध्यानरूप अधिके द्वारा भास कर दिया है, ऐसे कर्म-प्रबंध-मुक्त जीवोंको सिद्ध कहते हैं। अर्द्धत परमेष्ठी भी चार घातिया कर्मोंका नाश कर चुके हैं, इसलिये वे भी घातिकर्म-क्षय सिद्ध हैं। इस विशेषणसे उनके मतका निराकरण हो जाता है जो अनादि कालसे ही ईश्वरको कर्मोंसे अस्पृष्ट मानते हैं। अथवा, ‘पिबु’ धातु गमनार्थक भी है, जिससे सिद्ध शब्दका यह अर्थ होता है, कि जो शिव-लोकमें पहुंच चुके हैं, और वहांसे लौट कर कभी नहीं आते। इस कथनसे मुक्त जीवोंके पुनरागमनकी मान्यता का निराकरण हो जाता है। अथवा, ‘पिबु’ धातु ‘संपादन’ के अर्थमें भी आती है, जिससे यह अर्थ निकलता है, कि जिन्होंने आत्मीय गुणोंको प्राप्त कर लिया है, अर्थात्, जिनकी आत्मामें अपने स्वाभाविक अनन्त गुणोंका विकास हो गया है। इस व्याख्यासे उन लोगोंके मतका निरासन हो जाता है, जो मानते हैं कि, ‘जिस-प्रकार वीपक पुत्र जैसे पर, न वह पृथ्वीकी ओर नीचे जाता है, न आकाशकी ओर ऊपर ही जाता है, न किसी दिशाकी ओर जाता है और न किसी विदिशाकी ओर ही, किंतु तेलके क्षय हो जानेसे केवल शान्ति अर्थात् नाशको ही प्राप्त होता है। उसीप्रकार, मुक्तिको प्राप्त होता हुआ जीव भी न नीचे भूतलकी ओर जाता है, न ऊपर नभस्तलकी ओर, न किसी दिशाकी ओर जाता है, और न किसी विदिशाकी ओर ही। किंतु स्रोह अर्थात् रागपरिणतिके नष्ट हो जानेपर, केवल शान्ति अर्थात् नाशको ही प्राप्त होता है’।\*

अनर्त—जिसका अन्त अर्थात् विनाश नहीं है उसे अनन्त कहते हैं। अथवा, ‘अन्त’ शब्द सीमा-वाचक भी है, इसलिये जिसकी सीमा न हो उसे भी अनन्त कहते हैं। अथवा, अनन्त पदार्थोंके जाननेवालेको भी अनन्त कहते हैं। अथवा, अनन्त कर्मोंके अशोकें जितनेवालेको भी अनन्त कहते हैं। अथवा, अनन्त-जानादि गुणोंसे युक्त होनेके कारण भी अनन्त कहते हैं।

अनिन्द्रिय—जिसके इन्द्रियां न हों, उसे अनिन्द्रिय कहते हैं। इन्द्रिया अर्थात् भावेन्द्रियां छबस्थ दशामें पाई जाती हैं, परंतु सिद्ध और अर्द्धत परमात्मा छबस्थ दशको

१ आदौ सकार-प्रयोग मुन्दर । तथा च ‘सहो मुखदाहदौ’ । अल पि १, ४९ ‘मान्नालिक आवायों महत शान्तीषस्य मन्त्रार्थं सिद्ध शब्द आदित प्रमुद्रके’ । पात महासा पृ ५७ मित चद्रमष्टप्रकार क्रमेधन ध्यात दव जाज्यमान-शुत्र यानानलेन येते पिडा । यथा, ‘पिबु गतो’ इति वचनार् सेधति स्म अपुनरायुया निर्मुक्तिपुरीमागच्छत् । अथवा, ‘पिबु सरादौ’ इति वचनार् सेधति सिद्धयति स्म निष्ठितार्थो भवति स्म । अथवा, ‘पिबु शाने मान्त्रये च’ इति वचनार् सेधति स्म शासितारीशुक्र् मान्त्रय-रूपता चालुमवति स्म इति सिद्धा । अथवा, पिडा नित्या अपयमान-स्थितिक्रवात । प्रख्याता या मन्वे-रुपलक्षुणमदीहत्वात् । आह च, ध्यात सित येन पुराणकर्म यो या गतो निर्मुक्ति-सौध-प्रति । ख्यातोऽनुवास्ता परिनिष्ठितार्थो य सोऽस्तु सिद्ध कृतमजलो मे ॥ भग स १, १, १, (टीका) ५ धवल, अ पृ ४७४

२ नास्यान्तोऽस्तीत्यनन्त निरव्ययविनाशेनातिशयमान । नास्यात् सीमास्यनन्त केवलात्मनोऽनन्त-त्वात् । अनन्तार्थ-विषयत्वाद्बानन्त अनन्तार्थ-विषय वान स्वरूपत्वात् । अनन्त-कर्मार्थ-जयनादनन्त । अनन्तानि वा जानादीनि यस्येयनन्तः । अग्नि रा कोप ।

३ ‘न य विज्जह तगहणे लिंग पि अर्णदियवणो’ । पा स म. कोप ( अर्णदिय ) ।

सिरि-भगवंत-पुष्पदंत-भूदचलि-पणीदे



## छबखंडागमे

जीवद्वानं

तस्स

सिरि-वरिसेणाडरिय-विरइया टीका

धवला

सिद्धमणंतमणिंदियमणुवममणुथ-सोक्खमणवजं ।

केवल-पहोह-णिञ्जिय-दुणाय-तिमिरं जिणं णमह ॥ १ ॥

जो सिद्ध हैं, अनन्त-स्वरूप हैं, अनिन्द्रिय हैं, अनुपम हैं, आत्मोत्पन्न सुखको प्राप्त हैं, अनन्त अर्थात् निर्दोष हैं, और जिन्होंने केवलज्ञानरूप सूर्यके प्रभापुंजसे कुनयरूप अन्धकारको जीत लिया है, ऐसे जिन भगवान्को नमस्कार करो। अथवा, जो अनन्त-स्वरूप हैं, अनिन्द्रिय हैं, अनुपम हैं, आत्मोत्पन्न सुगन्धो प्राप्त हैं, अन्तर्घ अर्थात् निर्दोष हैं, जिन्होंने केवलज्ञानरूप सूर्यके प्रभा-पुंजसे कुनयरूप अन्धकारको जीत लिया है, और जो समस्तकर्म-शत्रुओंके जीतनेसे ‘जिन’ संज्ञाको प्राप्त हैं, ऐसे सिद्ध परमात्माको नमस्कार करो।

उद्घटन करके केवलज्ञानसे विभूषित हैं, इसलिये वे अनिन्द्रिय हैं। भावेन्द्रियोंकी तरह इन दोनों परमात्मार्थोंके भाव-मन भी नहीं पाया जाता है, क्योंकि तेरहवें गुणस्थानमें क्षयोपशमिक नामोंका अभाव है। अथवा, 'अणिदिय' पद अतीन्द्रिय के अर्थमें भी आता है, जिससे यह अर्थ निकलता है कि वे हमारे इन्द्रिय-जन्य ज्ञानसे नहीं जाने जा सकते हैं, अर्थात् वे दोनों परमात्मा इन्द्रियोंके अगोचर हैं। 'अणिदिय' पदका अर्थ अनिन्दित भी होता है, जिसका यह तात्पर्य है कि सिद्ध और अरहंत परमेष्ठी निर्दोष होनेके कारण सबके द्वारा अनिन्दित है। निन्द्या उसकी की जाती है जिसमें किसी प्रकारके दोष पाये जावे, जिसका आवरण दूसरोंके लिये अहितकर हो। परंतु उक्त दोनों परमेष्ठी कामादि दोषोंसे रहित होनेके कारण कोई भी उनकी निन्दा नहीं कर सकता है, इसलिये वे अनिन्दित हैं।

अनुपम—प्रत्येक वस्तु अतन्त-धर्मरूप है। उसके स्वरूप-निर्णयके लिये हम जो कुछ भी दृष्टान्त देकर, शब्दोत्तर, उसे मापनेका प्रयास करते हैं, उस मापनेको उपमा कहते हैं। 'उप' अर्थात् उपचारसे जो 'मा' माप करे वह उपमा है। उपचारसे मापनेका भाव यह है कि एक वस्तुके गुण-धर्म किसी दूसरी वस्तुमें तो पाये नहीं जाते हैं, इसलिये आकार, दीप्ति, स्वभाव आदि धर्मोंमें थोड़ी बहुत समानता होने पर भी किसी एक वस्तुके द्वारा दूसरी वस्तुका ठीक कथन तो नहीं हो सकता है, फिर भी दृष्टान्तद्वारा दूसरी वस्तुका कुछ न कुछ अनुभव या परिज्ञान अवश्य हो जाता है। इसलिये इस प्रक्रियाको उपमामें लिया जाता है। परंतु यह प्रक्रिया उन्हीं पदार्थोंमें घटित हो सकती है जो इन्द्रियगोचर हैं। सिद्धपरमेष्ठी तो अतीन्द्रिय है। अरहंत परमेष्ठीका शरीर इन्द्रियगोचर होते हुए भी उनकी पुनीत आत्माका हम संसारी जन इन्द्रियज्ञानके द्वारा साक्षात्कार नहीं कर सकते हैं। इसलिये उपमाद्वारा उनका परिज्ञान होना असंभव है। उन्हें यदि कोई भी सञ्चित उपमा दी जा सकती है, तो उन्हींकी दी जा सकती है जो कि सर्वथा छद्मस्य क्षान्तियोंके अप्रयत्न हैं। अतः सिद्ध और अरहंत परमात्माको अनुपम अर्थात् उपमा-रहित कहना सर्वथा युक्ति-युक्त है। 'उप' का अर्थ पास भी होता है, अर्थात् ऐसा कोई पदार्थ, जिसके लिये उसकी उपमा दी जाती हो, पासका अर्थात् उसका ठीक तरहसे बोध करानेवाला, होना चाहिये। परंतु संसारमें ऐसा एक भी पदार्थ नहीं है जिसके द्वारा हम सिद्ध और अरहंत परमेष्ठीके स्वरूपकी तुलना कर सकें। अतएव वे अनुपम हैं।

आत्मोत्पन्न सुख—जिसके द्वारा आत्मा, शान्ति, संतोष या आनन्दका चिरकाल-तक अनुभव करे उसे सुख कहते हैं। संसारी जीव कोमल स्पर्शमें, विविध-रस-परिपूर्ण उत्तम सुखादुःखोंके स्वादमें, वायुमण्डलको सुरभित करनेवाले नानाप्रकारके पुष्प, इत्र, तैल

१ लोकें तत्त्वज्ञो बर्ध कृत्स्नोऽयन्यो न विद्यते। उपमयित तथेन तस्मान्निरूपम स्मृतम्।  
जयव अ पृ १२४९

२ अइस्यमाद समुत्त विसयातदि अणोवममपात। अन्वुच्छिण्य च सुह सुदुबुओणियापिदाण ॥ प्रवच १, १३०  
म पर चाया सहिय निच्छिण्य बध-कारण विसम। ज इदिदुहि लद्ध त सोत्त दुक्कमेव तथा ॥ प्रवच २, ७६.  
कर्म पर क्को साते दु ष्छेत्ततोदये। पाप बलि सुसेजास्या थ दानाकाङ्क्षा स्मृता ॥ रत्नक १, १२

आदि सुगन्धित पदार्थोंके सूखनेमें, रमणीय रूपोंके अवलोकनमें, श्रवण-सुख-कर संगीतोंके सुननेमें और चित्तमें प्रमोद उत्पन्न करनेवाले अनेक प्रकारके विषयोंके चिन्तनमें आनन्दका अनुभवसा करता है, और उससे अपनेको सुखी भी मानता है। पर यथार्थमें देखा जाय तो इसे 'सुख' नहीं कह सकते हैं। सुख जिसे कहना चाहिये वह तो आकुलताके अभवर्म ही उपलब्ध हो सकता है। परंतु इन सब विषयोंके ग्रहण करनेमें आकुलता देखी जाती है, क्योंकि प्रथम तो इन्द्रिय-सुखकी कारणभूत सामग्रीका उपलब्ध होना ही अशक्य है, इसलिये आकुलता होती है। देववशात् उक्त सामग्री यदि मिल भी जाय तो उसे चिरस्थायी बनानेके लिये और उसे अपने अनुकूल परिणमनेके लिये चिन्ता करनी पड़ती है। इतना सब कुछ करने पर भी उस सामग्रीसे उत्पन्न हुआ सुख चिरस्थायी ही रहेगा, यह कुछ कहा नहीं जा सकता है, क्योंकि संसारमें न किसीका सुख चिरस्थायी रहा है और न कोई प्राणी ही। फिर इस सुखमें रोग, शोक, रघ्विवियोग, अनिष्टसंयोग आदि निमित्तोंसे सदा ही संकटों वाधाएं उपस्थित होती रहती हैं, जिनसे वह सुख सामग्री ही दुखकर हो जाती है। यदि इतनेसे ही चस होता, तो भी ठीक था। पर वह सुख पापका बीज है, क्योंकि संसारमें सुखकी सामग्री परिमित है और उसके ग्राहक अर्थात् उसके अभिलाषी असंख्य हैं। अतः जो भी व्यक्ति सुखकी आवश्यकतासे अधिक सामग्री एकत्रित करता है, यथार्थतः देवा जाय तो, वह दूसरोंके न्याय-प्राप्त अंशको छीनता है। इसलिये यह सुख पापका बीज है। फिर यह सुख आत्ममादि निमित्तोंसे अनेकों जीवोंकी हिंसा करनेके बाद ही तो उपलब्ध होता है, अतः कर्मवन्धका कारण भी है। अतः यह इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाला सुख, सुख न होकर यथार्थमें दुख ही है। किंतु जो आनन्द, जो शान्ति, स्मार्धन है, अर्थात्, बाह्य पदार्थोंकी अपेक्षा न करके केवल आत्मासे उत्पन्न होती है, बाधा-रहित है, अविच्छिन्न एक धारासे प्रवाहित हो कर सदाकाल स्थायी है, नवीन कर्मवन्ध करानेवाली भी नहीं है, दूसरोंके अधिकार नहीं छीननेसे पापका बीज भी नहीं है, उसे ही सच्चा सुख कहा जा सकता है। सो ऐसा आत्मोत्पन्न, अनन्त सुख सिद्ध और अरहंत परमेष्ठीके ही संभव है। अतः उक्त विशेषण देना सार्थक एवं समुचित ही है।

अनवध—अवध, पाप या दोषको कहते हैं। गुणस्थानकमसे आत्माके क्रमिक-विकाशको देखते हुये यह भलीभांति समझमें आ जाता है कि ज्यों ज्यों आत्मा विशुद्धि-मार्गपर अग्रेसर होता जाता है, ज्यों ज्यों ही उससे मोह, राग, द्वेष, काम, क्रोध, मान, माया, मत्सर, लोभ, वृष्णा आदि विकार-परिणति अपने आप मन्द या क्षीण होती हुई चली जाती है। यहाँ तक कि एक वह समय आ जाता है जब वह उन समस्त विकारोंसे रहित हो जाता है। इसी अवस्थाको मंगलकारेण अतवद्य या निर्दोष शब्दसे प्रगट किया है।

केवलप्रभौघनिजितदुर्नयतिमिरं—अन्य दृष्टिभेदोंकी अपेक्षा-रहित केवल एक दृष्टि-

१ नह एए तह अने पतेन दुण्णना णया सन्ने। स त १, १९ निरेवशा नया णिया सापेसा वस्तु तेऽर्थ्यत्त्। जा मी १०८ तदेने गत्त प्रतिपत्ति प्रमागए। एरु धर्म-प्रातिपत्तिर्नयं। त प्रत्यनीक-प्रतिपत्तेरो दुण्य केवल-विपक्ष निरोध-दशनेन स्व पक्षाभिनिवेशात्। अट्टश का १०६ अर्थस्यनिरूपणं धी प्रमाण तद्व्याधी। नयो धर्मान्तरापेक्षी दुण्यस्तथिराकृति ॥ अष्टम पृ २९०

भेदको ही दुर्ग्य कहते हैं। इससे पदार्थका बोध तो होता है, परन्तु वह बोध केवल पक्षयादी रहता है। इसमें प्राणीमात्र किसी पदार्थकी समीचीनताका अनुभव नहीं कर सकते हैं। इसलिये इनके द्वारा पदार्थको जानने हुए भी उसके विषयमें जाननेवाले अन्ये ही बने रहते हैं, क्योंकि इस दृष्टि-भेदमें पदार्थ जितने अक्षय प्रतिभासित होता है, पदार्थ केवल उतना ही नहीं है, वह तो उसकी केवल एक अवस्था ही है। पदार्थ तो उस जाने हुए अक्षय और भी कुछ है। और यह दृष्टि-भेद पदार्थके उन अंशोंकी अपेक्षा ही नहीं करता है, बल्कि अपने द्वारा ग्रहण किये हुए अक्षय ही उस पदार्थकी समग्रता समझ लेता है। अतएव वह दृष्टि-भेद पदार्थका प्रकाशक होने हुए भी अन्धकारके समान है। मगलकारण इसी दृष्टिको सामने रखकर अन्य दृष्टिभेदोंकी जोक्षा-नशित एक दृष्टि-भेदको 'दुर्ग्य-तिमिर' कहा दी है। इसे सिद्ध और अरहंत परमेश्रितने अपने केवलज्ञानरूप सूर्यके प्रभा-पुंजसे जीत लिया है, क्योंकि केवलज्ञानरूप सूर्यमें केना एक भी दृष्टि-भेद नहीं है जिसका समन्वय नहीं होता है, अर्थात्, उसमें सभी दृष्टि-भेदोंका समन्वय तो जाना है। अतएव वह पदार्थका पूर्ण प्रकाशक है। सूर्यके उदित होने पर जिनप्रकार अन्यकार विलीन हो जाता है, उसीप्रकार केवलज्ञानरूपी सूर्यके प्रभा-पुंजके सामने ये दृष्टिया नहीं ठहर सकती हैं। अतएव केवलज्ञान-विभूषित सिद्ध और अरहंत परमेश्रितको 'केवलप्रभोवनिजितदुर्ग्यतिमिर' यह विशेषण देना युक्तियुक्त ही है।

जिन—मोह या मिथ्यात्व आत्माका सबसे अधिक अहित करनेवाला है। इसके यक्षमें दोतर ही यद जीव अनादि-कालसे आत्म-स्वरूपको भूला हुआ ससारमें नटक रहा है। जा इस जीवको उपदेशादिकका निमित्त मिलता है और उससे 'स्व' न्या है, 'पर' न्या है, 'हित' न्या है, 'अहित' न्या है, इसका बोध करके आत्म-कल्याणकी ओर उसकी प्रवृत्ति होने लगती है, परिणामोंमें इतनी अधिक पवित्रता आ जाती है, कि वह केवल अपने स्वार्थकी पुष्टिके लिये दूसरोंके न्याय-यात अतिकारोंको छीन्नेसे ग्लानि करने लगता है, उसके पछिले गये हुए कर्म उलके होते लगते हैं, तथा नवीन तमोकी स्थिति भी कम पड़ने लगती है, सामारिक कामोंको करते हुए भी उनमें उसे स्वभावतः अस्विकार अनुभव होने लगता है, तब तब समझना चाहिये कि यह जीव सम्यग्दर्शनके तन्मुख हो रहा है। फिर भी ऊपर जितने भी कारण घतलये हैं, वे सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके समर्थ कारण नहीं हैं। इनके होते हुए यदि मिथ्यात्व या मोहता उपशम करनेमें समर्थ ऐसे अय-करण, अपूर्वकरण और अनिष्टिकरण-रूप परिणाम होते हैं तो समझना चाहिये कि यह जीव सम्यग्दर्शनको पा सकता है, इनके बिना नहीं। क्योंकि इन परिणामोंमें ही मिथ्यात्वके नष्ट करनेकी सामर्थ्य है। इसतरह जब यह जीव अय-करणरूप परिणामोंको उल्लंघन करके अपूर्वकरणरूप परिणामोंको प्राप्त होता है, तब यह जिनत्वकी पहिली सीढ़ी पर है, ऐसा समझना चाहिये। यहाँ से 'जो कर्मरूपी शत्रुओंको जीते उसे जिन कहते हैं', इस व्याख्याके अनुसार, जिनत्वका प्रारम्भ होता है। इसके

'मगलप्रदेश-निर्णय' निम्न धारि-कर्म-भय-पटल विनय-श्रुती-मूलान्त शानादि-नव-केवल-लक्षित-वला विन । गो. जी., नी म दी, गा ? अनेर विम म गहन-दु उ-भाषण-हेतुर कर्मारतीरु जयति निर्जलयतीति विना । गो. जी., म प दी., गा १.

चारह-अंगरिगञ्जा विपलिय-मल-मूढ-दंसणुत्तिलया ।  
विविह-वर-चरण-भूसा पसियउ सुय-देवया सुइं ॥ २ ॥  
सयल-गण-पउम-रविणो विविहद्वि-विराइया विणिस्संगा ।  
णीराया वि कुराया गणहर-देवा पसीयंतु ॥ ३ ॥  
पसियउ महु धरसेणो पर-चाइ-गओह-दाण-वर-सीहो ।  
सिद्धंतामिय-सायर-तरंग-संघाय-धोय-मणो ॥ ४ ॥

आगे जैसे जैसे कर्म-शत्रुओंका अभाव होता जाता है वैसे ही वैसे जिनत्व धर्मका प्रादुर्भाव होता जाता है, और वारहवें गुणस्थानके अन्तमें जब यह जीव समस्त धारिता कर्मोंको नष्ट कर चुकता है तब पूर्णरूपसे 'जिन' सदाको प्राप्त होता है। सिद्ध परमेश्रित तो समस्त कर्मोंसे रहित हैं, इसलिये अरहंत और सिद्ध परमेश्रित कर्मशत्रुओंके जितनेसे साक्षात् जिन है, ऐसा समझना चाहिये।

इसप्रकार शास्त्रारम्भमें अमन्त आदि विशेषणोंसे युक्त अरहंत और सिद्ध दोनों परमेश्रितोंको नमस्कार किया है ॥ १ ॥

जो श्रुतज्ञानके प्रसिद्ध वारह अंगोंसे ग्रहण करने योग्य है, अर्थात् गारह अंगोंका समूह ही जिसका शरीर है, जो सर्व प्रकारके मल ( अर्थात् चार ) और तीन मूढताओंसे रहित सम्यग्दर्शन-रूप उन्नत तिलकसे विराजमान है और नाना-प्रकारके निर्मल चरित्र ही जिसके आभूषण है, ऐसी भगवती श्रुतदेवता चिरकाल तक प्रसन्न रहो ॥ २ ॥

जो सर्व प्रकारके गण, मुनिगण अर्थात् ऋषि, यति, मुनि और अमगार, इन चार प्रकारके संघरूपी कमलोंके लिये, अथवा, मुनि, आर्थिका, श्रावक और श्राविका इन चार प्रकारके संघरूपी कमलोंके लिये सूर्यके समान है, जो बल, बुद्धि इत्यादि नाना प्रकारकी ऋद्धियोंसे विराजमान हैं, जो अन्तरंग और बहिरंग दोनों प्रकारके परिग्रहसे रहित हैं और जो चीतरणी होने पर भी समस्त भूमण्डलके हितैषी हैं, ऐसे गणवार देव प्रसन्न होंवें।

इस मगलरूप गाथोंमें 'णीराया वि कुराया' पदमें विरोधाभास अलंकार है। जो नीराय अर्थात् चीतरण होता है, उसके कुरितत अर्थात् खोटा राग कैसे हो सकता है? इस विरोधका परिहार इस प्रकार कर लेना चाहिये कि गणधरदेव 'णीराया वि' अर्थात् चीतरण होने पर भी 'कुराया' अर्थात् भूमण्डलमें रहनेवाले समस्त प्राणियोंके हितैषी होते हैं। अथवा, चीतरण होने पर भी अभी पृथ्वी-मण्डल पर विराजमान हैं, मोक्ष को नहीं मर्गे ॥ ३ ॥

जो परचार्दीरूपी दार्थियोंके समूहके मदका नाश करनेके लिये श्रेष्ठ सिद्धके समान हैं, अर्थात् जिसप्रकार सिद्धके सामने मदेन्मत्त भी दायी नहीं ठहर सकता है, किंतु वह गलितमद होकर भाग खड़ा होता है, उसीप्रकार जिनके सामने अन्य-मतावलम्बी अपने आप गलितमद हो जाते हैं, और सिद्धान्तरूपी अमृत-सागरकी तरंगोंके समूहसे जिनका मन धुल गया है,

पणमामि पुष्कलंते दुर्बलंते दुष्णयंघचारन्वि ।  
भग्न-सिन्ध-भग्न-कंठयमिमि-मभिह-चंडं सया दंते ॥ ५ ॥  
पणमह कय-भूय-चलि भूयचलि केस-चाम-परिभूय-चलि ।  
विणिहय-चम्मह-पसरं वृद्विविय-विपल-भाण-चम्मह-पसरं ॥ ६ ॥

मगल-णिमित्त-हेतु परिमाणं गण तद्य य कृत्वार ।  
वागरिय छ वि पच्छा नरचाणउ नयमाश्रियो ॥ १ ॥

अर्थात्, सिद्धान्तके अवगाहत्से जिन्होंने दिव्यकर्मो प्राप्त कर लिया है, ऐसे श्री धर्मेन आचार्य सुभ पर प्रसन्न हों ॥ ३ ॥

जो दुष्कृत अर्थात् पापोंका अन्त करनेवाले हैं, जो दुर्नयस्वपी अन्धकारके नाश करनेके लिये सूर्यके समान हैं, जिन्होंने मोक्षमार्गके संटकोंका ( मिथ्योपदेशादि मति-बन्धक कारणोंको) भुन अर्थात् नष्ट कर दिया है, जो कुरियोंकी ममिति अर्थात् ममाने अधिपति हैं, और जो निरन्तर फंसेट्टियोंका इमन कर्मनेत्रांते हैं, फंसे पुण्यद्वल तत्कारणोंमें ( नीरसेन ) प्रणाम करता ह ॥ ४ ॥

जो भूत अर्थात् प्राणिमात्रमे पूजे गये हैं, अथवा, भूत-नामक व्यन्त-व्रतितक श्रौचमे पूजे गये हैं, जिन्होंने अपने केशपाशा अर्थात् मयत-मुन्वर शालोंमे बलि अर्थात् अन्न आदिये उदयन होनेवाली शिथिलताको परिभूत अर्थात् निरम्भन कर दिया है, जिन्होंने कामदेवके प्रसादको नष्ट कर दिया है, और जिन्होंने निर्मल-बालके डारा प्रसन्नयके प्रचारको बटा लिया है, ऐसे भूतबलि नामक आचार्यको प्रणाम करते ॥ ६ ॥

त्रिओपार्थ—जिस समय भूतयलि आचार्यमे अपने गुरु धरसेन आचार्यमे कित्वाल्-ग्रन्थ पढ़कर समाप्त किया था उस समय भूत-नामक व्यन्त देख्येने उनकी पूजा की थी । इसका उल्लेख धयलामें आगे स्वय किया गया है ।

भंगल, निमित्त, हेतु, परिमाण, नाम और कर्ता, इन छह अधिकाओंका व्याख्यान करनेके पश्चात् आचार्य शास्त्रका व्याख्यान करें ।

त्रिओपार्थ—शास्त्रके प्रारम्भमें पहिले भंगलाखरण करना चाहिये । पीछे जिन निमित्तमे शास्त्रकी रचना हुई हो, उस निमित्तका वर्णन करना चाहिये । इसके बाद शास्त्र प्रणयनके प्रत्यक्ष और परस्पर-हेतुका वर्णन करना चाहिये । अनन्तर शास्त्रका प्रमाण बनाना चाहिये । फिर ग्रन्थका नाम और आक्षायकमेसे उसके मूलकर्ता, उत्तरकर्ता और परस्पर-कर्ताओंका उल्लेख करना चाहिये । इसके बाद प्रत्येका व्याख्यान करना उचित है । अंत्यखनाका यह क्रम आचार्य

१ मगल-करण हेतु मयल ममाण गण स्वारा । परम वि य कटिवा एण आशरिण परिमाणा ॥  
वि. प. १, ५.  
गार्थवा पश्चान्निकाये जयनेनार्चयन्त्याप्यया यदोषकथ्यते । पणाम भांमिनेन्द्रया मदानकथना रसन ।

इति गणमश्रिय-रंभरागयं मोगावश्रिय पुत्रवश्रियायासाणमगं वि-ग्यप-  
हेतु वि पुष्कलंश्रियो मंगलादीनं छनं यहाण्यां पद्मनाडं सुनमह—  
णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो अड्डरियाणं ।  
णमो उवज्झायाणं, णमो लेणं सन्नसहूणं ॥ १ ॥

रूपभितं नुनं मंगल-निमित्त-हेतु-परिमाण-नाम-रुगणनं यहाण्यां पद्मनां पद्मनां ?  
य, बालान्ध-नुनं १ देवामामिभयशो ।

परंपरामे चन्द्र भा ददा है, ना इन देवोंमें भी इन्ने कर्ममे राजराज किरा गगा है ॥ १ ॥

अन्तर्गत पणमयं भये ह्य इव न्यासो मयं घाल्य करके, और पूर्वोक्तार्थके भावात् अर्थात् स्वराज पर्यगतात् पुनराय करवा करवा करवा है, ऐसा ममतकर पुनरुन आचार्य मंगलदिक छठी अधिकाओंका मकलान द्या गल करनेके लिये मगल-न्य करी है—

विशेषोंके मन्तर है, जिन्होंने मन्तर है, अन्तर्गत है, अन्तर्गत है, उग-  
रायोंके मन्तर है, और लोकमें ली मन्तुकेकी मन्तर है ॥ १ ॥

त्रिओपार्थ—यही मंगलान मयं-कार मयंके मलमे प्रविष्ट है । इसके अन्तिम भागमें जो 'लेण' अर्थात् लोकमें और 'मय' अर्थात् मयं पर अये है, उतका भंगल 'जयो अरिहंताणं' आदि प्रदक मन्तरात् मयंके मय कर देना चाहिये । इसका मन्तरात् आचार्यमे स्वयं मयं मन्तर किया है ।

मंत्रिका—यह मंत्र, मंगल, निमित्त, हेतु, परिमाण, नाम और कर्ताका मकलान प्रकरण करना है, यह फेरे मय है ? शास्त्रकारण यह अभिप्राय है कि इस मयमें अब कि केवल मंगल अर्थात् एष्ट-श्रेयोंको मन्तरात् किया गया है अब उपर्ये निमित्त आदि अन्य पांच अधिकाओंका मयिकरण करे मय है ।

मामथान—यह मंगलान 'मल प्रन्ध' मयके ममल देवामादीक होनेसे मंगलादि छठी अधिकाओंका ममलान प्रकरण करना है, इन्तर्धे उरुफुल सोहा डीक मदी है ।

त्रिओपार्थ—श्री एष्ट अधिभूत निमित्तके एष्टमेका कलत्राया ममलान विषयोंकी मूलना रहे उये देवामादीक मय करते है । इसलिये 'नामप्रयत्नकर' के ममल यह मंगलान्तर

१ इमं मन्तर एष्ट-मन्तर-

'अदे देव देवामाय, म एष्टमेका ममली देन भाती । य लो पु. १६६. एष्ट देवामादिमा लो' एष्टमेका ममली एष्टमेका ममल एष्टमेका ममल । म. लो १ १६६. एष्ट देवामादि-  
एष्ट, देवदेवामादि परिमो भाती । म. लो १. १६६. एष्ट देवामादिम, अदेन अचार्यमेन यामादिमो अदे । म लो १ १६६ देवामादिमो भोपाकी । म भिरियो । एष्टमेकादिमो,



तस्य धातु-निष्पत्तेर-ण्य-एत्य-णिरुत्ति-अणियो-द्वारेहि मंगलं परुविज्जिदि । तस्य धातु 'भू' मत्तायां 'इवेवमाहो सयलत्थ-वत्तूणं सदाणं मूल-कारणभूदो । तस्य 'मति' उदि अणेण धातुणा णिप्पणो मंगल-सदो । धातु-परुत्तणा किमहुं कीरेदे ? ण,

भी देशामर्थक है । कल्पद्रुमके कल्याणकल्प नामक प्रथम उद्देश्यके प्रथम सूत्रमें 'तालपलम्य' पद आता है, जिसका भाव यह है कि ताडवृक्षको आदि लेकर जितनी भी वनस्पतिकी जातियाँ हैं, उनके अभिन्न (बिना तेड़े या काटे गये) और अपक या कच्चे अर्थात् सवित्त मूल, पत्र, फल, पुष्प आदिका लेना साधुको योग्य नहीं है। इस सूत्रमें तो केवल 'तालपलम्य' पद ही दिया है, फिर भी उसे उपलक्षण मानकर समस्त वृक्ष-जाति और उसके पत्र पुष्पादिकोंका ग्रहण किया गया है। उसीप्रकार यह तमस्कारत्मक सूत्र भी देशामर्थक होनेसे मंगलके साथ अधिष्ठान निमित्त, हेतु, परिमाण, नाम और कर्तृका भी बोधक है।

उन उक्त मंगलादि छठ अधिकारोंमें से पहले धातु, निक्षेप, नय, एकार्थ, निरुक्ति और अणुयोजके द्वारा 'मंगल' का प्रन्पण किया जाता है। उनमें 'भू' धातु सत्ता अर्थमें है, इसको आदि लेकर समस्त अर्थ-वाचक शब्दोंकी जो मूल कारण हैं उन्हें धातु कहते हैं। उनमेंसे 'मति' धातुसे मंगल शब्द निष्पन्न हुआ है। अर्थात् 'मति' धातुमें 'अलच्' प्रत्यय जोड़ देने पर मंगल शब्द बन जाता है।

अंका—यहां धातुना निरूपण किसलिये किया जा रहा है ? शंकाकारका यह अभिप्राय है कि यह शब्द सिद्धान्त-विषयका प्ररूपक है, इसलिये इसमें धातुके कथनकी कोई आवश्यकता नहीं थी। इसका कथन तो व्याकरण-शास्त्रमें करना चाहिये।

समाधान—ऐसी शंका करना ठीक नहीं है, क्योंकि, जो शिष्य धातुसे अपरिचित है, अर्थात् किस धातुसे जैन शब्द बना है इस बातको नहीं जानता है, उसे धातुके परिज्ञानके

पर आवश्यकता है ॥ मूल्या १२२ 'द्वामासिप' इति स्थितिकये वाच्ये तत्रयमनयोपदिष्टमा-  
पलाभिति नून देशामर्थम् । नापपरिग्रहेऽस्य चंलर परामर्शकं बालपरिग्रहाणामुपलक्षणार्थमुपात्तम् ।  
यत् 'तालका' ण रूपदि' । ति मने तालशब्दो वनस्पत्येऽस्य तन्निक्षेपस्य षणमर्शको  
तत्परिणामोपलक्षणम् गरीत । तथा चोक्तं च्ये, हरिद्वनगोमिशिच्छ गुप्ता वडी लदा य कस्या य । एन  
पत्तरीओ तालांशं आदिष्टा ॥ तालेऽस्लैरे ति य तलो जादो ति उलियो न ति । तालाणि तव ति य  
तत्परिण हरि णाम ॥ तालस्य पल्लव तालप्रलम्बम् । प्रल्लव च द्विः, मूलप्रल्लव उग्रप्रल्लव न । तत्र मूलप्रल्लव  
म्यप्रल्लवो त्प्रल्लवः । ततोऽन्यदसल्लवम्, अतुरप्राल्लवपुष्पाब्जादिभ्यः । वनस्पतिरुच्यदिकमसुसोक्तु  
भिर्न-तानामार्गो न न इत्येते गति । यथा " तालपल्लव ण रूपदि ति " इत्यत्र त्रुंअर्थतथा सत्तोऽपि बाल  
परिग्रहो षणमर्शो गरीतु न युजते इत्यानेलोनेति संोऽर्थ इति तापर्यम् । तथा चोक्तम्, तदेषामर्शकं  
प्राणोऽल्यमिति नितम् । उचोऽश्यादिशब्दोऽत तालप्रल्लवमन्वम् ॥ मूलाः ४२, अह्वा षणमर्शो गृह्य  
देशारण्यपिउक्तिरिग्नो तद्वेऽपुडिकम्पणे णाम पञा षणमर्शो ॥ मूलाः ४२, अह्वा षणमर्शो गृह्य  
तच्चणिया नत्रोर्ति । तेषामर्शको नु मृग्या षेणपत्तया ॥ ४३ म ८५  
'मोक्ता' षा ३ ५, ७०.

अणवगय-धातुस्य सिस्सस अत्थावगमामणुवचीदो । उक्तं च—

शब्दात्पदसिद्धिः पदसिद्धेरर्थनिर्णयो भवति ।

अर्थात्तत्त्वज्ञानं तत्त्वज्ञानात्परं श्रेय ॥ २ ॥ इति ।

णिच्छये णिष्णाए खिवदि ति णिक्लेवो । सो वि छव्विहो, णाम-इवणा-दव्व-  
खेच-काल-भाव-मंगलमिदि ।

उच्चारियम-अपदं णिमखेव वा ऋय तु दडुण ।

अर्थं णयंति तच्चताभिदि तदो ते णया भणियो ॥ ३ ॥

बिना विवक्षित शब्दके अर्थका ज्ञान नहीं हो सकता है। और अर्थ-बोधके लिये विवक्षित शब्दके अर्थका ज्ञान करना आवश्यक है। इसलिये यहां पर धातुका निरूपण किया गया है। कहा भी है—

शब्दसे पदकी सिद्धि होती है, पदकी सिद्धिसे उसके अर्थका निर्णय होता है, अर्थ-निर्णयसे तत्वज्ञान अर्थात् हेयोपादेश विवेककी प्राप्ति होती है, और तत्वज्ञानसे परम कल्याण होता है ॥ २ ॥

जो किसी एक निश्चय या निर्णयमें क्षेपण करे, अर्थात् अनिर्णीत वस्तुका उसके नामादिकद्वारा निर्णय करायें, उसे निक्षेप कहते हैं। वह नाम, स्थापना, डब्य, क्षेप, काल और भावके भेदसे छह प्रकारका है, और उसके संबन्धसे मंगल भी छह प्रकारका हो जाता है, नाममंगल, स्थापनामंगल, डब्यमंगल, क्षेत्रमंगल, कालमंगल, और भावमंगल।

'उच्चारण क्रिये गये अर्थ पद और उसमें क्रिये गये निक्षेपको देखकर, अर्थात् समझकर, पदार्थको ठीक निर्णयतक पहुंचा देते हैं, इसलिये वे नय कहलाते हैं' ॥ ३ ॥

विशेषार्थ--आगमके किसी श्लोक, गाथा, वाक्य अथवा पदके ऊपरसे अर्थ-निर्णय

२ श्लोकोऽय 'व्याकरणारणसिद्धि' इत्येतावन्मात्रपाठभेदेन गृह्य प्रमाचन्द्रत आकटागनन्यास-सिद्ध-  
हेमादिव्याकरणप्रथेयुपलभ्यते ।

२ उचोऽपि उक्तमनो ज चउभेएण होइ खलु इवण । ऋजे रादि णामादिसु त णिक्लो होवे सपणु ॥  
नय २६९. निविरुत्तए तेण तहिं तजो व निवरेवण व निक्खेवो । नियजो व निच्छजो वा खेवो नासो ति ज  
भणिय ॥ ति मा ९१२. निक्षेपण चात्तादेनामस्थापनादिभेदेऽन्यत व्यस्थापन निक्षेप । निक्षिप्यते नामादि-  
भेदेऽन्यतरथायतेऽनेनास्मादिति वा निक्षेप । ति मा. ९१२. म. टी.

३ णामणिद्धवणादो दव्वस्सेवाणि कालभाना य । इय उभेय भणिय मगलमाणदमजणण ॥

ति प. १, १८

४ जतिणुरि जक्खेहि अत्योव्वलद्वी होदि, तेसिमक्खराण कज्जातो अणपद णाम । जयव. अ पृ. १२.

५ गाथेय पाठभेदेन जयवथलायाभयुपलभ्यते । तथया, उच्चारियमि इ पदे णिक्लेव वा ऋय तु दडुण ।

अथ षयति ते तच्चदो वि तत्था णया भणिया । जयथ. अ पृ. ३०. मुत्त षय षयथो षय-मिन्नेवो य निनय-पमिद्धी ।

श्रु. क. पृ. ३०९.

इदि वयणादौ क्य-णिवखेवे दृङ्ण णयणमवदारो भवदि । को णयो गाम ?

णयदि ति णयो भाणो बहूहि गुण-पञ्चएहि ज दब्बं ।

परिणाम-खेत-कालत्तेसु अविणह सव्भावं ॥ ४ ॥

करनेके लिये पहले निर्दोष पद्धतिसे श्लोकादिकका उच्चारण करना चाहिये, तदनन्तर पदच्छेद करना चाहिये, उसके बाद उसका अर्थ कहना चाहिये, अनन्तर पद-निक्षेप अर्थात् नामादि विधिसे नयोंका अवलंबन लेकर पदार्थका ऊहापोह करना चाहिये। तभी पदार्थके स्वरूपका निर्णय होता है। पदार्थ-निर्णयके इस क्रमको इष्टिमं रखकर गाथान्तरसे अर्थ-पदका उच्चारण करके, और उसमें निक्षेप करके, नयोंके द्वारा, तत्त्व-निर्णयका उपदेश दिया है। गाथामें 'अथपद' इस पदसे पद, पदच्छेद और उसका अर्थ ध्वनित किया गया है। जितने अक्षरोंसे वस्तुका बोध हो उतने अक्षरोंके समूहको 'अर्थ-पद' कहते हैं। 'जिन्नेवं' इस पदसे निक्षेप-विधिकी, और 'अथ णयति तच्चंत' इत्यादि पदोंसे पदार्थ-निर्णयके लिये नयोंकी आवश्यकता बतलाई गई है ॥ ३ ॥

पूर्वोक्त वचनके अनुसार पदार्थमें किये गये निक्षेपको देखकर नयोंका अवतार होता है। शंका -- नय किसे कहते हैं ?

अनेक गुण और अनेक पर्यायोंसहित, अथवा उनकेद्वारा, एक परिणामसे दूसरे परिणाममें, एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रमें और एक कालसे दूसरे कालमें अधिनाश-स्वभावरूपसे रहनेवाले द्रव्यको जो ले जाता है, अर्थात् उसका ज्ञान करा देता है, उसे नय कहते हैं ॥ ४ ॥

विशेषार्थ -- आगमें द्रव्यका लक्षण दो प्रकारसे बतलाया है, एक 'गुणपर्ययवत् द्रव्यम्' अर्थात् जिसमें गुण और पर्याय पाये जाय उसे द्रव्य कहते हैं। और दूसरा 'उत्पाद-व्यय-द्रव्ययुक्तं सत्' व 'सद् द्रव्यलक्षणम्' जो उत्पत्ति, विनाश और स्थिति-स्वभाव होता है वह सत् है, और सत् ही द्रव्यका लक्षण है। यद्वा पर नयकी निरक्ति करते समय द्रव्यके इन

१ "अनन्त पर्यायान्तरस्य वस्तुन अन्यतम पर्यायाधिगम ऋव्ये जात्युत्पत्त्येकी निरस्य प्रयोगो नय इति अय वाक्य-नय तत्त्वार्थ-माय गत ।" जय १ अ १ २६ स्याद्वाद प्रतिमन्तार्थ विशेष व्यञ्जको नय । आ सी १०६ वस्तुन्येकान्तात्म परिरीथिन हेतुर्पणामाव्य-विशेषस्य याथास्य श्रपण-श्रवण-प्रयोगो नय । स सि १, ३३ प्रमाण-श्रकशितार्थ विशेष-श्ररूपको नय । त रा वा १, ३३ प्रमाणेन वस्तु-सङ्गहीतांशो नय । श्रुत विकृत्यो वा तादुरभिप्रायो वा नय । नानात्वमावेत्यो व्याहृत एकरिम्प रमापे वस्तु नयति प्राप्नोति वा नय । आ प १२१ जीवादीन् पदायानयति प्राप्नुवन्ति कारयति साधयन्ति निर्वर्तयन्ति उपलभयन्ति व्यञ्जयन्ति इति नया । स त म् १, ३५ ज णाणीण विषय्य मज मेय वस्तु-अम-सगहण । त इह णय पउच, णाणी गुण तेहि णाणेहि ॥ न च १७४

२ द्रव्य साक्षरखणिय उपाद व्यय-श्रवण सङ्गत । गुण पञ्चयासय वा ज त मणति सव्वणह ॥ पक्वा १०-अपीचर-सहविशुप्पाद व्यय-श्रवण-सङ्गत । गुण व सप जाय ज त द-ज ति वक्वति ॥ प्रक्व २, ३

तिथयार वयण सगह-विसेस पय्यार-मूळ-गयरणी ।

दवडिओ य पवजय-णयो य सेसा वियया सिं ॥ ५ ॥

दवडिय-णय-यई सुद्धा संगह-परूवणा विमयो ।

पडिखं पुण वयणय-णिच्छयो तस्स ववहारो ॥ ६ ॥

दोनों लक्षणोंपर दृष्टि रफ्तकी गई प्रतीत होती है। नय किसी विवक्षित धर्मद्वारा ही द्रव्यका बोध कराता है। नयके इस लक्षणका संकेत भी 'गुणपञ्चएहि' पदद्वारा हो जाता है। यह पद तृतीया विग्रहिके सहित होनेसे उसे द्रव्यके लक्षणमें तथा निरक्तिके साथ नयके लक्षणमें भी ले सकते हैं ॥ ४ ॥

तीर्थश्रुतोंके वचनोंके सामान्य-प्रत्तारका मूल व्याख्यान करतेवाला द्रव्यार्थिक नय है और उन्हीं वचनोंके विशेष-प्रत्तारका मूल व्याख्याता पर्यायार्थिक नय है। श्रेय सभी नय इन दोनों नयोंके विकल्प अर्थात् भेद है ॥ ५ ॥

विशेषार्थ -- जिनेन्द्रदेवने द्विपध्वनिके द्वारा जितना भी उपदेश दिया है, उसका, अभेद अर्थात् सामान्यकी मुख्यतासे प्रतिपादन करनेवाला द्रव्यार्थिक नय है, और भेद अर्थात् पर्यायकी मुख्यतासे प्रतिपादन करनेवाला पर्यायार्थिक नय है। ये दोनों ही नय समस्त विचारों अथवा शालोंके आधारभूत हैं, इसलिये उन्हें यहां मूल व्याख्याता कहा है। शेष सग्रह, व्यवहार, कसुसूत्र, शब्द आदि इन दोनों नयोंके अवन्तर भेद है ॥ ५ ॥

सग्रह नयकी प्ररूपणाको विषय करना द्रव्यार्थिक नयकी श्रुद प्रकृति है, और वस्तुके प्रत्येक भेदके प्रति शब्दार्थका निश्चय करना उसका व्यवहार है। अर्थात् व्यवहार नयकी प्ररूपणाको विषय करना द्रव्यार्थिक नयकी श्रुद प्रकृति है ॥ ६ ॥

विशेषार्थ -- वस्तु सामान्य-विशेष-धर्मालम्बक है। उनमेंसे सामान्य-धर्मको विषय करना द्रव्यार्थिक और विशेष-धर्मको (पर्यायको) विषय करना पर्यायार्थिक नय है। उनमेंसे सग्रह और व्यवहारके भेदसे द्रव्यार्थिक नय दो प्रकारका है। जो अभेदको विषय करता है उसे सग्रह नय कहते हैं, और जो भेदको विषय करता है उसे व्यवहार नय कहते हैं। ये दोनों ही द्रव्यार्थिक नयकी क्रमशः श्रुद और श्रुद प्रकृति हैं। जब तक द्रव्यार्थिक नय घट, पट आदि विशेष भेद न करके द्रव्य सत्त्वरूप है इसप्रकार द्रव्यको अभेरूपसे ग्रहण कराता है तब तक वह उसकी श्रुद प्रकृति समझनी चाहिये। इसे ही सग्रह नय कहते हैं। तथा सत्त्वरूप जो द्रव्य है, उसके जीव और अजीव ये दो भेद हैं। जीवके संसारी और मुक्त इसतरह दो भेद हैं। अजीव भी पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इस तरह पांच भेदरूप है। इस प्रकार उत्पत्तेपर प्रभेदोंकी अपेक्षा अभेदको स्पर्शी करता हुआ भी जब वह भेदरूपसे वस्तुको ग्रहण करता है, तब वह उसकी श्रुद प्रकृति समझनी चाहिये। इसीको व्यवहार नय कहते हैं।

१ पुनामारम्य चरामो गाथा मिद्धमेन-दिवार प्रणति म मतिरु णपदे णणंटे गाथाङ्क ३, ४, ५, १२ इति कथेणोपलव्यन्ते ।

मूल-निर्माण' पञ्चव गयस्स उडुडुह-वयण-विच्छेदो' ।  
तस्स दु सदादीया साह-पसाहा सुडुम-मेया ॥ ७ ॥  
उपञ्जति विथिति य भावा गियमेण पञ्चव-णयस्स ।  
दन्वडियस्स सन्वं सदा अणुपणमविणह ॥ ८ ॥

यहां पर इतना विशेष समझना चाहिये कि वस्तुमें चाहे जितने भेद किये जावें, परंतु वे मालूम नहीं होना चाहिये, क्योंकि वस्तुमें कालकृत भेदकी प्रधानतासे ही पर्यायार्थिक नयना अवतार होता है। द्रव्यार्थिक नयकी अणुद प्रकृतिमें द्रव्यभेद अथवा सत्ताभेद ही इष्ट है, कालकृत भेद इष्ट नहीं है ॥ ६ ॥

ऋजुसूत्र वचनका विच्छेदरूप वर्तमान काल ही पर्यायार्थिक नयका मूल आधार है, और शब्दादिक नय शब्दा-उपशायाकार उसके उत्तरोत्तर सूक्ष्म भेद हैं ॥ ७ ॥

विशेषार्थ — वर्तमान समयवर्ती पर्यायको विषय करना ऋजुसूत्र नय है। इसलिये जब तक द्रव्यगत भेदोंकी ही मुख्यता रहती है, तब तक व्यवहार नय चलता है, और जब कालकृत भेद प्रारम्भ हो जाता है, तभीसे ऋजुसूत्र नयका प्रारम्भ होता है। शब्द, समभिरूढ और पयभूत इन तीन नयोंका विषय भी वर्तमान पर्यायमान है। परंतु उनमें ऋजुसूत्रके विषयभूत अर्थके वाचक शब्दोंकी मुख्यता है, इसलिये उनका विषय ऋजुसूत्रसे सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतर माना गया है। अर्थात् ऋजुसूत्रके विषयमें लिग आदिसे भेद करनेवाला शब्दनय, शब्दनयसे स्वीकृत लिग, वचनवाले शब्दोंमें व्युत्पत्तिभेदसे अर्थभेद करनेवाला समभिरूढ नय, और पर्याय-शब्दको उस शब्दसे ध्यानित होनेवाले क्रियाकालमें ही वाचक माननेवाला पूर्वभूत नय समझना चाहिये। इसतरह ये शब्दादिक नय उस ऋजुसूत्र नयकी शाखा उपशाखा हैं, यह सिद्ध हो जाता है। अतएव ऋजुसूत्र नय पर्यायार्थिक नयका मूल आधार माना गया है ॥ ७ ॥

पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा पदार्थ नियमसे उत्पन्न होते हैं और नाशको प्राप्त होते हैं, क्योंकि, प्रत्येक द्रव्यमें प्रतिक्षण नवीन-नवीन पर्याय उत्पन्न होती है और पूर्व-पूर्व पर्यायोंका नाश होता है। किंतु द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा ये सदा अउत्पन्न और अविनष्ट स्वभाववाले हैं। उनका न तो कभी उत्पाद होता है और न कभी नाश होता है, ये सदाकाल स्थितिस्वभाव रहते हैं ॥ ८ ॥

विशेषार्थ — उत्पाद दो प्रकारका माना गया है, उसीप्रकार व्यय भी, एक स्वनिमित्त, और दूसरा परनिमित्त। इसका खुलासा इसप्रकार समझना चाहिये कि प्रत्येक द्रव्यमें आगम प्रमाणसे अन्त अणुश्लेष गुणके अविभागप्रतिच्छेद माने गये हैं, जो पडुगुणहानि और पडुगुणवृद्धिरूपसे निरन्तर प्रवर्तमान रहते हैं। इसलिये इनके आधारसे प्रत्येक द्रव्यमें उत्पाद

१ ' निमेषमरी ठाणं ' देसी ना ४, ३७

२ ' चन्द्रपूरणनविच्छेदो मूलाधारो येन नयानां ते पर्यायार्थिका । विच्छेद्यतोऽस्मिन् काल इति विच्छेदः ।  
'नय'प्रवचन नाम वर्तमानवचन, तस्स पिच्छेत्तु अउत्पन्नवचन-शब्द । स कालो मूल आधारो येना नयानां ते पर्यायार्थिकानि । परत्रयामने नय निमित्तः ।

तत्थ गेगम-संगह-ववहार-णएसु सव्वे एदे गिक्खेवां हवति तच्चिक्सयम्मि तन्भव' सारिच्छ सामण्णम्मिह सन्व-गिक्खेव-संभवादो। कथं दन्वडिय-णये भाव-गिक्खेवस्स संभवो ? ण, वडुमाण-पञ्जायोवलविषयं दन्वं भावो इदि दन्वडिय-णयस्स वडुमाण-

और व्यय हुआ करता है। इसीको स्वनिमित्तोत्पाद-व्यय कहते हैं। उसीप्रकार पर-निमित्तसे भी द्रव्यमें उत्पाद और व्ययका व्यवहार किया जाता है। जैसे, स्वर्णकारने कड़ेसे कुण्डल बनाया। यहाँ पर स्वर्णकारके निमित्तसे कड़ेरूप सेनेकी पर्याय नष्ट होकर कुण्डलरूप पर्यायका उत्पाद हुआ है और इसमें स्वर्णकार निमित्त है, इसलिये इसे पर-निमित्त उत्पाद-व्यय समझ लेना चाहिये। इसीप्रकार आकाशादि निष्क्रिय द्रव्योंमें भी पर-निमित्त उत्पाद और व्यय समझ लेना चाहिये, क्योंकि आकाशादि निष्क्रिय द्रव्य दूसरे पदार्थोंके अवगाहन, गति आदिमें कारण पड़ते हैं, और अवगाहन, गति आदिमें निरन्तर भेद दिखाई देता है, इसलिये अवगाहन, गति आदिके कारण भी भिन्न होता चाहिये। स्थित वस्तुके अवगाहनमें जो आकाश कारण है उससे भिन्न दूसरा ही आकाश क्रिया-परिणत वस्तुके अवगाहनमें कारण है। इसतरह अवगाहमान वस्तुके भेदसे आकाशमें भेद सिद्ध हो जाता है, और इसलिये आकाशमें पर-निमित्तसे भी उत्पाद-व्ययका व्यवहार किया जाता है। इसीप्रकार धर्मादिक द्रव्योंमें भी पर-निमित्तसे उत्पाद और व्यय समझ लेना चाहिये। इसप्रकार यह सिद्ध हो गया कि पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा पदार्थ उत्पन्न भी होते हैं और नाशको भी प्राप्त होते हैं। इसप्रकार अन्त-कालसे अन्त-पर्याय-परिणत होते रहते पर भी द्रव्यका कभी भी नाश नहीं होता है, और न एक द्रव्यके शुण-यर्म बदलकर कभी दूसरे द्रव्य-रूपही हो जाते हैं। अतएव द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा पदार्थ सर्वदा स्थिति-स्वभाव हैं ॥ ८ ॥

उन सत नयोंमें से नैगम, सप्रह और व्यवहार, इन तीन नयोंमें नाम, स्थापना आदि सभी निक्षेप होते हैं, क्योंकि, इन नयोंके विषयभूत तद्रव-सामान्य और सादृश्य-सामान्यमें सभी निक्षेप सभव हैं।

शंका — द्रव्यार्थिक नयमें भावनिक्षेप कैसे संभव है ? अर्थात् जिस पदार्थमें भावनिक्षेप होता है वह तो उस पदार्थकी वर्तमान पर्याय है, परंतु द्रव्यार्थिक नय सामान्यको विषय करता है, पर्यायको नहीं। इसलिये द्रव्यार्थिक नयमें, अर्थात् द्रव्यार्थिक नयके विषयभूत पदार्थमें, जिसप्रकार दूसरे निक्षेप घटित हो जाते हैं उसप्रकार भावनिक्षेप घटित नहीं हो सकता है। भावनिक्षेपका अन्तर्भाव तो पर्यायार्थिक नयमें संभव है ?

समाधान — ऐसा नहीं है, क्योंकि, वर्तमान पर्यायसे युक्त द्रव्यको ही भाव कहते हैं, और वह वर्तमान पर्याय भी द्रव्यकी आरम्भसे लेकर अन्ततककी पर्यायोंमें आ ही जाती है। तथा द्रव्य, अर्थात् सामान्य, द्रव्यार्थिक नयका विषय है जिसमें द्रव्यकी विकालवर्ती पर्याय अन्तर्नि-

१ गेगम-संगह-ववहारा सव्वे इच्छति । कसाय-पाहुड-चुणिण (जयध. ज.) पृ. ३०

२. सामान्य देधा, तिर्यग्भूता भेदात् । सत्त-परिणामस्तिर्यह, सण्ड-सुण्डादियु गोलमर । पापविगत-व्यापि-द्रव्यसूचता, मृदिन सत्तादियु । प. सु. ४, ३-५

मवि आरंभणहुडि आ उवरमादो । संगेहे सुद्ध-द्वन्द्विए वि भाव-णिकखेवस्स अत्थितं  
ण विरुद्धेदे सुक्खिख-णिकखित्तसेस-विसेस-त्ताए सव्व-कालमवट्ठिदाए भावब्भुव-  
गमादो ति ।

णाम ठवणा दविए ति एस दव्वट्ठियस्स णिकखेवो ।

भावो दु पज्जवट्ठिय-पल्लवणा एस परमट्ठो ॥ ९ ॥

अणेण सम्मइ-सुत्तेण सह कथमिदं वसखाणं ण विरुद्धेदे ? इदि ण, तत्थ  
पजायस्सलक्खण-वड्डणो भावब्भुवगमादो ।

हित है, अतएव द्रव्यार्थिक नयमें भावनिक्षेप भी बन जाता है। यहा पर पर्यायकी गौणता  
और द्रव्यकी मुख्यतासे भावनिक्षेपका द्रव्यार्थिक नयमें अन्तर्भाव समझना चाहिये ।

इसीप्रकार शुद्ध द्रव्यार्थिकरूप संग्रह नयमें भी भावनिक्षेपका सद्भाव विरोधको प्राप्त  
नहीं होता है, क्योंकि, अपनी कुक्षिमें समस्त विशेष सत्ताओंको समाविष्ट करनेवाली और  
सदाकाल एकरूपसे अवस्थित रहनेवाली महासत्तामें ही 'भाव' अर्थात् पर्यायका सद्भाव माना  
गया है।

अभेदरूपसे वस्तुको जब भी ग्रहण किया जायगा, तब ही वह वर्तमान पर्यायसे युक्त  
होगी ही, इसलिये वर्तमान पर्यायका अन्तर्भाव महासत्तामें हो जाता है। और शुद्ध संग्रह  
नयका महासत्ता विषय है, अतएव संग्रह नयमें भी भावनिक्षेपका अन्तर्भाव हो जाता  
है। यहां पर भी पर्यायकी गौणता और द्रव्यकी मुख्यता समझना चाहिये।

शंका—'नाम, स्थापना और द्रव्य ये तीनों द्रव्यार्थिक नयके निक्षेप है, और भाव  
पर्यायार्थिक नयका निक्षेप है। यही परमार्थ-सत्य है।' ॥ ९ ॥

सम्मतिकर्त्तके इस कथनसे 'भावनिक्षेपका द्रव्यार्थिक नयमें अथवा संग्रह नयमें भी  
अन्तर्भाव होता है' यह व्याख्यान क्यों नहीं विरोधको प्राप्त होगा ?

विशेषार्थ — शंकाकारका यह अभिप्राय है, कि सम्मतिकारने भावनिक्षेपका केवल  
पर्यायार्थिक नयमें ही अन्तर्भाव किया है। परंतु यहापर उसका द्रव्यार्थिक नयमें भी अन्तर्भाव  
किया गया है। इसलिये यह कथन तो सम्मतिकारके कथनसे विरुद्ध प्रतीत होता है।

समाधान—ऐसी शंका ठीक नहीं है, क्योंकि, सम्मतिकर्त्तमें, पर्यायका लक्षण क्षणिक  
है इसे भावरूपसे स्वीकार किया गया है। अर्थात् सम्मतिकर्त्तमें पर्यायकी विवक्षासे कथन किया  
है, और यहां पर वर्तमान पर्यायको द्रव्यसे अभिन्न मानकर कथन किया है। इसलिये कोई  
विरोध नहीं आता है।

१ स त १, ६ नागोक्त स्थापनाद्रव्य द्रव्यार्थिकनयपर्यगात् । पर्यायार्थपर्यगात् भावत्तैर्यात् सम्म-  
गोति ॥ त थो वा १, ५, ६९ नामाहृतिय दव्वट्ठियस्स भावो य पळवनयस्स । संगह-ववहारा पढमगस्स सेला  
य इयस्स ॥ ति मा ७५ पर्यायार्थिकनयेन पर्यागतत्वात्पिगतत्थम्, इतरैसां नामस्थापनाद्रव्याणां द्रव्यार्थिकनयेन  
सामान्यात्मकत्वात् । स ति १, ६ वृत्ति

उज्जुसुदे' इवण-णिकखेवं वञ्जिऊण सव्वे णिकखेवा हवंति तत्थ सारिच्छ-  
सामणणाभावादो ।

कथयुज्जुसुदे पञ्चवट्टिए दव्व-णिकखेवो ति ? ण, तत्थ वट्टमाण-समयाणंत-  
गुणणिट्-एरा-दव्व संभवादो । ण तत्थ णाम-णिकखेवाभावो वि सदेवलट्ठि-काले गियत-  
वाचयनुवलंभावो । सदे-समभिरूढ-एवंभूद-णएसु वि णाम-भाव-णिकखेवा हवंति तेसि  
चेय तत्थ संभवादो । एत्थ किपट्टं णय-परुत्तणणमिदि ?

प्रमाण नय-निक्षेपैर्योऽर्थो नाभिसमीक्ष्यते ।

युक्त चायुक्तवद्भाति तस्यायुक्तं च युक्तवत् ॥ १० ॥

ऋजुसूत्र नयमें स्थापना निक्षेपको छोड़कर शेष सभी निक्षेप संग्रह हैं, क्योंकि, ऋजुसूत्र  
नयमें सादृश्य-सामान्यका ग्रहण नहीं होता है। और स्थापना निक्षेप सादृश्य-सामान्यकी  
मुप्यतासे होता है।

शंका—ऋजुसूत्र तो पर्यायार्थिक नय है, उसमें द्रव्यनिक्षेप कैसे घटित हो सकता है ?  
समाधान—ऐसी शंका ठीक नहीं है, क्योंकि, ऋजुसूत्र नयमें वर्तमान समयवर्ती  
पर्यायसे अनन्तगुणित एक द्रव्य ही तो विषयरूपसे संभव है।

विशेषार्थ — पर्याय द्रव्यको छोड़कर स्वतन्त्र नहीं रहती है, और ऋजुसूत्रका विषय  
वर्तमान पर्यायविशिष्ट द्रव्य है। इसलिये ऋजुसूत्र नयमें द्रव्यनिक्षेप भी संभव है।

इसीप्रकार ऋजुसूत्र नयमें नाम निक्षेपका भी अभाव नहीं है, क्योंकि, जिस समय शब्दका  
ग्रहण होता है, उसी समय उसकी नियत वाच्यता अर्थात् उसके विषयभूत अर्थका भी ग्रहण  
हो जाता है।

शब्द, समभिरूढ और एवंभूत नयमें भी नाम और भाव ये दो निक्षेप होते हैं, क्योंकि,  
ये दो ही निक्षेप वहां पर संभव हैं, अन्य नहीं।

विशेषार्थ -- शब्द, समभिरूढ और एवंभूत, ये तीनों ही नय शब्द-प्रधान हैं, और  
शब्द किसी न किसी संज्ञाके वाचक होते ही है। अतः उक्त तीनों नयोंमें नाम-निक्षेप बन जाता  
है। तथा, उक्त तीनों नय वाचक शब्दोंके उच्चारण करते ही वर्तमानकालीन पर्यायको भी विषय  
करते हैं, अतएव उनमें भाव-निक्षेप भी बन जाता है।

शंका—यहा पर नयका निरूपण किसलिये किया गया है ?

समाधान—जिस पदार्थका प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके द्वारा, नैगमादि नयोंके द्वारा और

१ उज्जुसुदेो ठवण वञ्जे । वसाय पाहुड-वुण्णि (जयथ अ, ) पृ ३०

२ सदे-गपस्स णाम-भाव-णिकखेवा । वसाय पाहुड-वुण्णि । (जयथ अ, ) पृ ३१

३ जो ण पमाण णहुि णिकखेवण णिकखिदे जयथ । तस्सायुत्त वुत्त वुत्तमउत्त व पडिहाइ । ति प.

३ ८२ अथ जो न सामिक्खइ निकखेज-णय पमाणओ विहिणा । तस्मात्त वुत्त वुत्तमउत्त व पडिहाइ ।

वि मा. २७६४

ज्ञान प्रमाणमिहादुरुपयो न्याम उच्यते ।

नयो जालुगनिप्रयो युक्तितोऽर्थ परिग्रहः ॥ ११ ॥ इति ।

नतः कर्तव्यं नयनिरूपणम् ।

इदानीं निरुक्तवच्यं भणिस्यामो । तस्य गाम-मंगलं गाम निमित्ततर-गिरिवेक्खा  
मंगल-गणा । तस्य निमित्तं चउच्चिहं, जाड-द्रव्य-गुण-किरिया चेदि । तस्य जाई तवभव-  
सागिच्छ-लक्षणा-नामण्णं । द्रव्यं द्रुविहं, मंजोय-द्रव्यं समवाय-द्रव्यं चेदि । तस्य

नामादि निमित्तोके ठाम मूख्म दृष्टिसे विचार नहीं किया जाता है, वह पदार्थ कभी युक्त  
( मंगल ) होते हुए भी प्रयुक्त ( असंगत ) सा प्रतीत होता है और कभी अयुक्त होते हुए भी  
युक्त की तरह प्रतीत होता है ॥ १० ॥

विद्यान् लोग नस्यजानतो प्रमाण कहते हैं, नामादिकके द्वारा वस्तुमें  
भेद करनेके उपायको न्यास या निक्षेप कहते हैं, और ज्ञाताके अभिप्रायको नय कहते हैं ।  
इसप्रकार युक्तिये अर्थात् प्रमाण, नय और निक्षेपके द्वारा पदार्थका ग्रहण अथवा निर्णय  
करना चाहिये ॥ ११ ॥

अलगव नयका निरूपण तत्त्वा आवश्यक है ।

एव आगे नामादि निमित्तोका नयन करते हैं । उनमेंसे, अव्य निमित्तोकी अपेक्षा रहित  
निमित्तोकी 'मंगल' पेशी सदा करनेको नाममंगल कहते हैं । नाम निक्षेपमें संज्ञाके चार  
निमित्त होते हैं, ज्ञानि, द्रव्य, गुण और क्रिया । उन चार निमित्तोंमें से, तद्वच और सादृश्य-  
लक्षणवाले सामान्यको जाति कहते हैं ।

विशेषार्थ—विसमं विवक्षित-द्रव्यगत भूत, वर्तमान और भविष्यकाल सवन्धी पर्याये  
अन्यरूपसे होती है उस सामान्यको, अथवा किसी एक द्रव्यकी त्रिकालोच्चर अनेक पर्यायोंमें  
रहनेवाले अन्यको तद्वचसामान्य या ऊर्ध्वतासामान्य कहते हैं । जैसे मनुष्यकी बालक, युवा  
और वृद्ध अवस्थाओं मनुष्यत्व-सामान्यका अन्वय पाया जाता है । तथा एक ही समयमें नाना  
व्यक्तितान सारा परिणामको सादृश्यसामान्य या तिर्यक्सामान्य कहते हैं । जैसे, रंग, आकार  
आदिसे भिन्न भिन्न प्रकारकी गायोंमें गोत्व-सामान्यका अन्वय पाया जाता है ।

द्रव्य निमित्तके दो भेद हैं, संयोग-द्रव्य और समवाय-द्रव्य । उनमें, अलग अलग सत्ता

- १ तान गामाणामांशेषपाता न्याम उच्यते । नगो जालुगमिप्रयो युक्तितोऽर्थ परिग्रह ॥ लघीय ६, २.  
तात् शेरि पमाणं नयो नि गालुस दिदय मातरयो । पिणखेओ नि उवाओ बुत्ताप अरथपडिगहण ॥ ति प १, ८३  
तत्त्वापारिपय पराणिय तद वत्थु एणम । ज दोदि पिण्णयट्ठ त पिणखेवे हने विमय ॥ गणामहाज मरिय वत्थु  
महिज्जा त पमाणेण । एयतणायणद परात्र पण-बुज्जण ऋणह ॥ जग्घ गण्ण ण विगा होइ गरस्स सिय-वाय-  
पाणीती । तन्ना तो गायनो एणत मनुसमेण ॥ न च १७२, १७३, १७५
- २ नगो कुरामिप्रयो निमित्तं कथितं मम्म । तस्सादृश्यत्तु जायादि निमित्तान्तराभिच्यते ॥  
त शो वा १, ५

संजोय-द्रव्यं गाम पुथ पुथ पसिद्धाणं दव्वाणं संजोयोग निष्पण्णं । समवाय-द्रव्यं  
गाम जं दव्वास्मि सममेदं । गुणो गाम पज्जायादि-परोपर-विरुद्धो अविरुद्धो वा ।  
किरिया गाम परिपुंदगरुवा । तस्य जाइ-निमित्तं गाम गो-अणुस्स-वड-पड-स्यंभ-  
वेत्तादि' । संजोय-द्रव्य-निमित्तं गाम दंडी छत्ती मौली इच्चवमादि' । समवाय-गामिचं  
गाम गल गंडो क्काणो छंडो इच्चवसाह । गुण-निमित्तं गाम किण्हो रुहियो इच्चवमाह ।  
किरिया-निमित्तं गाम गायणो गच्चणो इच्चवमाह । ण च एदे चत्तारि णिमित्ते  
भोत्तूण गाम-पउत्तीए अण्ण-निमित्ततरमत्थि ।

रखनेवाले द्रव्योंके मेलसे जो पैदा हो उसे संयोग-द्रव्य कहते हैं । जो द्रव्यमें समवेत हो  
अर्थात् कथंचित् तादात्म्य रखता हो उसे समवाय-द्रव्य कहते हैं । जो पर्याय आदिकसे परस्पर  
विरुद्ध हो अथवा अविरुद्ध हो उसे गुण कहते हैं ।

विशेषार्थ—इसका अर्थ इसप्रकार प्रतीत होता है कि उत्पाद और व्ययकी विवक्षासे  
गुण, पर्यायोंसे कथंचित् विरुद्ध अर्थात् भिन्न हैं, और मौल्य-विवक्षासे दकोटकीर्ण न्याया-  
नुसार अभिन्न अर्थात् अविरुद्ध भी हैं ।

परिस्पन्द अर्थात् हलन-चलनरूप अवस्थको क्रिया कहते हैं ।

उन चार प्रकारके निमित्तोंमेंसे, गौ, मनुष्य, घट, पट, स्तंभ और वेत इत्यादि जाति-  
निमित्तक नाम हैं, स्यौकि, गौ, मनुष्यादि संज्ञाप गौ, मनुष्यादि जातिमें उत्पन्न होनेसे प्रचलित  
है । दण्डी, छत्री, मौली इत्यादि संयोग-द्रव्य-निमित्तक नाम हैं, स्यौकि, दंडा, छतरी, मुकुट  
इत्यादि स्वतंत्र-सत्तावाले पदार्थ हैं, और उनके संयोगसे दंडी, छत्री, मौली इत्यादि नाम  
व्यवहारमें आते हैं । गलगण्ड, काना, कुबड़ा इत्यादि समवाय-द्रव्यनिमित्तक नाम हैं, स्यौकि,  
जिसके लिये 'गलगण्ड' इस नामका उपयोग किया गया है उससे गलेका गण्ड भिन्न-सत्तावाला  
नहीं है । इसीप्रकार काना, कुबड़ा आदि नाम समझ लेना चाहिये । कृष्ण, लथिर इत्यादि गुण-  
निमित्तक नाम हैं, स्यौकि, कृष्ण आदि गुणोंके निमित्तसे उन गुणवाले द्रव्योंमें ये नाम व्य-  
वहारमें आते हैं । गायक, नर्तक इत्यादि क्रिया-निमित्तक नाम हैं, स्यौकि, गाना, नाचना आदि  
क्रियाओंके निमित्तसे गायक नर्तक आदि नाम व्यवहारमें आते हैं । इसतरह जाति आदि  
उन चार निमित्तोंको छोड़कर संज्ञाकी प्रवृत्तिमें अव्य कोई निमित्त नहीं है ।

१ जातिद्वारेण शब्दो हि यो द्रव्यादिषु वर्तते । जातिहेतु म विनेयो गोरस्य इति शब्दस्य ॥

त शो वा १, ५, ३

२ गयोपि-द्रव्य शब्द स्यात्कुडलीत्यादिशब्दवत् । ममवापि-द्रव्य-शब्दा विषयाण्यालादिरास्थिय ॥

त. शो वा १, ५, ६

३ गुणप्राधान्यतो यत्ते द्रव्ये गुणनिमित्तक । शुद्ध पाटल इत्यादि शब्दवत्प्रतीयते ॥ त शो वा १, ५, ६.

४ कर्म-प्राधान्यत्वात् न कर्महेतुर्निवृण्यते । वरति श्रवते यद्वत्कश्चिद्व्यतिनिमित्तम् ॥ त शो वा १, ५, ७.



वेचरथ-णिरवेम्बो मंगल-सदो गाम-मंगलं । तस्स मंगलस्स आधारो अट्टविहो । तं जहा, जीवो वा, जीवा वा, अजीवो वा, अजीवा वा, जीवो य अजीवो य, जीवा य अजीवो य, जीवो य अजीवा य, जीवा य अजीवा य<sup>१</sup> ।

तत्थ द्वयण-मंगलं गाम आहिद-गामस्स अण्णस्स सेयमिदि द्वयणं द्वयणा गाम ।

वाच्यार्थ अर्थात् शब्दार्थकी अपेक्षा रहित 'मंगल' यह शब्द नाममंगल है । उस नाममंगलका आधार आठ प्रकारका है । जैसे, १ एक जीव, २ अनेक जीव, ३ एक अजीव, ४ अनेक अजीव, ५ एक जीव और एक अजीव, ६ अनेक जीव और एक अजीव, ७ एक जीव और अनेक अजीव, ८ अनेक जीव और अनेक अजीव ।

विशेषार्थ—मंगलके लिये आधार या आश्रय आठ प्रकारका होता है, जिसका खुलासा इसप्रकार समझना चाहिये—१ साक्षात् एक जिनन्देवके आश्रयसे जो मंगल किया जाता है उसे एकजीवाश्रित मंगल कहते हैं । यहा जिनन्देवके स्थानपर एक जिन-यति भी लिया जा सकता है । २ अनेक यतियोंके आश्रयसे जो मंगल किया जाता है उसे अनेक जीवाश्रित मंगल कहते हैं । ३ एक जिनन्देवकी प्रतिमाने आश्रयसे जो मंगल किया जाता है उसे एक अजीवाश्रित मंगल कहते हैं । ४ अनेक जिन-प्रतिमाओंके आश्रयसे जो मंगल किया जाता है उसे अनेक अजीवाश्रित मंगल कहते हैं । ५ एक जिनन्देव और एक जिनन्देव और आश्रयसे एक ही समय जो मंगल किया जाता है उसे एक जीव और एक अजीव आश्रित मंगल कहते हैं । ६ अनेक यति और एक जिनन्देवकी प्रतिमाने आश्रयसे एक ही समय जो मंगल किया जाता है उसे अनेक जीव और एक अजीवाश्रित मंगल कहते हैं । ७ एक जिनन्देव और अनेक जिन प्रतिमाओंके आश्रयसे एक ही समय जो मंगल किया जाता है उसे एक जीव और एक अजीवाश्रित मंगल कहते हैं । ८ अनेक यति और अनेक जिन प्रतिमाओंके आश्रयसे एक ही समय जो मंगल किया जाता है उसे अनेक जीव और अनेक अजीवाश्रित मंगल कहते हैं ।

उन नामादि विशेषोंसे अत्र स्थापनामंगलको घटलते हैं । किसी नामको धारण करने-वाले दूसरे पदार्थकी 'वह यह है' इसप्रकार स्थापना करनेको स्थापना-निक्षेप कहते हैं ।

<sup>१</sup> प्रतिपु 'वच्चथ' इति पाठ । ' नाम पि होञ्च सदा तन्मच्च मा तन्मथपिमुञ्च ॥ वि मा ३४००

<sup>२</sup> पाठोऽन्माददशप्रतारिपुणुपुल-पुते— " जीवो वा अजीवो वा अजीवो वा अजीवो वा जीवो वा अजीवो वा अजीवो वा जीवा वा अजीवो वा जीवा वेति । " किञ्चिद्विदित्तमित्तमेकजीवनाम, यथा विथ इति । किञ्चिद्विदित्तमेकजीवनाम, यथा वट इति । किञ्चिद्विदित्तमेकजीवनाम, यथा प्राणाद इति । किञ्चिद्विदित्तमेकजीवनाम, यथा प्रतीशर इति । किञ्चिद्विदित्तमेकजीवनाम, यथा काहार इति । किञ्चिद्विदित्तमेकजीवनाम, यथा मरुतेति । किञ्चिद्विदित्तमेकजीवनाम, यथा नगरामिति । त शो मा १, ५ जीमस्स सो जिणस्स मा अजीवस्स मा जिण्णियडिमाए । जीनाण जट्ठण पि व अजीवनाण तु पटिमाण ॥ जीवस्सजाविस्स य जडणो विक्कस्स वेगणो ममप । जीवस्सजाविण य जडणो पडिमाण वेगय ॥ जीनाणमजीमस्स मा जडणं विक्कस्स वेगजो ममप । जीनाणमजीवण य जडणं पडिमाण वेगय ॥ वि मा ३४२६, ३४२५, ३४२६

सा दुविहा, सवभावसवभाव-द्वयणा चेदि । तत्थ आगारवंतए वत्थुम्मि सवभाव-द्वयणा । तन्निवरीया असवभाव-द्वयणा ।

मंगल-पञ्जय-परिणद-जीव स्त्वं लिहण-खणण-बंधण-सखेवणादिएण इविदं बुद्धीए आरोविद-गुण-समूहं सवभाव-द्वयणा-मंगलं । बुद्धीए समारोविद-मंगल-पञ्जय-परिणद-जीव-गुण-सरुवक्ख-वराडयादयो असवभाव-द्वयणा-मंगलं<sup>१</sup> ।

दव्य-मंगलं गाम अणागय-पञ्जाय-विसेसं पडुच्च गहियाहिमुहियं दव्वं अतवभावं वा । तं दुविदं, आगम-णो-आगम-दव्वं चेदि । आगमो सिद्धंतो पवयणमिदि एयदो । आगमादो

वह स्थापनानिक्षेप दो प्रकारका है, सद्भावस्थापना और असद्भावस्थापना । इन दोनोंमेंसे, जिस वस्तुकी स्थापना की जाती है उसके आकारको धारण करनेवाली वस्तुमें सद्भावस्थापना समझना चाहिये, तथा जिस वस्तुकी स्थापना की जाती है उसके आकारसे रहित वस्तुमें असद्भावस्थापना जानना चाहिये ।

लेखनीसे लिखकर अर्थात् चित्र बनाकर, और खनन अर्थात् छैनी, टाकी आदिके द्वारा, बन्धन अर्थात् चिनाई, लेप आदिके द्वारा तथा क्षेपण अर्थात् संचि आदिमें ढलाई आदिके द्वारा मूर्ति बनाकर स्थापित किये गये, और जिसमें बुद्धिसे अनेक प्रकारके मंगलरूप अर्थके सूत्रक गुणसमूहोंकी कल्पना की गई है ऐसे मंगल-पर्यायसे परिणत जीवके स्वरूपको अर्थात् आकृतिको सद्भावस्थापना-मंगल कहते हैं ।

नमस्कारादि करते हुए जीवके आकारसे रहित अक्ष अर्थात् शतरंजकी गोदोंमें, चराटक अर्थात् कौड़ियोंमें तथा इसीप्रकारकी अन्य वस्तुओंमें मंगल-पर्यायसे परिणत जीवके गुण या स्वरूपकी बुद्धिसे कल्पना करना अतदाकारस्थापना-मंगल है ।

विशेषार्थ—जैसे शतरज आदिके खेलमें राजा, मन्त्री आदिकी और खेलनेकी कौड़ी व पासोंमें संख्याकी आरोपणा होती है, उसीप्रकार मंगलपर्यायपरिणत जीव और उसके गुणोंकी बुद्धिके द्वारा की हुई स्थापनाको असद्भावस्थापनामंगल कहते हैं ।

अब द्रव्यमंगलका कथन करते हैं । अगे होनेवाली पर्यायको ग्रहण करनेके समुख-द्रव्यको ( उस पर्यायकी अपेक्षा ) द्रव्यनिक्षेप कहते हैं । अथवा, वर्तमान पर्यायकी भेदसे दो प्रकारका है ।

आगम, सिद्धान्त और प्रवचन, ये शब्द परार्थवाची हैं । आगमसे भिन्न पदार्थको नो-आगम कहते हैं ।

<sup>१</sup> तथा गारोपमानेन भवेत्काठिना तमाना प्रतिमा मद्भावर-गपना, मुञ्जदक्षिण स्वय तस्सास्तदुद्वि-

समवापि, कच्चिसाण्णमद्भावात् । त शो वा १, ५

<sup>२</sup> पुर-मादप-द्वया मत्तुमाना पुनस्सद्भावस्थापना परिणदयादव-ना मा-गमिति मय-प-पार । त शो मा १, ५



अथो नो-आगमो । तस्य आगमदो द्रव्य-मंगलं षाम मंगल-याहुड-जाणओ अपुवजुत्तो, मंगल-याहुड-यद्-यणा वा, तस्मत्थ-द्वयण-सुर-रयणा वा । नो-आगमदो द्रव्य-मंगलं निश्चिदं, जाणुग-सरीरं भवियं तत्र-द्विरिच्छिमिदि । जं तं जाणुग-सरीरं नो-आगम-द्रव्य-मंगलं न निश्चिदं, मंगल-याहुड-उत्तम-केवल-णाणादि-मंगल-पञ्जायस्स वा आधारत्तणेण भविय-वद्दुमा-णादीद-सरीरमिदि । आहारस्साहेयोपयागदो भवदु धरिद-मंगल-पञ्जाय-परिणद् जीव-

मगल प्राभुत्त अर्थत् मगल विषयत्ता प्रतिपादन कलेत्तवाले शारत्तको जान्तेवाला, किन्तु नानमानमें उत्तमे उपयोगे रहित जीवको आगम-द्रव्यमगल कहते हैं । अथवा, मगल विषयके प्रतिपादक शारत्तकी सन्द-रचनाको आगम-द्रव्यमगल कहते हैं । मगल विषयको प्रतिपादन करनेवाले शारत्तकी स्थापनाएष अन्तर्गत स्वरत्ताको भी आगम-द्रव्यमगल कहते हैं ।

विशेषार्थ—आगं लेतेवाली पर्यायकं सत्सुत्त, अथवा वर्तमान पर्यायकी विवक्षसे रीत्त, अर्थत् मूल या भवियत् पर्यायकी विवक्षसे द्रव्यको द्रव्यविशेष कहा है, और तद्विषयक शारत्तको आगम कहा है । उससे यह तात्पर्य निकलता है कि जो वर्तमानमें मगलविषयक जातिके उपयोगे रहित हो वर आगमद्रव्यमगल है । यहापर जो मगलविषयक शाब्दकी सन्द-रचना अथवा मगलशाब्दकी स्थापनाएष अन्तर्गती स्वरत्ताको आगमद्रव्यमगल कहा है वह उपचारसे ही समझना चाहिये, क्योंकि, मगलविषयक शान्य-ज्ञानमें मगलविषयक शाब्दकी सन्द-रचना और मगलशाब्दकी स्थापनाएष अन्तर्गती स्वरत्ता ये मुख्यरूपसे निश्चित पड़ते हैं । वैसे तो सन्द-कारी कारण शरीरादिक और भी होते हैं, परंतु वे मुख्य निमित्त न होनेसे उनका प्रमाण नो-आगममें किया है । अथवा, मगलविषयक शाब्दज्ञानसे और दूसरे निमित्तोंकी अपेक्षा इन दोनों निमित्तोंकी विशेषता दिगनेके प्रयोजनसे इन दोनों निमित्तोंका आगमद्रव्यमगलमें प्रमाण का लिया है ।

नो-आगमद्रव्यमगल तीन प्रकारका है, गायकशरीर, मध्य या भावि और तद्व्यतिरिक्त । उनमें जो गायकशरीर नो-आगमद्रव्यमगल है वह भी तीन प्रकारका समझना चाहिये । मंगल-विषयक शारत्तका अथवा केवलज्ञानादिरूप मंगल-पर्यायका आधार होनेसे भाविशरीर, वर्तमान-शरीर और अतीतशरीर, इसप्रकार गायकशरीर नो-आगमद्रव्यविशेषके तीन भेद हो जाते हैं ।

शंका—आधारभूत शरीरमें आधेयभूत आत्मके उपचारसे धारण की हुई मंगल-पर्यायसे परिणत जीवके शरीरको नो-आगमशायकशरीरद्रव्यमगल कहना तो उचित भी है;

आगम-द्रव्यमगलको मगल-यत्ता-मिति नो । तत्रा । ताण लद्धि-महिजो नि नोपज्जो ति तो दव ॥ अहं चात्ताणो तो ए उ उ दवमात्तो ए उ । आगम कारणमाया देतो सही यतो दव ॥ मगल-पर्याय-जाणय-देतो मत्तस म नवीतो नि । नो आगम-ओ दव आगम रहिओ चि ज भविज ॥ अहंया नो देममि नो आगमओ तदा देमाओ । एत्त मारिणो वाज्जामम्म ज काण देतो ॥ जाणय सन्-सरीरादित्थमिदि दव मगल होत्त । जा मग्गत्ता भिन्ना त रत्ताणो अपज्जो ॥ नि मा २९, ३०, ४४, ४५, ४६

सरीरस्स मंगल-वचएसो ण अण्णोसि, तेसु द्विदं मंगल-पञ्जायाभावो । ण, राय-पञ्जाया-हारत्तणेण अगागदादीद-जीवे नि राय-वचहारेवलंभा ।

तस्य अदीद-सरीरं तिविहं, सुदं चइदं चत्तमिदि । तस्य सुदं षाम कयलीनादेण विणा पकं पि फलं व कम्मोदिएण उच्चैयमाणापु-वस्यय-पदिदं । चइदं षाम कयली-घोदिएण छिण्णायु वसय-पदिद-सरीरं । उत्तं च —

परतु भावी और शून्यकालके शरीरकी अवस्थाको मंगल खना देना किसी प्रकार भी उचित नहीं है, क्योंकि, उनमें वर्तमान मंगलरूप पर्यायका अभाव है ?

समाधान—पेसा नहीं है, क्योंकि राज-पर्यायका आधार होनेसे अनागत और अतीत जीवमें भी जिसप्रकार राजरूप व्यवहारकी उपलब्धि होती है, उसीप्रकार मगल पर्यायसे परिणत जीवका आधार होनेसे अतीत और अनागत शरीरमें भी मंगलरूप व्यवहार हो सकता है ।

विशेषार्थ—आगमके सह-कारी कारण होनेसे शरीरको नो-आगम कहा गया है और उसमें अन्वय प्रत्ययकी उपलब्धि होनेसे उसे द्रव्य कहा गया है । ये दोनों बातें अतीत, वर्तमान और अनागत इन तीनों शरीरोंमें घटित होती हैं, इसलिये इनमें मंगलरूपका व्यवहार हो सकता है । इसका सुलाला इसप्रकार है—

औदारिक, वैश्विक और आहारक शरीर मंगलविषयक शाब्दके परिचयानमें सह-कारी कारण है, क्योंकि, इनके बिना कोई शाब्दका अभ्यास ही नहीं कर सकता है । अब इनमें अन्वय-प्रत्यय कैसे पाया जाता है इसका सुलाला करते हैं । जिस शरीरसे मैंने मगल शारत्तका अभ्यास किया था वही शरीर उक्त अभ्यासको पूरा करने समय भी विद्यमान है, इसप्रकार तो वर्तमान शायक शरीरमें अन्वयप्रत्यय पाया जाता है । मगल शाब्दज्ञानसे उपयुक्त मेरा जो शरीर था, तद्विषयक शाब्दज्ञानसे रहित मेरे अब भी वही शरीर विद्यमान है, इसप्रकार अतीत शायक शरीरमें अन्वयप्रत्ययकी उपलब्धि होती है । मंगल शाब्दज्ञानके उपयोगसे रहित मेरा जो शरीर है वही तद्विषयक तत्वज्ञानकी उपयोग-दर्शामें भी होगा, इसप्रकार अनागत शायकशरीरमें अन्वयप्रत्ययकी उपलब्धि बन जाती है । इसलिये वर्तमान शरीरकी तरह अतीत और अनागत शरीरमें भी मंगलरूप व्यवहार हो सकता है ।

इनमेंसे अतीत शरीरके तीन भेद हैं, च्युत, च्यावित और त्यक्त ।

कदलीघात-मरणके बिना कर्मके उदयसे अइनेवाले आयुर्कर्मके अयसे पके हुए फलके समान अपने आप पतित शरीरको च्युतशरीर कहते हैं ।

विशेषार्थ—जैसे पका हुआ फल अपना समय पूरा हो जानेके कारण वृक्षमेंसे स्वयं गिर पड़ता है । वृक्षसे अलग होनेके लिये उसे और दूसरे निमित्तोंकी अपेक्षा नहीं पड़ती है । उसीप्रकार आयु कर्मके पूरे हो जाने पर जो शरीर शालादिकके बिना छूट जाता है, उसे च्युत शरीर कहते हैं ।

कदलीघातके द्वारा आयुके छिन्न हो जानेसे छूटे हुए शरीरको च्यावितशरीर कहते हैं । कहा भी है—

'मिस-त्रेयण रसत्रय-भय सथागहण-सकिलिस्तेहि ।

आहारेसासाण गिरोहदो छिज्जेदे आऊ ॥ इदि ।

चत्तसरीं तिविहं, पायोवगमण-विहाणेण, इंगिणि-विहाणेण, भत्त-पच्चखाण-विहाणेण चात्तमिदि । तत्रात्मपरोपकारनिरपेक्षं प्रायोपगमनम् । आत्मोपकारसव्यपेक्षं परोप-

विपके खा लेवसे, वेवनासे, रक्का क्षय हो जानेसे, तबि भयसे, शखायातसे सस्लेशकी अधिकतासे, आहार और श्वासेच्छ्वासके रुक जानेसे आयु क्षीण हो जाती है । इसतरह जो मरण होता है उसे कदलीघात मरण कहते हैं ।

विशेषार्थ—जैसे कदली (केला) के वृक्षका तलवार आदिके प्रहारसे पकदम विनाश हो जाता है, उसीप्रकार विप-भक्षणानि निमित्तोंसे भी जीवकी आयु एकदम उदीर्ण हो जाती है । इसे ही अकाल-मरण कहते हैं, और इसके द्वारा जो शरीर छूटता है उसे व्याधित शरीर कहते हैं ।

त्यक्तशरीर तीन प्रकारका है, प्रायोपगमन विधानसे छोड़ा गया, इगिनी विधानसे छोड़ा गया और भक्तप्रत्याख्यान विधानसे छोड़ा गया । इसतरह इन तीन निमित्तोंसे त्यक्त शरीरके तीन भेद हो जाते हैं ।

अपने और परके उपकारकी अपेक्षा रहित समाधिमरणको प्रायोपगमन विधान कहते हैं । विशेषार्थ—प्रायोपगमन समाधिमरणको धारण करनेवाला साधु संस्तरका ग्रहण करना, बाधाके निवारणके लिये हाथ पावका हिलाना, एक क्षेत्रको छोड़कर दूसरे क्षेत्रमें जाना आदि क्रियाएँ न तो स्वयं करता है और न दूसरेसे कराता है । जैसे काष्ठ सर्वथा निश्चल रहता है, उसीप्रकार वह साधु समाधिमें सर्वथा निश्चल रहता है । शालोंमें प्रायोपगमनके अनेक प्रकारके अर्थ मिलते हैं । जैसे, संवको छोड़कर अपने पैरोंद्वारा किसी योग्य देशका आश्रय करके जो समाधिमरण किया जाता है उसे पावोपगमन समाधिमरण कहते हैं । अथवा, प्राय अर्थित सत्यासकी तरह उपवासके द्वारा जो समाधिमरण होता है उसे प्रायोपगमन समाधिमरण कहते हैं । अथवा, पादप अर्थित वृक्षकी तरह निष्पन्दरूपसे रहकर, शरीरसे किसी भी प्रकारकी क्रिया न करते हुए जो समाधिमरण होता है उसे पादोपगमन समाधिमरण कहते हैं । इन सब अर्थोंका मुख्य अभिप्राय यही है कि इस विधानमें अपने व परके उपकार की अपेक्षा नहीं रहती है ।

१ गो क ५७

२ पायोपगमणमरण, पादाभ्यासुपगमन होकर तेन प्रवर्तित मरण पादोपगमनमरणम् । अथवा 'पाउगन-गमणमरण' इति पाठ, मवान्तकरण प्रायोग्य महान सस्थान चेह प्रायोग्यश-देनोच्यते । अस्य गमन प्राप्ति, तेन कारणभूतेन यधिवर्त्त मरण तदुच्यते पाउगमणमरणमिति । मूलारा पृ ११३ 'पाओवगमण' पादपस्योवोपग-मनसम्पद्यत गजस्थान पादोपगमनम् । तदुक्त-पाओवगम भणिय मम-विममे पायवो जहा पडितो । नवर परव्यओगा कपोज्ज जहा चलतर व्व ॥ १४४ गिरेरा कोप (पाओवगमण)

कारनिरपेक्षं इंगिनीमरणम् । आत्मपरोपकारसव्यपेक्षं भक्तप्रत्याख्यानमिति । तत्र भक्त-प्रत्याख्यानं त्रिविधं जघन्योत्कृष्टमध्यमभेदात् । जघन्यमन्तर्मुहूर्तप्रमाणम् । उत्कृष्ट-भक्तप्रत्याख्यानं द्वादशवर्षप्रमाणम् । मध्यममेतयोरन्तरालमिति ।

जिस संन्यासमें, अपने द्वारा किये गये उपकारकी अपेक्षा रहती है, किन्तु दूसरेके द्वारा किये गये वैयावृत्य आदि उपकारकी अपेक्षा सर्वथा नहीं रहती, उसे इगिनीसमाधि कहते हैं ।

विशेषार्थ—इगिनी शब्दका अर्थ इंगित (अभिप्राय) है । इससे यह तात्पर्य निकलता है कि इस समाधिमरणको करनेवाला स्वतः किये हुए उपकारकी अपेक्षा रखता है । इस समाधि-मरणमें साधु संघसे निकलकर किसी योग्य देशमें समभूमि अथवा शिलापट्ट देखकर उसके ऊपर स्वयं तृणका संस्तर तैयार करके समाधिकी प्रतिष्ठा करता है । इसमें उठना, बैठना, खोना, हाथ-पैरका पसारना, मल-मूत्रका विसर्जन करना आदि क्रियाएँ क्षपक स्वयं करता है । किसी दूसरे साधुकी सहायता नहीं लेता है । इसतरह यावज्जीवन चार प्रकारके आहारके त्यागके साथ, स्वयं किये गये उपचार सहित समाधिमरणको इंगिनी-संन्यास कहते हैं ।

जिस संन्यासमें अपने और दूसरेके द्वारा किये गये उपकारकी अपेक्षा रहती है उसे भक्तप्रत्याख्यानसंन्यास कहते हैं ।

विशेषार्थ—भक्त नाम भोजनका है और प्रत्याख्यान त्यागको कहते हैं । इसका यह अभिप्राय है कि जिस संन्यासमें कम-कमसे आहारादिका त्याग करते हुए अपने और पराये उप-कारकी अपेक्षा रखकर समाधिमरण किया जाता है, उसे भक्त-प्रत्याख्यान-संन्यास कहते हैं । इन तीनों प्रकारके समाधिमरणोंमेंसे भक्त-प्रत्याख्यानविधि जघन्य, मध्यम और उत्कृष्टके भेदसे तीन प्रकारकी है । जघन्य भक्तप्रत्याख्यानविधिका प्रमाण अन्तर्मुहूर्तमात्र है, उत्कृष्ट भक्तप्रत्याख्यानविधिका प्रमाण वारह वर्ष है और मध्यम भक्तप्रत्याख्यान विधिका प्रमाण, जघन्य अन्तर्मुहूर्तसे लेकर वारह वर्षके भीतर है ।

१ इगिणीश-देन, इगिनिमानांभिमारो भण्यते, स्वाभिप्रायेण स्थित्वा प्रवर्त्यमान मरण इगिणिमरणम् । यद्युन स्ववैयावृत्तिसापेक्षमेव । मूलारा पृ १२४ अत्र नियमाच्चतुत्रिधाहारविरति, परपरिकर्मनिवर्जनय भवति । सद्य पुनरिद्विदेशान्यन्तरे उद्धर्त्तनादि चैष्टात्मक परिकर्म यथासमाधि विदधाति । अग्नि रा कोप (इगिणी)

२ भज्यते देहस्थित्यर्थमिति भक्तमाहार । तस्य प्रतिष्ठा प्रत्याख्यान त्याग । भक्तप्रतिष्ठा सपदैव्यावृत्य-सापेक्ष मरणम् । मूलारा पृ ११३

३ उक्तस्सणुण भत्त-पइण्णा कल्लो जिणेहि णिदिट्ठो । काठ हि सपहुत्ते वारिस वरिसाणि पुण्णाणि ॥ जोगेहि विचिचोहिं ड खवेदि सक्खर्राणि चत्तारि । विण्डीणि य जूरिहा चत्तारि पुणो वि सोसेइ ॥ आयविल णिव्वियड्ढिं हि दोणिण आयविलेण एरु व । अद्ध णादि विण्डीहिं तदो अद्ध विण्डीहे ॥ मूलारा २५७-२५९

मंजम-विणाम-भरण उन्माम-गिरोहं काङ्गण मुट-साहु-सरीरं कन्थ णिवददि ? ण कन्थ वि नहा-मुट-देहस्स मंगलचाभावादो । मंगल-पाहु-धारयस्स धरिट-महव्ययस्स चत्त-देहस्स अचत्त-देहस्स ता देहो कथममंगलं ? साह्णमसुत्तकारिस्स देहत्तादो अमंगल-मिदि ण योमुं जुनं, पुवं तिर-यणाहारत्तेण मंगलवसुवगयम्म पच्छा भूट-पुव्व-णाएण मंगल-यापं पट्टि विरोहाभावादो । तदो मंगल-भावेण कन्थ वि णिवदेव्यवमेदेण सरीरे-णेति । ण चहट्टिद्वि पट्टि चत्तस्स वि आहार-गिरोहेण पट्टिदस्स चहट्ट तावत्तीदो । तो मयद्वि एतं धेतत्तं ? कयली-घादेण मरण-कराए जीवियासाए जीविय-मरणासाहि विणा ता पट्टिद-सरीरं चहट्टं । जीवियासाए मरणासाए जीविय-मरणासाहि विणा वाकयली-

शंका—रायमके विनाशके भयसे श्वासोच्छ्वासका निरोध करके मरे हुए साधुके शरीरका त्यक्तके तील भेदमेंसे किस भेदमें अन्तर्भाव होता है ?

ममाधान — ऐसे शरीरका त्यक्तके किसी भी भेदमें अन्तर्भाव नहीं होता है, क्योंकि, इसप्रकारसे मृत-शरीरको मंगलपना प्राप्त नहीं हो सकता ।

शंका—जो मंगल शास्त्रका शारक है अर्थात् ज्ञाना है, जिसने महाव्रतोंको धारण किया है, चले उस साधुने ममाधिसे शरीर छोटा हो अथवा नहीं छोड़ा हो, परन्तु उसके शरीरको जमगलपना कैसे प्राप्त हो सकता है ? यदि कहा जावे कि साधुओंमें अयोग्य कार्य करनेवाले साधुका शरीर होनेसे वह अमंगल है, सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, जो शरीर पहले स्वभावका आधार होनेसे श्वासोच्छ्वासके निरोधसे छोड़े, उसमें पछिसे भी भूतपूर्व न्यायकी अपेक्षा मंगलत्वके स्वीकार कर लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है । इसलिये मंगलपनेकी अपेक्षा संयमके विनाशके भयसे श्वासोच्छ्वासके निरोधसे छोड़े हुए साधुके शरीरको त्यक्तके तीन भेदोंमेंसे किसी एक भेदमें ग्रहण करना ही चाहिये । इस शरीरका व्यापितमें तो ग्रहण हो नहीं सकता है, क्योंकि, यदि इसका च्यवितमें ग्रहण किया जाये, तो आशरके निरोधसे छूटे हुए त्यक्त शरीरका भी च्यवितमें ही अन्तर्भाव करना पड़ेगा ? तो ऐसे शरीरको किस भेदमें ग्रहण करना चाहिये ?

ममाधान—मरणकी आशासे या जीवनकी आशासे अथवा जीवन और मरण इन दोनोंकी आशाके विना ही कदलीघातसे छूटे हुए शरीरको च्यवित कहते हैं । जीवनकी आशासे, मरणकी आशासे अथवा जीवन और मरण इन दोनोंकी आशाके विना ही कदली-

घात तो पाठ विणिंथ उयागनिरोधमाद्रिणं क्याय । जणहीण तंदि यण माद्वि ओम्मि ॥ पट्टि-  
ता ॥ ता विंजु विणिमिती होयाय ता हुन्ना । मयद्वययापादो च यत्तिण होच्चाहि ॥ एणदि कएणेहि पडिय-  
मत्तं तु कायमत्तं भो । जयागनिदयट्ट र कुण्हा न रुजाहि ॥ चत्ता म् ५४६-५४८

घादेण अचच-भावेण पट्टिद-सरीरं जुदं णाम । जीविद-मरणासाहि निणा सरुत्तोवलद्वि-  
णिमिचं व चत्त-वज्जंतंरंग-परिग्गहस्स कयली-घादेणियरेण वा पट्टिद-सरीरं चत्त-देहमिदि ।

भव्यनोआगमद्रव्यं भविष्यत्काले मङ्गलप्राप्तुतज्ञायको जीवः मङ्गल-पर्यायं  
परिणस्यतीति वा । तद्व्यतिरिक्तं द्विविधं कर्मनो कर्ममङ्गलभेदात् । तत्र कर्ममङ्गलं  
दर्शन-विद्युद्घाति-पोडशधा-श्रविभक्त-तीर्थकर-नामकर्म-कारणजीव-प्रदेश-निवद्ध-तीर्थकर-  
नामकर्म-माङ्गल्य-निबन्धनत्वान्मङ्गलम् । यत्तत्रो कर्ममङ्गलं तद् द्विविधम्, लौकिकं लोकोत्तर

घात व समाधिमरणसे रहित होकर छूटे हुए शरीरको च्युत कहते हैं । आत्म-स्वरूपकी  
शक्तिके निमित्त, जिसने बहिरंग और अन्तरंग परिग्रहका त्याग कर दिया है ऐसे साधुके  
जीवन और मरणकी आशाके विना ही कदलीघातसे अथवा इतर कारणोंसे छूटे हुए शरीरको  
त्यक्तशरीर कहते हैं ।

विशेषार्थ — ऊपर बतलाये गये च्युत, च्यवित और त्यक्तके स्वरूप पर व्यान देनेसे  
येह भलीप्रकार विदित हो जाता है कि संयम-विनाशके भयसे श्वासोच्छ्वासका निरोध करके छूटे  
हुए साधुके शरीरका च्यवितमें ही अन्तर्भाव होता है, क्योंकि, च्यवित मरणमें कदलीघातकी  
प्रधानता है । और श्वासोच्छ्वासका स्वयं निरोध करके मरना कदलीघातमरण है । उसमें  
समाधिका सद्भाव नहीं रह सकता है, इसलिये ऐसे मरणका त्यक्तके किसी भी भेदमें ग्रहण  
नहीं किया जा सकता है । यद्यपि किसी त्यक्तमरणमें कदलीघात भी निमित्त पड़ता है । परन्तु  
बहापर कदलीघातसे, परकृत उपसर्गादि निमित्तोंका ही ग्रहण किया गया है, स्वयं  
श्वासोच्छ्वासनिरोध आदि आत्मघातके साधन विवक्षित नहीं हैं ।

जो जीव भविष्यत्कालमें मंगल-शास्त्रका जाननेवाला होगा, अथवा मंगलपर्यायसे  
परिणत होगा उसे भव्यनोआगमद्रव्यमंगलनिक्षेप कहते हैं ।

विशेषार्थ—शायकशरीरके तीन भेद किये हैं । उसका एक भेद भावी भी है । परन्तु  
उससे इस भावीकी भिन्न समझना चाहिये, क्योंकि, शायकशरीरके भावी विकल्पमें ज्ञातके  
आगे होनेवाले शरीरको ग्रहण किया है, और यहाँपर भविष्यमें होनेवाला तद्विषयक शास्त्रका  
ज्ञाता ग्रहण किया है ।

कर्मतद्व्यतिरिक्तद्रव्यमंगल और नो कर्मतद्व्यतिरिक्तद्रव्यमंगलके भेदसे तद्व्यति-  
रिक्तनोआगमद्रव्यमंगल दो प्रकारका है । उनमें दर्शनविद्युद्धि आदि सोलह प्रकारके तीर्थकर  
नामकर्मके कारणोंसे जीवके प्रदेशोंसे वधे हुए तीर्थकर नामकर्मको कर्मतद्व्यतिरिक्तनो-  
आगमद्रव्यमंगल कहते हैं, क्योंकि, वह भी मंगलपनेका सहकारी कारण है ।

नो कर्मतद्व्यतिरिक्तनोआगमद्रव्यमंगल दो प्रकारका है । एक लौकिक नो कर्म-  
तद्व्यतिरिक्तनोआगमद्रव्यमंगल और दूसरा लोकोत्तर नो कर्मतद्व्यतिरिक्तनोआगम-  
द्रव्यमंगल ।

मिति । तत्र लौकिकं त्रिविधम्, सचिचमचितं मिश्रमिति । तत्राचितमङ्गलम्—

सिद्धय-पुण्य-कुम्भो वंदनमाला य मंगलं लुत्त ।

सेदो वण्णो आदसणो य कण्णा य जच्चसो' ॥ १३ ॥

सचित्तमङ्गलम् । मिश्रमङ्गलं सालङ्कारकन्यादिः ।

उन दोनोंमेंसे लौकिकमंगल सचित्त, अचित्त और मिश्रके भेदसे तीन प्रकारका है । इनमें—'सिद्धार्थे' अर्थात् पिले सरसों, जलसे भरा हुआ कलश, चन्दनमाला, छत्र, श्वेत-वर्ण, और दर्पण आदि अचित्त मंगल हैं । और बालकन्या तथा उत्तम जातिका घोड़ा आदि सचित्त मंगल हैं ॥ १३ ॥

विशेषार्थ—पंवास्तिकायकी टीकामें भी जयसेन आचार्यने इन पदार्थोंको मंगलरूप मान्तेमें भिन्न भिन्न कारण दिये हैं । वे इसप्रकार हैं, जिनन्देवने व्रतादिकके द्वारा परमार्थको प्राप्त किया और उन्हें सिद्ध यह संबन्ध प्राप्त हुई, इसलिये लोकमें सिद्धार्थ अर्थात् सरसों मंगलरूप माने गये । जिनन्देव सपूर्ण मनोरथोंसे अथवा केवलज्ञानसे परिपूर्ण हैं, इसलिये पूर्ण-कलश मंगलरूपसे प्रसिद्ध हुआ । बाहर निकलते समय अथवा प्रवेश करते समय चौवीस ही तीर्थकर वन्दना करने योग्य हैं, इसलिये भरत चक्रवर्तीने वन्दनमालाकी स्थापना की । अरहत् परमेशी सभी जीवोंका कल्याण करनेवाले होनेसे जगत्के लिये छत्राकार हैं, अथवा सिद्धलोक भी छत्राकार हैं, इसलिये छत्र मंगलरूप माना गया है । ध्यान, शुक्लेष्ट्या इत्यादि श्वेत-वर्ण माने गये हैं, इसलिये श्वेतवर्ण मंगलरूप माना गया है । जिनन्देवके केवलज्ञानमें जिसप्रकार लोक और अलोक प्रतिभासित होता है, उसीप्रकार दर्पणमें भी अपना चित्र झलकता है, अतएव दर्पण मंगलरूप माना गया है । जिसप्रकार वीतराग सर्वदेव लोकमें मंगलस्वरूप हैं, उसीप्रकार बालकन्या भी रागभावसे रहित होनेके कारण लोकमें मंगल मानी गई है । जिसप्रकार जिनन्देवने कर्म शत्रुओं पर विजय पाई, उसीप्रकार उत्तम जातिके घोड़ेसे भी शत्रु जीते जाते हैं, अतएव उत्तम जातिका घोड़ा मंगलरूप माना गया है ॥ १३ ॥

अलंकार सहित कन्या आदि मिश्र-मंगल समझना चाहिये । यदा पर अलंकार अचित्त और कन्या सचित्त होनेके कारण अलंकारसहित कन्याको मिश्रमंगल कहा है ।

१ वयणियसजमणुणेहि साहिदो जिणवोहि पसट्ठो । सिद्धा सण्णा जेति सिद्धया मंगल तण ॥ पुण्णा मणोरहेहि य केवलणोण चानि सण्णा । अरत्ता इदि लोए सुमंगल पुण्णसुभो इ ॥ णिममणपसंस्सिह य इर चल्वीस पि वदणिजा ते । वदनमाले ति कया महेग य मंगल तेण ॥ मन्वजणणिवुद्धियरा ज्ञापारो जगस्स जहत्ता । ज्ञापार सिद्धि ति मंगल तेण छत त ॥ सेदो वण्णो ज्ञाण लेस्सा य अथाइमसरुम च । अजरहण इदि लोए सुमंगल सेदवणो इ ॥ दीमइ लोयालोओ केवलणोणे तत्ता जिणितस्स । तत्त दीपद मुदुरे तिउ मंगल तेण त सुणह ॥ जइ वीयगयमन्वइ जिणवरो मंगल इवइ लोए । इयपमबालकण्णा तत्त मंगलमिदि मियाणाहि ॥ रुम्मरि जिणेविण जिणवरोहि मोक्खु जिणाणि ति जेण । जच्चस्स उ अणिल जिणत्त मणुत्त मुच्चत्त तेण ॥ पत्ता दीपज

लोकोत्तरमङ्गलमपि त्रिविधम्, सचित्तमचितं मिश्रमिति । सचित्तमहदादीनाम-  
नद्यनिधनजीवद्रव्यम् । न केवलज्ञानादिमङ्गलपर्यायिनिशिष्टाहदादीनाम्, जीवद्रव्यस्यैव  
ग्रहणं तस्य वर्तमानपर्यायोपलक्षितं द्रव्यं भाव इति भावनिर्भयान्तर्भावात् । न केवल-  
ज्ञानादिपर्यायाणां ग्रहणं तेषामपि भावरूपत्वात् । अचित्तमङ्गलं कृत्रिमकृत्रिमचैत्याल-  
यादिः, न तत्स्थप्रतिमास्तु संस्थापनान्तर्भावात् । अकृत्रिमाणां कथं स्थापनाव्यपदेशः ?  
इति चेन्न, तत्रापि बुद्ध्या प्रतिनिधौ स्थापितमुख्योपलम्भात् । यथा अधिरिव माणवकोऽभिः  
तथा स्थापनेन स्थापनेति तासां तद्व्यपदेशोपपत्तेर्वा । तदुभयमपि मिश्रमङ्गलम् ।  
तत्र 'क्षेत्रमङ्गलं गुण परिणतासन-परिनिष्क्रमण-केवलज्ञानोत्पत्ति-परिनिर्वाण-

लोकोत्तर मंगल भी सचित्त, अचित्त और मिश्रके भेदसे तीन प्रकारका है । अरहत्  
आदिका अनादि और अन्तस्वरूप जीवद्रव्य सचित्त लोकोत्तर नो-आगमतद्रव्यतिरिक्तद्रव्य-  
मंगल है । यदापर केवलज्ञानादि मंगल-पर्याययुक्त अरहत् आदिकना ग्रहण नहीं करना चाहिये,  
किंतु उनके सामान्य जीवद्रव्यका ही ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि, वर्तमान-पर्यायसहित  
द्रव्यका भावनिक्षेपमें अन्तर्भाव होता है । इसलिये केवलज्ञानादियुक्त अरहत्के आत्माकी  
भावनिक्षेपमें परिणतना होगी । उसकी द्रव्यनिक्षेपमें गणना नहीं हो सकती है । उसीप्रकार,  
केवलज्ञानादि पर्यायोंका भी इस लोकोत्तर नो-आगमतद्रव्यमंगलमें ग्रहण नहीं होता है, क्योंकि,  
वे सब पर्यायों भावस्वरूप होनेके कारण उनका भी भावनिक्षेपमें ही अन्तर्भाव होगा ।

कृत्रिम और अकृत्रिम चैत्यालयादि अचित्त लोकोत्तर नो-आगमतद्रव्यतिरिक्तद्रव्य-  
मंगल है । उन चैत्यालयोंमें स्थित प्रतिमाओंका इस निक्षेपमें ग्रहण नहीं करना चाहिये,  
क्योंकि, उनका स्थापना निक्षेपमें अन्तर्भाव होता है ।

शंका—अकृत्रिम प्रतिमाओंमें स्थापनाका व्यवहार कैसे सम्भव है ?

समाधान—इसप्रकार शंका कला उचित नहीं है, क्योंकि, अकृत्रिम प्रतिमाओंमें  
भी बुद्धिद्वारा प्रतिनिधित्व मान लेने पर 'ये जिनेन्द्रदेव हैं' इसप्रकारके मुख्य व्यवहारकी  
उपलब्धि होती है । अथवा, अग्नि-तुल्य बालकको भी जिसप्रकार अग्नि कहा जाता है, उसीप्रकार  
कृत्रिम प्रतिमाओंमें की गई स्थापनाके समान यह भी स्थापना है, इसलिये अकृत्रिम जिन  
प्रतिमाओंमें स्थापनाका व्यवहार हो सकता है । उक्त दोनों प्रकारके सचित्त और अचित्त  
मंगलोंको मिश्र-मंगल कहते हैं ।

गुणपरिणत आसनक्षेत्र, अर्थात् जहां पर योगासन वीरासन इत्यादि अनेक आसनसे  
तत्तुल्य अनेक प्रकारके योगाभ्यास, जितेन्द्रियता आदि गुण प्राप्त किये गये हों ऐसा क्षेत्र,  
परिनिष्क्रमणक्षेत्र, केवलज्ञानोत्पत्तिक्षेत्र और निर्वाणक्षेत्र आदिको क्षेत्रमंगल कहते हैं ।

१ गुणपरिणदायण परिणिग्गण नेलस्स णाणस्स । उष्ण्ठी इय पडुथी बहुभेय खेतमंगलय ॥ एदस्स  
उदाहरण पायाणपय यत्तनपादी । आहुइत्त महुदी पयमीमभरि पणममयध णणे ॥ देअत्तिद्वेयलणणावडुइ

श्रेयसादिः । तस्योदाहरणम्, ऊर्जयन्त-चम्पा-पावान-नगरादिः । अर्थांतरत्वादि-पंचविंशत्यु-  
त्तर-पंच-धनुः-शत-प्रमाण-शरीर-स्थित-केवल्यध्वज-काश-देशा वा, लोकमात्रात्म-  
प्रदेशैर्लोक-पूरणापूर्वित-विश्व-लोक-प्रदेशा वा ।

तत्र काल-मंगलं गामं, जम्बि काले केवल-गाणादि-पञ्चएहि परिणदो कालो  
पाप-मल-गालणत्वादो मंगलं । तस्योदाहरणम्, परिनिष्कमण-केवलज्ञानोत्पत्ति-परिनिर्वाण-  
दिवसादयः । जिन-महिम-मन्वद्ध-कालोऽपि मङ्गलम् । यथा, नन्दीश्वरदिवसादिः ।

तत्र भाव-मंगलं गाम, वर्तमानपर्यायोपलक्षितं द्रव्यं भावः । स द्विविधः  
आगमनो-आगममेवात् । आगमः सिद्धान्तः । आगमदो मंगल-पाहुड-जाणओ  
उपयुक्तो । गो-आगमदो भाव-मंगलं दुविहं, उपयुक्तस्तत्परिणत इति । आगममन्तरेण  
जयोपयुक्त उपयुक्तः । मङ्गलपर्यायपरिणतस्तत्परिणत इति ।

ओ उदाहरण देकर इसका खुलासा किया जाता है—

ऊर्जयन्त ( गिरनार पर्वत ) चम्पापुर और पावापुर आदि नगर क्षेत्रमंगल है ।  
अथवा, माटे नील हाथसे लेकर पंचसौ पचीस धनुष तकके शरीरमें स्थित और केवलज्ञाना-  
दिसे व्याप्त जाकारा-प्रदेशोंको क्षेत्रमंगल कहते हैं । अथवा लोकप्रमाण आत्मप्रदेशोंसे लोक-  
पूरणसमुदायतादयामें व्याप्त किये गये समस्त लोकके प्रदेशोंको क्षेत्रमंगल कहते हैं ।

जिस कालमें जीप केवलजानादि अवस्थाओंको प्राप्त होता है उसे पापरूपी मलका  
गत्यानेवाला होनेके कारण कालमंगल कहते हैं । उदाहरणार्थ, दीक्षाकल्याणक, केवलज्ञानकी  
उत्पत्ति और निर्वाण-प्राप्तिके विषय आदि कालमंगल समझना चाहिये । जिन-महिमासम्बन्धी  
काल को भी कालमंगल कहते हैं । जैसे, आष्टादिक पर्व आदि ।

वर्तमान पर्यायसे युक्त द्रव्यको भाव कहते हैं । वह आगमभावमंगल और नो-आगम-  
भावमंगलके भेदसे दो प्रकारका है । आगम सिद्धान्तको कहते हैं, इसलिये जो मंगलविषयक  
शास्त्रका जाता होते हुए वर्तमानमें उसमें उपयुक्त है उसे आगमभावमंगल कहते हैं । नो-आगम-  
भावमंगल, उपयुक्त और तत्परिणतके भेदसे दो प्रकारका है । जो आगमके विना ही मंगलके  
अर्थमें उपयुक्त है उसे उपयुक्तो-आगमभावमंगल कहते हैं और मंगलरूप पर्याय अर्थात्

प्राप्तोयोग वा । वर्तमानमें पर्यायसंगतयोग्य पुण ॥ विष्णाम लोपाण हादि पडेगा ति मंगल सेत ॥

ति प १, २१-२४

१ ' अर्थात् ' इत्य ' अर्थचतुर्थ ' इति पाठेन मान्यम् ।

२ जसि काले केवलगाणादि मंगल पाणमादि ॥ परिणिकमण केवलगाणुम्भविव्योदिसेसादी । पावपल-  
गाणादीं पापल कालमंगल पद ॥ एम अण्येभ्येग इवेदि तकालमंगल पत्त । जिणमहिमासवध पदीमर्दान-  
पुदीये ॥ ति प १, २४-२६

३ मंगलपरपरि उत्तन्निगजोत्तन्मेत च । मात मंगलमेद पत्रिपुड मत्थादिमन्वत्तेस ॥ ति प १, २७.

एदेषु णिकखेवेषु केण णिकखेवेण पयोजणं ? गो-आगमदो भाव-णिकखेवेण  
तत्परिणण पयोजणं । जदि गो-आगमदो भाव-णिकखेवेण तत्परिणदेण पयोजणमियेदि  
णिकखेवेहि इह किं पयोजणं ?

जय बहु जाणिओ अत्रमिदिं तथ णिकखेवे णियमा ।

ज थ बहुवं ण जाणदि चउडयं णिकखेवे तथ ॥ १४ ॥

इदि वयणादो णिकखेवो कदो ।

अथ स्यात्, किमिति निक्षेपः क्रियत इति ? उच्यते, त्रिविधाः श्रोतारः, अब्यु-  
त्पन्नः अवगतशेषविविधितपदार्थः एकदेशतोऽवगतविविधितपदार्थ इति । तत्र प्रथमोऽ-  
व्युत्पन्नत्वनाध्ववस्यतीति । विवक्षितपदस्यार्थं द्वितीयः संशेते कोऽर्थोऽस्य पदस्याधिकृत

जिनेन्द्रदेव आदिको वन्दना, भावस्तुति आदिमें परिणत जविको तत्परिणतनो-आगमभावमंगल  
कहते हैं ।

शंका—इन निक्षेपोंमेंसे यद्वा ( इस ग्रन्थवताररूप प्रकरणमें ) किस निक्षेप से  
प्रयोजन है ?

समाधान—यद्वापर तत्परिणतनो-आगमभावमंगल से प्रयोजन है ।

शंका—यदि यद्वा तत्परिणतनो-आगमभावमंगल से ही प्रयोजन था, तो अन्य निक्षे-  
पोंके कथन करने से यद्वा क्या प्रयोजन है ? अर्थात् प्रयोजनके विना उनका यहां कथन नहीं  
करना चाहिये था ।

समाधान—' जद्वा जीवादि पदार्थोंके विषयमें बहुत जाने, वद्वापर नियमसे सभी  
निक्षेपोंके द्वारा उन पदार्थोंका विचार करना चाहिये । और जद्वापर बहुत न जाने, तो वद्वापर  
चार निक्षेप अवश्य करना चाहिये । अर्थात् चार निक्षेपोंके द्वारा उस वस्तुका विचार अवश्य  
करना चाहिये ' ॥ १४ ॥

इस वचनके अनुसार यद्वापर निक्षेपोंका कथन किया गया ।

पूर्वोक्त कथनके मान लेने पर भी, किस प्रयोजनको लेकर निक्षेपोंका कथन किया  
जाता है, इसप्रकारकी शंका करने पर आचार्य उत्तर देते हैं, कि श्रोता तीन प्रकारके होते हैं,  
पहला अव्युत्पन्न अर्थात् वस्तु-स्वरूपसे अनभिज्ञ, दूसरा संपूर्ण विवक्षित पदार्थको जाननेवाला,  
और तीसरा एकदेश विवक्षित पदार्थको जाननेवाला । इनमेंसे पहला श्रोता अव्युत्पन्न होनेके  
कारण विवक्षित पदके अर्थको कुछ भी नहीं समझता है । दूसरा ' यहां पर इस पदका कौनसा  
अर्थ अधिकृत है ' इसप्रकार विवक्षित पदके अर्थमें संदेह करता है, अथवा, प्रकरणप्राप्त अर्थको

१ प्रतियु ' जाणिओ ' इति पाठ

२ जय थ ज जाणेज्जा निक्खेवे निक्खेवे निक्खेवे । जय ति अ न जाणेज्जा चउपण निक्खेवे तथ ॥

अठ दा. १, ६.



इति, प्रकृतार्थान्यमर्थमादाय विपर्यस्यति वा । द्वितीयवचनयोऽपि संशेते विपर्य-  
स्यति वा । तत्र यद्यव्युत्पन्नः पर्यायार्थिको भवेन्निक्षेपः क्रियते अव्युत्पन्नव्युत्पादनमुखेन  
अप्रकृतनिराकरणाय । अथ द्रव्यार्थिकः तद्द्वारेण प्रकृतप्ररूपणायाशेषनिक्षेपः उच्यते  
व्यतिरेकधर्मनिर्णयमन्तरेण विधिनिर्णयानुपपत्तेः । द्वितीयतृतीययोः संशयितयोः  
संशयविनाशायशेषनिक्षेपकथनम् । तयोरेव विपर्यस्यतोः प्रकृतार्थवधारणार्थं निक्षेपः  
क्रियते । उक्तं च—

अवगय णिवारणं पयदस्स परुवणा-णिमित्तं च ।

ससय-विणासणं तच्चयवधारणं च ॥ १५ ॥

निक्षेपविमृष्टः सिद्धान्तो वर्ण्यमानो वक्तुः श्रोतुश्चोत्पथोरथानं कुर्यादिति वा ।

मङ्गलस्यैकार्थं उच्यते, मङ्गलं पुण्यं पूतं पवित्रं प्रशस्तं शिवं शुभं कल्याणं भद्रं

छेद कर और दूसरे अर्थको ग्रहण करके विपरीत समझता है । दूसरी जातिके श्रोताके समान  
तीसरी जातिका श्रोता भी प्रकृत पदके अर्थमें या तो सदेह करता है, अथवा, विपरीत निश्चय  
कर लेता है ।

इनमेंसे यदि अव्युत्पन्न श्रोता पर्यायका अर्थो अर्थात् पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा  
वस्तुकी किसी विवक्षित पर्यायको जानता चाहता है, तो उस अव्युत्पन्न श्रोताको प्रकृत  
विषयकी व्युत्पत्तिके द्वारा अप्रकृत विषयके निराकरण करनेके लिये निक्षेपका कथन करना  
चाहिये । यदि वह अव्युत्पन्न श्रोता द्रव्यार्थिक है, अर्थात् सामान्यरूपसे किसी वस्तुका स्वरूप  
जानना चाहता है, तो भी निक्षेपोंके द्वारा प्रकृत पदार्थके प्ररूपण करनेके लिये संपूर्ण निक्षेप कहे  
जाते हैं, क्योंकि, विशेष धर्मके निर्णयके विना विधिकी निर्णय नहीं हो सकता है । दूसरी और  
तीसरी जातिके श्रोताओंको यदि सदेह हो, तो उनके संवेदको दूर करनेके लिये संपूर्ण निक्षेपोंका  
कथन किया जाता है । और यदि उन्हें विपरीत ज्ञान हो गया हो, तो प्रकृत अर्थात् विवक्षित  
वस्तुके निर्णयके लिये संपूर्ण निक्षेपोंका कथन किया जाता है । कहा भी है—

अप्रकृत विषयके निवारण करनेके लिये, प्रकृत विषयके प्ररूपण करनेके लिये, संशयका  
विनाश करनेके लिये और तत्त्वार्थका निश्चय करनेके लिये निक्षेपोंका कथन करना चाहिये ॥१५॥  
अथवा, निक्षेपोंको छोड़कर वर्णन किया गया सिद्धान्त संभव है वक्ता और श्रोता  
दोनोंको कुमार्गमें ले जावे, इसलिये भी निक्षेपोंका कथन करना चाहिये ।

अब मंगलके एकार्थ-वाचक नाम कहते हैं, मंगल, पुण्य, पूत, पवित्र, प्रशस्त, शिव,

१ ननु निक्षेपमानेवैपि प्रमाणनैरपि प्राप्यत एव तत्त्वार्थ इति चेन्न, अत्र दृष्टनिराकरणार्थत्वात्, प्रकृतप्ररूपणार्थ-  
त्वाच्च निक्षेपस्य । न एतद् नामादावप्रकृतैः प्रमाणनयविवक्षितो भवति व्यवहारानाल, सुव्योपचारविभागेनैव तस्मिन् ।  
न च तद्विभागो नामादिनिक्षेपैरेवैव गमनमिति, येन तद्व्यवहारोऽपि तत्त्वार्थविपत्तिं दत्तार । लब्धौ न पृ १९

सौख्यमित्येवमादीनि मङ्गलपर्यायवचनानि । एकार्थप्ररूपणं किमिति चेत्, यतो  
मङ्गलार्थोऽनेकशब्दाभिधेयस्ततोऽनेकेषु शब्देषु नैकाभिधानैः मङ्गलार्थः प्रयुक्तश्चिंतना-  
चार्थैः । सोऽव्यामोहेन शिष्यैः सुखेनावगम्यत इत्येकार्थं उच्यते ' यद्येकशब्देन न  
जानाति ततोऽन्येनापि शब्देन ज्ञापयितव्यः ' इति वचनाद्वा ।

मङ्गलस्य निरुक्तिरुच्यते, मलं गालयति विनाशयति दहति हन्ति विशोधयति  
विध्वंसयतीति मङ्गलम् । तन्मलं द्विविधं द्रव्यभावमलभेदात् । द्रव्यमलं द्विविधम्, बाह्य-  
माभ्यन्तरं च । तत्र स्वेदरजोमलादि बाह्यम् । घन-कठिन-जीव-प्रदेश-निवद्ध-प्रकृति-स्थित्य-  
नुभाग-प्रदेश-विभक्त-ज्ञानावरणाद्यद्यविध-कर्माभ्यन्तर-द्रव्यमलम् । अज्ञानादर्शनादिपरि-

शुभ, कल्याण, भद्र और सौख्य इत्यादि मंगलके पर्यायवाची नाम हैं ।

शंका—यहां पर मंगलके एकार्थ-वाचक अनेक नामोंका प्ररूपण किसलिये किया  
गया है ?

समाधान - क्योंकि, मंगलरूप अर्थ अनेकशब्द-वाच्य है, अर्थात् अनेक पर्यायवाची  
नामोंके द्वारा मंगलरूप अर्थका प्रतिपादन किया जाता है, इसलिये प्राचीन आचार्योंने अनेक  
शब्दोंमें अनेक अर्थात् भिन्न भिन्न शब्दोंके द्वारा मंगलरूप अर्थका प्रयोग किया है । इससे  
मतिभ्रमके विना शिष्योंको मंगलके पर्याय-वाची उन सब नामोंका सरलतापूर्वक ज्ञान हो जावे,  
इसलिये यहां पर मंगलके एकार्थ-वाची नाम कहे हैं ।

अथवा, ' यदि शिष्य एक शब्द से प्रकृत विषयको नहीं समझ पावे, तो दूसरे शब्दोंके  
द्वारा उसे ज्ञान करा देना चाहिये ' इस वचनके अनुसार भी यहाँपर मंगलरूप अर्थके पर्याय-  
वाची अनेक नाम कहे गये हैं ।

अब मंगलकी निवृत्ति ( व्युत्पत्ति-जन्य अर्थ ) कहते हैं । जो मलका गालन करे,  
विनाश करे, घात करे, दहन करे, नाश करे, शोधन करे, विध्वंस करे, उसे मंगल कहते हैं ।  
द्रव्यमल और भावमलके भेदसे वह मल दो प्रकारका है । द्रव्यमल भी दो प्रकारका है, बाह्य-  
द्रव्यमल और आभ्यन्तर-द्रव्यमल । इनमेंसे, पसीना, धूलि और मल आदि बाह्य द्रव्यमल है ।  
सान्द्र और कठिनरूपसे जीवके प्रदेशोंसे बचे हुए, प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, और प्रदेश इन

१ पुण्य पदपवित्रा पसरयसिन्धुस्रवेमकल्लाणा । सुहसोवसादी सव्वे णिद्धिद्धा मंगलस्स पञ्जाया ॥

ति प १, ८  
२ गालनदि णिणासयदे वादेदि देहेदि हति सोधयदे । विद्धसेदि मलाइ जम्हा तम्हा य मंगल मणिदि ॥  
ति प १, ९

३ दोषिण रिपया होति हु मलस्स इम दव्यमावसेपुहि । ति प १, १०

४ दव्यमल दुविहप वाहिरसम्भतर वेय । सेदमल्लेखुक्कपहुदी वाहिरमल सफुद्धि । ति प १, १०-११

५ पुणु विद्धवीरपदेसे णिवक्क्याइ पयविठ्ठिदिजाई । पञ्चमागपदेसेइ चउहिं पचेन्नेज्जमाण तु ॥



गामो भावमलम् ।

अथवा अर्थाभिधानप्रत्ययभेदाप्रतिविधिं मलम् । उत्सवमलम् । अभिधानमलं तद्व्याचकः शब्दः । नयोक्तव्यमद्विः प्रत्ययमलम् । अथवा बहुविधं मलं नामस्थापना-द्रव्यभाषामलभेदान् । अनंक्रविधिं वा । तन्मलं गालयति विनाशयति विध्वंसयतीति मलम् । अथवा मंत्रं मुपं तल्लयति श्राद्धं इति वा मङ्गलम् । उक्तं च—

मंत्रशब्दोऽप्यद्विष्ट पुण्यार्थस्थाभिधायक ।

तन्श्रुतीत्युच्यते सद्भिर्मङ्गल मङ्गलार्थिभिः ॥ १६ ॥

भेदार्थं त्रिभक्तः त्रैसे ज्ञानाचरणान्नि आठ प्रकारके कर्म आभ्यन्तर द्रव्यमल है । अज्ञान और अज्ञान आदि परिणामोंको मानमल कहते हैं ।

अथवा, अर्थ, अभिधान (शब्द) और प्रत्यय (ज्ञान) के भेदसे मल तीन प्रकारका होता है । अर्थमलको तो अभी पहले कह जाये है, अर्थात् जो पहले बाह्य द्रव्यमल, आभ्यन्तर द्रव्यमल और भावमल कहा गया है उसे ही अर्थमल समझना चाहिये । मलके वाचक शब्दोंको अभियान मल कहते हैं । तथा अर्थमल और अभिधानमलमें उत्पन्न हुई बुद्धिको प्रत्ययमल कहते हैं ।

अथवा, नाममल, स्थापनामल, द्रव्यमल और भावमलके भेदसे मल चार प्रकारका है । अथवा, स्तीप्रकार विवक्षाभेदसे मल अनेक प्रकारका भी है । इसप्रकार ऊपर कहे गये मलका जो गालन करे, निगारा करे व ब्रह्म करे उसे मंगल कहते हैं ।

अथवा, मग शब्द सुरनात्री है उसे जो लावे, प्राप्त करे उसे मंगल कहते हैं । ज्ञान भी है—

यद्म मग शब्द पुण्यन्तप अर्थका प्रतिपादन करनेवाला माना गया है । उस पुण्यको जो लाता है उसे मंगलके इच्छुक स्वपुरुष मंगल कहते हैं ॥ १६ ॥

गालनाचरणार्थं गुणैः तन्मानि चपातय । चक्रतद्व्यमल जामपदेसे निपटमिदि हंदा । ति प १, ११-१२.

१ भाषा ५ पाठ २ अण्वाजनादिसपरिणामां ॥ ति. प १, १३

२ यद्म तद्गुणैः पापान्तरादि दन्तमामभेदा । ति प १, १४.

३ ताम गार्भदि पुर चरो नदी भग्न भण्दि ॥ ति प १, १६

४ यद्म मग गोराच न्नादि टु गार्भदि मंगल तन्म । एदण कञ्चामिदि मगार्थ्येदि गथकचोरो ॥

५. तु ॥ गिर्दि नगपुत्र च गार्भदि भण्दि । त तदि इ अदते जदो तदो मंगल्यवर ॥ ति प १, १४, १५.

ति प १, १६.

'पाप मलमिति प्रोक्तमुपचारसमाश्रयात् ।

तद्वि गालयतीत्युक्त मङ्गल पण्डितैर्जने ॥ १७ ॥

अथवा मङ्गलति गच्छति कर्ता कार्यसिद्धिमेनान्स्मिन् वेति मङ्गलम् । मङ्गलशब्द-स्यार्थविषयनिश्चयोत्पादनार्थं निरुक्तिरुक्ता । मङ्गलस्यानुयोगे उच्यते—

किं कस केण कथं व केचिद्वि कदिविधो य भावो ति ।

छहि अणिओग-इरोहि सञ्चे मात्राणुगतन्वां ॥ १८ ॥ इदि वयणादो ।

किं मङ्गलम् ? जीवो मङ्गलम् । न सर्वजीवानां मङ्गलप्राप्तिः द्रव्यार्थिकनयोपेक्षया मङ्गलपर्यायपरिणतजीवस्य पर्यायार्थिकनयोपेक्षया केवलज्ञानादिपर्यायाणां च मङ्गल-

उपचारसे पापको भी मल कहा है । इसलिये जो उसका गालन अर्थात् नाश करता है उसे भी पण्डितजन मंगल कहते हैं ॥ १७ ॥

अथवा कर्ता, अर्थात् किसी उद्दिष्ट कार्यको करनेवाला, जिसके द्वारा या जिसके क्रिये जाने पर कार्यकी सिद्धिको प्राप्त होता है उसे भी मंगल कहते हैं । इसतरह मंगल शब्दके अर्थ-विषयक निश्चयके उत्पन्न करनेके लिये मंगल शब्दकी निरुक्ति कही गई है ।

अप मंगलका अनुयोग कहते हैं, अर्थात् अनुयोगद्वारा मंगलका निरूपण करने हैं ।

विशेषार्थ—जिनेन्द्रकथित आगमका पूर्वपर सदर्म मिलते हुए अनुकूल व्याख्यान करनेको अनुयोग कहते हैं । अथवा, सूत्रका उसके वाच्यरूप विषयके साथ संबन्ध जोड़नेको अनुयोग कहते हैं । अथवा, एक ही भगवत्-प्रोक्त-सूत्रके अन्त अर्थ होते हैं, इसलिये सूत्रकी 'अणु' स्था है । उस सूक्ष्मरूप सूत्रका अर्थरूप विस्तारके साथ संबन्धके प्रतिपादन करनेको अनुयोग कहते हैं ।

पदार्थ क्या है, किसका है, किसके द्वारा होता है, कहां पर होता है, कितने समय तक रहता है, कितने प्रकारका है, इसप्रकार इन छह अनुयोग-इरोंसे संपूर्ण पदार्थका ज्ञान करना चाहिये ॥ १८ ॥ इस वचनको अनुयोगद्वारा मंगलका निरूपण किया जाता है ।

मंगल क्या है ? जीव ही मंगल है । किन्तु जीव जो मंगल कहनेसे सभी जीव मंगलरूप नहीं हो जावेगे, क्योंकि, द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा मंगलपर्यायसे परिणत जीवको अर्थात् मंगल करते हुए जीवको, और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा केवलज्ञानादि पर्यायोंको मंगल माना है ।

१ पात्र मल ति मण्णदि उचचारसचपणुण जीमाण । त गालेदि विणाम गेदि ति मण्णति मण्णं केरं ॥

ति प १, १७

२ जशुजीयणमणुओगी गुयस नियएण जमभिधेएण । वात्रो वा जोगो वा जण्णकोऽणुज्जला वा ॥

३ मूलाचा ७०५ दुमिहा पन्वणा, उणया य नवहा य छपया इण्णो । कि वस्स जेण न कहि केचिद्वि कइविरो य मवे ॥ आ ति ८६४ तानीमानि यडुययोगद्वाराणि, निदंशरुपामि त्पाथमाधिहरणारिपतिनिवान्त ।

त्वाभ्युपगमात् ।

कस्य मङ्गलम् ? द्रव्याधिकनयार्पणया नित्यतामादधानस्य पर्यायार्थिकनयार्पण-  
योत्पादविगमात्मकस्य । देवदत्तत्वरूपलसेव न जीवान्मङ्गलपर्यायस्य भेदः सुवर्ण-  
स्याङ्गुलीयकमित्यत्राभेदोऽपि षष्ठ्युपलम्भतोऽनेकान्तात् ।

केन मङ्गलम् ? औदयिकादिमाँवैः ।

क मङ्गलम् ? जीवि । कुण्डाद्द्राणाभिव न जीवान्मङ्गलपर्यायस्य भेदः मारे लम्भे

मंगल किसके होता है? द्रव्याधिक नयकी अपेक्षा नित्यताको धारण करनेवाले अर्थात् सदाकाल एकस्वरूप रहनेवाले और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा उत्पाद और व्ययस्वरूप जीवके मंगल होता है। यद्य पर जिसप्रकार (कम्बल देवदत्तता होने हुए भी) देवदत्तसे कम्बलका भेद है, उसप्रकार जीवता मंगलरूप पर्यायसे भेद नहीं है। क्योंकि, 'यह अङ्गुली स्वर्णकी है' यद्य पर अभेदमें, अर्थात् अणुहीनरूप पर्याय स्वर्णसे अपिच होने पर भी जिसप्रकार भेदयुक्तक पट्टी विभक्ति देवी जाती है, उसीप्रकार 'जीवस्य मंगलम्' यहाँ पर भी अभेदमें पट्टी विभक्ति समझना चाहिये। इततरह संबन्धकारणमें अनेकान्तात् समझना चाहिये। अर्थात् कहीं पर दो पदार्थोंमें भेद होने पर भी संबन्धकी विवक्षामें पट्टी कारणक होता है और कहीं पर अभेद होने पर भी पट्टी कारणका प्रयोग होता है।

किस कारणसे मंगल उत्पन्न होता है? जलिके औदयिक, अंगणमिक आदि भागोंसे मंगल उत्पन्न होता है।

विशेषार्थ—यद्यपि कर्मोंके उपशाम, क्षय और क्षयोपशामसे मय्यवर्तनादिकी उत्पत्ति होती है, इसलिये उनसे मंगल की उत्पत्ति मानना तो ठीक है। परन्तु औदयिक भागसे मंगलकी उत्पत्ति नहीं बन सकती है, इसलिये यहाँ पर 'औदयिक आदि भागोंसे मंगल उत्पन्न होता है' यह कहना किसप्रकार संभव है? इसका समाधान इसप्रकार समझना चाहिये कि यद्यपि सभी औदयिक भाव मंगलकी उत्पत्तिमें कारण नहीं हैं, फिर भी तर्किकर पृष्ठान्तिके उदयसे उत्पन्न होनेवाला औदयिक भाव मंगलका कारण है। इसलिये उनमें भी अर्थात् औदयिक भावकी भी मंगलकी उत्पत्तिके कारणोंमें प्रवृत्त किया है।

मंगल किसमें उत्पन्न होता है? जीवमें मंगल उत्पन्न होता है। जिसप्रकार कूड़ेसे उसमें रखे हुए बेरोंका भेद है, उसप्रकार जीवसे मंगलपर्यायका भेद नहीं समझना चाहिये, क्योंकि, 'सारे स्तंभ' अर्थात् वृक्षके मारमें स्तंभ है। यहाँ पर जिसतरह अभेदमें भी मन्त्रमी विभक्तिकी

त सू १, ७ तत्र क्रियानुवांगं वस्तुरूपफलान् निरुक्तं । यदौलम्बयाम् नृगं माधिययकाम राधियम् ।  
केनैति श्रं कणनिष्पन्न साधनम् । तस्मिन्निनुवांगे आधायातिवास्तुमधिकरणम् । क्रियविगमिती तत्रे कालरूपण  
रिपति । कतिविध इगुवांगे प्रकारभवन निगन्तु । लवणम् पृ १५  
? मतिपु ' गारुस्तम्भ ' इति पाल ।

इत्यत्राभेदोऽपि मत्प्रत्युपलम्भतोऽनेकान्तात् ।

क्रियविधं मङ्गलम् ? नानाजीवापेनया मनीयम् । एकजीवापेनया  
अनाद्यपर्यवसितं साद्यपर्यवसितं सादियपर्यवसितमिति त्रिविधम् । कथमनाद्य-  
पर्यवसितना मङ्गलस्य ? द्रव्याधिकनयार्पणया । तथा च मित्यादृष्टयवस्था-  
यामपि मङ्गलत्वं जीवस्य ग्रामोतीति चैत्रप दोषः इष्टत्वात् । न मित्याधिरतिप्रमादानां  
मङ्गलत्वं तेषां जीवत्वाभावात् । जीवो हि मङ्गलम् म च केवलज्ञानाद्यनन्तयमर्त्मकः ।  
नानृतावयवार्थां मङ्गलीभूतकेवलज्ञानाद्यभावाः आत्रियमाणकेवलज्ञाद्यभावे नदानरानानुपपत्तेः ।  
जीवलक्षणयोजनानद्वितीययोगभावे लक्ष्यम्याप्यभावापत्तेश्च, न चैवं तथाऽनुपलम्भान् ।

उपलब्धि होती है, उसीप्रकार 'जीवि मंगलम्' यहाँ पर भी अभेदमें नन्तनी विभक्ति समझना  
चाहिये। इततरह यद् मित्य बुझा कि अधिनक्षण कारणके प्रयोगमें भी अनेकान्तात् है। अर्थात् वही  
भेदमें भी अधिनक्षण कारणक होता है और कहीं अभेदमें भी अधिनक्षण कारणक होता है।  
कथनक मंगल रहता है? नाना जीवोंकी अपेक्षा मनीया मंगल रहता है और एक  
जीवकी अपेक्षा अनादि-अनन्त, सादि-लान्त, और नादि-न्यान्त इसप्रकार मंगलके तीन भेद हो  
जाते हैं।

अंश — मंगलमें एक जीवकी अपेक्षा अनादि-अनन्तपणा कैसे बनता है, अर्थात् एक  
जीवके अनादि ज्ञानसे अन्तकाल तक मंगल होता है यह कैसे संभव है?

ममाधान—द्रव्याधिक नयकी प्रयत्नतासे मंगलमें अनादि-अनन्तपणा बन जाता है।  
अर्थात् द्रव्याधिक नयकी मृत्युतासे जीव अनादिकालसे अन्तकाल तक सर्वदा एक स्वभाव  
अवस्थित है और मंगलरूप पर्याय उससे मनीया सिद्ध नहीं है। फलपत्र मंगलमें भी अनादि-  
अनन्तपणा बन जाता है।

अंश — इततरह तो मित्यादृष्टि अरस्थामें भी जीवसे मंगलपनेकी प्राप्ति हो  
जायगी?

ममाधान—यद् कोई जीव नहीं है, क्योंकि, ऐसा प्रश्न तो हमें इष्ट ही है। किन्तु ऐसा  
मान लेने पर भी मित्यात्त, अधिरति, प्रमाद आदि को मंगलपना सिद्ध नहीं हो सकता है,  
क्योंकि, उनमें जीवता नहीं पाया जाता है। मंगल तो जीव ही है, और यह जीव केवलज्ञानादि  
अनन्त धर्मोत्पत्तिक है।

अनुत्त अरस्थामें अर्थात् केवलज्ञानावरण आदि कर्मबन्धनकी दृशामें मंगलीभूत  
केवलज्ञानादिका अभाव है, अर्थात् उस अरस्थामें वे मनीया नहीं पाये जाते। यदि  
कोई ऐसा प्रश्न करे, तो, आधियमाण अर्थान् जो कर्मोंके द्वारा आवृत्त होते हैं वेसे केवलज्ञानादिके  
अभावमें केवलज्ञानादिको आरण करनेवाले कर्मोंका मङ्गाय सिद्ध नहीं हो सकेगा। दूसरे,  
जीवके लक्षणरूप ज्ञान और दर्शनके अभाव मानने पर लक्ष्यरूप जीवके अभावकी भी आपत्ति  
आ जाती है। लेकिन ऐसा नहीं है, क्योंकि, प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे जीवकी उपलब्धि नहीं होती

न भस्मच्छन्नाग्निना व्यभिचारः तापप्रकाशयोस्तत्राप्युपलम्भात् । पर्यायत्वाकेवलदीनां न स्थितिरिति चेन्न, अत्रुद्यज्जानसंतानापेक्षया तस्मैर्यस्य विरोधाभावात् । न छन्नस्थज्ञान-दर्शनयोरल्पत्वादमङ्गलत्वमेकदेशस्य माङ्गल्याभावे तद्विस्वावयवानामप्यमङ्गलत्वप्रप्तेः । रजोजुषां ज्ञानदर्शने न मङ्गलीभूतकेवलज्ञानदर्शनयोरवयवविवेकं चेन्न, ताभ्यां व्यतिरिक्त-योस्तयोरसत्त्वात् । मत्याद्योऽपि सन्तीति चेन्न, तदवस्थानां मत्यादिव्यपदेशात् ।

तो पेना नहीं देगा जाता । किंतु प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे भी उसकी उपलब्धि होती ही है ।

यहां पर भस्मसे ढकी हुई अग्नि के साथ व्यभिचार दोष भी नहीं आता है, क्योंकि, ताप और प्रकाश की नहीं पर भी उपलब्धि होती है ।

विशेषार्थ— आद्युत अवस्थामें भी केवलज्ञानादि पाये जाते हैं, क्योंकि, वे जीवके गुण हैं, यदि उस अवस्थामें उनका अभाव माना जाये तो जीवका भी अभाव मानना पड़ेगा । इस अनुमानको व्याप्तमें रसकार शक्ताकारका कहना है कि इस तरह तो भस्मसे ढकी हुई अग्निसे व्यभिचार तो जावेगा, क्योंकि, भस्माच्छादित अग्निमें अशिरूप द्रव्यका सद्भाव तो पाया जाता है, किंतु उसके धर्मरूप ताप और प्रकाशका सद्भाव नहीं पाया जाता है । इसतरह हेतु विपक्षमें चला जाता है, अतएव वह व्यभिचरित हो जाता है । इसप्रकार शक्ताकारका भस्मसे ढकी हुई अग्निसे साथ व्यभिचारका दोष देना ठीक नहीं है, क्योंकि, राखसे ढकी हुई अग्निमें भी उसके गुणधर्म ताप और प्रकाशकी उपलब्धि अनुमानादि प्रमाणोंसे बराबर होती है ।

शंका—केवलज्ञानादि पर्यायरूप हैं, इसलिये आद्युतअवस्थामें उनका सद्भाव नहीं बन सकता है ?

समाधान—यह शका भी ठीक नहीं है, क्योंकि, कभी भी नहीं दृष्टनेवाली ज्ञान-सत्तावती अपेक्षा केवलज्ञानके सद्भाव मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

उत्तरार्थ अर्थात् अल्पज्ञानियोंके ज्ञान और दर्शन अल्प होनेमात्रसे अमगल नहीं हो सकते हैं, क्योंकि, ज्ञान और दर्शनके एकदेशमें मंगलपक्षका अभाव स्वीकार कर लेने पर ज्ञान और दर्शनके संपूर्ण अवयवोंको भी अमगल मानना पड़ेगा ।

शंका आचरणसे युक्त जीवोंके ज्ञान और दर्शन मंगलीभूत केवलज्ञान और केवल-दर्शनके अवयव ही नहीं हो सकते हैं ?

समाधान—पेसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, केवलज्ञान और केवलदर्शनसे भिन्न ज्ञान और दर्शनका सद्भाव नहीं पाया जाता है ।

शंका—केवलज्ञान और केवलदर्शनसे अनिरिक्त मतिज्ञानादि ज्ञान और चक्षुदर्शन आदि दर्शन तो पाये जाते हैं । इनका अभाव कैसे किया जा सकता है ?

समाधान—उस ज्ञान और दर्शनसम्बन्धी अवस्थाओंकी मतिज्ञानादि और चक्षुदर्शनादि ज्ञाना सत्कार हैं । अर्थात् ज्ञानगुणकी अवस्थाविशेषका नाम मत्यादि और दर्शनगुणकी अवस्था-

तयोः केवलज्ञानदर्शनाङ्कुरयोर्मङ्गलत्वे मिथ्यादृष्टिरपि मङ्गलं तत्रापि तौ स इति चेद्भवतु तद्रूपतया मङ्गलम्, न मिथ्यात्वादीनां मङ्गलम् । तत्र मिथ्यादृष्टयः सुगतिभाजः सम्यग्दर्शनमन्तरेण तज्ज्ञानस्य सम्यक्त्वाभावतस्तदभावात् । कथं पुनस्तज्ज्ञानदर्शनयोर्मङ्गल-त्वमिति चेन्न, सम्यग्दृष्टीनामवगतासस्वरूपाणां केवलज्ञानदर्शनावयवत्वेनाध्यवसितरजो-जुड्ज्ञानदर्शनानामावरणविविक्तानन्तज्ञानदर्शनशक्तिखिचितासम्भूतानां वा पापक्षय-कारित्वतस्तयोस्तदुपपत्तेः । नोआगमभव्यद्रव्यमङ्गलोपेक्षया वा मङ्गलमनाद्यपर्यवसानमिति । रत्नत्रयमुपादायाविनयेनैवाप्तसिद्धस्वरूपापेक्षया नैगमनयेन साध्यपर्यवसितं मङ्गलम् ।

विशेषका नाम चक्षुदर्शनादि है । यथार्थमें इन सब अवस्थाओंमें रहनेवाले ज्ञान और दर्शन एक ही हैं ।

शंका—केवलज्ञान और केवलदर्शनके अङ्कुररूप छन्नस्थोंके ज्ञान और दर्शनको मंगल-रूप मान लेने पर मिथ्यादृष्टि जीव भी मंगल संज्ञाको प्राप्त होता है, क्योंकि, मिथ्यादृष्टि जीवमें भी वे अङ्कुर विद्यमान हैं ?

समाधान—यदि ऐसा है तो भले ही मिथ्यादृष्टि जीवको ज्ञान और दर्शनरूपसे मंगलपना प्राप्त हो, किंतु मिथ्यात्वादिके संबन्धसे मिथ्यादृष्टि जीव मंगल नहीं हो सकता है । और इसलिये मिथ्यादृष्टि जीव सुगतिको प्राप्त नहीं हो सकते हैं, क्योंकि, सम्यग्दर्शनके बिना मिथ्यादृष्टियोंके ज्ञानमें समीचीनता नहीं आ सकती है । तथा समीचीनताके बिना उन्हें सुगति नहीं मिल सकती है ।

शंका—फिर मिथ्यादृष्टियोंके ज्ञान और दर्शनको मंगलपना कैसे है ?

समाधान—ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि, आप्तके स्वरूपको जाननेवाले, छन्नस्थोंके ज्ञान और दर्शनको केवलज्ञान और केवलदर्शनके अवयवरूपसे निश्चय करनेवाले और आचरण-रहित अनन्तज्ञान और अनन्तदर्शनरूप शक्तिसे युक्त आत्माका स्मरण करनेवाले सम्यग्दृष्टियोंके ज्ञान और दर्शनमें जितप्रकार पापका क्षयकारीपना पाया जाता है, उसीप्रकार मिथ्यादृष्टियोंके ज्ञान और दर्शनमें भी पापका क्षयकारीपना पाया जाता है । इसलिये मिथ्यादृष्टियोंके ज्ञान और दर्शनको भी मंगल माननेमें विरोध नहीं है । अथवा, नोआगमभविष्य मंगलकी अपेक्षा मंगल अनादि-अनंत है ।

विशेषार्थ—जो आत्मा वर्तमानमें मंगलपर्यायसे युक्त तो नहीं है, किंतु भविष्यमें मंगलपर्यायसे युक्त होगा । उसके शक्तिकी अपेक्षासे अनादि-अनन्तरूप मंगलपना बन जाता है ।

रत्नत्रयको धारण करके कभी भी नष्ट नहीं होनेवाले रत्नत्रयके द्वारा ही प्राप्त हुए सिद्धके स्वरूपकी अपेक्षा नैगमनयसे मंगल सादि-अनंत है ।

विशेषार्थ—रत्नत्रयकी प्राप्तिसे सादिपना और रत्नत्रय प्राप्तिके अनंतर सिद्ध स्वरूप-



निता. प्रणश्यन्ति भय न जातु न दृष्टेयाः परिलक्ष्यन्ति ।  
अर्थाथेयथाश्च मदा लभन्ते निनोत्तमानां परिकीर्तयन्ति ॥ २१ ॥  
आशी मयेंद्रसामे च मङ्गल भाषित बुधे ।  
तन्निन्दन्गुणस्तोत्र तद्विज्ञप्रसिद्धये ॥ २२ ॥

तत्र मंगलं इतिहं निवद्वमनिवद्वमिदि । तस्य निवद्वं णाम, 'जो सुतस्सादीए सुत-कचारेण निवद्व-देवदा-गमोकारो तं निवद्व-मंगलं । जो सुतस्सादीए सुत-कचारेण कय-देवदा-गमोकारो तमनिवद्व-मंगलं । इदं पुण जीवद्वानं निवद्व-मंगलं । यत्तो ' इमेसि चोद्मण्हं जीवसमासाणं ' इदि एदस्स सुतस्सादीए निवद्व- ' णमो अरिहंताणं ' इच्चादि-देवदा-गमोकार-दंसणादो ।

मुत्तं किं मंगलमुढ अमंगलमिदि ? जदि ण मंगलं, ण तं मुत्तं पावकारणस्स

जिनेन्द्रदेवके गुणोंका कीर्तन करनेसे विघ्न नाशको प्राप्त होते हैं, कभी भी भय नहीं होता है, हुए देवता आरुमण नहीं कर सकते हैं और निरन्तर थयेष्ट पदार्थोंकी प्राप्ति होती है ।

विज्ञान पुस्तोंने, प्रारम्भ किये गये किसी भी कार्यके आदि, मध्य और अन्तमें मंगल करनेका विधान किया है । वह मंगल निर्विघ्न कार्यसिद्धिके लिये जिनेन्द्र भगवानके गुणोंका कीर्तन करना ही है ।

यह मंगल दो प्रकारका है, निवद्व-मंगल और अनिवद्व-मंगल । जो ग्रन्थके आदिमें ग्रन्थकारके द्वारा हुए देवता नमस्कार निवद्व कर दिया जाता है, अर्थात् स्तोत्रादिवरूपसे रचा जाता है, उसे निवद्व-मंगल कहते हैं । और जो ग्रन्थकारके द्वारा देवताको नमस्कार किया जाता है ( किन्तु स्तोत्रादिके द्वारा संग्रह नहीं किया जाता है, ) उसे अनिवद्व मंगल कहते हैं । उनमेंसे यह ' जीवस्थान ' नामका प्रथम खण्डगम निवद्व-मंगल है, क्योंकि, ' इमेसि चोद्मण्हं जीवसमासाणं ' इत्यादि जीवस्थानके इस सूत्रके पहले ' णमो अरिहंताणं ' इत्यादि रूपसे देवता-नमस्कार निवद्वरूपसे देवनेमें आता है ।

शंका—सूत्र-ग्रन्थ स्वयं मंगलरूप है, या अमंगलरूप ? यदि सूत्र स्वयं मंगलरूप नहीं है, तो का सूत्र भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि, मंगलके अभावमें पापका कारण होनेसे

' णामदि पिच भेददि यही द्वा गुण ग लघति । इदो ऽथो लब्ध विण्णाम गहणंतेण ॥

ति प १, ३०

२. पारसं मतिपु ' जो गुत्सादीए गुत्कताए ऋदेवदाणमोकारो त निवद्वमंगल । जो सुतस्सादीए गुत्कताए निवद्वो देवदाणमोकारो तमनिवद्वमंगल ' इति पाठ ।

३. जत्र मंगल मं पिच सत्य तो किमिह मंगलगण्ण ? सीसममंगलपाण्णहृत्समेत्त तदमिहण ॥ इह सत्त पि मंगलदीए मंगल जरा साह । मंगलनिवद्वदिपणिग्गे वि नउ काए मनिं ॥ वि. मा. २०, २१

मुत्त-विरोहदो । अह मंगलं, किं तस्य मंगलेण एगदो चय कज्ज-णिप्पचीदो इदि । ण ताव मुत्तं ण मंगलमिदि ? तारिस-पइज्जाभावादो परिसेसादो मंगलं स । सुत्तस्सादीए मंगलं पठिज्जदि, ण पुवुत्तदोसो वि दोण्हं पि पुघ पुघ विणासिज्जमाण-पाव-दंसणादो । पठण-विघ-विदावणं मंगलं । मुत्तं पुण समयं पडि असंखेज्ज-गुण-सेढीए पावं गालिय पच्छा सव्व-कम्म-वखय-कारणमिदि । देवतानमस्कारोऽपि चरमावस्थायां कृत्स्नकर्मक्षय-कारीति द्वयोरप्येकार्यकर्तृत्वमिति चेन्न, ह्यत्रविषयपरिज्ञानमन्तरेण तस्य तथाविधसामर्थ्या-भावात् । शुक्लध्यानान्मोक्षः, न च देवतानमस्कारः शुक्लध्यानमिति ।

इदानीं देवदा-णमोकार-सुत्तस्सत्थो उच्चदे ।

' णमो अरिहंताणं ' अरिहननादरिहन्ता । नरकतिर्यकुमानुपुत्र-

उसका सूत्रपनेसे विरोध पड़ जाता है । और यदि सूत्र स्वयं मंगलरूप है, तो फिर उसमें अलगसे मंगल करनेकी क्या आवश्यकता है, क्योंकि, मंगलरूप एक सूत्र-ग्रन्थसे ही कार्यकी निष्पत्ति हो जाती है ? और यदि कहा जाय कि यह सूत्र नहीं है, अतएव मंगल भी नहीं है, तो ऐसा तो कहीं कहा नहीं गया कि यह सूत्र नहीं है । अतएव यह सूत्र है और परिशेष न्यायसे मंगल भी है । तत्र फिर इसमें अलग से मंगल क्यों किया गया ?

समाधान — सूत्र के आदि में मंगल किया गया है तथापि पूर्वोक्त दोष नहीं आता है, क्योंकि, सूत्र और मंगल इन दोनों से पृथक् पृथक् रूपमें पापोंका विनाश होता हुआ देखा जाता है ।

निवद्व और अनिवद्व मंगल पठनमें आनेवाले विघ्नको दूर करता है, और सूत्र, प्रति-समय असंख्यत-गुणित-श्रेणिरूपसे पापोंका नाश करके उसके बाद संपूर्ण कर्मोंके क्षयका कारण होता है

शंका—देवता-नमस्कार भी अन्तिम अवस्थामें संपूर्ण कर्मोंका क्षय करनेवाला होता है, इसलिये मंगल और सूत्र ये दोनों ही एक कार्यको करनेवाले हैं । फिर दोनोंका कार्य भिन्न भिन्न क्यों बतलाया गया है ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि, सूत्रकथित विषयके परिज्ञानके बिना केवल देवता-नमस्कारमें कर्मक्षयकी सामर्थ्य नहीं है । मोक्षकी प्राप्ति शुक्लध्यानसे होती है, परंतु देवता-नमस्कार तो शुक्लध्यान नहीं है ।

विशेषार्थ — शास्त्रज्ञान शुक्लध्यानका साक्षात् कारण है और देवता-नमस्कार परंपरा कारण है, इसलिये दोनोंके अलग अलग कार्य बतलाये गये हैं ।

अब देवता-नमस्कार सूत्रका अर्थ कहते हैं । ' णमो अरिहंताणं ' अरिहंतोंको नमस्कार हो । अरि अर्थात् शत्रुओंके ' हननात् ' अर्थात् नाश करनेसे ' अरिहंत ' यह संज्ञा प्राप्त होती

प्रेतावासगतशेषदुःखप्राप्तिनिमित्तत्वादरिमेहिः । तथा च शेषकर्मव्यापारो वैफल्यपेयादिति चेन्न, शेषकर्मणां मोहतन्त्रत्वात् । न हि मोहमन्तरेण शेषकर्मणि स्वकार्यनिष्पत्तौ व्यापृतान्युपलभ्यन्ते येन तेषां स्वातन्त्र्यं जायेत । मोहे विनष्टेऽपि कियन्तमपि कालं शेषकर्मणां संचोपलम्भाच्च तेषां तत्तन्त्रत्वमिति चेन्न, विनष्टेऽपि जन्ममरणप्रबन्धलक्षणसंसारोत्पादनसामर्थ्यमन्तरेण तत्संचस्यासंचसमानत्वात् केवलज्ञानाद्येषात्मगुणाविर्भावप्रतिबन्धनप्रत्ययसमर्थत्वाच्च । तस्योर्देहननादरिहन्ता ।

रजोहृदनाद्वा अरिहन्ता । ज्ञानदृशावरणानि रजांसीव बहिरङ्गान्तरङ्गशेषत्रिकालोचरानन्तार्थव्यञ्जनपरिणामात्मकवस्तुविषयवोधानुभवप्रतिबन्धकत्वाद्द्रजांसि । मोहोऽपि रजः

हे । नरक, तिर्यक्, कुमात्रुप और प्रेत इन पर्यायोंमें निवास करनेसे होनेवाले समस्त दुःखोंकी प्राप्तिका निमित्तकारण होनेसे मोहको 'अरि' अर्थात् शत्रु कहा है ।

शंका — केवल मोहको ही अरि मान लेनेपर शेष कर्मोंका व्यापार निष्फल हो जाता है ?

समाधान — ऐसा नहीं है, क्योंकि, बाकीके समस्त कर्म मोहके ही आधीन हैं । मोहके विना शेष कर्म अपने अपने कार्यकी उत्पत्तिमें व्यापार करते हुए नहीं पाये जाते हैं । जिससे कि वे भी अपने कार्यमें स्वतन्त्र समझे जायं । इसलिये सच्चा अरि मोह ही है, और शेष कर्म उसके आधीन है ।

शंका — मोहके नष्ट हो जाने पर भी कितने ही काल तक शेष कर्मोंकी सत्ता रहती है, इसलिये उनको मोहके आधीन मानना उचित नहीं है ?

समाधान — ऐसा नहीं समझना चाहिये, क्योंकि, मोहरूप अरिके नष्ट हो जाने पर जन्म, मरणकी परंपरारूप संसारके उत्पादनकी सामर्थ्य शेष कर्मोंमें नहीं रहनेसे उन कर्मोंका सत्व असत्त्वके समान हो जाता है ।

तथा केवलज्ञानादि संपूर्ण आत्म-गुणोंके आविर्भावके रोकनेमें समर्थ कारण होनेसे भी मोह प्रधान शत्रु है, और उस शत्रुके नाश करनेसे 'अरिहंत' यह संज्ञा प्राप्त होती है ।

अथवा, रज अर्थात् आवरण-कर्मोंके नाश करनेसे 'अरिहंत' यह संज्ञा प्राप्त होती है । ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म धूलिकी तरह, बाह्य और अन्तरंग समस्त त्रिकालके विषयभूत-अनन्त अर्थपर्याय और व्यजनपर्यायस्वरूप वस्तुओंको विषय करनेवाले बोध और अनुभवके प्रतिबन्धक होनेसे रज कहलाते हैं । मोहको भी रज कहते हैं, क्योंकि, जिसप्रकार जिनका मुख

१ प्रतिशु अत्रान्यत्र च 'अरिहंत' इति पाठ । रागदोमत्साए व ददियाणि य पच । परीसहे उवसंगे णासयतो णमोरिहा ॥ मूलावा ५०४ अहविह पि य रुम्प अरिभू होर सन्धीणण । त कम्ममारि हा अरिहा तेण बुक्कति ॥ इदियविमयकमाए, परिमं वेण्णा उवसणे । एए; अरिणि हाता अरिहा तेण बुक्कति ॥

वि भा ३५८३, ३५८२

भस्मरजसा पूरिताननानामिव भूयो मोहाधरुद्धात्मनां जिह्वभावोपलम्भात् । किमिति वितयस्यैव विनाश उपदिश्यत इति चेन्न, एतद्विनाशस्य शेषकर्मविनाशाविनाभावित्वात् । तेषां हननादरिहन्ता ।

रहस्याभावाद्वा अरिहन्ता । रहस्यमन्तरायः, तस्य शेषधातिवितयविनाशाविनाभाविनो अष्टवीजवनिःशक्तीकृताघातिकर्मणो हननादरिहन्ता ।

अतिशयपूजाहर्षाद्वाहन्तः । स्वर्गावतरणजन्मभिषेकपरिनिष्क्रमणकेवलज्ञानोत्पत्तिपरिनिर्वाणेषु देवकृतानां पूजानां देवासुरमानवप्राप्तपूजाभ्योऽधिकत्वाद्दतिशयानामहत्वाद्योग्यत्वादहन्तः ।

भस्मसे व्याप्त होता है उनमें जिम्बूभाव अर्थात् कार्यकी मन्दता देखी जाती है, उसीप्रकार मोहसे जिनका आत्मा व्याप्त हो रहा है उनके भी जिम्बूभाव देखा जाता है, अर्थात् उनकी स्वातन्त्र्यमूर्तिमें कालुष्य, मन्दता या कुटिलता पाई जाती है ।

शंका — यहाँ पर केवल तीनों, अर्थात् मोहनीय, ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मके ही विनाशका उपदेश क्यों किया गया है ?

समाधान — ऐसा नहीं समझना चाहिये, क्योंकि, शेष सभी कर्मोंका विनाश इन तीनों कर्मोंके विनाशका अधिनाभावी है । अर्थात् इन तीनों कर्मोंके नाश हो जाने पर शेष कर्मोंका नाश अवश्यभावी है । इसप्रकार उनका नाश करनेसे अरिहंत संज्ञा प्राप्त होती है ।

अथवा, 'रहस्य' के अभावसे भी अरिहंत संज्ञा प्राप्त होती है । रहस्य अन्तराय कर्मको कहते हैं । अन्तराय कर्मका नाश शेष तीनों घातिया कर्मोंके नाशका अधिनाभावी है, और अन्तराय कर्म के नाश होनेपर अघातिया कर्म अष्ट बीज के समान निःशक्त हो जाते हैं । ऐसे अन्तराय कर्मके नाशसे अरिहंत संज्ञा प्राप्त होती है ।

अथवा, सातिशय पूजाके योग्य होनेसे अर्हन् संज्ञा प्राप्त होती है, क्योंकि, गर्भ, जन्म, वीर्या, केवल और निर्वाण इन पाँचों कल्याणकर्मोंमें देवोंद्वारा की गई पूजाएं देव, असुर और मनुष्योंको प्राप्त पूजाओंसे अधिक अर्थात् महान हैं, इसलिये इन अतिशयोंके योग्य होनेसे अर्हन् संज्ञा समझना चाहिये ।

१ अहति णमोत्तर औरा पूजा सुत्ताभा लेण । जहा अरिहति य अरहा तेण उचधे ॥ मूलावा ५०५ अरिहति वदणमण्णाए जहिहति पूतत्ताए । मिदियाण्ण च अरिण अरहा तेण बुक्कति ॥ देवापुरमणुए अरिणा पूजा एत्थमा जहा । अरिणि हाता रा हाता अरिहा तेण तुक्कति ॥ वि. भा ३५८४, ३५८०

२ अरिणमान वा रह एनातलो देस, अन्तभ मण णिरिअहदीनां सचेदितया ममत्तात्सुत्तोमत-प्रच्छयहराणामेने नेवा ते अरहोऽन्तर [ अरहा ] अपाया अविचमानो रथ स्यदन सकुलपथिअहोपलक्षणभुन-अन्तभ विनालो जरायुपलक्षणत्तो येवा ते अथान्ता [ अरहा ] । अपवा ' अरहाण ' ति ऋचिदयानामिभग उत ,



आभिर्भूतानन्तज्ञानदुर्गनसुखवीर्यविरतिधायिकसम्यक्तवदानलाभभोगोपभोगाद्यन-  
न्त्युणन्वादिहैवात्मसात्कृतसिद्धस्वरूपाः स्फुटिरुमणिमहीधरगर्भोद्भूतादित्यविम्बवैदीव्य-  
मानाः स्वगरीरपरिमाणा अपि ज्ञानेन व्याप्तविश्वरूपाः स्वस्थिताशेषप्रमेयत्वतः प्राप्त-  
विश्वरूपाः निर्गतायोगामयत्ततो निरामयाः विगतायोगपापाजनपुञ्जत्वेन निरञ्जनाः  
दोगफलतत्त्वतो निष्कलाः । तेभ्योऽर्हद्भ्यो नमः, इति यावत् ।

गिर-मोह-तरुणो विधिष्णाणाण-सायरुत्तिष्णा ।

गिहय गिय-विग्व गगा बहु-वाह-विगिगया अयला ॥ २३ ॥

दधिय-मयण-धयावा तिकाळ-विसण्हि तीहि णयणेहि ।

दिड-सयलड-सारा सुदद-तिउरा मुणि-व्वइणो ॥ २४ ॥

ति-रयण-तिमूळ धारिय मोहयासुर-कवव-विद-हरा ।

मिद्व सनलण-रुवा अरहता दृण्णय-कयता ॥ २५ ॥

अनन्त-ज्ञान, अनन्त-दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त-वीर्य, अन्त-विरति, क्षायिक-सम्यक्तव,  
आयिक-दान, आयिक-लाभ, आयिक-भोग और क्षायिक-उपभोग आदि प्रगट हुए अन्त गुण-  
स्वरूप होनेसे जिन्होंने यहाँ पर सिद्धस्वरूप प्राप्त कर लिया है, स्फटिकमणिके पर्वतके मध्यसे  
निकलते हुए सूर्य-विम्बके समान जो वैदीयमान हो रहे हैं, अपने शरीर-श्रमाण होने पर भी  
जिन्होंने अपने ज्ञानके द्वारा संपूर्ण विश्वको व्याप्त कर लिया है, अपने (ज्ञान) में ही संपूर्ण  
प्रयोग करनेके कारण (प्रतिभामित होनेसे) जो विश्वरूपताको प्राप्त हो गये हैं, संपूर्ण आमय  
अर्थात् लोगोंके दूर हो जानेके कारण जो निरामय हैं, संपूर्ण पापरूपी अज्ञानके समूहके नष्ट हो  
जानेसे जो निरञ्जन हैं, और दोनोंकी कलाएं अर्थात् संपूर्ण दोनों से रहित होनेके कारण जो  
निष्कल हैं, ऐसे उन अर्हिदोंको नमस्कार हो ।

जिन्होंने मोहरूपी रुधको जला दिया है, जो विस्तीर्ण अज्ञानरूपी समुद्रसे उत्तीर्ण हो  
गये हैं, जिन्होंने अपने विम्बोंके समूहको नष्ट कर दिया है, जो अनेक प्रकारकी बाधाओंसे रहित  
हैं, जो अचल हैं, जिन्होंने कामदेवके प्रतापको दलित कर दिया है, जिन्होंने तीनों कालोंको  
निपट करके तीन नेत्रोंसे सकल पद्योंके सारको देग लिया है, जिन्होंने त्रिपुर अर्थात्  
मोह, राग और भेषको कच्ची तरहसे भस्म कर दिया है, जो मुनिवती अर्थात् दिग्म्बर अथवा  
मुनियोंके पति अर्थात् ईश्वर हैं, जिन्होंने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र्य इन  
तीन स्वरूपी विगलको धारण करके मोहरूपी अन्धकासुरके कबन्धवृन्दका हरण कर लिया है;

आचारण मा । जगता ' तद्वयरा ' प्रदुष्टरागादिदुष्कृतमनात्तैरपिययपकडपि वातरागलादिक स्व स्वभाव-  
सत्त्वान [ रता ] । अन्ततागमियपि पावान्तर्य । ता ' तोरुद्रय ' अनुपजागमानेग्य वीणकर्मवीजवात् ।  
ता ' य, दने भीने क्यान्त पादभनति नात्र । तर्मेवीने तथा दधे न रोहति भवोत्तुर ॥ नमस्करणीयता चैवा  
नीयमागलन तागनीतिभूतातामापमानन्वरूपपरमदुष्टरागप्रदुष्टरत्नेन परमोपकारिविदिति । मग. १, १, १, टीका.

' जगो सिद्धाणं ' सिद्धाः निष्ठिताः कृतकृत्याः सिद्धसाध्याः सिद्धसहाध्याः नष्टाष्टकर्मणः ।  
सिद्धानामर्हतां च को भेद इति चेन्न, नष्टाष्टकर्मणः सिद्धाः नष्टघातिकर्मणोऽर्हन्त इति  
तयोर्भेदः । नष्टेषु घातिकर्मस्वाविर्भूताशेषात्मगुणत्वाच्च गुणकृतस्तयोर्भेद इति चेन्न,  
अघातिकर्मोदयसत्त्वोपलम्भात् । तानि शुद्धध्यानभिन्नार्धदग्धत्वात्सन्त्यपि न स्वकार्य-  
कर्तृणीति चेन्न, पिण्डनिपाताभावान्यथानुपपत्तितः आयुष्यादिशेषकर्मोदयास्तित्त्वासिद्धेः ।

जिन्होंने संपूर्ण आत्मस्वरूपको प्राप्त कर लिया है और जिन्होंने दुर्नयका अन्त कर दिया है, ऐसे  
अर्हिद परमेष्ठी होते हैं ॥ २३, २४, २५ ॥

विशेषार्थ—शैवमतमें महादेवको कामदेवका नाश करनेवाला, अपने तीन नेत्रोंसे  
सकल पद्योंके सारको जाननेवाला, त्रिपुरका ध्वंस करनेवाला, मुनिवती अर्थात् दिग्म्बर,  
विशूलको धारण करनेवाला और अन्धकासुरके कबन्धवृन्दका हरण करनेवाला माना है ।  
महादेवके इन विशेषणोंको लक्ष्यमें रखकर नीचेकी दो गाथाओंकी रचना हुई है । जिससे यह  
प्रगट हो जाता है कि अर्हिद परमेष्ठी ही सच्चे महादेव हैं ।

' जगो सिद्धाणं ' अर्थात् सिद्धोंको नमस्कार हो । जो निष्ठित अर्थात् पूर्णतः अपने  
स्वरूपमें स्थित है, कृतकृत्य हैं, जिन्होंने अपने सा-यको सिद्ध कर लिया है, और जिनके  
ज्ञानावरणादि आठ कर्म नष्ट हो चुके हैं उन्हें सिद्ध कहते हैं ।

शंका—सिद्ध और अर्हिदोंमें क्या भेद है ?

समाधान—आठ कर्मोंको नष्ट करनेवाले सिद्ध होते हैं, और चार घातिया कर्मोंको  
नष्ट करनेवाले अर्हिद होते हैं । यही उन दोनोंमें भेद है ।

शंका—चार घातिया कर्मोंके नष्ट हो जाने पर अर्हिदोंकी आत्मके समस्त गुण  
प्रगट हो जाते हैं, इसलिये सिद्ध और अर्हिद परमेष्ठियोंमें गुणकृत भेद नहीं हो सकता है ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि, अर्हिदोंके अघातियाकर्मोंका उदय और सत्त्व दोनों  
पाये जाते हैं, अतएव इन दोनों परमेष्ठियोंमें गुणकृत भेद भी है ।

शंका—ये अघातिया कर्म शुद्धध्यानरूप अधिके द्वारा अघजलेसे हो जानेके कारण  
उदय और सत्त्वरूपसे विद्यमान रहते हुए भी अपना कार्य करनेमें समर्थ नहीं है ?

समाधान—ऐसा भी नहीं है, क्योंकि, शरीरके पतनका अभाव अन्यथा सिद्ध नहीं होता  
है, इसलिये अर्हिदोंके आयु आदि शेष कर्मोंके उदय और सत्त्वकी सिद्धि हो जाती है । अर्थात् यदि  
आयु आदि कर्म अपने कार्यमें असमर्थ माने जायं, तो शरीर का पतन हो जाना चाहिये । परंतु  
शरीर का पतन तो होता नहीं है, इसलिये आयु आदि शेष कर्मोंका कार्य करना सिद्ध है ।

१ सर्ववितोतीर्णं यदा ग चेत्तयमचलमाप्नोति । भवति तदा ७११७७ सम्यक् पुण्याथमिन्द्रिमापन ॥

पु. सि ११.

२ दीनकालमय जन् उत्सिद्धो उद्धरुमसु । मिदं वत्ते णिवत्ते य मिद्रुत्तमवगच्छ । मलला ५०७.

तत्कार्यस्य चतुरशीतिलक्षयोन्यात्मकस्य जातिजगमरणोपलक्षितस्य संसारस्यासत्त्वात्तेषा-  
मात्मगुणघातनसामर्थ्याभावाच्च न तयोर्गुणकृत भेद इति चेन्न, आयुष्यवेदनीयोदययो-  
र्जीवोर्ध्वगमनसुखप्रतिबन्धकयोः सत्त्वात् ।

नोर्ध्वगमनमात्मगुणस्तदभावे चात्मनो विनाशप्रसङ्गात् । सुखमपि न गुणस्तत  
एव । न वेदनीयोदयो दुःखजनकः केवलानि केवलत्वान्यथायुपपत्तेरिति चेदस्त्वेवमेव  
न्यायप्राप्तत्वात् । किंतु सलेपनिर्लेपत्वान्धां देशभेदाच्च तयोर्भेद इति सिद्धम् ।

शंका — कर्मका कार्यं तो चौरासी लाख योनिरूप जन्म, जप और मरणसे युक्त  
संसार है । बह, अघातिया कर्मके रहने पर भी अरिहंत परमेष्ठीके नहीं पाया जाता है । तथा,  
अघातिया कर्म आत्मके अनुजीवी गुणोंके घात करनेमें असमर्थ भी है । इसलिये अरिहंत और  
सिद्ध परमेष्ठीमें गुणकृत भेद मानना ठीक नहीं है ?

समाधान—पेसा नहीं है, क्योंकि, जीव के ऊर्ध्वगमन स्वभाव का प्रतिबन्धक आयु-  
कर्म का उदय और सुखगुणका प्रतिबन्धक वेदनीय कर्मका उदय अरिहंतों के पाया जाता है ।  
इसलिये अरिहंत और सिद्धों में गुणकृत भेद मानना ही चाहिये ।

शंका—ऊर्ध्वगमन आत्माका गुण नहीं है, क्योंकि, उसे आत्माका गुण मान लेने पर  
उसके अभावमें आत्माका भी अभाव मानना पड़ेगा । इसीकारण सुख भी आत्माका गुण नहीं  
है । दूसरे वेदनीय कर्मका उदय केवलीमें सुखको भी उत्पन्न नहीं करता है, अन्यथा, अर्थात्  
वेदनीय कर्मको दुःखोत्पादक मान लेने पर, केवली भगवान्के केवलीपना ही नहीं बन  
सकता है ?

समाधान—यदि पेसा है तो र्हो, अर्थात् अरिहंत और सिद्धोंमें गुणकृत भेद सिद्ध  
नहीं होता है तो मत छोड़ो, क्योंकि, वह न्यायसंगत है । फिर भी सलेपत्व और निर्लेपत्वकी  
अपेक्षा और देशभेदकी अपेक्षा उन दोनों परमेष्ठियोंमें भेद सिद्ध है ।

विशेषार्थ—अरिहंत और सिद्धोंमें अनुजीवी गुणोंकी अपेक्षा तो कोई भेद नहीं है ।  
फिर भी प्रतिजीवी गुणोंकी अपेक्षा माना जा सकता है । परंतु प्रतिजीवी गुण आत्मके भाव-  
स्वरूप धर्म नहीं होनेसे तत्कृत भेदकी कोई मुष्यता नहीं है । इसलिये सलेपत्व और निर्लेपत्वकी  
अपेक्षा अथवा देशभेदकी अपेक्षा ही इन दोनोंमें भेद समझना चाहिये । ऊपर जो ऊर्ध्वगमन  
और सुख आत्मके गुण नहीं है, इसप्रकारका कथन किया है । वहां पर उन दोनों गुणोंका  
तात्पर्य प्रतिजीवी गुणोंसे है । ऊर्ध्वगमनसे अवगाहनत्व और सुखसे अव्याबाध गुणका ग्रहण  
करना चाहिये । क्योंकि, ग्रन्थान्तरोंमें आयु और वेदनीयके अभावसे होनेवाले जिन गुणोंकी  
अवगाहन और अव्याबाध कहा है । उन्हें ही यहां पर ऊर्ध्वगमन और सुखके नामसे प्रतिपादन  
किया है ।

तेभ्यः सिद्धेभ्यो नम इति यावत् ।

गिहय-विविहह-कम्मा तिहुवण सिर-सेहरा विहुव दुक्खा ।  
सुह-सायर-मब्ज-गया गिरजणा णिच्च अह-गुणा ॥ २६ ॥  
अणवज्जा कय-कउआ सव्वावयवेहि दिह-सब्बहा ।  
वज्ज-सिलथव्भगय पडिम त्थभेज्ज-सठाणा ॥ २७ ॥  
माणुस-सठाणा वि हु सव्वावयवेहि णो गुणेहि समा ।  
संघियदियाण विसय ज्जेग-देसे वि जाणति ॥ २८ ॥

‘ गमो आहरियाणं ’ पञ्चविधमाचारं वरन्ति चारयन्तीत्याचार्योः चतुर्दश-  
विधास्थानपारगाः एकादशद्भवाः । आचाराद्भधरो वा तात्कालिकस्वसमयपरसमय-  
पारगो वा भेरुरिव निश्चलः क्षितिरिव सहिष्णुः सागर इव बहिःक्षिप्तमलः सप्तमय-

पेसे सिद्धोंको नमस्कार हो ।

जिन्होंने नाना भेदरूप आठ कर्मोंका नाश कर दिया है, जो तीन लोकके मत्सकके  
शेखरस्वरूप हैं, दुःखोंसे रहित हैं, सुखरूपी सागरमें निमग्न हैं, निरंजन हैं, निलय हैं, आठ  
गुणोंसे युक्त हैं, अनवद्य अर्थात् निर्दोष हैं, कृतकृत्य हैं, जिन्होंने सर्वांगसे अथवा समस्त  
पर्यायोंसहित संपूर्ण पदार्थोंको जान लिया है, जो वज्रशिला-निर्मित अभय प्रतिमाके समान  
अभेद्य आकारसे युक्त हैं, जो पुरुषाकार होने पर भी गुणोंसे पुरुषके समान नहीं हैं, क्योंकि,  
पुरुष संपूर्ण इन्द्रियोंके विषयोंको भिन्न भिन्न देशमें जानता है, परंतु जो प्रति प्रदेशमें सब  
विषयोंको जानते हैं, वे सिद्ध हैं ।

‘ गमो आहरियाणं ’ आचार्य परमेष्ठीको नमस्कार हो । जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य, तप  
और वीर्य इन पांच आचारोंका स्वयं आचरण करते हैं और दूसरे साधुओंसे आचरण कराते

१ नमस्कर्णियता चेषामविप्रणशिक्षानदर्शनसुखवीर्यादिगुणयुक्ततया स्वविषयप्रमोदप्ररूप्योत्पादनेन  
भयानामतोपकारहेतुत्वादिति । मग १, १, १. टीका

२ जन्हा पचविहवार आचरतो पमासदि । आयरियाणि देसतो आयरिओ तेण उच्चदे ॥ मूलाचा ५१०  
आयार पचविह चरदि चारवेदि जो गिरदिचार । उवदिसदि य आयार एसो आयारव गाम ॥ मूलाचा ४१९

३ चोद्धमदसणवपुब्बी महामदी सागरो च्व गभीरी । ऋषववद्धारथारी होदि हु आयाव गाम ॥  
मूलाचा ४२५.

४ पच महब्बयुगा तक्रियसपसममहट्ठवारा । णाणाणुणभरिया आहरिया मम पसीदु ॥  
ति प. १, ३

५ गभीरी इद्धरिसो सूरु वम्मपपद्दणमालो । विदियसिमयसरिसो क्कमण त सो दु सपत्तो ॥  
मूलाचा १५९



‘गमो लोए सब्ब साहणं’ अनन्तज्ञानादिशुद्धात्मस्वरूपं साधयन्तीति साधवः । पञ्चमहाव्रतधरास्त्रियुसिगुप्ताः अष्टादशशीलसहस्रधराश्रुतुरशीतिशतसहस्रगुणधराश्च साधवः ।

सीह-गय-वसह-विम-गु-मारुद-सुरुवहि-मंदरिदु-मणी ।

खिदि-उरांग-वर-स्तरिसा प-म-पय-विमगया साहं ॥ ३३ ॥

सकलकर्मभूमिपूत्यन्नेभ्यस्त्रिकालगोचरेभ्यः साधुभ्यो नमः

‘गमो लोए सब्बसाहणं’ लोक अर्थात् ढाई ढीपवर्ती सर्व साधुओंको नमस्कार हो । जो अनन्त ज्ञानारूप शुद्ध आत्मके स्वरूपकी साधना करते हैं उन्हें साधु कहते हैं । जो पांच महाव्रतोंको धारण करते हैं, तीन गुण्ठियोंसे सुरक्षित हैं, अठारह हजार शीलके भेदोंको धारण करते हैं और चौरासी लाभ उत्तर गुणोंका पालन करते हैं, वे साधु परमेष्ठी होते हैं ।

सिंहके समान पराक्रमी, गजके समान स्वाभिमानी या उच्चत, बैलके समान भट्ट-प्रकृति, मृगके समान सरल, पशुके समान निरीह गोचरी-वृत्ति करनेवाले, पवनके समान निःसग या सब जगह विना रुकावटके विचरनेवाले, सूर्यके समान तेजस्वी या सकल तत्वोंके प्रकाशक, उदधि अर्थात् सागरके समान गम्भीर, मन्दापाचल अर्थात् सुमेरु पर्वतके समान परीवह और उपसर्गोंके आने पर अक्रम्य और थडोल रहनेवाले, चन्द्रमाके समान शान्तिदायक, मणिके समान प्रभा-पुंजयुक्त, क्षितिके समान सर्व प्रकारकी बाधाओंको सहनेवाले, उरग अर्थात् सर्पके समान दूसरेके बनये हुए अनियत आश्रय-चमत्तिका आदिमें निवास करनेवाले, अम्बर अर्थात् आकाशके समान निरालम्बी या निर्लेप और सदाकाल परस्पद अर्थात् मोक्षका अन्वेषण करनेवाले साधु होते हैं ॥ ३३ ॥

संपूर्ण कर्मभूमियोंमें उत्पन्न हुए त्रिकालवर्ती साधुओंको नमस्कार हो ।

१ गणतल व गिरालवणा, माउरिण अपडिबधा, गाद्वालि इव दुद्धरिया, पुनराएत इव निरतलेमा, कुम्भो इव गुत्तिदिया, विद्दग इव त्रिषुबुक्का, सगिग्गिमाण व एगजाया, भाउपपत्ती व अय्यमत्ता, तुजो इव मांडीत्ता, वसमो इव जातस्थिमा, मीहो इव दुद्धरिया, मददा इव अय्यकथा, सगरो इव गम्भीरा, चरो इव सालेया, यरो इव दिवसेया, जन्कचणग व इव जातन्ना, यद्धथा इव तच्चकामविमया, म्हुट्टुणुणो तेषया जल्लया अणगारा । सू २, २ ७० उत्तमिज्जिल्लणमाएतल्लत्तकणणमसो ष जा र्हेई । मसग्गिणमग्गिज्जल्लकणपपणममो अ तो सग्गो ॥ यहु पृ २५६

२ गिब्वणमावणु जोगं सदा जुजति सावधो । सप्पा तयेम म्हेत्तु तन्ना ते नय्यासां ॥ मूलाया ५१२ आ नि १००५ माधयन्ति ज्ञानादिशक्तिमिमोक्षमिति मायम । समतो वा समन्तेषु पायतीति निगतिपाया साधव । यदाह, गिब्वणसाहइ जोए जम्हा साहति माहुणो । ममा य म न्हेत्तु त द्वा ते मायगहुणो ॥ साहायक वा समककारिणो धारयतीति सावध । समंभ्रण च मंत्रेणां शुणत्तामिधेअणमस्मिन्तप्रतिपादत्तायर्ध । अय्या, मंस्यो जिवेय्यो हिता सर्वो, ते व ते सावकथ सावमायव । सारस्य मा यरिंते न तु बुद्धेः साधव गावंसाव । सर्वान् वा शुभयोगान् माधयन्ति कुंवीत, सर्वान् मा अरिंते माधयन्ति तदामरणादासाधयन्ति प्रतिष्ठापयन्ति वा दुर्नयनिराकारणादिति सर्वमायव सर्वमाय्यो वा । अथवा अन्तेषु श्वणहंसु वारंसेषु य ममा मय्यानि रक्षिणायन्-

सर्वनमस्कारेष्ववतनसर्वलोकशुद्धावन्तदीपकत्वाद्ब्याहर्तव्यौ सकलश्रेयगतवि-कालगोचरहिंदादिदेवताप्रणमनार्थम् ।

युक्तः प्राप्तात्मस्वरूपाणामर्हतां सिद्धानां च नमस्कारः, नाचार्यादीनामप्राप्तात्म-स्वरूपत्वत्तस्यां देवतामात्रादिति न, देवो हि नाम त्रीणि स्वानि स्वभेदतोऽनन्तभेद-भिन्नानि, तद्विशिष्टो जीवोऽपि देवः अन्यथाशुभजीवानामपि देवत्वापत्तेः । तत आचार्या-दयोऽपि देवाः स्तत्रास्तित्वं प्रत्यभिज्ञेयात् । नाचार्यादिस्थितरत्नानां सिद्धस्थयेत्वेभ्यो भेदो स्वानामाचार्यादिस्थितानामभावापत्तेः । न कारणकार्यत्वाद्भेदः सत्त्वेवाचार्यादिस्य-रत्नावयेच्यन्यस्य तिरोहितस्य स्वाभोगस्य स्वावरणविगमत आविर्भावोपलम्भमात् । न

पांच परमेष्ठियोंको नमस्कार कलेमें, इन नमोकार मंत्रमें जो ‘सर्व’ और ‘लोक’ पद हैं वे अन्तर्दीपक हैं, अतः संपूर्ण क्षेत्रमें रहनेवाले त्रिकालवर्ती अरिहंत आदि देवताओंको नमस्कार करनेके लिये उन्हें प्रत्येक नमस्कारात्मक पदके साथ जोड़ लेना चाहिये ।

शुक्रा — जिन्होंने आत्म-स्वरूपको प्राप्त कर लिया है वेसे अरिहंत और विद्व परमेष्ठीको नमस्कार करना योग्य है, किंतु आचार्यादिक तीन परमेष्ठियोंने आत्म-स्वरूपको प्राप्त नहीं किया है, इसलिये उनमें देवपना नहीं आ सकता है । अतएव उन्हें नमस्कार करना योग्य नहीं है ?

समाधान — ऐसा नहीं है, क्योंकि, अपने अपने भेदोंसे अन्त भेदरूप स्वरूप ही देव है, अतएव स्वरूपसे युक्त जीव भी देव है, अन्यथा ( यदि स्वरूपकी अपेक्षा देवपना न माना जाय तो ) संपूर्ण जीवोंको देवपना प्राप्त होनेकी आपत्ति आ जायगी । इसलिये यह सिद्ध हुआ कि आचार्यादिक भी स्वरूपके यथायोग्य धारक होनेसे देव हैं, क्योंकि, अरिहंतादिकसे आचार्यादिकमें स्वरूपके सद्भावकी अपेक्षा कोई अन्तर नहीं है । अर्थात् जिसतरह अरिहंत और सिद्धोंके स्वरूप पाया जाता है, उन्मीप्रकार आचार्यादिकके भी स्वरूपका सद्भाव पाया जाता है । इसलिये आशिक स्वरूपकी अपेक्षा इनमें भी देवपना बन जाता है ।

आचार्यादि परमेष्ठियोंमें स्थित तीन रत्नोंका विद्व परमेष्ठिमें स्थित रत्नोंसे भेद भी नहीं है । यदि दोनोंके स्वरूपमें सर्वथा भेद मान लिया जाये, तो आचार्यादिकमें स्थित रत्नोंके अभावका प्रमंन आयेगा । अर्थात् जब आचार्यादिकके स्वरूप विद्व-परमात्माके स्वरूपसे भिन्न सिद्ध हो जाँवेंगे तो आचार्यादिकके रत्न ही नहीं कबूलाँवेंगे ।

आचार्यादिक और सिद्ध परमेष्ठिके सम्प्रदर्शनार्थक रत्नोंमें कारण-कार्यके भेदसे भी भेद नहीं माना जा सकता है, क्योंकि, आचार्यादिकमें स्थित रत्नोंके अवयवोंके रहने पर ही तिरोहित, अर्थात् कर्मपटलके कारण पर्यायरूपसे अप्रगट, दूसरे स्वरूपोंका अपने अवरण-कर्मके अभाव हो जानेके कारण आविर्भार पाया जाता है । अर्थात् जैसे जैसे कर्मपटलोंका

दूबालि गानि कर्णीणि त्प तापतो रिपुणा थ-य्यापव मय्यमा एतो म । एतां च गतोपया गेहमाएणमाएक-कण्णेणोपसारीताए । मग १, १, १ टीका

परोगागोदाकृतो भेदो वस्तुपरिच्छिन्ति प्रत्येकत्वात् । नैकस्य ज्ञानस्यावस्थाभेदतो भेदो निर्मलानिर्मलान्प्रथावस्थितदर्पणस्यापि भेदापत्तेः । नावयवावयविकृतो भेदः अवयवस्यावयवनिरोड्यनिररेकात् । सम्पूर्णरतानि देवो न तदेकदेश इति चेन्न, रत्नैकदेशस्य देवत्वाभावे ममत्तस्यापि तदसत्त्वापत्तेः । न चाचार्यादिस्थितरत्नानि कृत्स्नकर्मक्षयकर्तृणि रत्नैकदेशत्वादिति चेन्न, अग्निसमूहं ज्ञार्यस्य पललाराशिदाहस्य तत्कणादाद्युपलम्भात् । तस्मादाचार्यादयोऽपि देवा इति स्थितम् ।

विगतान्तेपलेपेषु सिद्धेषु सत्स्वहतां संलेपानामादां किमिति नमस्कारः क्रियत इति नैत्राप दोषः, गुणाधिकसिद्धेषु श्रद्धाधिक्यनिबन्धनत्वात् । असत्यहत्यात्तागमपदार्थावगमो

अभात् होता जाता हे, जैसे ही वैसे अग्रगट रत्नोंके श्रेण अवयव अपने आप प्रगट होते जाते हैं । इसलिये उनमें कारण-कार्यपत्ता भी नहीं बन सकता है । इसीप्रकार आचार्याधिक और विनयि रत्नोंमें परदेश और प्रत्यक्ष-जन्य भेद भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि, वस्तुके ज्ञान-साधन्यनी अपेक्षा दोनों एक हैं । केवल एक ज्ञानके अवस्थामेदसे भेद नहीं माना जा सकता है । यदि ज्ञानमें उपाधिकृत जन्य-भेदसे भेद माना जावे, तो निर्मल और मलिन दशाको प्राप्त रूपोंमें भी भेद मानना पड़ेगा । इसीप्रकार आचार्याधिक और सिद्धोंके रत्नोंमें अवयव और जन्य-जन्य भी भेद नहीं है, क्योंकि, अवयव अवयवीसे सर्वथा अलग नहीं रहते हैं ।

शंका — सपूर्ण रत्न अर्थात् पूर्णताको प्राप्त रत्नत्रयको ही देव माना जा सकता है, रत्नोंके एकदेशको देव नहीं माना जा सकता ?

समाधान — ऐसा कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि, रत्नोंके एकदेशमें देवपत्ताके अभाव मान लेने पर रत्नोंकी समप्रतामें भी देवपत्ता नहीं बन सकता है । अर्थात् जो कार्य जिसके एकदेशमें नहीं देया जाता हे वह उसकी समप्रतामें कहासे आ सकता है ?

शंका — आचार्याधिकमें स्थित रत्नत्रय समस्त कर्मोंके अर्थ करनेमें समर्थ नहीं हो सकते हैं, क्योंकि, उनके रत्न एकदेश हैं ।

समाधान — यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, जिसप्रकार पलल-राशिका दाहुरूप अग्नि-समूहका कार्य अतिके एक रूपसे भी देया जाता है, उसीप्रकार यहा पर भी समजना चाहिये । इसलिये आचार्याधिक भी देव हैं, यह बात निश्चिन हो जाती है ।

शंका — सर्व प्रकारके कर्म-लेपसे रहित सिद्ध-परमेष्ठीके विद्यमान रहते हुए अघातिया-कर्मोंके लेपसे युक्त अरिदंतोंको आदिमें नमस्कार क्यों किया जाता है ?

समाधान — यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, सबसे अधिक गुणवाले सिद्धोंमें श्रद्धानी अभिरूताके कारण अरिहत परमेष्ठी ही हैं, अर्थात् अरिहत परमेष्ठीके निमित्तसे ही अधिक गुणवाले सिद्धोंमें सबसे अधिक श्रद्धा उत्पन्न होती है । अथवा, यदि अरिहत परमेष्ठी न होते तो हम लोगोंको आस, आगम और परार्थका परिजान नहीं हो सकता था । किंतु अरिहत परमेष्ठीके

न भवेदस्मदादीनाम्, संजातश्चैतत्प्रसादादित्युपकारोपेक्षया चादावहैचमस्कारः क्रियते । न पक्षपातो दोषाय शुभपक्षद्वेषेऽप्येहेतुत्वात् । अद्वैतप्रधाने गुणीभूतद्वैते द्वैतनिबन्धनस्य पक्षपातस्यानुपपत्तेश्च । आप्तश्रद्धाया आप्तागमपदार्थविषयश्रद्धाधिक्यनिबन्धनत्वस्याप्यनार्थं वार्हतामादौ नमस्कारः । उक्तं च—

जस्सतिय धम्मवह्णिगच्छे तस्सतिय वेणइय पउजे ।

सक्कारए तं सिर-पचण्णं काएण वाया मणसा वि णिच्च ॥ ३४ ॥

मंगलस्य कारणं गयं ।

संपहि णिमित्तमुचदे । कस्स णिमिचं ? सुत्तावदारस्स । तं कथं; जाणिज्जदि प्रसादसे हमें इस बोधकी प्राप्ति हुई है । इसलिये उपकारकी अपेक्षा भी आदिमें अरिहतोंको नमस्कार किया जाता है ।

यदि कोई कहे कि इसप्रकार आदिमें अरिहतोंको नमस्कार करना तो पक्षपात है ? इस पर आचार्य उत्तर देते हैं कि ऐसा पक्षपात दोषोत्पादक नहीं है । किंतु शुभ पक्षमें रहनेसे वह कल्याणका ही कारण है । तथा दैतको गौण करके अद्वैतकी प्रधानतासे किये गये नमस्कारमें द्वैतमूलक पक्षपात वन भी तो नहीं सकता है ।

विशेषार्थ—पक्षपात वहाँ संभव है जहाँ दो वस्तुओंमेंसे किसी एककी ओर अधिक आकर्षण होता है । परंतु यहा परमेष्ठियोंको नमस्कार करनेमें दृष्टि प्रधानतया गुणोंकी ओर रहती है, वस्तुभेदकी प्रधानता नहीं है । इसलिये यहाँ पक्षपात किसीप्रकार भी संभव नहीं है ।

आप्तकी श्रद्धासे ही आस, आगम और पदार्थोंके विषयमें दृढ श्रद्धा उत्पन्न होती है, इस बातके प्रसिद्ध करनेके लिये भी आदिमें अरिहतोंको नमस्कार किया गया है । कहा भी है— जिसके समीप धर्म बान प्राप्त करे उसके समीप विनय युक्त होकर प्रवृत्ति करनी चाहिये । तथा उसका, शिर-पचक अर्थात् मस्तक, दोनों हाथ और दोनों जवाप इन पंचांगोंसे तथा काय, वचन और मनसे निरन्तर सत्कार करना चाहिये ।

इसतरह मंगलके कारणका वर्णन समाप्त हुआ । अग निमित्तका कथन करते हैं—

शंका — यहाँ पर किसके निमित्तका कथन किया जाता है ?

समाधान — यहाँ पर सूत्रावतार अर्थात् ग्रन्थके प्रारम्भ होनेके निमित्तका वर्णन किया जाता है ।

१ जरदुवण्णेण सिद्धा नजति तेण अहरारं । न नि कोड य परिमाणे पणमित्ता पणमई रत्तो ॥

आ नि १०१५

२ आशंयतिपु ' गुणिसूताद्वैते ' इति पाठ ।

३ आदणप्रतिपु ' शब्दाधिक्य ' इति पाठ ।

४ प्रतिपु ' पचमेण ' इति पाठ । दो जाण् दोग्णि ररा पचमण होइ उत्तमण तु । सम्म सपणमाओ

णओ पचमणणिवानो ॥ पचा नि ३, १५.

५ जस्सतिपु धम्मपयाइ पिससे तस्सतिपु वेणइय पउजे । नकारए सिस्सा पजलीओ कायणिगरो भो



सुतावदारस ण अणोस्सेति ? पयरणदो । ' भोगण-वेलाए सेंधवमणि ' ति वयणादो लोण इव । चद्ध-चंध-चंधकारण-मुक्क-मोक्क-मोक्ककारणणि णिक्खेव-णय-पपमाणणि-योग-द्वारेहि अहिगम्म भविय-जणो जाणु ति सुत्तमोइण्णं अत्थदो तित्थयरादो, गंधदो गणहर-देवादो ति ।

द्रव्यभावाभ्यामक्रिमत्वतः सदा स्थितस्य श्रुतस्य कथमवतार इति चेदतत्सर्व-मभविष्यद्यदि द्रव्यार्थिकनयोऽविवक्षिष्यत् । पर्यायार्थिकनयापेक्षायामवतारस्तु पुन-र्घटत एव ।

छद्भव-णव-पयत्थे सुय-णाणाइच्च-दिप्प-नेण ।

पस्सु भव-जीवा इय सुय-रविणो हवे उदयो ॥ ३५ ॥

साम्प्रतं हेतुरुच्यते । तत्र हेतुद्विविधः प्रत्यक्षहेतुः परोक्षहेतुरिति । कस्य हेतुः ?

शंका—यह कैसे जाना जाता है कि यहा पर सूत्रावतारके निमित्तका कथन किया जाता है, अन्यका नहीं ।

समाधान—यह बात प्रकरणसे जानी जाती है । जैसे-भोजन करते समय ' लैन्धव लाओ ' इसप्रकारके वचनसे सेंधे नमकका ही ज्ञान होता है, उसीप्रकार यहां पर भी समझ लेना चाहिये कि यहा पर ग्रन्थावतारके निमित्तका ही कथन किया जा रहा है ।

बद्ध, बन्ध, बन्धके कारण, मुक्त, मोक्ष और मोक्षके कारण, इन छह तत्वोंको निक्षेप, नय, प्रमाण और अनुयोगद्वारोंसे भलीभांति समझकर भव्यजन उनके ज्ञाता बनें, इसलिये यह सूत्र-ग्रन्थ अर्थ-प्ररूपणाकी अपेक्षा तीर्थकरसे और ग्रन्थरचनाकी अपेक्षा गणधरदेवसे अवतीर्ण हुआ है ।

शंका—द्रव्य और भावसे अद्वैतम होनेके कारण सर्वदा एकरूपसे अवस्थित श्रुतका अवतार कैसे हो सकता है ?

समाधान—यह शंका तो तब बनती जब यहा पर द्रव्यार्थिक नयकी विवक्षा होती । परंतु यहा पर पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा होनेसे श्रुतका अवतार तो बन ही जाता है ।

भव्य-जीव श्रुतज्ञानरूपी सूर्यके दीप्त तेजसे छह द्रव्य और नव पदार्थोंको देखें अर्थात् भलीभांति जानें, इसीलिये श्रुतज्ञानरूपी सूर्यका उदय हुआ है ॥ ३५ ॥

अब हेतुका कथन किया जाता है,

हेतु दो प्रकारका होता है, एक-प्रत्यक्ष हेतु और दूसरा परोक्ष हेतु ।

शंका -- यहा पर किसके हेतुका कथन किया जाता है ?

मत्ता अ निच । द वे १, १३

१ प्रतिपु ' यणत्स ' इति पाठ ।

२ छद्भवणवपयत्थे सुदणणदुमणिक्किणसत्ताए । देवत्तु भव्वजावा अण्णणत्तेण सच्छण्णा ॥

ति प १, ३४

सिद्धान्ताध्ययनस्य । तत्र प्रत्यक्षहेतुद्विविधः साक्षात्प्रत्यक्षपरम्पराप्रत्यक्षभेदात् । तत्र साक्षात्प्रत्यक्षमज्ञानविनाशः सज्ज्ञानोत्पत्तिर्देवमनुष्यादिभिः सततमभ्यर्चनं प्रतिसमय-मसंख्यातगुणश्रेण्या कर्मनिर्जरा च । कर्मणामसंख्यातगुणश्रेणिनिर्जरा केषां प्रत्यक्षेति चेन्न, अवधिमनःपर्ययज्ञानिनां सूत्रमधीयानानां तत्प्रत्यक्षतायाः समुपलम्भात् । तत्र परम्पराप्रत्यक्षं शिष्यश्रेण्यादिभिः सततमभ्यर्चनम् । परोक्षं द्विविधम्, अभ्युदयनैःश्रेय-समिति । तत्राभ्युदयसुखं नाम सातादि-प्रशस्त-कर्म-तीव्रातुभागोदय-जनितेन्द्र-प्रतीन्द्र-सामानिक-त्रायस्त्रिंशदादि-देव-चक्रवर्ति-बलदेव-नारायणार्धमण्डलीक-मण्डलीक-महामण्ड-लीक-राजाधिराज-महाराजाधिराज-परमेश्वरादि-दिव्य-मानुष्य-सुखम् ।

समाधान — यहां पर सिद्धान्तके अध्ययनके हेतुका कथन किया जाता है ।

उन दोनों प्रकारके हेतुओंमेंसे प्रत्यक्ष हेतु दो प्रकारका है, साक्षात्प्रत्यक्ष हेतु और परंपरा-प्रत्यक्ष हेतु । उनमेंसे अज्ञानका विनाश सम्पन्नानकी उत्पत्ति, देव, मनुष्यादिके द्वारा निरन्तर पूजाका होना और प्रत्येक समयमें असंख्यात-गुणित-श्रेणिरूपसे कर्मोंकी निर्जराका होना साक्षात्प्रत्यक्ष हेतु ( फल ) समझना चाहिये ।

शंका—कर्मोंकी असंख्यात-गुणित-श्रेणिरूपसे निर्जरा होती है, यह कितने प्रत्यक्ष है ?

समाधान — ऐसी शंका ठीक नहीं है ? क्योंकि, सूत्रका अध्ययन करनेवालोंकी असंख्यात गुणित-श्रेणिरूपसे प्रतिसमय कर्म-निर्जरा होती है, यह बात अवधि-ज्ञानी और मनःपर्यय-ज्ञानियोंको प्रत्यक्षरूपसे उपलब्ध होती है ।

शिष्य, प्रतिशिष्यादिके द्वारा निरन्तर पूजा जाना परंपरा-प्रत्यक्ष हेतु है । परोक्षहेतु भी दो प्रकारका है, एक अभ्युदयसुख और दूसरा नैश्रेयससुख । इनमेंसे साता-वेदनीय आदि प्रशस्त-कर्म-प्रकृतियोंके तीन अनुभागके उदयसे उत्पन्न हुआ इन्द्र, प्रतीन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश आदि देवसंबन्धी दिव्य-सुख और चक्रवर्ती, बलदेव, नारायण, अर्धमण्डलीक, महामण्डलीक, राजाधिराज, महाराजाधिराज, परमेश्वर आदि मनुष्य-सम्बन्धी मानुष्य सुखको अभ्युदयसुख कहते हैं ।

१ सकलापचक्रवर्णपरपचक्रवा दोणि होदि पचक्रवा । अण्णणत्स विणास णाणदिवापरस्स उप्पती ॥ देवमथुत्तादाहि य मत्तमभ्यच्चणप्याराणी । पडिसमयमसखेज्जयुणसोदिकम्मणिजण ॥ ति प १, ३६-३७

२ इय सकलापचक्रवर्ण पर प च णाद्वच । सिस्सपडितिस्सपहुदीहि सवदमवमच्चणप्यार ॥ दोमंद च परीसख अभ्युदयसोपवा मोक्खसोववाइ । सादादिविहिसुसत्तत्थकम्मतिव्वाणुमण्णउट्टइहि ॥ इदपडिदिगिदिय-तेचिसापरसमाणपहुदिइह । राजाधिराजमहाराजइमण्डलिमडलयाण ॥ मद्मण्डलियाण अट्टचिच्चकुरितियमत्तोत्तल । अट्टापरमेत्ताण सामीत्तेणेण मत्तिजुत्ताण ॥ ति प १, ३८-४०



अत्रात्रगमस्याना श्रेणीनामपिपतिभिन्नाणाम् ।

गता स्थानमुत्तुधर कन्तल मेवमानागाम् ॥ ३३ ॥

प्रभृतउत्रंतीओ गहाओ—

हय ह्यि र्हाणहिता सेणात्र मति-सेहि-दुव्वई ।

सुर-रपतिग-वग्धण-न्द्रसा तह गहयरा चेय ॥ ३७ ॥

गणयमन्न-तल्लर पुरोहिद्या दणिया महामत्ता ।

अट्टाग्ध सेणीओ पयाइणा मेल्लिया होंति ॥ ३८ ॥

पुननात्त दण्डनायक-र्या-गणिगुग्-गणेइ-मढामावाश्च ।

गनि-पुरोहित-सेनान्यामाल-तल्लर-महत्तरा सु. श्रेण्य. ॥ ३९ ॥

पत्रशतनरपतीनामिजोडधीश्वरो भवति लोके ।

राजसहस्राविपति. प्रतीयतेऽग्री महाराज. ॥ ४० ॥

द्विसहस्रराजनाथो मनीमिभिर्गण्यतेऽर्थमण्डलिक. ।

मण्डत्रिकश्च तथा स्याच्चतु सहस्रावनीशपति. ॥ ४१ ॥

जो नञ्जिभूत अठारह श्रेणियोंका अधिपति हो, मुकुटको धारण करनेवाला हो और सेना कान्तेनालेंके लिथे तल्लपृथके समान हो उसे राजा कहते हैं ॥ ३६ ॥

यहा प्रकरणमें उपयोगी गथाए उद्धृत की जाती हैं ।

घोडा, गायी, रथ इनके अधिपति, सेनापति, मन्त्री, श्रेष्ठी, दण्डपति, शूद्र, क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य, महत्तर, गणराज, अमात्य, तल्लर, पुरोहित, स्वभिमानी महामात्य और पैदल सेना इतनाह सब मिलान्तर अठारह श्रेणिया होती हैं ॥ ३७, ३८ ॥

अथवा हाथी, घोला, रथ और पयाने ये चार सेनाने अग, दण्डनायक, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण, वणिस्पति, गणराज, महामात्र, मन्त्री, पुरोहित, सेनापति, अमात्य, तल्लर और महत्तर ये अठारह श्रेणिया होती हैं ॥ ३९ ॥

लोकमें पात्रनी राजाओंके अधिपतिको अधिराज कहते हैं, और एक हजार राजाओंके अधिपतिको महाराज करते हैं ॥ ४० ॥

पण्डितजन दो हजार राजाओंके स्वामीको अर्धमण्डलीक कहते हैं और चार हजार राजाओंके स्वामीको मण्डलीक कहते हैं ॥ ४१ ॥

१ इतरनाम-उपोगी सेनानाम गानि द-१८ । द्वा त्रंदि गजा त्रिनमत् ममसन्ने ॥ ऋतुरा-  
स्याथं यथात्त । मते-नटि इ-३३ । पत्रशतविनात्ता यति तह मरया पत्ता ॥ गणगामानितत्रपुरोहिता  
नामा मरयता । ऋतुरागता य गण्णा गानि नेगीओ ॥ ति प १, ४३-६४

अष्टसहस्रमईपतिनायकमाहुबुधाः महामण्डलिकम् ।

पोडशराजसहस्रैविनय्यमानाखिखण्डधरणीश. ॥ ४२ ॥

पट्खण्डभरतनाथ द्वाविशद्वरणिपतिसहवाणाम् ।

दिग्गमनुष्यं विदुरिह भोगागार सुचक्रधरम् ॥ ४३ ॥

सकलमुनैकनाथस्तीर्थकरो वर्ण्यते मुनिवरिष्ठे. ।

विधुधवलचामराणा तस्य स्याद्वै चतु. पष्टि ॥ ४४ ॥

तिथयर गणहरत्त तदेव देविद-चक्रवर्द्धित ।

अण्णरिहमेवमाई अब्भुदय-फलं वियाणाहिं ॥ ४५ ॥

तत्र नैःश्रेयसं नाम सिद्धानामर्हतां चातीन्द्रियसुखम् । उक्तं च—

अदिसयमाद समुत्थं विसयादीद अणोवमणत्त ।

अब्बुच्छिण्ण च सुहं सुदुव्वजोगो य सिद्धानं ॥ ४६ ॥

युधजन आठ हजार राजाओंके स्वामीको महामण्डलीक कहते हैं । और जिसे सोलह हजार राजा नमस्कार करते हैं उसे तीन खण्ड पृथिवीका अधिपति अर्थात् नारायण कहते हैं ॥ ४२ ॥

इस लोकमें बत्तीस हजार राजाओंसे सेवित, नव निधि आदिसे प्राप्त होनेवाले भोगोंके भण्डार, उत्तम चक्र-रत्नको धारण करनेवाले और भरतशेखरके छह खण्डके अधिपतिको विद्य अर्थात् अनेक गुणोंसे युक्त मनुष्य अर्थात् चक्रवर्ती समझना चाहिये ॥ ४३ ॥

जिनके ऊपर चन्द्रमाके समान धवल चौसठ वंशर डुरते हैं ऐसे सकल भुवन के अठितीस स्वामीको श्रेष्ठ मुनि तीर्थकर कहते हैं ॥ ४४ ॥

इस लोकमें तीर्थकरपना, गणधरपना, देवेन्द्रपना, चक्रवर्तिपना और इसीप्रकारके अन्य कई अर्थात् पूज्य पदोंको अशुद्धयका फल समझना चाहिये ॥ ४५ ॥

अरिहंत और सिद्धोंके अतीन्द्रिय सुखको नैश्रेयस सुख कहते हैं । कहा भी है—  
अतिशयरूप, आत्मासे उत्पन्न हुआ, विषयोंसे रहित, अशुभम, अनन्त और विच्छेद-

१ पचगयरायमामी अहिराजो होदि भित्तिमदिदिमो । रायाण जो महस्स पालइ सो होदि मरुजा ॥  
दुग्गहस्समउअद्दभुव्वसहो तव अद्दमडल्लिओ । चउराजमरुस्साण अहिणाहो होइ मडल्लिय ॥ महम्मडल्लिओ गामो  
अद्दमरुस्साण अहिर्वाई ताण । रायाण अद्दचरी मामी मालममरुस्समत्ताण ॥ ति प १, ४५-६७

२ उक्खउमारुणाहो मचीममरुस्समउअद्दमहुदीओ । होदि हु मयउव्वही तिथयो सयलवृणव्वमं ॥  
ति प १, ४५ तल्लामुवेवादीना परत्तममर्गनात्त निन्दुच्चते, मोल्लमरायमरुस्सा मत्तल्लण तु मरुल्लनिमद ।  
अच्छति त्रासुवेव अणउत्तम्मी टिय मत्त ॥ वेत्ताण मरुल्ल मो वामपद्द वण अउमाणाण । मुजिज्ज निअपिज्ज व  
महुमहण ते न चाएत्ति ॥ दो गंला वत्तामा मत्तल्लण तु मरुल्लनिमद । अच्छति चकनट्टि अणउत्तम्मी टिय मत्त ॥

ज कसव्वन् उ तल त दुग्ग होइ चकनट्टिस्स । तवो त्वा त्त्वया अपरिभियत्ता जिणव्वरिद्धा ॥ या नि ७१-७५  
३ प्रवच १, १३ 'सुद्वजोगोपमिद्धानं' इति पाठमेव ।

भाविष्य-सिद्धताण दिणयर-कर-णिमल हवइ णाण ।  
 सिसिर-यर-कर सरिच्छं हवइ चरितं स-वस-चित्त ॥ ४७ ॥  
 मेरु व्व णिपकपं णट्ट-मल ति-मूह-उम्मुक्कं ।  
 सम्मदंसणमणुवममुपजइ पवयणव्भासा' ॥ ४८ ॥  
 ततो वेव सुहाइ सयलाइ देव मणुय-खयराण ।  
 उम्मुलियट्ट-कम्म फुड सिद्ध सुह पि पवयणादो' ॥ ४९ ॥  
 जिय मोहिंघण-जलणो अण्णाण-तमधयार दिणयरओ ।  
 कम्म-मल-कलस-पुसओ जिण-वयणमिवोवैही सुहयो ॥ ५० ॥  
 अण्णाण-तिमिर-इरणं सुभविष्य-हिययारविंद जोहणयं ।  
 उज्जोइय सयल-वह सिद्धत-दिवायर भजह ॥ ५१ ॥

रहित सुख तथा शुद्धोपयोग सिद्धीके होता है ॥ ४६ ॥

जिन्होंने सिद्धान्तका उत्तम प्रकारसे अभ्यास किया है वेसे पुरुषोंका ज्ञान सूर्यकी किरणोंके समान निर्मल होता है और जिसमें अपने चित्तको स्वार्थीन कर लिया है ऐसा चन्द्रमाकी किरणोंके समान चारित्र्य होता है ॥ ४७ ॥

प्रवचन अर्थात् परमागमके अभ्याससे मेरुके समान निष्कम्प, आठ मल-रहित, तीन मूद्रताओंसे रहित और अनुपम सम्यग्दर्शन भी होता है ॥ ४८ ॥

उस प्रवचनके अभ्याससे ही देव, मनुष्य और विद्याधरोंके सर्व सुख प्राप्त होते हैं, तथा आठ कर्मोंके उन्मूलित हो जानेके बाद प्राप्त होनेवाला विशद सिद्ध सुख भी प्रवचनके अभ्याससे ही प्राप्त होता है ॥ ४९ ॥

वह जिनागम जीवके मोहरूपी ईधनके भस्म करनेके लिये अग्निके समान है, अज्ञान-रूपी गाढ़ अन्धकारको नष्ट करनेके लिये सूर्यके समान है, कर्ममल अर्थात् द्रव्यकर्म, और कर्मकलुष अर्थात् भावकर्मको मर्जित करनेवाला समुद्रके समान है और परम सुभग है ॥ ५० ॥

अज्ञानरूपी अन्धकारको हरण करनेवाले, भव्यजीवोंके हृदयरूपी कमलको विकसित करनेवाले और संपूर्ण जीवोंके लिये पथ अर्थात् मोक्षमार्गको प्रकाशित करनेवाले ऐसे सिद्धान्तरूपी दिवाकरको भजो ॥ ५१ ॥

१ मोक्ख तित्थयराण कप्पातोदिण तह य इदियादीद । अदियममादसफुव णिसंयममशुवम पवर ॥  
 सुदण्णाणमारणाए णाण मवड किरण-उ-जोओ । आद चटुज्जल चरित पित्त हनेदि भयाण ॥ एणय मरा मरीर  
 मूदत्तगिरिरोहिद इयगमल । जायदि पयणपट्ठणे सम्मदसणमशुवम ण ॥ ति प १, ४९ ५१

२ सुखेयमशुवाण लब्धमति सुहाइ जासिमासा । तरो गिव्याणसह णिण्णसिद्धथाणुणद्धमल । ति प १, ५२

३ मतिशु ' जिणवयणमिवोवहि' इति पाठ

अथवा जिनप्रालितो निमित्तम्, हेतुमोक्षः, शिक्षकाणां ह्यर्थात्पदानं निमित्तहेतुकथने प्रयोजनम् । परिमाणमुच्चदे । अक्षर-पय-संवाय-पड्वित्ति-अणियोगद्वारेहि संखेजं, अर्थदो अणंतं । पदं पडुच्च अट्टारह-पद-सहस्रं । शिक्षकाणां ह्यर्थात्पदानार्थं मतिव्याकुलता-विनाशनार्थं च परिमाणमुच्यते । णामं जीवहाणमिदि । कारणं पुण्वं व वत्तव्वं ।

तस्य कत्ता दुविहो, अत्थ-कत्ता गंथ-कत्ता चेदि । तस्य अत्थ-कत्ता दव्वादीहि चउहि परुविज्जादि । तत्र तस्य तावइ द्रव्यनिरूपणं क्रियते । स्पेद-रजो-मल-रक्तनयन-कटाक्षशरमोक्षादि-शरीरगताशेषोपादपित्त-समचतुरस्रसंस्थान-चन्द्रधूपभंसहनन-दिव्यगन्ध-प्रमाणस्थितनखरोम-निर्भूषणायुधाम्बरभय-सौम्यवदनादि-विशिष्टदेहधरः चतुर्विधोपसर्ग-

अथवा, जिनप्रालित ही इस श्रुतावतारके निमित्त है और उसका हेतु मोक्ष है, अर्थात् मोक्षके हेतु जिनप्रालितके निमित्तसे इस श्रुतका अवतार हुआ है । यहां पर निमित्त और हेतुके कथन करनेसे पाठकजनोंको हरिकता उत्पन्न कराना ही प्रयोजन है ।

अत्र परिमाणका व्याख्यान करते हैं, अक्षर, पद, मवात, प्रतिपत्ति, और अनुयोग द्वारोंकी अपेक्षा श्रुतका परिमाण सख्यात है और अर्थ अर्थात् तट्टाच्च नियमकी अपेक्षा अनन्त है । पदकी अपेक्षा अट्टारह हजार प्रमाण है । शिक्षकजनोंको हर्ष उत्पन्न करनेके लिये और मतिव्यन्धी व्याकुलता दूर करनेके लिये यहां पर परिमाण कहा गया है ।

नाम, इस शालका नाम जीवस्थान है ।

कारण, कारणका व्याख्यान पहले कर आये हैं । उसीप्रकार यहां पर भी उसका व्याख्यान करना चाहिये ।

कर्ताने दो भेद हैं, अर्थकर्ता और क्रम्यकर्ता । इनमेंसे अर्थकर्ताका द्रव्यदिग्ग चार द्वारोंके द्वारा निरूपण किया जाता है । उनमेंसे पहले द्रव्यकी अपेक्षा अर्थकर्ताका निरूपण करते हैं—पसीना, रज अर्थात् चारा कारणोंसे शरीरमें उत्पन्न हुआ मल, मल अर्थात् शरीरसे उत्पन्न हुआ मल, रक्त नेत्र और कटालरूप चणोंका छोड़ना आदि शरीरमें होनेवाले संपूर्ण दोषोंसे रहित, समचतुरस्र संस्थान, चन्द्रवृत्तान्तराच संहनन, दिव्य-मुगन्धमयी, सदैव योग्य प्रमाणरूप नम और रोमवाले, आभूषण अशुभ, वरा और गयरहित सौम्य-मुन आविसे

५ मितिथोदि उणत्त मत्तेज गगगाणमणगार । एद पमाणमुल्लिद मित्साण मरिमासपर ॥

ति प १, ५२.

२ प्रवतो दृपियपो णादो अ कयकपेदेदि । इयादि-उ-ण्यारोदि भागिओ अथाकवारो ॥ तेदज्जासखेण  
 रत्तिउरुदुस्यमाणोत्तेदि । इयणुदिरिरेरंमिदि मारामगुमिरीरो ॥ अ णियमस्यणुतो ममउत्सगवाचामठायो ।  
 रिच्चससपधारी पमाणुदुरोमणगन्तो ॥ णियणुण्णाप मरलोरी सोग्गाणपादिदिवत्तय । अट्टाभिययसुस्यमाणार-  
 लायणीपेरो ॥ चउविहउवयमग्गेदि णिय णियुओ कगायपरिदुणो । उरुदुदुसिथोदि गरित्तो सयव्वेत्तोदि ॥

ति प १, ५५-५९

शुधादिपरीपह-रागद्वेगकपायेन्द्रियदिसकलदोषोचरातिक्रान्तः योजनान्तरदूरसमीपस्थाष्टा-  
दशभाषा-सप्तहृतगतकृभाषायुत-विर्यदेवमनुष्यभाषाकारन्वृनाधिक-भावातीतमधुरमनोहर-  
गम्भीरविद्यद्वगतिशयमस्पन्नः भवनवासिवाणव्यन्तर-ज्योतिष्क-कल्पवासिन्द्र-विद्याधर-  
चक्रमति-बल-नारायण-राजाधिराज-महाराजार्धमहामण्डलीकेन्द्रशि-चायु-भूति-सिंह-व्याला-  
दि देव-विद्याधर-मनुष्यर्षि-विर्यगिन्द्रेभ्यः प्राप्तपूजातिशयो महावीरोऽर्थकर्त्ता ।

तस्य येत्त-विमिष्टोत्थ-कृत्ता परुविज्जदि—

पच-सेख-गुरे रमे विउले पञ्चदुत्तमे ।

णाणा-दुम-समाङ्गणे देव दाणम-वादिदे' ॥ ५२ ॥

महावीरेण यो कहिओ भविय-ल्लोयसम ।

अत्रोपयोगिनौ श्लोकौ—

युक्त पेसे विशिष्ट शरीरको धारण करनेवाले, देव, मनुष्य, निर्यच और अचेतनरुत चार प्रकारके उपसर्ग, श्रुधा आदि शरीरके परीपह, राग, डेय, कपाय और इन्द्रिय-विषय आदि सपूर्ण दोषोंसे रहित, एक योजनके भीतर दूर अथवा समीप बंटे हुए अठारह महाभाषा और सातसो लघुभाषाओंसे युक्त पेसे निर्यच, देव और मनुष्योंकी भाषाके रूपमें परिणत होतिलाठी तथा न्यूनता और अधिकतासे रहित, मधुर, मनोहर, गम्भीर और विशद ऐसी भाषाके अतिशयको प्राप्त, भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क, कृपावासी देवोंके इन्द्रोंसे, विद्याधर, चक्रमती, बलदेव, नारायण, राजाधिराज, महाराज, अर्धमण्डलीक, महामण्डलीक, राजाओंसे, इन्द्र, अग्नि, वायु, भूति, सिंह, व्याल आदि देव तथा विद्याधर, मनुष्य, ऋषि और तिर्यचोंके इन्द्रोंसे पूजाके अनिश्चयको प्राप्त श्री महावीर तीर्थकर अर्थकर्त्ता समग्रता चाहिये ।

अथ क्षेत्र-विशिष्ट अर्थकर्त्ताका निरूपण करते हैं—

पञ्चशैलपुरमें ( पचपहाड़ी अर्थात् पांच पर्वतोंसे रोमभयमान राजगृह नगरके पास ) रमणीक, नागाप्रकारके कुपोंसे व्याप्त, देव तथा दानवोंसे बन्धित और सर्व पर्वतोंमें उत्तम पेसे विपुलाचल नामके पर्वतके ऊपर भगवान् महावीरने मध्य-जीवोंको उपदेश दिया अर्थात् दिव्य-ध्यानके द्वारा भावयुत प्रगट किया ॥ ५२ ॥

इसपरिचयमें दो उपयोगी श्लोक हैं—

१ जे लणगागभिरिगाममन्नातिद्वेषडिंमहो । सिद्धमूलगोस्तरा विमदविममालमामाहि ॥  
पञ्चमण्डलाभा तुन्नासा नि मणभवा । आररायकरायामण्णोजीवाण सलभागाओ ॥ पद्दधि भाषाण  
॥ अररोत्तन्नाथार । परेदसिय पुत्ताल मज्जापादात्तमानो ॥ भासपंतज्जोदिमिरन्त्यममिहि केमनअहे ।  
गिरहेरो' पिसमुने' पंहे तिरीर' ॥ पंडेर' ज्जोदि' सिसिद्धतरणा'द्वि'ण्णो । दिट्टमालट्ठमणे मद्दवीरो  
-प'कर्त्ता ॥ ति प १, ६०-६४

२ मणपज्जाता गोपे' पिन्नात्तारभेदिदे' इति चतुर्धरपाठमंवेनोपलगन्ते । सुलेयसणइणे गुणपाणे

कंपिगि रैन्द्राशायां चतुरस्रो याम्यदिशि च वैभार ।  
विपुलगिरितेऋथ्यामुभौ त्रिकोणौ स्थितौ तत्र ॥ ५३ ॥  
धनुशकारोद्विष्टो वारुणवायव्यसौम्यद्विष्टु ततः ।  
वृत्ताश्रितैरैशान्या पाण्डु सर्वे कुशाप्रभुता ॥ ५४ ॥

एसो ऐत्त-परिच्छेदो ।

तस्य कालदो अत्थ-कृत्ता परुविज्जदि —

इगिरसे वसण्णिणिए चउत्थ-सगयरा पच्छिमे भाए ।

चोत्तीस-वास-सेसे किंचि विसेसूण, सेने ॥ ५५ ॥

पूर्व दिशामें चौकोर आकारवाला क्वाथिगिरे नामका पर्वत है । दक्षिण दिशामें वैभार और नैऋत दिशामें विपुलाचल नामके पर्वत हैं । ये दोनों पर्वत त्रिकोण आकारवाले हैं ॥ ५३ ॥

पश्चिम, वायव्य और सौम्य दिशामें धनुषके आकारवाला फैला हुआ छिन्न नामका पर्वत है । ऐशान दिशामें पाण्डु नामका पर्वत है । ये सब पर्वत कुशके अश्रमार्गोंसे ढके हुए हैं ॥ ५४ ॥

यह क्षेत्र-परिच्छेद समग्रता चाहिये ।

अथ कालकी अपेक्षा अर्थकर्त्ताका निरूपण करते हैं—

इस अवसरपिणी कल्पकालके दुःखमा मुपया नामके चौथे कालके पिछले भागमें कुछ कम चौतलिस वर्ष बाकी रहने पर, बर्षके प्रथममास अर्थात् श्रावण मासमें, प्रथमपक्ष अर्थात्

पचमेलणपरिमि । विपुलमि पचद्वारे वीरविणो उट्टुत्तवेण ॥ ति प १, ६० ईउ निरामेण तपमः कय्या' गणयः  
मिा या । गउउ य तेण गीरो म ग' गीरो मग' गीरो ॥ मि सा १०६५

१ जयममत्रया ' भूमिणि ' इति पाठ ।

२ चउत्तसो पुव्वाः रिमिहेरो दग्धिणए मयाग । पन्नीरिदिवाः मिउओ दग्धिणि तिणेणट्ठियमग ॥

ति प १, ६६

३ गतिपु ' त्रिनोका ' इति पाठ ।

४ वयुशारयच्छो मण्णमययमामदिदु ता । म्माट्ठनिरीमाने पाउ मं नुआमयुता । जयव

य पृ ९ चायमरिओ जिणो वरुणणिल्लोसोमस्सिमिमानेन । उभाणाः पउउ त्थे म्भवे तुममयाररणा ॥

ति प १, ६७ कथिपूतं गिरस्ता चतुरस्र मतिहर । विल्लज्जट्टे ओउम्भ मकुम अयल्लम्भ ॥ तंतारो दग्धिणमासां  
विभोणाट्ठितिराश्रित । दग्धिणापग्घिय य विपुअ तज्जग्धि ॥ मज्जवत्तमाट्ठितिरिगो डिगो व्याय मज्जक । नामं  
माण्डवी एण पुंवेत्तरदिवात्ते ॥ इ पु ३, ५३-५५

५ एणामविणिए चउत्थमालसम चणिमामगिण । त्रेणीमाण लणामपण्णएद्वियमणेभणि ॥

वासस पदम मासे पढमे पक्खग्धि सावणे बहुले ।  
पाडिबद्-पुब्ब-दिवसे त्तिथुणत्ती दु अभिजिग्धि' ॥ ५६ ॥  
सावण-बहुल पडिबदे रुद्ध-मुहुत्ते सुबोदए रधिणो ।  
अभिजिस्स पढम-जोए जय जुगाँदी मुण्यब्बो' ॥ ५७ ॥

एसो कालपरिच्छेदो ।

भावतोऽर्थकर्ता निरूपयते, ज्ञानावरणादि-निश्चय-व्यवहारापायातिग्रयजातानन्त-  
ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य-क्षायिक-सम्यक्त्व-दान-लाभ-भोगोपभोग-निश्चय-व्यवहार-श्रात्यति-  
शयभूत-नव-केवल-लब्धि-परिणतः । उक्तं च —

कृष्णपक्षमें, प्रतिपदाके दिन प्रतःकालके समय आकाशमें अभिजित् नक्षत्रके उदित रहने पर  
तीर्थ अर्थात् धर्मतीर्थकी उत्पत्ति हुई ॥ ५५, ५६ ॥

श्रावणकृष्ण-प्रतिपदाके दिन खड्गमूर्द्धतमें सूर्यका शुभ उदय होने पर और अभिजित्  
नक्षत्रके प्रथम योगमें जन युगकी आदि हुई तभी तीर्थ की उत्पत्ति समझना चाहिये ॥ ५७ ॥  
यह काल-परिच्छेद हुआ ।

अब भावकी अपेक्षा अर्थकर्ताका निरूपण करते हैं—

ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंके निश्चय-व्यवहाररूप विनाश-कारणोंकी विशेषतसे उत्पन्न हुए  
अनन्त-ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य तथा क्षायिक-सम्यक्त्व, दान, लाभ, भोग और उपभोगकी  
निश्चय-व्यवहाररूप प्रातिके अतिशयसे प्राप्त हुई नौ केवल-लब्धियोंसे परिणत भगवान् महावीर्यसे  
भावश्रुतका उपदेश दिया । अर्थात् निश्चय और व्यवहारसे अभेद-भेदरूप नौ लब्धियोंसे युक्त  
द्वोक्त भगवान् महावीर्यसे भावश्रुतका उपदेश दिया । कहा भी है—

१ वासस पदममासे सावण्णामग्नि बहुलवाडिजाए । जणिजाणसत्तवग्नि य उण्णो धम्मत्तिस्स ॥

ति प १, ६८-६९

२ जुगाह ( युगादि ) युगाग्ने, युगाग्नेमाल श्रथात ऋतुवे मांम त्तिथिदुर्तादो च । आदी जग्ग  
मनच्छो उ मासस्स अद्धमासो उ । दिवसा भरतेरए राईया मह तिदेहे ॥ युगस्स XX मत्तरपपरफामकस्यादि समत्तर ।  
स च श्रावणत आपादगौणमातीचरगमय । तत ऋतमान श्रावण एव भवति । तस्मापि च मासस्य श्रावणस्यादि-  
र्यमाण पक्ष पक्षद्वयमालेनन मासस्य मभवत् । सो पि च पयो बहुलो वेदितय वौर्णमास्यत तर बहुलपक्षस्य  
मानत् । XX । दिवसाह अहोरात्रा ऋतुर्गणि नोति पत्तानि । जग्भिर् रत्तत्ताई ऋदो आई सुहुवाण ॥ सावण-  
ऋतुपडिबए बालवहरणे जग्भिर्जनवत्ते । मनय पदममपए जुगस्स आठ विथाणादि ॥ ज्यो क २ पाहुड  
वत्तयो ये च कावशा सुमामुपपादा । आरस्म गतिवयत मग्ने तेग्नि युगादित ॥ लो ऋ २५, ४७१

३ मावणबहुल पाडिन र-मुहुत्ते सुबोदए रधिणो । अभिजिस्स पदम जोए जुगस्स आदी इमस्स पुद ॥

ति प १, ५० श्रावणस्यामिते पक्षे नक्षत्रेऽभिजिति प्रशु । प्रतिपवदि पूर्वदि शशासनार्थसुदाहर ॥ ऋ पु २, ९१

४ शाण्णवराणपहुदि ज णिच्छन्नन्नद्वागपायजतिमग्ग । मज्जादेण अणत गणिण दसणसुहेण ॥ निरिणण तदा  
बाहयम्मत्तेण पि दाणलाहेहि । भोगोपभोगिणिच्छन्नवद्देहि च परिपुण्णो ॥ ति प ७१, ७२

दाणे लाभे भोगे परिभोगे वीरिए य सम्मत्ते ।  
णव केवल-लब्धीओ ढंसण-णाणं चरित्ते य ॥ ५८ ॥  
खीणे दसण-मोहे चरित्त-मोहे चउक्क-वाइ तिए ।  
सम्मत्त निरिय-णाण खइयाइं हेंति केवल्लिणों ॥ ५९ ॥  
उण्णग्धि अणत्ते णट्ठग्नि य छादुमत्थिए णाणे ।

णन-विह-पयय गन्धा दिब्बज्जुणी कहेइ सुत्तं ॥ ६० ॥

एवंविधो महावीरोऽर्थकर्ता । तेण महावीरेण केवल्लणाणिणा कहिदत्थो तम्मिह चेव  
काले तत्थेव सेत्ते सयोगमम-जणिट-चउरसल-चुट्ठि-संपण्णेण चमहेणेण गोदम-गोत्तेण सयल-  
दुस्सुट्ठि-पारएण जीवाजीव-विसय-संदेहे-विणासणदुवगय-चडुमाण-पाद-मूलेण इंदभूदिणा-  
वहारिदो' । उक्तं च —

दान, लाभ, भोग, परिभोग, वीर्य, सम्यक्त्व, दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये नव केवल-  
लब्धिया समझना चाहिये ॥ ५८ ॥

दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयके क्षय हो जाने पर तथा मोहनीय कर्मके क्षय हो  
जानेके बाद चार घातिया कर्मोंसे शेष तीन घातिया कर्मोंके क्षय हो जाने पर केवली जितके  
सम्यक्त्व, वीर्य और ज्ञान ये क्षायिक भाव प्रगट होते हैं ॥ ५९ ॥

क्षयोपशमिक ज्ञानके नष्ट हो जाने पर और अनन्तरूप केवलज्ञानके उत्पन्न हो जाने  
पर नौ प्रकारके पद्योंसे गर्भित दिव्यध्वनि सूत्रार्थका प्रतिपादन करती है । अर्थात् केवलज्ञान  
हो जाने पर भगवानकी दिव्यध्वनि शिरस्ती है ॥ ६० ॥

इसप्रकार भगवान् महावीर अर्थ-कर्ता है । इसप्रकार केवलज्ञानसे विभूषित उन भगवान्  
महावीरके द्वारा कहे गये अर्थको, उसी कालमें और उसी क्षेत्रमें क्षयोपशमविशेषसे उत्पन्न हुए  
चार प्रकारके निर्मल ज्ञानसे युक्त, वर्णसे ब्राह्मण, गौतमगोत्री, संपूर्ण दुःश्रुतिमें पारंगत, और  
जीव-शजीवविषयक संदेहको दूर करनेके लिये श्री वर्द्धमानके पादमूलमें उपस्थित हुए ऐसे  
रुद्रभूतिले अवधारण किया । कहा भी है—

१ खीणे दसणमोहे चरित्तमोहे तरेव धारतिए । सम्मत्तणाणविरिया रग्गा ते नोति नेवल्लिणो ॥ जयय

ज पृ ८ दसणमोहे णट्ठ वादिदिट्ठए चरित्तमोहग्निम । सम्मत्तणाणदग्गवीरियचरियाए हेंति खइयाइ ॥

ति प १, ७३,

२ जादे अणत्तणाणं णट्ठे अदुमट्ठिदग्नि णाणग्निम ॥ णवविहयदयसाता दिग्गज्जुणी कइइ सुत्तय ॥ अण्णेहि  
अणत्तेहि गुणेहि खो विहेद्वचरित्तो । मनममज्जणदग्गो मग्गीरो अथरवारो ॥ ति प १, ७४-७५

३ मग्गीरमासिययो तरित्त खेचग्नि तथकाले य । खाणोगमपिवादिद्वचउममलमहि पुण्णेण ॥ लोयालोपाण  
तना जीवाजीनाण विनिद्विग्गिएसु । मदेहणासण थ उणग्गदग्गिर्त्तारचलणमूलेण ॥ विमले गोदमगोचे जादेण इदमग्धि-  
णाग्निम । चउरदपारोण तिस्सेण निमुद्धत्तलिण ॥ ति प १, ७६-७८

४ भियादग्गवत्सायाग्निग्गुत्ति सारल्लेवेद्वेदात्तपाए सन्नपि जीवास्तित्तविरिये सदिग्ध एवासीत् । रुद्ध-

गोतमगोदमो' त्रिणां चाउत्तम-सङ्गति ।

गामंग इन्द्रभृदि त्ति सीलान् बभूवुत्तमो ॥ ६१ ॥

पुणो तेषिन्दभृदिणा भाव-सुद-पञ्जय-परिणदेण चारहंपाणं चोदस-पुत्राणं च गंग्यागमेहेण चैव मुदुत्तेण क्रमेण रयणा कदा' । तदो भाव-सुदस्स अत्थ-पदाणं व तित्थ-यसो कत्ता । तित्थयगदां सुद-पञ्जाएण गोदमो परिणदो त्ति दब्ब-सुदस्स गोदमो कत्ता । तत्तो गंध-रयणा जादेत्ति । तेण गोदमेण दुविहमवि सुदणाणं लोहज्जस्स मंचारिदं । तेण नि जंतूयामिस्स संचारिदं । परिवाडिमिस्सिदूण एदे तिणिण वि सयल-सुद-धारया भणिया । अपरिवाडीए पुण सयल-सुद-पारगा संखेज्ज-सहस्सा ।

गोतमगोत्री, विप्रवर्णी, चारों वेद और पडगविद्याका पारगामी, शीलवाच और नामाणोंमें श्रेष्ठ ऐसा वर्तमानस्वामीका प्रथम गणधर इन्द्रभृति इस नामसे प्रसिद्ध हुआ ॥ ६१ ॥

अनन्तर भावशुक्तरूप पर्यायसे परिणत उस इन्द्रभृतिने वारह अंग और चौदह पूर्वरूप प्रन्योत्री एक ही मुहूर्तमें फलसे रचना की । अतः भावशुक्त और अर्थ-पदोंके कर्त्ता तीर्थकर हैं । तथा तीर्थकरके निमित्तसे गोतम गणधर श्रुतपर्यायसे परिणत हुए, इसलिये द्रव्यशुक्तके कर्त्ता गोतम गणधर हैं । इसतरह गोतम गणधरसे ग्रन्थरचना हुई । उन गोतम गणधरने येना प्रकारका श्रुतवान लोहाचार्यको दिया । लोहाचार्यने जम्भूस्वामीको दिया । परिपाटी-क्रमसे ये तीनों ही सकलश्रुतके धारण करनेवाले ऋद्धे गये हैं । और यदि परिपाटी क्रमकी अपेक्षा न की जाय तो उस समय सख्यात हजार सकल श्रुतके वारी हुए ।

पञ्चमनां भवमाराग मन्वय्य ग्रन्थ्य त श्रीमर्धमानस्तामिन पयच्छ कि जोजास्ति नास्ति वा किणुण त्रियान् ती० १' तदा जीवाग्न्वनादिनि ल गभाप्रसविदस्सर्वाणां र्त्ता । XX इयाधनेकमेहेत्स्था स जीवाडिक्खु-मारा' । दिवन्वतिना ररदमि-भूतने म मतिराचत । इच्छ श्रुता ४'-६६ देव क्रियमाणां सममरणलक्षणां भिस्सा 'युक्तमि' मरि परिपिणति-सा भो प्राप्रणास ' मा मुत्ता क्रियव नागलोन्तन्त्य कत्यचिन्वाद्यमल धारि' नन मररुहल्ल मयवतामि' नमिति महाप्रलयमंभ २३ गलि वा ममवरण प्रमिधो वाद्यार्थम् । पर च ता भारि र्पुयत्ता इ मगहित मर पुन स्थित । तदा भवता पांगमाभित 'कि मचे जधि जीनी ज्याहु नधि रि मयो त म । म्यपपात्त र' मण मगमी तेमिगो जयो' ( आ नि १५० ) तत्तथा नि मक्षय सन्मो मरिति । ति गा २०१८-२०८३

' गोमा गा पृथथा रागा मा च यन्वभाती । ता मेम तास गिंटे च तप्ततो गोतमो मत ॥ गोतमान्तमो रर स्वर्गामांतिमो मत । तेन शीरवर्णायत्तन्वचर्यामोगतमश्रुति ॥ इच्छण प्राप्तुजदित्तिभृतिस्त्वमि- 'रा । तथा मनिपुम्नमासमगतमरिडिक ॥ आ पु २, ५२ १४

२ गोप-पञ्च-रि परिन्दसहा या वाक्याण । चोत्पुत्रान् तथा 'मुदुत्तेण तिल्पणा विहिदा ॥

नि प १, ७३

गोदमद्वो लोहज्जाइरियो' जंत्रूसामी य एदे तिणिण वि सत्त-विह-लद्धि-संपण्णा सयल-सुय-सायर-पारया होज्जण केवलणणमुपाइय णिवुइं पत्तां । तदो विण्हू णंदिमित्तो अत्राइदो गोवद्धणो भइवाहु त्ति एदे पुरिसोली-क्रमेण पंच' वि चोइस-पुत्र-हरा । तदो विसाहाइरियो पोडिलो खत्तियो जयाइरियो णागाइरियो सिद्धत्थेवो धिदिसेणो विजयाइरियो बुद्धिलो गंगदेवो धम्मसेणो त्ति एदे' पुरिसोली-क्रमेण एकारस वि आइरिया एकारसण्हमंगाणं उप्पायपुव्नादि-दसण्हं पुव्वाणं च पारया जादा, सेसुवरिम-चदुण्हं पुव्वाणमेग-देस-धरा य । तदो णवखत्ताइरियो जयपालो णंडिसामी धुवसेणो कंसाइरियो त्ति एदे पुरिसोली-क्रमेण पंच' वि आइरिया एकारसंग-धारया जादा, चोइसण्हं पुव्वाणमेग-देस-धारया । तदो सुभदो जसभदो' जसवाह' लोहज्जो त्ति एदे चत्तारि वि आइरिया आयारंग धरा

गौतमस्वामी, लोहानार्य और जम्भूस्वामी ये तीनों ही सात प्रकारकी ऋद्धियोंसे युक्त और सकल-श्रुतरूपी सागरके पारगामी होकर अन्तमें केवलज्ञानको उत्पन्न कर निर्वाणको प्राप्त हुए । इसके बाद विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन, और भद्रबाहु ये पाचों ही आचार्य परिपाटी क्रमसे चौदह पूर्वके धारी हुए ।

तदनन्तर विशाखाचार्य, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जयाचार्य, नागाचार्य, सिद्धार्थदेव, धृतिसन, विजयाचार्य, बुद्धिल, गंगदेव और धर्मसेन ये ग्यारह ही महापुरुष परिपाटी क्रमसे ग्यारह अंग और उत्पादपूर्व आदि दश पूर्वोंके धारक तथा शेष चार पूर्वोंके एकदेशके धारक हुए ।

इसके बाद नक्षत्राचार्य, जयपाल, पाण्डुस्वामी, ध्रुवसेन, कंसाचार्य ये पाचों ही आचार्य परिपाटी-क्रमसे संपूर्ण ग्यारह अंगोंके और चौदह पूर्वोंके एकदेशके धारक हुए । तदनन्तर सुभद्र, यशोधर, यशोवाहु और लोहार्य ये चारों ही आचार्य संपूर्ण आचारणके धारक और

१ जगमलायामिच्छन्विश्रुताप्रतारे च लोहायम्य म्याने सुवर्माचार्यास्योन्लेवास्ति । तपग-तपो तेण गोअमगात्तेण इदभृदिणा जतोमुदुत्तेणान्हादिदुवालमगथेण तेणेन कालेण कन्दुमालसगनाथरणेण कृणहि सगममाणम्प मुहुसाइरियस्स गंधं वखाणिदो । जयव अ पु १' प्रतिपादित तनमन्त्रं ममन्त गहा मत्ता तंन । प्रथितागीय-सर्वमेण मुधमभिधानाय ॥ इन्द्र श्रुता ६७

२ गामट्टि वरिसकालो जयुवदिय तिणिण स्वलिणो । न शु ६७

३ एदेमि पचण्ह रि मुदुत्तेणलीण कालो वस्समद १०० । जप १ अ. पु ११

४ तेमि कालो तिसीदिमद्वत्ताणि १८३ । जयव. अ पु ११

५ ' दुमन्नेन ' इति पाठ । इन्द्र श्रुता ८२

६ एदेमि कालो वीमुत्तरविमदानमेवो २२० । जयव अ पु ११

७ ' अमयभद्र ' इति पाठ । इन्द्र श्रुता ८३.

८ ' जहवाद् ' इति पाठ । जप १ अ पु ११ ' जयवाहु ' इति पाठ । इन्द्र श्रुता ८३

९ एदेमि XX कालो जह्वाउत्तर वाममद ११८ जय १. अ. पु १२.

संसर्ग-पुत्राणमेग-देस-धारया' । तदो सर्वेसिमंग पुत्राणमेग-देसो आइरिय-परंपराए आग-च्छमाणो धरसेणाइरियं संपत्तो ।

तेण वि सोरट्ट-विसय-गिरिणयर-पट्टण-चंदगुहा-ठिएणं अहुंग महाणिमित्त पार-एण गंथ-वोच्छेदो होहदि चि जाद-भएण पवयण-वच्छलेण दक्खिणावहाइरियाणं महिमाए मिलियाणं लेहो पेसिदो' । लेह-ट्टिय-धरसेण-वयणमवधारिय तेहि वि आइरिएहि वे साह गहण-धारण-समत्था धवलामल-चहु-विह-विणय-विहूसियंगा सील-माला-हरा गुरु-पेसासण-तित्ता देस-कुल-जाइ-सुद्धा सयल-कला-पारया तिमबुचावुच्छियाइरिया अंध-विसय-चेणायडदो पेसिदा । तेसु आगच्छमाणेसु रयणीए पच्छिमे भाए कुंदेदु-संख-रोष अग तथा पूर्वोके एकदेशके धारक हुए । इसके बाद सभी अग और पूर्वोका एकदेश आचार्य-परंपरासे आता हुआ धरसेन आचार्यको प्राप्त हुआ ।

सौराष्ट्र ( गुजरात काठियावाड़ ) देशके निरिनगर नामके नगरकी चन्द्रगुफामें रहने-वाले, अग्रग महानिमित्तके पारगामी, प्रवचन-वत्सल और आगे अग श्रुतका विच्छेद हो जायगा इसप्रकार उत्पन्न हो गया है भय जिनको ऐसे उन धरसेनाचार्यने किसी धर्मोत्सव आदि निमित्तसे महिमा नामकी नगरीमें समिलित हुए दक्षिणपथ के ( दक्षिणदेशके निवासी ) आचार्योंके पास एक लेख भेजा । लेखमें लिखे गये धरसेनाचार्यके वचनोंको भलीभांति समझ-कर उन आचार्योंने शास्त्रके अर्थके ग्रहण और धारण करनेमें समर्थ, नानाप्रकारकी उल्लव और निर्मल विगयसे विमूर्षित अगवाले, शैलरूपी मालके धारक, गुरुओं द्वारा प्रेरण ( भेजने ) रूपी भोजनसे तृप्त हुए, देश, कुल और जातिसे शुद्ध, अर्थात् उत्तम देश उत्तम कुल और उत्तम जातिमें उत्पन्न हुए, समस्त कलाओंमें पारगत, और तीन बार पूंछा है आचार्योंसे जिन्होंने, ( अर्थात् आचार्योंसे तीन बार आज्ञा लेकर ) ऐसे दो साधुओंको आन्ध्रदेशमें बहनेवाली वेणानदीके तटसे भेजा ।

मार्गमें उन दोनों साधुओंके आते समय, जो कुन्दके पुष्प, चन्द्रमा और शखके समान

१ एतेसि स नेसि कालाण समासो अमद्वामाणि तंमोदिवापममदिद्याणि ६८३ म्हुमाणजिण्दिं पित्राण गदे । जयम ज पृ ११

२ देसे तत एसादे गिरिनगरपुरातिकेज्यन्तगितो । बट्टयशमिनित्रामी मन्ततया परममुनिपुरय ॥

३ मत्तिपु ' नवकोच्छेदो ' इति पाठ ।

४ देशेदेशनामानि वेणास्तदवपुरे महामहिमा-ममुदित्तमुनीर मति नमचारिणा प्रापयन्तेसम् ॥

इ-द श्रुता २०६

वण्णा सब-लक्खण-संपुण्णा अप्पणो कय-तिप्पयाहिणा पाएसु भिसुद्धियं-पदियंगा वे वसहा सुमिणंतरेण धरसेण-भडारएण दिहा । एवंविह-सुमिणं दट्टण तुड्डेण धरसेणाइरिएण ' जयउ सुय-देवदा' चि संलवियं' । तद्विसे चय ते दो वि जणा संपत्ता धरसेणाइरियं । तदो धरसेण-भयवदो' किदियम्मं कालण दोगिण दिवसे वोलाविय तदिय-दिवसे विणएण धरसेण-भडारओ तेहिं विणत्तो ' अणेण कज्जेणमहा दो वि जणा तुम्हं पादमूलमुगवया' चि । ' सुहु भदं' ति भणिजण धरसेण-भडारएण दो वि आनासिदा । तदो चिचिदं भयवदा—

सेलवण-भगावड-अहि-चालणि महिसाडवि-जाहय-सुरहि ।

मट्टिय-मसय-समाण वक्खवाणड जो मुदं मोहां ॥ ६२ ॥

वद-गारव-पडिवदो विसयामिस-विस-वसेण वुग्मतो ।

सो भट्ट-वेहि लहो भमइ चिरं भव-वणे मूढो ॥ ६३ ॥

सफेद वर्णवाले हैं, जो समस्त लक्षणोंसे परिपूर्ण हैं, जिन्होंने आचार्य ( धरसेन ) की तीन प्रदक्षिणा की हैं और जिनके अंग नञ्जित होकर आचार्यके चरणोंमें पड़ गये हैं ऐसे दो वैलोंको धरसेन भट्टारकने रात्रिके पिछले भागमें स्वप्नमें देया । इसप्रकारके स्वप्नको देखकर सतुष्ट हुए धरसेना-चार्यने ' श्रुतदेवता जयन्त हो ' ऐसा वाक्य उच्चारण किया ।

उसी दिन दक्षिणपथसे भेजे हुए वे दोनों साधु धरसेनाचार्यको प्राप्त हुए । उसके बाद धरसेनाचार्यकी पादवन्दना आदि कृतिकर्म करके और दो दिन त्रिताकर तीसरे दिन उन दोनोंने धरसेनाचार्यसे निवेदन किया कि ' इस कार्यसे हम दोनों आपके पादमूलको प्राप्त हुए हैं ' । उन दोनों साधुओंके इसप्रकार निवेदन करने पर ' अच्छा है, कल्याण हो ' इसप्रकार कहकर धरसेन भट्टारकने उन दोनों साधुओंको आशवासन दिया । इसके बाद भगवान् धरसेनने विचार किया कि—

शैलधन, भद्रघट, अहि ( सर्प ) चालनी, महिय, अवि ( नेदा ), जाहक ( जौक ) गुरु, माटी और मशक के समान श्रोताओंको जो मोहसे श्रुतका व्याख्यान करता है । वह मूढ रस-गारवके आधीन होकर धियोंकी लोलुपतारूपी विषके वशसे मूर्च्छित हो, बोधि अर्थात् रत्नत्रयकी प्राप्तिसे अग्र होकर भव-वनमें चिरकालतक परिभ्रमण करता है ॥ ६२, ६३ ॥

१ ' भाराकाने नमोणसुद '—दे ८, ६, १५८

२ आगमनदिने च तयो बुल धयेनसरिपि रातो । निजपादगो पतन्तो वल्लुगान्वेशत सपे ॥

तत्सपेक्षणमानाज्जयु श्रिदित्तेति समुपलपन् । उदतिष्ठत गत समापातान्वेशत मुनी द्वा ॥ इत् श्रुता ११२, ११३

३ ईसरिय एव सिरि-जम धम्म पयत्तामया भयाभिवसा । ते तेमिमाणाण्णा सति जयो तेण भगाते ॥

वि भा १०५३

४ सेलवण वुडग चालणि परिपुण्ण हम्मसिसनेसे य । मसग जट्टग निरालो जाहग गो भेरी आमीरो ॥

वृ क मू ३३४, आ नि २३९



विशेषार्थ— शैलनाम पायाणका है और नन नाम मेयका है । जिसप्रकार पायाण, मंत्रके चिरकालतक बर्षा करने पर भी आर्टि या मृदु नहीं होता है, उसीप्रकार कुछ घेसे भी श्रोता दौलें हैं, जिन्हें गुरुजन निरकाल तक भी धर्मामृतके वर्षण या सिंचन द्वारा कोमल-परिणामी नहीं बना सकते हैं ऐसे श्रोताओंको शैलघन श्रोता कहा है ॥ १ ॥ भग्नघट फूटे दूधको कहते हैं । जिसप्रकार फूटे घड़ेमें ऊपरसे भरा गया जल नीचेकी ओरसे निकल जाता है भीतर कुछ भी नहीं बहता, इसीप्रकार जो उपदेशको एक कानसे सुनकर दूसरे कानसे निकाल देते हैं उन्हें भग्नघट श्रोता कहा है ॥ २ ॥ अहि नाम सायका है । जिसप्रकार मिश्री-मिश्रित-गुणके पान करने पर भी सर्प विषका ही वमन करता है, उसीप्रकार जो सुन्दर, मधुर और हितकर उपदेशके सुनने पर भी विष वमन करते हैं अर्थात् प्रतिकूल आचरण करते हैं, उन्हें अधिसमान श्रोता समझना चाहिये ॥ ३ ॥ चालनी जैसे उत्तम आटेको नीचे गिरा देती है और भूसा या चोकरको अपने भीतर रखा लेती है, इसीप्रकार जो उत्तम सायुक उपदेशको तो बालर निकाल देते हैं और निःसार तत्वको धारण करते हैं वे चालनीसमान श्रोता हैं ॥ ४ ॥ महिया अर्थात् भैंसा जिसप्रकार जलाशयसे जल तो कम पीता है परंतु बारबार डुबकी लगाकर उसे गदवा कर देता है, उसीप्रकार जो श्रोता सभामें उपदेश तो अल्प ग्रहण करते हैं पर प्रसंग पारु शोभ या उठेग उत्पन्न कर देते हैं वे महियासमान श्रोता हैं ॥ ५ ॥ अवि नाम भेप ( मंडा ) का है । जैसे मंडा पालनेवालेको ही मारता है, उसीप्रकार जो उपदेशवालाकी जी निन्दा करते हैं और समय आनेपर घात तक करने को उद्यत रहते हैं उन्हें अविके समान श्रोता समझना चाहिये ॥ ६ ॥ जाहक नाम सेही आदि अनेक जीवोंका है पर प्रकृतमें जौक अर्थ ग्रहण किया गया है । जैसे जौकनो स्तनपर भी लगावें तो भी वह दूध न पीकर गुन ही पीती है, इसीप्रकार जो उत्तम आचार्य या गुरुके समीप रहकर भी उत्तम तनको तो ग्रहण नहीं करते, पर अग्रम तत्वको ही ग्रहण करते हैं वे जौकके समान श्रोता हैं ॥ ७ ॥ गुरु नाम तोतेका है । तोतेको जो कुछ सियाया जाता है वह सीख तो जाता है पर उसे यगार्थ अर्थ प्रतिमासित नहीं होता, उसीप्रकार उपदेश स्मरणकर लेने पर भी जिनके हृदयमें भान-भामना नहीं होती है वे गुरुसमान श्रोता हैं ॥ ८ ॥ मही जैसे जलके सयोग मिलनेपर तो कोमल हो जाती है पर जलके अभावमें पुनः कठोर हो जाती है, इसीप्रकार जो उपदेश मिलने तक तो मृदु परिणामी मने रहते हैं और बादमें पूर्ववत् ही कठोर-हृदय हो जाते हैं वे महीके समान श्रोता हैं ॥ ९ ॥ मशक अर्थात् मच्छर पहले कानोंमें आकर गुन-गुनाता है चरणोंमें गिरता है किंतु अवसर पाते ही नाट ब्लाता है, उसीप्रकार जो श्रोता पहले तो गुरु या उपदेश वाताकी प्रशंसा करेंगे, चरण-चन्दना भी करेंगे, पर अवसर आते ही काटे चिना न रंगेगे उन्हें मशकके समान श्रोता समझना चाहिये ॥ १० ॥ उक्त सभी प्रकारके श्रोता अयोग्य हैं, उन्हें उपदेश देना व्यर्थ है ।

किन्ती किसी शास्त्रमें उक्त नामोंमें तथा अर्थमें भेद भी देखनेमें आता है, किंतु कुश्रोताका भाव यहा पर अभीष्ट है ।

इदि वयणादो जहालंदाईणं विज्जा-दाणं संसार-भय-त्रदणमिदि चिंतिज्ज सुह-सुमिण-दंसणेणव अवगय-पुरिसंतरेण धरसेण-भयवदा पुणरत्रि ताणं परिकखा काउमाढत्ता ' सुपरिकखा हियय-णिबुइकरेति ' । तदो ताणं तेण दो विज्जाओ दिण्णाओ । तत्थ एया अहिय-असरा, अवरा विहीण-अखरा । एदाओ छुट्टोवत्तासेण साहेहु ति । तदो ते सिद्ध-विज्जा विज्जा-देवदाओ पेच्छंति, एया उइत्तरिया अवसेया काणिया । एमो देवदाणं सहाओ ण होदि ति चिंतिज्ज मंत-व्यायण-सत्थ-कुसलेहिं हीणाहिय-अखराणं छुहणावण-यण-विहाणं काज्जण पढंतेहि दो वि देवदाओ सहाव-रुन-डियाओ दिट्ठाओ । पुणो तेहि धरसेण-भयवंतस्स जहावित्तेण विणएण णिवेदिदे सुहु तुट्टेण धरसेण-भडारएण सोम-तिहि-णअसत्त-चारे गंथो पारडो । पुणो कमेण वक्खाणंतेण आसाढ-मास-सुक्क-पक्क-एक्कारसीए पुव्वण्हे गंथो समाणिदो । विणएण गंथो समाणिदो ति तुट्टेहि भूदेहि तत्थेयस्स महदी

इस वचनके अनुसार यथाछन्द अर्थात् स्वच्छन्दतापूर्वक आचरण करनेवाले श्रोताओंको विद्या देना संसार और भयका ही बढ़ानेवाला है, ऐसा विचारकर, शुभ स्वामके देखने मात्रसे ही यद्यपि धरसेन भट्टारकने उन आये हुए दोनों साधुओंके अन्तर अर्थात् विशेषताको जान लिया था, तो भी फिरसे उनकी परीक्षा लेनेका निश्चय किया, क्योंकि, उत्तम प्रकारसे ली गई परीक्षा हृदयमें संतोषको उत्पन्न करती है । इसके बाद धरसेनाचार्यने उन दोनों साधु-ओंको दो विद्याएं दीं । उनमेंसे एक अधिक अक्षरवाली थी और दूसरी हीन अक्षरवाली थी । दोनोंको दो विद्याएं देकर कहा कि इनको पप्रभक उपवास अर्थात् दो दिनोंके उपवाससे सिद्ध करो । इसके बाद जब उनको विद्याएं सिद्ध हुईं, तो उन्होंने विद्याकी अधिष्ठात्री देवताओंको देखा कि एक देवके दात बाहर निकले हुए हैं और दूसरी कानी है । ' विकृतांग होना देवताओंका स्वभाव नहीं होता है ' इसप्रकार उन दोनोंने विचारकर मन्त्र-सयन्त्री व्याकरण-शास्त्रमें कुशल उन दोनोंने हीन अक्षरवाली विद्यामें अधिक अक्षर मिलाकर और अधिक अक्षरवाली विद्यामेंसे अक्षर निकालकर मन्त्रको पढ़ना, अर्थात् फिरसे सिद्ध करना प्रारम्भ किया । जिससे वे दोनों विद्यादेवताएं अपने स्वभाव और अपने सुन्दर रूपमें स्थित दिखलाई पड़ीं । तदनन्तर भगवान् धरसेनके समक्ष, योग्य विनय-सहित उन दोनोंके विद्या-सिद्धिसंबन्धी समस्त वृत्तान्तके निवेदन करने पर ' बहुत अच्छा ' इसप्रकार संतुष्ट हुए धरसेन भट्टारकने शुभ तिथि, शुभनक्षत्र और शुभवारमें ग्रन्थका पढ़ना प्रारम्भ किया । इसतरह कमसे व्याख्यान करते हुए धरसेन भगवान्से उन दोनोंने आपाढ़ मासके गुरुपथकी एकादशके पूर्वार्द्धकालमें ग्रन्थ समाप्त किया । विनयपूर्वक ग्रन्थ समाप्त किया, इसलिये संतुष्ट हुए भूत जातिके ब्यन्तर देवोंने

• इसीथा ह्यभिवृत्तिकीति मथिन्य दत्तवार गरी । माभियु विने के हीनाभिकर्मण्यपुने ॥

इष्ट भुता. ११५.

तदो मूल-तंत-कृत्वा ब्रह्माण-भडारओ, अणुतंत-कृत्वा गोदम-सामी, उवतंत-कृत्वा भूदबलि-पुष्पयंतदयो वीय-राय-दोस-मोहा मुणिवरा । किमर्थं कर्ता प्ररूप्यते ? शास्त्रस्य प्रामाण्यप्रदर्शनार्थम् ' वक्तृप्रामाण्याद् वचनप्रामाण्यम् ' इति न्यायात् ।

संपहि जीवढाणस्स अवयरो उच्चदे । तं जहा, सो वि चउविहो, उवकमो णिक्खेवो गयो अणुगमो चेदि । तत्थ उवकमं भणिससामो । उपक्रम इत्यर्थमात्मनः उपसमीपं क्राम्यति करोतीत्युपक्रमः । सो वि उवकमो पंचविहो, आणुपुब्बी णामं पमाणं वत्तव्वदा अत्थाहियरो चेदि । उतं च—

तिविहा य आणुपुब्बी दसहा णाम च छविह माण ।

वत्तव्वदा य तिविहा तिविहो अत्थाहियरो वि ॥ ६४ ॥ इदि ।

इसतरह मूलग्रन्थकर्ता वर्द्धमान भट्टारक हैं, अनुग्रन्थकर्ता गौतमस्वामी हैं और उपग्रन्थकर्ता राग, द्वेष और मोहसे रहित भूतबलि, पुष्पदन्त इत्यादि अनेक आचार्य हैं ।

शंका—यहा पर कर्ताका प्ररूपण किसलिये किया गया है ?

सामथान—शास्त्रकी प्रमाणताके दिखानेके लिये यहा पर कर्ताका प्ररूपण किया गया है, क्योंकि, ' वक्ताकी प्रमाणतासे ही वचनमें प्रमाणता आती है ' ऐसा न्याय है ।

अव जीवस्थानके अवतारका प्रतिपादन करते हैं । अर्थात् पुष्पदन्त और भूतबलि आचार्यने जीवस्थान, खुदबान्ध, बन्धस्वामित्व, वेदनाखण्ड, वर्णनाखण्ड और महाबन्ध नामक जिस पद-खण्डागमकी रचना की । उनमेंसे, प्रकृतमें यहाँ जीवस्थान नामके प्रथम खण्डकी उत्पत्तिका क्रम कहते हैं । वह इसप्रकार है—

वह अवतार चार प्रकारका है, उपक्रम, निक्षेप, नय और अनुगम । उन चारोंमें पहले उपक्रमका निरूपण करते हैं, जो अर्थको अपने समीप करता है उसे उपक्रम कहते हैं । उस उपक्रमके पांच भेद हैं, आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता और अर्थाधिकार । कहा भी है—  
आनुपूर्वी तीन प्रकारकी है, नामके दश भेद हैं, प्रमाणके छह भेद हैं, वक्तव्यताके तीन भेद हैं और अर्थाधिकारके भी तीन भेद समझना चाहिये ॥ ६३ ॥

१. इयमूलततकृत्वा सिरीचरो इदयुदि विपररे । उवतते कृत्तारो अणुतते सेस आइरिया ॥ णिण्डुराय-दोमा महिसिणो दिव्वसुत्तकृत्तारो । कि कारण पमणिदा कहिहु सुत्तम पामणण ॥ ति प २, ८०, ८१

२. पुष्पद-तभूतबलिभ्या प्रणीतस्यागमस्य नाम 'पदखण्डागम' तस्यैमे वद्-खण्डा -१ जीवस्थान २ खुदा-बन्ध ३ बन्धस्वामित्वविचय ४ वेदनाखण्ड ५ वर्णनाखण्ड ६ महान्धयेति । एषा षण्णा खण्डाना मन्ये प्रथम-तस्तावज्जीवस्थाननामकप्रथमखण्डस्यावतारो निरूप्यते ।

३. प्रहृतस्वार्थतन्वय शीमुद्वो समर्पणम् । उपक्रमोऽप्यौ विज्ञेयस्तथोपोद्धात इत्यपि ॥ आ. पु. २. १०३  
सत्यसोविक्रमण उवकमो तेण तम्मि व तओ वा । सत्यसमीचीकरण आणयण नानदेसम्मि ॥ वि मा ९२४

पूजा पुष्प-बलि-संस-नूर-रथ-संकुला कदा । तं दट्टण तस्स ' भूदबलि ' ति भडारएण णामं कर्यं । अवरस्स वि भूदेहि पूजिदस्स अत्थ-वियत्थ-द्विय-दंत-पंतिमोसारिय भूदेहि समीकय-दंतस्स ' पुष्पयंतो ' ति णामं कर्यं

पुणो तद्विसे' चेव पेसिदा संतो ' गुरु-वयणमलंघणिजं ' इदि चित्तिजगागेदिहि अङ्के-सरे वरिसा-कालो कओ । जोगं समाणीय जिणवालियं दट्टण पुष्पयंतारियो वण-वास-विसयं गदो । भूदबलि-भडारओ वि दमिल-देसं गदो । तदो पुष्पयंतारिएण जिणवालिदस्स दिक्खं दाज्जण वीसदि-सुत्ताणि' करिय पढाविय पुणो सो भूदबलि-भयवं-तस्स पासं पेसिदो । भूदबलि-भयवदा जिणवालिद-पासे दिट्ठ-वीसदि-सुत्तेण अप्पाउओ ति अवगय-जिणवालिदेण महाकम्म-पयडि-पाहुडस्स वोच्चेदो होहदि ति समुप्पण्ण-दुद्धिणा पुणो दव्य-पमाणानुगममादि काज्जण गंथ-रचणा कदा । तदो एयं संड-सिद्धंतं पडुच्च भूदबलि-पुष्पयंतारिया वि कत्तारो उचंति ।

उन दोनोंमेंसे एककी पुष्पावलीसे तथा शख और तूर्य जातिके वाद्यविशेषके नादसे व्याप्त बड़ी भारी पूजा की । उसे देखकर धरसेन भट्टारकने उनका ' भूतबलि ' यह नाम रक्खा । तथा जिनकी भूतोंने पूजा की है, और अस्त-व्यस्त दन्तपंक्तिको दूर करके भूतोंने जिनके दात समान कर दिये हैं ऐसे दूसरेका भी धरसेन भट्टारकने ' पुष्पदन्त ' नाम रक्खा ।

तदनन्तर उसी दिन वहासे भेजे गये उन दोनोंने ' गुरुके वचन अर्थात् गुरुकी आज्ञा अलघनीय होती है ' ऐसा विचार कर आते हुए अंकलेद्वार ( गुजरात ) में वर्षाकाल बिताया । वर्षायोगको समाप्तकर और जिनपालितको देखकर ( उसके साथ ) पुष्पदन्त आचार्य तो वन-वासको चले गये और भूतबलि भट्टारक भी द्रमिल-देशको चले गये । तदनन्तर पुष्पदन्त आचार्यने जिनपालितको वीक्षा देकर, वीस प्ररूपणा गर्भित सत्प्ररूपणाके सूत्र बनाकर और जिनपालितको पढ़ाकर अनन्तर उन्हें भूतबलि आचार्यके पास भेजा । तदनन्तर जिन्होंने जिनपालितके पास वीस प्ररूपणान्तर्गत सत्प्ररूपणाके सूत्र देखे हैं और पुष्पदन्त आचार्य अल्पानु हैं इसप्रकार जिन्होंने जिनपालितसे जान लिया है, अतएव महाकर्मप्रकृतिप्रभृतका विच्छेद हो जायगा इसप्रकार उत्पन्न हुई है बुद्धि जिनको ऐसे भगवान् भूतबलिने द्रव्यप्रमाणा-नुगमको आदि लेकर ग्रन्थ-रचना की । इसलिये इस खण्डसिद्धान्तकी अपेक्षा भूतबलि और पुष्पदन्त आचार्य भी श्रुतके कर्ता कहे जाते हैं ।

१. ' द्वितीयदिवसे ' इति पाठ । इत्थं श्रुता २२९

२. ' स्वभाणिय ' इति विषय । इत्थं श्रुता २३४

३. वाच्यं णजीवादिरेवैशित्तियत्तम-भरुपणया । युक्त जीवस्थानाधिकार व्यरचयन्मन्यक ॥

इत्थं श्रुता २३५

पुत्र्याणुपुत्री पञ्चाणुपुत्री जत्यन्तथाणुपुत्री चेदि तिविहा आणुपुत्री । जं मूलानां परिवर्तीण उच्यते मा पुत्र्याणुपुत्री । तिस्से उदाहरणं— 'उसहमजियं च वंदे' इयेमादि । जं उच्यते हेद्वा परिवर्तीण उच्यते मा पञ्चाणुपुत्री । तिस्से उदाहरणं—

पम क्रोमि' य पणम जिणपर वसहस्स वडुमाणरस ।

मेसाण च जिणाण सिव-बुह-कवा विलोमेण' ॥ ६५ ॥ इदि ।

मणुलोम-विलोमेति विणा जहा तथा उच्यदि सा जत्यन्तथाणुपुत्री । तिस्से उदाहरणं—

गय-गणल-सज-जलहर-परहुव-सिहि-गलय-भमर-सक्रासो ।

हरिउल-वस-यईवो सिव-माउव-वच्छओ जयक ॥ ६६ ॥ इचेवमादि ।

पूर्वाणुपूर्वी, पञ्चाणुपूर्वी और यथातथाणुपूर्वी इस्तरह आणुपूर्वीके तीन भेद हैं । जो यन्तुका त्रिभुवन मूलसे परिपाटीद्वारा किया जाता है उसे पूर्वाणुपूर्वी कहते हैं । उसका उदाहरण इसप्रकार है, 'भरभनायकी वन्दना करता हूँ, अजितनाथकी वन्दना करता हूँ, इत्यादि क्रमसे त्र्यम्बनाथको आदि लेकर महावीरस्वामी पर्यन्त क्रमवार वन्दना करना सो वन्दनासंबन्धी पूर्वाणुपूर्वी उपक्रम है । जो वस्तुका विवेचन ऊपरसे अर्थात् अन्तसे लेकर आदितक परिपाटी-क्रमसे ( प्रतिलोम-पञ्जतिसे ) किया जाता है उसे पञ्चाणुपूर्वी उपक्रम कहते हैं । जैसे—

मोक्ष-सुरकी अभिलाषासे यह मैं जिनवरोंमें श्रेष्ठ मेसे सर्वमानस्वामीको नमस्कार करता हूँ । और विलोमक्रमसे अर्थात् सर्वमानके बाद पार्वतीनाथको, पार्श्वनाथके बाद नेमिनाथको इत्यादि क्रमसे शेष जितेन्द्रोंको भी नमस्कार करता हूँ ॥ ६५ ॥

जो कथन अनुलोम और प्रतिलोम क्रमके विना जहां कहाँ भी किया जाता है उसे यथातथाणुपूर्वी कहते हैं । जैसे—

हाथी, अरण्यभैसा, जलपरिपूर्ण और सघन मेघ, कोयल, मयूरका कण्ठ और अमरके

१ जं जेण क्रमेण परक्रातेरि द्रदकुण्यण मा तस्य तेण क्रमेण गण्णा पञ्चाणुपुत्री गाम । जयध अं पृ. ३.

२ उग्रहमसिग च वेदे गममसिगरण च मृगं च । पञ्चमपहं सुपास जिणं च चदप्पर वदे ॥

सिंहे च पण्डरा नीणन्तेण च वासुजं च । मिमलमणत्तं भयव वग्गं सतिं च वदामि ॥ कुणु च जिणवदि

तं च मीनं च मुण्डालयं च । गमि वदामि अट्ठि गेमिं तहं पाणवपुमाणं च ॥ गममः अभियुद्धिया विदुय-

णमणा पईज्जामणा । चउतीरं वि जिणजरा तिलय्या मे पसीयतु ॥ द म पृ. ४

३ तस्स विलोमेण गण्णा पञ्चाणुपुत्री । जयध अं पृ. ३

४ पतिगु ' स्मेमि ' इति पाठ ।

५ एयं क्रोमि पणम पिणपरमस्स वडुमाणं च । मेसाण च जिणाण सगणगयधराणं च सब्बेसिं ॥

६ जय मा तप मा पय्यो इरिद्धमारि क्रदूणं गमना कत्ततत्ताणुपुत्री । जयध. अ. पृ. ३.

मूलानां-१०५.

इदं पुण जीवद्वयं खंड-सिद्धंतं पटुच पुत्र्याणुपुत्रीए द्विदं छण्हं खंडाणं पडम-खंडं जीवद्वयणमिदि । वेदणा-क्रसिण-पाहुड-मज्झादो अणुलोम-विलोम-क्रमेहि विणा जीवद्वयणस्स संतादि-अहियारा अहिणिग्गया ति जीवद्वयणं जत्यन्तथाणुपुत्रीए वि संठिदं । जीवद्वयणे ण पञ्चाणुपुत्री संभवह ।

गामस्स दसं द्वाणानि भवंति । तं जहा, गोणपदे ! गोणपदे ! गोणपदे ! आदाणपदे पडिक्खसपदे अणादियसिद्धंतपदे पाथणपदे गामपदे पमाणपदे अवयवपदे संजोगपदे चेदि ।

गुणानां भावो गौण्यम् । तद् गौण्यं पदं स्थानमाश्रयो येषां नाशानां तानि गौण्य-पदानि । यथा, आदित्यस्य तपनो भास्कर इत्यादीनि नामानि । नोगौण्यपदं नाम गुणानिरेपेक्षमनन्वर्थमिति यावत् । तद्यथा, चन्द्रस्वामी सूर्यस्वामी इन्द्रगोप इत्यादीनि

समान वर्णवाले, हरिचक्रके प्रदीप, और शिवदेवी मातके लाल मेसे नेमिनाथ भगवान् जयवन्त हों ॥ ६६ ॥ इत्यादि यथातथाणुपूर्वीका उदाहरण समझना चाहिये ।

यह जीवस्थान नामक शास्त्र ऋण्डित्वात्तकी अपेक्षा पूर्वाणुपूर्वी क्रमसे लिखा गया है, क्योंकि, पटुखण्डागममें जीवस्थान प्रथम खण्ड है । वेदनाकवायप्रायुतके मध्यसे अनुलोम और विलोमक्रमके विना जीवस्थानके सत्, संख्या आदि अधिकार निकले हैं, इसलिये जीवस्थान यथातथाणुपूर्वीमें भी गर्भित है । किंतु इस जीवस्थान खण्डमें केवल पञ्चाणुपूर्वी संभव नहीं है ।

नाम-उपक्रमके दश भेद होते हैं । वे इसप्रकार हैं—गौण्यपद, नोगौण्यपद, आदाणपद, प्रतिपक्षपद, अनादिसिद्धात्तपद, प्राधान्यपद, नामपद, प्रमाणपद, अवयवपद और संयोगपद ।

गुणोंके भावको गौण्य कहते हैं । जो पदार्थ गुणोंकी मुख्यतासे व्यवहृत होते हैं वे गौण्य-पदार्थ हैं । वे गौण्य पदार्थ पद अर्थात् स्थान या आश्रय जिन नामोंके होते हैं उन्हें गौण्यपद-नाम कहते हैं । अर्थात् जिस संज्ञाके व्यवहारमें अपने विशेष गुणका आश्रय लिया जाता है उसे गौण्यपदनाम कहते हैं । जैसे, सूर्यकी तपन और भास्व गुणकी अपेक्षा तपन और भास्कर इत्यादि संज्ञाएँ हैं । जिन संज्ञाओंमें गुणोंकी अपेक्षा न हो, अर्थात् जो असार्थक नाम हैं उन्हें नोगौण्यपदनाम कहते हैं । जैसे, चन्द्रस्वामी, सूर्यस्वामी, इन्द्रगोप इत्यादि नाम ।

१ से किं दसनामे पणत्ते ? त जहा, गोणे नोगोणे आयाणपण पडिक्खवपण पहाणयाः अणाअ-सिद्धतेण नामेण अवयवेण सजोगेण पमाणेण । अनु १, १२७

२ से किं त गोण्ये ? गोणे खमस ति सगणे, तपद ति तपणे, जलइ ति जलणे, पवद ति पपणे । से च गोणे । अनु १, १२८.

३ नो गोणे अकुतो सकुतो असुगो मणुगो अलल पलल अकुळिया मकुळिया असुहो समुहो, नोपल वपद ति पलास, उमाति नहए माणवाएए, अत्रीय वावए वीणावाए, नो द्रदगोवएए ति द्रदगोते से चो गोणे । अनु १, १२८.

अनु. १, १२८.

नामानि। आदानपदं नाम आत्तद्रव्यनिबन्धनम् । नैतद्गुणान्नाश्रोऽन्तर्भावति तत्रादानादेयत्व-  
विवक्षाभावात् । भावे वा न तद्गुणाश्रितमादानपदनाश्रोऽन्तर्भावात् । पूर्णकलश इत्येत-  
दादानपदम् । नादानपदम् । तद्यथा, घटस्य कलश इति संज्ञा नात्तद्रव्यादिमाश्रिता  
तस्यात्तथाविधविवक्षान्तरेण प्रवृत्तायाः समुपलम्भात् । न पूर्णशब्दोऽपि तस्य  
पर्याप्तवाचकत्वेन गुणनाश्रोऽन्तर्भावात् । नोभयसमासोऽपि तस्य भावसंयोगेऽ-  
न्तर्भावादिति न, जलादिद्रव्याधारत्वविवक्षायां पूर्णकलशशब्दस्यादानपदत्वाभ्युप-  
विशेषार्थ—जिन मनुष्योके चन्द्रत्वामी आदि नाम रक्ष्ये जाते हैं। उनमें चन्द्र  
आदिका न तो स्वामीपना पाया जाता है और न इन्द्रके वे रक्षक ही होते हैं। केवल ये नाम  
रूढ़िसे रक्ष्ये जाते हैं। इनमें गुणादि की कुछ भी प्रधानता नहीं पायी जाती है, इसलिये इन्हें  
नोगौण्यपदनाम कहते हैं।

ग्रहण किये गये द्रव्यके निमित्तसे जो नाम व्यवहारमें आते हैं, अर्थात् जिनमें  
द्रव्यके निमित्तकी अपेक्षा होती है उन्हें आदानपदनाम कहते हैं।

विशेषार्थ— आदानपदनामोंमें, संयोगको प्राप्त हुए द्रव्यके निमित्तसे उत्पन्न हुई अवस्था-  
विशेषकी वाचक संज्ञाएं ली जाती हैं। अर्थात् आदान-आदेय भावकी मुख्यतासे जो नाम  
प्रचलित होते हैं उन्हें आदानपदनाम कहते हैं।

इस आदानपदनामका गुणनाममें अन्तर्भाव नहीं हो सकता है, क्योंकि, गुणनामोंमें  
आदान-आदेय भावकी विवक्षा नहीं रहती है। यदि गुणनामोंमें भी आदान-आदेय भावकी  
विवक्षा मान ली जाय तो गौण्यपदनाम गुणाश्रित नहीं रह संकते हैं, क्योंकि, आदान-आदेय  
भावकी मुख्यतासे उनका आदानपदनामोंमें अन्तर्भाव हो जायगा।

‘पूर्णकलश’ इस पदको आदानपदनाम समझना चाहिये।  
शंका—‘पूर्णकलश’ यह आदानपदनाम नहीं हो सकता है। इसका खुलासा इस-  
प्रकार है, घटकी ‘कलश’ यह संज्ञा ग्रहण किए गये किसी द्रव्यादिके आश्रयसे नहीं है,  
क्योंकि, ‘कलश’ इस संज्ञाकी द्रव्यादिके निमित्तकी विवक्षाके विना ही प्रवृत्ति देखी जाती  
है। इसीतरह ‘पूर्ण’ यह शब्द भी आदानपदनाम नहीं हो सकता है, क्योंकि, ‘पूर्ण’ यह  
शब्द पर्याप्तको वाचक होनेसे उसका गौण्यपदनाममें अन्तर्भाव हो जाता है। पूर्ण और कलश  
इन दोनोंका समास भी आदानपदनाम नहीं हो सकता है, क्योंकि, उसका भावसंयोगमें  
अन्तर्भाव हो जाता है?

समाधान—ऐसी शंका करना उचित नहीं है, क्योंकि, जलादि द्रव्यके आधारपदकी  
विवक्षामें ‘पूर्णकलश’ इस शब्दको आदानपदनाम माना गया है।

१ से किं त आयाणपदेण ? धम्मो माल, चूलिया चाउरगिज्ज जमखय आतती तथिज्ज अट्ठञ्च  
जण्हञ्ज पुत्तिट्ठञ्ज पुत्तिट्ठञ्ज नीर धम्मो मगो समोमण गथो ज महिय म च आयाणपण, अनु १, १०८

गमात् । एवमविधेवत्यपि चालयित्वा व्यवस्थापनीयम् । अक्लिष्टानि कानि पुनरादान-  
पदनामानि ? वधूर्न्तर्वलीत्यादीनि आत्तर्भृष्टतापत्यनिबन्धनत्वात् । प्रतिपक्षपदानि\* कुमारी  
चन्ध्येत्येवमादीनि आदानपदप्रतिपक्षनिबन्धनत्वात् । अनादिसिद्धान्तपदानि धर्मास्तिर-  
धर्मास्तिरित्येवमादीनि । अपौरुषेयत्वतोऽनादिः सिद्धान्तः स पदं स्थानं यस्य तदनादि-  
सिद्धान्तपदम् । प्राधान्यपदानि\* आश्रयनं निम्बवनमित्यादीनि । वनान्तः सत्स्वप्यन्येष्व-  
विशेषार्थ—जलादि द्रव्य आदान है और कलश आदेय है। इसलिये ‘पूर्णकलश’ इस  
शब्दका आदानपदनाममें अन्तर्भाव होता है। यह बात गौण्यपदनाममें नहीं है, इसलिये उसमें  
उसका अन्तर्भाव नहीं हो सकता है। यदि गौण्यपदमें इसप्रकारकी विवक्षा की जायगी तो यह  
गौण्यपद न कहलाकर आदानपदकी कोटिमें आ जायगा।

इसीप्रकार ‘अविधवा’ इस पदका भी विचार कर आदानपदनाममें अन्तर्भाव कर  
लेना चाहिये।

शंका—अक्लिष्ट अर्थात् सरल आदानपदनाम कौनसे हैं ?

समाधान—वधू और अन्तर्वली इत्यादि सरल आदानपदनाम समझना चाहिये,  
क्योंकि, स्विकृत पतिकी अपेक्षा वधू और धारण किये गये गर्भस्थ पुत्रकी अपेक्षा ‘अन्तर्वली’  
संज्ञा प्रचलित है।

कुमारी, वन्धा इत्यादिक प्रतिपक्षपदनाम हैं, क्योंकि, आदानपदमें ग्रहण किये गये  
दूसरे द्रव्यकी निमित्तता कारण पड़ती है और यहाँ पर अन्य द्रव्यका अभाव कारण पड़ता  
है। इसलिये आदानपदनामोंके प्रतिपक्ष-कारणक होनेसे कुमारी या वन्धा इत्यादि पद प्रतिपक्ष-  
पदनाम जानना चाहिये।

अनादिकालसे प्रवाहरूपसे चले आये सिद्धान्तवाचक पदोंको अनादिसिद्धान्तपदनाम  
कहते हैं। जैसे धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय इत्यादि। अपौरुषेय होनेसे सिद्धान्त अनादि है।  
यह सिद्धान्त जिस नामरूप पदका आश्रय हो उसे अनादिसिद्धान्तपद कहते हैं।

बहुतसे पदार्थोंके होने पर भी किसी एक पदार्थकी बहुलता आदि द्वारा प्राप्त हुई  
प्रधानतासे जो नाम बोले जाते हैं उन्हें प्राधान्यपदनाम कहते हैं। जैसे, आश्रयन निम्बवन

१ से किं त पडिवक्खपणं ? पडियक्खपदेण नवेसु गामाणारणारोडकव्व उमडवदोणपुहुट्टणामसत्ताह-  
संनिसेसु सनिविसमाणेसु अस्सिा सिवा, अग्गी सथिलो, विस महु, कल्लअधरेसु अत्रिल साउअ, जे रत्तए से  
अल्लए, जे लाउए से जलाउए, जे सुमए से कुसुमए, आलवने निालोअसापए, से च पडिवक्खपणं ।  
अनु १, १२८

२ अणादियसिद्धतेण, धम्मथिकाए जवम्मथिकाए जामामथिकाए जीवथिकाए पुगलथिकाए अद्धामए  
से च अणादियसिद्धतेण । अनु १, १२८

३ पाहणयाए असेगवणे सतवणवणे चपणवणे च्अवणे नागवणे पुचागवणे उचुवणे दसखणे सालिणे से  
त पाहणयाए । अनु १, १२८

तिरक्षितयुग्धु विश्वशक्तप्रधान्यचतुपिचुमन्डनिवन्धनत्वात् । नामपदं' नाम गौडोज्ञो  
द्रमिल इति गौडान्द्रमिलभाषानामधामत्वात् । प्रमाणपदानि' शतं महसं द्रोणः सारी  
पलं तुला कर्पादीनि प्रमाणानाम्नां प्रमेयेषुपलम्भात् ।

अवयवपदानि' यथा । सोऽवयवो द्विविधः, उपचितोऽपचित इति । तत्रोप-  
चितानवयवनिवन्धनानि यथा, गलगण्ड शिलीपटः लम्बकर्ण इत्यादीनि नामानि ।  
अवयवापचयनिवन्धनानि यथा, छिन्नकर्णः छिन्ननासिक इत्यादीनि नामानि । संयोग-  
पदानि यथा । स संयोगश्चतुर्विधो द्रव्यक्षेत्रकालभावसंयोगभेदात् । द्रव्यसंयोगपदानि  
यथा, इभ्यः गौथः दण्डी छत्री गभिणी इत्यादीनि द्रव्यसंयोगनिवन्धनत्वात् तेषां ।

इत्यादि । वनमें अन्य अविकसित वृक्षोंके रहने पर भी विवक्ष्यसे प्रधानताको प्राप्त आम और  
नीपके वृक्षोंके कारण आम्रवन और निम्बवन आदि नाम व्यवहारमें आते है ।

जो भाष्यभेदसे नाम बोले जाते है उन्हें नामपदानाम कहते हैं । जैसे गौड़, आन्ध्र,  
प्रमिल इत्यादि । ये गौड़ आदि नाम गौडी, आन्ध्री और प्रमिल भाषाओंके नाम के  
आधारसे हैं ।

गणना अथवा मापनी अपेक्षासे जो संज्ञाए प्रचलित हैं उन्हें प्रमाणपदानाम कहते हैं ।  
जैसे, सौ, हजार, द्रोण, मारी, पल, तुला, ऊर्ष इत्यादि । ये सब प्रमाणनाम प्रमेयोंमें पाये  
जाते हैं, अर्थात् इन नामोंके द्वारा तत्प्रमाण वस्तुका बोध होता है ।

अप अवयवपदानाम कहते हैं । अवयव को प्रकारके होते हैं, उपचितावयव और अप-  
चितावयव । रोगादिके निमित्त मिलने पर किसी अवयवके वद् जानेसे जो नाम बोले  
जाते हैं उन्हें उपचितावयवपदानाम कहते हैं । जैसे, गलगण्ड, शिलीपट, लम्बकर्ण इत्यादि ।  
जो नाम अवयवोंके अपचय अर्थात् उनके छिन्न हो जानेके निमित्तसे व्यवहारमें आते हैं उन्हें  
अपचितावयवपदानाम कहते हैं । जैसे, छिन्नकर्ण, छिन्ननासिक इत्यादि नाम ।

अप संयोगपदानामका कथन करते हैं । द्रव्यसंयोग, क्षेत्रसंयोग, कालसंयोग और  
भावसंयोग के भेदसे संयोग चार प्रकारका है । इभ्य, गौथ, दण्डी, छत्री, गभिणी इत्यादि द्रव्य-  
संयोगपदानाम हैं, क्योंकि, धन, गूथ, दण्डा, छत्ता इत्यादि द्रव्यके संयोगसे ये नाम व्यवहारमें

\* यमेव सिद्धी भवत्स नामेना ज्ञानिचक्र ने च गभिणी । अनु १, १०८.

३ वननाम वृक्षोंके पत्तों । न जना, नामपदानां ठकणपमानो द्रव्यपमाने मानपमाने । अनु १, १३३

४ गभिणी, किंने तिरी तियाती दाती पत्तुती लगी नहीं वाली । दुपन वज्यन वहुपन उर्खी केपनी  
कट्टी पतिर सोन मः जातिना मरिचिय निरपान तिथेना केत्तान रति व एत्तए गानए । मे च अवयवनी ।

अनु १, १२८

५ ने किं व संज्ञेना ' म्नेने वृत्तिचिदं पत्तुचि, न च्छ, द्रव्यजोति, इंद्रजोति, तात्त्वजोति, नात्र-  
पत्तु । मे च व नामपदानां ' नामपदानां विरिरे पत्तुने, न च्छ, वत्तिरे अतिरे, संज्ञेना । मे च मत्तिने •

नासिपरश्चादयस्तेषामादानपदेऽन्तर्भावात् । सहचरितत्वविवशया भवन्तीति चेन्न, सहच-  
रितत्वाविवश्यां तेषां नामपदानांोऽन्तर्भावात् । क्षेत्रसंयोगपदानि', माथुरः बालम'  
दाक्षिणात्यः औदीच्य इत्यादीनि, यदि नामत्वेनाविवक्षितानि भवन्ति । कालसंयोग-  
पदानि' यथा, शारदः वासन्तक इत्यादीनि । न वसन्तशरद्ध्रमन्तादीनि तेषां नामपदेऽ-  
न्तर्भावात् । भावसंयोगपदानि', क्रोधी मानी मायावी लोभीत्यादीनि । न शीलसाहस्य-

आते हैं । अस्ति, परशु इत्यादि द्रव्यसंयोगपदानाम नहीं हैं, क्योंकि, उनका आदानपदमें  
अन्तर्भाव होता है ।

शंका—सहचारीपनेकी विषयशामें अस्ति, परशु आदिका संयोगपदानाममें अन्तर्भाव  
हो जायगा ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि, सहचारीपनेकी विषयशामें होने पर उनका नामपदमें  
अन्तर्भाव हो जाता है ।

माथुर, बालम, दाक्षिणात्य और औदीच्य इत्यादि क्षेत्रसंयोगपदानाम हैं, क्योंकि,  
मथुरा आदि क्षेत्रके संयोगसे माथुर आदि संज्ञापं व्यवहारमें आती हैं । जब माथुर  
आदि संज्ञाए नामरूपसे विवक्षित न हों तभी उनका क्षेत्रसंयोगपदमें अन्तर्भाव होता है,  
अन्वया नहीं ।

शारद, वासन्तक इत्यादि कालसंयोगपदानाम हैं, क्योंकि, शरद् और वसन्त ऋतुके  
संयोगसे ये संज्ञाए व्यवहारमें आती हैं । किंतु वसन्त, शरद् हेमन्त इत्यादि संज्ञाओंका काल-  
संयोगपदानाममें ग्रहण नहीं होता है, क्योंकि, उनका नामपदमें अन्तर्भाव हो जाता है ।

क्रोधी, मानी, मायावी और लोभी इत्यादि नाम भावसंयोगपद हैं, क्योंकि, क्रोध,  
मान, माया और लोभ आदि भावोंके निमित्तसे ये नाम व्यवहारमें आते हैं । किंतु जिनमें

मत्तिने नाहि गभिणी, मत्तिमादि महिसण, उत्तर्णाहि उत्तर्णाए, उर्द्धहि उर्द्धमाए, य त मधिना । य हि त गभिण ?  
अचिते उजीए उजी, दंडेण दंडी, पट्टेण पट्टी, रणेण रण्डी, रंजेण रंजी । य कि न सीणण / सीणण  
इत्येय गृण्णि, गण्डेय, गण्णिए, रंण गण्ण, नामण नाणिए, मे च दव्य रणेणि । अनु. १, १२७.

\* मे तिं न खेचमजोति ? मारुहे, एवण, देमण, एणणमण, हरिणमण, म्मणवणण, ठयकुण, उपाए-  
उणा, पुण्विदंएण अपगन्दिदंए । अया मण्डि, माल्लए, मण्डुण, मण्डुण, मे व यत्तमजाग ।  
अनु १, १३०.

० मे किं व अन्नमजोति ? छमममुममाए, सुममाए, सुममुममाए, दुममणममाए, दुममणममाए ।  
अन्वा पावक्कए, वातागग्गए, गण्डए, वैयदए, म्मणए, गिण्णए, मे त वाउमजोति । अनु. १, १३१.

३ मे किं व मावमजोति ? वृद्धिं पत्तुचि, न च्छ, पत्तुचि न पत्तुचिथे । य हि त पत्तु व ? नाणण गभिणी,  
उत्तना उंसणी, चत्तिंए वरिती मे व पत्तुव । मे हि त वत्तुवथ ? कंदिता उरेणी, माल्ल मानी, मायाए मार्यी, कंदिग  
लोही ने व 'अल्पे, मे त मात्तमजोति । मे व नचोण । अनु. १, १३२.



निबन्धनयमसिंहाशिरावणादीनि नामानि तेषां नामपदेऽन्तर्भावत् । न चैतेभ्यो व्यतिरिक्तं नामास्त्युपलम्भार्थं ।

तथेदस्स जीवद्वान्णस्स गामं किं पदं ? जीवानं द्वाण-वणणादो जीवद्वान्णमिदि गोणपदं । मंगलादिसु छसु अहियारेसु वक्खण्णिज्जसण्णेसु गामं वुत्तमेव । पुणो किमिदं

स्वभावकी सदृशता कारण है ऐसी यम, सिंह, अश्वि और रावण आदि सङ्घाप भावस्योग-पदरूप नहीं हो सकती है, क्योंकि, उनका नामपदमें अन्तर्भाव होता है । उक्त दश प्रकारके नामोंसे भिन्न और कोई नामपद नहीं है, क्योंकि, व्यवहारमें इनके अतिरिक्त अन्य नाम नहीं पाये जाते हैं ।

विशेषार्थ—यत्तियुपभाचार्थेने कषयप्रभृत्यर्थे नामके केवल छह भेद बताये हैं । वे ये हैं, गौण्यपद, नौगौण्यपद, आदानपद, प्रतिपक्षपद, अपचयपद और उपचयपद । ऊपर जो नामके दश भेद कह आये हैं । उनमेंसे, यहां पर अनावृत्तिसिद्धान्तसबन्धी गुणसोपेश नामोंका गौण्यपद और आदानपदमें तथा गुणनिरपेश नामोंका नौगौण्यपदमें अन्तर्भाव किया है । प्राधान्यपदानामोंका गौण्यपद और आदानपदमें अन्तर्भाव किया है । प्रमाणपदानामोंका गौण्यपदमें नामपदानामोंका नौगौण्यपदमें और सयोगपदानामोंका आदानपदमें अन्तर्भाव किया है । अवयवपदानामोंका उपचितपदानाम और अपचितपदानामोंमें अन्तर्भाव हो ही जाता है ।

शंका—उन पूर्वोक्त दश प्रकारके नामपदोंमें यह जीवस्थान कौनसा नामपद है ?

समाधान — जीवोंके स्थानोंका वर्णन करनेसे 'जीवस्थान' यह गौण्य नामपद है ।

शंका—पहले मंगलादिक छह अधिकारोंका व्याख्यान करते समय नामपदका

१ गाम ळ्विह ३ ॥ ( कसायपाहुडुण्णमुत्त ) गोणपदे गोण्णपदे आदानपदे पड्विक्खपदे अपचयपदे उपचयपदे चेदि । XXX पाचणपदणमाण कय त मावो ? वलाहकाए च चहुसु वण्णेसु सेतेसु धवला नलाहका लेकाओ ति जो गाम्णिदंसे सो गोणपदे गिणददि गुण्णहेण दव्वमि पलत्तिदसणादो । कयवणिवादि-अण्णेसु स्वखेसु तथ सेतेसु जो पुणेण स्वखेण गिणवणमिदि गिदंसे सो आदानपदे गिणददि वणेणचक्खसव्वेणेदस्स पउत्तिदसणादो । दव्वखेचकाम्मावसजोयपदाणि रायामिधुहरत्सरलोमणयस्माहउअहरावयसारवासतयकोहीमाणी उच्चार्हीणि गामाणि ति आदानपदे चैव गिणददि इदमेदस्स अयि पय न इदमथि ति निक्खवाए एदंमि गामाण पयुत्तिदसणादो । अवयवपदणामाणि अपचयउचचयपदणामेसु पविंसाति, तेहिंतो तस्स भेदात्तमादो । सुअणसा कउगुमीवा कमलदलणयणा चदसुही विचोही इच्चार्हीणि ततो नाहिराणि अथि ति चे गेदाणि गामाणि समासतभूददन-मइत्तसन्धेण दव्वमि पउत्तीदो । अणादियत्तिदत्तपदणामेसु जाणि अणादियुणसवधमव्वेखिय पयट्ठाणि जीवो गणी चैयणावतो ति ताणि गोणपदे आदानपदे च गिणददि । जाणि गोण्णपदाणि ताणि गोण्णपदणामेसु गिणददि । पमाणपदणामाणि ति गोणपदे चैव गिणददि समाणस्स दव्वयुणत्तादो अरत्तिदसधस्स अरत्तिदसणा गामपदा । सा च अणादियत्तिदत्तपदणामेसु पविट्ठा अणादिसत्त्वेण तस्स तथ पउत्तिदसणादो । अणादियत्तिदत्तपदणामाण वम्मकालागास-जीवपुण्णालोदीण छयपदानामो पुव्व म्दविदो ति गेदाणि परुविज्जेदे । तदो गाम दसाविन चैव नोदि ति प्यत्तगहो ण वरत्त्वो, किउ क्विह पि होदि ति वेत्तव्व । जयय अ पु ४-५

शंथावदारे गामं उच्चदि ति ? न, पूर्वोद्दिष्टस्य नामोऽनेन पदान्वेषणात् ।

प्रमाणं पंचविहं दव्व-खेत्त-काल भाव-णय-प्पमाण-भेदेहि । तत्थ दव्व-प्माणं संखेज्जसंखेज्जमणंतयं चेदि । खेत्त-प्माणं एय-पदेसादि । काल-प्माणं समयावलियादि । भाव-प्माणं पंचविहं, आभिणिवोहियणाणं सुदणाणं ओहिणाणं मणपज्जवणाणं केवलणाणं चेदि । णय-प्माणं सत्तविहं, णेगम-संगह-उवहारुज्जुसुद-सह-समभिरुठ-एवंभूद-भेदेहि । अहवा णय-प्पमाणमेणयविहं—

जावदिया वयण-वहा तावदिया चैव होंति णय-वादा ।

जावदिया णय-वादा तावदिया चैव पर-ससयां ॥ ६७ ॥ इदि वयणादो ।

कथं नयाना प्रामाण्यं ? न, प्रमाणकार्याणां नयानापुपचारतः प्रामाण्याविरोधात् ।

व्याख्यान कर ही अये हैं, फिर यहां पर ग्रन्थके प्रारम्भमें नामपदका व्याख्यान किसलिये किया गया है ?

समाधान—ऐसा नहीं, क्योंकि, पूर्वमें कहे गये नामका दशप्रकारके नामपदोंमेंसे किसमें अन्तर्भाव होता है इसका इस कथनके द्वारा ही अन्वेषण किया है ।

द्रव्यप्रमाण, क्षेत्रप्रमाण, कालप्रमाण, भावप्रमाण और नयप्रमाणके भेदसे प्रमाणके पांच भेद हैं । उनमें, संख्यात असंख्यात और अज्ञत यह द्रव्यप्रमाण है । एक प्रदेश आदि क्षेत्रप्रमाण है । एक समय, एक आवली आदि कालप्रमाण है । आभिनिवोधिक ( मति ) ज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञानके भेदसे भावप्रमाण पांच प्रकारका है । नैगम, संग्रह, व्यवहार, कलुसुव, शब्द, समभिरुठ और एवंभूतनयके भेदसे नयप्रमाण सात प्रकारका है । अथवा नयप्रमाण निम्न वचनके अनुसार अनेक प्रकारका भी समझना चाहिये ।

जितने भी वचन-मार्ग हैं, उतने ही नयवाद, अर्थात् नयके भेद हैं । और जितने नयवाद हैं, उतने ही परसमय हैं ॥ ६७ ॥

शंका—नयोंमें प्रमाणता कैसे संभव है, अर्थात् उनमें प्रमाणता कैसे आ सकती है ?

समाधान - नहीं, क्योंकि, नय प्रमाणके कार्य हैं, इसलिये उपचारसे नयोंमें प्रमाण-ताके मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

विशेषार्थ—शंकाकारका अभिप्राय यह है कि जब नय वस्तुके एक अंशभावको ग्रहण करता है सर्वांशरूपसे वस्तुको नहीं जानता है तब उसे प्रमाण कैसे माना जाय । इसका समाधान इसप्रकार किया गया है कि, यद्यपि केवल एक नय नय है प्रमाण नहीं है । किन्तु उनमें दूसरे नयोंकी अपेक्षा रहनेसे वे प्रमाणका कार्य करते हैं, इसलिये उपचारसे उनमें प्रमाणता आ जाती है ।



एतथ इदं जीवद्वयं पंचसु पमांसेषु कदमं पमाणं । तं पि पंचविहं,  
तस्य पंचविहंषु भाव-पमाणेषु सुद-भाव-पमाणं । कर्तृनिरूपणया एवास्य प्रामाण्यनिरू-  
पितमिति पुनरस्य प्रामाण्यनिरूपणमर्थमिति चेन्न, सामान्येन जिनोक्तत्वान्यथापु-  
पत्तिनोऽगतजीवस्थानप्रामाण्यस्य शिष्यस्य बहुषु भावप्रमाणेष्विदं जीवस्थानं श्रुतभाव-  
प्रमाणमिति आप्तार्थत्वात् । अहवा पमाणं छविहं, नामस्थापनाद्व्यक्षेत्रकालभावप्रमाण-  
भेदान् । तथा गाम-पमाणं पमाण-रणा । द्वयणा-पमाणं दुविहं, सन्भाव-द्वयगा-पमाण-  
मयन्भाव द्वयणा-पमाणमिदि । आकृतिसति सद्भावस्थापना । अनाकृतिसत्यसद्भावस्थापना ।  
द्वयपमाणं द्विहं आगमदो णोऽगमदो य । आगमदो पमाण-पाहुड-जाणओ  
अणुनजुतो, संश्लेषासंश्लेषाणंत-भेद-मिणुग-सद्गमो वा । णोऽगमो तिविहो, जाणुग-  
मरीरं भविंयं तन्परिचितमिदि । जाणुगमरीरं च भविंयं च गमं । तन्परिचित-द्वय-पमाणं

अंका — उन पात्र प्रकारके प्रमाणोंसे ' जीवस्थान ' यह कौनसा प्रमाण है ?

समाधान — यह भावप्रमाण है ।

मत्तिलानादिरूपसे भावप्रमाणके भी पांच भेद हैं । इसलिये उन पात्र प्रकारके भाव-  
प्रमाणोंमेंसे इस जीवस्थान शास्त्रको श्रुतप्रमाणरूप जानना चाहिये ।

अंका — पहले कर्तिका निरूपण कर आये हैं इसलिये उसके निरूपण कर देनेसे ही  
इस शास्त्रकी प्रमाणताका निरूपण हो जाता है, अतः फिरसे उसकी प्रमाणताका निरूपण  
करना निरर्थक है ?

समाधान — ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि, यह जीवस्थान शास्त्र प्रमाण है,  
जब्यथा तद्विदित्तेप्रका कः। पुत्रा नरी दो सकता या। इत्यन्तर सामान्यरूपसे इस जीव-  
स्थान शास्त्रकी प्रमाणताका निश्चय करनेवाले शिष्योंको बहुत प्रकारके भाव प्रमाणोंसे यह  
जीवस्थान शास्त्र प्रमाणप्रमाणान्तर है, जसपरसे विशेष जान करानेके लिये यहाँ पर इसकी  
प्रमाणताका निरूपण किया ।

अथवा, नामप्रमाण, स्थापनाप्रमाण, द्रव्यप्रमाण, दोषप्रमाण, जालप्रमाण और भाव-  
प्रमाणके चार प्रमाण छः प्रकारका है ।

उनमें ' प्रमाण ' केन्ही साराको नामप्रमाण कहते हैं । सद्भावस्थापनाप्रमाण और  
पात्रपरिचयप्रमाणके भेदसे स्थापनाप्रमाण दो प्रकारका है । तदकारवाले पदार्थोंमें  
सद्भावस्थापना होती है । और अन्तर्गतवाले पदार्थोंमें असद्भावस्थापना होती है । आगमद्रव्य-  
प्रमाण और नोऽगमद्रव्यप्रमाणके भेदसे अन्वयप्रमाण दो प्रकारका है । प्रमाणविवेक शास्त्रको  
जाननेवाले पत्रु वर्तमानमें उसके उपयोगसे रहित जीवको आगमद्रव्यप्रमाण कहते हैं । अथवा,  
शब्दोंकी शोधा स्वयन्तरेरूप नकाराओंकी अपेक्षा अस्त्वात्तभेदरूप और तद्वान्तर अर्थकी  
शोधा अन्तर्भेदरूप केसे शब्दरूप आगमको आगमद्रव्यप्रमाण कहते हैं । गानकरारी, भावि  
और तद्वान्तिकके भेदसे नोऽगमद्रव्यके तीन भेद समझने चाहिये ।

तिविहं, संश्लेषासंश्लेषाणंतमिदि । रोच-काल-पमाणाणि पुत्रं न वत्तव्याणि । भाव-पमाणं  
पंचविहं, मदि-भाव-पमाणं सुद-भाव-पमाणं ओहि-भान-पमाणं मणपञ्जव-भाव-पमाणं केवल-  
भाव-पमाणं चेदि । एत्येदं जीवद्वयं भावदो सुद-भाव-पमाणं । दव्वदो संश्लेषासंश्लेषाणंत-  
सरुव सद् पमाणं ।

वनव्यदा तिविहा, ससमयवत्त्वदा परसमयवत्त्वदा तदुभयवत्त्वदा चेदि ।  
जसिह सत्थिह स-समयो चेव वणिज्जदि परुविज्जदि पणगविज्जदि तं सत्थं ससमयवत्त्ववं,  
तसत्त भावो ससमयवत्त्वदा । पर-समयो मिच्चत्तं जमिह पाहुडे अणियोगे वा नणिज्जदि  
परुविज्जदि पणगविज्जदि तं पाहुडमणियोगो वा पररामयवत्त्ववं, तसत्त भावो पर-  
समयवत्त्वदा गाम । जत्थ दो वि परुवेज्जग पर-समयो द्विसिज्जदि स-समयो थानिज्जदि  
सा तदुभयवत्त्वदा गाम भवदि । एत्थ पुण जीवद्वयेण सगमयवत्त्वदा ससमयस्सेन  
परुवगादो । अत्थाधियारो तिविहो, पमाणं पमेयं तदुभयं चेदि । एत्थ जीवद्वयेण एको  
चेय अत्थाधियारो पमेय-परुवणादो । उवक्कमो गदो ।

उनमें, जालकरारी और भावि नोऽगमद्रव्यका वर्णन पहले कर आये । तद्वान्तिक  
नोऽगमद्रव्यप्रमाण संस्काररूप, अस्त्वात्तरूप और अन्तररूप भेदकी अपेक्षा तीन प्रकारका है ।  
दोषप्रमाण और कालप्रमाणका वर्णन पहलेके सगान ही करना चाहिये । मत्तिभावप्रमाण, श्रुतभाव-  
प्रमाण, अवधिभावप्रमाण, मनःपर्ययभावप्रमाण और केवलभावप्रमाणके भेदसे भावप्रमाण पांच  
प्रकारका है । इनमेंसे यह ' जीवस्थान ' नामका जाल भावप्रमाण ही अपेक्षा श्रुतभावप्रमाणरूप  
है, और द्रव्यकी अपेक्षा संख्यात अस्त्वात्त और अन्तररूप शब्दप्रमाण है ।

वक्तव्यता तीन प्रकारकी है, स्वरागमवत्त्वयता, परसमयवत्त्वयता और तदुभयवत्त्व-  
यता । जिस शास्त्रमें स्वसमयका ही वर्णन किया जाता है, प्ररूपण किया जाता है अथवा  
विशेषरूपसे जान कराया जाता है उसे स्वसमयवत्त्वय कहते हैं, और उसके भावको अर्थान्  
उसमें रहनेवाली विशेषताको स्वरागमवत्त्वयता कहते हैं । परसमय विद्यात्वको कहते हैं ।  
उसका जिन प्राश्रुत या अनुयोगमें वर्णन किया जाता है, प्ररूपण किया जाता है या विशेष  
जान कराया जाता है उस प्राश्रुत या अनुयोगको परसमयवत्त्वय कहते हैं, और उसके भावको  
अर्थान् उसमें होनेवाली विशेषताको परसमयवत्त्वयता कहते हैं । जहाँ पर स्वसमय और पर-  
समय इन दोनोंका निरूपण करके परसमयको दोषयुक्त दिगलाया जाता है और स्वसमयकी  
स्थापना की जाती है उसे तदुभयवत्त्वय कहते हैं और उसके भावको अर्थान् उसमें रहनेवाली  
विशेषताको तदुभयवत्त्वयता कहते हैं । इनमेंसे इस जीवस्थान शास्त्रमें स्वसमयवत्त्वयता ही  
समझनी चाहिये, क्योंकि, इसमें स्वसमयका ही निरूपण किया गया है ।

प्रमाण, पमेय और तदुभावके भेदसे अर्थान्धिकाके तीन भेद हैं । उनमेंसे इस जीवस्थान  
शास्त्रमें एक प्रमेय-अर्थान्धिका ही वर्णन है, क्योंकि, इनमें प्रमाणके विवयभूत प्रमेयका ही  
वर्णन किया गया है । इसतरह उपक्रमनामका प्रकरण समाप्त हुआ ।

णिक्रमेवो चउचिहो गाम-द्वयणा-द्व-भाव-जीवद्वान्-भेएण । गाम-जीवद्वान् जीवद्वान्-सदो । द्वयण-जीवद्वान् बुद्धीए समारोविय-जीवद्वान्-द्व-भाव । द्व-जीवद्वान् दुविहं आगम-गोआगम-भेएण । तत्थ जीवद्वान्-जाणओ अपुवजुतो आगम-द्व-भाव-जीवद्वान् । गोआगम-द्व-भाव-जीवद्वान् तिविहं जाणुगसरिरे-भवि-य-त्व-दिरि-त्त-णोआगम-द्व-भाव-जीवद्वान्-भेएण । आदिह्ण-दुगं सुगमं । तव-दिरि-त्तं जीवद्वान्-आहार-भूदागास-द्व-भाव-जीवद्वान् दुविहं आगम-गोआगम-भेएण । आगम-भाव-जीवद्वान् जीवद्वान्-जाणओ उवजुतो । गोआगम-भाव-जीवद्वान् मिच्छहद्वियादि-चोह-स-जीव-समासा । एत्थ णो-आगम-भाव-जीवद्वान् पयदं । णिक्रमेवो गदो ।

नयैविना लोकव्यवहारानुपत्तेर्नया उच्यन्ते । तद्यथा, प्रमाणपरिशुद्धीताथैकदेशे वस्त्वध्यवसायो नर्यः । स द्विविधः, द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्चेति । द्रोष्यत्यदुद्भवत्तांस्तान्पर्यायानिति द्रव्यम्, द्रव्यमेवार्थः प्रयोजनमस्येति द्रव्यार्थिकः । नामजीवस्थान, स्थापनाजीवस्थान, द्रव्यजीवस्थान और भावजीवस्थानके भेदसे निक्षेप चार प्रकारका है । 'जीवस्थान' इसप्रकारकी संज्ञाको नामजीवस्थान कहते हैं । जिस द्रव्यमें बुद्धिसे जीवस्थानकी आरोपणा की हो उसे स्थापनाजीवस्थान कहते हैं । आगम-जीवस्थान और नोआगमजीवस्थानके भेदसे द्रव्यजीवस्थान दो प्रकारका है । उनमें, जीवस्थान शास्त्रके जाननेवाले किन्तु वर्तमानमें उसके उपयोगसे रहित जीवको आगमद्रव्यजीवस्थान कहते हैं । ब्राह्मणकार, भावि और तद्व्यतिरिक्तके भेदसे नोआगमद्रव्यजीवस्थान तीन प्रकारका है । इनमेंसे, आदिके दो अर्थोंमें ब्राह्मणकार और भावि सुगम हैं । जीवस्थानोंके अथवा जीवस्थान शास्त्रके आधारभूत आकाशद्रव्यको तद्व्यतिरिक्तनोआगमद्रव्यजीवस्थान कहते हैं । आगम और नोआगमके भेदसे भावजीवस्थान दो प्रकारका है । जीवस्थान शास्त्रके जानने-वाले और वर्तमानमें उसके उपयोगसे युक्त जीवको आगमभावजीवस्थान कहते हैं । और मिथ्यादृष्टि आदि बौद्ध जीवसमासोंको नोआगमभावजीवस्थान कहते हैं । इनमेंसे, इस जीव-स्थान शास्त्रमें नोआगमभावजीवस्थान निक्षेप प्रकृत है । इसतरह निक्षेपका वर्णन हुआ ।

नर्योंके विना लोकव्यवहार नहीं चल सकता है, इसलिये यहाँ पर नर्योंका वर्णन करते हैं । इन नर्योंका खूलासा इसप्रकार है, प्रमाणके द्वारा ग्रहण की गई वस्तुके एक अंशमें वस्तुका निश्चय करनेवाले ज्ञानको नय कहते हैं । वह नय द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकके भेदसे दो प्रकारका है । जो भविष्यत् पर्यायोंको प्राप्त होगा और भूत पर्यायोंको प्राप्त हुआ था उसे द्रव्य

१ अनिराहतप्रतिपक्षो यस्त्वक्षमाही ह्यतुरभिप्रायो नय । प्र क मा पृ २०५

२ द्रव्य सामान्यमेदोऽव्यय उस्तगाऽर्थो विषयो येषां ते द्रव्यार्थिका । पर्यायो विशेषो भेदा व्यतिरेकोऽपवादोऽर्थो विषयो येषां ते पर्यायार्थिका । लयीय पृ ५१

३ द्रव्यति गच्छति तौस्तान् पर्यायान् द्रुयते गच्छते तैस्तं पर्यायैरिति वा द्रव्यम् । जयथ अ पृ २६ निजनिजप्रदेशमूर्त्तखण्डवृत्त्या स्वसामान्यविभाषणपर्यायान् द्रव्यति द्रोऽयद्यद्द्रुयन्तेति द्रव्यम् । आ प ८७

परि भेदमेति गच्छतीति पर्यायः, पर्याय एवार्थः प्रयोजनमस्येति पर्याया-र्थिकः । तत्र द्रव्यार्थिकत्वविधः, नैगमः संग्रहो व्यवहारश्चेति । विधिव्यतिरिक्त-प्रतिषेधानुपलम्भाद्विधिमार्गमेव तत्त्वमित्यध्यवसायः समस्तस्य' ग्रहणात्संग्रहः । द्रव्य-व्यतिरिक्तपर्यायानुपलम्भाद् द्रव्यमेव तत्त्वमित्यध्यवसायो वा संग्रहः । संग्रहनयाश्रिताना-मर्थानां विधिपूर्वकमवहरणं भेदं न व्यवहारः, व्यवहारपरतन्त्रो व्यवहारनय इत्यर्थः । यदस्ति न तद् द्रव्यमतिलब्ध्य वर्तते इति नैकगमो नैगमः, संग्रहासंग्रहस्वरूपद्रव्यार्थिको नैगम' इति यावत् । एते त्रयोऽपि नयाः नित्यवादिनः स्वविषये पर्यायाभावतः सामान्य-कहते हैं । द्रव्य ही जिसका अर्थ अर्थात् प्रयोजन हो उसे द्रव्यार्थिकनय कहते हैं । 'परि' अर्थात् भेदको जो प्राप्त होता है उसे पर्याय कहते हैं । वह पर्याय ही जिस नमका प्रयोजन हो उसे पर्यायार्थिकनय कहते हैं ।

द्रव्यार्थिक नयके तिन भेद हैं-नैगमनय, संग्रहनय और व्यवहारनय । विधि अर्थात् सत्ताको छोड़कर प्रतियेध अर्थात् असत्ताकी प्राप्ति नहीं होती है, इसलिये विधिमात्र ही तत्व है । इसप्रकारके निश्चय करनेवाले नयको समस्तका ग्रहण करनेवाला होनेसे संग्रहनय कहते हैं । अथवा, द्रव्यको छोड़कर पर्याय नहीं पाई जाती है, इसलिये द्रव्य ही तत्व है । इसप्रकारके निश्चय करनेवाले नयको संग्रहनय कहते हैं । संग्रहनयसे ग्रहण क्रिये गये पदार्थोंके विधिपूर्वक भेद करनेको व्यवहार कहते हैं । उस व्यवहारके आधुन चलनेवाले नयको व्यवहारनय कहते हैं । जो है वह उक्त दोनों अर्थात् संग्रह और व्यवहारको छोड़कर नहीं रहता है । इसतरह जो केवल एकको ही प्राप्त नहीं होता है, अर्थात् अनेकको प्राप्त होता है उसे नैगमनय कहते हैं । अर्थात् संग्रह और असंग्रहरूप जो द्रव्यार्थिक नय है वह ही नैगमनय है । ये तीनों ही नय नित्यवादी हैं, क्योंकि, इन तीनों ही नयोंका विषय पर्याय न होनेके कारण इन तीनों नयोंके विषयमें

१ प्रतिपु 'समस्य' इति पठ ।

२ संद्रुतान्तिका तत्त्वस्त्वामाभिद जगत् । सतात्पण्या मं मगुद्व ममतेऽत ॥ न त. टी पृ ३११ स्वाबलित्तिरेणैत्तमुपनीय पर्यायानां ज्ञानभेदानि शेषेण मत्समस्या समर । म मि १, ३३ स्वजालविशेषे-नैक्योपनया यत्सत्प्रदृश मगह । त रा वा १, ३३ एकत्रेण विशेषाणा प्ररा समयो मत । यजांतरविशेषेण श्लेषार्था त्वयन ॥ त ओ वा १, ३३, ४९

३ म मि १, ३३ त. रा वा १, ३३ प क मा पृ २०५ संग्रहाः श्रुतानामर्थानां विधिपूर्वक । योऽनहरो विभाग स्याद्व्यवहारी नय स्मृत ॥ त श्लो. वा १, ३३, ५८ व्यवहारसु तामेव प्रतितस्तु यवस्थिताम् । तथैव द्रव्यमानचार् व्यवहारयति देहिने ॥ म त टी पृ ३११.

४ अनभिनिवृत्तापेण ह्यन्यमात्राही नैगम । म मि १, ३३ अर्थमह्वल्यमात्राही नैगम । त रा वा १, ३३ तत्र सत्त्वमात्रस्य मात्राही नैगम नय । त श्लो. वा १, ३३ अनिष्य तार्थमह्वल्यमात्रमाही नैगम । म क मा पृ २०५ अप्येव हि सामान्यमभिज्ञानकारणम् । विशेषोऽव्यय एवति नयते निगमो नय ॥ म त टी पृ ३११ नैगमनिर्देशलतामामायाश्रितेश्चैवमाननिर्गते निनाति वा नैकम् । निगमेतु मा

विशेषकालयोरभावान् ।

पर्यायार्थिको द्विविधः, अर्थनयो व्यञ्जननयथेति । द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनययोः किञ्चित्तो भेदश्चेदुच्यते, ऋजुसूत्रवचनविच्छेदो मूलाधारो येषां नयानां ते पर्यायार्थिकाः । मिच्छित्तोऽस्मिन् काल इति विच्छेदः । ऋजुसूत्रवचनं नाम वर्तमानवचनं, तस्य विच्छेदः ऋजुसूत्रवचनविच्छेदः । स कालो मूल आधारो येषां नयानां ते पर्यायार्थिकाः । ऋजुसूत्रवचनविच्छेदादारभ्य आ एकसमयाद्वस्तुस्थित्यध्यवसायिनः पर्यायार्थिका इति यावत् ।

सामान्य और विशेषकालका अभाव है ।

निरीपार्थ — एवमूलनयसे लेकर ऊपर ऋजुसूत्र नय तरु पूर्व नय सामान्य रूपसे ओर उत्तरोत्तर नय विशेषरूपसे वर्तमान कालवर्ती पर्यायको विषय करते हैं । इसप्रकार सामान्य ओर विशेष दोनों ही काल द्रव्यार्थिक नयके विषय नहीं होते हैं । इस विवक्षासे द्रव्यार्थिक नयके तीनों भेदोंको नित्यवादी कहा है । अथवा, द्रव्यार्थिक नयमें कालभेदकी विवक्षा ही नहीं है, इत्यलिये उसमें सामान्य ओर विशेषकालका अभाव कहा है ।

अर्थनय और व्यञ्जन ( शब्द ) नयके भेदसे पर्यायार्थिक नय दो प्रकारका है ।

शंका — द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनयमें किसप्रकार भेद है ?

ममाधान — ऋजुसूत्रके प्रतिपादक वचनोंका विच्छेद जिस कालमें होता है, वह ( काल ) जिन नयोंका मूल आधार है वे पर्यायार्थिकनय हैं । विच्छेद अथवा अन्त जिस कालमें होता है उस कालको विच्छेद कहते हैं । वर्तमानवचनको ऋजुसूत्रवचन कहते हैं, और उसके विच्छेदको ऋजुसूत्रवचनविच्छेद कहते हैं । वह ऋजुसूत्रके प्रतिपादक वचनोंका विच्छेद रूप काल जिन नयोंका मूल आधार है उन्हें पर्यायार्थिकनय कहते हैं । अर्थात् ऋजुसूत्रके प्रतिपादक वचनोंके विच्छेदरूप समयसे लेकर एक समय पर्यन्त वस्तुकी स्थितिका निश्चय करनेवाले पर्यायार्थिकनय हैं । इन पर्यायार्थिक नयोंके अतिरिक्त शेष शुद्धाशुद्धरूप द्रव्यार्थिक

पर्यायार्थिक नयोंका मूल आधार है । अर्थात् नय नयस्य । तथापि सर्वत्र सदियेवमकुलाना-  
राणां चोत्पत्तौ माराणांमिच्छी भुवुत्तयात्प्राप्तोर्धनुभुत च मामान्यनिशेष श्रय्यादि व्यापृतावबोधहेतुभूत  
न निश्चयार्थिन्य निमित्तोति । स्या ५ ५ ३०१ मिद्रमनीया पुन पडन नयान्युपगतप्रत, नेगमस्य  
मस्य राक्षसाणांमिच्छीरिपन्ना । तथादि, यदा नेगम मामान्यप्रतिषिपस्तदा स मस्येत्तर्भवति सामान्यापुपगम-  
पन्ना निश्चयार्थिन्युपगतप्रतु व्यापरी । आ ५ ५ ७

१ सामान्य पर्यायार्थिक नयोंके विच्छेदके द्वारा जिस कालमें वर्तमानवचनविच्छेद होता है, वह ( काल ) जिन नयोंका मूल आधार है वे पर्यायार्थिकनय हैं । विच्छेद अथवा अन्त जिस कालमें होता है उस कालको विच्छेद कहते हैं । वर्तमानवचनको ऋजुसूत्रवचन कहते हैं, और उसके विच्छेदको ऋजुसूत्रवचनविच्छेद कहते हैं । वह ऋजुसूत्रके प्रतिपादक वचनोंका विच्छेद रूप काल जिन नयोंका मूल आधार है उन्हें पर्यायार्थिकनय कहते हैं । अर्थात् ऋजुसूत्रके प्रतिपादक वचनोंके विच्छेदरूप समयसे लेकर एक समय पर्यन्त वस्तुकी स्थितिका निश्चय करनेवाले पर्यायार्थिकनय हैं । इन पर्यायार्थिक नयोंके अतिरिक्त शेष शुद्धाशुद्धरूप द्रव्यार्थिक

अपरे शुद्धाशुद्धद्रव्यार्थिकाः । तत्रार्थव्यञ्जनपर्यायैर्विभिन्नलिङ्गसंख्याकालकारकपुरो-  
पग्रहभेदरिभिनं वर्तमानमात्रं वस्त्वध्यवस्यन्तोऽर्थनयां; न शब्दभेदेनार्थभेद इत्यर्थः ।  
व्यञ्जनभेदेन वस्तुभेदाध्यवसायिनो व्यञ्जननयाः । तत्रार्थनयः ऋजुसूत्रः । कुतः ?  
ऋजु प्रगुणं सूत्रयति सचयतीति तत्सिद्धेः । नैगमसंग्रहव्यवहारार्थार्थनया इति चेत्,  
सन्वेतेऽर्थनयाः अर्थव्यापृतत्वात्, किन्तु न ते पर्यायार्थिकाः द्रव्यार्थिकत्वात् ।

व्यञ्जननयस्त्रिविधः, शब्दः समभिरूढ एवंभूत इति । शब्दप्रष्टतोऽर्थग्रहणप्रवणः  
नय है । यही उनमें भेद है ।

उनमेंसे, अर्थपर्याय और व्यञ्जनपर्यायसे भेदरूप और लिग, सख्या, काल, कारक,  
पुरुष और उपग्रहके भेदसे अभेदरूप केवल वर्तमान-समयवर्ती वस्तुके निश्चय करनेवाले नयोंको  
अर्थनय कहते हैं । यहा पर शब्दोंके भेदसे अर्थमें भेदकी विवक्षा नहीं है । व्यञ्जन ( शब्द ) के  
भेदसे वस्तुमें भेदका निश्चय करनेवाले नय व्यञ्जननय कहलाते हैं । इनमें, ऋजुसूत्र नयको  
अर्थनय समझना चाहिये । क्योंकि, ऋजु-सरल अर्थात् वर्तमान-समयवर्ती पर्यायमात्रको जो  
संग्रह करे अथवा सूचित करे उसे ऋजुसूत्र नय कहते हैं । इसतरह वर्तमान पर्यायरूपसे  
अर्थको ग्रहण करनेवाला होनेके कारण यह नय अर्थनय है, यह बात सिद्ध हो जाती है ।

शंका — नैगम, संग्रह और व्यवहारनय भी तो अर्थनय हैं, फिर यहा पर अर्थनयोंमें  
केवल ऋजुसूत्रनयका ही ग्रहण क्यों किया ?

समाधान — अर्थको विषय करनेवाले होनेके कारण वे भी अर्थनय हैं, इसमें कोई  
बाधा नहीं है । किन्तु वे तीनों नय द्रव्यार्थिकरूप होनेके कारण पर्यायार्थिक नहीं हैं ।

व्यञ्जननय तीन प्रकारका है, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत । शब्दको ग्रहण करनेके

१ तत्र शुद्धद्रव्यार्थिक पर्यायकञ्करहित गृहभेद संग्रह । ( अशुद्ध ) श्रय्याधिक पर्यायकञ्करहित-  
द्रव्यविषय ध्वनार । यदलि न तद्द्रव्यमलिलय गतं इति नेकगमो नेगम शब्दगालकर्मकार्यकारण-वागप्रेय-  
सहचारमानमयो मेनभूतमानियद्वर्तमानादिक्रमाशिल्य रिशतोपचारविषय । जयव अ ५ ७

२ वस्तुन स्वरूप स्वयमेवेन भिदानोऽर्थनय । अभेदको वा, अभेदरूपेण सर्वं वस्तु इयाति एति गच्छति  
इत्यर्थनय । जयव अ ५ २७

३ ऋजुसूत्रवचनविच्छेदोपलक्षितस्य वस्तुन नाचकमेदेन भेदको व्यञ्जननय । जयव अ ५ २७

४ ऋजु श्रुण फरयति तन्वयति ऋजुमत्र । त. रा मा १, ३३ मूयपातय-श्रुयत । यथा ऋजु  
सूयपातनथा ऋजु प्रगुण मूरयति तन्वयति ऋजुमत्र । त. रा मा १, ३३ ऋजुसूत्र क्षण नमि वस्तु गतमूरयदनु ।  
प्राधान्येन गुणीभावात् द्रव्यस्यानर्पणस्त ॥ न श्यो वा १, ३३, ६२ ऋजु श्राब्ज ( व्यक्त ) वर्तमानक्षणमात्र  
समयनीत्युच्यते । य क मा ५ २०५ तन्वययतीति स्यात्तुद्रपर्यायमाश्रिता । नदरक्ष्येन भावस्य भावा स्थिति-  
वियोगत ॥ अर्नानानागतकारकालमस्वर्गजितम् । वर्तमानमा मर्वष्टुत्तरेण मूरयते ॥ य त टी. ५ ३२-१-२२२.

शब्दनयः लिङ्गसंख्याकालकारकपुरुषोपग्रहव्यभिचारनिवृत्तिपरत्वात् । लिङ्गव्यभिचारस्तावदुच्यते । स्त्रीलिङ्गे पुल्लिङ्गाभिधानं तारका स्वातिरिति । पुल्लिङ्गे स्त्र्यभिधानं अवगमो विद्येति । स्त्रीत्वे नपुंसकाभिधानं वीणा आतोद्यमिति । नपुंसके स्त्र्यभिधानं आयुधं शक्तिरिति । पुल्लिङ्गे नपुंसकाभिधानं पटो वस्त्रमिति । नपुंसके पुल्लिङ्गाभिधानं आयुधं पशुरिति । संख्याव्यभिचारः, एकत्वे द्वित्वं नक्षत्रं पुनर्वसू इति । एकत्वे बहुत्वं नक्षत्रं शतभिषज इति । द्वित्वे एकत्वं गौदा ग्राम इति । द्वित्वे बहुत्वं पुनर्वसू

बाद अर्थके ग्रहण करनेमें समर्थ शब्दनय है, क्योंकि, यह नय लिंग, संख्या, काल, कारक, पुरुष और उपग्रहके व्याभिचारकी निवृत्ति करनेवाला है ।

स्त्रीलिंगके स्थानपर पुल्लिङ्गका कथन करना और पुल्लिङ्गके स्थानपर स्त्रीलिंगका कथन करना आदि लिंगव्यभिचार है । जैसे, 'तारका स्वाति.' स्वाति नक्षत्र तारका है । यहाँ पर तारका शब्द स्त्रीलिंग और स्वाति शब्द पुल्लिङ्ग है । इसलिये स्त्रीलिंगके स्थानपर पुल्लिङ्ग कहनेसे लिंगव्यभिचार है । 'अवगमो विया' शत विद्या है । यहाँ पर अवगम शब्द पुल्लिङ्ग और विद्या शब्द स्त्रीलिंग है । इसलिये पुल्लिङ्गके स्थानपर स्त्रीलिंग कहनेसे लिंगव्यभिचार है । 'वीणा आतोद्यम्' वीणावाजा आतोद्य कहा जाता है । यहाँ पर वीणा शब्द स्त्रीलिंग और आतोद्य शब्द नपुंसकलिंग है । इसलिये स्त्रीलिंगके स्थानपर नपुंसकलिंगका कथन करनेसे लिंगव्यभिचार है । 'आयुधं शक्तिः' शक्ति आयुध है । यहाँ पर आयुध शब्द नपुंसकलिंग और शक्ति शब्द स्त्रीलिंग है । इसलिये नपुंसकलिंगके स्थानपर स्त्रीलिंगका कथन करनेसे लिंगव्यभिचार है । 'पटो वस्त्रम्' पट वस्त्र है । यहाँ पर पट शब्द पुल्लिङ्ग और वस्त्र शब्द नपुंसकलिंग है । इसलिये पुल्लिङ्गके स्थानपर नपुंसकलिंगका कथन करनेसे लिंगव्यभिचार है । 'आयुध परशु.' परसा आयुध है । यहाँ पर आयुध शब्द नपुंसकलिंग और परशु शब्द पुल्लिङ्ग है । इसलिये नपुंसकलिंगके स्थानपर पुल्लिङ्गका कथन करनेसे लिंगव्यभिचार है ।

एक वचनकी जगह द्विवचन आदिका कथन करना संख्याव्यभिचार है । जैसे, 'नक्षत्रं पुनर्वसू' पुनर्वसू नक्षत्र है । यहाँ पर नक्षत्र शब्द एक वचनान्त और पुनर्वसू शब्द द्विवचनान्त है । इसलिये एकवचनके स्थानपर द्विवचनका कथन करनेसे संख्याव्यभिचार है । 'नक्षत्र शतभिषज.' शतभिषज नक्षत्र है । यहाँ पर नक्षत्र शब्द एकवचनान्त और शतभिषज शब्द बहुवचनान्त है । इसलिये एकवचनके स्थानपर बहुवचनका कथन करनेसे संख्याव्यभिचार है ।

१ लिङ्गसंख्यासाधनदिव्यभिचारमिदृशिविपर शब्दनय । स ति १, ३३ अपत्यमार्गगति मत्यातीति शब्द । त रा वा १, ३३ कालादिभेदतोऽर्थस्य भेद य मतिपादौ । सोऽन्य शब्दनय शब्दप्रधानत्वादुदाहृत ॥ त शो वा १, ३३, ६८ कालकारकलिङ्गसंख्यासाधनोपग्रहमद्विग्रमर्थ शपतीति शब्दो नय । प्र क मा पृ २०६ त्रिगोभिलिङ्गसंख्यादिभेदाद्विग्रमत्वात् । तस्य मयमानोऽय शब्द प्रत्यवतिष्ठते ॥ स त टी पृ ३३३

पञ्चतारका इति । बहुत्वे एकत्वं आम्नाः वनमिति । बहुत्वे द्वित्वं देवमनुष्या उभौ राशी इति । कालव्यभिचार', विशदशस्य पुत्रो जनिता', भविष्यदर्थे भूतप्रयोगः । भावि कृत्यमासीदिति भूते भविष्यत्प्रयोग इत्यर्थः । साधनव्यभिचारः, ग्राममधिगते इति । पुरुषव्यभिचार', एहि मन्ये रथेन यास्यसि न हि यास्यसि यातस्ते पितेति । उपग्रह- 'गौदो ग्राम.' गर्भोको देनेवाले गात्र है । यहाँ पर गौद शब्द द्विवचनान्त और ग्राम शब्द एकवचनान्त है । इसलिये द्विवचनके स्थानपर एकवचनका कथन करनेसे संख्याव्यभिचार है । 'पुनर्वसू पञ्च तारकाः' पुनर्वसू पांच तारे हैं । यहाँ पर पुनर्वसू द्विवचनान्त और पञ्चतारका शब्द बहुवचनान्त है । इसलिये द्विवचनके स्थानपर बहुवचनका कथन करनेसे संख्याव्यभिचार है । 'आम्ना. वनम्' आम्नके वृक्ष वन हैं । यहाँ पर आम्न शब्द बहुवचनान्त और वन शब्द एकवचनान्त है । इसलिये बहुवचनके स्थानपर एकवचनका कथन करनेसे संख्याव्यभिचार है । 'देवमनुष्या उभौ राशी' देव और मनुष्य ये दो राशि हैं । यहाँ पर देव-मनुष्य शब्द बहुवचनान्त और राशी शब्द द्विवचनान्त है । इसलिये बहुवचनके स्थानपर द्विवचनका कथन करनेसे संख्याव्यभिचार है ।

भविष्यत् आदि कालके स्थानपर भूत आदि कालका प्रयोग करना कालव्यभिचार है । जैसे, 'विषदशस्य पुत्रो जनिता', जिसने समस्त विश्वको देश लिया है ऐसा इसके पुत्र होगा । यहाँ पर विषदश देवता भविष्यत् कालका कार्य है, परंतु उसका भूतकालके प्रयोगद्वारा कथन किया गया है । इसलिये यहाँ पर भविष्यत् कालका कार्य भूतकालमें कइनेसे काल-व्यभिचार है । इसलिये 'भविष्यत्कालका कथन करनेसे कालव्यभिचार है । यहाँ पर भी भूतकालके स्थानपर भविष्यत् कालका कथन करनेसे कालव्यभिचार है ।

एक साधन अर्थात् एक कारकके स्थानपर दूसरे कारकके प्रयोग करनेको साधनव्यभिचार कहते हैं । जैसे, 'ग्राममधिगते' वह ग्राममें गयेन करता है । यहाँ पर सन्तमी कारकके स्थानपर द्वितीया कारकका प्रयोग किया गया है, इसलिये यह साधनव्यभिचार है ।

उत्तम पुरुषके स्थानपर मध्यम पुरुष और मध्यम पुरुषके स्थानपर उत्तम पुरुष आदिके

१ ये हि वेद्यात्पण्यत्तागुणेन 'थापुमन्ये प्रया' इति गुणमात्य विशदशस्य पुत्रो जनिता, भाविस्त्वगामिदि या कालभेदेऽयं कदाचिन्माता यो मिस इति नोऽपि पुत्रो जनितेति मतिरित्कलनातीतकालस्यभेदोऽभिमा, तथा वराशुदर्यनामिती । ता य परीक्षाया ग्लयते कालभेदेऽप्यस्यभेदोऽपि सगारवणशब्दचक्रवर्तिनोरुत्तीतानागतकालोऽप्यस्य । आपोऽप्यगो राजा, शरवक्रवर्ता भविष्यतीति शब्दोऽभिनिपत्या नैक्यतीति चैर, विशदशजा जनितेऽप्यगामिदि माभूत् तत एव । न हि विशदशजा इति विशदशती लीतिशब्दस्य योऽभिऽतीतकालस्य जनितेति शब्दस्यानागतकाल पुरातन भाविनीऽतीतारिः । अतीतकालस्याप्यनागतता-अपरीपदिनार्थताभिः प्रतीति चैर तर्हि न पस्यार्थत कालभेदेऽप्यभिः नार्थव्यवस्था । त शो वा पृ २७२-२७३

२ 'गहि मन्ये रथेन यास्यसि, न हि यास्यसि, स यातस्ते पिता' इति साधनभेदेऽपि पदार्थमभिलाहता "ग्रहामे मय त्रिगुपमन्यते रथेदेकत्रय" इति वचनात् । तदपि न श्रेय परीक्षायां, अत्र पचासि, त पचमी-

व्यभिचारः, रमते विरमति, निष्ठति मंतिष्ठते, विञ्जति निनिजते इति । एवमाद्यो न्यभि-  
चाग न युक्ताः अन्यार्थस्यान्यार्थेन मन्वन्नाभवत् । ततो ययालिङ्गं यथासंख्यं यथा-  
माभनादि च न्याग्यमभिधानमिति ।

नानार्थमभिरोहणाल्पमभिरूढः । इन्दनादिन्द्रः पूर्दारणात्पुरन्दरः जकनाच्छक  
इति भिन्नार्थानकर्तव्ये' एकार्थवर्तिनः । न पर्यायशब्दाः सन्ति भिन्नपदानामेकार्थ-  
कथन लयेको पुलक्यञ्चिन्तारूढते हैं । जने, 'गदि मन्थे रथेन यास्यसि नदि यास्यसि यातस्ते  
पिता' आओ, तुम समझते हो कि मैं रथेन जाऊंगा परतु अग न जाओगे, तुम्हारा पिता  
चला गया । यहाँ पर 'मन्थे' के स्थानपर 'मन्थे' यह उत्तमपुरुषका और 'यास्यसि' के  
स्थानपर 'यास्यसि' यह मध्यमपुरुषका प्रयोग हुआ है । इसलिये पुरुषव्यभिचार है ।

उपसर्गके निमित्तसे परस्परपदके स्थानपर आत्मनेपद और आत्मनेपदके स्थानपर  
परस्परपदके कथन कर देनेको उपसर्गव्यभिचार कहते हैं । जैसे, 'रमते' के स्थानपर 'विरमति'  
'निष्ठति' के स्थानपर 'सतिष्ठते' और विरमतेके स्थानपर 'निविशते'का प्रयोग किया  
जाता है ।

इसतरह चितने भी लिंग आदि व्यभिचार ऊपर दे अये 'हं' वे सभी अयुक्त हैं, क्योंकि,  
अन्य अर्थका अन्य अर्थके साथ संबन्ध नहीं हो सकता है । इसलिये समान लिंग, समान  
मात्था और समान साधन आदिना कथन करना ही उचित है ।

शब्दभेदसे जो नाना अर्थोंमें अतिरूढ़ होता है उसे समभिरूढ़ नय कहते हैं । जैसे,  
'इन्दनात्' अर्थात् परम ऐश्वर्यशाली होनेके कारण इन्द्र 'पूर्दारणात्' अर्थात् नगरोंका विभाग  
करनेवाला होनेके कारण पुरन्दर और 'शकनात्' अर्थात् सामर्थ्यवाला होनेके कारण शक । ये  
तीनों शब्द भिन्नार्थमात्रक होनेसे इन्हें परस्परवर्ती नहीं समझना चाहिये । इस नयकी दृष्टिमें  
पर्यायवाची शब्द नहीं होते हैं, क्योंकि, भिन्न पूर्वोंका एक पदार्थमें रहना स्वीकार कर लेनेमें

चलागे स्वभावात् । आदेश्येकार्थप्रमणा । त शो वा प्र २७३ त आ पुलभेदेऽपि नैकान्तिक तद वस्तु  
इति, 'गदि मन्थे' इत्यादि । इति च प्रयोगो न युक्त, अपि तु 'एदि मन्थे' यथाह रथेन यास्यसि' इत्यनेनैव  
यत्नोपार्थिवेभ्यः । म त. प्र ३२३ 'मन्थे च मन्थोपपदे मन्थेऽस्य एवम्' वा १, ४, २०६ 'एदि  
मन्थे रथेन यास्यसि, नदि यास्यसि यातस्ते पिता' इति प्रश्ने यथाप्राप्तमेव प्रतिपत्तिं नान प्रसिद्धार्थिपर्याये  
विभक्तिरन्वयसि, 'रथेन यास्यसि, इति मास्यसामिमानार् प्रज्ञासो गम्यते' । 'नदि यास्यसि' इति नदिर्गोचर  
योगोपपत्तेः । अन्वयसिपरि परिश्रम इति अभिधानवशाः 'मन्थे' इति एवमन्वय ।  
योगिभ्यः प्रयोगोऽन्वय इति न प्रकृतान्तरकल्पना याया । 'गोपि गोपि अन्य उपपदत्वमि' हेम ३, ३, १०

१ म ति १, ३३ न श. वा १, ३३ पर्यायशब्दमेव भिन्नार्थवाचिण्येवम् । न मभिरूढ  
रमापुंसगत भिन्न ॥ त शो म १, ३३, ७६ नानार्थान् मनेत्यामिपुल्येन न्द मभिरूढ । प्र. क मा  
प्र २०६. नानार्थान् तन्वापि त्स्वुन क्षागतिन । ते मभिरूढन्त्यन्तमेव भिन्नमेव भिन्नताम् ॥ म न शो प्र ३३२  
२ चतैव 'चैवे' इति पाठ ।

श्चिचिचिरोधात् । नविरोधः पदानामेकत्वापेक्षेति । नानार्थस्य भागः नानार्थता' तां  
समभिरूढत्वात्ममभिरूढः ।

एवं भेद भवनान्देवभूतः । न पदानां समासोऽस्ति भिन्नकालवर्तिनां भिन्नार्थ-  
वर्तिनां चैकत्वविरोधात् । न परस्परव्यपेक्षायस्ति वर्णार्थसंख्याकालादिभिन्नानां पदानां  
भिन्नपदोपेक्षायोगात् । ततो न वाक्यमप्यस्तीति सिद्धम् । ततः पदभेदमेकार्थस्य वाचरु-  
मित्यभ्यवसायः एवंभूतनयः । एतस्मिन्ने एको गोशब्दो नानार्थे न वर्तते एकरस्यैक-  
समावस्य बहुषु वृत्तिविरोधात् । पदगतनर्णभेदाद्वाच्यभेदस्याध्यवसायकोऽप्येवभूतः ।

विरोध आता है । यदि भिन्न पूर्वोंकी एक पदार्थमें वृत्ति हो सकती है इसमें कोई विरोध नहीं  
है, ऐसा मान लिया जावे तो समस्त पूर्वोंको एकत्वकी आपत्ति आ जावेगी । इससे यह तार्पर्य  
निम्नला कि जो नय शब्दभेदसे अर्थमें भेद स्वीकार करता है उसे समभिरूढ़ नय कहते हैं ।  
नाना पदार्थोंके भाव अर्थात् विशेषताको नानार्थता कहते हैं । और उस नानार्थताके प्रति जो  
अभिरूढ़ है उसे समभिरूढ़ नय कहते हैं ।

एवंभेद अर्थात् जिस शब्दका जो वाच्य है वह तद्रूप क्रियासे परिणत समयमें ही पाया  
जाता है । उसे जो विषय करता है उसे एवंभूत नय कहते हैं । इस नयकी दृष्टिसे पूर्वोंका समास  
नहीं हो सकता है, क्योंकि, भिन्न भिन्न कालवर्ती और भिन्न भिन्न अर्थवाले शब्दोंमें एकपनेका  
विरोध है । इसीतरह शब्दोंमें परस्पर सापेक्षता भी नहीं है, क्योंकि, वर्ण, अर्थ, सख्या और  
कालादिकके भेदसे भेदको प्राप्त हुए पूर्वोंके दूसरे पूर्वोंकी अपेक्षा नहीं बन सकती है । जब कि  
एक पद दूसरे पदकी अपेक्षा नहीं रखता है तो इस नयकी दृष्टिमें वाच्य भी नहीं बन सकता

१ 'नानार्थसमभिरूहणानामभिरूढ' इति पाठमभिरूढ न्य च्के गृह्णतिनिन्ना ।

२ येनामना द्रुल्लेनैवाथयसाययतीति एवभूत । म मि १, ३३ त रा वा १, ३३ तं क्रियापरिणामाऽर्थ-  
धनति विनिश्चयार् । एवभूतेन नयित क्रियान्तरपरत्सुपु । त शो वा १, ३३, ७५ एवमिथ विनिश्चितक्रियापरिणाम-  
प्रकारेण वृत् परिणतमर्थं योऽभिधेति स एवभूतो नय । ( क्रियाशय्येण भेदमरूपणमित्यन्वयोऽन्य । टिप्पणी ) प्र क  
मा प्र २०६ परस्यापि धर्मेणैव मद्रा ततोपपद्यते । क्रियामेदेन भिन्नवाचिण्यतोऽभिधेयान्ते ॥ म त  
शो प्र ३३४.

३ एवमन्वयान्देवभूत । अस्मिन्ने न पदानां समासोऽस्ति स्वरूपत कालभेदेन च भिन्नानामेकत्वविरोधात् ।  
न पदानामेकत्वावृत्ति समास यमोपचानां क्षणक्षणिकां तदवृत्तपत्ते । नेतार्थं वृत्ति समास, भिन्नपदानामेकां  
वृत्त्यनुपपत्ते । न वर्णसमासोऽप्यस्ति, तथापि पदसमासोऽप्यस्ति । तत एक एव वर्ण एकार्थनाचक इति पदगतन-  
सानार्थ एतार्थं न्येवभूतभिन्यायान् एवभूतनय । जयध ज प्र २९ योक्रियाविशिष्टशब्दोऽप्येति, तामेव तिन्यां  
वृत्तस्त्वेवभूतमुच्यते । एवभूतेनैव्यते चेष्टाक्रियादिक प्रकार, तमेवभूत प्राप्तमिति क्त्वा नतर्धमभूतस्तुप्रतिपादको  
नयोऽप्युपचारादेवभूत । अथवा एवभूतेनैव्यते चेष्टाक्रियादिक प्रकार, तद्विशिष्टरूपेन वस्तुनोऽप्युपचारादेवभूत  
प्राप्त एवभूत उपचारादेवभूतानामपि व्याख्यायते स एवंभूतो नय । य रा शोम. ( एवभूत )



एवम्भूते सधुत्पन्नत्वात् । एवमेते संक्षेपेण नया सप्तविधाः, अवान्तरभेदेन पुनरसंख्येया ।  
एते च पुनर्व्यवहर्तृभिरवश्यमवगन्तव्या अन्यथार्थप्रतिपादनावगमामनुपपत्ते । उतं च—

णथि णएहि विहूण सुत् अत्थो व्व जिणवरमदहि ।

तो णय-वादे णिउणा सुणिणो सिद्धतिथा होति । ६८ ।

तग्हा अहियाय-सुत्तेण अत्थ-संपायणाग्हि जइयव्व ।

अत्थ-गई वि य णय-वाद-ग्हाण-लीणा दुरहियम्मो ॥ ६९ ॥

एवं णय-परुवणा गदा । अणुगमं वत्तइस्सामो—

**एतो इमेसिं चोदसणं जीव-समासाणं मगणट्टदाए तत्थ  
इमाणि चोदस चेव द्वाणाणि णायव्वाणि भवंति ॥ २ ॥**

हे यह बात सिद्ध हो जाती है । इसलिये एक पद एक ही अर्थका वाचक होता है । इसप्रकारके विषय करनेवाले नयको एवंभूतनय कहते हैं । इस नयकी दृष्टिमें एक गो शब्द नाना अर्थोंमें नहीं रहता है, क्योंकि, एकसंभाववाले एक पदका अनेक अर्थोंमें रहना विरुद्ध है । अथवा, पदमें रहनेवाले वर्णोंके भेदसे वाच्यभेदका निश्चय करनेवाला भी एवंभूतनय है, क्योंकि, यह नय इसी रूपमें उत्पन्न होता है । इसतरह ये नय संक्षेपसे सात प्रकारके और अवान्तर भेदोंसे असंख्यत प्रकारके समझना चाहिये । व्यवहारकुशल लोगोंको इन नयोंका स्वरूप अवश्य समझ लेना चाहिये । अन्यथा, अर्थात् नयोंके स्वरूपको समझे बिना पदार्थोंके स्वरूपका प्रतिपादन और उसका ज्ञान अथवा पदार्थोंके स्वरूपके प्रतिपादनका ज्ञान नहीं हो सकता है । कहा भी है—

‘जितेन्द्रभगवावक्के मतं नयवाक्के विना सूत्रं और अर्थं कुच्छ भी नहीं कहा गया है । इसलिये जो मुनि नयवादमें निपुण होते हैं वे सबे सिद्धान्तके ज्ञाता समझने चाहिये । अतः जिसने सूत्र अर्थात् परमागमको भलेप्रकार जान लिया है उसे ही अर्थसंपादनमें अर्थात् नय और प्रमाणके द्वारा पदार्थके परिज्ञान करनेमें प्रयत्न करना चाहिये, क्योंकि, पदार्थोंका परिज्ञान भी नयवादरूपी जंगलमें अन्तर्निहित है अतएव दुरधिगम्य अर्थात् जाननेके लिये कठिन है ॥ ६८, ६९ ॥ इसतरह नयप्रकरणका वर्णन समाप्त हुआ ।

अब अनुगमका निरूपण करते हैं ।

इस द्रव्यश्रुत और भावश्रुतरूप प्रमाणसे इन चौदह गुणस्थानोंके अन्वेषणरूप प्रयोजनके होने पर ये चौदह ही मार्गणास्थान जानने योग्य हैं ॥ २ ॥

१ नोथि नएहि निहूण सुत् अत्थो य जिणमए किंचि । आमज्ज उ तीमार नए नयविमारओ वूआ ॥

आ नि ६६२

२ सुत् अर्थनिमिणं न सुत्तमोत्तेण अत्थोअव्वत्ती । अत्थगई उण णयमाग्हाणलीणा दुरमिगममा ॥  
तत्था अहियसुत्तेण अत्थमपायगमि जइयव्व । जारियिवीहथा नदि महण विक्कंति ॥ स त २, ६४, ६५

‘ एत्तो ’ एत (मा.दित्थर्थः । कस्मात्, प्रमाणात् । कुत एतदवगम्यते ? प्रमाणस्य जीवस्थानस्याप्रमाणादवतारविरोधात् । नाजलात्मकहिंसवतो निपतजलात्मकगज्जया व्यभिचारः अवयविनोऽव्यस्यात्र वियोगापायस्य विवक्षित्वात् । नावयविनोऽवयवो भिनो विरोधात् । तदपि प्रमाणं द्विविधं द्रव्यभावप्रमाणभेदात् । द्रव्यप्रमाणात् संख्येया-

‘ एत्तो ’ अर्थात् इससे ।

शंका — यहाँ पर ‘ एतद् ’ पदसे किसका ग्रहण किया है ?

सामधान — यहाँ पर ‘ एतद् ’ पदसे प्रमाणका ग्रहण किया है, इसलिये ‘ इससे ’ अर्थात् ‘ प्रमाणसे ’ ऐसा अभिप्राय समझना चाहिये ।

शंका - यह कैसे जाना, कि यहाँ पर ‘ एत्तो ’ पदका ‘ प्रमाणसे ’ यह अर्थ लिया गया है ?

सामधान — क्योंकि, प्रमाणरूप जीवस्थानका अप्रमाणसे अवतार अर्थात् उत्पत्ति नहीं हो सकती है, इससे यह जाना जाता है कि यहाँ पर ‘ एत्तो ’ इस पदमें स्थित ‘ एतत् ’ शब्दसे प्रमाणका ग्रहण किया गया है ।

यहा पर यदि कोई यह कहे कि कार्यमें कारणानुबूल ही गुणधर्म पाये जाते हैं, क्योंकि, वह कार्य है । इस अनुमानमें जो कार्यत्वरूप हेतु है, वह प्रमाणरूप कारणसे उत्पन्न हुए प्रमाणात्मक जीवस्थानरूप साध्यमें पाया जाता है, और अजलस्वरूप हिमवानसे उत्पन्न हुई जलात्मक गंगानदीरूप विपक्षमें भी पाया जाता है । अतएव इस कार्यत्वरूप हेतुके पक्षमें रहते हुए भी विपक्षमें चले जानेके कारण व्यभिचार दोष आता है । अतः यह कहना कि प्रमाणरूप जीवस्थानकी उत्पत्ति प्रमाणसे ही हुई है, संगत नहीं है । इस शंकाको मनमें निश्चय करके आचार्य आगे उत्तर देते हैं कि इसतरह अजलात्मक हिमवानसे निकलती हुई जलात्मक गंगानदीसे भी व्यभिचार दोष नहीं आता है, क्योंकि, यहाँ पर अवयवीसे वियोगापायरूप अर्थात् अवयवीसे संयोगको प्राप्त हुआ अवयव विवक्षित है । इसका कारण यह है कि अवयवीसे अवयव भिन्न नहीं है, क्योंकि, अवयवीसे अवयवको सर्वथा भिन्न मान लेनेमें विरोध आता है ।

विशेषार्थ— यद्यपि हिमवान् पर्वत अजलात्मक है । परंतु उस पर्वतके जिस भागसे गंगा नदी निकली है, वह भाग जलमय ही है । इसलिये यहाँ पर हिमवान् पर्वतसे उसका जलात्मक अवयव ग्रहण करना चाहिये । इससे, जो पहले व्यभिचार दोष दे आये हैं वह दोष भी नहीं आता है, क्योंकि, यहाँ पर हिमवान् पर्वतका जलात्मक भाग ही ग्रहण किया गया है, और उससे गंगा नदी निकली है । अतएव इसे विपक्ष न समझकर सपक्ष ही समझना चाहिये । इसतरह सिद्ध हो जाता है कि प्रमाणस्वरूप जीवस्थानकी उत्पत्ति प्रमाणसे ही हुई है ।

द्रव्यप्रमाण और भावप्रमाणके भेदसे वह प्रमाण दो प्रकारका है । द्रव्यप्रमाणकी अपेक्षा शब्द, प्रमात् और प्रमेयके आलम्बनसे क्रमशः संख्यत, असंख्यत और अनतरूप द्रव्यजीव-



मंल्येयानन्तात्पक्रुष्यजीवन्थानस्यावतारः । भावप्रमाण पञ्चविधम्, आभिनिवेशिभावप्रमाणं, सुदभाप्रमाणं ओहिभावप्रमाणं मणपञ्चभावप्रमाणं केवलभावप्रमाणं चेदि ।

तस्य आभिनिवेशिभावप्रमाणं नाम पंचिदिय-गोइंदिइहि मदिणाणावरण-खयोत्समेण य जणिदेवगहेहानाय-धारणाओ सह-परित-रस-रुच-गंध-दिइ-सुदानुभूद-विसयाओ बहु-बहुविह-वि-पणिस्सिदायुत्त-युवेदर-भेदेण ति-सय-छत्तीसाओ । सुदणणं नाम मदि-पुव्व-मदिणाण-पडि-गहियमन्थं मोत्तणणात्थमिह भावदं सुदणणावरणीय-कसयोधसम-जणिदं । ओहिणाणं नाम दव्व मत्तेच-काल भाव-वियपियं पोण्णल-दव्वं पच्चसं जाणदि । दव्वोदो जहणेण जाणतो एय जीवस्स ओरालिय-सरीर-संचयं लोगागास-पदेस-भेत्ते सुडे कडे तथेय-सुंदं जाणदि । उक्कसेणेग-परमाणुं जाणदि । दोण्हमंतरालमजहणमणु-कसोती जाणदि । सेत्तदो जहणेणगुलस्स असंखेज्जदि-भागं जाणदि । उक्कसेण असं-खेज्ज-लोगेमेत्त-सेत्तं जाणदि । दोण्हमंतरालमजहणमणुकसोती जाणदि । कालदो

स्थानका अवतार हुआ है । भावप्रमाणके पांच भेद हैं, आभिनियोविकावप्रमाण, श्रुतभाव-प्रमाण, अवधिभावप्रमाण, मनःपर्ययभावप्रमाण और केवलभावप्रमाण ।

उत्तमें पांच द्रव्येन्द्रिय और द्रव्यमनेके निमित्तसे तथा मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोप-शमसे पैदा हुआ, अवग्रह, ईशा, अवाय और धारणा रूप, शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गन्ध और तृष्ण, श्रुत तथा अनुभूत पदार्थको विषय करनेवाला और बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिश्चित अचुक्क, धुग, एक, एकविध, अक्षिप्र, निश्चल, उक्त और अशुक्के भेदसे तीनसौ छत्तीस भेदरूप आभिनियोविक मतिज्ञान होता है ।

जिस ज्ञानमें मतिज्ञान कारण पड़ता है, जो मतिज्ञानसे ग्रहण किये गये पदार्थको ओएकर तस्सन्धित दूसरे पदार्थमें व्यापार करता है और श्रुतज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न होता है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं ।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके विकल्पसे अनेक प्रकारके पुद्गलद्रव्यको जो प्रत्यक्ष जानता है उसे अवधिज्ञान कहते हैं । यह ज्ञान द्रव्यकी अपेक्षा जघन्यरूपसे जानता हुआ एक जीने भौतिक शरीरके सचयके लोकाकारके प्रदेशप्रमाण सण्ड करने पर उनमेंसे एक सण्ड तरुको जानता है । उक्कप्ररूपसे, अर्थात् उक्कप्र अवधिज्ञान एक परमाणुतकको जानता है । अजान्य और अशुक्कप्र अर्थात् मध्यम अवधिज्ञान, जघन्य और उक्कप्रके अन्तरालगत द्रव्य-भेदको जानता है । क्षेत्रकी अपेक्षा अत्रधिज्ञान जघन्यसे अंगुल, अर्थात् उत्सेधांगुलके असंख्या-तों भागतक क्षेत्रको जानता है । उक्कप्रसे असंख्यात लोकप्रमाणतक क्षेत्रको जानता है । अजान्य और अशुक्कप्र (मध्यम) अवधिज्ञान जघन्य और उक्कप्रके अन्तरालगत क्षेत्रभेदको जानता है । अवधिज्ञान कालकी अपेक्षा जघन्यसे आचलीके असंख्यातवें भागप्रमाण भूत और भविष्यत् पर्यायोंको जानता है । उक्कप्रसे असंख्यात लोकप्रमाण समयोंमें स्थित अतीत और

जहणेण आवलियाए असंखेज्जदि-भागो भूदं भविस्सं च जाणदि । उक्कसेण असंखेज्ज-लोगेमेत्त-समएसु अदीदमणायं च जाणदि । दोण्हं पि विचालमजहण-अणुकसोती जाणदि । भावदो पुव्व-णिरूविद-दव्वस्स सत्ति जाणदि ।

मणपञ्चवणाणं नाम पर-मगो-गयाइं मुत्ति-दवाइं तेण मगेग सह पच्चखं जाणदि । दव्वदो जहणेण एग-सपय-ओरालिय-सरीर-णिज्जरं जाणदि । उक्कसेण एग-समय-पडिचद्वस्स कम्मइय-इव्वस्स अणंतिम-भागं जाणदि । सेत्तदो जहणेण गाउव-पुयत्तं । उक्कसेण माणुस-खेत्तसंतो जाणदि, णो बहिद्वा । कालदो जहणेण दो तिणिण भव-

अनागत पर्यायोंको जानता है । जघन्य और अशुक्कप्र (मध्यम) अवधिज्ञान, जघन्य और उक्कप्रके अन्तरालगत कालभेदोंको जानता है । भावकी अपेक्षा अवधिज्ञान द्रव्यप्रमाणसे पहले निरूपण किये गये द्रव्यकी शक्तिको जानता है ।

जो दूसरोंके मनोगत मूर्तोंके द्रव्योंको उस मनके साथ प्रत्यक्ष जानता है उसे मनःपर्ययज्ञान कहते हैं । मनःपर्ययज्ञान द्रव्यकी अपेक्षा जघन्यरूपसे एक समयमें होनेवाले औदारिकशरीरके निर्जालरूप द्रव्यतकको जानता है । उक्कप्ररूपसे कार्माणद्रव्यके अर्थात् आठ कर्मोंके एक समयमें बंधे हुए समयप्रवद्धरूप द्रव्यके अन्तर् भागोंमेंसे एक भागतकको जानता है । क्षेत्रकी अपेक्षा जघन्यरूपसे गव्यूतिपृथक्त्व, अर्थात् दो, तीन कोस तक दोत्रको जानता है, और उक्कप्ररूपसे मनुष्यक्षेत्रके भीतर तक जानता है, मनुष्यक्षेत्रके बाहिर नहीं जानता है । ( यहाँपर मनुष्यक्षेत्रसे प्रयोजन विष्कम्भरूप मनुष्यक्षेत्रसे है, वृत्तरूप मनुष्यक्षेत्रसे नहीं है । ) कालकी अपेक्षा जघन्यरूपसे दो, तीन भवोंको ग्रहण करता है, और उक्कप्ररूपसे असंख्यात

’ णोत्तमुरालमव मीत्तमजानजिय सत्तिस्सच । लोयमिभत्त जाणदि अरोही दव्वदो णियमा ॥ सुदमणिगोद-जपञ्चवयस्स जादस्स तदियममयमिदि । अत्रोगाहणमाण जहणय ओहिमेत्त तु ॥ आपत्तिअसरमाण तीदमवस्स च कालदो अत्र । ओहो जाणदि मात्ते कालअमसेज्जभाग तु ॥ सव्यात्रिस्स एको परमायु होदि णिव्वियणो सी । गगामहाणइस्स पवाहो व्व वुयो हने हारो ॥ परमोहिदव्वमेदा जेतियमेत्ता ट्ठ तेविया होति । तस्सेव खेत्तकालभियपा मिसया जमसगुणिदरुमा ॥ जाणलिसससभागा जहणत्तस्स होति पञ्जाया । कालस्स जहणत्तो अत्तखगुणहीणमेत्ता हु ॥ सव्योहं वि कम्मो आपत्तिअसरमाण जहणत्तस्स । द-गाण भावण पदमसा सरिणा होति ॥ गो जी ३७७, ३७८, ३८२, ४१५, ४२२, ४२३, ४२४ तथ दव्वओ ण जोहिनाणी जहणेण अणत्ताइ रुमिदव्वाइ जाणत्त पादर, उक्कसेण सज्जाइ रुमिदव्वाइ जाणत्त पादर । खिचओ ण ओहिनाणी जहणेण अणत्ताइ रुमिदव्वाइ जाणत्त पादर, उक्कसेण सज्जाइ रुमिदव्वाइ जाणत्त अलोगे लोगपमाणमित्ताइ सदाइ जाणत्त पादर । कालओ ण जोहिनाणी जहणेण आपत्तिआए अत्तखिज्जभाग जाणत्त पादर, उक्कसेण अगसिज्जाओ उस्सपिणीओ अत्तमपिणीओ अत्तमपिणीय च काल जाणत्त पादर । भाजो ण ओहिनाणी जहणेण अणत्ते मात्ते जाणत्त पादर, उक्कसेणं वि अणत्ते मात्ते जाणत्त पादर, जघन्यमात्राणवणत्तमाग जाणत्त पादर । न वू. १६

ग्रहणाणि । उक्तस्तेषु असंखेज्जाणि भवन्ग्रहणाणि जाणदि । केवलणानं णाम, सब्ब-  
द्वानि अदीदानापय-वट्टमाणानि सपज्जयाणि पच्चखंलं जाणदि ।

एतथ किमाभिणिवोहिय-पमाणदो, किं सुद-पमाणदो किमोहि-पमाणदो, किं  
मणपज्जव-पमाणदो, किं केवल-पमाणदो ? एवं पुच्छा सवेसिं । एवं पुच्छिदे णो  
आभिणिवोहिय-पमाणदो, णो ओहि-पमाणदो, णो मणपज्जव-पमाणदो । गंथं पडुच्च  
सुद-पमाणदो, अत्थदो केवल-पमाणदो ।

भयँको ग्रहण करता है, अर्थात् जानता है । भावकी अपेक्षा मनःपर्यय ज्ञान द्रव्यप्रमाणसे पहले  
निरूपण क्रिये गये द्रव्यकी शक्तिको जानता है ।

जो अतीत, अतगत और वर्तमान पर्यायोंसहित सपूर्ण द्रव्योंको प्रत्यक्ष जानता है उसे  
केवलज्ञान कहते हैं ।

यहाँपर क्या आश्रितबोधिक प्रमाणसे प्रयोजन है, क्या श्रुतप्रमाणसे प्रयोजन है, क्या  
अधिप्रमाणसे प्रयोजन है, क्या मनःपर्ययप्रमाणसे प्रयोजन है, अथवा क्या केवलप्रमाणसे  
प्रयोजन है ? इसतरह सबके विययमें पुच्छा करनी चाहिये, और इसतरह पूछे जानेपर,  
यहाँपर न तो आश्रितबोधिकप्रमाणसे प्रयोजन है, न अधिप्रमाणसे प्रयोजन है, और न  
मनःपर्ययप्रमाणसे प्रयोजन है, किंतु ग्रन्थकी अपेक्षा श्रुतप्रमाणसे और अर्थकी अपेक्षा केवल-

१ अत्र भाष्यार्थेण मन पर्ययज्ञानस्य विषयो नोपलभ्यते । अत्र द्रव्यपुरालियसरीरिणिज्जिणसमयवद्ध  
तु । चक्रियदियणिज्जिण उक्कम उज्जमदिसि हने ॥ मणद-ववगणणमणणतिममाणेण उज्जगउक्कस । खडिदसेच होदि  
हु निउलमदिसावर दव्व ॥ अट्टण्ह कमाण समयपवद्ध विविससोवचय । बुवहोरोणिवाव मज्जिदे विदिय हने दव्व ॥  
तव्विदिय कमाणमसखेज्जाण च समयसखसम । बुवहोरोणवहिरिदे होदि हु उक्कसय दव्व ॥ गाउयपुधत्तमवर उक्कस  
होदि जोयणपुधत्त । निउलमदिसस य अत्र तस्स पुबत्त वर खु णलोए ॥ णलोए ति य वयण विक्खमणियासय ण  
वट्टस । जन्हा तण्णपदर मणपज्जनखेचयुद्धिद्ध ॥ दुमतिगमत्ता हु अत्र सत्तमत्ता हवति उक्कस । अडणमत्ता हु  
अवमसखेज्ज निउलउक्कम ॥ आवलिअसखमाग अत्र च वर च वरमसरुणुण । ततो जसखयुगिद असखलोण तु  
निउलमदी ॥ गो जी ४५-४५८ तथ दव्वओ ण उज्जुमई ण अणते अणतपएसिए खवे जाणइ पासइ, त चेव  
निउलमई अन्मरियतराए निउलतराए निउलतराए विविसतराए जाणइ पासइ । खेतओ ण उज्जुमई अ जहणेण  
अयुलस असखेज्जमाग, उक्कीणेण ओ जाव इमीसे रयणप्पमाए पुढवीए उवविमिहेट्टिल्ले खुट्टुगपरि उट्टु जाव जोइसस  
उत्तरिगतले, तिरिय जाव अतोमयुसखिने अट्टाइज्जेणु दोवसमुहेसु पवरमउ कम्मभूमिसु तीणाए अकम्मभूमिसु लप्पणाए  
अतरदीवगोसु सपिपचिआण पज्जत्तमाग मणोणाए भावे जाणइ पासइ । त चेव निउलमई अट्टाइज्जेणुसुलेदि  
अन्मरिअत्र निउलतर विउलतर विविसतराग खेत जाणइ पासइ । कालओ ण उज्जुमई जहणेण पल्लोवमत्स  
असखिज्जदमाग, उक्कीणेण ति पल्लोवमत्स असखिज्जइमाग उत्तीयमणागय वा काउ जाणइ पासइ । त चेव  
निउलमई अन्मरियतराग निउलतराग विउलतराग विविसतराग जाणइ पासइ । भावओ ण उज्जुमई जहणेण अणते  
भावे जाणइ पासइ, उक्कीणेण व समावाण अणतमाग जाणइ पासइ । त चेव निउलमई अन्मरियतराग विउलतराग  
निउलतराग विविसतराग जाणइ पासइ । न म् १८

एतथ पुव्वाणुपुव्वीए गणिज्जमाणे दव्व-भाव-सुदं पडुच्च त्रिदियादो, अत्थं पडुच्च  
पंचमादो केवलगाणादो । पच्छाणुपुव्वीए गणिज्जमाणे दव्व-भाव-सुदं पडुच्च चउत्थादो  
सुद-पमाणदो । अत्थं पडुच्च पढमादो केउलादो । जत्थतथाणुपुव्वीए गणिज्जमाणे  
सुदणाणादो केउलणाणादो य । सुदणाणमिदि गुणगामं, अक्खर-पद-संघाद-पडिवत्ति-  
यादीहि संखेज्जमत्थदो अणंतं । एदस्स तदुभयवत्तव्वदा ।

अत्थाहियारो दुविहो, अंगवाहियो अंगपइडो चेदि । तत्थ अंगवाहिरस्स चोइस  
अत्थाहियारा । तं जहा, सामाहयं चउवीसत्थओ वंदणा पडिक्कमणं वेणइयं किदियम्मं  
दसवेयालियं उत्तरज्जयणं कप्पववहारो कप्पाक्कप्पियं महाक्कप्पिय पुंडरीयं महापुंडरीयं  
णिसिहियं चेदि । तत्थ ज सामाहयं तं णाम इवणा-दव्व-खेत्त काल-भावेसु समत्त-  
विहाणं वणणेदि । चउवीसत्थओ चउवीसण्हं तित्थयराणं वंदण-विहाणं तण्णाम-संठाणुसंवेह-  
पंच-महाकल्लाण-चेत्तीस-अइसय-सरूचं तित्थयर-चंदणाए सहलत्तं च वणणेदि ।

प्रमाणसे प्रयोजन है, ऐसा उत्तर देना चाहिये ।

यहाँपर पूर्वानुपूर्वीसे गणना करनेपर द्रव्यश्रुत और भावश्रुतकी अपेक्षा तो दूसरे  
श्रुतप्रमाणसे प्रयोजन है और अर्थकी अपेक्षा पांचवे केवलज्ञानप्रमाणसे प्रयोजन है । पद्मवादानु-  
पूर्वीसे गणना करनेपर द्रव्यश्रुत और भावश्रुतकी अपेक्षा चौथे श्रुतप्रमाणसे प्रयोजन है और  
अर्थकी अपेक्षा प्रथम केवलप्रमाणसे प्रयोजन है । यथातथातुपूर्वीसे गणना करनेपर श्रुतप्रमाण  
और केवलप्रमाण इन दोनोंसे प्रयोजन है ।

श्रुतज्ञान यह सार्थक नाम है । वह अक्षर, पद, सघात और प्रतिपत्ति आदिकी अपेक्षा  
सख्यातभेदरूप है और अर्थकी अपेक्षा अनन्त है ।

तीन वक्तव्यताओंमेंसे इस श्रुतप्रमाणकी तदुभयवक्तव्यता ( स्वसमय-परसमयवक्तव्यता )  
जानना चाहिये ।

अर्थधिकार दो प्रकारका है, अंगवाह्य और अंगप्रविष्ट । उन दोनोंमेंसे, अंगवाह्यके चौदह  
अर्थधिकार हैं । वे इसप्रकार हैं, सामायिक, चतुर्विंशतिस्त्व, वन्दना, प्रतिक्रमण, वैनयिक,  
कृतिकर्म, दशवैकलिक, उत्तरप्राथम्य, कल्पव्यवहार, कल्प्याकल्प्य, महाकल्प्य, पुण्डरीक,  
महापुण्डरीक और निबिद्धिका । उनमेंसे, सामायिक नामका अंगवाह्य अर्थधिकार नाम,  
स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन छह भेदों द्वारा समताभावके विधानका वर्णन करता  
है । चतुर्विंशतिस्त्व अर्थधिकार उस उस कालसकन्धी चौविस तीर्थकरोंकी वन्दना करनेकी  
विधि, उनके नाम, सस्थान, उत्सव, पाव महाकल्याणक, चौत्तिस अतिशयोक्तै स्वरूप और  
तीर्थकरोंकी वन्दनाकी सफलताका वर्णन करता है ।



अंगपविद्धस अर्थाधियारो वारसविहो । तं जहा, आयारो हृदयदं ठाणं समवायो  
वियाहपणत्ती णाहधम्मकहा उवासयञ्जणं अंतयडदसा अणुनरोवत्तादियदसा  
पण्हावारणं विवागसुं चिद्विवादो चेदि । एत्थायारंगमट्टारह-पद-सहस्सेहि १८०००—

कथं चरे कथं चिद्वे कथमासे कथं सए ।

कथं मुंजेज भासेज्ज कथं पाव ण बज्जई ॥ ७० ॥

जद चरे जदं चिद्वे जदमासे जदं सए ।

जद मुंजेज भासेज्ज एवं पावं ण बज्जई ॥ ७१ ॥

एवमादियं सुणीणमायारं वर्णणेदि ।

हृदयदं णाम अंगं छचीस-पय-सहस्सेहि ३६००० णाणविणय-पण्णावणा-  
कप्पाकप-च्छेदोवटावण-ववहारधम्मकिरियाओ परुवेइ ससमय-परसमय-सरुवं च परुवेइ ।

अंगप्रविष्टके अर्थाधिकार वारह प्रकारके हैं । वे ये हैं, आचार, सूत्रकृत, स्थान,  
समवाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति, नाथधर्मकथा, उपासकाध्ययन, अंतःकृद्दशा, अनुत्तरौपपादिकदशा,  
प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र और दृष्टिवाद । इनमेंसे, आचारंग अठारह हजार पदोंके द्वारा—

किसप्रकार चलना चाहिये ? किसप्रकार खड़े रहना चाहिये ? किसप्रकार  
बैठना चाहिये ? किसप्रकार शयन करना चाहिये ? किसप्रकार भोजन करना  
चाहिये ? किसप्रकार संभाषण करना चाहिये और किसप्रकार पापकर्म नहीं  
बंधता है ? (इसतरह गणधरके प्रश्नोंके अनुसार) यत्नसे चलना चाहिये, यत्नपूर्वक खड़े रहना  
चाहिये, यत्नसे बैठना चाहिये, यत्नपूर्वक शयन करना चाहिये, यत्नपूर्वक भोजन करना चाहिये,  
यत्नसे संभाषण करना चाहिये । इसप्रकार आचरण करनेसे पापकर्मका बंध नहीं होता है  
॥ ७०-७१ ॥ इत्यादि रूपसे मुनियोंके आचारका वर्णन करता है ।

सूत्रकृतांग छचीस हजार पदोंके द्वारा ज्ञानचिन्तय, प्रज्ञापना, कल्याकलय, छेदोपस्थापना  
और व्यवहारधर्मक्रियाका प्ररूपण करता है । तथा यह स्वसमय और परसमयका भी निरूपण

१ मूलावा १०१०, १०१३ दृश्ये ६ ७, ८.

२ आयारे ण समणण आयार गोयर विणयु वेणइय-ठण गमण चरुमण पमाण-जोण-जुण ममा मामिति-  
शुची सेखेनादि मत पाण-उगम उव्यायण एसणा विमोदि सुद्धासुद्धगएण-यय णियम-त्तवीपइण सुयम-अथादिज्जइ । सम  
ए १३६

३ सुअणडे ण ससमया सुइज्जति, परसमया सुइज्जति, समसपरसमया सुइज्जति X । सुअणडे ण  
जीवजीव-गुण्ण पापामव सनर णिज्जण नव सोक्खान्तसाणा पयथा सुइज्जति मणणण अचिरकाल पन्वरयाण कुमसय-  
मोह मोहमइ-मोहियाण सदेइ-जाय सहजुद्धि परिणाम समइयाण पापकर्मालन मइ-गुण विरोलण य जसीअत्स किरि-  
यानाइयमयत्स चउपासीए अकिरियानार्हण सत्तए अण्णाणियमार्हण उचोसाए वेणइयमार्हण तिण्ह तेमट्टण अण्ण-  
दिट्ठियसयाण सुइ किंचा मसमए वाविज्जति XXX । मम ए ३३७

ठाणं णाम अंगं नायालीस-पद-सहस्सेहि ४२००० एगादि-एगुत्तर-ट्टणाणि वर्णणेदि ।  
तस्सोदाहरणं—

एकौ चैव मह्यो सो दुवियणो ति-लक्खणो भणियो ।

चइ-सकमणा-जुत्तो पवण-गुण-ण्हाणो य ॥ ७२ ॥

लक्कावक्कम-जुत्तो कमसो सो सत्त-भणि-सम्भावो ।

अट्टासवो णवडो जीवो दस-ठाणियो भणियो ॥ ७३ ॥

करता है । स्थानांग ज्वालीस हजार पदोंके द्वारा एकको आदि लेकर उत्तरोत्तर एक  
एक अधिक स्थानोंका वर्णन करता है । उसका उदाहरण—

महात्मा अर्थात् यह जीव द्रव्य निरन्तर चैतन्यरूप धर्मसे उपयुक्त होनेके कारण  
उसकी अपेक्षा एक ही है । ज्ञान और दर्शनके भेदसे दो प्रकारका है । कर्मफलचेतना, कर्मचेतना  
और ज्ञानचेतनासे लक्ष्यमान होनेके कारण तीन भेदरूप है । अथवा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यके  
भेदसे तीन भेदरूप है । चार गतियोंमें परिश्रमण करनेकी अपेक्षा इसके चार भेद हैं । औदयिक  
आदि पांच प्रधान गुणोंसे युक्त होनेके कारण इसके पांच भेद हैं । भवन्तरमें संक्रमणके समय  
पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊपर और नीचे इसतरह छह संक्रमण अपनमेंसे युक्त होनेकी  
अपेक्षा छह प्रकारका है । अस्तित्, नास्ति इत्यादि सात भगोंसे युक्त होनेकी अपेक्षा सात  
प्रकारका है । ज्ञानावरणादि आठ प्रकारके कर्मोंके आश्रयसे युक्त होनेकी अपेक्षा आठ प्रकारका  
है । अथवा ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंका तथा आठ गुणोंका आश्रय होनेकी अपेक्षा आठ  
प्रकारका है । जीवादि नौ प्रकारके पदार्थोंको विषय करनेवाला, अथवा जीवादि नौ प्रकारके  
पदार्थोंरूप परिणामन करनेवाला, होनेकी अपेक्षा नौ प्रकारका है । पृथिवीकायिक, जलकायिक,  
अग्निकायिक, वायुकायिक, प्रत्येकवनस्पतिकायिक, साधारणवनस्पतिकायिक, द्वीन्द्रियजाति,  
त्रीन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रियजाति और पचेन्द्रियजातिके भेदसे दश स्थानगत होनेकी अपेक्षा  
दश प्रकारका कहा गया है ॥ ७२-७३ ॥

१ ठाण ण दव-गुण-वेव-वाल पव्जन पत्थाण XX एकनिहत्त ता दुमिह जाप दग्गविहत्तना जोपण  
पोमालण य लंगट्टाड च ण पन्वरया वाघविज्जति XX । मम ए १३८

२ पना ७१, ७२ समहनयेन एक एवामा । व्यवहलनेन मगारी युत्तयेति प्रिविरुप्य । जसादव्य-  
नो-युत्त इति णिलक्षण । र्मवक्का चतुगित्तु मानमर्तति चतु गत्तमणुग । जीपथानिस्साविस्सायोपशान्ति-  
दिनिस्पाणिमिस्सेदेन फन्निशिष्टधर्मप्रदान । पूर्वदक्षिणधिमोचोचोभोगतिमेदेन ससारात्थायां पट्टोपकमयुत् ।  
स्यादस्ति स्यानानि XX इलादिमत्तभगीमसोऽयुपयुत् । अष्टमिधर्मानुयुत्तवाद्यष्टान । नज्जाताज्जातान-  
वधसवरनिर्जरोमिक्षपुण्यपापरूपा अर्थां पदार्थां निरया यत्स र नार्थां । गुभियेजेनानुयुत्तयेत्सागारणदिनिचु-  
पचेन्द्रियमेदार-दक्षयानर । गो जी, जी म, टी ३५६





एकेकम्हिय तित्ये दारुणे बहुविहोवसगो सहिऊण पाडिहें लडूण णिव्वाणं गदे दस दस वण्णेदि । उक्तं च तत्वार्थभाष्ये—संसारस्थान्तः कृतो यैस्तेऽन्तकृतः नमि-मतङ्ग सोमिल-रामपुत्र-सुदर्शन-यमलीक-वलीक-किष्किविल-पालम्बाष्टपुत्रा इति एते दश वर्द्धमान-तीर्थकर-तीर्थे । एवमृपभादीनां त्रयोविंशतेस्तीर्थेष्वन्येऽन्ये, एवं दश दशानगराः दारु-णानुपसर्गाभिर्जित्य क्लृप्तकर्मक्षयादन्तकृतो दशस्यां वर्ण्यन्त इति अन्तकृद्दशां । अणुत्तरो-ववादिदसा गाम अंगं वाणउदि-लखल-चोयाल-सहस्र-पदेहि ९२४४००० एकेकम्हि य तित्ये दारुणे बहुविहोवसगो सहिऊण पाडिहें लडूण अणुत्तर-विमाणं गदे दस दस वण्णेदि । उक्तं च तत्वार्थभाष्ये—उपपादो जन्म प्रयोजनमेयां त इमे औपपादिकाः,

कृतकेवलियोंका वर्णन करता है, तत्वार्थभाष्यमें भी कहा है—

जिन्होंने संसारका अन्त किया उन्हें अन्तकृतकेवली कहते हैं । वर्द्धमान तीर्थकरके तीर्थमें नमि, मतग, सोमिल, रामपुत्र, सुदर्शन, यमलीक, वलीक, किष्किविल, पालम्ब, अष्टपुत्र ये दश अन्तकृतकेवली हुए हैं । इसीप्रकार ऋषभदेव आदि तेवीस तीर्थकरोंके तीर्थमें और दूसरे दश दश अनगर दारुण उपसर्गोंको जितकर संपूर्ण कर्मोंके क्षयसे अन्तकृतकेवली हुए । इन सबकी दशाका जिसमें वर्णन किया जाता है उसे अन्तकृद्दशा नामका अंग कहते हैं ।

अणुत्तरौपपादिकदशा नामका अंग तेरानवे लाख चवालीस हजार पदोंद्वारा एक एक तीर्थमें नानाप्रकारके दारुण उपसर्गोंको सहकर और प्रातिद्वय अर्थात् अतिशयविशेषोंको प्राप्त करके पांच अणुत्तर विमानोंमें गये हुए दश दश अणुत्तरौपपादिकोंका वर्णन करता है । तत्वार्थभाष्यमें भी कहा है—

उपपादजन्म ही जिनका प्रयोजन है उन्हें औपपादिक कहते हैं । विजय, वैजयन्त

१ “संसारस्थात कृतो यैस्तेऽन्तकृत नमिमत्तसोमिलरामपुत्रसुदर्शनयमलीकनिकिलपालम्ब-पुत्रा इत्येते दश वर्द्धमानतीर्थकरतीर्थे ।” त रा वा पु ५१ ‘वलीक’ स्थाने ‘वलीक’ पाठ ‘किष्किविल’ स्थाने ‘किष्किविल’ पाठ । गो जी, जी प्र, टी ३५७ “अतगडदमाण दस अङ्कयणा पण्णत्ता । त जहा, णमि १ मानगे २ सोमिले ३ रामश्वे ४ सुदसणे ५ चेन । जमाली ६ त भगाली त ७ किष्के ८ पत्तेतिय ९ ॥ फले अङ्कयुत्ते त १० एतेते दस आहिता ॥ एतानि च नमीयादिभान्यत्तदुत्तुनामानि अन्तकृद्दशाङ्गप्रथममणोऽन्य-यनसप्रदे नोपलम्भते, यतस्तनाभिधीयते—” नोयम १ सपुद्द २ सागर ३ गम्भीरे ४ चैव होइ थिमिए ५ य । अयले ६ कपिण्डे ७ खउ अक्खोम ८ पसेणइ ९ रिण्ड १० ॥ ततो वाचना-तरौपशाणि इगान्तीति समावयाम । न च जमातरनामापेक्षया एतानि मन्त्रियन्तीति वाच्य, ज मान्तराणा तन अनभिधीयमानवादिती । स्या मू ७५४ (टीका)

२ अताडदमासु ण अताडण णगरा १ × × समोसराणा वन्मायरिया, वन्मरहा × × पवन्जाओ, × × विपपरिसहाण चउविहरुम्मस्यमि जह केवलरन लभो परियाओ, जतिओ य जह पालिओ मुणिहि पायोमणओ य जो जहि जत्तियाणि भनाणि डेअइसा अतगडे मुणिपरो × × सोरखसुव च पत्ता एण अने य एवमाइअवा त्रियारेण पन्नेइ । सम सू १४३

विजय-वैजयन्त-जयन्तापराजित-सर्वार्थसिद्धारुयानि पंचाणुत्तराणि । अणुत्तरौपपादिकाः अणुत्तरौपपादिकाः, ऋषिदास-धन्य-सुनक्षत्र-ऋतिकेयानंद-नन्दन-शालिभद्राभय-चारिषेण-चिलातपुत्रा इत्येते दश वर्द्धमानतीर्थकरतीर्थे । एवमृपभादीनां त्रयोविंशतेस्तीर्थेष्वन्येऽन्ये एवं दश दशानगराः दारुणानुपसर्गाभिर्जित्य विजयाद्यनुत्तरैषुत्पन्ना इत्येवमनुत्तरौपपा-दिकाः दशास्यां वर्ण्यन्त इत्यनुत्तरौपपादिकदशां । पण्वायरणं गाम अंगं तेणउदि-लखल-सोलह-सहस्र-पदेहि ९३१६००० अक्खेवणी णिक्खेवणी संवेयणी गिन्वेयणी

जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि ये पांच अणुत्तर विमान हैं । जो अणुत्तरोंमें उपपादजन्मले पैदा होते हैं, उन्हें अणुत्तरौपपादिक कहते हैं । ऋषिदास, धन्य, सुनक्षत्र, कार्तिकेय, आनन्द, नन्दन, शालिभद्र, अभय चारिषेण और चिलातपुत्र ये दश अणुत्तरौपपादिक वर्द्धमान तीर्थकरके तीर्थमें हुए हैं । इसतिरह ऋषभनाथ आदि तेवीस तीर्थकरोंके तीर्थमें अन्य दश दश महासाधु दारुण उपसर्गोंको जितकर विजया-दिक पांच अणुत्तरोंमें उत्पन्न हुए । इसतिरह अणुत्तरोंमें उत्पन्न होनेवाले दश साधुओंका जिसमें वर्णन किया जावे उसे अणुत्तरौपपादिकदशा नामका अंग कहते हैं ।

प्रबन्ध्याकरण नामका अंग तेरानवे लाख सोलह हजार पदोंके द्वारा आपेक्षणी, विक्षे-पणी, सचेदनी और निर्वेदनी इन चार ऋथाओंका तथा (भूत, भविष्यत् और वर्तमानकाल-संबन्धी धन, धान्य, लाभ, अटाम, जीवित, मरण, जय और पराजय संबन्धी प्रश्नोंके पूर्वलेपर उनके) उपायका वर्णन करता है ।

१ ‘कार्तिक नद’ इति पाठ । त रा वा पु ५१ ‘कार्तिकेय नद’ इति पाठ गो जी, जी प्र, टी ३५७

२ अणुत्तरौपपादिकदशासु ण अणुत्तरौववाइयाण × × × तिवकससोसराणा परसगड्ढजाहिणाणि जिणाति-सेसा य वहुविसेसा विणमीसाण चैव समणणपववराधहत्थीण × × अणुत्तरसुद्धिसीण वण्णओ××थासेसकम्मगिसय-मिस्ता नरा जहा अयुवेति वम्मसुराल सजम तन चाणि चहुविहएपाग जह वहुणि वामाणि अणुत्तरिचा आराहियण-दसणचरित्तजोगा ×× जे य जहि जत्तियाणि भत्ताणि डेअइसा लडूण य समाहिमुत्तमड्ढाणजोगडुत्ता उववना सुणि-वरोत्तमा जह अणुत्तरौप पावति जह अणुत्तर त.य निग्गसोवस त.गो य चुआ कमेण काहिंति सजया जहा य अत-किरिय एण अने य एवमाइअ था त्रियारेण ×× आवाविज्जति सम मू १४४ इमिदसे य २ धण्णे त २ सुणजसत्ते य ३ ऋतिते ४ । षट्ठणे ५ सालिमहे त ६, आणदे ७ तेतली ८ तित । दममदे ९ अत्तिमुते १० एमेते दस आहिया ॥ ‘अणुत्तरौ’ इरुदि, इह च गयो वगास्ता तुतीयवगे दृश्यमानाययने कश्चि सह साम्यमात्ति, न सर्वे । यतस्तन तु दृश्यते ‘वन्मय एनङ्ग ऋषिदासप्रात्ययत पेत्तरो रामपुत्र.भद्रसा मोठक इति ॥ १ ॥ पेत्ताञ्जुतोऽनगर पोडिल्लश्च मिहत् दशन उक्क, एवमेते जास्यता दश ॥ २ ॥ तदेवमिहाणि तावता तरापेक्षामड्ढययननिमाग उक्तो न पुनरुपलम्भयमानवादानिर्झयेति । स्या ७ ७५५ (टीका)





रह-विरदस्स तव-सील-णियम-जुत्तस्स पच्छा विक्खेवणी कहा क्हेयव्वा । एसा अकहा वि  
पणवयंतस्स परुत्तयंतस्स तदा कहा होदि । तम्हा पुरिसंतरं पप्प समणेण कहा क्हेयव्वा ।  
पण्हदो हद-णड-मुट्ठि-चित्ता-ल्लाहाह-सुह-दुक्ख-जीविय-मरण-जय-पराजय-णाम-दव्वायु-  
संखं च पुरूवेदि । विवागसुत्तं णाम अंगं एग-कोडि-चउगसीदि-लक्ख-पदेदि  
१८४०००० पुण-पाव-कम्मणं विवायं वण्णेदि । एक्कारसंगणं सब्ब-पद-समासो  
चचारि कोडीओ पण्णारह-लक्खा-वे-सहस्स च ४१५०२००० । दिट्ठिवादो णाम अंगं  
वारसमं । तस्य दृष्टिवादस्य स्वरूप निरूप्यते । कौत्कल-काणेविट्ठि-कौशिक-हरिश्मशु-  
मांद्रूपिक-रोमश-हारित-मुण्ड-अश्रवलयनादीनां क्रियावाद-दृष्टीनामशीतिशतम्, मरीचि-

रस दृष्टिसि ससृक्त होकर ही शरीरमें रहता है, उसीतरह जो जिनशासनमें असुरक है, जिन-  
वचनमें जिसको किसीप्रकारकी विचिकित्सा नहीं रही है, जो भोग और रतिसे विरक्त है और  
जो तप, शील और नियमसे युक्त है ऐसे पुरुषको ही पश्चात् विक्षेपणी कथाका उपदेश देना  
चाहिये । प्ररूपण करके उत्तमरूपसे ज्ञान करानेवालेके लिये यह अकथा भी तब कथारूप हो  
जाती है । इसलिये योग्य पुरुषको प्राप्त करके ही साधुको कथाका उपदेश देना चाहिये । यह  
प्रश्रव्याकरण नामका अंग-प्रश्नके अनुसार इत, - नष्ट, मुष्टि, चित्ता, लाभ, अलाभ, सुख, दुःख,  
जीवित, मरण, जय, पराजय, नाम, द्रव्य, आयु और संबन्धका भी प्ररूपण करता है । विपाक-  
सूत्र नामका अंग एक करोड़ चौरासी लाख पदोंके द्वारा पुण्य और पापरूप कर्मोंके फलोंका  
वर्णन करता है । ग्यारह अंगोंके कुल पदोंका जोड़ चार करोड़ पन्द्रह लाख दो हजार पद है ।  
दृष्टिवाद नामका बारहवा अंग है । आगे उसके स्वरूपका निरूपण करते हैं । दृष्टिवाद नामके  
अंगमें कौत्कल, काणेविट्ठि, कौशिक, हरिश्मशु, मांधपिक, रोमश, हारित, मुण्ड और अश्रवलयन  
आदि क्रियावादीयोंके एकसौ अस्सी मतोंका, मरीचि, उलूक, कपिल, उलूक, गार्ग्य, व्याघ्रभूति,

अर्थानि च श्रीस्थानि भिज्जा च तमभ्यनत्ती धातुरियिभिज्जास्ता त्रेमादुरोगेण सर्वप्रनचनर्मातिरूपकुमुम्मादिरोगेण  
स्ता इव स्ता येपं ते तथा । अथवास्थियभिज्जासु जिनशामतपत्रेमादुरोगेण स्ता ये ते अट्ठिभिज्जेपेम्माशुरागरत्ता ।  
सग २ ५ १०६ ( टीका )

१ परसमथो उभय वा सम्मादिट्ठिस्स सममथो जेण ॥ तो सन्वज्जणमाड ससमयवत्त्वनिन्याइ ॥ मिच्छव-  
पयसम्ह सम्पत्त ज च तदुवणारिभ । वट्ठ परसिद्धतो तो तस्स तओ सविद्धतो ॥ वि मा, ९५६, ९५७

२ शुभाशुभकर्मेणा तीनमदमभ्यमविक्खयन्तिरूपामुमागस्य इवयेननाल्लमात्थयक्कलदत्तपरिणतिरूप उदयो  
विपाक, तं ह्यत्यति वर्णयतीति विपाकसूत्रम् । गो जी, जी प्र, टी ३५७ विवागसुत्तं ण सुक्कडुकडण कम्मण  
फलविवागे आवविज्जति । XX । सम सू १४६

३ दृष्टीनां नियमशुचरिभगतमह्यनात् मिथादर्शनाना वादोऽनुवाद, तन्निराकरण य यस्मिन् क्रियते तददृष्टि-  
वाद नाम । गो जी, जी प्र, टी ३६० दिट्ठिवाए ण सत्तमावपवत्तणया आघाविज्जति । ते समासओ पचत्तिह,

कपिलोत्कृ-गार्ग्य-व्याघ्रभूति-वाट्ठलि-माठर-मौद्गल्यायनादीनामक्रियावाददृष्टीनां चतुर-  
शीतिः, शाकल्य-वल्कल-कुथुमि-सात्यमुग्रि-नारायण-कण्व-माध्यंदिन-मोद-पैप्पलाद-वाट्ठरा-  
यण-स्वेष्टकृदतिकायन-बसु-जैमिन्यादीनामज्ञानिकदृष्टीनां सप्तषष्टिः, वशिष्ठ-पाराशर-जतु-  
कर्ण-वाल्मीकि-रोमहर्षणी-सत्यदत्त-व्यासैलापुत्रौपमन्यवैन्द्रदत्तायस्थूणादीनां त्रैविधिक-  
दृष्टीनां द्वात्रिंशत् । एषां दृष्टिशतानां त्रयाणां त्रिपष्ट्युत्तराणां प्ररूपणं निग्रहश्च दृष्टिवादे  
क्रियते ।

एत्थ किमायारादो, एवं पुच्छा सव्वेसिं । णो आयारादो, एवं वारणा सव्वेसिं,  
दिट्ठिवादो । तस्स उवकमो पंचविहो, आणुपुव्वी णामं पमाणं वत्तव्वदा अत्थाहियारो  
चेदि । तत्थ आणुपुव्वी तिविहा, पुव्वाणुपुव्वी पच्छाणुपुव्वी जत्थत्थाणुपुव्वी चेदि ।

वाट्ठलि, माठर और मौद्गल्यायन आदि अक्रियावादीयोंके चौरासी मतोंका, शाकल्य, वल्कल,  
कुथुमि, सात्यमुग्रि, नारायण, कण्व, माध्यंदिन, मोद, पैप्पलाद, वाट्ठरायण स्वेष्टकृत्, पेतिकायन  
बसु और जैमिनी आदि अज्ञानवादीयोंके सरसठ मतोंका तथा वशिष्ठ, पाराशर, जतुकर्ण,  
वाल्मीकि, रोमहर्षणी, सत्यदत्त, व्यास, एलापुत्र, औपमन्यु, ऐन्द्रदत्त और अयस्थूण आदि  
त्रैविधिकवादीयोंके बत्तीस मतोंका वर्णन और निराकरण किया गया है । ऊपर कहे हुए क्रिया-  
वादी आदिके कुल भेद तीनसौ त्रैसठ होते हैं ।

इस शास्त्रमें क्या आचारांगसे प्रयोजन है, क्या सूत्रकृतांगसे प्रयोजन है, इसतरह  
बारह अंगोंके विषयमें पुच्छा करनी चाहिये । और इसतरह पूछे जाने पर यहां पर न तो  
आचारांगसे प्रयोजन है, न सूत्रकृतांग आदिसे प्रयोजन है इसतरह सबका निषेध करके यहां  
पर दृष्टिवाद अंगसे प्रयोजन है ऐसा उत्तर देना चाहिये । उसका उपक्रम पांच प्रकारका है,  
आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता और अर्थाधिकार । इनसेसे, पूर्वानुपूर्वी, पश्चादानुपूर्वी और  
यथातथानुपूर्वीके भेदसे आनुपूर्वी तनि प्रकारकी है । यहां पूर्वानुपूर्वीसे गिनने पर बारहवें

परिक्रम सुत्ताइ पुव्वगय अणुओगो चूलिया । परिक्रमे सत्ताविहे XXX । सुत्ताइ अट्ठसीति भवतीति मखायाइXXX ।  
पुव्वगय चउइसविह पत्त । अणुओगे दुमहे पत्तचे XXX । जण्ण आइत्तण चउह पुव्वाण चूलियाओ, तेसाइ  
'पुव्वाइ अचूलियाइ सेच चूलियाओ । सम सू १४७

१ कौत्कलकणिट्ठि-कौशिकहरिश्मशुमाळयिनोममहारितमुडाल्लायलादाना क्रियावाददृष्टीनामशीतिशत ।  
मरिचुमारकपिलोत्कृगार्ग्यव्याघ्रभूतिवाट्ठलिमाठरमौद्गल्यायनादीनामनियानाद-दृष्टीना चतुरशीति । शाकल्यवाट्ठल-  
कथुमिसात्यमुग्रिनारायणकण्वमाध्यंदिनमोदपैप्पलादवाट्ठरायणाश्रद्धैरिकाजननजैमिन्यादीनामज्ञानकृष्टाना सप्तषष्टि ।  
वशिष्ठपाराशरजतुर्णिवाल्मीकिरोमहर्षितयदत्तव्यासैलापुत्रौपमन्यवैन्द्रदत्तायस्थूणादीना त्रैविधिकदृष्टीनां  
त रा वा पृ ५१ 'काणेविट्ठि' स्थाने 'कठेजिट्ठि', 'माडपिक' स्थाने 'मांधपिक', 'कण्व' स्थाने 'कठ',  
'स्वेष्टकृत्' स्थाने 'स्त्रिष्ठिक्य', 'जतुकर्ण' स्थाने 'जतुकर्ण', 'अयस्थूण' स्थाने 'अगारस' पाठा  
उपलभ्यन्ते । गो जी, जी प्र, टी ३६०

एतय पुष्पाणुष्वीए गणित्जमाणे वाससमादो, पञ्चाणुष्वीए गणित्जमाणे पदमादो, जस्यतथाणुष्वीए गणित्जमाणे दिङ्घिवायो । णानं, डिङ्घीथो वददीदि दिङ्घिवाद् ति गुणणामं । पमाणं, अवसर-पद-संघाट-पडिवत्ति-अणियोगद्वारेहि संखेज्जं अत्थदो अणंतं । नचब्बदा, तदुभयवत्त्वदा । तस्स पंच अत्थाहियारा हवंति, परियम्मं-सुत्तं-पदमणियोग-पुव्वगर्भ-चुलिया चेदि । जं तं परियम्मं तं पंचविहं । तं जहा, चंदपण्णत्ती सूरपण्णत्ती जंबूदीवपण्णत्ती दीवसायरपण्णत्ती त्रियाहपण्णत्ती चेदि । तस्य चंदपण्णत्ती' णाम छत्तीस-लप्पस-पंच-पद-सहस्सेहि ३६०५००० चंदानु-परिवारिदि-गह-विंबुस्सेह-वण्णणं कुणइ ।

अणसे, पञ्चादासुपूर्वीसे णिनेने पर पव्वलेसे और यथातथासुपूर्वीसे णिनेने पर द्वाष्टिवाद अंगसे प्रयोजन दे ।

नाम—इसमें अनेक दृष्टियोंका वर्णन किया गया है, इसलिये इसका ' द्वाष्टिवाद ' यह शीर्षकनाम है ।

प्रमाण—अक्षर, पद, संघात, प्रतिपत्ति और अनुयोग आदिका अपेक्षा सरयातप्रमाण और अर्थकी अपेक्षा अन्ततप्रमाण है ।

नचत्वता—इसमें तदुभयवत्त्वता है ।

उस द्वाष्टिवादके पांच अधिकाए हैं, परिकर्मा, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका । उनमेंसे, चन्द्रप्रगति, सूर्यप्रगति, जम्बूद्वीपप्रगति, द्वीपसागरप्रगति और व्याख्याप्रगति इसतरह परिकर्माके पांच भेद हैं ।

चन्द्रप्रगति नामका परिकर्मा छत्तीस लाख पांच हजार पदोंके द्वारा चन्द्रमाकी आयु,

परित गत र्मानि गणितरगमनयानि यस्मिन् तद्वारिर्म्म । गो जी, जी ५, दी ३६१

२ सूत्रयति द्वाष्टिदशानातीति म् । जी अथक जन्तो निगुण अमोत्ता सप्रफारक पप्रकाशक यन्त्रो जी नान्म जी रराकिण्यकिगानानिगच्छद्वीना मिग्गदशेनानि पूर्वगतया कथयति । गो जी,

जी ५, दी ३६२

३ प्रथम मिग्गादिमतिकमन्युप न प्रतिपावमात्रिय प्रतुनोडुनोडोडिकार प्रथमानुयोग । चर्गादिगिर्गारादशानाकिनमयदेनानागुदेप्रतिगालेयत्सपिपिष्टिखलात्तानुन्यपुराणानि णंयति । गो जी,

जी ५, दी ३६२

४ ६३ तीर्णरर्भपतनंताले गणधरात् सत्त्वधुतायंत्रिगाहनसमर्थानिविद्वत् पूर्वंगत सूर्यार्थे भापते, ततस्तानि पूर्वगुणते । गणरा पुन सूत्ररचनां विदधत आचासादित्मणे विदधति श्यापयन्ति वा । अन्ये तु स्यात्थोर्, पूर्वंगुणार्थेर्भूत् भापते गणधरा अपि पूर्वं गतम् । तिस्रयति पत्रादाचारादिभ्म् ।

न सू. पु. २४०

५ सूत्रस्यापि विधेयत्त्वानि चूलिया नाम । धवला अ पु ५७३. द्वाष्टिवादे परिकर्मसू. पूर्वखियोगोडुत्तार्थ-सम्पत्ता प्रणयस्तर । न सू. पु. २४६.

६ चन्द्रप्रगति चन्द्रा विमानाय परिवारन्दिगमनद्वानिद्विरत्तलार्धचतुर्थांशप्रहणादीन् वर्णयति ।

गो जी, जी. ५, दी. ३६२.

सूर-पण्णत्ती' पंच-लख-तिण्ण-सहस्सेहि ५०३००० सूरस्सायु-भोगोवभोग-परिवारिदि-गह-विंबुस्सेह-दिग-किरणुज्जोव-वण्णणं कुणइ । जंबूदीवपण्णत्ती तिण्ण-लख-पंचवीस-पद-सहस्सेहि ३२५००० जंबूदीने णाणाविह-मणुयाणं भोग-रूम-भूमियाणं अण्णोसिं च पव्वद-दह णइ वेइयाणं वस्सावासाकडिम-जिणहरादीणं वण्णणं कुणइ । दीवसायरपण्णत्ती' चावण्ण लख-छत्तीस-पद-सहस्सेहि ५२३६००० उद्धार-पह्ल-पमाणेण दीव-सायर-पमाणं अण्णं पि दीव-सायरंतवूदत्थं बहु-भेयं वण्णेदि । वियाहपण्णत्ती' णाम चउरसीदि-लख-छत्तीस-पद-सहस्सेहि ८४३६००० रुवि-अजीव-द्वयं अरुवि-अजीव-द्वयं भवसिद्विय-अभवसिद्विय-रासि च वण्णेदि । सुत्तं अट्टासीदि लख-पदेहि ८८००००० अंशयओ अवलेवओ अयत्ता अमोत्ता णिगुणो सव्वगओ अणुमेत्तो गत्थि जीवो जीवो चैव अत्थि पुढावियादीणं समुदएण जीवो उपज्जइ णिचैयणो णाणेण विगा सचैयणो

परिवार, ऋद्धि, गति और विगकी उंचाई आदिका वर्णन करता है । सूर्यप्रगति नामका परिकर्मा पांच लाख तीन हजार पदोंके द्वारा सूर्यकी आयु, भोग, उपभोग, परिवार, ऋद्धि, गति, विगमनी उंचाई, दिनकी द्वावि-दृष्टि, किरणोंका प्रमाण और प्रकाश आदिका वर्णन करता है । जम्बूद्वीपप्रगति नामका परिकर्मा तीन लाख पचीस हजार पदोंके द्वारा जम्बूद्वीपस्य भोगभूमि और कर्मभूमिमें उत्पन्न हुए नानाप्रकारके मनुष्य तथा दूसरे तिर्यक् आदिका और पर्वत, द्रव, नदी, वेदिका, वर्ष, आवास, अद्विजि जिनालय आदिका वर्णन करता है । द्वीप-सागरप्रगति नामका परिकर्मा बावन लाख छत्तीस हजार पदोंके द्वारा उद्धारपल्यसे द्वीप और समुद्रोंके प्रमाणका तथा द्वीपसागरके अन्तर्भूत नानाप्रकारके दूसरे पदार्थाना वर्णन करता है । व्याख्याप्रगति नामका परिकर्मा चौपत्तीस लाख छत्तीस हजार पदोंके द्वारा रूपी अर्जावद्वय अर्थात् पुद्गल, अरुपी अजीवद्वय अर्थात् धर्म, अधर्म, आकाश और काल, भव्यसिद्ध और अभव्यसिद्ध जीव, इन सबका वर्णन करता है,

द्वाष्टिवाद अंगका सूत्र नामका अर्थोधिकार अठ्ठासी लाख पदोंके द्वारा जीव अयन्धक ही है, अवलेपक ही है, अकर्ता ही है, अभोक्ता ही है, निर्गुण ही है, अणुप्रमाण ही है, जीव नास्तिस्वत्प ही है, जीव अस्तिस्वत्प ही है, पृथिवी आदिक पांच भूतोंके समुदायरूपसे जीव उत्पन्न होता है, चेतना रहित है, नानके विना भी सचेतन है, नित्य ही है, अनित्य ही है,

१ सूर्यप्रगति सूर्यस्यायुर्मंडलयस्विवारजद्विगमनप्रमाणग्रहणादीन् वर्णयति । गो जी, जी ५, दी ३६२.

२ जम्बूद्वीपमनसि जम्बूदीपगतभेरकुलैलेद्वर्षकुञ्जवेदिमनसउच्यत्तापामसमहानथादीन् णंयति ।

गो जी, जी. ५, दी ३६२

३ द्वीपसागरप्रगति अमल्याद्वीपसागराणां स्वरूप तत्ररिक्तयौतिर्वानमानानासरेषु त्रियमानाद्यमितिन-मननादीन् वर्णयति । गो जी, जी ५, दी ३६२.

४ रूप्यरूपिचीनाजीवद्वयणां भव्याभन्यमेदप्रमाणलक्षणाना जनतरमिद्धपरम्परामिद्वानां जयवस्तूनां च वर्णनं करोति । गो जी, जी ५, दी ३६२.

णिञ्चो अणिञ्चो अप्येति वण्णेदि । तेरासियं' णियदिवादं' विण्णणवादां' सद्वादां' पहाणवादां' द्वावादां' पुरिसवादां' च वण्णेदि । उत्तं च—

रत्यादि रूपसे क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादियोंके तनिसौ त्रेसठ मतोंका पूर्वपक्षरूपसे वर्णन करता है । इसमें त्रैराशिकवाद, नियतिवाद, विज्ञानवाद, शब्दवाद, प्रधानवाद, द्रव्यवाद, और पुरुषवादका भी वर्णन है । कहा भी है—

१ तेराभिय ( त्रैराशिक ) गोणालप्रवतिता आज्जीविका पाब्बण्डनद्वैराशिकं उच्यन्ते । कस्सादिति चेदुच्यते, इह ते सर्वं वत्तु न्यात्मकमिच्छन्ति । तथथा, जीवोऽजीवो जीवाजीवश्च, लोका अलोका लोकालोकाश्च, सदसस्स-दस्स । नयचिन्तायापि त्रिविध नयमिच्छन्ति । तथथा, द्रव्यास्तिक पर्यायिस्तिकसुभयास्तिक च । ततन्निमी राशिभि-श्रतीति त्रैराशिका । न सू. पृ. २३९.

२ णियतिवाद ( दैववाद ) जत्तु जदा जेण जहा जस्स य णियमेण होदि तत्तु तदा । तेण तहा तस्स ह्वे इदि वादो णियदिवादो दु ॥ गो क ८८२ ये तु नियतिमादिस्से बोवमाहु, नियतिनाम तत्त्वान्तरमस्ति यद्धसादेते भावा संवदपि नियतेनैव रूपेण प्रादुर्भावमस्सुवते, नान्यथा । तथाहि, यद्यदा यतो भवति तत्तदा तत् एव नियतेनैव रूपेण भवदुपलभ्यते, अन्यथा कार्यभावव्यवस्था प्रतिनियतव्यवस्था च न भवेत् । नियामकभावत्वात् । तत् एव कार्यनैयत्यतः प्रतीयमानामेना नियतिं को नाम प्रमाणपथकुशलो वागितु क्षमते ? मा प्रापदन्यापि प्रमाणपथ-न्यायात्प्रसङ्ग । अभि रा. को ( णियह )

३ विण्णणवाद ( विज्ञानद्वैतवाद ) प्रतिमासमानस्यशेषस्य वत्तुनो ज्ञानस्वरूपात्त त्रिविद्वयमिद्धे संवेदमेव पारमार्थिक तत्त्वम् । तथाहि, यदवभासते तद्वानमेव यथा सुखादि, अवभासन्ते च भावा इति ।  $X \times X$  तथा यद्धयेते तद्धि ज्ञानादभिन्नम् यथा विज्ञानस्वरूपम्, वेद्यन्ते च नीलादय इत्यतोऽपि विज्ञानाद्वैतसिद्धिरिति । न्या कु च पृ ११९ बाव्यार्थनिरपेक्ष ज्ञानाद्वैतमेव ये चौद्धविशेषा मन्वते ते विज्ञानवादिन । तेया रादान्तो विज्ञानवाद । अभि रा को ( विण्णणवाद )

४ सद्वादा ( शब्दशक्तवाद ) मकल योगजमयोगज वा मत्यक्ष शब्दशक्तौल्लेख्येवावभासते बाह्याध्यात्मिकाथे-पूर्यमानस्यास्य शब्दात्प्रविद्धत्वेनैवोत्पत्ते, तत्सत्यसर्वैक्ये श्रत्यलानां प्रकल्पमानताया दुर्वदत्वात् । बाप्रपता हि शश्र्वती मत्यक्षमशिक्षिनी च, तदभावे तेषां नापर रूपमवशिष्यते । न्या कु च पृ १३९, १४०.

५ पहाणवाद [ प्रधानवादः ] सत्वजस्तमसा साम्यावस्था प्रधानम् । प्रधानस्य वाद प्रधानवाद सात्यवाद इत्यर्थ । सांख्यता हि पुमर्थपेक्षप्रकृतिपरिणाम एव लोक । अभि रा को [ पहाणरुड ]

६ द्रव्यवाद [ द्रव्यैकान्तवादी नित्यवाद ] यत्कपिल दर्शन सांख्यमत एतद् द्रव्यास्तिकमतस्य वतल्यम् । तदुक्तम्, ज काविल दस्सिण एय दव्वड्डियस्स वत्तव्व । स त ३, ४८

७ पुरिसवाद [ पौरुषवाद ] आलसद्वौ णिरुच्छाहो फल किञ्चि ण भुज्जे । थणक्खीरादिपाण वा पडरसेण विणा ण दि ॥ गो क ८९० अथवा, पुरिसवाद पुरवाद्वैतवाद—एको चैव मरुथा पुरिसो देवो य सत्त्वावी य । सत्त्वानिमिदो वि य संवेचयो निगुणो परमो ॥ गो क ८८१ पुनर एवैक सकलोनित्यतिमर्गप्रलयहेतु श्लयैऽप्यलुप्त-ज्ञानातिशयमनिरिति । तथा चोक्तम्, ऊर्णनाम इवाथुलानं चन्द्रकाल इवाभसम् । प्रोदानाणमिन्न अक्ष स हेतु-सर्वजन्मिनाम् ॥ इति । तथा 'पुण एतेद सर्वं यद् भूत यच्च भाव्यम्' इत्यादि मन्वानाना वाद पुरुषवाद । अभि रा को [ पुरिसवाद ]

अट्टासी'-आहियारेसु चउण्हमहिंयाराणमथि णिद्वेसो ।  
पढमो अन्नंधयाणं विदियो तेरासियाण बोद्धवो ॥ ७६ ॥  
तदियो य णियह-पक्खे हवइ चउत्थो ससमयमि ॥

षट्मपणियोगो पंच-सहस्र-पदेहि ९००० पुराणं वण्णेदि । उत्तं च—

वारसविह पुराण जंदिह जिणवरोहि सन्वेहि ।  
तं सब्बं वण्णेदि ह् जिणवसे रायवसे य ॥ ७७ ॥  
पढमो अरहताण विदियो पुण चक्कवट्ठि-वसो दु ।  
विज्जहराण तदियो चउत्थयो वासुदेवाण ॥ ७८ ॥  
चारण-वसो तह पचमो दु छेहो य पण्ण-समणाणं ।  
सत्तमओ कुरुवसो अहमओ तह य हरिवसो ॥ ७९ ॥  
णवमो य इक्खयाण दसमो वि य कासियाण बोद्धवो ।  
वाईणक्कारसमो बारसमो णाह-वसो दु ॥ ८० ॥

पुव्वगयं पंचाणउदि-कोडि-पण्णास-लक्ख-पंच पदेहि ९५५००००५ उप्पयाय

इस सूत्र नामक अर्थधिकारके अट्टासी अधिकारोंमेंसे चार अधिकारोंका नामनिर्देश मिलता है । उनमें पहला अधिकार अबन्धकोंका दूसरा त्रैराशिकवादियोंका, तीसरा नियति-वादका समझना चाहिये । तथा चौथा अधिकार स्वसमयका प्ररूपक है ॥ ७६ ॥

दृष्टिवाद अंगका प्रथमातुयोग अर्थधिकार पांच हजार पदोंके द्वारा पुराणोंका वर्णन करता है । कहा भी है—

जिनेन्द्रदेवने जगतमें बारह प्रकारके पुराणोंका उपदेश दिया है । अतः वे समस्त पुराण जिनवंश और राजवंशोंका वर्णन करते हैं । पहला अरिदंत अर्थान् तीर्थकरोंका, दूसरा चक्रवर्तियोंका, तीसरा विद्याधरोंका, चौथा नारायण, प्रतिनारायणोंका, पांचवां चार-णोंका, छठवां प्रह्लादप्रमाणोंका वंश है । इसतिरह सातवां कुरुवंश, आठवां हरिवंश, नववा इक्ष्वाकुवंश, दशवा काश्यपवंश, ग्यारहवा वादियोंका वंश और बारहवां नाथवंश है ॥ ७७-८० ॥ दृष्टिवाद अंगका पूर्वगत नामका अर्थधिकार पंचानवे करोड़ पचास लाख और पांच

१ सुचाइ अट्टासीति भवति । त जहा, उज्जुण परिणयापरिणय बहुमणिय विण्णवच्चय विनयचरिय अणतर परपर समाण सव्हू [ मासाण ] समिन्न अहाच्चय [ अहवाय नन्धा ] सेवथि [ वत्त य ] णदानत्त वहुल पुट्टापुट्ट विद्यावत्त एवभूय दुआवत्त वत्तमाणपय समभिरुट्ट सव्वजोमह पणाम [ पक्खास नथा ] दुपडिणह इच्चैयाइ वानीस चार छिण्णकेअणइआइ ससमयसुत्तपरिवाडीए इच्चैयाइ वानीस सुत्ताइ अन्निक्खलेयनइयाइ आजीवियसुत्तपरिवाडीए इच्चैयाइ वानीस सुत्ताइ तिक्कणइयाइ तेरासियसुत्तपरिवाडीए, इच्चैयाइ वानीस सुत्ताइ चउक्कणइयाइ ससमयसुत्तपरिवाडीए एवामेव सपुव्वान्तरेण अट्टासीति सुत्ताइ भवति । सम सू १४७

२ 'ज दिट्ठ' इति पाठ श्रुतिभति ।

य-शुचिदादीनिं वृणन् कृणुह । चूलिया पंचविहा, जलगया थलगया मायागया रूवगया आगमगया चेदि । तस्य जलगया दो-कोडि-गव-लक्ष एजग-णवुइ-सहसस-वे-सद-पदेहि २०९८९२०० जलगमण-जलरथभण-कारण-मंत-तंत-तवच्छरणणि वण्णेदि' । थलगया गाम तेत्तिगहि चैव पदेहि २०९८९२०० भूमि-गमण-कारण-मंत-तंत-तवच्छरणणि वरु विजं भूमि-संबंधमणं पि सुहासुह-कारणं वण्णेदि' । मायागया तेत्तिगहि चैय पदेहि २०९८९२०० इंद-जालं वण्णेदि' । रूवगया तेत्तिगहि चैय पदेहि २०९८९२०० गीह-दय-करिणादि रूवायारेण परिणमण-हेदु-मंत-तंत-तवच्छरणणि चित कठ-लेप-लेण-कम्मदि-लक्षमणं च वण्णेदि' । आयासगया गाम तेत्तिगहि चैय पदेहि २०९८९२०० आगम-गमण-णिमित्तं मंत तंत-तवच्छरणणि वण्णेदि । चूलिया-सव-पद-समासो दस-पवों ठारा उत्पाद, ब्यय और धौब्य आदिका वर्णन करता है ।

जलगता, थलगता, मायागता, रूपगता और आकाशगतके भेदसे चूलिका पांच प्रकारकी है । उनमेंसे, जलगता चूलिका दो करोड़ नौ लाख नवासी हजार दोसौ पदोंद्वारा जलमें गमन और जलस्तम्भनके कारणभूत मन्त्र, तन्त्र और तपश्चर्यारूप अतिशय आदिका वर्णन करती है । थलगता चूलिका उतने ही २०९८९२०० पदोंद्वारा पृथिवीके भीतर गमन करनेके कारणभूत मन्त्र, तन्त्र, और तपश्चरणरूप आश्चर्य आदिका तथा वास्तुविद्या और भूमि-संबन्धी दूसरे शुभ अशुभ कारणोंका वर्णन करती है । मायागता चूलिका उतने ही २०९८९२०० पदोंद्वारा ( मायारूप ) इन्द्रजाल आदिके कारणभूत मन्त्र, तन्त्र और तपश्चरणका वर्णन करती है । रूपगता चूलिका उतने ही २०९८९२०० पदोंद्वारा सिंह, घोड़ा और हरिणादिके स्वरूपके आकाररूपसे परिणमन करनेके कारणभूत मन्त्र, तन्त्र और तपश्चरणका तथा चित्र-कर्म, काष्ठकर्म, लेपकर्म और लेनकर्म आदिके लक्षणका वर्णन करती है । आकाशगतता चूलिका उतने ही २०९८९२०० पदोंद्वारा आकाशमें गमन करनेके कारणभूत मन्त्र, तन्त्र और तपश्चरणका वर्णन करती है । इन पांचों ही चूलिकाओंके पदोंका जोड़ दश करोड़ उनचास लाख

१ जलगता चूलिका अक्षतभजनजलगमनाशित्तग्नामिष्णान्यामनाभिप्रशनादिकारणमततपश्चरणार्दीन् वर्णयति । गो जी, जी प्र, यी ३६२

२ थलगता चूलिका मेरुलेशलक्ष्म्यासिु प्रवेगनशीगमनादिकारणमततपश्चरणार्दीन् वर्णयति । गो जी, जी प्र, यी ३६२

३ मायागता चूलिका मायास्वेन्दजालतीन्जाकारणमततपश्चरणार्दीन् वर्णयति । गो जी, जी प्र, यी ३६२

४ रूपगता चूलिका तिरकोलुगवमततहरिणशवाप्तुसभ्यामादिरूपपरार्तमकारणमततपश्चरणार्दीन्

निष्कारलेभ्यो गमनादिरुष्णभातुवादस्वादतन्यावादादीष वर्णयति । गो जी, जी प्र, यी ३६२

५ आकाशगता चूलिका आकाशगतकारणमततपश्चरणार्दीन् वर्णयति । गो जी, जी प्र, यी ३६२

कोडीओ एगूण-पंचाम-लख छायाल-सहसस-पदाणि १०४९४६०० ।

एतथ किं परियम्मदो, किं सुत्तादो ? एवं पुच्छा सव्वेसि । गो परियम्मदो, गो सुत्तादो, एवं वारणा सव्वेसि । पुव्वगयादो । तस्स उवक्कमो पंचविहो, आणुपुव्वी णामं पमाणं वत्तवदा अत्थाहियारो चेदि । तत्थाणुपुव्वी तिविहा, पुव्वानुपुव्वी पच्छाणुपुव्वी जत्थतत्थाणुपुव्वी चेदि । एतथ पुव्वानुपुव्वीए गणिज्जमाणे चउत्थादो, पच्छाणुपुव्वीए गणिज्जमाणे विदियादो, जत्थतत्थाणुपुव्वीए गणिज्जमाणे पुव्वगयादो । पुव्वानं गयं पत्त-पुव्व-सरूचं वा पुव्वगयमिदि गुणणामं । अक्खर-पद-संघाद-पडिवत्ति-अणियोगद्वारेहि संखेजं, अत्थदो पुण अणंतं । वत्तव्वदा ससमयवत्तवदा । अत्थाधियारो चोइसविहो । तं जहा, उत्पादपूर्व अग्रायणीयं वीर्यनुप्रवादं अत्तिनात्तिप्रवादं ज्ञानप्रवादं सस्यप्रवादं आत्मप्रवादं कर्मप्रवादं प्रत्याख्याननामधेयं विद्यानुप्रवादं कल्याणनामधेयं प्राणावायं क्रियाविशालं लोकविन्दुसारमिति ।

ततथ उत्पादपुव्वं दसण्हं वत्थूणं १० वे-सद-पाहुड्डाणं २०० कोडि-पदेहि छायालीस हजार पद है ।

इस जीवस्थान शालमें क्या परिकर्मसे प्रयोजन है ? क्या सूत्रसे प्रयोजन है ? इसतरह सबके चित्रमें पूच्छा करनी चाहिये । यहां पर परिकर्मसे प्रयोजन नहीं है, सूत्रसे प्रयोजन नहीं है इसतरह सबका निषेध करके यहा पर पूर्वगतसे प्रयोजन है ऐसा उत्तर देना चाहिये । उसका उपक्रम पांच प्रकारका है, अनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता और अर्थधिकार । उनमेंसे, पूर्वानुपूर्वी, पश्चादानुपूर्वी और यथातथानुपूर्वीके भेदसे आनुपूर्वी तीन प्रकारकी है । यहा पूर्व-अनुपूर्वीसे गिनने पर चौथे भेदसे, पश्चादानुपूर्वीसे गिननेपर दूसरे भेदसे और यथातथानुपूर्वीसे गिनने पर पूर्वगतसे प्रयोजन है । जो पूर्वको प्राप्त हो, अथवा जिसने पूर्वके स्वरूपको प्राप्त कर लिया हो उसे पूर्वगत कहते हैं । इसतरह 'पूर्वगत' यह गौण्यनाम है । वह अक्षर, पद, संघात, प्रतिपत्ति और अनुयोगद्वारकी अपेक्षा संख्यात और अर्थकी अपेक्षा अनन्त-प्रमाण है । तीनों वक्तव्यताओंमेंसे यहा ससमयवक्तव्यता समझना चाहिये । अर्थधिकारके चौदह भेद हैं । वे ये हैं, उत्पादपूर्व, अग्रायणीयपूर्व, वीर्यनुप्रवादपूर्व, अत्तिनात्तिप्रवादपूर्व, ज्ञानप्रवादपूर्व, सत्यप्रवादपूर्व, आत्मप्रवादपूर्व, कर्मप्रवादपूर्व, प्रत्याख्यानपूर्व, विद्यानुप्रवादपूर्व, कल्याणवादपूर्व, प्राणावायपूर्व, क्रियाविशालपूर्व और लोकविन्दुसारपूर्व ।

उनमेंसे, उत्पादपूर्व दश वस्तुगत दोसौ प्राभृतोंके एक करोड़ पदोंद्वारा जीव, काल

१ वस्तुन द्रव्यस्योपादव्ययधौब्यवनेकधर्मरुक्मुपादपूर्वम् । तच्च, जीवादिद्रव्याणां नामानयविषयकम-यौगपथमभक्तितोपादव्ययधौब्याणी निकालगोचराणि नवधर्मा भवन्ति । तपरिणत द्रव्यमपि नवधर्मेषु, उपन उत्ययमान उत्यस्त्यमान नष्टं नश्यत् नश्यत् स्थित तिष्ठत् स्थास्यदिति नवप्रकारा भवन्ति । ज्यादादीना प्रत्येक नवधैत्वममवादेकाशीतिनिरूप्यधर्मपरिणतद्रव्यवर्णनं करोति । गो. जी, जी प्र, यी ३६६



१०००००० जीव-काल-पोगलाणमुपपाद-वय-धुवत्तं वण्णेइ । अग्गेणियं णाम पुब्बं चोहसण्हं वत्थूणं १४ वे-सयासीदि-पाहुडणं २८० छण्णउइ-लक्ख-पदेहि ९६००००० अंगणमगं वण्णेइ । वीरियाणुपवांदं णाम पुब्बं अट्ठणं वत्थूणं ८ सट्ठि-सय-पाहुडणं १६० सत्तरि-लक्ख पदेहि ७०००००० अप्प-विरियं पर-विरियं उभय-विरियं खेत्त-विरियं भव-विरियं तव विरियं वण्णेइ । अत्थिणत्थिपवांदं णाम पुब्बं अट्ठारसण्हं वत्थूणं १८ सट्ठि-ति-सद-पाहुडणं ३६० सट्ठि-लक्ख-पदेहि ६०००००० जीवाजीवाणं अत्थि-णत्थिंत्तं वण्णेदि । तं जहा, जीवः स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैः स्यादस्ति, परद्रव्यक्षेत्रकालभावैः स्यान्नास्ति, ताभ्यामक्रमेणादिष्टः स्यादवक्तव्यः, प्रथमद्वितीयधर्माभ्यां क्रमेणादिष्टः स्यादस्ति च नास्ति च, प्रथमतृतीयधर्माभ्यां क्रमेणादिष्टः स्यादस्ति चावक्तव्यश्च, द्वितीयतृतीयधर्माभ्यां क्रमेणादिष्टः स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च, प्रथमद्वितीयधर्मौ

और पुदल द्रव्यके उत्पाद, वय और भ्रौव्यका वर्णन करता है । (अत्र अर्थत्वं द्वादशागंमिं प्रधानभूत वस्तुके अयन अर्थत्वं ज्ञानको अग्रायण कहते हैं, और उसका कथन करना जिसका प्रयोजन हो उसे अग्रायणियपूर्व कहते हैं ।) यह पूर्व चौदह वस्तुगत दोसौ अस्सी प्राभृतोंके छयानवे लाख पदों द्वारा अगंके अत्र अर्थत्वं प्रधानभूत पदार्थोंका कथन करता है । वीर्यानुप्रवादपूर्व आठ वस्तुगत एकसौ साठ प्राभृतोंके सत्तर लाख पदों द्वारा आत्मवीर्य, परवीर्य, उभयवीर्य, क्षेत्रवीर्य, भववीर्य और तपवीर्यका वर्णन करता है । अस्तिनास्तिप्रवादपूर्व अठारह वस्तुगत तीससौ साठ प्राभृतोंके साठ लाख पदोंद्वारा जीव और अजीवके अस्तित्व और नास्तित्वधर्मका वर्णन करता है । जैसे, जीव, स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभावकी अपेक्षा कथंचित् अस्तिरूप है । परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभावकी अपेक्षा कथंचित् नास्तिरूप है । जिससमय वह स्वद्रव्यचतुष्टय और परद्रव्यचतुष्टयद्वारा अक्रमसे अर्थत्वं युगपत् विवक्षित होता है उससमय स्यादवक्तव्यरूप है । स्वद्रव्यादिरूप प्रथमधर्म और परद्रव्यादिरूप द्वितीयधर्मसे जिससमय क्रमसे विवक्षित होता है उससमय कथंचित् अस्ति-नास्तिरूप है । स्यादस्तिरूप प्रथम धर्म और स्यादवक्तव्यरूप तृतीय धर्मसे जिससमय विवक्षित होता है उससमय कथंचित् अस्ति-अवक्तव्यरूप है । स्यान्नास्तिरूप द्वितीय धर्म और स्यादवक्तव्यरूप तृतीय धर्मसे जिससमय क्रमसे विवक्षित होता है उससमय कथंचित् नास्ति-अवक्तव्यरूप है । स्यादस्तिरूप प्रथम

१ अत्रस्य द्वादशांगिणु प्रधानभूतस्य वस्तुन अयन ज्ञान अग्रायण, तत्रयोजनमग्रायणीयम् । तच्च सत्तशत-सुनयदुर्गपचोत्तिकायपद्व्यसत्तत्वनपदाधार्थान् वर्णयति । अत्र परिमाण तस्यायन गमन परिच्छेदनमित्यर्थः । तस्मै दित्तमग्रायणीय, सर्वद्रव्यादिपरिमाणपरिच्छेदकारिणि भावार्थः । न स्र् २ ४१

२ वीर्यस्य जीवादिवस्तुसामर्थ्यस्याविवक्षितवस्तुवर्णनमस्तिमिति वीर्यादुप्रवाद नाम तृतीय पूर्वम् । तच्च आत्मवीर्यपत्तोपमवीर्यक्षेत्रवीर्यकालवीर्यभाववीर्यतपवीर्यपरिच्छेदमस्तद्रव्ययुगपत्तयवर्णयति ।

३ अस्ति नास्ति इत्यादिधर्माणां प्रवाद प्रव्यणमस्तिमिति अस्तिनास्तिप्रवाद नाम चतुर्थं पूर्वम् ।

गो जी, जी प्र, टी ३६६  
गो जी, जी प्र, टी ३६६

क्रमेणादिष्टः स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्च जीव इति । एवमजीवाद्योऽपि वक्तव्याः । णाणपवांदं णाम पुब्बं चारसण्हं वत्थूणं ११ वि-सद-चालीस-पाहुडणं २४० एग्गूण-कोडि-पदेहि ९९९९९९ पंच णाणाणि तिण्णिण अण्णाणाणि वण्णेदि । दब्बट्ठिय-पञ्ज-चट्ठिय-णयं पडुच्च अणादिअणिहण-अणादिसणिहण-सादिअणिहण-सादिसणिहणाणि वण्णेदि, णाणं णाणसरूवं च वण्णेदि ।

सच्चपवांदं पुब्बं चारसण्हं वत्थूणं १२ दु-सय-चालीस-पाहुडणं २४० छ-अहिय-एग-कोडि-पदेहि १००००००६ वाग्गुप्तिः वाक्कसंस्कारकारणं प्रयोगो द्वादशधा भाषा वक्तारश्च अनेकप्रकारं सृषाभिधानं दशप्रकारश्च सत्यसद्भावो यत्र निरूपितस्तत्स-त्यप्रवादम् । व्यलीकनिवृत्तिर्वाचां संयमत्तं वा वाग्गुप्तिः । वाक्कसंस्कारकारणानि शिर-कण्ठादीन्यथौ स्थानानि । वाक्प्रयोगः शुभेतरलक्षणः सुगमः । अभ्याख्यानकलह-पैशुन्याद्यद्रप्रलापरत्यस्त्युपधिनिकृत्यप्रणतिमोपम्यग्मिथ्यादर्शनात्मिका भाषा द्वादशधा । अयमस्य कर्त्तव्ये अनिष्टकथनमभ्याख्यानम् । कलह प्रतीत । पृष्ठतो दोषाविकरणं

धर्म, स्यान्नास्तिरूप द्वितीय धर्म और स्यादवक्तव्यरूप तृतीय धर्मसे जिससमय क्रमसे विवक्षित होता है उससमय कथंचित् अस्ति-नास्ति-अवक्तव्यरूप जीव है । इसीतरह अजीवादिक्रमा भी कथन करना चाहिये । ज्ञानप्रवादपूर्व चारह वस्तुगत दोसौ चालीस प्राभृतोंके एकक्रम एक करोड़ पदोंद्वारा पांच ज्ञान और तीन अक्षानोंका वर्णन करता है । तथा द्रव्यार्थिकतय और पर्यायार्थिकतयकी अपेक्षा अनादि-अनन्त, अनादि-सान्त, सादि-अनन्त और सादि-सान्तरूप विकल्पोंका तथा इसीतरह ज्ञान और ज्ञानके स्वरूपका वर्णन करता है । सत्यप्रवादपूर्व चारह वस्तुगत दोसौ चालीस प्राभृतोंके एक करोड़ छह पदोंद्वारा वचनगुप्ति, वाक्कसंस्कारके कारण, वचनप्रयोग, चारह प्रकारकी भाषा, अनेक प्रकारके वक्ता, अनेक प्रकारके असत्यवचन और दश प्रकारके सत्यवचन इन सबका वर्णन करता है । असत्य नहीं बोलनेको अथवा वचन-समय अर्थत्वं मौनके धारण करनेको वचनगुप्ति कहते हैं । मस्तक, कण्ठ, हृदय, जिह्वाका मूल, दांत, नासिका, तालु और ओठ ये आठ वचनसंस्कारके कारण हैं । शुभ और अशुभ लक्षणरूप वचनप्रयोगका स्वरूप सरल है । अभ्याख्यानवचन, कलहवचन, पैशुत्यवचन, अबद्धप्रलापवचन, रतिवचन, अरतिवचन, उपधिवचन, निरुत्तिवचन, अप्रणतिवचन, मोपवचन, सम्यग्दर्शनवचन और मिथ्यादर्शनवचनके भेदसे भाषा चारह प्रकारकी है । यह इसका कर्त्ता है इसतरह अनिष्ट कथन करनेको अभ्याख्यानभाषा कहते हैं । कलहका अर्थ स्पष्ट ही है । (परस्पर विरोधके

१ ज्ञानानां प्रवाद प्रव्यणमस्तिमिति ज्ञानप्रवादम् । तच्च मतिशुभावयिमत पर्ययक्खलानि पच्च सन्ययानानि । कुमतिशुभतिसिमाख्याति नीण्यज्ञानानि स्वल्पसख्याविषयकलानि आण्णत्तं तथा माण्णयाप्रामाण्य-निमाण च वर्णयति । गो जी, जी प्र, टी ३६६

२ इत् आरभ्य सत्यप्रवादवर्णनान्त यावत् समप्रपाठोऽत्रिकलरूपेण तत्पार्थीराजानिके पृ ५२ पन्ति ८ त आरभ्य २८ तमपनिपर्यन्त शब्दश्च उपलभ्यते ।



पशुन्यम् । धर्मार्थकाममोक्षासम्बद्धा वागवद्ब्रह्मलापः । शब्दादिविषयेषु रत्युत्पादिका रतिवाक् । तेभ्योभारत्युत्पादिकारतिवाक् । यां वाचं श्रुत्वा परिग्रहर्जनरक्षणदिश्यामज्यते गोपधिमाक् । वणिग्व्यवहारे यामवधार्यं निरुक्तिप्रवणः आत्मा भवति स निरुक्तिवाक् । यां श्रुत्वा तपोविज्ञानार्थ्यां केष्वपि न प्रणमति साप्रणतिवाक् । यां श्रुत्वा स्तोत्रे प्रवर्तते सा मोपमाक् । मन्मन्मार्गोपदेष्ट्री सम्यग्दर्शनमाक् । तद्विपरीता मिथ्यादर्शनमाक् । नकारार्थानिर्गुणवस्तुपर्यायाः द्वीन्द्रियादयः । द्रव्यक्षेत्रकालभावाश्रयनेकप्रकारमनृतम् । दशभिधः सत्यमद्भानः नाम-रूप-स्थापना-श्रुतित्य-संब्रुति-संयोजना-जनपद-देश-भाव-समय-मत्यभेदेन । तत्र सचेतनेतरद्रव्यस्यासत्यव्यर्थे संव्यवहारार्थं संज्ञाकरणं तन्नामसत्यम्, यथेन्द्र इत्यादि । यदर्थासन्निधानेऽपि रूपमात्रेणोच्यते तद्रूपसत्यम्, यथा चित्रपुरुषादि-जसत्यपि चैतन्योपयोगादावर्थपुरुष इत्यादि । असत्यव्यर्थे यत्कार्यार्थं स्थापितं द्यूताशा-

नदानेवाले वचनोंको कलहचनन कहते हैं । पीछेसे द्रोप प्रगट करनेको पैशूयवचन कहते हैं । धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके सवन्धसे रहित वचनोंको अवद्धप्रलापवचन कहते हैं । इन्द्रियोंके शब्दादि विषयोंमें राग उत्पन्न करनेवाले वचनोंको रतिवचन कहते हैं । इन्द्रियोंके शब्दादि विषयोंमें आत्मीको उत्पन्न करनेवाले वचनोंको अरतिवचन कहते हैं । जिस वचनको सुनकर परिश्रमके अर्जन और रक्षण करनेमें आत्मिक उत्पन्न होती है उसे उपधिवचन कहते हैं । जिस वचनको अग्यारण करके जीव वाणिज्यमें दानरूपप्रवृत्ति करनेमें समर्थ होता है उसे निरुक्तिवचन कहते हैं । जिस वचनको सुनकर तप और ज्ञानसे अधिक गुणवाले पुरुषोंमें भी जीव नश्रीभूत नहीं होता है उसे श्रणतिवचन कहते हैं । जिस वचनको सुनकर चैतन्यमें प्रवृत्ति होती है उसे मोपवचन कहते हैं । समीचीन मार्गका उपदेश देनेवाले वचनको सम्यग्दर्शनवचन कहते हैं । मिथ्यामार्गका उपदेश देनेवाले वचनको मिथ्यादर्शन वचन कहते हैं । जिनमें वस्तुपर्याय प्रगट नौ गर्ते है ऐसे द्वीन्द्रियसे आदि लेकर सभी जीव वक्ता हैं । द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा असत्य अनेक प्रकारका है । नामसत्य, रूपसत्य, स्थापनासत्य, प्रतीत्यसत्य, सच्चित्सत्य, संयोजनासत्य, जनपदसत्य, देशसत्य, भावसत्य और समयसत्यके भेदसे सत्यवचन दश प्रकारका है ।

मूल पर्यायके नहीं रहने पर भी सचेतन और अचेतन द्रव्यके व्यवहारके लिये जो मन्त्रा की जाती है उसे नामसत्य कहते हैं । जैसे, ऐश्वर्यादि गुणोंके न होने पर भी किसीका नाम 'इन्द्र' ऐसा रचना नामसत्य है । पर्यायके नहीं होने पर भी रूपकी सुख्यतासे जो वचन कहे जाते हैं उसे रूपसत्य कहते हैं । जैसे, चित्रलिखित पुरुष आदिमें चैतन्य और उपयोग-दिक्के नहीं रहने पर भी 'अर्थपुरुष' इत्यादि कहना रूपसत्य है । मूल पर्यायके नहीं रहने पर भी कार्यके लिये जो यत्सत्यार्थी अक्ष (पासा) आदिमें स्थापना की जाती है उसे स्थापनासत्य

दियु तत् स्थापनासत्यम् । साधनादीनौपशमिकादीन् भावाच्च प्रतीत्य यद्वचस्तत्प्रतीत्य-सत्यम् । यल्लोके संब्रुत्याश्रितं वचस्तत्संब्रुतिसत्यम्, यथा पृथिव्याद्यनेककारणत्वेऽपि सति पङ्के जातं पङ्कजमित्यादि । धूपचूर्णवासानुलेपनप्रघर्षादियु पद्ममकरहंससर्वतोभद्रकौश्व-व्यूहादियु इतरेतरद्रव्याणां यथाविभागविधिसन्निवेशविधिविकं यद्वचस्तत्संयोजना-सत्यम् । द्वात्रिंशज्जनपदेष्वार्यानां भेदेषु धर्मार्थकाममोक्षाणां प्रापकं यद्वचस्तज्जनपद-सत्यम् । ग्रामनगरराजगणपाण्डजातिकुलादिधर्माणां व्यपदेष्टुं यद्वचस्तदेशसत्यम् । छत्रज्ञानस्य द्रव्ययाथात्म्यादर्शनेऽपि संयतस्य संयतासंयतस्य वा स्वगुणपरिपालनार्थं ग्रासुकमिदमग्रासुकमिदमित्यादि यद्वचस्तद्भ्रावसत्यम् । प्रतिनियतपद्म्यद्रव्यपर्यायाणा-मागमगम्यानां याथात्म्याविकरणं यद्वचस्तत्समयसत्यम् ।

आदपवादं सोलसण्हं वत्सूरां १६ वीसुचर-ति-सय-पाहुडाणं ३२० छवीस-कोडि-पदेहि २६०००००० आदं वण्णेदि वेदे ति वा विण्हु ति वा भोत्ते ति वा बुद्वे ति वा इच्चादि-सरूवेण । उत्तं च—

जीवो कत्ता य वत्ता य पाणी भोत्ता य पोगलो ।

वेदो विण्ह सयसू य सरीरो तह माणो ॥ ८१ ॥

कहते हैं । सादि और अनादिरूप औपशमिक आदि भावोंकी अपेक्षा जो वचन बोला जाता है उसे प्रतीत्यसत्य कहते हैं । लोकमें जो वचन संब्रुति अर्थात् कल्पनाके आश्रित बोले जाते हैं उन्हें संब्रुतिसत्य कहते हैं । जैसे, पृथिवी आदि अनेक कारणोंके रहने पर भी जो पुरु अर्थान् कीचइमें उत्पन्न होता है उसे पंक्तज कहते हैं इत्यादि । धूपके सुगन्धी चूर्णके अचुलेपन और प्रघर्षणके समय, अथवा पद्म, मकर, हंस, सर्वतोभद्र और कौंच आदिरूप व्यूहरचनाके समय सचेतन अथवा अचेतन द्रव्योंके विभागानुसार विधिपूर्वक रचनाविशेषके प्रकाशक जो वचन हैं उन्हें संयोजनासत्य कहते हैं । अर्थ और अनार्थके भेदसे ब्रह्मीस देशोंमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके प्राप्त करनेवाले वचनको जनपदसत्य कहते हैं । ग्राम, नगर, राजा, गण, पाण्डव, जाति और कुल आदिके धर्मोंके उपदेश करनेवाले जो वचन हैं उन्हें देशसत्य कहते हैं । छत्रस्थोंका ज्ञान यद्यपि द्रव्यकी यथार्थताका निश्चय नहीं कर सकता है तो भी अपने गुण अर्थात् धर्मोंके पालन करनेके लिये यह प्राप्तुं न है, यह अप्राप्तुक है इत्यादि रूपसे जो सत्य और श्रावकके वचन हैं उन्हें भावसत्य कहते हैं । आगमगम्य प्रतिनियत छत्र प्रकारकी द्रव्य और उनकी पर्यायोंकी यथार्थताके प्रगट करनेवाले जो वचन हैं उन्हें समयसत्य कहते हैं ।

आत्मप्रवादपूर्व सोलह वस्तुगत तीनसौ बीस प्राश्रुतोंके छत्रवसि क्रोड पदोंद्वारा जीव वेत्ता है, विण्हु है, भोक्ता है, बुद्ध है, इत्यादि रूपसे आत्माना वर्णन करता है । कहा भी है—  
जीव कर्ता है, वक्ता है, प्राणी है, भोक्ता है, पुद्गरूप है, वेत्ता है, विण्हु है, स्वयंसू है,

सत्ता जहू य माणी य माई जोगी य सकडो ।

असकडो' य खेतण्हू अतरप्पा तहेव य' ॥ ८२ ॥

एदेसिमत्थो बुच्चदे । तं जहा, जीवदि जीविस्सदि पुब्बं जीविदो त्ति जीवो' । सुहम-  
सुहं करोदि त्ति कत्ता' । सच्चमसच्चं संतमसंतं वददीदि वत्ता । पाणा एयस्स संति त्ति  
पाणी' । अमर-णर-तिरिय-णारय-भेएण चउब्बिहे संसारे कुसलमकुसलं भुजंदि त्ति भोत्ता' ।  
छब्बिह-संठाणं बहुविह-देहेहि पूरदि गलदि त्ति पोगलो' । सुय-दुक्खं वेदेदि त्ति वेदो,  
वेत्ति जानतीति वा वेद' : । उपात्तेदं व्याप्पोतीति विष्णु' : । स्वयमेव भूतवानिति

शरीरी है, मानव है, सत्ता है, जन्तु है, मानी है, मायावी है, योगसहित है, सकुट है, असंकुट  
है, क्षेत्रज्ञ है और अन्तरात्मा है ॥ ८१-८२ ॥

आगे इन्ही दोनों गाथाओंका अर्थ कहते हैं । वह इसप्रकार है, जीता है, जीवित  
रहेगा और पहले जीवित था, इसलिये जीव है । शुभ और अशुभ कार्यको करता है, इसलिये कर्ता  
है । सत्य-असत्य और योग्य अयोग्य वचन बोलता है, इसलिये वक्ता है । इसके दश प्राण पाये  
जाते हैं इसलिये प्राणी है । देव, मनुष्य तिर्यच और नारकीके भेदसे चार प्रकारके संसारमें  
पुण्य और पापका भोग करता है, इसलिये भोक्ता है । नाशप्रकारके शरीरोंके द्वारा छह प्रकारके  
संस्थानको पूर्ण करता है और गलाता है, इसलिये पुष्ट है । सुख और दुःखका वेदन करता  
है, इसलिये वेद है । अथवा, जानता है, इसलिये वेद है । प्राप्त हुए शरीरको व्याप्त करता है,

१ ' वेदो ' स्थाने ' वेदी ' ; ' सकडो ' स्थाने ' सकुडो ' ; ' अमकुडो ' स्थाने ' अमकुडो ' पाठ ।

२ गाथाद्वयान्तर्गता ' च ' शब्दा उक्तानुक्तमपुत्र्यार्था वेदितव्या । तत कारणान व्यवहाराश्रयेण  
कर्मनोक्तमूर्तव्यव्यादिसम्बन्धेन मूर्ते, निश्चयनयाश्रयेणापूर्ते इत्यादय आमथर्मा समुचीयन्ते । गो जी, जी, प्र,  
टी ३६६

३ जीवति व्यवहारेण दशप्राणात् निश्चयनेन केवलज्ञानदर्शनमप्यकम्बरूपवि प्राणाश्च धारयति जीविष्यति  
जीवितपूर्वश्चेति जीव । गो जी, जी प्र, टी ३६६

४ व्यवहारेण शुभाशुभ कर्म, निश्चयेन त्रिपर्यायांश्च करोतीति कर्ता । गो जी, जी, प्र, टी ३६६

५ व्यवहारेण सत्यमसत्य च वक्तोति वक्ता, निश्चयेनामत्ता । गो जी, जी प्र, टी ३६६

६ नयद्वयौक्तप्राणा सत्यरूपेति प्राणी । गो जी, जी प्र, टी ३६६

७ व्यवहारेण शुभाशुभकर्मफल, निश्चयेन स्वस्वरूप च भुक्ते अशुभवताति भोक्ता । गो जी, जी प्र,  
टी ३६६

८ व्यवहारेण कर्मनोक्तमपुष्टलान् पूरयति गालयति चेति पुष्टल, निश्चयेनापुष्टल । गो जी, जी प्र, टी ३६६

९ नयद्वयेन लोकालोकगत निकालोत्तर सर्वं वेत्ति जानतीति वेद । गा जी, जी प्र, टी ३६६

१० व्यवहारेण त्रयोपात्तेदं समुद्रते सर्वलोक, निश्चयेन ज्ञानेन सर्वं वेत्ति व्याप्नोतीति विष्णु । गो जी,  
जी प्र, टी ३६६

स्वयम्भू' : शरीरमेयस्स अत्थि त्ति शरीरी' । मनुः ज्ञानं, तत्र भव इति मानवः' । सजण-  
संबंध-मित्त-चग्गादिसु संजदि त्ति सत्ता' । चउग्गाइ-संसारे जायदि जणयदि त्ति जंतू' ।  
माणो एयस्स अत्थि त्ति माणी' । माया अत्थि त्ति मायी' । जोगो अत्थि त्ति जोगी' ।  
अइसण्ह देह-पमाणेण संकुडदि त्ति संकुडो' । सव्वं लोमागासं त्रियापदि त्ति असंकुडो' ।  
क्षेत्रं स्वस्वरूपं जानतीति क्षेत्रज्ञ' : अट्ट-कम्मवम्भंतरो त्ति अंतरप्पा ।

इसलिये विष्णु है । स्वतः ही उत्पन्न हुआ है, इसलिये स्वयम्भू है । संसार अवस्थामें इसके  
शरीर पाया जाता है, इसलिये शरीरी है । मनु ज्ञानको कहते हैं । उसमें यह उत्पन्न हुआ है,  
इसलिये मानव है । स्वजनसंयन्धी भिन्न आदि वर्गमें आसक्त रहता है, इसलिये सत्ता है । चार  
गतिरूप संसारमें उत्पन्न होता है, इसलिये जन्तु है । इसके मानकगण पाई जाती है, इसलिये  
मानी है । इसके मायाकगण पाई जाती है इसलिये मायी है । इसके तीन योग होते हैं, इसलिये  
योगी है । अतिसूक्ष्म देह मिलनेसे संकुचित होता है इसलिये संकुट है । संपूर्ण लोकाकारको  
व्याप्त करता है, इसलिये असंकुट है । लोकालोकरूप क्षेत्रज्ञो और अपने स्वरूपको जानता है,  
इसलिये क्षेत्रज्ञ है । आठ कर्मके भीतर रहता है इसलिये अन्तरात्मा है ।

१ यद्यपि व्यवहारेण सर्वशास्त्र मते मन माति परिणमति, तथापि निश्चयेन सप्त मन्त्रिभेदेन मानदर्शन-  
स्वरूपेण मनवति परिणमति इति सारम्भू । गो जी., जी प्र, टी ३६६.

२ व्यवहारेण औदारिकदिशरारिसस्यास्ताति शरीरी, निश्चयेनाशरीर- । गो जी, जी प्र, टी ३६६

३ व्यवहारेण मानत्रादियर्यापणितो मानव उपलक्षणधारक त्रिंद्-देव्य । निश्चयेन मनो ज्ञाने मन  
मानव । गो जी, जी प्र, टी ३६६

४ व्यवहारेण सज्जनमि तादिपरिमिश्रेणु मज्जतीति सत्ता, निश्चयेनामत्ता । गो जी, जी प्र, टी ३६६

५ व्यवहारेण चतुर्गतिगमारे नानायोनित्तु जानत इति जन्तु मसारी-यर्थ । निश्चयेनाजन्तु । गो जी,  
जी प्र, टी ३६६

६ व्यवहारेण मानोऽहोऽहोऽहोऽहो मज्जतीति मानो, निश्चयेनामानो । गो जी, जी प्र, टी ३६६

७ व्यवहारेण नाया वचना अस्यान्तीति मायी, निश्चयेनामायी । गो जी, जी प्र, टी ३६६

८ व्यवहारेण योग कयवाइसन कर्मास्सास्तीति योगी, निश्चयेनायोगी । गो जी, जी प्र, टी ३६६

९, १० व्यवहारेण सूक्ष्मनिर्गोदलव्यपर्याप्तारसर्वलोकव्यशरीरप्रमाणेन सकुटति सक्कु-विसम्भेदो भवतीति समुद्र,  
समुद्रते सर्वलोक व्याप्नोतीति अयमुट्ट । निश्चयेन प्रदेससहरावसर्पणाभावाद्दुष्पत्त निश्चिदुनचरसशरीरप्रमाण  
इत्यर्थ । गो जी, जी प्र, टी ३६६

११ नयद्वयेन क्षेत्र लोकालोक स्वस्वरूप च जानतीति क्षेत्रज्ञ । गो जी, जी प्र, टी ३६६

१२ व्यवहारेण अष्टकर्मण्यन्तस्वचित्स्वमानत्वात्, निश्चयेन चेतन्यान्तस्वचित्स्वमानत्वात् अन्तरात्मा ।  
गो जी, जी प्र, टी ३६६



एतथ किमुप्यायपुत्रादो, किमगोणियादो ? एवं पुत्रा सन्वेमि । गो उप्पाय-  
पुत्रादो, एवं वारणा सन्वेसि । अगोणियादो । तस्स अगोणियस्स पंचविहो उवकमो,  
आशुपुत्री गामं पमाणं वत्तवदा अत्थाहियारो चेदि । आशुपुत्री तिविहो, पुत्राशुपुत्री  
पच्छाशुपुत्री जत्थतत्थाशुपुत्री चेदि । एतथ पुत्राशुपुत्रीए गणिज्जमाणे विटियादो,  
पच्छाशुपुत्रीए गणिज्जमाणे वेरसमादो, जत्थतत्थाशुपुत्रीए गणिज्जमाणे अगोणियादो ।  
अंगाणमग्ग-पदं वण्णेदि ति अगोणियं गुणणामं । अक्खर-पद-संधाद-पडिचिन्-अणि-  
योपहारोहि संखेज्जमत्थदो अणंतं । वत्तवदा ससमयवत्तवदा ।

अत्थाधियारो चोहसविहो । तं जहा, पुचन्ति अवरते धुवे अदुवे चयणलदो अदुवमं  
पणिधिकल्पे अट्टे भोम्मावयादीए सन्वेट्टे कप्पणिज्जाणे तीदि अणापय-काले मिज्जाए  
वज्जाए ति चोहस वत्थुणि' । एतथ किं पुत्रादो, किं अवरत्तादो ? एवं पुत्रा सन्वेमि  
कायव्वा । गो पुत्रादो गो अवरत्तादो, एवं वारणा सन्वेमि कायव्वा । चयणलदोदो ।

इस जीवस्थान शास्त्रमें क्या उत्पादपूर्वसे प्रयोजन है. क्या अप्रायणीयपूर्वसे प्रयोजन  
है? इसतरह सबके विषयमें पुत्रा करनी चाहिये। यहां पर न तो उत्पादपूर्वसे प्रयोजन है, और  
न दूसरे पूर्वसे प्रयोजन है इसतरह सबका निषेध करते यहां पर अप्रायणीयपूर्वसे प्रयोजन है,  
इसतरहका उत्तर देना चाहिये।

उस अप्रायणीयपूर्वके पात्र उपक्रम है, आशुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वत्तवदा और अर्थो-  
धिकार। पूर्वोत्पूर्वी, पदवादाशुपूर्वी और यथातयाशुपूर्वीके भेदसे आशुपूर्वी तीन प्रकारकी है।  
यहां पर पूर्वोत्पूर्वीसे गिनती करते पर दूसरेसे, पदवादाशुपूर्वीसे गिनती करते पर तेरहवसे  
और यथातयाशुपूर्वीसे गिनती करते पर अप्रायणीयपूर्वसे प्रयोजन है। अंगोंके प्रथ अर्थो-  
प्रधानभूत पदार्थोंका वर्णन करनेवाला होनेके कारण 'अप्रायणीय' यह गौल्यनाम है। अक्षर,  
पद, संघात, प्रतिपत्ति और अनुयोगरूप द्वाराकी अपेक्षा संघात और अर्थकी अपेक्षा अनन्तरूप  
है। इसमें स्वसमयका ही कथन किया गया है, इसलिये स्वसमयवत्तवदा है।

अप्रायणीयपूर्वके अर्थोधिकार चोत्रह प्रकारके हैं। ये इसप्रकार हैं, पूर्वोत्त अपरान्त  
धुव, अधुव, चयनलसिय, अर्थोपम, प्रणधिकल्प अर्थ, भोम, वत्तादिक, सयर्थो, कल्पवियोग,  
अतीतकालमें सिद्ध और बद्ध, अनागतकालमें सिद्ध और बद्ध। इनमेंसे यहां पर क्या पूर्वोत्तसे  
प्रयोजन है, क्या अपरान्तसे प्रयोजन है? इसतरह सबके विषयमें पुत्रा करनी चाहिये। यहां  
पर पूर्वोत्तसे प्रयोजन नहीं, अपरान्तसे प्रयोजन नहीं, इत्यादि रूपसे सबका निषेध कर देना  
चाहिये। किन्तु चयनलसियसे यहां पर प्रयोजन है इसप्रकार उत्तर देना चाहिये। चयनलसियका

'पूर्वोत्त' अर्थात् धुवमधुवचयनलसियनामनि । अधुव मन्विमि तासं भोमावयाए (') व ॥  
मर्थोपम-पत्तोणं बालवतीत वनागत मत्तर । गिदियपाए व तथा चार्दो गत्तो गिदियम ॥ २ म ५ ६-७.

तस्म उपक्रमो पंचविहो, आशुपुत्री गामं पमाणं वत्तवदा अत्थाहियारो चेदि ।  
तत्थ आशुपुत्री तिविहा, पुत्राशुपुत्री पच्छाशुपुत्री जत्थतत्थाशुपुत्री चेदि । एतथ  
पुत्राशुपुत्रीए गणिज्जमाणे पंचमादो, पच्छाशुपुत्रीए गणिज्जमाणे दनमादो, जत्थ-  
तत्थाशुपुत्रीए गणिज्जमाणे चयणलदोदो । गामं चयण-नीहिं लद्धि-विहिं च वण्णेदि  
तेण चयणलदि ति गुणणामं । पमाणमक्खर-पद-संधाद-पडिचिन्-अणियोपहारोहि  
संखेज्जमत्थदो अणंतं । वत्तवदा ससमयवत्तवदा । अत्थाधियागं नीमट्ठिविहो ।  
एतथ किं पदम-पाहुडादो, किं तिदिय-पाहुडादो ? एवं पुत्रा सन्वेमि जेयव्वा । गो पदम-  
पाहुडादो गो तिदिय-पाहुडादो, एवं वारणा सन्वेमि जेयव्वा । चउत्थ-पाहुडादो ।  
तस्स उपक्रमो पंचविहो, आशुपुत्री गामं पमाणं वत्तवदा अत्थाहियारो चेदि । तत्थ  
आशुपुत्री तिविहा, पुत्राशुपुत्री पच्छाशुपुत्री जत्थतत्थाशुपुत्री चेदि । पुत्राशुपुत्रीए  
गणिज्जमाणे चउत्थादो, पच्छाशुपुत्रीए गणिज्जमाणे मत्तारममादो, जत्थतत्थाशुपुत्रीए  
गणिज्जमाणे इम्मपयडिपाहुडादो । गामं इम्मालं पयडि-मत्तं वण्णेदि तेण इम्म-  
पयडिपाहुडे ति गुणणामं । जेयनकभिनपाहुडे ति नि तस्म विदियं गाममलिय ।

उपक्रम पात्र प्रकारका है, आशुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वत्तवदा और अर्थोधिकार। पूर्वोत्पूर्वी,  
पदवादाशुपूर्वी और यथातयाशुपूर्वीके भेदसे आशुपूर्वी तीन प्रकारकी है। उन तीनोंमेंसे, यहां-  
पर पूर्वोत्पूर्वीसे गिनती करते पर पांचवसे अर्थोधिकारसे, पदवादाशुपूर्वीसे गिनती करते पर  
दसवसे अर्थोधिकारसे और यथातयाशुपूर्वीसे गिनती करते पर चयनलसिय नामके अर्थो-  
धिकारसे प्रयोजन है। यह अर्थोधिकार चयनलसिय और लसियवियोग वर्णन करता है,  
इसलिये चयनलसिय यह गौल्यनाम है। अक्षर, पद, संघात, प्रतिपत्ति और अनुयोगरूप द्वाराकी  
अपेक्षा संघात तथा अर्थकी अपेक्षा अनन्तप्रमाण है। स्वसमयका कथन करनेवाला होनेके  
कारण यहां पर स्वसमयवत्तवदा है। वत्तवदासे अर्थोधिकार भीम प्रकारके है। उनमेंसे  
यहां सेना प्रथम प्रयोजन है, क्या दूसरे प्रयोजन है? इसतरह सबके  
विषयमें पुत्रा करनी चाहिये। यहां पर प्रथम प्रयोजनसे प्रयोजन नहीं है, दूसरे प्रयोजनसे प्रयो-  
जन नहीं है, इसप्रकार सबका निषेध कर देना चाहिये। किन्तु यहां पर चौथे प्रयोजनसे प्रयोजन  
है, येना उत्तर देना चाहिये।

उत्तका उपक्रम पात्र प्रकारका है, आशुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वत्तवदा और अर्थोधिकार।  
उनमेंसे, पूर्वोत्पूर्वी, पदवादाशुपूर्वी और यथातयाशुपूर्वीके भेदसे आशुपूर्वी तीन प्रकारकी है।  
यहां पर पूर्वोत्पूर्वीसे गिनती करते पर चौथे प्रयोजनसे, पदवादाशुपूर्वीसे गिनती करते पर दसवसे  
प्रयोजनसे और यथातयाशुपूर्वीसे गिनती करते पर कर्मप्रवृत्तिप्रयोजनसे प्रयोजन है। यह कर्मोंकी  
प्रवृत्तियोंके स्वरूपका कथन करता है, इसलिये कर्मप्रवृत्तिप्रयोजन यह गौल्यनाम है। इसका  
'वेत्ताहृत्तव्याशुत्त' यह दूसरा नाम भी है। कर्मोंके उत्तरको वेत्ता कहते हैं। उत्तका यह

वेद्यना कस्मान्मुद्रयो तं कस्मिन् गिरवसेसं वपेदि, अदो वेद्यकसिणपाहुडमिदि पद्ममि गुणणामसेव । पमाणमक्खर-पय-संधाय-पडिवत्ति-अणियोगद्वारेहि संखेज्ज-मत्यदो अणंतं । वत्तवं ससमयो । अत्थाहियारो चउवीसदिविहो । तं जहा, कदी वेदणाए फासे कस्मे पयडी सुबंधणे गिबंधणे पक्कमे उवकमे उदए मोक्खे संकमे लेस्सा लेस्सायम्मे लेस्सापरिणामे सादससादे दीहि रहस्से भवधारणीए पोगलत्ता णिधत्त-मणिधत्तं णिकाचिदमणिक्काचिदं कम्मट्ठिदी पच्चिमन्नबंधं ति । अप्पावहुंगं च सवत्थ, जेण चउवीसण्हमणियोगद्वाराणं साहारणो तेण पुह अहियारो ण होदि ति । एत्थ किं कदीदो, किं वेद्यनादो ? एवं पुच्छा सवत्थ कायन्वा । गो कदीदो गो वेद्यनादो, एवं वारणा सव्वेसिं णेयन्वा । बंधनादो । तस्स उवकमो पंचविहो, आणुपुन्वी नामं पमाणं वत्तवदा अत्थाहियारो चेदि । तत्थ आणुपुन्वी तिविहा, पुव्वाणुपुन्वी पच्छाणुपुन्वी जरथतत्थाणुपुन्वी चेदि । तत्थ पुव्वाणुपुन्वीए गणिज्जमाणे छट्टादो, पच्छाणुपुन्वीए

निरयोपपरूपसे वर्णन करता है, इसलिये वेदनादृक्त्वमाभूत यह भी गौण्यनाम है । यह अक्षर, पद, सधान, प्रतिपत्ति और अनुयोगरूप द्वारोंकी अपेक्षा सख्यातप्रमाण और अर्थकी अपेक्षा अन्तप्रमाण है । स्वस्मयका ही कृत्य करनेवाला होनेके कारण इसमें स्वस्मयवक्तव्यता है ।

कर्मप्रकृतिप्राम्भुतके अर्थधिकार चौवीस प्रकारके हैं वे इसप्रकार हैं । कृति, वेदना, स्पर्श, कर्म, प्रकृति, सुबन्धन, निबन्धन, प्रक्रम, उपक्रम, उदय, मोक्ष, संक्रम, लक्ष्या, लक्ष्याकर्म, लक्ष्यापरिणाम, सातअमात, दीर्घहस्व, भवधारणीय, पुद्गलत्व, निधत्त-अनिधत्त, निकाचित अनिकाचित, कर्मस्थिति और पञ्चिमस्सकथ । इन चौवीस अधिकारोंमें अल्पबहुत्व लगा लेना चाहिये, क्योंकि, चौवीस ही अधिकारोंमें अल्पबहुत्व साधारण अर्थात् समानरूपसे है । इसलिये अल्पबहुत्वनामका पृथक् अधिकार नहीं हो सकता है ।

यहां पर क्या कृतिसे प्रयोजन है, क्या वेदनासे प्रयोजन है ? इसतरह सन अधि-कारोंके विषयमें पृच्छा करनी चाहिये । यहाँ पर न तो कृतिसे प्रयोजन है, न वेदनासे ही प्रयोजन है, इसतरह समका नियेध कर देना चाहिये । किन्तु बन्धन अधिकारसे प्रयोजन है, इसतरह उत्तर देना चाहिये । उस बन्धन नामके अधिकारका उपक्रम पांच प्रकारका है, आनु-पूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता और अर्थधिकार । उनमेंसे, पूर्वानुपूर्वी, पश्चानुपूर्वी और यथानयानुपूर्वीके भेदसे आनुपूर्वी तीन प्रकारकी हैं । उन तीनोंमेंसे, पूर्वानुपूर्वीसे गिननेपर

१ पानान्नुत्पूर्वया इतराज्यागानामानि । इतिवदने तथेयं स्वर्शनकर्मं प्रवृत्तिमेव ॥ यथनन्तिसधन-परमाप न्यमथा-सुरामीमा । सन्मन्देश च तथा लेशयाया नमोपगामो ॥ सातममात दीवं न्दस्न भव भागीय-यात् । पुण्णवामनाग च नि त्ममनिभत्तममित्तोनि ॥ गिन्नात्तिसविकानिपण्य त्मीथितिसपथिसरूपो । अप्पावहुत्ता ते वररात्तां न्नुत्तिसम् ॥ ६ म १ ९

गणिज्जमाणे एरणवीसदिमादो, जरथतत्थाणुपुन्वीए गणिज्जमाणे बंधनादो । नामं बंध-वण्णणादो बंधगो ति गुणणामं । पमाणमक्खर-पय-संधाद-पडिवत्ति-अणियो-गद्वारेहि संखेज्जमत्यदो अणंतं । वत्तवदा ससमयवत्तवदा । अत्थाहियारो चउव्विहो । तं जहा, बंधो बंधगो बंधगिज्जं बंधविधाणं चेदि । एत्थ किं बंधादो ? एवं पुच्छा सव्वेसिं कायन्वा । गो बंधादो गो बंधगिज्जो । बंधनादो बंधविधाणादो च । एत्थ बंधगे ति अहियारस एक्कारस अणियोगद्वाराणि । तं जहा, एगजीवेण मामिचं एगजी-वेण कालो एगजीवेण अंतरं गाणज्जीवेहि भंगविचयो दव्वपमाणानुगमो खेत्ताणुगमो पोसणानुगमो गाणज्जीवेहि कालानुगमो गाणज्जीवेहि अंतराणुगमो भागाभागाणु-गमो अप्पावहुगाणुगमो चेदि । एत्थ किं एगजीवेण सामिचादो ? एवं पुच्छा सव्वेसिं । गो एगजीवेण सामिचादो, एवं वारणा सव्वेसिं । पंचमादो । दव्वपमाणोदो दव्वपमाणा-णुगमो गिग्गदो ।

छटे अधिकारसे, पश्चादानुपूर्वीसे गिननेपर उन्नीसवें अधिकारसे और यथातथापुपूर्वीसे गिननेपर बन्धन नामके अधिकारसे प्रयोजन है । यह बन्धन नामका अधिकार बन्धका वर्णन करता है, इसलिये इसका 'बन्धन' यह गौण्यनाम है । यह अक्षर, पद, सधात, प्रतिपत्ति और अनुयोगरूप द्वारोंकी अपेक्षा सख्यातप्रमाण और अर्थकी अपेक्षा अन्तप्रमाण है । स्वस्मयका वर्णन करनेवाला होनेसे इसमें स्वस्मयवक्तव्यता है ।

इसके अर्थधिकार चार प्रकारके हैं, बन्ध, वन्धक, बन्धनीय और वन्धवियान । यहापर क्या बन्धसे प्रयोजन है ? इत्यादि रूपसे चारों अधिकारोंके विषयमें पृच्छा करनी चाहिये । यहापर बन्धसे प्रयोजन नहीं है और बन्धनीयसे भी प्रयोजन नहीं है, किन्तु बन्धक और बन्धवियानसे यहापर प्रयोजन है ।

इन वन्ध आदि चार अधिकारोंमेंसे बन्धक इस अधिकारके ग्यारह अनुयोगद्वार है । वे इसप्रकार हैं, एक जीवकी अपेक्षा स्वामित्वानुगम, एक जीवकी अपेक्षा कालानुगम, एक जीवकी अपेक्षा अन्तरानुगम, नाना जीवोंकी अपेक्षा भंगविचयानुगम, द्रव्यप्रमाणानुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शानुगम, नाना जीवोंकी अपेक्षा कालानुगम, नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तरानुगम, भागाभागाणुगम और अल्पबहुत्वानुगम । यहापर क्या एक जीवकी अपेक्षा स्वामित्वानुगमसे प्रयोजन है ? इत्यादि रूपसे ग्यारह अनुयोगद्वारोंके विषयमें पृच्छा करनी चाहिये । यहापर एक जीवकी अपेक्षा स्वामित्वानुगमसे प्रयोजन नहीं है, इत्यादि रूपसे सबका नियेध भी कर देना चाहिये । किन्तु यहाँ पांचवे द्रव्यप्रमाणानुगमसे प्रयोजन है, इसप्रकार उत्तर देना चाहिये ।

इस जीवस्थान शास्त्रमें जो द्रव्यप्रमाणानुगम नामका अधिकार है, वह इस बन्धक नामके अधिकारके द्रव्यप्रमाणानुगम नामके पांचवे अधिकारसे निकला है ।







प्रथमतः द्रव्याण्ययोगस्य वि किं ण गहनं कीरदि चि उत्ते ण, मिच्छइडि-  
आदि-गुणद्राणेदि निणा एयस्य वंशद्राणस्य वंशया जीना एचिया इदि सामणेण वृत्त-  
नादो । मंणे उच-द्रव्याण्ययोगस्य गहनं कीरदि, तस्य वंशया मिच्छइड्डी एचिया  
सामणादिया एचिया इदि उचचादो । कथमजोगी-गुणद्राणस्य अवंशयास्य दब्ब-संखा  
पक्की पदि चि ण एत दोमो, भूद-पुब्ब-नाडमस्सिलण तस्य भणण-संशयादो । जीव-  
परि-यंत-वंशयासिलण उचमिदि वा । एत भासस्य वि वत्तवं । एवं जीवद्राणस्य  
अद्र अणियोगादा-परुणं कंदि ।

प्रकृतिस्थान अधिकारमें कहे गये द्रव्यानुयोगका प्रवृत्त इत जीवस्थानमें क्यों नहीं  
किया है । अर्थात् प्रकृतिस्थान अधिकारके सदादि त्व अनुयोगोंमेंसे जिसप्रकार जीवस्थानके  
व्यतिरिक्त अनुयोगद्रावोंकी उत्पत्ति गतलाई है, उसीप्रकार प्रकृतिस्थानाधिकारके द्रव्यानु-  
योगोंमें जीवस्थानके द्रव्यानुयोगकी उत्पत्तिका कथन क्यों नहीं किया गया है । इसप्रकार की  
ज्ञान करने पर आचार्य उचर देते हैं कि ऐसी शंका करना ठीक नहीं है, क्योंकि, प्रकृति-  
स्थानके द्रव्यानुयोग अधिकारमें मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानोंकी अपेक्षाके विना ' इस वन्ध-  
स्थानके तत्त्व जीव इतने हैं ' ऐसा केवल सामान्यरूपसे कथन किया गया है । और वन्धक  
अनिवारके द्रव्यानुयोग प्रकरणमें इस प्रकृतिस्थानके वन्धक मिथ्यादृष्टि जीव इतने हैं, सासादन  
सम्यग्दृष्टि जीव इतने हैं ऐसा विशेषरूपसे कथन किया गया है । इसलिये वन्धक अधिकारमें  
कहे गये द्रव्यानुयोगका प्रवृत्त इस जीवस्थानमें किया है । अर्थात् वन्धक अधिकारके द्रव्यानुगम  
प्रकरणसे जीवस्थानका द्रव्यप्रमाणानुगम प्रकरण निकला है ।

शंका - अयोगी गुणस्थानमें कर्मप्रकृतियोंका वन्ध नहीं होता है, इसलिये उनके कर्म-  
प्रकृतिस्थानकी अपेक्षा द्रव्यसंख्या कैसे नहीं जावेगी ?

समाधान - यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, भूतपूर्व न्यायका आश्रय लेकर अयोगी  
गुणस्थानमें भी द्रव्यमत्प्राप्ता कथन संभव है । अर्थात् जो जीव पहले मिथ्यादृष्टि आदि  
गुणस्थानोंमें प्रकृतिस्थानोंके वन्धक थे वे ही अयोगी हैं । इसलिये अयोगी गुणस्थानमें भी  
द्रव्यमत्प्राप्ता प्रतिपादन किया जा सकता है । अथवा, जीवके सत्वरूप प्रकृतिस्थानका आश्रय  
लेकर अयोगी गुणस्थानमें द्रव्यसंख्याका प्रकरण किया गया है ।

भावानुगमका कथन भी इसीप्रकार समझ लेना चाहिये ।

विशेषार्थ - जीवस्थानकी भावरूपणा प्रकृतिस्थानके भावानुगममेंसे न निकल कर  
एकैकोत्तरप्रकृतिस्थानके जो चौबीस अधिकार हैं उनके तेरहसर्व भावानुगममेंसे निकली है ।  
इसका कारण यह है कि प्रकृतिस्थानके भावानुगममें भावोंका सामान्यरूपसे कथन है और  
एकैकोत्तरप्रकृतिस्थानके भावानुगममें भावोंका विशेषरूपसे कथन है । इसतरह जीवस्थानके  
भावा अनुयोगद्रावोंका निरूपण किया ।

तदो द्विदिवंधो दुविहो, मूलपरयडिद्विदिवंधो उत्तरपरयडिद्विदिवंधो चेदि । तस्य जो सो  
मूलपरयडिद्विदिवंधो सो थपो । जो सो उत्तरपरयडिद्विदिवंधो तस्य चउवीम अणियोगदा-  
राणि । तं जहा, अद्राछेदो तव्वंधो णोसव्वंधो उक्कससंधो अणुक्कससंधो जहणवंधो  
अजहणवंधो सादियवंधो अणादियवंधो वुवंधो अद्रुवंधो वंधसागित्तविचयो वंधकालो  
बंधंतरं बंधसणियासो णाणाजीवेहि भंगविचयो भागाभागाणुगमो परिमाणानुगमो  
खेचानुगमो पोसणानुगमो कालानुगमो अंतराणुगमो भातानुगमो अप्पानहुगणानुगमो  
चेदि । तस्य अद्राछेदो दुविहो, जहणगडिदिअद्राछेदो उक्कसडिदिअद्राछेदो चेदि ।  
जहणगडिदिअद्राछेदादो जहणगडिदी णिगदा । उक्कसडिदिअद्राछेदादो उक्कसडिदी  
णिगदा । पुणो सुत्तादो सम्मत्तुप्पची णिगया । वियाहपणचीदो गदिरागदी णिगदा ।  
संपहि पुवं उचपरयडिसमुक्कित्तणा द्वाणसमुक्कित्तणा तिण्णिण महाइडया एदाणं पंचण्ह-  
मुनरि संपहि पुंचुत्त-जहणगडिदिअद्राछेदं उक्कसडिदिअद्राछेदं सम्मत्तुप्पत्तिं गदि-  
रागदिं च पक्कित्ते चूलियाए णव अहियारा मंति । एदं सव्वमति मणेण अनहारिय  
' एत्तो ' इदि उचं भयवदा पुण्फर्यतेण ।

स्थितिवन्ध दो प्रकारका है, मूलप्रकृतिस्थितिवन्ध और उत्तरप्रकृतिस्थितिवन्ध । उचर्भने  
मूलप्रकृतिस्थितिवन्धका वर्णन स्थितिकारके जो उत्तरप्रकृतिस्थितिवन्धके चौबीस अनुयोगद्वार  
हैं उनका कथन करते हैं । वे इसप्रकार हैं, अर्धच्छेद, सर्ववन्ध, नोसर्ववन्ध, उत्कृष्टवन्ध,  
अनुकृष्टवन्ध, अवन्धवन्ध, अजघ्नप्रवन्ध, सादिवन्ध, अनादिवन्ध, भुववन्ध, अधुववन्ध, नन्ध-  
स्वामित्तविचय, वन्धकाल, तन्वात्त, वन्धसन्निर्गर्प, नाना जीवोंकी अपेक्षा भगविचय, भागा-  
भागाणुगम, परिमाणानुगम, क्षेत्रानुगम, रपरानुगम, कालानुगम, अन्तरानुगम, भावानुगम  
और अल्पबहुत्वानुगम । इनमें, अर्धच्छेद दो प्रकारका है, जघन्यस्थितिवन्ध-अर्धच्छेद और उत्कृष्ट-  
स्थितिवन्ध-अर्धच्छेद । इनमें जघन्यस्थितिवन्ध-अर्धच्छेदसे जघन्यस्थितिकाली निकली है और उत्कृष्टस्थिति-  
अर्धच्छेदसे उत्कृष्टस्थितिकाली है । सूत्रसे सम्यक्त्वोत्पत्ति नामका अधिकार निकला है और  
व्याख्याप्रबन्धसे गति आगति नामका अधिकार निकला है ।

अब नौ चूलिकाओंका उत्पत्तिक्रम बतते हैं, पहले जो एकैकोत्तरप्रकृति अगिकारके  
समुत्कीर्तना नामके प्रथम अधिकारसे प्रकृतिसमुत्कीर्तना, स्थानसमुत्कीर्तना और तीन महा-  
वृण्डोंके निकलनेका उल्लेख कर आये हैं, उन पाँचोंमें अभी कहे गये जघन्यस्थितिवन्ध-अर्धच्छेद,  
उत्कृष्टस्थितिवन्ध-अर्धच्छेद, सम्यक्त्वोत्पत्ति और गति-आगति इन चार अधिकारोंके मिला देने पर  
चूलिकाके नौ अधिकार हो जाते हैं । इस समस्त कथनको मनमें निश्चय करके भगवान् पुण-  
वन्तने ' एत्तो ' इत्यादि सूत्र कहा ।

‘इमेसि’ एतेषाम् । न च प्रत्यक्षनिर्देशोऽनुपपन्नः आगमाहितसंस्कारास्वाचार्य-  
स्यापरोक्षचतुर्दशभावजीवसमासस्य तदविरोधात् । जीवाः समस्यन्ते एष्विति जीव-  
समासाः । चतुर्दश च ते जीवसमासाश्च चतुर्दशजीवसमासाः । तेषां चतुर्दशानां  
जीवसमासानां चतुर्दशगुणस्थानानामित्यर्थः । तेषां मार्गणा गवेषणमन्वेषणमित्यर्थः ।  
मार्गणा एवार्थः प्रयोजनं मार्गणार्थस्तस्य भावो मार्गणार्थता तस्यां मार्गणार्थतायाम् ।  
तस्यामिति तत्र । ‘इमानि’ इत्यनेन भावमार्गणास्थानानि प्रत्यक्षतीभूतानि निर्दिश्यन्ते ।  
नार्थमार्गणस्थानानि तेषां देशकालस्वभावविप्रकृष्टानां प्रत्यक्षतानुपपत्तेः । तानि च  
मार्गणस्थानानि चतुर्दशैव भवन्ति, मार्गणस्थानसंख्याया न्यूनाधिकभावप्रतिषेधफल  
एवकारः । किं मार्गणं नाम ? चतुर्दश जीवसमासाः सदादिविशिष्टाः मार्ग्यन्तेऽस्मिन्ननेन  
वेति मार्गणम् । उक्तं च —

‘एतो’ इत्यादि सूत्रमें जो ‘इमेसि’ पद आया है उससे जो प्रत्यक्षीभूत पदार्थका  
निर्देश होता है वह अनुपपन्न नहीं है, क्योंकि, जिनकी आत्मा आगमाभ्याससे संस्कृत है ऐसे  
आचार्यके भावरूप चौदह जीवसमास प्रत्यक्षीभूत हैं । अतएव ‘इमेसि’ इस पदके प्रयोग  
करनेमें कोई विरोध नहीं आता है । अनन्तान्त जीव और उनके भेद-प्रमेदोंका जिनमें संग्रह किया  
जाय उन्हें जीवसमास कहते हैं । वे जीवसमास चौदह होते हैं । उन चौदह जीवसमासोंसे  
यहां पर चौदह गुणस्थान विवक्षित हैं । अर्थात् जीवसमासका अर्थ यहाँ पर गुणस्थान लेना  
चाहिये । मार्गणा, गवेषणा और अन्वेषण ये तीनों शब्द एकार्थवाची हैं । मार्गणारूप प्रयोजनको  
मार्गणार्थ कहते हैं । मार्गणार्थ अर्थात् मार्गणारूप प्रयोजनके भाव अर्थात् विशेषताको मार्ग-  
णार्थता कहते हैं । उस मार्गणारूप प्रयोजनकी विवक्षा होने पर, यहाँ पर इसी अर्थमें ‘तत्थ’  
यह पद आया है । ‘इमानि’ इस पदसे प्रत्यक्षीभूत भावमार्गणास्थानोंका ग्रहण करना चाहिये ।  
द्रव्यमार्गणाओंका ग्रहण नहीं किया गया है, क्योंकि, द्रव्यमार्गणाएं देश, काल और स्वभावकी  
अपेक्षा दूरवर्ती हैं । अतएव अल्पज्ञानियोंको उनका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता है । वे मार्गणा-  
स्थान भी चौदह ही होते हैं । यहाँ सूत्रमें जो ‘एव’ पद दिया है उसका फल या प्रयोजन  
मार्गणास्थानकी संख्याके न्यूनाधिकभावका निषेध करना है ।

शंका - मार्गणा किसे कहते हैं ?

समाधान - सत्, संख्या आदि अनुयोगद्वारोंसे युक्त चौदह जीवसमास जिसमें या  
जिसके द्वारा खोजे जाते हैं उसे मार्गणा कहते हैं । कहा भी है—

१ कथमियं ‘जीवममाम’ इति सहा गुणस्थानस्य जाता ? इति चेच्छ्रीवा समस्यन्ते सक्षिप्यन्ते एष्विति  
जीवसमासा । अथवा जीवा सम्यगास्ते एष्विति जीवसमासा इत्यत्र प्रकरणसामर्थ्येन गुणस्थानान्येव जीवसमास-  
श्चेदोच्यते । गो जी, जो प्र, धी १०

जाहि व जासु व जीवा मगिज्जते जहा तथा दिहा ।  
ताओ चोइस जाणे सुदणणे मगणा होति’ ॥ ८३ ॥

तं जहा ॥ ३ ॥

‘तच्छब्द पूर्वप्रक्रान्तपरामर्शी’ इति न्यायात् ‘तत्’ मार्गणविधानं । ‘जहा’ यथेति  
यावत् । एवं पृथगतः शिष्यस्य सन्देहापोहनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

गइ इंदिए काए जोगे वेदे कसाए णणे संजमे दंसणे लेस्सा  
भभिय सम्मत सणि आहारए चेदि ॥ ४ ॥

गताविन्द्रिये काये योगे वेदे कषाये ज्ञाने संयमे दर्शने लेख्यायां भव्ये सम्यक्त्वे  
सज्ञिनि आहारे च जीवसमासाः सृण्यन्ते । ‘च’ शब्दः प्रत्येकं परिसमाप्यते समुच्चयार्थः ।  
‘इति’ शब्दः समाप्तौ वर्तते । सप्तमीनिर्देशः किमर्थः ? तेषामधिकरणत्वप्रतिपादनार्थः ।

श्रुतज्ञान अर्थात् द्रव्यश्रुतरूप परमगममें जीव पदार्थ जिसप्रकार देसे गये हैं उसी-  
प्रकारसे वे जिन नारकत्वादि पर्यायोंके द्वारा अथवा जिन नारकत्वादित्प पर्यायोंसे खोजे जाते  
हैं उन्हें मार्गणा कहते हैं । और वे चौदह होती हैं ऐसा जानो ॥ ८३ ॥  
वे चौदह मार्गणास्थान कौनसे हैं ? ३ ॥

‘तत्’ शब्द पूर्व प्रकरणमें आये हुए अर्थका परामर्शक होता है । इस न्यायके  
अनुसार ‘तत्’ इस शब्दसे मार्गणाओंके भेदोंका ग्रहण करना चाहिये । ‘जहा’ इस पदका  
अर्थ ‘जैसे’ होता है । वे जैसे ? इसतरह पूछनेवाले शिष्यके सन्देहको दूर करनेके लिये आगेका  
सूत्र कहते हैं ।

गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेख्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व,  
संज्ञी और आहार ये चौदह मार्गणाएं हैं और इतनें जीव खोजे जाते हैं ॥ ४ ॥

गतिमें, इन्द्रियमें, कायमें, योगमें, वेदमें, कषायमें, ज्ञानमें, संयममें, दर्शनमें, लेख्यामें,  
भव्यत्वमें, सम्यक्त्वमें, संज्ञीमें और आहारमें जीवसमासोंका अन्वेषण किया जाता है । इस  
सूत्रमें ‘च’ शब्द समुच्चयार्थक है, इसलिये प्रत्येक पदके साथ उसका संबन्ध कर लेना चाहिये ।  
और ‘इति’ शब्द समाप्तिरूप अर्थमें है । जिससे यह तात्पर्य निकलता है कि मार्गणाएं चौदह  
ही होती हैं ।

१ गो जी १४२ गायदिमार्गणा यदा एकजीवस्य नारकत्वादिपर्यायस्वरूपा विवक्षितास्तदा ‘यामि’  
इतिस्थभूतलक्षणे तृतीया निमित्ति । यदा एकद्रव्य प्रति पर्यायणामधिकरणता निवक्ष्यते तदा ‘यामु’  
इत्यधिकरणे सप्तमी निमित्ति, विवक्षावशा कारकप्रवृत्तिरिति न्यायस्य सङ्गत्वार । जी प्र टी श्रुत ज्ञातेजनेति  
श्रुतज्ञान, वर्णपदवाच्यरूप द्रव्यश्रुत शुभशिष्यप्रशिक्षणस्य पर्यायणमस्य अत्रिच्छिन्नप्रवाहेण प्रवर्तमानत्वार । तत्र  
, यथा दृष्टास्तथा जानीहि’ इति वचनेन श्रावकारस्य कालदोषात्प्रमादाद्वा यस्मलिन तन्मुखा परमागमात्समारेण  
व्याख्यातार अन्वतारे वाविक्रद्वमेव कस्तुस्वरूप श्रुतीति प्रदाश्रितमाचये । म प्र टी

तृतीयानिर्देशोऽप्यविरुद्धः स कथं लभ्यते ? न, देशामर्थरूपाविर्देशस्य । यत्र च गत्यादौ विभक्तिर्न श्रूयते तत्रापि ' आइ-मज्जत-वण्ण-सर-लोवो ' इति लुसा विभक्तिरित्यभ्युह्यम् । अहवा 'लेस्सा-भविय सम्मत्त-सण्णि-आहारए' चेदि एकपदत्वान्नावायवविभक्तयः श्रूयन्ते ।

अर्थे स्याज्जगति चतुर्भिर्मार्गणा निष्पाद्यमानोपलभ्यते । तद्यथा, मृगयिता मृग्यं मार्गणं मार्गणोपाय इति । नात्र ते सन्ति, ततो मार्गणमनुपपन्नमिति । नैप दोष, तेपामप्यत्रोपलम्भात् । तद्यथा, मृगयिता भव्यणुडरीकः तत्त्वार्थश्रद्धालुर्जीव, चतुर्दशगुण-

शंका - सूत्रमें गति आदि प्रत्येक पदके साथ सप्तमी विभक्तिका निर्देश क्यों किया गया है ?

सामर्थान—उन गति आदि मार्गणांशोंको जीवोंका आधार बतानेके लिये सप्तमी विभक्तिका निर्देश किया है ।

इसीतरह सूत्रमें प्रत्येक पदके साथ तृतीया विभक्तिका निर्देश भी हो सकता है, इसमें कोई विरोध नहीं आता है ।

शंका—जब कि प्रत्येक पदके साथ सप्तमी विभक्ति पाई जाती है तो फिर तृतीया विभक्ति कैसे सम्भव है ?

सामर्थान—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, इस सूत्रमें प्रत्येक पदके साथ जो सप्तमी विभक्तिका निर्देश किया है वह देशामर्शक है, इसलिये तृतीया विभक्तिका भी ग्रहण हो जाता है ।

सूत्रोक्त गति आदि जिन पदोंमें विभक्ति नहीं पायी जाती है, वहा पर भी ' आइमज्जंत-तवण्णसरलोवो ' अर्थात् आदि, मध्य और अन्तके वर्ण और स्वरका लोप हो जाता है । इस प्राकृतव्याकरणके सूत्रके नियमानुसार विभक्तिका लोप हो गया है ऐसा समझना चाहिये । अथवा 'लेस्साभवियसम्मत्तसण्णिआहारए' यह एक पद समझना चाहिये । इसलिये लेख्या अपि प्रत्येक पदमें विभक्तियां देखनेमें नहीं आती हैं ।

शंका—लोकमें अर्थान् व्यावहारिक पदार्थोंका विचार करते समय भी चार प्रकारसे अन्वेषण देखा जाता है । वे चार प्रकार ये हैं, मृगयिता, मृग्य, मार्गण और मार्गणोपाय । परंतु यथा लोकोत्तर पदार्थके विचारमें वे चारों प्रकार तो पाये नहीं जाते हैं, इसलिये मार्गणाका कथन करना नहीं बन सकता है ?

सामर्थान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, इस प्रकरणमें भी वे चारों प्रकार पाये जाते हैं । वे इसप्रकार हैं, जीवादि पदार्थोंका अद्वान करनेवाला भव्यणुडरीक मृगयिता

१ ननु लोके नामशरीकपदापस्य विचारे कृत्रिम्युगिता किंचित् मृग्यं कापि मार्गणा कृत्रिमार्गणोपाय गी चतुःसन्ति । अत्र लोकोत्तरेऽपि तद वक्तव्यमिति चेदुच्यते, मृगयिता भव्यणुडरीक. शुभ शिष्यो वा । मृग्या. मार्गणादिभिः जीवा, मार्गणा ज्ञेयिन्युगिता चतुर्विधा । मार्गणोपाया. गतीत्रयादयः पच मात्रविशेषा अत्राभिरुक्तस्या मतीति लोकेऽप्यनुमानोपे लोकोत्तरव्यवहारोऽपि व्रतते । गो. जी., म. प्र., टी. १४१.

विशिष्टजीवा मृग्यं, मृग्यसाधारतामारुंदन्ति मृगयितुः करणतत्सादधानानि वा गत्यादीनि मार्गणम्, विनयोपाध्यायादयो मार्गणोपाय इति । ह्ये शेषव्रितयं परिहृतमिति मार्गण-भेदोक्तमिति चेन्न, तस्य देशामर्शकत्वात्, तन्नान्तरियकत्वाद्वा ।

मम्यत इति गतिः । नातिव्यासिदोषः सिद्धैः प्राप्यगुणाभावात् । न केवल-ज्ञानादयः प्राप्यास्तथात्मकैकरिमन् प्राप्यप्रापकभावविरोधात् । कषयादयो हि प्राप्याः औपाधिकत्वात् । मम्यत इति गतिरित्युच्यमाने गमनक्रियापरिणतजीवप्राप्यद्रव्यादी-

अर्थात् लोकोत्तर पदार्थोंका अन्वेषण करनेवाला है । चौदह गुणस्थानोंसे युक्त जीव मृग्य अर्थात् अन्वेषण करने योग्य हैं । जो मृग्य अर्थात् चौदह गुणस्थानविशिष्ट जीवोंके आधारभूत हैं, अथवा अन्वेषण करनेवाले भव्य जीवको अन्वेषण करनेमें अत्यन्त सहायक कारण हैं ऐसी गति आदिक मार्गणा है । शिष्य और उपाध्याय आदिक मार्गणाके उपाय हैं ।

शंका—इस सूत्रमें मृगयिता, मृग्य और मार्गणोपाय इन तीनोंको छोड़कर केवल मार्गणाका ही उपदेश क्यों किया गया है ?

सामर्थान—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, गति आदि मार्गणावाचक पद देशा-मर्शक हैं, इसलिये इस सूत्रमें कही गई मार्गणाओंसे तत्संबन्धी शेष तीनोंका ग्रहण हो जाता है । अथवा मार्गणा पद शेष तीनोंका अविनाभावी है, इसलिये भी केवल मार्गणाका कथन करनेसे शेष तीनोंका ग्रहण हो जाता है ।

जो प्राप्त की जाय उसे गति कहते हैं । गतिका ऐसा लक्षण करनेसे सिद्धोंके साथ अतिव्याप्ति दोष भी नहीं आता है, क्योंकि, सिद्धोंके द्वारा प्राप्त करने योग्य गुणोंका अभाव है । यदि केवलज्ञानादि गुणोंको प्राप्त करने योग्य कहा जाये, सो भी नहीं बन सकता, क्योंकि, केवलज्ञानस्वरूप एक आत्मामें प्राप्य-प्रापकभावका विरोध है । उपाधिजन्य होनेसे कषयादिक भावोंको ही प्राप्त करने योग्य कहा जा सकता है । परंतु वे सिद्धोंमें पाये नहीं जाते हैं, इसलिये सिद्धोंके साथ तो अतिव्याप्ति दोष नहीं आता है ।

शंका—जो प्राप्त की जाय उसे गति कहते हैं । गतिका ऐसा लक्षण करने पर गमनरूप क्रियामें परिणत जीवके द्वारा प्राप्त होने योग्य द्रव्यादिकको भी गति यह संज्ञा प्राप्त हो जावेगी, क्योंकि, गमनक्रियापरिणत जीवके द्वारा द्रव्यादिक ही प्राप्त किये जाते हैं ?

१ 'मम्यत इति गति' एवमुच्यमाने गमनक्रियापरिणतजीवप्राप्यद्रव्यादीनामापे गतियपदेश स्यात् ? तत्र, गतिनामकर्मोद्देश्यत्वजनैवपर्यायस्यैव गतिस्त्वाप्युपगमात् । गमन वा गति । ननु गति आभारात्मादिगमनस्यपि गतिच मस्यते । तत्र, भवात् मत्सकत्वेऽपि विवक्षितत्वात् । गमनहेतुर्वा गतिरियमपि भण्यमाने शक्योऽपि गतित्व प्राप्नोति । तत्र, मांतंरगमनहेतुर्गतित्वात्मकर्मणो गतिनाम-मुपगमात् । जी. प्र., टी. अत्र मार्गणा-प्रकरणे गतिनामकर्म न गृह्यते, कष्यसाणनात्कादिगतिपचस्य नात्कक्षिपयोग्येन मभवत् । गो जी., म. प्र., टी. १४६.

नामपि गतिव्यपदेशः स्यादिति चेन्न, गतिकर्मणः समुत्पन्नस्यात्मपर्यायस्य ततः कथञ्चिद्भेदादविरुद्धप्राप्तिः। प्राप्तकर्मभावस्य गतिव्याप्युपगमे पूर्वोक्तदोषानुपपत्तेः। भवाद्भवसंक्रान्तिर्वा गतिः। सिद्धगतिस्तद्विपर्यायतात्। उक्तं च—

गद्-कर्म-विधिबन्ता जा चेद्वा सा गई मुण्यब्बा ।

जीवा ह चाउरग गच्छति ति य गई होइ' ॥ ८४ ॥

प्रत्यक्षनिरतानीन्द्रियाणि । अक्षाणीन्द्रियाणि । अक्षमथ प्रति वर्तत इति प्रत्यक्षं विषयोऽक्षजो बोधो वा । तत्र निरतानि व्यापृतानि इन्द्रियाणि । शब्दस्पर्शरसरूपगन्ध-ज्ञानावरणकर्मणां क्षयोपशमाद् द्रव्येन्द्रियनिबन्धनादिन्द्रियाणीति यावत् । भावेन्द्रिय-कार्यत्वाद् द्रव्यस्येन्द्रियव्यपदेशः । नेयमदृष्टपरिकल्पना कार्यकारणोपचारस्य जगति

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, गति नामकर्मके उदयसे जो आत्मके पर्याय उत्पन्न होती है वह आत्मसे कथञ्चित् भिन्न है अतः उसकी प्राप्ति अविरुद्ध है । और इसीलिये प्राप्तिकार्य क्रियाके कर्मपनेको प्राप्त नारकादि आत्मपर्यायके गतिपना माननेमें पूर्वोक्त दोष नहीं आता है ।

अथवा, एक भवसे दूसरे भवमें जानेको गति कहते हैं। ऊपर जो गतिनामा नामकर्मके उदयसे प्राप्त होनेवाली पर्यायविशेषको अथवा एक भवसे दूसरे भवमें जानेको गति कह आये है, ठीक इससे विपरीतस्वभाववाली सिद्धगति होती है। कहा भी है—

गतिनामा नामकर्मके उदयसे जो जीवकी चेष्टाविशेष उत्पन्न होती है उसे गति कहते हैं । अथवा, जिसके निमित्तसे जीव चतुर्गतिमें जाते हैं उसे गति कहते हैं ॥ ८४ ॥

जो प्रत्यक्षमें व्यापार करती है उन्हें इन्द्रियों कहते हैं। जिसका खुलासा इसप्रकार है, अक्ष इन्द्रियको कहते हैं, और जो अक्ष अक्षके प्रति अर्थात् प्रत्येक इन्द्रियके प्रति रहता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। जो कि इन्द्रियोंका विषय अथवा इन्द्रियजन्य ज्ञानरूप पड़ता है। उस इन्द्रिय-विषय अथवा इन्द्रिय-ज्ञानरूप प्रत्यक्षमें जो व्यापार करती है उन्हें इन्द्रिया कहते हैं। वे इन्द्रियां शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्ध नामके ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे और द्रव्येन्द्रियोंके निमित्तसे उत्पन्न होती हैं। क्षयोपशमरूप भावेन्द्रियोंके होने पर ही द्रव्येन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है, इसलिये भावेन्द्रियां कारण हैं और द्रव्येन्द्रियां कार्य हैं और इसलिये द्रव्येन्द्रियोंको भी इन्द्रिय यह संज्ञा प्राप्त है। अथवा, उपयोगरूप भावेन्द्रियोंकी उत्पत्ति द्रव्येन्द्रियोंके निमित्तसे होती है, इसलिये भावेन्द्रियां कार्य हैं और द्रव्येन्द्रिया कारण हैं। इसलिये भी द्रव्येन्द्रियोंको इन्द्रिय यह संज्ञा प्राप्त है। यह कोई अदृष्टकल्पना नहीं है, क्योंकि, कार्यगत धर्मका कारणमें और कारणगत धर्मका कार्यमें उपचार जगत्में प्रसिद्धरूपसे पाया जाता है।

? गद्उदरजपन्वाया चउगद्गणम्म हेउ वा ह गई । णास्यतिरिक्खमाणुदेवगड ति य हुने चडुथा ॥

गो जी १४६

सुप्रासिद्धस्योपलम्भात् । इन्द्रियवैकल्यमनोऽनवस्थानानध्यवसायालोकाध्याभावावस्थायां क्षयोपशमस्य प्रत्यक्षविषयव्यापाराभावात्तत्रात्मनोऽनिन्द्रियत्वं स्यादिति चेन्न, गच्छतीति गौरिति व्युत्पदितस्य गोशब्दस्यागच्छदोपदार्थेऽपि प्रवृत्त्युपलम्भात् । भवतु तत्र रूढिबललाभादिति चेदत्रापि तल्लाभादेवास्तु, न कश्चिद्दोषः । विशेषाभावतस्तेषां सङ्कर-व्यतिकररूपेण व्यापृतिः व्याप्नोतीति चेन्न, प्रत्यक्षे नीतिनियमिते रतानीति प्रतिपाद-नात् । सङ्करव्यतिकराभ्यां व्यापृतिनिराकरणाय स्वविषयनिरतानीन्द्रियाणि इति वा वक्तव्यम् । स्वेषां विषय. स्वविषयत्तत्र निश्चयेन निर्गयेन रतानीन्द्रियाणि । संशयविपर्य-

शंका—इन्द्रियोंकी विकलता, मनकी चंचलता, और अमध्यवसायके सद्भावमें तथा प्रकाशादिकके अभावरूप अवस्थामें क्षयोपशमका प्रत्यक्ष विषयमें व्यापार नहीं हो सकता है, इसलिये उस अवस्थामें आत्मके अनिन्द्रियपना प्राप्त हो जायगा ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि, जो गमन करती है उसे गौ कहते हैं। इसतरह 'गौ' शब्दकी व्युत्पत्ति हो जाने पर भी नहीं गमन करनेवाले गौ पदार्थमें भी उस शब्दकी प्रवृत्ति पाई जाती है ।

शंका—भले ही गोपदार्थमें रूढिके बलसे गमन नहीं करती हुई अवस्थामें भी गो-शब्दकी प्रवृत्ति होओ। किंतु इन्द्रियवैकल्यादिरूप अवस्थामें आत्मके इन्द्रियपना प्राप्त नहीं हो सकता है ?

समाधान—यदि ऐसा है तो आत्मामें भी इन्द्रियोंकी विकलता आदि कारणोंके रहने पर रूढिके बलसे इन्द्रिय शब्दका व्यवहार माल लेना चाहिये। ऐसा मान लेनेमें कोई दोष नहीं आता है ।

शंका—इन्द्रियोंके नियामक विशेष कारणोंका अभाव होनेसे उनका संकर और व्यतिकररूपसे व्यापार होने लगेगा। अर्थात् या तो वे इन्द्रियां एक दूसरी इन्द्रियके विषयको ग्रहण करेंगी या समस्त इन्द्रियोंका एक ही साथ व्यापार होगा ?

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, इन्द्रिया अपने नियमित विषयमें ही रत हैं, अर्थात् व्यापार करती हैं, ऐसा पढ़ते ही कथन कर आये हैं। इसलिये संकर और व्यतिकर दोष नहीं आता है ।

अथवा, संकर और व्यतिकरद्वारा विषयमें व्यापाररूप दोषके निराकरण करनेके लिये इन्द्रिया अपने अपने विषयमें रत हैं, ऐसा लक्षण कहना चाहिये। अपने अपने विषयको स्वविषय कहते हैं। उसमें जो निश्चयसे अर्थात् अन्य इन्द्रियके विषयमें प्रवृत्ति न करके केवल अपने विषयमें ही रत है उन्हें इन्द्रिय कहते हैं।

१ इत आरण्य ' इन्द्रिय ' शब्दस्य व्याख्यात यात्रसमप्रमाठ गो जानमाडरन ' नदि आरण्य ' इत्यादि १६५ तमगाथाया जीमित वप्रदीपिकाटीक्या प्रायेण समान ।

२ सर्वेया युगपन्नाति सङ्कर । परस्परनियमन व्यतिकर । न्या कु च पु ३६०

३ ' नीति ' इति पाठो नाति । गो जी, जी प्र, टी १६५

यावथायां निर्णयान्मरुतेरभावात्तत्रात्मनोऽनिन्द्रियत्वं स्यादिति चेन्न, रुडिवललाभा-  
दुभयत्र प्रत्ययविरोधान् । अथवा सद्बृत्तितरतानीन्द्रियाणि । मंगयविपर्ययनिर्णयादौ वर्तनं  
वृत्तिः, तस्यां सद्बृत्तौ रतानीन्द्रियाणि । निर्व्यापारावस्थायां नेन्द्रियव्यपदेशः स्यादिति  
चेन्न, उक्तचरत्वात् । अथवा स्वार्थनिरतानीन्द्रियाणि । अयत् इत्यर्थः, स्वैर्धै च निरतानी-  
न्द्रियाणि, निरवयवत्वान्नात्र वक्तव्यमस्ति । अथवा इन्दनादाधिपत्यादिन्द्रियाणि । उक्तं च-

अहमिदा जह देवा अविसेस अहमह ति मण्णता ।

ईसति एरुमेरु उदा उय इदिए जाणं ॥ ८५ ॥

शंका—मशय और विपर्ययरूप ज्ञानकी अवस्थाओं में निर्णयात्मक रति अर्थात् प्रवृत्तिका  
अभाव होनेसे उन अवस्थाओं में आत्माको अनिन्द्रियपनेकी प्राप्ति हो जावेगी ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, रूडिके बलसे निर्णयात्मक और अनिर्णयात्मक इन  
दोनों अवस्थाओंमें इन्द्रिय शब्दकी प्रवृत्ति माननेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

अथवा, अपनी अपनी वृत्तिमें जो रत हैं उन्हें इन्द्रियां कहते हैं । इसका सुलासा  
रूपप्रकार है। मशय और विपर्ययमानके निर्णय आदिके करनेमें जो प्रवृत्ति होती है उसे वृत्ति  
कहते हैं । उस अपनी अपनी वृत्तिमें जो रत हैं उन्हें इन्द्रियां कहते हैं ।

शंका—जब इन्द्रिया अपने विषयमें व्यापार नहीं करती हैं तब उन्हें व्यापाररहित  
अवस्थाओं इन्द्रिय संज्ञा प्राप्त नहीं हो सकेगी ?

समाधान—ऐसा नहीं कहना, क्योंकि, इसका उत्तर पहले दे आये हैं कि रूडिके  
बलसे ऐसी अवस्थाओं भी इन्द्रिय-व्यवहार होता है ।

अथवा, जो अपने अर्थमें निरत हैं उन्हें इन्द्रियां कहते हैं । 'अर्थते' अर्थात् जो निश्चित  
क्रिया जाय उसे अर्थ कहते हैं । उस अपने विषयरूप अर्थमें जो व्यापार करती हैं उन्हें इन्द्रिया  
कहते हैं । इन्द्रियोंका यह लक्षण निर्दोष होनेके कारण इस विषयमें अधिक वक्तव्य कुछ भी  
नहीं है । अर्थात् इन्द्रियोंका यह लक्षण इतना स्पष्ट है कि पूर्वोक्त दोषोंको यहाँ अब ताश ही  
नहीं है ।

अथवा, अपने अपने विषयका स्वतन्त्र आधिपत्य करनेसे इन्द्रियां कहलाती हैं ।  
कहा भी है—

निसप्रकार अंवेयत्तादिमें उत्पन्न हुए अहमिन्द्र देव में सेवक ह अथवा स्वामी ह इत्यादि

' गिर-स्या पत्तो लिंग यदि नेत्रेण लम्पणा । मृष्ट इत्त तथा दट्ट दत्त वेति तदिन्द्रियम् ॥

भा जी, जो ५, गी १६४ इत्ये जीतो मन्तोवल्लिस्सोपमेसत्तणओ । गोचासोयमिदियमिह तल्लिगाह मावाओ ॥

गि मा २५६० ' यदि ' परमंत्तो ' इदितो न्प ' इन्दनादिन् आत्मा ( जीव ) सर्वविषयोपलब्धि ( ज्ञान )

मोक्ष-प्राप्तये-सर्वयोगात् तस्य चिह्नं चित्तमितिगामातिश्यायत्तत्त्वान् प्रदर्शनादुपलभ्यन्तः । व्यञ्जनाच्च जीवित्त-  
न्द्रियमिति । जमि स- तो. ( इदित्त )

२ गो जी १६४. का प्रोत्तरनादिजाना अहमिन्द्रेता अहमस्मिति सामिगुत्तादिविकेपत्तन् मयमाता

चीयत इति कायः । नेष्टकादिचयेन व्यभिचारः पृथिव्यादिकर्मभिरिति विशेष-  
णात् । औदारिकादिकर्मभिः पुद्गलनिपाकिभिश्चीयत इति चेन्न, पृथिव्यादिकर्मणां  
सहकारिणामभावे ततश्चयानुपपत्ते । कर्मणशरीरस्थानां जीवानां पृथिव्यादिकर्मभिश्चित्त-  
नोकर्मपुद्गलाभावात्काम्यत्वं स्यादिति चेन्न, तच्चयनेहेतुकर्मणस्तत्रापि सत्त्वात्तद्व्यपदेशस्य  
न्याय्यत्वात् । अथवा आत्मप्रवृत्त्युपचित्तपुद्गलपिण्डः कायः । अत्रापि स दोषो न निर्वायत  
विशेषभावसे रहित अपनेको मानते हुए एक एक होकर अर्थात् कोई किसीकी आत्मा आदिके  
परार्थिन न होते हुए स्वयं स्वामीपनेको प्राप्त होते हैं, उसीप्रकार इन्द्रिया भी अपने अपने  
स्पर्शादिक विषयका ज्ञान उत्पन्न करनेमें समर्थ हैं और दूसरी इन्द्रियोंकी अपेक्षासे रहित हैं,  
अतएव अहमिन्द्रोंकी तरह इन्द्रिया जानना चाहिये ।

जो संचित किया जाता है उसे काय कहते हैं । यहाँ पर जो संचित किया जाता है  
उसे काय कहते हैं ऐसी व्याप्ति बना लेने पर कायको छोड़कर ईंट आदिके सचयरूप  
विषयमें भी यह व्याप्ति घटित हो जाती है, अतएव व्यभिचार दोष आता है । ऐसी शंका मनमें  
निश्चय करके आचार्य कहते हैं कि इसतरह ईंट आदिके संचयके साथ व्यभिचार दोष भी नहीं  
आता है, क्योंकि, पृथिवी आदि कर्मके उदयसे इतना विशेषण जोड़कर ही ' जो संचित  
किया जाता है ' उसे काय कहते हैं ऐसी व्याख्या की गई है ।

शंका—पुद्गलविषाकी औदारिक आदि कर्मके उदयसे जो संचित किया जाता है उसे  
काय कहते हैं, कायकी ऐसी व्याख्या क्यों नहीं की गई है ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि, सहकारीरूप पृथिवी आदि नामकर्मके अभाव  
रहने पर केवल औदारिक आदि नामकर्मके उदयसे नोर्कर्मवर्गणाओंका संचय नहीं हो  
सकता है ।

शंका—कर्मणकाययोगमे स्थित जीवके पृथिवी आदिके द्वारा संचित हुए नोर्कर्म  
पुद्गलका अभाव होनेसे अकायपना प्राप्त हो जायगा ?

समाधान—ऐसा नहीं समझना चाहिये, क्योंकि, नोर्कर्मरूप पुद्गलके सचयका कारण  
पृथिवी आदि कर्मसहकृत औदारिकादि नामकर्मका उदय कर्मणकाययोगरूप अवस्थाओं में भी  
पाया जाता है, इसलिये उस अवस्थाओं में भी कायपनेका व्यवहार बन जाता है ।

अथवा, योगरूप आत्माकी प्रवृत्तिसे संचित हुए औदारिकादिरूप पुद्गलपिण्डको काय  
कहते हैं ।

शंका—कायका इसप्रकारका लक्षण करने पर भी पहले जो दोष दे आये हैं, वह  
दूर नहीं होता है । अर्थात् इसतरह भी जीवके कर्मणकाययोगरूप अवस्थाओं में अकायपनेकी  
प्राप्ति होती है ।

एकैक दूना आत्मादिमरुपतया सत्त ईशते प्रमत्तति स्यात्प्रमात श्रयन्ति, तथा स्वर्गनादीन्द्रियाण्यपि स्वर्शादि-  
स्वस्त्वविषयेषु ज्ञानमुपादयितुमीगते, परानपेक्षया प्रमत्तति, तत कारणदहसिन्ध्या इव इन्द्रियाणि इति ।  
जी. प्र टी



इति चेन्न, आत्मप्रवृत्त्युपचितकर्मपुद्गलपिण्डस्य तत्र सत्त्वात् । आत्मप्रवृत्त्युपचितनोकर्म-  
पुद्गलपिण्डस्य तत्रासत्त्वात् तस्य कायव्यपदेश इति चेन्न, तच्चयनहेतुकर्मणस्तत्रास्तित्व-  
तस्य तद्व्यपदेशसिद्धेः । उक्तं च—

अप्यवृत्ति-संचिद-बोगल-पिंड विषाण कायो ति ।

सो जिणमद्विह भणिओ पुवविक्कायादयो सो दो' ॥ ८६ ॥

जह भारवहो पुरिसो वहइ भर गेण्हज्जण कायोळि ।

एमेव वहइ जीवो कम्म भरं काय-कायोळि' ॥ ८७ ॥

युज्यत इति योगः । न युज्यमानपटादिना व्यभिचारस्तस्यानात्मधर्मत्वात् । न

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि, योगरूप आत्माकी प्रवृत्तिसे संचित हुए कर्मरूप  
पुद्गलपिण्डका कर्मणकाययोगरूप अवस्थामें सद्भाव पाया जाता है । अर्थात् जिससमय आत्मा  
कर्मणकाययोगकी अवस्थामें होता है उस समय उसके ज्ञानावरणादि आठो कर्मोंका सद्भाव  
रहता ही है, इसलिये इस अपेक्षासे उसके कायपना बन जाता है ।

शंका—कर्मणकाययोगरूप अवस्थामें योगरूप आत्माकी प्रवृत्तिसे सचयको प्राप्त  
हुए नोकर्म पुद्गलपिण्डका असत्त्व होनेके कारण कर्मणकाययोगमें स्थित जीवके 'काय' यह  
व्यपदेश नहीं बन सकता है?

समाधान—नोकर्म पुद्गलपिण्डके संचयके कारणभूत कर्मका कर्मणकाययोगरूप अव-  
स्थामें सद्भाव होनेसे कर्मणकाययोगमें स्थित जीवके 'काय' यह सत्त्वा बन जाती है ।  
कहा भी है—

योगरूप आत्माकी प्रवृत्तिसे सचयको प्राप्त हुए औदारिकादिरूप पुद्गलपिण्डको काय  
समग्रता चाहिये । वह काय जिनमतमें पृथिवीकाय आदिके भेदसे छह प्रकारका कहा गया है ।  
और वे पृथिवी आदि छह काय इसकाय और स्थावरकायके भेदसे दो प्रकारके होते हैं ॥ ८६ ॥

जिसप्रकार भारको देनेवाला पुरुष कावड़को लेकर भारको ढोता है, उसीप्रकार यह  
जीव शरीररूपी कावड़को लेकर कर्मरूपी भारको ढोता है ॥ ८७ ॥

जो संयोगको प्राप्त हो उसे योग कहते हैं । यहाँ पर जो जो संयोगको प्राप्त हो उसे योग  
कहते हैं ऐसी व्याप्ति करने पर संयोगको प्राप्त होनेवाले वखादिकसे व्यभिचार हो जायगा ।  
इसप्रकारकी शंकाको मनमें निश्चय करके आचार्य कहते हैं कि इसतरह संयोगको प्राप्त होने-  
वाले वखादिकसे व्यभिचार दोष भी नहीं आता है, क्योंकि, संयोगको प्राप्त होनेवाले वखादिक  
आत्मोंके धर्म नहीं हैं । जो जो संयोगको प्राप्त हो उसे योग कहते हैं इसप्रकारकी व्याप्तिमें

१ जाईं अणिणामां तस्यथारउदरजो हे काओ । सो जिणमद्विह भणिओ पुदवीकायादिज्जमेओ ॥

गो जी १८१

२ गो जी २०२ लोक्रे यथा माखइ पुण्य नमदिज्ज भार शुद्धीना निवक्षितस्थान वहति नयति प्रापयति  
तथा मगाजिओ आदारिकादिनोकर्मशरीरमित्तजानावरणादिज्ज्यकर्मभार शुद्धीत्वा नानायोनिरत्तानानि वहति ।

जी प्र, धी

कषायेण व्यभिचारस्तस्य कर्मादानहेतुत्वाभावात् । अथवात्मप्रवृत्तेः कर्मादाननिवन्धनवीर्यो-  
त्पादो योगः । अथवात्मप्रदेशानां सङ्कोचविकोचो योगः । उक्तं च—

मणसा वचसा काएण चावि जुत्तरस विरिय-परिणामो ।

जीवस्स प्पणियोओ जोगो त्ति जिणेहि णिद्धिहो' ॥ ८८ ॥

वेद्यत इति वेदः । अष्टकर्मोदयस्य वेदव्यपदेशः प्राप्नोति वेद्यत्वं प्रत्यविशेषादिति  
चेन्न, ' सामान्यचोदनाश्च विशेषेष्ववतिष्ठन्ते ' इति विशेषावगतेः ' रूढितन्त्रा व्युत्पत्तिः '  
इति वा । अथवात्मप्रवृत्तेः सम्मोहोत्पादो वेदः । अत्रापि मोहोदयस्य सकलस्य वेदव्यप-

आत्मधर्मकी मुख्यता होनेसे यद्यपि संयोगको प्राप्त होनेवाले वखादिकका निराकरण हो  
जायगा फिर भी कषायका निराकरण नहीं हो सकता है, क्योंकि, कषाय आत्माका धर्म है  
और संयोगको भी प्राप्त होता है । इसलिये जो जो संयोगको प्राप्त हो उसे योग कहते हैं यह  
व्याप्ति कषायमें भी घटित होती है, अतएव कषायके साथ व्यभिचार दोष आ जाता है । ऐसी  
शंकाको मनमें धारण करके आचार्य कहते हैं कि इसतरह कषायके साथ भी व्यभिचार दोष  
नहीं आता है, क्योंकि, कषाय कर्मोंके ग्रहण करनेमें कारण नहीं पड़ती है । अथवा, प्रदेश-  
परिस्पन्दरूप आत्माकी प्रवृत्तिके निमित्तसे कर्मोंके ग्रहण करनेमें कारणभूत वीर्यकी उत्पत्तिको  
योग कहते हैं । अथवा, आत्माके प्रदेशोंके संकोच और विस्ताररूप होनेको योग कहते हैं ।  
कहा भी है—

मन, वचन और कायके निमित्तसे होनेवाली क्रियासे युक्त आत्माके जो वीर्यविशेष  
उत्पन्न होता है उसे योग कहते हैं । अथवा, जीवके प्रणियोग अर्थात् परिस्पन्दरूप क्रियाको  
योग कहते हैं । ऐसा जिनेन्द्रदेवने कथन किया है ॥ ८८ ॥

जो वेदा जाय, अनुभव किया जाय उसे वेद कहते हैं ।

शंका—वेदका इसप्रकारका लक्षण करने पर आठ कर्मोंके उदयको भी वेद  
संज्ञा प्राप्त हो जायगी, क्योंकि, वेदनकी अपेक्षा वेद और आठ कर्म दोनों ही समान हैं ।  
जिसतरह वेद वेदनरूप है, उसीतरह ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंका उदय भी वेदनरूप है ?

समाधान—ऐसा नहीं समझना चाहिये, क्योंकि सामान्यरूपसे की गई कोई भी  
प्ररूपणा अपने विशेषोंमें पाई जाती है, इसलिये विशेषका ज्ञान हो जाता है । अथवा, रौढिक  
शब्दोंकी व्युत्पत्ति रूढिके आधीन होती है, इसलिये वेद शब्द पुरुषवेदादिमें रूढ़ होनेके  
कारण ' वेद्यते ' अर्थात् जो वेदा जाय इस व्युत्पत्तिसे वेदका ही ग्रहण होता है, ज्ञानावरणादि  
आठ कर्मोंके उदयका नहीं ।

१ पुगलविवाइहेदएण मणयणकायजुत्तरस । जीवस्स जा इ रवी कम्ममगकरण जोगो । गो जी

२ ८६ मणसा वयसा काएण चावि जुत्तरस विरियपरिणामो । जीवस्स अप्पणिज्जो स जोगसत्तो जिणम्बाओ ॥ तेओ  
जीणेण जहा रत्तचार्ह वडस्स परिणामो । जीवस्सणप्पओए विरियमपि तहपपरिणामो ॥ जोगो विरिय थासो उच्छाह  
परकमो तहा चेद्धा । मत्तो साम,य ति य जोगम्म इति पज्जाया ॥ स्या सू, पृ २०२





विरोधः किञ्च भवेदिति चेन्न, तत्र क्षयोपशमस्य ग्राह्यात् । विपर्ययः क्रथं भूतार्थ-  
प्रकाशक इति चेन्न, चन्द्रमस्तुपलम्भ्यमानद्वित्वस्यान्यत्र सत्त्वतस्तस्य भूतत्वोपपत्तेः ।  
अथवा सद्भावविश्वयोपलम्भकं ज्ञानम् । एतेन संशयविपर्ययानध्यवसायावस्थासु  
ज्ञानाभावः प्रतिपादितः स्यात्, शुद्धनयविवक्षायां तत्पार्थोपलम्भकं ज्ञानम् । ततो  
मिथ्यादृष्टयो न ज्ञानिन इति सिद्धं द्रव्यगुणपर्यायाननेन जानातीति ज्ञानम् । अभिन्नस्य  
क्रथं करणत्वमिति चेन्न, सर्वथा भेदाभेदे च स्वरूपहानिप्रसङ्गादेनैकान्ते स्वरूपोपलब्धेर्न तस्य

पहुच्च अणद्विओ अपञ्जवसिहो' इत्यादि सूत्रके साथ विरोध क्यों नहीं प्राप्त हो जायगा ?  
अर्थात् कालानुयोगमें ज्ञानका काल एक जीवकी अपेक्षा अनन्त-अनन्त आदि आया है । और  
यहा पर दर्शनोपयोगकी अवस्थामें ज्ञानका अभाव बतलाया है, इसलिये यह कथन परस्पर  
विरुद्ध है । अतः दर्शनोपयोगकी अवस्थामें ज्ञानका अभाव कैसे माना जा सकता है, क्योंकि,  
इस कथनका कालानुयोगके सूत्रसे विरोध आता है ?

समाधान — ऐसी शका करना ठीक नहीं है, क्योंकि, कालानुयोगमें जो ज्ञानकी अपेक्षा  
कालका कथन किया है, वहाँ क्षयोपशमकी प्रधानता है ।

शंका — विपर्ययज्ञान ( मिथ्याज्ञान ) सत्यार्थका प्रकाशक कैसे हो सकता है ?

समाधान — ऐसी शका ठीक नहीं है, क्योंकि, चन्द्रमामें पाये जानेवाले द्वित्वका दूसरे  
पदार्थमें सत्त्व पाया जाता है, इसलिये उस ज्ञानमें भूतार्थता बन जाती है ।

अथवा, सद्भाव अर्थात् वस्तु-स्वरूपका निश्चय करनेवाले धर्मको ज्ञान कहते हैं ।  
ज्ञानका इसप्रकारका लक्षण करनेसे संशय, विपर्यय और अनध्यवसायरूप अवस्थामें ज्ञानका  
( सम्यग्ज्ञानका ) अभाव प्रतिपादित हो जाता है । कारण कि, शुद्ध-निश्चयनकी विवक्षामें  
वस्तु-स्वरूपका उपलम्भ करनेवाले धर्मको ही ज्ञान कहा है । इसलिये मिथ्यादृष्टी जीव ज्ञानी  
नहीं हो सकते हैं । इसप्रकार जिसके द्वारा द्रव्य, गुण और पर्यायोंको जानते हैं उसे ज्ञान  
कहते हैं यह बात सिद्ध हो जाती है ।

शंका — ज्ञान तो आत्मासे अभिन्न है, इसलिये वह पदार्थके जाननेके प्रति साधकतम  
कारण कैसे हो सकता है ?

समाधान — ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, साधकतम कारणरूप ज्ञानको आत्मासे  
सर्वथा भिन्न अथवा अभिन्न मान लेने पर आत्मके स्वरूपकी हानिका प्रसंग आता है, और  
कथञ्चित् भिन्न अथवा अभिन्नस्वरूप अनेकान्तके मान लेने पर वस्तुस्वरूपकी उपलब्धि होती है,  
इसलिये आत्मासे कथञ्चित् भेदरूप ज्ञानको जाननेरूप क्रियाके प्रति साधकतम कारण मान

तत्र प्रतिपादितानि च सूत्रानि कालसूत्रानि ज्ञेयानि । ऋते च ' गणायुक्तादेण मदियण्णामिदुदअण्णामिदु  
मिच्छादिदी ओव ( कालसूत्र २६३ ) ओषेण मिच्छादिदी केचिचि कालदो होति ? गणायुक्ता पटुञ्च सत्त्वा  
( कालसूत्र २२० ) एण्णोव पटुञ्च अण्णामिदो अपञ्जमिदो, अण्णामिदो अपञ्जमिदो, सादिओ सपञ्जमिदो ।  
( कालसूत्र २३३ ) ङ जी का नू.

करणत्वविरोध इति । उक्तं च—

जाणइ तिकाल-सहिए दव्व-गुणे पज्जे य बहु-भेए ।

पव्वण्ण च परोक्ख अणेण गणे ति ण बेति' ॥ ९१ ॥

संयमनं संयमः । न द्रव्ययमः संयमस्तस्य 'सं' शब्देनापादितत्वात् । यमेन  
समितयः सन्ति, तास्वसतीषु संयमोऽनुपपन्न इति चेन्न, 'सं' शब्देनात्मसात्कृताशेषसमिति-  
त्वात् । अथवा व्रतसमितिकषायदण्डेन्द्रियाणां धारणानुपालननिग्रहत्यागजयाः संयमः ।  
उक्तं च—

लेनेमे कोई विरोध नहीं आता है ।

विशेषार्थ—यदि धर्मको धर्मसे सर्वथा भिन्न माना जावे तो दोनोंकी स्वतन्त्र सत्ता  
सिद्ध हो जानेके कारण यह धर्म है और यह धर्म है अथवा यह धर्म इस धर्मका है, इसप्रकारका  
व्यवहार ही नहीं बन सकता है । इसलिये निश्चित धर्मके अभावमें वस्तुके विनाशका प्रसंग  
आता है । और यदि धर्मको धर्मसे सर्वथा अभिन्न माना जावे तो धर्म और धर्म इसप्रकारका  
भेदरूप व्यवहार नहीं बन सकता है, क्योंकि, सर्वथा अवेद मानने पर इन दोमेंसे किसी  
एकका ही अस्तित्व सिद्ध होगा । उनमेंसे यदि केवल धर्मका ही अस्तित्व मान लिया जावे,  
तो उसके लिये आधार चाहिये, क्योंकि, कोई भी धर्म आधारके बिना नहीं रह सकता है ।  
और यदि केवल धर्मका अस्तित्व मान लिया जावे तो धर्मके बिना उसकी स्वतन्त्र सत्ता  
नहीं सिद्ध हो सकती है । इसलिये धर्मको धर्मसे कथञ्चित् भिन्न और कथञ्चित् अभिन्न  
ही मानना चाहिये । इसतरह अनेकान्तके मानने पर ही धर्म-धर्मों व्यवस्था बन सकती है  
और धर्म-धर्मों व्यवस्थाके सिद्ध हो जाने पर ज्ञानको साधकतम कारण माननेमें किसी भी  
प्रकारका विरोध नहीं आता है । कहा भी है—

जिसके द्वारा जीव त्रिकालविषयक समस्त द्रव्य, उनके गुण और उनकी अनेक प्रकारकी  
पर्यायोंको प्रत्यक्ष और परोक्षरूपसे जाने उसको ज्ञान कहते हैं ॥ ९१ ॥

संयमन करनेको संयम कहते हैं । संयमका इसप्रकारका लक्षण करने पर द्रव्य-यम  
अर्थात् भावचारित्र्यस्य द्रव्यचारित्र संयम नहीं हो सकता है, क्योंकि, संयम शब्दमें ग्रहण  
क्रिये गये 'स' शब्दसे उसका निराकरण कर दिया है ।

शंका—यहा पर यमसे समितियोंका ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि, समितियोंके नहीं  
होने पर संयम नहीं बन सकता है ?

समाधान—ऐसी शंका ठीक नहीं है, क्योंकि, संयममें दिये गये 'सं' शब्दसे संपूर्ण  
समितियोंका ग्रहण हो जाता है ।

अथवा, पांच व्रतोंका धारण करना, पांच समितियोंका पालन करना, क्रोधादि  
कषायोंका निग्रह करना, मन, वचन और कायरूप तीन दण्डोंका त्याग करना और पांच  
इन्द्रियोंके विषयोंका जीतना संयम है । कहा भी है—

वचनमिन्द्र-रुमायाण दृष्टाण तद्विद्विषाण पचण्डं ।

भरण-याण्य-णिगाद-चाग जया सजमो भणिओं ॥ ९२ ॥

दृश्यतं जंनन्ति दर्शनम् । नाश्यालोकेन चातिप्रसङ्गस्तयोरनात्मधर्मत्वात् । दृश्यते ज्ञायते जंनन्ति दर्शनमित्युच्यमाने ज्ञानदर्शनयोरविशेषः स्यादिति चेन्न, अन्तर्बहिर्मुखयो- द्विप्रकाशयोर्यद्वैतज्ञानव्यपदेशभाजोरैकत्वनिरोधात् । किं तच्चैतन्न्यमिति चेन्निकालगोच- गन्ननपर्यायात्मकस्य जीनस्वरूपस्य स्वधायोपगमवशेन संवेदनं चैतन्न्यम् । स्वतो व्यतिरिक्त-

अद्विन्मा, सत्त्वं, उच्यते, ब्रह्मचर्यं, अपरिग्रह इत पात्र मदावर्तना धारण करना, ईर्ष्या, भाया, गणना, आदाननिक्षेप, उत्सर्ग इत पात्र समितियोंका पालना क्रोध, मान, माया, और लोभ इन चार कगार्योंका निग्रह करना मन, वचन और नायरूप तीन दण्डोंका त्याग करना आर पात्र इन्द्रियोंका जय इसको समय कहते हैं ॥ ९२ ॥

ज्ञितके द्वारा देना जाय अर्थात् अवलोकन किया जाय उसे दर्शन कहते हैं । दर्शनका इतप्रकार ला लक्षण करते पर चक्षु इन्द्रिय और आलोक भी देयनेमें सहकारी होनेसे उनमें दर्शनका लक्षण चला जाता है, इसलिये अतिप्रसङ्ग दोष आता है । शङ्काकारकी इसप्रकारकी शङ्काको मगमं निन्द्य करते आचार्य कहते हैं कि इसतरह चक्षु इन्द्रिय और आलोकके साथ अतिप्रसङ्ग दोष भी नहीं आता है, क्योंकि, चक्षु इन्द्रिय और आलोक आत्माके धर्म नहीं हैं । या चक्षुसे दृश्य चक्षुका ही ग्रहण करना चाहिये ।

शंका—जितके द्वारा देया जाय, जाना जाय उसे दर्शन कहते हैं । दर्शनका इसप्रकार लक्षण करने पर ज्ञान और दर्शनमें कोई विशेषता नहीं रह जाती है, अर्थात् दोनों एक हो जाते हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, अन्तर्मुख चित्तकाशको दर्शन और बहिर्मुख चित्तकाशको ज्ञान माना है, इसलिये इन दोनोंके एक होनेमें विरोध आता है ।

शंका—पर चैतन्य क्या वस्तु है ?

समाधान—चित्तकालिपरक अतन्तर्पर्यायरूप जीवके स्वरूपका अपने अपने क्षयोप- शमके अनुसार जो संवेदन होना है उसे चैतन्य कहते हैं ।

शंका—अपनेसे भिन्न द्वारा पदार्थोंके ज्ञानको प्रकाश कहते हैं, इसलिये अन्तर्मुख

१ भा जी ४६५

२ उक्तान्तर्मुखिनिष्ठ रक्षण तद्रूप यस्त्वामन परिन्दनमलोकन तदर्शन भण्यते । तदनन्तर पर भणितो रित्पक्षेप परापरश त ज्ञानमिति चातिम् । तथा कोऽपि पुरगो षटत्रिपर्यायिभ्य कुर्वन्नास्ते, परपक्षीमानार्थे तिरे जाने सति पदविरयाः व्यापृत्य रन्वन्त्ये प्रथममलोकन परिन्दन करोति तद्वर्शनमिति । तदन्तरं पदाव्यमिति त्रिपर पर कोऽपिपरन्वेष पदापर्यवृत्तिरूप्य करोति तद ज्ञान भण्यते । बृ द स. गृ ८१-८२

चाह्यार्थवृत्तिः प्रकाश इत्यन्तर्बहिर्मुखयोश्चित्प्रकाशयोर्जानात्यनेनात्मानं ब्राह्ममर्थमिति च ज्ञानमिति सिद्धत्वादेकत्वम्, ततो न ज्ञानदर्शनयोर्भेद इति चेन्न, ज्ञानादिव दर्शनात् प्रतिकर्मव्यवस्थाभावात् । तर्ह्यस्त्वंन्तर्बहिर्मासान्यग्रहणं दर्शनम्, विशेषग्रहणं ज्ञानमिति चेन्न, सामान्यविशेषात्मकस्य वस्तुनो विक्रमेणोपलम्भात् । सोऽप्यस्तु न कश्चिद्विशेष इति चेन्न, 'हृदि द्रुचे णत्थि उवजोगा' इत्यनेन सह निरोधात् । अपि च न ज्ञानं प्रमाणं सामान्यव्यतिरिक्तविशेषस्यार्थक्रियाकर्तृत्व प्रत्यसमर्थत्वतोऽवस्तुनो ग्रहणात् । न तस्य ग्रहणमपि सामान्यव्यतिरिक्ते विशेषे ह्यवस्तुनि कर्तृकर्मरूपाभावात् । तत एव न दर्शनमपि

चैतन्य और बहिर्मुख प्रकाशके होने पर जिसके द्वारा यह जीव अपने स्वरूपको और पर पदार्थोंको जानता है उसे ज्ञान कहते हैं । इसप्रकारकी व्याख्याके सिद्ध हो जानेसे ज्ञान और दर्शनमें एकता आ जाती है, इसलिये उनमें भेद सिद्ध नहीं हो सकता है ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि, जिसतरह ज्ञानके द्वारा यह घट है, यह पट है, इत्यादि विशेषरूपसे प्रतिनियत कर्मकी व्यवस्था होती है उसतरह दर्शनके द्वारा नहीं होती है, इसलिये इन दोनोंमें भेद है ।

शंका—यदि ऐसा है तो अन्तरग सामान्य और बहिरग सामान्यको ग्रहण करनेवाला दर्शन है तथा अन्तर्बहिर् विशेषको ग्रहण करनेवाला ज्ञान है, ऐसा मान लेना चाहिये ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि, सामान्य और विशेषात्मक वस्तुका क्रमके विना ही ग्रहण होता है ।

शंका—यदि सामान्यविशेषात्मक वस्तुका क्रमके विना ही ग्रहण होता है तो वह भी रहा आओ, ऐसा मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि, 'छमस्यो'के दोनों उपयोग एक साथ नहीं होते हैं, इस कथनके साथ पूर्वोक्त कथनका विरोध आता है ।

दूसरी बात यह है कि सामान्यको छोड़कर केवल विशेष अर्थक्रिया करनेमें अरामर्थ है । और जो अर्थक्रिया करनेमें असमर्थ होता है वह अवस्तुरूप पड़ना है, अतएव उसका ग्रहण करनेवाला होनेके कारण ज्ञान प्रमाण नहीं हो सकता है । तथा केवल विशेषका ग्रहण भी तो नहीं हो सकता है, क्योंकि, सामान्यरहित, अवस्तुरूप केवल विशेषमें कर्तृकर्मरूप व्यवहार नहीं बन सकता है । इसतरह केवल विशेषको ग्रहण करनेवाले ज्ञानमें प्रमाणात् सिद्ध नहीं होनेसे केवल सामान्यको ग्रहण करनेवाले दर्शनको भी प्रमाण नहीं मान सकते हैं । अर्थात्, जब कि सामान्यरहित विशेष और विशेषरहित सामान्य वस्तुरूपसे सिद्ध ही नहीं होते हैं तो केवल विशेषको ग्रहण करनेवाला ज्ञान और केवल सामान्यको ग्रहण करनेवाला दर्शन प्रमाण कैसे माने जा सकते हैं ?



कनस्य वृत्तारालोकवृत्तिः स्वप्नेदं, तद्दर्शनमिति लक्ष्यनिर्देशः । प्रकाशवृत्तिर्चा दर्शनम् । अस्य गमनिका, प्रकाशो ज्ञानम्, तद्दर्शनमात्मनो वृत्तिः प्रकाशवृत्तिसादर्शनम् । विषयविषयि-  
नंपातात् पूर्ववस्था दर्शनमित्यर्थः । उक्तं च —

ज साम्ना गृहणं भावाण गेव कट्टु आचारं ।

अविसेसिक्कण अत्थे दसणमिदि भण्णदे समए ॥ ९३ ॥

लिम्पतीति लक्ष्या । न भूमिलेपिक्रयाऽतिव्याप्तिदोषः कर्मभिरात्मानमित्यध्या-  
हारोपेक्षितत्वात् । अथवात्मप्रवृत्तिसंश्लेषणकरी लक्ष्या । नात्रातिप्रसङ्गदोषः प्रवृत्तिशब्दस्य  
कर्मपर्यायत्वात् । अथवा कपायानुरञ्जिता कायवाङ्मनोयोगप्रवृत्तिलक्ष्या । ततो न केवलः

अलोकवृत्ति या स्वप्नेदं कठने है, और उसीको दर्शन कहते हैं । यहा पर दर्शन इस  
शब्दसे लक्ष्यका निर्देश किया है । अथवा, प्रकाश-वृत्तिको दर्शन कहते हैं । इसका अर्थ  
इसप्रकार है कि प्रकाश ज्ञानको कहते हैं और उस ज्ञानके लिये जो आत्माका व्यापार होता  
है उसे प्रकाशवृत्ति कहते हैं, और वही दर्शन है । अर्थात् विषय और विषयके योग्य देशमें  
हेतुकी पूर्णव्याप्तिको दर्शन कहते हैं । कहा भी है—

सामान्यविशेषात्मक बाल पदार्थोंको अलग अलग भेदरूपसे ग्रहण नहीं करके जो  
सामान्य ग्रहण अर्थात् स्वरूपभावका अवभासन होता है उसको परमाणममें दर्शन  
कहा है ॥ ९३ ॥

जो लिम्पन करती है उसे लक्ष्या कहते हैं । यहाँ पर जो लिम्पन करती है यह  
लक्षण भूमिलेपिका (जिनके द्वारा जमीन लीपी जाती है) में चला जाता है, इसलिये लक्ष्यभूत  
लक्ष्याको चोत्रकर लक्षणके अलक्ष्यमें चले जानेके कारण अतिव्याप्ति दोष आता है । ऐसी  
प्रकाशो गमनं उदाहर आचार्य कहते हैं कि इसप्रकार लक्ष्याका लक्षण करने पर भी  
अतिव्याप्ति दोष नहीं आता है, क्योंकि, इस लक्षणमें 'कर्मसे आत्माको' इतने अध्याहारकी  
अपेक्षा है । इसका यह तात्पर्य है, कि जो कर्मसे आत्माको लिप्त करती है उसको लक्ष्या कहते  
हैं । अथवा, जो आत्मा और प्रवृत्ति अर्थात् कर्मका संन्य करनेवाली है उसको लक्ष्या कहते  
हैं । इसप्रकार लक्ष्याका लक्षण करने पर अतिप्रसंग दोष भी नहीं आता है, क्योंकि, यहाँ पर  
प्रवृत्ति शब्द कर्मका पर्यायवाची ग्रहण किया है । अथवा, कपायसे अनुरजित काययोग, वचन-  
योग और मनोयोगकी प्रवृत्तिको लक्ष्या कहते हैं । इसप्रकार लक्ष्याका लक्षण करने पर केवल

१ गो जी ६८२ माताता नामाग्निग्या मन्वात्तपदार्थानां जातर मंदप्रश्नमट्वा यमामात्मग्रहण  
रान्यमातामागतं तदग्निमिति परमाणमे भवति । तन्मुक्तान्यमाप्रहण कथं अर्थात् मास्यपदात्तं जतिजै-  
आग्निग्याग्निभारैरिक्तं च रूपमन्वात्तासामान दर्शनमित्यर्थः । जी प्र द्यं भावाण साम्नाविनेमयाण गन्तमेत  
२ । गन्तरीपगहण जीणं य दमं होदि ॥ गो जी ६८३

३ तस्मैरसग्निजा गेणगात्तिलक्ष्या । न पि, २, ६

कपायो लक्ष्या, नापि योगः, अपि तु कपायातुविद्धा योगप्रवृत्तिलक्ष्येति सिद्धम् । ततो  
न चीतराणाणा योगो लक्ष्येति न प्रत्ययत्थेयं तन्त्रत्वाद्योगस्य, न कपायस्तन्त्रं विशेषण-  
त्वतस्तस्य प्राधान्याभावात् । उक्तं च —

लिपदि अर्पीकीरिदि एदाए णियय-पुण्ण-पात्रं च ।

जीवो ति होइ लेस्सा लेस्सा-गुण जाणय बखादो ॥ ९४ ॥

निर्वाणपुरस्कृतो भव्यः । उक्तं च —

सिद्धत्तणस्स जोगा जे जीवा ते हवति भवसिद्धा ।

ण उ मल विगमे णियमो ताण कणगोवलाणमिन्नं ॥ ९५ ॥

कपाय और केवल योगको लक्ष्या नहीं कह सकते हैं किन्तु कपायातुविद्ध योगप्रवृत्तिको ही लक्ष्या  
कहते हैं, यह बात सिद्ध हो जाती है । इससे बारहवें आदि गुणस्थानवर्ती वीतराणियोंके केवल  
योगको लक्ष्या नहीं कह सकते हैं ऐसा निश्चय नहीं कर लेना चाहिये, क्योंकि, लक्ष्यामें योगकी  
प्रधानता है । कपाय प्रधान नहीं है, क्योंकि, वह योगप्रवृत्तिका विशेषण है । अतएव उसकी  
प्रधानता नहीं हो सकती है । कहा भी है—

जिसके द्वारा जीव पुण्य और पापसे अपनेको लिप्त करता है, उनके आधीन करता  
है उसको लक्ष्या कहते हैं, ऐसा लक्ष्यको स्वरूपको जाननेवाले गणधरदेव आदिने कहा है ॥९४॥  
जिसने निर्वाणको पुरस्कृत किया है, अर्थात् जो सिद्धिपद प्राप्त करनेके योग्य है,  
उसको भव्य कहते हैं । कहा भी है—

जो जीव सिद्धत्व, अर्थात् सर्व कर्मसे रहित मुक्तिरूप अयस्या पानेके योग्य है उन्हें  
भव्यसिद्ध कहते हैं । किंतु उनके कनकौपल अर्थात् स्वर्णपायाणके समान मलका नाश होनेमें  
नियम नहीं है ।

विशेषार्थ — सिद्धत्वकी योग्यता रखते हुए भी कोई जीव सिद्ध अवस्थामें प्राप्त कर  
लेते हैं और कोई जीव सिद्ध अवस्थाको नहीं प्राप्त कर सकते हैं । जो भव्य होते हुए भी  
सिद्ध अवस्थाको नहीं प्राप्त कर सकते हैं, उनके लिये यह कारण बतलाया है कि जिसप्रकार  
स्वर्णपायाणमें सोना रखते हुए भी उसका अलग किया जाता निश्चित नहीं है, उसीप्रकार सिद्ध-  
अवस्थाकी योग्यता रखते हुए भी तदनुकूल सामर्थ्यके नहीं मिलनेसे सिद्ध-पदकी प्राप्ति  
नहीं होती है ।

२ गो जी ६८९ । किं तु ' णियपुण्णपाप च ' इत्यत्र ' णियपुण्णपुण्ण च ' पाठ ।

२ गो. जी ५५८ किं तु ' मिद्धत्तणस्स ' इति स्थाने ' भव्यत्तणस्स ' इति पाठ ।

३ मण्णइ मयो जोगो न य जोगेण मिच्छंइ सन्नो । जह जोगमि पि दळिण मन्न थ न कोएण पडिमा ॥  
जह वा म एण पामाणकणजोगो मिजोगजोगोडडि । न पि तुजइ मन्तोधि य मिजुडड जस्य मपची ॥ कि पुण  
जा मपची ता जोगसंवे न उ जजोगस । तह जो मोस्यो विममा गो मजाण न इयोरमि ॥

वि मा २३१३, - २३१५.



तद्विपरीतोऽभव्यः' । सुगममेतत् ।

प्रथमसंवेगानुक्रमपास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं सम्यक्त्वम् । सत्येवमसंयतसम्यग्दृष्टिगुणस्याभावः स्यादिति चेत्सत्यमेतत् शुद्धनये समाश्रियमाणे । अथवा तत्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् । अस्य गमनिकोच्यते, आप्तागमपदार्थस्तत्त्वार्थस्तेषु श्रद्धानमनुरक्ततां सम्यग्दर्शनमिति लक्ष्यनिर्देशः । कथं पौरस्त्येन लक्षणेनास्य लक्षणस्य न विरोधश्चैव दोषः, शुद्धाशुद्धनयसमाश्रयणात् । अथवा तत्त्वचिः सम्यक्त्वं अशुद्धतरनयसमाश्रयणात् । उक्तं च—

जिन्होंने निर्वाणको पुरस्कृत नहीं किया है उन्हें अभव्य कहते हैं । इसका अर्थ सरल है ।

प्रथम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्यकी प्रगटता ही जिसका लक्षण है उसको सम्यक्त्व कहते हैं ।

शंका—इसप्रकार सम्यक्त्वका लक्षण मान लेने पर असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानका अभाव हो जायगा ?

समाधान—यह कहना शुद्ध निश्चयनयके आश्रय करने पर ही सत्य कहा जा सकता है । अथवा, तत्वार्थके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं । इसका अर्थ यह है कि आप आगम और पदार्थको तत्वार्थ कहते हैं । और उनके विषयमें श्रद्धान अर्थात् अनुसृतिकि करनेको सम्यग्दर्शन कहते हैं । यथा पर सम्यग्दर्शन लक्ष्य है । तथा आप, आगम और पदार्थका श्रद्धान लक्षण है ।

शंका—पहले कहे हुए सम्यक्त्वके लक्षणके साथ इस लक्षणका विरोध क्यों न माना जाय ? अर्थात् पहले लक्षणमें प्रथमादि गुणोंकी अभिव्यक्तिकी सम्यक्त्व कह आये हैं और इस लक्षणमें आप आदिके विषयमें श्रद्धाको सम्यक्त्व कहा है । इसलिये ये दोनों लक्षण भिन्न भिन्न अर्थको प्रगट करते हैं, इन दोनोंमें अविरोध कैसे हो सकता है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, शुद्ध और अशुद्ध नयकी अपेक्षासे ये दोनों लक्षण कहे गये हैं । अर्थात् पूर्वोक्त लक्षण शुद्धनय की अपेक्षासे है और तत्वार्थश्रद्धान रूप लक्षण अशुद्धनयकी अपेक्षासे है, इसलिये इन दोनों लक्षणोंके कथनमें द्विष्टभेद होनेके कारण कोई विरोध नहीं आता है ।

अथवा तत्त्वचिःको सम्यक्त्व कहते हैं । यह लक्षण अशुद्धतर नयकी अपेक्षा जानना चाहिये । कहा भी है—

१ प्रथमसंवेगानुक्रमपास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं प्रथम ॥ रागादीनामनुष्टेन प्रथम । समाराद्धान्ता संवेग । सर्वप्राणेषु मैत्री अनुकम्पा । जीमादयोऽर्था यथास्वमात्रं सतीति मतिरास्तिक्यम् । एतरेभिव्यक्तिलक्षणं प्रथम सराग-सम्यक्त्वमित्युच्यते । त रा वा १, २, ३०

२ मतिषु 'श्रद्धानमुक्ता' इति पाठ ।

छ-पच-गव-विहाण अथाणं जिणवरोवड्डाण ।

आणाए हिगमेण व सदहण होइ सम्मत्तं ॥ ९६ ॥

सम्यक् जानतीति संज्ञं मनः, तदस्यास्तीति संज्ञी । नैकेन्द्रियादिनातिप्रसङ्गः तस्य मनसोऽभावात् । अथवा शिक्षाक्रियोपदेशालापग्रही संज्ञी । उक्तं च—

सिख्वा-किरियुवेसालावगाही मणोवल्लेण ।

जो जीवो सो सण्णी तच्चिद्वरीदो असण्णी दुं ॥ ९७ ॥

शरीरप्रायोग्यपुद्गलपिण्डग्रहणमाहारः । सुगममेतत् । उक्तं च—

आहरदि सरारणं तिण्हं एगदर-वगणाओ व ।

भाता मणस्स णियद तम्हा आहारओ भणिओ ॥ ९८ ॥

जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा उपदेश दिये गये छह द्रव्य, पांच अस्तिकाय और नव पदार्थका आज्ञा अर्थात् आप्तवचनके आश्रयसे अथवा अयोगम अर्थात् प्रमाण, नय, निक्षेप और निराकिरूप अनुयोगद्वारोंसे श्रद्धान करनेको सम्यक्त्व कहते हैं ॥ ९६ ॥

जो भलीप्रकार जानता है उसको संज्ञ अर्थात् मन कहते हैं । वह मन जिसके पाया जाता है उसको संज्ञी कहते हैं । यह लक्षण एकेन्द्रियादिकर्म चला जायगा, इसलिये अतिप्रसंग दोष आज्ञायगा यह बात भी नहीं है, क्योंकि, एकेन्द्रियादिकके मन नहीं पाया जाता है । अथवा, जो शिक्षा, क्रिया, उपदेश और आलापको ग्रहण करता है उसको संज्ञी कहते हैं । कहा भी है—

जो जीव मनके अवलम्बनसे शिक्षा, क्रिया, उपदेश और आलापको ग्रहण करता है उसे संज्ञी कहते हैं । और जो इन शिक्षा आदिको ग्रहण नहीं कर सकता है उसको असंज्ञी कहते हैं ॥ ९७ ॥

औदारिकादि शरीरके योग्य पुद्गलपिण्डके ग्रहण करनेको आहार कहते हैं । इसका अर्थ सरल है । कहा भी है—

औदारिक, चैक्रियक और आहारक इन तीन शरीरोंमेंसे उद्यको प्राप्त हुए किसी

१ गो जी ५६१ आणाए जल्लया प्रमाणादिभिनिता ईपनिर्णयलक्षणया । अहिगमेण अधिगमेण प्रमाणनयआप्तवचनाश्रयेण निदोषनिवृत्त्यनुयोगद्वारै निक्षेपनिर्णयलक्षणेन । जी प्र टी

२ क्षिताहितमिथिनिधेभिमिमा शिक्षा । करचरणचारनादिरूपा क्रिया । चर्मयुनिकादितोषादिरयमानवध-मिधानादिरूपदेश । श्लोमादिपाठ आलाप । तत्प्राही मनोऽवल्लेन यो मुख्य उक्षगजराजनीरादिवीज स सज्ञी नाम । गो जी, जी प्र, टी ६६२

३ गो जी ६६१ मीमसादि जो पुव्य कञ्जमकञ्ज च तच्चमिदर च । मिसखादि नामेणेदि य समणो जमणो य निवरीदो ॥ गो जी ६६१

४ गो जी ६६५ तत्र च 'भासागणस्स' स्थाने 'भामागण' इति पाठ । उदयाणाणसरारोदणुण तदेहवयणवित्ताण । णोस्ममवगणणं गहण आहारय णाम ॥ गो जी ६६४



तद्विपरीनात्साहार । उक्तं च—

त्रिगैह्यगन्तमान्या केतस्त्रिणो समुहदा अजोगी च ।

मिद्रा य अणाहारा मेसा आहारया जीवा' ॥ ९९ ॥

अन्यव्ययमाणुणस्थानामनुयोगद्वारग्ररूपणार्थमुत्तरयत्रमाह—

एदेसिं चैव चोद्दसहं जीवसमासाणं परुषणट्टुदाए तत्थ इमाणि  
अट्ट अणियोगद्वाराणि णायव्वणि भवंति ॥ ५ ॥

‘ तत्थ इमाणि अट्ट अणियोगद्वाराणि’ एतदेवालं जेपस्य नान्तरीयकत्वादिति  
चैत्रिय दोग; मन्दबुद्धिसन्वायुग्रहार्थत्वात् । अनुयोगो नियोगो भाषा विभाषा वार्तिके-  
त्यर्थः । उक्तं च—

एत शरीरके योग्य तथा भाषा और मन्के योग्य पुद्गलवर्गणांशोंको जो नियमसे ग्रहण  
करता है उसको आहारक कहते हैं ॥ ९८ ॥

औरानिक आदि शरीरके योग्य पुद्गलपिण्डके ग्रहण नहीं करनेको अनाहार कहते हैं ।  
जाना भी है—

नियमद्वयानिको प्राप्त होनेवाले चारों गतिके जीव, प्रतर और लोकपूरण समुदातको प्राप्त  
हूय मयोगिकेचली तथा अयोगिकेचली और सिद्ध ये नियमसे अनाहारक होते हैं । दोष जीवोंको  
आहारक समझना चाहिये ॥ ९९ ॥

अन्वेषण क्रिये जानेवाले गुणस्थानोंके आठ अनुयोगद्वारोंके प्ररूपण करनेके लिये  
माणिका मूर कहते हैं—

एत ही चौमह जीवसमासोंके ( गुणस्थानोंके ) निरूपण करने रूप प्रयोजनके होनेपर  
जाना आगे कहे जानेवाले ये आठ अनुयोगद्वार समझना चाहिये ॥ ५ ॥

शंका — ‘ तत्थ इमाणि अट्ट अणियोगद्वाराणि’ इतना सूत्र बनाना ही पर्याप्त था,  
स्वौक्ति, मूलका शेष भाग इमका अविनाभावी है । अतएव उसका स्वयं ग्रहण हो जाता है ।  
उसे मूरमें निहित करनेकी कोई आवश्यकता नहीं थी ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, मन्दबुद्धि प्राणियोंके अनुग्रहके लिये शेष  
भागको मूरमें प्ररूपण किया गया है ।

अनुयोग, नियोग, भाषा, विभाषा और वार्तिक ये पाँचों पर्यायवाची नाम हैं ।  
कहा भी है—

१ परमार्थोत्पलममद्वयपणिपणोगिजिना । गो जी, जी ५, टी ६३=

२ गो जी ६६९

३ नानागोत्रजनयोग, विपतर ? भूते त्रिजाभियोगप्रयत्न, अथवा योग इति ज्ञापार उच्यते,  
प्राणवृत्त्यात्कलेपयोगो, तथा मन्दबुद्धिपणो भवति, अजुना वा योगो अनुयोग इथेमादि । तथा निरिस्ती योगो

अणियोगो य णियोगो भास-विभासा य वद्विया चैय ।

एदे अणिओअस्स दु णामा एयहुआ पच' ॥ १०० ॥

सूई मुद्रा पडिहो सभवदल-वद्विया चैय ।

अणियोग-णिरुत्तौए दिहता होंति पचेय' ॥ १०१ ॥

एते अष्टावधिकाराः अवश्य ज्ञातव्याः भवन्त्यन्यथा जीवसमासावागमामनुपपत्ते-

अनुयोग, नियोग, भाषा, विभाषा और वार्तिक ये पाँच अनुयोगके पर्यायवाची नाम  
जानना चाहिये ॥ १०० ॥

अनुयोगकी निरुक्तिमें सूची, मुद्रा, प्रतिघ, सभवदल और वसिंका ये पाँच दृष्टान्त  
होते हैं ॥ १०१ ॥

विशेषार्थ—अनुयोगकी निरुक्तिमें जो पाँच दृष्टान्त दिये हैं वे लकड़ी आदिके कामको  
लक्ष्यमें रखकर दिये गये प्रतीत होते हैं । जैसे, लकड़ीसे किसी वस्तुको तैयार करनेके लिये  
पहले लकड़ीके निरूपयोगी भागको निकालनेके लिये उसके ऊपर एक रेखामें डेरा डाला जाता  
है, इसे सूचीकर्म कहते हैं । अनन्तर उस डेरारसे लकड़ीके ऊपर चिन्ह कर दिया जाता है,  
इसे मुद्राकर्म कहते हैं । इसके बाद लकड़ीके निरूपयोगी भागको छँटकर निकाल दिया जाता  
है, इसे प्रतिघ या प्रतिघातकर्म कहते हैं । फिर उस लकड़ीके कामके लिये उपयोगी जितने  
भागोंकी आवश्यकता होती है उतने भाग कर लिये जाते हैं इसे सभवदलकर्म कहते हैं । और  
अन्तमें वस्तु तैयार करने उसके ऊपर ब्रश आदिले पालिश कर दिया जाता है, यही वसिंका-  
कर्म है । इसतरह इन पाँच कर्मोंसे जैसे विवक्षित वस्तु तैयार हो जाती है, उसीप्रकार अनुयोग  
शब्दसे भी अगमामनुकूल संपूर्ण अर्थका ग्रहण होता है । नियोग, भाषा, विभाषा और वार्तिक  
ये चारों अनुयोग शब्दके द्वारा प्रगट होनेवाले अर्थको ही उत्तरोत्तर विराद करते हैं, अतएव  
वे अनुयोगके ही पर्यायवाची नाम हैं ॥ १०१ ॥

ये आठ अधिकार अवश्य ही जानने योग्य हैं, क्योंकि, इनके परिज्ञानके बिना जीव-

नियोगो यथा वट वानना वट एवोच्यते नाय इयेयमादि । माषण भाषा, व्यक्तीकरणमित्यर्थ, तथा, घटनाट वट,  
वेष्टामानित्यर्थ । विप्रिया भाषा विभाषा, यथा वट ऊट क्रम इत्यममादि । ‘ वार्तिक’ तुला मय वार्तिक,  
अर्थपर्यायकथनमित्यर्थ । अनुयोगस्य पुनस्तानि एतार्थाधिकानि पोंति । मि मा, को ट १३९०  
? जा नि १२५

२ कहे पोये चित्ते विरिवापि वांड-देमिए चैय । भाषणमिमात्तपु, वा वितीमणे य आहणा ( नि २९ )  
परमो च्चवागार शूलवमोवदमण वांजो । तहंओ सज्जायते निदंमं सब्बहा कुण्ड ॥ रुदुममाण सुत्त तद्वकस्स-  
भाषण भाषा । शूलवाण विभासा मन्त्रीम वदिय नेय ॥ मि मा १४३३-१४३५ प्रथम कष्टे रूपकारो रपमा-  
निर्माणयति, ‘ उड्डेड’ ति भणिय होट । तथा द्वितीयस्तु शूलवमवोपदक्षनं, ‘ वोट्ट’ ति भणिय होइ ।  
वृत्तीयस्तु मर्मथा मर्मानवममानेदोवात् करोति, चीरयतीयेत्तायुक्त मत्तीति न्यानमागर्थ । मि मा, को ट १४३६.

रिति श्रुतवत् शिष्यस्य तन्निर्देशविषयसंशयः समुत्पद्यत इति जातनिश्चयः प्रच्छास्त्रमाह—  
तं जहा ॥ ६ ॥

अव्यक्तत्वाच्चदिति ननुसकल्लिङ्गनिर्देशः । 'तद्' अष्टानामनुयोगद्वाराणां निर्देशः ।  
यथेति पृच्छा । एवं प्रष्टवतः शिष्यस्य संदेहापोहनार्थमुत्तरास्त्रमाह—

संतपरूवणा दृव्यपमाणानुगमो खेत्तानुगमो फोसणानुगमो  
कालानुगमो अंतरानुगमो भावानुगमो अप्पावहुगानुगमो चेदि ॥७॥

अट्टणमणियोगद्दाराणामाहम्मि किमिदि संतपरूवणा चेय उच्चदे ? ण, संताणि-  
योगो सेसाणियोगद्दाराणं जेण जेणीभूदो तेण पढमं संताणियोगो चेव मणदे ।  
समासोका ज्ञान नहीं हो सकता है। ऐसा सुननेवाले शिष्यको उन आठ अनुयोगद्वारोंके नामके  
विषयमें संशय उत्पन्न हो सकता है। इसप्रकारका निश्चय होने पर अन्वर्थ प्रच्छास्त्रको  
कहते हैं—

ये आठ अधिकार कौनसे हैं ॥ ६ ॥

कहा जानेवाला विषय अव्यक्त होनेसे 'सामान्ये ननुसकम्' इस नियमको ध्यानमें  
रखकर आचार्यने 'तद्' यह नपुंसकलिङ्ग निर्देश किया है, जो कि आगे कहे जानेवाले उन  
आठों ही अनुयोगद्वारोंका निर्देश करता है। 'यथा' यह पद प्रच्छास्त्रको प्रगट करता है।  
अर्थात् वे आठ अनुयोगद्वार कौनसे हैं? इसप्रकार पूछनेवाले शिष्यके संदेहको दूर करनेके  
लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सत्यरूपणा, द्रव्यप्रमाणानुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शानुगम, कालानुगम, अन्तरानुगम,  
भावानुगम और अल्पबहुत्वानुगम ये आठ अनुयोगद्वार होते हैं ॥ ७ ॥

शंका—आठ अनुयोगद्वारोंके आदिमें सत्यरूपणा ही क्यों कहीं गई है?

समाधान—ऐसा नहीं कहना, क्योंकि, सत्यरूपणारूप अनुयोगद्वार जिस  
कारणसे शेष अनुयोगद्वारोंका योनिभूत (मूलकारण) है, उसीकारण सत्यसे पहले सत्यरूप-  
णाका ही निरूपण किया है।

१ सत्तं द्रव्यमिचारी मर्मद्वयविविषयत्वात्, न त्ति कश्चिन् पदार्थं गत्वा न्यमित्तरनि xx गया च त्रि-  
रहणामस्तित मूल तेन हि निश्चितस्य मन्तुन उत्तरा धिता युन्ते अतस्सत्त्वो वनत्तिने । सत्त पाणानांपरु-  
सव्योपदेग । निश्चितमव्यस्य निजममिप्रतिपत्ते क्षेत्रामिवानम् । अवस्थात्रिगणस्य वनिग्राञ्चि कालवियोगोप-  
क्षेमनिश्चयार्थं सर्वानम् । स्थितिमतोऽविविषयीच्छेदार्थं कालोपादानम् । अनुपहततीर्थस्य न्यगामि पुनग्नूतिदर्शनात्तन्वन्-  
(अतस्त्वचनम्) । परिणाममन्तारनिर्णयार्थं मास्त्वचनम् । मरुतात्तात्पर्यमिति त्र्येडत्तन्वोयमिनेयप्रतिपत्त्यर्थमन्वन्तु-  
वचनम् । त रा ना पु ३०

संतपरूवणागतं किमिदि दृव्यपमाणानुगमो उच्चदे ? ण, णिय-संखा-गुणिद्वोगाहण-  
खेत्तं सेत्तं उच्चदे दि । एवं चेव अदीद-कृतणेण सह फोसणं उच्चदे । तदो दो वि अहि-  
यारा संसा-जेणिणो । णाणेग-जीवे अस्सिसऊग उच्चमाण-कालंतर-परूवणा वि संखा-जेणी ।  
इदं थोवमिदं च बहुवमिदि मणगमाण-अप्पावहुगं पि संखा-जेणी । तेण एद्दणमाहम्मिह  
दृव्यपमाणानुगमो मणग-जेणो । एत्थ भावो किमिदि ण उच्चदे ? ण, तस्स बहु-  
वणणादो । कथं भावो बहु-वणणीयो ? ण, कम्म कम्मोदय-परूवणाहि विणा  
तस्म परूवणाभावादो । छ-वड्डि-हाणि-ट्टिय-भाव-संसमंतरेण भाव-वणणाणुवचत्तीदो वा ।  
वड्डमाण-फायं वणणेदि सेत्तं । फोमणं पुग अदीदं वड्डमाणं च वणणेदि । अवगय वड्डमाण-  
फासो सुहेण दो वि पच्छा जाणदु त्ति पोसगपरूवणादो होदु णाम पुब्बं खेत्तस्स

शंका—सत्यरूपणाके बाद द्रव्यप्रमाणानुगमका कथन क्यों किया गया है?

समाधान—यह शंका भी ठीक नहीं है, क्योंकि, अपनी अपनी संख्यासे गुणित  
अवगाहनारूप क्षेत्रको ही क्षेत्रानुगम कहते हैं। और अपनी अपनी संख्यासे गुणित अवग-  
हनारूप क्षेत्र ही भूतकालीन स्पर्शानुगम कहा जाता है। इसलिये इन  
दोनों ही अधिकारोंका सत्त्वाधिकार (द्रव्यप्रमाणानुगम) योनिभूत है। उसीप्रकार नाना  
जीव और एक जीवकी अपेक्षा वर्णन की जानेवाली कालप्ररूपणा और अन्तरप्ररूपणाका  
भी सत्त्वाधिकार योनिभूत है। तथा यह अल्प है, यह बहुत है, इसप्रकार कहे जानेवाले  
अल्पबहुत्वानुयोगद्वारका भी सत्त्वाधिकार योनिभूत है। इसलिये इन सबके आदिमें द्रव्य-  
प्रमाणानुगमका ही कथन करना योग्य है।

शंका—यहां भावप्ररूपणाका वर्णन क्यों नहीं किया गया है?

समाधान—उसका वर्णन करते योग्य विषय बहुत है, इसलिये यहां भावप्ररूपणाका  
वर्णन नहीं किया गया है।

शंका—यह कैसे जाना जावे कि भावप्ररूपणा बहुवर्णनीय है?

समाधान—ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि, मर्म और कर्मोदयके निरूपणके  
विना भावानुयोगद्वारका निरूपण नहीं हो सकता है, इसलिये भाव बहुवर्णनीय है यह  
समझना चाहिये। अथवा, बहुवर्णनीय रहने और बहुवर्णनीय बुद्धिमें स्थित भावकी संख्याके विना  
भावप्ररूपणाका वर्णन नहीं हो सकता है, इसलिये भी यहां भावप्ररूपणाका वर्णन नहीं किया  
गया है।

शंका—क्षेत्रानुयोग वर्तमानकालीन स्पर्शका वर्णन करता है। और स्पर्शानुयोग  
अतीत और वर्तमानकालीन स्पर्शका वर्णन करता है। जिसने वर्तमानकालीन स्पर्शको जान  
लिया है वह अन्तर सरलतापूर्वक अतीत और वर्तमानकालीन स्पर्शको जान लेवे, इसलिये

परुच्यणा, ण पुण कालंतरोहिंतो ? इदि ण, अणवगय-खेत्त-फोसणस्स तकालंतर-जाणणुवाया-  
भावादो । ण च मंतमत्थमागमो ण परुवेइ तस्स अत्थावयत्त-पसंगदो । गेदाणि  
तन्नालंतरं पडिवज्जीटि चेण्ण, तापडणे विरोहाभावदो । तथा भावप्पावहुगाणं पि  
परुच्यणा खेत्त-फोसणणुगमंतरेण ण तव्विसया हंतिति ति पुव्वमेव खेत्त-फोसण-परुच्यणा  
क्कायन्ना । सेमाहियोरसु संनेतु ते मोत्तूण किमहं कालो पुव्वमेव उच्चदे ? ण ताव  
अंतगपरुच्यणा एत्थ भण्ण-जोग्गा काल-जोणित्तादो । ण भावो वि तस्स तदो हेट्ठिम-  
अहियार-जोणित्तादो । ण अप्पावहुगं पि तस्स वि सेसाणियोग-जोणित्तादो । परिसेसादो  
कालो चैव तत्थ परुच्यणा-जोगो ति । भावप्पावहुगाणं जोणित्तादो पुव्वमेवंतरपरुच्यणा

स्पर्शन प्ररूपणके पहले क्षेत्रप्ररूपणाका वर्णन रहा आवे इसमें कोई आपत्ति नहीं, परंतु काल  
और अन्तरप्ररूपणके पहले क्षेत्रप्ररूपणाका वर्णन समभव नहीं है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जिसने क्षेत्र और स्पर्शनको नहीं जाना है उसे  
तन्मन्थी काल और अन्तरके जाननेका कोई भी उपाय नहीं प्राप्त हो सकता है । और  
आगम, जिन प्रकारसे चस्तु व्यवस्था है, उसीप्रकारसे प्ररूपण नहीं करे यह ही नहीं सकता  
है । यदि ऐसा नहीं माना जाये तो उस आगमको अर्थपर्यत्व अर्थात् अनर्थकपर्यत्वका प्रसंग  
प्राप्त हो जायगा ।

शंका—तो भी क्षेत्र और स्पर्शनप्ररूपणके पश्चात् काल और अन्तरप्ररूपणाका कथन  
प्राप्त नहीं होता है ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि, क्षेत्र और स्पर्शनके बाद काल और अन्तर-  
प्ररूपणके कथन करनेमें कोई निरोध नहीं आता है ।

उसीप्रकार भाव और अल्पपरुत्वकी भी प्ररूपणा क्षेत्र और स्पर्शनानुगमके विना  
क्षेत्र और स्पर्शनको विषय करनेवाली नहीं हो सकती है, इसलिये इन सबके पहले ही  
क्षेत्र और स्पर्शनानुगमका कथन करना चाहिये ।

शंका—अन्तरादि शेष अधिकारोंके रहते हुए भी उन्हें छोड़कर कालाधिकारका  
कथन पहले क्यों किया गया है ?

समाधान—यहांपर ( स्पर्शनप्ररूपणके पश्चात् ) अन्तरप्ररूपणाका कथन तो किया  
नहीं जा सकता है, क्योंकि, अन्तरप्ररूपणाका मूल आधार ( योनि ) कालप्ररूपणा ही है ।  
स्पर्शनप्ररूपणके बाद भावप्ररूपणाका भी वर्णन नहीं कर सकते हैं, क्योंकि, कालप्ररूपणासे  
नीचेका अधिकार ( अन्तराधिकार ) भावप्ररूपणाका योनिरूप है । उसीप्रकार स्पर्शनप्ररू-  
पणाके बाद अल्पपरुत्वप्ररूपणाका भी कथन नहीं किया जा सकता है, क्योंकि, शेषानुयोग  
( भावानुयोग ) अल्पपरुत्वप्ररूपणाका योनिरूप है । इसप्रकार जब स्पर्शनप्ररूपणके पश्चात्  
अन्तर, भाव और अल्पपरुत्व इन्मेंसे किसीका भी प्ररूपण नहीं हो सकता था तब परिशेष-  
न्यायमें त्यों पर काल ही प्ररूपणके योग्य है यह बात सिद्ध हो जाती है ।

उत्ता । अप्पावहुग जोणित्तादो पुव्वमेव भावपरुच्यणा उच्चदे । सुत्ते तथा परुच्यणा किमिदि  
ण दिस्सदे ? ण, सुत्तस्सत्थ-ख्यणसेत्त-चावारादो । तथाहरिया किमिदि ण चम्पानेति ?  
ण, अवधारणसम्प्राणं सिस्साणं रपहि अभावादो तहोवएसभावादो वा । अत्थित्तं षणदि  
संताणियोगो । संताणियोगग्ग्हि जमत्थित्तं उच्चं तस्स पमाणं परुवेदि दब्बाणियोगो ।  
तेहितो अवगय-संत-पमाणं वड्डमाणोगाहणं परुवेदि खेत्ताणियोगो । पुणो तेहितो-  
वलद्ध-संत-पमाण-रोत्ताणं अदीद-काल-विभिद्ध-फासं परुवेदि फोसणाणुगमो । तेहितो  
अवगय-संत-पमाण-खेत्त-फोसणाणं द्विदिं परुवेदि कालाणियोगो । तेसिं चैव विरहं  
परुवेदि अंतराणियोगो । तेसिं चैव भावं परुवेदि भावाणियोगो । तेसिं चैव शेष-चहुत्तं  
वणोदि अप्पावहुगमिदि । उच्चं च—

अत्थित्तं पुण सत अत्थित्तस्स य तहेव परिमाण ।

पच्चुपण्ण खेत्त अदीद-पटुपण्णण फुसण ॥ १०२ ॥

भावप्ररूपणा और अल्पपरुत्वप्ररूपणाकी योनि होनेसे इन दोनोंके पहले ही  
अन्तरप्ररूपणाका उल्लेख किया है । तथा अल्पपरुत्वकी योनि होनेसे इसके पहले ही भावप्ररू-  
पणाका कथन किया है ।

शंका—खुदमें प्ररूपणाओंका वर्णन इसप्रकार क्यों नहीं दिखाई देता है ?

समाधान—यह कोई बात नहीं, क्योंकि, सूत्रका कार्य अर्थकी सूचना करना  
मात्र है ।

शंका—यदि ऐसा है तो दूसरे आचार्य उक्त प्रकारसे प्ररूपणाओंका व्याख्यान क्यों  
नहीं करते हैं ?

समाधान—ऐसा भी नहीं कहना चाहिये, क्योंकि, एक तो आजकल विरुद्ध  
व्याख्यानरूप तत्वार्थके अवधारण करनेमें समर्थ शिष्योंका अभाव है, और दूसरे उसप्रकारके  
उपदेशका अभाव है । इसलिये आचार्यने उक्त प्रकारसे प्ररूपणाओंका व्याख्यान नहीं किया ।

सत्यरूपणा पदार्थोंके अस्तित्वका कथन करती है । सत्यप्ररूपणमें जो पदार्थोंका अस्तित्व  
कहा गया है उनके प्रमाणका वर्णन द्रव्यानुयोग करता है । इन दोनों अनुयोगोंके द्वारा जाने  
हुए अस्तित्व और सत्या-प्रमाणरूप द्रव्योंकी वर्तमान अवगाहनाका निरूपण क्षेत्रानुयोग  
करता है । उक्त तीनों अनुयोगोंके द्वारा जाने हुए सत्व, संख्या और क्षेत्ररूप द्रव्योंके अतीत-  
कालावाशय वर्तमान स्पर्शानुयोग वर्णन करता है । पूर्वोक्त चारों अनुयोगोंके  
द्वारा जाने गये सत्व, संख्या, क्षेत्र और स्पर्शरूप द्रव्योंकी स्थितिका वर्णन कालानुयोग  
करता है । जिन पदार्थोंके अस्तित्व, संख्या, क्षेत्र, स्पर्श और स्थितिका ज्ञान हो गया है  
उनके अन्तरकालका वर्णन अन्तरानुयोग करता है, उन्हींके भावोंका वर्णन भावानुयोग  
करता है और उन्हींके अल्पपरुत्वका वर्णन अल्पपरुत्वानुयोग करता है । कहा भी है—

अस्तित्वना प्रतिपादन करनेवाली प्ररूपणाको सत्यप्ररूपणा कहते हैं । जिन पदार्थोंके

कालो द्विदि-अवधरणं अतरं विरहो य सुष्ण-कालो य ।

भावो खलु परिणामो स-गाम-सिद्धं खु अप्पवडु ॥ १०३ ॥

प्रथमानुयोगस्वरूपनिरूपणार्थं सूत्रमाह—

**संतपरुवणदाए' दुविहो णिहेसो ओधेण आदेसेण' य ॥ ८ ॥**

चतुर्दशजीवसमासानामित्यनुवर्तते, तेनैवमाभिसम्बन्धः क्रियते चतुर्दशजीव-समासानां सत्परुवणायामिति । सत्परुवणमित्यर्थः । कथम्? अन्तर्भावितभावत्वात् । प्ररूपणा निरूपणा प्रज्ञापनेति यावत् । चतुर्दशजीवसमाससत्परुवणायामित्यर्थः । सच्छब्दोऽस्ति शोभनवाचकः, यथा सदभिधानं सत्यमित्यादि । अस्ति अस्तित्ववाचक', सति सत्ये

अस्तित्वका ज्ञान हो गया है ऐसे पदार्थोंके परिमाणका कथन करनेवाली सूत्र्याप्ररूपणा है । वर्तमान क्षेत्रका वर्णन करनेवाली क्षेत्रप्ररूपणा है । अतितत्पर्या और वर्तमानस्पर्शका वर्णन करनेवाली स्पर्शनप्ररूपणा है । जिसमें पदार्थोंकी जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिका वर्णन हो उसे कालप्ररूपणा कहते हैं । जिसमें विरहकाल अथवा शून्यकालका कथन हो उसे अन्तर-प्ररूपणा कहते हैं । जो पदार्थोंके परिणामोंका वर्णन करे वह भावप्ररूपणा है । तथा अल्प-बहुत्वप्ररूपणा अपने नामसे ही सिद्ध है ॥ १०२-१०३ ॥

अब पहले सदनुयोगके स्वरूपका निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं ।

सत्परुवणामें ओघ अर्थात् सामान्यकी अपेक्षासे और आदेश अर्थात् विशेषकी अपेक्षासे इसतरह दो प्रकारका कथन है ॥ ८ ॥

इस सूत्रमें 'चतुर्दशजीवसमासानाम्' इस पदकी अनुवृत्ति होती है, इसलिये उस पदके साथ ऐसा संबन्ध कर लेना चाहिये कि 'चौदह जीवसमासोंकी सत्परुवणामें' । यद्वा पर सत्का अर्थ सत्व है ।

शंका—यद्वा सत्का अर्थ सत्व करनेका क्या कारण है ?

समाधान—क्योंकि, सत्में भावरूप अर्थ अन्तर्भूत है, इसलिये यद्वा पर सत्का अर्थ सत्व लिया गया है ।

प्ररूपणा, निरूपणा और प्रज्ञापना ये सब पर्यायवाची नाम हैं । इसलिये 'सत्परुवण-दाए' इसपदका अर्थ यह हुआ कि चौदह जीवसमासोंके सत्वके निरूपण करनेमें । 'सत्' शब्द शोभन अर्थात् सुन्दर अर्थका भी वाचक है । जैसे, सदभिधान अर्थात् शोभनरूप कथनको

१ सति तिज्जमाण एयस्स पयस्स जा परुवणया । गदयाइएए वयुए सतपयपरुवणा सा उ । जीवस्स च ज सत जग्हा त तेहिं तेणु वा पयति । तो सतस्स पयाइ ताइ तेणु परुवणया ॥ वि भा ४०.७-४०८

२ मखेओ ओघो ति य गुणमण्णा सा च मोहजोगमया । वित्थारदिसो ति य मगणसण्णा सत्परुवणया ॥ गो जी ३

त्रतीत्यादि । अत्रास्तित्ववाचको ग्राह्यः । निर्देशः प्ररूपणं विवरणं व्याख्यानमिति यावत् । स द्विविधो द्विप्रकारः, ओघेन आदेशेन च । ओघेन सामान्येनाभेदेन प्ररूपण-मेकः । अपरः आदेशेन भेदेन विशेषेण प्ररूपणमिति । न च प्ररूपणायाम्प्रतीत्यः प्रकारोऽस्ति सामान्यविशेषव्यतिरिक्तस्यानुपलम्भात् । विशेषव्यतिरिक्तसामान्याभावादादेशप्ररूपणया एव ओघावगतिः स्यादिति न द्विविधं व्याख्यानमिति चेन्न, संक्षेपविस्तररुचिद्रव्य-पर्यायार्थिकसत्त्वाग्रहार्थत्वात् । जीवसमास इति किम् ? जीवाः सम्यगासतेऽस्मिन्निति जीवसमासः । कासते ? गुणेषु । के गुणाः ? औदयिकौपशमिकश्चाप्यधिकशायोपशमिक-

सत्य कहते हैं । कहीं पर 'सत्' शब्द अस्तित्ववाचक भी पाया जाता है । जैसे, यह सत्यके अस्तित्व अर्थात् सद्भावमें व्रती है । इनमेंसे यहाँ पर 'सत्' शब्द अस्तित्ववाचक ही लेना चाहिये ।

निर्देश, प्ररूपण, विवरण और व्याख्यान ये सब पर्यायवाची नाम हैं । वह निर्देश ओघ और आदेशकी अपेक्षा दो प्रकारका है । ओघ, सामान्य या अभेदसे निरूपण करना पहली ओघप्ररूपणा है, और आदेश, भेद या विशेषरूपसे निरूपण करना दूसरी आदेश-प्ररूपणा है । इन दो प्रकारकी प्ररूपणाओंको छोड़कर वस्तुके विवेचनका और कोई तीसरा प्रकार संभव नहीं है, क्योंकि, वस्तुमें सामान्य और विशेष धर्मको छोड़कर और कोई तीसरा धर्म नहीं पाया जाता है ।

शंका—विशेषको छोड़कर सामान्य सत्तन्त्र नहीं पाया जाता है, इसलिये आदेशप्ररूपणाके कथनसे ही सामान्यप्ररूपणाका ज्ञान हो जायगा । अतएव दो प्रकारका व्याख्यान करना आवश्यक नहीं है ?

समाधान—यह आशका ठीक नहीं है, क्योंकि, जो संक्षेप-रुचिवाले शिष्य होते हैं वे द्रव्यार्थिक अर्थात् सामान्यप्ररूपणासे ही तत्त्वको जानना चाहते हैं । और जो विस्तार-रुचिवाले होते हैं वे पर्यायार्थिक अर्थात् विशेषप्ररूपणाके द्वारा तत्त्वको समझना चाहते हैं, इसलिये इन दोनों प्रकारके प्राणियोंके अनुग्रहके लिये यहाँ पर दोनों प्रकारकी प्ररूपणाओंका कथन किया है ।

शंका—जीवसमास किसे कहते हैं ?

समाधान—जिसमें जीव भेदप्रकार रहते हैं अर्थात् पाये जाते हैं उसे जीवसमास कहते हैं ?

शंका—जीव कहाँ रहते हैं ?

समाधान—गुणोंमें जीव रहते हैं ।

शंका—वे गुण कौनसे हैं ?

समाधान—औदयिक, औपशमिक, श्वायिक श्वायोपशमिक और पारिणामिक ये पांच

पारिणामिका इति गुणाः । अस्य गमनिका, कर्मणासुदयादुत्पन्नो गुण औदयिकः, नेपासुयमादांपशमिकः, शयात्स्वयमिकः, तत्क्षयादुपशमाच्चोत्पन्नो गुण क्षायोपशमिकः । कर्मोदयोपशमनयक्षयोपशममन्तरेणोत्पन्न पारिणामिकः । गुणनहचरितत्वात्सापि गुणसंज्ञा प्रतिलभते । उक्तं च—

नेः दृ लभिवन्ते उदयादिषु सभवेहि भवेहि ।

जीवा ते गुण मण्णा निद्रिडा सञ्चदरितीहि' ॥ १०४ ॥

ओधनिदंशार्थयुचरद्वयमाह—

ओधेण अस्थि मिच्छाहृद्दी' ॥ ९ ॥

यथोदशस्थथा निदंश इति न्यायात् ओत्राभिधानमन्तरेणापि ओधोऽवगम्यते

प्रकारके गुण अर्थात् भाव है । इनका तुलासा इस प्रकार है । जो कर्मके उदयसे उत्पन्न होता है उसे औदयिक भाव कहते हैं । जो कर्मके उपशमसे उत्पन्न होता है उसे आपशमिक भाव कहते हैं । जो कर्मके क्षयसे उत्पन्न होता है उसे क्षायिक भाव कहते हैं । जो वर्तमान समयमें सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयाभावी क्षयसे और अनागत कालमें उदयमें आनेवाले सर्वघाती स्पर्धकोंके सद्व्ययारूप उपशमसे उत्पन्न होता है उसे क्षायोपशमिक भाव कहते हैं । जो कर्मके उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमकी अपेक्षाके गिना जीवके सभावभावसे उत्पन्न होता है उसे पारिणामिक भाव कहते हैं । इन गुणोंके माहर्चासे आत्मा भी गुणसंज्ञाको प्राप्त होता है । कहा भी है—

दर्शनमोहनीय आदि कर्मोंके उदय, उपशम आदि अवस्थाओंके होने पर उत्पन्न हुए जिन परिणामोंसे युक्त जो जीव देने जाते हैं उन जीवोंको सर्वशदेवने उसी गुणसंज्ञावाला कहा है ॥ १०४ ॥

अब ओत्र अर्थात् गुणस्थान प्ररूपणाका कथन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—  
सामान्यसे गुणस्थानकी अपेक्षा मिथ्यादृष्टि जीव है ॥ ९ ॥

योंका— 'उदेशके अनुसार ही निर्देश होता है' इस न्यायके अनुसार 'ओध' इस शब्दके रुढ़े विना भी 'ओध' का ज्ञान हो ही जाता है, इसलिये उसका सूत्रमें फिरसे

१ गो जी ८ अत्र गुणस्थानकी प्रधानरूपेण मिथ्यावादयोऽयोगिष्वल्लिखपर्यता जीवपरिणामविशेषा न पृा गत्स्थानानो वे निपास्तिव । जी ५ म्

२ ११ यदि मित्रा दृष्टिमान ऋ तस्य गुणस्थानमस । गुणा हि ज्ञानादिरूपान्तल्य ते दृद्यं त्रिपर्यन्तायां भोपेति १ ७५, १२ यद्यपि सर्वभातिप्रत्यभिप्रायतमोर्हनायां दयादर्दं यत्तज्जिवादिबस्तुप्रतिपविरुपा दृष्टि-  
रूपमती त्रिपर्यन्ता भवति, तथापि काचित् मनुष्यपरादिप्रतिपविरातिपर्यन्ता, ततो निगोदाह्वरथायामपि तथाभूतायान-  
सर्वभातिपरिपविरता ममति अयथा-ची १५५५५ । अभि रा मे ( मिच्छादृष्टिगुणद्वयम् )

तस्येह पुनरुच्चारणमनर्थकमिति न, तस्य दुर्मेधोजनानुग्रहार्थत्वात् । सर्वसत्त्वानुग्रह-  
कारिणो हि जिनाः नीरागत्वात् । सन्ति मिथ्यादृष्टयः । मिथ्या वितथा व्यलीका असत्या  
दृष्टिदर्शनं विपरितैकान्तविनयसंशयाज्ञानरूपमिथ्यात्वकर्मोदयजनिता येषां ते मिथ्या-  
दृष्टयः ।

जावदिया वयण-बहा तावदिया चैव ह्येति णय-वादा ।

जावदिया णय-वादा तावदिया चैव पर-समथा' ॥ १०५ ॥

इति वचनान्न मिथ्यात्वपञ्चकनियमोऽस्ति किन्तूपलक्षणमात्रमेतदभिहितं पञ्चविधं  
मिथ्यात्वमिति । अथवा मिथ्या वितथं, तत्र दृष्टिः रुचिः श्रद्धा प्रत्ययो येषां ते मिथ्या-  
दृष्टयः । उक्तं च—

मिच्छत्तं वेयतो जीवो विवरीय-दमणो हेह ।

ण य वम्मं रोचेदि ह महुरं खु रस जहा जरिदो' ॥ १०६ ॥

उच्चारण करना निष्प्रयोजन है ?

समाधान— ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, अल्पबुद्धि या मूढ़जनोंके अनुग्रह-  
के लिये सूत्रमें 'ओध' शब्दका उल्लेख किया है । जिनदेव संपूर्ण प्राणियोंका अनुग्रह  
करनेवाले होते हैं, क्योंकि, वे वीतराग हैं ।

'मिथ्यादृष्टि जीव है' यहां पर मिथ्या, वितथ, व्यलीक और असत्य ये पकार्य-  
वाची नाम हैं । दृष्टि शब्दका अर्थ दर्शन या श्रद्धा है । इससे यह तात्पर्य हुआ कि जिन  
जीवोंके विपरीत, प्रकान्त, धिनय, संशय और अज्ञानरूप मिथ्यात्व कर्मके उदयसे उत्पन्न हुई  
मिथ्यारूप दृष्टि होती है उन्हें मिथ्यादृष्टि जीव कहते हैं ।

'जितने भी वचन-मार्ग हैं उतने ही नय-वाद अर्थात् नय के भेद होते हैं और  
जितने नय वाद हैं उतने ही पर-समय ( अनेकान्त-चाल मत ) होते हैं ॥ १०५ ॥

इस वचनके अनुसार मिथ्यात्वके पांच ही भेद हैं यह कोई नियम नहीं समझना  
चाहिये, किंतु मिथ्यात्व पांच प्रकारका है यह कहना उपलक्षणमात्र है । अथवा, मिथ्या  
शब्दका अर्थ वितथ और दृष्टि शब्दका अर्थ रुचि, श्रद्धा या प्रत्यय है । इसलिये जिन जीवोंकी  
रुचि असत्यमें होती है उन्हें मिथ्यादृष्टि कहते हैं । कहा भी है—

मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयसे उत्पन्न होनेवाले मिथ्यात्वभावका अनुभव करनेवाला जीव  
विपरीत श्रद्धावाला होता है । जिसप्रकार पित्तज्वरसे युक्त जीवको मधुर रस भी अच्छा मालूम

१ गार्थेय पूर्वमपि ६७ गार्थकृतेन ज्ञाता ।

२ एव स्थूलाश्रयेण मिथ्यात्वस्य पचविकल मयित एर्माशाश्रयेणमस्यातलोऽरुमात्रप्रकल्पमभात्,  
तत्र अत्रहारातुपपत्ते । गो. जी, जी ५, टी ५

३ गो. जी १७



त मिच्छत जहमसद्वहणं तन्नाण होइ अथाण ।

ससद्वहणमिगहिय अणमिगहिय ति त तिविह ॥ १०७ ॥

इदानीं द्वितीयगुणस्थानरूपणार्थं सूत्रमाह—

**सासणसम्माहृती ॥ १० ॥**

आसादनं सम्यक्त्वविराधनम्, सह आसादनेन वर्तत इति सासादनो विनाशित-  
सम्यग्दर्शनोऽप्राप्तमिथ्यात्वकर्मोदयजनितपरिणामो मिथ्यात्वविमुखः सासादनं इति  
भण्यते । अथ स्यान्न मिथ्यादृष्टिरयं मिथ्यात्वकर्मण उदयाभावात्, न सम्यग्दृष्टिः सम्यग्-  
रूपेणभावात्, न सम्यग्मिथ्यादृष्टिरभयविषयरूपेणभावात् । न च चतुर्थी दृष्टिरस्ति

नहीं होता है उसीप्रकार उसे यथार्थ धर्म अच्छा मालूम नहीं होता है ॥ १०६ ॥

जो मिथ्यात्व कर्मके उदयसे तत्वार्थके विषयमें अश्रद्धान उत्पन्न होता है, अथवा  
विपरीत श्रद्धान होता है, उसको मिथ्यात्व कहते हैं । उसके सशयित, अभिगृहीत और  
अभिगृहीत इसप्रकार तीन भेद हैं ॥ १०७ ॥

अब दूसरे गुणस्थानके कथन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—  
सामान्यसे सासादनसम्यग्दृष्टि जीव है ॥ १० ॥

सम्यक्त्वकी विराधनाको आसादन कहते हैं । जो इस आसादनसे युक्त है उसे  
सासादन कहते हैं । अनन्तानुबन्धी किसी एक कर्मायके उदयसे जिसका सम्यग्दर्शन  
नष्ट हो गया है, किंतु जो मिथ्यात्व कर्मके उदयसे उत्पन्न हुए मिथ्यात्वरूप परिणामोंको नहीं  
प्राप्त हुआ है फिर भी मिथ्यात्व गुणस्थानके अभिमुख है उसे सासादन कहते हैं ।

शंका—सासादन गुणस्थानवाला जीव मिथ्यात्वकर्मका उदय नहीं होनेसे मिथ्या-  
दृष्टि नहीं है, समीचीन खचिका अभाव होनेसे सम्यग्दृष्टि भी नहीं है, तथा इन दोनोंको विषय  
करनेवाली सम्यग्मिथ्यात्वरूप खचिका अभाव होनेसे सम्यग्मिथ्यादृष्टि भी नहीं है । इनके

१ असन क्षेपण सम्यक्त्वविराधन, तन सह वर्तते य स सासन इति निरुतया सासन इत्यारया यस्यासो  
सासनात्थ । गो जी, म प्र, टी १९

२ अप औपशानिकसम्यक्त्वलाभलक्षण सादयति अपनयतीत्यासादनम् जन तानुबन्धिषययवेदनम् । पुणो-  
दादित्वापशब्दलेप, क्वचदुलमिति वर्तयेनद । सति ह्यस्मिन् परमान्दरूपानतसुखफल्दो नि श्रेयसतन्त्रीजयूत  
औपशानिकसम्यक्त्वलाभो जषय्यत समयमात्रेण उत्कर्षत पड्भिरात्रात्रिकाभिरपगच्छतीति, तत सह आसादनेन वर्तत इति  
सासादन । २०० सासादानमिति वा पाठ । तन सह सम्यक्त्वलक्षणसमासादानेन वर्तत इति सासादन । यथा हि,  
सुप्तशीतान्धियव्यलीप्तचित्तं पुरुषस्तद्रमनकाले क्षीराशुसमास्तादयति तथैवैतदपि मिथ्यावापिपुद्बुधया सम्यक्त्वोपरि  
व्यलीप्तचित्तं सम्यक्त्वपुद्बुधत्वं तद्वहमासादादयति । तन म चासो मय्यदृष्टिश्च तस्य गुणस्थान सासादनसम्यग्दृष्टि-  
गुणस्थानम् । अभि रा को ( सामणममद्विष्टिगुणद्वयं )

सम्यग्सम्यगुभयदृष्ट्यालम्बनवस्तुव्यतिरिक्तवस्तुपलम्भात् । ततोऽसन् एष गुण इति  
न, विपरीताभिनिवेशतोऽसदृष्टित्वात् । तर्हि मिथ्यादृष्टिर्भवत्वयं नास्य सासादनव्यपदेश  
इति चेन्न, सम्यग्दर्शनचरित्रप्रतिबन्धनन्तानुबन्धुदयोत्पादितविपरीताभिनिवेशस्य तत्र  
सचान्द्रवति मिथ्यादृष्टिरपि तु मिथ्यात्वकर्मोदयजनितविपरीताभिनिवेशाभावात् न तस्य  
मिथ्यादृष्टिव्यपदेश, किन्तु सासादन इति व्यपदिश्यते । किमिति मिथ्यादृष्टिरिति  
अतिरिक्त और कोई चौथी दृष्टि है नहीं, क्योंकि, समीचीन, असमीचीन और उभयरूप  
दृष्टिके आलम्बनभूत वस्तुके अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु पाई नहीं जाती है । इसलिये सासादन  
गुणस्थान असत्स्वरूप ही है । अर्थात् सासादन नामका कोई स्वतन्त्र गुणस्थान नहीं  
मानना चाहिये ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि सासादन गुणस्थानमें विपरीत अभिप्राय रहता  
है, इसलिये उसे असदृष्टि ही समझना चाहिये ।

शंका—यदि ऐसा है तो इसे मिथ्यादृष्टि ही कहना चाहिये, सासादन संज्ञा देना  
उचित नहीं है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, सम्यग्दर्शन और स्वरूपचरण चारित्रिका प्रतिबन्ध कर-  
नेवाली अनन्तानुबन्धी कर्मायके उदयसे उत्पन्न हुआ विपरीताभिनिवेश दूसरे गुणस्थानमें  
पाया जाता है, इसलिये द्वितीय गुणस्थानवर्ती जीव मिथ्यादृष्टि है । किंतु मिथ्यात्वकर्मके  
उदयसे उत्पन्न हुआ विपरीताभिनिवेश वहां नहीं पाया जाता है, इसलिये उसे मिथ्यादृष्टि  
नहीं कहते हैं, केवल सासादनसम्यग्दृष्टि कहते हैं ।

विशेषार्थ—विपरीताभिनिवेश दो प्रकारका होता है, अनन्तानुबन्धीजनित और मिथ्या-  
त्वजनित । उनमेंसे दूसरे गुणस्थानमें अनन्तानुबन्धीजनित विपरीताभिनिवेश ही पाया जाता  
है, इसलिये इसे मिथ्यात्वगुणस्थानसे स्वतन्त्र गुणस्थान माना है ।

१ यदि तलकविस्तदा सम्यग्दृष्टिर्वासी, यद्यतन्कविस्तदा मिथ्यादृष्टिरेवासी, यमुभयगविस्तदा सम्यग्मि-  
थ्यादृष्टिरेवासी, यद्यदुभयगविस्तदा आशामान स्यात् । गो जी, म प्र, टी १९

२ ननु सम्यग्दर्शनघातःस्यानन्तानुबन्धिन कथ दर्शनमोहनामात्र ? इति चेत् न, तस्य चारित्रघातरतीव्र-  
तमात्रभागमादिमा चारित्रमोहत्वस्यं युक्तान् । तर्हि तस्मात् सम्यग्दर्शनमिनाश ? इति चेत्, अनन्तानुबन्धुदये सति  
पदान्तरिरूपस्तोक्तमालयत्रयानेऽपि मिथ्यात्वकर्मोदयाभिमुख्ये सत्वेन सम्यग्दर्शनविनाशसम्भवात् । अतएव मिथ्यात्वोदय-  
निरपेक्षतया सासादननव भवतीति परिणामिकमामत्वयुक्तम् । परिणाम स्वभाव तस्माद्भव परिणामिक इति व्युत्पत्ते ।  
नन्वेव कथमनन्तानुबन्धुदयत्वोदयात्राशितसम्यक्त्व इत्युच्यते ? इति चेत् न, मिथ्यात्वोदयाभिमुख्यसन्निहितस्य  
अनन्तानुबन्धुदयास्य सम्यग्दर्शनविनाशसम्भवेन तदुदयात्तद्विनाश इति वचनाप्रतिरोधात् । किं बहुना अनन्तानुबन्धिन  
सम्यक्त्वविनाशसम्भवेऽपि मिथ्यात्वोदयाभिमुख्ये सत्वेन तन्माभ्यर्थनकिरिति सिद्धो न सिद्धात् । गो  
जी, म प्र, टी १९



न व्यपदिश्यते चेन्न, अनन्तानुबन्धिनां द्विसंभावत्वप्रतिपादनफलत्वात् । न च दर्शन-  
मोहनीयस्योदयादुपगमात्क्षयात्क्षयोपगमाद्वा सासादनपरिणामः प्राणिनामुपजायते येन  
मिथ्यादृष्टिः सम्यग्दृष्टिः सम्यग्मिथ्यादृष्टिरिति चोच्येत । यस्माच्च विपरीताभिनि-  
नेगोऽभूदनन्तानुबन्धिनो, न तद्दर्शनमोहनीयं तस्य चारित्र्यावरणत्वात् । तस्योभयप्रतिबन्ध-  
कत्वाद्भयव्यपदेशो न्याय्य इति चेन्न, इष्टत्वात् । छत्रे तथाऽनुपदेशोऽप्यपितनयापेक्षः ।  
निश्चितदर्शनमोहेदयोपशमक्षयोपशममन्तरेणोत्पन्नत्वात्पारिणामिक सासादनगुणः ।

शंका—ऊपरके ऋयनानुसार जब वह मिथ्यादृष्टि ही है तो फिर उसे मिथ्यादृष्टि  
सब्रा क्यों नहीं वी गई है ?

समाधान—पेसा नहीं है, क्योंकि, सासादन गुणस्थानको स्वतन्त्र कहनेसे अनन्ता-  
नुबन्धी प्रकृतियोंकी छिस्वभावताका कथन सिद्ध हो जाता है ।

वियोगार्थ—सासादन गुणस्थानको स्वतन्त्र माननेका फल जो अनन्तानुबन्धीकी  
द्विसंभावता वतलर्दि गई है, वह द्विसंभावता दो प्रकारसे हो सकती है। एक तो अनन्ता-  
नुबन्धी कणाय सम्यग्दृष्टि और चारित्र्य इन दोनोंकी प्रतिबन्धक मानी गई है, और यही उसकी  
छिस्वभावता है । इसी ऋयनकी पुष्टि यहा पर सासादन गुणस्थानको स्वतन्त्र मानकर की  
गई है । दूसरे, अनन्तानुबन्धी जिसप्रकार सम्यक्त्वके विवातमें मिथ्यात्वप्रकृतिका काम करती  
है, उसप्रकार वह मिथ्यात्वके उत्पादमें मिथ्यात्वप्रकृतिका काम नहीं करती है । इसप्रकारकी  
छिस्वभावताको सिद्ध करनेके लिये सासादन गुणस्थानको स्वतन्त्र माना है ।

दर्शनमोहनीयके उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमसे जीवोंके सासादनरूप परिणाम  
तो उत्पन्न होता नहीं है जिससे कि सासादन गुणस्थानको मिथ्यादृष्टि, सम्यग्दृष्टि अथवा  
सम्यग्मिथ्यादृष्टि कहा जाता । तथा जिस अनन्तानुबन्धीके उदयसे दूसरे गुणस्थानमें जो  
विपरीताभिनिवेश होता है, वह अनन्तानुबन्धी दर्शनमोहनीयका भेद न होकर चारित्र्यका  
आवरण करनेवाला होनेसे चारित्र्यमोहनीयका भेद है । इसलिये दूसरे गुणस्थानको मिथ्यादृष्टि  
न कहकर सासादनसम्यग्दृष्टि कहा है ।

शंका—अनन्तानुबन्धी सम्यक्त्व और चारित्र्य इन दोनोंका प्रतिबन्धक होनेसे उसे  
उभयरूप (सम्यक्त्वचारित्र्यमोहनीय) सरा देना न्यायसंगत है ?

समाधान—यह आरोप डीक नहीं, क्योंकि, यह तो हमें इष्ट ही है, अर्थात् अनन्तानु-  
बन्धीको सम्यक्त्व और चारित्र्य इन दोनोंका प्रतिबन्धक माना ही है । फिर भी परमागममें मुख्य  
नयनी ओक्षा इस्तारक्तका उपदेश नहीं दिया है ।

सासादन गुणस्थान चित्तक्षिप्त कर्मके अर्थात् दर्शनमोहनीयके उदय, उपशम, क्षय  
और क्षयोपशमके पित्त उत्पन्न होता है, इसलिये वह पारिणामिक है । और आसादनासहित

सासादनथासौ सम्यग्दृष्टिश्च सासादनसम्यग्दृष्टिः । विपरीताभिनिवेशदृष्टितस्य तस्य  
कथं सम्यग्दृष्टित्वमिति चेन्न, भूतपूर्वगत्या तस्य तद्व्यपदेशोपपत्तेरिति । उक्तं च—

समन्त रणण-पञ्चय सिहरादो मिच्छ-भूमि समभिसुहो ।

णासिय-समतो सो सासाण-णामो मुणेयवो' ॥ १०८ ॥

व्यामिश्रुचिगुणप्रतिपादनार्थं सूत्रमाह—

**समामिच्छाद्दृष्टी ॥ ११ ॥**

दृष्टिः श्रद्धा रुचिः प्रत्यय इति यावत् । समीचीना च मिथ्या च दृष्टिर्यस्यासौ  
सम्यग्मिथ्यादृष्टिः । अथ स्यादेकस्मिन् जीवे नाक्रमेण समीचीनासमीचीनदृष्टयोस्तौ  
संभवो विरोधात् । न क्रमेणपि सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणयोरैवान्तर्भावोदिति । अक्रमेण

सम्यग्दृष्टि होनेके कारण उसे सासादनसम्यग्दृष्टि कहते हैं ।

शंका—सासादन गुणस्थान विपरीत अभिप्रायसे दूषित है, इसलिये उसके सम्यग्दृष्टि-  
पना कैसे वन सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, पहले वह सम्यग्दृष्टि था, इसलिये भूतपूर्व न्यायकी अपेक्षा  
उसके सम्यग्दृष्टि सत्ता वन जाती है । कहा भी है—

सम्यग्दर्शनरूपी रत्नानिरिके शिखरसे गिरकर जो जीव मिथ्यात्वरूपी भूमिके अभिमुख  
है, अतएव जिसका सम्यग्दर्शन नष्ट हो चुका है परतु मिथ्यादर्शनकी प्राप्ति नहीं हुई है, उसे  
सासन या सासादनगुणस्थानवर्ती समझना चाहिये ॥ १०८ ॥

अब सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

सामान्यसे सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव है ॥ ११ ॥

दृष्टि, श्रद्धा, रुचि और प्रत्यय ये पर्यायवाची नाम हैं । जिस जीवके समीचीन और  
मिथ्या दोनों प्रकारकी दृष्टि होती है उसको सम्यग्मिथ्यादृष्टि कहते हैं ।

शंका—एक जीवमें एकासाथ सम्यक् और मिथ्यात्वं पददृष्टि संभव नहीं है, क्योंकि, इन  
दोनों दृष्टियोंका एक जीवमें एकासाथ रहनेमें विरोध आता है । यदि कहा जावे कि ये दोनों  
दृष्टियां क्रमसे एक जीवमें रहती हैं तो उनका सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि नामके स्वतन्त्र

१ गो जी २०

२ छ-योनोपशमिन्सम्यक्त्वेन आपविप्रिशेकपेन मदनमोदप्रस्थानीय मिथ्यात्वमोहनीय र्गं शोवायिजा  
निवा म्पति, शुद्धमव्युद्धमनिशुद्ध चेति । ता न्याणा पुञ्जानां म ये यदावनिशुद्ध पुञ्ज उदेति तदा नुदुदाजान-  
स्यावनिशुद्ध चित्तप्रणतत्वश्रद्धाम भवति, तेन तद्वानां मय्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानान्तर्मुदृतांशः स्मृगति । अभि रा-  
को ( गम्यामिच्छादृष्टिगुणद्वागं )

कथं मिथ्यादृष्टेः सम्यग्मिथ्यात्वगुणं प्रतिपद्यमानस्य तावदुच्यते । तद्यथा, मिथ्यात्व-  
कर्मणः सर्वघातिस्पर्द्धकानामुदयक्षयात्तस्यैव सत उदयाभावलक्षणोपशमात्सम्यग्मिथ्यात्व-  
कर्मणः सर्वघातिस्पर्द्धकोदयोच्चोत्पद्यत इति सम्यग्मिथ्यात्वगुणः क्षायोपशमिकः । सतापि  
सम्यग्मिथ्यात्वोदयेन औदयिक इति किमिति न व्यपदिश्यत इति चेन्न, मिथ्या-  
त्वोदयादिघातः सम्यक्त्वस्य निरन्वयनिनाशानुपलम्भात् । सम्यग्दृष्टेर्निरन्वयनिनाशाकारिणः  
सम्यग्मिथ्यात्वस्य कथं सर्वघातित्वमिति चेन्न, सम्यग्दृष्टेः साकल्यप्रतिबन्धितामपेक्ष्य  
तस्य तथोपदेशात् । मिथ्यात्वक्षयोपशमादिवादान्तालुबन्धिनामपि सर्वघातिस्पर्द्धकक्षयो-  
पशमाज्जातमिति सम्यग्मिथ्यात्वं किमिति नोच्यत इति चेन्न, तस्य चारित्र्यप्रतिबन्धक-

समाधान— तीसरे गुणस्थानमें क्षायोपशमिक भाव है ।

शंका—मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानको प्राप्त होनेवाले जीवके  
क्षायोपशमिक भाव कैसे संभव है ?

समाधान— वह इसप्रकार है, कि वर्तमान समयमें मिथ्यात्वकर्मके सर्वघाती स्पर्द्धकों  
का उदयाभावी क्षय होनेसे, सतामें रहनेवाले उसी मिथ्यात्व कर्मके सर्वघाती स्पर्द्धकोंका  
उदयाभावलक्षण उपशम होनेसे और सम्यग्मिथ्यात्वकर्मके सर्वघाती स्पर्द्धकोंके उदय होनेसे  
सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानमें पैदा होता है, इसलिये वह क्षायोपशमिक है ।

शंका— तीसरे गुणस्थानमें सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिके उदय होनेसे वहा औदयिक भाव  
क्यों नहीं कहा है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयसे जिसप्रकार सम्यक्त्वका निरन्वय  
नाश होता है, उसप्रकार सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयसे सम्यक्त्वका निरन्वय नाश नहीं  
पाया जाता है, इसलिये तीसरे गुणस्थानमें औदयिक भाव न कहकर क्षायोपशमिकभाव  
कहा है ।

शंका— सम्यग्मिथ्यात्वका उदय सम्यग्दर्शनका निरन्वय विनाश तो करता नहीं है,  
फिर उसे सर्वघाती क्यों कहा ?

समाधान— ऐसी शंका ठीक नहीं, क्योंकि, वहा सम्यग्दर्शनकी पूर्णताका प्रतिकष  
करता है, इस अपेक्षासे सम्यग्मिथ्यात्वको सर्वघाती कहा है ।

शंका— जिसतरह मिथ्यात्वके क्षयोपशमसे सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानकी उत्पत्ति  
बतलाई है उसीप्रकार वहा अनन्तानुबन्धी कर्मके सर्वघाती स्पर्द्धकोंके क्षयोपशमसे होता है,  
ऐसा क्यों नहीं कहा ?

त्रिसुखस्य अहिंसादिश्रद्धानापेक्षया सम्यक्त्व, अनात्तादिश्रद्धानापेक्षया मिथाव च युगपदेव नियमं देन समनताति  
सम्यग्मिथ्यादृष्टित्वात्सम्यग्दर्शनं दृश्यते । गो जी म प्र, टी २२.

१ नतितु 'दिवत' इति पाठ ।

सम्यग्मिथ्यात्वात्समीचीनः जीवः सम्यग्मिथ्यादृष्टिरिति प्रतिजानीमहे । न विरोधोऽप्यने-  
कान्ते आत्मनि भूयसां धर्माणां सहानवस्थानलक्षणविरोधासिद्धेः । नात्मनोऽनेकान्तत्वम-  
सिद्धमनेकान्तमन्तरेण तस्यार्थक्रियाकर्तृत्वानुपपत्तेः । अस्त्वेकस्मिन्नात्मनि भूयसां  
सहावस्थानं प्रत्यविरुद्धानां संभवो नाशोषणमिति चेत्क एवमाह समस्तानामप्यवस्थिति-  
रिति चैतन्यचैतन्यभव्याभव्यादिधर्माणामप्यक्रमैणैकान्तत्वमवस्थितिप्रसङ्गात् । किन्तु येषां  
धर्माणां नात्यन्ताभावो यस्मिन्नात्मनि तत्र कदाचित्कविदक्रमेण तेषामस्तित्वं प्रतिजानीमहे ।  
अस्ति चानयो श्रद्धयोः क्रमैकस्मिन्नात्मनि संभवस्ततोऽक्रमेण तत्र कदाचित्चयोः  
संभवेन भवितव्यमिति । न चैतत्काल्पनिकं पूर्वस्वीकृतदेवतापरित्यागेनाहंनपि देव  
इत्यभिप्रायवतः पुरुषस्योपलम्भात् । पंचसु गुणेषु कोऽयं गुण इति चेत्क्षायोपशमिकः ।

गुणस्थानोंमें ही अन्तर्भाव मानना चाहिये । इसलिये सम्यग्मिथ्यादृष्टि नामका तीसरा गुण-  
स्थान नहीं बनता है ?

समाधान— युगपत् समीचीन और असमीचीन श्रद्धावाला जीव सम्यग्मिथ्यादृष्टि है  
ऐसा मानते हैं । और ऐसा माननेमें विरोध भी नहीं आता है, क्योंकि, आत्मा अनेक धर्मात्मक है,  
इसलिये उसमें अनेक धर्मोंका सहानवस्थानलक्षण विरोध असिद्ध है । अर्थात् एक साथ अनेक  
धर्मोंके रहनेमें कोई बाधा नहीं आती है । यदि कहा जाय कि आत्मा अनेक धर्मात्मक है, यह  
बात ही असिद्ध है । सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, अनेकान्तके विना उसके अर्थक्रिया-  
कारीपना नहीं बन सकता है ।

शंका— जिन धर्मोंका एक आत्मामें एकसाथ रहनेमें विरोध नहीं है, वे रहें, परतु  
संपूर्ण धर्म तो एकसाथ एक आत्मामें रह नहीं सकते हैं ?

समाधान— कौन ऐसा कहता है कि परस्पर विरोधी और अविरोधी समस्त  
धर्मोंका एकसाथ एक आत्मामें रहना संभव है ? यदि संपूर्ण धर्मोंका एकसाथ रहना मान  
लिया जावे तो परस्पर विरुद्ध चैतन्य-अचैतन्य, भव्यत्व-अभव्यत्व आदि धर्मोंका एकसाथ  
एक आत्मामें रहनेका प्रसंग आ जायगा । इसलिये संपूर्ण परस्पर विरोधी धर्म एक आत्मामें  
रहते हैं, अनेकान्तका यह अर्थ नहीं समझना चाहिये । किंतु अनेकान्तका यह अर्थ समझना  
चाहिये कि जिन धर्मोंका जिस आत्मामें अत्यन्त अभाव नहीं है वे धर्म उस आत्मामें किसी काल  
और किसी क्षेत्रकी अपेक्षा युगपत् भी पाये जा सकते हैं, ऐसा हम मानते हैं । इसप्रकार जब  
कि समीचीन और असमीचीनरूप इन दोनों श्रद्धाओंका क्रमसे एक आत्मामें रहना संभव है,  
तो कदाचित् किसी आत्मामें एकसाथ भी उन दोनोंका रहना बन सकता है । यह सब कथन  
काल्पनिक नहीं है, क्योंकि, पूर्व स्वीकृत अन्य देवताके अपरित्यागके साथ साथ अरिद्धत भी  
देव है ऐसी सम्यग्मिथ्यारूप श्रद्धावाला पुरुष पाया जाता है ।

शंका— पांच प्रकारके भावोंमेंसे तीसरे गुणस्थानमें कौनसा भाव है ?

१ यथा कस्यचित् मितं प्रति मितं च, चैव प्रकल्पितान्तरियुभयामकत्वमविरुद्ध लोके दृश्यते तथा कस्य-

त्वात् । ये त्वन्तानुबन्धिभ्योपशमादुत्पत्तिं प्रतिजानते तेषां सासादनगुण औदधिकः स्यात्, न चंपनस्त्युपगमात् । अथवा, सम्यक्त्वकर्मणो देशघातिस्पर्धकानामुदयक्षयेण तेषामेव गतामुदयामानलक्षणोपशमेन च सम्यगिमथ्यात्वकर्मण सर्वघातिस्पर्धकोदयेन च सम्यगिमथ्यात्वगुण उत्पद्यत इति शायोपशमिकः । सम्यगिमथ्यात्वस्य शायोपशमिकत्वमेवमुच्यते चालजन्व्युत्पादनार्थम् । वस्तुतस्तु सम्यगिमथ्यात्वकर्मणो निरन्वयेनाप्तागमपदार्थविपयकधिकहननं प्रत्यममर्थस्योदयात्प्रदसिपयथद्वोत्पद्यत इति शायोपशमिकः सम्यगिमथ्यात्वगुण । अन्यथोपशमसम्यग्दृष्टौ सम्यगिमथ्यात्वगुणं प्रतिपन्ने सति सम्यगिमथ्यात्वस्य शायोपशमिकत्वमनुपपन्नं तत्र सम्यक्त्वमिथ्यात्वानन्तानुबन्धिनानामुदयक्षयाभावात् । तत्रोदयाभावलक्षण उपगमोऽस्तीति चेन्न, तस्योपशमिकत्वप्रसङ्गात् ।

समाधान—नहीं, क्योंकि, अनन्तानुबन्धी कषाय चारित्रिका प्रतिबन्ध करती है, इसलिये यदा उनके क्षयोपशमसे तृतीय गुणस्थान नहीं कहा गया है ।

जो जानार्थ अनन्तानुबन्धी कर्मके शयोपशमसे तीसरे गुणस्थानकी उत्पत्ति मानते हैं, उनके मतसे साक्षात्त गुणस्थानमें औदधिक मानना पड़ेगा । पर ऐसा नहीं है, क्योंकि, दूसरे गुणस्थानकी औदधिक नहीं माना गया है ।

यद्यपि, सम्यक्प्रकृतिकर्मके देशघाती स्पर्धकोंका उदयक्षय होनेसे, सत्तामें स्थित उन्हीं देशघाती स्पर्धकोंका उदयाभावलक्षण उपशम होनेसे और सम्यगिमथ्यात्व कर्मके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदय होनेसे सम्यगिमथ्यात्व गुणस्थान उत्पन्न होता है, इसलिये वह शायोपशमिक है । यहा इनका जो सम्यगिमथ्यात्व गुणस्थानको शायोपशमिक कहा है वह केवल सिद्धान्तके पाठानुसार करनेवालोंके परिज्ञान करनेके लिये ही कहा है । वास्तवमें तो सम्यगिमथ्यात्व कर्म विग्नरूपमें आन, आगम और पदार्थविषयक श्रद्धाके नाश करनेके प्रति उत्तमर्थ है, किन्तु उनके उदयसे मत्तर्मन्वीन और अस्तत्-असमीचीन पदार्थको गुणान्तरपिपय करनेवाली श्रद्धा उत्पन्न होती है, इसलिये सम्यगिमथ्यात्व गुणस्थान शायोपशमिक कहा जाता है । यदि इन गुणस्थानमें सम्यगिमथ्यात्व प्रकृतिके उदयसे सत्त्व और असत्त्व पदार्थको पिपय करनेवाली मिश्र रुचिररूप शयोपशमता न मानी जाये तो उपशमसम्यग्दृष्टिके सम्यगिमथ्यात्व गुणस्थानको प्राप्त होने पर उस सम्यगिमथ्यात्व गुणस्थानमें शयोपशमपनार्थ बन सकता है, क्योंकि, उपशम सम्यक्त्वसे तृतीय गुणस्थानमें अपि हुए जीवके ऐसी प्रस्थानमें सम्यक्प्रकृति, मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी इन तीनोंका उदयाभावी क्षय नहीं पाया जाता है ।

शंका—उपशम सम्यक्त्वसे अपि हुए जीवके तृतीय गुणस्थानमें सम्यक्प्रकृति, मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी इन तीनोंका उदयाभावरूप उपशम तो पाया जाता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, इसतरह तो तीसरे गुणस्थानमें औपशमिक भाव मानना पड़ेगा ।

अस्तु चेन्न, तथाप्रतिपादकस्पर्षाभावात् । अपि च यद्येवं शयोपशम इष्येत, मिथ्यात्वमपि शायोपशमिकं सम्यक्त्वसम्यगिमथ्यात्वयोर्हरद्वयप्राप्तस्पर्धकानां क्षयात्सतामुदयाभावलक्षणोपशमन्मिथ्यात्वकर्मण. सर्वघातिस्पर्धकोदयाच्च मिथ्यात्वगुणस्य प्रादुर्भावोपलम्भमिति । उक्तं च—

दहि-गुडमिम वामिस्स पुहभावं णेव कारिहु सत्क ।

एव मिस्सयभावो सम्माभिच्छे त्ति णावन्नो ॥ १०९ ॥

सम्यग्दृष्टिगुणनिरूपणार्थमुत्तरसूत्रमाह—

असंजदसमादृष्टौ ॥ १२ ॥

शंका—तो तीसरे गुणस्थानमें औपशमिक भाव भी मान लिया जावे ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, तीसरे गुणस्थानमें औपशमिक भावका प्रतिपादन करनेवाला कोई आर्षवाच्य नहीं है । अर्थात् आगममें तीसरे गुणस्थानमें औपशमिक भाव नहीं बताया है ।

दूसरे, यदि तीसरे गुणस्थानमें मिथ्यात्व आदि कर्मके शयोपशमसे शयोपशम भाव की उत्पत्ति मान ली जाये तो मिथ्यात्व गुणस्थानको भी शायोपशमिक मानना पड़ेगा, क्योंकि, सादि मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षा मिथ्यात्व गुणस्थानमें भी सम्यक्प्रकृति और सम्यगिमथ्यात्व कर्मके उदय अवस्थाको प्राप्त हुए स्पर्धकोंका क्षय होनेसे, सत्तामें स्थित उन्हींका उदयाभाव लक्षण उपशम होनेसे तथा मिथ्यात्व कर्मके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदय होनेसे मिथ्यात्व गुणस्थानकी उत्पत्ति पाई जाती है । इतने कथनसे यह तात्पर्य समझना चाहिये कि तीसरे गुणस्थानमें मिथ्यात्व सम्यक्प्रकृति और अनन्तानुबन्धीके शयोपशमसे शायोपशमिक भाव न होकर केवल मिश्र प्रकृतिके उदयसे मिश्रभाव होता है । कहा भी है—

जिस्सज्जर द्दही और गुडको मिला देने पर उनको अलग अलग नहीं किया जा सकता है, किन्तु मिले हुए उन दोनोंका रस मिश्रभावको प्राप्त हो जाता है, उसप्रकार एक ही कालमें सम्यक्त्व और मिथ्यात्वरूप मिले हुए परिणामोंको मिश्र गुणस्थान कहते हैं, ऐसा समझना चाहिये ॥ १०९ ॥

अब सम्यग्दृष्टि गुणस्थानके निरूपण करनेके लिये श्रौणिका सूत्र कहते हैं—  
सामान्यसे असंयतसम्यग्दृष्टि जीव होते हैं ॥ १२ ॥

१ गो जी २० यथा नालिनेच्छीपमाभिन यथादिनेम्याप्रीमागतस्योद्यनादिनेऽनेनपिदे द्वाकिते तस्योपरि न रुचि नापि निन्धा, यतस्तेन स औदनादिक आहारी न रुचिन्ति दृष्टो नापि श्रुत, एव सम्यगिमथ्यात्वपि जीवादिपदार्थानामपरि न च रुचिर्नापि निन्देति । न सू पृ १०६

२ यथ आरिहरेड जाणतो राग्दोसदुस्स च । विरम्मह इच्छो विरइ काउ च अममरही ॥ एव जमजय-



होदित्याणं गयल-गुणद्वानामंजदत्तं पर्व्वदिति । उवरि असंजमभावं किण्ण पर्व्वेदि चि  
उत्ते ण पर्व्वोदि, उरि सव्वत्थ संजमामंजम-मंजम-विसेसणोवलंभादो चि । उत्तं च—

मग्गाद्वी जीतो उवइड पयण तु सव्वदि ।

सव्वदि अत्त नाने अणामणो गुरु-णियोगा ॥ ११० ॥

णो इदिणु रिदो णो जीते वाने तसे चानि ।

जो सव्वदि निणुत्त मग्गाद्वी अरिदो सो ॥ १११ ॥

एदं मग्गाद्वि-वयणं उवरिम-सव्व-गुणद्वानेषु अणुवइड गंगा-णई-पवाहो व्व ।  
देसविट्-गुणद्वाना पर्व्वणइमुत्तर-सुत्तमाह—

**संजदासंजदा ॥ १३ ॥**

संयताश्च ते असंयताश्च संयतासंयताः । यदि संयत, नामावसंयतः । अथासंयतः,

लिये वह अपनेसे नीचेके भी समस्त गुणस्थानोंके असंयतपनेका निरूपण करना है ।

पर असंयत पर ऊपर अर्थात् पाचवे आदि गुणस्थानोंमें असंयमभावका प्ररूपण क्यों  
नहीं करता है श्रमप्रकारकी शक्तोंके होने पर आचार्य उक्त देते हैं कि पाचवें आदि गुणस्थानोंमें  
पर असंयत पर असंयमभावका प्ररूपण नहीं करता है, क्योंकि, ऊपर सब जगह संयमासयम  
और संयम विशेषण ही पाया जाता है । कहा भी है—

सम्यग्प्रति जीन विनेन्द्र भगवान्के द्वारा उपदिष्ट प्रवचनका तो श्रद्धान करता ही  
है, किन्तु किसी तत्वको नहीं जानना हुआ गुणके उपदेशसे विपरीत अर्थका भी श्रद्धान कर  
लेता है ॥ ११० ॥

जो इन्द्रियोंके विषयोंसे तथा उस और स्थावर जीवोंकी हिंसासे विरक्त नहीं है,  
किन्तु विनेन्द्रोंद्वारा नयित प्रवचनका श्रद्धान करता है वह अविरतसम्यग्दृष्टि है ॥ १११ ॥  
इन सूत्रोंमें जो सम्यग्दृष्टि पद है, वह गंगा नदीके प्रवाहके समान ऊपरके समस्त  
गुणस्थानोंमें श्रुतचित्तको प्राप्त होता है । अर्थात् पाचवें आदि समस्त गुणस्थानोंमें सम्यग्दर्शन  
पाया जाता है ।

अत्र देशविरति गुणस्थानके प्ररूपण करनेके लिये अगोत्रा सूत्र कहते हैं—  
सामान्यसे संयतासंयत जीन होते हैं ॥ १३ ॥

जो संयत होने गुण भी असंयत होते हैं उन्हें संयतासंयत कहते हैं ।

शंका—जो संयत होता है वह असंयत नहीं हो सकता है, और जो असंयत

नासौ संयत इति विरोधानायं गुणो घटत इति चेदस्तु गुणानां परस्परपरिहारलक्षणो  
विरोध इष्टत्वात्, अन्यथा तेषां स्वल्पहानिप्रसङ्गात् । न गुणानां सहानवस्थानलक्षणो विरोध-  
सम्भवति, सम्भवेद्वा न वस्तुवन्ति तस्यानिकान्तानिबन्धनत्वात् । यदर्थक्रियाकारि तद्वस्तु ।  
सा च नैकान्ते एकानेकाभ्यां नातनिरूपितानस्थाभ्यामर्थक्रियाविरोधात् । न चैतन्या-  
चैतन्याभ्यामनेकान्तस्तयोर्युगताभावात् । सहसुबो हि गुणा, न चानयोः सहश्रुतिरस्ति  
असति विबन्धन्यनुपलभ्यात् । भवति च विरोधः समाननिबन्धनत्वे सति । न चान्न विरोधः  
संयमासंयमयोरैकद्रव्यवर्तिनोत्सथावरविबन्धनत्वात् । औदयिकादियु पंचसु गुणेषु कं  
गुणमाश्रित्य संयमासंयमगुणः राधुत्पन्न इति चेत्क्षायोपशमिकोऽयं गुणः अपत्याख्याना-

होता है वह संयत नहीं हो सकता है, क्योंकि, संयमभाव और असंयमभावका परस्पर  
विरोध है । इसलिये यह गुणस्थान नहीं बनता है ।

समाधान—विरोध दो प्रकारका है, परस्परपरिहारलक्षण विरोध और सहानवस्था-  
लक्षण विरोध । इनमेंसे एक द्रव्यके अतन्त गुणोंमें परस्परपरिहारलक्षण विरोध ही है,  
क्योंकि, यदि गुणोंका एक दूसरेका परिहार करते अस्तित्व नहीं माना जावे तो उनके  
स्वरूपकी दृष्टिका प्रसंग आता है । परन्तु इतने मात्रले गुणोंमें सहानवस्थालक्षण विरोध  
संभव नहीं है । यदि नामा गुणोंका एकसाथ रहना ही विरोधस्वरूप मान लिया जावे तो  
वस्तुना अस्तित्व ही नहीं बन सकता है, क्योंकि, वस्तुका एकाग्र अंतकाल-विभित्त ही  
होता है । जो अर्थक्रिया करनेमें समर्थ है वह वस्तु है । परन्तु वह अर्थक्रिया एकाल्पणमें नहीं  
भन सकती है, क्योंकि, अर्थक्रियाको यदि एकरूप माना जावे तो पुनः पुनः उसी अर्थक्रि-  
याकी प्रति होनेसे, और यदि अनेकरूप माना जावे तो अगवस्था दोन आनेसे एकान्तपक्षमें  
अर्थक्रियाने होनेमें विरोध आता है ।

ऊपरके कथनसे चैतन्य और अचेतनके साथ भी अनेकान्त दोन नहीं आता है,  
क्योंकि, चैतन्य और अचेतन्य ये दोनों गुण नहीं हैं । जो सहभावी होते हैं उन्हें गुण कहते  
हैं । परन्तु ये दोनों सहभावी नहीं हैं, क्योंकि बंधरूप अवस्थाके नहीं रहने पर चैतन्य और  
अचेतन्य ये दोनों एकरूपा नहीं पाये जाते हैं । दूसरे विरुद्ध दो धर्मोंकी उत्पत्तिका कारण  
यदि समान अर्थान् एक मान लिया जावे तो विरोध आता है, परन्तु संयमभाव और असं-  
यमभाव इन दोनोंको एक आत्मामें स्वीकार कर लेने पर भी कौन विरोध नहीं आता है,  
क्योंकि, उन दोनोंकी उत्पत्तिके कारण भिन्न भिन्न हैं । संयमभावकी उत्पत्तिका कारण उस-  
हिंसासे विरतिभाव है और असंयमभावकी उत्पत्तिका कारण स्थावरहिंसासे अविरतिभाव  
है । इसलिये संयतासंयत नामका पांचवां गुणस्थान बन जाता है ।

शंका—औदयिक आदि पांच भावोंमेंसे किस भावके अथयसे संयमासयम भाव पंदा  
होता है ?

समाधान—संयमासंयम भाव आयोपशमिक है क्योंकि, अपत्याख्यानावस्थायीय



वरणीयस्य सर्वघातिस्पृहकानामुदयक्षयात् सतां चोपशमात् प्रत्याख्यानावरणीयोदया-  
दप्रत्याख्यानोत्पत्तेः । संयमासंयमधाराधिकृतसम्यक्त्वानि कियन्तीति चेत्क्षायिकक्षायोप-  
शमिकौपशमिकानि त्रीण्यपि भवन्ति पर्यायेण नान्यन्तरेणाप्रत्याख्यानस्योत्पत्तिविरोधात् ।  
सम्यक्त्वमन्तरेणापि देशयतयो हृश्यन्त इति चेन्न, निर्गतमुक्तिकाङ्क्षस्यानिवृत्तविषयपिपा-  
सस्याप्रत्याख्यानानुपपत्तेः । उक्तं च—

जो तस-बहाउ विरखो अविरखो तह य थावर-बहाओ ।

एक-सम्यक्हि जीवो विरयाविरखो जिणेक्कमई ॥ ११२ ॥

संयतानामादिगुणस्थाननिरूपणार्थमुत्तरद्वयमाह—

**पमत्तसंजदा ॥ १४ ॥**

प्रक्रयैण मत्ताः प्रमताः, सं सम्यग् यताः विरताः संयताः । प्रमत्ताश्च ते संयताश्च

कषायके वर्तमान कालिक सर्वघाती स्पृहकोके उदयाभावी क्षय होनेसे, और आगामी कालमें  
उदयमें आने योग्य उन्हीके सद्वस्धारूप उपशम होनेसे तथा प्रत्याख्यानावरणीय कषा-  
यके उदयसे संयमासंयमरूप अप्रत्याख्यान-चारित्र्य उत्पन्न होता है ।

शंका—संयमासंयमरूप देशचारित्र्यकी धारासे संबन्ध रखनेवाले कितने सम्यग्-  
दर्शन होते हैं ?

समाधान—क्षायिक, शायोपशमिक और औपशमिक ये तर्निमेंसे कोई एक  
सम्यग्दर्शन विकल्पसे होता है, क्योंकि, उनमेंसे किसी एकके विना अप्रत्याख्यान चारित्र्यका  
प्रादुर्भाव ही नहीं हो सकता है ।

शंका—सम्यग्दर्शनके विना भी देशसयमी देखनेमें आते है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जो जीव मोक्षकी आकांक्षासे रहित हैं और जिनकी  
विषय-पिपासा दूर नहीं हुई है, उनके अप्रत्याख्यानसयमकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है ।  
कहा भी है—

जो जीव जितन्देवमें अद्वितीय अद्भको रखता हुआ एक ही समयमें त्रसजीवीको  
हिसासे विरत और स्थावर जीवीकी हिसासे अविरत होता है, उसको विरतविरत  
कहते हैं ॥ ११२ ॥

अब सयतोंके प्रथम गुणस्थानके निरूपण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सामान्यसे प्रमत्तसयत जीव होते हैं ॥ १४ ॥

प्रकृतसे मत्त जीवीको प्रमत्त कहते हैं, और अच्छी तरहसे विरत या संयमको प्रान्त  
जीवीको सयत कहते हैं । जो प्रमत्त होते हुए भी सयत होते हैं उन्हें प्रमत्तसयत कहते हैं ।

१ गो जी ३१ 'च' शब्देन प्रयोजन विना स्थावरत्वधर्मपि न करोतीति व्याख्येयो भवति ।  
जी प्र दी

प्रमत्तसंयताः । यदि प्रमत्ताः न संयताः स्वरूपासवेदनात् । अथ सयताः न प्रमत्ताः  
संयमस्य प्रमादपरिहाररूपात्वादिति नैष दोषः, संयमो नाम हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो  
विरतिः शुभिसमित्यनुरक्षितः, नासौ प्रमादेन विनाश्यते तत्र तस्मान्मलोत्पत्तेः ।  
संयमस्य मलोत्पादक एवात्र प्रमादो विवक्षितो न तद्विनाशक इति कुतोऽवसीयत इति  
चेत् संयमाधिनाशान्थानुपपत्तेः । न हि मन्दतमः प्रमादः क्षणक्षयी संयमविनाशकोऽसति  
विवन्धर्यनुपलब्धेः । प्रमत्तवचनमन्तदीपकत्वाच्छेषातीतसर्वगुणेषु प्रमादास्तित्वं सूचयति ।  
पञ्चसु गुणेषु कं गुणमाश्रित्यायं प्रमत्तसंयत गुण उत्पन्नश्चेत्संयमापेक्षया क्षायोपशमिकः ।  
कथम् ? प्रत्याख्यानावरणसर्वघातिस्पृहकोदयक्षयात्तेषामेव सतासुऽयाभावलक्षणोपशमात्

शंका—यदि छट्वे गुणस्थानवर्ती जीव प्रमत्त हैं तो संयत नहीं हो सकते हैं,  
क्योंकि, प्रमत्त जीवीको अपने स्वरूपका सवेदन नहीं हो सकता है । यदि वे सयत हैं तो  
प्रमत्त नहीं हो सकते हैं, क्योंकि, सयमभाव प्रमादके परिहारस्वरूप होता है ।

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्म और  
परिग्रह इन पांच पापोंसे विरतिभावको संयम कहते हैं जो कि तीन गुणों और पांच सामि-  
तियोंसे अनुरक्षित है । वह सयम वास्तवमें प्रमादसे नष्ट नहीं किया जा सकता है, क्योंकि,  
सयममें प्रमादसे केवल मलकी ही उत्पत्ति होती है ।

शंका—छट्वें गुणस्थानमें संयममें मल उत्पन्न करनेवाला ही प्रमाद विवक्षित है,  
संयमका नाश करनेवाला प्रमाद विवक्षित नहीं है, यह बात कैसे निश्चय की जाय ?

समाधान—छट्वें गुणस्थानमें प्रमादके रहते हुए सयमका सद्भाव अन्यथा बन नहीं  
सकता है, इसलिये निश्चय होता है कि यहां पर मलको उत्पन्न करनेवाला प्रमाद ही अभीष्ट  
है । दूसरे छट्वें गुणस्थानमें होनेवाला स्वल्पकालवर्ती मन्दतम प्रमाद संयमका नाश भी नहीं  
कर सकता है, क्योंकि, सकलसंयमका उत्कटरूपसे प्रतिबन्ध करनेवाले प्रत्याख्यानावरणके  
अभावमें संयमका नाश नहीं पाया जाता ।

यहां पर प्रमत्त शब्द अन्तर्दीपक है, इसलिये वह छट्वें गुणस्थानसे पहलेके संपूर्ण  
गुणस्थानोंमें प्रमादके अस्तित्वको सूचित करता है ।

शंका—पांच भावोंमेंसे किस भावका आश्रय लेकर यह प्रयत्नसयत गुणस्थान उत्पन्न  
होता है ?

समाधान—सयमकी अपेक्षा यह गुणस्थान क्षायोपशमिक है ।

शंका—प्रमत्तसयत गुणस्थान क्षायोपशमिक किस प्रकार है ?

समाधान—क्योंकि, वर्तमानमें प्रत्याख्यानावरणके सर्वघाती स्पृहकोके उदयक्षय  
होनेसे और आगामी कालमें उदयमें अनेवाले सत्तामें स्थित उन्हीके उदयमें न आनेरूप उप-  
शमसे तथा सज्वलन कषायके उदयसे प्रत्याख्यान (संयम) उत्पन्न होता है, इसलिये



संज्वलनोद्ग्राह प्रत्याख्यानममुत्पत्तेः । संज्वलनोद्ग्राहसंयमो भवतीत्यौदधिक व्यप-  
देशोऽस्य किं न सादिति चेन्न, ततः संयमस्योत्पत्तेरभावात् । क तद् व्याप्रियत इति  
चेन्नत्रत्याख्यानाभरणमर्वातिस्पर्द्धकोद्ग्राह्यसमुत्पन्नमयममलोत्पादने तस्य व्यापार ।  
संयमनिबन्धनस्य स्त्वापेक्षया शायिकशायोपशमिकौपशमिरुणनिबन्धनः । मस्यस्त्व-  
मन्तराणि संयमोपलम्भनार्थं सम्यक्त्वानुत्तनेनैति चेन्न, आन्तागमपदार्थेष्वनुत्पन्नश्रद्धस्य  
त्रिमूलीढचेतसः संयमानुत्पत्तेः । द्रव्यसंयमस्य नाशोपादानमिति कुतोऽवगम्यत  
इति चेन्नसम्यक् ज्ञात्वा श्रद्धाय यतः संयत इति व्युत्पत्तिसत्सद्वगतेः । उक्तं च—

शायोपशमिकं ।

शंका—संज्वलन रुपायके उदयसे संयम होता है, इसलिये उसे औदधिक नामसे  
क्यों नहीं कहा जाता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, संज्वलन कपायके उदयसे संयमकी उत्पत्ति नहीं  
होती है ।

शंका—तो संज्वलनका व्यापार कहाँ पर होता है ?

समाधान—प्रत्याख्यानानरण रुपायके सर्वत्राती स्पर्द्धाकी उदयाभावी क्षयसे ( और  
सदृश्यरूप उग्रमसे ) उत्पन्न हुए संयममें मलके उत्पन्न करनेमें संज्वलनका व्यापार  
होता है ।

संयमके कारणभूत सम्यग्दर्शनकी अपेक्षा तो यह गुणस्थान शायिक, शायोपशमिक  
और औपशमिक भावनिमित्तक है ।

शंका—यद्यपि पर सम्यग्दर्शनपद की जो अनुवृत्ति बतलाई है उससे क्या यह तात्पर्य  
निसल्ला है कि सम्यग्दर्शनके बिना भी संयमकी उपलब्धि होती है ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि आद्य, आगम और पदार्थोंमें जिस जीवके श्रद्धा  
उत्पन्न नहीं हुई, तथा जिसका चित्त तीन मूढताओंसे व्याप्त है, उसके संयमकी उत्पत्ति नहीं  
हो सकती है ।

शंका—यहाँ पर द्रव्यसंयमका ग्रहण नहीं किया है, यह कैसे जाना जाय ?

समाधान—क्योंकि, भले प्रकार जानकर और श्रद्धान कर जो यमसहित है उसे संयत  
कहते हैं । संयत शब्दकी इसप्रकार व्युत्पत्ति करनेसे यह जाना जाता है कि यहाँ पर द्रव्य-  
संयमका ग्रहण नहीं किया है । कहा भी है—

‘ विपश्चिद्वत् सज्जस्य तपोममिदपुण्यागमेचकलघादो रुष मज्जलणोरुमाया चारिबिरीदो  
पारिसंसारमः देवतादीनां मणिसंस्तुतिरिच्छूलमचिद्विदियासुदया विज्जानो वि प न रुञ्जकारो वि  
गन्धेरेणे पित्तियापादो, एतुदो इ रुञ्ज पञ्जाइदि नञ्जनापमादो वि य । गो जी, जी म, दी ३२-

वचावत-पमाए जो नसई पमत्तसजरो होइ ।

सपल-गुण-सील-कलिओ महबई चितलायाणो ॥ ११३ ॥

विकहा तथा कसाथा इदिय-णिदा तहेव पगयो व ।

चहु-चहु-पणगेग होति पमादा य पणगरसां ॥ ११४ ॥

शायोपशमिकसंयमेषु शुद्धसंयमोपलभितगुणस्थाननिरूपणार्थमुत्तरसूत्रमाह—

अपमत्तसंजदा ॥ १५ ॥

प्रमत्तसंयताः पूर्वोक्तलक्षणा, न प्रमत्तसंयताः अप्रमत्तसंयताः पञ्चदशप्रमाद-  
राहितसंयता इति यावत् । शेषशेषसंयतानामत्रैवान्तर्भावान्छेयसंयतगुणस्थानानामभावः  
स्यादिति चेन्न, संयतानामुपरिष्टात्प्रतिषेधमानविशेषणाविशिष्टानामत्तप्रमादानामिह

जो व्यक्त अर्थात् स्वसवेध और अव्यक्त अर्थात् प्रत्यक्षज्ञान्तियके ज्ञानद्वारा जानने  
योग्य प्रमादमें वास करता है, जो सम्प्रत्यक्ष, जानादि सपूर्ण गुणोंसे और तर्कोंके रक्षण करनेमें  
समर्थ ऐसे शीलसे युक्त है, जो ( देशसंयतकी अपेक्षा ) महाव्रती है और जिसका आचरण  
प्रमादमिश्रित है, अथवा चित्रल सारगको कहते हैं, इसलिये जिसका आचरण सारगके समान  
शबलित अर्थात् अनेक प्रकारका है, अथवा, चित्तमें प्रमादको उत्पन्न करनेवाला जिसका  
आचरण है उसे प्रमत्तसंयत कहते हैं ॥ ११३ ॥

खीकथा, भक्तकथा, राष्ट्रकथा और अवनिपालकथा ये चार विकथाए, क्रोध, मान,  
माया और लोभ ये चार कर्मायें, स्पर्शन, रसना, द्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पांच इन्द्रियां, निद्रा  
और प्रणय इसप्रकार प्रमाद पन्द्रह प्रकारका होता है ॥ ११४ ॥

अव शायोपशमिक संयमोंमें शुद्ध संयमसे उपलब्धित गुणस्थानके निरूपण करनेके  
लिये अनेका सूत्र कहते हैं—

सामान्यसे अप्रमत्तसंयत जीव होते हैं ॥ १५ ॥

प्रमत्तसंयतोंका स्वरूप पहले कह आये है, जिनका संयम प्रमाद सहित नहीं होता  
है उन्हें अप्रमत्तसंयत कहते हैं, अर्थात् संयत होते हुए जिन जीवोंके पन्द्रह प्रकारका प्रमाद  
नहीं पाया जाता है, उन्हें अप्रमत्तसंयत समझना चाहिये ।

शंका—वाक्यके संपूर्ण संयतोंका इसी अप्रमत्तसंयत गुणस्थानमें अन्तर्भाव हो जाता  
है, इसलिये शेष संयतगुणस्थानोंका अभाव हो जायगा ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि, जो अनेक चलाकर प्राप्त होनेवाले अपूर्वकरणदि

१ गो जी ३३ विप प्रमादमिथ लताति चित्रल, चित्रल आचरण यस्यामो चित्रलाचरण । अथवा  
चित्रल सारग, तद्वत् शबलित आचरण यस्यामो चित्रलाचरण । अथवा चित्र लताति चित्रल, चित्रल आचरण  
यस्यामो चित्रलाचरण । जी म दी

२ गो जी ३४.

ग्रहणात् । तत्कथमवगम्यत इति चेन्न, उपरिष्ठात्तनसंयतगुणस्थाननिरूपणान्यथानुपपत्तितस्तदवगतेः । एषोऽपि गुणः श्रायोपशमिकः प्रत्याख्यानानवरणीय-कर्मणः सर्वघातिस्पर्द्धकोदयक्षयात्तेषामेव सतां पूर्ववदुपशमात् संज्वलनोदयाच्च प्रत्याख्यानोत्पत्तेः । संयमनिबन्धनसम्यक्त्वापेक्षया सम्यक्त्वप्रतिबन्धककर्मणां क्षय-क्षयोपशमोपशमजगुणनिबन्धनः । उक्तं च—

णद्गतेस-पमाओ वय-गुण-सीलोलि-मडिओ णाणी ।

अणुवसमओ अक्खवओ झाण-णिलीणो ङ अपमत्तो ॥ ११५ ॥

चारित्र्यमोहोपशमकक्षपकेषु प्रथमगुणस्थाननिरूपणार्थमुत्तरवृत्रमाह—

**अपुव्वकरण-पविट्ट-सुद्धि-संजदेसु अत्थि उवसमा खवा ॥ १६ ॥**

विशेषणोंसे विशेषता अर्थात् भेदको प्राप्त नहीं होते हैं और जिनका प्रमाद नष्ट हो गया है ऐसे संयतोंका ही यथा पर ग्रहण किया है । इसलिये आगेके समस्त संयतगुणस्थानोंका इसमें अन्तर्भाव नहीं होता है ।

शंका—यह कैसे जाना जाय कि यथा पर आगे प्राप्त होनेवाले अपूर्वकरणदि विशेषणोंसे भेदको प्राप्त होनेवाले संयतोंका ग्रहण नहीं किया गया है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, यदि यह न माना जाय, तो आगेके संयत गुणस्थानोंका निरूपण बन नहीं सकता है, इसलिये यह मालूम पड़ता है कि यथा पर अपूर्वकरणदि विशेषणोंसे रहित केवल अप्रमत्त संयत-गुणस्थानका ही ग्रहण किया गया है ।

वर्तमान समयमें प्रत्याख्यानानवरणीय कर्मके सर्वघाती स्पर्द्धकोंके उदयक्षय होनेसे और आगामी कालमें उदयमें आनेवाले उन्हेंके उदयाभावलक्षण उपशम होनेसे तथा सज्वलन कषायके मन्द उदय होनेसे प्रत्याख्यानकी उत्पत्ति होती है, इसलिये यह गुणस्थान भी श्रायोपशमिक है । समयके कारणभूत सम्यक्त्वकी अपेक्षा, सम्यक्त्वके प्रतियन्धक कर्मोंके क्षय, श्रायोपशम और उपशमसे यह गुणस्थान उत्पन्न होता है, इसलिये श्रायिक, श्रायोपशमिक और औपशमिक भी है । कहा भी है—

जिसके व्यक्त और अव्यक्त सभी प्रकारके प्रमाद नष्ट हो गये हैं, जो व्रत, गुण और शीलोंने मण्डित है, जो निरन्तर आत्मा और शरीरके भेद विद्वानसे युक्त है, जो उपशम और क्षपक श्रेणीपर आरूढ़ नहीं हुआ है और जो ध्यानमें लवलीन है, उसे अप्रमत्तसंयत कहते हैं ॥ ११५ ॥

अब आगे चारित्र्यमोहनीयका उपशम करनेवाले या क्षपण करनेवाले गुणस्थानोंमेंसे प्रथम गुणस्थानके निरूपण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं ।

अपूर्वकरण-प्रविष्ट-शुद्धि संयतोंमें सामान्यसे उपशमक और क्षपक ये दोनों प्रकारके

करणः परिणामाः, न पूर्वाः अपूर्वाः । नानाजीवापेक्षया प्रतिसमयमादितः क्रमप्रवृत्तांतर्ल्येलोकपरिणामस्यास्य गुणस्थान्तर्विचक्षितसमयवर्तिप्राणिनो व्यतिरिच्यान्य-समयवर्तिप्राणिभिरप्राप्या अपूर्वा अत्रतनपरिणामैरसमाना इति यावत् । अपूर्वाश्च ते करणाश्चापूर्वकरणाः । एतेनापूर्वविशेषणेन अधःप्रवृत्तपरिणामव्युदासः कृत इति दृष्टव्यः, तत्रतनपरिणामानामपूर्वत्वाभावात् । अपूर्वशब्दः प्रागप्रतिपन्नार्थवाचको नासमानार्थ-वाचक इति चेन्न, पूर्वसमानशब्दयोरैकार्थत्वात् । तेषु प्रविष्टा शुद्धिर्येषां ते अपूर्वकरण-प्रविष्टशुद्धयः । के ते ? संयताः । तेषु संयतेषु ' अत्थि ' सन्ति । नदीस्रोतोन्यायेन जीव होते हैं ॥ १६ ॥

करण शब्दका अर्थ परिणाम है, और जो पूर्व अर्थात् पहले नहीं हुए उन्हें अपूर्व कहते हैं । इसका तात्पर्य यह है, कि नाना जीवोंकी अपेक्षा आदिसे लेकर प्रत्येक समयमें क्रमसे बढ़ते हुए असंख्यत-लोक प्रमाण परिणामवाले इस गुणस्थानके अन्तर्गत विवक्षित समयवर्ती जीवोंको छोड़कर अन्य समयवर्ती जीवोंके द्वारा अपाप्य परिणाम अपूर्व कह-लाते हैं । अर्थात् विवक्षित समयवर्ती जीवोंके परिणामोंसे भिन्न समयवर्ती जीवोंके परिणाम असमान अर्थात् विलक्षण होते हैं । इसतरह प्रत्येक समयमें होनेवाले अपूर्व परिणामोंको अपूर्वकरण कहते हैं । इसमें दिये गये अपूर्व विशेषणसे अद्य-प्रवृत्त-परिणामोंका निराकरण किया गया है ऐसा समझना चाहिये, क्योंकि, जहां पर उपरितन समयवर्ती जीवोंके परिणाम अधस्तन समयवर्ती जीवोंके परिणामोंके साथ सहश भी होते हैं और विसदृश भी होते हैं ऐसे अध-प्रवृत्तमें होनेवाले परिणामोंमें अपूर्वता नहीं पाई जाती है ।

शंका—अपूर्व शब्द पहले कभी नहीं प्राप्त हुए अर्थात् वाचक है, असमान अर्थात् वाचक नहीं है, इसलिये यहां पर अपूर्व शब्दका अर्थ असमान या विसदृश नहीं हो सकता है ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि पूर्व और समान ये दोनों शब्द एकार्थवाची हैं, इसलिये अपूर्व और असमान इन दोनों शब्दोंका अर्थ भी एक ही समझना चाहिये । ऐसे अपूर्व परिणामोंमें जिन जीवोंकी शुद्धि प्रविष्ट हो गई है, उन्हें अपूर्वकरण प्रविष्ट शुद्धि जीव कहते हैं ।

शंका—वे अपूर्वकरणरूप परिणामोंमें विशुद्धिको प्राप्त करनेवाले कौन होते हैं ?

समाधान—वे संयत ही होते हैं, अर्थात् संयतोंमें ही अपूर्वकरण गुणस्थानवाले जीवोंका सद्भाव होता है । और उन संयतोंमें उपशमक और क्षपक जीव होते हैं ।

शंका—नदीस्रोत न्यायसे ' सन्ति ' इस पदकी अनुवृत्ति चली आती है, इसलिये

१ अर्धमपूर्वां क्रियां गच्छनीलसूर्धकरणम् । तत्र च प्रथममस्य एव स्थितिमातमत्तगुणश्रेणिगुणमत्मा अयम् स्थितितन्व इत्थे पनाप्यधिकारा योगपयेन पूर्वमप्रवृत्ता प्रवर्तते इत्यपूर्वकरणम् । अग्नि रा को (अनुवकरण)

मन्वीत्यनुवर्तमाने पुनरिह तदुच्चारणमनर्थकमिति चेन्न, अस्यान्यार्थत्वात् । कथम् ? स गुणव्याप्तमन्वप्रतिपादकः, अयं तु संयतेषु क्षणकोपशमकभावनयोर्विधिकरणप्रतिपादनार्थ इति । अपूर्वकरणानामन्तः प्रविष्टशुद्धयः क्षणकोपशमकमंयताः, सर्वे संभूय एको गुणः ' अपूर्वकरण ' इति । क्रिमिति नामनिर्देशो न कृतश्चेन्न, सामर्थ्यलभ्यत्वात् । अक्षपकानुपशमकानां कथं तद्व्यपदेशश्चेन्न, भाविति भूतवदुपचारतत्त्वसिद्धेः । सत्येवमतिप्रसङ्गः

उभक्ता फिस्ते इत्त मय्यं ग्रहण करुणा निरर्थक है ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि यहाँ पर ' सन्ति ' पदका दूसरा ही अर्थ लिया गया है ।

शंका—यह दूसरा अर्थ किस प्रकार का है ?

समाधान—पहले जो ' सन्ति ' पद आया है वह गुणस्थानोंके अस्तित्वाका प्रतिपादक है, और यह संयतोंमें क्षपक और उपशमक भावके भिन्न भिन्न अधिकरणपनेके बननेके लिये है ।

जिनमें अपूर्वकरणरूप परिणामोंमें विद्युद्धिको प्राप्त कर लिया है ऐसे क्षपक और उपशमक संयमी जीव होते हैं, और ये सब मिलकर एक अपूर्वकरण गुणस्थान बनता है ।

शंका—तो फिर यहाँ पर इस प्रकार नामनिर्देश क्यों नहीं किया ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, यह बात तो सामर्थ्यसे ही प्राप्त हो जाती है। अर्थात् अपूर्वकरण जो शब्द हुए उन सब क्षपक और उपशमक जीवोंके परिणामोंमें अपूर्वपनेकी अपेक्षा समानता पाई जाती है, इसलिये ये सब मिलकर एक अपूर्वकरण गुणस्थान होता है यह अपने आप स्थिर है ।

शंका—आठवें गुणस्थानमें न तो कर्मोंका क्षय ही होता है और न उपशम ही। फिर इस गुणस्थानतर्ती जीवोंको क्षपक और उपशमक कैसे कहा जा सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, भावी अर्थमें भूतकालीन अर्थके समान उपचार कर लेनेसे आठवें गुणस्थानमें क्षपक और उपशमक व्यवहारकी सिद्धि हो जाती है।

शंका—इस प्रकार मानने पर तो अतिप्रसंग शेष प्राप्त हो जायगा ?

१ इदं तास्यात्तामत्तमूर्तकालप्रमाण मति । ता च प्राप्तमर्गोऽपि ये प्रजा प्रपन्ते प्रपस्यते च तद्वशात् । अतः प्राचीनोऽपि शब्दप्रमाणानि लभ्यन्ते, प्रविष्टशुद्धा नहुत्वाद्यवसायानां च विविधाभिरी भावोऽस्ति । ननु यदि कालप्रमाणेना भिन्ने तदेतद् गुणस्थानक प्रतिपत्तामन्तान्यवसाय-व्याप्तानि लभ्यन्ते भाति अतः प्राचीनस्य प्रतिपत्तामन्तानि च प्रतिपत्स्यमानादिति । सत्यम्, स्यादेव यदि व प्रविष्टशुद्धां कर्मणः प्राप्तुं शिवायेताण्यवसायव्याप्तानि भु, तत्र नास्ति, चरुनामिका समाप्तस्थानवत्त्वात्-योः । X X गुणस्थानस्य प्रतिपत्तामन्तानि च प्रस्यत्स्यमाप्तस्थानागच्छिकञ्चा निरुत्तरमतीति निरुत्ति-गुणस्थानस्योपपत्ते ॥ यमि ए. नो [ अनुकरागुण्डान ]

स्यादिति चेन्न, असति प्रतिबन्धरि मरणे नियमेन चारित्रमोहक्षपणोपशमकारिणां तदुन्मुखानामुपचारभाजाशुपलम्भात् । क्षपणोपशमननिबन्धनत्वाद् भिन्नपरिणामानां कथमेकत्वमिति चेन्न, क्षणकोपशमकपरिणामानामपूर्वत्वं प्रति साम्यात्तदेकत्वोपपत्तेः । पञ्चसु गुणेषु कौश्रवतनगुणश्चेत्क्षपकस्य क्षायिकः, उपशमकस्यौपशमिकः । कर्मणां क्षयोपशमाभ्यामभौ कथं तयोस्तत्र सत्त्वमिति चेन्नैव दोषः, तयोस्तत्र सत्त्वस्योपचार-निबन्धनत्वात् । सम्यन्तरावेक्षया तु क्षपकस्य क्षायिको भानः दर्शनमोहनीयक्षयमविधाय क्षपकश्रेण्यारोहणानुपपत्तेः । उपशमकस्यौपशमिकः क्षायिको वा भानः, दर्शनमोहोपशम-

समाधान—नहीं, क्योंकि, प्रतिबन्धक मरणके अभावमें नियमसे चारित्रमोहका उपशम करनेवाले तथा चारित्रमोहका क्षय करनेवाले अतएव उपशमन और क्षपणके समुदाय और उपनारसे क्षपक या उपशमक संज्ञाको प्राप्त होनेवाले जीवोंके आठवें गुणस्थानमें भी क्षपक या उपशमक संज्ञा बन जाती है ।

विशेषार्थ—क्षपकश्रेणियोंमें तो मरण होता ही नहीं है, इसलिये वहाँ प्रतिबन्धक मरणका सर्वथा अभाव होनेसे क्षपकश्रेणियोंके आठवें गुणस्थानवाला अग्रे चलकर नियमसे चारित्रमोहनीयका क्षय करनेवाला है । अतः क्षपकश्रेणियोंके आठवें गुणस्थानवर्ती जीवोंके क्षपक संज्ञा बन जाती है । तथा उपशमश्रेणीस्थ आठवें गुणस्थानके पहले भागमें तो मरण नहीं होता है । परंतु द्वितीयादिक भागोंमें मरण संभव है, इसलिये यदि ऐसे जीवोंके द्वितीयादिक भागोंमें मरण न हो तो वह भी नियमसे चारित्रमोहनीयका उपशम करता है । अतः इसमें भी उपशमक संज्ञा बन जाती है ।

शंका—पांच प्रकारके भावोंमेंसे इस गुणस्थानमें कौनसा भाव पाया जाता है ?

समाधान—क्षपकके क्षायिक और उपशमकके औपशमिक भाव पाया जाता है ।

शंका—इस गुणस्थानमें न तो कर्मोंका क्षय ही होता है और न उपशम ही होता है, ऐसी अवस्थामें यहाँ पर क्षायिक या औपशमिक भावका सद्भाव कैसे हो सकता है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं, क्योंकि, इस गुणस्थानमें क्षायिक और औपशमिक भावका सद्भाव उपचारसे माना गया है ।

सम्यग्दर्शनकी अपेक्षा तो क्षपकके क्षायिकभाव होता है, क्योंकि, जिसने दर्शन-मोहनीयका क्षय नहीं किया है वह क्षपक श्रेणीपर नहीं चढ़ सकता है । और उपशमकके औपशमिक या क्षायिकभाव होता है, क्योंकि, जिसने दर्शनमोहनीयका उपशम अथवा क्षय

१ उपशमश्रेण्यारोहकापूर्वकरणस्य प्रथमभागे मरण नास्तीति आगम । जी प्र. मरणमि पिद्यं पदमे पिद्वा तत्रैव पत्राय य' गो क १९ अतो नियमेन अश्रियमाणा प्रथमभागवर्तिनोऽपूर्वकणा, द्वितीयादिभागेषु च आयुषि मति जीवतोऽपूर्वकणा उपशमश्रेण्य चारित्रमोह उपशमयति अनपरोपशमका इत्युच्यते । गो जी., स. प्र., डै. ५५

क्षयाभ्यां विनोपशमश्रेण्यारोहणानुपलम्भात् । उक्तं च—

भिण्ण-समय-द्विष्टहि दु जीवेहि ण होइ सब्बदा सरिसो ।

करणेहि एक-समय-द्विष्टहि सरिसो विसरिसो यं ॥ ११६ ॥

एद्विहि गुणद्वाने विसरिस-समय-द्विष्टहि जीवेहि ।

पुव्वमपत्ता जम्हा होंति अपुव्वा हु परिणामो ॥ ११७ ॥

तारिस-परिणाम-द्विष्ट जीवा हु जिणेहि गलिय-निमिरेहि ।

मोहस्स पुव्वकरणे खवणुवसमणुज्जया भणियो ॥ ११८ ॥

इदानीं वादरकपायेषु चरमगुणस्थानप्रतिपादनार्थमाह—

**अणियद्वि-वादर-सांपराइय-पविट्ट-सुद्धि-संजदेसु अत्थि उवसमा खवा ॥ १७ ॥**

समानसमयवस्थितजीवपरिणामानां निर्भेदेन वृत्तिः निवृत्तिः । अथवा निवृत्ति-

नही किया है, वह उपशमश्रेणीपर नहीं चढ़ सकता है । कहा भी है—

अपूर्वकरण गुणस्थानमें भिन्न-समयवर्ती जीवोंके परिणामोंकी अपेक्षा कभी भी सह-शता नहीं पाई जाती है, किंतु एक-समयवर्ती जीवोंके परिणामोंकी अपेक्षा सहशता और विसहशता दोनों ही पाई जाती हैं ॥ ११६ ॥

इस गुणस्थानमें विसहश अर्थात् भिन्न भिन्न समयमें रहनेवाले जीव, जो पूर्वमें कभी भी नहीं प्राप्त हुए थे ऐसे अपूर्व परिणामोंकी ही धारण करते हैं, ( इसलिये इस गुणस्थानका नाम अपूर्वकरण है । ) ॥ ११७ ॥

पूर्वोक्त अपूर्व परिणामोंको धारण करनेवाले जीव मोहनीय कर्मकी शेष प्रकृतियोंके क्षण अथवा उपशमन करनेमें उद्यत होते हैं, ऐसा अज्ञानरूपी अन्धकारसे सर्वथा रहित जिनेन्द्रदेवने कहा है ॥ ११८ ॥

अब वादर-कपायवाले गुणस्थानोंमें अन्तिम गुणस्थानके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

अनिवृत्ति-वादर सांपरायिक-प्रविष्ट-शुद्धि सयतोंमें उपशमक भी होते हैं और क्षपक भी होते हैं ॥ १७ ॥

समान-समयवर्ती जीवोंके परिणामोंकी भेदरहित वृत्तिको निवृत्ति कहते हैं । अथवा

१ गो जी ५२

२ गो जी ५२

३ गो जी ५६

४ निवृत्तिवर्त्यवृत्ति परिणामानां विसहशमानेन परिणतित्थित्थार्थात्सम् । जय १ अ पृ १०७४

व्यावृत्तिः, न विद्यते निवृत्तियेषां तेऽनिवृत्तयः । अपूर्वकरणाश्च तादृक्षाः केचित्सन्तीति तेषामप्ययं व्यपदेशः प्राप्नोतीति चेन्न, तेषां नियमाभावात् । समानमयस्थितजीव-परिणामानामिति कथमधिगम्यत इति चेन्न, 'अपूर्वकरण' इत्यनुवर्तनादेव द्वितीयोद्दि-समयवर्तिजीवैः सह परिणामापेक्षया भेदसिद्धे । साम्परायाः कपायाः, वादरा स्थूलाः, वादराश्च ते साम्परायाश्च वादरसाम्परायाः । अनिवृत्तयश्च ते वादरसाम्परायाश्च अनिवृत्ति-वादरसाम्पराया । तेषु प्राविष्टा शुद्धियेषां संयतानां तेऽनिवृत्तिवादरसाम्परायप्रविष्ट-शुद्धिसंयताः । तेषु सन्ति उपशमकाः क्षपकाश्च । ते सर्वे एको गुणोऽनिवृत्तिरिति । यावन्तः परिणामास्तावन्त एव गुणाः किंन भवन्तीति चेन्न, तथा व्यवहारानुपपत्तितो निवृत्ति शब्दका अर्थ व्यावृत्ति भी है । अतएव जिन परिणामोंकी निवृत्ति अर्थात् व्यावृत्ति नहीं होती है उन्हें ही अनिवृत्ति कहते हैं ।

शंका—अपूर्वकरण गुणस्थानमें भी तो कितने ही परिणाम इसमकारके होते हैं, अतएव उन परिणामोंको भी अनिवृत्ति सत्ता प्राप्त होनी चाहिये ?

समाधान - नहीं, क्योंकि, उनके निवृत्तिरहित होनेका कोई नियम नहीं है ।

शंका—इस गुणस्थानमें जो जीवोंके परिणामोंकी भेदरहित वृत्ति बतलाई है, वह समान समयवर्ती जीवोंके परिणामोंकी ही विवक्षित है यह कैसे जाना ?

समाधान—'अपूर्वकरण' पदकी अनुवृत्ति ही यह सिद्ध होता है, कि इस गुण-स्थानमें प्रथमादि समयवर्ती जीवोंका द्वितीयादि समयवर्ती जीवोंके साथ परिणामोंकी अपेक्षा भेद है । ( अतएव इससे यह तात्पर्य निकल आता है कि 'अनिवृत्ति' पदका सम्बन्ध एकसमयवर्ती परिणामोंके साथ ही है । )

सांपराय शब्दका अर्थ कपाय है, और वादर स्थूलको कहते हैं, इसलिये स्थूल-कपायोंको वादर-सांपराय कहते हैं । और अनिवृत्तिरूप वादर सांपरायको अनिवृत्तिवादरसांपराय कहते हैं । उन अनिवृत्तिवादरसांपरायरूप परिणामोंमें जिन सयतोंकी विद्युद्धि प्रविष्ट हो गई है उन्हें अनिवृत्तिवादरसांपरायप्रविष्टशुद्धिसयत कहते हैं । ऐसे सयतोंमें उपशमक और क्षपक दोनों प्रकारके जीव होते हैं । और उन सब सयतोंका मिलकर एक अनिवृत्तिकरण गुणस्थान होता है ।

शंका—जितने परिणाम होते हैं, उतने ही गुणस्थान क्यों नहीं होते हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जितने परिणाम होते हैं, उतने ही गुणस्थान यदि माने

१ गुणपदेतः गुणस्थानक प्रतिपत्ताना न्हनूनामनि जीवानामन्योन्यमप्यत्रमायस्थानस्य व्यावृत्तिर्निरयत्येति अनिवृत्तिः । ममकालमेतद् गुणस्थानकमाल्दस्यापारस्य यदपरमायस्थान विवक्षितोऽन्योऽपि कश्चिच्चद्वयेवैवर्थ । मपरैति पर्यटति ससारमनेनेति संपराय कपायोदय । X X तत्र चात्तदुद्धते यान्त समयास्तत्प्रविष्टाना तावन्त्ये-वाप्यवसायस्थानानि भवन्ति । एकममयप्रविष्टानामेकस्वैवाप्यवसायस्थानसाखुवर्तनादिति । अभि रा को ( अणि-यद्विवादरसंपरायगुणद्वान )

द्रव्याधिक्यसमाश्रयणान् । चाद्रग्रहणमन्तदीपरुत्वाद् गताजोगुणस्थानानि चादर-  
रूपायानिति प्रज्ञापनार्थम्, 'मति संभवे व्यभिचारे च विशेषणमर्थवद्भवति' इति  
न्यायान् । भयतग्रहणमनर्थकमिति चैवाप दोषः, संयमस्य पञ्चस्यपि गुणेषु सम्भव एव न  
व्यभिचार इत्यन्यथाधिगमोपायसाभावतस्तदुक्तः । आद्यं संयतग्रहणमनुवर्तते,  
तन्मदानीयत इति चैवास्तु जडजनानुग्रहार्थमिति । यद्येवमुपशान्तरूपायादिव्यपि  
स्यतग्रहणमस्ति चैव, तत्तयायत्वेन संयतानामसंयतैः साधर्म्यमस्तीति मन्वधियामथः  
संशयोत्पत्तिममभावात् । नोपशान्तरूपायादिषु मन्वधियामयारोकोत्पद्यते । शीणोपशान्त-  
रूपायाः संयताः, भान्तोऽसंयतैस्संयतानां साधर्म्योभावात् । काश्चित्प्रकृतीरुपशमयति,

जां नो व्ययमार दी नर्ही चल् सकृता दे, इसलिये द्रव्याधिक्य न्यक्ती अपेक्षा नियत-सख्यावाले  
नी गुणस्थान करे गये दे ।

मृगमें जो 'मार' पदका ग्रहण किया है, वह अन्तर्दीपक होनेसे पूर्ववर्ती समस्त  
गुणस्थान चादररूपाय दे । इन ज्ञानका ज्ञान करनेके लिये ग्रहण किया है, ऐसा समझना  
चाहिये, क्योंकि, जहाँ पर विशेषण सभाव हो अर्थात् लागू पड़ता हो और न देने पर व्यभि-  
चार आना तो, ऐसी जगह दिया गया विशेषण सार्यक होता है, ऐसा न्याय है ।

शंका — इस मृगमें सयत पदना ग्रहण करना व्यर्थ है ?

समाधान — यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, सयम पाचों ही गुणस्थानोंमें समन है,  
इसमें कोई व्यभिचार दोष नहीं आता है, इसप्रकार जाननेका दूसरा कोई उपाय नहीं होनेसे  
यदा सयम पदना ग्रहण किया है ।

शंका — 'पत्तमजदा' इस सूत्रमें ग्रहण किये गये संयत पदकी यहा अनुवृत्ति  
तोनी है, और उन्में ही उक्त अर्थका ज्ञान भी हो जाता है, इसलिये फिरसे इस पदका ग्रहण  
करना व्यर्थ है ?

समाधान — यदि ऐसा है, तो सयत पदना यहा पुनः प्रयोग मन्वद्वि जनोंके  
अनुपपत्तिके लिये समझना चाहिये ।

शंका — यदि ऐसा है, तो उपशान्तरूपाय आदि गुणस्थानोंमें भी सयत पदका  
ग्रहण करना चाहिये ?

समाधान — नशा, क्योंकि, वरुंवे गुणस्थानतक सभी जीव कयायमहित होनेके  
कारण, कयायकी अपेक्षा सयतोंकी असंयतोंके साथ सदृशता पाई जाती है, इसलिये नीचेके  
दशों गुणस्थानतक मन्वद्वि-जनोंको सशय उत्पन्न होनेकी सभावना है । अतः सशयके  
निराकरणके लिये सयत विशेषण देना आवश्यक है । किंतु ऊपरके उपशान्तरूपाय आदि गुण-  
स्थानोंमें मन्वद्वि-जनोंको भी शका उत्पन्न नहीं हो सकती है, क्योंकि, वहाँ पर सयत शीण-  
रूपाय अग्रा उपशान्तरूपायकी होते हैं, इसलिये भावोंकी अपेक्षा भी सयतोंकी असंयतोंसे  
मन्वद्वि नहीं पाई जाती है । अतएव यहा पर सयत विशेषण देना आवश्यक नहीं है ।

काश्चिदुपरिष्टादुपशमयिष्यतीति औपशमिकोऽयं गुणः । काश्चित् प्रकृतीः क्षपयति  
काश्चिदुपरिष्टात् क्षपयिष्यतीति क्षायिकश्च । सम्यक्त्वापेक्षया चारित्रिमोहक्षपकस्य क्षायिक  
एव गुणस्तत्रान्यस्यासम्भवात् । उपशमकरूपौपशमिकः क्षायिकश्चोभयोरपि तत्राविरोधात् ।  
क्षकोपशमकयोर्द्वित्वं किमिति नेष्यत इति चेन्न, गुणनिवन्धनानि वृत्तिपरिणामानां  
साम्यप्रदर्शनार्थं तदेकत्वोपपत्तेः । उक्तं च—

एकस्मि काल-समए सठाणादीहिं जह गिब्रुति ।

ण गिनइति तह त्रिय परिणामेहि मिहो जे हु ॥११९ ॥

होति अणियाद्विणो ते पडिसमय जेस्सिमेस्सपरिणामा ।

विमलयर-शाण-हुयवह-सिहाहि णिहद्व-कम्म-वणां ॥ १२० ॥

इस गुणस्थानमें जीव मोहकी कितनी ही प्रकृतियोंका उपशमन करता है, और  
कितनी ही प्रकृतियोंका आगे उपशम करेगा, इस अपेक्षासे यह गुणस्थान औपशमिक है । और  
कितनी ही प्रकृतियोंका क्षय करता है, तथा कितनी ही प्रकृतियोंका आगे क्षय करेगा, इस  
दृष्टिसे साधिक भी है । सम्यग्दर्शनकी अपेक्षा चारित्रिमोहका क्षय करनेवालेके यह गुणस्थान  
साधिकभावरूप ही है, क्योंकि, क्षपकश्रेणियोंमें दूसरा भाव संभव ही नहीं है । तथा चारि-  
मोहनीयका उपशम करनेवालेके यह गुणस्थान औपशमिक और क्षायिक दोनों भावरूप  
है, क्योंकि, उपशमश्रेणियोंकी अपेक्षा वहाँ पर दोनों भाव समव है ।

शंका — क्षपकका स्वतन्त्र गुणस्थान और उपशमकका स्वतन्त्र गुणस्थान, इसतरह  
अलग अलग दो गुणस्थान क्यों नहीं कहे गये हैं ?

समाधान — नहीं, क्योंकि, इस गुणस्थानके कारणभूत अनिवृत्तिरूप परिणामोंकी  
समानता दिखानेके लिये उन दोनोंमें एकता बन जाती है । अर्थात् उपशमक और क्षपक इन  
दोनोंके अनिवृत्तिरूप परिणामोंकी अपेक्षा समानता है । कहा भी है—

अन्तर्बुद्धतमात्र अनिवृत्तिकरणके कालमेंसे किसी एक समयमें रहनेवाले अनेक जीव  
जिसप्रकार शरीरके आकार, वर्ण आदि गारुष्यसे, और ज्ञानोपयोग आदि अन्तरा रूपसे परस्पर  
भेदको प्राप्त होते हैं, उसप्रकार जिन परिणामोंके द्वारा उनमें भेद नहीं पाया जाता है उनको  
अनिवृत्तिकरण परिणामवाले कहते हैं । और उनके प्रत्येक समयमें उत्तरोत्तर अन्तर्गुणी  
विशुद्धिसे बढ़ते हुए एकसे ही (समान विशुद्धिको लिये हुए) परिणाम पाये जाते हैं ।

१ नरकद्विक विर्यद्विक निरुत्तम्य स्यान्ननुद्विययुयोत आतप एकेन्द्रिय सात्तण एउम स्यात्त चेति  
गोउज अप्रत्याय्यानप्रत्यारयानमया अथा, लोण पदेव त्रिदोःकोरुपापद्, पुण्ड मञ्जलनकोम सञ्जलन-  
मान मञ्जलनभाया एता स्थूलं अनिवृत्तिरूपे [ मल- ] व्युत्पन्ना भवन्ति । गो क, जी प्र, दी ३३८ ३३९

२ यस्थानतर्णान्गाहन्लिंगादिभिर्विदित्गौर्निदर्शनान्निश्रितान् । गो जा, म. प्र, दी ५३

३ गो जी ५७,



काश्चित्सपयति क्षपयिष्यति क्षपिताश्चेति क्षायिकगुणः । काश्चिदुपशमयति उपशमयिष्यति उपशमिताश्चेत्यौपशमिकगुणः । सम्यग्दर्शनपेक्षया क्षपकः क्षायिकगुणः, उपशमकः औपशमिकगुणः क्षायिकगुणो वा द्वाभ्यामपि सम्यक्त्वान्नाशुपशमश्रेणयरोहणसम्भवात् । संयतग्रहणस्य पूर्ववत्ताफल्यमुपदेशद्वयम् । उक्तं च—

पुत्रापुत्रव्य-फइय अणुभागादो अणत गुण-हीणे ।

लोहाणुमिह द्वियओ हद सुहुम-सापराओ सो । १२१ ॥

साम्प्रतमुपशमश्रेण्यन्तगुणप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

**उवसंत-कसाप्र-वीयराय-छदुमत्था ॥ १९ ॥**

उपशान्तः कषायो येषां त उपशान्तकषयाः । वीतो विनष्टो रागो येषां ते वीतरागा । छन्न ज्ञानहारावणे, तत्र तिष्ठन्तीति छन्नस्थाः । वीतरागाश्च ते छन्नस्थाश्च वीतरागछन्नस्थाः । एतेन सरागछन्नस्थनिराकृतिरागन्तव्या । उपशान्तकषयाश्च ते वीत-

इस गुणस्थानमें जीव कितनी ही प्रकृतियोंका क्षय करता है, अग्रे क्षय करेगा और पूर्वमें क्षय कर चुका, इसलिये इसमें क्षायिकभाव है । तथा कितनी ही प्रकृतियोंका उपशम करता है, अग्रे उपशम करेगा और पहले उपशम कर चुका, इसलिये इसमें औपशमिक भाव है । सम्यग्दर्शनकी अपेक्षा क्षपक श्रेणीवाला क्षायिकभावसहित है । और उपशमश्रेणीवाला औपशमिक तथा क्षायिक इन दोनों भावोंसे युक्त है, क्योंकि, दोनों ही सम्यक्त्वोंसे उपशम-श्रेणीका चढ़ना समभव है । इस सूत्रमें ग्रहण किये गये संयत पदकी पूर्ववत् अर्थात् अनिवृत्तिरूप गुणस्थानमें बतलाई गई संयत पदकी सफलताके समान सफलता समझ लेना चाहिये । कहा भी है—

पूर्वस्पर्द्धक और अपूर्वस्पर्द्धकके अनुभागसे अनन्तगुणे हीन अनुभागवाले सूक्ष्म-लेभमें जो स्थित है उसे सूक्ष्मसापराय गुणस्थानवर्ती जीव समझना चाहिये ॥ १२१ ॥

अब उपशमश्रेणीके अन्तिम गुणस्थानके प्रतिपादनार्थ अग्रेका सूत्र कहते हैं—

सामान्यसे उपशान्त-कषय-वीतराग छन्नस्य जीव हेतौ है ॥ १९ ॥

जिनकी कषय उपशान्त हो गई है उन्हें उपशान्तकषय कहते हैं । जिनका राग नष्ट हो गया है उन्हें वीतराग कहते हैं । छन्न ज्ञानावरण और दर्शनावरणको कहते हैं, उनमें जो रहते हैं उन्हें छन्नस्य कहते हैं । जो वीतराग हेतौ हुए भी छन्नस्थ हेतौ हैं उन्हें वीतरागछन्नस्य कहते हैं । इसमें अये हुए वीतराग विशेषणसे दर्शम गुणस्थान तकके सरागछन्नस्योका निराकरण समझना चाहिये । जो उपशान्तकषय हेतौ हुए भी वीतरागछन्नस्य हेतौ हैं उन्हें

१ सूक्ष्मसापराये सूक्ष्मसामान्यस्य गो क, जो प्र, दो ३३९

२ पुत्रापुत्रव्य-फइयनादर-रहुमणयमिद्विशुभागा । रण-रूपानतगुणनगइ र च हेटस ॥ गो जी ५९

इदानीं कुशलैषु पाथाल्यगुणप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

**सुहुम-सांपराइय-पविट्ट-सुद्धि-संजदेसु अत्थि उवसमा खवा ॥ १८ ॥**

सूक्ष्मआसौ साम्परायश्च सूक्ष्मसाम्परायः । तं प्रविष्टा शुद्धियेषां संयतानां ते सूक्ष्मसाम्परायप्रविष्टशुद्धिसंयताः । तेषु सन्ति उपशमकाः क्षपकाश्च । सर्वे त एको गुणः सूक्ष्मसाम्परायत्वं प्रत्यभेदात् । अपूर्वं इत्यनुवर्तते अनिवृत्तिरिति च । ततस्ताभ्यां सूक्ष्मसाम्परायो विशेषयितव्यः । अन्यथातीतगुणेभ्यस्तस्याधिम्यानुपपत्तेः । प्रकृतीः

तथा ये शरयन्त निर्मल ध्यानरूप अभिमी शिखाओंसे कर्म-बनको भस्म करनेवाले हेतौ हैं ॥ ११९, १२० ॥

अब कुशील जातिके मुनियोंके अन्तिम गुणस्थानके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सूक्ष्म-सापराय प्रविष्ट शुद्धि संयतोंमें उपशमक और क्षपक दोनों हेतौ हैं ॥ १८ ॥

सूक्ष्म कषयको सूक्ष्मसांपराय कहते हैं । उसमें जिन संयतोंकी शुद्धिने प्रवेश किया है उन्हें सूक्ष्म-सांपराय-प्रविष्ट-शुद्धि संयत कहते हैं । उनमें उपशमक और क्षपक दोनों हेतौ हैं । और सूक्ष्मसांपरायकी अपेक्षा उनमें भेद नहीं होनेसे उपशमक और क्षपक इन दोनोंका एक ही गुणस्थान होता है । इस गुणस्थानमें अपूर्वं और अनिवृत्ति इन दोनों विशेषणोंकी अनुवृत्ति होती है । इसलिये ये दोनों विशेषण भी सूक्ष्म सापराय-शुद्धि-संयतके साथ जोड़ लेना चाहिये । अन्यथा पूर्ववर्ती गुणस्थानोंसे इस गुणस्थानकी कोई भी विशेषता नहीं बन सकती है ।

विशेषार्थ—यदि दर्शवं गुणस्थानमें अपूर्वं विशेषणकी अनुवृत्ति नहीं होगी तो उसमें प्रतिसमय अपूर्वं अपूर्वं परिणामोंकी सिद्धि नहीं हो सकेगी । और अनिवृत्ति विशेषणकी अनुवृत्ति नहीं मानने पर एक समयवर्ती जीवोंके परिणामोंमें समानता और कर्मोंके क्षपण और उप-शमनकी योग्यता सिद्ध नहीं होगी । इसलिये पूर्व गुणस्थानोंसे इसमें सर्वथा भिन्न जातिके ही परिणाम होते हैं इस बातके सिद्ध करनेके लिये अपूर्वं और अनिवृत्ति इन दो विशेषणोंकी अनुवृत्ति कर लेना चाहिये । इसप्रकार इस गुणस्थानमें अपूर्वता, अनिवृत्तिपना और सूक्ष्मसांपरायरूप विशेषता सिद्ध हो जाती है ।

१ सन्जदलोमस्य अग्रसल्येतमस्य तपडसासरोतानि सखडानि वेदयमानोऽनुमन्त्र उपशमक क्षपको वा भवति । शोऽन्तर्दुर्वे काल यात्र-सूक्ष्मपरायो भण्यते । X छुमपराइय जो वचति सो सुहुमसपरायो । सुहुम नाम भोग । कर भोग ? आउयमोशुणिज्जन्जाओ उ रम्ययमीओ शिदिन्वधणमद्धाओ अप्पमल्लिट्ठित्तिमओ महाणु-मात्ताओ अयद्वेत्ताओ सुहुमपराणस व साति । एउ भोग सपराइय कम्म त स न्जाति । सुहुमी सपरायो वा जस्स सो सुहुमपराणो, सो य अमधे-नपसन्तो अनोमुट्ठिओ भिसु-सपाणरिणामो ण पडियत्ताणपरिणामो वा भवति पि । यमि रा को [ सुहुमपराय ]



रामछन्दमथाथ उपशान्तकृपायवीतरागछन्दम्याः । एतेनोपरितनगुणव्युदासोऽवगन्तव्यः । एतस्योपशान्तिनाशकृपायत्वादांपशमिकः, सम्पत्कृत्वापेक्षया क्षायिक औपशमिको वा गुणः । उक्तं च—

सकृत्वा-हृत् जट वा सरए सरनाणियं व णिम्लयं ।  
सत्रञ्जयसत-मोहो उवसंत-कसायओ होई ॥ १२२ ॥

निर्ग्रन्थगुणप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

**स्वीण-कसाय-वीरारय-छटुमत्या ॥ २० ॥**

क्षीणः कपायो येषां ते क्षीणकपायाः । क्षीणकपायाश्च ते वीतरागाश्च क्षीणकपाय-  
उपशान्त कपाय वीतराग-छन्दस्य कहते हैं । इससे ( उपशान्तकपाय विशेषणसे ) आगेके गुण-  
स्थानोंका निराकरण समझना चाहिये ।

इस गुणस्थानमें संपूर्ण कपायें उपशान्त हो जाती हैं, इसलिये इसमें औपशमिक भाव  
है । तथा सम्पत्कृतकी अपेक्षा औपशमिक और क्षायिक दोनों भाव हैं । कहा भी है—  
निर्मली फलमे युक्त निर्मल जलकी तरह, यथा शब्द शत्रुमें होनेवाले सरोवरके  
निर्मल जलकी तरह, संपूर्ण मोहनीय कर्मके उपशमसे उत्पन्न होनेवाले निर्मल परिणामोंको  
उपशान्तकपाय गुणस्थान कहते हैं ॥ २२२ ॥

अब निर्ग्रन्थगुणस्थानके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—  
सामान्यसे क्षीण-कपाया वीतराग-छन्दस्य जीव होते हैं ॥ २० ॥

जिनकी कपाय क्षीण हो गईं हे उन्हें क्षीणकपाय कहते हैं । जो क्षीणकपाय होते हुए

अधिक गुणस्थानेन्द्राविश्वविरपि मोहनीयपदतय उपशान्ता मातया । उपशान्तकपायश्च जचयनक  
गमन भाति, उतय तत्तर्पुर्हं काल गाता । तत ऊर्षं नियमादसा श्रितपतति । प्रतिपत्तय देवा, मवक्षयेण अद्वा-  
क्षयेण । वा मवक्षयो पियमाप्य, पद्माक्षय उपशान्ताद्वायो ममात्तायाम् । अद्वाक्षयेण च प्रतिपतति यथाऽद्वाक्षयैव  
वीरपति यय यय चोभारोरीणा व्यरिज्जालाना ता श्रितपता मता ते जारयत इति यात् । xx य पुनर्म-  
भायेन प्रतिपति न पामगमय मर्गागपि नयनादीनि ररणाणि यमर्ततीति विशेष । अमि रा को । ( उवगत-  
रमागीराराग-छन्दस्यगुणुदात्ता )

२ गो जा. ६१ परं च वा यममत्वे ' रदर कल-उर जल या ' इति पाठ ।

३ र्थीणा यमाभापसा कपाया यत्य य क्षीणाया । तस्यान्येचपि गुणस्थानकेषु क्षपकयोगिद्वारोक्तयुक्त्वा  
नां निगामपि रपागां क्षीणत्वममात् न्नीणकृतापदेय समनति । ततस्तदयवच्छेदार्थं वीतरागग्रहण,  
यान्तयानीतरागा च रंरिज्जोडयन्नाति तररा-च्छेदार्थं उग्रमग्रहणम् । यदा छयसत्य तगोडपि भवतीति  
उदरापारां रंरिज्जोडयन् । वीतरागभ्राम् । उग्रमग्र वीतरागग्रहणस्य न चोपशान्तकपायोन्यन्तीति तद्व्यप-  
क्षेपस्यमग्रद । परि रा को [ नीणकपायवीराराग-उग्रमग्र ]

वीतरागाः । छान्दि आवरणे तिष्ठन्तीति छान्दस्थाः । क्षीणकपायवीतरागाश्च ते छान्दस्थाश्च  
क्षीणकपायवीतरागछान्दस्थाः । छान्दस्थग्रहणमन्तर्दीपरुन्वादतीतिशेषगुणानां सावरणत्तस्य  
सचक्रमित्यवगन्तव्यम् । क्षीणकपाया हि वीतरागा एव व्यभिचाराभावाद्बीतरागग्रहण-  
मनर्थकमिति चेन्न, नामादिक्षीणकपायनिनिवृत्तिकरुत्वात् । पञ्चशु गुणेषु कस्मादस्य  
ग्राहुर्भाव इति चेद् द्रव्यभावेद्विविध्यादुभयात्मरुमोहनीयस्य निरन्वयविनाशात्भायिकगुण-  
निवन्धनः । उक्तं च—

णिस्सेस-स्वीण-मोहो फलियामल भायगुदय-समचितो ।  
स्वीण-कसायो भण्णइ णिगयो वीरारएहि ॥ १२३ ॥

सनातकगुणप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

**सजोगकेवली ॥ २१ ॥**

वीतराग होते हैं उन्हें क्षीणकपायवीतराग कहते हैं । जो छान्द अर्थात् ज्ञानावरण और दर्शना-  
वरणमें रहते हैं उन्हें छान्दस्य कहते हैं । जो क्षीणकपाय वीतराग होते हुए छान्दस्य होते हैं  
उन्हें क्षीण कपाय-वीतराग-छान्दस्य कहते हैं । इस सूत्रमें आया हुआ छान्दस्य पद अन्तर्दीपरु है,  
इसलिये उसे पूर्ववर्ती समस्त गुणस्थानोंके सावरणपनेका सूत्रक समझना चाहिये ।

शंका — क्षीणकपाय जीव वीतराग ही होते हैं, इसमें किसी प्रकारका भी व्यभिचार  
नहीं आता, इसलिये सूत्रमें वीतराग पदका ग्रहण करना निष्कल है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, नाम, स्थापना आदि रूप क्षीणकपायकी निवृत्ति करना  
यही इस सूत्रमें वीतराग पदके ग्रहण करनेका फल है । अर्थात् इस गुणस्थानमें नाम,  
स्थापना और द्रव्यरूप क्षीणकपायका ग्रहण नहीं है, किंतु भावरूप क्षीणकपायोंका ही ग्रहण  
है, इस बातके प्रगट करनेके लिये सूत्रमें वीतराग पद दिया है ।

शंका—पांच प्रकारके भावोंमेंसे किस भावसे इस गुणस्थानकी उत्पत्ति होती है ?

समाधान—मोहनीय कर्मके दो भेद हैं, द्रव्यमोहनीय और भावमोहनीय । इस  
गुणस्थानके पहले दोनों प्रकारके मोहनीय कर्मोंका निरन्वय ( सर्वथा ) नाश हो जाता है, अतएव  
इस गुणस्थानकी उत्पत्ति क्षायिक गुणसे है । कहा भी है—

जिस्से संपूर्ण अर्थात् प्रकृति, स्थिति, अतुभाग और प्रदेश वन्धरूप मोहनीय कर्मको  
नष्ट कर दिया है, अतएव जिसका चित्त स्फटिकमणिके निर्मल भाजनमें रखने हुए जलके  
समान निर्मल है, ऐसे निर्ग्रन्थको वीतरागदेवने क्षीणकपायगुणस्थानवर्ती कहा है ॥ १२३ ॥

अब स्नातकोंके गुणस्थानके प्रतिपादन कलके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—  
सामान्यसे सयोगकेवली जीव होते हैं ॥ २१ ॥

१ अर्थात् स्वयंति मसारकाण कर्मवन्धमिति अथा परिग्रहा विध्यात्रवेददय उतरगाश्रुदंश, बहि-  
राश्र धेवाद्यो दश, तेभ्यो तिक्रान्त यर्वापना निरुगो निर्ग्रन्थ इति । गो जी, म य, टी ६२.

केवलं केवलज्ञानम् । कथं नामैकदेशात्सकलनाम्ना प्रतिपद्यमानस्यार्थस्यावगम इति चेन्न, बलदेवशब्दवाच्यस्यार्थस्य तदेकदेशदेवशब्दादपि प्रतीयमानस्योपलम्भात् । न च दृष्टेऽनुपपन्नता अव्यवस्थापत्तेः । केवलमसहायमिन्द्रियालोकमनस्कारनिरपेक्षम्, तदेवामस्तीति केवलिन । मनोवाक्कायप्रवृत्तियों, योगेन सह वर्तन्त इति सयोगाः । सयोगारूच ते केवलिनश्च सयोगकेवलिनः । सयोगग्रहणमध्यस्तनसकलगुणानां सयोगत्व-प्रतिपादकमन्तर्दीपकत्वात् । क्षपितशेषघातिकर्मत्वान्निःशक्तीकृतवेदनीयत्वान्नाष्टाटकर्मत्व-यवपट्टिकर्मत्वाद्वा भायिकगुण । उक्तं च—

केवलगुण-दियायर किरण-कलाव-पणासि-अण्णाणो ।

णव-केवल-लडुगम-सुजणिय-परमण-ववरसो ॥ १२४ ॥

केवल पदसे यहां पर केवलज्ञानका ग्रहण किया है ।

शंका—नामके एकदेशके कथन करनेसे संपूर्ण नामके द्वारा कहे जानेवाले अर्थका बोध कैसे संभव है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, बलदेव शब्दके वाच्यभूत अर्थका, उसके एकदेशरूप 'देव' शब्दसे भी बोध होता पाया जाता है । और इसतरह प्रतीति-सिद्धि-बातमें 'यह नहीं बन सकता है' इसप्रकार कहना निष्फल है, अन्यथा सब जगह अव्यवस्था हो जायगी ।

जिसमें इन्द्रिय, आलोक और मनकी अपेक्षा नहीं होती है उसे केवल अथवा असहाय कहते हैं । वह केवल अथवा असहाय ज्ञान जिनके होता है, उन्हें केवली कहते हैं । मन, वचन और कायकी प्रवृत्तिको योग कहते हैं । जो योगके साथ रहते हैं उन्हें सयोग कहते हैं । इसतरह जो सयोग होते हुए केवली हैं उन्हें सयोगकेवली कहते हैं । इस सूत्रमें जो सयोग पदका ग्रहण किया है वह अन्तर्दीपक होनेसे नबिके संपूर्ण गुणस्थानोंके सयोगपनेका प्रतिपादक है । चारों घातिया कर्मोंके क्षय कर देनेसे, वेदनीय कर्मके निःशक्त कर देनेसे, अथवा आठों ही कर्मोंके अवयवरूप साठ उत्तर कर्म-प्रकृतियोंके नष्ट कर देनेसे इस गुणस्थानमें क्षायिक भाव होता है ।

विशेषार्थ—यद्यपि अर्हत परमेष्ठिके चारों घातिया कर्मोंकी सेतार्त्तलस, नामकर्मकी तरह और आयुर्कर्मकी तीन, इसतरह त्रेसठ प्रकृतियोंका अभाव होता है । फिर भी यहा साठ कर्मप्रकृतियोंका अभाव बतलाया है । इसका ऐसा अभिप्राय समझना चाहिये कि आयुर्करी तीन प्रकृतियोंके नाशके लिये प्रयत्न नहीं करना पडता है । मुक्तिको प्राप्त होनेवाले जीवके एक मनुष्यायुको छोड़कर अन्य आयुर्की सत्ता ही नहीं पाई जाती है, इसलिये यहा पर आयुर्कर्मकी तीन प्रकृतियोंकी अविधवा करके साठ प्रकृतियोंका नाश बतलाया गया है । कहा भी है—

जिसका केवलज्ञानरूपी सूर्यकी किरणोंके समूहसे अज्ञानरूपी अन्धकार सर्वथा नष्ट

१ अनन सयोगमदारस्य भव्यलोकोपकारकवलक्षणपरार्थसंपत्त्यर्णाता । गो जी, जी प्र, टी ६३

२ [अनेन पदेन] भगवददीपसोष्ठिनोऽन तज्ञानादिलक्षणस्यार्थसपत् प्रदर्शिता । गो जी, जी प्र, टी ६३

असहाय-गण-दसण सहिओ इदि केवली हु जोएण ।

जुतो ति सजोगो इदि अणाइ-णिहणारिसे उच्चो ॥ १२५ ॥

साम्प्रतमन्त्यस्य गुणस्य स्वरूपनिरूपणार्थमहन्मुखोद्गतार्थं गणधरेदेवग्रथित-शब्दसन्दर्भं प्रवाहरूपतयानिधनतामापन्नमशेषदोषव्यतिरिक्तत्वादकलङ्कमुत्तरसूत्रं पुष्पदन्त-भट्टारक प्राह—

## अजोगकेवली ॥ २२ ॥

न विद्यते योगो यस्य स भवत्ययोगः । केवलमस्यास्तीति केवली । अयोगश्चासौ केवली च अयोगकेवली । केवलीत्यनुवर्तमाने पुनः केवलियहणं न कर्तव्यमिति चेन्नैप दोष', समनस्केषु ज्ञानं सर्वत्र सर्वदा मनोनिबन्धनत्वेन प्रतिपन्न प्रतीयते च । सति चैवं नायोगिनां केवलज्ञानमस्ति तत्र मनसोऽसत्त्वादिति विग्रथितपन्नस्यशिष्यस्य तदस्त्व-हो गया है, और जिसने तब केवल-लब्धियोंके प्रगट होनेसे 'परमात्मा' इस सज्ञाको प्राप्त कर लिया है, वह इन्द्रिय आदिकी अपेक्षा न रखनेवाले ऐसे असहाय ज्ञान और दर्शनसे युक्त होनेके कारण केवली, तनों योगोंसे युक्त होनेके कारण सयोगी और घाति-कर्मोंसे रहित होनेके कारण जिन कहा जाता है, ऐसा अनादिनिधन आर्यमें कहा है ॥ १२४, १२५ ॥

अब पुष्पदन्त भट्टारक अन्तिम गुणस्थानके स्वरूपके निरूपण करनेके लिये, अर्थ-रूपसे अर्द्धत-परमेष्ठिके मुखसे निकले हुए, गणधरेदेवके द्वारा गृथे गये शब्द स्वनावाले, प्रवाहरूपसे कभी भी नाशको नहीं प्राप्त होनेवाले और संपूर्ण दोषोंसे रहित होनेके कारण निर्दोष, ऐसे आगेके सूत्रको कहते हैं—

सामान्यसे अयोगकेवली जवि होते हैं ॥ २२ ॥

जिसके योग विद्यमान नहीं है उसे अयोग कहते हैं । जिसके केवलज्ञान पाया जाता है उसे केवली कहते हैं । जो योग रहित होते हुए केवली होता है उसे अयोगकेवली कहते हैं ।

शंका—पूर्वसूत्रसे केवली पदकी अनुवृत्ति होने पर इस सूत्रमें फिरसे केवली पदका ग्रहण नहीं करना चाहिये ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, समनस्क जीवोंके सर्वदेश और सर्व कालमें मनके निमित्तसे उत्पन्न होता हुआ ज्ञान प्रतीत होता है, इसप्रकारके नियमके मान लेने पर, अयोगियोंके केवलज्ञान नहीं होता है, क्योंकि, वहा पर मन नहीं पाया जाता है । इसप्रकार विवादग्रस्त शिष्यको अयोगियोंमें केवलज्ञानके अस्तित्वके प्रतिपादनके लिये

१ गो जी ६४

२ योग अस्यास्तीति योगी, न योगी अयोगी, अयोगी केवलजिन इत्युत्तरान् अयोगी चामो

केवलजिनश्च अयोगिचेवलजिन । गो जी, जी प्र, टी १०

प्रतिपादनकरन्वान् । रुधं नचनासदस्तिन्वमगम्यत इति चेच्चक्षुषा स्वामोदरन्तित्वं कथमगम्यते ? तन्प्रमाणत्वानुपपत्तेरचक्षुषा समुपलब्धमस्तीति चेत्तत्रैवापि त्वनस्य प्रामाण्यानुपपत्तेः समस्ति वचने वाच्यमिति समानमेतत् । वचनस्य प्रामाण्यमगिद्धं तस्य क्वचिद् निमित्ताददर्शनादिति चेन्न, चक्षुषोऽपि प्रामाण्यमसिद्धं तस्य क्वचिद्निमित्ताददर्शनात् । अगि ततोऽपि गीयात् । यद्विसंवादि चक्षुस्तत्प्रमाणमिति चेन्न, गीषामपि चक्षुषां गीतं सर्वदा अविमंसादस्यानुपलम्भान् । यत्र यदाविसंवादः समुपलभ्यते चक्षुष्यत्वात् तदा तस्य प्रामाण्यमिति चेत्तदि क्वचित्कदाचिदविसंवादिनश्चक्षुषोऽपि प्रामाण्यमिग्नते । यथाऽपि सर्वत्र सर्वदाविमंसादिनो वचनस्य प्रामाण्यं किमिति नेष्यते ? इमं सूत्रमं कित्से केवली पदका क्लृण क्किया ।

शंका— इम सूत्रमें केवली इम वचनके अरण करेमेमानसे अयोगी-जितके केवल-बलका अस्तिर कैसे जाना जाता है ?

समाधान— यदि यह सूत्र तो तो हम भी पूछते हैं कि चक्षुसे स्तम्भ आदिके धान्तत्वका ज्ञान कैसे होता है ? यदि कहा जाय, कि चक्षु ज्ञानमें अन्यथा प्रमाणता नहीं आ सकती, इसलिये चक्षुषारा युक्ति स्वाम्भादिकका अस्तित्व है, ऐसा मान लेते हैं । तो हम भी कह सकते हैं, कि अन्यथा वचनमें प्रमाणता नहीं आ सकती है, इसलिये वचनके रहने पर उसका वाच्य भी विप्रमान है, ऐसा भी क्यों नहीं मान लेते हो, क्योंकि, ऐसी वाच्य समान है ।

शंका— वचनकी प्रमाणता अविद्य है, क्योंकि, कहा पर वचनमें विसंवाद देखा जाता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, इस पर तो हम भी ऐसा कह सकते हैं, कि चक्षुकी प्रमाणता अविद्य है, क्योंकि, वचनके समान चक्षुमें भी कहा पर विसंवाद प्रतीत होता है ।

शंका— जो चक्षु अविमंसाही होता है उसे ही हम प्रमाण मानते हैं ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, किसी भी चक्षुका सर्व्वेश और सर्व्व कालमें अविमंसाही-पना नहीं पाया जाता है ।

शंका— जिस देश और जिस कालमें चक्षुके अविमंसाद उपलब्ध होता है, उस देश और उग कालमें उस चक्षुमें प्रमाणता रहती है ?

समाधान— यदि किसी देश और किसी कालमें अविमंसाही चक्षुके प्रमाणता मानते तो तो प्रत्यक्ष और परोक्ष विषयमें सर्व्वेश और सर्व्व कालमें अविमंसाही ऐसे विवक्षित प्रमाणको प्रमाण क्यों नहीं मानते हो ।

अदृष्टविषये क्वचिद्विसंवादीपलम्भान्न तस्य सर्व्वत्र सर्व्वदा प्रामाण्यमिति चेन्न, तत्र वचनस्या-पराधाभावात्तत्स्वरूपानवगन्तुः पुरुषस्य तत्रापराधोपलम्भान् । न हान्यदोषैरन्यः परिशुद्धते अव्यवस्थापत्तेः । वक्तुरेव तत्रापराधो न वचनस्येति कथमवगम्यत इति चेन्न, तस्यान्यस्य वा तत् एव प्रवृत्तस्य पश्चादर्थग्राह्युपलम्भान् । अप्रतिपन्ननिसंवादा-विसंवादास्यास्य वचनस्य प्रामाण्यं कथमवसीयत इति चेन्नैष दोषः, आर्षानयोन प्रतिपन्ना-विसंवादेन सहापविचयस्यावयविद्वारेणान्पैरुत्तत्स्वरूपानवगन्तेः । उशुदण्डनान्नानारसः सर्व्व कालमें वचनमें प्रमाणता नहीं आ सकती है ?

शंका— किसी परोक्ष विषयमें विसंवाद पाया जाता है, इसलिये सर्व्वेश और समाधान— यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, उसमें वचनका अपराध नहीं है, किन्तु परोक्ष विषयके स्वरूपको नहीं समझनेवाले पुरुषका ही उसमें अपराध पाया जाता है । कुछ दूसरेके दोषसे दूसरा तो पकड़ नहीं जा सकता है, अन्यथा अव्यवस्था प्राप्त हो जायगी ।

शंका— परोक्ष-विषयमें जो विसंवाद उत्पन्न होता है, इसमें वक्तृका ही दोष है वचनका नहीं, यह कैसे जाना ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, उसी वचनसे पुनः अर्थके निर्णयमें प्रवृत्ति करनेवाले उसी अर्थका किसी दूसरे पुरुषके दूसरी बार अर्थकी प्राप्ति कराकर देखी जाती है । इससे ज्ञात होता है कि जहां पर तत्त्व-निर्णयमें विसंवाद उत्पन्न होता है वहां पर वक्तृका ही दोष है, वचनका नहीं ।

शंका— जिस वचनकी विसंवादिता या अविमंसादिताका निर्णय नहीं हुआ उसकी प्रमाणताका निश्चय कैसे किया जाय ?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, जिसकी अविमंसादिताका निश्चय हो गया है ऐसे आर्थके अवयवरूप वचनके साथ विवक्षित आर्थके अवयवरूप वचनके भी अवयवीकी अपेक्षा ग रुपाना वन जाता है, इसलिये विवक्षित अवयवरूप वचनकी सत्यताका ज्ञान हो जाता है ।

विशेषार्थ— जितने भी आर्थ वचन हैं वे सब आर्थके अवयव हैं, इसलिये आर्थमें प्रमाणता होनेसे उसके अवयवरूप सभी वचनोंमें प्रमाणता आ जाती है ।

शंका— जिस प्रकार गन्ना नाना रसवाला होता है, उसके ऊपरके भागमें भिन्न प्रकारका रस पाया जाता है, मध्यके भागमें भिन्न प्रकारका और नीचेके भागमें भिन्न प्रकारका रस पाया जाता है, उसी प्रकार अवयवरूप आर्थ-वचनको भी अनेक प्रकारका मान

किन्न स्यादिति चेन्न, नान्यत्राचक्रमेदेन तस्य नानात्वाभ्युपगमात् । तद्वत्सत्यासत्यकृत-  
भेदोऽपि तस्यास्त्विति चेन्न, अयद्विद्वारौकस्य प्रमाहरूपेणपौरुषेयस्यागमस्यासत्यत्व-  
तिरोधात् । अथाना न तावदयं वेदः स्वस्यार्थं स्वयमाचष्टे सर्वेषामपि तदवगमप्रसङ्गात् ।  
अस्तु चेन्न चैतं, तथातुपलम्भात् ।

अथान्ते व्याचक्षते, तेषां तदर्थविषयपरिज्ञानमस्ति वा नेति विकल्पद्वयावतारः ?  
न द्वितीयविकल्पमर्थानुपगमरहितस्य व्याख्यातृत्वविरोधात् । अविरोधे वा सर्वः सर्वस्य  
ज्यान्यतास्तन्नतरं प्रत्यनिशेषात् । प्रथमविकल्पेऽसौ सर्वज्ञो वा स्यादसर्वज्ञो वा ? न  
द्वितीयविकल्पः, ज्ञानतिज्ञानरिहादप्राप्तप्रामाण्यस्य व्याख्यातृत्वचनस्य प्रामाण्याभावात् ।  
केना ज्ञान्ति ?

समाधान — नहीं, क्योंकि, वाच्य वाचकके भेदसे उसमें नानापना माना ही गया है ।

शंका — जिनप्रकार वाच्य वाचकके भेदसे आर्य वचनोंमें भेद माना जाता है, उसी-  
प्रकार वचनोंमें सत्य असत्यकृत भी भेद मान लेना चाहिये ?

समाधान — नहीं, क्योंकि, अवयवीरूपसे प्रवाह-रूपसे आये हुए अपौरुषेय  
एक आगममें अस्त्यपना स्वीकार करनेमें विरोध आता है ।

अथवा, यह वेद ( आगम ) अपने वाच्यभूत अर्थको स्वयं नहीं कहता है । यदि वह  
स्वयं कहने लगे तो सभीको उसका ज्ञान हो जानेका प्रसंग आ जायगा, इसलिये भी वक्तोके  
रोपसे वचनोंमें दोष मानना चाहिये ।

शंका — यदि सभीको वेदका ज्ञान स्वयं हो जाय तो इसमें क्या हानि है ?

समाधान — नहीं, क्योंकि, इसप्रकारकी उपलब्धि नहीं होती है ।

कोई लोग ऐसा व्याख्यान करते हैं कि वक्तोओंको वेदके वाच्यभूत विषयका परि-  
ज्ञान हो या नहीं ? इन्तरह दो विकल्प उत्पन्न होते हैं । इनमेंसे दूसरा विकल्प तो बन  
नहीं सकता है, क्योंकि जो वेदके अर्थ ज्ञानसे रहित है, उसको वेदका व्याख्याता माननेमें  
विरोध आता है । यदि कहो कि इसमें कोई विरोध नहीं है, तो सबको संपूर्ण शास्त्रोंका  
व्याख्याता हो जाना चाहिये, क्योंकि, अज्ञापना सभीके बराबर है । यदि प्रथम विकल्प लेते  
हो कि वक्तोको वेदके अर्थका ज्ञान है, तो वह वक्तो सर्वज्ञ है कि असर्वज्ञ ? इनमेंसे दूसरा  
विकल्प तो माना नहीं जा सकता, क्योंकि, ज्ञान-विज्ञानसे रहित होनेके कारण जिसने स्वयं  
प्रमाणताको प्राप्त नहीं किया ऐसे व्याख्याताके वचन प्रमाणरूप नहीं हो सकते हैं ।

\* अत्र विगमामो न स्वयं स्वार्थं प्रमात्रविदुमीशानदयथितिपर्यमानाऽनुपादिति तद्व्याख्यातानुमतय ।  
न । यदि माको नीतगणभ स्याददासपत्य त पतत्रतया गृह्ये किमट्टिगनकारण पीयते । तद्व्याख्यातु-  
गणक ने गणि ने कापीपमाने तत्रकस्य गणस्य नेन प्रमाणता युग तस्य विपलमानात् । त शो वा पृ ७  
२. न पृथोऽर्थको रागादिमांथ यदि तदा तद्व्याख्याताद्व्यनिष्पादुपपत्तिरपथार्थभिधानश्चनत् ।  
सर्वमा पीपगणभ न गो-रंदागिभियो योमानस्वीधम स्यादिति । त शो वा पृ ८

भवतु तस्य तद्वचनस्य चाप्रामाण्यम्, नागमस्य पुरुषव्यापारनिरपेक्षतादिति चेन्न,  
व्याख्यातासन्तरेण स्वार्थाप्रतिपादकस्य तस्य व्याख्यात्राधीनवाच्यवाचकभावस्य  
पुरुषव्यापारनिरपेक्षत्वविरोधात् । तस्मादागमः पुरुषेच्छतोऽर्थप्रतिपादक इति प्रतिपत्तव्यम् ।  
तथा च 'वस्तुप्रामाण्याद्वचनप्रामाण्यम्' इति न्यायादप्रमाणपुरुषव्याख्यातार्थ आगमोऽप्रमा-  
णतां कथं नास्कन्देत् ? तस्माद् विगताशेषदोषावरणत्वात् प्रागताशेषस्तुविषयबोधस्तस्य  
व्याख्यातेति प्रतिपत्तव्यम्, अन्यथास्यापौरुषेयत्वस्यापि पौरुषेयवदप्रामाण्यप्राज्ञात् ।  
असर्वज्ञानां व्याख्यातृत्वाभावे आर्पसन्ततेर्विच्छेदस्यार्थशून्याया वचनपद्धतेरार्पत्वाभावा-  
दिति चेन्न, इष्टत्वात् । नार्प्यर्पसन्ततेर्विच्छेदो विगतदोषावरणार्हद्व्याख्यातार्थस्यार्पस्य  
चतुरसलुद्व्युच्चतिशयोपेतनिर्दोषावरणश्रुदवधारितस्य ज्ञानविज्ञानसम्पन्नगुरुवर्कमेणायत-  
स्याविनष्टप्राक्तनवाच्यवाचकभावस्य विगतदोषावरणनिश्चयितिशसत्यस्वभावपुरुषव्याख्यात-

शंका — असर्वज्ञ वक्ता और उसके वचनको अप्रमाणता भले ही मान ली जाय, परंतु  
आगममें अप्रमाणता नहीं मानी जा सकती, क्योंकि, आगम पुरुषके व्यापारकी अपेक्षासे  
रहित है ?

समाधान — नहीं, क्योंकि, व्याख्याताके विना वेद स्वयं अपने विषयका प्रतिपादक  
नहीं है, इसलिये उसका वाच्य वाचकभाव व्याख्याताके आधीन है । अतएव वेदमें पुरुष  
व्यापारकी निरपेक्षता नहीं बन सकती है । इसलिये आगम पुरुषकी इच्छासे अर्थका प्रतिपादक  
है, ऐसा समझना चाहिये । दूसरे 'वक्तोकी प्रमाणतासे वचनोंमें प्रमाणता आती है' इस  
न्यायके अनुसार अप्रमाणभूत पुरुषके द्वारा व्याख्यान किया गया आगम अप्रमाणताको कैसे  
प्राप्त नहीं होगा, अर्थात् अवश्य प्राप्त होगा ? इसलिये जिसने, संपूर्ण भावकर्म और द्रव्यकर्मको  
दूर कर देनेसे संपूर्ण वस्तु-विषयक ज्ञानको प्राप्त कर लिया है, वही आगमका व्याख्याता हो  
सकता है, ऐसा समझना चाहिये । अन्यथा पौरुषेयत्व-रहित इस आगमको भी पौरुषेय  
आगमके समान अप्रमाणताका प्रसंग आ जायगा ।

शंका — असर्वज्ञको व्याख्याता नहीं मानने पर भी आर्प-परपराके विच्छेदको या अर्थ-  
शून्य वचन-रचनाको आर्पपना प्राप्त नहीं हो सकता है ?

समाधान — नहीं, क्योंकि, वैसा तो हम मानते ही हैं । अर्थात् आर्प-परपराके  
विच्छेदको या अर्थशून्य वचन-रचनाको हमारे यहाँ आगमरूपसे प्रमाण नहीं माना है ।

दूसरे हमारे यहाँ आर्प-परपराका विच्छेद भी नहीं है, क्योंकि, जिसका दोष और  
आवरणसे रहित अद्वैत परमेष्ठिने अर्थरूपसे व्याख्यान किया है, जिसको चार निर्मल द्रुिद्रुप  
अतिशयसे युक्त और निर्दोष गणधरदेवने धारण किया है, जो ज्ञान-विज्ञान संपन्न गुरुपरपरासे  
चला आ रहा है, जिसका पटलेका वाच्य-वाचकभाव अभूतिक नष्ट नहीं हुआ है और जो  
दोषावरणसे रहित तथा निष्प्रतिपक्ष सत्य-स्वभाववाले पुरुषके द्वारा व्याख्यान देनेसे अत्राके

त्वेन श्रद्धाप्रमाणम्योपलभ्यात् । अप्रमाणमिदानीन्तन आगमः आरतीयपुरुषव्याख्या-  
तार्थमादिति चेन्न, ऐदंयुगीनज्ञानविज्ञानमप्यन्यथा प्राप्तप्रामाण्यैराचार्यैर्व्याख्यातार्थ-  
त्वात् । कथं छग्यातां सत्यमादित्यमिति चेन्न, यथाश्रुतव्याख्यातृणा तदविरोधात् ।  
प्रामाण्यभूतगुरुपरिक्रमेणायातोऽयमर्थ इति कथमवसीयत इति चेन्न, इष्टविषये सर्वत्राविसंवा-  
दात्, अष्टविषयेऽयमिदंदिनागममार्थैर्नैकत्वे सति सुनिश्चितासम्भवद्रात्रकप्रमाणत्वात्,  
ऐदंयुगीनज्ञानविज्ञानसम्पन्नभूयसामाचार्योणापुष्टदेशाद्वा तदवगतेः । न च भूयांसः  
साधनो प्रिसंयदन्ते तथान्यत्रानुपलभ्यात् । प्रमाणपुरुषव्याख्यातार्थत्वात् स्थितं वचनस्य  
प्रामाण्यम् । ततो मनमोऽभावेऽयस्ति केवलज्ञानमिति सिद्धम् । अथवा न केवलज्ञानं

शोच्य ते मेसे आगमकी आज भी उपलब्ध होती है ।

शंका—आधुनिक आगम अप्रमाण है, क्योंकि, अर्वाचीन पुरुषोंने इसके अर्थका  
व्याख्यान किया है ?

समाधान—यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, इस कालसन्धी ज्ञान-विवानसे  
मदित होनेके कारण प्रमाणताको प्राप्त आचार्यके द्वारा इसके अर्थका व्याख्यान किया गया  
है, इसलिये आधुनिक आगम भी प्रमाण है ।

शंका—दृष्टस्थोंके सत्यवादीपना कैसे माला जा सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, श्रुतके अनुसार व्याख्यान करनेवाले आचार्यके प्रमाणता  
माननेमें कोई शिंयोग नहीं है ।

शंका—आगमका यह विवक्षित अर्थ प्रामाणिक गुरुपरपरके क्रमसे आया हुआ है,  
यह कैसे निश्चय किया जाय ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, प्रत्यक्षभूत विषयमें तो सब जगह विसवाद् उत्पन्न नहीं  
होनेसे निश्चय किया जा सकता है । और परंपर विषयमें भी, जिसमें परोक्ष-विषयका वर्णन  
किया गया है वह भला अतिसंवादी आगमके दूसरे भागोंके साथ आगमकी अपेक्षा एकताको  
प्राप्त होने पर, श्रुतमानादि प्रमाणोंके द्वारा वाचक प्रमाणोंका अभाव सुनिश्चित होनेसे उसका  
निश्चय किया जा सकता है । अथवा, आधुनिक मान-विज्ञानसे युक्त अनेक आचार्योंके उपदेशसे  
उम्मी प्रमाणता जानना चाहिये । और बहुतसे साधु इस विषयमें विसंवाद नहीं करते हैं,  
क्योंकि, इन्तरहका विमंवाद कहीं पर भी नहीं पाया जाता है । अतएव आगमके अर्थके  
व्याख्याता प्रामाणिक पुरुष हैं इस बातके निश्चित हो जानेसे अर्थ-वचनकी प्रमाणता भी सिद्ध  
हो जाती है । और अर्थ-वचनकी प्रमाणताके सिद्ध हो जानेसे मनके अभावमें भी केवलज्ञान  
होता है यह बात भी सिद्ध हो जाती है ।

अथवा, केवलज्ञान मनसे उत्पन्न होता हुआ न तो किन्हीं उपलब्ध किया और न

परिधिगाम्यारसापचक्रम नपत्तो गामपति । त ओ मा ७

मनसः समुत्पद्यमानमुपलब्धं श्रुतं वा, येनैपरिकोत्पद्येत । धायोपशमिको हि बोधः  
क्वचिन्मनस उत्पद्यते । मनसोऽभावाद्भवतु तस्यैवाभावः, न केवलस्य तस्मात्स्योत्पत्ते-  
रभावात् । सयोगस्य केवलिनः केवलं मनसः समुत्पद्यमानं समुपलभ्यत इति चेन्न,  
स्वावरणक्षयादुत्पन्नस्याक्रमस्य पुनरुत्पत्तिनिरोधात् । ज्ञानत्वान्मनस्यदिज्ञानवन्कारक-  
मपेक्षते केवलमिति चेन्न, धायिकभायोपशमिकयोः साधर्म्यभावात् । प्रतिकर्षणं निवर्त-  
मानार्थानपरिणामि केवलं कथं परिछिनचीति चेन्न, ज्ञेयसमविपरिवर्तिनः केवलस्य  
तदविरोधात् । ज्ञेयपरतन्त्रतया विपरिवर्तमानस्य केवलस्य कथं पुनर्नैवोत्पत्तिरिति चेन्न,  
केवलोपयोगसामान्यापेक्षया तस्योत्पत्तेरभावात् । विशेषापेक्षया च नेन्द्रियालोक-  
मनोभ्यस्तदुत्पत्तिर्विगतावरणस्य तद्विरोधात् । केवलमसहायत्वान्न तत्सहायमपेक्षते

किस्मिन्ने सुना ही, जिससे कि यह शक्य उत्पन्न हो सके । धायोपशमिक ज्ञान अवश्य ही कहीं  
पर ( सही पचेन्द्रियोंमें ) मनसे उत्पन्न होता है । इसलिये अयोगकेवलीके मनका अभाव  
होनेसे धायोपशमिक ज्ञानका ही अभाव सिद्ध होगा, न कि केवलज्ञानका, क्योंकि, अयोग-  
केवलियोंके मनसे केवलज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होती है ।

शंका—सयोगकेवलीके तो केवलज्ञान मनसे उत्पन्न होता हुआ उपलब्ध होता है ?

समाधान—यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, जो ज्ञान ज्ञानावरण कर्मके  
अपेक्षे उत्पन्न है और जो अक्रमवर्ती है, उसकी मनसे पुनः उत्पत्ति मानना विरुद्ध है ।

शंका—जिसप्रकार मति आदि ज्ञान, स्वयं ज्ञान होनेसे अपनी उत्पत्तिमें कारककी  
अपेक्षा करते हैं, उसीप्रकार केवलज्ञान भी ज्ञान है, अतएव उसे भी अपनी उत्पत्तिमें कारककी  
अपेक्षा करनी चाहिये ।

समाधान—नहीं, क्योंकि, धायिक और धायोपशमिक ज्ञानमें साधर्म्य नहीं पाया  
जाता है ।

शंका—अपरिवर्तनशील केवलज्ञान प्रत्येक समयमें परिवर्तनशील पदार्थोंको कैसे  
जानता है ?

समाधान—ऐसी शक्य ठीक नहीं है, क्योंकि, ज्ञेय पदार्थोंको जाननेके लिये तद्वस्तुकुल  
परिवर्तन करनेवाले केवलज्ञानके ऐसे परिवर्तनके मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

शंका—ज्ञेयकी परतन्त्रतासे परिवर्तन करनेवाले केवलज्ञानकी फिरसे उन्पत्ति क्यों  
नहीं मानी जाय ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, केवलज्ञानरूप उपयोग-सामान्यकी अपेक्षा केवलज्ञानकी  
पुनः उत्पत्ति नहीं होती है । विशेषकी अपेक्षा उसकी उत्पत्ति होते हुए भी वह ( उपयोग )  
इन्द्रिय, मन और आलोकसे उत्पन्न नहीं होता है, क्योंकि, जिसके ज्ञानावरणादि कर्म नष्ट हो  
गये हैं ऐसे केवलज्ञानमें इन्द्रियादिककी सहायता माननेमें विरोध आता है ।

दूसरी बात यह है कि केवलज्ञान स्वयं असहाय है, इसलिये वह इन्द्रियादिकोंकी



स्वरूपहानिप्रसङ्गात् । प्रमेयमपि भैवमैश्वर्यामहायत्वादिति चेन्न, तस्य तत्त्वभावत्वात् । न हि स्वभावाः परपर्यनुयोगार्हाः । अव्यवस्थापत्तेरिति । पञ्चसु गुणेषु कोऽत्र गुण इति चेत्क्षीणशेषघातिकर्मत्वान्निस्स्यमानाघातिकर्मत्वाच्च क्षायिको गुणः । उक्तं च—

सेलेसि<sup>१</sup> सपतो गिरुद्ध-गिस्सेस-आसवो जीवो ।

कम्म रय-विण्णमुक्को गय-जोगो केवली होई ॥ १२६ ॥

मोक्षस्य सोपानीभूतानि चतुर्दश गुणस्थानानि प्रतिपाद्य संसारातीतगुणप्रतिपादनार्थमाह—

सहायताकी अपेक्षा नहीं करता है, अथवा ज्ञानके स्वरूपकी दृष्टिका प्रसंग आ जायगा ।

शंका—यदि केवलज्ञान असहाय है तो वह प्रमेयको भी मत जाने ?

समाधान—पेसा नहीं है, क्योंकि, पदार्थको जानना उसका स्वभाव है । और वस्तुके स्वभाव दूसरोंके प्रयत्नोंके योग्य नहीं हुआ करते हैं । यदि स्वभावमें भी प्रयत्न होने लगें तो फिर वस्तुओंकी व्यवस्था ही नहीं बन सकेगी ।

शंका—पाव प्रकारके भावोंमेंसे इस गुणस्थानमें कौनसा भाव है ?

समाधान—संपूर्ण घातिया कर्मोंके क्षीण हो जानेसे और थोड़े ही समयमें अघातिया कर्मोंके नाशको प्राप्त होनेवाले होनेसे इस गुणस्थानमें क्षायिक भाव है । कहा भी है—

जिन्होंने अठारह हजार शीलके स्वामीपनेको प्राप्त कर लिया है, अथवा जो मेरुके समान निष्कम्प अवस्थाको प्राप्त हो चुके हैं, जिन्होंने संपूर्ण आश्रवका निरोध कर दिया है, जो नूतन बंधनेवाले कर्म-रजसे रहित हैं, और जो मन, वचन तथा काय योगसे रहित होते हुए केवलज्ञानसे विभूषित हैं उन्हें अयोगकेवली परमात्मा कहते हैं ॥ १२६ ॥

मोक्षके सोपानीभूत चौदह गुणस्थानोंका प्रतिपादन करके अब ससारसे अतीत गुणस्थानके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

१ विशेषजिज्ञासामि अष्टहर्षा पृ २३६ २३७ प्रमेयकर्मलमार्तण्ड पृ १२२ ११६ दृष्टव्य ।

२ मतिपुं, माक्षिष्ट, इति पाठ ।

३ शिलाभिनिर्वृत शिलानां वाऽयमिति शैलेस्येयमिषा शैलेस्यो मेरु शैलेस्येय, स्थिता-साम्यात् परसमुक्चयाने वर्तमान शैलेसीमानमिधीयते, अमेदोपचारात् स एव शैलेसी, मेरुविश्रायकम्पो यस्याभवस्थाया सा शैलेस्यवस्था । अथवा पूर्वमस्थितयाऽशैलेस्यो भूत्वा पश्चादस्थितयैव यस्याभवस्थाया शैलेसाहुकार्गी भवति स सा । अथवा सेलेसी होई >>> सोऽतिथिताए शैलेस्य इतीति स ऋषि स्थितया शैल इव भवति । अथवा सेलेसी भण्णइ सेलेसी होइ मागधदेशीमापया से सी अलेसीभवति तस्याभवस्थाया, अकालोपात् । अथवा सेलेसी-निभयत शील समाधान, स च सर्वस्वरत्तस्येश, तस्य शैलेस्य याऽवस्था सा शैलेसी अवस्थोच्यते । वि भा को दृ पृ ८६६

४ गो जी ६५ तत्र 'सौलेसि', इति पाठ । शीलाना अष्टादशमहत्त्वमप्यानां ऐश्वर ईश्वरत्व स्वाभिल मयात् । म प्र टी

## सिद्धा चेदि ॥ २३ ॥

सिद्धाः निष्ठिताः निरूपन्नाः कृतकृत्याः सिद्धसाध्या इति यावत् । निराकृताशेष-कर्मणो बाह्यार्थनिरपेक्षानन्तानुपमसहजाप्रतिपक्षसुखाः निरुपलेपाः अविचलितस्वरूपाः सकलावगुणातीताः निःशेषगुणनिधानाः चरमदेहात्किञ्चिन्न्यूनस्वदेहाः कोशत्रिनिर्गत-सायक्रोपमाः लोकशिखरनिवासिनः सिद्धाः । उक्तं च—

अहविह-कम्म-विजुदा सीदीभूदा गिरजणा गिच्चा ।

अह-गुणा किदकिच्चा लोयग-णिवासिणो सिद्धा' ॥ १२७ ॥

संवत्थ अरिथ चि संबंधो कायव्वो । 'च' सहो समुच्चयट्ठो । 'इदि' सहो एतिया-णि चैव गुणद्वानाणि ति गुणद्वानाणं समत्ति-वाचओ ।

सामान्यसे सिद्ध जीव होते हैं ॥ २३ ॥

सिद्ध, निष्ठित, निष्पन्न, कृतकृत्य और सिद्धसाध्य ये एकार्थवाची नाम हैं । जिन्होंने समस्त कर्मोंका निराकरण कर दिया है, जिन्होंने बाह्य पदार्थोंकी अपेक्षा रहित, अतन्त्र, अनुपम, स्वाभाविक और प्रतिपक्षरहित सुखको प्राप्त कर लिया है, जो निर्लेप है, अचल स्वरूपको प्राप्त हैं, संपूर्ण अवगुणोंसे रहित हैं, सर्व गुणोंके निधान हैं, जिनका स्वदेह अर्थात् आत्माका आकार चरम शरीरसे कुछ न्यून है, जो कोशसे निकले हुए वाणके समान विनिःसग हैं और लोकके अग्रभागमें निवास करते हैं उन्हें सिद्ध कहते हैं । कहा भी है—

जो ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंसे सर्वथा मुक्त हैं, सुनिर्वृत ( सब प्रकारकी शीतलतासे मुक्त ) हैं, निरजन हैं, नित्य हैं, ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, अव्याबाध, अवगाहन, सूक्ष्मत्व और अगुरुत्व इत आठ गुणोंसे युक्त है, कृतकृत्य हैं और लोकके अग्रभागमें निवास करते हैं उन्हें सिद्ध कहते हैं ॥ १२७ ॥

' अस्थि मिच्छाहृदी ' इस सूत्रसे लेकर ' सिद्धा चेदि ' इस सूत्र पर्यन्त सब जगह ' अस्ति ' पदका सबन्ध कर लेना चाहिये । ' सिद्धा चेदि ' इस सूत्रमें आया हुआ ' च ' शब्द समुच्चयरूप अर्थका वाचक है और ' इति ' शब्द, गुणस्थान इतने ही होते हैं इससे कम या अधिक नहीं, इस प्रकार गुणस्थानोंकी समाप्तिका वाचक है ।

१ गो जी ६८ ' अहविहकम्मविजुदा ' अनेन ससारिखविद्यु मुत्तिर्नास्तीति याजिकमत, सर्वदा कर्ममले-स्पृष्टत्वेन सदा मुक्त एव सर्वेश्वर इति सदाशिवमत च अपास्त । ' सीदीभूदा ' अनेन पुत्तो आत्मन सुखाभाव वदन् साख्यमतपमाहृत । ' गिरजणा ' अनेन मुत्तात्मन पुन कर्मजननसर्वेण ससारोऽस्तीति वदन् मत्स्फरीदर्शन प्रत्याख्यात । ' गिच्चा ' अनेन प्रतिक्षण विनश्चरचित्तयोर्या एव एकरतानप्रतिन परमार्थतो नित्यद्वय नेति वदतीति बौद्धप्रत्ययस्था प्रतिबुद्धा । ' अहगुणा ' अनेन ज्ञानादिगुणानामत्यन्तोच्छित्तरात्मनो बुत्तिरिति वदथैयायिकर्मशेषिकाभिप्राय प्रयुक्त । ' किदकिच्चा ' अनेन ईश्वर सदा मुत्तोऽपि जगदिभ्रमं पण वृत्ता-दरत्वेनाकृतकृत्य इति वददीश्वरसृष्टिवादाकृतम् निराकृतम् । ' लोयगणिवसिणो ' अनेन आत्मन ऊर्ध्वगमत्त्वाभावात् मुत्तात्मस्थाया ऋचिदपि विश्रामाभावात् उपरुपरि गमनमिति वदन् मड्डिकमतम् प्रबलत् । जी प्र टी



चोदमहं गुणद्राणाम् ज्ञान-परुषणं कालाण आदेम-परुषणहं सुचमह—

आदेशेण गदियाणुवादेण अत्थि गिरयगदी तिरिक्खगदी मणुरसगदी देवगदी सिद्धगदी चेदि ॥ २४ ॥

आदेशग्रहण सामर्थ्यलभ्यमिति न गच्छमिति चेन्न, स्पष्टीकरणार्थत्वात् । गति-रुक्तलक्षण, तस्याः वदनं वादः । प्रमिद्वयाचार्यपरम्परगतस्यार्थस्य अनु पश्चाद् वादोऽनु-वादः । गतेनुवादो गत्यनुवादः, तेन गत्यनुवादेन । 'हिंसादिध्वंसदनुष्ठानेषु व्याघ्रताः निरन्तास्तेषां गतिर्निरतगतिः । अथवा नरात् प्राणिनः कायति पातयति खलीकरोति इति नरकः कर्म, तस्य नरकस्यापत्यानि' नारकास्तेषां गतिर्नारकगतिः । अथवा यस्या उदयः सकलाशुभकर्मणामुदयस्य महत्कारिकारणं भवति मा नरकगतिः । अथवा द्रव्यक्षेत्रकाल-

चोदक गुणद्राणोंका सामान्य प्ररूपण करके अप विशेष प्ररूपणके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

आदेश प्ररूपणाकी अपेक्षा गत्यनुवादेसे नरकगति, तिर्यचगति, मनुष्यगति, देवगति आदि निरतगति है ॥ २४ ॥

यंता—आदेश पदका ग्रहण सामर्थ्य-लभ्य है, इसलिये इस सूत्रमें उसका फिरसे ग्रहण नहीं करना चाहिये ?

समानान—नहीं, क्योंकि, स्पर्शीकरण करनेके लिये आदेश पदका सूत्रमें ग्रहण किया है ।

गतिज्ञा लक्षण पहले नः जाये है । उसके कथन करनेको चाद कहते हैं । आचार्य-पर-परान्ने अपे रूप प्रसिद्ध आदेश तदनुसार कथन करना अनुवाद है । इसतरह गतिज्ञा आचार्य परपरान्ने अनुसार कथन करना गत्यनुवाद है, उससे अर्थान् गत्यनुवादेसे नरकगति आदि गतियां होती हैं । जो हिंसादिक असमीचीन कार्योंमें व्यापृत है उन्हें निरत कहते हैं, और उनकी गतिको निरतगति कहते हैं । अथवा, जो नर अर्थान् प्राणियोंको मारता है अथवा मारता है, पीसता है उसे नरक कहते हैं । नरक यह एक कर्म है । इससे जिनकी उपाधि होती है उनको नरक कहते हैं, और उनकी गतिको नारकगति कहते हैं । अथवा, जिन गतिज्ञा उदय सपूर्ण अशुभ कर्मके उदयका सहकारी-कारण है उसे नरकगति कहते हैं । अथवा, जो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावमें तथा परस्परमें रत नहीं हैं, अर्थात्

१ नरकग्रहण गो जातग्रहण वा २४० तम्य जी प्र. यान्ता योग्य मनाना ।

२ अर्थान् 'गति' की पाठ ।

भावेण्योन्येषु च विरताः नरताः, तेषां गतिर्नरतगतिः । उक्तं च—

ण रमति जदो णिच दब्बे खेत्ते य काळ-भावे य ।  
अण्णोणोहि य जग्घा तग्घा ते णारया भणिया' ॥ १२८ ॥

सकलतिर्यक्पर्यायोत्पत्तिनिमित्ता तिर्यगतिः । अथवा तिर्यगतिकर्मोदयापादित-तिर्यक्पर्यायकलापस्तिर्यगतिः । अथवा तिर्रो वक्रं कुटिलमित्यर्थः, तदञ्चन्ति व्रजन्तीति तिर्यञ्चः । तिरश्चां गतिः तिर्यगतिः । उक्तं च—

तिरियति कुटिल भाव बुधियड-सण्णा णिगिडमण्णाणा ।  
अच्चत-पान-वट्टया तग्घा तेरिच्छया णाम' ॥ १२९ ॥

अशेषमनुष्यपर्यायनिष्पादिका मनुष्यगतिः । अथवा मनुष्यगतिरुमोदियापादित-मनुष्यपर्यायकलापः कार्ये कारणोपचारान्मनुष्यगतिः । अथवा मनसा निपुणाः मनसा प्रीति नहीं रखते है उन्हें नरत कहते है, और उनकी गतिको नरतगति कहते है । कहा भी है—

जिस कारणसे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावमें जो स्वय तथा परस्परमें कभी भी प्रीतिको प्राप्त नहीं होते, इसलिये उनको नारत कहते है ॥ १२८ ॥

समस्त जातिके तिर्यचोंमें उत्पत्तिका जो कारण है उसे तिर्यचगति कहते है । अथवा, तिर्यगति कर्मके उदयसे प्राप्त हुए तिर्यच पर्यायोंके समूहको तिर्यगति कहते है । अथवा, तिरस्-वक्र और कुटिल ये परकार्यवाची नाम है, इसलिये यह अर्थ हुआ कि जो कुटिलभावको प्राप्त होते है उन्हें तिर्यच कहते है, और उनकी गतिको तिर्यचगति कहते है । कहा भी है—

जो मन, वचन और कायकी कुटिलताको प्राप्त है, जिनकी आहारादि सजाए मुब्यक्त है, जो निरुद्य अज्ञानी है और जिनके अत्यधिक पापकी गहलता परः जाये उनको तिर्यच कहते है ॥ १२९ ॥

जो मनुष्यकी सपूर्ण पर्यायोंमें उत्पन्न कर्ता है उसे मनुष्यगति कहते हैं । अथवा, मनुष्यगति नामकर्मके उदयसे प्राप्त हुए मनुष्य-पर्यायोंके समूहको मनुष्यगति कहते हैं । यह लक्षण कार्यमें कारणके उपचारसे किया गया है । अथवा, जो मनसे निपुण है, या मनसे

१ नरतगतिमन् यपानादिद्रव्ये तद्भुतलपक्षेने यस्यादिरापुरमानकाले त्रियर्थायन्त्यमाने । गो जी, जी प्र, दी १६०

२ अथवा निर्गतोऽय गुण पुण्यन्ने निरता तेषां गते निरतगति । गो जी, जा प्र, दी १७०

३ गो जी १४०

४ गो जी १४८ यन्मा रणणान् ये जीता मुनिवृत्तमजा जगत्सहस्रकसनायुता, प्रसायस्यमुत्ति-

लेभ्यामिशुद्धादिभिरस्पीमन्वनामिच्छा, हेयोपदेश्यजानादिभिर्निरीनतादाना, नियनिगोदरिपक्षया जयतपापपटुया

तस्मात् नराणहे जीता तिरोगेमान कुटिलभाय मायापरिणाम अचति गच्छति इति तिं चो भणित्वा भवन्ति । जी. प्र. दी १७०

५ प्रसिद्ध 'कारिण' इति पाठ ।

उत्कटा इति वा मनुष्याः, तेषां गतिः मनुष्यगतिः । उक्तं च —

मण्णति जदो णिच्च मणेण णिडणा मणुक्कडा जग्हा ।

मणु-उच्चवा य सब्बे तग्हा ते माणुसा भणियां ॥ १३० ॥

अणिमाद्यष्टगुणाद्यष्टम्बलेन दीव्यन्ति क्रीडन्तीति देवाः । देवानां गतिर्देवगतिः । अथवा देवगतिनामकर्मोद्दयोऽणिमादिदेवाभिधानप्रत्ययव्यवहारनिबन्धनपर्यायोत्पादको देवगतिः । देवगतिनामकर्मोद्दयजनितपर्यायो वा देवगतिः कार्ये कारणोपचारात् । उक्तं च —

दिव्यति जदो णिच्च गुणेहि अह्हि य दव्व भवेहि ।

भासत-दिव्य-नाया तग्हा ते वणिया देवां ॥ १३१ ॥

सिद्धिः स्वरूपोपलब्धिः सकलगुणैः स्वरूपनिष्ठा सा एव गतिः सिद्धिगतिः ।

उत्कट अर्थात् सूक्ष्म-विचार आदि साक्षात्प्रय उपयोगसे युक्त है उन्हें मनुष्य कहते हैं, और उनकी गतिको मनुष्यगति कहते हैं । कहा भी है—

जिसकारण जो सदा हेय उपादेय आदिका विचार करते हैं, अथवा, जो मनसे गुणचोपादिका विचार करनेमें निपुण हैं, अथवा, जो मनसे उत्कट अर्थात् दूरदर्शन, सूक्ष्म-विचार, निरकाल धारण आदि रूप उपयोगसे युक्त हैं, अथवा, जो मनुकी सन्तान है, इसलिये उन्हें मनुष्य कहते हैं ॥ १३० ॥

जो अणिमा आदि आठ ऋद्धियोंकी प्राप्तिसे बलसे क्रीडा करते हैं उन्हें देव कहते हैं, और देवोंकी गतिको देवगति कहते हैं । अथवा, जो अणिमादि ऋद्धियोंसे युक्त 'देव' इस-प्रकारके शब्द, ज्ञान और व्यवहारमें कारणभूत पर्यायका उत्पादक है ऐसे देवगति नामकर्मके उद्दयको देवगति कहते हैं । अथवा, देवगति नामकर्मके उद्दयसे उत्पन्न हुई पर्यायको देवगति कहते हैं । यहां कार्यमें कारणके उपचारासे यह लक्षण किया गया है । कहा भी है—

स्योंकि वे द्रव्य और भावरूप अणिमादि आठ दिव्य गुणोंके द्वारा निरन्तर क्रीडा करते हैं, और उनका शरीर प्रकाशमान तथा दिव्य है, इसलिये उन्हें देव कहते हैं ॥ १३१ ॥

आत्म-स्वरूपकी प्राप्ति अर्थात् अपने संपूर्ण गुणोंसे आत्म-स्वरूपमें स्थित होनेको सिद्धि कहते हैं । ऐसी सिद्धिस्वरूप गतिको सिद्धिगति कहते हैं । (यद्यपि सूत्रमें सिद्धिगति पाठ है

१ गो जी १४३; कित्तियो यस्माच्चञ्चोच्चर्यक लब्धपर्यायिक्कमणुयाणा धूर्त्तमणुयलक्षणमावेडपि मणुयगतिनामाणु क्कमोद्दयजनितत्वमात्रेण मणुयलमाचारस्येण जापराति । अनर्थमनि वचनानि किंचिदिष्ट ज्ञाप-यन्याचारस्य इति न्यायात् । म प्र टी

२ अणिमा महिमा चैत गरिमा लधिमा तथा । प्राप्ति प्राक्कान्तमोक्षत्व वाशे व चाप सिद्धम् ॥

३ प्रतित्तु 'कार्यकारण', इति पाठ ।

४ गो जी १५१ तत्र 'दन्ममन्दि', इति स्थाने 'दिव्यमन्त्रेहि', इति पाठ ।

जाह-जरा-मरण-भया संजोय-वियोय-दुक्ख-सण्णाओ' ।

रोगादिया य जिस्से ण सति सा होइ सिद्धगई ॥ १३२ ॥

सर्वत्रास्तीत्यभिस्सम्बन्धः कर्तव्यः । प्रतिज्ञावाक्यत्वाद्धेतुप्रयोगः कर्तव्यः; प्रतिज्ञासात्रतः साध्यसिद्धचतुषपचेरिति चेन्नैदं प्रतिज्ञावाक्यं प्रमाणत्वात्, न हि प्रमाणं प्रमाणान्तरसंपेक्षेतेऽनवस्थापत्तेः । नास्य प्रमाणस्यसिद्धमुक्तोत्तरत्वात् ।

साम्प्रतं मार्गणैकदेशगतेरस्त्वित्त्वमभिधाय तत्र जीवसमासात्चेपणाय सूत्रमग्राह—

**णेरइया चउ-ट्टाणेषु अत्थि भिच्छाइट्ठी सासणसम्माइट्ठी  
सम्मभिच्छाइट्ठी असंजदसम्माइट्ठि ति ॥ २५ ॥**

फिर भी टीकाकारने सिद्धिगति पाठको लेकर निरुक्ति की है । ) कहा भी है—

जिसमें जन्म, जरा, मरण, भय, संयोग, वियोग, दुख, आहारादि सब्बाए और रोग-दिक नही पाये जाते हैं उसे सिद्धगति कहते हैं ॥ १३२ ॥

सूत्रमें आये हुए अस्ति पदका प्रत्येक गतिके साथ सबन्ध कर लेना चाहिये ।

शुका— 'नरकगति है, तिर्यचगति है; इत्यादि प्रतिज्ञा वाक्य होनेसे इनके अस्तित्वकी सिद्धिके लिये हेतुका प्रयोग करना चाहिये, क्योंकि, केवल प्रतिज्ञा-वाक्यसे सा-नकी सिद्धि नहीं हो सकती है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, 'नरकगति है' इत्यादि वचन प्रतिज्ञावाक्य न होकर प्रमाणवाक्य ( आगमप्रमाण ) हैं । जो स्वयं प्रमाणस्वरूप होते हैं वे दूसरे प्रमाणकी अपेक्षा नहीं करते हैं । यदि स्वयं प्रमाण होते हुए भी दूसरे प्रमाणोंकी अपेक्षा की जावे तो अनवस्थादोष आ जाता है । और इन वचनोंकी रवय प्रमाणता भी अस्ति नहीं है, क्योंकि, इस विषयमें पहले ही उत्तर दिया जा चुका है कि यह उपदेश सर्वशके मुख कमलसे प्रगट होकर आचार्यपरंपरासे चला आ रहा है, इसलिये प्रमाण ही है ।

मार्गणके एकदेशरूप गतिको सद्भाव बताकर अब उसमें जीवसमासोंके अन्वेषणके लिये सूत्र कहते हैं—

मिथ्यादृष्टि, सात्वाद्गतसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि इन चार गुणस्थानोंमें नारकी होते हैं ॥ २५ ॥

१ कर्मशब्दोक्तस्य भयं भयं स्वशरीरपर्यायोपसिञ्जति । जातस्य तथाभिवर्गरीस्वपर्यायस्य कर्मोहात्या निक्षणं जरा । स्नायु क्षयात्तथात्रियशरीरपर्यायप्राणायामो मरण । अनर्थाशयना अपकारकेभ्य पलायनेच्छा मय । केवकाणानिष्टद्वयव्यगम संयोग । सुखकारणैष्टद्वयपापयो भियोग । एतेव्य सुकल्पवानि आमतो निग्रहरूपाणि दु यानि । शेषास्तिश्च आहारादिव्याख्या सत्त्वा । गो जी, म. प्र, टी १५२

नारदग्रहणं मनुष्यादिनिराकरणार्थम् । चतुर्ग्रहणं पञ्चादिसंख्यापोहनार्थम् । अग्निग्रहणं प्रतिपत्तिगौरानिराकरणार्थम् । नारदाग्रहणं स्थानेषु सन्तीत्यस्मात्सामान्यवचनान्तराश्रयो मा जनीति तदुत्पत्तिनिराकरणार्थं मिथ्यादृष्ट्यादिगुणानां नामनिर्देशः । अस्तु मिथ्यादृष्टिगुणे तेषां सत्त्वं मिथ्यादृष्टिषु तत्रोत्पत्तिनिमित्तमित्यात्वस्य सत्त्वात् । नेतरेषु गुणेषु तेषां सत्त्वं तत्रोत्पत्तिनिमित्तस्य मिथ्यात्वस्यासत्त्वादिति चेन्न, आयुषो बन्धमन्तरेण मिथ्यात्वाविरतिक्रम्याणां तत्रोत्पादनसामर्थ्याभावात् । न च बद्धस्यायुषः सम्यक्त्वाविरत्यविविनाशः आर्षविरोधात् । न हि बद्धायुषः सम्यक्त्वं संयममिव न प्रतिपद्यन्ते यद्यविरोधात् । सम्यग्दृष्टीनां बद्धायुषां तत्रोत्पत्तिरस्तीति सन्ति तत्रासंयतसम्यग्दृष्टयः, न सासादनगुणवतां तत्रोत्पत्तिलक्षणस्य तत्रोत्पत्त्या सह विरोधात् । तर्हि कथं तद्वतां

मनुष्यादिके निराकरण करनेके लिये सूत्रमें नारक पदका ग्रहण किया है । पाँच आदि संख्याओंके निराकरण करनेके लिये 'चतुर' पदका ग्रहण किया है । जाननेमें कठिनाई न पड़े इसलिये 'अस्ति' पदका ग्रहण किया है । नारकी चार गुणस्थानोंमें होते हैं, इस सामान्य उचनसे संशय न हो जाय कि वे चार गुणस्थान कौनसे हैं, इसलिये इस संशयको दूर करनेके लिये मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानोंका नाम-निर्देश किया है ।

शंका—मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें नारकीयोंका सत्त्व रहा अथे, क्योंकि, बद्धा पर नारकीयोंमें उत्पत्तिका निमित्त कारण मिथ्यादर्शन पाया जाता है । किंतु दूसरे गुणस्थानोंमें नारकीयोंका सत्त्व नहीं पाया जाना चाहिये, क्योंकि, अन्य गुणस्थानसहित नारकीयोंमें उत्पत्तिका निमित्त कारण मिथ्यात्व नहीं माना गया है ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि, नारकायुके बन्ध विना मिथ्यादर्शन, अविरति और कृपायकी नरकमें उत्पत्त कल्पनेकी सामर्थ्य नहीं है । और पहले यत्री हुई आयुका पीछेसे उत्पन्न हुए सम्यग्दर्शनसे निरन्वय नाश भी नहीं होता है, क्योंकि, ऐसा मान लेने पर आर्षसे श्रियोन शान्त है । जिनोंने नरकायुका बन्ध कर लिया है ऐसे जीव जिसप्रकार समयको प्राप्त नहीं हो सकते हैं उन्मीपकार सम्यक्त्वको प्राप्त नहीं होते हैं, यह बात भी नहीं है, क्योंकि, ऐसा मान लेने पर भी सूत्रसे विरोध आता है ।

शंका—जिन जीवोंने पहले नरकायुका बन्ध किया और जिन्हें पीछेसे सम्यग्दर्शन उत्पन्न हुआ ऐसे यज्ञायुक्त सम्यग्दृष्टियोंकी नरकमें उत्पत्ति होती है, इसलिये नरकमें जनयतसम्यग्दृष्टि भले ही पाये जायें, परंतु सासादन गुणस्थानवालोंकी (नरकर) नरकमें उत्पत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि सासादन गुणस्थानका नरकमें उत्पत्तिके साथ विरोध है । इसलिये सासादन गुणस्थानवालोंका नरकमें सद्भाव कैसे पाया जा सकता है ?

१ तथापि निरहाण आरण्यप्रवेशे नरक । अणुदमन-वदाः ष लरः देवाङ्ग मोक्षु । गो क ३३४

२ न मानने नारायणने । गो नी १२८ पिरा माणमको ण गच्छे वि । गो क ३३२

तत्र सत्त्वमिति चेन्न, पर्याप्तनरकगत्या सहापर्याप्तया इय तस्य विरोधाभावात् । किमित्यपर्याप्तया विरोधेत्सगानोऽर्थ, न हि स्वभावाः परपर्यनुयोगार्हाः । तर्हान्यास्वपि गतिष्यपर्याप्तताहलेऽस्य सत्त्वं मा भूत्तेन तस्य विरोधादिति चेन्न, नारकापर्याप्तकालेनेव शेषपर्याप्तपर्यायैः सह विरोधासिद्धेः । सम्यग्भिध्मात्वगुणस्य पुन सत्त्वं सर्वत्रापर्याप्ताद्वाभिर्विरोधेस्तत्र तस्य सत्त्वप्रतिपादकार्याभावात् । किमित्यागमे तत्र तरय राचं नोक्तमिति चेन्न, आगमस्यातर्कगोचरत्वात् । कथं पुनस्तयोस्तत्र सत्त्वमिति चेन्न, परिणामप्रत्ययेन तदुत्पत्तिसिद्धेः । तर्हि सम्यग्दृष्टयोऽपि तथैव सन्तीति चेन्न, इष्टत्वात् ।

समाधान—नहीं, क्योंकि, जिसप्रकार नरकगतिमें अपर्याप्त अवस्थाके साथ सासादन गुणस्थानका विरोध है, उसप्रकार पर्याप्त-अवस्था सहित नरकगतिके साथ सासादन गुणस्थानका विरोध नहीं है । अर्थात् नारकीयोंके पर्याप्त अवस्थामें दूसरा गुणस्थान उत्पन्न हो सकता है । यदि कहो कि नरकगतिमें अपर्याप्त अवस्थाके साथ दूसरे गुणस्थानका विरोध क्यों है ? तो उसका यह उत्तर है, कि यह नारकीयोंका स्वभाव है, और स्वभाव दूसरेके प्रत्येक योग्य नहीं होते है ।

शंका—यदि ऐसा है, तो अन्य गतियोंके अपर्याप्त कालमें भी सासादन गुणस्थानका सद्भाव मन होओ, क्योंकि, अपर्याप्त कालके साथ सासादन गुणस्थानका विरोध है ?

समाधान—यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि, जिसतरह नारकीयोंके अपर्याप्त कालके साथ सासादन गुणस्थानका विरोध है, उसतरह शेष गतियोंके अपर्याप्त कालके साथ सासादन गुणस्थानका विरोध नहीं है । केवल सम्यग्भिध्मात्व गुणस्थानका तो सदा ही सभी गतियोंके अपर्याप्त कालके साथ विरोध है, क्योंकि, अपर्याप्त कालमें सम्यग्भिध्मात्व गुणस्थानका अस्तित्व यतनिचले आगमका अभाव है ।

शंका—आगममें अपर्याप्त कालमें मिथ्य गुणस्थानका सत्त्व क्यों नहीं बताया ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, आगम तर्कका विषय नहीं है ।

शंका—तो फिर सासादन और मिथ्य इत दोनों गुणस्थानोंका नरकगतिमें सत्त्व कैसे समभव है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, परिणामोंके निमित्तसे नरकगतिकी पर्याप्त अवस्थामें उत्पत्ती बन जाती है ।

शंका—तो फिर सम्यग्दृष्टि भी उसीप्रकार होते हैं, ऐसा मानना चाहिये ? अर्थात्

१ [ नरदया ] माणमन्मादृष्टिमन्माभिःअदृष्टिणं नियमा पञ्चता । जा य म् ८०

२ तिरिगता XX मणुसा XX देवा मिच्छादृष्टि माणमन्मादृष्टि अमजदमन्मादृष्टिणं नियमा पञ्चता नियमापञ्चता । जी य स ८६, ८९, ९४

३ मरण मरणतममुवादी पि य ण मिसम्मि । गो जी २६

सासादनस्येव सम्यग्दृष्टेऽपि तत्रोत्पत्तिर्मा भूदिति चेन्न, प्रथमपृथिव्युत्पत्तिं प्रति निषेधाभावात् । प्रथमपृथिव्यामिव द्वितीयादिसु पृथिवीषु सम्यग्दृष्टयः किन्नोत्पद्यन्त इति चेन्न, सम्यक्त्वस्य तत्रतन्यापर्याप्तत्वाद्द्वया सह विरोधात् । नोपरिमगुणानां तत्र सम्भवस्तेषां संयमांशयसंयमपर्यायेण सहात्र विरोधात् ।

तिर्यगतौ गुणस्थानान्येषणार्थमुत्तरसूत्रमाह—

तिरिक्त्वा पंचसु द्वाणेषु अरिथ मिच्छाद्द्वी सासणसम्माद्द्वी  
सम्माभिच्छाद्द्वी असंजदसम्माद्द्वी संजदासंजदा ति ॥ २६ ॥

तिर्यग्रहणं जेपगतिसिराकरणार्थम् । पञ्चसु गुणस्थानेषु सन्तीति वचनं पडाडिसंख्याप्रतिषेधफलम् । मिथ्यादृष्ट्यादिगुणानां नामनिर्देशः सामान्यवचनतः

नरकगतिं पर्याप्त अवस्थामें सम्यग्दर्शनकी भी उत्पत्ति मानना चाहिये ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, यह बात तो हमें इष्ट ही है, अर्थात् सातों पृथिवियोंकी पर्याप्त अवस्थामें सम्यग्दृष्टियोंका सद्भाव माना गया है ।

शंका—जिसप्रकार सासादनसम्यग्दृष्टि नरकमें उत्पन्न नहीं होते हैं, उसीप्रकार सम्यग्दृष्टियोंकी मरकर नरकमें उत्पत्ति नहीं होनी चाहिये ?

समाधान—सम्यग्दृष्टि मरकर प्रथम पृथिवीमें उत्पन्न होते हैं, इसका आपममें निषेध नहीं है ।

शंका—जिसप्रकार प्रथम पृथिवीमें सम्यग्दृष्टि उत्पन्न होते हैं, उसीप्रकार द्वितीयादि पृथिवियोंमें सम्यग्दृष्टि जीव नयों उत्पन्न नहीं होते हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, द्वितीयादि पृथिवियोंकी अपर्याप्त अवस्थानके साथ सम्यग्दर्शनका विरोध है, इसलिये सम्यग्दृष्टि द्वितीयादि पृथिवियोंमें उत्पन्न नहीं होते हैं ।

इन चार गुणस्थानोंके अतिरिक्त ऊपरके गुणस्थानोंका नरकमें सद्भाव नहीं है, क्योंकि, मयमासयम और संयम-पर्यायके साथ नरकगतिमें उत्पत्ति होने का विरोध है ।

अब तिर्यच गतिमें गुणस्थानोंके अन्वेषण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—  
मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि और संयतासयत इन पांच गुणस्थानोंमें तिर्यच होते हैं ॥ २६ ॥

शेष गतियोंके निराकरण करनेके लिये 'तिर्यग' पदका ग्रहण किया है । छह गुणस्थान आदिके निवारण करनेके लिये 'पांच गुणस्थानोंमें होते हैं' यह पद दिया है । 'तिर्यच

१ हेदिमच्छ-पुत्राणि जोरुपिषणमणमयइर्याण । पुणिदरे ण नि मम्मो ॥ गो जी १२८

२ तिर्यगतौ तानिच संयतासयतस्थानाधिकानि सन्ति । म नि १८

ससुपधमानसंशयनिरोधार्थः । बद्धासुरसंयतसम्यग्दृष्टिसासादनानामिव न सम्यग्मिथ्यादृष्टिसंयतासंयतानां च तत्रापर्याप्तकाले सम्भवः समस्ति तत्र तेन तयोर्विरोधात् । अथ स्यात्तिर्यञ्चः पञ्चविधाः, तिर्यञ्चः पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चः पञ्चेन्द्रियपर्याप्ततिर्यञ्चः पञ्चेन्द्रियापर्याप्ततिर्यञ्च इति । तत्र न ज्ञायते केमानि पञ्च गुणस्थानानि सन्तीति ? उच्यते, न तावदपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्षु पञ्च गुणाः सन्ति, लब्धपर्याप्तेषु मिथ्यादृष्टियतिरिक्तशेषगुणासम्भवात् । तत्कृतोऽवगम्यत इति चेत् 'पंचिन्द्रिय-तिरिसण-अपज्जत्त-मिच्छाद्द्वी दब्ब-पमाणेण केवडिया, असंखेज्जा' इति, तत्रैकस्यैव मिथ्यादृष्टिगुणस्य संख्यायाः प्रति-

पांच गुणस्थानोंमें होते हैं' इस सामान्य वचनसे संशय उत्पन्न हो सकता है कि वे पांच गुणस्थान कौन कौन हैं, इसलिये इस संशयको दूर करनेके लिये मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानोंका नाम निर्देश किया है ।

जिसप्रकार बद्धासुरक असंयतसम्यग्दृष्टि और सासादन गुणस्थानवालोंका तिर्यच-गतिके अपर्याप्तकालमें सद्भाव संभव है, उसप्रकार सम्यग्मिथ्यादृष्टि और संयतासयतोंका तिर्यचगतिके अपर्याप्तकालमें सद्भाव संभव नहीं है, क्योंकि, तिर्यचगतिमें अपर्याप्त कालके साथ सम्यग्मिथ्यादृष्टि और संयतासंयतका विरोध है ।

शंका—तिर्यच पांच प्रकारके होते हैं, सामान्य-तिर्यच, पचेन्द्रिय-तिर्यच, पचेन्द्रिय-पर्याप्त तिर्यचनी और पचेन्द्रिय-अपर्याप्त-तिर्यच । परंतु यह जाननेमें नहीं आया कि इन पांच भेदोंमेंसे किस भेदमें पूर्वोक्त पांच गुणस्थान होते हैं ?

समाधान—उक्त शंका पर उत्तर देते हैं कि अपर्याप्त-पचेन्द्रिय-तिर्यचोंमें तो पांच गुणस्थान होते नहीं हैं, क्योंकि, लब्धपर्याप्तकोंमें एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थानको छोड़कर शेष गुणस्थान ही असंभव हैं ।

शंका—यह कैसे जाना कि लब्धपर्याप्तक पचेन्द्रिय तिर्यचोंमें पहला ही गुणस्थान होता है ?

समाधान—'पचेन्द्रिय-तिर्यच-अपर्याप्त-मिथ्यादृष्टि जीव द्रव्यप्रमाणकी अपेक्षा कितने हैं' इसप्रकारकी शंका होने पर द्रव्यप्रमाणानुगममें उत्तर दिया कि 'असंख्यात' है । इसतरह द्रव्यप्रमाणानुगममें लब्धपर्याप्तक-पचेन्द्रिय-तिर्यचोंके एक ही मिथ्यादृष्टि गुणस्थानकी संख्याका प्रतिपादन करनेवाला आर्यवचन मिलता है । इससे पता चलता है कि लब्धपर्याप्तकोंके एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थान ही होता है, और शेष चार प्रकारके तिर्यचोंमें पांचों ही गुणस्थान होते हैं । यदि शेषके चार भेदोंमें पांच गुणस्थान न माने जाय, तो उन चार प्रकारके तिर्यचोंमें पांच गुणस्थानोंकी संख्या आदिके प्रतिपादन करनेवाले द्रव्यानुयोग

पादकार्यात् । जेपेणु पञ्चापि गुणस्थानानि सन्ति, अन्यथा तत्र पञ्चानां गुणस्थानानां मन्व्यादियतिपादकद्रव्यागणस्याप्रामाण्यप्रसङ्गात् । अत्र पञ्चविधास्तिर्यञ्चः किन्तु निरूपिता इति चेन्न, ' आकृष्टयोपविशेषवियं सामान्यम् ' इति द्रव्याधिकनयावच्छेदनात् । निरुद्धीपपर्याप्ताद्रायां मिथ्यादृष्टिमासादना एव सन्ति, न शेषास्तत्र निरूप्यकार्याभावात् । भवतु नाम सम्यगिगम्यादृष्टिसंयतासंयतानां तत्रासत्त्वं पर्याप्ताद्वाया-भवेति नियमोपलम्भात् । कथं पुनरसंयतसम्यग्दृष्टीनामसत्त्वमिति न, तत्रासंयतसम्यग्दृष्टीनामप्यचेरभावात् । तन्कुतोऽसम्यत् इति चेत्—

उमु देद्रिमाषु पुडगीपु नोइस-गण-भगण-सञ्च-इथीषु ।

णेदेपु समुच्य-जड सम्माइडी दू जो जीयो ॥ १३३ ॥ इत्यार्यात् ।

आदि आगममें अप्रमाणताका प्रसंग आज्ञायगा ।

शंका—मूत्रमें तिर्यचत्वामान्यके स्थानपर पांच प्रकारके तिर्यचोंका निरूपण क्यों नहीं किया ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, ' अपनेमें सभव सपूर्ण विशेषोंको विषय करनेवाला सामान्य होता है ' इस न्यायके अनुसार द्रव्यार्थिक अर्थत्वं सामान्य नयके अवलम्बनसे संपूर्ण भेदोंका तिर्यच सामान्यमें अन्तर्भाव कर लिया है, अतएव पांचों भेदोंका अलग अलग निरूपण नहीं किया, किंतु तिर्यच इतना सामान्य पद दिया है ।

तिर्यचनियोंके अपर्याप्तकालमें मिथ्यादृष्टि और सासादत ये दो गुणस्थानवाले ही होते हैं, शेष तीन गुणस्थानवाले नहीं होते हैं, क्योंकि, तिर्यचनियोंके अपर्याप्त-कालमें शेष तीन गुणस्थानोंका निरूपण करनेवाले आगमका अभाव है ।

शंका—तिर्यचनियोंके अपर्याप्तकालमें सम्यगिमिथ्यादृष्टि और सयतासयत इन दो गुणस्थानवालोंका अभाव रहा आवे, क्योंकि, ये दो गुणस्थान पर्याप्त-कालमें ही पाये जाते हैं, ऐसा नियम मिलता है । परंतु उनके अपर्याप्त-कालमें असंयतसम्यग्दृष्टि जीवोंका अभाव कैसे माना जा सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, तिर्यचनियोंमें असंयतसम्यग्दृष्टियोंकी उत्पत्ति नहीं होती है, इसलिये उनके अपर्याप्त कालमें चौथा गुणस्थान नहीं पाया जाता है ।

शंका—यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान—' जो सम्यग्दृष्टि जीव होता है, वह प्रथम पृथिवीके विना नचिकी छद्म पृथिवीमें, ज्योतिषी, व्यन्तर और भवनवासी देवोंमें और सर्व प्रकारकी स्त्रियोंमें उत्पन्न नहीं होता है ' ॥ १३३ ॥

' पौर्णिकिगिरिगजोपिपांष मिथ्यादृष्टितामपसग्मादृष्टिण निग्या पञ्चस्त्रियाञो भिया अप-जविग्याजो जी म प. ८७

२ यथाभिमिच्छादिभित्तद्वान्माइद्रिनद्रासजडुत्ताने नियमा प नभियाओ । जी स. प. ८८.

मनुष्यगतौ गुणस्थानान्त्वेणार्थपुत्रसद्वसमाह—

मणुस्सा चोदससु गुणद्वानेषु अत्थि मिच्छाइडी, सासणसम्माइडी, सम्मामिच्छाइडी, असंजदसम्माइडी, संजदासंजदा, पमत्तसंजदा, अपमत्तसंजदा, अपुव्वकरण-पविट्ट-सुद्धि-संजदेसु अत्थि उवससा खवा, अणियट्टि-वादर-सांपराइय-पविट्ट-सुद्धि-संजदेसु अत्थि उवससा खवा, सुहुम-सांपराइय-पविट्ट-सुद्धि-संजदेसु अत्थि उवससा खवा, उवसंत-कसाय-वीयराय-छदुमत्था, खीण-कसाय-वीयराय-छदुमत्था, सजोगिकेवली, अजोगिकेवल्लि ति ॥ २७ ॥

एयस्स सुत्तस्स अत्थो पुवं उचो ति णेदाणि बुचदे जाणिद-जाणावणे फलाभावादो । पुव्वमभुत्तपुव्वसामण-खवण-विहिं एत्थ संवद्वद्वुवसामण-पसवण-सस्स-जाणावणं संसेवदो भणिस्सामो । तं जहा, तत्थ ताव उवसामण-विहिं वत्तइस्सामो । अणंताणुवंधि-कोथ-माण-माया-लोभ-सम्मत्त-सम्मामिच्छत्त-मिच्छत्तमिदि एदाओ सत्त-पयडीओ असंजदसम्माइडि-प्यहुडि जाव अपमत्तसंजदो ति ताव एदेसु जो वा सो वा हेते हैं ।

इस आर्प-वचनसे जानते हैं कि असंयतसम्यग्दृष्टि जीव तिर्यचनियोंमें उत्पन्न नहीं होते हैं ।

अब मनुष्यगतिमें गुणस्थानोंके अन्वेषण करनेके लिये अगेका सूत्र कहते हैं—

मिथ्यादृष्टि, सासादतसम्यग्दृष्टि, सम्यगिमिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयतासयत, प्रमत्तसयत, अप्रमत्तसयत, अपूर्वरूपण प्रविष्ट-विद्युद्धि संयतोंमें उपशमक और क्षपक, अनिद्रुत्तिवादरसापराय-प्रविष्ट-विद्युद्धि-सयतोंमें उपशमक और क्षपक, सूक्ष्मसांपराय प्रविष्ट विद्युद्धि-संयतोंमें उपशमक और क्षपक, उपशांतकपाय-वीतराग-छद्मस्थ, क्षीण-रुगय-वीतराग-छद्मस्थ, सयौगिकेवली और अयौगिकेवली इसतरह इन चौदह गुणस्थानोंमें मनुष्य पाये जाते हैं ॥ २७ ॥

इस सूत्रका अर्थ पहले कहा जा चुका है इसलिये अब नहीं कहते हैं, क्योंकि, जिसका ज्ञान हो गया है उसका फिरसे ज्ञान करनेमें कोई विशेष फल नहीं है । पहले उपशमन और क्षणविधिका स्वरूप नहीं कहा है, इसलिये उपशमक और क्षपकके स्वरूपका ज्ञान करनेके लिये यहां पर संयन्ध-प्राप्त उपशमन और क्षणविधिको संशेषसे कहते हैं । वह इसप्रकार है । उसमें भी पहले उपशमनविधिको कहते हैं—

अनन्ताबुब्बन्धी-क्रोध, मान, माया और लोभ, सम्यक्प्रकृति, सम्यगिमिथ्यात्व तथा

१ मनुष्यगतौ चतुर्दशापि सति । स. नि. १.८.



उपसर्गमिदि । सरूवं छड्डिय अण-पयडि-सरूवेणञ्जणमंताणुंधीणापुवसमो । दंसण-तियस्स उदयाभावो उवसमो तिसिमुवमंताणं पि ओकडुवुकडुण-पर-पयडि-संक्रमणमस्थि-त्तादो । अपुव्वकरणे ण एकं पि कम्मपुवसमदि । किंतु अपुव्वकरणो पडिसमय-मणंतगुण-विसोहीए वडुतो अंतोपुहुत्तेणोत्तोपुहुत्तेण एकैकं छिदि-संडयं वादंतो संखेज-सहस्साणि छिदि-खंडयाणि वादेदि, तत्तियमेत्ताणि छिदि-बंधोत्तराणि करोदि । एकैकं मिथ्यात्वं इन सात प्रकृतियोंका असंयतसम्यग्दृष्टिसे अममत्संसयत गुणस्थानतक इन चार गुणस्थानोंमें रहनेवाला कोई भी जीव उपशम करनेवाला होता है । अपने स्वरूपको छोड़कर अन्य प्रकृतिरूपसे रहना अनन्तानुबन्धीका उपशम है । और उदयमें नहीं आना ही दर्शन-मोहनीयकी तीन प्रकृतियोंका उपशम है, स्वयंकि, उत्कर्षण, अपकर्षण और परप्रकृतिरूपसे सक्रमणको प्राप्त और उपशान्त हुई उन तीन प्रकृतियोंका अस्तित्व पाया जाता है । अपूर्वकरण गुणस्थानमें एक भी कर्मका उपशम नहीं होता है । किंतु अपूर्वकरण गुणस्थानचाला जीव प्रत्येक समयमें अनन्तगुणी विद्युद्धिसे बढता हुआ एक एक अन्तर्मुहूर्तमें एक एक स्थिति-खण्डका घात करता हुआ सख्यात हजार स्थिति खण्डोंका घात करता है । और उतने ही स्थिति-बधापसर-

१ वेदगतसमाहटी जीवो XX अणताणुवधी तिसजोइय अतोमुहुच अवापचो होदूण पुणो पमचगुण पडि-वडिय असादअरिदोअजममिदिआदीणि कम्मणि अतोमुहुच तथिय दसणमोहणीयमुसामोदि । धवला अ पृ ४३६ वेदगतसमाहटी अणताणुवधी आरिसजोपदूण क्साए उवसामेदु णो उवडादि । अनिसजोइदाणताणुवधिवचकस्स वेदगतसमाहटिस्स क्सायोत्सामणणियधणदसणमोहोवसामणादिफिरियासु पडुत्ताए असमवादो । जयध. अ पृ १००२ उवसमचरिरामिग्हा वेदगतसमो अण निजोइचा । अतोमुहुचकाल अधापचो पमचो य ॥ ल क्ष २०५ णथि अण उवसमो । गो व ३९१ 'णिययतिरियाड दोण्णि पि पदमत्स्यायाणि दसणतियाणि । हीणा एदे गेया मगे एणेकणा हाति ॥ गो क ३८४ ' इति वचनादुपगमश्रेण्या १४६ प्रकृतिस्वरस्थानस्य सद्धानादनन्तानुबन्धिवचतु-कस्य सचापि निभाव्यते, ततो ज्ञायते यद् द्वितीयोपशमसम्यक्चमनताखण्डिधन उपशमेनापि भवति । अक्षितसम्य-ग्दृष्टिशरितप्रथमचसयतानामन्यतमोऽनन्तानुबन्धुपशमनां चिन्तुं XX यथाप्रवृत्तकरणपूर्वकरण च करोति । क प्र पृ २६७ वेयससमाहटी चरित्तमोहवसमाए चिद्धतो । अजठ देसजई वा निरतो वा तिसोहि-अद्वाए । क प्र उप २७ चारिमोहनियस्योपसमना क्षीणसत्तकस्य वैमानिकेव्वेव यद्वापुकस्य भवति । अयद्वापुकसु क्षपकश्रेणिमारोहति । यस्तु वेदसम्यग्दृष्टि संवृपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते सोऽनियतो यद्वापुत्तानुबन्धुपशमो वा । स च क्रयान्किन्मतेनानन्तानुबन्धिनी तिसयोइय चतुर्निशितसत्कर्मां सत् प्रतिपद्यते । केपानियुत्तमितीपशममयापि, ततो तिसयोऽजितानन्तानुबन्धिवकणाय उपशमितानन्तानुबन्धिवकणायो वा यद् दर्शयितव्यपुवसमयति । अथा X आदां दर्शनमोहणीय क्षपयित्वा उपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते, अथवा दर्शनमोहणीय मथमपुवसमयापि प्रतिपद्यते । कस्यपुवसमयेलत आह-श्रामण्ये सयमे िरत्वा । प स पृ ९७६

२ तत णमिद्विंशतिपि करण्यवेन-केमेणान ताहुत्ती वन कयायाववसमयति । XX एवमेकीयतेनानताहु-की यथावपसमोऽभिहित, अंयं तन ताहुत्ती यना तिसयोऽजनापेनापिदधति । आन्वा पृ २७१

३ मरणपरिणामिदि निस्सत्तीकयस्स दमणमोहणीयस्स उदयपजाएण त्रिणा अमद्वानुवसमो चि । जयय

छिदि-खंडय-कालभंतरे संखेज-सहस्साणि अणुभाग-खंडयाणि वादेदि । पडिसमयम-संखेजगुणाए सेठीए पदेस-णिजंरं करोदि । जे अप्पसत्थ-कम्मसे ण वंधदि तेसिं पदेसगा मसंखेज-गुणाए सेठीए अण-पयडीसु वज्झमाणियासु संकोमेदि । पुणो अपुव्वकरणं चोलेज्जण अणियडि-गुणद्वानं पविसिउणंतोमुहुत्तमणेणव विहाणेणञ्चिय चारस-कसाय-णव-गोक्कसायाणमंतंरं अंतोमुहुत्तेण करोदि । अंतरे कदे पढस-ममयादो उवरि अंतोमुहुत्तं गंतूण असंखेज-गुणाए सेठीए णउंसय-वेदपुवसमोमेदि । उवसमो णाम कि ? उदय-उदीरण-ओकडुक्कडुण-परपयडिसंक्रम-छिदि-अणुभाग-कंडयवादेहि विणा अञ्जणपुवसमो । तदो अंतोमुहुत्तं गतूण णउंसयवेदपुवसामिदि-विहाणेणित्थिवेदपुवसमोमेदि । तदो अंतोमहुत्तं

णोंको करता है । तथा एक एक स्थिति-खण्डके कालमें संख्यात हजार अनुभाग-खण्डोंका घात करता है । और प्रतिसमय असख्यात-गुणित-श्रेणीरूपसे प्रदेशोंकी निर्जरा करता है । तथा जिन अप्रशस्त प्रकृतियोंका वच्य नहीं होता है, उनकी कर्मवर्गीओंको उस समय बंधनेवाली अन्य प्रकृतियोंमें असख्यातगुणित श्रेणीरूपसे संक्रमण कर देता है । इसतरह अपूर्वकरण गुणस्थानको उल्लंघन करके और अनिबृत्तिकरण गुणस्थानमें प्रवेश करके, एक अन्तर्मुहूर्त पूर्वोक्त विधिसे रहता है । तत्पश्चात् एक अन्तर्मुहूर्त कालके द्वारा बारह कथाय और नौ नोकथाय इनका अन्तर (करण) करता है । ( नीचेके व ऊपरके निषेकोंको छोड़कर बीचके कितने ही निषेकोंके द्रव्यको अन्य निषेकोंके द्रव्यमें निक्षेपण करके बीचके निषेकोंके अभाव करनेको अन्तरकरण कहते हैं । ) अन्तरकरणविधिके हो जाने पर प्रथम समयसे लेकर ऊपर अन्तर्मुहूर्त जाकर असख्यातगुणी श्रेणीके द्वारा नपुसकवेदका उपशम करता है ।

शंका—उपशम किसे कहते हैं ?

समाधान—उदय, उदीरण, उत्कर्षण, अपकर्षण, परप्रकृतिसकमण, स्थिति-काण्डक-घात और अनुभाग-काण्डकघातके विना ही कर्मोंके सत्तामें रहनेको उपशम कहते हैं ।

तदनन्तर एक अन्तर्मुहूर्त जाकर नपुसकवेदकी उपशमविधिके समान ही स्त्रीवेदका

अ पृ ९५४ दर्शनमोहस्य प्रकृतिस्थिसुभागप्रदेगानापुपगमेन उदययोग्यमावेन जीव उपशात उपशमसम्प-दधिर्भवति । ल क्ष स टी १०२

१ अतर विरहो सुण्णमामो ति एयद्धो तस्स करणमन्तरकरण । हेड्डा उवरिं व केतियाओ ढिदोओ मोत्तण मच्चिअण ढिदीण जतोमुहुत्तपमाणण णिसगे सुण्णत्तसपादणमतत्करणमिदि । जयव अ प्र १००९

२ आमनि कर्मण स्वकोत्ते कारणवशादनुभूतिरुपशम । यथा कतनादिदव्यमम्बवाद्दस्मसि पक्कस्योप-शम । स मि २ १ कर्मणोऽनुद-भूतस्ववीर्यवृत्तितोपगमोऽध प्रापितपक्कवत् । त रा २ १ अहुत्तस्वसामर्थ-वृत्तितोपसमो मत । कर्मण पुसि तोरादानव प्रापितपक्कवत् ॥ त श्रो वा २ १ २ उपगमिता नाम यथा रेखुनिर सल्लिन्दुनिवहरमिपिच्यामिपिच्य दुवणादिमिनि कुट्टेती ति-पदो भयति तथा कर्नेखुनि फ्रोऽपि विरुधि-सल्लिअवाहेण परिचिच्य परिचिच्यानिगृत्तिरुण्णल्पपुव्वणनि कुट्टित सक्रमणोऽरुदीरगानि गधिनं हावनाहरगानामयोग्यो भवति । क प्र पृ २६७



गत्तूण तेनेत्र विहिणा छण्णोकरुमाए पुरिमवेद-चिराण-संत कम्मणे सह जुगवं उपसामेदि । ततो उवरि ममऊण-दो-आवलियाओ गंतूण पुरिसवेद-गवक-बंधुवसामेदि । ततो अंतोमुहुत्तमुवरि गंतूण पडिसमयमसंसेजाए गुणभेदीए अपच्चक्खणाण-पच्चक्खणाणावरण-सण्णिद-दोणिण वि क्रोधे क्रोध-संजलण-चिराण-संतकम्मणे सह जुगवमुवसामेदि । ततो उवरि दो आवलियाओ समऊणाओ गंतूण क्रोध-संजलण-णवरु-बंधुवसामेदि । तदो अंतोमुहुत्तं गंतूण तेसिं चेत्र दुविहं माणसंसरेजाए गुणसेदीए माणसंजलण-चिराण-संत कम्मणे सह जुगवं उपसामेदि । तदो समऊण-दो-आवलियाओ गंतूण माणसंजलण-मुवसामेदि । तदो पडिसमयमसंसेजगुणाए सेदीए उपसामेतो अंतोमुहुत्तं गंतूण माया-संजलण-मुवसामेदि । तदो दो आवलियाओ मायं माया-संजलण-चिराण-संत-कम्मणे सह जुगवं उपसामेदि । तदो दो आवलियाओ समऊणाओ गंतूण माया-संजलण-मुवसामेदि । तदो समयं पडि असंखल्लगुणाए सेदीए पदेसमुवसामेतो अंतोमुहुत्तं गंतूण लोभ-संजलण-चिराण-संत-कम्मणे राह पच्चक्खणाणा-पच्चक्खणाणावरण-दुविहं लोभं लोभ-वेदगद्दाए विदिय-ति-भगो सुहुमकिद्धीओ करंतो

उपशम करता है । फिर एक अन्तर्मुहूर्त जाकर उसी विधिसे पुरुषवेदके ( एक समय कम दो आवलीमात्र नवकसमयप्रवद्धको छोड़कर बाकीके संपूर्ण ) प्राचीन सत्तामें स्थित कर्मके साथ उह नोकयायका उपशम करता है । इसके आगे एक समय कम दो आवली काल बिता कर पुरुषवेदके नवक समयप्रवद्धका उपशम करता है । इसके पश्चात् प्रत्येक समयमें असंख्यातगुणी श्रेणीके द्वारा सञ्चलनक्रोधके एक समय कम दो आवलीमात्र नवक समयप्रवद्धको छोड़कर पहलेके सत्तामें स्थित कर्मके साथ अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान क्रोधोंका एक अन्तर्मुहूर्तमें एकसाथ ही उपशम करता है । इसके पश्चात् एक समय कम दो आवलीमें क्रोधसंज्वलनके नवरु-समयप्रवद्धका उपशम करता है । तत्पश्चात् प्रतिसमय असंख्यातगुणी श्रेणीके द्वारा सञ्चलनमानके एक समय कम दो आवलीमात्र नवक-समयप्रवद्धको छोड़कर प्राचीन सत्तामें स्थित कर्मके साथ अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानमानका एक अन्तर्मुहूर्तमें उपशम करता है । इसके पश्चात् एक समयकम दो आवलीमात्र कालमें सञ्चलनमानके नवक-समयप्रवद्धका उपशम करता है । तदन्तर प्रतिसमय असंख्यात गुणित श्रेणीरूपसे उपशम करता हुआ, माया-सञ्चलनके नवक-समयप्रवद्धको छोड़कर प्राचीन सत्तामें स्थित कर्मके साथ अप्रत्याख्यान सञ्चलनके नवक-समयप्रवद्धका उपशम करता है । तत्पश्चात् एक समय कम दो आवलीमात्र कालमें माया सञ्चलनके नवरु-समयप्रवद्धका उपशम करता है । तत्पश्चात् प्रत्येक समयमें असंख्यातगुणी श्रेणीरूपसे कर्मप्रदेशोंका उपशम करता हुआ, लोभवेदके दूसरे विभागमें सूक्ष्मकृष्टिको करता हुआ संज्वलनलोभके नवक-समयप्रवद्धको छोड़कर प्राचीन सत्तामें स्थित कर्मके साथ प्रत्याख्यान, अप्रत्याख्यान इन दोनों लोभोंका एक अन्तर्मुहूर्तमें उपशम करता

उपसामेदि । सुहुमकिद्धि मोचण अवसेतो वादरलोभो फइयं गदो सव्वो णवरु-बंधुच्छिदोवलिय-वजो अणियाद्धि-चरिम-समए उवसंतो । णंउंसयवेदपपहुडि जाव वादर-लोभ-संजलणो चिं ताव एदासि पयडीणमणियद्धी उवसामगो होडि । तदो गंतर-समए सुहुमकिद्धि-सरुवं लोभं वेदंतो णट्ट-अणियाद्धि-सण्णो सुहुमसांपराइओ होदि । तदो सो अप्पणो चरिम-समए लोह-संजलणं सुहुमकिद्धि-सरुवं णिस्सेसपुवसामिय उवसत-रुसाय-वीदराग-छदुमरुथो होदि । एसा मोहणीयरस उवसामण-विही ।

है । इसतरुह सूक्ष्मकृष्टिगत लोभको छोड़कर और एक समय कम दो आवलीमात्र नवक-समयप्रवद्ध तथा उच्छिद्यावली मात्रनिबेकोको छोड़कर शेष स्पईकगत संपूर्ण वादरलोभ अनिवृत्तिकरणके चरम समयमें उपशान्त हो जाता है । इसप्रकार नपुंसकवेदसे लेकर जब तक वादर-सञ्चलन-लोभ रहता है तबतक अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवाला जीव इन पूर्वोक्त प्रकृतियोंका उपशम करनेवाला होता है । इसके अनन्तर समयमें जो सूक्ष्मकृष्टिगत लोभका अनुभव करता है और जिसने अनिवृत्ति इस संज्ञाको नष्ट कर दिया है, ऐसा जीव सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानवर्ती होता है । तदनन्तर वह अपने कालके चरम समयमें सूक्ष्मकृष्टिगत संपूर्ण लोभ-सञ्चलनका उपशम करके उपशान्तकयाय-वीतराग-छन्नस्थ होता है । इसप्रकार मोहनीयकी उपशमन-विधिकी वर्णन समाप्त हुआ ।

विशेषार्थ—लब्धिसार आदि ग्रन्थोंमें द्वितीयोपशम सम्यक्त्वकी उत्पत्ति अप्रमत्तसंयत गुणस्थानमें ही बतलाई है, किन्तु यहां पर उपशमन विधिके कथनमें उसकी उत्पत्ति असंयत-सम्यग्दृष्टिसे लेकर अप्रमत्तसंयत गुणस्थानतक किसी भी एक गुणस्थानमें बतलाई गई है । धवलमें प्रतिपादित इस मतका उल्लेख श्वेताम्बर संप्रदायमें प्रचलित कर्मप्रकृति आदि ग्रंथोंमें देखनेमें आता है ।

तथा अनन्तानुबन्धीके अन्य प्रकृतिरूपसे सक्रमण होनेको ग्रन्थान्तरोमें विसंयोजना कहा है, और यहां पर उसे उपशम कहा है । यद्यपि यह केवल शब्द भेद है, और स्वयं वीरसेन स्वामीको द्वितीयोपशम सम्यक्त्वमें अनन्तानुबन्धीका अभाव इत है । फिर भी उसे विसंयोजना शब्दसे न कहकर उपशम शब्दके द्वारा कहनेसे उनका यह अभिप्राय रहा हो कि द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि जीव कदाचित् मिथ्यात्व गुणस्थानको प्राप्त होकर पुनः अनन्तानुबन्धीका बन्ध करने लगता है, और जिन कर्मप्रदेशोंका उसने अन्य

१ (यत्र) स्थितिस्त्रमात्रलिमानमवशिष्यते तद्दृष्टिदावलिखन्म । ल. श. ११३

२ ल श. २१५ सञ्चलनवादलोभस्य प्रथमस्थितौ उच्छिद्यवलिमानेऽप्राश्रिते उपशमनात्तत्रलिवससमये लोभत्रयद्रव्य सर्वमप्युपशमित भवति । तत्र सूक्ष्मकृष्टिगतद्रव्य समयोन्नद्वयात्तत्रलिमानसमयप्रवद्धननक-बंधु-उच्छिद्यतत्रलिमानानिकेपद्रव्य च नोपशमयति । एतद्द्रव्यत्रय मुक्त्वा लोभत्रयस्य सर्वमपि सत्प्रव्यमुपशमितमित्यर्थ । म टी

३ विषयस्त्रिभामिर्लब्धिसारस्य चारिणोपशमननिवृत्तलोकीनीय । ल श २०५ ३५१

खवण-विहिं वत्तइस्सामो । खवणं णाम किं ? अट्टण्हं कम्मणं मूलत्तर-भेय-

प्रकृतिरूपसे सक्रमण किया था उनका फिरसे अनन्तानुबन्धीरूपसे सक्रमण हो सकता है । इस प्रकार यद्यपि द्वितीयोपशम सम्यक्त्वमें अनन्तानुबन्धीकी सत्ता नहीं रहती है, फिर भी उसका पुनः सद्भाव होना संभव है । अतः द्वितीयोपशम सम्यक्त्वमें अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना में कह कर उपशम शब्दका प्रयोग किया हो ।

अथवा, द्वितीयोपशम सम्यक्त्वकी उत्पत्ति कोई आचार्य तो अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजनासे मानते हैं, और दूसरे आचार्य अनन्तानुबन्धीके उपशमसे मानते हैं । इस प्रकार दो मत हैं । अनन्तानुबन्धीके उपशमका उक्त प्रकारसे लक्षण बाधते समय संभव है कि धवलाकारकी दृष्टि उक्त दोनों मतों पर रही हो ।

उपशमन और क्षण विधिमें सर्वत्र एक समय कम दो आवलीमात्र नवक-समय-प्रबद्धका उल्लेख आया है । और वही पर यह भी बतलाया है कि इनका प्राचीन सत्तामे स्थित कर्मके साथ उपशमन या क्षणन न होकर अनन्तर उतने ही कालमें एक एक निवेकके क्रमसे उपशम या क्षय होता है । इसका यह अभिप्राय है कि जिन कर्मप्रकृतियोंकी बन्ध, उदय और सत्त्व व्युच्छित्त एकसाथ होती है, उनके बन्ध और उदय-व्युच्छित्तिके कालमें एक समय कम दो आवलीमात्र नवक-समयप्रबद्ध रह जाते हैं, जिनकी सत्त्व व्युच्छित्त अनन्तर होती है । वह इस प्रकार है कि विवक्षित ( पुरुषवेद आदि ) प्रकृतिके उपशमन या क्षण होनेके दो आवली काल अवशिष्ट रह जाते पर द्विचरमावलीके प्रथम समयमें बंधे हुए द्रव्यका, बन्धावलीको व्यतीत करके चरमावलीके प्रथम समयसे लेकर प्रत्येक समयमें एक एक फालिका उपशम या क्षय होता हुआ चरमावलीके अन्त समयमें संपूर्णरूपसे उपशम या क्षय होता है । तथा द्विचरमावलीके द्वितीय समयमें जो द्रव्य बधता है, उसका चरमावलीके द्वितीय समयसे लेकर अन्त समयतक उपशम या क्षय होता हुआ अन्तिम फालिको छोड़कर सबका उपशम या क्षय होता है । इसीप्रकार द्विचरमावलीके तृतीयादि समयमें बंधे हुए द्रव्यका बन्धावलीको व्यतीत करके चरमावलीके तृतीयादि समयसे लेकर एक एक फालिका उपशम या क्षय होता हुआ क्रमसे दो आदि फालिरूप द्रव्यको छोड़कर शेष सबका उपशम या क्षय होता है । तथा चरमावलीके प्रथमादि समयोंमें बंधे हुए द्रव्यका उपशम या क्षय नहीं होता है, क्योंकि, बंधे हुए द्रव्यका एक आवली तक उपशम नहीं होता, ऐसा नियम है । इसप्रकार चरमावलीका संपूर्ण द्रव्य और द्विचरमावलीका एक समयकम आवलीमात्र द्रव्य उपशम या क्षय रहित रहता है, जिसका प्राचीन सत्तामें स्थित कर्मके उपशम या क्षय हो जानेके पश्चात् ही उपशम या क्षय होता है ।

अब क्षणविधिको कहते हैं—

शंका—क्षय किसे कहते हैं ?

समाधान—जिनके मूलप्रकृति और उत्तरप्रकृतिके भेदसे प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध अनेक प्रकारके हो जाते हैं, ऐसे आठ कर्मोंका जीवसे जो अत्यन्त

भिण्ण-पयडि-ट्टिदि-अणुभाग-पदेसाणं जीवादो जो णिस्सेस-विणासो तं खवणं णाम । अणंताणुवधि बोध-माण-माया-लोभ-मिच्छत्त-सम्मामिच्छत्त-सम्मत्तमिदि एदाओ सत्त-पयडीओ अंतजदसम्मइड्डी संजदासंतजदो वा पमतसंतजदो वा अप्पमतसंतजदो वा खवेदि । किमकमेण किं कमेण खवेदि ? ण, पुव्वमणंताणुबंधि-चउकं तिणिण वि करणाणि काऊण अणियट्टि-करण-चरिम-समए अकमेण खवेदि । पच्छा पुणो वि तिणिण करणाणि काऊण अधापवत्त-अपुव्वकरणाणि दो वि वोलाविय अणियट्टि-करणद्वए संखेजे भागे गंतूण मिच्छत्तं खवेदि । तदो अंतोमुहुत्तं गंतूण सम्मामिच्छत्तं खवेदि । तदो अंतोमुहुत्तं गंतूण सम्मत्तं खवेदि । तदो अधापवत्तकरणं कमेण काऊणंतोमुहुत्तेण अपुव्वकरणो होदि । सो ण एकं पि कम्मं ब्रखवेदि, किंतु समयं पडि असंखेज्ज-गुण-सरूवेण पदेस-णिज्जरं करेदि । अंतोमुहुत्तेण एकैकं ट्टिदि-कंडयं घट्ठंतो अप्पणो कालभंतरे संखेज्ज-सहस्साणि ट्टिदि-कंडयाणि घादेदि । तत्तियाणि चैव ट्टिदि-बंधोसरणाणि वि विनारा हो जाता है उसे क्षण (क्षय) कहते हैं । अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ, तथा मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति, इन सात प्रकृतियोंका असंयतसम्यग्दृष्टि, सयतासंयत, प्रमत्तसंयत अथवा अप्रमत्तसंयत जीव नारा करता है ।

शंका—इन सात प्रकृतियोंका क्या युगपत् नारा करता है या क्रमसे ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, तीन करण करके अनिवृत्तिकरणके चरम समयमें पहले अनन्तानुबन्धी चारका एक साथ क्षय करता है । तत्पश्चात् फिरसे तीन करण करके, उनमें से अध-करण और अपूर्वकरण इन दोनों को उल्लयन करके अनिवृत्तिकरणके संख्यातभाग व्यतीत हो जाने पर मिथ्यात्वका क्षय करता है । इसके अनन्तर अन्तर्मुहुत्त व्यतीतकर सम्यग्मिथ्यात्वका क्षय करता है । तत्पश्चात् अन्तर्मुहुत्त व्यतीतकर सम्यक्प्रकृतिका क्षय करता है ।

इसतरह क्षाधिक सम्यग्दृष्टि जीव सातिशय अप्रमत्त गुणस्थानको प्राप्त होकर जिस समय क्षणविधिको प्रारम्भ करता है, उससमय अध-प्रवृत्तकरणको करके क्रमसे अन्तर्मुहुत्तमें अपूर्वकरण गुणस्थानवाला होता है । वह एक भी कर्मका क्षय नहीं करता है, किंतु प्रत्येक समयमें असंख्यातगुणितरूपसे कर्म-प्रदेशोंकी निर्जरा करता है । एक एक अन्तर्मुहुत्तमें एक एक स्थितिकाण्डका घात करता हुआ अपने कालके भीतर सख्यात-द्वजार स्थितिकाण्ड-कोंका घात करता है । और उतने ही स्थितिबन्धापसरण करता है । तथा उनसे सख्यात-द्वजार-

१ क्षय आत्यन्तिकी निवृत्ति । यथा तस्मिन्नेवाम्भसि शुचिभाजनातरशकान्ते पक्कस्यात्यतामान । स ति २ १ त रा वा २ १ २ त शी वा २ १ ३

२ पदमन्सायचउक इषो मिच्छत्तमीससम्मत्त । आविरसम्मं देसे पमति अपमति खीअति । क म्र ६ ७८

३ अयदचउक तु अण अणियट्टिकरणचरिमिदि । जुगव सजोगिचा पुणो वि अणियट्टिकरणहुमाग ॥ नीलिय कम्मो मिच्छ मित्स सम्म खवेदि कमे । गो क ३६५, ३६६

क्रेदि । वेहितो संवेज्ज-महस्स-गुण अणुभाग-कंडय-घाटे क्रेदि ' एहाणुभाग-कंडय-उपरिण-कालादो एके द्विदि-कंडय-उपरिण-मालो संवेज्ज-गुणो ' ति सुचादो । एवं माज्ज अणियत्ति-गुणद्वारणं पमिभिय तस्य मि अणियत्ति-अट्टाए संखेज्जे भागे अपुव्व-अरण-पिभाणं गमिभिय अणियत्ति-अट्टाए संवेज्जदि-भागे सेमे श्रीणसिद्धि-त्तियं गिरयगइ-तिग्गिस्वगइ-एण्डिय-नीइदिय-नेइदिय-चउरिगियजादि-गिरयगइ-तिग्गिस्वगइ-पाओग्गाणु-पुत्ति-आश-पुत्तेव-आर-मुहुम-माहाग्गा चि एदाओ मोलस पयडीओ खेवेदि । तदो अंगोमुत्तं गंतूण पच्चसराणापच्चसराणावरण-कोध-माण-माया-लोभे अक्कमेण खेवेदि । एतो संत-कम्म-पाहुड-उवएसो । कमाय-पाहुड-उवएसो पुण अट्ट-रुसाएसु गणियु पच्छा अंतोमुहुत्तं गंतूण मेल्लय-कम्मणि खविज्जंति' ति । एते दो वि उवएसो मवमिद्धि के ति मणंति, तण्ण वडडे, विरुद्धादो सुचादो । दो वि यमाणइं ति ययणमि ण वडडे, 'पमाणेण यमाणविरोहिणा होदुव्वं' इदि णयादो । णाणा-जीवाणं

गुणे अनुभाषणत्तुंकां गत कर्ता है, क्योंकि, एक अनुभाषणकाण्डके उत्कीरण-कालसे एक स्थितिताण्डका उत्कीरण-काल सत्यान्तरगुणा है, ऐसा मूल-वचन है । इस प्रकार अपूर्वकरण गुण-यानसम्बन्धी क्रियाको करने और अनिष्टितकरण गुणस्थानमें प्रविष्ट होकर, वहा पर भी अनिष्टितकरण कालके सत्यान भागोंको अपूर्वकरणके समान स्थिति काण्ड-रूपात आदि विधिसि यिवात्त अनिष्टितकरणके कालमें सत्यान्तरभाग शेष रहने पर सत्यानशुद्धि, निडा निडा, प्रचला-प्राला, नरकगति, निर्वचगति, एकेन्द्रियजाति, द्वीन्द्रियजाति, त्रुन्द्रियजाति, चतुन्द्रियजाति, नरकगतिप्रयोयानुपूर्वी, निरानननिप्रयोयानुपूर्वी, आताप, उद्योत, स्थावर, सूक्ष्म और साधारण इन सोलर प्रकृतियोंका दाय करता है । फिर अन्तर्मुहूर्त व्यतीतकर प्रत्यारयानावरण और अप्रत्या-प्र्यापाररणसम्बन्धी मोच, मान, माया और लोभ इन आठ प्रकृतियोंका एकसाय दाय करता है । पर सत्संश्रुतका उपदेश है । किन्तु कयायश्रुतका उपदेश तो इस प्रकार है कि पहले आठ कर्मायोंके धार हो जाने पर पीछेमे एक अन्तर्मुहूर्तमें पूर्वोक्त सोलह कर्म प्रकृतियां दायको प्राप्त होती है । ये दोनों ही उपदेश नय हैं, ऐसा कितने ही आचार्योंका कहना है । किन्तु उनका ऐसा लक्ष्ण गटित नहीं होता है, क्योंकि, उनका ऐसा कहना सूत्रसे विरुद्ध पड़ता है । तथा दोनों कथन प्रमाण हैं, यह वचन भी घटित नहीं होता है, क्योंकि, 'एक प्रमाणको दूसरे प्रमाणका विरोधी नहीं होना चाहिये' ऐसा न्याय है ।

१ विरतागिरिपर विरुद्ध शीविगुणया ताव पश्ये । मासणपुग्गास गोल मत्र म्मागइ ॥ गो ७ १०० विरोधारे भविदिस्सिगे निरयतिग्गिणामाओ । मत्तोचस्से मेओ तपाउग्गाओ नीअति ॥ रत्तो हणर म्मायन्ती ११४ ७ ७८, ७९

२ एते अणुभाषणद्वाराणु ण गमिभिय जति । तपप अ पु १०७८ तदो द्विदिउवएसुवणेण अपाज्जे विरयण अरिणे एणिय मोत्तपर म्माण विस्सिताम्मसाकलिभतर नेम । तपप अ पु १०७९ ११४ तपप

णाणाविह-सत्ति-संभावविरोहादो । केसिं चि जीवाणं णट्टेसु अट्टसु कसाएसु पच्छा सोलस-कम्म-फलवण-सत्ती मसुपपज्जदि चि तेण पच्छा सोलस-कम्म-सखयो हेदि, ' कारण-कम्माणुसारी कज्ज-कमो ' ति णयादो । केसिं चि जीवाणं पुव्व सोलस-कम्म-फलवण-सत्ती समुपपज्जदि, पच्छा अट्ट-कसाय-सन्ववण-सत्ती उपपज्जदि चि णट्टेसु सोलस-कम्म-सु पच्छा अंतोमुहुत्ते अदिकंते अट्ट कमाया णसंसति । तदो ण दोणं उणएसणं विरोहो चि के वि आहरिया मणंति, तण्ण वडडे । किं कारणं ? जेण अणियत्तिणो णाम जे के वि एग-समए वड्डमाणा ते सब्बे वि अदीदाणागइ-वड्डमाणा-मालेसु समाण-परिणासा, तदो चैय ते समाण-गुणसेट्ठि-गिज्जारा नि । अह भिण्ण-परिणासा वुच्चति तो क्वहि ण ते अणियत्तिणो, भिण्ण-परिणामत्तादो अपुव्वकरणा इव । ण च कम्म-संश्रुतानं

शंका — नाना जीवोंके नाना प्रकारकी शक्तिया संभव हैं, इसमें कोई विशेष नहीं आता है । इसलिये कितने ही जीवोंके आठ कर्मायोंके नष्ट हो जानेपर तदनन्तर सोलह कर्मोंके दाय कालेकी शक्ति उत्पन्न होती है । अतः उनके आठ कर्मायोंके दाय हो जानेके पश्चात्, सोलह कर्मोंका दाय होता है । क्योंकि, 'जिस क्रमसे कारण मिलते हैं उसी क्रमसे कार्य होता है' ऐसा न्याय है । तथा कितने ही जीवोंके पहले सोलह कर्मोंके दायकी शक्ति उत्पन्न होती है, और तदनन्तर आठ कर्मायोंके दायकी शक्ति उत्पन्न होती है । इसलिये पहले सोलह कर्म-प्रकृतियां नष्ट होती हैं, और इसके पीछे एक अन्तर्मुहूर्तके व्यतीत होने पर आठ कर्मायें नष्ट होती हैं । इसलिये पूर्वोक्त दोनों उपदेशोंमें कोई विरोध नहीं आता है, ऐसा कितने ही आचार्यों कहते हैं ?

समाधान — परंतु उनका ऐसा कहना घटित नहीं होता है, क्योंकि, अनिष्टितकरण गुणस्थानचले जितने भी जीव हैं, वे सब अतीत, वर्तमान और भविष्य काल सम्बन्धी कितनी एक समयमें विद्यमान होते हुए भी समान-परिणामचले ही होते हैं, और इसीलिये उन जीवोंकी गुणश्रेणी-निर्जरा भी समानरूपसे ही पाई जाती है । और यदि एक-समयस्थित अनिष्टितकरण गुणस्थानचालोंको विमहेश परिणामवाला कहा जाता है, तो जिस प्रकार एक समयस्थित अपूर्वकरण गुणस्थानचालोंके परिणाम विसहश होते हैं, अतएव उन्हें अनिष्टित यह संज्ञा प्राप्त नहीं हो सकती है, उसी प्रकार इन परिणामोंको भी अनिष्टितकरण यह संज्ञा प्राप्त नहीं हो सकती । और असंख्यातगुणश्रेणियोंके द्वारा कर्मस्थानोंके क्षयणके कारण-

पुत्र धमिणु अट्टा य । पच्छा मालद्वारेण मणण इदि रेदि गिण्डि । गो ७, ३९१ प्र या-यानप यप यानाएकपत्तंयं गुणं नयमे । तस्मिन्वधमिंते अपयदित पीउय प्रट्ठा ॥ ११४ अर्धद्वेयवमो तदिदिहे प्राये-वनातरम् । क्षपमोडिपि त-पमात क्षपय प्रट्ठा वग ॥ स्यायए रक्षेण च क्षपयि ताउत्तेयं त्पार । छानमिदहत्पाद्विपु-पुणनेदुवात् ॥ णु यूनदेव । अन्ये पुनराहु, पीउय र्मणीयेव पूर्वं तपपिणुमासते, तेल्लमपातागलंश्या स्यायान् क्षपयति, पयात् पीउय र्मणीयति तमत्रयुत्तो ॥ लो प्र, प्र मा पु ६८,

असंवेज्ज-गुणसेवीए खवण-हेटु-परिणामे उज्झाज्जणणे परिणामा द्विदि-अणुभाग-खंडय-वाटस्स कारणभूदा अत्थि, तेषिं गिरूवय-सुत्ताभावादो । ' कज्ज-गाणत्तादो कारण-गाणत्तमणुसाणिज्जदि ' इदि एदमवि ण घडदे, एयादो भोगरादो बहु-क्खेडि-कवालवलंभा । तत्थ वि होटु णाम भोगरो एओ, ण तस्स सत्तीणमेयत्तं, तदो एय-कत्तप्परुप्पत्ति-प्पसंगादो इदि चे तो कव्वहि एत्थ वि भवटु णाम द्विदि-अणुभाग-अणुभाग-कंडयवाट-द्विदि-अणुभाग-गुणसंक्रम-गुणसेवी-द्विदि-अणुभाग-अणुभाग-गाणत्तं तो वि एग-समय-संठिय-गाणा-जीवाणं सरिसा चैव, अण्णहा अणियट्टि-विसेसणाणु-ववत्तीदो । जह एवं, तो सवेसिमणियट्टीणमेय-समयमिह वट्टमाणं द्विदि-अणुभाग-वादाणं सरिसत्तं एवेदि त्ति चे ण एस दोसो, इट्टादो । पट्टम-द्विदि-अणुभाग-खंडयानं

भूत परिणामोंको छोड़कर अन्य कोई भी परिणाम स्थितिकाण्डकघात और अनुभागकाण्डकघातके कारणभूत नहीं है, क्योंकि, उन परिणामोंका निरूपण करनेवाला सूत्र ( आगम ) नहीं पाया जाता है ।

शंका—अनेक प्रकारके कार्य होनेसे उनके साधनभूत अनेक प्रकारके कारणोंका अनुमान किया जाता है ? अर्थात् नवें गुणस्थानमें प्रति समय असंख्यातगुणी कर्मनिर्जरा, स्थितिकाण्डकघात आदि अनेक कार्य देखे जाते हैं, इसलिये उनके साधनभूत परिणाम भी अनेक प्रकारके होने चाहिये ।

समाधान—यह कहना भी नहीं बनता है, क्योंकि, एक मुद्दरसे अनेक प्रकारके कपालरूप कार्यकी उपलब्धि होती है ।

शंका—बद्धा पर मुद्दर एक भले ही रहा आवे, परतु उसकी शक्तियोंमें एकपना नहीं बन सकता है । यदि मुद्दरकी शक्तियोंमें भी एकपना मान लिया जावे तो उससे एक कपालरूप कार्यकी ही उत्पत्ति होगी ?

समाधान—यदि ऐसा है तो यहा पर भी स्थितिकाण्डकघात, अनुभागकाण्डकघात, स्थितिकथापसरण, गुणसक्रमण, गुणश्रेणीनिर्जरा, शुभप्रकृतियोंके स्थितिवन्ध और अनुभाग-बन्धके कारणभूत परिणामोंमें नानापना रहा आवे, तो भी एक समयमें स्थित नाना जीवोंके परिणाम सदृश ही होते हैं, अन्यथा उन परिणामोंके ' अनिवृत्ति ' यह विशेषण नहीं बन सकता है ।

शंका—यदि ऐसा है, तो एक समयमें स्थित संपूर्ण अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवालोंके स्थितिकाण्डकघात और अनुभागकाण्डकघातकी समानता प्राप्त हो जायगी ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, यह बात तो हमें इष्ट ही है ।

शंका—प्रथम-स्थितिकाण्डक और प्रथम-अनुभागकाण्डकोंकी समानताका निरम तो नहीं पाया जाता है, इसलिये उक्त कथन वदित नहीं होता है ?

सरिसत्त-णियमों णत्थि, तदो वेदं घडदि त्ति चे स दोसो ण दोसो, हद-सेस-द्विदि-अणुभागणं एय-पमाण णियम-दंसणादो । ण च थोव-द्विदि-अणुभाग-विरोहि-परिणामो तदो अब्भहिय-द्विदि-अणुभागणमविरोहितमल्लियइ अण्णत्थ तह अंसणादो । ण च अणियट्टिमिह पदेस-अथो एय-समयमिह वट्टमाण-सव्व-जीवाणं सरिसो तस्स जोग-कारणत्तादो । ण च तेषिं सवेसिं जोगस्स सरिसत्तणे णियमो अत्थि लोग-पूरणमिह द्विय-केवलीणं च तहा पडिवायय-सुत्ताभावादो । तदो सरिस-परिमाणत्तादो सवेसिमणियट्टीणं समाण-समय-संठियाणं द्विदि-अणुभागवाटत्त-बंधासरण-गुणसेडि-

समाधान—यह भी कोई दोष नहीं है, क्योंकि, प्रथमस्थितिके अविशिष्ट रहे हुए खण्डका और उसके अनुभागखण्डका अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवाले प्रथम समयमें ही घात कर देते हैं, अतएव उनके द्वितीयादि समयोंमें स्थितिकाण्डकोंका और अनुभागकाण्डकोंका एक-प्रमाण नियम देखा जाता है । दूसरे, अल्प-स्थिति और अल्प अनुभागरूप विरोधी परिणाम उससे अधिक स्थिति और अधिक अनुभागोंके अविरोधीपनेको प्राप्त नहीं हो सकते हैं, क्योंकि, प्रथमस्थितिके अतिरिक्त द्वितीयादि स्थितियोंमें वैसा विरोध देखनेमें नहीं आता है । परतु इस कथनसे अनिवृत्तिकरणके एक समयमें स्थित संपूर्ण जीवोंके प्रदेशवन्ध सदृश होता है ऐसा नहीं समझ लेना चाहिये, क्योंकि, प्रदेशवन्ध योगके निमित्तसे होता है । परंतु अनिवृत्तिकरणके एक समयवर्ती संपूर्ण जीवोंके योगकी सदृशताका कोई नियम नहीं पाया जाता है । जिसप्रकार लोकपूरण समुद्घातमें स्थित केवलियोंके योगकी समानताका प्रतिपादक परमाणम है, उस-प्रकार अनिवृत्तिकरणमें योगकी समानताका प्रतिपादक परमाणमका अभाव है । इसलिये समान ( एक ) समयमें स्थित संपूर्ण अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवाले जीवोंके सदृश परिणाम होनेके कारण स्थितिकाण्डकघात, अनुभागकाण्डकघात, बन्धपसरण, गुणश्रेणीनिर्जरा और

१ तिकाण्डोयराण मत्तेमिणियट्टिराण समाणयमए वट्टमाण मरिमपरिणामत्तादो पट्टमद्विदिवड्य पि तेषिं सरिसत्तेविति णामहरियव्व किंतु त य जहणुक्कमवियप्पमत्तादो । जयव अ म १०७४ वाटपट्टमे पट्टम विदिवड्य तिसरिस तु विदियादि । विदिवड्य समाण सव्वस्स ममाणालमिह । पल्लस्स सबमाण अजर तु च तु सत्तमागहिय । वादादिमद्विदियडो सेमा सव्वस्स सरिया हु । ल ख ४२२, ४२३

२ ' उपसपल्लिया ' हेम ८, ४, १३९

३ ल ख ६२६ लोपो पुण्णे एया वगणा जोगस्स त्ति समज्जो ति णयन्तो । लोगपूरणमकुवादे वट्टमाणस्सेदस्स कवल्लिणो लोगमेवासेमजीवपदेसेणु जोगाप्रिमाणमलिच्छेदा न्हिद्विद्विदि निणा सरिसा चंय होण्ण परिणमति तेण स ने जीवपदेसा अण्णोण सरिमवणियसरुण परिणदा सता एया वगणा जादा तदो समज्जो ति एसो तदयथाए णयन्तो । जोगमत्तीए सव्वजीवपदेसेणु सरिमत्ताव मोचूण निमरिमभागखुलभादो त्ति वुत्त होइ । जयव अ पृ १२३९

गिज्जरा-संकमाणं सरिसचगं मिदं । समाण-समय-संठिय-मञ्चाणियद्धिंणं द्विदि-अणुभाग-  
म्वउएसु मरिमं गिज्जदेसु वादिदवसेस-द्विदि-अणुभागेषु सरिसत्तेण चिद्धमाणेषु  
अपणो पसत्थापसत्तर्णं पयडीसु अ छदमाणेषु कथं पयडि-विणासस्स विवज्जामो ?  
तम्हा दोहं वयणाणं मज्जे एकमेव सुत्तं होदि, जदो ' विणा ण अण्णहा-वाइणो ' तदो  
तव्वयणाणं विपडिसेहो इदि चे सच्चमेयं, किंतु ण तव्वयणाणि एयाइं आइल्लु-  
आइरिय-नयणाइं, तदो एयाणं विरोहसत्थि संभवो इदि । आइरिय कहियाणं संतकम्म-  
कसायपाहुडाणं कथं सुत्तत्तणमिदि चे ण, तित्थयर-कहियत्थाणं गणहरदेव-कय-गंथ-  
रयणाणं चारहंगाणं आइरिय-परंपराए गिरंतरमागयाणं जुग-सहावेण बुद्धीसु ओहइतीसु  
मायणाभावेण पुणो ओहइयि आगयाणं पुणो सुहु-बुद्धीणं खयं दट्टण तित्थ-बोच्छेद-  
भाएण वज-भीरुहि गहिदत्थेहि आइरिएहि पोत्थएसु चडवियाणं अमुत्तत्तण-विरोहादो ।

संक्रमणमें भी समानता सिद्ध हो जाती है ।

शंका—इस्तरु समान समयमें स्थित संपूर्ण अनिवृत्तिकरण गुणस्थानचल्लेके  
स्थितिवत् और अनुभागोंके समानताको प्राप्त होने पर, गत करनेके पश्चात् शेष रहे हुए  
स्थिति ओ अनुभागोंके समानरूपसे विप्रमान रहने पर और प्रकृतियोंके अपना अपना प्रयास  
और अप्रयासपनाके छोड़ देने पर अर्थात् सभी कार्योंके समानरूपसे रहने पर व्युत्क्रिय  
नेनेनाली प्रकृतियोंके विनाशमें विपर्यास कैसे हो सकता है ? अर्थात् किन्हीं जीवोंके पहले  
आठ कपायके नष्ट हो जाने पर सोलह प्रकृतियोंका नाश होता है, और किन्हीं जीवोंके पहले  
गोल्ह प्रकृतियोंके नष्ट हो जाने पर पश्चात् आठ कपायोंका नाश होता है, यह बात कैसे संभव  
नो सकती है ? इसलिये दोनों प्रकारके वचनोंमेंसे कोई एक वचन ही स्वरूप हो सकता है,  
स्वोंकि, जिन अन्यथावारी नहीं होते । अतः उनके वचनोंमें विशेष नहीं होना चाहिये ।

समाधान—यह कहना सत्य है कि उनके वचनोंमें विशेष नहीं होना चाहिये, परंतु  
ये निजेत्रेणके वचन न होकर उनके पश्चात् आचार्योंके वचन हैं, इसलिये उन वचनोंमें  
विरोध होना संभव है ।

शंका—नो फिर आचार्योंके द्वारा कहे गये सत्कर्मप्राप्त और कपायप्राप्तको सूत्र-  
प्राप्त करने प्राप्त हो सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जिनका अर्थरूपसे तीर्थकरोने प्रतिपादन किया है, और  
गणपरंपरेको निजकी ग्रन्थ-रचना की ऐसे वारट अंग आचार्य-परंपरासे निरन्तर चले आ रहे  
हैं । परंतु कालके प्रभावसे उत्तरोत्तर गुच्छिके क्षीण होने पर और उन अंगोंको धारण करनेवाले  
योग्य पापके अभावमें ये उत्तरोत्तर क्षीण होते हुए आ रहे हैं । इसलिये जिन आचार्योंने आगे  
प्रेष्ठ बुद्धिनाले पुरखोंका अभाव देया, जो अत्यन्त पापभीरु थे और जिन्होंने गुरुपरंपरासे  
' पुनर्गं ग्रहण किया था उन आचार्योंने तीर्थविच्छेदके भयसे उस समय जवशिए रहे हुए  
अंग सवरनी अर्थको पौधियोंमें लिपिबद्ध किया, अतएव उनमें अप्रवृत्तता नहीं आ सकता है ।

जदि एवं, तो एयाणं पि वयणाणं तदवयवचादो सुत्तत्तणं पावटि ति चे भग्नु दोण्ह  
मज्जे एकस्स सुत्तत्तणं, ण दोण्हं पि परोपर-विरोहादो । उस्सुत्तं लिहंता आइरिया  
कथं वज-भीरुणो ? इदि चे ण एस दोसो, दोण्हं मज्जे एकस्सेव संगहे कीरमाणे वज-भीरुत्तं  
णिवट्ठति ? दोण्हं पि संगहं करेताणमाइरियाणं वज-भीरुत्ताविणासादो । दोण्हं वयणाणं  
मज्जे कं वयणं सच्चमिदि चे सुदकेवली केवली वा जाणदि, ण अण्णो, तद्हा णिणया-  
भावादो । वट्टमाण-कालाइरिएहि वज-भीरुहि दोण्हं पि संगहो कायव्वो, अण्णहा वज-  
भीरुत्त-विणासादो ति ।

तदो अंतोमुहुत्तं गंतूण चउसंजलग-णवणोक्तसायाणसंतरं करेदि । सोदयाण-  
भंतोमुहुत्त-मेत्तिं पढम-द्विदि अणुदयाणं समज्जणचलिय-मेत्तिं पढम-द्विदिं करेदि । तदो

शंका—यदि ऐसा है, तो इन दोनों ही वचनोंको छादशाणका अवयव होनेसे सूत्रपना  
प्राप्त हो जायगा ?

समाधान—दोनोंमेंसे किसी एक वचनको सूत्रपना भले ही प्राप्त होओ, किंतु दोनोंको  
सूत्रपना नहीं प्राप्त हो सकता है, क्योंकि, उन दोनों वचनोंमें परस्पर विरोध पाया जाता है ।

शंका—उत्सूत्र लिखनेवाले आचार्य पापभीरु कैसे माने जा सकते हैं ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं, क्योंकि, दोनों प्रकारके वचनोंमेंसे किसी एक ही  
वचनके संग्रह करने पर पापभीरुता निकल जाती है, अर्थात् उच्छंखलता आ जाती है । अत-  
एव दोनों प्रकारके वचनोंका संग्रह करनेवाले आचार्योंके पापभीरुता नष्ट नहीं होती है,  
अर्थात् वनी रहती है ।

शंका—दोनों प्रकारके वचनोंमेंसे किस वचनको सत्य माना जाय ?

समाधान—इस बातको तो केवली या श्रुतकेवली ही जान सकते हैं, दूसरा कोई  
नहीं जान सकता । अतः इससमय उसका निर्णय नहीं हो सकता है, इसलिये पापभीरु वर्तमान-  
कालके आचार्योंको दोनोंका ही संग्रह करना चाहिये, अन्यथा पापभीरुताका विनाश  
हो जायगा ।

तत्पश्चात् आठ कपाय या सोलह प्रकृतियोंके नाश होनेपर एक अन्तर्मुहूर्त जाकर  
चार संवत्तन और नौ नो-कपायोंका अन्तस्करण करता है । अन्तस्करण करनेके पहले चार  
संवत्तन और नौ नो-कपायसंबन्धी तीन वेदोंमेंसे जिन दो प्रकृतियोंका उदय गहला है उनकी  
प्रथमस्थिति अन्तर्मुहूर्तमात्र स्थापित करता है, और अनुदयरूप ग्यारह प्रकृतियोंकी प्रथमस्थिति  
एक समयक्रम आवलीमात्र स्थापित करता है । तत्पश्चात् अन्तस्करण करके एक अन्तर्मुहूर्त

१ त अतो ' णिमुदिचि ' ; अ क. प्रयो ' पिज्जुदिचि ' इति पाठ ।

२ यजग्गाण पुं वेदोक्त उदेदि तन्पठ् । यमोण पढमद्विदि द्वेदि अतोणुत्त मफ्लिय । ल. व. ६३६



अंतरकरणं काऊण पुणो अंतोमुहुचे गदे णवुंसयवेदं खवेदि । तदो अंतोमुहुचं गंतूणित्थिय-वेदं खवेदि । तदो अंतोमुहुचं गंतूण छणोक्साए पुरिसवेद-चिराण-संत-कम्मण सह सवेद-दुचरिम-समए जुगवं खवेदि । तदो 'दो-आवलिय-मेत्त-कालं गंतूण पुरिसवेदं खवेदि । तदो अंतोमुहुचमुवरि गंतूण क्रोध-संजलणं खवेदि । तदो अंतोमुहुचमुवरि गंतूण माण-संजलणं खवेदि । तदो अंतोमुहुचं गंतूण माया-संजलणं खवेदि । तदो अंतोमुहुचं गंतूण सुहुम-सांपराइय-गुणद्वानं पडिवज्जदि । सो वि सुहुम-सांपराइओ अप्पणो चरिम-समए लोभ-संजलणं खवेदि । तदो से काले खीण-क्साओ होदूण अंतोमुहुचं गमिय अप्पणो अद्वाए दु-चरिम-समए णिदा-ययलाओ दो वि अक्केण खवेदि । तदो से काले पंचणावरणीय-चहुदंसणावरणीय-पचअंतराइयमिदि चोदसपयडीओ अप्पणो चरिम-समए खवेदि । एदेसु सट्ठि-कम्मसु सीणसु सजोगिजिणो होदि । सजोगिकेवली ण किंचि कम्म खवेदि । तदो कमेण विहरिय जोग-णिरोहं-काऊण अजोगिकेवली होदि । सो वि अप्पणो दु-चरिम-समए अणुदयवेदणीय-देवगदि-पंचसरीर-पच-सरीरसधाद-पंचसरीरवंधण-छस्संठाण-तिणिअंगोवंग-छस्सघडण-पंचवण्ण-दोगध-पचरस-

जाने पर नुंसकवेदका क्षय करता है । तदनन्तर एक अन्तर्मुहूर्त जाकर खविदका क्षय करता है । फिर एक अन्तर्मुहूर्त जाकर सेवेद-भागके द्विचरम समयमें पुरुषवेदके पुरातन सत्त्वरूप कर्मोंके साथ छह नो-कयायका एकसाथ क्षय करता है । तदनन्तर एक समय कम दो आवली-मात्र कालके व्यतीत होने पर पुरुषवेदका क्षय करता है । तत्पश्चात् एक अन्तर्मुहूर्त ऊपर जाकर नोय संज्वलनका क्षय करता है । इसके पीछे एक अन्तर्मुहूर्त ऊपर जाकर मान-संज्वलनका क्षय करता है । इसके पीछे एक अन्तर्मुहूर्त ऊपर जाकर माया-संज्वलनका क्षय करता है । पुनः एक अन्तर्मुहूर्त ऊपर जाकर सध्मसांपराय गुणस्थानको प्राप्त होता है । वह सध्मसांपराय गुणस्थानवाला जीव भी अपने गुणस्थानके अन्तिम समयमें लोभ-संज्वलनका क्षय करता है । तदनन्तर उसी कालमें क्षीणकयाय गुणस्थानको प्राप्त करके और अन्तर्मुहूर्त बिताकर अपने कालके द्विचरम समयमें निद्रा और प्रचला इन दो प्रकृतियोंका एकसाथ क्षय करता है । इसके पीछे अपने कालके अन्तिम समयमें पाच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण और पांच अन्तराय इन चौदह प्रकृतियोंका क्षय करता है । इसतरह इन साठ कर्म-प्रकृतियोंके क्षय हो जाने पर यह जीव सयोगिकेवली जिन होता है । सयोगी जिन किसी भी कर्मका क्षय नहीं करते हैं । इसके पीछे विहार करके और क्रमसे योगनिरोध करके वे अयोगिकेवली होते हैं । वे भी अपने कालके द्विचरम समयमें वेदनियकी दोनों प्रकृतियोंमेंसे अतुदयरूप कोई एक देवगति, पाच शरीर, पाच शरीरोंके सघात, पाच शरीरोंके बन्धन, छह सस्थान, तीन आंगोपाण, छह

१ 'मज्जण' इयथिरेन पाठेन माव्यम् । समज्जण दोणिणअत्रित्थियणममत्तपवद्धयवववो । ल अ ४६१

२ अणियटिगुणद्वानं मायागदिदं व द्वाणमिच्छति । द्वाणा मयमाणा केदं एव पन्वति ॥ गो क ३९२

अट्टफास-देवगदिपाओग्गाणुपुत्थि-अगुरुलालहुग-उवघाद-परघाद-उस्सास-दोविहायगदी-अपज्जत्त-पत्तेय-थिर-अथिर-सुभ-असुभ-दुभग-सुस्सर-दुस्सर-अणादेज्ज-अजसगिचि-णिमिण-णीचागोदाणि चि एदाओ बाहत्तरि पयडीओ खवेदि । तदो से काले सोदय-वेदणीय-मणुसाउ-मणुसगइ-पंचिदियजादि-मणुसगइपाओग्गाणुपुव्वी-तस-चादर-पज्जत्त-सुभग-आदेज्ज-जसगिति-तित्थयर-उच्चागोदाणि चि एदाओ तेरह पयडीओ खवेदि, अहवा मणुसगइपाओग्गाणुपुव्वीए सह अजोगि-दुचरिम-समए तेहत्तरि पयडीओ वारह चरिम समए । उप्पायाणुच्छेदादो तदो उवरिम-समए णीरयो णिममलो भिद्वो होदि । तत्थ जे कम्म-खवणणमिह वावदा ते जीवा खवणा उचंति । जे पुण तेसिं चेव

संहतन, पांच वर्ण, दो गन्ध, पांच रस, आठ स्पर्श, देवगति-प्रायोग्यानुपूर्वी, अगुरुल्लु, उपघात परघात, उच्छ्वाल, प्रशस्त-विहायोगति, अप्रशस्त-विहायोगति, अपर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, दुर्भग, सुस्वर, दुःस्वर, अनादेय, अयशस्कीर्ति, निर्माण और नीच-गोत्र, इन बहत्तर प्रकृतियोंका क्षय करते हैं । इसके पीछे अपने कालके अन्तिम समयमें दोनों वेदनियमेंसे उदयागत कोई एक वेदनिय, मनुष्यायुः मनुष्यगति, पचेन्द्रियजाति मनुष्यगति-प्रायोग्यानुपूर्वी, ब्रह्म, वादर, पर्याप्त, सुभग, आदेय, यशस्कीर्ति, तीर्थ हर और उच्च गोत्र, इन तेरह प्रकृतियोंका क्षय करते हैं । अथवा, मनुष्यगति-प्रायोग्यानुपूर्वीके साथ अयोगिकेवलीके द्विचरम सम यमें तेहत्तर प्रकृतियोंका और चरम समयमें बारह प्रकृतियोंका क्षय करते हैं । इसतरह संसारकी उत्पत्तिके कारणोंका विच्छेद हो जानेसे इसके आगेके समयमें कर्म-भ्रजे रहित निर्मल-दशाको प्राप्त सिद्ध हो जाते हैं । इनमेंसे जो जीव कर्म-क्षयणमें व्यापार करते हैं उन्हें क्षपक कहते हैं, और जो जीव कर्मोंके उपशमन करनेमें व्यापार करते हैं उन्हें

१ बाहत्तरि पयडीओ दुचरिमगे तेस च चरिमदि ल क्ष ३४४ ×× द्विससति कर्माणि स्वरूपसत्तामि-कृत्य क्षयणुपपच्छन्ति, चरमसमये त्तिउत्तकसमणेपोदयवतीह मध्ये सत्तम्यमाणवाम् । चरमसमये चात्यतरेवेदनियमनुच्य-धिकपचेन्द्रियजातिवससुभगादेयश कतिपयसिनादारतीर्थकौवैगौरुपूणा त्रयोदशप्रकृतौना सत्ताव्यवच्छेद । अन्ये ल्याह—'मनुष्याणुपूर्वो द्विचरमसमये व्यपच्छेद उदयाभावान्, उदयवतीना हि त्तिउत्तकममामामाम् स्वरूपेण चरम समयं दलिक दृश्यत एवेति युक्तस्तासा चरमसमये सत्ताव्यवच्छेद । आनुपूर्वणा च चतसृणामपि क्षेत्रत्रिपाकृत्याऽपान्त-रालगतावेवेदिय इति न भगवत्य लतुदयममम इत्ययोग्यवस्थाद्विचरमसमय एव मनुष्याणुपूर्व्या सत्ताव्यवच्छेद । तन्मते द्विचरमसमये तिससते, चरमसमये च द्वादशाना सत्ताव्यवच्छेद । क म य उ टी गृ ६४ × चयो-दशैता नरुती क्षपयिवात्तिमे क्षणे । अयोगिकेवली सिद्धजैमित्तैल्लकारुपम ॥ मतान्तरेऽनानुपूर्वी क्षिपयुपात्तिमक्षणे । तत्तिससति तत्र द्वादशानये क्षणे क्षिपिन् ॥ लो म १, १२७५, १२७६

२ बोच्छेदो दुविहो उप्पादाणुच्छेदो अणुप्पादाणुच्छेदो चेदि । उप्पाद सत्त, अनुच्छेदो विनाश अमान निरूपित इति यावत् । उप्पाद एव अनुच्छेद उप्पादाणुच्छेद भाव एव अभाव इति यावत् । एसो दव्यट्टियणयव्यन-हरो । अनुप्पाद असत्त, अनुच्छेदो विनाश । अनुप्पाद एव अनुच्छेद, उप्तत अभाव इति यावत् । मत असत्त्वनिर्वाण । एसो पञ्चद्वियणयव्यवहरो । धवला अ गृ ५७७



उपयामगच्छि मात्रा ते उवाममगा ।

गदि-मगगानयन-देगदिमिह गुण-मगगण्डं मुत्तमाह—

देवा चदुसु द्रुणेषु अत्थि मिच्छाइद्दी सासणसम्माइद्दी सम्मा-  
मिच्छाइद्दी असंजदसम्माइद्वि सिं ॥ २८ ॥

देवाश्रुतुं यानेषु सन्ति । कानि तानीति चेन्मिथ्यादृष्टिः मासादनमस्यदृष्टिः  
गम्यमिथ्यादृष्टिः अमंयवमस्यदृष्टियेति । प्रागुक्तार्थत्वचैतेषां गुणस्थानानामिह  
मरूपमुच्यते ।

उपयामक कृतने ः ।

विशेषार्थ—चौरसत्तं गुणस्थानं अधिकसे अधिक पचास्मी प्रकृतियोंकी सत्ता रहती  
ः । अतसे गन्तर प्रकृतियोंका उपान्त्य समयमें और उदयागत बारह तथा मनुष्यगत्यानुपूर्वी  
इमप्रकार तेरह प्रकृतियोंका अन्त समयमें क्षय होता है । सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, गोमटसार  
नादि प्रयोगोंमें इसी एक मतका उल्लेख मिलता है । न्तु ऊपर मनुष्यगत्यानुपूर्वीका उपान्त्य  
समयमें भी उपर उक्तता गया है, जिसका उल्लेख कर्मप्रकृति आदि ग्रन्थोंमें भी मिलता है ।  
नया उमकी पुष्टिके लिये उमप्रकार समर्थन भी किया गया है कि अनुदयप्रान्त प्रकृतियोंका  
निर्गुणत्वप्रमाणके द्वारा उदयागत बारह प्रकृतियोंमें ही उपान्त्य समयमें संक्रमण हो जाता  
है । अत मनुष्यगत्यानुपूर्वीका भी उपान्त्य समयमें ही सत्त्वनाश हो जाता है,  
स्योंकि, मनुष्यगत्यानुपूर्वीका उदय केवल विप्रदृगतिके गुणस्थानोंमें ही होता है, शेषमें  
नहीं । इन प्रकार दूसरे आचार्योंके मतानुसार उपान्त्य समयमें मनुष्यगत्यानुपूर्वी-सहित तेरहतर  
और अन्य समयमें बारह प्रकृतियोंका सत्त्व नाश होता है ।

अथ गतिमार्गणाके अवयवनप देवगतिमें गुणस्थानोंके अन्वेषण करनेके लिये आगेका  
मंत्र कृतने है—

मिथ्यादृष्टिः सामादनसम्यदृष्टिः, सम्ममिमिथ्यादृष्टि और अस्यतसम्यदृष्टि, इन चार  
गुणस्थानोंमें देव पाये जाते हैं ॥ २८ ॥

देव चार गुणस्थानोंमें पाये जाते हैं ।

अंका—वे चार गुणस्थान जौनेमें हैं ?

समाधान—मिथ्यादृष्टि, सामादनसम्यदृष्टि, सम्यमिमिथ्यादृष्टि और अस्यतसम्यदृष्टि,  
समप्रकार देवोंके चार गुणस्थान जौते हैं ।

इस गुणस्थानोंका रक्षण पहले कह आये है, इसलिये यहा पर उनका स्वरूप पुनः  
नहीं कहने हैं ।

१ देवोंमें बारह । ५ मि १, २

अथ साद्यासु याभिर्वा जीवाः सृज्यन्ते ताः मार्गणा इति श्राप् मार्गणाञ्चन्द्रस्य  
निरुक्तिरुक्ता, आपं चैवत्सु गुगस्थानेषु नारकाः सन्ति, तिर्यक्षः सन्ति, मनुष्याः सन्ति,  
देवाः सन्तीति गुणस्थानेषु अन्विष्यन्ते, अतस्तद्व्याख्यानमार्गपरिबद्धमिति नैप दोषः,  
' गिरय-गईए गेरईएषु मिच्छाइद्दी दवपमाणेण केमडियां ' इत्यादिभगवद्-भूतवलि-  
भङ्गाररुमुपारुमलविनिर्गतगुणसंख्यादिप्रतिपादकशुश्रुथाश्रेण तत्रिरुक्तेरतारात् । कथम-  
नयोर्भूतवलिपुष्पदन्तनाकस्योर्न निरोध इति चेन्न विरोधः । कथमिदं तावत् ? निरूप्यते ।  
न तावदमिद्वेन असिद्धे चाभिद्धस्यान्वेषणं सम्भवति विरोधात् । नापि सिद्धे सिद्धस्यान्वे-  
षणं तत्र तस्यान्वेषणे फलाभावान् । ततः सामान्याकारेण सिद्धानां जीवानां गुणसत्त्वं  
द्रव्यसंख्यादिविशेषरूपेणासिद्धानां त्रिकोटिपरिणामात्मकानादिवन्धनवद्द्वैतदर्शनलक्षणा-  
त्सास्तित्वान्यथानुपपत्तितः सामान्याकारेणवगतानां गत्यादीनां मार्गणानां च विशेष  
तोऽनवगतानामिच्छतः आधाराद्येयभानो भवतीति नोभयव्ययययैरिरोधः ।

अंका—जिनमें अथवा जिनके द्वारा जीवोंका अन्वेषण किया जाता है उन्हें मार्गणा  
कहते हैं, इसप्रकार पहले मार्गणा शब्दही निरुक्ति कह आये है । और आपमें तो इतने  
गुणस्थानोंमें नारकी होते हैं, इतनेमें तिर्यच होते हैं, इतनेमें मनुष्य होते हैं और इतनेमें देव  
होते हैं, इसप्रकार गुणस्थानोंमें मार्गणाओंका अन्वेषण किया जा रहा है । इसलिये उक्त  
प्रकारसे मार्गणाकी निरुक्ति करना अर्थात्निरुद्ध है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, 'नरकगतिमें नारकियोंमें मिथ्यादृष्टि  
द्रव्यप्रमाणसे कितने हैं', इत्यादि रूपसे भगवान् भूतवलि भङ्गारकके मुख्य-कमलसे निकले हुए  
गुणस्थानोंका अचलम्बन लेकर सरया आदिके प्रतिपादक सूत्रोंके आशयसे उक्त निरुक्तिका  
अवनार हुआ है ।

अंका—तो भूतवलि और पुष्पदन्तके इन वचनोंमें विरोध क्यों न माना जाय ?

समाधान—उनके वचनोंमें विरोध नहीं है । यदि पूछो कि सप्रकार, तो आगे उनी  
वातका निरूपण करते हैं । असिद्धके द्वारा अथवा असिद्धमें असिद्धका अन्वेषण करना तो  
सभव नहीं है, क्योंकि, इसतरह अन्वेषण करनेमें तो विरोध आता है । उसीप्रकार सिद्धमें  
सिद्धका अन्वेषण करना भी उचित नहीं है, क्योंकि, सिद्धमें सिद्धका अन्वेषण करने पर कोई  
फल निपन्न नहीं होता है । इसलिये स्वरूपसामान्यकी अपेक्षा सिद्ध, किंतु गुण, सत्त्व,  
द्रव्य, संख्या आदि विशेषरूपसे असिद्ध जीवोंका अर्थात् जीवस्थानोंका और उत्पाद, व्यय  
और त्रौब्यरूपसे परिणामशील अनादि-कालीन बन्धनसे बंधे हुए, तथा ज्ञान और दर्शन लक्षण  
स्वरूप आत्माके अस्तित्वकी सिद्धि अन्यथा, अर्थात् गत्यादिकके अभावमें, हो नहीं सकती है,  
इसलिये सामान्यरूपसे जानी गईं और विशेषरूपसे नहीं जानी गईं ऐसी गति आदि मार्गणा-

अतीतसूत्रोक्तार्थविशेषप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रचतुष्टयमाह—

**तिरिक्खा सुद्धा एहंदिद्यप्पहुडि जाव असण्णि-पंचिंदिया ति ॥ २९ ॥**

एकमिन्द्रियं येषां त एकेन्द्रियाः । प्रभृतिरादिः, एकेन्द्रियान् प्रभृति कृत्वा, अध्याहृतेन कृतेत्यनेनाभिसम्बन्धादस्य नपुंसकता । असंज्ञिनश्च ते पञ्चेन्द्रियाश्च असंज्ञि-पञ्चेन्द्रियाः । यत्परिमाणमस्येति यावत् । यावदसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाः शुद्धास्तिर्यञ्चः । किमित्येतदुच्यत इति चेन्न, अन्यथाशुभ्यां गतावेकेन्द्रियादयोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्यन्ताः वर्तन्त इत्यवगमोपायाभावतस्तद्वद्वजिगमयिष्यै एतत्प्रतिपादनात् ।

असाधारणतिर्यञ्चः प्रतिपाद्य साधारणतिर्यञ्चं प्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

ओंका इच्छासे आधार-आधेयभाव बन जाता है। अर्थात् जब सामान्यरूपसे जाने गये गुणस्थान विवक्षित होते हैं तब वे आधार-भावको प्राप्त हो जाते हैं और मार्गणाए आधेयपदको प्राप्त होती हैं। उसीप्रकार जब सामान्यरूपसे जानी गई मार्गणाए विवक्षित होती हैं तब वे आधारभावको प्राप्त हो जाती हैं और गुणस्थान आधेयपदको प्राप्त होते हैं। इसलिये भूतबलि और पुण्यदन्त आचार्योंके वचनोंमें कोई विरोध नहीं समझना चाहिये ।

अब पूर्व सूत्रोंमें कहे गये अर्थके विशेष प्रतिपादन करनेके लिये आगेके चार सूत्र कहते हैं—

एकेन्द्रियसे लेकर असखी पचेन्द्रिय तकके जीव शुद्ध तिर्यच होते हैं ॥ २९ ॥

जिनके एक ही इन्द्रिय होती है उन्हें एकेन्द्रिय कहते हैं। प्रभृतिका अर्थ आदि है। 'एकेन्द्रियको आदि करके' इसप्रकारके अर्थमें, अध्याहृत 'कृत्वा' इस पदके साथ 'एकेन्द्रिय-प्रभृति' इस पदका सम्बन्ध होनेसे इस पदको नपुंसक-लिंग कहा है। जो असखी होते हुए पंचेन्द्रिय होते हैं उन्हें असखी-पंचेन्द्रिय कहते हैं। जिसका जितना परिमाण होता है, उसके उस परिमाणको प्रगट करनेके लिये 'यावत्' शब्दका प्रयोग होता है। इसप्रकार असखी पचेन्द्रिय तकके जीव शुद्ध तिर्यच होते हैं ।

शंका— इसप्रकारका सूत्र क्यों कहा ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, यदि उक्त सूत्र नहीं कहते तो 'इस (तिर्यच) गतिमें ही एकेन्द्रियको आदि लेकर असखी पचेन्द्रियतकके जीव होते हैं'; इस बातके जाननेके लिये कोई दूसरा उपाय नहीं था। अतः उक्त बातको जतानेके लिये ही उक्त सूत्रका प्रतिपादन किया गया है ।

असाधारण (शुद्ध) तिर्यचोंका प्रतिपादन कर अत्र साधारण (मिश्र) तिर्यचोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

**तिरिक्खा मिस्सा सण्णि-मिच्छाइट्टि-प्पहुडि जाव संजदासंजदा ति ॥ ३० ॥**

संज्ञिमिथ्यादृष्टिप्रभृति यावत्संयतासंयतास्तावतिर्यञ्चो मिथाः । न तिरश्चामन्यैः सह मिश्रणमवगम्यते, कथं ? न तावत्संयोगोऽस्यार्थः तस्योपरितनगुणेष्वपि सच्चात् । नैकत्वापत्तिरर्थः द्वयोरैकस्याभावतो द्वित्वादिनिबन्धनमिश्रतातुपपत्तेरिति । न प्रथम-विकल्पोऽनभ्युपगमात् । न द्वितीयविकल्पोक्तदोषोऽपि गुणकृतसाहचर्यमाश्रित्य तिरश्चो मनुष्यगतिजीवैर्मिश्रभावाम्भ्युपगमात् । तद्यथा, मिथ्यादृष्टिसादानसम्यग्दृष्टिसम्य-ग्मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टिगुणैर्गतित्रयगतजीवसाम्याच्चैस्ते मिथाः, संयत्संयत्सम्यगुणेन मनुष्यैः सह साम्यात्तिर्यञ्चो मनुष्यैः सहैकत्वमापन्ना इति ततो न दोषः । स्यान्मत्तं, गतिनिरूपणायामिन्यतो गुणाः अस्यां गतौ सन्ति न सन्तीति निरूपणयैवमवगम्यतेऽस्याः

संज्ञी-पंचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टिसे लेकर संयतासंयत-गुणस्थानतक तिर्यच मिथ्र होते हैं ॥३०॥  
संज्ञी-मिथ्यादृष्टिसे लेकर संयतासंयत तक तिर्यच मिथ्र है ।

शंका—तिर्यचोंका किसी भी गतिवाले जीवोंके साथ मिश्रण समझमें नहीं आता, क्योंकि, इस मिश्रणका अर्थ संयोग तो हो नहीं सकता है? यदि मिश्रणका अर्थ अन्य गतिवाले जीवोंके साथ संयोग ही लिया जाय, तो ऐसा संयोग तो छट्ठे आदि ऊपरके गुणस्थानोंमें भी पाया जाता है। और दो वस्तुओंका एकरूप हो जाना भी इस मिश्रणका अर्थ नहीं हो सकता है? यदि मिश्रणका अर्थ दो वस्तुओंका एकरूप दो जाना ही माना जाय, तो जब भिन्न भिन्न सत्तावाले दो पदार्थ एकरूप होंगे, तब दोमेंसे किसी एकका अभाव हो जानेसे द्वित्वादिके निमित्तसे पैदा होनेवाली मिश्रता नहीं बन सकती है ?

समाधान— प्रथम विकल्पसबन्धी दोष तो यहां पर लागू हो नहीं सकता, क्योंकि, यहां पर मिश्र शब्दका अर्थ दो पदार्थोंके संयोगरूप स्वीकार नहीं किया है। उचीतरह दूसरे विकल्पमें दिया गया दोष भी यहां पर लागू नहीं होता है, क्योंकि, यहां पर गुणकृत सामन्यताकी अपेक्षा तिर्यचोंका मनुष्यगतिके जीवोंके साथ मिश्रभाव स्वीकार किया है। आगे इसीको स्पष्ट करते हैं—

तिर्यचोंकी मिथ्यादृष्टि, सासादगसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, और असंयतसम्यग्दृष्टि-रूप गुणोंकी अपेक्षा तो तीन गतिमें रहनेवाले जीवोंके साथ समानता है, इसलिये तीन गति-वाले जीवोंके साथ तिर्यच जीव चौथे गुणस्थानतक मिश्र कहलाते हैं। और संयत्संयत्सम्यगुणकी अपेक्षा तिर्यचोंकी मनुष्योंके साथ समानता होनेसे तिर्यच मनुष्योंके साथ एकरूपको प्राप्त हुए। इसलिये पांचवें गुणस्थानतक मनुष्योंके साथ तिर्यचोंको मिश्र कहनेमें पूर्वोक्त दोष नहीं आता है।

शंका— गति-मार्गणाकी प्ररूपणा करने पर 'इस गतिमें इतने गुणस्थान होते हैं, और

गत्याः अनया गत्या मह गुणद्वारेण योगोऽस्ति नास्तीति, ततः पुनरिदं निरूपणमनर्थक-  
मिति न, तस्य दुर्मेधमामपि स्पष्टीकरणार्थत्वात् । 'प्रतिपद्यस्य बुद्धिसत्तार्थविषय-  
निर्णयत्वादनं नक्तवचनः फलम्' इति न्यायात् । अथवा न तिरश्चां मिथ्यात्वादि-  
मनुष्यादिमिथ्यात्वादिभिः समानः तिर्यङ्मनुष्यादिव्यतिरिक्तमिथ्यात्वादेरभावात् ।  
नापि तिर्यगादीनामेकनं चतुर्गतेरभावप्रमत्तात् । न चाभावो मनुष्येभ्यो व्यतिरिक्त-  
तिरश्चापुपलम्भादिति पर्यायनैकान्तावष्टम्भलेन केचिद् विश्रुतिपन्ना । न मिथ्यात्वादयः  
पर्यायाः जीवद्वयाद्विन्नाः कोपादशेरित तेषां तस्मात्पृथगुपलम्भादसेमे इति सम्बन्धा-  
नुपपत्तेश्च । ततस्तस्मात्तेषामभेदः । तथा च न गतिभेदो नापि गुणभेदः इति द्रव्यनै-  
कान्तावष्टम्भलेन केचिद्विश्रुतिपन्नास्तदभिप्रायकदर्थनार्थं वास्य सूत्रस्यावतारः । नाभि-

इतने नहीं' इत्यकारके निरूपण करतेसे ही यह जाना जाता है कि इस गतिकी इस गतिके  
साथ गुणस्थानोंकी अपेक्षा समानता है, इसकी समके साथ नहीं । इसलिये फिरसे इसका कथन  
रूचना निरूपण है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, अल्पबुद्धिवाले शिष्योंको भी विषयका स्पष्टीकरण हो  
जाये, इत्यर्थ इम कथनका यदा पर निरूपण किया है, क्योंकि, शिष्योंको जिज्ञासित-अर्थ  
संभवनी निर्णय उत्पन्न करा देना ही चक्रोंके चक्कोंका फल है, ऐसा न्याय है ।

अथवा, तिर्यचोंके मिथ्यात्वादि भाव मनुष्यादि तीन गतिस्वल्धी जीवोंके मिथ्यात्वादि  
भावोंके समान नहीं है, क्योंकि, तिर्यच और मनुष्यादिको छोड़कर मिथ्यात्वादि  
भागोंका स्वतन्त्र सङ्गल नहीं पाया जाता है । इसलिये जब कि तिर्यचादिकोंमें परस्पर  
भेद है, तो तदाश्रित भावोंमें भी भेद होना संभव है । यदि कहा जाय कि  
तिर्यचादिकोंमें परस्पर एकता अर्थात् अभेद है, तो भी कहना नहीं बन सकता  
है, क्योंकि, तिर्यचादिकोंमें परस्पर अभेद माननेपर चारों गतियोंके अभावका  
प्रमाण आजायगा । परतु चारों गतियोंका अभाव माना नहीं जा सकता है, क्योंकि, मनुष्योंसे  
अतिरिक्त तिर्यचोंकी उपलब्धि होती है । इसप्रकार पर्यायार्थिकत्वको ही एकान्तसे आश्रय  
करके कितने ही लोग विचारप्रस्त हैं । इसीप्रकार मिथ्यात्वादि पर्यायों जीवद्वयसे भिन्न नहीं  
हैं, क्योंकि, निम्नप्रकार तस्वार स्थानसे भिन्न उपलब्ध होती है, उसप्रकार मिथ्यात्वादिककी  
जीवद्वयसे पृथक् उपलब्धि नहीं होती है । और यदि भिन्न मान ली जायें तो ये मिथ्यात्वादिक  
पर्यायों इम जीव द्रव्यकी हैं, इमप्रकार सन्ध भी नहीं बनता है । इसलिये इन मिथ्यात्वादिक  
पर्यायोंका जीव-द्रव्यसे अभेद है । इमप्रकार जब मिथ्यात्वादिक पर्यायोंका जीवसे भेद सिद्ध  
नहीं होता है, तो गतियोंका भेद भी सिद्ध नहीं हो सकता है और न गुणस्थानोंका भेद ही  
भिन्न होता है । इमप्रकार केवल द्रव्यार्थिक त्वको ही एकान्तसे आश्रय करते कितने ही लोग  
विचारमें पड़े हुए हैं । इसलिये इन रेतों एकान्तियोंके अभिप्रायके गण्डन करतेके लिये

प्रायद्वयं घटते तथाप्रतिभामनात् । न च प्रमाणानुसार्थ्यभिप्रायः साधुरव्यवसायपत्तेः । न  
च जीवद्वैते द्वैते वा प्रमाणमस्ति कृत्स्नसैकत्वादेशेदेरित सचातोऽप्यन्यतो भेदात् ।  
न प्रसेयस्यापि सत्त्वमपेक्षितप्रमाणव्यापारस्य तस्य प्रमाणाभावे सचायोगात् । प्रमाणं  
वस्तुनो न कारकमतो न तद्विनाशद्वस्तुविनाश इति चेन्न, प्रमाणाभावे वचनाभावतः  
सकलव्यवहारोच्छिद्यप्रसङ्गात् । अस्तु चेन्न, वस्तुविषयनिधिप्रतिपेयोरप्यभावासङ्गनात् ।  
अस्तु चेन्न, तथातुपलम्भात् । ततो विधिप्रतिपेधात्मकं वस्त्वित्यङ्गीकृतव्यम्, अन्यथोक्त-  
दोषानुपद्गात् । ततः सिद्धं गुणद्वारेण जीवानां सादृश्यं विशेषरूपेणारादृश्यमिति । गुण-  
स्थानमार्गणात् जीवसमासान्वेषणार्थं वा ।

तिरिक्त्वा मिस्था' इत्यादि प्रकृत सूत्रका अवतार हुआ है । उक्त दोनों प्रकारके एकान्तरूप,  
अभिप्राय घटित नहीं होते हैं, क्योंकि, सर्वथा एकान्तरूपसे वस्तु-स्वरूपकी प्रतीति नहीं होती  
है । और प्रमाणसे प्रतिकूल अभिप्राय ठीक नहीं माना जा सकता, अन्यथा सब जगह अव्यवस्था  
प्राप्त हो जायेगी । तथा जीवद्वैत ( जीव और मनुष्यादि पर्यायोंके सर्वथा अभेद ), या जीव-द्वैत  
( जीव और मनुष्यादि पर्यायोंके सर्वथा भेद ) के माननेमें कोई प्रमाण नहीं है । यदि जीव-  
द्वैतवादको प्रमाण मानते हैं तो नरक तिर्यच आदि सभी पर्यायोंको एकताकी आपत्ति आजाती  
है । और यदि जीव-द्वैतवादको प्रमाण मानते हैं तो देशभेद आदिकी तरह वस्तुका सत्ताकी अपेक्षा  
पर पदार्थसे भी भेद सिद्ध हो जाता है । इसप्रकार द्वैतवाद या अद्वैतवादमें प्रमाण नहीं मिलनेसे  
प्रमेयका भी सत्त्व सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि, प्रमाणके व्यापारकी अपेक्षा रखनेवाले प्रमेयका  
प्रमाणके अभावमें सद्भाव नहीं बन सकता है ।

शंका—प्रमाण वस्तुका कारण ( उत्पादक ) नहीं है, इसलिये प्रमाणके विनाशसे  
वस्तुका विनाश नहीं माना जा सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, प्रमाणके अभाव होने पर वचनकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती  
है, और उसके विना संपूर्ण लोकव्यवहारके विनाशका प्रसंग आता है ।

शंका—यदि लोकव्यवहार विनाशको प्राप्त होता है, तो हो जाओ ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, ऐसा मानने पर वस्तु-विषयक विधि-प्रतिपेयका भी  
अभाव प्राप्त हो जायगा ।

शंका—यह भी हो जाओ ?

समाधान—ऐसा भी नहीं है, क्योंकि, वस्तुका विधि-प्रतिपेयरूप व्यवहार देना  
जाता है । इसलिये विधि-प्रतिपेधात्मक वस्तु स्वीकार कर लेना चाहिये । अन्यथा ऊपर ऊपर ऊपर  
हुए संपूर्ण दोग प्राप्त हो जायेंगे । इसलिये यह सिद्ध हुआ कि गुणोंकी मुख्यतासे जीवोंके  
परस्पर समानता है, और विशेष ( पर्याय ) की मुख्यतासे परस्पर भिन्नता है ।

अथवा, गुणस्थानों और मार्गणाओंमें जीवसमासोंके अन्वेषण करनेके लिये यह सूत्र

२ स यतो ' त्वेदिग ' इति पाठ । २ य क यतो ' गणजननात् ' इति पाठ ।

इदानीं मनुष्याणां गुणद्वारेण साहस्रयासाहस्रप्रतिपादनार्थमाह—  
**मणुस्सा भिस्सा मिच्छाइट्टिपहुडि जाव संजदासंजदा सि ॥३॥**  
 आदित्तत्तुं गुणस्थानेषु ये मनुष्यास्ते मिथ्यात्वादिभिश्चतुर्भिर्गुणैस्त्रिगतिर्जीवैः  
 समानाः सयमांसंयमेन तिर्यग्भिः ।

**तेण परं सुद्धा मणुस्सा ॥ ३२ ॥**

श्रेणुणानां मनुष्यगतित्वयतिरिक्तगतिश्चसम्भवाच्छ्रेणुणा मनुष्येष्वेव सम्भवन्ति  
 उपरितगुणैर्मनुष्याः न कैश्चित्समाना इति यावत् । देवनरकगत्योः साहस्रयमसाहस्रं  
 वा किमिति नोक्तमिति चेन्न, आभ्यामेव प्ररूपणाभ्यां मन्दमेधसामपि तदवगमो-  
 त्पचेरिति ।

इन्द्रियमार्गणायां गुणस्थानान्वेषणार्थमुत्तरसूत्रमाह—

**इंदियाणुवादेण अत्थि एइंदिया बीइंदिया तीइंदिया चदुरिंदिया  
 पंचिंदिया अणिंदिया चेदि ॥ ३३ ॥**

स्वा गया है ।

अब मनुष्योंकी गुणस्थानोंके द्वारा समानता और असमानताके प्रतिपादन करनेके  
 लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

मिथ्यादृष्टियोंसे लेकर सयतासयततकके मनुष्य मिथ्य हैं ॥ ३१ ॥

प्रथम गुणस्थानसे लेकर चार गुणस्थानोंमें जितने मनुष्य हैं वे मिथ्यात्वादि चार  
 गुणस्थानोंकी अपेक्षा तीन गतिके जीवोंके साथ समान हैं और संयमांसंयमगुणस्थानकी  
 अपेक्षा तिर्यवोंके साथ समान हैं ।

पाचवें गुणस्थानसे आगे शुद्ध (केवल) मनुष्य हैं ॥ ३२ ॥

प्रारम्भके पांच गुणस्थानोंको छोड़कर शेष गुणस्थान मनुष्यगतिके विना अन्य तीन  
 गतियोंमें नहीं पाये जाते हैं, इसलिये शेष गुणस्थान मनुष्योंमें ही सभव हैं । अतः छत्रवे आदि  
 ऊपरके गुणस्थानोंकी अपेक्षा मनुष्य अन्य तीन गतिके किन्हीं जीवोंके साथ समानता नहीं  
 रखते हैं । यह इस सूत्रका तात्पर्य समझना चाहिये ।

शंका—देव और नरकगतिके जीवोंकी अन्य गतिके जीवोंके साथ समानता और  
 असमानताका कथन क्यों नहीं किया ?

समाधान—अलग कथन करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि, तिर्यच और  
 मनुष्यसंबन्धी प्ररूपणाओंके द्वारा ही मन्दबुद्धि जनकोंकी भी देव और नारकियोंकी दूसरी गति-  
 वाले जीवोंके साथ सदृशता और असदृशताका ज्ञान हो जाता है ।

अब इन्द्रियमार्गणमें गुणस्थानोंके अन्वेषणके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

इन्द्रियमार्गणाकी अपेक्षा एकैन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय और  
 अनिन्द्रिय जीव होते हैं ॥ ३३ ॥

इन्दनादिन्द्रः आत्मा, तसेन्द्रस्य लिङ्गमिन्द्रियम् । इन्द्रेण सृष्टमिति वा इन्द्रियम् ।  
 तद् द्विविधं, द्रव्येन्द्रियं भवेन्द्रियं चेति । निर्दुच्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम्, निर्दुच्यत इति  
 निर्दुचिः, कर्मणा या निर्दुच्यते निष्पाद्यते सा निर्दुचितिरित्युपदिश्यते । सा निर्दुचिर्द्विविधा  
 बाह्याभ्यन्तरभेदात् । तत्र लोकप्रमितानां विद्युद्धानामात्मप्रदेशानां प्रतिनियत-  
 चक्षुरादीन्द्रियसंस्थानेनावस्थितानामुत्सेधाङ्गुलस्यासंख्येयभागप्रमितानां वा वृत्तिरभ्यन्तरा  
 निर्दुचिः ।

आह, चक्षुरादीनामिन्द्रियाणां क्षयोपशमो हि नाम स्पर्शनेन्द्रियस्येव किञ्च सर्वात्म-  
 प्रदेशेषूपजायते, उत प्रतिनियतेष्विति ? किं चातः, नं सर्वात्मप्रदेशेषु स्वसर्वावयवैः रूपा-  
 षुपलब्धिप्रसङ्गात् । अस्तु चेन्न, तथातुपलम्भात् । नं प्रतिनियतात्मावयवेषु, वृत्तेः 'सिया

इन्दन अर्थात् पेश्वर्याशाली होनेसे यहा इन्द्र शब्दका अर्थ आत्मा है, और उस इन्द्रके  
 लिंग (चिन्ह) को इन्द्रिय कहते हैं । अथवा जो इन्द्र अर्थात् नामकर्मसे रची जावे उसे इन्द्रिय  
 कहते हैं । वह इन्द्रिय दो प्रकारकी है, द्रव्येन्द्रिय और भवेन्द्रिय । निर्दुचि और उपकरणको  
 द्रव्येन्द्रिय कहते हैं । जो निर्दुच होती है अर्थात् कर्मके द्वारा रची जाती है, उसे निर्दुचि कहते  
 हैं । बाह्य-निर्दुचि और आभ्यन्तर-निर्दुचिके भेदसे वह निर्दुचि दो प्रकारकी है । उनमें, प्रतिनियत  
 चक्षु आदि इन्द्रियोंके आकाररूपसे परिणत हुए लोकप्रमाण अवयव उरसेधागुलके असंख्य, तत्र  
 भागप्रमाण विद्युद् आत्मप्रदेशोंकी रचनाको आभ्यन्तर निर्दुचि कहते हैं ।

शंका—जिसप्रकार स्पर्शन-इन्द्रियका क्षयोपशम संपूर्ण आत्मप्रदेशोंमें उत्पन्न होता  
 है, उसीप्रकार चक्षु आदि इन्द्रियोंका क्षयोपशम क्या संपूर्ण आत्मप्रदेशोंमें उत्पन्न होता है, या  
 प्रतिनियत आत्मप्रदेशोंमें ? आत्माके संपूर्ण प्रदेशोंमें क्षयोपशम होता है, यह तो माना नहीं जा  
 सकता है, क्योंकि, ऐसा मानने पर आत्माके संपूर्ण अवयवोंसे रूपादिककी उपलब्धिका प्रसंग आ  
 जायगा । यदि कहा जाय, कि संपूर्ण अवयवोंसे रूपादिककी उपलब्धि होती ही है, सो यह भी  
 कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, सर्वांगसे रूपादिका ज्ञान होता हुआ पाया नहीं जाता । इसलिये  
 सर्वांगमें तो क्षयोपशम माना नहीं जा सकता है । और यदि आत्माके प्रतिनियत अवयवोंमें

? इवतीति इन्द्र नामा, तस्य इत्यभासस्य तदानरणक्षयोपशमे सति स्वयमर्थान् ग्रहीतुममर्थस्य यदयो-  
 पलब्धिप्रतिभित्ति लिंग तदिन्द्रस्य लिंगमिन्द्रियमित्युच्यते । अयमा लीनमर्थं गमयतीति लिंगम् । आत्मन सूक्ष्मस्थासि-  
 त्वाधिक्यमे लिंगमिन्द्रियम् । अयमा 'इन्द्र' इति नामकमोच्यते, तेन मृष्टमिन्द्रियमिति । स सि १, १४

२ भाग चित्परिणाम, तदात्मनमिन्द्रिय मानेन्द्रियम् । गो जी, जी प्र, टी १६५

३ जातिनामवचोदयग्रहणरि देहनामरूपोदयजनित निर्दुच्युपकरणरूप देहविहृद् द्रव्येन्द्रियम् ।

गो जी, जी प्र, टी. १६५

४ त मू. २, १७ ५ त रा मा पु ९०

६ उरसेधागुलमख्येयभागप्रमितानां शुद्धानामात्मप्रदेशानां प्रतिनियतचक्षुरादीन्द्रियस्थानेनावस्थितानां वृत्ति-  
 रभ्यन्तरा निर्दुचि । स मि २, १७ त रा मा २ १७

७ अ क प्रकी 'न' इति पाठ नास्ति, 'नोपलम्भात्' न 'इति च स्थानं 'नोपलम्भात्' इति पाठ ।

द्रिया, मिया श्रद्धिया, मिया द्रियाद्विया” इति वेदनाश्रद्धयोः स्वगतश्रमणेषु जीवप्रदेशेषु प्रचलत्सु मर्जीवानामन्यप्रमत्तादिति नैय दोषः, मर्जीवानयवेषु श्रयोपशमस्योत्पत्त्यभ्युपगमात् । न मर्जीवयोः स्याद्युपलब्धिश्चपि तन्महत्तात्कारणत्वात्निवृत्तेशोपजीवावयवव्यापित्वाभावात् । कर्मकर्मणः मह मर्जीवानयवेषु श्रमणसु तन्ममेवतगरिस्स्यापि तद्वद्भ्रमो भवेदिति च । आदि इन्द्रियाणां श्रयोपशम माना जाय, सो भी कहना नहीं मन्ता है, क्योंकि, ऐसा मान लेने पर ‘जन्ममर्षा यत् भी है, अचल भी है और चलाचल भी है’ इसप्रकार वेदनाश्रमणयुक्तके मर्त्रने आत्मप्रदेशोंका श्रमण अवगत हो जाने पर, जीवप्रदेशोंकी श्रमणरूप अवस्थाओंमें संपूर्ण मर्जीवोंको श्रमणनेका प्रसंग आ जायगा, अर्थात् उस समय चक्षु आदि इन्द्रियों रूपादिको श्रमण नहीं कर सकेंगी ?

यमाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, जीवके संपूर्ण प्रदेशोंमें श्रयोपशम की उपरति स्मृतिार ही है । परंतु ऐसा मान लेने पर भी, जीवके संपूर्ण प्रदेशोंके द्वारा रूपादिकी उपलब्धिका प्रमग भी नहीं आना है, क्योंकि, रूपादिके ग्रहण करनेमें सहकारी कारणरूप याप निवृत्ति जीवके संपूर्ण प्रदेशोंमें नहीं पाई जाती है ।

पिथोपार्थ—ऊपर अभ्यन्तर निवृत्तिकी रचना दो प्रकारसे बतला आये है । प्रथम, लोकप्रमाण आत्मप्रदेशोंकी इन्द्रियाकार रचनाको अभ्यन्तर निवृत्ति कहा है । दूसरे, उत्सेधांगुलके अन्तर्गतों भागप्रमाण आत्मप्रदेशोंकी इन्द्रियाकार रचनाको अभ्यन्तर निवृत्ति कहा है । प्रथमकार अभ्यन्तर निवृत्तिकी रचना दो प्रकारसे बतलानेका यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि मर्जीव इन्द्रिय सर्वांग होती है, इसलिये स्पष्टनिन्द्रियसन्धी अभ्यन्तर निवृत्ति भी सर्वांग होगी । इन दोषोभामे लोकप्रमाण आत्मप्रदेशोंकी इन्द्रियाकार रचना अभ्यन्तर निवृत्ति कहाती है, यह फलतः मन जाना है और शेष इन्द्रियसंवन्धी अभ्यन्तर निवृत्ति उत्सेधांगुलके असत्यातंत्र भागप्रमाण मन जानी है । अथवा, ‘सर्वजीवावयवेषु श्रयोपशमस्योत्पत्त्यभ्युपगमात्’ अर्थात् जीवके संपूर्ण अन्तर्गतोंमें श्रयोपशमकी उत्पत्ति स्वीकार की है, ऊपर कहे गये इस वचनके अनुसार प्रत्येक इन्द्रियारण कर्मका श्रयोपशम की उत्पत्ति स्वीकार की है, ऊपर कहे गये इस वचनके अभ्यन्तर निवृत्ति सर्वांग होना सम्भव है । किंतु इतनी विशेषता समझ लेना चाहिये कि शरणीन्द्रियकी अभ्यन्तर निवृत्तिको श्रेष्ठतर शेष इन्द्रियसंवन्धी अभ्यन्तर निवृत्ति उत्सेधांगुलके असत्यातंत्रों भागप्रमाण आत्मप्रदेशोंमें ही व्यक्त होती है ।

शंका—कर्मकर्मणोः साव जीवके संपूर्ण प्रदेशोंके श्रमण करने पर, जीवप्रदेशोंसे

शंका—कर्मकर्मणोः साव जीवके संपूर्ण प्रदेशोंके श्रमण करने पर, जीवप्रदेशोंसे श्रमण नहीं होता, क्योंकि, यदि द्रव्येन्द्रिय-प्रमाण जीवप्रदेशोंका श्रमण नहीं माना जावे, तो अत्यन्त द्रुतगतिसे श्रमण करते हुए जीवोंको श्रमण करती हुई पृथिवी आदिका ग्रान नहीं हो सकता है । इसलिये आत्मप्रदेशोंके श्रमण करते समय द्रव्येन्द्रिय प्रमाण आत्मप्रदेशोंका भी श्रमण स्वीकार कर लेना चाहिये । इसतरह इन्द्रिय-व्यपदेशको प्राप्त होनेवाले उन आत्म-प्रदेशोंमें, जो प्रतिनियत आकारवाला और नामकर्मके उदयसे श्रवस्था-विशेषको प्राप्त पदुल-प्रचय है उसे ब्रह्म-निवृत्ति कहते हैं । मस्सूके समान आकारवाली और वनांगुलके असंख्यातंत्र-भाग-प्रमाण चक्षु इन्द्रियकी ब्रह्म-निवृत्ति होती है । यवकी नालीके सामान आकारवाली और

२ पाठोप्य न. ग. २. १७. वा ३-४ आख्या समान ।

चेन्न, तद्व्रमणान्थायां तत्समायाभावात् । शरीरेण समायाभावे मरणसादोक्त इति चेन्न, आयुषः श्रयस्य मरणहेतुत्वात् । पुनः कथं मंघटत इति चेन्नानाभेदोपसंहृतजीवप्रदेशानां पुनः मंघटनोपलम्भात्, द्वयोर्मृतयोः संघटने विरोधाभावाच्च, तत्संघटनहेतुकर्मोदयस्य कार्यवैचित्र्यादवगतवैचित्र्यस्य मत्त्वाच्च । द्रव्येन्द्रियप्रमितजीवप्रदेशानां न श्रमणमिति किञ्चेद्यत इति चेन्न, तद्व्रमणमन्तरेणाशुश्रमणजीवानां श्रमणम्यादिदर्शनानुपपत्तेः इति । तेष्वाम्प्रदेशेषु इन्द्रियव्यपदेशमाशु यः प्रतिनियतसंस्थानो नामकर्मोदयापादित्वावस्थाविशेषः पुद्गलप्रचयः स ब्रह्म निवृत्तिः । मस्सरिकाकारा अङ्गुलस्यासंख्येयभागप्रमिता चक्षुरिन्द्रियस्य ब्रह्मनिवृत्तिः । यवनालिकाकारा अङ्गुलस्यासंख्येयभागप्रमिता श्रोत्रस्य ब्रह्मा निवृत्तिः ।

समवायसवन्धको प्राप्त शरीरका भी जीवप्रदेशोंके समान श्रमण होना चाहिये ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि, जीवप्रदेशोंकी श्रमणरूप अवस्थाओंमें शरीरका उनसे समवायसवन्ध नहीं रहता है ।

शंका—श्रमणके समय शरीरके साथ जीवप्रदेशोंका समवायसवन्ध नहीं मानने पर मरण प्राप्त हो जायगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, आयु-कर्मके श्रयको मरणका कारण माना है ।

शंका—तो जीवप्रदेशोंका शरीरके साथ फिरसे समवायसवन्ध कैसे बन जाता है ?

समाधान—इसमें भी कोई बाधा नहीं है, क्योंकि, जिन्होंने नाना अवस्थाओंका उपसंहार कर लिया है, ऐसे जीवोंके प्रदेशोंका शरीरके साथ फिरसे समवायसवन्ध उपलब्ध होता हुआ देखा ही जाता है । तथा, दो मूर्त पदार्थोंके संवन्ध होनेमें कोई विरोध भी नहीं आता है । अथवा, जीवप्रदेश और शरीर संघटनके हेतुरूप कर्मोदयके कार्यकी विचित्रतासे यह सब होता है । और जिसके अनेक प्रकारके कार्य श्रमणमें आते हैं ऐसे कर्मका सब पाया ही जाता है ।

शंका—द्रव्येन्द्रिय-प्रमाण जीवप्रदेशोंका श्रमण नहीं होता, ऐसा क्यों नहीं मान लेते हो ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, यदि द्रव्येन्द्रिय-प्रमाण जीवप्रदेशोंका श्रमण नहीं माना जावे, तो अत्यन्त द्रुतगतिसे श्रमण करते हुए जीवोंको श्रमण करती हुई पृथिवी आदिका ग्रान नहीं हो सकता है । इसलिये आत्मप्रदेशोंके श्रमण करते समय द्रव्येन्द्रिय प्रमाण आत्मप्रदेशोंका भी श्रमण स्वीकार कर लेना चाहिये । इसतरह इन्द्रिय-व्यपदेशको प्राप्त होनेवाले उन आत्म-प्रदेशोंमें, जो प्रतिनियत आकारवाला और नामकर्मके उदयसे श्रवस्था-विशेषको प्राप्त पदुल-प्रचय है उसे ब्रह्म-निवृत्ति कहते हैं । मस्सूके समान आकारवाली और वनांगुलके असंख्यातंत्र-भाग-प्रमाण चक्षु इन्द्रियकी ब्रह्म-निवृत्ति होती है । यवकी नालीके सामान आकारवाली और



अतिमुक्तपुरुषसंस्थाना अङ्गुलस्यासंख्येयभागप्रमिता प्राणनिर्वृत्तिः । अर्धचन्द्राकारा क्षुरायाकारा बाङ्गुलस्य संख्येयभागप्रमिता रसननिर्वृत्तिः । स्पर्शनेन्द्रियनिर्वृत्तिरनियत-संस्थानो। सा जघन्येन अङ्गुलस्यासंख्येयभागप्रमिता ब्रह्मशरीरेण, उक्तपेण संख्येययनाङ्गुल-प्रमिता महामस्यादित्यसजीवेपुं । सर्वतः स्तोकाश्चतुषुः प्रदेशाः, श्रोत्रेन्द्रियप्रदेशाः संख्येयगुणाः, घ्राणेन्द्रियप्रदेशा विशेषाधिकाः, जिह्वायामसंख्येयगुणाः, स्पर्शने संख्येय-गुणाः । उक्तं च—

घनागुलके असंख्यातवें भाग-प्रमाण श्रोत्र इन्द्रियकी बाह्य-निर्वृत्ति होती है। कदम्बके फूलके समान आकारवाली और घनागुलके असंख्यातवें भाग-प्रमाण घ्राण-इन्द्रियकी बाह्य निर्वृत्ति होती है। अर्ध-चन्द्र अथवा खुरपाके समान आकारवाली और घनागुलके असंख्यातवें भाग-प्रमाण रसना इन्द्रियकी बाह्य-निर्वृत्ति होती है। स्पर्शनेन्द्रियकी बाह्य-निर्वृत्ति अनियत आकारवाली होती है। वह जघन्य-प्रमाणकी अपेक्षा घनागुलके असंख्यातवें भाग-प्रमाण सूक्ष्मनिगेदिया लब्धपर्याप्तक जीवके (तीन मोड़से उत्पन्न होनेके तृतीय समयवर्ती) शरीरमें पाई जाती है, और उत्कृष्ट प्रमाणकी अपेक्षा संख्यात घनागुल प्रमाण महामस्य आदि त्रस-जीवके शरीरमें पाई जाती है। चक्षु-इन्द्रियके अवगाहनारूप प्रदेश सबसे कम है। उनसे संख्यात-गुणे श्रोत्र इन्द्रियके प्रदेश है। उनसे अधिक घ्राण-इन्द्रियके प्रदेश है। उनसे असंख्यातगुणे जिह्वा-इन्द्रियमें प्रदेश है। और उनसे संख्यातगुणे स्पर्शनेन्द्रियमें प्रदेश है।

विशेषार्थ—ऊपर इन्द्रियोंकी अवगाहना बतला कर जो चक्षु आदि इन्द्रियोंके प्रदेशोंका प्रमाण बतलाया गया है, वह इन्द्रियोंकी अवगाहनाके तारतम्यका ही बोधक जानना चाहिये। अर्थात् चक्षु इन्द्रिय अपनी अवगाहनासे जितने आकाश-प्रदेशोंको रोक्ती है, उससे संख्यात-गुणे आकाश प्रदेशोंको व्याप्त कर श्रोत्रेन्द्रिय रहती है। उससे विशेष अधिक आकाशप्रदेशोंको घ्राण इन्द्रिय व्याप्त करती है। उससे असंख्यातगुणे आकाशप्रदेशोंको व्याप्त कर जिह्वा-इन्द्रिय रहती है और उससे संख्यातगुणे आकाश प्रदेशोंको व्याप्त कर स्पर्शनेन्द्रिय रहती है। गोमटसार जीवकाण्डकी 'अगुलअसरभाग' इत्यादि गाथासे इसी कथनकी पुष्टि होती है। अवगाहनाके समान इन्द्रियाकार आत्मप्रदेशोंकी रचनामें भी यह क्रम लागू हो सकता है। परंतु राजवातिकमें 'स्पर्शनेन्द्रियके प्रदेश अनन्तगुणे अधिक बतलाये हैं। यह कथन इन्द्रियोंकी अव-इन्द्रियसे स्पर्शनेन्द्रियके प्रदेश अनन्तगुणे अधिक बतलाये हैं। यह कथन इन्द्रियोंकी अव-गाहना और इन्द्रियाकार आत्मप्रदेशोंकी रचनामें किसी भी प्रकारसे घटित नहीं होता है, क्योंकि, एक जीवके अवगाहनारूप क्षेत्र और आत्मप्रदेश अनन्तप्रमाण या अनन्तगुणे सभब ही नहीं हो सकते। सभब है वहा पर बाह्यनिर्वृत्तिके प्रदेशोंकी अपेक्षसे उक्त कथन किया गया हो। कहा भी है—

१ छद्मनिगेदिएषलक्ष्यस्य जादस्य तदियमस्यसिंह। अगुलअसरभाग जर्हणमुत्तरात् मन्डे ॥ गो जी १७३

२ 'स्पर्शनेन्द्रियगुणा' इति पाठ त रा ना २ १९. ५

जव-गाळिया मसूरी चंददइसुत्त-कुल्ल-कुल्लाई ।  
इदिय-सठाणाइ परसे पुण णेय-सठाणं ॥ १३४ ॥

उपक्रियतेऽनेनेत्युपकरणम्, येन निर्वृत्तेरुपकारः क्रियते तदुपकरणम् । तद् द्विविधं बाह्याभ्यन्तरभेदात् । तत्राभ्यन्तरं कृष्णशुक्लमण्डलम् । बाह्यमक्षिपत्रप्रभमद्वयादि । एवं श्रोत्रेन्द्रियेषु ज्ञेयम् । लब्धुपयोगौ भवेन्द्रियम् । इन्द्रियनिर्वृत्तिहेतुः क्षयोपशमविशेषो लब्धिः । यत्सन्नियानाढात्सा द्रव्येन्द्रियनिर्वृत्ति प्रति व्याप्रियते स ज्ञानावरणक्षयोपशमविशेषो लब्धिरिति विज्ञायते । तदुक्तनिमित्तं प्रतीत्योत्पद्यमानः आत्मनः परिणामः उपयोग इत्यपदिश्यते । तदेतदुभयं भवेन्द्रियम् । उपयोगस्य तत्फलत्वादिन्द्रियव्यपदेशानुपपत्ति-

श्रोत्र-इन्द्रियका आकार यवकी नालीके समान है, चक्षु-इन्द्रियका मसूरके समान, रसना-इन्द्रियका आधे चन्द्रमके समान, घ्राण इन्द्रियका कदम्बके फूलके समान आकार है और स्पर्शनेन्द्रिय अनेक आकारवाली है ॥ १३४ ॥

जिसके द्वारा उपकार किया जाता है, अर्थात् जो निर्वृत्तिका उपकार करता है उसे उपकरण कहते हैं। वह वाता-उपकरण और अभ्यन्तर-उपकरणके भेदसे दो प्रकारका है। उनमेंसे कृष्ण और शुक्ल मण्डल नेत्र-इन्द्रियका अभ्यन्तर उपकरण है, और दोनों पलकों तथा दोनों नेत्रोम ( बरोली ) आदि उसके बाह्य-उपकरण हैं। इसीप्रकार शेष इन्द्रियोंमें जानना चाहिये ।

लब्धि और उपयोगको भवेन्द्रिय कहते हैं। इन्द्रियकी निर्वृत्तिका कारणभूत जो क्षयोपशम विशेष है उसे लब्धि कहते हैं। अर्थात् जिसके सन्निधानसे आत्मा द्रव्येन्द्रियकी रचनामें व्यापार करता है, ऐसे ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशम-विशेषको लब्धि कहते हैं। और उस पूर्वोक्त निमित्तके आलम्बनसे उत्पन्न होनेवाले आत्माके परिणामको उपयोग कहते हैं।

१ चक्षु र्गोद घाण जिभायार मसूजनगाली । अतिसुत्त नुत्पसम फास तु उणियमठाण ॥ गो जी १७३

२ पाठीइत्त रा ना २. १७ पा ५-७ ग्यात्ता समान ।

३ त स २ १८

४ अर्धप्रहणसत्तिलंय । लघो स मि १ ५ । गो जी, जी प्र, दो १६५ लम्बन लब्धि । क पुनरतो ? सापारणक्षयोपशमविशेष । त मि २ १८ इन्द्रियनिर्वृत्तिहेतु क्षयोपशमविशेषो लब्धि । त रा ना २ १८ १ स्वार्थमपिऽपगतं च लब्धि । त शो ना २ १८ आरण-उपशममात्तित्त्या अर्थग्रहण-शतिलंब्धि । सा र्ता पृ ३४४

५ अर्धग्रहणयापार उपयोग. । गो जी, जी प्र, दो १६५ उपयोग पुन अर्थग्रहणयापार । लघी स्व मि १ ५ यमन्निवामाकारा द्रव्येन्द्रियनिर्वृत्ति प्रति व्याप्रियते तन्निमित्त आमन परिणाम उपयोग । स मि २ १८ । त रा ना २ १८ ० उपयोग प्रणिधानम् । त भा २ १९ उपयोगसु रूपादिग्रहण व्यापार । सा र्ता पृ ३४४

६ उपयोगस्य फलत्वादिन्द्रियव्यपदेशानुपपत्तिरिति चेत्, कारणसंस्य र्ताभिर्नुचे । त रा ना २ १८ ३



मिति चेन्न, कारणधर्मस्य कार्यानुवृत्तः । कार्यं हि लोके कारणमनुवर्तमानं दृष्टं, यथा यदाकारपरिणतं विज्ञानं वद इति । तथेन्द्रियनिवृत्त उपयोगोऽपि इन्द्रियमित्यपदिश्यते । उन्मत्तस्य लिङ्गमिन्द्रेण मृष्टमिति वा य इन्द्रियगन्धार्थः स क्षयोपगमे प्राधान्येन विद्यत इति तन्मेन्द्रियव्यपदेशो न्याय्य इति । तेन इन्द्रियेण अनुवादः इन्द्रियानुवादः, तेन मन्ति एकेन्द्रियाः । एकमिन्द्रियं येषां त एकेन्द्रियाः । किं तदेकमिन्द्रियम् ? स्पर्शनम् । रीर्यान्तरायम्पर्शनेन्द्रियारणश्रयोपगमाद्गोपाङ्गनामलाभावदृग्मात्स्मृगत्यनेनेति स्पर्शनं ऋणकारके । इन्द्रियस्य स्वातन्त्र्यविवक्षायां कर्तृत्वं च भवति । यथा पूर्वोक्तेहेतुसन्निधाने मति मृष्टमिति स्पर्शनम् । कोऽस्य विषयः ? स्पर्शः । कोऽस्यार्थः ? उच्यते, यदा वस्तु

प्रकारकार लब्धि ओर उपयोग ये दोनों भावेन्द्रियां हैं ।

अज्ञा—उपयोग इन्द्रियोंका फल है, क्योंकि, उसकी उत्पत्ति इन्द्रियोंसे होती है, इसलिये उपयोगको इन्द्रिय संग देना उचित नहीं है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, कारणमें रहेवाले धर्मकी कार्यमें अनुवृत्ति होती है । अर्थात् कार्य लोकेमें कारणका अनुकरण करता हुआ देखा जाता है । जैसे, वटके आकारसे परिणत हुए गलको वट कला जाता है, उन्मीप्रकार इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुए उपयोगको भी इन्द्रिय संग देी गई है ।

इन्द्र ( आत्मा ) के लिंगको इन्द्रिय कहते हैं । या जो इन्द्र अर्थात् नामकर्मसे स्वी गई है उसे इन्द्रिय कहते हैं । इसप्रकार जो इन्द्रिय शब्दका अर्थ किया जाता है, वह श्रयोपगममें प्रधानतासे पाया जाना है, इसलिये उपयोगको इन्द्रिय संग देना उचित है ।

उक्त प्रकारही इन्द्रियकी अपेक्षा जो अनुवाद, अर्थात् आगमानुकूल कथन किया जाना है उसे इन्द्रियानुवाद कहते हैं । उसकी अपेक्षा एकेन्द्रिय जीव है । जिनके एक ही इन्द्रिय पारि जाती है उन्हें एकेन्द्रिय जीव कहते हैं ।

शंका—वह एक इन्द्रिय कौनसी है ?

समाधान—वह एक इन्द्रिय स्पर्शन समझना चाहिये ।

रीर्यान्तराय और स्पर्शनेन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपगमसे तथा आगोपाग नामकर्मके उर्वरूप भालयनसे जिसके द्वारा आत्मा पदार्थोंको स्पर्श करता है, अर्थात् पदार्थगत स्पर्श-धर्मकी मुख्यतासे जानता है, उसे स्पर्शन इन्द्रिय कहते हैं । यह लक्षण करण-कारककी अपेक्षाओं ( परतन्त्र विषयोंमें ) बनता है । और इन्द्रियकी स्वातन्त्र्यविवक्षाओं कर्तृसाधन भी होता है । जैसे, पूर्वोक्त साधनोंके गृहने पर जो स्पर्श करती है उसे स्पर्शन-इन्द्रिय कहते हैं ।

शंका—स्पर्शन-इन्द्रियका विषय क्या है ?

३ मन्मोप त. रा वा २ २८ अ १-३ न्याय्या ममान ।

३ ग ति ३ १९ त रा ग २ १९

प्राधान्येन विनाशितं तदा इन्द्रियेण वस्त्वेव विषयीकृतं भवेद् वस्तुव्यतिरिक्तस्पर्शाद्यभावात् । एतस्यां विवक्षायां स्पृश्यत इति स्पर्शी वस्तु । यदा तु पर्यायः प्राधान्येन विवक्षितस्तदा तस्य ततो भेदोपपत्तेरौदासीन्यावस्थितभावकथनाद्भ्रविषाधानत्वमप्यविरुद्धम्, यथा स्पर्शनं स्पर्शी इति । यद्येवम्, सूक्ष्मेण परमाणुवद्विषु स्पर्शव्यवहारो न प्राप्नोति तत्र तदभावात् ? नैप दोषः, सूक्ष्मेणपि परमाणुवद्विषु स्पर्शः स्थूलेषु तत्कार्येषु तद्दर्शनान्यथास्तुपपत्तेः । नक्षत्यन्तासतां प्रादुर्भावोऽस्त्यतिप्रसङ्गात् । किन्तु इन्द्रियग्रहणयोग्या न भवन्ति । ग्रहणा-योग्यानां कथं स व्यपदेश इति चेन्न, तस्य सर्वदायोग्यलाभावात् । परमाणुगतः सर्वदा

समाधान—स्पर्शन-इन्द्रियका विषय स्पर्शी है ।

शंका—स्पर्शका क्या अर्थ है ? अर्थात् स्पर्शसे किसका ग्रहण करना चाहिये ?

समाधान—जिस समय द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा प्रधानतासे वस्तु ही विवक्षित होती है, उस समय इन्द्रियके द्वारा वस्तुका ही ग्रहण होता है, क्योंकि, वस्तुको छोड़कर स्पर्शादिक धर्म पाये नहीं जाते हैं । इसलिये इस विवक्षामें जो स्पर्श किया जाता है उसे स्पर्शी कहते हैं, और वह स्पर्शी वस्तुरूप ही पड़ता है । तथा जिस समय पर्यायार्थिकनयकी प्रधानतासे पर्याय विवक्षित होती है, उससमय पर्यायका द्रव्यसे भेद होनेके कारण उदासीनरूपसे अवस्थित भावका कथन किया जाता है । इसलिये स्पर्शमें भावसाधन भी नन जाता है । जैसे, स्पर्शन ही स्पर्शी है ।

शंका—यदि ऐसा है, तो सूक्ष्म परमाणु आदिमें स्पर्शका व्यवहार नहीं वन सकता है, क्योंकि, उसमें स्पर्शनरूप क्रियाका अभाव है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, सूक्ष्म परमाणु आदिमें भी स्पर्शी है, अन्यथा, परमाणुओंके कार्यरूप स्थूल पदार्थोंमें स्पर्शकी उपलब्धि नहीं हो सकती थी । किन्तु स्थूल पदार्थोंमें स्पर्श पाया जाता है, इसलिये सूक्ष्म परमाणुओंमें भी स्पर्शकी सिद्धि हो जाती है, क्योंकि, न्यायका यह सिद्धान्त है, कि जो अत्यंत ( सर्वथा ) असत् होते हैं उनको उत्पत्ति नहीं होती है । यदि सर्वथा असत्की उत्पत्ति मानी जावे तो अतिप्रसंग हो जायगा । ( अर्थात् बाँझके पुत्र, आकारके फूल आदि अविद्यमान बातोंका भी प्रादुर्भाव मानना पड़ेगा ) इसलिये यह समझना चाहिये कि परमाणुओंमें स्पर्शादिक पाये तो अवश्य जाते हैं, किन्तु वे इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण करने योग्य नहीं होते हैं ।

शंका—जब कि परमाणुओंमें रहनेवाला स्पर्श इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता है, तो फिर उसे स्पर्शी सबा कैसे दी जा सकती है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, परमाणुगत स्पर्शके इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण करनेकी योग्यताका सदैव अभाव नहीं है ।

३ 'नेनामतो जन्म मतो न नागो' इ त्त स्तो २४ नामतो विद्यते मातो नामातो विद्यते गत । मग. गो २ १६.

२ प्रत्यधीय त रा वा २ २० १. व्याख्या समान ।

न ग्रहणयोग्यश्चेन्न, तस्यैव स्थूलकार्याकारेण परिणतौ योग्यत्वोपलम्भात् । के त एकेन्द्रियाः? पृथिव्यन्तेजोवायुवनस्पतयः । एतेषां स्पर्शनमेकमेवेन्द्रियमस्ति, न शेषाणीति कथमवगम्यत इति चेन्न, स्पर्शनेन्द्रियवन्त एत इति प्रतिपादकार्योपलम्भात् । क तत्स्रष्टमिति चेत्कथ्यते—

जाणदि पस्सदि भुजदि सेवदि पस्सिदिएण एक्केण ।

कुणदि य तस्सामिच्च थावर एइदिओ तेण ॥ १३५ ॥

‘वनस्पत्यन्तानामेकम्’ इति तत्सार्थसूत्राद्वा । अस्यार्थः, अयमन्तशब्दोऽनेकार्थवाचकः, क्वचिदवयवे, यथा वृक्षान्तो वसनान्त इति । क्वचित्सामीप्ये, यथा उदकान्तं गतः, उदकसमीपं गत इति । क्वचिद्वसाने वर्तते, यथा संसारान्तं गतः, संसारावसानं

शंका—परमाणुमें रहनेवाला स्पर्श तो इन्द्रियोंद्वारा कभी भी ग्रहण करने योग्य नहीं है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जब परमाणु स्थूल कार्यरूपसे परिणत होते हैं, तब तद्गत धर्मोंकी इन्द्रियोंद्वारा ग्रहण करनेकी योग्यता पाई जाती है ।

शंका—वे एकेन्द्रिय जीव कौन कौनसे हैं ?

समाधान—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, और वनस्पति, ये पांच एकेन्द्रिय जीव हैं ।

शंका—इन पांचोंके एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है, शेष इन्द्रियां नहीं होती, यह कैसे जाना ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, पृथिवी आदि एकेन्द्रिय जीव एक स्पर्शन-इन्द्रियवाले होते हैं, इसप्रकार कथन करनेवाला आर्ष-वचन पाया जाता है ।

शंका—यह आर्ष-वचन कहाँ पाया जाता है ?

समाधान—यह आर्ष-वचन यहाँ कहा जाता है—

स्यौंकि, स्यावर जीव एक स्पर्शन इन्द्रियके द्वारा ही जानता है, देखता है, खाता है, सेवन करता है और उसका स्वामीपना करता है, इसलिये उसे एकेन्द्रिय स्थावर जीव कहा है ॥ १३५ ॥

अथवा, ‘वनस्पत्यन्तानामेकम्’ तत्सार्थसूत्रके इस वचनसे जाना जाता है कि उनके एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है । अब इस सूत्रका अर्थ करते हैं, अन्त शब्द अनेक अर्थोंका वाचक है । कहीं पर अवयवरूप अर्थमें आता है, जैसे, ‘वृक्षान्तः’ अर्थात् वृक्षका अवयव । कहीं पर समीपताके अर्थमें आता है, जैसे ‘उदकान्तं गतः’ अर्थात् जलके समीप गया । कहीं पर अवसानरूप अर्थमें आता है, जैसे, ‘संसारान्तं गतः’ अर्थात् संसारके अन्तको प्राप्त हुआ ।

गत इति । तत्रेह विवक्षातोऽवसानार्थो वेदितव्यः । वनस्पत्यन्तानां वनस्पत्यवसानानामिति सामीप्यार्थः किन्न गृह्यते ? वनस्पत्यन्तानां वनस्पतिसमीपानामित्यर्थे गृह्यमाणे वायुकायानां त्रसकायानां च सम्प्रत्ययः प्रसज्येत ‘पृथिव्यन्तेजोवायुवनस्पतित्रसाः’ इत्यत्र तयोरेव सामीप्यदर्शनात् । अयमन्तशब्दः सम्बन्धिशब्दत्वात् कांश्चित्पूर्वानपेक्ष्य वर्तते । ततोऽर्थादादिसम्प्रत्ययो भवति तस्मादयमर्थोऽवगम्यते पृथिव्यादीनां वनस्पत्यन्तानामेकमिन्द्रियमिति । एवमपि पृथिव्यादीनां वनस्पत्यन्तानां स्पर्शनादिव्यन्यतम-मेकमिन्द्रियं प्राप्तोत्यविशेषादिति चेन्नैष दोषः, अयमेकशब्दः प्राथम्यवचनम् ‘स्पर्शन-रसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि’ इत्यत्र तनप्राथम्यमाश्रित इति । त्रीयान्तरायस्पर्शनेन्द्रियावरण-क्षयोपशमे सति शेषेन्द्रियसर्वधातिस्पर्धकोदये चैकेन्द्रियजातिनामकमेदियवशवर्तितयां च सत्यां स्पर्शनमेकमिन्द्रियमाविर्भवति ।

उनमेंसे यहाँ पर विवक्षाले अन्त शब्दका अवसानरूप अर्थ जानना चाहिये ।

शंका—‘वनस्पत्यन्तानामेकम्’ इसमें आये हुए अन्त पदका ‘वनस्पतिके समीपवर्ती जीवोंके एक स्पर्शन-इन्द्रिय होती है’ इसप्रकार सामीप्य वाचक अर्थ क्यों नहीं लेते ?

समाधान—यदि ‘वनस्पत्यन्तानामेकम्’ इस सूत्रमें आये हुए अन्त शब्दका समीप अर्थ लिया जाय तो उससे वायुकायिक और त्रसकायिकका ही ज्ञान होगा, क्योंकि, ‘पृथिव्यन्तेजोवायुवनस्पतित्रसाः’ इस वचनमें वायुकायिक और त्रसकायिक ही वनस्पतिके समीप दिखाई देते हैं । यह अन्त शब्द सबन्धी शब्द होनेसे अपनेसे पूर्ववर्ती कितने ही शब्दोंकी अपेक्षा करके प्रवृत्ति करता है, और इससे अर्थवशा आदिका ज्ञान हो जाता है । उससे यह अर्थ मालूम पड़ता है कि पृथिवीकायिकसे लेकर वनस्पति पर्यन्त जीवोंके एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है ।

शंका—ऐसा मान लेने पर भी पृथिवीसे लेकर वनस्पति पर्यन्त जीवोंके स्पर्शन आदि पांच इन्द्रियोंमेंसे कोई एक इन्द्रिय प्राप्त होती है, क्योंकि, ‘वनस्पत्यान्तानामेकम्’ इस सूत्रमें आया हुआ एक पद स्पर्शन-इन्द्रियका बोधक तो है नहीं, वह तो सामान्यसे सब्यावाची है, इसलिये पांच इन्द्रियोंमेंसे किसी एक इन्द्रियका ग्रहण किया जा सकता है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, यह एक शब्द प्राथम्यवाची है, इसलिये उससे ‘स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि’ इस सूत्रमें आई हुई सबसे प्रथम स्पर्शन इन्द्रियका ही ग्रहण होता है ।

वीर्यान्तराय और स्पर्शनेन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशम होने पर, रसना आदि शेष इन्द्रियावरणके सर्वधाती स्पर्धकोंके खदय होने पर तथा एकेन्द्रियजाति नामकमेंके उदयकी वशवर्तितताके होने पर स्पर्शन एक इन्द्रिय उत्पन्न होती है ।

इ इन्द्रिये येषां ते इन्द्रियाः । के ते ? अंशुशुक्तिऋम्यादयः । उक्तं च—

दुर्मिन्त्रिभिः क्षिप्रि-समा गंडोला रिड-अस-गुल्का य ।

नः य राडय जीवा जेया जीइदिया एं' ॥ १३६ ॥

के ते ते इन्द्रिय इति चेत्स्पर्शनसने । स्वर्गनमुक्तक्षणम् । भेदविचक्षायां नीर्यन्तगयमनेन्द्रियावरणशयोपशमाज्ञोपाङ्गनामलाभावष्टम्भाद्रमयत्यनेनेति रसनं करण-

जिनके दो इन्द्रियां होती हैं उन्हें इन्द्रिय जीव कहते हैं ।

शंका—वे इन्द्रिय जीव कौन कौन हैं ?

समाधान—शर, शुक्ति और ऋमि आदिक इन्द्रिय जीव हैं । कहा भी है—

दुर्मिन्त्रिभिः अर्थात् पेटके कीड़े, सीप, शर, गण्डोला अर्थात् उदरमें उत्पन्न होनेवाली

यही शुमि, अग्निष्ट नामक एक जीनविशेष, अक्ष अर्थात् चन्द्रनक नामका जलचर जीवविशेष,

अर्थात् अर्थात् जेटा शंर और कोड़ी आदि इन्द्रिय जीव हैं ॥ १३६ ॥

शंका—वे दो इन्द्रिया कौनसी हैं ?

समाधान—स्पर्शन और रसना । उनमेंसे स्पर्शनका स्वरूप कह आये हैं । अब रसना इन्द्रियका स्वरूप कहते हैं—

भेद विचक्षाकी प्रजातता अर्थात् करणकारककी विचक्षा होने पर, वीर्यन्तराय और रसनेन्द्रियारणकर्मके क्षयोपशमसे तथा आणोपान नामकर्मके उदयके अवलम्बनसे जिसके द्वारा स्पर्शका ग्रहण होता है उसे रसना-इन्द्रिय कहते हैं । तथा इन्द्रियोंकी स्वातन्त्र्य-विवक्षा अर्थात् कर्तृ-कारककी विचक्षामें पूर्वोक्त साधनोंके मिलने पर जो आस्वाद ग्रहण करती है उसे रसना-इन्द्रिय कहते हैं ।

१ उग्रवर्तना हतो ( १ ) ग्रा मूलमपानकृत्का गीयोग्यवर्गता या जीवा कुक्षिप्रमय । गण्डोलाका अर्थवर्तना । पेट लम्पीपिण्या चन्द्रनक, तं तु मययापयान्कतेन प्रतीता । शरक स्पर्शक, काडीति भाषाभा । ( २ ) गंर निमिन्त्रिनामानो जाग अषि जींरानेन ममिद्रा ) मय ममम गंडोल-जलेण-चदणम-अलम-मज्जा । मंर तिमि हारणा रंरिय मारगण्डे जलो । जलोम । जलमा श्लाना, यदध्यास्ये मानो जलदृष्टो मर्या मय पर । यदुरा जातीयोत्तं पियप्रमिड ( उषितापेपजीव, देवीला दोष्य ) मेहरक मष्टकीदशेष । प्ररणा एम जन्पार्तको ररणां रममुता जीता । मारमती-मामुहािका गर्बदेसप्रमिद्रा चुडेलीति गिरिपमारीशर-स्योपता षि रडिया प्राजा । जी नि य पृ १०० । तिमिणो मोमगला चेन जलमा माताया । मारमेश ७ पिपिता मय मगणा तथा ॥ वल्लोरायु-यथा चेन तदेव य वराडया । तथा चेन -रदा य तरे य ॥ उत्त ३६, १२९-१३० मे किं त तेडिया ? यदिया षोशीश पाका । न जल. पुष्पतिमिया, कुश्किमिया, गहूरलगा, गोलोमा, णडरा, मासगगा, रमिण्यु, एरुय गाजलेया, जलोम, जालडता, मला, मखणगा, तुल्का, गुल्का, उरता, नम, सस, मोमिया, मसिरा, रट्टागामा, पुगधोपता, दुशओपता, नदिगामता, मरुको, माडनहा, शिंरिपुम, -रदा, मपुरडिता, के गापे ररुपगाता । प्रता १ ४४,

कारके । इन्द्रियाणां स्वातन्त्र्यविवक्षायां पूर्वोक्तेहेतुसन्निधाने सति रसयतीति रसनं कर्तृकारके भवति । कोऽस्य विषयः ? रसः । कोऽस्यार्थः ? यदा वस्तु प्राधान्येन विचक्षितं तदा वस्तुव्यतिरिक्तपर्यायाभावाद्ब्रह्मस्त्वेव रसः । एतस्यां विचक्षायां कर्मसाधनत्वं रसस्य, यथा रस्यत इति रसः । यदा तु पर्यायः प्राधान्येन निगमितस्तदा भेदोपपत्तेः औदासीन्यावस्थितभावकथनाद्भावसाधनत्वं रसस्य, रसनं रस इति । न सूक्ष्मेषु परमाण्वादिषु रसाभावः उक्तोत्तरत्वात् । कुत एतयोस्त्वपत्तिरिति चेद्वीर्यन्तरायस्पर्शन-रसनेन्द्रियावरणक्षयोपशमे सति शेषेन्द्रियसर्वघातिसर्वभेदोदये चाज्ञोपाङ्गनामलाभावष्टम्भे द्वीन्द्रियजातिकर्मोदयवशवर्तितायां च सत्यां स्पर्शनरसनेन्द्रिये आविर्भवतः ।

त्रीणि इन्द्रियाणि येषां ते त्रीन्द्रियाः । के ते ? कुन्धुमरुत्तुणादयः । उक्तं च—

शंका—रसना इन्द्रियका विषय क्या है ?

समाधान—इस इन्द्रियका विषय रस है ।

शंका—रस शब्दका क्या अर्थ है ?

समाधान—जिस समय प्रधानरूपसे वस्तु विवक्षित होती है, उस समय वस्तुको छोड़कर पर्याय नहीं पाई जाती है, इसलिये वस्तु ही रस है । इस विवक्षामें रसके कर्मसाधनपना है । जैसे, जो चखा जाय, वह रस है । तथा जिस समय प्रधानरूपसे पर्याय विवक्षित होती है, उस समय द्रव्यसे पर्यायका भेद बन जाता है, इसलिये जो उदासीनरूपसे अवस्थित भाव है उसीका कथन किया जाता है । इसप्रकार रसके भावसाधनपना भी बन जाता है । जैसे, आस्वादनरूप किशार्धर्मको रस कहते हैं । सूक्ष्म परमाणु आदिमें रसका अभाव हो जायगा, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, इसका उत्तर पहले दे आये हैं ।

शंका—स्पर्शन और रसना इन दोनों इन्द्रियोंकी उत्पत्ति किस कारणसे होती है ?

समाधान—वीर्यन्तराय और स्पर्शन च रसनेन्द्रियावरण कर्मके अयोपशम होने पर, शेष इन्द्रियावरण कर्मके सर्वघाती स्पईकोंके उदय होने पर, आंगोपांग नामकर्मके उदयकी वशवर्तिता होने पर स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रिया उत्पन्न होती हैं ।

जिनके तीन इन्द्रियां होती हैं उन्हें त्रीन्द्रिय जीव कहते हैं ।

शंका—वे तीन इन्द्रिय जीव कौन कौन हैं ?

समाधान—कुन्धु और रट्टमल आदि त्रीन्द्रिय जीव हैं । कहा भी है—

१ मन्वाडय त रा वा २ १९-२०, ग. १-२ चारयान्वा ममान ।

२ म कि त तेइदिय-मसा( समाप्त-जीवपम्बणा ? तेइदिय ममासमान-जीवपनवणा जणेगमिया पत्ता । त जहा, जीमन्ना, रोहिणिया, ऊंरू, पिपीलिया, उच्चगा, उडेदिया, उच्चलिया, उष्पाया, उष्पाया, तणाहारा, कडाहारा, माट्टया, पचाहारा, तण्णट्टिया, पत्तंणट्टिया, पुण्णट्टिया, फलवट्टिया, वीणवट्टिया, तैडरणमित्रिया, तओमिमित्रिया, रुपाणट्टिमित्रिया, तिल्लिया, अिल्लिया, सिंगिरा, फिमिडिडा, बाहुया, लहुया, उमगा, सोत्रियया, मुयंवेदा, इडकाडया, इदगोमया, तुत्तुमगा, कुच्छववाहगा, जूया, तुलाका, पिसुया, मयाहया, गोन्ही, इशियाका,

कुटु-पिपीलिका मक्खण-विच्छिन्न-इंद्रगोब-गोह्दी य ।

उत्तरिणद्वियादीं (१) गेया तीइदिया जीवां ॥ १३७ ॥

कानि तानि त्रीणिन्द्रियाणीति चेत्स्पर्शनरसनघ्राणानि । स्पर्शनरसने उक्तलक्षणे । किं घ्राणमिति ? करणसाधनं घ्राणम् । कुतः ? पारतन्त्र्यादिन्द्रियाणाम् । ततो वीर्यान्तराय-घ्राणेन्द्रियावरणक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभावष्टम्भाज्जिघ्रत्यनेनात्ममैति घ्राणम् । कर्तृसाधनं च भवति स्वातन्त्र्यविवक्षायामिन्द्रियाणाम् । दृश्यते चेन्द्रियाणां लोके स्वातन्त्र्यविवक्षा, यथेदं भेदश्चि सुष्ठु पश्यति, अयं मे कर्णः सुष्ठु शृणोतीति । ततः पूर्वोक्तेहेतुसन्निधाने

कु-उ, पिपीलिका, खटमल, विच्छू, जू, इन्द्रगोप, कनखजूरा, तथा उत्तरिण नद्वियादिक नीटविशेष, ये सब त्रीन्द्रिय जीव हे ॥ १३७ ॥

शंका—वे तीन इन्द्रियां कौन कौन है ?

समाधान—स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन इन्द्रिया हैं । इनमेंसे स्पर्शन और रसनाका लक्षण कइ आये । अब घ्राण इन्द्रियका लक्षण कहते हैं—

शंका—घ्राण किसे कहते हैं ?

समाधान—घ्राण शब्द करणसाधन है, क्योंकि, पारतन्त्र्यविवक्षामे इन्द्रियके करण-साधन होता है । इसलिये वीर्यान्तराय और घ्राणेन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशम तथा आंगोपांग नामकर्मके उदयके आलम्बनसे जिसके द्वारा सूखा जाता है उसे घ्राण-इन्द्रिय कहते हैं । अथवा, इन्द्रियोंकी स्वातन्त्र्यविवक्षामें घ्राण शब्द कर्तृसाधन भी होता है, क्योंकि, लोकमें इन्द्रियोंकी स्वातन्त्र्यविवक्षा भी देखी जाती है । जैसे, यह मेरी आंख अच्छी तरह देखती है, यह मेरा कान अच्छी तरह सुनता है । अतः पहले कहे हुए हेतुओंके मिलने पर जो सूघती है उसे घ्राण इन्द्रिय कहते हैं ।

जे यात्रने तइयापारा । प्रभा. १ ४५

१ अ प्रती 'उत्तरिण' स प्रती व 'उत्तरिण' इति पाठ ।

२ कुथुपिपलिके प्रतीति । मखणवृथिकदून्डरगोपाश्रापि प्रसिद्धा एव । गोमीति गुलि कर्णशृगाली ( कनखजूरा इति हिन्दुमायायाम् ) निशेषपरिक्षानायायेऽपि त्रीन्द्रियजीना उल्लिख्यते । गोमीमकुणजूआपिपिलि-उदेरिया य मकोडा । इल्लियथयमिल्लीशो सावय गोकीडजाईशो ॥ गदहयचोरकीडगोमयकीडा य धनकीडा य । कुडु उ ( गो ) वालिय इल्लिया तेइदिया इदयोपार्इ ॥ उदेरिया उपदेरिका वास्मीकय । इल्लिकना धान्यादिद्रुत्तना । 'वयमिन्द्रि' ति घृतेल्लिकना । 'सावयेति' लोकमाकया साता, ते मनुय्याणामशुभोदकं प्राण् भावनि कडे शरीरेशेषपयन्ते । गोकीडका प्रतीता एव । जातिपद्वणेन सर्वतेरुत्वा कर्णोवयवैपुत्पन्नाश्र जन्मुकविचडादयो प्राथा । गदहय-गदहयका ( गोमालोत्पजन्तव ) चोरकीडा, ( त्रियोत्पनजन्तव ) गोमयकीडारक्षणोत्पन्ना । धामकीया युणत्वेन प्रसिद्धा । शेषाश्र स्वनामामिद्धा । जी पि म पृ ११ कुथुपिपिलिजडुमा उक्खुहेरिया तथा । तणहारच्छहरा य माडुरा पत्तहारा ॥ कण्यामहिंनि जायति दुगा तउसमिजगा । मदावरी य गुमरी य गोपवा इन्द-गादारा ॥ इन्दोवयामाईया नेगहा एवमायजो । उच ३६, १३८-१४०

सति जिघ्रतीति घ्राणम् । कोऽस्य विषयः ? गन्धः । अयं गन्धशब्दः कर्मसाधनः । कुतः ? यदा द्रव्यं प्राधान्येन विवक्षितं तदा न ततो व्यतिरिक्ताः स्पर्शादयः केचन सन्तीति । एतस्यां विवक्षायां कर्मसाधनत्वं स्पर्शादीनामवसर्जयते, गन्धयत इति गन्धो वस्तु । यदा तु पर्यायः प्राधान्येन विवक्षितस्तदा भेदोपपत्तेः औदासीन्यावास्थितभाव-कथनाद्भावसाधनत्वं स्पर्शादीनां युज्यते, गन्धनं गन्ध इति । कुत एतेपाद्युत्पत्तिरिति चेद्वीर्यान्तरायस्पर्शनरसनघ्राणेन्द्रियावरणक्षयोपशमे सति शेषेन्द्रियसर्वघातिस्पर्धकोदये चाङ्गोपाङ्गनामलाभावष्टम्भे त्रीन्द्रियजातिकर्मोदयवशवर्तितयां च सत्यां स्पर्शनरसन-घ्राणेन्द्रियाण्याविर्भवन्ति ।

चत्वारि इन्द्रियाणि येषां ते चतुरिन्द्रियाः । के ते ? मशकमक्षिकादयः । उक्तं च—

शंका—घ्राण-इन्द्रियका विषय क्या है ?

समाधान— इस इन्द्रियका विषय गन्ध है ।

यह गन्ध शब्द कर्मसाधन है, क्योंकि, जिस समय प्रधानरूपसे द्रव्य विवक्षित होता है, उससमय द्रव्यसे भिन्न स्पर्शादिक कुछ भी नहीं रहते हैं, इसलिये इस विवक्षामें स्पर्शा-दिकके कर्मसाधन समझना चाहिये । जैसे, 'जो सूखा जाय' इसप्रकारकी निरुक्ति करने पर गन्ध द्रव्यरूप ही पड़ता है । तथा जिससमय प्रधानरूपसे पर्याय विवक्षित होती है, उस समय द्रव्यसे पर्यायका भेद बन जाता है, अतएव उदासीनरूपसे अवस्थित जो भाव है, वही कहा जाता है । इसतरह स्पर्शादिकके भावसाधन भी बन जाता है । जैसे, सूयनेरूप क्रिया-धर्मको गन्ध कहते हैं ।

शंका—इन तीनों इन्द्रियोंकी उत्पत्ति किस कारणसे होती है ?

समाधान—वीर्यान्तराय और स्पर्शन, रसना तथा घ्राण-इन्द्रियावरणके क्षयोपशमके होने पर, शेष इन्द्रियावरण कर्मके सर्वघाती स्पर्धकोके उदय होने पर, आंगोपांग नामकर्मके उदयके आलम्बन होने पर और त्रीन्द्रियजाति नामकर्मके उदयकी वशवर्तितके होने पर स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं ।

जिनके चार इन्द्रियां पाई जाती हैं वे चतुरिन्द्रिय जीव होते हैं ।

शंका—वे चतुरिन्द्रिय जीव कौन कौन हैं ?

समाधान—मच्छर, मक्खी आदि चतुरिन्द्रिय जीव हैं । कहा भी है—

१ मन्थोज्य त रा वा २ १९-२०, वा १-१ व्याख्याया समान ।

२ से किं त चउरिदिय-ससासामानन जीवपन्नयणा ? २ अणेगविहा पन्त्ता । त जहा, अकिय पचिय-मच्चिय मसगा कीडे तहा पयणे य । दकुण कुकड-उत्तह नदावत्ते य मिंगिरडे ॥ म्भिरुपत्ता, नील्पत्ता, लाहियपत्ता, हालिदपत्ता, शक्तिरुपत्ता, चित्तपक्कया, विचित्तपक्कया, ओहजलिया, जलचारिया, गर्मीरा, गीणिया, ततवा,

मात्र-अमर-महुर-मसय-मयगा य सलह-गोमच्छी ।

मच्छी सईस कीडा गेया चउरिदिया जीवा ॥ १३८ ॥

कानि तानि चत्वारिन्द्रियाणीति चेत्स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुषि । स्पर्शनरसनघ्राणानि उक्तलक्षणानि । चक्षुषः स्वरूपमुच्यते । तद्यथा, करणसाधनं चक्षुः । कुतः ? चक्षुषः पारतन्त्र्यात् । इन्द्रियाणां हि लोके पारतन्त्र्यविवक्षा दृश्यते आत्मनः स्वातन्त्र्यविवक्षायाम् । यथानेनाश्या सुष्ठु पश्यामि, अनेन कर्णेन सुष्ठु शृणोमीति । ततो वीर्यान्तराय-चक्षुषिन्द्रियावरणशयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभावष्टम्भाक्षुः । अनेकार्थत्वादर्शनार्थविवक्षयां चक्षुष्यान् पश्यत्यनेनेति चक्षुः । चक्षुषः कर्तृसाधनं च भवति स्वातन्त्र्यविवक्षायाम् । इन्द्रियाणां हि लोके स्वातन्त्र्यविवक्षा च दृश्यते, यथेदं मेऽक्षि सुष्ठु पश्यति, अय मे कर्णः सुष्ठु शृणोतीति । ततः पूर्वोक्तेहस्तुसन्निधाने सति चष्ट इति चक्षुः । कोऽस्य

मकड़ी, भौरा, मधु-मस्मी, मच्छर, पतंग, शलभ, गोमस्फी, मक्खी, और दंशसे दूरीनेवाले कीड़ोंको चतुरिन्द्रिय जीव जानना चाहिये ॥ १३८ ॥

शंका—वे चार इन्द्रियां कौन कौन हैं ?

समाधान—स्पर्शन, रसना, घ्राण, और चक्षु ये चार इन्द्रिया हैं । इसमेंसे स्पर्शन, रसना, और घ्राणके लक्षण कहूँ अरे । अतः चक्षु-इन्द्रियका स्वरूप कहते हैं । वह इसप्रकार है । चक्षु-इन्द्रिय करणसाधन है, क्योंकि, उसकी पारतन्त्र्यविवक्षा है । जिस समय आत्माकी स्वातन्त्र्यविवक्षा होती है, उस समय लोकमें इन्द्रियोंकी पारतन्त्र्यविवक्षा देखी जाती है । जैसे, इस चक्षुसे अच्छी तरह देखता हूँ, इस कालसे अच्छी तरह सुनता हूँ । इसलिये वीर्यान्तराय और चक्षु इन्द्रियावरणके क्षयोपराम और आंगोपांग नामकर्मके उदयके लाभसे जिसके द्वारा परार्थ देगे जाने हों उसे चक्षु-इन्द्रिय कहते हैं । यद्यपि 'चक्षिष्ट' धातु अनेक अर्थोंमें आती है, फिर भी यदा पर दृश्यस्वरूप अर्थकी विवक्षा होनेसे 'जिसके द्वारा पदार्थको देखता है वह चक्षु है' ऐसा अर्थ लेना चाहिये । तथा स्वातन्त्र्यविवक्षामें चक्षु इन्द्रियते कर्तृसाधन भी होता है, क्योंकि, इन्द्रियोंकी लोकमें स्वातन्त्र्यविवक्षा भी देखी जाती है । जैसे, मेरी यह आस अच्छी तरह देखती है, यह मेरा कान अच्छी तरह सुनता है । इसलिये पहले कहे गये हेतुओंके मिलने पर जो देखती है उसे चक्षु-इन्द्रिय कहते हैं ।

शंका—इस इन्द्रियका विषय क्या है ?

शंका—चिच्छिन्न, साक्षात्, नदय, रोला, मसल, मल्लि, जकथा, तोटा, निम्बा, पचिन्त्या, जण्णिन्त्या, मयोरिन्त्या, मिन्त्या, तन्त्या, गामपकंडा, जे गाने तन्त्यापारा । प्रवा १ ४६

१ विविधा वैशिष्ट्याणां मण्डिता मयगा तथा । मरुते कौटुपरणे व दक्षणे उच्यते तथा ॥ सुष्ठु मण्डिता मयगा च निम्ब । दोरि मण्डिता व विपरीतमण्डिता ॥ अञ्जले माहुर अत्रोदुक्त्विचिचे विचपचसु । य विविधा मयगा व तंता मयगा ॥ इय चउरिदिया एउंणरा एउंणराओ ॥ उच ३६, १४७-१५०

विषयश्चेद्वर्णः । अयं वर्णशब्दः कर्मसाधनः । यथा यदा द्रव्यं प्राधान्येन विवक्षितं तदेन्द्रियेण द्रव्यमेव सन्निकृष्यते, न ततो व्यतिरिक्तः स्पर्शादयः सन्तीत्यतस्मात् विवक्षयां कर्मसाधनत्वं स्पर्शादीनामवसीयते, वर्ण्यत इति वर्णः । यदा तु पर्यायः प्राधान्येन विवक्षितस्तदा भेदोपपत्तौदासिन्यावास्थितभावकथनाद्भावसाधनत्वं स्पर्शादीनां युज्यते वर्णनं वर्णः । कुत एतस्मिन्पक्षेद्विधौर्यान्तरायस्पर्शनरसनघ्राणचक्षुरावरणक्षयोपशमे सति शेषेन्द्रियसर्वव्यतिरिक्तोदये चाङ्गोपाङ्गनामलाभावष्टम्भे चतुरिन्द्रियजातिकर्मोदय-व्यवर्तितायां च सत्यां चतुर्णामिन्द्रियाणामाविर्भावो भवेत् ।

पञ्च इन्द्रियाणि येषां ते पञ्चेन्द्रियाः । के ते ? जरायुजाण्डजादयः । उक्तं च—

सस्वेदिम-सम्मुच्छिम उन्मेदिम-ओववादिद्या चैव ।

रस-पोदद जरायुज गेया पचिदिया जीवा ॥ १३९ ॥

समाधान—वर्ण इस इन्द्रियका विषय है । यह वर्ण शब्द कर्मसाधन है । जैसे, जिस समय प्रधानरूपसे द्रव्य विवक्षित होता है, उस समय इन्द्रियसे द्रव्य का ही ग्रहण होता है, क्योंकि, उससे भिन्न स्पर्शादिक पर्याय नहीं पाई जाती है । इसलिये इस विवक्षामें स्पर्शादिकके कर्मसाधन जाना जाता है । उस समय जो देखा जाय उसे वर्ण कहते हैं, ऐसी निरुक्ति करना चाहिये । तथा जिस समय पर्याय प्रधानरूपसे विवक्षित होती है, उस समय द्रव्यसे पर्यायका भेद वन जाता है, इसलिये उदासीनरूपसे अवस्थित जो भाव है, उसीका कथन किया जाता है । अतएव स्पर्शादिकके भावसाधन भी वन जाता है । उस समय देखनेरूप धर्मको वर्ण कहते हैं ऐसी निरुक्ति होती है ।

शंका—इन चारों इन्द्रियोंकी उत्पत्ति किस कारणसे होती है ?

समाधान—वीर्यान्तराय और स्पर्शन, रसना, घ्राण तथा चक्षु इन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपराम, शेष इन्द्रियावरण सर्वघाती स्पर्शकोंका उदय, आंगोपांग नामकर्मके उदयका आलम्बन और चतुरिन्द्रिय जाति नामकर्मके उदयकी वशावर्तिताके होने पर चार इन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है ।

जिनके पांच इन्द्रियां होती हैं उन्हें पंचेन्द्रिय जीव कहते हैं ।

शंका—वे पंचेन्द्रिय जीव कौन कौन हैं ?

समाधान—जरायुज और अण्डज आदिक पंचेन्द्रिय जीव हैं । कहा भी है—

स्वेदज, सम्मुच्छिम, उद्रिज्ज, औपपादिक, रसज, पोल, अंडज और जरायुज, ये सब पंचेन्द्रिय जीव जानना चाहिये ॥ १३९ ॥

१ स दमाज्य त रा मा २ १९-२० वा १-१ व्याख्याना ममान ।

२ मे त्रेभि सतिमे तमा पाणा, त जहा, जट्या पीयया जराउजा मया मयंया सपुञ्जामा उभियया उवमादया, एम मगरिचि पचुज । आत्ता म् ४९. उन्मुपपयतेऽस्मिन्विपुपादः । त रा मा पु. ९८ उप-



कानि तानि पञ्चेन्द्रियाणीति चेत्स्पर्शनसन्नप्राणचक्षुःश्रोत्राणि । इमानि स्पर्शन-  
नादीनि करणसाधनानि । कुतः ? पारतन्त्र्यात् । इन्द्रियाणां हि लोके दृश्यते च पार-  
तन्त्र्यविवक्षा आत्मनः स्वातन्त्र्यविवक्षायाम्, अनेनाक्षणा सुष्ठु पश्यामि, अनेन कर्णेन  
सुष्ठु श्रुणोमीति । ततो वीर्यान्तरायश्रोत्रेन्द्रियावरणक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभावष्टम्भा-  
च्छृणोत्यनेनेति श्रोत्रम् । कर्तृसाधनं च भवति स्वातन्त्र्यविवक्षायाम् । दृश्यते चेन्द्रियाणां  
लोके स्वातन्त्र्यविवक्षा, इदं मेऽक्षि सुष्ठु पश्यति, अयं मे कर्णः सुष्ठु श्रुणोतीति ।  
ततः पूर्वीक्तहेतुमविधाने सति श्रुणोतीति श्रोत्रम् । सोऽस्य विषयः ? शब्दः । यदा  
द्रव्यं ग्राधान्येन विवक्षितं तदेन्द्रियेण द्रव्यमेव सन्निकृष्यते, न ततो व्यतिरिक्ताः  
स्पर्शादयः केचन सन्तीति एतस्यां विवक्षयां कर्मसाधनत्वं शब्दस्य युज्यत इति,  
शब्दवत् इति शब्दः । यदा तु पर्यायः ग्राधान्येन विवक्षितस्तदा भेदोपपत्तेः औदासीन्याव-  
स्थितभावकथनान्नावसाधनं शब्दः, शब्दनं शब्द इति । कुत एतेपामविर्भाव इति चेद्वीर्यान्त-

शंका—वे पाच इन्द्रिया कौन कौन हैं ?

समाधान—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र । ये स्पर्शनादिक इन्द्रिया करण-  
साधन हैं, क्योंकि, वे परतन्त्र देखी जाती हैं । लोकमें आत्माकी स्वातन्त्र्यविवक्षा होने पर  
इन्द्रियोंकी पारतन्त्र्यविवक्षा देखी जाती है । जैसे, मैं इस आखसे अच्छी तरह देखता हूँ, इस  
कानसे अच्छी तरह सुनता हूँ । इसलिये वीर्यान्तराय और श्रोत्र इन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशम  
तथा अगोपांग नामकर्मके आलम्बनसे जिसके द्वारा सुना जाता है, उसे श्रोत्र-इन्द्रिय कहते  
हैं । तथा स्वातन्त्र्यविवक्षामें कर्तृसाधन होता है, क्योंकि, लोकमें इन्द्रियोंकी स्वातन्त्र्यविवक्षा भी  
देखी जाती है । जैसे, यह मेरी आख अच्छी तरह देखती है, यह मेरा कान अच्छी तरह सुनता  
है । इसलिये पहले कहे गये हेतुओंके मिलने पर जो सुनती है उसे श्रोत्र-इन्द्रिय कहते हैं ।

शंका—इसका विषय क्या है ?

समाधान—शब्द इसका विषय है । जिस समय प्रधानरूपसे द्रव्य विवक्षित होता  
है, उस समय इन्द्रियोंके द्वारा द्रव्यका ही ग्रहण होता है । उससे भिन्न स्पर्शादिक कोई चीज  
नहीं है । इस विवक्षामें शब्दके कर्मसाधनपना बन जाता है । जैसे, 'शब्दते' अर्थात् जो  
ध्वनिरूप हो वह शब्द है । तथा जिस समय प्रधानरूपसे पर्याय विवक्षित होती है, उस समय  
द्रव्यसे पर्यायका भेद सिद्ध हो जाता है, अतएव उदासीनरूपसे अवस्थित भावका कथन  
क्रिया जानेसे शब्द भावसाधन भी है । जैसे, 'शब्दनम् शब्द,' अर्थात् ध्वनिरूप क्रियार्थमको  
शब्द कहते हैं ।

पातनजाता उपपातजा । अथवा उपपाते भवा अपपातिका देवा नारुत्ना । आवा नि पु ६३ सम्पूर्णनयन  
परिस्पृष्टादिनामन्योपलक्षित पौत । शुक्लशोणितपरिरणमुपाचक्राणिय नखतरमदृश परिमडलमड, अडे जाता  
पञ्जा । जालन मागिपवितरण पिततनामकोणित जरापु, जरापों जाता जरापुजा । त रा वा पु २००, १०२

१ प्रत्ययोज त रा वा २ १९.२० वा १-२ व्याख्यायां समाप्त ।

रायस्पर्शनसन्नप्राणचक्षुःश्रोत्रेन्द्रियावरणक्षयोपशमे सति अङ्गोपाङ्गनामलाभावष्टम्भे  
पञ्चेन्द्रियजातिकर्मोदयवशवर्तितायां च सत्यां पञ्चानामिन्द्रियाणामाविर्भावो भवेदिति ।  
नेदं व्याख्यानमत्र प्रधानम्, 'एकद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियजातिनामकर्मोदयादेकद्वित्रिचतुःपञ्चे-  
न्द्रिया भवन्ति' इति भाष्येण सह विरोधात् । ततः एकेन्द्रियजातिनामकर्मोदयादेकेन्द्रियः,  
द्वीन्द्रियजातिनामकर्मोदयाद् द्वीन्द्रियः, त्रीन्द्रियजातिनामकर्मोदयात्त्रीन्द्रियः, चतुरिन्द्रिय  
जातिनामकर्मोदयाच्चतुरिन्द्रियः, पञ्चेन्द्रियजातिनामकर्मोदयात्पञ्चेन्द्रियः, एषोऽथोऽत्र  
प्रधानं निरवद्यत्वात् ।

न सन्तीन्द्रियाणि येषां तेऽनिन्द्रियाः । के ते ? अशरीराः सिद्धाः । उक्तं च—  
ण वि इदिय-करण-जुदा अवगहादीहि गाहया अये ।

णत्र य इदिय सोक्खा अणिदियाणत-णाण-सुहां ॥ १४० ॥

तेषु सिद्धेषु भावेन्द्रियस्योपयोगस्य सत्त्वात्सेन्द्रियास्त इति चेन्न, क्षयोपशमजनि-  
शंका—इन पांचो इन्द्रियोंकी उत्पात्ति कैसे होती है ?

समाधान—वीर्यान्तराय और स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु तथा श्रोत्रेन्द्रियावरण  
कर्मके क्षयोपशम होने पर, अगोपांग नामकर्मके आलम्बन होने पर, तथा पचेन्द्रियजाति  
नामकर्मके उदयकी वशवर्तितके होने पर पांचों इन्द्रियोंकी उत्पात्ति होती है । फिर भी  
वीर्यान्तराय और स्पर्शन इन्द्रियावरण आदिके क्षयोपशमसे एकेन्द्रिय आदि जीव होते हैं,  
यह व्याख्यान यहा पर प्रधान नहीं है, क्योंकि, 'एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय  
और पचेन्द्रियजाति नामकर्मके उदयसे एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय-  
जीव होते हैं' भाव(उपगमके इस कथनसे पूर्वोक्त कथनका विरोध आता है । इसलिये एकेन्द्रिय-  
जाति नामकर्मके उदयसे एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रियजाति नामकर्मके उदयसे द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रियजाति  
नामकर्मके उदयसे त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रियजाति नामकर्मके उदयसे चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय-  
जाति नामकर्मके उदयसे पचेन्द्रिय जीव उत्पन्न होते हैं, यही अर्थ यहां पर प्रधान है, क्योंकि,  
यह कथन निर्दोष है ।

जिनके इन्द्रियां नहीं पाई जाती हैं उन्हें अनिन्द्रिय जीव कहते हैं ।

शंका—वे कौन हैं ?

समाधान—शरीररहित सिद्ध अनिन्द्रिय है । कदा भी है—

वे सिद्ध जीव इन्द्रियोंके व्यापारसे युक्त नहीं हैं और अवग्रहादिक क्षायोपशमिक ज्ञानके  
द्वारा पदार्थोंको ग्रहण नहीं करते हैं । उनके इन्द्रिय-सुख भी नहीं है, क्योंकि, उनका अनन्त  
ज्ञान और अनन्त सुख अनिन्द्रिय है ॥ १४० ॥

शंका—उन सिद्धोंमें भावेन्द्रिय और तज्जन्य उपयोग पाया जाता है, इसलिये वे  
इन्द्रियसहित हैं ?





सूक्ष्मजीवानां शरीरमन्येन मूर्तद्रव्यैरभिहन्यते ततो न तत्प्रतिघातः सूक्ष्मकर्मणो विपाकादिति चेन्न, अन्यैरप्रतिहन्यमानत्वेन प्रतिलब्धसूक्ष्मव्यपदेशभाजः सूक्ष्मशरीरादसंख्येयगुणहीनस्य चादरकर्मोदयतः प्राप्तवादरव्यपदेशस्य सूक्ष्मत्वं प्रत्यविशेषतोऽप्रतिघाततापत्तेः । अस्तु चेन्न, सूक्ष्मवादरकर्मोदययोराविशेषतापत्तेः । सूक्ष्मशरीरोपादायकः सूक्ष्मकर्मोदयश्चेन्न, तस्मादप्यसंख्येयगुणहीनस्य वादरकर्मनिर्वर्तितस्य शरीरस्योपलम्भात् । तत्कृतोऽवसीयत इति चेद्वेदानां क्षेत्रविधानसूत्रात् । तद्यथा—

‘सर्वतथोवा सुहुमणिगोदजीवअपज्जत्तयस्स जहणिया ओगाहणा । सुहुमवाउ-सुहुमतेउ-सुहुमआउ-सुहुमपुढवि-अपज्जत्तयस्स जहणिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा ।

उत्पन्न करता है । और सूक्ष्म नामकर्मका उदय दूसरे मूर्त पदार्थोंके द्वारा आघात नहीं करके योग्य शरीरको उत्पन्न करता है । यही उन दोनोंमें भेद है ।

शंका—सूक्ष्म जीवोंका शरीर सूक्ष्म होनेसे ही अन्य मूर्त द्रव्योंके द्वारा आघातको प्राप्त नहीं होता है, इसलिये मूर्त द्रव्योंके साथ प्रतिघातका नहीं होना सूक्ष्म नामकर्मके उदयसे नहीं मानना चाहिये ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, ऐसा मानने पर दूसरे मूर्त पदार्थोंके द्वारा आघातको नहीं प्राप्त होनेसे सूक्ष्म सबको प्राप्त होनेवाले सूक्ष्म शरीरसे असत्यातगुणी हीन अवगाहनावाले, और बादर नामकर्मके उदयसे बादर सबको प्राप्त होनेवाले बादर शरीरकी सूक्ष्मताके प्रति कोई विशेषता नहीं रह जाती है, अतएव उसका भी मूर्त पदार्थोंसे प्रतिघात नहीं होगा ऐसी आपत्ति आजायगी ।

शंका—आजाने दो ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, ऐसा मानने पर सूक्ष्म और बादर नामकर्मके उदयमें फिर कोई विशेषता नहीं रह जायगी ।

शंका—सूक्ष्म नामकर्मका उदय सूक्ष्म शरीरको उत्पन्न करनेवाला है, इसलिये उन दोनोंके उदयमें भेद है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, सूक्ष्म शरीरसे भी असंख्यातगुणी हीन अवगाहनावाले और बादर नामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुए बादर शरीरकी उपलब्धि होती है ।

शंका—यह कैसे जाना ?

समाधान—वेदना नामक चौथे खण्डागमके क्षेत्रासुयोगद्वारसबन्धी निम्न सूत्रोंसे जाना जाता है । वे इसप्रकार हैं—

सूक्ष्म निगोदिया लब्धपर्याप्तक जीवकी जघन्य अवगाहना सबसे स्तोत्र ( थोड़ी ) है । सूक्ष्म वायुकायिक, सूक्ष्म अशिकायिक, सूक्ष्म जलकायिक और सूक्ष्म पृथिवीकायिक लब्धपर्याप्तक जीवोंकी जघन्य अवगाहना सूक्ष्म निगोदिया लब्धपर्याप्तककी जघन्य अवगाहनासे

चादरवाल-चादरतेउ-चादरआउ-चादरपुढवि-चादरणिगोदजीव-चादरवणफ्फादिकाइयपत्तेय-सरीर-अपज्जत्तयस्स जहणिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा । वेइदिय-तेइदिय-चउरिदिय-पंचिदिय-अपज्जत्तयस्स जहणिया ओगाहणा अमसेज्जगुणा । सुहुम-णिगोद-पज्जत्तयस्स जहणिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा । तस्सेव अपज्जत्तयस्स उक्कस्सियया ओगाहणा विसेसाहिया । तस्सेव सुहुमवाउकाइय-सुहुमतेउकाइय-सुहुमथाउकाइय-सुहुमपुढवि-काइय-पज्जत्तयस्स जहणिया-ओगाहणा असंखेज्जगुणा । तस्सेव अपज्जत्तयस्स उक्कस्सियया ओगाहणा विसेसाहिया । तस्सेव पज्जत्तयस्स उक्कस्सिया ओगाहणा विसेसाहिया । चादरवाल-काइय-चादरतेउकाइय-चादर-आउकाइय-चादरपुढवि-चादरणिगोदजीव-पज्जत्तयस्स जहणिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा । तस्सेव अपज्जत्तयस्स उक्कस्सियया ओगाहणा विसेसाहिया । तस्सेव पज्जत्तयस्स उक्कस्सिया ओगाहणा विसेसाहिया । 'चादरवणफ्फादिकाइयपत्तेय-

उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी है । सूक्ष्म पृथिवीकायिक लब्धपर्याप्तक जीवकी जघन्य अवगाहनासे बादर वायुकायिक, बादर अशिकायिक, बादर जलकायिक, बादर पृथिवीकायिक, बादरनिगोद और सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिकायिक लब्धपर्याप्तक जीवोंकी जघन्य अवगाहना उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी है । सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिकायिक लब्धपर्याप्तक जीवकी जघन्य अवगाहनासे अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिकायिक, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय लब्धपर्याप्तक जीवोंकी जघन्य अवगाहना उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी है । लब्धपर्याप्तक पंचेन्द्रिय जीवकी जघन्य अवगाहनासे सूक्ष्म निगोदिया पर्याप्तककी जघन्य अवगाहना असंख्यातगुणी है । इससे सूक्ष्म निगोदिया लब्धपर्याप्तककी उत्कृष्ट अवगाहना कुछ अधिक है । इससे सूक्ष्म निगोदिया पर्याप्तककी उत्कृष्ट अवगाहना कुछ अधिक है । इससे सूक्ष्म वायुकायिक अपर्याप्तकी उत्कृष्ट पर्याप्तककी जघन्य अवगाहना असंख्यातगुणी है । इससे सूक्ष्म वायुकायिक अपर्याप्तकी उत्कृष्ट अवगाहना विशेष अधिक है । इसीतरह सूक्ष्म वायुकायिकसे सूक्ष्म अशिकायिक, उससे सूक्ष्म जलकायिक, उससे सूक्ष्म पृथिवीकायिकसबन्धी प्रत्येककी क्रमसे पर्याप्त, अपर्याप्त और पर्याप्तसबन्धी जघन्य, उत्कृष्ट और उत्कृष्ट अवगाहना उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी, विशेषाधिक और विशेषाधिक समझ लेना चाहिये । इसीतरह सूक्ष्मपृथिवीकायिक पर्याप्तकी उत्कृष्ट अवगाहनासे बादर वायु-

कायिक, उससे बादर अशिकायिक, उससे बादर जलकायिक, उससे बादर पृथिवीकायिक, उससे बादर निगोद जीव और उससे निगोदप्रतिष्ठित वनस्पतिकायिकसबन्धी प्रत्येककी क्रमसे पर्याप्त, अपर्याप्त और पर्याप्तसबन्धी जघन्य, उत्कृष्ट और उत्कृष्ट अवगाहना उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी, विशेषाधिक और विशेषाधिक समझ लेना चाहिये । इसीतरह सूक्ष्मपृथिवीकायिक पर्याप्तकी उत्कृष्ट अवगाहनासे बादर वायु-

कायिक, उससे बादर अशिकायिक, उससे बादर जलकायिक, उससे बादर पृथिवीकायिक, उससे बादर निगोद जीव और उससे निगोदप्रतिष्ठित वनस्पतिकायिकसबन्धी प्रत्येककी क्रमसे पर्याप्त, अपर्याप्त और पर्याप्तसबन्धी जघन्य, उत्कृष्ट और उत्कृष्ट अवगाहना उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी, विशेषाधिक और विशेषाधिक समझना चाहिये । सप्रतिष्ठित प्रत्येककी उत्कृष्ट

१ चादरणिगोदपट्टिद्वयज्जाता निमित्ति सुवर्णिं ण वृत्ता ? ण, तेमि पत्तेयमरोए उतत्थावादो ।  
बला अ पृ २५०

शरीरपञ्चतयस्य जहणिया ओगाहणा अमरोज्जगुणा । वेद्दिय-पञ्चतयस्य जहणिया ओगाहणा अमरोज्जगुणा । तेद्दिय-चउरिदिय-यच्चिय-पञ्चतयस्य जहणिया ओगाहणा संखेज्जगुणा । तेद्दिय-चउरिदिय-वेद्दिय-वादरवणफाटिकाइयपत्तेयशरीर-पंचिंदिय-अपज-त्तयस्य उक्कस्सिया ओगाहणा संखेज्जगुणा । तस्सेव पञ्चतयस्य वि संखेज्जगुणा' चि ।

पंचमूर्तद्वयैरग्रतिहन्यमानशरीरनिर्वर्तकं सूक्ष्मकर्म । तद्विपरीतशरीरनिर्वर्तकं वादर-कर्मति स्थितम् । तत्र वादराः सूक्ष्माश्च द्विविधाः, पर्याप्ताः अपर्याप्ता इति । पर्याप्त-

अवगाहनासे वादर वनस्पतिकार्यिक प्रत्येकशरीर पर्याप्तकर्मकी जघन्य अवगाहना असंख्यात-गुणी है । इससे इन्द्रिय पर्याप्तकी जघन्य अवगाहना असंख्यात गुणी है । इससे त्रिन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय पर्याप्तकी जघन्य अवगाहना उत्तरोत्तर संख्यातगुणी है । पंचेन्द्रिय पर्याप्तकी जघन्य अवगाहनासे त्रिन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, इन्द्रिय, वादर वनस्पतिकार्यिक प्रत्येक-शरीर और पंचेन्द्रिय अपर्याप्तकी उरुहण अवगाहना उत्तरोत्तर संख्यातगुणी है । पंचेन्द्रिय अपर्याप्तकी उरुहण अवगाहनासे त्रिन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, इन्द्रिय, वादर वनस्पतिकार्यिक प्रत्येक-शरीर और पंचेन्द्रिय पर्याप्तकी उरुहण अवगाहना उत्तरोत्तर संख्यातगुणी है ।

इस उपर्युक्त कथनसे यह बात सिद्ध हुई कि जिसका मूर्त पदार्थसे प्रतिघात नहीं होता है उसे शरीरको निर्माण करनेवाला सूक्ष्म नामकर्म है, और उससे विपरीत अर्थात् मूर्त पदार्थसे प्रतिघातको प्राप्त होनेवाले शरीरको निर्माण करनेवाला वादर नामकर्म है ।

विशेषार्थ — ऊपर जो सूक्ष्म निर्गोदिया लब्धपर्याप्तकर्मकी जघन्य अवगाहनासे लेकर पंचेन्द्रिय पर्याप्ततक जीवोंकी उरुहण अवगाहनाका क्रम बतला आये हैं, उसे देखते हुए यह सिद्ध होता है कि सूक्ष्म जीवोंकी मध्यम अवगाहना वादरोंसे भी अधिक होती है । इसलिये छोटी मरी अवगाहनासे स्थूलता और सूक्ष्मता न मानकर स्थूल और सूक्ष्म कर्मके उदयसे सप्रतियोग और अप्रतियोगवाले शरीरको वादर और सूक्ष्म कहते हैं । तथा ऊपर जो वेदनाखण्डके सूत्र उद्भूत किये हैं उनमें सप्रतिष्ठित वादर वनस्पतिसे अप्रतिष्ठित वादर वनस्पतिका स्थान स्वतंत्र माना है । फिर भी यहाँ 'संबन्धोवा' इत्यादि उद्भूत सूत्रों में सप्रतिष्ठितके स्थानको अप्रतिष्ठितके स्थानमें अन्तर्भूत करके सप्रतिष्ठित वनस्पतिका स्वतंत्र स्थान नहीं बतलाया है ।

इतने, वादर और सूक्ष्म दोनों ही प्रत्येक दो दो प्रकारके हैं, पर्याप्त और अपर्याप्त ।

१ । ग म २१-१३ सुभानिपतेआभूतेऽपुणिपट्टिडि इदर । त्रितिचपमादिल्लण पुयाराण निदि य ॥ अपमिऽपत्तंय त्रितिचपत्तचिऽपट्टिडि मयल । त्रिचिऽपट्टिडि च य मयल त्तादलगुणिदग्गा ॥ अपरपण पदम गेत्त तुल निरियतारिगोली । पुणिदरपुण्यपण जहणपुण्णमुत्त ॥ पुण्णजहण ततो वर अपणत्त पुत्तयस । चोपणज्जो पि अमत्त सप गण तवो ॥ सहमेदरगुणारो आबल्लियन्त्वा असखमाणो इ । मग्गो तेऽग्गा भिया त्तेणमग्गिणो ॥ गो ती १७-१०२ ।

कर्मोदयवन्तः पर्याप्ताः । तदुदयवन्तामनिष्पन्नशरीराणा कथं पर्याप्तव्यपदेशो घटत इति चेन्न, नियमेन शरीरनिष्पादकानां भाविनि भूतवदुपचारतस्तदविरोधात् पर्याप्त-नामकर्मोदयसहचारात् । यदि पर्याप्तवशब्दो निष्पात्तिवाचकः, कैसे निष्पन्नाः इति चेत्पर्याप्तिभिः । क्रियत्यस्ताः इति चेत्सामान्येन पद् भवन्ति, आहारपर्याप्तिः शरीर-पर्याप्तिः इन्द्रियपर्याप्तिः आनापानपर्याप्तिः भाषापर्याप्तिः मन पर्याप्तिरिति ।

तत्राहारपर्याप्तेरर्थ उच्यते । शरीरनामकर्मोदयात् पुद्गलविपाकिन आहारवर्णा-गतपुद्गलस्कन्धाः समवेतान्तपरमाणुनिष्पादिता आत्मविषयक्षेत्राः कर्मस्कन्धस्मन्व्यथो मूर्तीभूतमात्मानं समवेतत्वेन समाश्रयन्ति । तेषामुपगतानां पुद्गलस्कन्धानां खलरापर्यायैः यरिणमनशक्तेर्निमित्तानामाप्तिराहारपर्याप्तिः । सा च नान्तमुद्दृतमन्तरेण समयैकैकैर्नोप-जायते आत्मनोऽक्रमेण तथाविधपरिणामाभावाच्छरीरोपादानप्रथमसमयादारभ्यान्तमुद्दृतै-उतमसे जो पर्याप्त नामकर्मके उदयसे युक्त हैं उन्हें पर्याप्त कहते हैं ।

शंका — पर्याप्त नामकर्मके उदयसे युक्त होते हुए भी जब तक शरीर निष्पन्न नहीं हुआ है तब तक उन्हें पर्याप्त कैसे कह सकते हैं ?

समाधान — नहीं, क्योंकि, नियमसे शरीरको उत्पन्न करनेवाले जीवोंके, होनेवाले कार्यमें यह कार्य हो गया, इसप्रकार उपचार कर लेनेसे पर्याप्त संज्ञा करनेमें कोई विरोध नहीं आता है । अथवा, पर्याप्त नामकर्मके उदयसे युक्त होनेके कारण पर्याप्त संज्ञा दी गई है ।

शंका — यदि पर्याप्त शब्द निष्पात्ति वाचक है तो यह बतलाइये कि ये पर्याप्तजीव किससे निष्पन्न होते हैं ।

समाधान — पर्याप्तियोंसे निष्पन्न होते हैं ।

शंका — वे पर्याप्तियां कितनी हैं ?

समाधान — सामान्यकी अपेक्षा छह हैं, आहारपर्याप्ति, शरीरपर्याप्ति, इन्द्रिय-पर्याप्ति, आनापानपर्याप्ति, भाषापर्याप्ति और मनःपर्याप्ति । इनमेंसे, पहले आहारपर्याप्तिका अर्थ कहते हैं । शरीर नामकर्मके उदयसे जो परस्पर अनन्त परमाणुओंके संबन्धसे उत्पन्न हुए हैं, और जो आत्मासे व्याप्त आकाश क्षेत्रमें स्थित हैं ऐसे पुद्गलविपाकी आहारवर्णा-सबन्धी पुद्गलस्कन्ध, कर्मस्कन्धके संबन्धसे कथंचित् मूर्तपनेको प्राप्त हुए आत्माके साथ समवायरूपसे संबन्धको प्राप्त होते हैं, उन खल-भ्रग और रस भागके भेदसे परिणमन करनेरूप शक्तिसे बने हुए आगत पुद्गलस्कन्धोंकी प्रतिको आहारपर्याप्ति कहते हैं । वह आहारपर्याप्ति अन्तर्मुद्दृतके विना केवल एक समयमें उत्पन्न नहीं हो जाती है, क्योंकि, आत्माका एकसाय आहारपर्याप्तिरूपसे परिणमन नहीं हो सकता है । इसलिये शरीरको ग्रहण करनेके प्रथम समयसे लेकर एक अन्तर्मुद्दृतमें आहारपर्याप्ति निष्पन्न होती है । तिलकी रलीके

नाहारपर्याप्तिनिष्पद्यत' इति यावत् । तं खलभागं तिलखलोपममस्थ्यादिस्थिरावयवैस्ति-  
तैलसमानं रसभागं रसरुधिरवसाशुक्रादिद्रवावयवैरौदारिकादिशरीरत्रयपरिणामशक्त्युपेतानां  
स्कन्धानामवाप्तिः शरीरपर्याप्तिः । साहारपर्याप्तेः पश्चादन्तर्मुहूर्तेन निष्पद्यते । योग्य-  
देशस्थितरूपादिविशिष्टार्थग्रहणशक्त्युत्पत्तेर्निमित्तपुद्गलप्रचयावाप्तिरिन्द्रियपर्याप्तिः । सापि  
ततः पश्चादन्तर्मुहूर्तौपजायते । न चेन्द्रियनिष्पत्तौ सत्यामपि तस्मिन् क्षणे बाह्यार्थ-  
विषयविज्ञानमुत्पद्यते तदा तदुपकरणाभावात् । उच्छ्वासनिस्सरणशक्तेर्निष्पत्तिनिमित्त-  
पुद्गलप्रचयावाप्तिरानापानपर्याप्तिः । एषापि तस्मादन्तर्मुहूर्तकाले समतीते भवेत् । भाषा-  
वर्णनायाः स्कन्धाच्चतुर्विधभाषाकारेण परिणामनशक्तेर्निमित्तनोकर्मपुद्गलप्रचयावाप्तिर्भाषा-  
पर्याप्तिः । एषापि पश्चादन्तर्मुहूर्तौपजायते । मनोवर्णनास्कन्धानिष्पन्नपुद्गलप्रचयः अनु-  
भूतार्थस्मरणशक्तिनिमित्तः मनःपर्याप्तिः द्रव्यमनोऽवष्टम्भेनानुभूतार्थस्मरणशक्तेरुत्पत्ति-  
र्भेनपर्याप्तिर्वी । एतासां प्रारम्भोऽक्रमेण जन्मसमयादारभ्य तासां सत्त्वाभ्युपगमात् ।

समान उस खलभागको हड्डी आदि कठिन अवयवरूपसे और तिलके तैलके समान रसभागको  
रस, रुधिर, बसा, वीर्य आदि द्रव अवयवरूपसे परिणमन करनेवाले औदारिक आदि तीन  
शरीरोंकी शक्तिसे युक्त पुद्गलस्कन्धोंकी प्राप्तिको शरीर पर्याप्ति कहते हैं । वह शरीर पर्याप्ति  
आहार पर्याप्तिके पश्चात् एक अन्तर्मुहूर्तमें पूर्ण होती है । योग्य देशमें स्थित  
रूपादिसे युक्त पदार्थोंके ग्रहण करनेरूप शक्तिकी उत्पत्तिके निमित्तभूत  
पुद्गलप्रचयकी प्राप्तिको इन्द्रियपर्याप्ति कहते हैं । यह इन्द्रिय पर्याप्ति भी शरीर पर्याप्तिके  
पश्चात् एक अन्तर्मुहूर्तमें पूर्ण होती है । परतु इन्द्रिय पर्याप्तिके पूर्ण हो जाने पर भी उसी  
समय बाह्य पदार्थसबन्धी ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है, क्योंकि, उस समय उसके उपकरणरूप  
द्रव्येन्द्रिय नहीं पाई जाती है । उच्छ्वास और निःश्वासरूप शक्तिकी पूर्णताके निमित्तभूत  
पुद्गलप्रचयकी प्राप्तिको आनापान पर्याप्ति कहते हैं । यह पर्याप्ति भी इन्द्रिय पर्याप्तिके अन-  
न्तर एक अन्तर्मुहूर्त काल व्यतीत होने पर पूर्ण होगी । भाषावर्णनाके स्कन्धोंके निमित्तसे  
चार प्रकारकी भाषारूपसे परिणमन करनेकी शक्तिके निमित्तभूत नोकर्म पुद्गलप्रचयकी  
प्राप्तिको भाषा पर्याप्ति कहते हैं । यह पर्याप्ति भी आनापान पर्याप्तिके पश्चात् एक अन्तर्मुह-  
ूर्तमें पूर्ण होती है । अनुभूत अर्थके स्मरणरूप शक्तिके निमित्तभूत मनोवर्णनाके स्कन्धोंसे  
निष्पन्न पुद्गलप्रचयको मनःपर्याप्ति कहते हैं । अथवा, द्रव्यमनके आलम्बनसे अनुभूत अर्थके  
स्मरणरूप शक्तिकी उत्पत्तिको मन पर्याप्ति कहते हैं । इन छहों पर्याप्तियोंका प्रारम्भ युगपत्

१ आहारपर्याप्तिश्च प्रथमसमय एव निष्पद्यते XXX आहारपर्याप्त्या अपर्याप्तौ विग्रहप्राप्तौवेत्पद्यते  
नेपपतक्षेनमागतोऽपि, उपपतक्षेनमागतस्य प्रथमसमय एवाहाकवात् । तत एक्रमात्मिकी जाहारपर्याप्तिसिद्धिः ।  
न स १७ टी

२ गो जी गा ११९ न स १७ अनयोर्धीका विभेपावृत्तमथानाय दृष्टव्या ।

निष्पत्तिस्तु पुनः क्रमेण' । एतासामनिष्पत्तिरपर्याप्तिः ।

पर्याप्तिप्राणयोः को भेद इति चेन्न, अनयोर्हिमवद्विन्ध्ययोरिव भेदोपलम्भात् । यत्  
आहारशरीरेन्द्रियानापानभाषामनःशक्तीनां निष्पत्तेः कारणं पर्याप्तिः । प्राणिति एभिः रात्मेति  
प्राणाः पञ्चेन्द्रियमनोवाकायानापानार्थेषु इति । भवन्त्विन्द्रिययुक्तायाः प्राणव्यपदेश-  
भाजः तेषामजन्मन आमरणाद्भवधारणत्वेनोपलम्भात् । तत्रैकस्याप्यभावतोऽसुसुमतां मरण-  
संदर्शनाच्च । अपि तूच्छ्वासमनोवचसां न प्राणव्यपदेशो युज्यते तान्यन्तरेणापि अपर्याप्ता-  
वस्थयां जिवनोपलम्भादिति चेन्न, तैर्विना पश्चाज्जीवतामनुपलम्भतस्तेषामपि प्राणत्वा-  
विरोधात् । उक्तं च—

बाहिर-पाणेहि जहा तहेव अब्मतेरोहि पाणेहि ।

जीवति नेहि जीवा पाणा ते ह्येति बोद्धव्यं ॥ १४१ ॥

होता है, क्योंकि, जन्म समयसे लेकर ही इनका अस्तित्व पाया जाता है । परतु पूर्णता क्रमसे  
होती है । तथा इन पर्याप्तियोंकी अपूर्णताको अपर्याप्ति कहते हैं ।

शंका — पर्याप्ति और प्राणमें क्या भेद है ?

समाधान — नहीं, क्योंकि, इनमें हिमवान् और विन्ध्याचल पर्वतके समान भेद पाया  
जाता है । आहार, शरीर, इन्द्रिय, आनापान, भाषा और मनरूप शक्तियोंकी पूर्णताके कारणको  
पर्याप्ति कहते हैं । और जिनके द्वारा आत्मा जीवन संज्ञाको प्राप्त होता है उन्हें प्राण कहते  
हैं । यही इन दोनोंमें भेद है । वे प्राण पाच इन्द्रिया मनोबल, वचनबल कायबल, आनापान और  
आयुके भेदसे दश प्रकारके हैं

शंका— पाचों इन्द्रिया, आयु और कायबल ये प्राण संज्ञाको प्राप्त हो सकते हैं,  
क्योंकि, वे जन्मसे लेकर मरणतक भव ( पर्याय ) को धारण करनेरूपसे पाये जाते हैं । और  
उनमेंसे किसी एकके अभाव होने पर मरण भी देखा जाता है । परतु उच्छ्वास, मनोबल और  
वचनबल इनको प्राण संज्ञा नहीं दी जा सकती है, क्योंकि, इनके विना भी अपर्याप्त अवस्थायें  
जीवन पाया जाता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, उच्छ्वास, मनोबल और वचनबलके विना अपर्याप्त  
अवस्थायें पश्चात् पर्याप्त अवस्थायें जीवन नहीं पाया जाता है, इसलिये उन्हें प्राण माननेमें  
कोई विरोध नहीं आता है । कहा भी है—

जिसप्रकार नेत्रोंका खोलना, बन्द करना, वचनप्रवृत्ति, आदि बाह्य प्राणोंसे जीव जीते

१ पञ्चतीपट्टवर्ण युगम तु क्रमेण हीदि णिष्टवण । अतोऽपुद्गलमल्लेणहियकमा ततियालावा ॥ गो जी १२०

२ गो जी १२९ टीकास्तुसन्धेया ।

३ गो जी १२९ तत्र 'जीवति' इति श्वाते 'प्राणिति' इति पाठ । पौडलिकद्वयैन्द्रियमादिव्यापाररूपा  
द्रव्यप्राणा । तन्निमित्तभूतानांप्राणपर्याप्तित्तयक्षयोपशमादिविजृम्भितचेतनव्यापाररूपा भावप्राणा । जी प्र टी

पर्यान्वित्राणाना नास्ति निमित्तपत्तिर्न वस्तुनि इति चेन्न, कार्यकारणयोर्भेदात्, पर्यान्वित्राणोऽप्यन्वयान्मनोमयुष्मन्प्राणानामपर्यान्वितकालेऽस्मत्तच्च तयोर्भेदात् । तत्पर्यान्वयोऽप्यपर्यान्वितकाले न सन्तीति तत्र तद्वत्त्वमिति चेन्न, अपर्यान्वितरूपेण तत्र तासां सत्ताम् । किमपर्यान्वितरूपमिति चेन्न, पर्यान्वितीनामर्थनिष्पन्नवस्था अपर्यान्वितः, ततोऽस्ति तेषां भेद इति । अथवा जीवनेहेतुनां तन्व्यमनयेऽप्य शक्तिनिष्पत्तिमात्रं पर्यान्वितरुच्यते, जीवनेहताः पुनः प्राणा इति तयोर्भेदः ।

एकेन्द्रियाणा भेदमभियाय ताम्प्रतं द्वीन्द्रियादीनां भेदमभिधातुकाम उत्तर-  
मसमाह —

हे, उर्यप्रकार त्विन् अन्व्यन्तर इन्द्रियावरण कर्मके अयोपशमादिके द्वारा जीवितं जीवितपनेका  
व्यन्तार हो उनको प्राण कहते हैं ॥ १४१ ॥

शंका—पर्यान्वित और प्राणके नाममें अर्थात् ऋत्नेमात्रमं विवाद है, वस्तुमें कोई  
विवाद नहीं है, इसलिये दोनोंका तात्पर्य एक ही मानना चाहिये?

समाधान—नहीं, क्योंकि, कार्य और कारणके भेदसे उन दोनोंमें भेद पाया जाता है।  
तथा पर्यान्वितोंमें आयुका सद्भाव नहीं होनेसे और मनोबल, वचनबल, तथा उच्छ्वास  
इन प्राणोंके अपर्यान्वित अवस्थामें नहीं पाये जानेसे पर्यान्वित और प्राणमें भेद समझना  
चाहिये ।

शंका—ये पर्यान्वितियां भी अपर्यान्वित कालमें नहीं पाई जाती हैं, इसलिये अपर्यान्वित  
कालमें उनका सद्भाव नहीं रहेगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, अपर्यान्वित कालमें अपर्यान्वितरूपसे उनका सद्भाव पाया  
जाता है ।

शंका—अपर्यान्वितरूप इसका क्या तात्पर्य है ?

समाधान—पर्यान्वितोंकी अपूर्णताको अपर्यान्वित कहते हैं, इसलिये पर्यान्वित,  
अपर्यान्वित और प्राण इनमें भेद सिद्ध हो जाता है । अथवा, इन्द्रियादिमें विद्यमान जीवनेके  
कारणपर्यन्त श्रेयसा न करने इन्द्रियादिरूप शक्तिकी पूर्णतामात्रको पर्यान्वित कहते हैं और  
जो जीवनेके कारण है उन्हें प्राण कहते हैं । इसप्रकार इन दोनोंमें भेद समझना चाहिये ।

इसप्रकार एकेन्द्रियोंके भेद प्रभेदोंका कथन करके अब द्वीन्द्रियादिक जीवोंके भेदोंका

१ अथवामानसोर्गतायापुच्छकथानां उदरसमागच्छतीरावयवस्वरूपेन्द्र्योद्भूतस्त्वोच्छ्वासनिष्पन्नरूपमाया-  
स्वराजनेरूपसंनिवृत्तकारणमात्रशक्तिनिष्पन्न पर्यान्वित, स्वार्थहेतुत्वात्प्राणकारणव्यापारोद्भूतमात्रस्वामप्रवृत्ति-  
मात्रव्यवस्थानीयताशक्तिकारणमात्रशक्तिशेषा प्राणा इति तद्व्यवस्थारहितमापर्यान्वित्राणयोर्भेदव्यभिचे ॥ गो जी,  
स. ५, अ. १२१

वीइन्द्रिया दुविहा. पञ्जता अपञ्जता । तीइन्द्रिया दुविहा,  
पञ्जता अपञ्जता । चउरिन्द्रिया दुविहा, पञ्जता अपञ्जता । पंचि-  
न्द्रिया दुविहा, सण्जी असण्णी । सण्णी दुविहा, पञ्जता अपञ्जता ।  
असण्णी दुविहा, पञ्जता अपञ्जता चेदि ॥ ३५ ॥

द्वीन्द्रियादय उक्तार्था इति पुनरुक्तभयात्पुनस्तेषां नेहार्थ उच्यते । अथ स्यादेतस्य  
एतानन्त्येवेन्द्रियाणीति कथमत्रगम्यते इति चेन्न, आर्यात्तदवगतेः । किं तदार्थमिति चेदुच्यते—  
एन्द्रियस्य पुनस्य एक चि य होइ सेस-जीवाणं ।  
होति कम-वड्डियाइ जिन्धा-वाणत्ति-सोत्ताइं ॥ १४२ ॥

अस्य सूत्रस्यार्थ उच्यते । स्पर्शनमेकमेव एकेन्द्रियस्य भवति, स्पर्शनरसने  
द्वीन्द्रियस्य, स्पर्शनरसनघ्राणेन्द्रियाणि त्रीन्द्रियाणाम्, तानि सचक्षुषि चतुरिन्द्रियाणाम्,  
स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रेन्द्रियाणि पञ्चेन्द्रियाणामिति । अथवा 'कृमिपिपीलिका-  
कथन करनेके इच्छुक आचार्य आगेका सूत्र कहते हैं

द्वीन्द्रिय जीव दो प्रकारके हैं, पर्याप्तक और अपर्याप्तक । त्रीन्द्रिय जीव दो प्रकारके हैं,  
पर्याप्तक और अपर्याप्तक । चतुरिन्द्रिय जीव दो प्रकारके हैं, पर्याप्तक और अपर्याप्तक । पञ्चेन्द्रिय  
जीव दो प्रकारके हैं, संज्ञी और असंज्ञी । सभी जीव दो प्रकारके हैं, पर्याप्तक और अपर्याप्तक ।  
असंज्ञी जीव दो प्रकारके हैं, पर्याप्तक और अपर्याप्तक ॥ ३५ ॥

द्वीन्द्रिय आदि जीवोंका स्वरूप पहले कह आये है, इसलिये पुनरुक्त रूपणके भयसे  
फिरसे यहाँ नहीं कहते हैं ।

शंका—इस जीवके इतनी ही इन्द्रियां होती हैं, यह कैसे जाना ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, आर्यसे इस बातको जाना ।

शंका—यह आगम कौनसा है ?

समाधान—एकेन्द्रिय जीवके एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है, और शेष जीवोंके  
कमसे बढती हुई जिहा, घ्राण, आक्षि और श्रोत्र इन्द्रियां होती हैं ॥ १४२ ॥

अब इस सूत्रका अर्थ कहते हैं । एकेन्द्रिय जीवके एक स्पर्शन इन्द्रिय, द्वीन्द्रिय  
जीवके स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रियां, त्रीन्द्रिय जीवके स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन  
इन्द्रियां, चतुरिन्द्रिय जीवके स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु ये चार इन्द्रिया और पञ्चेन्द्रिय  
जीवके स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पांच इन्द्रियां होती हैं । अथवा 'कृमिपिपीलिका-



अमरमनुष्यादीनामैकैकवृद्धानि' इति अस्मात्तत्त्वार्थद्वयद्वारावसीयते । असाध्यं उच्यते । एकैकं वृद्धं येषां तानीमानि एकैकवृद्धानि । 'वनस्पत्यन्तानामेकम्' इत्येतस्मात्पुत्रास्पर्शनमित्यनुवर्तते । तत एवमभिसम्बध्यते, स्पर्शनं रसनवृद्धं कृम्यादीनाम्, स्पर्शनरसने प्राणवृद्धे पिपीलिकादीनाम्, स्पर्शनरसनघ्राणानि चर्षुवृद्धानि अमरादीनाम्, तानि श्रोत्रवृद्धानि मनुष्यादीनामिति' ।

समनस्काः संज्ञिन इति । मनो द्विविधम्, द्रव्यमनो भावमन इति । तत्र पुद्गलविपाकिकर्मोदयोपेक्षं द्रव्यमनः<sup>१</sup> । वीर्यान्तरायनोद्दिन्द्रियावरणक्षयोपशमोपेक्षात्मनो विशुद्धिर्भावमनः<sup>२</sup> । तत्र भवेन्द्रियाणामिव भावमनस उत्पत्तिकाल एव सत्त्वादपर्याप्तकालेऽपि भावमनसः सत्त्वमिन्द्रियाणामिव किमिति नोक्तमिति चेन्न, बाह्येन्द्रियैर्ग्राह्यअमरमनुष्यादीनामैकैकवृद्धानि' इस सूत्रसे यह जाना जाता है कि किस जिविके कितनी इन्द्रिया होती हैं । अब इस सूत्रका अर्थ कहते हैं—

एक एक इन्द्रियका बढता हुआ क्रम जिन इन्द्रियोंका पाया जावे, ऐसी एक एक इन्द्रियके बढते हुए क्रमरूप पाच इन्द्रिया होती हैं । 'वनस्पत्यन्तानामेकम्' इस सूत्रमेंसे स्पर्शन पर्वकी अनुवृत्ति होती है, इसलिये ऐसा सबन्ध कर लेना चाहिये कि कृमि आदि द्वाँन्द्रिय जीवोंके स्पर्शनके साथ रसना इन्द्रिय और अधिक होती है । पिपीलिका आदि त्रीन्द्रिय जीवोंके स्पर्शन और रसनकेसायघ्राण इन्द्रिय और अधिक होती है । अमर आदि चतुरिन्द्रिय जीवोंके स्पर्शन, रसना और घ्राणके साथ चक्षु इन्द्रिय और अधिक होती है । मनुष्य आदि पंचेन्द्रिय जीवोंके स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षुके साथ श्रोत्र इन्द्रिय और अधिक होती है ।

मनसहित जीवोंको सबी कहते हैं । मन दो प्रकारका है, द्रव्यमन और भावमन । उनमें पुद्गलविपाकी आंगोपांग नामकर्मके उदयकी अपेक्षा रखनेवाला द्रव्यमन है । तथा वीर्यान्तराय और नो-इन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशमरूप आत्मांमें जो विद्युद्धि पैदा होती है वह भावमन है ।

शंका—जीविके नवीन भवको धारण करनेके समय ही भवेन्द्रियोंकी तरह

१ त सू २ २३

२ पाठान्य त रा वा २ २३ वा २४ ज्योत्स्नया ममान ।

३ स मि २ ११ । त रा वा २ ११ द्रव्यमन ४ ज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशममात्रोपात्तव्यमप्रत्यया

युद्धोपशिविचारस्मरणादिशोभानद्यामिभुवदद्यामनोऽनुमादका पुला मनरवन पाणना इति पाठलेखम् । म मि

५ ११ । त रा वा ५ ११

४ म मि २ ११ । त रा वा २ ११ भावमनान्नात्रकुरुरयोगच्छा पुद्गलवृद्धमनस्तात्सोद्-

लिखम् । म मि ५ ११ । त रा वा ५ १९

द्रव्यस्य मनसोऽपर्याप्त्यवस्थायामस्तिवेऽङ्गीक्रियमाणे द्रव्यमनसो विद्यमाननिरूपणस्या-सत्त्वप्रसङ्गात् । पर्याप्तिनिरूपणत्वादस्तित्वं सिद्धयेदिति चेन्न, बाह्यार्थस्मरणशक्तिनिष्पत्तौ पर्याप्तिव्यपदेशतो द्रव्यमनसोऽभवेऽपि पर्याप्तिनिरूपणोपपत्तेः । न बाह्यार्थस्मरणशक्तेः प्रागस्तित्वं योग्यस्य द्रव्यस्योत्पत्तेः प्राक् सत्त्वविरोधात् । ततो द्रव्यमनसोऽस्तित्वस्य ज्ञापकं भवति तस्यापर्याप्त्यवस्थायामस्तित्वानिरूपणमिति सिद्धम् । मनस इन्द्रियव्यपदेशः किञ्च कृत इति चेन्न, इन्द्रस्य लिङ्गमिन्द्रियम् । उपभोक्तुरात्मनोऽनिवृत्तकर्मसम्बन्धस्य परमेस्वरशक्तियोगादिन्द्रव्यपदेशमर्हतः स्वयमर्थान् गृहीतुमसमर्थस्योपयोगोपकरणं लिङ्गमिति कथ्यते । न च मनस उपयोगोपकरणमस्ति । द्रव्यमन उपयोगोपकरणमस्तीति

भावमनका भी सत्त्व पाया जाता है, इसलिये जिसप्रकार अपर्याप्त कालमें भवेन्द्रियोंका सद्भाव कहा जाता है उसीप्रकार वहां पर भावमनका सद्भाव क्यों नहीं कहा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, बाह्य इन्द्रियोंके द्वारा नहीं ग्रहण करते योग्य वस्तुभूत मनका अपर्याप्तिरूप अवस्थामें अस्तित्व स्वीकार करलेने पर, जिसका निरूपण विद्यमान है ऐसे द्रव्यमनके असत्त्वका प्रसंग आ जायगा ।

शंका—पर्याप्तिके निरूपणसे ही द्रव्यमनका अस्तित्व सिद्ध हो जायगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, बाह्यार्थकी स्मरणशक्तिकी पूर्णतामें ही पर्याप्ति इस प्रकारका व्यवहार मान लेनेसे द्रव्यमनके अभावमें भी मनःपर्याप्तिका निरूपण बन जाता है । बाह्य पदार्थोंकी स्मरणरूप शक्तिके पहले द्रव्यमनका सद्भाव बन जायगा ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, द्रव्यमनके योग्य द्रव्यकी उत्पत्तिके पहले उसका सत्त्व मान लेनेमें विरोध आता है । अतः अपर्याप्तिरूप अवस्थामें भावमनके अस्तित्वका निरूपण नहीं करना द्रव्यमनके अस्तित्वका नापक है, ऐसा समझना चाहिये ।

शंका—मनको इन्द्रिय सजा क्यों नहीं दी गई ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, इन्द्र अर्थात् आत्माके लिंगको इन्द्रिय कहते हैं । जिसके कर्मोंका सबन्ध दूर नहीं हुआ है, जो परमेस्वररूप शक्तिके सबन्धसे इन्द्र सशक्तो धारण करता है, परतु जो स्वतः पदार्थोंको ग्रहण करनेमें असमर्थ है ऐसे उपभोक्ता आत्माके उपयोगके उपकरणको लिंग कहते हैं । परतु मनके उपयोगका उपकरण पाया नहीं जाता है, इसलिये मनको इन्द्रिय सजा नहीं दी गई ।

शंका—उपयोगका उपकरण द्रव्यमन तो है ?

१ म मि १, १४

२ इन्द्र आत्मा, तस्य कर्मवर्तीमत्तस्य स्वयमर्थान् गृहीतुमममर्थायोग्यकर्मनं यञ्जित तदिन्द्रियमित्युच्यते ।

त रा वा ? १४ ?



दोणहं एकदरस्स सुत्तत्तादो । दोणहं मज्जे इदं सुत्तमिदं च ण भवदीदि कथं णव्वदि ?  
उव्वदेसमंतरेण तदवगमाभावा दोणहं पि संगहो कायव्वो । दोणहं संगहं करेतो संसय-  
मिच्छाह्दी होदि त्ति तण्ण, सुत्तुदिट्ठमेव अत्थि त्ति सद्दहंतस्स संदेहाभावादो । उत्तं च —  
सुत्तादो त सम्म दरिसिज्जं जव्वा ण सद्दहदि ।

सो चेष हवदि मिच्छाह्दी इ तदो प्पह्दि जीवो ॥ १४३ ॥ इदि ।

पञ्चेन्द्रियप्रतिपादनार्थसुत्तरसूत्रमाह —

पंचिदिया असण्णिपंचिदिय-प्पहुडि जाव अजोगिकेवलि  
त्ति ॥ ३७ ॥

पञ्चेन्द्रियेषु गुणस्थानसंख्यामप्रतिपाद्य किमिति असंक्षिप्रभृतयः पञ्चेन्द्रिया इति  
सकता है ?  
समाधान — नहीं, क्योंकि, दोनों वचन सूत्र नहीं हो सकते हैं, किंतु उन दोनों  
वचनोंमेंसे किसी एक वचनको ही सूत्रपना प्राप्त हो सकता है ।

शंका — दोनों वचनोंमें यह वचन सूत्ररूप है और यह नहीं, यह कैसे जाना जाय ?  
समाधान — उपदेशके बिना दोनोंमेंसे कौन वचन सूत्ररूप है यह नहीं जाना जा  
सकता है, इसलिये दोनों वचनोंका संग्रह करना चाहिये ।

शंका — दोनों वचनोंका संग्रह करनेवाला संग्रह-मिथ्याद्वयि हो जायगा ?

समाधान — नहीं, क्योंकि, संग्रह करनेवालेके 'यह सूत्रकथित ही है' इसप्रकारका  
श्रद्धान पाया जाता है, अतएव उसके सदेह नहीं हो सकता है । कदा भी है—  
सूत्रसे आचार्यादिके द्वारा भलेप्रकार समझाये जाने पर भी यदि वह जीव विपरीत  
अर्थको छोड़कर समीचीन अर्थका श्रद्धान नहीं करता है, तो उसी समयसे वह सप्यद्वयि  
जीव मिथ्याद्वयि हो जाता है ॥ १४३ ॥

पंचेन्द्रियोंमें गुणस्थानोंकी संख्याके प्रतिपादन करनेके लिये अंगोका सूत्र कहते हैं—  
असली-पंचेन्द्रिय-मिथ्याद्वयि गुणस्थानसे लेकर अयोगिकेवली गुणस्थानतक पंचेन्द्रिय  
जीव होते हैं ॥ ३७ ॥

शंका — पंचेन्द्रिय जीवोंमें गुणस्थानोंकी संख्याका प्रतिपादन नहीं करके असंक्षि-  
प्रादिक पंचेन्द्रिय होते हैं, ऐसा क्यों कहा ?

भगति तेमिमहिपाएण तारह्वोरसमाणा देवणा उव्वदकंणण होदि, एद पि वत्सराण सतदत्तउव्वमिद्व ति ण  
नेत्तव । ववला अ पृ २६०.

१ गो जी २९

२ पंचेन्द्रियेषु चतुर्दशापि भवन्ति । म वि १. ८

चेव, अंपेन्द्रियाणामिव चालेन्द्रियग्राहत्वाभावतस्तस्येन्द्रलिङ्गत्वात्तुपपत्तेः । अथ स्यादर्थो-  
लोकमनस्कारचक्षुर्भ्यः सम्प्रवर्तमानं रूपज्ञानं समनस्केषुपलभ्यते तस्य कथममनस्केष्व्या-  
निर्माण इति नेप दोषः, भिन्नजातित्वात् ।

इन्द्रियेषु गुणस्थानामियत्ताप्रतिपादनार्थसुत्तरसूत्रमाह —

एइदिया वीइदिया तीइदिया चउरिंदिया असण्णिपंचिदिया  
एकाम्भि चेष मिच्छाह्दि-द्वरणे ॥ ३६ ॥

एकाम्भित्तेति विशेषणं द्वयादिसंख्यानिराकरणार्थम् । शेषगुणस्थाननिरसनार्थं  
मिथ्याद्वयुपादानम् । एइदिएसु सासणगुणद्वरणं पि सुणिज्जदि तं कथं घड्ढे ? ण,  
एदमिह सुत्ते तस्स णिसिद्धत्तादो । विरुद्धत्थाणं कथं दोणहं पि सुत्तत्तणमिदि ण,

समाधान — नहीं, क्योंकि, जिसप्रकार शेष इन्द्रियोंका बाह्य इन्द्रियोंसे ग्रहण होता  
है उसप्रकार मनका नहीं होता है, इसलिये उसे इन्द्रका लिंग नहीं कह सकते हैं ।

शंका — पदार्थ, प्रकार, मन और चक्षु इनसे उत्पन्न होनेवाला रूप-ज्ञान समनस्क  
जीवोंमें पाया जाता है, यह तो ठीक है । परंतु अमनस्क जीवोंमें उस रूप-ज्ञानकी उत्पत्ति कैसे  
हो सकती है ?

समाधान — यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, समनस्क जीवोंके रूप-ज्ञानसे अमनस्क  
जीवोंका रूप-ज्ञान भिन्न जातीय है ।

अब इन्द्रियोंमें गुणस्थानोंकी निश्चित संख्याके प्रतिपादन करनेके लिये अंगोका सूत्र  
कहते हैं—

एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असली पंचेन्द्रिय जीव मिथ्याद्वयि  
नामक प्रथम गुणस्थानमें ही होते हैं ॥ ३६ ॥

शे, तीन आदि संख्याके निराकरण करनेके लिये सूत्रमें एक पदका ग्रहण किया  
है । तथा अन्य गुणस्थानोंके निराकरण करनेके लिये मिथ्याद्वयि पदका ग्रहण किया है ।

शंका — एकेन्द्रिय जीवोंमें सासादन गुणस्थान भी सुननेमें आता है, इसलिये उनके  
केवल एक मिथ्याद्वयि गुणस्थानके कथन करनेसे वह कैसे बन सकेगा ?

समाधान — नहीं, क्योंकि, इस मङ्गल-सूत्रमें एकेन्द्रियादिकोंके सासादन गुणस्थानका  
निषेध किया है ।

शंका — जब कि दोनों वचन परस्पर विरोधी हैं तो उन्हें सूत्रपना कैसे प्राप्त हो

१ म वि १. ६१ त रा १ १४ २ अनतोर्थाएणा विशेषपरिचयानायुगन्धेया ।

२ मियानुत्तानेन पुंरियादिषु चतुरिन्द्रियपर्यन्तेषु एस्मेव मिथ्याद्वयिस्थानम् । अमत्रिषु एरुमेव मिथ्या-  
द्विस्थानम् । म. वि १, ८

३ येषां नो जगत्त एकेन्द्रियेषु नोपपत्तेः १. ८ जे पुता देवमाणा एद्विएसुप्यज्जति सि

प्रतिपादितमिति चैत्रैप दोषः, असंख्यादयोऽयोगिकत्रलिपर्यन्ताः पञ्चेन्द्रिया इत्यभिहिते पञ्चेन्द्रियेषु गुणस्थानानामियत्तावगतेः । अथ सादसंख्यादयोऽयोगिकत्रलिपर्यन्ताः किमु पञ्चद्रव्येन्द्रियवन्त उत भावेन्द्रियवन्त इति ? न तावदादिविकल्प. अपर्याप्तजैवैर्व्यभि-  
चारत् । न द्वितीयनिकल्पः केवलिव्यभिचारदिति नैष दोषः, भावेन्द्रियतः पञ्चेन्द्रियत्वाभ्युपगमात् । न पूर्वोक्तदोषोऽपि केवलानां निर्मूलतो विनष्टान्तरङ्गेन्द्रियाणां ग्रह-  
वाहेन्द्रियव्यापारणां भावेन्द्रियजनितद्रव्येन्द्रियसत्त्वापेक्षया पञ्चेन्द्रियत्वप्रतिपादनात्, भूतपूर्वगतित्वायसमाश्रयणाद्वा । सर्वत्र निश्चयनयमाश्रित्य प्रतिपाद्य अत्र व्यवहारनयः किमित्यवलम्ब्यते इति चैत्रैप दोषः, मन्दमेधसामनुग्रहार्थत्वात् । अथवा नेदं व्याख्यानं ममीचीनं दुरधिगमत्वात्, इन्द्रियप्राणैरस्य पौनरुक्त्यप्रसङ्गात् । किमपरं व्याख्यानमिति

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, असंखीको आदि लेकर अयोगिकवली पर्यन्त पचेन्द्रिय जीव होते है, ऐसा कथन कर देने पर पचेन्द्रियोंमें गुणस्थानोंकी सख्याका ज्ञान हो जाता है ।

शंका—असंखीसे लेकर अयोगिकवलीतक पचेन्द्रिय जीव होते है यह ठीक है, परंतु वे स्या पाच द्रव्येन्द्रियोंसे युक्त होते है या पाच भावेन्द्रियोंसे युक्त होते हैं? इनमें से प्रथम विकल्प तो वन नहीं सकता, क्योंकि, उसके मान लेने पर अपर्याप्त जीवोंके साथ व्यभिचार दोष आता है । अर्थात् अपर्याप्त जीव पचेन्द्रिय होते हुए भी उनके द्रव्येन्द्रिया नहीं पाई जाती, इसलिये व्यभिचार दोष आता है । इसीप्रकार दूसरा विकल्प भी नहीं बनता, क्योंकि, उसके मान लेने पर केवलियोंसे व्यभिचार दोष आता है । अर्थात् केवली पचेन्द्रिय होते हुए भी भावेन्द्रियों नहीं पाई जाती हैं, इसलिये व्यभिचार आता है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, यहां पर भावेन्द्रियोंकी अपेक्षा पचेन्द्रियपना स्वीकार किया है । और ऐसा मान लेने पर पूर्वोक्त दोष भी नहीं आता है । केवलियोंके यद्यपि भावेन्द्रिया समूल नष्ट हो गई हैं, और बाह्य इन्द्रियोंका व्यापार भी बन्द हो गया है, तो भी ( छद्मस्थ अवस्थामें ) भावेन्द्रियोंके निमित्तसे उत्पन्न हुई द्रव्येन्द्रियोंके सद्भावकी अपेक्षा उन्हें पचेन्द्रिय कहा गया है । अथवा भूतपूर्वका ज्ञान करानेवाले न्यायके आश्रयसे उन्हें पचेन्द्रिय कहा है ।

शंका—सब जगह निश्चय नयका आश्रय लेकर वस्तु स्वरूपका प्रतिपादन करनेके पश्चात् फिर यहां पर व्यवहार नयका आलम्बन क्यों लिया जा रहा है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, मन्दबुद्धि शिष्योंके अनुग्रहके लिये उत्कृष्टकारसे वस्तुस्वरूपका विचार किया है । अथवा, उक्त व्याख्यानको ठीक नहीं समझना, क्योंकि, मन्दबुद्धि शिष्योंके लिये यह व्याख्यान दुरुवबोध है । दूसरे इन्द्रिय और प्राणोंके साथ इस कथनका पुनरुक्त दोष भी आता है ।

चेदुच्यते । एकेन्द्रियजातिनामकर्मोदयोदेकेन्द्रियः, द्वीन्द्रियजातिनामकर्मोदयाद् द्वीन्द्रियः, त्रीन्द्रियजातिनामकर्मोदयात्रीन्द्रियः, चतुरिन्द्रियजातिनामकर्मोदयाचतुरिन्द्रियः, पञ्चेन्द्रिय-  
जातिनामकर्मोदयात्पञ्चेन्द्रियः । समस्त च केवलिनामपर्याप्तजीवानां च पञ्चेन्द्रियजातिनामकर्मोदयः । निरवद्यत्वाद् व्याख्यानमिदं समाश्रयणीयम् । पञ्चेन्द्रिय-  
जातिरिति किं ? यस्याः पारापतादयो जातिविशेषाः समानप्रत्ययग्राह्या सा पञ्चेन्द्रिय-  
जातिः पञ्चेन्द्रियक्षयोपशमस्य सहकारित्वमाधाना ।

अतीन्द्रियजीवास्तिवप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

तेण परमणिदिया इदि ॥ ३८ ॥

तेनेति एकनचनं जातिनिवन्धनम् । परमूर्धमनिन्द्रियाः एकेन्द्रियादिजात्यतीताः सकलकर्मकलङ्कतीतत्वात् ।

कायमार्गणाप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

कायाणुवादेण अत्थि पुढाविकाइया आउकाइया तेउकाइया वाउकाइया वणफ्फइकाइया तसकाइया अकाइया वेदि ॥ ३९ ॥

शंका—तो फिर वह दूसरा कौनसा व्याख्यान है जिसे ठीक माना जाय ?

समाधान—एकेन्द्रिय जाति नामकर्मके उदयसे एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय जाति नामकर्मके उदयसे द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रियजाति नामकर्मके उदयसे त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रियजाति नामकर्मके उदयसे चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रियजाति नामकर्मके उदयसे पचेन्द्रिय जीव होते हैं । इस व्याख्यानके अनुसार केवली और अपर्याप्त जीवोंके भी पचेन्द्रिय जाति नामकर्मका उदय होता ही है । अतः यह व्याख्यान निर्दोष है । अतएव इसका आश्रय करना चाहिये ।

शंका—पंचेन्द्रियजाति किसे कहते है ?

समाधान—जिसके कर्तुत्तर आदि जाति-विशेष 'ये पंचेन्द्रिय है' इसप्रकार समान प्रत्ययसे ग्रहण करने योग्य होते है और जिसमें पंचेन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशमके सहकारी-पनेकी अपेक्षा रहती है उसे पचेन्द्रिय जाति कहते हैं ।

अब अतीन्द्रिय जीवोंके अस्तित्वके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते है—  
उन एकेन्द्रियादि जीवोंसे परे अनिन्द्रिय जीव होते हैं ॥ ३८ ॥

सूत्रमें 'तेन' यह एक वचन जातिका सूचक है । 'पर' शब्दका अर्थ ऊपर है । जिससे यह अर्थ हुआ कि एकेन्द्रियादि जातिरेवोंसे रहित अनिन्द्रिय जीव होते हैं, क्योंकि, उनके संपूर्ण द्रव्यकर्म और भावकर्म नहीं पाये जाते हैं ।

अब कार्यमार्गणाके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते है—

कायाणुवादकी अपेक्षा पृथिवीकायिक, जलकायिक, अशिकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक, त्रसकायिक और कायरहित जीव होते है ॥ ३९ ॥

अनुबन्धनमुवाहः । कायानामनुवादः कायानुवादः तेन कायानुवादेन । पृथिव्येव कायः पृथिवीकायः स एगामस्मीति पृथिवीकायिकाः । न कर्मणशरीरमात्रस्थितजीवानां पृथिवीकायत्तमात्राः भाविनि भूतनदुपचारतस्तेषामपि तद्व्यपदेशोपपत्ते । अथवा पृथिवीकायिकनामकर्मोदयवशीकृताः पृथिवीकायिकाः । एतन्पृथिवीकायिकानामपि नाप्यम् । पृथिव्यादीनि कर्मण्यपिद्वानीति चैव, पृथिवीकायिकादिकार्यान्नाथानुपपत्तितस्तदस्ति-त्तमिद्रेः । एते पञ्चापि व्यासराः स्थाननामकर्मोदयजनितविशेषत्वात् । स्थानशीलाः व्यासरा इति चैव, वायुतेजोऽम्भसां देशात्तराग्नित्दर्शनदथावरत्तप्रसङ्गात् । स्थानशीलाः व्यासरा इति व्युत्पत्तिमात्रमेव, नार्थःप्राधान्येनाथीयते गोशब्दसेव । तसनामकर्मोदयाया-

सृष्टके अनुसुल कथन करनेको अनुवाद कहते हैं । कायके अनुवादको कायानुवाद कहते हैं, उसकी अपेक्षा पृथिवीकायिक आदि जीव होते हैं । पृथिवीरूप शरीरको पृथिवी-काय कहते हैं, वर जिनके पाया जाता है उन जीवोंको पृथिवीकायिक कहते हैं । पृथिवी-कायिकता इसप्रकार लक्षण करते पर कर्मण काययोगमें स्थित जीवोंके पृथिवीकायपना नहीं हो सकता है, यह बात नहीं है, क्योंकि, जिसप्रकार जो कार्य अभी नहीं हुआ है, उसमें यह तो चला इसप्रकार उपचार किया जाता है, उसीप्रकार कर्मण काययोगमें स्थित पृथिवीकायिक जीवोंके भी पृथिवीकायिक यह सजा उन जाती है । अथवा, जो जीव पृथिवीकायिक नामकर्मके उदयके नशर्ता हैं उन्हें पृथिवीकायिक कहते हैं । इसीप्रकार जलकायिक आदि शब्दोंकी भी भिन्निक कर लेना चाहिये ।

शंका—पृथिवी आदि कर्म तो अस्तित्व है, अर्थात् उनका सद्भाव किसी प्रमाणसे फिर नहीं होता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, पृथिवीकायिक आदि कार्यात्ता होना अन्यथा वन नहीं सकता, इसलिये पृथिवी आदि नामकर्मके अस्तित्वकी सिद्धि हो जाती है ।

स्थानर नामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुई विशेषताके कारण ये पावों ही स्थावर कहलाने हैं ।

शंका—स्थानशील अर्थात् उदरना ही जिनका स्वभाव हो उन्हें स्थावर कहते हैं, ऐसी व्याख्याके अनुसार स्थावरता स्वरूप क्यों नहीं कहा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, वैसा लक्षण मानने पर, वायुकायिक, अग्निकायिक और जलकायिक जीवोंकी एक देशसे दूसरे देशमें गति देवी जानेसे उन्हें अस्थावरत्वका प्रसंग प्राप्त हो जायगा ।

स्थानशील स्थावर होते हैं, वर निवृत्तिप्रमाण ही है, इसमें गो शब्दकी

\* त. १. १. २. २. ३. तंनोपू शिगिराय पत्ता । ग. त. ५. २. १४

दितवृत्तयत्ससाः । त्रसेरुदेजनक्रियस्य त्रस्यन्तीति त्रसा इति चेन्न, गर्भाण्डजमृच्छित-सुप्तयेषु तदभानादत्रसत्प्रसङ्गात् । ततो न चलनाचलनापेक्षं त्रसस्थावरत्तम् । आरम-प्रवृत्त्युपचितपुद्गलपिण्डः कायः इत्यनेनेद व्याख्यानं निरुद्ध्यत इति चेन्न, जीवविपाकि-त्रसपृथिवीकायिकादिर्कर्मोदयसहकार्यौदारिकशरीरोदयजनितशरीरस्यापि उपचारतस्तद्-व्यपदेशार्हत्वाविरोधात् । त्रसस्थावरकायिकनामकर्मनन्धातीताः अकायिकाः सिद्धाः । उक्तं च—

जह कंचणमगि-गयं मुचद् किर्येणं कालियाए य ।

तह काय-वन-मुक्ता अकाइया ज्ञाण-जोएण ॥ १४४ ॥

पुढवि-काइयादीणं भेद-पदुपपायणडुमुत्तर-सुत्तं भणइ—

व्युत्पत्तिकी तरह प्रधानतासे अर्थका ग्रहण नहीं है ।

त्रस नामकर्मके उदयसे जिन्होंने त्रसपर्यायको प्राप्त कर लिया है उन्हें त्रस कहते हैं । शंका—‘त्रसी उद्वेगे’ इस धातुसे त्रस शब्दकी सिद्धि हुई है, जिसका यह अर्थ होता है कि जो उद्विग्न अर्थात् भयभीत होकर भागते हैं वे त्रस हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, गर्भमें स्थित, अण्डमें बन्द, मूर्च्छित और सोते हुए जीवोंमें उक्त लक्षण द्रष्टित नहीं होनेसे उन्हें अत्रसत्वका प्रसंग अजायगा । इसलिये चलने और उदरनेकी अपेक्षा त्रस और स्थावरपना नहीं समझना चाहिये ।

शंका—आरम-प्रवृत्ति अर्थात् योगसे संचित हुए पुद्गलपिण्डको काय कहते हैं, इस व्याख्यानसे पूर्वोक्त व्याख्यान विरोधको प्राप्त होता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जिसमें जीवविपाकी त्रस नामकर्म और पृथिवीकायिक आदि नामकर्मके उदयकी सहकारिता है उसे औदारिक शरीर नामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुए शरीरको उपचारसे कायपना वन जाता है, इसमें कोई विरोध नहीं आता है ।

त्रस और स्थावर-कायिक नामकर्मके बन्धसे अर्थात् सिद्धोंको अकायिक कहते हैं । कहा भी है—

जिसप्रकार अग्निको प्राप्त हुआ सोना कीट और कालिमारूप वाह्य और अभ्यन्तर दोनों प्रकारके मलसे रहित हो जाता है, उसीप्रकार ध्यानके द्वारा यह जीव काय और कर्म-रूप बन्धसे मुक्त होकर कायरहित हो जाता है ॥ १४४ ॥

अब पृथिवीकायिकादि जीवोंके भेदोंके प्रतिपादन करनेके लिये अगोष्ठा सूत्र कहते हैं—

१. त. १. १. २. २. त्रिपु ‘क्रियुण’ इति पाठ ।

३. गो. जी. २. ०. ३. क्रियेन भरिपलिन कालिण्या व त्रैण्यरूपानरामलेन । जी. ५. १.



समापनेदिति चेन्न, वादस्त्वेन मतामभावानुपपत्तेः । अनुक्तं कथमवगम्यत इति चेन्न, मत्प्रान्यथानुपपत्तित्तत्सिद्धे । मौढ्यमिच्छिष्टस्यापि जीवसत्त्वस्यासंभवः समस्तीति नैकान्तिनो हेतुरिति चेन्न, वादरा इति लक्षणमुत्सर्गरूपत्वादेवप्राणिव्यापि । ततः प्रत्येकशरीरवत्सपतयो वादरा एव न युद्धमाः साधारणशरीरेष्विव उत्सर्गविधिवान्नाप- वादविधेरभावात् । तदुत्सर्गत्वं कथमवगम्यत इति चेन्न, प्रत्येकवनस्पतिवत्सेपृथग्- विशेषणानुपादानान्न सूक्ष्मत्वमुत्सर्गः आर्षमन्तरेण प्रत्यक्षादिनानवगतेरसिद्धस्य वादर- त्वस्येत्येवमर्थत्वनिरोधात् ।

साधारणं सामान्यं शरीरं येषां ते साधारणशरीराः । प्रतिनियतजीवप्रतिवद्धैः

समाधान—येसा नहीं है, क्योंकि, प्रत्येक वनस्पतिका वादररूपसे अस्तित्व पाया जाता है, इसलिये उसका अभाव नहीं हो सकता है ।

शंका—प्रत्येक वनस्पतिको वादर नहीं कहा गया है, फिर कैसे जाना जाय कि प्रत्येक वनस्पति वादर ही होती है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, प्रत्येक वनस्पतिका दूसरे रूपसे अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता है, इसलिये वादररूपसे उसके अस्तित्वकी सिद्धि हो जाती है ।

शंका—प्रत्येक वनस्पतिमें यद्यपि सूक्ष्मता-विशिष्ट जीवकी सत्ता असंभव है, परन्तु मत्प्रान्यथानुपपत्ति रूपसे उसकी भी सिद्धि हो सकती है, इसलिये यह सत्त्वान्थथानुप- पत्तिरूप हेतु अनेकान्तिक है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, वादर यह लक्षण उत्सर्गरूप ( व्यापक ) होनेसे संपूर्ण प्राणियोंमें पाया जाता है । इसलिये प्रत्येक शरीर वनस्पति जीव वादर ही होते हैं, सूक्ष्म नहीं, क्योंकि, जिसप्रकार साधारण शरीरोंमें उत्सर्गविधिकी बाधक अपवादविधि पाई जाती है, अर्थात् साधारण शरीरों में वादर भेद के अतिरिक्त सूक्ष्म भेद भी पाया जाता है, उसप्रकार प्रत्येक वनस्पतिमें अपवादविधि नहीं पाई जाती है, अर्थात् उनमें सूक्ष्म भेदका सर्वथा अभाव है ।

शंका—प्रत्येक वनस्पतिमें वादर यह लक्षण उत्सर्गरूप है, यह कैसे जाना जाय ? समाधान—नहीं, क्योंकि, प्रत्येक वनस्पति और उसीमें वादर और सूक्ष्म ये दोनों विशेषण नहीं पाये जाते हैं, इसलिये सूक्ष्मत्व उत्सर्गरूप नहीं हो सकता है, क्योंकि, आगमके विना प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे सूक्ष्मत्वका ज्ञान नहीं होता है, अतएव प्रत्यक्षादिके अप्रसिद्ध सूक्ष्मको वादरकी तरफ उत्सर्गरूप माननेमें विरोध आता है ।

निरोधार्थ—वादरत्व पानों स्यावर और उसीमें पाया जाता है, परन्तु सूक्ष्मत्व प्रत्येक- वनस्पति और उसीमें नहीं पाया जाता है । इसलिये वादर उत्सर्ग विधि है, सूक्ष्मत्व नहीं ।

जिन् जीवोंका साधारण अर्थात् भिन्न भिन्न शरीर न होकर समानरूपसे एक शरीर पाया जाता है उन्हें साधारणशरीर जीव कहते हैं ।

पुद्गलविपाकित्वादाहारवर्गणास्कन्धानां कायाकारपरिणमनहेतुभिरौदारिककर्मस्कन्धैः कथं भिन्नजीवफलदातृभिरैकं शरीरं निष्पाद्यते विरोधादिति चेन्न, पुद्गलानामेकदेशाव- स्थितानामेकदेशावस्थितमिथःसमवेतजीवसमनेतानां तत्स्थायेशेषप्राणिसम्बन्धेकशरीरनिष्पा- दनं न विरुद्धं साधारणकारणतः समुत्पन्नकार्यस्य साधारणत्वाविरोधात् । कारणानुरूपं कार्यमिति न निषेधं पार्यते सकलनैययिकलोकप्रसिद्धत्वात् । उक्तं च—

साधारणमाहारो साधारणमाणपाण-गहण च ।

साधारण-जीवाणं साधारण लक्षण भणिय' ॥ १४५ ॥

जत्येकुकु मरु जीवो तय दु मरण हवे अणंताण ।

वक्रमदि जय एको वक्रमण तय णताणं ॥ १४६ ॥

एय-णिगोद सरिरे जीवा दव्य-णमाणदो दिडा ।

सिद्धेहि अणत-गुणा सव्येण वितीद-कालेण' ॥ १४७ ॥

शंका—जीवोंसे अलग अलग बंधे हुए, पुद्गलविषयकी होनेसे आहार-वर्गणाके स्कन्धोंको शरीरके आकाररूपसे परिणमन करनेमें कारणरूप और भिन्न-भिन्न जीवोंको भिन्न- भिन्न फल देनेवाले औदारिक कर्मस्कन्धोंके द्वारा अनेक जीवोंके एक शरीर कैसे उत्पन्न किया जा सकता है, क्योंकि, ऐसा माननेमें विरोध आता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जो एकदेशमें अवस्थित है और जो एकदेशमें अवस्थित तथा परस्पर सवद्ध जीवोंके साथ समवेत है, ऐसे पुद्गल वहां पर स्थित संपूर्ण जीव- संबन्धी एक शरीरको उत्पन्न करते हैं इसमें कोई विरोध नहीं आता है, क्योंकि, साधारण कारणसे उत्पन्न हुआ कार्य भी साधारण ही होता है । कारणके अनुरूप ही कार्य होता है, इसका नियम भी तो नहीं किया जा सकता है, क्योंकि, यह बात संपूर्ण नैययिक लोगोंमें प्रसिद्ध है । कहा भी है—

साधारण जीवोंका साधारण ही आहार होता है और साधारण ही व्यासोच्छ्वासका ग्रहण होता है । इसप्रकार परमाणुमें साधारण जीवोंका साधारण लक्षण कहा है ॥ १४५ ॥

साधारण जीवोंमें जहां पर एक जीव मरण करता है वहां पर अनन्त जीवोंका मरण होता है । और जहां पर एक जीव उत्पन्न होता है वहां पर अनन्त जीवोंका उत्पाद होता है ॥ १४६ ॥

द्रव्य-प्रमाणकी अपेक्षा सिद्धराशि और संपूर्ण अतीत कालसे अनन्तगुणे जीव एक निगोद-शरीरमें देखे गये हैं ॥ १४७ ॥

१ गो जी १९२ च शब्देन शरीरिन्द्रियपर्याप्तिद्वय मधुचर्याकृतम् । जी प्र टी । आचा नि २३६

२ गो जी १९३ एकनिगोदशरीरे प्रतिमयमन तानन्तनीमास्ताम् संदुम श्रियते संहेतोस्यते यामद- मव्यातमागोपमकौटिकोदिमानी अमव्यातलोस्मायमप्रमिता उत्पद्यनिगोदराश्रयिति परिसमाप्यते । अत्र विशेषप्र- दीकृतोऽर्थस्य । जी प्र. टी ।

३ गो जी १९६ ननु अष्टसप्तयधिकरणमामान्यतरे अष्टात्तरयश्चतर्जीनेषु कर्मक्षय कृत्वा निदेयु सत्यु



अथि अणता जीवा नेहि ण पत्तो तसाण परिणामो ।

भाव-कलंकइपउरा णिगोद-वास ण मुचत्ति' ॥ १४८ ॥

ते तादृशाः सन्तीति कथमवगम्यत इति चेन्न, आगमस्यातर्कगोचरत्वात् । न हि प्रमाणप्रकाशितार्थविगतः प्रमाणान्तरप्रकाशमेवैते स्वरूपविलोपप्रसङ्गात् । न चैतत्प्रामाण्यमसिद्धं सुनिश्चितासम्भवद्वाधकप्रमाणस्यासिद्धत्वविरोधात् । चादरनिगोद-प्रतिष्ठिताध्यापनान्तरेषु श्रूयन्ते, कं तेषामन्तर्भावश्चेत् प्रत्येकशरीरयनस्पतिभिः प्रमः । के ते ? सुगोदकमूलकादयः ।

त्रसकायानां भेदप्रतिपादनार्थमुत्तरध्वजमाह —

नित्य निगोदमै पसे अनन्तान्त जीव हं जिन्दोने त्रस जीवोकी पर्योय अभीतक कभी नहीं पाई है, और जो भाव अर्थात् निगोद पर्योयके योग्य कथयके उरयसे उत्पन्न हुए दुर्लभ्यारूप परिणामोंसे अत्यन्त अभिभूत रहते हैं, इसलिये निगोद स्थानको कभी नहीं छोड़ते ॥ १४८ ॥

शंका—साधारण जीव उक्त लक्षणवाले होते हैं यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान—पैसी शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि, आगम तर्कका नियम नहीं है । एक प्रमाणसे प्रकाशित अर्थज्ञान दूसरे प्रमाणके प्रकाशकी अपेक्षा नहीं करता है, अन्यथा प्रमाणके स्वरूपका अभाव प्राप्त हो जायगा । तथा आगमकी प्रमाणता अन्विद भी नहीं है, क्योंकि, जिसके बाधक प्रमाणोंकी अक्षमत्वना अलक्षितरह निश्चित है उसको असिद्ध मालतेमें विरोध आता है । अर्थात् बाधक प्रमाणोंके अभावमें आगमकी प्रमाणताका निश्चय होता ही है ।

शंका—बादर निगोदोंसे प्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति दूसरे आगमोंमें सुनी जाती है, उसका अन्तर्भाव वनस्पतिके किस भेदमें होगा ?

समाधान—प्रत्येकशरीर वनस्पतिमें उसका अन्तर्भाव होगा, ऐसा हम कहते हैं ।

शंका—जो बादरनिगोदसे प्रतिष्ठित है वे कौन हैं ?

समाधान—शूहर, अदरख और मूली आदिक वनस्पति बादर निगोदसे प्रतिष्ठित है । अब त्रसकायिक जीवोंके भेदोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका मून कहते हैं—

सिद्धासोर्ध्विदृशनात् ससात्त्विकारोथ हादिरशनात् रूप गर्वदा सिद्धोऽजन्तपुत्रत् परचात्तिसिगोदकानाम् सर्वजीवसाध्यनतणुप्रणालमयमपुहस्य तचोग्यानतमगे गो मते गगानिजिराविकसमस्य सिद्धाशिरागुणन च उपदवार् इति केत्सन, केवलज्ञानदृष्टया केवलभि, ध्रुतज्ञानदृष्टया श्रुतकेवलभिगि मरा एदरर मयममि-जीवसाध्ययथातिपुश्चमवाचनविपयत्वामावात् । नयज्ञानमवाधितस्य च तर्कस्याप्रमाणत्वात् । जी न. धी

१ गो जी १९७ त्रसनिगोदलक्षणमनेन सातय । xxx परदेसामाभिसिद्धमकअर्थापरिना मर शब्देन यदाचिदसमयाधिसम्भवात्पत्ते चतुर्गतिजिपराशितो निगोदो अथावसरदशतनीत्तु गति गतेत् तातो जीम त्रसनिगोदमात्र एकत्वा चतुर्गतिमव शब्दवर्तीयमर्थ प्रतिपादितो योऽयम् । जी न द्य

तसकाइया दुविहा, पज्जता अपज्जता ॥ ४२ ॥

गार्थान्वासासार्थ उच्यते । किं त्रसाः सूक्ष्मा उत बादरा इति ? बादरा एव न सूक्ष्माः । कुतः ? तस्यांश्चयिधायकार्थाभावात् । चादरत्वविधायकार्थामावे कथं तदवगम्यत इति चेन्न, उक्तमध्वजलेपां चादरत्वभिन्नेः । के ते ? पृथिवीनायादय इति चेदुच्यते—

पुत्रो य सज्जरा मदुजा य उल्ल सिद्धादि उचोनां ।

पुत्रोमया द जीना णिद्धा विगतदिदि ॥ १४२ ॥

त्रसकायिक जीव दो प्रकारके होते हैं, पर्याप्त और अपर्याप्त ॥ ४२ ॥

गतार्थ होनेसे इन सूक्ष्मा अर्थ नहीं कहते हैं ।

शंका—यस जीव न्या सूक्ष्म होते हैं अथवा बादर ?

समाधान—यस जीव न्या वादर ही होते हैं, सूक्ष्म नहीं होते ।

शंका—यह कैसे जाना जाय ?

समाधान—सूक्ष्म तस जीव सूक्ष्म होते हैं, इत्यप्रकार इत्यन रहनेवाला आगम प्रमाण नहीं पाया जाता है ।

शंका—यस जीवोंके वास्तव्यनेन प्रतिपादन करनेवाला आगम प्रमाण भी तो अभी तक नहीं आया है, फिर यह कैसे जाना जाय कि ये वादर ही होते हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, आगे अनेकाले सूक्ष्मे तस जीवोंका बादरपना सिद्ध हो जाता है ।

शंका—ये पृथिवीनाय आदि जीव कौनसे हैं ?

समाधान—जिनेन्द्र भगवानने पृथिवी, शर्करा, चातुना उपल अंतर शिला आदिके भेदसे पृथिवीन्प छत्तीस प्रकारके जीव कहे हैं ॥ १४२ ॥

त्रिगुणार्थ—ऊपर जो पृथिवीके अवान्तर भेदोंकी अपेक्षा पृथिवीकायिक जीव छत्तीस प्रकारके कहे हैं, ये इत्यमकार हैं; मटीरूप पृथिवी, गंगा आदि नदियोंमें उत्पन्न होनेवाली रूख यातुका, तीक्ष्ण अंतर चौकोर आदि जाकारवाली शर्करा, गोल पर्यर, गडा पर्यर, समुद्रादिमें उत्पन्न होनेवाला ममक, कौट, तौय, जला, लीसा, चांरी, सोगा, रज ( हीरा ), बरिताल, इंगुल, मेनसिल, हरे रंगवाला सस्यक, अजन, मूगा, भोदल, त्रिकती और नमस्ती हुई रेली,

१ पुराण य मया तस्या य उल्ल मिला य लेने य । पर उम तस य सोऽय रूप गन्तो य परे य ॥ इतिरते क्षिणु गणोपिला मस्यजा पाते य । यजमन गाद य गाररनाया गिगीधंया ॥ गोमदने य मजो अके कर्ते य सोरिदहे य । परमन त्तिभि उचया सूक्ष्मे य ॥ अवर चरा यता गमोद तद मगागन्तो य । त जाप पदोर्वाया जाणिषा परिपूरणा ॥ मयाका-२ ६-२०९ । गगा ति ७३-७६ । उच ३६-७४-७७ । मया, १७



जाता य इमं धूमि हरदृशु सुवेदो वेगोदो १ ।  
 इदं च आउकाया जीवा विण सासुण्डिटा ॥ १५० ॥  
 आउ जाउ-अनां सुमु सुद्वाणो तथा अणो ।  
 अणो नि एमाई तेउकाया सुमुदिश ॥ १५१ ॥  
 आउ-अणो उरुदि-मडलि-गुजा महा य तथा ।  
 एदे उ माउकाया जीवा निग-उरु-णिदिश ॥ १५२ ॥  
 धुग्ग-गेर-वीया कदा तह पाव वीय-वीयरुहा ।  
 गमुग्गिमा य भणिया पत्तेयाणतकाया य ॥ १५३ ॥

कर्मन्तमणि, राचतर्करूप मणि, पुलकनर्मणि, स्फटिकमणि, पसरगमणि, चद्रकात्तमणि, धैर्यमणि, जलकान्तमणि, मूर्धकान्तमणि, गेल्बर्णं रुधिराश्रमणि, चन्दनगन्धमणि, अनेक प्रकारता मरुतामणि, पुरारज, नीलमणि, और चिद्रुमवर्णवाली मणि ये सब पृथिवीके भेद हैं, इतलिये इनके भेदने पृथिवीकायिक जीव भी छत्तीस प्रकारके हो जाते हैं ॥ १४९ ॥

जोम, पर्ण, ऊदरा, स्यूल विन्दुरूप जल, नूश्रम विन्दुरूप जल, चद्रकान्तमणिले उत्पन्न हुआ शुभ जल, अरुना आदिसे उत्पन्न हुआ जल, समुद्र, तालाव और वनवात आदिसे उत्पन्न हुआ गौरवक, अथवा, दररणु अर्थात् तालाव और समुद्र आदिसे उत्पन्न हुआ जल तथा नोदक अर्थात् मेघ आदिसे उत्पन्न हुआ जल ये सब जिन शासनमें जलकायिक जीव कहे गये हैं ॥ १५० ॥

अमार, ज्वाला, अग्नि अर्थात् आग्निकरण, सुर्ग अर्थात् भूसा अथवा कण्टाकी अग्नि, युगाधि अर्थात् पिजली और सूर्यकान्त आदिसे उत्पन्न हुई अग्नि और धूमादिसहित सामान्य भाषि, ये चार अधिकाधिक जीव कहे गये हैं ॥ १५१ ॥

नामान्य वायु, उरुग्राम अर्थात् धूमता हुआ ऊपर जानेवाला वायु (चक्रवात), उत्कलि अर्थात् नीचकी ओर जानेवाला या जलकी तरंगोंके साथ तरंगित होनेवाला वायु, मण्डलि अर्थात् पृथिवीसे स्पर्श करके धूमता हुआ वायु, गुजा अर्थात् गुजायमान वायु, महावात अर्थात् दुर्साधिकके भंगसे उत्पन्न होनेवाला वायु, वनवात और तनुवात ये सब वायुकायिक जीव तिनैन्द्र भगवान्से कहे हैं ॥ १५२ ॥

मूर्त्तान्त, अग्रजल, पर्वजल, कन्दर्बजल, स्तब्धजल, वीजवह और संसृष्टिम, ये सब प्राणता २१० । अणो नि १०८ । उच ३६ ८६ । प्रजा १ २०

२ ज्वाला २११ । आण नि १०८ । उच ३६ १००-१११ । प्रजा १ २३

३ युगाया २१२ । उरुगिया मण्डलिा गुजा पचमाय मरुताया य । मरुद गजनिहाणा पचविना वीणयण ॥ आण नि १६६ । उच ३६ ११९-१२० । प्रजा २ २६

४ गो जी १८६ । मूजाया २१३ । अणु मूर्त्तान्त जीवा यो मू मू आहुर्मनि ते च हरिन्द्राव । अण-

विद्धि तीरि चउहि पचहि सहिया जे इरिण्हि लोयमि ।  
 ते तसकाया जीवा गेया वीरोवएसेणं ॥ १५४ ॥

पृथिवीकायिकादीना स्वरूपमभिधाय साम्प्रतं तेषु गुणस्थाननिरूपणाश्रमुत्तर-  
 वनमाह —

**पुढविकाइया आउकाइया तेउकाइया वाउकाइया वणणइ-  
 काइया एकम्मि चैय मिच्छइट्टि-ट्टाणे ॥ ४३ ॥**

आह, आत्तागमविषयश्रद्धाराहिता सिध्यादृष्टयो भण्यन्ते । श्रद्धाभावश्चाश्रद्धेयवस्तु-  
 परिज्ञानपूर्वकः । तथा च पृथिवीनायादीनामात्तागमविषयपरिज्ञानोद्धितानां कथं भिध्या-

वनस्पतिया सम्प्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येकके भेदसे दोनो प्रकारकी कही गई है ॥ १५३ ॥  
 लोहमें जो जीव दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पाच इन्द्रियोंसे युक्त हैं उन्हे वरि भगवान्के उपदेशसे ब्रह्मकायिक जीव जानना चाहिये ॥ १५४ ॥

पृथिवीकायिक आदि जीवोंके स्वरूपका कथन करके अब उनमें गुणस्थानों का निरूपण करनेके लिये अगेका सूत्र कहते हैं—

पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक जीव  
 भिध्यादृष्टि नामक प्रथम गुणस्थानमें ही होते हैं ॥ ४३ ॥

गंजा—शकाकार कहता है कि आप्त, आगम और पदार्थकी श्रद्धारे रहित जीव भिध्यादृष्टि कहे जाते हैं, और श्रद्धान करने योग्य वस्तुमें विषयीत नानपूर्वक ही अथवा अर्थात् भिध्याभिविदेश हो सकता है । ऐसी अवस्थामें आप्त, आगम और पदार्थके परिज्ञानने रहित पृथिवीकायिक आदि जीवोंके भिध्यादृष्टिाना कैसे सम्भव है ?

अग्रजला जीवा शोषकमालिका कृजकादयो येषामग्र प्ररोहति । पोपवीया पार्वीजजीवा इयुवेनादयो येषा पोरप्रदेश प्ररोहति । कदा कन्दर्बीना लदलीपिण्डालुकादयो येषां कन्दलेश प्राहुर्मनि । तत्र तथा । सधवीया स्तब्धवाजजात्रा जलवीयालिमद्रनादयो येषां रुधदेशो रोहति । वीणवीया वीजवीजा जीवा यामोमुपादयो येषां क्षेत्रोदरदिमामाया प्ररोह । सम्पुष्टिमाय मम्पुष्टिमाश मूलयमावेजिपि येषां जन्म ।  $\times \times$  पत्तेया मलमजीवा पूणफलनलिकेपादन । अणतनाया य अणतनायाय सुवीयुइयादय , ये लिता भिवाण प्ररोहति ।  $\times \times$  र ट टी अणवीया मूर्त्तवीया सधवीया चैय वीवीया य । वीणकहा मम्पुष्टिम समागवौणमई जीवा ॥ आचा. नि १३० । उच ३६ १३२-१०० । प्रजा २ २९-४८

१ गो जी १९८

२ तयागुवर्देन पृथिवीकायादियु वनस्पतिकायात्तेतु एरुमेव भिध्यादृष्टिभानम् । य नि १८

दृष्टत्वमिति नैप दोषः, परिज्ञाननिरपेक्षमूढमिथ्यात्वसत्तस्य तत्रविरोधात् । अथवा ऐकान्तिकंशैथिकमूढव्युद्ग्राहितैवैनयिकस्वाभाविकविविपरितमिथ्यात्वानां सप्तानामपि तत्र संभवः संमस्ति । अत्रतन्जीवानां सप्तविधमिथ्यात्वकलङ्काङ्कितहृदयानामविनष्ट-मिथ्यात्वपर्ययेण सह स्थावरत्वमुपगतानां तत्सत्त्वाविरोधात् । इन्द्रियानुवादेन एकेन्द्रिया विकलेन्द्रियाश्च सर्वे मिथ्यादृष्टय इत्यभाणि, ततस्तेनैव गतार्थत्वान्ना-रम्णीयमिदं सूत्रमिति नैप दोषः, पृथिवीकायादीनामिन्तीन्द्रियाणि भवन्ति न भवन्तीति अनवगतस्य विस्मृतस्य वा शिष्यस्य प्रश्नशब्दादस्य सूत्रस्यावतारात् ।

त्रसजीवप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

**तसकाइया बीईदिय-प्पहुडि जाव अजोगिकेवलि ति ॥ ४४ ॥**

एते त्रसनामकर्मोदयशशवर्तिनः । के पुनः स्थावराः इति चेदेकेन्द्रियाः ।

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, पृथिवीकायिक आदि जीवोंमें परिज्ञानकी अपेक्षारहित मूढ मिथ्यात्वका सद्भाव मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है । अथवा, ऐकान्तिक, सांशयिक, मूढ, व्युद्ग्राहित, वैनयिक, स्वाभाविक और विपरीत इन सातों प्रकारके मिथ्यात्वोंका भी उन पृथिवीकायिक आदि जीवोंमें सद्भाव संभव है, क्योंकि, जिनका हृदय सात प्रकारके मिथ्यात्वरूपी कलङ्के अंकित है ऐसे मनुष्यादि गतिस्वन्धी जीव पहले ग्रहण की हुई मिथ्यात्व पर्यायको न छोड़कर जब स्थावर पर्यायको प्राप्त हो जाते हैं, तो उनके सातों ही प्रकारका मिथ्यात्व पाया जाता है, इस कथन में कोई विरोध नहीं आता है ।

शंका—इन्द्रियानुवादसे एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय ये सब जीव मिथ्यादृष्टि होते हैं, ऐसा कह आये हैं, इसलिये उसीसे यह ज्ञान हो जाता है कि पृथिवीकायिक आदि जीव मिथ्यादृष्टि होते हैं । अतः इस सूत्रको प्रथक् रूपसे बनानेकी कोई आवश्यकता नहीं थी ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, पृथिवीकाय आदि जीवोंके इतनी इन्द्रिया होती हैं, अथवा इतनी इन्द्रिया नहीं होती हैं, इसप्रकार जिस शिष्यको ज्ञान नहीं है, अथवा जो मूल गया है, उस शिष्यके प्रश्नके अनुरोधसे इस सूत्रका अवतार हुआ है ।

अब त्रस जीवोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

द्वीन्द्रियसे आदि लेकर अयोगिकेवलितक त्रस जीव होते हैं ॥ ४४ ॥

इन सब जीवोंके त्रस नामकर्मका उदय पाया जाता है, इसलिये इन्हें त्रसकायिक कहते हैं ।

शंका—स्थावर जीव कौन कहलाते हैं ?

समाधान—एकेन्द्रिय जीव स्थावर कहलाते हैं ।

१ त्रसकायेषु चतुर्दशापि मति । म नि १ ८

कथमनुक्तमवगम्यते चेत्परिशेषात् । स्थावरकर्मणः किं कार्यमिति चेदेकस्थानावस्था-पकत्वम् । तेजोवाय्वक्कायानां चलनात्मकानां तथा सत्यस्थावरत्वं स्यादिति चेन्न, स्थास्त्वानां प्रयोगतश्चलच्छिन्नघर्णानामिव गतिपर्यायपरिणतसमीरणव्यव्यतिरिक्तशरीरत्वत-स्तेषां गमनाविरोधात् ।

बादरजीवप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

**बादरकाइया बादरेईदिय-प्पहुडि जाव अजोगिकेवलि ति ॥ ४५ ॥**

बादरः स्थूलः सप्रतिघातः कायो येषां ते बादरकायाः । पृथिवीकायिकादिषु वनस्पतिपर्यन्तेषु पूर्वमेव बादराणां सूक्ष्माणां च सत्त्वमुक्त ततोऽत्र बादरैकेन्द्रियग्रहण-मनर्थकमिति चेन्नानर्थकम्, प्रत्येकशरीरवनस्पत्युपादानार्थम् तदुपादानात्प्रत्येकशरीर-

शंका—सूत्रमें एकेन्द्रिय जीवोंको स्थावर तो कहा नहीं है, फिर कैसे जाना जाय कि एकेन्द्रिय जीवोंको स्थावर कहते हैं ?

समाधान—सूत्रमें जब द्वीन्द्रियादिक जीवोंको त्रसकायिक कहा है, तो परिशेष-न्यायसे यह जाना जाता है कि एकेन्द्रिय जीव स्थावर कहलाते हैं ।

शंका—स्थावरकर्मका क्या कार्य है ?

समाधान—एक स्थान पर अवस्थित रखना स्थावरकर्मका कार्य है ।

शंका—ऐसा मानने पर, गमन स्वभाववाले अशिकायिक, वायुकायिक और जल-कायिक जीवोंको अस्थावरपना प्राप्त हो जायगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जिसप्रकार वृक्षमें लगे हुए पत्ते वायुसे हिला करते हैं और दूटने पर इधर उधर उड़ जाते हैं, उसीप्रकार अशिकायिक और जलकायिकके प्रयोगसे गमन माननेमें कोई विरोध नहीं आता है । तथा वायुके गतिपर्यायसे परिणत शरीरको छोड़कर कोई दूसरा शरीर नहीं पाया जाता है, इसलिये उसके गमन करनेमें भी कोई विरोध नहीं आता है ।

अब बादर जीवोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

बादर एकेन्द्रिय जीवोंसे लेकर अयोगिकेवलपर्यन्त जीव बादरकायिक होते हैं ॥ ४५ ॥

जिन जीवोंका शरीर बादर, स्थूल अर्थात् प्रतियातसहित होता है उन्हें बादरकाय कहते हैं ।

शंका—पृथिवीकायिकसे लेकर वनस्पति पर्यन्त जीवोंमें बादर और सूक्ष्म दोनों प्रकारके जीवोंका सद्भाव पहले ही कह आये है, इसलिये इस सूत्रमें बादर एकेन्द्रिय पदका ग्रहण करना निष्फल है ?

समाधान—अनर्थक नहीं है, क्योंकि, प्रत्येकशरीर वनस्पतिके ग्रहण करनेके लिये

नन्वभिप्रमूलां चन्द्रा इति यावत् । न विधातव्यमेवमा मक्षतं प्रत्यक्षशिवत्वादिति चेन्न । सोऽस्यामाप्रतिपादनकलनात् ।

द्विरपि क्तयातीतजीनास्तिप्रतिपादनार्थमुच्यतेऽसमाह—

तेषां परमकाह्या चेदि ॥ ४६ ॥

तेन द्विरपि क्तयात्याह्वीतराशेः परं तादृश्यप्रयत्नशीलमित्युक्तमर्थोत्तरलोऽक्षरीरमभिधाः अह्यगिक्तः । जीगदेश्चणमात्मकास्तिता अपि सत्तया इति चेन्न, तेषामनादित्पनाज्जीगदेश्चणमकरात् । अनादिप्रचयोऽपि क्तयः किञ्च शादिति चेन्न, मूर्तानां पृथ्वानां कर्मनोऽर्थपर्यायपरिणतानां सद्दित्यान्तप्रचयस्या क्तयात्याचमुपगमात् । 'इति'

वाप्य पक्षेऽप्य परं मन्त्रं गृह्यण जित्वा मया हे । इत पदके द्रष्टव्य कल्पेने प्रत्येककारेण यन्मानि आदि स्मृती जीगपवद ही क्षेते हे, यद् तन्न स्यात् इति आह्वी हे ।

अह्ना—इत मूर्तमे इत जीगैके तादृशेऽका क्तय न ही क्तयना ज्यादिके स्पष्टिके ये जित्वा सद्द ही क्षेते हे यद् मन्त्र प्रचय इति किं हे ?

समाधान—नहीं, स्पष्टिक, इत जीगैके तादृशेऽका मूर्तमेने प्रत्येककारेण यद् मन्त्र नही स्या मया हे, किन्तु इत जीगैके तादृशेऽका मूर्तमेने प्रत्येककारेण यद् मन्त्र नही स्या मया हे ।

एत एत और स्यावत इत शैलीं कार्याये मन्त्रित जीगैके मन्त्रित्येने प्रत्येककारेण यद् मन्त्र नही स्या मया हे ।

स्वामर और वादृशेऽका मूर्तमेने प्रत्येककारेण यद् मन्त्र नही स्या मया हे ।   
 ने उत इत और स्वायत्तक शैल प्रयत्नकी कायस्तिताये तदे हे हे विना जीग मन्त्र   
 त् त मन्त्र शरीरके तादृशेऽका मूर्तमेने मन्त्रित होने हे तादृश मन्त्राणी हेने हे, अत एव क्तयिके   
 क्तयाने हे ।

अह्ना—जीगदेश्चणमकरात् प्रत्येककारेण यद् मन्त्र नही स्या मया हे, किन्तु इत मन्त्र नही स्या मया हे ।

समाधान—नहीं, स्पष्टिक, मन्त्र जीग तादृशेऽका मूर्तमेने प्रत्येककारेण यद् मन्त्र नही स्या मया हे, प्रत्येककारेण   
 यद् मन्त्र नही स्या मया हे ।

अह्ना—अनादिप्रचयोऽपि क्तयः किञ्च शादिति चेन्न, मूर्तानां पृथ्वानां कर्मनोऽर्थपर्यायपरिणतानां सद्दित्यान्तप्रचयस्या क्तयात्याचमुपगमात् । 'इति'

समाधान—नहीं, स्पष्टिक, यद् मन्त्र पर कर्म और मूर्तमेने प्रत्येककारेण यद् मन्त्र नही स्या मया हे, प्रत्येककारेण   
 यद् मन्त्र नही स्या मया हे ।

विधेयार्थे—यद्यपि यद् मन्त्रित्येने मन्त्रित शैलीं का मी प्रयत्न हो जाता हे । किन्तु   
 नी यद् मन्त्रित्येने मन्त्रित्येने मन्त्रित शैलीं का मी प्रयत्न हो जाता हे ।

शब्द एक एवमुत्तु स्यात्प्रियाकार्यंवेत्तात्, न 'न' शब्दस्याप्य क्तयत्प्रियाकारिणि चेन्न, तस्य क्तयत्प्रियाकारिणि स्यात्प्रियाकार्यंवेत्तात् ।

योऽभावेण जीगदेश्चणमात्मकास्तिता

जोगाणुत्पादेण आदि यणजोगी नन्विजोगी कागजोगी   
 चेदि ॥ ४७ ॥

यद् 'इति' शब्दः स्यात्प्रियाकारिणित्पादस्यतात्पर्यम् । 'न' शब्दस्य अत्र मन्त्र योऽभावे   
 अस्ति नागे इति योऽर्थोऽस्यान्वयस्य प्रतिपादनार्थो यणजोगी वा । योऽभावे   
 तत्त्वज्ञानं प्राप्तमिति चेदात्तमीप्राप्तं । मन्त्रा योऽर्थो यन्तोयोस्य । अत्र मन्त्रं प्रत्येककारेण   
 स्यान्तो यन्तोयोस्य मन्त्रोयोस्यं देवान् प्रत्येककारेण मन्त्रित्येने मन्त्रित्येने । न यद्यपि योऽभावे   
 योस्यः योऽभावेऽस्यप्रत्यास्तात्प्रत्येककारेण । न यद्यपि योऽभावे यन्तोयोस्यं मन्त्रोयोस्यं

अपेक्षा न प्रोक्तं कर्म 'आ' नोऽह्ना । अन्वयस्य प्रतिपादनार्थं योऽभावे अन्वयस्य   
 क्तयार्थं वेत्तात्, न 'न' शब्दस्य प्रतिपादनार्थं । अत्र मन्त्रित्येने मन्त्रित्येने, यद्यपि, अत्र   
 कर्म योऽर्थो मन्त्रित्येने मन्त्रित्येने प्रत्येककारेण मन्त्रित्येने मन्त्रित्येने ।

नेना स्यात् 'इति' पदप्रयोगे । न 'इति' शब्दः, प्रत्येककारेण   
 यद्यपि योऽर्थो मन्त्रित्येने मन्त्रित्येने मन्त्रित्येने मन्त्रित्येने ।

समाधान—नहीं, स्पष्टिक, क्तयत्प्रियाकारिणि यद्यपि योऽभावे क्तयत्प्रियाकारिणि   
 यद्यपि योऽर्थो मन्त्रित्येने मन्त्रित्येने मन्त्रित्येने मन्त्रित्येने ।

एत एव योऽभावे क्तयत्प्रियाकारिणि यद्यपि योऽभावे क्तयत्प्रियाकारिणि   
 यद्यपि योऽर्थो मन्त्रित्येने मन्त्रित्येने मन्त्रित्येने मन्त्रित्येने ।

योऽभावे क्तयत्प्रियाकारिणि यद्यपि योऽभावे क्तयत्प्रियाकारिणि   
 यद्यपि योऽर्थो मन्त्रित्येने मन्त्रित्येने मन्त्रित्येने मन्त्रित्येने ।

एत एव योऽर्थो मन्त्रित्येने मन्त्रित्येने मन्त्रित्येने मन्त्रित्येने ।   
 यद्यपि योऽर्थो मन्त्रित्येने मन्त्रित्येने मन्त्रित्येने मन्त्रित्येने ।

योऽभावे क्तयत्प्रियाकारिणि यद्यपि योऽभावे क्तयत्प्रियाकारिणि   
 यद्यपि योऽर्थो मन्त्रित्येने मन्त्रित्येने मन्त्रित्येने मन्त्रित्येने ।

अह्ना—यद् मन्त्र नही स्या मया हे, प्रत्येककारेण यद् मन्त्र नही स्या मया हे,   
 प्रत्येककारेण यद् मन्त्र नही स्या मया हे ।

अह्ना—यद्यपि यद् मन्त्रित्येने मन्त्रित्येने मन्त्रित्येने मन्त्रित्येने ।   
 प्रत्येककारेण यद् मन्त्र नही स्या मया हे ।

ज्ञानरूपत्वतः उपयोगान्तर्भावात् इति न त्रितयविकल्पोक्तदोषः, तेषामनभ्युपगमात् ।  
 कः पुनः मनोयोग इति चेद्भावमनसः समुत्पत्त्यर्थः प्रयत्नो मनोयोगः । तथा वचसः  
 समुत्पत्त्यर्थः प्रयत्नो वाग्योगः । कायक्रियासमुत्पत्त्यर्थः प्रयत्नः काययोगः । त्रयाणां  
 योगानां प्रवृत्तिक्रमेण उत नेति ? नाक्रमेण, त्रिविक्रमैकस्यात्मनो योगनिरोधात् ।  
 मनोवाकायप्रवृत्तयोऽक्रमेण क्वचिद् दृश्यन्त इति चेद्भवतु तासां तथा प्रवृत्तिर्दृष्टत्वात्, न  
 तत्रयत्नानामक्रमेण वृत्तित्थोपदेशाभावादिति । अथ स्यात्प्रयत्नो हि नाम बुद्धिपूर्वकः,  
 बुद्धिश्च मनोयोगपूर्विका, तथा च सिद्धो मनोयोगः शेषयोगाधिनाभावीति न, कार्य-  
 कोर्है क्रिया दिन-रात रहती है, इसलिये एक योगकी स्थिति भी अहोरात्र प्रमाण माननी  
 पड़ेगी । किंतु आगममें तो एक योगकी स्थिति एक अन्तर्मुहूर्तसे अधिक नहीं मानी है ।  
 अतः क्रियासहित अवस्था भी योग नहीं हो सकता है । इसीप्रकार भावमनके साथ सवन्ध  
 होनेको भी मनोयोग नहीं कह सकते हैं, क्योंकि, भावमन ज्ञानरूप होनेके कारण उसका  
 उपयोगमें अन्तर्भाव हो जाता है ?

समाधान—इसप्रकार तीनों विकल्पोंके द्वारा दिये गये दोष प्राप्त नहीं होते हैं,  
 क्योंकि, उक्त तीनों ही विकल्पोंको स्वीकार नहीं किया है ।

शंका—तो फिर मनोयोगका क्या स्वरूप है ?

समाधान—भावमनकी उत्पत्तिके लिये जो प्रयत्न होता है उसे मनोयोग कहते हैं ।  
 उसीप्रकार वचनकी उत्पत्तिके लिये जो प्रयत्न होता है उसे वचनयोग कहते हैं और कायकी  
 क्रियाकी उत्पत्तिके लिये जो प्रयत्न होता है उसे काययोग कहते हैं ।

शंका—तीनों योगोंकी प्रवृत्ति युगपत् होती है या नहीं ?

समाधान—युगपत् नहीं होती है, क्योंकि, एक आत्माके तीनों योगोंकी प्रवृत्ति  
 युगपत् मानने पर योगनिरोधका प्रसंग आजायगा । अर्थात् किसी भी आत्माके योग नहीं  
 बन सकेगा ।

शंका—कहीं पर मन, वचन और कायकी प्रवृत्तिया युगपत् देखी जाती हैं ?

समाधान—यदि देखी जाती है, तो उनकी युगपत् वृत्ति होको । परंतु इससे, मन  
 वचन और कायकी प्रवृत्तिके लिये जो प्रयत्न होते हैं उनकी युगपत् वृत्ति सिद्ध नहीं हो  
 सकती है, क्योंकि, आगममें इसप्रकार उपदेश नहीं मिलता है ।

विशेषार्थ—तीनों योगोंकी प्रवृत्ति एकसाथ हो सकती है, प्रयत्न नहीं ।

शंका—प्रयत्न बुद्धिपूर्वक होता है, और बुद्धि मनोयोगपूर्वक होती है । ऐसी परि-  
 स्थितिमें मनोयोग शेष योगोंका अधिनाभावी है, यह बात सिद्ध हो जाना चाहिये ? अर्थात्  
 अनेक प्रयत्न एक साथ होते हैं यह बात सिद्ध हो जायगी ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, कार्य और कारण इन दोनोंकी एक कालमें उत्पत्ति नहीं हो  
 सकती है ।

कारणयोरैककाले समुत्पत्तिविरोधात् । तदस्यास्यस्मिन्निति इति सति सिद्धं मनोयोगी  
 चाग्योगी काययोगीति ।

योगातीतजीवप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

अजोगी चेदि ॥ ४८ ॥

न योगी अयोगी । उक्त च—

जेसिं ण सन्ति जेगा सुहासुहा पुण्ण-पाव सजणया ।

ते होति अजोइजिणा अणोवमाणत वल-कलियां ॥ १५३ ॥

मनोयोगस्य सामान्यतः एकविधस्य भेदप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

मणजोगो चउब्बिहो, सच्चमणजोगो मोसमणजोगो सच्चमोस-  
 मणजोगो असच्चमोसमणजोगो चेदि ॥ ४९ ॥

सत्यमवित्तथममोघामित्यनर्थान्तरम् । सत्ये मनः सत्यमनः तेन योगः सत्यमनो-  
 योगः । तद्विपरीतो मोपमनोयोगः । तदुभययोगात्सत्यमोपमनोयोगः । उक्तं च—

बहु मनोयोग जिसके या जिस जर्विमं होता है उसे मनोयोगी कहते हैं । यहा पर  
 मनोयोग शब्दसे 'इन्' प्रत्यय कर देने पर मनोयोगी शब्द बन जाता है । इसीप्रकार वाग्योगी  
 और काययोगी शब्द भी बन जाते हैं ।

अब योग रहित जीवोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

अयोगी जीव होते हैं ॥ ४८ ॥

जिनके योग नहीं पाया जाता है वे अयोगी हैं । कहा भी है—

जिन जीवोंके पुण्य और पापके उत्पादक शुभ और अशुभ योग नहीं पाये जाते  
 हैं वे अनुपम और अनन्त-बल सहित अयोगीजिन कहलाते हैं ॥ १५३ ॥

सामान्यकी अपेक्षा एक प्रकारके मनोयोगके भेदोंके प्रतिपादन करनेके लिये  
 आगेका सूत्र कहते हैं—

मनोयोग चार प्रकारका है, सत्यमनोयोग, मृयामनोयोग सत्यमृयामनोयोग, और  
 असत्यमृयामनोयोग ॥ ४९ ॥

सत्य, अवितथ और अमोघ, ये एकार्थवाची शब्द हैं । सत्यके विषयमें होनेवाले मनको  
 सत्यमन कहते हैं, और उसके द्वारा जो योग होता है उसे सत्यमनोयोग कहते हैं । इससे  
 विपरीत योगको मृयामनोयोग कहते हैं । जो योग सत्य और मृया इन दोनोंके सयोगसे उत्पन्न  
 होता है उसे सत्यमृयामनोयोग कहते हैं । कहा भी है—

१ गो जी २४३ अन योगामात्रे सति अयोगिजिन्यादीनां बलाभान प्रमत्तते अस्मदादिषु बल्य  
 योगाश्रितःतदर्थनाए, इत्याशयक्य इदमुच्यते अट्टपमानतवलहलितता । जी प्र. ५.



समुत्पत्तये प्रयत्नो मनोयोगः । पूर्वप्रयोगात् प्रयत्नमन्तरेणापि मनसः प्रवृत्तिर्हस्यते इति चेद्भवतु, न तेन मनसा योगोऽत्र मनोयोग इति विवक्षितः, तन्निमित्तप्रयत्नसम्यन्धस्य परिस्पन्दरूपस्य विवक्षितत्वात् ।

भवतु केवलिनः सत्यमनोयोगस्य सत्त्वं तत्र वस्तुयाथात्म्यावगतेः सत्त्वात् । नासत्यमोपमनोयोगस्य सत्त्वं तत्र भंशयानध्यवसाययोरभावादिति न, संशयानध्यवसाय-निबन्धनवचनहेतुमनसोऽध्यवसायमनस्त्वमस्तीति तत्र तस्य सत्त्वाविरोधात् । किमिति केवलिनो वचनं संशयानध्यवसायजनकमिति चेत्सार्थानन्त्याच्छोतुरावरणक्षयोपशमाति-शयाभावात् । तीर्थकरवचनमनश्चरत्वाद् ध्वनिरूपं तत एव तदेकम् । एकत्वान्न तस्य द्वैविध्यं घटत इति चेन्न, तत्र सादित्यादि असत्यमोपवचनसत्त्वात्स्य भवेननश्चरत्वा-मनकी उत्पत्तिके लिये जो प्रयत्न होता है उसे मनोयोग कहते हैं ।

शंका -- पूर्व प्रयोगसे प्रयत्नके विना भी मनकी प्रवृत्ति देखी जाती है ?

समाधान -- यदि प्रयत्नके विना भी मनकी प्रवृत्ति होती है तो होने दें, क्योंकि, ऐसे मनसे होनेवाले योगको मनोयोग कहते हैं, यह अर्थ यहा पर विवक्षित नहीं है । किंतु मनके निमित्तसे जो परिस्पन्दरूप प्रयत्नविशेष होता है, वह यहा पर योगरूपसे विवक्षित है ।

शंका -- केवली जिनके सत्यमनोयोगका सद्भाव रहा अथे, क्योंकि, वहां पर वस्तुके यथार्थ ज्ञानका सद्भाव पाया जाता है । परंतु उनके असत्यमृगमनोयोगका सद्भाव सभव नहीं है, क्योंकि, वहा पर संशय और अनध्यवसायरूप ज्ञानका अभाव है ?

समाधान -- नहीं, क्योंकि, संशय और अनध्यवसायके कारणरूप वचनका कारण मन होनेसे उसमें भी अनुभयरूप धर्म रह सकता है । अतः सयोगी जिनमें अनुभय मनोयोगका सद्भाव स्वीकार कर लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

शंका -- केवलीके वचन संशय और अनध्यवसायको पैदा करते हैं इसका क्या तात्पर्य है ?

समाधान -- केवलीके ज्ञानके विषयभूत पदार्थ अनन्त होनेसे और श्रोतके आवरण-कर्मका क्षयोपशम अतिशयरहित होनेसे केवलीके वचनोंके निमित्तसे संशय और अनध्य-वसायकी उत्पत्ति हो सकती है ।

शंका -- तीर्थकरके वचन अनश्चररूप होनेके कारण ध्वनिरूप हैं, और इसलिये वे एकरूप हैं, और एकरूप होनेके कारण वे सत्य और अनुभय इसप्रकार दो प्रकारके नहीं हो सकते हैं ?

समाधान -- नहीं, क्योंकि, केवलीके वचनमें ' स्यात् ' इत्यादिरूपसे अनुभयरूप वचनका सद्भाव पाया जाता है, इसलिये केवलीकी ध्वनि अनश्चररूपक है यह बात असिद्ध है ।

सिद्धेः । साक्षरत्वे च प्रतिनियतैकभाषात्मकमेव तद्वचनं नाशेषभाषारूपं भवेदिति चेन्न, क्रमविशिष्टवर्णान्तरकभूयःपङ्क्तिरुदम्बकस्य प्रतिप्राणिप्रवृत्तस्य ध्वनेरशेषभाषारूपत्वाविरो-धात् । तथा च कथं तस्य ध्वनित्वमिति चेन्न, एतद्भाषारूपमेवेति निर्देष्टुमशक्यत्वतः तस्य ध्वनित्वसिद्धेः । अतीन्द्रियज्ञानत्वाच्च केवलिनो मन इति चेन्न, द्रव्यमनसः सत्त्वात् । भवतु द्रव्यमनसः सत्त्वं न तत्कार्यमिति चेद्भवतु तत्कार्यस्य क्षायोपशमिक-ज्ञानस्याभावः, अपि तु तदुत्पादने प्रयत्नोऽस्त्येव तस्य प्रतिबन्धरत्त्वाभावात् । तेनात्मनो

शंका -- केवलीकी ध्वनिको साक्षर मान लेने पर उनके वचन प्रतिनियत एक भाषारूप ही होंगे, अशेष भाषारूप नहीं हो सकेंगे ?

समाधान -- नहीं, क्योंकि, क्रमविशिष्ट, वर्णान्तरक, अनेक पङ्क्तियोंके समुच्चयरूप और सर्व श्रोतार्थोंमें प्रवृत्त होनेवाली ऐसी केवलीकी ध्वनि संपूर्ण भाषारूप होती है ऐसा मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

शंका -- जब कि वह अनेक भाषारूप है तो उसे ध्वनिरूप कैसे माना जा सकता है ?

समाधान -- नहीं, क्योंकि, केवलीके वचन इसी भाषारूप ही हैं, ऐसा निर्देश नहीं किया जा सकता है, इसलिये उनके वचन ध्वनिरूप हैं यह बात सिद्ध हो जाती है ।

शंका -- केवलीके अतीन्द्रिय ज्ञान होता है, इसलिये उनके मन नहीं पाया जाता है ? समाधान -- नहीं, क्योंकि, उनके द्रव्यमनका सद्भाव पाया जाता है ।

शंका -- केवलीके द्रव्यमनका सद्भाव रहा अथे, परंतु वहा पर उसका कार्य नहीं पाया जाता है ?

समाधान -- द्रव्यमनके कार्यरूप उपयोगात्मक क्षायोपशमिक ज्ञानका अभाव भले ही रहा अथे, परंतु द्रव्यमनके उत्पन्न करनेमें प्रयत्न तो पाया ही जाता है, क्योंकि, द्रव्यमनकी वर्णान्तरोंके लानेके लिये होनेवाले प्रयत्नमें कोई प्रतिबन्धक कारण नहीं पाया जाता है । इसलिये यह सिद्ध हुआ कि उस मनके निमित्तसे जो आत्माका परिस्पन्दरूप प्रयत्न होता है उसे मनोयोग कहते हैं ।

१ वयणं निणा अथपदुपायण ण समवदं, सुहुमत्थाण सण्णाए परुवणाणुवत्तदो । ण चाणएए ( चाणकवरपाए ) इणीए अथपदुपायण खुज्जदे, अणवरुभामातिरिवल्ले मोयूण अण्णेसि ततो अत्थानगमाभावादो । ण च दिव्यच्चुणी अणत्तरपिय्या चैनं, अट्टाससत्तसयमासहुमासपिय्याचदो । धवला अ पु ६९३ सूयपीरणीपु भगवत्तत्तीर्थसस ताव्वाहपुटवचलनमतरेण सकलभाषास्वरूपदिव्यध्वनियमकव्यनविधान X X कथ्यते । धवला अ पु ७०६ सा नि य ण भवमओ अट्टरागहा भासा मासिज्जमाणी तेषि सचेसि आयरियमगायियाण दुपयचउपयमियपसुपिखसिरीसियाण अपण्णे भामताए परिमइ । सम स ३४ अट्टादशमहाभाषासत्तशत-शुद्धभाषामध्यक्षरानक्षरमाया मत्तयत्तताहुदत्ताहठठय्यापारमव्यजनानन्दकगुणसव्रोत्तरप्रतिपादपदिव्यध्वन्युपेत । गो जी , जी य , टी १ X X सायनव्याणियमहुगराभीरकोचणिवोमहुडुभिस्मेरे उरे तिष्ठडाए वठेऽवाडियाए सिरे समाहण्णाए पुण्णरताए मन्वमामाणुगामिणाए सरस्समहए जोगणीशरिया सरंग अट्टनागहाए मामाए भामति अरिहा



योगः मनोयोगः । विद्यमानोऽपि तदुत्पादने प्रयत्नः किमिति स्वकार्यं न विदध्यादिति चेन्न, तत्सहकारिकारणश्रयोपशमाभावात् । असतो मनसः कथं वचनद्वितयसमुत्पत्तिरिति चेन्न, उपचारतन्त्रयोस्ततः सप्रत्यक्षविधानात् ।

अभयमनोर्गुणस्थानप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

मोसमणजोगो सच्चमोसमणजोगो सण्णिमिच्छाहिट्ठिपहुडि  
जाव खीणकसायवीयरायच्छुमत्था ति ॥ ५१ ॥

भवतु नाम क्षपकोपशमकानां सत्यस्यासत्यमोसस्य च सच्च नेतरयोरप्रमादस्य शंका—केवलीके द्रव्यमनको उत्पन्न करनेमें प्रयत्न विद्यमान रहते हुए भी वह अपने कार्यको स्यों नहीं करता है ।

समाधान—नहीं, क्योंकि, केवलीके मानसिक ज्ञानके सहकारी कारणरूप क्षयोपशमका अभाव है, इसलिये उनके मनोनिमित्तक ज्ञान नहीं होता है ।

शंका—जब कि केवलीके योग्यमें अर्थात् क्षयोपशमिक मन नहीं पाया जाता है, तो उनसे सत्य और अनुस्य इन दो प्रकारकी वचनोंकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, उपचारसे मनके द्वारा उन दोनों प्रकारके वचनोंकी उत्पत्तिका निवृत्त किया गया है ।

अप शेष दो मनोयोगोंके गुणस्थानोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—  
असत्यमनोयोग और उभयमनोयोग सती मित्याद्यष्टि गुणस्थानसे लेकर क्षीणकयायनीतमग छप्रस्य गुणस्थानतक पाये जाते हैं ॥ ५२ ॥

शंका—क्षपक और उपशमक जीवोंके सत्यमनोयोग और अनुस्यमनोयोगका सद्भाव

भवति परिहृद । ४२ ना ति य न चन्द्रमागहा भासा तेमि गन्नि अरियमणारियाण अण्णां सामाए परिणामेण परिमद । ५१ ग. २४ तापोयाजिन जणां संतापानुवा प्रसो ॥ तथाहु श्री हेमसय साव्याहुणामनं, यत्तुअन्तारुपयं पयमपामि मतिनीम । ममाभापणितता जना ज्ञानमुपासते ॥ देवा देवीं नरा नारां श्रमथापि जावुर । तिनीमिचि च तेरणी मंतिर मगादिण् ॥ यथा जलधरव्यामम जायणां पिंपित । नानारम मरलेम भाग भनाभापमि ॥ व्याप्रमोअलकता च सामागार्धमागरी । रतातां उे लक्षणे मसां मागथा शाकृतस्य च ॥ यंनिने । १११। एतामपि मस्या । पिपते मति तमानो गतलोपवचोमिधि ॥ आच्छेदे सक्षयानामस्यत्रा यत्तुअन्तार । अण्णेतामि हांनिन मंरु हांमन्त्र ॥ शब्दशरीरमिचिन्ना मन्तीदारी मचोमि च । यमुत्तुअर एतामपिअणाममि ॥ गर जतराणेन मिनेच युगपथा । ' मते नपि ' चि मनेन प्रियात्तियोडि मीपिता ॥ तो ५ २०, ६२६-६२९ मर्गिणामर्पाया माया मचति, सोड्यं ? अयं मवावद्रापामा मगवेदसमायासक, अर्थ च ममात्त म । एताम एतामपि न तदनिवाचनी नेर ? मगादिसमिचानं तथापरिणतया मापया मरुतमापया मीपि । एता ४ ३२ ( न. श्री )

अमादविरोधित्वादिति न, रजोछुपां विपर्ययानध्यनसायाज्ञानकारणमनसः सच्चा-विरोधात् । न च तद्योगात्प्रमादिनस्ते प्रमादस्य मोहपर्ययत्वात् ।

वाग्योगभेदप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

वचिजोगो चउव्विहो सच्चवचिजोगो मोसवचिजोगो सच्चमोस-  
वचिजोगो असच्चमोसवचिजोगो चेदि ॥ ५२ ॥

चतुर्विधमनोस्यः समुत्पन्नवनानि चतुर्विधान्यपि तद्व्यपदेशं प्रतिलभन्ते  
तथा प्रतीयते च । उक्तं च—

दमविह-सच्चे वयणे जो जोगो सो दु सच्चवचिजोगो ।

तव्विवरीदो मोसो जाणुभय सच्चमोस ति' ॥ १५६ ॥

जो णेव सच्च-मोसो त जाण असच्चमोसवचिजोगो ।

अमणण जा भासा सण्णीणामतगीयादीं ॥ १५७ ॥

रहा आवे, परतु वार्कके दो अर्थात् असत्यमनोयोग और उभयमनोयोगका सद्भाव नहीं हो सकता है, क्योंकि, इन दोनोंमें रहनेवाला अप्रमाद असत्य और उभय मनके कारणभूत प्रमादका विरोधी है ? अर्थात् क्षपक और उपशमक प्रमादरहित होते हैं, इसलिये उनके असत्यमनोयोग और उभयमनोयोग नहीं पाये जा सकते हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, आवरणकर्मसे युक्त जीवोंके विपर्यय और अल्पवत्त्वारूप अज्ञानके कारणभूत मनके सद्भाव मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है । परंतु इसके सबन्धसे क्षपक या उपशमक जीव प्रगत नहीं माने जा सकते हैं, क्योंकि, प्रमाद मोहकी पर्याय है ।

अथ वचनयोगके भेदोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

वचनयोग चार प्रकारका है, सत्यवचनयोग, असत्यवचनयोग, उभयवचनयोग, और अनुभयवचनयोग ॥ ५२ ॥

चार प्रकारके मनसे उत्पन्न हुए चार प्रकारके वचन भी उन्हीं संज्ञाओंको प्राप्त होते हैं और ऐसी प्रतीति भी होती है । कहा भी है—

दश प्रकारके सत्यवचनमें वचनवर्णणके निमित्तसे जो योग होता है उसे सत्यवचन-योग कहते हैं । उससे विपरीत योगको सृष्टवचनयोग कहते हैं । सत्यमृष्टारूप वचन योगको उभयवचनयोग कहते हैं ॥ १५६ ॥

जो न तो सत्य रूप है और न सृष्टारूप ही है वह असत्यमृष्टवचनयोग है । अस्ती

१ गो. जी २२०

२ गो जी २२१.

वचसो भेदमभिधाय गुणस्थानेषु तत्सत्त्वप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

**वचिजोगो असत्त्वमोसवचिजोगो वीहंदिय-पहुडि जाव सजोगिकेवलि ति ॥ ५३ ॥**

असत्यमोपमनोनिबन्धनवचनमसत्यमोपवचनमिति प्रागुक्तम्, तद् द्वीन्द्रियादीनां मनोरहितानां कथं भवेदिति नायमेकान्तोऽस्ति सकलवचनानि मनस एव समुत्पद्यन्त इति मनोरहितकेवलानां वचनाभाषसंजननात् । विकलेन्द्रियाणां मनसा विना न ज्ञानसमुत्पत्तिः । ज्ञानेन विना न वचनप्रवृत्तिरिति चेन्न, मनस एव ज्ञानसमुत्पद्यत इत्येकान्ताभावात् । भावे वा नाशेषेन्द्रियेभ्यो ज्ञानसमुत्पत्तिः मनसः समुत्पन्नत्वात् । नैतदपि दृष्टश्रुतानुभूतविषयस्य मानसप्रत्ययस्यान्यत्र वृत्तिविरोधात् । न चक्षुरादीनां सहकार्यणि प्रयत्नात्मसहकारिभ्यः इन्द्रियेभ्यस्तदुत्पत्त्युपलम्भात् । समनस्केषु ज्ञानस्य प्रादुर्भावो मनोयोगादेवेति चेन्न,

जीवोंकी भाषा और सही जीवोंकी आत्मन्वणी आदि भाषाए इसके उदाहरण है ॥ १५७ ॥

इसप्रकार वचनयोगके भेद कहकर अब गुणस्थानोंमें उसके सत्वके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सामान्यसे वचनयोग और विशेषरूपसे अनुभववचनयोग द्वीन्द्रिय जीवोंसे लेकर सयोगिकेवली गुणस्थानतक होता है ॥ ५३ ॥

शंका—अनुभयरूप मनके निमित्तसे जो वचन उत्पन्न होते हैं उन्हें अनुभववचन कहते हैं, यह बात पहले कही जा चुकी है । ऐसी हालतमें मनरहित द्वीन्द्रियादिक जीवोंके अनुभववचन कैसे हो सकते हैं ?

समाधान—यह कोई एकान्त नहीं है कि सपूर्ण वचन मनसे ही उत्पन्न होते हैं । यदि सपूर्ण वचनोंकी उत्पत्ति मनसे ही मान ली जावे तो मनरहित केवलियोंके वचनोंका अभाव प्राप्त हो जायगा ।

शंका—विकलेन्द्रिय जीवोंके मनके विना ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है और ज्ञानके विना वचनोंकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि, मनसे ही ज्ञानकी उत्पत्ति होती है यह कोई एकान्त नहीं है । यदि मनसे ही ज्ञानकी उत्पत्ति होती है यह एकान्त मान लिया जाता है, तो सपूर्ण इन्द्रियोंसे ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकेगी, क्योंकि, सपूर्ण ज्ञानकी उत्पत्ति मनसे मानते हो । अथवा, मनसे समुत्पन्नत्वरूप धर्म इन्द्रियोंमें रह भी तो नहीं हो सकता है, क्योंकि, दृष्ट, श्रुत और अनुभूतको विषय करनेवाले मानसज्ञानका दूसरी जगह सद्भाव माननेमें विरोध आता है । यदि मनको चक्षु आदि इन्द्रियोंका सहकारी कारण माना जावे सो भी नहीं बनता है, क्योंकि, प्रयत्न और आत्मके सहकारकी अपेक्षा रखनेवाली इन्द्रियोंसे इन्द्रियज्ञानकी उत्पत्ति पाई जाती है ।

शंका—समनस्क जीवोंमें तो ज्ञानकी उत्पत्ति मनोयोगसे ही होती है ?

केवलज्ञानेन व्यभिचारात् । समनस्कानां यत्क्षयोपशमिक ज्ञानं तन्मनोयोगात्सत्यादिति चेन्न, इष्टत्वात् । मनोयोगाद्ब्रह्मचनमुत्पद्यत इति प्रागुक्तं तत्कथं घटत इति चेन्न, उपचारेण तत्र मानसस्य ज्ञानस्य मन इति संज्ञां विधायोक्तत्वात् । कथं विकलेन्द्रियवचसोऽसत्य-मोपत्वमिति चेदनध्यवसायहेतुत्वात् । ध्वनिविषयोऽध्यवसायः समुपलभ्यत इति चेन्न, वक्तुरभिप्रायविषयाध्यवसायाभावस्य विवक्षितत्वात् ।

सत्यवचसो गुणनिरूपणार्थमुत्तरसूत्रमाह—

**सत्त्ववचिजोगो सणिमिच्छाइट्टि-पहुडि जाव सजोगि-केवलि ति ॥ ५३ ॥**

दशविधानामपि सत्यानामेषु गुणस्थानेषु सत्त्वस्य विरोधासिद्धेः तत्र भवन्ति

समाधान—नहीं, क्योंकि, ऐसा मानने पर केवलज्ञानसे व्यभिचार आता है ।

शंका—तो फिर ऐसा माना जाय कि समनस्क जीवोंके जो क्षायोपशमिक ज्ञान होता है वह मनोयोगसे होता है ?

समाधान—यह कोई शंका नहीं, क्योंकि, यह तो इष्ट ही है ।

शंका—मनोयोगसे वचन उत्पन्न होते हैं, यह जो पहले कहा जा चुका है वह कैसे श्रुत होगा ?

समाधान—यह शंका कोई दोषजनक नहीं है, क्योंकि, 'मनोयोगसे वचन उत्पन्न होते हैं' यहाँ पर मानस ज्ञानकी 'मन' यह सत्ता उपचारसे रखकर कथन किया है ।

शंका—विकलेन्द्रियोंके वचनोंमें अनुभवपना कैसे आ सकता है ?

समाधान—विकलेन्द्रियोंके वचन अनध्यवसायरूप ज्ञानके कारण हैं, इसलिये उन्हें अनुभयरूप कहा है ।

शंका—उनके वचनोंमें ध्वनिविषयक अध्यवसाय अर्थात् निश्चय तो पाया जाता है, फिर उन्हें अनध्यवसायका कारण क्यों कहा जाय ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, यहाँ पर अनध्यवसायसे वक्ताका अभिप्रायविषयक अध्यवसायका अभाव विवक्षित है ।

अब सत्यवचनयोगका गुणस्थानोंमें निरूपण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सत्यवचनयोग सही मिथ्यादृष्टिसि लेकर सयोगिकेवली गुणस्थानतक होता है ॥ ५४ ॥

दशों ही प्रकारके सत्यवचनोंके सूत्रोंक तरह गुणस्थानोंमें पाये जानेमें कोई विरोध

१ जणपदसम्बद्धिठणणामे ल्ले पडुच ववहारे । समावणे य भावे उवमाए दसमिह सच्च ॥ भत्त देवा चदपहपडिमा तह य होदि विणदत्तो । मेदो दिपथो रञ्जदि करो ति य ज हने मयण ॥ गो जी, २२२, २२३

दृश्यापि गम्यन्तीति ।

शेषवचनोः गुणस्थाननिरूपणार्थमुत्तरग्रन्थमाह—

मोसवचिजोगो सच्चमोसवचिजोगो सणिमिच्छाहृदि-प्पहुडि  
जाव स्त्रीण-कसाय-चीयराय-च्छुटुमत्था ति ॥ ५५ ॥

श्रीणकसायस्य वचनं कथयमत्यमिति चेन्न, असत्यनिबन्धनज्ञानसत्त्वापेक्षया तत्र  
नत्यचनप्रतिपादनम् । तत्र एव नोभयमयोगोऽपि विरुद्ध इति । शान्चयमस्य श्रीणकसायस्य  
रुथं सायमोशेन्न, तत्रान्तर्जल्पस्य मच्चानिगोश्रान् ।

काययोगान्वय्याश्रानिपादनार्थमुत्तरग्रन्थमाह—

कायजोगो सराविहो ओरालियकायजोगो ओरालियमिस्सकाय-  
जोगो वेउव्वियकायजोगो वेउव्वियमिस्सकायजोगो आहारकायजोगो  
आहारमिस्सकायजोगो कम्मइयकायजोगो वेदि ॥ ५६ ॥

श्रीदारिकशरीरजनितवीर्याजीवप्रदेशपरिस्पन्दनिबन्धनप्रथमतः औदारिककाययोगः ।

नर्ता आता दे, इन्लिये उनमं वृशों प्रकारके सत्यवचन होते हैं ।

शेष वचनयोगोंके गुणस्थानोंमें निरूपण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

गुणवचनयोग ओर सत्यमृगयावचनयोग सशी मित्याद्यप्रिसे लेकर श्रीणकसाय-चतिराग-  
दृश्याव्य गुणस्थानतक पाये जाते हैं ॥ ५५ ॥

शंका—जिसकी कपर्ये श्रीण हो गई हैं ऐसे जीवके वचन असत्य कैसे हो सकते हैं ?  
समाधान—पेसी शका व्यर्थ है, क्योंकि, असत्यवचनका कारण अज्ञान वारहवें  
गुणस्थानतक पाया जाता है, इस अपेक्षामें वहा पर असत्यवचनके सद्भावका प्रतिपादन किया  
दे । और इन्हींलिये उभयसंयोगज मत्यमृगयावचन भी वारहवें गुणस्थानतक होता है, इस  
कथनमें कोई शिरोध नहीं आता है ।

शंका—जनगुणिका पूरी तरहसे पालन करनेवाले कपायरहित जीवोंके वचनयोग  
कैसे सम्भव है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, कपायरहित जीवोंमें अन्तर्जल्पके पाये जानेमें कोई  
शिरोध नहीं आता है ।

एष काययोगस्त्री संन्याके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

काययोग सात प्रकारका है, औदारिककाययोग, औदारिकमिश्रकाययोग, वैक्रियक-  
काययोग, वैक्रियकमिश्रकाययोग, आहारककाययोग, आहारकमिश्रकाययोग और कार्मणकाय-  
योग ॥ ५६ ॥

औदारिक शरीररक्षा ( औदारिक वर्णणाञ्जसे ) उत्पन्न हुई शक्तिसे जीवके प्रदेशोंमें

कार्मणौदारिकरूपाभ्यां जनितवीर्यात्तपरिस्पन्दनार्थः प्रथतः औदारिकमिश्रकाययोगः ।  
उदारः पुरुः महानित्यर्थः, तत्र भवं शरीरमौदारिकम् । अथ स्यान्न महत्त्वमौदारिक-  
शरीरस्य ? कथमेतदवगम्यते ? वर्णणाम्नात् । किं तद्वर्णणाद्व्यमिति चेदुच्यते 'सव्वत्थोवा  
ओरालिय-सरीर-दव्व-वग्गणा-पदेसा, वेउव्विय-सरीर-दव्व-वग्गणा-पदेसा असंखेज्जगुणा,  
आहार-सरीर-दव्व-वग्गणा-पदेसा असंखेज्जगुणा, तेया-सरीर-दव्व-वग्गणा-पदेसा अणंतगुणा,  
भासा-दव्व-वग्गणा-पदेसा अणंतगुणा, मण-दव्व-वग्गणा-पदेसा अणंतगुणा, कम्मइय-सरीर-  
दव्व-वग्गणा-पदेसा अणंतगुणा चि' न, अनगाहनापेक्षया औदारिकशरीरस्य महत्त्वोपपत्तेः ।  
यथा 'सव्वत्थोवा कम्मइय-सरीर दव्व-वग्गणाए ओगाहणा, मण-दव्व-वग्गणाए ओगाहणा  
असंखेज्जगुणा, भासा-दव्व-वग्गणाए ओगाहणा असंखेज्जगुणा, तेया-सरीर-दव्व-वग्गणाए  
ओगाहणा असंखेज्जगुणा, आहार-सरीर-दव्व-वग्गणाए ओगाहणा असंखेज्जगुणा,  
वेउव्विय-सरीर-दव्व-वग्गणाए ओगाहणा असंखेज्जगुणा, ओरालिय-सरीर-दव्व-वग्गणाए

परिस्पन्दका कारणभूत जो प्रयत्न होता है उसे औदारिककाययोग कहते हैं । कार्मण ओर  
औदारिक वर्णणाञ्जके द्वारा उत्पन्न हुए वीर्यसे जीवके प्रदेशोंमें परिस्पन्दके लिये जो प्रयत्न  
होता है उसे औदारिकमिश्रकाययोग कहते हैं । उदार, पुरु और महान् ये एक ही अर्थके  
वाचक शब्द हैं । उसमें जो शरीर उत्पन्न होता है उसे औदारिकशरीर कहते हैं ।

शंका—औदारिक शरीर महान् है, यह बात नहीं बनती है ?  
प्रतिशका—यह कैसे जाना ?

शंकाका समर्थन—वर्णणासूत्रसे यह बात मालूम पड़ती है ।

प्रतिशका—यह वर्णणासूत्र कौनसा है ?

शंकाका समर्थन—जिससे औदारिक शरीरकी महानता सिद्ध नहीं होती है वह  
वर्णणासूत्र इसप्रकार है, 'औदारिकशरीरद्रव्यसबन्धी वर्णणाञ्जके प्रदेश सबसे थोड़े हैं ।  
उससे असत्यातगुणे वैक्रियकशरीरद्रव्यसबन्धी वर्णणाञ्जके प्रदेश हैं । उससे असत्यातगुणे  
आहारकशरीरद्रव्यसबन्धी वर्णणाञ्जके प्रदेश हैं । उससे अनन्तगुणे तैजसशरीरद्रव्यसबन्धी  
वर्णणाञ्जके प्रदेश हैं । उससे अनन्तगुणे भापाद्रव्यवर्णणाञ्जके प्रदेश हैं । उससे अनन्तगुणे  
मनोद्रव्यवर्णणाञ्जके प्रदेश हैं, और उससे अनन्तगुणे कार्मणशरीरद्रव्यवर्णणाञ्जके प्रदेश हैं' ।

समाधान—प्रकृतमें ऐसा नहीं है, क्योंकि, अवगाहनाकी अपेक्षा औदारिक शरीरकी  
स्थूलता वन जाती है । जैसे कि कहा भी है—

'कार्मणशरीरसंबन्धी द्रव्य-वर्णणाञ्जकी अवगाहना सबसे सूक्ष्म है । मनोद्रव्य-  
वर्णणाञ्जकी अवगाहना इससे असत्यातगुणी है । भापाद्रव्यवर्णणाञ्जकी अवगाहना इससे अस-  
त्यातगुणी है । तैजसशरीरसंबन्धी द्रव्य-वर्णणाञ्जकी अवगाहना इससे असत्यातगुणी है ।  
आहारशरीरसंबन्धी द्रव्य वर्णणाञ्जकी अवगाहना इससे असत्यातगुणी है । वैक्रियकशरीर-  
संबन्धी द्रव्य-वर्णणाञ्जकी अवगाहना इससे असत्यातगुणी है । औदारिकशरीरसंबन्धी

ओगाहणा असंखेज्जगुणा सि ।' उत च—

पुरु महसुदाराल एयहो त वियाण तहिं भव ।

ओरालियं ति वुत्त ओरालियमायजोगो सो' ॥ १६० ॥

ओरालियमुत्तथ विजाण मिस्स च अपरिपुण्ण ति ।

जो तेण सपजोगो ओरालियमिस्सको जोगो' ॥ १६१ ॥

अणिमादिविक्रिया, तद्योगात्पुद्गलाथ विक्रियेति भण्यन्ते । तत्र भवं शरीरं वैक्रियकम् । तदवष्टम्भतः समुत्पन्नपरिस्पन्देन योगः वैक्रियककाययोगः । कार्मण-वैक्रियकस्त्वन्धतः समुत्पन्नवर्षीयेण योगः वैक्रियकमिश्रकाययोगः । उक्तं च—

विबिह-गुण-इद्धि-उत्त वेउब्बियमहव विकिरिया चव ।

तिस्से भव च गेय वेउब्बियकायजोगो सो' ॥ १६२ ॥

द्रव्य-वर्णनाकी अवगाहना इससे असंख्यातगुणी है । कहा भी है—

पुरु, महत्, उदार और उराल, ये शब्द एकार्थवाचक है । उदारमें जो होता है उसे औदारिक कहते हैं, और उसके निमित्तसे होनेवाले योगको औदारिककाययोग कहते हैं ॥१६०॥

औदारिकका अर्थ ऊपर कह आये हैं । वही शरीर जबतक पूर्ण नहीं होता है तबतक मिश्र कहलाता है, और उसके द्वारा होनेवाले सप्रयोगको औदारिकमिश्रकाययोग कहते हैं ॥१६१॥

अणिमा, महिमा आदि ऋद्धियोंको विक्रिया कहते हैं । उन ऋद्धियोंके सपकसे पुद्गल भी 'विक्रिया' इस नामसे कहे जाते हैं । उसमें जो शरीर उत्पन्न होता है उसे वैक्रियकशरीर कहते हैं । उस शरीरके अवलम्बनसे उत्पन्न हुए परिस्पन्दद्वारा जो प्रयत्न होता है उसे वैक्रियककाययोग कहते हैं । कार्मण और वैक्रियक वर्णनाओंके निमित्तसे उत्पन्न हुई शक्तिसे जो परिस्पन्दके लिये प्रयत्न होता है उसे वैक्रियकमिश्रकाययोग कहते हैं । कहा भी है—

नाना प्रकारके गुण और ऋद्धियोंसे युक्त शरीरको वैशुर्विक अथवा वैक्रियक शरीर

१ गो. जी २३० सूक्ष्मशुश्रियत्तेजोनायुसाधारणशरीराणा स्थूलतामात्रं कथमौदारिकत्वं ? इति चेतनं, तत् सूक्ष्मतरवैश्रियकाशिरापरिपेक्षया तेषा महत्त्वेन पसागामरुद्ध्या वा औदारिकत्वसमवात् । म प्र टी

२ गो जी २३१ प्रायुक्तवृक्षणमौदारिकशरीरं तदेवान्तमुद्धृतपर्यंतमपूर्णं अपर्याप्तं तावन्निशमित्युच्यते अपर्याप्तकालसमभिसमयनममनिकापेणकाययोगाच्छटकार्मणवर्षणपरिपुण्णत्वेन पसागामरुद्ध्या वा अपर्याप्तं अपर्याप्त शरीरमित्यर्थ । जी प्र टी । तत्रौदारिकद्वयं शुद्धा सुनोवा । औदारिकमिश्रस्तु औदारिक एवपरिपूर्णो मिश्र उच्यते, यथा गुडमिश्रं दधि न शुद्धतया नापि दधितया व्यपदिरस्यते तत्ताभ्यामपरिपूर्णत्वात् । एवमौदारिक मिश्र कार्मणेन । नोदारिकतया नापि कार्मणतया व्यपदेन्दे शक्यम् अपरिपूर्णत्वादिति तस्योदारिकमिश्रव्यपदेश । एव वैक्रियमाहारान्मिश्रावर्षीति शतशब्दकालश । मत्तापनाग्याख्यानाशस्तोत्रम्, औदारिकाया गृद्धास्त-पर्याप्तत्वं मिश्रास्त-पर्याप्तत्वंस्येति । स्या म् प्र २०१

३ गो जी २३२

वेउब्बियमुत्तथ विजाण मिस्स च अपरिपुण्णं ति ।

जो तेण सपजोगो वेउब्बियमिस्सजोगो सो' ॥ १६३ ॥

आहरति आत्मसात्करोति सूक्ष्मानर्थाननेनेति आहारः । तेन आहारकायेन योगः आहारकाययोगः । कथमौदारिकस्त्वन्धसम्यद्धानां जीवावयवानां अन्यशरीरेण हस्तमात्रेण शब्दध्वलेन शुभसंस्थानेन योग इति चैत्रैप दोषः, अनादिवन्धनवद्धत्वतो मूर्तानां जीवावयवानां मूर्तेण शरीरेण सम्बन्धं प्रति विरोधासिद्धेः । तत एव न पुनः सङ्घटनमपि विरोधमास्कन्देत् । अथ स्याज्जीवस्य शरीरेण सम्बन्धकृदाद्युस्तथोविधयोगो मरणम् । न च गलितायुस्तस्मिन् शरीरे पुनरुत्पत्तिर्विरोधात् । ततो न तस्यौदारिक-शरीरेण पुनः सङ्घटनमिति ।

अत्र प्रतिविधीयते, न तावज्जीवशरीरयोर्वियोगो मरणं तयोः संयोगस्योत्पत्ति-कहते है । और इसके द्वारा होनेवाले योगको वैशुर्विककाययोग कहते हैं ॥ १६२ ॥

वैशुर्विकका अर्थ पहले कह ही चुके है । वही शरीर जबतक पूर्ण नहीं होता है तबतक मिश्र कहलाता है । और उसके द्वारा जो संप्रयोग होता है उसे वैशुर्विकमिश्रकाययोग कहते हैं ॥ १६३ ॥

जिसके द्वारा आत्मा सूक्ष्म पदार्थोंको ग्रहण करता है, अर्थात् आत्मत्वात् करता है उसे आहारकशरीर कहते हैं । और उस आहारकशरीरसे जो योग होता है उसे आहारक काययोग कहते हैं ।

शंका—औदारिकस्त्वन्धसे सवन्ध रखनेवाले जीवप्रदेशोंका हस्तप्रमाण, शब्दके समान धवल वर्णवाले, और शुभ अर्थात् समचतुरस्र संस्थानसे युक्त वाग्य शरीरके साथ कैसे सवन्ध हो सकता है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, जबिके प्रदेश अनादिकालीन बन्धनसे बद्ध होनेके कारण मूर्त हैं, अतएव उनका मूर्त आहारकशरीरके साथ सवन्ध होनेमें कोई विरोध नहीं आता है । और इसीलिये उनका फिरसे औदारिक शरीरके साथ सघटनका होना भी विरोधको प्राप्त नहीं होता है ।

शंका—जीवका शरीरके साथ सवन्ध करनेवाला आयुर्कर्म है, और जीव तथा शरीरका परस्परमें वियोग होना मरण है । इसलिये जिसकी आयु नष्ट हो गई है ऐसे जीवकी फिरसे उसी शरीरमें उत्पत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि, ऐसा माननेमें विरोध आता है । अतः जीवका औदारिक शरीरके साथ पुन सघटन नहीं बन सकता है । अर्थात् एकवार जीवप्रदेशोंका आहारक शरीरके साथ सवन्ध हो जानेके पश्चात् पुनः उन प्रदेशोंका पूर्ण औदारिक शरीरके साथ संबन्ध नहीं हो सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, आगममें जीव और शरीरके वियोगको मरण नहीं

प्रमत्तान् । अस्तु चेन्न, पूर्यापिपुद्गदयप्राप्तोत्तरभवसम्पन्ध्यायुःकर्मणां तत्परित्यक्तायुषात्त-  
पूर्वोत्तरशरीराणामपि जीवानामुत्पत्त्युपलम्भमात् । भवतु तथोत्पत्तिर्भरणं पुनर्जीवशरीर-  
नियोग एवेति चेदस्तु सर्वात्मना तयोर्नियोगो भरणं नैकदेशेन आगलादप्युपसंहृत-  
जीवानयवाना मरणानुपलम्भमात् जीवितच्छिन्नवहस्तेन व्यभिचाराच्च । न पुनरस्यार्थः  
सर्वावयवैः पूर्वशरीरपरित्यागः ममस्ति येनास्य भरणं जायेत । न चैतच्छरीरं गच्छत्यवय-  
वादिना प्रतिहन्यते' अत्रैच्छिद्यतेऽधिना दृढते वा मूक्षमत्वौद्विक्रियकशरीरवत् । आहार-  
कार्मणोऽन्यतः समुत्पत्त्यधीनं योगः आहारमिश्रक्रियायोगः । उक्तं च—

कहा है । अन्यथा उनके संयोगको उत्पत्ति मानना पड़ेगा ।

शंका — जीन और शरीरका संयोग उत्पत्ति रहा आवे, इसमें क्या हानि है ?

समाधान — ऐसा नहीं है, क्योंकि, पूर्वभवंमें श्रद्धण क्रिये हुए आयुर्कर्मके उदय होने  
पर जिन्होंने उत्तर भवसम्बन्धी आयुर्कर्मका बन्ध कर लिया है और भुल्यमान आयुसे सबन्धके  
दृष्ट जाने पर भी जिन्होंने पूर्व अथवा उत्तर इन दोनों शरीरोंमेंसे किसी एक शरीरको प्राप्त  
नहीं किया है, ऐसे जीनोंकी उत्पत्ति पाई जाती है । इसलिये जीव और शरीरके संयोगको  
उत्पत्ति नहीं कर सकते हैं ।

शंका — उत्पत्ति इतप्रकारकी भली ही रही आवे, फिर भी मरण तो जीव और  
शरीरके नियोगको ही मानना पड़ेगा ?

समाधान — यह कहना ठीक है, तो भी जीव और शरीरका संपूर्ण-  
रूपसे नियोग ही मरण हो सकता है । उनका एकदेशरूपसे वियोग मरण नहीं हो सकता,  
क्योंकि, जिनके कण्डपर्यन्त जीवप्रदेश संकुचित हो गये हैं ऐसे जीवोंका भी मरण नहीं पाया  
जाता है । यदि एकदेश वियोगको भी मरण माना जावे, तो जीवित शरीरसे छिन्न होकर  
जिमाना तब अलग हो गया है उसके साथ व्यभिचार दोष आ जायगा । इसीप्रकार आहारक  
शरीरको भक्षण करना इसका अर्थ संपूर्णरूपसे पूर्व (औदरिक) शरीरका त्याग करना  
पत्ती है, जिससे आहारक शरीरको धारण करनेवालेका मरण माना जावे ?

निर्णयार्थ — छटवें गुणस्थानमें जब साधु आहारक शरीरको उत्पन्न करता  
है, उस समय उतना औदरिक शरीरसे सर्वथा समान भी नहीं दृष्ट जाता है और  
भुज्यमान आयुका गन्त भी नहीं होता है, इसलिये ऐसी अवस्थानो मरण नहीं कहते हैं ।  
केवल तभी जीवमवेशोंका आहारक शरीरके साथ पतनिये सबन्ध होता है ।

यह आहारक शरीर मृदम होनेके कारण गमन करते समय वैक्रियक शरीरके समान  
न हो पत्तोंने टकराना है, न शरीरसे छिद्रता है और न अग्निसे जलता है । आहारक और  
समर्थकी वर्णनाग्नि उत्पन्न हुए शरीरके द्वारा जो योग होता है वह आहारकमिश्रक्रियायोग है ।

१. योत्तमपुत्राभ्युदयस्य शरीरस्य भवति । पञ्चमीमपुत्रा मरण नि क्वापि ममत्त ॥ गो. जी. २३८

२. योत्तमपुत्राभ्युदयस्य शरीरस्य भवति । पञ्चमीमपुत्रा मरण नि क्वापि ममत्त ॥ गो. जी. २३८

आहारीदि अणेण मुणो सुहुवे अहे समयस्म संदेहे' ।  
गत्ता केवल्लि-वास तम्हा आहारको जोगो' ॥ १६४ ॥  
आहारयमुत्तथ त्रियाण भिस्स च अपरिपुण्ण ति ।  
जो तेण सपयोगो आहारयभिस्सको जोगो' ॥ १६५ ॥

विशेषार्थ—मिश्रयोग तीन है, औदरिकमिश्रक्रियायोग, वैक्रियकमिश्रक्रियायोग और  
आहारकमिश्रक्रियायोग । इनमेंसे औदरिकमिश्र मनुष्य और तिर्यचके जन्मके प्रथम समयसे  
लेकर अन्तर्मुहूर्त कालतक और केवली समुदातकी कृपादृश्यरूप अवस्थामें होता है । वैक्रियक-  
मिश्र देव और नारकियोंके जन्मके प्रथम समयसे लेकर अन्तर्मुहूर्तक होता है । आहारकमिश्र  
छटे गुणस्थानवर्ती जीवके आहारकसमुदात निकलते समय अपर्याप्त अवस्थामें होता है । इन  
तीनों मिश्रयोगोंमें केवल विवक्षित शरीरसंबन्धी वर्गणाओंके निमित्तसे आत्मप्रेरक-परिस्पन्द नहीं  
होता है, किन्तु कार्मणशरीरके सबन्धसे युक्त होकर ही औदरिक आदि शरीरलवणी वर्गणा-  
ओंके निमित्तसे योग होता है, इसलिये इन्हें मिश्रयोग कहा है । परंतु इतनी विरोधता  
है कि गोस्पन्दसार जीवजाण्डकी टीकामें आहारकसमुदातके पड़ले होनेवाले औदरिक-  
शरीरकी वर्गणाओंके मिश्रणसे आहारकक्रियामिश्रयोग कहा है और यहां पर कार्मणस्कारके  
मिश्रणसे आहारकक्रियामिश्रयोग कहा है । इन दोनों कथनों पर विचार करनेसे ऐसा प्रतीत  
होता है कि गोस्पन्दसारकी टीकाके अभिप्रायसे आहारकमिश्रयोगतक औदरिकशरीरसंबन्धी  
वर्गणाए आती रहती है और धवलके अभिप्रायसे आहारकमिश्रयोगके प्रारंभ होते ही औदा-  
रिकशरीरसंबन्धी वर्गणाओंका त्याग बन्द हो जाता है । कहा भी है—  
छटवें गुणस्थानवर्ती मुनि अपनेको सदेह होने पर जिन शरीरके द्वारा केवलके पास  
जाकर सूक्ष्म पदार्थोंका आहरण करता है उसे आहारक शरीर कहते हैं, इसलिये उसके द्वारा  
होनेवाले योगको आहारकक्रियायोग कहते हैं ॥ १६४ ॥

आहारकका अर्थ कब आवे है । वह आहारकशरीर जवतक पूर्ण नहीं होता है तवतक  
उसको आहारकमिश्र कहते हैं । और उसके द्वारा जो संप्रयोग होता है उसे आहारकमिश्र-  
क्रियायोग कहते हैं ॥ १६५ ॥

प्रदेशपरिस्पन्द स आहारकक्रियामिश्रयोग । गो. जी. जी. प्र. टी. २६०

१. क्विद्विशातरापि ममत्सयतस्य श्रुतगानाणानीयान्तरायदशयोपशमपि सति यदा धर्मयानपिरोधी  
श्रुतांमदेह स्यात्तदा तमदेहनिशाशार्थं च आहारकशरीरमुपिष्ठीत्यर्थं । गो. जी. जी. प्र. टी. २३५

२. गो. जी. २३९. पियतेत्तं केवल्लिदृगपिदे पिकमणपटुदिकलाणे । परतेत्ते मत्तिंसे जिणजिणवरदण्ट  
च ॥ उत्तमपुत्रादि ह्व वाहुदिशिणं सुह जमहण्ण । सुहसठाण वयल न्यपमाण पण युदय ॥ गो. जी. २३६, २३७.

३. गो. जी. २६०



कर्मैव कर्मणं शरीरम्, अष्टकर्मस्कन्ध इति यावत् । अथवा कर्मणि भवं कर्मणं शरीरं नामकर्मावयवस्य कर्मणो ग्रहणम् । तेन योगः कर्मणकाययोगः । केवलेन कर्मणा जन्तिवीर्येण सह योगः इति यावत् । उक्तं च —

कम्मैव च कम्म-भवं कम्मइय तेण जो दु सजोगो ।

कम्मइयकायजोगो एण-विण-तिणेषु सम्पसु' ॥ १६६ ॥

को हौदारिककाययोगो भवतीत्येतत्प्रतिपादनार्थमुत्तरद्वयमाह—

**ओरालियकायजोगो ओरालियमिस्सकायजोगो तिरिक्ख-मणु-  
स्साणं ॥ ५७ ॥**

देवनारकाणां किमिल्यौदारिकशरीरोदयो न भवेत् ? न, स्वाभाव्याद् देवनरक-

कर्म ही कर्मणशरीर है, अर्थात् आठ प्रकारके कर्मस्कन्धोंको कर्मणशरीर कहते हैं । अथवा, कर्ममें जो शरीर उत्पन्न होता है उसे कर्मण शरीर कहते हैं । यहाँ पर नामकर्मके अवयवरूप कर्मणशरीरका ग्रहण करना चाहिये । उस शरीरके निमित्तसे जो योग होता है उसे कर्मणकाययोग कहते हैं । इसका तात्पर्य यह है कि अन्य औदारिकादि शरीर-वर्गीणाओंके विना केवल एक कर्मसे उत्पन्न हुए वीर्यके निमित्तसे आत्मप्रवेशपरिस्वरूप जो प्रयत्न होता है उसे कर्मणकाययोग कहते हैं । कहा भी है—

ज्ञानावरणादि आठ प्रकारके कर्मस्कन्धको ही कर्मणशरीर कहते हैं । अथवा, जो कर्मणशरीर नामकर्मके उदयसे उत्पन्न होता है उसे कर्मणशरीर कहते हैं । और उसके द्वारा होनेवाले योगको कर्मणकाययोग कहते हैं । यह योग एक, दो अथवा तीन समयतक होता है ॥ १६६ ॥

औदारिककाययोग किसके होता है, इस बातके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

तिर्यच और मणुयोंके औदारिककाययोग और औदारिकमिश्रकाययोग होता है ॥ ५७ ॥

शंका—देव और नारकियोंके औदारिकशरीर नामकर्मका उदय क्यों नहीं होता है ? समाधान—नहीं, क्योंकि, स्वभावसे ही उनके औदारिकशरीर नामकर्मका उदय नहीं

१ गी जी २४? स कर्मणकाययोग एकद्विदिसमयविशिष्टविग्रहातिकालेषु केवलिसमुद्भातसमीधप्रतर-  
द्रयलोकपूर्णे समययोगे च प्रवर्तते शेषकाले नास्तीति विभाग तु शब्देन सूच्यते । अनेन शेषयोगानामन्याघातविक्रय  
अन्तर्दृष्टकालो व्याघातविक्रये एकममयादियथासम्भवात्तदुर्ध्वपर्यतकालश्च एकजीव प्रति मणितो मन्वति । नानाजीवा-  
पेक्षया उवसमधुमेत्याघाटमांतरसाणंवाजितशेषनिरंतरत्साणानां सर्वकाल इति विशेषो द्वातन्व । जी प्र टी

गतिकर्मोदयेन सह औदारिककर्मोदयस्य विरोधाद्वा । न च तिरथां मणुष्याणां चौदारिककाययोग एवेति नियमोऽस्ति तत्र कर्मणकाययोगादीनामभावापत्तेः । किं तु औदारिककाययोगाल्लिर्यङ्मणुष्याणामेव ।

केषु वैक्रियककाययोगो भवतीत्येतत्प्रतिपादनार्थमुत्तरद्वयमाह—

**वेउव्वियकायजोगो वेउव्वियमिस्सकायजोगो देवणेइ-  
याणं ॥ ५८ ॥**

तिरथां मणुष्याणां च किमिति तदुदयो न भवेत् ? न, तिर्यङ्मणुष्यगतिकर्मो-  
दयेन सह वैक्रियकोदयस्य विरोधात्स्वभावाद्वा । न हि स्वभावाः परपर्यनुयोगाहोः  
अतिप्रसङ्गात् । तिर्यञ्चो मणुष्याश्च वैक्रियकशरीराः श्रूयन्ते तत्कथं घटत इति चेन्न,  
औदारिकशरीरं द्विविधं विक्रियात्मकमविक्रियात्मकमिति । तत्र यद्विक्रियात्मकं तद्वै-

होता है । अथवा, देवगति और नरकगति नामकर्मके उदयके साथ औदारिकशरीर नामकर्मके उदयका विरोध है, इसलिये उनके औदारिकशरीरका उदय नहीं पाया जाता है । फिर भी तिर्यच और मणुयोंके औदारिक और औदारिकमिश्रकाययोग ही होता है ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि, इस प्रकारके नियमके करने पर तिर्यच और मणुयोंमें कर्मणकाययोग आदिके अभावकी आपत्ति आ जायगी । इसलिये औदारिक और औदारिकमिश्र तिर्यच और मणुयोंके ही होता है, ऐसा नियम जानना चाहिये ।

वैक्रियक नाययोग किन जीवोंमें होता है इस बातके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

देव और नारकियोंके वैक्रियककाययोग और वैक्रियकमिश्रकाययोग होता है ॥ ५८ ॥

शंका—तिर्यच और मणुयोंके इन दोनों योगोंका उदय क्यों नहीं होता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, तिर्यचगति और मणुष्यगति कर्मोदयके साथ वैक्रियक नामकर्मके उदयका विरोध आता है, अथवा, तिर्यच और मणुष्यगतिमें वैक्रियक नामकर्मका उदय नहीं होता है, यह स्वभाव ही है । और स्वभाव दूसरेके प्रयोंके योग्य नहीं होते हैं, अन्यथा, अतिप्रसंग दोष आ जायगा । इसलिये तिर्यच और मणुयोंके वैक्रियक और वैक्रियकमिश्रकाययोग नहीं होता है, यह सिद्ध हो जाता है ।

शंका—तिर्यच और मणुष्य भी वैक्रियकशरीरवाले सुने जाते हैं, इसलिये यह बात कैसे घटित होगी ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, औदारिकशरीर दो प्रकारका है, विक्रियात्मक और अविक्रियात्मक । उनमें जो विक्रियात्मक औदारिक शरीर है, वह मणुष्य और तिर्यचोंके



क्रियामिति नचोक्तं न तदत्र परिगृह्यते विविधगुणद्रव्यभावात् । अत्र विविधगुणद्रव्या-  
न्मते परिगृह्यते, तत्र देवनाकराणामेव ।

आहारशरीरस्वामिप्रतिपादनाथमुत्तरस्यसमाह—

**आहारकायजोगो आहारमिस्सकायजोगो संजडाणमिड्डि-  
पत्ताणं ॥ ५९ ॥**

आहारद्रिप्राज्ञेः किमु मंथताः क्रुद्धिप्राप्ता उत वैक्रियक्रुद्धिप्राधान्ते क्रुद्धिप्राप्ता  
इति । किं चालः नात्रः पशु आश्रयणयोग्यः इतरेतराश्रयदोषासंजनात् । कथम् ?  
यात्रात्वारुद्धिरूपयते न तावन्तोपासुद्धिप्राप्तत्नम्, यान्त्रुद्धिप्राप्तत्नं न तावत्तेषामाहारद्रि-  
गिति । न द्वितीयविकल्पोऽपि क्रुद्धेरुपर्यगतात् । भवेत् वा आहारशरीरवतां मनः-  
पर्ययज्ञानमपि जायते विज्ञेयागानात् । न चैवमायं मह निरोधादिति नाद्विषेक्तदोषः

वैक्रियरूपमेष कृता गता दे । उसका यहा पर ग्रहण नहीं किया है, क्योंकि, उसमें नाना गुण  
और क्रियाओं का अभाव है । यदा पर गाना गुण और क्रियुक्त वैक्रियकशरीरका ही ग्रहण  
किया है, और तब देव और नास्तिकोंके ही होता है ।

अथ आहारकशरीरके स्वामीके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—  
आहारककाययोग और आहारकमित्रकाययोग क्रुद्धिप्राप्त छेदे गुणस्थानवर्ती सत्यतांके  
भी होने दे ॥ ५९ ॥

जंजा — यदा पर क्या आहारक क्रुद्धिकी प्राप्तिसे सत्यतांको क्रुद्धिप्राप्त समझना  
चाहिये, या उन्हींके फलसे वैक्रियक क्रुद्धिको प्राप्त कर लिया है, इसलिये उन्हें क्रुद्धिप्राप्त  
मगरना चाहिये ? इन दोनों पक्षोंमेंसे प्रथम पक्ष तो ग्रहण करने योग्य नहीं है, क्योंकि,  
प्रथम पक्षके ग्रहण करने पर इतरेतराश्रय दोष आता है । वह कैसे आता है, आगे इसीको  
स्पष्ट करते हैं । जयक आहारक क्रुद्धि उत्पन्न नहीं होती है तबतक उन्हें क्रुद्धिप्राप्त  
नहीं माना जा सकता, और जयक वे क्रुद्धिप्राप्त न हों तबतक उनके आहारक क्रुद्धि  
उत्पन्न नहीं तो सकती है । इसीप्रकार दूसरा विकल्प भी नहीं बनता है, क्योंकि, उनके  
उपपन्न दूसरी क्रुद्धियोंका अभाव है । इतने पर भी यदि सद्भाव माना जाता है, तो  
आहारक क्रुद्धिप्राप्तोंके मन पर्ययज्ञानकी उत्पत्ति भी माननी चाहिये, क्योंकि दूसरी क्रुद्धि-  
योंके समाग इसके होनेमें कोई विशेषता नहीं है । परन्तु आहारक क्रुद्धिवालेके मनःपर्यय  
ज्ञान माना नहीं जा सकता है, क्योंकि ऐसा मानने पर आगमसे विरोध आता है ?

समाधान—प्रथम पक्षमें जो इतरेतराश्रय दोष दिया है, वह तो आता नहीं है, क्योंकि,

१ वात्सल्यशरीर पशुप्राप्तत रोगिण आसता । एतेन एगणदे णिय सि अण्यय जणे ॥  
भा जी ३२०.

समादौकते । यतो नाहारद्रिप्राप्तमनपेक्ष्योपपद्यते स्वात्मनि क्रियाविरोधात् । अपि तु  
संयमातिशयोपेक्षया तस्याः समुत्पत्तिरिति । क्रुद्धिप्राप्तसंयतानामिति विशेषणमपि घटते  
तदुत्पत्तौपि क्रुद्धिहेतुसंयमः क्रुद्धिः कारणे कार्योपचारात् । ततश्चक्रुद्धिहेतुसंयमप्राप्ताः  
यतयः क्रुद्धिप्राप्तास्तेषामाहारद्रिप्राप्तिरिति विद्वम् । संयमिशेषजनिताहारशरीरित्पादन-  
अक्तिराहारद्रिप्राप्तिरिति वा नेतरेतराश्रयदोषः । न द्वितीयविकल्पोऽप्यनभ्युपगमात् ।  
नैव नियमोऽप्यस्त्येकस्मिन्नक्रमेण नर्द्वयो भूयस्यो भगन्तीति । गणभृत्सु राप्यानामपि  
क्रुद्धीनामक्रमेण सचोपलब्धात् । आहारद्रव्या मह मनःपर्ययस्य विरोधो दृश्यत इति  
चेद्भगवतु नाम दृष्टत्वात् । न चानेन विरोध इति सर्वाभिनिरोधो नक्तु पर्यतेऽव्यवस्था-  
पचेरिति ।

कार्मणशरीरस्वामिप्रतिपादनाथमुत्तरस्यसमाह —

**कर्ममह्यकायजोगो विग्गहगइ-समावणणां केवलीणं वा  
समुग्धाद-गदाणं ॥ ६० ॥**

आहारक क्रुद्धि स्वतःकी अपेक्षा करके उत्पन्न नहीं होती है, क्योंकि, स्वतःसे स्वतःकी  
उत्पत्तिरूप क्रियाके होनेमें विरोध आता है । किन्तु संयमातिशयोकी अपेक्षा आहारक क्रुद्धिकी  
उत्पत्ति होती है, इसलिये 'क्रुद्धिप्राप्तसत्यतानाम्' यह विशेषण भी वग जाता है । यदा पर  
दूसरी क्रुद्धियोंके उत्पन्न नहीं होने पर भी कारणोंमें कार्यके उपनारसे क्रुद्धिके कारणभूत  
संयमको ही क्रुद्धि कहा गया है, इसलिये क्रुद्धिके कारणरूप संयमको प्राप्त सत्यतांको क्रुद्धि-  
प्राप्त सत्यत कहते हैं, और उनके आहारक क्रुद्धि होती है, यह बात सिद्ध हो जाती है । अथवा,  
संयमविरोधसे उत्पन्न हुई आहारकशरीरके उत्पादनरूप शक्तिको आहारक क्रुद्धि कहते हैं,  
इसलिये भी इतरेतराश्रय दोष नहीं आता है । इसीप्रकार दूसरे विकल्पमें दिया गया दोष भी  
नहीं आता है, क्योंकि, एक क्रुद्धिके साथ दूसरी क्रुद्धिया नहीं होती हैं, यह हम मानने ही  
नहीं हैं । एक आत्मामें युगपत् अनेक क्रुद्धियां उत्पन्न नहीं होती हैं, यह कोई नियम नहीं है,  
क्योंकि, गणधरोंके एकसाथ सातों ही क्रुद्धियोंका सद्भाव पाया जाता है ।

शंका — आहारक क्रुद्धिके साथ मनःपर्ययज्ञानका तो विरोध देगा जाता है ?

समाधान—यदि आहारक क्रुद्धिके साथ मन पर्ययज्ञानका विरोध देखनेमें आता है  
तो रहा आये । किन्तु मन पर्ययके साथ विरोध है, इसलिये आहारक क्रुद्धिका दूसरी संपूर्ण  
क्रुद्धियोंके साथ विरोध है, ऐसा नहीं कहा जा सकता है । अन्यथा अव्यवस्थाकी आपत्ति आ  
जायगी ।

अथ कार्मणशरीरके स्वामीके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—  
विग्गहगतिको प्राप्त चारों गतियोंके जीवोंके तथा प्रतर और लोकपूर्ण समुदातको

१ 'क' प्रती 'ये तपःक्रुद्धिप्राप्ता' इति पाठ ।

विग्रहो देहस्तदर्थो गतिः विग्रहगतिः । औदारिकादिशरीरनामोदयात्स्वनिर्वर्तन-  
समर्थान् विधिधान् पुद्गलान् गृह्णाति विगृह्यतेऽसौ संसारिणा इति वा विग्रहो देहः । विग्रहाय  
गतिः विग्रहगतिः । अथवा विरुद्धो ग्रहो निग्रहः व्याघातः पुद्गलादाननिरोध इत्यर्थः ।  
विग्रहेण पुद्गलादाननिरोधेन गतिः विग्रहगतिः । अथवा विग्रहो व्याघातः कौटिल्य-  
मित्यनर्थान्तरम् । विग्रहेण कौटिल्येन गतिः विग्रहगतिः । तां सम्यगापन्नाः प्राप्ताः  
विग्रहगतिसमापन्नाः, तेषां विग्रहगतिसमापन्नानाम् । सर्वाणि शरीराणि यतः शरोहन्ति  
तद्विजभूतं कार्मणशरीरं कार्मणकाय इति भण्यते । वाङ्मनःकायवर्गणानिमित्तः आत्म-  
ग्रदेशपरिस्पन्दो योगो भवति । कार्मणकायकृतो योगः कार्मणकाययोगः । स विग्रहगतौ  
वक्रगतौ वर्तमानजीवानां भवति । एतदुक्तम्, गतेर्गत्यन्तरं व्रजतां प्राणिनां चतसो गतयो  
भवन्ति इषुगतिः पाणिमुक्ता लाङ्गलिका गोमूत्रिका चेति । तत्राविग्रहा प्राथमिकी,  
शेषाः विग्रहवत्यः । ऋची गतिरिषुगतैरुक्तसमधिकी । यथा पाणिना तिर्यक्प्रक्षिप्तस्य

प्राप्त केवली जिनके कार्मणकाययोग होता है ॥ ६० ॥

विग्रह देहको कहते हैं । उसने लिये जो गति होती है उसे विग्रहगति कहते हैं ।  
यह जीव औदारिक आदि शरीर नामकर्मके उदयसे अपने अपने शरीरकी रचना करनेमें  
समर्थ नाना प्रकारके पुद्गलोंको ग्रहण करता है, अतएव संसारी जीवके द्वारा शरीरका  
ग्रहण किया जाता है । इसलिये देहको विग्रह कहते हैं । ऐसे विग्रह अर्थात् शरीरके लिये जो  
गति होती है उसे विग्रहगति कहते हैं । अथवा, 'वि' शब्दना अर्थ विरुद्ध और 'ग्रह'  
शब्दका अर्थ घात होनेसे विग्रह शब्दना अर्थ व्याघात भी होता है । जिसका अर्थ पुद्गलोंके  
ग्रहण करनेका निरोध होता है । इसलिये विग्रह अर्थात् पुद्गलोंके ग्रहण करनेके निरोधके  
साथ जो गति होती है उसे विग्रहगति कहते हैं । अथवा, विग्रह व्याघात और कौटिल्य  
ये पर्यायवाची नाम हैं । इसलिये विग्रहसे अर्थात् कूटिलता ( मोड़ों ) के साथ जो गति  
होती है उसे विग्रहगति कहते हैं । उसको भली प्रकारसे प्राप्त जीव विग्रहगतिसमापन्न  
कहाते हैं । उनके अर्थात् विग्रहगतिको प्राप्त जीवोंके कार्मणकाययोग होता है । जिससे  
संपूर्ण शरीर उत्पन्न होते हैं, उस वीजभूत कार्मणशरीरको कार्मणजाय कहते हैं । वचन-  
वर्णना, मनोवर्णना और कायवर्णनाके निमित्तसे जो आत्मप्रदेशोंका परिस्पन्द होता है उसे  
योग कहते हैं । कार्मणकायसे जो योग उत्पन्न होता है उसे कार्मणकाययोग कहते हैं ।  
यह विग्रहगति अर्थात् वक्रगतिमें विद्यमान जीवके होता है । आगममें ऐसा कहा है कि एक  
गतिसे दूसरी गतिको गमन करनेवाले जीवोंके चार गतिया होती हैं, इषुगति, पाणिमुक्तागति,  
लागलिकागति और गोमूत्रिकागति । उनमें पहली गति विग्रहग्रहित होती है और शेष गतिया  
विग्रहग्रहित होती हैं । सरल अर्थात् ध्रुवसे छूटे हुए वाणके समान मोड़ग्रहित गतिको इषुगति

द्रव्यस्य गतिरेकविग्रहा गतिः तथा संसारिणामेकविग्रहा गतिः पाणिमुक्ता द्वैसमयिकी ।  
यथा लाङ्गलं द्विवक्रं तथा द्विविग्रहा गतिर्लाङ्गलिका त्रैसमयिकी । यथा गोमूत्रिका  
बहुवक्रा तथा त्रिविग्रहा गतिर्गोमूत्रिका चातुःसमयिकी । तत्र कार्मणकाययोगः स्यादिति ।  
स्वस्थितग्रदेशादरंभ्योर्ध्वाधस्तिर्यगाकाशप्रदेशानां क्रमसन्धिविधानां पङ्क्ति-श्रेणिरित्युच्यते ।  
तथैव जीवानां गमनं नोच्छेदणिरूपेण । ततस्त्रिविग्रहा गतिर्न विरुद्धा जीवस्येति ।

घातनं घातः स्थित्यनुभवयोर्विनाश इति यावत् । कथमनुक्तमनधिष्ठितं चावागम्यत  
इति चेन्न, प्रकरणवशात्तदवगतेः । उपरि घातः उद्धातः, समीचीन उद्धातः समुद्धातः ।

कहते हैं । इस गतिमें एक समय लगता है । जैसे हाथसे तिरछे फेंके गये द्रव्यकी एक मोड़वाली  
गति होती है, उसीप्रकार संसारी जीवोंके एक मोड़वाली गतिको पाणिमुक्ता गति कहते हैं ।  
यह गति दो समयवाली होती है । जैसे हलमें दो मोड़े होते हैं, उसीप्रकार दो मोड़वाली  
गति को लागलिका गति कहते हैं । यह गति तीन समयवाली होती है । जैसे गावका चलते  
समय मूत्रना करना अनेक मोड़वाला होता है, उसीप्रकार तीन मोड़वाली गतिको गोमूत्रिका  
गति कहते हैं । यह गति चार समयवाली होती है । इषुगतिको छोड़कर शेष तीनों विग्रह-  
गतियोंमें कार्मणकाययोग होता है ।

जो प्रदेश जहा स्थित है वहांसे लेकर ऊपर, नीचे और तिरछे क्रमसे विद्यमान  
आकाशप्रदेशोंकी पङ्क्तिको श्रेणी कहते हैं । इस श्रेणिके द्वारा ही जीवोंका गमन होता है,  
श्रेणीको उल्लंघन करके नहीं होता है । इसलिये विग्रहगतियाले जीवके तीन मोड़वाली गति  
विरोधको प्राप्त नहीं होती है । अर्थात् ऐसा कोई स्थान ही नहीं है जहां पर पहुंचनेके लिये  
चार मोड़े लग सकें ।

घातेनैरूप धर्मको घात कहते हैं, जिसका प्रकृतमे अर्थ कर्मकी स्थिति और अनु-  
भागका विनाश होता है ।

शंका—कर्मकी स्थिति और अनुभागके घातका अभी तक कथन नहीं किया है, अथवा,  
उसका अधिकार भी नहीं है, इसलिये यहां पर कर्मकी स्थिति और अनुभागका घात विवक्षित  
है, यह कैसे जागा जाय ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, प्रकरणके वशसे यह जाना जाता है कि केवलिसमुद्धातमे  
कर्मकी स्थिति और अनुभागका घात विवक्षित है ।

उत्तरोत्तर होनेवाले घातको उद्धात कहते हैं, और समीचीन उद्धातको समुद्धात  
कहते हैं ।

१ त रा वा २ २८ वा ४

२ लोकप्रथादारभ्यं स लि २ २६ । त रा वा २ २६ । अष्टपणो वनगो तिरिय लोपस्स मच्च-  
वारम्मि । एम पमगो दिसाण एमा मने अणुदिसाण । आचा ति ४२

३ मूलमरीरमण्डिय उत्तरेदस्स जीगिडस्स । णिगमण देहादि मणुवाणम तु ॥ गो जी ६६८



श्रेयारोहणदर्शनात् । न तत्र संसारसमानकर्मस्थितयः समुद्धातेन विना स्थितिकाण्डकानि अन्तर्मुहूर्तेन निपतनस्वभावानि पल्योपमस्यासंख्येयभागायतानि संख्येयावलिकायतानि च निपातयन्तः आयुःसमानि कर्माणि कुर्वन्ति । अपरे समुद्धातेन समानयन्ति । न चैष संसारघातः केवलिनः शक्यः सम्भवति स्थितिकाण्डघातवत्समानपरिणामत्वात् । परिणामातिशयाभावे पश्चादपि सा भूत्तद्धात इति चेन्न, वीतरागपरिणामेषु समानेषु सत्स्वन्वयेभ्योऽन्तर्मुहूर्तार्थपेक्षेय आत्मनः समुत्पन्नेभ्यस्तद्धातोपपत्तेः । अन्यैराचार्यैर्व्याख्यात्यातमिममर्थं भणन्तः कथं न सूत्रप्रत्यनीकाः ? न, वर्षपृथक्त्वान्तरसूत्रवशवर्तिनां तद्विरोधान् ।

छम्बासाउवसेसे उपण्ण जस्स केवल णाण ।

स-समुग्धाओ सिञ्चइ सेसा भज्जा समुग्धाए ॥ १६७ ॥

हे । अतः वहा पर संसार व्यक्तिके समान कर्मस्थिति नहीं पाई जाती है । इसप्रकार अन्तर्मुहूर्तम नियमसे नाशको प्राप्त होनेवाले पल्योपमके असंख्यातवै भागप्रमाण या संख्यात आवली-प्रमाण स्थिति काण्डकोका विनाश करते हुए कितने ही जीव समुद्धातके विना ही आयुके समान शेष कर्मको कर लेते हैं । तथा कितने ही जीव समुद्धातके द्वारा शेष कर्मको आयु-कर्मके समान करते हैं । परंतु यह संसारका घात केवलमें पहले संभव नहीं है, क्योंकि, पहले स्थितिकाण्डके घातके समान सभी जीवोंके समान परिणाम पाये जाते हैं ।

शंका—जब कि परिणाममें कोई अतिशय नहीं पाया जाता है, अर्थात् सभी केवलियोंके परिणाम समान होते हैं तो पीछे भी संसारका घात मत होओ ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, वीतरागरूप परिणामोंके समान रहने पर भी अन्तर्मुहूर्तप्रमाण आयुर्कर्मकी अपेक्षासे आत्मके उत्पन्न हुए अन्य विशिष्ट परिणामोंसे संसारका घात बन जाता है ।

शंका—अन्य आचार्योंके द्वारा नहीं व्याख्यान किये गये इस अर्थका इसप्रकार व्याख्यान करते हुए आप सूत्रके विरुद्ध जा रहे हैं, ऐसा क्यों न माना जाय ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, वर्षपृथक्त्वके अन्तरालका प्रतिपादन करनेवाले सूत्रके वशवर्ती आचार्योंका ही पूर्वोक्त ऋतनसे विरोध आता है

शंका—‘छह माह प्रमाण आयुर्कर्मके शेष रहने पर जिस जीवको केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है वह समुद्धातको करके ही मुक्त होता है । शेष जीव समुद्धात करते भी हैं और नहीं भी करते हैं’ ॥ १६७ ॥

१ विद्विस्तर्म्ममगकरणस्य सर्वोसि तेषि कम्मण । अतोमहुत्तमे जति समुग्धादमाडमि ॥ उह सत बथ मिरादि जह लहु मणिक्वाइ । सेदिय तु ण तथा तेषम कम्म पि णादव्य ॥ मूलारा २१०८, २१०९ जह उट्ठा साडिया आस सुणइ मिरिट्टिया सती । तह कम्मन्हुयसमपु वच्चति जिणा समुग्धाय ॥ ति मा ३६५०

२ उक्कस्सएण उम्मापाडगमेसाम्मि कनली जादा । वच्चति मग्ग्वाइ तेसा भज्जा मग्ग्वादे ॥ मूलारा

एदिस्से गाहाए उवाएसो किण्ण गहिओ ? ण, भज्जत्ते कारणणुवलंभादो ।

जेसिं आउ-समाइ णामा गोदाणि वेयणीय च ।

ते अकय-समुग्धाया वच्चतियरे समुग्धाए ॥ १६८ ॥

गेदं भज्जत्ते कारणं सव्व-जीविसु समेहि अणियट्ठि-परिणामेहि पत्त-घादाणं ट्ठिदीणमाउ-समाणत्त-निरोहदो, अघाइ-तियस्स खीण-कसाय-चरिम-समाए जहण्ण-ट्ठिदि-संतस्स वि पलिदोवमस्स असंखेज्जदिभाग-पमाणुवलंभादो । नागमस्तर्कगोचर इति चेन्न, एतयोर्गाथोरोगमत्वेन निर्णयाभावाद् । भावे वास्तु गाथयरेवोपादानम् ।

इदानीं काययोगस्याध्वानज्ञापनार्थमुत्तरसूत्रचतुष्टयमाह—

इस पूर्वोक्त गाथाका उपदेश क्यों नहीं ग्रहण किया है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, इसप्रकार विकल्पके माननेमें कोई कारण नहीं पाया जाता है, इसलिये पूर्वोक्त गाथाका उपदेश नहीं ग्रहण किया है ।

जिन जीवोंके नाम, गोज और वेदनीयकर्मकी स्थिति आयुर्कर्मके समान होती है वे समुद्धात नहीं करके ही मुक्तिको प्राप्त होते हैं । दूसरे जीव समुद्धात करके ही मुक्त होते हैं ॥ १६८ ॥

इसप्रकार पूर्वोक्त गाथामें कहे गये अभिप्रायको तो किन्ही जीवोंके समुद्धातके होनेमें और किन्ही जीवोंके समुद्धातके नहीं होनेमें कारण कहा नहीं जा सकता है, क्योंकि, संपूर्ण जीवोंमें समान अनिष्टरूप परिणामोंके द्वारा कर्मस्थितियोंका घात पाया जाता है, अतः उनका आयुके समान होनेमें विरोध आता है । दूसरे, क्षीणकपाय गुणस्थानके चरम समयमें तीन अघा-तिया कर्मोंकी जघन्य स्थिति पल्योपमके असंख्यातवै भाग सभी जीवोंके पाई जाती है, इसलिये भी पूर्वोक्त अर्थ ठीक प्रतीत नहीं होता है ।

शंका—आगम तो तर्कका विषय नहीं है, इसलिये इसप्रकार तर्क के बलसे पूर्वोक्त गाथाओंके अभिप्रायका खण्डन करना उचित नहीं है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, इन दोनों गाथाओंका आगमरूपसे निर्णय नहीं हुआ है । अथवा, यदि इन दोनों गाथाओंका आगमरूपसे निर्णय हो जाय तो इनका ही ग्रहण रहा आवे ।

अब काययोगका गुणस्थानोंमें ज्ञान करानेके लिये आगेके चार सूत्र कहते हैं—

२१०५ पपमासायुपि शेषे साहुत्तन्न यस्य केवलम् । समुद्धातमसौ याति केनली नापर पुनः ॥ पचस ३२७

पपमासाविकायुको लभते केवलंरुमम् । करोत्यसौ समुद्धातमन्ये कुर्वति वा न वा ॥ गुण क म ९४

१ मूलारा २१०६ पर च तत्र चतुर्थवरण पाठमेदोऽयम्—‘ जिणा उवणमति सेलमिं ’ । जेमिं हाति मिसमाणि णामगोदाइ वेदणीयाणि । ते अरुदसमुग्धादा जिणा उवणमति सेलमिं ॥ मूलारा २१०७

कायजोगो ओरालियकायजोगो ओरालियमिस्सकायजोगो  
पुईदिय-पहुडि जाव सजोगिकेवल तिं ॥ ६१ ॥

कायजाग एवंव्यवधारणामात्रात्र वाह्नसमोरभावः । एवं जेपाणामपि वाच्यमिति ।  
एकेन्द्रियप्रभृत्यानयोगकेवलिन. औदारिकमिश्रकाययोगिनः इति प्रतिपाद्यमाने देशविरतादि-  
क्षीणरूपायान्नामपि तदन्तरं प्राप्नुयादिति चेन्न, प्रभृतिशब्दोऽयं व्यवस्थायां  
प्रकारे न वर्तते । अत्र प्रभृतिशब्दः प्रकारे परिगृह्यते, यथा सिंहप्रभृतयो मृगा इति ।  
ततो न तेषां ग्रहणम् । व्यत्ययानाचिनेऽपि ग्रहणे न दोषः 'ओरालिय-मिस्स-कायजोगो  
अपञ्जत्तणं' ति वाच्यकयुत्रमम्भवाद्वा ।

वैक्रियरूपाययोगाधिपतिप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

वेडव्वियकायजोगो वेडव्वियमिस्सकायजोगो सण्णिमिच्छाइडि-  
पहुडि जाव असंजदसम्माइडि तिं ॥ ६२ ॥

नामान्यसे काययोग ओर विशेषकी अपेक्षा औदारिक काययोग ओर औदारिकमिश्र  
काययोग एकेन्द्रियसे लेकर सयोगिकेवली गुणस्थानतक होते हैं ॥ ६१ ॥

काययोग ही होता है, इसप्रकार अवधारण नहीं होनेसे पूर्वोक्त गुणस्थानोंमें वचनयोग  
ओर मनोयोगका अभाव नहीं समझना चाहिये । इसीप्रकार शेष योगोंका भी कथन करना चाहिये ।

शंका—एकेन्द्रियसे लेकर सयोगिकेवलीतक औदारिकमिश्रकाययोगी होते हैं ऐसा  
कथन करने पर देशविरत आदि क्षीणरूपायपर्यन्त गुणस्थानोंमें भी औदारिकमिश्रयोगका  
सङ्ग्राह प्राप्त हो जायगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, यह प्रभृति शब्द व्यवस्था और प्रकाररूप अर्थमें  
रहता है । उनमेंसे गला पर प्रभृति शब्द प्रकाररूप अर्थमें ग्रहण किया गया है । जैसे, सिंह  
आदि मृग । इनलिये औदारिकमिश्रयोगमें देशविरत आदि क्षीणरूपायतकके गुणस्थानोंका ग्रहण  
नहीं होना है । अतः, व्यत्ययावाची भी प्रभृति शब्दके ग्रहण करते पर कोई दोष नहीं  
जाता है । अतः, 'ओरालियमिस्स-कायजोगो अपञ्जत्तणं' अर्थात् औदारिकमिश्रकाययोग  
अपर्वान्तकोंके होता है, इस वाचक मूलके समझ होनेके कारण भी पूर्वोक्त दोष नहीं आता है ।

अप वैक्रियरूपाययोगके स्वामीका प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—  
वैक्रियरूपाययोग ओर वैक्रियरूपाययोग संजी मिथ्यादृष्टिसे लेकर असत्य-  
सम्पत्प्रशिनक होते हैं ॥ ६२ ॥

१ योग १ पत्रके भागलगादि जाव जोगो ति । तन्मिस्सामपत्रने तदुण्णणंषु पियमेण ॥ गो जी ६८०

२ जी म मू ७६

३ योग १ पत्रके ६२ त १ गेरि तस मिस म् । एरिपरवउउणे मिस्से ण दि मिस्सेणो हु ॥  
गो जी ६८२

अत्र 'च' शब्दः कर्तव्योऽन्यथा सञ्चयवगमलुपपचेरिति न, च-शब्दसन्त-  
रेणापि सञ्चयार्थवर्धते: यथा पृथिव्यपतेजोवायुरित्यत्र । सम्यङ्मिथ्यादृष्टेरपि वैक्रियरू-  
पमिश्रकाययोगः प्राप्नुयादिति चेन्न, उक्तोत्तरत्वात् । 'सम्माभिच्छाइडि-द्वणे णियमा  
पञ्जत्ता', वेडव्विय-मिस्स-कायजोगो अपञ्जत्तणं' इत्याभ्यां वा सूत्राभ्यामवसीयते  
यथा न सम्यङ्मिथ्यादृष्टेवैक्रियरूपाययोगः समस्तीति ।

आहारकाययोगस्वामिप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

आहारकायजोगो आहारमिस्सकायजोगो एकमिह चेव पमत्त-  
संजद-द्वणे ॥ ६३ ॥

अप्रमादिनां संयतानां क्रियायाहारकाययोगो न भवेदिति चेन्न, तत्र तदुत्थापने  
निमित्ताभावात् । तदुत्थापने किं निमित्तमिति चेदाज्ञाननिष्ठतायाः समुत्पन्नप्रमादः

शंका—इस सूत्रमें च शब्द और अधिक जोड़ देना चाहिये, अन्यथा समुच्चयरूप  
अर्थका ज्ञान नहीं हो सकेगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, च शब्दके बिना भी समुच्चयरूप अर्थका ज्ञान हो जाता  
है । जैसे, 'पृथिव्यपतेजोवायुवनस्पत्य-स्थावरा.' इस सूत्रमें च शब्दके नहीं रहने पर भी समु-  
च्चयरूप अर्थका ज्ञान हो जाता है ।

शंका—सूत्रके कथनानुसार सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानवालेके भी वैक्रियरूपाय-  
योगका सङ्ग्राह मानना पड़ेगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, इसका उत्तर औदारिकमिश्रकाययोगके प्रकरणमें दे आये  
हैं । अर्थात् यहा पर प्रभृति शब्द व्यवस्था या प्रकारवाची होनेसे पूर्वोक्त दोष नहीं आता है ।  
अथवा, 'सम्माभिच्छाइडिद्वणे णियमा पञ्जत्ता' 'वेडव्वियमिस्सकायजोगो अपञ्जत्तणं' अर्थात्  
'सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें जीव नियमसे पर्याप्तक ही होते हैं, अथवा, वैक्रियरूपाय-  
योग अपर्वान्तकोंके ही होता है, इन दोनों सूत्रोंसे भी जाना जाता है कि सम्यग्यिय-  
व्यादृष्टिके  
वैक्रियरूपाययोग नहीं पाया जाता है ।

आहाररूपाययोगके स्वामीके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

आहाररूपाययोग ओर आहाररूपाययोग एक प्रमत्त गुणस्थानमें ही होते हैं ॥ ६३ ॥

शंका—प्रमादरहित सयतोंके आहाररूपाययोग क्यों नहीं होता है ?

समाधान—प्रमादरहित जीवोंके आहाररूपाययोगके उत्पन्न करनेमें निमित्तकारणका  
अभाव है ।

शंका—आहाररूपाययोगके उत्पन्न करनेमें निमित्तकारण क्या है ?

१ जी म मू ८३

२ आहारगे णज्जने इदरे सउ होदि तस मिसो ण । अतोमुत्तकले उट्टुणे णदि आहारो ॥  
गो जी ६८३







द्वियोगप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

**वचिजोगो कायजोगो वीइदिय-पहुडि जाव असणिपंचि-  
दिया ति ॥ ६६ ॥**

अत्र सामान्यतया काययोगविशुद्धित्वात् द्विन्द्रियादिर्भवत्यसंज्ञिनश्च पर्यवसानम् । त्रिणो तु पुनरत्रलब्धमाने तुरीयसैन वचनमः सत्त्वमिति । तदाद्यन्तव्यवहारो न घटामदेत्, उपरिष्टादपि वाकाययोगौ विद्येते ततो नासंज्ञिन पर्यवसानमिति चेन्न, उपरि त्रयाणामपि सत्त्वात् । अस्तु चेन्न, निरुद्धिसंयोगस त्रिसंयोगेन सह विरोधात् ।

एकसंयोगप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

**कायजोगो एइदियाणं ॥ ६७ ॥**

एकेन्द्रियाणामेकः काययोग एव, द्विन्द्रियादीनामसंज्ञिपर्यन्तानां वाकाययोगो ज्ञानेन, ज्ञानियोगाः ।

अत्र छिन्मयोगी योगोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—  
तत्त्वयोग और काययोग द्विन्द्रिय जीवोंसे लेकर असंज्ञी पचेन्द्रिय जीवों तक होते हैं ॥६६॥  
यज्ञ पर सामान्य वचन और काययोगकी विवक्षा होनेसे द्विन्द्रियसे लेकर असंज्ञी पचेन्द्रिय तक सामान्यसे दोनों योग पाये जाते हैं । किंतु विशेषके अवलम्बन करने पर तो द्विन्द्रियसे अत्यंतिक गहनयोगके बोधे भेद ( अनुभववचन ) का ही सत्त्व समझना चाहिये ।  
शंका—इन दोनों योगोंका द्विन्द्रियसे आदि लेकर अस्मर्त्तपर्यन्त जो सद्भाव बताया है, यह यदि और अन्ततः व्यवहार यज्ञा पर वदित नहीं होना है, क्योंकि, इन जीवोंसे आगेके जीवोंके भी चयन और काययोग पाये जाते हैं । इसलिये अस्मर्त्तक ये योग होते हैं, यह बात नहीं बनती है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, आगेके जीवोंके तीनों योगोंका मत्त पाया जाता है ।

शंका—यदि ऊपर तीन योगोंका सत्त्व है तो रहा आवे, फिर भी इन दो योगोंके गहन करनेमें क्या शक्ति है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, त्रिसंयोगी योगका त्रिसंयोगी योगके साथ कथन करनेमें आता है । इसलिये त्रिसंयोगी योगका असंज्ञितक ही कथन किया है ।

अब एक संयोगी योगके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—  
तत्त्वयोग पचेन्द्रिय जीवोंके होना है ॥ ६७ ॥

एकेन्द्रिय जीवोंके एक काययोग ही होता है । द्विन्द्रियसे लेकर असंज्ञितक जीवोंके मत्त और काय ये दो योग ही होते हैं । तथा, शेष जीवोंके तीनों ही योग होते हैं ।

प्राक् सामान्येन योगस्य सत्त्वमभिधायेदानीं व्यवच्छेदेषु षण्मिन् कालेऽस्य सत्त्व-  
मशुष्मिथ न सत्त्वमिति प्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

**मणजोगो वचिजोगो पज्जत्ताणं अत्थि, अपज्जत्ताणं अत्थि ॥ ६८ ॥**  
क्षयोपशमापेक्षया अपर्याप्तकालेऽपि तयोः सत्त्वं न विरोधमाशङ्कन्वेदिति चेन्न,  
चाइमनोम्यामनिष्पन्नस्य तद्योगाद्युपपत्तेः । पर्याप्तानामपि निरुद्धयोगमध्यासितावस्थायां  
नास्त्येवेति चेन्न, सम्भवोपेक्षया तत्र तत्सत्त्वप्रतिपादनात्, तच्छक्तिमत्तापेक्षया वा ।  
सर्वत्र समुच्चयार्थवद्योतक-च-शब्दाभावेऽपि समुच्चयार्थः परैरेनावद्योत्यत इत्यवसेयः ।

काययोगसामान्यस्य सत्त्वग्रदेशप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

**कायजोगो पज्जत्ताण वि अत्थि, अपज्जत्ताण वि अत्थि ॥ ६९ ॥**

पहले सामान्यसे योगका सत्त्व कहकर, अब जिस कालमें योगका सद्भाव नहीं पाया  
जाता है, ऐसा निराकरण करने योग्य कालके होने पर, इस कालमें इस योगका सत्त्व है, और  
इस कालमें इस योगका सत्त्व नहीं है, इस बातके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र  
कहते हैं—

मनोयोग और वचनयोग पर्याप्तकोंके ही होते हैं, अपर्याप्तकोंके नहीं होते ॥ ६८ ॥

शंका—क्षयोपशमकी अपेक्षा अपर्याप्त कालमें भी वचनयोग और मनोयोगका पाया  
जाना विरोधको प्राप्त नहीं होता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जो क्षयोपशम वचनयोग और मनोयोगरूपसे उत्पन्न  
नहीं हुआ है, उसे योग सत्ता प्राप्त नहीं हो सकती है ।

शंका—पर्याप्तक जीवोंके भी निरुद्ध योगको प्राप्त होनेरूप अवस्थायके होने पर  
विवक्षित योग नहीं पाया जाता है ?

विशेषार्थ—शकाकारका यह अभिप्राय है कि जिसप्रकार अपर्याप्त अवस्थामें मनो-  
योग और वचनयोगका अभाव वतलाया गया है, उसीप्रकार पर्याप्त अवस्थामें भी किसी  
एक योगके रहने पर शेष दो योगोंका अभाव रहता है, इसलिये उस समय भी उन दो योगोंके  
अभावका कथन करना चाहिये ।

समाधान—नहीं, क्योंकि, पर्याप्त अवस्थामें किसी एक योगके रहने पर शेष  
योग सभव है, इसलिये इस अपेक्षसे यज्ञा पर उनके अस्तित्वका कथन किया जाता है ।  
अथवा, उस समय वे योग शक्तिरूपसे विद्यमान रहते हैं, इसलिये इस अपेक्षसे उनका  
अस्तित्व कहा जाता है ।

इन सभी सूत्रोंमें समुच्चयरूप अर्थको प्रगट करनेवाला च शब्द नहीं होने पर  
भी सूत्रोक्त पदोंसे ही समुच्चयरूप अर्थ प्रगट हो जाता है, ऐसा समझ लेना चाहिये ।

अब सामान्य काययोगकी सत्ताके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—  
काययोग पर्याप्तकोंके भी होता है, और अपर्याप्तकोंके भी होता है ॥ ६९ ॥

‘अपि’ शब्दः समुच्चयार्थे दृष्टव्यः । कः समुच्चयः ? एकस्य निर्दिष्टप्रदेशद्विप्रभृतेरुपनिपातः समुच्चयः । द्विरस्ति-शब्दोपादानमनर्थकमिति चेन्न, विस्तररुचिसत्त्वानुग्रहार्थत्वात् । संक्षेपरुचयो नानुग्रहीताश्चेन्न, विस्तररुचिसत्त्वानुग्रहस्य संक्षेपरुचिसत्त्वानुग्रहान्विनाभावित्वात् ।

पर्याप्तस्यैव एते योगाः भवन्ति, एते चोभयोरिति वचनमाकर्ण्य पर्याप्तियपयजातसंशयस्य शिष्यस्य सन्देहापोहनार्थमुत्तरद्वयमाणीत्—

**छ पञ्जत्तीओ, छ अपञ्जत्तीओ ॥ ७० ॥**

पर्याप्तिसिनिःशेषलक्षणोपलक्षणार्थं तत्संख्यमेव प्रागाह । आहारशरीरेन्द्रियोच्छ्वासनिःश्वासभाषामनसां निष्पत्तिः पर्याप्तिः । ताश्च पट् भवन्ति, आहारपर्याप्तिः शरीरपर्याप्तिः सूत्रं जो अपि शब्द आया है वह समुच्चयार्थक जानना चाहिये ।

शंका -- समुच्चय किसे कहते है ?

समाधान— किसी एक वस्तुके निर्दिष्ट स्थानमें दो आदि बार प्राप्त होनेको समुच्चय कहते हैं ।

शंका -- सूत्रमें दो बार अस्ति शब्दका ग्रहण करना निरर्थक है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, विस्तारसे समझनेकी रुचि रखनेवाले शिष्योंके अनुग्रहके लिये सूत्रमें दो बार अस्ति पदका ग्रहण किया ।

शंका— तो इस सूत्रमें संक्षेपसे समझनेकी रुचि रखनेवाले शिष्य अनुग्रहीत नहीं किये गये ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, संक्षेपसे समझनेकी रुचि रखनेवाले जीवोंका अनुग्रह विस्तारसे समझनेकी रुचि रखनेवाले जीवोंके अनुग्रहका अविनाभावी है । अर्थात्, विस्तारसे कथन कर देने पर संक्षेपरुचि शिष्योंका काम चल ही जाता है, इसलिये यहा पर विस्तारसे कथन किया है ।

ये योग पर्याप्तिकके ही होते है और ये योग दोनोंके होते है, इस वचनको सुनकर जिन शिष्योंके पर्याप्तिके विषयमें सराय उत्पन्न हो गया है, उनके सदेहको दूर करनेके लिये आगेका सूत्र कहा गया है—

छह पर्याप्तिया और छह अपर्याप्तिया होती हैं ॥ ७० ॥

पर्याप्तियोंके संपूर्ण लक्षणको बतलानेके लिये उनकी सख्या ही पहले कही गई है । आहार, शरीर, इन्द्रिय, उच्छ्वासनिःश्वास, भाषा और मन, इनकी निष्पत्तिको पर्याप्ति कहते हैं । वे पर्याप्तिया छह होती हैं, आहारपर्याप्ति, शरीरपर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति, आनापान-

१ उपदिदेशमगतेन प्रथम ये गर्हीता पुढलात्तीनां तथायेयामपि प्रतिसमय शुद्धामाणानां तत्सम्पर्कतत्प्राप्तया जातानां य शक्तिविशेष आहारादिशुद्धलक्षरसरूपतापादनहेतुर्गोदरगतगतानां पुढलविशेषाणामाहारपुढलखल-सरूपतापरिपमनहेतु सा पर्याप्ति । जी १ प्रति ( अमि रा को, पञ्जचि )

इन्द्रियपर्याप्तिः आनापानपर्याप्तिः भाषापर्याप्तिः मनःपर्याप्तिरिति । एतामामेवानिष्पत्तिरपर्याप्तिः । ताश्च पट् भवन्ति, आहारपर्याप्तिः शरीरपर्याप्तिः इन्द्रियापर्याप्तिः आनापानापर्याप्तिः भाषापर्याप्तिः मनोऽपर्याप्तिरिति । एतासां द्वादशानामपि पर्याप्तीनां स्वरूपं प्रागुक्तमिति पौनरुक्तिभयादिह नोच्यते ।

इदानीं तासामाधारप्रतिपादनार्थमुत्तरद्वयमवोचत्—

**सण्णभिन्छाश्टि-पहुडि जाव असंजदसम्माइट्टि ति ॥ ७१ ॥**

सम्यग्मिथ्यादृष्टीनामपि पट् पर्याप्तयो भवन्तीति चेन्न, तत्र गुणेऽपर्याप्तकालाभावात् । देशविरताद्युपरितनगुणानां किमिति पट् पर्याप्तयो न सन्तीति चेन्न, पर्याप्तिनामि पण्णां पर्याप्तीनां समाप्तिः, न सेपरितनगुणेष्वस्ति अपर्याप्तित्तरमावस्थायामैक-समयिक्या उपरि सत्त्वविरोधात्

पट्पर्याप्तिश्रवणात् पडेव पर्याप्तयः सन्तीति ममुत्पन्नप्रत्ययस्य शिष्यस्यावधारणात्मकप्रत्ययनिराकरणार्थमुत्तरद्वयमवोचत्—

पर्याप्ति, भाषापर्याप्ति और मन पर्याप्ति । इन छह पर्याप्तियोंकी अपूर्णताको ही अपर्याप्ति कहते हैं । अपर्याप्तिया भी छह ही होती हैं, आहार-अपर्याप्ति, शरीर-अपर्याप्ति, इन्द्रिय-अपर्याप्ति, आनापान-अपर्याप्ति, भाषा-अपर्याप्ति और मन-अपर्याप्ति । इन बारह पर्याप्तियोंका स्वरूप पहले कह आये हैं, इसलिये पुनरुक्ति दृग्गणके भयसे उनका स्वरूप फिरसे यहाँ नहीं कहते हैं ।

अब उन पर्याप्तियोंके आधारको बतलानेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—  
उपर्युक्त सभी पर्याप्तियां संज्ञी मिय्यादाएिसे लेकर असयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानतक होती है ॥ ७१ ॥

शंका— तो म्या सम्यग्मिथ्यादाएि गुणस्थानवालोंके भी छह पर्याप्तियां होती हैं ?  
समाधान— नहीं, क्योंकि, उस गुणस्थानमें अपर्याप्त काल नहीं पाया जाता है ।

शंका— देशविरतादिक ऊपर के गुणस्थानवालोंके छह पर्याप्तियां क्यों नहीं होती हैं ?  
समाधान— नहीं, क्योंकि छह पर्याप्तियोंकी समाप्तिका नाम ही पर्याप्ति है और यह समाप्ति चौथे गुणस्थान तक ही होनेसे पंचवें आदि ऊपरके गुणस्थानमें नहीं पायी जाती, क्योंकि, अपर्याप्तिकी अन्तिम अवस्थावर्ती एक समयमें पूर्ण हो जानेवाली पर्याप्तिकी आगेके गुणस्थानमें सत्त्व माननेसे विरोध उत्पन्न होता है ।

छह पर्याप्तियोंके सुननेसे जिस शिष्य को यह निश्चय होगया कि पर्याप्तियां छह ही होती हैं, हीनाधिक नहीं, उस शिष्यके ऐसे धारणारूप निश्चयको दूर करनेके लिये आगेका सूत्र कहा है—

## पंच पञ्चत्तीओ पंच अपञ्चत्तीओ ॥ ७२ ॥

पर्याप्तीनामपर्याप्तीनां च लक्षणमभाणीति नेदानीं भण्यते । पण्णां पर्याप्तीनामन्तः पञ्चापि तन्तीति श्रुत्वा पर्याप्तिपञ्चकोपदेशोऽनर्थक इति चेन्न, क्वचिज्जीवविशेषे पर्याप्तयो भग्नित, क्वचित्पञ्चा भवन्तीति प्रतिपादनफलत्वात् । काः पञ्च पर्याप्त्यति चन्मनोनाजोः शेषाः पञ्च ।

नाः केपां भवन्तीति मंगयानस्य शिष्यस्यारेऽनिराकरणार्थमुत्तरद्वयं वक्ष्यति—

## वीहंदिद्य-पहुडि जाव असण्णिपंचिदिया ति ॥ ७३ ॥

विकलेन्द्रियेऽव्यति मनः तत्कार्यस्य विज्ञानस्य तत्र सत्त्वान्मनुष्येऽप्येवेति न प्रत्यवस्थातुं शुकं तत्रतनय्य विज्ञानस्य तत्कार्यत्वाभिद्धेः । मनुष्येषु विज्ञानस्य तत्कार्यत्वं दृश्यत

पञ्च पर्याप्तितया और पंच अपर्याप्तितयां होती हैं ॥ ७२ ॥

पर्याप्तियोंका और अपर्याप्तियोंका लक्षण पहले कह आये हैं, इसलिये अब फिरसे नहीं कहते हैं ।

शंका—पञ्च पर्याप्तितया छह पर्याप्तियोंके भीतर आ ही जाती हैं, इसलिये अलग-रूपसे पञ्च पर्याप्तियोंका कथन करना निष्फल है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, किन्हीं जीव-विशेषोंमें छहों पर्याप्तियां पाई जाती हैं, और किन्हीं जीवोंमें पंच ही पर्याप्तियां पाई जाती हैं । इस बातका प्रतिपादन करना इस सूत्रका फल है ।

शंका—ये पांच पर्याप्तिया कौनसी हैं ?

समाधान—मनःपर्याप्तिको छोड़कर शेष पांच पर्याप्तियां यहां पर ली गई हैं ।

ये पांच पर्याप्तियां किसके होती हैं, इस प्रकार संशयापन्न शिष्यकी शंका दूर करनेके लिये शिष्या सर कहते हैं—

ये पांच पर्याप्तियां अस्त्रिय जीवोंसे लेकर असस्त्री-पंचेन्द्रियपर्यन्त होती हैं ॥ ७३ ॥

शंका—विकलेन्द्रिय जीवोंमें भी मन है, क्योंकि, मनका कार्य जो विज्ञान मनुष्योंमें है उसे विकलेन्द्रिय जीवोंमें भी पाया जाता है ?

समाधान—यह बात निश्चय करने योग्य नहीं है, क्योंकि, विकलेन्द्रियोंमें रहनेवाला विकल मनुष्य कहते हैं, यह बात अस्तिर है ।

शंका—एक-शेषोंमें जो विशेष काल होता है उस मनुष्यका कार्य है, यह बात तो स्वी जाती है ?

समाधान—एक-शेषोंमें विशेष विचार शरीर मनुष्यका कार्य है तो रहा शरीर, क्योंकि,

इति चेदमुत्तु, क्वचिद् दृष्टत्वात् । मनसः कार्यत्वेन प्रतिपन्नविज्ञानेन सह तत्रतनविज्ञानस्य ज्ञानत्वं प्रत्यविशेषान्मनोनिवन्धनत्वमनुमीयत इति चेन्न, भिन्नजातिस्थितविज्ञानेन सहाविशेषानुपपत्तेः । न प्रत्यक्षेणाप्येव आगमो वाध्यते तत्र प्रत्यक्षस्य दृश्यभावात् । विकलेन्द्रियेषु मनसोऽभानः कुतोऽवसीयत इति चेदपर्याप्तित्वात् । कथमपर्याप्तस्य प्रामाण्यमिति चेत्स्वाभाव्यात्प्रत्यक्षस्येव ।

पुनरपि पर्याप्तिसंख्यासत्त्वभेदशर्तुनाश्रयुत्तरद्वयमाह—

## चत्तारि पञ्चत्तीओ चत्तारि अपञ्चत्तीओ ॥ ७४ ॥

केपुचित्प्राणिषु चतस एव पर्याप्तयोऽपर्याप्तयो वा भवन्ति । कास्ताश्चतस इति चेदाहारशरीरेन्द्रियानापानपर्याप्तयः इति । शेषं सुगमम् ।

चतुर्णामपि पर्याप्तीनामधिपतिजीवप्रतिपादनार्थमुत्तरद्वयमाह—

## एहंदिद्यणं ॥ ७५ ॥

यह क्वचित् अर्थात् मनुष्योंमें देखा जाता है ।

शंका—मनुष्योंमें मनके कार्यरूपसे स्वीकार किये गये विज्ञानके साथ विकलेन्द्रियोंमें होनेवाले विज्ञानकी शानसासान्यकी अपेक्षा कोई विशेषता नहीं है, इसलिये यह अनुमान किया जाता है कि विकलेन्द्रियोंका विज्ञान भी मनसे होता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, भिन्न जातियोंमें स्थित विज्ञानके साथ भिन्न जातियोंमें स्थित विज्ञानकी समानता नहीं बन सकती है । 'विकलेन्द्रियोंके मन नहीं होता है' यह आगम प्रत्यक्षमें भी बाधित नहीं है, क्योंकि, वहां पर प्रत्यक्षकी प्रवृत्ति ही नहीं होती है ।

शंका—विकलेन्द्रियोंमें मनका अभाव है यह बात किस प्रमाणसे जानी जाती है ?

समाधान—आगम प्रमाणसे जाना जाता है कि विकलेन्द्रियोंके मन नहीं होता है ।

शंका—आर्षको प्रमाण कैसे माना जाय ?

समाधान—जैसे प्रत्यक्ष स्वभावतः प्रमाण है उसीप्रकार आर्ष भी स्वभावतः प्रमाण है ।

फिर भी पर्याप्तियोंकी संख्याके अस्तित्वमें भेद यतनेके लिये आशोका सूत्र कहते हैं—चार पर्याप्तियां और चार अपर्याप्तियां होती हैं ॥ ७४ ॥

किन्हीं जीवोंमें चार पर्याप्तियां अथवा किन्हींमें चार अपर्याप्तियां होती हैं ।

शंका—ये चार पर्याप्तिया कौनसी हैं ?

समाधान—आहारपर्याप्ति, शरीरपर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति और आनापानपर्याप्ति । शेष कथन सुगम है ।

चतुर्ण पर्याप्तियोंके अधिकारी जीवोंके प्रतिपादन करनेके लिये आशोका सूत्र कहते हैं—उक्त चारों पर्याप्तियां एकेन्द्रिय जीवोंके होती हैं ॥ ७५ ॥

ताश्चतस्रोऽपि पर्याप्तय एकेन्द्रियाणामेव नान्येषाम् । एकेन्द्रियाणां नोच्छ्वास-  
मुपलभ्यते चेन्न, आर्षाच्चतुःपलम्भात् । प्रत्यक्षेणामो वाध्यत इति चेद्धवलस्य वाधा प्रत्यक्षा-  
त्प्रत्यक्षीकृतानेषोपमेयात् । न चेन्द्रियजं प्रत्यक्ष समस्तवस्तुविषयं येन तदविपर्ययीकृतस्य  
वस्तुनो भावो भेदीयते ।

एवं पर्याप्त्यपर्याप्तीरिभयाय साम्प्रतममुष्मिन्नयं योगो भास्यश्रुम्भिश्च न भवतीति  
प्रतिपादनार्थमुत्तरस्यमाह—

**ओरालियकायजोगो पञ्जत्ताणं ओरालियमिस्सकायजोगो  
अपञ्जत्ताणं ॥ ७६ ॥**

पद्भिः पञ्चभिश्चतसृभिर्ना पर्याप्तिभिर्निष्पन्नाः परिनिष्ठितास्मिन्नर्थो मनुष्याथ  
पर्याप्ताः । किमेकया पर्याप्त्या निष्पन्नः पर्याप्तः उत साकल्येन निष्पन्न इति ? शरीर-

वे चारों पर्याप्तिया एकेन्द्रिय जीवोंके ही होती हैं, दूसरोंके नहीं ।

शंका—एकेन्द्रिय जीवोंके उच्छ्वास तो नहीं पाया जाता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, एकेन्द्रियोंके स्वात्मोच्छ्वास होता है, यह बात आमन  
प्रमाणसे जानी जाती है ।

शंका—प्रत्यक्षसे यह आगम बाधित है ?

समाधान—जिससे संपूर्ण पदार्थों को प्रत्यक्ष कर लिया है उसे प्रत्यक्ष प्रमाणसे  
यदि बाधा समन हो तो वह प्रत्यक्षवाधा कही जा सकती है । परंतु इन्द्रियप्रत्यक्ष तो संपूर्ण  
पदार्थोंको विषय ही नहीं करता है, जिससे कि इन्द्रियप्रत्यक्षकी निष्पत्ताको नहीं प्राप्त  
होनेवाले पदार्थोंमें भेद किया जा सके ।

इसप्रकार पर्याप्ति और अपर्याप्तियोंका कथन करते नर इन जीवोंमें यह योग  
होता है और इस जीवोंमें यह योग नहीं होता है, इसका कथन करनेके लिये आगेका  
सूत्र कहते हैं—

औदारिक्रकाययोग पर्याप्तिकं ओर ओदारिक्रमिश्रकाययोग अपर्याप्तिकं ओता  
हे ॥ ७६ ॥

शंका—छह पर्याप्ति, पांच पर्याप्ति अथवा चार पर्याप्तियोंसे पूर्णताको प्राप्त हुए तिर्यंच  
और मनुष्य पर्याप्तक कहलाते हैं । तो क्या उनमेंसे किसी एक पर्याप्तिसे पूर्णताको प्राप्त हुआ  
पर्याप्तक कहलाता है या संपूर्ण पर्याप्तियोंसे पूर्णताको प्राप्त हुआ पर्याप्तक कहलाता है ?

१ ओराल पञ्चो आधारकाभादे जाण जोगो षि । तम्मममम तव चट्टममममम षिणमोण ॥  
गो जी ६८०

पर्याप्त्या निष्पन्नः पर्याप्त इति भण्यते । तत्रौदारिक्रकाययोगो निष्पन्नशरीरवष्टुम्म-  
न्नेनोपचक्रजीवश्रेयशपरिस्पन्देन योगः औदारिक्रकाययोगः । अथयोवान्प्रत्ययायामौदारिक-  
मिश्रकाययोगः । कर्मणोदारिक्रकृतान्निम्बनजीवश्रेयशपरिस्पन्देन योगः औदारिक्र-  
मिश्रकाययोग इति यावत् । पर्याप्तान्प्रत्यया कर्मणाजगिस्स मत्त्वान्नाप्युभय-  
निम्बनत्तमश्रेयशपरिस्पन्द इति औदारिक्रमिश्रकाययोगः किमु न ज्ञादिति चेन्न, तत्र  
तस्य भवोऽपि जीवश्रेयशपरिस्पन्दस्याहंतुत्तात् । न परमपर्ययं तद्वेतुनं तस्योपचारि-  
कृत्वात् । न तदप्यभिप्रियन्तात् । अथ स्वाहारिस्पन्दस्य कथंहेतुनं नंचट्टआणा-  
मपि कर्ममन्वः प्रमज्जतीति न, कर्मजनिन्मय चैनन्मयपरिस्पन्दस्यावाहंतुयेन विमित्त-  
त्वात् । न चाश्रयपरिस्पन्दः कर्मजनितां येन वेद्वेतुतामान्कण्डेन् ।

भौतिकप्रकाययोगस्य मत्त्वोद्देशप्रतिपादनार्थमाह—

परमाधान—कभी जीव शरीरपर्याप्तिकं निष्पन्न होते पर पर्याप्तक रहे जाँगे ।  
उत्तरमें पहले भौतिकप्रकाययोगका उल्लेख कहते हैं । पर्याप्तिको प्राप्त हुए शरीरके  
आच्छन्नाप्रता उष्ण हुए जीवोंसे परिस्पन्दये जो योग होता है उसे औदारिक्रकाययोग  
कहते हैं । नर पैदाशरीरकी अपर्याप्त पर्य्याप्तों औदारिक्रमिश्रकाययोग होता है ।  
निम्बन तापरी इनप्रकार है कि कर्मण अथ औदारिक्रशरीरके स्पन्दोंके निमित्तये जीवके  
प्रदेशोंमें उष्ण हुए परिस्पन्दये जो योग होता है उसे औदारिक्रमिश्रकाययोग कहते हैं ।

शंका—पर्याप्त पर्य्याप्तों कर्मणशरीरका मत्त्व होनेके कारण तत्र पर भी कर्मण  
और औदारिक्रशरीरके स्पन्दोंके निमित्तये आत्माके प्रेशोंमें परिस्पन्द होता है, इनलिये तत्र  
पर भी औदारिक्रमिश्रकाययोग पर्यो कर्मा कया जाता है ?

परमाधान—नहीं, क्योंकि, पर्याप्त अस्त्यर्थमें तद्यदि कर्मणशरीर निष्पन्न है फिर  
भी यह जीव प्रदेशोंके परिस्पन्दरत कारण नहीं है । यदि पर्याप्त पर्य्याप्तों कर्मणशरीर  
पर्य्याप्तये जीवश्रेयशके परिस्पन्दता कारण तत्रा जलिये, सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि, कर्मण-  
शरीरको पर्य्याप्तये विमित्त मानता उत्तर है । यदि ही कि उपचार ल भी यत्ता पर ग्रहण कर  
लिया जाये, तो भी ठीक नहीं है, क्योंकि, उपचारसे पर्य्याप्तपर्य्याप्तिये विमित्तके प्रमाण करतेही यथा  
निष्पन्न नहीं है ।

शंका—परिस्पन्दको पर्य्याप्त कारण मानने पर संचार करने हुए भवेंकि भी कर्ममन्व  
प्राण हो जायगा, क्योंकि, उनके भी परिस्पन्द पाया जाता है ?

परमाधान—नहीं, क्योंकि, कर्मजनिता चेतन्यपरिस्पन्द ही आगमका कारण है, यहाँ  
अर्थ यत्र पर विप्रकृति है । भवेंता परिस्पन्द र्मजनिता तो है नहीं, जिससे वह कर्ममन्वके  
आश्रयका हेतु हो सके, अर्थवत् नहीं हो सकता है ।

अथ भौतिकप्रकाययोगके सद्भावके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

वेदव्यवकायजोगो पञ्जराणं वेदव्यवमिसकायजोगो अप-  
ज्जराणं ॥ ७७ ॥

पर्यायवाक्यायां वैकृत्यककाययोगे सति तत्र शेषयोगाभावः स्यादिति चेन्न,  
तत्र वैकृत्यककाययोग एवास्तीत्यवधारणाभावात् । अवधारणाभावेऽपर्यायतावस्थायां  
शेषयोगानामपि सत्त्वमापत्तेरिति चेत्सत्यम्, कर्मणकाययोगस्य सत्त्वोपलम्भान् । न  
तद्वच्च तद्मन्त्रस्योरपि सत्त्वमपर्यायतानां तयारभावस्योक्तत्वात् ।

आहारकाययोगमन्त्रमदेजप्रतिपादनायाह—

आहारकायजोगो पञ्जराणं आहारमिसकायजोगो अप-  
ज्जराणं ॥ ७८ ॥

आहारशरीरेत्थापकः पर्यायतः सयतत्वान्यथानुपपत्तेः । तथा चाहारमिश्रकाय-  
वैकृत्यककाययोग पर्यायताकोके और वैकृत्यकमिश्रकाययोग अपर्यायताकोके होता है ॥७७॥  
शंका—पर्यायतावस्थामें वैकृत्यककाययोगके मानने पर वहा शेष योगोंका अभाव  
मानना पड़ेगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, पर्यायता अवस्थामें वैकृत्यककाययोग ही होता है ऐसा  
निययरूपसे कथन नहीं किया है ।

शंका—जब कि उक्त कथन निश्चयरूप नहीं है तो अपर्यायता अवस्थामें भी उसीप्रकार  
शेष योगोंका सद्भाव प्राप्त हो जायगा ?

समाधान—यह कहना किसी अपेक्षासे ठीक है, क्योंकि, अपर्यायता अवस्थामें  
वैकृत्यकमिश्रके आतिरिक्त कर्मणकाययोगका भी सद्भाव पाया जाता है । किंतु कर्मणकाययोगके  
समान अपर्यायतावस्थामें वचनयोग और मनोयोगका सद्भाव नहीं माना जा सकता है,  
क्योंकि, अपर्यायतावस्थामें इन दोनों योगोंका अभाव रहता है, यह बात पहले कही जा  
चुकी है ।

अत आहारकाययोगका आधार वतलानेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

आहारकाययोग पर्यायताकोके और आहारकमिश्रकाययोग अपर्यायताकोके होता है ॥७८॥

शंका—आहारकशरीरको उत्पन्न करनेवाला साधु पर्यायता ही होता है, अन्यथा  
उसके संयतपना नहीं बन सकता है । ऐसी हालतमें आहारकमिश्रकाययोग अपर्यायताकोके होता

१ इति पत्रे १३ गोदि तन्म मित्वा ३ । गो जी ६८२

२ आशा पत्रे १३ गोदि तन्म मित्वा ३ । गो जी ६८३.

योगोऽपर्यायताकस्येति न घटामटेदिति चेन्न, अनवगतसद्भावमिप्रायत्वात् । तद्यथा, भवत्वसौ  
पर्यायताकः औदारिकशरीरगतपट्टपर्यायत्यपेक्षया, आहारशरीरगतपर्यायताकस्येति चेन्न,  
पेक्षया त्वपर्यायताकसौ । पर्यायतापर्यायताव्ययोनैकताकमेण संभवो विरोधादिति चेन्न,  
पर्यायतापर्यायतायोगोरक्रमेणैकत्र न सम्भवः इतीदृशत्वात् । कथं न पूर्वोऽभ्युपगमः इति  
विरोध इति चेन्न, भूतपूर्वगतन्यायापेक्षया विरोधासिद्धेः । विनष्टौदारिकशरीरसम्बन्ध-  
पट्टपर्यायतापरिनिष्ठिताहारशरीरगतपर्यायताकस्य कथं संयम इति चेन्न, संयमस्या-  
सर्वनिरोधलक्षणस्य मन्दयोगेन सह विरोधासिद्धेः । विरोधे वा न केवलिनोऽपि  
समुद्धातगतस्य संयमः तत्राप्यपर्यायताकयोगास्तित्वं प्रत्यविशेषात् । 'संजदासंजदङ्घणे

है यह कथन नहीं बन सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, ऐसा कहनेवाला आगमके अभिप्रायको ही नहीं समझा है ।  
आगमका अभिप्राय तो इसप्रकार है कि आहारकशरीरको उत्पन्न करनेवाला साधु औदारिक  
शरीरगत छह पर्यायताकोके अपेक्षा पर्यायताक भले ही रहा आवे, किंतु आहारकशरीरसंबन्धी  
पर्यायताकोके पूर्ण होनेकी अपेक्षा वह अपर्यायताक है ।

शंका—पर्यायता और अपर्यायता एकसाथ एक जीवमें संभव नहीं है, क्योंकि, एक-  
साथ एक जीवमें इन दोनोंके रहनेमें विरोध आता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, एकसाथ एक जीवमें पर्यायता और अपर्यायतासंबन्धी योग  
संभव नहीं है, यह बात हमें इत ही है ।

शंका—तो फिर हमारा पूर्व कथन क्यों न मान लिया जाय, अतः आपके कथनमें  
विरोध आता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, भूतपूर्व न्यायकी अपेक्षा विरोध अस्ति है । अर्थात्  
औदारिक शरीरसंबन्धी पर्यायताकोके अपेक्षा आहारकमिश्र अवस्थामें भी पर्यायताकोके व्यवहार  
किया जा सकता है ।

शंका—जिसके औदारिक शरीरसंबन्धी छह पर्यायतायां नष्ट हो चुकी हैं, और आहा-  
रक शरीरसंबन्धी पर्यायतायां अभी तक पूर्ण नहीं हुई हैं ऐसे अपर्यायताक साधुके संयम कैसे हो  
सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जिसका लक्षण आश्रवका निरोध करना है ऐसे संयमका  
मन्वयोग ( आहारकमिश्रयोग ) के साथ होनेमें कोई विरोध नहीं आता है । यदि इस मन्व-  
योगके साथ संयमके होनेमें विरोध आता ही है ऐसा माना जावे, तो समुद्रततो प्राप्त  
हुए केवलिके भी संयम नहीं हो सकेगा, क्योंकि, वहां पर भी अपर्यायताकसंबन्धी योगका  
सद्भाव पाया जाता है इसमें कोई विरोधता नहीं है ।

णियमा पञ्जत्ता' इत्यनेनार्पण सह कथं न विरोधः स्यादिति चेन्न, द्रव्यार्थिकनया-  
पेक्षया प्रवृत्तसूत्रस्याभिप्रायेणाहारशरीरानिष्पत्त्यवस्थायामपि षट्पर्याप्तानां सत्त्वाविरोधान् ।  
कार्मणकाययोगः पर्याप्तवैषम्यपर्याप्तैषुभयत्र वा भवतीति नोक्तम्, तन्निश्चयः कुतो भवेत् ?  
'कम्मइयकायजोगो विग्गहगइ-समावणणां केवलीणं वा समुग्घाद-पदाणं' इत्येतस्मा-  
त्सत्त्वात्पर्याप्तैष्वेव कार्मणकाययोग इति निश्चीयते ।

पर्याप्तैष्वपर्याप्तिसु च योगानां सत्त्वमसत्त्वं चाभिधायेदानीं गतिषु तत्र गुण-  
स्थानानां सत्त्वासत्त्वप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

**णेरइया मिच्छाद्विट्ठि-असंजदस्समाइद्विट्ठाने सिया पज्जत्ता  
सिया अपज्जत्ता ॥ ७९ ॥**

नारका इत्यनेन बहुवचनेन स्यादित्येतस्य एकवचनस्य न सामानाधिकरण्य-

शंका—'सयतासंयतसे लेकर सभी गुणस्थानोंमें जीव नियमसे पर्याप्तक होते हैं', इस  
अर्थवचनके साथ उपर्युक्त कथनका विरोध क्यों नहीं आजायगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे प्रवृत्त हुए इस सूत्रके  
अभिप्रायसे आहारक शरीरकी अपर्याप्त अवस्थामें भी औदारिक शरीरसंबन्धी छह पर्याप्तियोंके  
होनेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

शंका—'कार्मणकाययोग पर्याप्त होने पर होता है, या अपर्याप्त रहने पर होता है,  
अथवा दोनों अवस्थाओंमें होता है, यह कुछ भी नहीं कहा, इसलिये इसका निश्चय कैसे  
किया जाय ?

समाधान—'विग्रहगतिको प्राप्त चारों गतिके जीवोंके और समुद्धातगत केवलियोंके  
कार्मणकाययोग होता है' इस सूत्रके कथनानुसार अपर्याप्तकोंके ही कार्मणकाययोग होता  
है, इस कथनका निश्चय हो जाता है ।

इसप्रकार पर्याप्त और अपर्याप्तियोंमें योगोंके सत्त्व और असत्त्वका कथन करके अब  
चार गतिसंबन्धी पर्याप्त और अपर्याप्तियोंमें गुणस्थानोंके सत्त्व और असत्त्वके प्रतिपादन  
करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

नारकी जीव मिथ्याद्विट्ठि और असयतसस्यद्विट्ठि गुणस्थानमें पर्याप्तक होते हैं और  
अपर्याप्तक भी होते हैं ॥ ७९ ॥

शंका—सूत्रमें आये हुए 'नारका' इस बहुवचनके साथ 'स्यात्' इस एक वचनका  
सामानाधिकरण नहीं बन सकता है ?

१ अ क आ प्रतिष्ठा 'कुतोभवत्' इति पाठ । २ जी स सू. ६०.

मिति चेन्न, एकस्य नानात्मकस्य नानात्वाविरोधात् । विरुद्धयोः कथमेकमधिकरणमिति  
चेन्न, दृष्टत्वात् । न हि दृष्टेऽनुपपन्नता' । नारकाः मिथ्याद्विट्ठयोऽसंयतसस्यद्विट्ठयश्च  
पर्याप्ताश्चापर्याप्ताश्च भवन्ति । समुच्चयावगतये चशब्दोऽत्र वक्तव्यः न, सामर्थ्य-  
लभ्यत्वात् ।

तत्रतन्शेषगुणद्वयप्रदेशप्रतिपादनार्थमाह—

**सासणसम्माइद्विट्ठि-सम्मामिच्छाद्विट्ठि-णियमा पज्जत्ता ॥ ८० ॥**

नारकाः निष्पन्नपदपर्याप्तयः सन्तः ताभ्यां गुणाभ्यां परिणमन्ते नापर्याप्ता-  
वस्थायाम् । किमिति तत्र तौ नोत्पद्येते इति चेत्तयोस्तत्रोत्पत्तिनिमित्तपरिणामाभावात् ।

समाधान—नहीं, क्योंकि, एक भी नानात्मक होता है, इसलिये एकको नानारूप  
मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

शंका—विरुद्ध दो पदार्थोंका एकाधिकरण कैसे हो सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, विरुद्ध दो पदार्थोंका भी एकाधिकरण देखा जाता है ।  
और देखे गये कार्यमें यह नहीं बन सकता यह कहा नहीं जा सकता है । अतः सिद्ध हुआ  
कि मिथ्याद्विट्ठि और असयतसस्यद्विट्ठि नारकी पर्याप्तक भी होते हैं और अपर्याप्तक  
भी होते हैं ।

शंका—समुच्चयका ज्ञान करानेके लिये इस सूत्रमें व शब्दका कथन करना चाहिये?  
समाधान—नहीं, क्योंकि, वह सामर्थ्यसे ही प्राप्त हो जाता है ।

अब नारकसंबन्धी शेष दो गुणस्थानोंके आधारके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका  
सूत्र कहते हैं—

नारकी जीव सासादनसस्यद्विट्ठि और सस्यमिथ्याद्विट्ठि गुणस्थानमें नियमसे पर्याप्तक  
होते हैं ॥ ८० ॥

जिनकी छह पर्याप्तिया पूर्ण हो गई हैं ऐसे नारकी ही इन दो गुणस्थानोंके साथ  
परिणत होते हैं, अपर्याप्त अवस्थामें नहीं ।

शंका—नारकियोंकी अपर्याप्त अवस्थामें ये दो गुणस्थान क्यों नहीं उत्पन्न होते हैं ?

समाधान—क्योंकि, नारकियोंकी अपर्याप्त अवस्थामें इन दो गुणस्थानोंकी उत्पत्तिके  
निमित्तभूत परिणामोंका अभाव है, इसलिये उनकी अपर्याप्त अवस्थामें ये दो गुणस्थान  
नहीं होते हैं ।

१ सम्भावेऽनक्षत सिद्धे यदि पर्याप्तुपुञ्जने । तनोत्तरामिदं युक्तं न दृष्टव्युपपत्ता ॥ स त पु २६



मोऽपि क्षिमिति त्वयानं स्यादिति चेन्माभाव्यात् । नारकाणामिममन्वन्थाद्भस्ममाद्भाव-  
मुपगतानां पुनर्भस्मनि मनुष्यमानानामपर्यावादाया गुणद्वयस्य सत्त्वाविरोधान्निमित्तमेव  
पर्यावा इति न वदत इति चेन्न, तेषां मरणाभावात् । भाने वा न ते तत्रोत्पद्यन्ते,  
' गिरयतो गोरया उत्रद्विदममाणा णो गिरयवादिं जादि णो देवगदिं जादि, तिरिक्ख-  
वादिं मणुसगदिं च जादि ' इत्यनेनापि निषिद्धत्वात् । आयुषोऽवसाने त्रियमाणानामपि  
नियमश्चेन्न, तेषामपमृत्योरप्यत्त्वात् । मम्मयाद्धानम्युपगतदेहाना तेषा ऋथं पुनर्मरणमिति  
चेन्न, देहविकारस्यायुर्ध्विच्छिरयनिमित्तत्वात् । अन्यथा बालावस्थातः प्राप्तौवनस्यापि  
मरणप्रभवत्वात् ।

शंका—इत्यप्रकारके परिणाम उन दो गुणस्थानोंमें क्यों नहीं होते हैं ?

समाधान—क्योंकि, ऐसा स्वभाव ही है ।

शंका—अशिके सन्धस्ते भस्मिमानको प्राप्त ह्यु और फिर भी उसी भस्ममें होने-  
वाले नारकियोंके अपर्याय कालमें उन दो गुणस्थानोंके होनेमें कोई विरोध नहीं आता है,  
अर्थात् देह भस्म आदिमें नष्ट ह्यु शरीरके पश्चात् पुनः उन्हीं अवयवोंमें उत्पन्न होनेवाले जीवोंके  
मायास्य और मिथ्य गुणस्थान माननेमें कोई विरोध नहीं आता है, जसलिये इन गुणस्थानोंमें  
नारकी नियमसे पर्यायत्व होते हैं, यह नियम नहीं बनता है ?

समाधान नहीं, क्योंकि, अग्नि आदि निमित्तसे नारकियोंका मरण नहीं होता  
है । यदि नारकियोंका मरण हो जाले, तो पुन वे नहीं पर उत्पन्न नहीं होते हैं, क्योंकि,  
' जिनकी आयु पूर्ण हो गई है वेनी नारकी जीव नरकगतिले निकलकर पुनः नरकगतिको  
नहीं जाते हैं, जसलिये नहीं जाते हैं । किंतु तिथेचगति और मनुष्यगतिको जाते हैं ' इस  
परिपत्तके अनुसार नारकियोंका पुन नरकगतिके उत्पन्न होना निषिद्ध है ।

शंका—आयुके यत्नमें मरनेवाले नारकियोंके लिये ही यह सूत्रोक्त नियम लागू  
होना चाहिये ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, नारकी जीवोंके अपमृत्युका सद्धान नहीं पाया जाता है ।  
अर्थात् नारकियोंका आयुके अन्तमें ही मरण होना है, बीचमें नहीं ।

शंका—यदि उनकी अपमृत्यु नहीं होनी है, तो जिनका शरीर भस्मीभावको प्राप्त  
हो गया है वेसे नारकियोंका पुनर्मरण कैसे उत्पन्न ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, देहका विकार आयुर्कर्मके विनाशका  
निमित्त नहीं है । क्यथा जसले बाल-अवस्थाके पश्चात् बौद्ध-अवस्थाको प्राप्त कर लिया  
है ऐसे जीवके भी मरणका प्रसंग आ जायगा ।

नारकाणामोचमिथायादेशप्रतिपादनार्थमाह—

एवं पढमाए पुढवीए णेरइया ॥ ८१ ॥

प्रथमायां पृथिव्या ये नारकास्तेषां नारकाणां सामान्योक्तरूपेण भवन्ति । कुतो ?  
विशेषाभावात् । यदि सामान्यप्ररूपणया प्रथमपृथिवीगतनारका एव निरूपिता भवेत्पुरलं  
तथा, विशेषनिरूपणतयैव तदवगतेरिति ? न, द्रव्यार्थिकनयात् सत्त्वानुग्रहार्थं तत्प्रवृत्तेः ।  
विशेषप्ररूपणमन्तरेण न सामान्यप्ररूपणतोऽर्थव्यवसिर्भवतीति तथा निरूपणमनर्थक-  
मिति चेन्न, बुद्धीनां नैचिञ्चयात् । तथाविधबुद्ध्यो नेदानीमुपलभ्यन्त इति चेन्न,  
अस्यापस्य त्रिकालभोचरानन्तप्राण्यपेक्षया प्रवृत्तत्वात् ।

शेषपृथिवीनारकाणां प्रतिपादनार्थमाह—

इत्यप्रकार सामान्यरूपसे नारकियोंका कथन करके अग विशेषरूपसे कथन करनेके  
लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

इसीप्रकार प्रथम पृथिवीमें नारकी होते हैं ॥ ८१ ॥

प्रथम पृथिवीमें जो नारकी रहते हैं उनकी पर्याप्तियां और अपर्याप्तियां  
नरकगतिके सामान्य कथनके अनुसार होती हैं, क्योंकि, नरकगतिसबन्धी सामान्य  
कथनमें और प्रथम पृथिवीसबन्धी कथनमें कोई विशेषता नहीं है ।

शंका—यदि सामान्यप्ररूपणके द्वारा प्रथम पृथिवीसबन्धी नारकी ही निरूपित  
किये गये हैं, तो सामान्यप्ररूपणके कथन करनेसे रहने दो, क्योंकि, विशेषप्ररूपणसे ही  
उसका ज्ञान हो जायगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, द्रव्यार्थिक नयनी अपेक्षा रखनेवाले जीवोंके अनुग्रहके  
लिये सामान्यप्ररूपणाकी प्रवृत्ति मानी गई है ।

शंका—विशेषप्ररूपणके बिना केवल सामान्यप्ररूपणसे अर्थका ज्ञान नहीं हो  
सकता है, ऐसी बालत्वमें सामान्यप्ररूपणका कथन करना निष्फल है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, श्रोतार्थोंकी बुद्धि अनेक प्रकारकी होती है, जसलिये  
विशेष प्ररूपणके कथनके समान सामान्यप्ररूपणाका कथन करना भी निष्फल नहीं है ।

शंका—जो सामान्यसे पदार्थको समझ लेते हैं वेसे बुद्धिमान् पुरुष इस कालमें तो  
नहीं पाये जाते हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, आगम तो त्रिकालमें होनेवाले अनन्त प्राणियोंकी अपेक्षा  
प्रवृत्त होता है ।

शेष पृथिवीयोंमें रहनेवाले नारकियोंके विशेष कथनके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

१. 'पर्याप्तगोऽपर्याप्तय ' इति पाठशेष ।

विद्यादि जाव सत्ताए पुढवीए णेरइया मिच्छाइडिद्विद्वाने  
सिया पज्जता सिया अपज्जता ॥ ८२ ॥

अथस्तनीए पइसु पृथिवीए मिथ्यादृष्टीनामुत्पत्तेः सत्तात् । पृथिवीशब्दः  
प्रत्येकमभिसम्बन्धीयः । सुगममन्यत् ।

शेषगुणस्थानानां तत्र क सत्त्वं क च न भवेदिति जातारेकस्य भव्यस्यारका-  
निरसनार्थमाह—

सासणसम्माइडि-सम्माभिच्छाइडि-असंजदसम्माइडिद्विद्वाने णि-  
यमा पज्जता ॥ ८३ ॥

भवतु नाम सम्यग्मिथ्यादृष्टेस्तत्रासुत्पत्तिः । सम्यग्मिथ्यात्वपरिणाममधिष्ठितस्य  
मरणाभावात् । भवति च तस्य मरणं गुणान्तरमुपादाय । न च तत्र म गुणोऽस्तीति ।  
किन्त्वेतन्न युज्यते शेषगुणस्थानप्राणिनस्तत्र नोत्पद्यन्त इति ? न तावत् मामादनस्तत्रोत्पद्यते

इसरी पृथिवीसे लेकर सातवां पृथिवी तक रहनेवाले नारकी मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें  
पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं ॥ ८२ ॥

प्रथम पृथिवीको छोड़कर शेष छह पृथिवियोंमें मिथ्यादृष्टि जीवोंकी डी उत्पत्ति पाई  
जाती है, इसलिये वहाँ पर प्रथम गुणस्थानमें पर्याप्त और अपर्याप्त दोनों अवस्थायें उत्पन्न  
हीं हैं । सबसे आया हुआ पृथिवी शब्द प्रत्येक नरकके साथ जोड़ देना चाहिये । शेष  
व्याख्यान सुगम है ।

उन पृथिवियोंकी कित्त अवस्थायें शेष गुणस्थानोंका सङ्काच है और कित्त अवस्थायें  
नहीं, इसप्रकार जिसको शक्ता उत्पन्न हुई है उस शब्दकी शक्ताके दूर करनेके लिये आगेना मूत्र  
कहते हैं—

इसरी पृथिवीसे लेकर सातवां पृथिवी तक रहनेवाले नारकी सामान्यसम्यग्दृष्टि  
सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें नियमसे पर्याप्तक होते हैं ॥ ८३ ॥

शंका—सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवकी मरकर शेष छह पृथिवियोंमें भी उत्पत्ति नहीं होती है,  
स्योंकि, सम्यग्मिथ्यात्वरूप परिणामको प्राप्त हुए जीवका मरण ही नहीं होता है । यदि उनका  
मरण भी होता है तो किसी दूसरे गुणस्थानको प्राप्त होकर ही होता है । परंतु मरणकालमें  
वह गुणस्थान नहीं होता, यह सच ठीक है । किंतु शेष ( दूसरे, चौथे ) गुणस्थानवाले प्राणी  
मरकर वहाँ पर उत्पन्न नहीं होते, यह कहना नहीं बनता है ?

समाधान—सासादन गुणस्थानवाले तो नरकमें उत्पन्न ही नहीं होते हैं, स्योंकि,

तस्य नरकायुयो वन्धाभावात् । नापि चन्द्रनरकायुक्कः मामादनं प्रतिपद्य नारकैरूप्यद्यते  
तस्य तस्मिन् गुणे मरणाभावात् । नार्यंतमम्यग्दृष्टयोऽपि तत्रोत्पद्यन्ते तत्रोत्पत्तिनिमित्ता-  
भावात् । न तावत्कर्मस्कन्धवहुत्वं तस्य तत्रोत्पत्तेः कारणं श्रपितकर्मज्ञानामपि जीवानां  
तत्रोत्पत्तिद्वर्जनात् । नापि कर्मस्कन्धाणुत्वं तत्रोत्पत्तेः कारणं गुणितकर्मज्ञानामपि  
तत्रोत्पत्तिद्वर्जनात् । नापि नरकालिकर्मणः सत्त्वं नम्य तत्रोत्पत्तेः कारणं तत्त्वत्त्वं प्रत्य-  
विशेषतः मरुत्तपञ्चेन्द्रियागामपि नरकप्राप्तिप्रसङ्गात् । नित्यनिर्गोदानामपि विद्यमान-  
व्रमकर्मणां त्रयपुत्रपत्तिप्रसङ्गात् । नाशुभलेख्यानां सत्त्वं तत्रोत्पत्तेः कारणं मरणावस्थाव्याम-  
सयतमम्यग्दृष्टेः पट्टे पृथिवीपुत्रपत्तिनिमित्ताशुभलेख्याभावात् । न नरकायुषः सत्त्वं तस्य  
तत्रोत्पत्तेः कारणं मम्यग्दृष्ट्योनासितानि त्रयपुत्रपत्तिनिमित्तानुक्त्वात् । न च तच्छेदोऽभिद्वः  
जार्पात्तस्त्रियद्वेषुपलम्भात् । ततः व्यिनमेत् न तम्यग्दृष्टिः पट्टे पृथिवीपुत्रपत्तये इति ।

सासादन गुणस्थानवाले नरकायुग सच ही नहीं होता है । किन्ते पहले नरकायुग सच  
कर दिया है वे थे जीव भी नानादण गुणस्थानको प्राप्त होकर नारकियोंमें उत्पन्न नहीं होते  
हैं, स्योंकि, नरकायुग सच करनेवाले जीवका नानादण गुणस्थानमें मरण ही नहीं  
होता है । असंयतसम्यग्दृष्टि जीव भी मिथ्यादृष्टि पृथिवियोंमें उत्पन्न नहीं होते हैं, स्योंकि,  
सम्यग्दृष्टियोंके शेष छह पृथिवियोंमें उत्पन्न होनेके निमित्त नहीं पाये जाते हैं । यदि स्म-  
स्कन्धोंकी अधिकता असंयतसम्यग्दृष्टि जीवके शेष छह नरकोंमें उत्पत्तिका कारण कहा जाये,  
तो भी ठीक नहीं है, स्योंकि, किन्तोंने मनुष्यमें कर्मस्कन्धोंका क्षय कर दिया है ऐसे जीवोंकी  
भी नरकमें उत्पत्ति नहीं जाती है । कर्मस्कन्धोंकी अल्पता भी नरकमें उत्पत्तिका कारण नहीं  
है, स्योंकि, जिनके उत्तरोत्तर गुणित कर्मस्कन्ध पाये जाते हैं उनको भी वहाँ पर उत्पत्ति  
नहीं जाती है । नरकगतित्त सच भी सम्यग्दृष्टिके नरकमें उत्पत्तिका कारण नाना ठीक नहीं  
है, स्योंकि, नरकगतिके नरके प्रति नहीं मिलेता न होनेके लक्ष्मी पहले ही नरक-  
गतिकी प्राप्तिता प्रसन्न गजायगा । नरक नित्यनिर्गोदाना जीवोंके भी कर्मकर्मकी सत्ता  
वियोगात् सती है, इसलिये उनको भी नरकमें उत्पत्ति होने लगेगी । अशुभ लेख्याके सत्त्वको  
नरकमें उत्पत्तिका कारण नरका ठीक नहीं है, स्योंकि, मरणके समय अत्यंतसम्यग्दृष्टि  
जीवके भीनेही छह पृथिवियोंमें उत्पत्तिका कारणरूप अशुभ लेख्याप नहीं पाई जाती है ।  
नरकायुग सच भी सम्यग्दृष्टिके नरकेकी छह पृथिवियोंमें उत्पत्तिका कारण नहीं है, स्योंकि,  
सम्यग्दृष्टितरकी मरसे नरकेकी छह पृथिवीसन्धी आयु काट दी जाती है । भीनेही छह  
पृथिवीसन्धी आयुका कटना नानिच भी नहीं है, स्योंकि, आगमसे इसकी पुष्टि होती है ।  
इसलिये यह स्थिर गुण कि नरकेकी छह पृथिवियोंमें सम्यग्दृष्टी जीव उत्पन्न नहीं होता है ।

तिर्यग्गतौ गुणस्थानानां सत्त्वान्ध्याप्रतिपादनार्थमाह—

**तिरिक्त्वा मिच्छादृष्टिः सा सणसम्मादृष्टिः असंजदसम्मादृष्टिः दृष्टिः  
सिया पजत्ता, सिया अपजत्ता ॥ ८४ ॥**

अथ नाम मिथ्यादृष्टिसादानसम्यग्दर्शनां तिर्यक्षु पर्याप्तार्थान्तद्वयोः सत्त्वं तयोन्मत्रोत्पत्त्यविरोधात् । सम्यग्दृष्टयस्तु पुनर्नोत्पद्यन्ते तिर्यगपर्याप्तपर्यायेण सम्यग्दर्शनस्य विरोधादिति ? न विरोधः, अस्वार्थस्याप्राप्त्यसंज्ञात् । क्षयिकसम्यग्दृष्टिः शान्तितीर्थतः शान्तिसत्त्वप्रकृतिः कथं तिर्यक्षु दुःखभूयस्त्वत्पद्यते इति चेन्न, तिरश्चां नारकेभ्यो दुःखान्तिभ्यामाभात् । नारकेणपि सम्यग्दृष्टयो नोत्पत्स्यन्त इति चेन्न, तेषां नोत्पत्तिप्रतिपादनापोपलम्भात् । किमिति ते तत्रोत्पद्यन्त इति चेन्न, सम्यग्दर्शनोपादानात् प्राप्तिर्यादृष्टयवस्थायां चतुर्निर्यङ्गनरुत्तवात् । सम्यग्दर्शनेन तत्प्रकृतो न—

अथ तिर्यग्गतौ गुणस्थानोऽस्ति रात्रान्तके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कही गेते—

तिर्यक्त्वात्, सान्नायनसम्यग्दृष्टिः और असत्यतसम्यग्दृष्टिः गुणस्थानमें पर्याप्त भी गेते— आर पर्याप्त भी गेते ॥ ८३ ॥

मिथ्यादृष्टि और सासादानसम्यग्दृष्टि जीवोंकी तिर्यचोत्पत्त्यधी पर्याप्त और अपर्याप्त पर्याप्तमें भेद ही गत्ता रही गये, क्योंकि, इन दो गुणस्थानोंकी तिर्यचसंज्ञा ही पर्याप्त और अपर्याप्त पर्याप्तमें उत्पत्ति होनेमें कोई विरोध नहीं आता है । परन्तु सम्यग्दृष्टि जीव तो तिर्यचोंमें उत्पन्न नहीं होते हैं, क्योंकि, तिर्यचोंकी अपर्याप्त पर्याप्तके साथ सम्यग्दर्शनका विरोध है ?

गमयान्त—विरोध नहीं है, फिर भी यदि विरोध माना जाये तो ऊपरका सूत्र समझाया जायगा ।

शंका—जिसने ती ईन्द्रकी सेवा की है और जिसने मोहनीयकी सात प्रकृतियोंका साथ साथ देखा था तिसके सम्यग्दृष्टि जीव दुःखमूल तिर्यचोंमें कैसे उत्पन्न होता है ? समाधान—नहीं, क्योंकि, तिर्यचोंके नारक्तियोंकी अपेक्षा अधिक दुःख नहीं पाये गेते ।

शंका—तो फिर नारक्तियोंमें भी सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न नहीं होंगे ?

गमयान्त—नहीं, क्योंकि, सम्यग्दृष्टियोंकी नारक्तियोंमें उत्पत्तिका प्रतिपादन करने-माना आगम प्रमाण पाया जाता है ।

शंका—सम्यग्दृष्टि जीव नारक्तियोंमें क्यों उत्पन्न होते हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जिन्होंने सम्यग्दर्शनको ग्रहण करनेके पहले मिथ्यादृष्टि

( ८४ ग ) सम्यग् प्रतिपादन सम्यग् सेवा गति । जी ५ म् २६७

किमिति न छिद्यते ? इति चेत् किमिति तत्र छिद्यते ? अपि तु न तस्य निर्मूलच्छेदः । तदपि कुतः ? स्वाभाव्यात् ।

तत्र सम्यग्विषयध्यादृष्ट्यादिसत्त्वरूपानिरूपणार्थमाह—

**सम्माभिच्छादृष्टिः संजदासंजद-दृष्टाणे गियमा पजत्ता ॥ ८५ ॥**

मनुष्याः मिथ्यादृष्टयवस्थायां चतुर्निर्यगाणुपः पश्चात्सम्यग्दर्शनेन सहात्ता-प्रत्याख्यानाः क्षपितसप्तप्रकृतयस्तिर्यक्षु किञ्चोत्पद्यन्ते ? इति चेत् किञ्चित्तोऽप्यत्याख्याना-गुणस्य तिर्यगपर्याप्तोपु सत्त्वापत्तिः ? न, देवगतिव्यतिरिक्तगतित्रयसमन्वयद्राणुपोपलक्षितानामणुप्रतोपादानद्राणुत्पत्तौः । उक्तं च—

चत्वारि वि छेत्ताइ आउगा-ववे वि होइ समत्त ।

अणुवद-महवदाइ ण लहइ देवाणुग मोत्तु ॥ १६९ ॥

अवस्थामें तिर्यचाणु और नरकाणुका वन्ध कर लिया है उनकी सम्यग्दर्शनके साथ वहां पर उत्पत्ति माननेमें कोई आपत्ति नहीं आती है ।

शंका—सम्यग्दर्शनकी सामर्थ्यसे उस आयुका छेद क्यों नहीं हो जाता है ?

समाधान—उसका छेद क्यों नहीं होता है ? अवश्य होता है, किंतु उसका समूल नष्ट नहीं होता है ।

शंका—समूल नष्ट क्यों नहीं होता ?

समाधान—आगेके भवकी वाधी हुई आयुर्कर्मका समूल नष्टा नही होता है इस-प्रकारका स्वभाव ही है ।

अब तिर्यचोंमें सम्यग्विषयध्यादृष्टि आदि गुणस्थानोंके स्वरूपका निरूपण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

तिर्यक्त्वात् सम्यग्विषयध्यादृष्टि और सयत्तासायत्त गुणस्थानमें नियमक्षे पर्याप्तक होते हैं ॥ ८५ ॥

शंका—जिन्होंने मिथ्यादृष्टि अवस्थामें तिर्यचनायुका वन्ध करनेके पश्चात् देवस्य-मको ग्रहण कर लिया है और मोहकी सात प्रकृतियोंका शय कर दिया है ऐसे मनुष्य तिर्यचोंमें क्यों नहीं उत्पन्न होते ? यदि होते हैं तो इससे तिर्यच-अपर्याप्तोंमें देवसंयमके प्राप्त होनेकी आपत्ति आती है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, देवगतिको छोड़कर शेष तीन गतिरान्धवी आयुत्त्वसे युक्त जीवोंके अणुप्रतको ग्रहण करनेकी बुद्धि ही उत्पन्न नहीं होती है । कदा भी है—

चारों गतिसन्धवी आयुर्कर्मके वन्ध हो जाने पर भी सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो सकता

१ गी जी ६५३ गो क ३३४ । प्रतिगु 'अणुवद महवदो गुण ग अहद वाग' इति पाठ ।

न तिर्यक्षूरुपत्ना अपि क्षायिकसम्यग्दृष्टयोऽणुव्रतान्यादधते भोगभूमालुत्पन्नानां तदुपादानानुपपत्तेः । ये निर्दानस्ते कथं तत्रोत्पद्यन्त इति चेन्न, सम्यग्दर्शनस्य तत्रोत्पत्तिकारणस्य सत्त्वात् । न च पात्रदानेऽनुभुमोदिनः सम्यग्दृष्टयो भवन्ति तत्र तदुपपत्तेः ।

तिर्यश्चामोघमभिधायोदेशस्वरूपनिरूपणार्थं वक्ष्यति—

**एवं पंचिंदिय-तिरिक्खा पंचिंदिय-तिरिक्ख-पज्जत्ता ॥ ८६ ॥**

एतेयामोघप्ररूपणमेव भवेद्विज्ञातं प्रति विशेषमावात् ।

स्त्रीविदविशिष्टतिरिक्खा विशेषप्रतिपादनार्थमाह—

है, परंतु देवायुके बन्धको छोड़कर शेष तीन आयुर्कर्मके बन्ध होते पर यह जीव अणुव्रत और महाव्रतको ग्रहण नहीं करता है ॥ १९९ ॥

तिर्यचोंमें उत्पन्न हुए भी क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव अणुव्रतोंको नहीं ग्रहण करते हैं, क्योंकि, क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव यदि तिर्यचोंमें उत्पन्न होते हैं तो भोगभूमिमें ही उत्पन्न होते हैं और भोगभूमिमें उत्पन्न हुए जीवोंके अणुव्रतोंका ग्रहण करना बन नहीं सकता है ।

शंका— जिन्होंने दान नहीं दिया है ऐसे जीव भोगभूमिमें कैसे उत्पन्न हो सकते हैं? समाधान— नहीं, क्योंकि, भोगभूमिमें उत्पत्तिका कारण सम्यग्दर्शन है और वह जिनके पाया जाता है उनके वहा उत्पन्न होनेमें कोई विरोध नहीं आता है । तथा पात्रदानकी अनुमोदनासे रहित जीव सम्यग्दृष्टि हो नहीं सकते हैं, क्योंकि, उनमें पात्रदानकी अनुमोदनाका अभाव नहीं बन सकता है ।

विशेषार्थ—--क्षायिक सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति मनुष्य पर्यायमें ही होती है । अतः जिस मनुष्यने पहले तिर्यचायुका बन्ध कर लिया है और अनन्तर उसके क्षायिक सम्यग्दर्शन उत्पन्न हुआ है ऐसे जीवके भोगभूमिमें उत्पत्तिका मुख्य कारण क्षायिक सम्यग्दर्शन ही जानना चाहिये, पात्रदान नहीं । फिर भी वह पात्रदानकी अनुमोदनासे रहित नहीं होता है । इसप्रकार तिर्यचोंकी सामान्य प्ररूपणाका कथन करते अतः उनके विशेष स्वरूपके निर्णय करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

तिर्यचसंबन्धी सामान्यप्ररूपणाके समान पचेन्द्रियतिर्यच और पर्याप्तपचेन्द्रिय-तिर्यच भी होते हैं ॥ ८६ ॥

पचेन्द्रियतिर्यच और पर्याप्त-पचेन्द्रिय-तिर्यचोंकी प्ररूपणा तिर्यचसंबन्धी सामान्य-प्ररूपणाके समान ही होती है, क्योंकि, विचक्षित विषयके प्रति इन दोनोंके कथनमें कोई विशेषता नहीं है ।

अब स्त्रीविद्युक्त तिर्यचोंमें विशेषका कथन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

**पंचिंदिय-तिरिक्ख-जोणिणीसुमिच्छाइट्टि-सासणसम्माइट्टि-झोणे सिया पज्जत्तियाओ सिया अपज्जत्तियाओ ॥ ८७ ॥**

सासादनो नारक्रेध्विव तिर्यक्ष्वपि नोत्पादीति चेन्न, द्वयोः साधर्म्याभावात्तो दृष्टान्तानुपपत्तेः ।

तत्र शेषगुणानां स्वरूपमभिधातुमाह—

**सम्माभिच्छाइट्टि-असंजदसम्माइट्टि-संजदासंजद-झोणे पियमा पज्जत्तियाओ ॥ ८८ ॥**

श्रुतः? तत्रैतामामुत्पत्तेरभावात् । वद्वायुक्कः क्षायिकसम्यग्दृष्टिनारकेणु नपुंसकवेद इवात्र सीवेदे किञ्चोत्पद्यत इति चेन्न, तत्र तस्यैवैकस्य सत्त्वात् । यत्र कचन समुत्पद्यमानः

योनिमती-पचेन्द्रिय-तिर्यच मिय्यादृष्टि और सामादन गुणस्थानमें पर्याप्त भी होते हैं और अर्थात्त भी होते हैं ॥ ८७ ॥

शंका-- सामादन गुणस्थानवाला जीव मरकर जिसप्रकार नारकियोंमें उत्पन्न नहीं होता है, उसीप्रकार तिर्यचोंमें भी उत्पन्न नहीं होता चाहिये ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, नारकी और तिर्यचोंमें साधर्म्य नहीं पाया जाता है, इसलिये नारकियोंका दृष्टान्त तिर्यचोंको लागू नहीं हो सकता है ।

योनिमती तिर्यचनियोंमें शेष गुणस्थानोंके स्वरूपका कथन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

योनिमती-तिर्यच सम्यग्मिध्यादृष्टि, असयतसम्यग्दृष्टि और सयतासंयत गुणस्थानमें नियमसे पर्याप्तक होते हैं ॥ ८८ ॥

शंका—वेसा क्यों होता है ?

समाधान— क्योंकि, उपर्युक्त गुणस्थानोंमें मरकर योनिमती-तिर्यच उत्पन्न नहीं होते हैं ।

शंका— जिसप्रकार वद्वायुक्त क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव नारकसबन्धी नपुंसकवेदमें उत्पन्न होता है उसीप्रकार यहां पर स्त्रीवेदमें क्यों नहीं उत्पन्न होता है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, नरकमें एक नपुंसकवेदका ही सद्भाव है । जिस किसी गतिमें उत्पन्न होनेवाला सम्यग्दृष्टि जीव उस गतिसबन्धी विशिष्ट वेदाधिक्यमें ही उत्पन्न होता है । यह अभिप्राय यहां पर ग्रहण करना चाहिये । इससे यह सिद्ध हुआ कि सम्यग्दृष्टि जीव मरकर योनिमती तिर्यचोंमें नहीं उत्पन्न होता है ।



पर्याप्त इत्युपचर्यते । निश्चयनयाश्रयणे तु पुनरपर्याप्तः । एवं समुदातगतकेवललिना-  
मपि वक्तव्यम् ।

मनुष्यविशेषस्य निरूपणार्थमाह —

**एवं मनुस्स-पज्जत्ता ॥ ९१ ॥**

पर्याप्तेषु नापर्याप्तत्वमस्ति विरोधात् । ततः 'एवं पज्जत्ता' इति क्रथमेतद्वदत इति  
नैप दोषः, शरीरानिष्पत्त्यपेक्षया तदुपपत्तेः । क्रथं तस्य पर्याप्तत्वं ? न, द्रव्याधिकनया-  
श्रयणात् । ओदनः पच्यत इत्यत्र यथा तन्दुलानामौदनव्यपदेशास्तथाऽपर्याप्तानामस्थायी-  
मयत्र पर्याप्तव्यवहारो न विरुद्धत इति । पर्याप्तनामकर्मोदयोपेक्षया वा पर्याप्तता ।  
एवं तिर्यक्षपि वक्तव्यम् । सुगममन्यत् ।

अवस्थामे भी पर्याप्त है, इसप्रकारका उपचार किया जाता है । निश्चयनयका आश्रय करने पर  
तो यह अपर्याप्त ही है । इसीप्रकार समुदातगत केवलीके संबन्धमें भी कथन करना चाहिये ।

अब मनुष्यके भेदोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

मनुष्य सामान्यके कथनके समान पर्याप्त मनुष्य होते हैं ॥ ९१ ॥

शंका—पर्याप्तकोंमें अपर्याप्तपना तो यन नहीं सकता है, क्योंकि, इन दोनों  
अवस्थायोंका परस्पर विरोध है । इसलिये 'इसीप्रकार पर्याप्त होते हैं' यह कथन कैसे  
बदित होगा ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, शरीरकी अनिष्पत्तिकी अपेक्षा पर्याप्त-  
कोंमें भी अपर्याप्तपना नन जाता है ।

शंका—जिसके शरीरपर्याप्ति पूर्ण नहीं हुई है उसे पर्याप्तक कैसे कहा जायगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, द्रव्याधिक नयकी अपेक्षा उसके भी पर्याप्तपना नन  
जाता है । भात पक रहा है, यहा पर जिसप्रकार चावलको भात कहा जाता है, उसीप्रकार  
जिसके सभी पर्याप्तिया पूर्ण होनेवाली हैं ऐसे जीवके अपर्याप्त अवस्थायोंमें भी पर्याप्तपनेका  
व्यवहार विरोधको प्राप्त नहीं होता है । अथवा, पर्याप्त नामकर्मके उदयकी अपेक्षा उनके पर्याप्त  
पना समझ लेना चाहिये । इसीप्रकार तिर्यचोंमें भी कथन करना चाहिये । शेष कथन सुगम है ।

विशेषार्थ—पर्याप्त मनुष्योंमें पर्याप्त और निर्दुस्यपर्याप्त इन दोनों प्रकारके मनुष्योंका

\* ओदारिकाया शुद्धास्तपर्याप्तस्य, मिश्रास्तपर्याप्तस्येति । तथा परामोदारिकाया नामिणेन, आदा-  
रिश्चकीणिश्र वैक्यिकाहारकरणफले वैक्यिकाहारकाया मिश्रो भवतीति । प्लुमादारिकाभिय । तथा वैक्यिकमिश्रो  
देवाद्युपचो कामिणेन, एतवैक्यस्य बोदारिकमिश्राद्यायामोदारिकेण । आहारमिश्रसु मादिकाहारानामप्रापान  
पुनरादारिकव्येकं जोदारिकमिति । स्या ३ न १३ ( 'गमि रा को जीग )

मानुषीपु निरूपणार्थमाह—

**मणुसिणीसु मिच्छाइडि-सासणसम्माइडि-इणणे सिया पज्जत्ति-  
याओ सिया अपज्जत्तियाओ ॥ ९२ ॥**

अत्रापि पूर्ववदपर्याप्तानां पर्याप्तव्यवहारः प्रवर्तयितव्यः । अथवा स्यादित्ययं  
निपातः क्रथञ्चिदित्यस्मिन्नर्थे वर्तते, तेन स्यात्पर्याप्तानाः पर्याप्तनामकर्मोदयोच्छरीर-  
निष्पत्त्यपेक्षया वा । स्यादपर्याप्तानाः शरीरानिष्पत्त्यपेक्षया इति वक्तव्यम् । सुगममन्यत् ।  
तत्रैव शेषगुणभियारेकापान्दनायेमाह—

**सम्माभिच्छाइडि-असंजदसम्माइडि-संजदासंजद-इणणे णियमा  
पज्जत्तियाओ ॥ ९३ ॥**

दृण्डाममपिण्णपां तीपु नम्यग्दृश्यः किन्नोत्पद्यन्न इति चेन्न, उत्पद्यन्ते । कुतोऽस्मी-  
अन्तर्भाव होता है, क्योंकि, आगममें जो मनुष्योंके चार भेद लिये हैं उनमेंसे जिनके पर्याप्त  
नामकर्मका उदय नियमान है उन्हें पर्याप्त कहा है । इन पर शकाकारका कहना है कि जिनके  
पर्याप्तिया पूर्ण नहीं हुई हैं ऐसे अपर्याप्तकोंका पर्याप्तकोंमें अन्तर्भाव कैसे किया जा सकता  
है । इसी शकाको ध्यानमें रगलर ऊपर नमाधान किया गया है ।

अब मनुष्य तिर्योंमें गुणव्ययोंके निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

मनुष्य तिर्यां भिव्यादृष्टि और सात्तासम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें पर्याप्त भी होती है  
और अपर्याप्त भी होती है ॥ ९३ ॥

यहां पर भी पर्याप्त मनुष्योंके समान निर्दुस्यपर्याप्तकोंमें पर्याप्तपनेका व्यवहार कर  
लेना चाहिये । अथवा, 'स्यात्' या निपात कथनिन् अर्थमें रहता है । इसके अनुसार कथनिन्  
पर्याप्त होते हैं, इसका यह तात्पर्य है कि पर्याप्त नामकर्मके उदयकी अपेक्षा अथवा शरीर-  
पर्याप्तिकी पूर्णताकी अपेक्षा पर्याप्त होते हैं । और कथनिन् अपर्याप्त होते हैं, इसका यह  
तात्पर्य है कि शरीर पर्याप्तिकी अपूर्णताकी अपेक्षा अपर्याप्त होते हैं । शेष कथन सुगम है ।

अब मनुष्य तिर्योंमें ही शेष गुणस्थानावश्यक संकाके दूर करनेके लिये सूत्र कहते हैं—  
मनुष्य-तिर्या सम्यग्मिथ्या-दृष्टि, असंजतसम्यग्दृष्टि संयतासयत और सजत गुणस्थानोंमें  
नियमसे पर्याप्तक होती हैं ॥ ९३ ॥

शंका—दुण्डात्तत्तिणीं कालत्तन्थी रियंमं सम्यग्दृष्टि जीव स्यो नही उत्पन्न होते हैं ?  
समाधान—नहीं, क्योंकि, उनमें सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न होने दें ।

शंका—यह किस प्रमाणसे जाना जाता है ?

१ अथ ' गजद ' इति पाठसंन पतिमाति





शेषगुणस्य सत्त्वावस्थाप्रतिपादनार्थमाह—

**सम्माभिच्छाहट्टि-द्वाने णियमा पज्जता ॥ ९५ ॥**

कथं ? तेन गुणेन सह तेषां मरणाभावात् । अपर्याप्तकालेऽपि सम्यग्मिथ्यात्व-  
गुणस्योत्पत्तेरभावाच्च । नियमेऽभ्युपगम्यमाने एकान्तवादः प्रसजतीति चेन्न, अनेकान्त-  
गमैकान्तस्य सत्त्वाविरोधात् ।  
देवादेशप्रतिपादनार्थमाह—

**भवणवासिय-वाणवैतर-जोइसिय-देवा' देवीओ सोधम्मीसाण-  
कप्पवासिय-देवीओ च मिच्छाहट्टि-सासणसम्माहट्टि-द्वाने सिया पज्जता  
सिया अपज्जता, सिया पज्जत्तियाओ सिया अपज्जत्तियाओ ॥ ९६ ॥**

इसी गतिमें शेष गुणस्थानोंकी सत्ताके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—  
देव सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें नियमसे पर्याप्तक होते हैं ॥ ९५ ॥

शंका—यह कैसे ?

समाधान—स्योंकि, तीसरे गुणस्थानके साथ मरण नहीं होता है । तथा अपर्याप्त  
कालमें भी सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानकी उत्पत्ति नहीं होती है ।

शंका—'तृतीय गुणस्थानमें पर्याप्त ही होते हैं,' इसप्रकार नियमके स्वीकार कर  
लेने पर तो एकान्तवाद प्राप्त होता है ?

समाधान—नहीं, स्योंकि, अनेकान्तगर्भित एकान्तवादके सद्भाव माननेमें कोई  
विरोध नहीं आता है

अब देवगतिमें विशेष प्ररूपणके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—  
भवनवासी वानव्यन्तर और ज्योतिषी देव और उनकी देविया तथा सौधर्म और  
पेशान कल्पवासिनी देविया ये सब मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें पर्याप्त  
भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं ॥ ९६ ॥

? मरणेण वमतीयेण शैला भवनग्रामेण । निविद्धेदशान्तराणि येषां निनामास्ते व्यतरा । चोतन-  
स्वभावत्वाच्चोत्तिष्ठा । स मि त रा वा ८ १०-१२ मरणेण अवोलोकेद्वेवासासिनिक्षेपेण नखु शीलमस्येति ।  
अभि रा की ( भरणमासि ) निविध भवननगरासुररूपमन्तर येषां ते व्यतरा । XX अथवा निगतमन्तर मनुयेन्मो  
येषां ते व्यन्तरा । त-माहि, मनुष्यानापि चक्रगतिवाधुद्वेषप्रवृत्तान् भूत्सवदुपचरन्ति केचिद्व्यन्तरा इति मनुयेन्मो विगता तरा ।  
यदि वा निविधमन्तर शैलातर कन्दरातर वनातर वा आशयरूप येषां ते व्यतरा । प्राश्रवनाच्च सूते 'धणमन्तरा' इति  
पाठ । यदि वानमन्तरा इति पदसंस्कार, तत्रैव व्युत्पत्ति, वानामन्तराणि वनातराणि, तेषु मन्ता यानमन्तरा ।  
पृषोदराद्विवाहुमयपदपदात्तालकानिभकाराणाम् । प्रज्ञा १ ( पद अभि रा की गणमन्तर ) चोत्तते इति-

उभयगुणोपलक्षितजीवानां तत्रोत्पत्तेरुभयत्रापि तदस्तित्वं सिद्धम् । अन्यत्सुगमम् ।  
तत्रानुत्पद्यमानगुणस्थानप्रतिपादनार्थमाह—

**सम्माभिच्छाहट्टि-असंजदसम्माहट्टि-द्वाने णियमा पज्जता णियमा  
पज्जत्तियाओ ॥ ९७ ॥**

भवतु सम्यग्मिथ्यादृष्टेस्तत्रानुत्पत्तिस्य तद्गुणेन मरणाभावात्, कित्वेत्तन्न  
वदते यदभयतसम्यग्दृष्टिर्मरणवांस्तत्र नोत्पद्यत इति न, जघन्येषु तस्योत्पत्तेरभावात् ।  
नारकेषु तिर्यक्षु च कनिष्ठेषुत्पद्यमानास्तत्र तेभ्योऽधिकेषु किमिति नोत्पद्यन्त इति चेन्न,  
मिथ्यादृष्टीनां प्राग्बुद्धयुक्ताणां पश्चादात्तसम्यग्दर्शनानां नारकाद्युत्पत्तिप्रतिवन्धनं प्रति  
सम्यग्दर्शनस्यासामर्थ्यात् । तद्वदेवेष्वपि किन्न स्यादिति चेत्सत्यमिष्टत्वात् । तथा च

इन दोनों गुणस्थानोंसे युक्त जीवोंकी उत्पत्तिक देव और देवियोंमें भी उत्पत्ति होती है,  
अतएव उन दोनों गुणस्थानोंमें भी पर्याप्त और अपर्याप्तरूपसे उनका अस्तित्व सिद्ध हो  
जाता है । शेष कथन सुगम है ।

उक्त देव और देवियोंकी अपर्याप्त अवस्थामें नहीं होनेवाले गुणस्थानोंके प्रतिपादन  
करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असत्यतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें पूर्वोक्त देव नियमसे पर्याप्त होते  
हैं और पूर्वोक्त देवियां नियमसे पर्याप्त होती हैं ॥ ९७ ॥

शंका—सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवकी उक्त देव और देवियोंमें उत्पत्ति मत होओ, यह  
ठीक है, स्योंकि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानके साथ जीवका मरण ही नहीं होता है । परतु यह  
यात नहीं बनती है कि मरनेवाला असत्यतसम्यग्दृष्टि जीव उक्त देव और देवियोंमें उत्पन्न  
नहीं होता है ?

समाधान—नहीं, स्योंकि, सम्यग्दृष्टिकी जघन्य देवोंमें उत्पत्ति नहीं होती है ।

शंका—जघन्य अवस्थाको प्राप्त नारकियोंमें और तिर्यक्षोंमें उत्पन्न होनेवाले  
सम्यग्दृष्टि जीव उनसे उत्पन्न अवस्थाको प्राप्त भवनवासी देव और देवियोंमें तथा कल्प-  
वासिनी देवियोंमें स्यों नहीं उत्पन्न होते हैं ?

समाधान—नहीं, स्योंकि, जो आयुर्कर्मका बन्ध करते समय मिथ्यादृष्टि थे और  
जिन्होंने तदनन्तर सम्यग्दर्शनको ग्रहण किया है ऐसे जीवोंकी नरकादि गतिमें उत्पत्तिके रोक  
नेकी सामर्थ्य सम्यग्दर्शनमें नहीं है ।

शंका—सम्यग्दृष्टि जीवोंकी जिसप्रकार नरकगति आदिमें उत्पत्ति होती है उत्ती-  
प्रकार देवोंमें स्यों नहीं होती है ?

समाधान—यह कहना ठीक है, स्योंकि, यह यात इष्ट ही है ।

ज्योतापि निमानानि, तापीवासीनो ज्योतिष्का । उक्त २ अ । ज्योतापि निमाननियोगा, तेषु मन्ता ज्योतिष्का ।  
स्था ५ ठा ७ उ [ अभि रा का ज्योतिक, ज्योतिक ]



परं सुसमवाप्नुवन्ति ततस्ते रूपप्रवीचाराः। यतः शुक्रमहाशुक्रयतारसहस्राणु देवाः देवाङ्गनानां मधुरसङ्गीतमृदुहसितललितकथितभूषणवश्रवणमन्त्रादेव परां प्रीतिमास्क्रन्दन्ति ततस्ते शब्दप्रवीचाराः। आनतप्राणतारणाच्युतकल्पेषु देवाः यतः स्वाङ्गनामनःसङ्कल्पमानादेव परं सुसमवाप्नुवन्ति ततस्ते मनःप्रवीचाराः। प्रवीचारो वेदनाप्रतीकारः। वेदनाभावाच्छेषाः देवाः अप्रवीचाराः अनन्तरतसुखा इति यावत्।

सम्यग्मिथ्यादृष्टिस्वरूपनिरूपणार्थमाह—

सम्भामिच्छादृष्टिद्वारेण नियमा पञ्जता ॥ ९९ ॥

सुगमत्वात्त्राव वक्तव्यमस्ति।

शेषदेवेषु गुणस्थानस्वरूपनिरूपणार्थमाह—

अणुदिस-अणुत्तरं विजय-वइजयंत-जयंतावराजितसम्बद्धसिद्धि-विमाणवासिय-देवा असंजदसम्भादृष्टि-द्वारेण सिया पञ्जता सिया अपञ्जता ॥ १०० ॥

मात्रसे ही परम सुखको प्राप्त होते हैं। इसलिये वे रूपसे प्रवीचार करनेवाले हैं। क्योंकि, शुक्र, महाशुक्र, शतार और सहस्रार कल्पोंमें रहनेवाले देव देवगान्धारोंके मधुर संगीत, कोमल हास्य, ललित शब्दोच्चार और भूषणोंके शब्द सुनने मात्रसे ही परम प्रीतिको प्राप्त होते हैं, इसलिये वे शब्दसे प्रवीचार करनेवाले हैं। क्योंकि, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत कल्पोंमें रहनेवाले देव अपनी स्त्रीका मनमें सकल्प करने मात्रसे ही परम सुखको प्राप्त होते हैं, इसलिये वे मनसे प्रवीचार करनेवाले कहे जाते हैं। वेदनाके प्रतीकारको प्रवीचार कहते हैं। उस वेदनाका अभाव होनेसे नव श्रेयसकसे लेकर ऊपरके सभी देव प्रवीचारपीहित अर्थात् निरन्तर सुखी हैं।

अब सम्यग्मिथ्यादृष्टि देवोंके स्वरूपके निर्णय करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें देव नियमसे पर्याप्तक होने हैं ॥ ९९ ॥

इस सूत्रका अर्थ सुगम होनेसे यहा पर अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं है।

अब शेष देवोंमें गुणस्थानोंके स्वरूपके निर्णय करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

नव अनुद्विशोंमें और विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि इन पांच अणुत्तर विमानोंमें रहनेवाले देव असयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं ॥ १०० ॥

१ स सि ६ ८ त ग वा ६ ८ वा ५

२ नैयमयानुत्तराणि विमानानि सतीलनुत्तरमिमानानि । अणु अणुत्तरं सर्वोत्तमेषु विमानविशेषेषु

पञ्चानमेव नामान्यस्यधादन्तदीपकार्थम्। ततः शेषस्वर्गनामान्यपि वक्तव्यानि । तानि च यथासारं वक्ष्यामः। एवं योगनिरूपणात्तर एव चतसृषु गतिषु पर्याप्तान्पर्याप्तकालविशिष्टासु सकलगुणस्थानानामभिहितमस्तिवत्सम् । शेषमार्गणासु असमर्थः किमिति नाभिधीयत इति चेत्, नोच्यते अनेनैव गतार्थत्वाद् गतिचतुष्टयव्यतिरिक्त-मार्गणाभावात्।

वेदविशिष्टगुणस्थाननिरूपणार्थमाह—

वेदानुवादेण आत्थि इत्थिवेदा पुरिसवेदा णनुंसयवेदा अवगद-वेदा चेदि ॥ १०१ ॥

दोपैरात्मानं परं च स्तृणाति छादयतीति स्त्री, स्त्री चासौ वेदश्च स्त्रीवेदः। अथना पुरुषं स्तृणाति आकाङ्क्षतीति स्त्री पुरुषःकाङ्क्षेत्थर्थः। स्त्रियं विन्दतीति स्त्रीवेदः। अथवा

ये पाव विमान सर्वसे अन्तमें हैं इस बातके प्रगट करनेके लिये पावों ही विमानोंके नाम कहे गये हैं, इसलिये शेष स्वर्गोंके नाम भी कहने चाहिये। परतु उनका वर्णन यथावसर करेंगे।

इसप्रकार योगमार्गणाके निरूपण करनेके अवसर पर ही पर्याप्त और अपर्याप्त काल युक्त चारों गतियोंमें सपूर्ण गुणस्थानोंकी सत्ता बतला दी गई।

शंका—शेष मार्गणाओंमें यह विषय क्यों नहीं कहा जाता है?

समाधान—नहीं, क्योंकि, इसी कथनसे शेष मार्गणाओंमें यह विषय आगया है, क्योंकि, चारों गतियोंको छोड़कर और कोई मार्गणाएं नहीं हैं।

अब वेदसहित गुणस्थानोंके निरूपण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

वेदमार्गणाके अनुवादसे स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद और अपगतवेदवाले जीव होते हैं ॥ १०१ ॥

जो देवोंसे स्वयं अपनेको और दूसरोंको आच्छादित करती है उसे स्त्री कहते हैं और स्त्रीरूप जो वेद है उसे स्त्रीवेद कहते हैं। अथवा, जो पुरुषकी आकांक्षा करती है उसे स्त्री कहते हैं, जिसका अर्थ पुरुषकी चाह करनेवाली होता है। जो अपनेको स्त्रीरूप अनुभव करता है उसे स्त्रीवेद कहते हैं। अथवा वेदन करनेको वेद कहते हैं और स्त्रीरूप वेदको स्त्रीवेद

उपपाती जमानुत्तरोपपात । म ६ श ६ उ आधि ण मते अणुत्तरोवाहरा देवा । इता । आत्थि । म कण्ठे ण मते ? एव वृषद् अणुत्तरोवाहरा देवा ? गोयमा । अणुत्तरोवाहराण अणुत्तरा सदा, अणुत्तरा ल्ता, जाव अणुत्तरा फामा, से तेण्ठे ण गोयमा । एण तुज्ज जाव अणुत्तरोवाहरा देवा । म १४ श ७ उ (आधि रा को अणुत्तरोवाहरा)

वेदने वेदः, त्रियो वेदः त्रिवेदः । उक्तं च—

छादेति मय द्रोमेण यदो छादह परं हि द्रोसेण ।

छादणतीत्या जग्धा ताहा सा वणिण्या इत्थो ॥ १७० ॥

पुरुगुणेषु पुरुभोगेषु च श्रेते स्वपितीति पुरुषः । सुपुत्रपुरुषपददुगतगुणोऽप्राप्त-  
भोगश्च यदृदयाजीवो भवति स पुरुषः अङ्गनाभिलाष इति यावत् । पुरुगुणं कर्म श्रेते  
स्मृतीति वा पुरुषः । कथं स्व्यभिलाषः पुरुगुणं कर्म कुर्यादिति चेन्न, तथाभूतसामर्थ्यादि-  
विद्वितीयमहचरितत्वात्पचारेण जीवस्य तत्कर्तृत्वाभिधानात् । तस्य वेदः पुंवेदः ।

उक्तं च—

पुरु-गुण-भोगे सेदं करोदि लोगन्हि पुरुगुण कर्म ।

पुरु उत्तमो य जग्धा तग्धा सो वणिणदो पुरिसो ॥ १७१ ॥

न स्त्री न पुमान्पुंसकथुभयाभिलाष इति यावत् । उक्तं च—

कहते ६ । क्हा मी न्—

नो मित्रात्रयन्, अजल और असयस आदि दोगोंसे अपनेको आच्छादित करती है  
और मयुर सभाषण, कटाक्ष निक्षेप आदिके द्वारा जो दूसरे पुल्लिंगोंको भी अप्रसन्न आदि दोगोंसे  
आच्छादित करती है, उनको आच्छादणशील होनेके कारण स्त्री कहा है ॥ १७० ॥

जो उत्कृष्ट गुणोंमें और उत्कृष्ट भोगोंमें शयन करता है उसे पुल्ल्य कहते हैं । अथवा,  
जिस कर्मके उदात्ते जीव, सोने हुए पुरुषके समान, गुणोंसे अनुगत होता है और भोगोंको  
प्राप्त करती करता है उसे पुल्ल्य कहते हैं । अर्थात् स्त्रीत्ववन्धी अभिलाषा जिसके पारि जाती है  
उसे पुल्ल्य कहते हैं । अथवा, जो श्रेष्ठ कर्म करता है वह पुल्ल्य है ।

शंता—जिसके रीतिरिपयक अभिलाषा पाई जाती है वह उत्तम कर्म कैसे कर  
सकता है ?

मयाधान—नाह, स्थायिक, उत्तम कर्मको करेकरूप सामर्थ्यसे युक्त जीवके स्त्रीविषयक  
अभिलाषा पाई जाती है, अतः वह उत्तम कर्मको करता है ऐसा कथन उपचारसे किया है ।  
कहा भी है—

जो उत्तम गुण और उत्तम भोगोंमें स्वाभीषेता अनुभव करता है, जो लोकमें उत्तम  
गुणयुक्त कर्म करता है और जो उत्तम है उसे पुल्ल्य कहा है ॥ १७१ ॥

जो न स्त्री है और न पुरुष है उसे नपुंसक कहते हैं अर्थात् जिसके स्त्री और पुरुष-  
विषयक दोनों प्रकारकी अभिलाषा पाई जाती है उसे नपुंसक कहते हैं । कहा भी है—

१ गो जी २७४ नमस मनुमिपिदिः मीशेन्वाद्यत्रयवर्तनाद्विद्वद्व्यपार । जी प्र. टी

२ सा वा २७३ पुनने तप्यमानाभिरुपगुहे । पुनने न उन्नागे द्रुदेरेत्रायविभ्रमोपचये ।  
पुनने च्चै भ्रमोरेभने, ए तप्यमानाभिरुपगुहे । पुनने परमपिपदे । जी प्र टी

नेत्रियी नेत्र पुमं णवुसओ उभय लिग-नदिरितो ।

इष्टानाग-समाणग-नेयण गरुओ कलुस चित्तो ॥ १७२ ॥

अपगतास्त्रयोऽपि वेदसंतापा येपा तेऽपगतवेदाः । प्रक्षीणान्तर्दाहा इति यावत् ।

सर्वत्र सन्तीत्यभिसन्धः कर्तव्यः । उक्तं च—

कारिस-तणिडिवागग्नि-सरिस-परिणाम-वेद्यणुमुक्ता ।

अगय-वेदा जीवा सग-संमवणत-वर-सोमखा ॥ १७३ ॥

वेदवतां जीवानां गुणस्थानादिषु सच्यप्रतिपादनार्थमुत्तरस्रमाह—

इत्थिवेदा पुरिहवेदा असणिणभिच्छाइडि-पहुडि जाव अणि-  
शट्टि ति ॥ १०२ ॥

उभयवेदयोरक्रमेणैकस्मिन् प्राणिनि सच्यं ग्रामोतीति चेन्न, विरुद्धयोरक्रमेणै-

जो न स्त्री है और न पुरुष है, किन्तु स्त्री और पुरुषत्ववन्धी दोनों प्रकारके लिंगोंसे  
रहित है, अर्थात् आदिके समान तीन वेदनासे युक्त है और सर्वदा स्त्री और पुरुष विषयक  
मैथुनकी अभिलाषासे उत्पन्न हुई वेदनासे जिसका चित्त कलुषित है उसे नपुंसक कहते हैं ॥ १७२ ॥  
जिनके तीनों प्रकारके वेदोंसे उत्पन्न होनेवाला संताप ( अन्तरग दाह ) दूर हो गया है  
वे वेदरहित जीव हैं ।

सत्रमें कहे गये सभी पदोंके साथ ' सन्ति ' पदका सान्ध कर लेना चाहिये ।  
कहा भी है—

जो क्षारीण ( कण्टकी ) आग्नि, वृणाग्नि, और इष्टपाकाग्नि ( अवेकी आग्नि ) के समान  
परिणामोंसे उत्पन्न हुई वेदनासे रहित है और अपनी आत्मामें उत्पन्न हुए अन्त और उत्कृष्ट  
सुखके भोक्ता है उन्हें वेदरहित जीव कहते हैं ॥ १७३ ॥

अब वेदोंसे युक्त जीवोंके गुणस्थान आदिकर्म अस्तित्वके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका  
मन्त्र कहते हैं—

स्त्रीवेद और पुरुषवेदवले जीव असती भित्याद्यष्टिसे लेकर अनिष्टित्तिकरण गुणस्थान  
तक होते हैं ॥ १०२ ॥

शंका—इसप्रकार तो दोनों वेदोंका एकसाथ एक जीवमें अस्तित्व प्राप्त हो जायगा?

२ गो जी २७५ त तापि रीपुन्याभिरुपपतीव्रमामंदनाच्छाणा गागपुपकमदास्तति ताचार्यस्य  
तापर्यं ज्ञान्य । जी प्र टी

२ गो जी २७६ यमपि अपगतं दानिष्टित्तिकरणदीना वेदोदयजनिन हागमेदनाम्पमद्वेगामान तथापि  
गुणस्थानतीतधुक्तामनां त्नाभोग्युखमस्त्राव नानाशिशुणमद्रामदशित । परमार्युया तु अपगतं वेदानामपामापि  
नानीपयोगस्त्रास्पृक्षणपरमानदो जीमस्वसामोऽस्तीति निगन्त्य । जी प्र टी

कस्मिन् सच्चविरोधोत् । कथं पुनस्तयोस्तत्र सच्चमिति चेद्विन्नजीवद्रव्याधारतया पर्यायैकद्रव्याधारतया च । तत्र न नपुंसकवेदस्याभावः तत्र द्वौवेव वेदो भवत इत्यवधारणभावात् । तच्छुतोऽसीयत इति चेत् 'तिरिक्त्वा ति-वेदा असण्णिपांचिदिय-प्पहुडि जाव संजदासंजदा ति । मणुस्सा ति-वेदा मिच्छाडि-प्पहुडि जाव अणियडि ति' एतस्मादापात् । सुगममन्यत् ।

नपुंसकवेदसच्चप्रतिपादनार्थमाह—

**णपुंसयवेदा एहंदिय-प्पहुडि जाव अणियडि ति ॥ १०३ ॥**

एकेन्द्रियाणां न द्रव्यवेद उपलभ्यते, तदनुपलब्धौ कथं तस्य तत्र सच्चमिति समाधान--नहीं, क्योंकि, विरुद्ध दो धर्मोंका एकसाथ एक जीवमें सद्भाव माननेमें विरोध आता है ।

शंका—तो फिर नववें गुणस्थानतक इन दोनों वेदोंकी एकसाथ सत्ता कैसे बनेगी ? समाधान - भिन्न भिन्न जीवोंके आधारपेनकी अपेक्षा, अथवा, पर्यायरूपसे एक जीवद्रव्यके आधारपेनकी अपेक्षा नववें गुणस्थानतक इन दोनों वेदोंकी सत्ता बन जाती है । अर्थात् एक कालमें भी नाना जीवोंमें अनेक वेद पाये जा सकते हैं और एक जीवमें भी पर्यायी अपेक्षा कालभेदसे अनेक वेद पाये जा सकते हैं ।

नववें गुणस्थानतक नपुंसक वेदका अभाव नहीं है, क्योंकि, नववें गुणस्थानतक दो ही वेद होते हैं ऐसे अवधारणका ( सूत्रमें ) अभाव है ।

शंका—यह बात कैसे जानी जाय कि नववें गुणस्थानतक तीनों वेद होते हैं ?

समाधान—'असक्ती पचेन्द्रियसे लेकर सयतासयत गुणस्थानतक तिर्यच तीनों वेदवाले होते हैं, और, मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर अनिष्टवृत्तिकरण गुणस्थानतक मनुष्य तीनों वेदोंसे युक्त होते हैं' इस आगम-वचनसे यह बात जानी जाती है कि नववें गुणस्थानतक तीनों वेद हैं । शेष कथन सुगम है ।

अब नपुंसकवेदके सत्त्वके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

एकेन्द्रियसे लेकर अनिष्टवृत्तिकरण गुणस्थानतक नपुंसकवेदवाले जीव पाये जाते हैं ॥ १०३ ॥

शंका—एकेन्द्रिय जीवोंके द्रव्यवेद नहीं पाया जाता है, इसलिये द्रव्यवेदकी उपलब्धि नहीं होने पर एकेन्द्रिय जीवोंमें नपुंसक वेदका अस्तित्व कैसे बतलाया ?

१ वेदानुवादेन त्रिषु वेदेषु मिथ्यादृष्टयानिष्टवृत्तिनादरात्तानि सति । स सि १ ८ यात्रकायप्पहुदो हतो मत्ता असण्णिआदी य । अणियडिस्स य पदमो मागो ति जिणेहि णिडिड ॥ गो जी ३८५

चेन्माभूत्तत्र द्रव्यवेदः तस्यात्र प्राधान्याभावात् । अथवा नानुपलब्ध्या तदभावः सिद्धचेत्, सकलप्रमेयव्याप्युपलम्भवलेन तत्सिद्धिः । न स छद्मस्थेष्वस्ति । एकेन्द्रियाणाम-प्रतिपन्नस्त्रीपुरुषाणां कथं स्त्रीपुरुषविषयामिहापे घटत इति चेन्न, अप्रतिपन्नस्त्रीवेदेन भूमिगृहान्तर्बुद्धिमुपगतेन यूना पुरुषेण व्यभिचारात् । सुगममन्यत् ।

अपगतवेदजीवप्रतिपादनार्थमाह—

**तेण परमवगदेवदा चेदि ॥ १०४ ॥**

समाधान—एकेन्द्रियोंमें द्रव्यवेद मत होओ, क्योंकि, उसकी यहां पर प्रधानता नहीं है । अथवा, द्रव्यवेदकी एकेन्द्रियोंमें उपलब्धि नहीं होती है, इसलिये उसका अभाव नहीं सिद्ध होता है । किंतु संपूर्ण प्रमेयोंमें व्याप्त होकर रहनेवाले उपलम्भप्रमाणसे ( केवलज्ञानसे ) उसकी सिद्धि हो जाती है । परंतु वह उपलम्भ ( केवलज्ञान ) छद्मस्थोंमें नहीं पाया जाता है ।

विशेषार्थ—इन्द्रियप्रत्यक्षसे एकेन्द्रियोंमें वेदकी अनुपलब्धि सच्ची अनुपलब्धि नहीं है, क्योंकि, एकेन्द्रियोंमें यद्यपि इन्द्रियोंसे द्रव्यवेदका ग्रहण नहीं होता है तो भी सकल प्रमेयोंमें व्याप्त होकर रहनेवाले केवलज्ञानसे उत्पन्न होता है । अत एकेन्द्रियोंमें इन्द्रिय प्रमाणके द्वारा द्रव्यवेदका अभाव नहीं किया जा सकता है ।

शंका--जो स्त्रीभाव और पुरुषभावसे सवर्था अनभिन्न है ऐसे एकेन्द्रियोंके स्त्री और पुरुषविषयक अभिलाषा कैसे बन सकती है ?

समाधान--नहीं, क्योंकि, जो पुरुष स्त्रीवेदसे सर्वथा अज्ञात है और भृगुहृके भीतर बुद्धिको प्राप्त हुआ है, ऐसे पुरुषके साथ उक्त कथनका व्यभिचार देखा जाता है ।

विशेषार्थ—यदि यह मान लिया जाय कि एकेन्द्रिय जीव स्त्री और पुरुषसंबन्धी भेदसे सर्वथा अपरिचित होते हैं, इसलिये उनके स्त्री और पुरुषसंबन्धी अभिलाषा नहीं उत्पन्न हो सकती है, तो जो पुरुष जन्मसे ही एकान्तमें बुद्धिको प्राप्त हुआ है और जिसने स्त्रीको कभी भी नहीं देखा है उसके भी युवा होने पर स्त्रीविषयक अभिलाषा नहीं उत्पन्न होना चाहिये । परंतु उसके स्त्रीविषयक अभिलाषा देखी जाती है । इससे सिद्ध है कि स्त्री और पुरुषसंबन्धी अभिलाषाका कारण स्त्री और पुरुषविषयक ज्ञान नहीं है । किंतु वेदकर्मके उदयसे वह अभिलाषा उत्पन्न होती है । वह एकेन्द्रियोंके भी पाया जाता है, अतएव उनके स्त्री और पुरुषविषयक अभिलाषाके होनेमें कोई दोष नहीं आता है ।

शेष व्याख्यान सुगम है ।

अब वेदरहित जीवोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

नववें गुणस्थानके सवेद भागके आगे जीव वेदरहित होते हैं ॥१०४ ॥

१ अपगतन्देवु जानिष्टुत्तिनादरावयोगायेत्यत्तानि । स सि १ ८



\* १७१ \*

श्रेयणुणसमिष्टिणाः संसृषि प्राणिनेऽपगतवेदाः । न द्रव्यवेदस्यागावस्तेन  
सिद्धाभावात् । श्रितिरुतोऽत्र भागवेदस्त्वत्सदृग्भावाद्दृग्गतवेदो नान्यथेति ।

वेदादेवप्रतिपादनार्थमाह—

णेरइया चटुसु द्वाणेसु सुद्धा णडुंसयवेदा ॥ १०५ ॥

नारकेषु अंत्यंदाभावाः रुथमगरीयत इति चेत् 'सुद्धा णडुंसयवेदा' इत्यापात्तं ।  
अप्यंदां तत्र क्रिमिति न स्यातामिति चेन्न, अनवरतदुःखेषु तत्तत्प्रविरोधात् । स्त्रीपुरुष-  
वेदादपि दुःखमेवेति चेन्न, दृष्टकापाकाशिममानमन्तापान्यूनतया तार्णकारीयाशिममान-  
पुरुषमीदयोः सुयस्वरूपात् ।

निर्यगतीं वेदनिरूपणार्थमाह—

तिरिक्त्वा सुद्धा णडुंसयवेदा एइंदिय-पहुडि जाव चउरिंदिया  
ति ॥ १०६ ॥

नर्तों गुणस्थानके सवेद भावाये आगे शेष गुणस्थानोंको प्राप्त हुए जीव वेदरहित होते  
हैं । परंतु उनके गुणस्थानोंमें द्रव्यवेदका अभाव नहीं होता है, क्योंकि, केवल द्रव्यवेदसे  
कोई विचार ही उपलब्ध नहीं होता है । यद्यपि वे तो भाववेदका अधिकार है । इसलिये भाव-  
वेदके अभावसे ही उन जीवोंको वेदरहित जानना चाहिये, द्रव्यवेदके अभावसे नहीं ।

अथ वेदका मार्गणाओंमें प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

नारकी तिव नारों ही गुणस्थानोंमें शुद्ध ( केवल ) नंपुसकवेदी होते हैं ॥ १०५ ॥

शंका—नारकीयोंमें नंपुसकवेदको छोड़कर दूसरे वेदोंका अभाव है, यह कैसे  
जाना जाता है ?

ममाधान—'नारकी गुण नंपुसकवेदी होते हैं, इस आर्पवचनसे जाना जाता है  
कि नरा अन्य वेद नहीं होते हैं ।

शंका—तदा पर शेष वेद क्यों नहीं होते हैं ?

ममाधान—'इसलिये नहीं होते कि निरन्तर दुःखी जीवोंमें शेष वेदोंके सद्भाव  
माननेमें विशेष आता है ।

शंका—स्त्री और पुरुषोंसे भी तो शुद्ध ही होता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, नंपुसक वेद अर्थात् आश्रिके समान सत्तापसे स्यूत नहीं है,  
यद्यपि उससे हीन गुण और कण्डुकी आश्रिके समान पुरुषवेद और स्त्रीवेद सुन्दर रूप हैं ।

अथ निर्यगतीं वेदोंके निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

तिर्यच पकेन्द्रिय जीवोंसे लेकर चतुरिन्द्रियतक शुद्ध नंपुसकवेदी होते हैं ॥ १०६ ॥

अत्र शेषवेदाभावाः कुतोऽसीयत इति चेत् 'सुद्धा णडुंसयवेदा' इत्यापात्तं ।  
पिपीलिकानामण्डुर्दानात् ते नंपुसका इति चेन्न, अण्डानां गर्भे एतत्पत्तिरिति नियमा-  
भावात् । विश्वहृगतौ न वेदाभावात्सत्राप्यव्यक्तवेदस्य मत्सरा ।

अपतिरश्रां कियन्तो वेदा इति शङ्कितशिव्यागङ्गानिराकरणार्थमाह—

तिरिक्त्वा तिवेदा असणिणपंचिंदिय-पहुडि जाव संजदासंजदा  
ति ॥ १०७ ॥

त्रयाणा वेदानां कर्मणेत्र प्रवृत्तिर्नाक्रमेण पर्यायत्वात् । कर्मायवचनान्तमुद्धृत्यायानि-  
वेदा आजन्मनः आसर्णात्तदुदयस्य सत्त्वात् । सुगममन्यत् ।

मनुष्यवेदप्रतिपादनार्थमाह—

मणुस्सा तिवेदा भिच्छाइडि-पहुडि जाव अणियट्टि ति ॥ १०८ ॥

शंका—चतुरिन्द्रियतकके जीवोंमें शेष वेदोंका अभाव है, यह कैसे जाना जाय ?  
ममाधान—'पकेन्द्रियसे चतुरिन्द्रियतक जीव शुद्ध नंपुसकवेदी होते हैं,' इस  
आर्पवचनसे जाना जाता है कि इनमें शेष वेद नहीं होते हैं ।

शंका—वीटियोंके अण्डे देखे जाते हैं, इसलिये वे नंपुसकवेदी नहीं हो सकते हैं ?

ममाधान—'अण्डोंकी उत्पत्ति गर्भमें ही होती है, ऐसा कोई नियम नहीं है ।

विशेषार्थ—'मत्ता पिताके शुक्र और शोणितसे गर्भधारणा होती है । इसप्रकार गर्भ-  
धारणा वीटियोंके नहीं पाई जाती है । अतः उनके अण्डे गर्भज नहीं समतना चाहिये ।

विश्वहृगतिसमें भी वेदका अभाव नहीं है, क्योंकि, वहा पर भी अव्यक्तवेद पाया जाता है ।  
शेष तिर्यकोंके कितने वेद होते हैं, इसप्रकारकी आशङ्कसे युक्त शिष्योंकी शंकाके  
दूर करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

तिर्यच असखी पचेन्द्रियसे लेकर संयतासंयत गुणस्थानतक तीनों वेदोंसे युक्त  
होते हैं ॥ १०७ ॥

तीनों वेदोंकी प्रवृत्ति कमसे ही होती है युगापत्त नहीं, क्योंकि, वेद पर्याय है । जैसे,  
विवक्षित कर्माय केवल अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त रहती है, वैसे सभी वेद केवल एक अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त  
ही नहीं रहते हैं, क्योंकि, जन्मसे लेकर मरणतक भी किसी एक वेदका उदय पाया जाता है ।  
शेष कथन सुगम है ।

मनुष्यगतिसमें विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

मनुष्य मिथ्याश्रित गुणस्थानसे लेकर अनिबृत्तिकरण गुणस्थानतक तीनों वेदवाले  
होते हैं ॥ १०८ ॥

संयतानां कथं त्रिवेदसत्त्वमिति चेन्न, अव्यक्तवेदसत्त्वापेक्षया तत्र तथोक्तम् ।  
सुगममन्यत् ।

वेदत्रयतीतजीवप्रतिपादनार्थमाह—

तेण परमवगदवेदा चेदि ॥ १०९ ॥

सर्वत्र च-शब्दः समुच्चये दृष्टव्यः एते च पूर्वोक्ताश्च सन्तीति । इति शब्दः सर्वत्र समाप्तौ परिगृहीतव्यः । सुगममन्यत् ।

वेदादेशप्रतिपादनार्थमाह—

देवा चतुसु द्वाणेषु दुवेदा, इत्थिवेदा पुरिसवेदा ॥ ११० ॥

सानत्कुमारमोहन्द्रादुपरि पुरुषवेदा एव । यत्नन्तरेण तत्कथं लभ्यत इति चेत् 'तेण परमवगदवेदा चेदि' अत्रतन च शब्दो यतोऽनुक्तसमुच्चयार्थं तस्मात्सानत्कुमारदीनां पुंवेदत्वमवसीयते । तिर्यङ्मनुष्यलब्ध्यपर्यायाः सम्मूर्च्छिमपञ्चेन्द्रियाथ नपुंसका एव । असंख्येयवर्षाण्युपस्तिर्यञ्चो मनुष्याथ द्विवेदा एव, न नपुंसकवेदाः इत्यादयोऽ-

शंका—सद्यत्तेके तीनों वेदोंका सत्त्व कैसे समझ है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, अव्यक्तरूपसे वेदोंके अस्तित्वकी अपेक्षा वहां पर तीनों वेदोंकी सत्ता कही । शेष कथन सुगम है ।

अब तीनों वेदोंसे रहित जीवोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—  
नववें गुणस्थानके सेवेद भागसे आगेके सभी गुणस्थानवाले जीव वेदरहित हैं ॥१०९॥  
सब जगह च शब्द समुच्चयरूप अर्थमें जानना चाहिये । अर्थात् वेदरहित और पहले कहे हुए वेदवाले जीव होते हैं । इति शब्द सब जगह समाप्तिरूप अर्थमें ग्रहण करना चाहिये । शेष कथन सुगम है ।

अब देवगतिमें विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

देव चार गुणस्थानोंमें स्त्री और पुरुष इसप्रकार दो वेदवाले होते हैं ॥ ११० ॥

सानत्कुमार और माहेन्द्र कल्पसे लेकर ऊपर सभी देव पुरुषवेदी ही होते हैं ।

शंका—यत्नके बिना अर्थात् बिना आगम प्रमाणके यह बात कैसे जानी जाय ?

समाधान—'तेण परमवगदवेदा चेदि' इस सूत्रमें आया हुआ च शब्द अनुक्त अर्थके समुच्चयके लिये है । इसलिये इससे यह जाना जाता है कि सानत्कुमार और माहेन्द्र कल्पसे लेकर ऊपरके देव एक पुरुषवेदी ही होते हैं ।

उसीप्रकार, लब्ध्यपर्याप्तक तिर्यच और मनुष्य तथा सम्पूर्ण पंचेन्द्रिय जीव नपुंसक ही होते हैं । असंख्यान वर्षकी आयुवाले मनुष्य और तिर्यच ये दोनों स्त्री और पुरुष ये दो

सुक्तास्त एवावसेयाः ।

वेदद्वारेण जीवपदार्थमभिधाय कषायमुखेन जीवसमासस्थाननिरूपणार्थमाह—

कसायाणुवादेण अत्थि कोधकसाई माणकसाई मायकसाई  
लोभकसाई अकसाई चेदि ॥ १११ ॥

कषायिसामान्यनैकत्वाद्ब्रह्मनामप्येकवचनं घटते क्रोधकषायी मानकषायी माया-  
कषायी लोभकषायी अकषायीति । अथवा नेदमेकवचनं 'एए सोहति सिही णचता  
गिरिवरस्स सिहरम्मि' इत्येवमादिवहुत्वेऽपि एवंविधरूपोपलम्भमादनेकान्तात् । अथ  
स्यात्क्रोधकषायः मानकषायः मायाकषायः लोभकषायः अकषाय इति वक्तव्यं कषायेभ्य-  
सद्भता भेदात् इति न, जीवेभ्यः पृथक् क्रोधाद्यनुपलम्भात् । तयोर्भेदाभावे कथं  
भिन्नं तन्निर्देशो घटत इति चेन्न, अनेकान्ते तदविरोधात् । शब्दनयाश्रयणे क्रोधकषाय

वेदवाले होते हैं, नपुंसक नहीं होते हैं । इत्यादि अनुक्त अर्थ भी उसी च शब्दसे जान लेना ।  
वेदमार्गणके द्वारा जीव पदार्थको कहकर अब कषाय मार्गणके द्वारा गुणस्थानोंके  
निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

कषाय मार्गणके अनुवादसे क्रोधकषायी, मानकषायी, मायाकषायी, लोभकषायी और  
कषायरहित जीव होते हैं ॥ १११ ॥

कषायी-सामान्यकी अपेक्षा एक होनेके कारण बहुतका भी एकवचनके द्वारा कथन  
बन जाता है । जैसे, क्रोधकषायी, मानकषायी, मायाकषायी, लोभकषायी और अकषायी ।  
अथवा, 'कोधकसाई' इत्यादि पद एकवचन नहीं हैं, क्योंकि, 'एए सोहति सिही णचता  
गिरिवरस्स सिहरम्मि' ( अर्थात् गिरिवरके शिखरपर नृत्य करते हुए ये मयूर शोभा  
पा रहे हैं । ) इत्यादि प्रयोगोंमें बहुत्वकी विवक्षा रहने पर भी 'कोधकसाई' की तरह 'सिही'  
इसप्रकार रूपोंकी उपलब्धि होती है । इसलिये इसप्रकारके प्रयोगोंमें अनेकान्त समझना चाहिये ।

शंका—सूत्रमें क्रोधकषायी आदिके स्थान पर क्रोधकषाय, मानकषाय, मायाकषाय,  
लोभकषाय और अकषाय कहना चाहिये, क्योंकि, कषायोंसे कषायवालोंमें भेद पाया जाता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जीवोंसे पृथक् क्रोधादि कषायें नहीं पाई जाती हैं ।

शंका—यदि कषाय और कषायवानमें भेद नहीं है तो भिन्न रूपसे उनका निर्देश कैसे  
बन सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, अनेकान्तमें भिन्न निर्देशके वन जानमें भी कोई विरोध  
नहीं आता है ।

विशेषार्थ—यद्यपि कषायदि धर्म जीवको छोड़कर स्वतन्त्र नहीं पाये जाते हैं, इस-

इति भवति तस्य अत्रशुद्धोऽर्थप्रतिपत्तिप्रवृत्तत्वात् । अर्थनयाश्रयणे क्रोधकपायीति  
स्याच्छब्दोऽर्थस्य भेदाभावात् । कृपायिचातुर्ध्यान्कृपायस्य चातुर्ध्वयस्यवगम्यत इति  
मा । तयोपदिष्टमात्रानुवृत्तमनुवादः कृपायानुवादः तेन कृपायानुवादेन ।  
प्रतिपत्त्यनुवृत्तमनुवादः । मिद्विभक्तिश्रया हि कृपाभावात् इति न्यायानुवादोऽनर्थकोऽ-  
नभिगाराधीयमनृत्वाभावादेति न, प्रमाहुर्येणापौरुषेयत्वतत्तीर्थकृदादयोऽस्य व्याख्या-  
त्वात् एतान् कर्तार इति भावार्थत्वात् । कः क्रोधकृपायः ? रोप आमर्थः संरम्भः ।  
को मानकृपायः ? रोपेण विधातपोजात्यादिभेदेन नान्यस्यानवन्तितः । निवृत्तिर्वचनाना  
मायाकृपायः । गद्गा काज्ञा लोभः । उक्तं च —

क्रोधो नीत्येने अस्मिन् । फिर भी धर्म धर्मभेदेन उनमें भेद वन जाता है, अतएव स्मिन्  
निर्देश करनेमें कोई आवश्यक नहीं आती है ।

अथवा, शब्दगत क्रोधकृपाय पर 'क्रोधकृपाय' इत्यादि प्रयोग वन जाते हैं, क्योंकि,  
शब्दगत शब्दानुसार अर्थमान करनेमें समर्थ है । और अर्थतयका आश्रय करने पर 'क्रोध-  
कृपाय' इत्यादि प्रयोग होते हैं, क्योंकि, इस नयनी दृष्टिमें शब्दसे अर्थका कोई भेद नहीं है ।  
अथवा, चार प्रकारके कृपायमान् जीव होते हैं । इससे कृपाय भी चार प्रकारकी हैं, ऐसा ज्ञान  
हो जाता है । इसलिये सूत्रमें 'क्रोधकृपाय' इत्यादि पदोंका प्रयोग किया है ।

अत्रप्रकार उपरोक्त दिया है उन्मीप्रकारके कथन करनेको अनुवाद कहते हैं । कृपायके  
भावात्मको कृपायानुवाद करते हैं । उससे अर्थात् कृपायानुवादसे जीव पांच प्रकारके होते हैं ।  
अथवा, प्राक्लि अर्थका अनुकूल कथन करनेको अनुवाद कहते हैं ।

अंश — 'कृपायार्थ' अर्थात् कथनपरपरपर प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध इन दोनोंके आश्रयसे  
प्रकृत होती है । इस न्यायके अनुसार यथा पर अनुवाद अर्थात् केवल प्रसिद्ध अर्थका अनुकूल  
कथन करना निष्कल है, इससे अनधिकृत अर्थका ज्ञान नहीं होता है ?

समाधान — नद्वय, क्योंकि, यद कथन प्रकाररूपसे अपौरुषेय होनेके कारण तीर्थकर  
गारि इसके केवल अगम्यमान करनेवाले ही हैं कर्ता नहीं हैं, इस बातका ज्ञान करनेके लिये  
अनुवाद परका कथन अनर्थक नहीं है ।

अंश — क्रोधकृपाय किये कहते हैं ?

समाधान — रोप, आमर्थ और संरम्भ इन सबको क्रोध कहते हैं ।

अंश — मानकृपाय किये कहते हैं ?

समाधान — रोपसे अथवा विद्या, तप और जाति आदिके मदसे दूसरेके तिरस्काररूप  
आपको मान कहते हैं ।

निवृत्ति या उच्यते मायाकृपाय कहते हैं । गद्गा या आक्रांशको लोभ कहते हैं  
इस भी है —

सिल-पुडवि-भेद-धूली-जल-सर्द-समाणओ हवे कोहो ।

गारय-निरिय-गारम-गार्डसु उप्पायओ क्रमसो' ॥ १७४ ॥

सेलट्टि-कट्ट-वेत्त णियभेरणयुहत्तओ माणो ।

गारय-निरिय-गारम-गार्ड-विसुप्पायओ क्रमसो' ॥ १७५ ॥

वेत्तुम्लोत्थमय-सिंणो गोमुत्तणण खोरुपे ।

सरिसी माया गारय-निरिय-गारमरेसु जणइ जिअ' ॥ १७६ ॥

किमिणय-चक्क-तणु-मल-हारिद-राणण सरिसओ लोहो ।

गारय-निरिय-माणम-देविसुप्पायओ क्रमसो' ॥ १७७ ॥

क्रोधकृपाय चार प्रकारका है । पत्थरकी रेखाके समान, पृथिवीकी रेखाके समान,  
धूलिरेखाके समान और जलरेखाके समान । ये चारों ही क्रोध क्रमसे नरक, तिर्यंच, मनुष्य  
और देवगतिमें उत्पन्न करानेवाले होते हैं ॥ १७४ ॥

मान चार प्रकारका होता है । पत्थरके समान, हड्डीके समान, काठके समान तथा  
वेनके समान । ये चार प्रकारके मान भी क्रमसे नरक, तिर्यंच मनुष्य और देवगतिके  
उत्पादक हैं ॥ १७५ ॥

माया भी चार प्रकारकी है । बांसकी जड़के समान, मेढके सींगके समान, गोसूजके  
समान तथा खुरपाके समान । यह चार प्रकारकी माया भी क्रमसे जीवको नरक, तिर्यंच-  
मनुष्य और देवगतिमें ले जाती है ॥ १७६ ॥

लोभकृपाय भी चार प्रकारका है । किमिरागके समान, चक्रमलके समान, शरीरके  
मलके समान और हृदयके रगके समान । यह भी क्रमसे नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव,  
गतिका उत्पादक है ॥ १७७ ॥

१ गो जी २८४ तच्छक्तियुक्तक्रोधकृपायपरिणतो जीव तद्व्युत्पत्तिकारणतत्त्वयुग्ं यानुवृ-यादि-  
प्रकृतींमतातीर्थ्य । अत्र राजियन्धो रंथार्थवची ननु पत्तिनाची । यथा गिलादिभेदानां चित्तरात्रिणीशीतरकालेविना  
अनुमन्धान न घटते तयोक्त्यादिसक्तियुक्तक्रोधपरिणतो जीवोऽपि तथात्रिकालैर्निना धमालक्षणसधानाहं न स्यात्  
इत्युपानोपमेययो सात्स्य समन्तीति तात्पर्यार्थ । जी प्र दी गणयुदविवाद्युगोद्व्यारार्थमसि चञ्चिहो मोहो ।  
न मायपाहुः । जलरेखुदुदुपिपव्वरार्थसिसि चञ्चिहो कोहो । क प्र १ १९

२ गो जी २८५. मेलधणअट्टिवाकज्जलदागमाणो इवदि माणो ॥ इमायपहुट तिणितलयाकट्टियज्जे-  
कथमोवमो माणो । क प्र १ १९

३ गो. जी २८६ वमीजण्डुमणिसी मेद्विसाणसरिसी य गोसुची । अयलेष्णीमसाणा माया पि चउचिहा  
मणिदा ॥ इमायपहुट मायाजलेदिगोसुविमिदसिगणनवमिपूलसमा । क. प्र १ २०

४ गो. जी २८७. किमिरागत्तयमणो जसवमलमणो य पहलेवमणो । इत्थिद्वयममणो लोमो वि

सकलकृपायाभावोऽकृपायः । उक्तं च —

अप्य-परोभय-बाधणे-बाधासजम-णित्त-कोधादी ।

जेसि गल्लि कत्ताया अमला अकसाइणो जीवा' ॥ १७८ ॥

कृपायाध्वानप्रतिपादनार्थमाह—

कोधकसाई माणकसाई मायकसाई एइंदिय-प्पहुडि जाव  
अणियट्टि ति' ॥ ११२ ॥

यतीनामपूर्वकरणदीना कथं कृपायास्तित्वमिति चेन्न, अव्यक्तकृपायापेक्षया  
तथोपदेशात् । सुगममन्यत् ।

लोभस्याध्वाननिरूपणार्थमाह—

सपूर्णा कृपायोंके अभावको अकृपाय कहते हैं । कहा भी है—

जिनके, स्वयं अपनेको दूसरेको तथा दोनोंको बाधा देने, बन्ध करने और असयम  
करनेमें निमित्तभूत क्रोधादि कृपाय नहीं हैं, तथा जो बाह्य और आभ्यन्तर मलसे रहित हैं  
पेसे जीवोंको अकृपाय कहते हैं ॥१७८॥

अब कृपायमार्गणके विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

एकेन्द्रियसे लेकर अनिष्टनिकरण गुणस्थानतक क्रोधकृपायी, मानकृपायी और माया-  
कृपायी जीव होते हैं ॥ ११२ ॥

शंका—अपूर्वकरण आदि गुणस्थानवाले साधुओंके कृपायका अस्तित्व कैसे पाया  
जाता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, अव्यक्त कृपायकी अपेक्षा वधा पर कृपायोंके अस्तित्वका  
उपदेश दिया है । श्रेय कथन सुगम है ।

अब लोभकृपायके विशेष प्ररूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

नउन्निहो मणिदो ॥ कृपायहुड लोहो हल्लिखजणकदमकिभिरागसामाणो । क प्र १ २०

१ गो जी २८९ ययपि उपयातकृपायदिचतुसुणस्थानमतिनीडपि जकपाया अमलाध्र यथासम  
द्रव्यमानमरपीहिता मति तथापि तेवा गुणस्थानप्ररूपणयव अकृपायत्वसिद्धिरतीति ज्ञातव्य । तथाही, कथ्यचिञ्जीवस्य  
कोधादिकृपाय स्वयन पचनहेतु स्वसिरोपिघातादिबाधाहेतु हिंसाघसमकतुथ भवति । कथ्यचिञ्जीवस्य कोधादि-  
कृपाय पत्स्य सखन्नादेऽविवनयवनाममहेतुर्भवति । कस्यपि कण्ठकण्डिजीवस्य कोधादिकृपाय स्वपरयोरपि यथा-  
सभा वा ननकथनात्तायमहेतुर्भवति इति निभाग लोकानुसारेण आगामानुसारेण च दृश्य । जी प्र टी

२ कृपायानुवादेन कोधमानमानासु मियाण्टादीनि अनिष्टनिकरणस्थानात्तानि मति । म नि १ ८

लोभकसाई एइंदिय-प्पहुडि जाव सुहुम-सांपराइय-सुद्धि-संजदा  
ति' ॥ ११३ ॥

श्रेयकृपायोदयविनाशे लोभकृपायस्य विनाशानुपपत्तेः लोभकृपायस्य सूक्ष्म-  
साम्परायोऽवधिः ।

अकृपायोपलक्षितगुणप्रतिपादनार्थमाह—

अकसाई चटुसु टाणेसु अत्थि उवसंतकसाय-वीयराय-छटु-  
मत्था खीणकसाय-वीयराय-छटुमत्था सजोगिकेवली अजोगिकेवलि  
ति' ॥ ११४ ॥

उपशान्तकृपायस्य कथमकृपायत्वमिति चेत्, कथं च न भवति ? द्रव्यकृपायस्या-  
नन्तस्य सत्त्वात् । न, कृपायोदयाभावापेक्षया तस्याकृपायत्वोपपत्तेः । सुगममन्यत् ।  
कृपायसादेशः किमिति नोक्तमिति चेन्न, विशेषाभावतोऽनेनैव गतार्थत्वात् ।

लोभकृपायसे युक्त जीव एकेन्द्रियोंसे लेकर सूक्ष्मसांपरायण्युद्धिसयत गुणस्थान-  
तक होते हैं ॥ ११३ ॥

श्रेय कृपायोंके उदयके नाश हो जाने पर उसीसमय लोभकृपायका विनाश वन  
नहीं सकता है, इसलिये लोभकृपायकी अन्तिम मर्यादा सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान है ।

कृपायरहित जीवोंसे उपलक्षित गुणस्थानोंके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—  
कृपायरहित जीव उपशान्त कृपाय-वीतराग छद्मस्य, क्षीणकृपाय-वीतराग-छद्मस्थ,  
सयोनिकेवली और अयोगिकेवली इन चार गुणस्थानोंमें होते हैं ॥ ११४ ॥

शंका—उपशान्तकृपाय गुणस्थानको कृपायरहित कैसे कहा ?

प्रतिशान्त—वह कृपायरहित कथों नहीं हो सकता है ?

शंका—वधा अन्तत द्रव्यकृपायका सद्भाव होनेसे उसे कृपायरहित नहीं कह  
सकते हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, कृपायके उदयके अभावकी अपेक्षा उससे कृपायोंसे रहित-  
पत्ता बन जाता है । श्रेय कथन सुगम है ।

शंका—कृपायोंका विशेष ( मार्गणओंमें ) कथन कथो नहीं किया ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, कृपायोंके सामान्य कथनसे उनका मार्गणाओंमें कथन कर-  
नेमें कोई विशेषता नहीं है, इसलिये उसका ज्ञान हो जाता है । इसलिये आदेश प्ररूपणा नहीं की ।

१ लोभकृपाय तात्पर्य सूक्ष्मसांपरायण्यथासाधिक्यानि । स लि १ ८

२ अकृपाय उपगतात्पत्त्यव्यवधिनिमित्तोऽयोगिकेवली चेदि । न नि १ ८

ज्ञानमार्गके तीसरे अर्थके निरूपणार्थमाह—

गणानुवादांशु अस्थि मदि-अण्णाणी सुद-अण्णाणी विभंग-  
णाणी आभिनिवोहियणाणी सुदणाणी ओहिणाणी मणपज्जव-  
णाणी केवलणाणी चेदि ॥ १:१५ ॥

अत्रापि पूर्वतत्पर्यायपर्यायिणाः कवचिदभेदात्पर्यायिग्रहोऽपि पर्यायस्य ज्ञानस्यैव  
श्रुतं भवति । ज्ञानिना भेदात् ज्ञानभेदोऽवगम्यत इति वा पर्यायिद्वारेणोपदेशः ।  
ज्ञानानुवादेन कथमज्ञानस्य ज्ञानप्रतिपक्षस्य सम्भन इति चेत्, मिथ्यात्वसमेतज्ञानस्यैव  
ज्ञानकार्यान्तरगाढ-ज्ञानव्यपदेशान् पुत्रस्यैव पुत्रकार्यरुग्णाढपुत्रव्यपदेशवत् । किं तद्-  
ज्ञानकार्यमिति चेत्चरार्थं ह्येतिः प्रत्ययः श्रद्धा चारित्र्यस्पर्शनं च । अथवा प्रधानपद-  
मागिन्याज्ञानानामपि ज्ञानव्यपदेशः आत्मनमिति यथा । ज्ञानतीति ज्ञानं साकारोप-  
योगः । यथा ज्ञानान्यज्ञानीः । अथन्यनेनेति वा ज्ञानं ज्ञानान्तरणीयकर्मणः एकदेश-  
प्रशयान् समुद्रनासात्परिणामः आप्नोति वा । तदपि ज्ञानं द्विविधम्, प्रत्यक्षं परोक्षमिति ।

अत्र ज्ञानमार्गणके द्वारा जीव पदार्थके निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

ज्ञानमार्गणके अनुवादने मति-आत्मी श्रुतजानी, विभंगजानी, आभिनिवोहिकजानी,  
अण्णाणी, ओहिणाणी, मणपज्जवणी, ओद-अण्णाणी, सुद-अण्णाणी, विभंग-  
णाणी, आभिनिवोहियणाणी, सुदणाणी, ओहिणाणी, मणपज्जव-  
णाणी केवलणाणी चेदि ॥ १:१५ ॥

यहां हम नीचे पहले की तरह पर्याय और पर्यायोंमें कयाचित् अक्षेप दोनेसे पर्यायोंके  
क्रममें लगे हुए भी पर्यायरूप ज्ञानका ही श्रुतण होता है । अथवा, ज्ञानी कितने प्रकारके  
होते हैं इन बातके समझ लेनेसे ज्ञानके भेदोंका ज्ञान हो जाता है । इसलिये पर्यायोंके कथन-  
प्रकार यथापर उपदेश दिया है ।

शुद्धा—ज्ञान मार्गणके अनुवादने ज्ञानके प्रतिपक्षभूत अज्ञानका ज्ञानमार्गणमें  
कैसे सम्भन दे ?

मार्गमार्गण—नहीं, क्योंकि, भिन्नत्वसहित ज्ञानको ही ज्ञानका कार्य नहीं करतेसे  
ज्ञान कहा है । अर्थात्, पुत्रोचित कार्यको नहीं करतेवाले पुत्रको ही अनुप कहा जाता है ।  
अर्थात्—ज्ञानका कार्य क्या है ?

मार्गमार्गण—तरार्थमें नहि, निश्चय, शत्रु और चारित्रिक धारण करना ज्ञानका  
कार्य है । यथा, प्रज्ञानपदकी अपेक्षा अज्ञानको भी ज्ञान कहा जाता है । जैसे, जिस वनमें  
हमके पुलाँकी खुलना होती है उसे आनन्दन कहा जाता है ।

जो जानता है उसे ज्ञान कहते हैं । अर्थात् साकार उपयोगको ज्ञान कहते हैं । अथवा,  
जिसे ज्ञान पर धारणा जानना है, जानना या अथवा ज्ञानका, ऐसे ज्ञानावरण कर्मके एकदेश  
अथवा यथा संपूर्ण ज्ञानावरण कर्मके क्षयसे उत्पन्न हुए आत्मके परिणामको ज्ञान कहते हैं ।

परोक्षं द्विविधम्, मतिः श्रुतमिति । तत्र पञ्चभिरिन्द्रियैर्मनसा च यदर्थग्रहणं तन्मतिज्ञानम् ।  
तदपि चतुर्विधम्, अवग्रह ईहा अवायो धारणा चेति । विषयविषयिसन्निपात-  
समन्तरमाद्यग्रहणमग्रहः । अवग्रहीतस्यार्थस्य विशेषाकाङ्क्षामहीहा । इहितस्यार्थस्य  
निश्चयोऽवाय । कालान्तरेऽव्यविस्मरणसंस्कारजनकं ज्ञानं धारणा । अथवा चतुर्विधमिति-  
विधं मतिज्ञानम् । तद्यथा, चाक्षुषं च चतुर्विधं मतिज्ञानमग्रहः ईहानायो धारणा चेति ।  
एवं शेषाणामपि इन्द्रियाणां मनसस्य वाच्यम् । अथवा अष्टानिश्चितिविधम् । तद्यथा,  
अवग्रहो द्विविधोऽर्थावग्रहो व्यञ्जनानग्रहश्चेति । कोऽर्थावग्रहश्चेदशापार्थग्रहणस्यार्थविग्रहः ।

बहु ज्ञान दो प्रकारका है, प्रत्यक्ष और परोक्ष । परोक्षके भी दो भेद हैं, मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ।  
उनमें पांच इन्द्रियों और मनसे जो पदार्थका ग्रहण होता है उसे मतिज्ञान कहते हैं । यह  
मतिज्ञान चार प्रकारका है, अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा । विषय और विषयोंके समन्वय  
दोनेके अन्तर समयमें जो प्रथम ग्रहण होता है उसे अवग्रह कहते हैं । अनग्रहसे ग्रहण  
किये गये पदार्थके विशेषको जाननेके लिये अधिष्ठानरूप जो ज्ञान होता है उसे ईहा कहते हैं ।  
ईहानेके द्वारा जो गये पदार्थके निश्चयरूप ज्ञानको अवाय कहते हैं । कालान्तरमें भी विस्मरण  
न होनेके रूप संस्कारके उत्पन्न करनेवाले ज्ञानको धारणा कहते हैं ।

अथवा, मतिज्ञान चौबीस प्रकारका होता है । इसका स्पष्टीकरण इसप्रकार है, चतु-  
रिन्द्रियसे उत्पन्न होनेवाला मतिज्ञान चार प्रकारका है, अनग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ।  
इसीप्रकार शेष चार इन्द्रियोंसे और मनसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान भी अवग्रह, ईहा, अवाय  
और धारणाके भेदसे चार प्रकारका होता है इसप्रकार कथन करना चाहिये । इसप्रकार  
ये सब मिलकर चौबीस भेद हो जाते हैं । अथवा, मतिज्ञान अष्टारिंशत् प्रकारका होता है ।  
उसका स्पर्शिकरण इसप्रकार है । अवग्रह दो प्रकारका होता है, अर्थावग्रह और व्यञ्जनानवग्रह ।

शंका—अर्थावग्रह किसे कहते हैं ?

समाधान—अज्ञान अर्थके ग्रहण करनेको अर्थावग्रह कहते हैं ।

१ विषयविषयिसन्निपातस्य समानतरमाद्यग्रहणमग्रहः । स मि १ १५ विषयविषयिसन्निपाते मति दर्शन  
मनाति तदनंतरमर्थस्य ग्रहणमग्रहः । त रा वा १.१५ विषयविषयिसन्निपातान्तरमाद्य ग्रहणमग्रहः । विषय-  
स्तात् इव्यपर्यायात्मार्थं विषयिणो इव्यमात्रेन्द्रिय ज्येष्ठारण याव्यतालक्षण तदन्तरत्वेन समान दर्शन मन्विषय-  
व्यव्यापनिकल्पपुत्र परिणाम प्रतिपद्यतेऽवग्रहः । लवीयत्वात् न्यो ट लि प्र २ प्र प १-३ । तत्रव्यक्त  
यथात्वमिन्द्रियोपयोगामालोचनवधागणमग्रहः । तरार्थं मा १ १५ विषयविषयिसन्निपातान्तरमाद्य-ग्रहणमग्रहः  
मागोचनदर्शनानुवादात्तत्पर्यायानुवादात्तत्रिष्टयस्तुप्रकणमग्रहः । प्रमाणमत १ ७. अक्षार्थयोनि दर्शन-  
नन्तरमार्गग्रहणमग्रहः । प्रमाणमी १ १ २७

२ पूर्वा विशेषाभिज्ञानानुवादात्तत्रिष्टयस्यार्थमाद्य १७९, त ३५० गाथातुयात्-प्रत्ययम् । उगर्हो एव  
मम ईहानाया मुहुमुम तु । गलममपु सव च धारणा हेऽ नानया ॥ आ नि. ४.





मिति । किं तद्वि ? क्रयं चक्षुरनिन्द्रियाभ्यामागमिभ्युक्तानुक्तावग्रहादिः तयोरपि प्राच्य-  
कृत्स्नियत्वात् । तदिति चेन्न, योग्यदेशात्पिनेयं प्राप्तेरभिधानात् । तथा च रसगन्ध-  
स्पर्शादीनां मन्त्राभिमिन्द्रियैः स्पष्टं न्ययोग्यदेशात्पिनेयं शब्दस्य च । रूपस्य चक्षुषाभि-  
मनतया, न तन्मिन्द्रियेणा चक्षुषा प्राच्यकारित्वमनिभ्युक्तानुक्तावग्रहादिसिद्धेः । किं च  
तेषामभिनेतानुक्तावग्रहः, यथा दशो गन्धग्रहणकाल एव तद्वेगोपलम्भः । नियमित-  
वर्षाभिधियुक्तानुक्तावग्रहः न ग्रहणशुक्तावग्रहः । गोऽयमित्यादि हुवावग्रहः । न  
गोऽयमित्याद्युक्तावग्रहः । एतन्मीमांसिनामपि योज्यम् । सर्वाण्येतानि सतिज्ञानम् ।

अबद्धमूर्तिद्वयैर्दशान्तरावग्रहः श्रुतज्ञानम् । तत्र अबद्धलिङ्गजं द्विविधमज्ञमज्ञब्रह्म-  
जंज्ञा-तं । किं तदज्ञानकारीण्येसे स्वा श्रयोजनं ? ओर यदि पूरी तरहसे

अनिन्दित और अनुकूलको अज्ञान नहीं करते हो तो ननु और मनसे अलिखत और  
अपकडे प्रायशक्ति हेतु हो सकते ? यदि च नु और मनसे भी पूर्विक अलिखत और अनुकूलके  
अपकडे माने जाते तो उन्हें भी प्रायशक्तिता प्रदान आ जायगा ?

तथापि — कर्तुं, स्वकीं, इन्द्रियैः, नान्य जनेके योग्य वेदमं पदार्थकी अवस्थि-  
ति को भी जानि सकते हैं । ऐसी अवस्थाएँ रच, गन्ध और स्पर्शात्ता उनको श्रुत नस्लेवाली  
श्रुतके प्रायशक्ति अपने योग्य वेदमं अनिश्चित रखा स्पष्ट ही है । शब्दज्ञा भी उसको श्रुत  
करनेवाली इन्द्रियके सा र शक्त योग्य वेदमं अवस्थित रहूंग स्पष्ट है । इमीप्रकार रूपज्ञा च कुंके  
भाव श्रुतियुक्त परे मने वेदमं अवस्थि ता रणा स्पष्ट के स्वकीं रूपको श्रुत नस्लेवाले वस्तुके  
जाय अज्ञान प्रायशक्तिरचना नहीं मन्वा है । उपाहार अलिखत और अनुक पदार्थके अव-  
श्रुतके विरत हो जाते हैं ।

अब जे रूप नु रणाशुक्तावग्रह यद्वै । जैसे, दहीके गन्धके श्रुत करनेके  
कारण ही श्रुतिके रचना भी उपस्थित हो जाती है । निश्चित धमसि युक्त वस्तुका अथवा  
रसके प्रायशक्तिता तथा तस्या उक्तावग्रह है । 'तद्वै यही है' इत्यादि प्रकारसे श्रुत करनेको  
श्रुतकार करते हैं । 'तद्वै यही है' इत्यादि प्रकारसे श्रुत करनेको अनुकूलवग्रह कहते  
हैं । इमीप्रकार श्रुतियुक्तभी उक्त अनुक आदिको भी जानना चाहिये । उन सभी भेदोंको  
सतिज्ञान करने दो ।

शब्द और स्पर्शिके लिंगके उपा जो एक पदार्थसे दूसरे पदार्थका शान होता है उसे  
श्रुतमान कहते हैं । उनमें शब्दके निमित्तसे उत्पन्न होनेवाला श्रुतमान दो प्रकारका है, अग

१. शीघ्र 'मात्सरियो' इति पाठः ।

२. तद्वै यही है प्रायशक्तिता प्रायशक्तिता अज्ञानकारी अज्ञानकारी इत्यादि । त च लुकि, तद्वै यज  
परिभाषा इति । इतिपाठो अज्ञानकारी अज्ञानकारी । अगरी मत्किंजो । किं लक्षणं लिंग ? अज्ञानाशु-  
क्तिरज्ञान । पाठो च न ११७ ।

मिति । अब्रह्मं ब्रह्मयानिधम् । अब्रह्मं चतुर्दशविधम् । प्रत्यक्षं त्रिविधम्, अनधिज्ञानं  
मनःपर्ययज्ञानं केवलज्ञानमिति । साक्षात्स्मृतेशिपपदार्थपरिच्छेदकमवधिज्ञानम् । साक्षान्मनः  
समादाय मानसार्थानां साक्षात्करणं मनःपर्ययज्ञानम् । साक्षान्मनोचराशेषपदार्थ-  
परिच्छेदकं केवलज्ञानम् । सिध्यात्त्वसमवेतगिन्द्रियज्ञानं मत्त्यज्ञानम् । तेषां रागेतः  
शब्दः प्रत्ययः श्रुतज्ञानम् । तत्समवेतगणधियानं निमज्जानम् । उक्तं च —

विस-जत-कृड-पजर-नथाडिसु विभुवदेस-करणेण ।

जा खलु पवसड मदी मदि-अण्णणे सि तं भेति' ॥ १७९ ॥

आभीषमासुरस्वा भारह रामायणादि-उपपसा ।

तुच्छा असाहणीया सुद-अण्णणे सि तं भेति ॥ १८० ॥

और अगाल । अगश्रुत नारु प्रकारज्ञा है और अगनाल नौदह प्रकारज्ञा है ।

प्रत्य-ज्ञानके तीन खेद हैं, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान । लघुर्णं स्मृति  
पदार्थको साक्षात् जाननेवाले ज्ञानको अवधिज्ञान कहते हैं । मगना आश्रय लेकर मगोगत  
पदार्थके साक्षात् करनेवाले ज्ञानको मन पर्ययज्ञान कहते हैं । विज्ञानके विषयश्रुत समस्त  
पदार्थको साक्षात् जाननेवाले ज्ञानको केवलज्ञान कहते हैं ।

इन्द्रियोंसे उत्पन्न होनेवाले सिध्यात्त्वसमवेत ज्ञानको मत्त्यज्ञान कहते हैं । शब्दके  
निमित्तसे जो एक पदार्थसे दूसरे पदार्थका सिध्यात्त्वसमवेत शान होता है उसे श्रुतज्ञान  
कहते हैं । सिध्यादर्शनसमवेत अवधिज्ञानको विभगज्ञान कहते हैं । कम भी है—

दूसरेके उपदेश बिना विग, बल, कूट, पंजर तथा बन्ध आदिके विषयमें जो श्रुति  
प्रवृत्त होती है उसको मत्त्यज्ञान कहते हैं ॥ १७९ ॥

चौरशान, द्विस्वारास्य, भारत और रामायण आदिके तुच्छ और साधन करनेके  
अयोग्य उपदेशोंको श्रुतज्ञान कहते हैं ॥ १८० ॥

१ अथवाच नाम पचम त्रिपदाभिर्भार्यम् । ज पती जात न पारीशु हार मव ॥ १ क प २९

२ त मणपचानाण जेण वियाणट मनिजीमाण । वटु मणिज्जामाणे मणदने माणम मा । १ क प ३५

३ वचदिकमिणमिम्य नेज्जेमंण तु केलाण । जणितारिणामार अणतमतिक्रिय मियत । १ क प ३८

४ गो जी ३०३ उपदशपूर्वमे श्रुतज्ञानमगमात् । उपदशक्रियां विगा यदी चण्णयमोमिक्क्या मण  
रिमाद्वत्तता मपरिमंकारण आतीडध्यानकारण शब्दजगामसजायमगस्तपरिणामकारण च मियमनीचनितानिप-  
पण्णप मियज्ञान तमत्यज्ञानमिति निश्रेतयप । जी म टी ।

५ गो जी ३०४ आ समतारीता आसीता चारा तच्छानमयाम्भित । अग्न माणा मया रथा येन्य  
ते असुरा तद्धरा तेषां शानमासुरा । आदिगन्ध्याययिपथादर्शनदूषितमयेजतादिदिसिञ्जाफणितक्यामव-  
श्रुननोशेहिमायागादिशुद्धमर्म निदड जयावाणदितप कर्मपोडगपदार्थव्यस्पदार्थमानामिधियोगश्रुतचतुःत्यपच-  
मिसमित्तत्रगाद्वत्तचतुरार्यमन्यमिजानांमिंसमंग्ग्यवाटियतिपादकारणमासामज्जितश्रुतज्ञानमास तचमं श्रुतज्ञानमिति  
निश्रेतय, दृष्ट्यादिगन्ध्याययमत् । जी म टी ।

विधरीयमोहिणाण खइयुवसमिय च कम्म-वीज च ।

वेमणो सि पउच्चइ समत्त-गणाहि समयधि' ॥ १८१ ॥

अभिमुह गियमिय-वेहणमामिणिबोहियमणिदि-इदियज ।

बहु-ओगाहाइणा खह कय-उत्तीस-ति सय--भेय' ॥ १८२ ॥

अथादो अयत्तर-उजलभो त भणति सुदणाणं ।

आभिणिबोहिय-पुव्व गियमेणिह सइज पमुह' ॥ १८३ ॥

अपहीयदि ति ओही सोभाणाणे ति वणिणद समए ।

भन-गुण-पच्चय-निहिय तमेहिणाणे ति ग वेत्ति' ॥ १८४ ॥

सर्वज्ञके द्वारा आगममें क्षयोपशमजन्य और मिथ्यात्वादि कर्मके कारणरूप विपरीत अधिज्ञानको विभग ज्ञान कहा है ॥ १८१ ॥

मन और इन्द्रियोंकी सहायतासे उत्पन्न हुए अभिसुख और नियमित पदार्थके ज्ञानको अभिनियोधिरु ज्ञान कहते हैं। उसके बहु आवधिक ब्राह्म प्रकारके पदार्थ और अवग्रह आदिकी अपेक्षा तीनसौ छत्तीस भेद हो जाते हैं ॥ १८२ ॥

मतिज्ञानसे जाने हुए पदार्थके अवलम्बनसे तत्संबन्धी दूसरे पदार्थके ज्ञानको श्रुतज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान नियमसे मतिज्ञानपूर्वक होता है। इसके अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक अथवा शब्दजन्य और लिगजन्य इसप्रकार दो भेद हैं। उनमें शब्दजन्य श्रुतज्ञान मुख्य है ॥ १८३ ॥

द्रव्य, क्षेत्र, माल और भावकी अपेक्षा जिस ज्ञानके विषयकी सीमा हो उसे अधि-ज्ञान कहते हैं। इसीलिये परमगममें इसको सीमाज्ञान कहा है। इसके भवप्रत्यय और गुण-प्रत्यय इसप्रकार जिनैन्ट्रेवेचने दो भेद कहे हैं ॥ १८४ ॥

१ गो जी ३०५ निशिदस्य अधिज्ञानस्य भग विपर्यय विभग इति निरुक्तिरिन्द्रार्थस्येव अनेन प्ररु-पितस्ता' । जी ५ टी निरुद्धो वित्तयो मा जयथा मत्तुमगो वस्तुविकल्पो यदिसस्ताद्विभगं, तच्च तज्ज्ञान च माहारनादिति विभक्तज्ञान मिथ्याः तानुदितोऽन्वयधिरित्यर्थ । सू ५४२ (आमि रा को विभगगणण )

२ गो जी ३०६ स्फुल्लतर्तमानोपदेशान्वितोऽर्थे अभिसुख, असेन्द्रियस्य अयमेवार्थ इत्यनव्याप्तौ विरहित । यथेकपश्यामा निगमिन्नधामो अभिपुननिमणित । तस्यार्थस्य योगन अभिनिर्गोचिक मतिज्ञानमित्यर्थ । जी ५ टी

३ गो जी ३१५ जीवोऽस्तीति शब्दज्ञान श्रोत्रोद्भवप्रम मतिज्ञान भवति । ज्ञानेन गोोऽस्तीति शब्दत्वात्पञ्चे आभासिन्ने कच्ययादकमयसकेतसफलनपूर्वक यद् ज्ञानमुपयति तदक्षरात्मक श्रुतज्ञान मती, यस्यपराशब्दसमुत्पन्ननेन कार्ये कारणोपचारा । वातवीतसर्तज्ञानेन तत्तत्रकृतिरस्य तत्सर्वे अपनोऽज्ञान-मनससाधार लिगज श्रुतज्ञान भवति, शब्दपूर्वत्वाभावात् जी ५ टी

४ गो जी ३०७ जवाभावात्तद्विच्छिन्नविषयात् अवधि । स ति १ ९ आभिज्ञानास्यपश्यामापुमपरेनुगणिताने सारथीरेऽन्वद-माययायानमात् मामधि । अधिश्चब्दोऽय

चिन्तियमचिन्तिय वा अद्द चिन्तियमणेय-भेय च ।

मणपज्जव ति उच्चइ ज जाणइ त खु णर-लोए' ॥ १८५ ॥

सपुण्ण तु समग केवलमसत्त-सव्व-भाव-विद ।

लेगालेग-वितीमि र कवलणाण मुणेयव्वं ॥ १८६ ॥

इदानी गतीन्द्रियक्रायुणस्थानेषु मतिश्रुतज्ञानयोरध्वानप्रतिपादनार्थमाह—

जिसका श्रुतमालमें चिन्तवन किया है, अथवा जिसका भविष्यकालमें चिन्तवन होगा, अथवा जो अर्धचिन्तित है इत्यादि अनेक भेदरूप दूसरेके मनमें स्थित पदार्थको जो जानता है उसे मनःपर्ययज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान मनुष्यक्षेत्रमें ही होता है ॥ १८५ ॥

जो जीवद्रव्यके शक्तिगत सर्व ज्ञानके अविभाग प्रतिच्छेदके व्यक्त हो जानेके कारण संपूर्ण है, ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्मके सर्वथा नाश हो जानेके कारण जो अप्रतिहत-शक्ति है इसलिये समग्र है, जो इन्द्रिय और मनकी सहायतासे रहित होनेके कारण केवल है, जो प्रतिपक्षी चार घातिया कर्मके नाश हो जानेसे अनुक्रम रहित संपूर्ण पदार्थमें प्रवृत्ति करता है इसलिये असंपन्न है और जो लोक और अलोकमें अज्ञानरूपी अन्धकारसे रहित होकर प्रकार-मान हो रहा है उसे केवलज्ञान जानना चाहिये ॥ १८६ ॥

अच गति, इन्द्रिय और क्रायमार्गीणान्तर्गत गुणस्थानोंमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके विशेष कथन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

पर्यायचन, यथाऽय क्षेत्रणभवक्षेपण, इयधोगतभूयोद्भवमित्ययो जवधि । अथवापरिर्मयोदा, अनधिना मतिन्द्र ज्ञानमप्रधिज्ञानम् । त रा वा १ ९, वा ३ अवशब्दोऽय शब्दार्थ, अय अधोऽधो विस्तृत वस्तु धीयते परिच्छिद्यतेऽनेत्त्ववधि । अथवा अत्रार्थर्मयोदा रूपिवेव द्रव्येणु पारोच्छेदकतया प्रवृत्तिरूपा तदुपलक्षित ज्ञानमप्यवधि । यदा अवधानम्—आत्मनोऽर्थसाक्षात्करणव्यापारोऽप्यधि । न सू ५ ६५

१ गो जी ४३८ परकीयमनोगतोयो मन इत्युच्यते साहचर्यात्तस्य पर्यायण परिममन मन पर्यय । स ति १ ९ मन प्रतीत्य प्रतिस्थाप वा ज्ञान मन पर्यय । त रा वा १ ९ वा ४ स मन पर्ययो हेयो मनोवार्थ (मन्यतेऽर्था ?) मनोगता । परया स्वमनो वापि तदालम्बनमात्मम् ॥ त श्लो वा १ ९ ७ परि सर्वतो भागे अवन अत्र । X X अवन गमन वेदनमिति पर्याया, परि अव-पर्यय, मनमि मनसो मा पर्यय मन पर्यय सर्वतो मनोद्भवपरि उद्द इत्यर्थ । अथवा मन पर्यय इति पाठ, तत्र पर्ययण पर्यय, भावोऽद् प्रत्यय, मनसि मनसो मा पर्ययो मन पर्यय सर्वतस्तापरि उद्द इत्यर्थ । X X अथवा मन पर्यायज्ञानमिति पाठ तत्र मनसि मनोद्भवाणि पर्ययति सर्वमना परिच्छिन्नाति मन पर्याय, पर्याया भेदा यमां वाप्यस्त्वलोचयप्रकारा इत्यर्थ, तेषु तेषा मा सम्बन्धि ज्ञान मन पर्यायज्ञानम् । न सू ५ ६६

२ गो जी ४६० जीवद्रव्यस्य शक्तिगतसर्वज्ञानाविभागप्रतिच्छेदाना व्यक्तितगत्यामपूर्णम् । मोदनाय-कीर्यात्तरायनिरक्षेयश्यादप्रतिहतशक्तिनुक्तान् नित्यल-वाच ममप्र । इन्द्रियमहापनिरेक्ष मात् केऽल । घातिचतुष्टय-प्रक्षयात् असंपत्म् । जी ५ टी

१८१ ॥  
 मादि-अण्णाणी सुद-अण्णाणी एइदिय-पुह्णुडि जाव सासण-  
 सम्माइडि ति ॥ १२६ ॥

मिथ्यादृष्टेः इन्द्रियाणि भवता नाम तत्र मिथ्यात्वोदयस्य सत्त्वात् । मिथ्या-  
 न्नादयस्यासत्त्वाच्च नामादने तयोः सत्त्वमिति न, मिथ्यातां नाम विपरीताभिनिवेशः  
 स च मिथ्यातादनन्तानुबन्धिनश्चोत्पद्यते । समस्ति च मासादनस्यानन्तानुबन्ध्युदय  
 इति । ऋग्येज्ञेन्द्रियाणां श्रुतत्वानमिति चैतच्छ्रुतं च न भवति ? श्रोत्राभावात् शब्दावगति-  
 स्तद्भावात् शब्दार्थावगम इति नैव दोषः, यतो नायमेकान्तोऽस्ति शब्दार्थावबोध एव  
 श्रुतमिति । अपि तु अगच्छरूपादपि लिङ्गाल्लिङ्गिज्ञानमपि श्रुतमिति । अमनसां तदपि  
 ऋयमिति चेन्न, मनोऽन्तरेण वनस्पतियु हिताहितप्रवृत्तिनिवृत्त्युपलम्भतोऽनेकान्तात् ।

एकैन्द्रियस्यै लेकर सात्त्वादनस्यस्यगृष्टि गुणस्थानतक सत्यगानी और श्रुतगानी जीव  
 होने हैं ॥ १२६ ॥

शंका—मिथ्यागृष्टि जीवोंके भले ही देलों अताल होवें, क्योंकि, वहा पर मिथ्यात्व  
 कर्मका उदय पाया जाता है । परन्तु सात्त्वादनमें मिथ्यात्वका उदय नहीं पाया जाता है, इसलिये  
 वहा पर न देलों प्राप्त अपानरूप नहीं होना चाहिये ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, विपरीत अभिनिवेशको मिथ्यात्व कहते हैं । और वह  
 मिथ्यार और यत्नानुबन्धी इन दोनोंके निमित्तसे उत्पन्न होता है । सासादन गुणस्थान-  
 त्तके अलन्तानुबन्धीका उदय तो पाया ही जाता है, इसलिये वहा पर भी दोनों अज्ञान सम्भव हैं ।

शंका—एकैन्द्रियोंके श्रुतत्वान कैसे हो सकता है ?

प्रतिशंका—कैसे नहीं हो सकता है ?

शंका—एकैन्द्रियोंके श्रोत्र इन्द्रियका अभाव होनेसे शब्दका ज्ञान नहीं हो सकता है,  
 थात् शब्दका ज्ञान नहीं होनेसे शब्दके विषयभूत वाच्यका भी ज्ञान नहीं हो सकता है । इस-  
 लिये उनके श्रुतत्वान नहीं होता है यह बात सिद्ध हो जाती है ?

समाधान—यह कोई श्रेण नहीं है, क्योंकि, यह कोई एकान्त नहीं है कि शब्दके  
 निमित्तसे होनेवाले पदार्थके ज्ञानको ही श्रुतत्वान कहते हैं । किन्तु शब्दसे भिन्न रूपादिक लिंगसे  
 भी जो स्थितिका ज्ञान होता है उसे भी श्रुतत्वान कहते हैं ।

शंका—मगरहित जीवोंके ऐसा श्रुतत्वान भी कैसे सम्भव है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, मनके बिना वनस्पतिकायिक जीवोंके हितमें प्रवृत्ति और  
 अहितसे निवृत्ति ऐसी जाती है, इसलिये मनमहित जीवोंके ही श्रुतत्वान माननेमें उनसे अने-  
 कान्त श्रेण पाता है ।

विभङ्गज्ञानाधानप्रतिपादनार्थमाह—

विभंगणं सण्णि-भिच्छाइहीणं वा सासणसम्माइहीणं  
 वा ॥ ११७ ॥

विकलेन्द्रियाणां किमिति तत्र भवतीति चेन्न, तत्र तत्रिचन्धनस्योपगमभावात् ।  
 सोऽपि तत्र किमिति न सम्भवतीति चेन्न, तद्वैतभ्रवगुणानामभावात् ।

विभङ्गज्ञाने भवत्यत्रे सति पर्याप्तापर्याप्तानस्थयोरपि तस्य रास्यं स्यादित्या-  
 शङ्कितशिष्याशाशपोहनार्थमाह—

पज्जत्ताणं अत्थि, अपज्जत्ताणं णत्थि ॥ ११८ ॥

अथ साध्यादि देवनारकाणां विभङ्गज्ञानं भवनिचन्धनं भवेदपर्याप्तकालेऽपि तेन  
 भवितव्यं तद्वैतोर्भवस्य सत्त्वादिति न, 'सामान्यबोधनाथ विशेषेण्वनतिष्ठन्ते' इति

विभग्वानके विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

विभंगजान सन्नी मिथ्यागृष्टि जीवोंके तथा सासादनस्यगृष्टि जीवोंके होता है ॥ ११७ ॥

शंका—विकलेन्द्रिय जीवोंके वह क्यों नहीं होता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, वहा पर विभंगजानका कारणभूत शयोपशम नहीं पाया  
 जाता है ।

शंका—वह शयोपशम भी विकलेन्द्रियोंमें क्या सम्भव नहीं है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, अवाधिज्ञानावरणका शयोपशम भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय  
 श्रुता है । परन्तु विकलेन्द्रियोंमें ये दोनों प्रकारके कारण नहीं पाये जाते हैं, इसलिये उनके  
 विभग्वान सम्भव नहीं है ।

विभग्वानको भवप्रत्यय मान लेने पर पर्याप्त और अपर्याप्त इन दोनों अवस्थाओंमें  
 उसका सद्भाव पाया जाना चाहिये इसप्रकार आशंकाको प्राप्त शिष्यके सन्देहके दूर करनेके  
 लिये ओका सूत्र कहते हैं—

विभंगजान पर्याप्तकोंके ही होता है, अपर्याप्तकोंके नहीं होता है ॥ ११८ ॥

शंका—यदि देव और नारिक्योंके विभग्वान भवप्रत्यय होता है तो अपर्याप्तकालमें  
 भी वह हो सकता है, क्योंकि, अपर्याप्तकालमें भी विभग्वानके कारणरूप भवकी सत्ता पाई  
 जाती है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, 'सामान्य विषयका बोध करानेवाले वाक्य विशेषोंमें रहा

\* ज्ञानादिकेन मयज्ञानश्रुतत्वानमिभङ्गजानेषु मिथ्यागृष्टि मासादनस्यगृष्टिश्चास्ति । म. पि । ८.

न्यायात् नापर्याप्तविशिष्टं देवनारकत्वं विभङ्गनिवन्धनमपि तु पर्याप्तविशिष्टमिति । ततो नापर्याप्तकाले तदस्तीति सिद्धम् ।

इदानीं सम्यग्मिथ्यादृष्टिज्ञानप्रतिपादनार्थमाह—

सम्माभिच्छाद्दृष्टिद्वारेण वि णाणाणि अण्णाणेण  
मिस्साणि । आभिणिबोहियणां मदि-अण्णाणेण मिस्सयं सुदण्णाणं  
सुद-अण्णाणेण मिस्सयं ओहिणाणं विभंगणाणेण मिस्सयं । तिण्णि  
वि णाणाणि अण्णाणेण मिस्साणि वा इदि ॥ ११९ ॥

अत्रैकवचननिर्देशः किमिति क्रियत इति चेत् कथं च न क्रियते, यत्स्त्रीण्य-  
ज्ञानानि ततो नैकवचनं घटत इति न, अज्ञाननिवन्धनमिथ्यात्वस्यैकत्वतोऽज्ञानस्याप्येकत्वा-  
विरोधात् । यथार्थश्रद्धाबुद्धिद्वारागमो ज्ञानम्, अथार्थश्रद्धाबुद्धिद्वारागमोऽज्ञानम् । एवं  
च सति ज्ञानज्ञानयोर्भिन्नजीवाधिकरणयोर्न मिश्रण घटत इति चेत्तरयमेतद्विदुत्वात् ।  
किन्त्वत्र सम्यग्मिथ्यादृष्टादेवं मा प्रहीः यतः सम्यग्मिथ्यात्वं नाम कर्म न तन्मिथ्यात्वं

करते है' इस न्यायके अनुसार अपर्याप्त अवस्थाले युक्त देव और नारक पर्याय विभंगज्ञानका कारण नहीं है । किंतु पर्याप्त अवस्थाले युक्त ही देव और नारक पर्याय विभंगज्ञानका कारण है, इसलिये अपर्याप्त कालमें विभंगज्ञान नहीं होता है यह बात सिद्ध हो जाती है ।

अब सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें ज्ञानके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—  
सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें आदिके तीनों ही ज्ञान अज्ञानसे मिश्रित होते हैं ।  
आभिनिबोधिकज्ञान मलयज्ञानसे मिश्रित होता है । श्रुतज्ञान श्रुताज्ञानसे मिश्रित होता है । अवधि-  
ज्ञान विभंगज्ञानसे मिश्रित होता है । अथवा तीनों ही अज्ञान ज्ञानसे मिश्रित होते हैं ॥ ११९ ॥

शंका—सूत्रमें अज्ञान पदका एकवचन निर्देश क्यों किया है ?

प्रतिशंका—एकवचन निर्देश क्यों नहीं करना चाहिये ?

शंका—क्योंकि, अज्ञान तीन है, इसलिये उनका बहुवचनरूपसे प्रयोग बन जाता है ?  
समाधान—नहीं, क्योंकि, अज्ञानका कारण मिथ्यात्व एक होनेसे अज्ञानको भी एक मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

शंका—यथार्थ श्रद्धासे अनुविद्ध अवगमको ज्ञान कहते हैं और अयथार्थ श्रद्धासे अनुविद्ध अवगमको अज्ञान कहते हैं । ऐसी द्वालयमें भिन्न भिन्न जीवोंके आधारसे रहनेवाले ज्ञान और अज्ञानका मिश्रण नहीं बन सकता है ?

समाधान—यह कहना सत्य है, क्योंकि, हमें यही इष्ट है । किंतु यहा सम्यग्मिथ्या-  
दृष्टि गुणस्थानमें यह अर्थ प्रदण नहीं करना चाहिये, क्योंकि, सम्यग्मिथ्यात्व कर्म मिथ्यात्व

तस्मादनन्तगुणहीनशक्तेस्तस्य विपरीताभिनिवेशोत्पादसामर्थ्याभावात् । नापि सम्यक्त्वं तस्मादनन्तगुणशक्तेस्तस्य यथार्थश्रद्धया साहचर्याविरोधात् । ततो जात्यन्तरत्वात् सम्यग्मिथ्यात्वं जात्यन्तरीभूतपरिणामस्योत्पादकम् । ततस्तदुदयजनितपरिणामसमवेतबोधो ज्ञानं यथार्थश्रद्धानुविद्वत्त्वात् । नाप्यज्ञानमयथार्थश्रद्धयाऽसङ्गतत्वात् । ततस्तज्ज्ञानं सम्यग्मिथ्यात्वपरिणामवज्जात्यन्तरापन्नमित्येकमपि मिश्रमित्युच्यते । यथार्थं प्रतिभा-  
सितार्थप्रत्ययानुविद्वानगमो ज्ञानम् । यथार्थमप्रतिभासितार्थप्रत्ययानुविद्वानगमोऽज्ञानम् । जात्यन्तरीभूतप्रत्ययानुविद्वानगमो जात्यन्तरं ज्ञानम्, तदेव मिश्रज्ञानमिति राद्धान्त विदो व्याचक्षते ।

साम्प्रतं ज्ञानानां गुणस्थानाध्यानप्रतिपादनार्थमाह—

आभिणिबोहियणां सुदण्णाणं ओहिणाणमसंजदसम्माद्दि-  
प्पहुडि जाव खीणकसायचीदराग-छुट्टुमत्था ति ॥ १२० ॥

तो हो नहीं सकता, क्योंकि, उससे अनन्तगुणी हीन शक्तिवाले सम्यग्मिथ्यात्वमें विपरीता-  
भिनिवेशको उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य नहीं पाई जाती है । और न वह सम्प्रमकृतिरूप ही है, क्योंकि, उससे अनन्तगुणी अधिक शक्तिवाले उसका ( सम्यग्मिथ्यात्वका ) यथार्थ श्रद्धाके साथ साहचर्यसंबन्धका विरोध है । इसलिये जात्यन्तर होनेसे सम्यग्मिथ्यात्व जात्यन्तररूप परिणामोंका ही उत्पादक है । अतः उसके उदयसे उत्पन्न हुए परिणामोंसे युक्त ज्ञान 'ज्ञान' इस सज्ञाको तो प्राप्त हो नहीं सकता है, क्योंकि, उस ज्ञानमें यथार्थ श्रद्धाका अन्वय नहीं पाया जाता है । और उसे अज्ञान भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि, वह अयथार्थ श्रद्धाके साथ संपर्क नहीं रखता है । इसलिये वह ज्ञान सम्यग्मिथ्यात्व परिणामकी तरह जात्यन्तररूप अवस्थाको प्राप्त है । अतः एक हेतु हुए भी मिश्र कहा जाता है ।

यथावस्थित प्रतिभासित हुए पदार्थके निमित्तसे उत्पन्न हुए तत्संबन्धी बोधको ज्ञान कहते हैं । न्यूनता आदि दोषोंसे युक्त यथावस्थित अप्रतिभासित हुए पदार्थके निमित्तसे उत्पन्न हुए तत्संबन्धी बोधको अज्ञान कहते हैं । और जात्यन्तररूप कारणसे उत्पन्न हुए तत्संबन्धी ज्ञानको जात्यन्तर-ज्ञान कहते हैं । इसीका नाम मिश्रज्ञान है ऐसा सिद्धान्तको जाननेवाले विद्वान् पुरुष व्याख्यान करते हैं ।

अब ज्ञानोंका गुणस्थानोंमें विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

आभिनिबोधिकज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान ये तीनों असंयतसम्प्रदृष्टिसे लेकर क्षीणकसायचीतराग छुट्टस्य गुणस्थानतक होते हैं ॥ १२० ॥



चेदभिव्यद्यदि संयम एक एव तदुत्पत्तेः कारणतामगमिष्यत् । अप्यन्येऽपि तु तद्वैतवः सन्ति तद्वैकल्यान्न सर्वसंयतानां तदुत्पद्यते । केऽन्ये तद्वैतव इति चेद्विशिष्टद्रव्य-क्षेत्रकालादयः ।

केवलज्ञानाधिपतिगुणभूमिप्रतिपादनार्थमाह—

**केवलगणाणी तिसु द्वाणेषु सजोगिकेवली अजोगिकेवली सिद्धा चेदि' ॥ १२२ ॥**

अथ स्यान्नाहृतः केवलज्ञानमस्ति तत्र नोद्भिद्रयावरणक्षयोपशमजनितमनसः सत्त्वात्, न, प्रक्षीणसमस्तावरणे भगवत्यर्हति ज्ञानावरणक्षयोपशमाभावात्तत्कार्यस्य मनसोऽसत्त्वात् । न वीर्यान्तरायक्षयोपशमजनितशक्त्यस्तित्वद्वारेण तत्सत्त्वं प्रक्षीण-

शंका—यदि सयममात्र मनःपर्ययज्ञानकी उत्पत्तिका कारण है तो समस्त सयमियोंके मनःपर्ययज्ञान क्यों नहीं होता है ?

समाधान—यदि केवल सयम ही मन पर्ययज्ञानकी उत्पत्तिका कारण होता तो ऐसा भी होता । किंतु अन्य भी मनःपर्ययज्ञानकी उत्पत्तिके कारण हैं, इसलिये उन दूसरे हेतुओंके न रहनेसे समस्त सयमोंके मन पर्ययज्ञान उत्पन्न नहीं होता है ।

शंका—वे दूसरे कौनसे कारण हैं ?

समाधान—विशेष जातिके द्रव्य, क्षेत्र और कालादि अन्य कारण हैं । जिनके बिना सभी सयमियोंके मन पर्ययज्ञान उत्पन्न नहीं होता है ।

अब केवलज्ञानके स्वामीके गुणस्थान बतलानेके लिये सूत्र कहते हैं—

केवलज्ञानी जीव सयोगिकेवली, अयोगिकेवली और सिद्ध इन तीन स्थानोंमें होते हैं ॥ १२२ ॥

शंका—अरिहंत परमेष्ठिके केवलज्ञान नहीं है, क्योंकि, वहां पर नोद्भिद्रयावरण कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुए मनना सद्भाव पाया जाता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जिनके संपूर्ण आवरणकर्म नाशको प्राप्त हो गये हैं ऐसे अरिहंत परमेष्ठियोंमें ज्ञानावरणकर्मका क्षयोपशम नहीं पाया जाता है, इसलिये क्षयोपशमके कार्यरूप मन भी उनके नहीं पाया जाता है । उसी प्रकार वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुई शक्तिकी अपेक्षा भी वहां पर मनका सद्भाव नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि, जिनके वीर्यान्तराय कर्मका क्षय पाया जाता है ऐसे जीवोंके वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुई शक्तिके सद्भाव माननेमें विरोध आता है ।

वीर्यान्तरायस्य वीर्यान्तरायजनितशक्त्यस्तित्वविरोधात् । क्रथ पुनः सयोग इति चेन्न, प्रथमचतुर्थभाषोत्पत्तिनिमित्तात्मप्रदेशपरिस्पन्दस्य सत्त्वापेक्षया तस्य सयोगत्तविरोधात् । तत्र मनसोऽभावे तत्कार्यस्य वचनोऽपि न सत्त्वमिति चेन्न, तस्य ज्ञानकार्यत्वात् । अक्रमज्ञानात्क्रथं क्रमवता वचनानामुत्पत्तिरिति चेन्न, घटविषयाक्रम-ज्ञानसमवेतकुम्भकारादृष्टस्य क्रमेणोत्पत्त्युपलम्भात् । मनोयोगाभावे ह्यत्रेण सह विरोधः स्यादिति चेन्न, मनःकार्यप्रथमचतुर्थवचसोः सत्त्वापेक्षयोपचारेण तत्त्वत्रयोपदेशात् । जीवप्रदेशपरिस्पन्दहेतुनोऽक्रमजनितशक्त्यस्तित्वापेक्षया वा तत्त्वज्ञानन्न विरोधः ।

सयममार्गणाप्रतिपादनार्थमाह—

**संजमाणुवादेण अत्थि संजदा सामाहय-छेदोवद्ववण-सुद्धि-संजदा परिहार-सुद्धि-संजदा सुहुम-सांपराहय-सुद्धि-संजदा जहावखाद-विहार-सुद्धि-संजदा संजदासंजदा असंजदा चेदि ॥ १२३ ॥**

शंका—फिर अरिहंत परमेष्ठिको सयोगी कैसे माना जाय ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, प्रथम ( सत्य ) और चतुर्थ ( अदुःख ) भाषाकी उत्पत्तिके निमित्तभूत आत्मप्रदेशोंका परिस्पन्द वहां पर पाया जाता है, इसलिये इस अपेक्षाले अरिहंत परमेष्ठिके सयोगी होनेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

शंका—अरिहंत परमेष्ठियोंमें मनका अभाव होने पर मनके कार्यरूप वचनका सद्भाव भी नहीं पाया जा सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, वचन ज्ञानके कार्य हैं, मनके नहीं ।

शंका—अक्रम ज्ञानसे क्रमिक वचनोंकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, घटविषयक अक्रम ज्ञानसे युक्त कुम्भकारद्वारा क्रमसे घटकी उत्पत्ति देखी जाती है । इसलिये अक्रमवर्ती ज्ञानसे क्रमिक वचनोंकी उत्पत्ति मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

शंका—सयोगिकेवलीके मनोयोगका अभाव मानने पर ' सत्त्वमजोगो असत्त्वमोस-मणजोगो सण्णिसिच्छादट्टिपणुडि जाव सजोतिंक्वलि ति ' इस पूर्वोक्त सूत्रके साथ विरोध आ जायगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, मनके कार्यरूप प्रथम और चतुर्थ भाषाके सद्भावकी अपेक्षा उपचारासे मनके सद्भाव मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है । अथवा, जीवप्रदेशोंके परि-स्पन्दके कारणरूप मनोवर्गणारूप नोऽक्रमसे उत्पन्न हुई शक्तिके अस्तित्वकी अपेक्षा सयोगि-केवलीमें मनका सद्भाव पाया जाता है ऐसा मान लेनेमें भी कोई विरोध नहीं आता है ।

अब संयममार्गणके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

संयममार्गणके अनुवादसे सामायिकशुद्धिसयत, छेदोपस्थानगुद्धिसयत, परिहार-



अत्राप्यभेदोपपत्त्या पर्यायस्य पर्यायव्यपदेशः । मम् मम्यद् सम्म्यद्दर्शनान्मु-  
नां यतः अहिरान्तरजात्रोभ्यो त्रिनाः संयताः । सर्वसाधयोगात् विरतोऽस्मीति  
मन्त्रमात्रयोगविरतिः मामाधिकशुद्धिमंयमो द्रव्यार्थिकत्वात् । एवंविधैरुक्तो भित्त्या-  
दृष्टिः किं स्यादिति चेन्न, आशित्वागोपविशेषसामान्यार्थिनो नयस्य सम्म्यग्दृष्टित्वाविरोधात् ।  
आशित्वागोरूपभिर्दं सामान्यमिति कुतोऽस्मीयत इति चेत्सर्वसाधयोगोपादानात् ।  
नोक्तस्मिन् सर्वग्रहः श्रान्ते निरोधत् । श्रान्तर्भावित्वागोपमंयमविशेषकमः

शुद्धिपयत्, मन्त्रमात्रपराय शुद्धि-स्वयम्, यथास्यात् विदार-शुद्धिः सयत् ये पांच प्रकारके सयत्  
तया मयनामयत् और अस्वयत् जीव होत है ॥ १२३ ॥

यहां पर भी अपेक्षासे पर्यायका पर्यायीरूपसे कथन किया है । 'सम्' उपसर्ग  
सम्यक् अर्थका ताची ओ, इत्यलिये सम्म्यग्दर्शन और सम्म्यग्जानपूर्वक 'यता' अर्थात् जो नदिरंग  
और अन्तरग आश्रयोंसे निरत है उन्हें सयत् कहते हैं ।

'मं मं' शकरोके साधयोगसे निरत है ' इत्यप्रकार द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा सकल  
साधयोगोंके त्यागको सामायिक शुद्धि-स्वयम् कहते हैं ।

अर्थात्—इसप्रकार एक व्रतका नियमवाला जीव मित्यादाष्टि क्यों नहीं हो जायगा ?

समाधान—गर्ह, क्योंकि जिनमें संपूर्ण चारिजनके भेदोंका समग्र होता है । ऐसे  
संनयों द्रव्यार्थिक नयको ममचिन्ति दृष्टि माननेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

यहां पर हम सामान्य मयम अपने संपूर्ण भेदोंका समग्र करनेवाला है, यह कैसे  
संनयोंके विशेषात्मके 'परके प्रवृत्त करनेसे ही, यहां पर अपने संपूर्ण भेदोंका  
संनयोंके विशेषात्मके 'परके प्रवृत्त करनेसे ही, यहां पर अपने संपूर्ण भेदोंका  
संनयोंके विशेषात्मके 'परके प्रवृत्त करनेसे ही, यहां पर अपने संपूर्ण भेदोंका  
संनयोंके विशेषात्मके 'परके प्रवृत्त करनेसे ही, यहां पर अपने संपूर्ण भेदोंका

संनयोंके विशेषात्मके 'परके प्रवृत्त करनेसे ही, यहां पर अपने संपूर्ण भेदोंका  
संनयोंके विशेषात्मके 'परके प्रवृत्त करनेसे ही, यहां पर अपने संपूर्ण भेदोंका  
संनयोंके विशेषात्मके 'परके प्रवृत्त करनेसे ही, यहां पर अपने संपूर्ण भेदोंका  
संनयोंके विशेषात्मके 'परके प्रवृत्त करनेसे ही, यहां पर अपने संपूर्ण भेदोंका  
संनयोंके विशेषात्मके 'परके प्रवृत्त करनेसे ही, यहां पर अपने संपूर्ण भेदोंका

सामाधिकशुद्धिसंयम इति यावत् । तस्यैकस्य व्रतस्य छेदेन द्वित्र्यादिभेदेनोपस्थापनं  
व्रतसमारोपणं छेदोपस्थापनशुद्धिसंयमः । सकलव्रतानामेकत्वमापाद्य एकयमोपादानाद्  
द्रव्यार्थिकनयः सामायिकशुद्धिसंयमः । तदवैकं व्रतं पञ्चधा बहुधा वा  
विपाद्य धारणात् पर्यायार्थिकनयः छेदोपस्थापनशुद्धिसंयमः । निशितशुद्धिजानाशुद्ध्यर्थं  
द्रव्यार्थिकनयादेशना, मन्दधियामनुग्रहार्थं पर्यायार्थिकनयादेशना । ततो नानयोः संय-  
मयोरनुष्ठानकृतौ विशेषोऽस्तीति द्वितयदेशेनानुगृहीत एक एव संगम इति चेन्नप दोषः,  
इष्टत्वात् । अननैवाभिप्रायेण सूत्रे पृथक् न शुद्धिसंयतग्रहणं कृतम् ।

परिहारग्रधानः शुद्धिसंयतः परिहारशुद्धिसंयतः । विशुद्धिर्वाणि यथेच्छया मोक्षमनु-  
भूय सामान्यरूपेण विशेषरूपेण वा संयममादाय द्रव्यक्षेत्रज्ञालभावागतपरिमितापरिमित-  
प्रत्याख्यानप्रतिपादकप्रत्याख्यानपूर्वमहार्णवं संस्यगधिगम्य व्यपगतसकलसंशयस्तपो-

इस कथनसे यह निश्च उभा कि जिसने संपूर्ण संयमके भेदोंको अपने अन्तर्गत कर  
लिया है ऐसे अभेदरूपसे एक यमको धारण करनेवाला जीव सामायिक-शुद्धि सयत् कहलाता है ।

उस एक व्रतका छेद अर्थात् दो, तीन आदिके भेदसे उपस्थापन करनेसे जो अर्थात् नतो के  
आरोपण करनेको छेदोपस्थापना-शुद्धि-संयम कहते हैं । संपूर्ण व्रतोंको सामान्यकी अपेक्षा एक  
मानकर एक यमको प्रवृत्त करनेवाला होनेसे सामाधिक-शुद्धि संयम द्रव्यार्थिकनयरूप है । और  
उसी एक व्रतको पाच अथवा अनेक प्रकारके भेद करके धारण करनेवाला होनेसे छेदोप-  
स्थापना-शुद्धि-संयम पर्यायार्थिकनयरूप है । वहां पर तीक्ष्णशुद्धि मनुष्योंके अनुग्रहके लिये  
द्रव्यार्थिक नयका उपदेश दिया गया है और मन्दशुद्धि प्राणियोंका अनुग्रह करनेके लिये  
पर्यायार्थिक नयका उपदेश दिया गया है । इसलिये इन दोनों संयमोंमें अनुष्ठानजन कोई  
विशेषता नहीं है ।

गंता—तत्र तो उपदेशकी अपेक्षा संयमको भले ही दो प्रकारका कर लिया जाने,  
पर वास्तवमें तो वह एक ही है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, यह कथन हमें इष्ट ही है । और इसी अभि-  
प्रायसे स्वतन्त्ररूपसे (सामाधिक पदके साथ) 'शुद्धिसंयत' पदका प्रवृत्त नहीं किया है ।  
जिसके (द्विसाका) परिहार ही प्रधान है ऐसे शुद्धिमान संयतोंको परिहार-शुद्धि संयत  
कहते हैं । तीस नर्यतक अपनी दृच्छानुसार भोगोंको भोग कर सामान्यरूपसे अर्थात् सामायिक  
संयमको और विशेषरूपसे अर्थात् छेदोपस्थापना संयमको धारण कर द्रव्य, क्षेत्र, काल  
और भावके अनुसार परिमित या अपरिमित प्रत्याख्यानके प्रतिपादन करनेवाले प्रत्याख्यान-  
पूर्वरूपी महार्णवमें अच्छीतरह प्रवेश करनेके जिसका संपूर्ण संशय दूर हो गया है और जिसने

छेदेन पूर्वपर्यायनिरोधेन उपस्थापनमारोपण महातानां यत्र तच्छेदोपस्थापनम् । XX उत्तुण तु परियाग  
पोरण नो वनिसि अप्पण । धम्मस्मि पवजामे डेओवट्टावणं म उल्ल । प. मा. [ छेओवट्टावण. अग्नि. रा को ]

चेदभिव्यद्यदि संयम एक एव तदुत्पत्तेः कारणतामगमिष्यत् । अयमन्येऽपि तु तद्वैतवः सन्ति तद्वैकल्यान्न सर्वसंयतानां तदुत्पद्यते । केऽन्ये तद्वैतव इति चेद्विशिष्टद्रव्य- क्षेत्रकालादयः ।

केवलज्ञानाधिपतिगुणभूमिप्रतिपादनार्थमाह—

**केवलगणाणीं तिसु द्वाणेषु सजोगिकेवली अजोगिकेवली सिद्धा चेदि ॥ १२२ ॥**

अथ स्यान्नाहृतः केवलज्ञानमस्ति तत्र नोइन्द्रियावरणक्षयोपशमजनितमनसः सत्त्वात्, न, प्रक्षीणसमस्तावरणे भगवत्यर्हति ज्ञानावरणक्षयोपशमाभावात्तत्कार्यस्य मनसोऽसत्त्वात् । न वीर्यान्तरायक्षयोपशमजनितशक्त्यस्तित्वद्वारेण तत्सत्त्वं प्रक्षीण-

शंका—यदि संयममात्र मनःपर्ययज्ञानकी उत्पत्तिका कारण है तो समस्त समयियोंके मनःपर्ययज्ञान क्यों नहीं होता है ?

समाधान—यदि केवल संयम ही मनःपर्ययज्ञानकी उत्पत्तिका कारण होता तो ऐसा भी होता । किंतु अन्य भी मनःपर्ययज्ञानकी उत्पत्तिके कारण हैं, इसलिये उन दूसरे हेतुओंके न रहनेसे समस्त समयोंके मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न नहीं होता है ।

शंका—वे दूसरे कौनसे कारण हैं ?

समाधान—विशेष जातिके डब्ब, क्षेत्र और कालादि अन्य कारण हैं । जिनके बिना सभी समयियोंके मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न नहीं होता है ।

अब केवलज्ञानके स्वामिके गुणस्थान बतलानेके लिये सूत्र कहते हैं—

केवलज्ञानी जीव सयोगिकेवली, अयोगिकेवली और सिद्ध इव तीन स्थानोंमें होते हैं ॥ १२२ ॥

शंका—अरिहंत परमेष्ठीके केवलज्ञान नहीं है, क्योंकि, वहा पर नोइन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुए मनका सद्भाव पाया जाता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जिनके सपूर्ण आवरणकर्म नाशको प्राप्त हो गये हैं ऐसे अरिहंत परमेष्ठीमें ज्ञानावरणकर्मका क्षयोपशम नहीं पाया जाता है, इसलिये क्षयोपशमके कार्यरूप मन भी उनके नहीं पाया जाता है । उसीप्रकार वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुई शक्तिकी अपेक्षा भी वहा पर मनका सद्भाव नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि, जिनके वीर्यान्तराय कर्मका क्षय पाया जाता है ऐसे जीवोंके वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुई शक्तिके सद्भाव माननेमें विरोध आता है ।

वीर्यान्तरायस्य वीर्यान्तरायजनितशक्त्यस्तित्वविरोधात् । कथं पुनः सयोग इति चेन्न, प्रथमचतुर्थभाषोत्पत्तिनिमित्तात्मप्रदेशपरिस्पन्दस्य सत्त्वापेक्षया तस्य सयोगत्वाविरोधात् । तत्र मनसोऽभावे तत्कार्यस्य वचमोऽपि न सत्त्वमिति चेन्न, तस्य ज्ञानकार्यत्वात् । अक्रमज्ञानात्कथं क्रमवतां वचनानामुत्पत्तिरिति चेन्न, घटविषयाक्रम- ज्ञानसमवेतकुम्भकाराद्घटस्य क्रमेणोत्पत्त्युपलम्भमात् । मनोयोगाभावे सूत्रेण सह विरोधः स्यादिति चेन्न, मनःकार्यप्रथमचतुर्थवचसोः सत्त्वापेक्षयोपचारेण तत्सत्त्वोपदेशात् । जीवप्रदेशपरिस्पन्दहेतुनोऽकर्मजनितशक्त्यस्तित्वापेक्षया वा तत्सत्त्वान्न विरोधः ।

संयममार्गणप्रतिपादनार्थमाह—

**संजमाणुवादेण अतिथ संजदा सामाह्य-छेदोवद्भावण-सुद्धि- संजदा परिहार-सुद्धि-संजदा सुहुम-सांपराह्य-सुद्धि-संजदा जहावखाद- विहार-सुद्धि-संजदा संजदासंजदा असंजदा चेदि ॥ १२३ ॥**

शंका—किर अरिहंत परमेष्ठीको सयोगी कैसे माना जाय ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, प्रथम ( सत्य ) और चतुर्थ ( अनुभव ) भाषाकी उत्पत्तिके निमित्तभूत आत्मप्रदेशोंका परिस्पन्द वहा पर पाया जाता है, इसलिये इस अपेक्षासे अरिहंत परमेष्ठीके सयोगी होनेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

शंका—अरिहंत परमेष्ठीमें मनका अभाव होने पर मनके कार्यरूप वचनका सद्भाव भी नहीं पाया जा सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, वचन ज्ञानके कार्य हैं, मनके नहीं ।

शंका—अक्रम ज्ञानसे क्रमिक वचनोंकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, घटविषयक अक्रम ज्ञानसे युक्त कुम्भकारद्वारा क्रमसे घटकी उत्पत्ति देखी जाती है । इसलिये अक्रमवर्ती ज्ञानसे क्रमिक वचनोंकी उत्पत्ति मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

शंका—सयोगिकेवलीके मनोयोगका अभाव मानने पर ' सत्त्वमणजोगो असत्त्वमोस- मणजोगो खणमिच्छादद्विपद्बुद्धि जाव सजोगिकेवलि ति ' इस पूर्वोक्त सूत्रके साथ विरोध आ जायगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, मनके कार्यरूप प्रथम और चतुर्थ भाषाके सद्भावकी अपेक्षा उपचारसे मनके सद्भाव मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है । अथवा, जीवप्रदेशोंके परि- स्पन्दके कारणरूप मनोवर्गणारूप नोऽकर्मसे उत्पन्न हुई शक्तिके अस्तित्वकी अपेक्षा सयोगि- केवलीमें मनका सद्भाव पाया जाता है ऐसा मान लेनेमें भी कोई विरोध नहीं आता है ।

अब संयममार्गणके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

संयममार्गणके अनुवादसे सामायिकशुद्धिसंयत, छेदोपस्थापनाशुद्धिसंयत, परिहार-



विशेषात्समुत्पन्नपरिहारद्विस्तीर्थकरपादमूले परिहारशुद्धिसंयममादत्ते' । एवमादाय स्थान-  
गमनचङ्कमणाशनपानासनादियु व्यापारेणशेषप्रणिपरिहरणदक्षः परिहारशुद्धिसंयतो नाम ।  
साम्परायः कषायः, सूक्ष्मः साम्परायो येषां ते सूक्ष्मसांपरायाः । शुद्धाश्च ते  
संयताश्च शुद्धसंयताः । सूक्ष्मसाम्परायाश्च ते शुद्धिसंयताश्च सूक्ष्मसाम्परायशुद्धिसंयताः ।  
त एव द्विधोपात्तसंयमा यदा सूक्ष्मीकृतकषायाः भवन्ति तदा ते सूक्ष्मसाम्परायशुद्धि-  
संयता इत्युच्यन्त इति यावत् ।

यथाख्यातो यथाप्रतिपादितः विहारः कषायाभावरूपमनुष्ठानम् । यथाख्यातो  
विहारो येषां ते यथाख्यातविहाराः । यथाख्यातविहाराश्च ते शुद्धिसंयताश्च यथाख्यात-  
विहारशुद्धिसंयताः । सुगममन्यत् ।

संयमानुवादेनासंयतानां संयतासंयतानां च न ग्रहणं प्राप्नुयादिति चेन्न, आप्ततरु-  
तपोविशेषसे परिहार ऋद्धिको प्राप्त कर लिया है ऐसा जीव तीर्थकरके पादमूलमे परिहार-  
शुद्धि सयमको ग्रहण करता है । इसप्रकार सयमको धारण करके जो खड़े होना, गमन करना  
यद्वा बद्धा विहार करना, भोजन करना, पान करना और बैठना आदि सपूर्ण व्यापारोंमें प्राणि-  
योंकी हिसाके परिहारमें दक्ष हो जाता है उसे परिहार-शुद्धि-सयत कहते हैं ।

सांपराय कषायको कहते हैं । जिनकी कषाय सूक्ष्म हो गई है उन्हें सूक्ष्मसांपराय  
कहते हैं । जो सयत विशुद्धिको प्राप्त हो गये हैं उन्हें शुद्धिसयत कहते हैं । जो सूक्ष्मकषाय-  
वाले होते हुए शुद्धिप्राप्त सयत हैं उन्हें सूक्ष्मसांपराय-शुद्धि-सयत कहते हैं । इसका तात्पर्य  
यह है कि सामायिक या छेदोपस्थापना सयमको धारण करनेवाले साधु जब अत्यन्त सूक्ष्म-  
कषायवाले हो जाते हैं तब वे सूक्ष्मसांपरायशुद्धिसंयत कहे जाते हैं ।

परमागममें विहार अर्थात् कषायोंके अभावरूप अनुष्ठानका जैसा प्रतिपादन किया  
गया है तदनुकूल विहार जिनके पाया जाता है उन्हें यथाख्यातविहार कहते हैं । जो यथा-  
ख्यातविहारवाले होते हुए शुद्धिप्राप्त संयत हैं वे यथाख्यातविहार-शुद्धि संयत कहलाते हैं ।  
रोप कथन सुगम है ।

शंका — सयम मर्णाणके अनुवादसे सयतोंमे सयतासयत और असयतोंका ग्रहण नहीं  
हो सकता है ?

१ तौस वासो जन्मे वासपुत्रसु त्रु तिरुधरमूले । पञ्चखण पठिदो सयूणदुगाळयिहारो ॥ गो जी ४७३  
२ परिहारार्थिसमेत पञ्जीविकायसकुले विहार । पयतेव पयपन न लियते पापनिवहेन ॥ गो जा  
४७३ जी ३ दी उदयत्तम् ।

३ अहसदो जाह्ते आडोडभिरीए कहियमस्वाय । चरणमकषायमुदित तमहस्वाय अहस्वाय ॥ त  
दुविगण उअमयकेलिबिहाणजो पुणेकेक । सयसमजसयोणाजोपिकेनलिनिराणजो दुमिह । वि मा १२७९

प्रधानयनान्तस्थनिम्बानामपि आम्रवनव्यपदेशदर्शनतोऽनेकान्तात् । उक्तं च —  
सगहिय सयल-सजममेय-जममणुत्तर दुरवगमं ।

जीवो समुब्वहतो सामाहय संजदो होई' ॥ १८७ ॥

छेत्तूण य परियाय पोराण जो ठेवई अप्पाणं ।

पचजमे धममे सो छेदोबद्धावओ जीवो' ॥ १८८ ॥

पच समिदो ति-गुत्तो परिहरइ सदा वि जो हु सावज्जं ।

पंच-जोघ-जमो वा परिहारो सजदो सो हु' ॥ १८९ ॥

समाधान — नही, क्योंकि, जिस वनमें आम्रवृक्षोंकी प्रधानता है उसमें रहनेवाले  
नीमके वृक्षोंकी भी ' आम्रवन ' ऐसी सजा देखनेमें आती है । अतएव अनेकान्तका आश्रय  
करनेसे संयतासयत और असंयतोंका भी सयम मर्णाणमे ग्रहण किया है । कदा भी है—

जिसमें सयस्त संयमोंका सग्रह कर लिया गया है ऐसे लोकोंतर और दुरधिगम्य  
अधेरूप परु यमको धारण करनेवाला जीव सामायिकसयत होता है ॥ १८७ ॥

जो पुरानी सावद्यव्यापाररूप पर्यायको छेदकर पांच यमरूप धर्ममें अपनेको स्थापित  
करता है वह जीव छेदोपस्थापक सयमी कहलाता है ॥ १८८ ॥

जो पाच समिति और तीन मुत्तियौसे युक्त होता हुआ सदा ही सावद्ययोगका परिहार  
करता है तथा पांच यमरूप छेदोपस्थापना सयमको और एक यमरूप सामायिकसंयमको  
धारण करता है वह परिहार-शुद्धि-सयत कहलाता है ॥ १८९ ॥

१ गो जी ४७०

२ गो जी ४७१ छेदन प्रायश्चित्ताचरणेन उपस्थापन यस स छेदोपस्थापन इति निरुते । अथवा  
प्रायश्चितेन स्वकृतदोपरिहाराय पूर्वकृतपस्तदौषाजुसारेण जिवा आत्मान तापिरवषसयमे स्थापयति स छेदोपस्थापक-  
सयत , रतपरुवदे सति उपस्थापन यस स छेदोपस्थापन इलायकरणव्युत्पत्ते । जी ३ दी

३ गो जी ४७२ परिहारकप्य पक्खामि परिहरति जहा निज । आदिमस्ववसाणेण आयुपुब्बि जह  
कम ॥ ३६९ ॥ सचावास जहणेण उवसेण सहससो ॥ निगाथवरा मगावतो स्ववगोण वियाहिया ॥ ३७२ ॥ सयगलो  
य उक्कोसा जहणेण तवो गणा । गणो य पवओ वुत्तो एमता पडिगत्तिओ ॥ ३७३ ॥ एण कप्पाट्टिय कुञ्जा चत्तारि  
परिहारिए । अणुपरिहारिणा नेव चउरो तेसि तु ठावए ॥ ३७४ ॥ ण य तेयि जायती निक्ख जा माना दस अट्ट य ।  
ण वेयणा ण वात्तमा णव अण्णे उवद्धवा ॥ ३७५ ॥ अट्टारसस पुण्णेण होञ्ज एते उमद्धवा । ऊणिए ऊणिए यावि  
गणमेरा इमा मने ॥ ३७६ ॥ पडिबनजिणिंदस्स पादमूलस्मि जे विज । ठाययतिआ ते अण्णे ण उ ठावित-  
ठावणा ॥ ३८३ ॥ सजे चरितमता य दसणे परिनिहिया । णवपुब्बिया जहणेण उक्कोस दमपुब्बिया ॥ ३८४ ॥  
पचविहे वयहो कप्पे ते दुबिहम्मि य । दसमिहे य पच्छित्ते सच्चे वि परिनिहिया ॥ ३८५ ॥ पडिपुच्छ वाय ण मोत्तण  
णत्थि सकदा । आलावो अचण्हियो परिहारस्स काणे ॥ ३९६ ॥ वास दसट्ट दस अट्ट उच्चट्ट छ चउरो य उक्कोसि ।  
मच्चिम जहद्धवा ऊ वासासिरिणिन्दे उ ॥ ३९४ ॥ आयविलगारसग पत्तेय परिहारा परिहरति । अभिमाहितइसणाए

अणुभेदो वेदो जीवो उवसामो व लवधो वा ।  
 मो मुहुम-मपराओ नराखोरेणओ कि पि' ॥ १९० ॥  
 उामसे रीणे मा अणुहे क्मस्दि मोट्णीयदि ।  
 उदुमयो न जिणो मा नरापादो सजो सो ट् ॥ १९१ ॥  
 पन-ति-चडि नहेटि अणु-गुण-सिसमा-वधि संजुला ।  
 क्मपि देस-रिसया सम्मादही जारिय-कम्मा' ॥ १९२ ॥  
 दगण-य-सामाअय-गेसद-सचित-नाइमसे थ ।  
 वस्तरभ-परिमद-अणुमण-उदिदेस-रिदेदे' ॥ १९३ ॥  
 जीमा चोरस-भेया इदिय-विसया तरुव्णीस तु ।  
 ने तेसु णेन रिदा असजदा ते मुणेयवा ॥ १९४ ॥

चोरे उगमप्रेणीला आरोहण करेवाला दो अथवा थपकप्रेणीला आरोहण करने वाला दो, पशु चो जीव मूहम लोमका अनुभव करना दे उसे सुक्ष्मासापसय-शुद्धि सयत करते है । यह सयत यथावसान संयमगे कुछ कम समयतो धारण करनेवाला होता है ॥ १९० ॥  
 अनुभ मोहणीय कर्मके उपरान्त अथवा क्षय दो जाने पर ग्यादवे, वारुहवे गुणस्थान-वर्मा गस्य ओर तेरने चोरवे गुणस्थानवर्मा जिन यथाव्यात शुद्धि सयत होते है ॥ १९१ ॥  
 जो पान अनुभव, तीन गुणवत्ता और चार विज्ञानवर्मा जिन यथाव्यात शुद्धि सयत होते है ॥ १९२ ॥  
 गार्भीयत्त, परिमद्विसत्त, अनुमतिविसत्त और उद्विष्टविसत्त ये देशविसत्तके ग्यारह भेद है ॥ १९३ ॥  
 जीममाम् चौरु प्रत्तरेके होते है और इन्द्रिय तथा मनके वियय अह्वारस प्रत्तरेके होते है । जो जीम इनसे विसत्त नहीं है उन्हें अस्वयत्त जानना चाहिये ॥ १९४ ॥

पत्तरेके नामांको ॥ ३९ ॥ परिगरे गो उमाने अनुपरिहाजी नि उमाना । र्व्यद्विती नि उमाने तेप उगम उमा ॥ १९५ ॥ ग.दि.गि. मांगेति विदिद्या य गारि ते । ततो पत्रा य पत्रार पट्टति अणुपरि-रिसा ॥ १९६ ॥ गपरि यः गार्भदि निरिद्या य गारि ते । यद्ग लन्दिओ पत्रा परिहार तयविध ॥ ३९७ ॥  
 'उगमा' सन्नेदि र्व्यो रीति गमानो । पत्तरेणाप मम उमाना उ अणुणा ॥ ४०० ॥ इ ६ उ ( अमि-ए गो परिचारावश्ये. )

१ गो जी ४०४

२ गो जी ४०५

३ गो जी ४०६

४ गो जी ४०७

५ गो जी ४०८

संयतानां गुणस्थानानां संख्यानिरूपणार्थमाह —

**संजदा पमतसंजद-प्पहुडि जाव अजोगिकेवलि ति' ॥ १२४ ॥**

अथ स्याद् बुद्धिपूर्विका सावद्यविरतिः संयमः, अन्यथा काष्ठादिष्वपि संयम-प्रसङ्गात् । न च केवलीषु तथाभूता निवृत्तिरस्ति ततस्तत्र संयमो दुर्घट इति नैप दोषः, अधातिचतुष्टयविनाशोपेक्षया समयं प्रत्यसंख्यातगुणश्रेणिरुर्भनिर्जारापेक्षया च सकल-पापक्रियानिरोधलक्षणपारिणामिकगुणानिर्भावापेक्षया न, तत्र संयमोपचारात् । अथवा प्रवृत्त्यभावापेक्षया मुख्यसंयमोऽस्ति । न काष्ठेन व्यभिचारस्तत्र प्रवृत्त्यभाव-तस्तन्निवृत्त्यनुपपत्तेः । सुगममन्यत् ।

द्रव्यपर्यायार्थिकनयद्वयनिबन्धनसंयमगुणप्रतिपादनार्थमाह —

**सामाह्य-च्छेदोवद्भावण-सुद्धि-संजदा पमतसंजद-प्पहुडि जाव अणियद्वि ति' ॥ १२५ ॥**

अथ सयतमें गुणस्थानोंकी संख्याके निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं—  
 सयत जीव प्रमत्तसयतसे लेकर अजोगिकेवली गुणस्थानतक होते हैं ॥ १२४ ॥

अंता—सुद्धिपूर्वक सावद्ययोगके त्यागको समय कहना तो ठीक है । यदि ऐसा न माना जाय तो काष्ठ आदिमें भी समयका प्रसंग आजायगा । किंतु केवलीमें बुद्धिपूर्वक सावद्य-योगकी निवृत्ति तो पार नहीं जाती है इसलिये उनमें समयका होना दुर्घट ही है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, चार अयातिया कमके विनाश करनेकी अपेक्षा और समय समयमें असत्यातगुणी श्रेणीरूपसे कर्मनिर्जरा करनेकी अपेक्षा संपूर्ण पाप-क्रियाके निरोधस्वरूप पारिणामिक गुण प्रगट हो जाता है, इसलिये उस अपेक्षासे वहां समयका उपचार किया जाता है । अतः वहां पर समयका दोषा दुर्घट नहीं है । अथवा प्रवृत्तिके अभावकी अपेक्षा वहां पर मुख्य समय है । इसप्रकार जिनेन्द्रमें प्रवृत्त्यभावसे मुख्य सय-मकी सिद्धि करने पर काष्ठसे व्यभिचार दोष भी नहीं आता है, क्योंकि, काष्ठमें प्रवृत्ति नहीं पाई जाती है, तब उसकी निवृत्ति भी नहीं बन सकती है । शेष कथन सुगम है ।

अथ द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दोनों नयोंके निमित्तसे माने गये संयमके गुणस्थान प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं ।

सामायिक और छेदोपस्थापनास्य शुद्धिको प्राप्त सयत जीव प्रमत्तसंयतसे लेतर अनिवृत्तिकरण गुणस्थानतक होते हैं ॥ १२५ ॥

१ समयमाहुवादेन सयता प्रमत्तादयोऽयोगकेवल्यन्ता । स मि १ ८.  
 २ सामायिक-छेदोपस्थापनाशुद्धिसयता प्रमत्तादयोऽनिवृत्तिस्थानान्ता । स नि. १. ८.

सुगमत्वाद् न किञ्चिद्व्ययमस्ति ।

द्वितीयसंयमस्याध्याननिरूपणार्थमाह—

**परिहार-सुद्धि-संजदा दोषु द्वाणेषु पमत्तसंजद-द्वारेण अपमत्त-  
संजद-द्वारेण ॥ १२६ ॥**

उपरिष्टात्कमित्ययं संयमो न भवेदिति चेन्न, ध्यानामृतसागरान्तर्निमग्न्यात्मनां वाच्यमानासुपसंहृतगमनागमनादिकायव्यापाराणां परिहारानुपपत्तेः । प्रवृत्तः परिहारति नाप्रवृत्तस्ततो नोपरिष्टारसंयमोऽस्ति । परिहारशुद्धिसंयतः किञ्च एकयम उत पंचयम इति ? किंचातो यद्येकयमः सामायिकेऽन्तर्भवति । अथ यदि पंचयमः छेदोपस्थापनेऽन्तर्भवति ? न च संयममाद्धानस्य पुरुषस्य द्रव्यपर्यायाधिकाभ्यां व्यतिरिक्तस्यास्ति सम्भास्ततो न परिहारसंयमोऽस्तीति न, परिहारद्वयतिशयोत्पत्त्यपेक्षया ताभ्यामस्य कथञ्चिद्भेदात् । तद्व्यापारित्यगौनैव परिहारद्विपर्यायेण परिणतत्वान्न ताभ्यामन्योऽय-

सु सत्त्वका अर्थ सुगम होनेसे यहां कुछ विशेष कहने योग्य नहीं है ।

अथ दूसरे संयमके गुणस्थानोंके निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

परिहार-शुद्धि संयत प्रमत्त और अप्रमत्त इन दो गुणस्थानोंमें होते हैं ॥ १२६ ॥

शंका—ऊपरके आठवें आदि गुणस्थानोंमें यह संयम क्यों नहीं होता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जिनकी आत्माएं ध्यानरूपी अमृतके सागरमें निमग्न हैं, जो वचन-यम (मौन) का पालन करते हैं और जिन्होंने आने जनैरूप संपूर्ण शरीरसंबन्धी व्यापार सङ्घचित कर लिया है ऐसे जीवोंके शुभाशुभ क्रियाओंका परिहार बन ही नहीं सकता है । क्योंकि, गमनागमन आदि क्रियाओंमें प्रवृत्ति करनेवाला ही परिहार कर सकता है, प्रवृत्ति नहीं करनेवाला नहीं । इसलिये ऊपरके आठवें आदि ध्यान अवस्थाको प्राप्त गुणस्थानोंमें परिहार-शुद्धि-संयम नहीं बन सकता है ।

शंका—परिहार-शुद्धि-संयम क्या एक यमरूप है या पांच यमरूप ? इनमेंसे यदि एक यमरूप है तो उसका सामायिकमें अन्तर्भाव होना चाहिये और यदि पांच यमरूप है तो छेदोपस्थापनामें अन्तर्भाव हो जाना चाहिये । संयमको धारण करनेवाले पुरुषके द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा इन दोनों संयमोंसे भिन्न तीसरे संयमकी संभावना तो है नहीं, इसलिये परिहार-शुद्धि-संयम नहीं बन सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, परिहार ऋद्धिरूप अतिशयकी उत्पत्तिकी अपेक्षा सामायिक और छेदोपस्थापनासे परिहार शुद्धि संयमका कथञ्चिद् भेद है ।

शंका—सामायिक और छेदोपस्थापनारूप अवस्थाका त्याग न करते हुए ही परिहार ऋद्धिरूप पर्यायमे यह जीव परिणत होता है, इसलिये सामायिक और छेदोपस्थापनासे भिन्न

संयम इति चेन्न, प्रागविद्यमानपरिहारद्वयपेक्षया ताभ्यामस्य भेदात् । ततः स्थितमेत-  
ताभ्यामन्यः परिहारसंयम इति । परिहारद्वैरुपरिष्टादपि सत्त्वात्तत्रास्यास्तु सत्त्वामिति  
चेन्न, तत्कार्यस्य परिहरणलक्षणस्यासत्त्वतस्तत्र तदभावात् ।

तृतीयसंयमस्याध्यानप्रतिपादनार्थमाह—

**सुद्धुम-सांपराइय-शुद्धि-संजद-द्वारेण ॥ १२७ ॥**

सूक्ष्मसाम्परायः किञ्च एकयम उत पञ्चयम इति ? किंचातो यद्येकयमः पञ्चयमान  
शुक्तिरुपशमश्रेण्यारोहणं वा सूक्ष्मसाम्परायगुणप्राप्तिमन्तरेण तदुभयाभावात् । अथ पञ्चयमः  
एकयमानां पूर्वोक्तदोषो समाहोक्तेते । अथोभययमः एकयमपञ्चयमभेदेन सूक्ष्मसाम्परा-  
यह संयम नहीं हो सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, पहले अविद्यमान परतु पीछेसे उत्पन्न हुई परिहार ऋद्धिकी  
अपेक्षा उन दोनों संयमोंसे इसका भेद है, अतः यह बात निश्चित हो जाती है कि सामायिक  
और छेदोपस्थापनासे परिहार-शुद्धि संयम भिन्न ही है ।

शंका—परिहार ऋद्धिकी आगेके आठवें आदि गुणस्थानोंमें भी सत्त्वा गई जाती है,  
अतएव वहां पर इस संयमका सद्भाव मान लेना चाहिये ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, यद्यपि आठवें आदि गुणस्थानोंमें परिहार ऋद्धि गई  
जाती है परतु वहां पर परिहार करनेरूप उसका कार्य नहीं पाया जाता है, इसलिये आठवें आदि  
गुणस्थानोंमें परिहार-शुद्धि-संयमका अभाव कहा गया है ।

अब तीसरे संयमके गुणस्थानका निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूक्ष्मसांपराय-शुद्धि-संयत जीव एक सूक्ष्मसांपराय शुद्धि-संयत गुणस्थानमें ही  
होते हैं ॥ १२७ ॥

शंका—सूक्ष्मसांपरायसंयम क्या एक यमरूप है अथवा पांच यमरूप ? इनमेंसे यदि  
एक यमरूप है तो पंचयमरूप छेदोपस्थापनासंयमसे मुक्ति अथवा उपशमश्रेणीका  
आरोहण नहीं बन सकता है, क्योंकि, सूक्ष्मसांपरायगुणस्थानकी प्राप्तिके बिना  
मुक्तिकी प्राप्ति और उपशमश्रेणीका आरोहण नहीं बन सकता ? यदि सूक्ष्मसांपराय  
पांच यमरूप है तो एक यमरूप सामायिक संयमको धारण करनेवाले जीवोंके पूर्वोक्त  
दोनों दोष प्राप्त होते हैं ? यदि छेदोपस्थापनाको उभय यमरूप मानते हैं तो एक यम और  
पंचयमके भेदसे सूक्ष्मसांपरायके दो भेद हो जाते हैं ?



याणां त्रिविध्यापत्तेरिति । नायां निरूपयानभ्युपगमान् । न कृतीयविकल्पोक्तदोषः  
गम्भानि; पञ्चक्यमभेदन संयमभेदाभावात् । यथेकक्यमपञ्चयमी संयमस न्यूनाधिक-  
भावात् निरन्तरतामभिव्यक्तां संयमभेदोऽप्यभिव्यक्तुं । न चैवं संयमं प्रति द्वयोर-  
भिप्रायः । ततो न यथमाम्परायसंयमस्य तद्द्वारेण द्वैविध्यमिति । तद्द्वारेण संयमस्य  
त्रिविध्याभावे पञ्चविधसंयमोपदेशः कथं यदत इति चेन्मा घटिति । तर्हि कतिविधः  
संयमः ? चतुर्विधः पञ्चमस्य संयमसानुपलम्भान् । सुगमसम्यत् ।

चतुर्थसंयमस्याध्यानप्रतिपादनार्थमाह—

जहाक्खाद-विहार-सुद्धि-संजदा चदुसु द्वाणेषु उवसंत-कसाय-  
वीराराय-छदुमत्था स्त्रीण-कसाय-वीराराय-छदुमत्था सजोगिकेवली  
अजोगिकेवलि ति ॥ १२८ ॥

गमाधान — आदि के दो निरूप तो ठीक नहीं हैं, क्योंकि, वेसा हमने माना नहीं  
है। इसी प्रकार नीसं निरूपणों दिया गया दोष भी संभव नहीं है, क्योंकि, पचयम और एक्यमके  
औरों संयमों कोई भेद ही संभव नहीं है। यदि गह्यम और पचयम संयमके न्यूनाधिकभावके  
कारण दोष तो संयमों भेद भी हो जाता। परंतु ऐसा तो है नहीं, क्योंकि, संयमके प्रति दोनोंमें  
कोई विशेषता नहीं है। अतः सूक्ष्ममापराय संयमके उन दोनोंकी अपेक्षा दो भेद नहीं हो  
सकते हैं।

अंता—जरा कि उन दोनोंकी अपेक्षा संयमके दो भेद नहीं हो सकते हैं तो पाच  
पक्षके भयमका उपदेश कैसे यग सकता है ?

गमाधान — यदि पाच प्रकारका संयम घटित नहीं होता है तो मत दोओ।

अंता — तो स्वयं कितने प्रकारका है ?

गमाधान — संयम चार प्रकारका है, क्योंकि, पाचवा संयम पाया ही नहीं जाता है।  
नेत्र कथन सुगम है।

त्रिजोषार्थ—सामायािक और छेदोपस्थापना संयममें विवक्षा भेदसे ही भेद है वास्तवमें  
नहीं, मत. ये दोनों मिलकर एक ओर श्रेयके तनि इसप्रकार संयम चार प्रकारके होते हैं।

पर चौथे संयमके गुणसंगनोंके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

यथायत्त विहार सुखि-स्यत जीन उपशान्त-रुगय वीतराग-छमस्य, क्षीणकपाय-  
वीतराग प्रसस्य सयोगिकेवली और अयोगिकेवली इन चार गुणस्थानोंमें होते हैं ॥ १२८ ॥

१ गह-नासिधानसिमता उपशान्त-रुगयदोगोऽयागैश्चलया । ग ति. १८

सुगमत्वात्वात्र वक्तव्यमस्ति ।  
देशविरतगुणस्थानयतिपादनार्थमाह—

संजदासंजदा एकस्मि चैय संजदासंजद-द्वाणे ॥१२९ ॥  
गुगमभेतत् ।

असंयतगुणस्य गुणस्थानप्रमाणनिरूपणार्थमाह—

असंजदा एहंदिद्य प्पहुडि जाव असंजदसम्माइडि ति ॥१३०॥  
विध्यादृष्टोऽपि केचित्तयता इत्यन्त इति चेन्न, सम्यक्समन्तरेण संयमानुप-  
पत्तेः । सिद्धानां कः संयमो भवतीति चेन्नैकोऽपि । यथा बुद्धिपूर्वकनिवृत्तेरभानात्र  
संयतास्तत एव न संयतासंयताः नाप्यसंयताः प्रणष्टाशेषपापापक्रियत्वात् ।  
संयमद्वारेण जीनपदार्थमभिधाय साम्प्रतं दर्शनमुत्सेन जीवसत्तानिरूपणार्थमाह—  
दंसणाणुवादेण अत्थि चक्खुदंसणी अचक्खुदंसणी ओधिदंसणी  
केवलदंसणी चेदि ॥ १३१ ॥

इस सूत्रका अर्थ सुगम होनेसे यहां विशेष कुछ कहने योग्य नहीं है।

अब देशविरत गुणस्थानके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

संयतास्यत जीव एक संयतासंयत गुणस्थानमें ही होते हैं ॥ १२९ ॥  
इस सूत्रका अर्थ सुगम है।

अत असंयतगुणके गुणस्थानोंके प्रमाणके निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

असंयत जीव एकेन्द्रियसे लेकर अन्यतत्सम्यदृष्टि गुणस्थानतः होते हैं ॥ १३० ॥

अंता—कितने ही मियादृष्टि जीव सगत देने जाते हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, सम्यग्दर्शनके विना संयमकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है।

अंता—सिद्ध जीवोंके कौनसा संयम होता है ?

समाधान—एक भी संयम नहीं होता है। उनके बुद्धिपूर्वक निवृत्तिका अभाव होनेसे  
जिसलिये वे सयत नहीं हैं, इसलिये सयतास्यत नहीं है और असंयत भी नहीं है, क्योंकि,  
उनके संपूर्ण पापरूप क्रियाए नष्ट हो चुकी है।

संयममार्गोंके द्वारा जीन-पदार्थका कथन करके अथ दर्शनमार्गोंके द्वारा जीवोंके  
अस्तित्वके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

दर्शनमार्गोंके अनुवादसे चक्षुदर्शन, अत्र-शुद्धर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शनके  
धारण करनेवाले जीव होते हैं ॥ १३१ ॥

१ सयतास्यता एकस्मिनेन सयतास्यत-यान । म. ति. १. ८

२ असंयता आयेणु चतुर्णु गुणस्थानेषु । म. ति. १. ८

३ मानचतुर्विध्याणस्यपीपथमार-इत्येत्थियाणुपमाताच्च चण्डुर्गेनिचण्डुर्दशनंअधि-मतो जीमस्य वयादियु



म्भान् । प्रकाशते च रूपसामान्यविशेषविशिष्टार्थः । न स दर्शनमर्थस्योपयोगरूपत्व-  
विशेषात् । न तस्योपयोगोऽपि दर्शनं तस्य ज्ञानरूपत्वात् । ततो न चक्षुर्दर्शनमिति न,  
चक्षुर्दर्शनान्वरणीयस्य कर्मणोऽस्तित्वान्यथानुपपत्तेरुपाध्यायभावे आधारकस्याप्यभावात् ।  
नरामचक्षुर्दर्शनमन्तरङ्गविषयमित्यङ्गीकर्तव्यम् । किं च निद्रानिद्रादीनि कर्मणि न  
ज्ञानप्रतिबन्धकानि ज्ञानावरणभ्यन्तरे तेषामपाठात् । नात्तरङ्गबहिर्ज्ञार्थविषयोपयोग-  
द्वयप्रतिबन्धकानि एवमपि ज्ञानावरणस्यैवान्तर्भागात् । नात्तरङ्गबहिर्ज्ञार्थविषयोपयोग-  
सामान्यप्रतिबन्धकानि जाग्रदवस्थार्थां छद्मस्थज्ञानदर्शनोपयोगगोरक्रमेण दृष्टिप्रसङ्गात् ।  
ततो दर्शनान्वरणीयकर्मणोऽस्तित्वान्यथानुपपत्तेरन्तरङ्गविषयोपयोगप्रतिबन्धक दर्शना-  
वरणीयम्, बहिर्ज्ञार्थविषयोपयोगप्रतिबन्धकं ज्ञानावरणमिति प्रतिपत्तव्यम् । आत्म-  
विषयोपयोगस्य दर्शनत्वेऽङ्गीक्रियमाणे आत्मनो विशेषभावाच्चतुर्णामपि दर्शनानाम-  
विशेषः स्यादिति चेन्नप दोषः, यद्यस्य ज्ञानस्योत्पादकं स्वरूपसंवेदनं तस्य तद्दर्शन-

होता है । परन्तु परमार्थ तो उपयोगरूप हो नहीं सकता, क्योंकि, परमार्थको उपयोगरूप माननेमें  
त्रिगुण आता है । परमार्थका उपयोग भी दर्शन नहीं हो सकता है, क्योंकि, वह उपयोग मान-  
रूप पत्ता है । इसलिये चक्षुर्दर्शनका अस्तित्व नहीं बनता है ।

गणपान—दर्शन, क्योंकि, यदि चक्षुर्दर्शन नहीं हो तो चक्षुर्दर्शनावरण कर्म नहीं  
तन सकता है, क्योंकि, आध्यात्मिके अभावमें आध्यात्मिकता भी अभाव हो जाता है । इसलिये  
अन्तरंग परमार्थको विषय करनेवाला चक्षुर्दर्शन दे यह बात स्वीकार कर लेना चाहिये ।  
इसको निद्रानिद्रा आदि कर्म मानके प्रतिबन्धक नहीं है, क्योंकि, जागावरण कर्मके भेदोंमें इन  
निद्रानिद्रा आदि कर्मोंका पाठ नहीं है । तथा निद्रानिद्रा आदि कर्म अन्तरंग और बहिर्रंग  
परमार्थको विषय करनेवाले तैनों उपयोगोंके भी प्रतिबन्धक नहीं है, क्योंकि, ऐसा मानने पर  
भी निद्रानिद्रादिप्रकाशा ज्ञानावरणके भीतर ही अन्तर्भाजन होगा चाहिये या । परन्तु ऐसा नहीं है,  
जान' निद्रानिद्रादिप्रकाश तैनों उपयोगके भी प्रतिबन्धक नहीं है । निद्रानिद्रादिप्रकाश अन्तरंग और  
परिग्रह परमार्थको विषय करनेवाले उपयोग सामान्यके भी प्रतिबन्धक नहीं है, क्योंकि, ऐसा  
मान लेने पर जाग्रद-वस्थामें छद्मस्थानके तानोपयोग और दर्शनोपयोगकी युगण् प्रवृत्तिका प्रसंग  
न जायगा । इसलिये परमार्थ यदि न हो तो दर्शनान्वरण कर्मका अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता  
है । तब अन्तरंग परमार्थको विषय करनेवाले उपयोगका प्रतिबन्धक दर्शनान्वरण कर्म है  
और बहिर्रंग परमार्थको विषय करनेवाले उपयोगका प्रतिबन्धक ज्ञानावरण कर्म है ऐसा  
मानना चाहिये ।

शंका—आत्मालो विषय करनेवाले उपयोगको दर्शन स्वीकार कर लेनेपर आत्मामें  
कोई विशेषता नहीं होनेसे चारों स्तरोंमें भी कोई भेद नहीं रह जायगा ?

तमापान—यद्य तेषां दर्शन नहीं है, क्योंकि, जो विषय मानका उत्पन्न करनेवाला

व्यपदेशान्न दर्शनस्य चातुर्विध्यनियमः । यान्तश्चक्षुरिन्द्रियक्षयोपशमजनितज्ञानस्य  
विषयभावमापन्नाः पदार्थास्तावन्त एवात्मसंशयोपशमास्तत्तन्नामानस्तद्द्वारेणात्मापि तावा-  
नेव तच्छक्तिसचिदात्मपरिच्छिन्निदर्शनम् । न चैतच्छाल्पनिकं परमार्थत एव परोपदेश-  
मन्तरेण शक्त्या सहात्मनः उपलम्भात् । न दर्शनानामक्रमेण प्रवृत्तिर्ज्ञानानामक्रमेणो-  
त्पत्त्यभावतस्तद्भावात् । एवं शेषदर्शनानामपि वक्तव्यम् । ततो न दर्शनानामिच्छत-  
मिति उक्तं च—

चक्रवृण ज पयासदि दिस्सदि तच्चसु-दसण वेत्ति ।

सेसिंदिय-पयासो णाद्वो सो अवबुद्धु सिं ॥ १९५ ॥

परमणु-आदिशाइ अतिम-खव ति मुत्ति-इव्वाइ ।

त ओवि-दसण पुण ज परसइ ताइ पच्चसुखे ॥ १९६ ॥

बहुविह वटुपयारा उज्जोवा परिमिभग्धि खेत्तिहि ।

लोगालोग-अतिमिरा जो केवददसणुज्जोवो ॥ १९७ ॥

स्वरूपसंवेदन है उसको उसी नामका दर्शन कहा जाता है । इसलिये दर्शनके चार प्रकारके  
होनेका कोई नियम नहीं है । बहुत इन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपरामसे उत्पन्न हुए ज्ञानके विषय-  
भावको प्राप्त जितने पदार्थ हैं उतने ही आत्मामें स्थित दायोपशम उन उन सजायोंको प्राप्त  
होते है । और उनके निमित्तसे आत्मा भी उतने ही प्रकारका हो जाता है । अतः इन  
प्रकारकी शक्तियोंसे युक्त आत्मके संवेदन करनेको दर्शन करते है । यह सन कथन काव्यपत्तिक  
भी नहीं है, क्योंकि, परोपदेशके बिना अनेक शक्तियोंसे युक्त आत्मकी परमार्थसे उपलब्धि  
होती है । सभी दर्शनोंकी अक्रमसे प्रवृत्ति होती है सो बात भी नहीं है, क्योंकि, ज्ञानोंकी  
प्रकसाथ उत्पत्ति नहीं होती है, अतः संपूर्ण दर्शनोंकी भी प्रकसाथ उत्पत्ति नहीं होता है ।  
इसीप्रकार शेष दर्शनोंका भी कथन करना चाहिये । इसलिये दर्शनोंमें प्रकसा अर्थात् अंधेद  
सिद्ध नहीं हो सकता है । कहा भी है—

जो बहुत इन्द्रियके द्वारा प्रकाशित होता है अथवा विचार्य देता है उसे चक्षुर्दर्शन  
कहते है । तथा शेष इन्द्रिय और मनसे जो प्रतिभास होता है उसे अन्तर्दर्शन कहते है ॥१९५॥  
परमाणुसे आदि लेकर अन्तिम रूद्रन्यपर्यन्त सूर्त पदार्थोंको जो प्रत्यक्ष देखाता है उसे  
अधिदर्शन कहते है ॥१९६॥

अपने अपने अनेक प्रकारके भेदोंसे युक्त बहुत प्रकारके प्रकाश इस परिमित क्षेत्रमें ही  
पाये जाते है । परन्तु जो केवल दर्शनरूपी प्रकाश है वह लोत और अलोकको भी विभिर  
रहित कर देता है ॥१९७॥

१ गो जी ४८६

२ गो जी ४८५

३ गो जी ४८६

चक्षुर्दर्शनाध्वानप्रतिपादनार्थमाह—

**चक्षु-दंसणी चउरिंदिय-पहुडि जाव खीण-कसाय-वीयराय-  
छदुमत्था ति ॥ १३२ ॥**

सुगममेतत् ।

अचक्षुर्दर्शनस्याधिपतिप्रतिपादनार्थमाह—

**अचक्षु-दंसणी एइंदिय-पहुडि जाव खीण-कसाय-वीयराय-  
छदुमत्था ति ॥ १३३ ॥**

दृष्टान्तस्मरणमचक्षुर्दर्शनमिति केचिदाचक्षते तत्र घटते एकेन्द्रियेषु चक्षुर-  
भावतोऽचक्षुर्दर्शनस्याभावासङ्जननात् । दृष्टशब्द उपलम्भभावाच्च इति चेन्न, उपलब्धार्थ-  
विषयमृतेर्दर्शनत्वेऽङ्गीक्रियमाणे मनसो निर्विषयतापत्तेः । ततः स्वरूपमवेदनं दर्शन-  
मित्यङ्गीकर्तव्यम् । ज्ञानमेव द्विस्वभावं किन्न स्यादिति चेन्न, स्वस्माद्भिन्नवस्तुपरिच्छेदकं

अव चक्षुर्दर्शनसंबन्धी गुणस्थानोंके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

चक्षुर्दर्शन उपयोगवाले जीव चतुरिन्द्रियसे लेकर शीणकपाय-छम्बस्थ-वितराम गुण-  
स्थान तक होते हैं ॥ १३२ ॥

इसका अर्थ सरल है ।

अब अचक्षुर्दर्शनके स्वामी बतलानेके लिये सूत्र कहते हैं—

अचक्षुर्दर्शन उपयोगवाले जीव एकेन्द्रियसे लेकर शीणकपाय वितराम-छम्बस्थ गुण-  
स्थान तक होते हैं ॥ १३३ ॥

दृष्टान्त अर्थात् देखे हुए पदार्थका स्मरण करना अचक्षुर्दर्शन है, इसप्रकार कितने ही  
पुरुष कहते हैं । परंतु उनका ऐसा कहना यदित नहीं होता है, क्योंकि, ऐसा माननेपर  
एकेन्द्रिय जीवोंमें चक्षुश्चन्द्रियका अभाव होनेसे उनके अचक्षुर्दर्शनके अभावका प्रसंग आजायगा ।

शंका—दृष्टान्तमें ' दृष्ट ' शब्द उपलम्भभावाच्च ग्रहण करना चाहिये ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, उपलब्ध पदार्थको विषय करनेवाली स्मृतिको दर्शन  
स्वीकार कर लेनेपर मनको विषय रहितपनेकी आपत्ति आजाती है । इसलिये स्वरूपसंवेदन  
दर्शन है ऐसा स्वीकार कर लेना चाहिये ।

शंका—ज्ञान ही दो स्वभाववाला क्यों नहीं मान लिया जाता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, अपनेसे भिन्न वस्तुका परिच्छेदक ज्ञान है और अपनेसे  
अभिन्न वस्तुका परिच्छेदक दर्शन है, इसलिये इन दोनोंमें एकपना नहीं बन सकता है ।

ज्ञानम्, स्वतोऽभिन्नवस्तुपरिच्छेदकं दर्शनम्, ततो नानयोरैकत्वमिति । ज्ञानदर्शनयोर-  
क्रमेण प्रवृत्तिः किन्न स्यादिति चेत् किमिति न भवति ? भवत्येव क्षीणावरणे द्ययोरक्रमेण  
प्रवृत्त्युपलम्भात् । भवतु छम्बस्थावस्थायामप्यक्रमेण क्षीणावरणे इव तयोः प्रवृत्तिरिति चेन्न,  
आवरणानिरुद्धाक्रमयोरक्रमवृत्तिविरोधात् । अस्वसंविद्भूषो न कदाचिदायात्मोपलम्भयत  
इति चेन्न, बहिरङ्गोपयोगावस्थायामन्तरङ्गोपयोगानुपलम्भमात् । श्रुतदर्शनं किमिति  
नोच्यत इति चेन्न, तस्य मतिपूर्वकस्य दर्शनपूर्वकत्वविरोधात् । यदि बहिरङ्गार्थसामान्य-  
विषयं दर्शनमभाविष्यत्तदा श्रुतज्ञानदर्शनमपि सममविष्यत् ।

अवधिदर्शनप्रदेशप्रतिपादनार्थमाह—

**ओधि-दंसणी असंजदसमभाइडि-पहुडि जाव खीण-कसाय-  
वीयराय-छदुमत्था ति ॥ १३४ ॥**

शंका—ज्ञान और दर्शनकी युगपत् प्रवृत्ति क्यों नहीं होती ?

समाधान—कैसें नहीं होती, होती ही है, क्योंकि, जिनके आवरण कर्म नष्ट हो गये  
हैं ऐसे तेरहवें आदि गुणस्थानवर्ती जीवोंमें ज्ञान और दर्शन इन दोनोंकी युगपत् प्रवृत्ति पाई  
जाती है ।

शंका—आवरणकर्मसे रहित जीवोंमें जिसप्रकार ज्ञान और दर्शनकी युगपत् प्रवृत्ति  
पाई जाती है, उसीप्रकार छम्बस्थ अवस्थामें भी उन दोनोंकी एक साथ प्रवृत्ति होओ ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, आवरणकर्मके उदयसे जिनकी युगपत् प्रवृत्ति करनेकी  
शक्ति रक गई है ऐसे छम्बस्थ जीवोंके ज्ञान और दर्शनमें युगपत् प्रवृत्ति माननेमें विरोध  
आता है ।

शंका—अपने आपके संवेदनसे रहित आत्माकी तो कभी भी उपलब्धि नहीं होती है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, बहिरंग पदार्थोंकी उपयोगरूप अवस्थामें अन्तरंग  
पदार्थका उपयोग नहीं पाया जाता है ।

शंका—श्रुत दर्शन क्यों नहीं कहा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, मतिज्ञानपूर्वक होनेवाले श्रुतज्ञानको दर्शनपूर्वक माननेमें  
विरोध आता है । दूसरे यदि बहिरंग पदार्थको सामान्यरूपसे विषय करनेवाला दर्शन होता  
तो श्रुतज्ञानसंबन्धी दर्शनभी होता । परंतु ऐसा नहीं है, इसलिये श्रुतज्ञानके पहले दर्शन नहीं  
होता है ।

अब अवधिज्ञानसंबन्धी गुणस्थानोंके प्रतिपादन करनेकेलिये सूत्र कहते हैं—

अवधिदर्शनवाले जीव असंयत सम्यग्दृष्टिसे लेकर शीणकपायवितरामगुणस्थान गुण

युगमेतन् । विभक्त्यर्थे किमिति प्रश्नं नोपादिष्टमिति चेन्न, तस्याविधिदर्शनेऽ-  
नर्थात् । मनःपर्यवेक्षणं तर्हि यत्कथमिति चेन्न, मतिपूर्वकत्वात्तस्य दर्शनाभावात् ।

तेन दर्शनानामभिप्रायव्यवहारः—

**केवलदर्शनी तिसु द्वाणेषु सजोगिकेवली अजोगिकेवली  
सिद्धा चेदि ॥ ३३५ ॥**

अन्नादिबालगोचरार्थं प्रवृत्तं केवलज्ञानं ( स्वतोऽभिन्ववस्तुपरिच्छेदकं च  
दर्शनमिति ) ह्यमनयोः समानेति नेरुच्यते । ज्ञानप्रमाणमात्मा ज्ञानं च त्रिकाल-  
बोचरानन्तद्रूपपर्यायपरिमाणं ततो ज्ञानदर्शनयोः समानत्वमिति । स्वजीवस्थपर्याये-  
गोचरदर्शनमिति चेन्न, उट्त्वात् । कथं पुनस्तेन तस्य समानत्वम् ? न, अन्योन्या-  
त्मरूपान्तद्विराभात् । उक्तं च—

ज्ञानं न तदिति ॥ ३३६ ॥

इत्यन्तत्वात् पर्यवेक्षणं न ।

अर्थात्—विभक्त्यर्थेन प्रवृत्तं उपरोक्तं त्रयो नर्था क्विप्या ?

यथाज्ञानं—तर्हि, स्वयंकि, उक्तत्वात् अविधिदर्शनं अन्तर्भाव हो जाता है ।

अर्थात्—तो मन पर्यवेक्षणको भिन्न रूपसे कहना चाहिये ?

यथाज्ञानं—तर्हि, स्वयंकि, मन पर्यवेक्षणं मतिज्ञानपूर्वक होता है, इसलिये मन-पर्यवे-  
क्षणं नर्था होता है ।

पर्यवेक्षणं केवलदर्शनके रूपार्थके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

केवलदर्शनं च धारकं जीव सजोगिकेवली, अजोगिकेवली और सिद्ध इति तत्र  
रूपार्थं दोषः ॥ ३३७ ॥

अर्थात्—चित्तद्रोचर अन्त बाह्य पदार्थमें प्रवृत्ति करनेवाले ज्ञान है और स्वरूप-  
मायों प्रवृत्ति करनेवाला दर्शन है, इसलिये इन दोनोंमें समानता कैसे हो सकती है ?

यथाज्ञानं—मात्मा ज्ञानप्रमाण है और ज्ञान त्रिकालके विषयभूत द्रव्योंकी अन्त  
पर्यायोंको जाननेवाला होनेसे तत्परिमाण है, इसलिये ज्ञान और दर्शनमें समानता है ।

अर्थात्—जीवों करनेवाली स्वीय पर्यायोंकी ज्ञेयता ज्ञानसे दर्शन अधिक है ?

यथाज्ञानं—तर्हि, स्वयंकि, यह बात सत्य ही है ।

अर्थात्—किन्तु ज्ञानके साथ दर्शनकी समानता कैसे हो सकती है ?

यथाज्ञानं—समानता नर्था हो सकती यह बात नर्था है, स्वयंकि, एक दूसरेकी अपेक्षा  
करनेवाले इन दोनोंमें समानता मान लेनेमें कोई विरोध नर्था आता है । कहा भी है—

‘तद्वदन्तं चोपदेश्यं चित्तोत्पत्तिः ॥ ३३८ ॥’

आदा ज्ञान प्रमाण ज्ञान ज्ञेय-व्यवहारमुद्रिष्ट ।

नेत्र लोशलोभा तद्वा ज्ञान तु मन्त्र-गर्भ ॥ १९८ ॥

व्य-विविधमि जे अत्य-पञ्जया नगण-पञ्जया यानि ।

तोदाणागध-भूदा तानदिय त ह्यद् दाने ॥ १९९ ॥ इति

लेख्याद्वारेणजीवपदार्थसंन्यान्वेषणार्थाह—

**लेखासाणुवादेण अत्थि किण्हेलेसिसया णील्लेसिसया काउ-  
लेसिसया तेउलेसिसया पमलेसिसया सुकलेसिसया अलेसिसया  
चेदि ॥ ३३६ ॥**

लेख्या इति किञ्चुक्तं भवति ? कर्मरून्धैरात्मानं लिम्पतीति लेख्या ।  
कपायासुरञ्जितैव योगवृत्तिलेश्येति नात्र परिग्रहोत्ते सयोगक्रेलिनोऽलेख्यतापत्तेः ।  
अस्तु चेन्न, ‘शुक्लेख्यः सयोगक्रेवली’ इति नचनव्याघातात् । लेख्या नाम योगः

आत्मा ज्ञानप्रमाण है, ज्ञान ज्ञेयप्रमाण है, ज्ञेय लोकालोकप्रमाण है, इसलिये ज्ञान  
सर्वगत कहा है ॥ ३९८ ॥

एक द्रव्यमें अतीत, अवागत और गार्थोंमें अर्थे शुभ ‘अग्नि’ शब्दसे वर्तमानपर्यायरूप  
जितनी अर्थपर्याय और व्यजनपर्याय हैं तत्प्रमाण वह द्रव्य होता है ॥ ३९९ ॥

अथ लेख्यामार्गणाद्वारा जीवपदार्थके अस्तित्वके अन्वेषण करनेके लिये सूत्र कहते हैं—  
लेख्यामार्गणं नि अनुवादसे रूपलेख्या, नीललेख्या, कापोत्तलेख्या, तेजोलेख्या, पम-  
लेख्या, शुक्लेख्या और अलेख्यावाले जीव है ॥ ३३६ ॥

अर्थात्—‘लेख्या’ इस शब्दसे क्या कहा जाता है ?

समाधान—जो कर्मरून्धैसे आत्माको लिप्त करती है उसे लेख्या कहते हैं ।

यदापर ‘कपालसे अनुसूचित योगवृत्तिको लेख्या कहते हैं’ यह अर्थ नर्था अरण्य  
करना चाहिये, क्योंकि, उस अर्थके अरण्य करनेपर सयोगिकेवलीको लेख्यामत्तित्वपेक्षा ही आपत्ति  
प्राप्त होती है ।

अर्थात्—यदि सयोगिकेवलीको लेख्यारहित मान लिया जावे तो क्या ज्ञानि है ?

समाधान—नर्था, क्योंकि, ऐसा मान लेनेपर ‘सयोगिकेवलीके शुक्लेख्या पाई

‘अथ १, २३

२ गो जी ५८२ म त १ ३३

३ लिख्यते प्राणा कर्मणा या मा लेख्या । यदाह, लेख इत्यर्थपर्यय कर्मव्यवहितिप्राप्त । स्या १.

ठा. ना । लिख्यते लिख्यते कर्मणा मह आत्मा अन्येति लेख्या । कर्म ४ कर्म । कृपादिज्यमाविद्यापरिणामो  
७ ज्ञान । कृपादिज्येय तत्रा वैश्यायन्त पतन्ति ॥ १ ॥ अथा १७ पद । ( तसि. ग. चो. केमा )

कृपायस्ताडुभौ वा? किं चातो नाद्यौ विकल्पौ योगकृपायमार्गणयोरेव तस्या अन्तर्भावात् । न तृतीयविकल्पस्तस्यापि तथाविधत्वात् । न ग्रथमद्वितीयविकल्पोक्तदोषावनभ्युपगमात् । न तृतीयविकल्पोक्तदोषो द्वयोरकस्मिन्नन्तर्भावविरोधात् । न द्वित्वमपि कर्मलैककार्यकर्तृत्वेनैकत्वमापनयोर्योगकृपायोल्लेख्यात्वाभ्युपगमात् । नैकत्वात्तयोरन्तर्भवति द्रयात्मकैकस्य जाल्यन्तरमापनस्य केवलैकैकन सैहैकत्वसमानत्वयोर्विरोधात् । योगकृपायकार्योद्भवतिरिक्तलेख्याकार्योत्पलम्भान्न ताभ्यां पृथग्लेख्यास्तीति चेन्न, योगकृपायाम्यां प्रत्यनीकत्वाद्यालम्भनाचार्यादिवाह्यार्थसन्निधानेनापनलेख्यामानाभ्यां संसारवृद्धिकार्यस्य जाती है' इस वचनका व्याघात हो जाता है ।

शंका—लेख्या योगको कहते हैं, अथवा, कृपायको कहते हैं, या योग और कृपाय दोनोंको कहते हैं? इनमेंसे आदिके दो विकल्प अर्थात् योग या कृपायरूप लेख्या तो मान नहीं सकते, क्योंकि, वैसा माननेपर योगमार्गण और कृपायमार्गणमें ही उसका अन्तर्भाव हो जायगा । तीसरा विकल्प भी नहीं मान सकते हैं, क्योंकि, तीसरा विकल्प भी आदिके दो विकल्पोंके समान है । अर्थात् तीसरे विकल्पके माननेपर भी लेख्याका उक्त दोनों मार्गणोंमें अथवा किसी एक मार्गणमें अन्तर्भाव हो जाता है । इसलिये लेख्याकी स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध नहीं होती है ?

समाधान—शंकारने जो ऊपर तीन विकल्प उठाये हैं उनमेंसे पहले और दूसरे विकल्पमें विधे गये दोष तो प्राप्त ही नहीं होते हैं, क्योंकि, लेख्याको केवल योग और केवल कृपायरूप माना ही नहीं है । उसीप्रकार तीसरे विकल्पमें विद्या गया दोष भी प्राप्त नहीं होता है, क्योंकि, योग और कृपाय इन दोनोंका किसी एकमें अन्तर्भाव माननेमें विरोध आता है । यदि कहा जाय कि लेख्याको दोरूप मान लिया जाय जिससे उसका योग और कृपाय इन दोनों मार्गणोंमें अन्तर्भाव हो जायगा, तो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, कर्मलैपरूप एक कार्यको करनेवाले होनेकी अपेक्षा एकफनेको प्राप्त हुए योग और कृपायको लेख्या माना है । यदि कहा जाय कि एकताको प्राप्त हुए योग और कृपायरूप लेख्या होनेसे उन दोनोंमें लेख्याका अन्तर्भाव हो जायगा, तो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, दो धर्मोंके संयोगसे उत्पन्न हुए इयात्मक अतएव किसी एक तीसरी अवस्थाको प्राप्त हुए किसी एक धर्मका केवल परस्मैके साथ एकत्व अथवा समानता मान लेनेसे विरोध आता है ।

शंका—योग और कृपायके कार्यसे भिन्न लेख्याका कार्य नहीं पाया जाता है, इसलिये उन दोनोंसे भिन्न लेख्या नहीं मानी जा सकती है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, विपरितीताको प्राप्त हुए भिव्यात्व अविरति आदिके आलम्भनरूप आचार्यादि बाह्य पदार्थोंके स्पर्शसे लेख्याभावको प्राप्त हुए योग और कृपायोंसे, केवल योग और केवल कृपायके कार्यसे भिन्न संसारकी वृद्धिरूप कार्यकी उपलब्धि होती

तत्केवलकार्यद्वयतिरिक्तस्योपलम्भात् । संसारवृद्धिहेतुलेश्येति प्रतिज्ञायमाने लिम्पतीति लेश्येत्यनेन विरोधश्चेन्न, लेपाविनाभावित्त्वेन तद्वृद्धेरपि तद्व्यपदेशाविरोधात् । ततस्ताभ्यां पृथग्भूता लेश्येति स्थितम् । पञ्चिधः कृपायोदयः । तबथा, तीव्रतमः तीव्रतरः तीव्रः मन्दः मन्दतरः मन्दतम इति । एतेभ्यः पृथग्भ्यः कृपायोदयेभ्यः परिपाट्या पृथ् लेख्या भवन्ति । कृष्णलेख्या नीललेख्या कापोतलेख्या पीतलेख्या पत्रलेख्या शुक्ललेख्या चेति । उक्तं च—  
चडो ण मुयदि वेर भडण-सीलो य धम्म दय-रहिओ ।  
दुडो ण य एदि वंस लक्खणमेद तु किण्हस्स' ॥ २०० ॥

मदो बुद्धि विहीणो णिब्धिणणी य विसय-खेओ य ।

माणी माथी य तथा आलस्सो वेय भेज्जो य' ॥ २०१ ॥

है जो केवल योग और केवल कृपायका कार्य नहीं कहा जा सकता है, इसलिये लेख्या उन दोनोंसे भिन्न है यह बात सिद्ध हो जाती है ।

शंका—संसारकी वृद्धिका हेतु लेख्या है ऐसी प्रतिज्ञा करनेपर 'जो लिप्त करती है उसे लेख्या कहते हैं' इस वचनके साथ विरोध आता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, कर्मलेपकी अविनाभावी होने रूपसे संसारकी वृद्धिको भी लेख्या ऐसी सब देनेसे कोई विरोध नहीं आता है । अतः उन दोनोंसे पृथग्भूत लेख्या है यह बात निश्चित हो जाती है ।

कृपायका उदय छह प्रकारका होता है । वह इसप्रकार है, तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र, मन्द, मन्दतर और मन्दतम । इन छह प्रकारके कृपायके उदयसे उत्पन्न हुई परिपाटीक्रमसे लेख्या भी छह हो जाती है । कृष्णलेख्या, नीललेख्या, कापोतलेख्या, तेजोलेख्या, पत्रलेख्या और शुक्ललेख्या । कदा भी है—

तन्नि, क्रोध करतेवाला हो, वैरको न छोड़े, लड़ना जिसका स्वभाव हो, धर्म और दयासे रहित हो, उग्र हो और जो किसीके वशको प्राप्त न हो, ये सब कृष्णलेख्यावालेके लक्षण हैं ॥ २०० ॥

मन्द अर्थात् स्वच्छन्द हो अथवा काम करनेमें मन्द हो, वर्तमान कार्य करनेमें चिक्क रहित हो, कला-चातुर्यसे रहित हो, पांच इन्द्रियोंके स्पर्शादि बाह्य चिन्तनोंमें लम्पट हो, मानी हो, मायावी हो, आलसी हो, और भीरू हो, ये सब भी कृष्णलेख्यावालेके लक्षण हैं ॥ २०१ ॥

१ गो जी ५०९ पचान परतो तीहि अणुतो उचु अणिरजो य । तिवारमपरिणजो पुटो माहामिजो नरो ॥ निद्वयवपरिणामो निरमो भजिइदिगो । पणजोगमाउतो निण्णेम तु परिणमे ॥ उच ३४ २१ २२  
२ गो जी ५१०



गिगन्वचण-वट्टो वण-वणो होइ तिअ-सण्णो य ।  
 -गणणेट्ट भणिय समासने गील लेस्सरस' ॥ २०२ ॥  
 व-वट्टि गिददिः अण्णे वृसदि वहुसो य सोअ-अय-वहुलो ।  
 अबुवदि परिभवदि पर पससदि य आअयं वहुसो' ॥ २०३ ॥  
 ण य पत्तिवड पर सो अप्पाणमि पर पि मण्णतो ।  
 तमदि अभि-अयतो ण य जाणइ हाणि वड्डीओ' ॥ २०४ ॥  
 गण परेइ रो देदि सुगहुअ दि बुवमाणो वृ ।  
 ण गणइ अकन्व-कन्व लखणमेद तु काउरस ॥ २०५ ॥  
 जाणउ कच्चकच मेअसेय च सवन्वम-यासी ।  
 इय-जाण-न्दो य मिद लखणमेद तु तेउरस ॥ २०६ ॥

जो गतिगिगलु ने, दुसरो जो उगेमे अतिवज हो, और धन-वाणके विषयमें जिसकी जान भीम लाउगा हो, ये सब नीललेख्यावालेके लक्षणे लक्षण कहे गये हैं ॥ २०२ ॥

जो दुसरके ऊपर जोय करता है, दुसरेकी निन्दा करता है, अनेक प्रकारसे दुसरोको दुहा देता है, अथवा, दुसरोको दोष लगाता है, अत्यधिक शोक और भयसे व्याप्त रहता है, दुसरोको मडन नहीं करता है, दुसरोका परामय करना है, अपनी नाना प्रकारसे प्रशंसा करता है, दुसरोके ऊपर निन्दा नहीं करता है, अपने समान दुसरेको भी मानता है, स्तुति करने-वालेके ऊपर गतुष्ट हो जाता है, अपनी और दुसरेकी बानि और बुद्धिको नहीं जानता है, युरमें मनेकी आर्यता करना है, स्तुति करनेवालेको यतुन धन दे उलता है, और कार्य-कार्यकी उच्छ भी गणना नहीं करता है, ये सब कापोतलेख्यावालेके लक्षण हैं ॥ २०३-२०५ ॥

जो कार्य-कार्य और रोव्य-अस्वय हो जागता है, स्वके विषयमें समदर्शी रहता है, तथा भार सुननें तरफ सरता है, और मन, वचन तथा कार्यसे कोमलपरिणामी होता है ये सब पीगलेख्यावालेके लक्षण हैं ॥ २०६ ॥

१ गो जी ५११ रसा मारिअ अता अणित्तमाग अहीरिग । गरी पजाने य मंटे पसच मल्लदुए ॥  
 २ गो जी ५१२ रसा मारिअ गरी पजाने य मंटे पसच मल्लदुए ॥  
 ३ गो जी ५१३ रसा मारिअ गरी पजाने य मंटे पसच मल्लदुए ॥

४ गो जी ५१४ रसा मारिअ गरी पजाने य मंटे पसच मल्लदुए ॥

५ गो जी ५१५ रसा मारिअ गरी पजाने य मंटे पसच मल्लदुए ॥

६ गो जी ५१६ रसा मारिअ गरी पजाने य मंटे पसच मल्लदुए ॥

७ गो जी ५१७ रसा मारिअ गरी पजाने य मंटे पसच मल्लदुए ॥

८ गो जी ५१८ रसा मारिअ गरी पजाने य मंटे पसच मल्लदुए ॥

९ गो जी ५१९ रसा मारिअ गरी पजाने य मंटे पसच मल्लदुए ॥

१० गो जी ५२० रसा मारिअ गरी पजाने य मंटे पसच मल्लदुए ॥

चापी भरो चोस्सो उन्नुन-कम्मो य खमइ वहुअ हि ।  
 साह-गुरु-पूज-णिरदो लखणमेद तु पमस्स' ॥ २०७ ॥  
 ण उ कुणइ पखवायं ण वि य गिदाण समो य सओसु ।  
 णिग य राग-ओसो णेहो वि य सुह-लेरसरस' ॥ २०८ ॥

पद्लेख्यानीताः अलेख्याः । उक्तं च—

किण्हदि-देरस रहिदा ससार-निणिगया अणत-युहा ।  
 सिद्धि-पुर सपत्ता अलेस्सिया ते सुणेयव्वा' ॥ २०९ ॥

लेख्यानां गुणस्वाननिरूपणार्थमाह—

किण्हलेस्सिया पीललेस्सिया काउलेस्सिया एइदिय-पहुडि  
 जाव असंजद-सम्मइदि ति' ॥ १३७ ॥

जो लागी है, अदपरिणामी है, निरन्तर कार्य करनेमें उग्रत रहता है, जो अनेक प्रकारके कष्टप्रद और अनिष्ट उपसर्गको क्षमा कर देता है, और साधु तथा गुरुजनोकी पूजामें रत रहता है, ये सब पगलेख्यावालेके लक्षण हैं ॥ २०७ ॥

जो पक्षपात नहीं करता है, निदान नहीं यात्रता है, स्वके साथ समान व्यवहार करता है, इष्ट और अनिष्ट पदार्थके विषयमें राग और द्वेषसे रहित है तथा स्त्री, पुत्र और मित्र आदिमें स्नेह-रहित है ये सब गुरुलेख्यावालेके लक्षण हैं ॥ २०८ ॥

जो छत्र लेख्याओंसे रहित है उदंटे देदमारहित जीव कहते हैं । कहा भी है—

जो कृणादि लेख्याओंसे रहित है, पंच परिवर्तनरूप ससारसे पार हो गये है, जो अतीन्द्रिय और अगन्त सुगमो प्राप्त है और जो आत्मोपलब्धि-रूप मित्रिपुत्रीको प्राप्त हो गये है उन्हें लेख्या-रहित जानना चाहिये ॥ २०९ ॥

अत्र लेख्याओंके गुणस्यान वतल्येके लिखे सूत्र कहते हैं—

कृणलेख्या, नीललेख्या और कापोतलेख्यावाले जीव त्केन्द्रियसे लेकर असयन-सम्यग्दृष्टि गुणस्थानतः होते हैं ॥ २३७ ॥

१ गो जी ५१६ परयुत्तहमाणि १ मायाओमे य पयगुए । पमत्तिचे दत्तया जोगा उगहाण ॥  
 तहा पयगुआई य उमत्ते जिददिए । एउजोगमाउओ पन्हेम तु परिणमे ॥ उच ३४ २१-२०

२ गो जी ५१७ अट्टवदणि वजिवा धम्मसुत्ताणि आपए । पमत्तिचे त्तपा राभिणं गुते य उच्चिण ॥  
 मगणे गिराणे वा उक्कते विरदिण । एउजोगमाउओ सुक्कंम तु परिणमे ॥ उच ३४. ३१-३२

३ गो जी ५५६

४ लेख्यावृद्धिन कृगनीत्तपोतलेख्यासु सिपाट्टयइद्वानि अमयतमय्यट्टयत्तानि मति । त पि १ ८

कथम् ? त्रिविधतीव्रादिककषायोदयवृत्तेः सत्त्वात् । सुगममन्यत् ।  
तेजःपद्मलेख्याध्यानप्रतिप्रादनार्थमाह—

तेउलेस्सिया पम्मलेस्सिया सण्णिमिच्छाइट्टिप्पहुडि जाव  
अपमतसंजदा तिं ॥ १३८ ॥

कथम् ? एतेषां तीव्रादिकषायोदयाभावात् । सुगममन्यत् ।

सुकलेस्सिया सण्णिमिच्छाइट्टिप्पहुडि जाव सजेगिकेवलि  
तिं ॥ १३९ ॥

कथं क्षीणोपशान्तकषायाणां शुक्लेशयेति चेत्, कर्मलेपनिमित्तयोगस्य तत्र  
सत्त्वापेक्षया तेषां शुक्लेशयास्तित्वाविरोधात् ।

शंका—चौथे गुणस्थानतक ही आदिकी तीन लेख्यापं न्यौ होती है ?

समाधान—तीव्रतम, तीव्रतर और तीव्र कषायके उदयका सद्भाव चौथे गुणस्थान-  
तक ही पाया जाता है, इसलिये वर्हातक तीन लेख्याप कही । शेष कथन सुगम है ।

अब पीत और पवलेश्याके गुणस्थान बतलानेके लिये सूत्र कहते हैं—

पित्तेश्या और पमलेख्यावाले जीव सभी मिथ्यादृष्टिसे लेकर अप्रमत्तसंयत गुणस्थान-  
तक होते हैं ॥ १३८ ॥

शंका—ये दोनों लेख्याप सातवें गुणस्थानतक कैसे पाई जाती हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, इन लेख्यावाले जीवोंके तीव्रतम आदि कषायोंका उदय नहीं  
पाया जाता है । शेष कथन सुगम है ।

अब शुक्लेश्याके गुणस्थान बतलानेके लिये सूत्र कहते हैं—

शुक्लेश्यावाले जीव सभी मिथ्यादृष्टिसे लेकर सयोगिकेवली गुणस्थान तक होते  
हैं ॥ १३९ ॥

शंका—जिन जीवोंकी कषाय क्षीण अथवा उपशान्त हो गई है उनके शुक्लेश्याका  
होना कैसे संभव है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जिन जीवोंकी कषाय क्षीण अथवा उपशान्त हो गई है  
उनमें कर्मलेपना कारण योग पाया जाता है, इसलिये इस अपेक्षासे उनके शुक्लेश्याके सद्भाव  
मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

अब लेख्यापरिवर्तनरूप काल अनन्त होते हुए भी उसका दाय देखा जाता है,

१ तत्र पद्मलेख्योपशान्तकषायाणां शुक्लेश्यास्तित्वाति । स पि ? ८

२ पद्मलेख्याणां मिथ्यादृष्टिप्राप्तेः सयोगिकेवली । स पि १ ८

तेण परमलेस्सियां ॥ १४० ॥

कथम् ? बन्धहेतुयोगकषायाभावात् । सुगममन्यत् ।

लेख्यासुखेन जीवपदार्थमभिधाय भव्याभव्यद्वारेण जीवालित्वप्रतिपादनार्थमाह—

भवियाणुवादेण अत्थि भवसिद्धिया अभवसिद्धिया ॥ १४१ ॥

भव्याः भविव्यन्तीति सिद्धिर्घेषां ते भव्यसिद्धयः । तथा च भव्यसन्ततिच्छेदः  
स्थादिति चेन्न, तेपमानन्यात् । न हि सान्तस्यानन्त्यं विरोधात् । सव्ययरय निरायस्य  
राशेः कथमानन्यमिति चेन्न, अन्यथैकस्याप्यानन्यप्रसङ्गः । सव्ययस्यानन्तस्य न  
क्षयोऽस्तीत्येकान्तोऽस्ति स्वसंख्येयासंख्येयभागव्ययस्य राशेरनन्तस्योपेक्षया तद्विद्व्या-  
दिसंख्येयराशिष्वयतो न क्षयोऽपीत्यभ्युपगमात् । अर्द्धपुद्गलपरिवर्तनकालस्यानन्तस्यापि

तेरद्वयं गुणस्थानके आगे सभी जीव लेख्याराहित हैं ॥ १४० ॥

शंका—यह कैसे ?

समाधान—क्योंकि, वहाँपर बन्धके कारणभूत योग और कषायका अभाव है । शेष  
कथन सुगम है ।

लेख्यामार्गणके द्वारा जीवपदार्थका कथन करके अब भव्याभव्य मार्गणके द्वारा जीवोंके  
अस्तित्वके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं ।

भव्यमार्गणके अनुवादसे भवसिद्ध और अभवसिद्ध जीव होते हैं ॥ १४१ ॥

जो आगे सिद्धिको प्राप्त होंगे उन्हें भव्यसिद्ध जीव कहते हैं ।

शंका—इसप्रकार तो भव्यजीवोंकी सततिका उच्छेद हो जायगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, भव्यजीव अनन्त होते हैं । हाँ, जो राशि सान्त होती है  
उसमें अनन्तपत्ता नहीं बन सकता है, क्योंकि, सान्तको अनन्त माननेमें विरोध आता है ।

शंका—जिस राशिका निरन्तर व्यय चालू है, परंतु उसमें आय नहीं होती है तो  
उसके अनन्तपत्ता कैसे बन सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, यदि सव्यय और निराय राशिको भी अनन्त न माना  
जाये तो पक्षको भी अनन्तके माननेका प्रसंग आ जायगा । व्यय होते हुए भी अनन्तका दाय  
नहीं होता है, यह पक्षान्त नियम है, इसलिये जिसके सख्यतत्वं और असंख्यतत्वं भागका  
व्यय हो रहा है ऐसी राशिका, अनन्तकी अपेक्षा उसकी दो तीन आदि सस्यात राशिके व्यय  
क्षेत्रसे भी क्षय नहीं होता है, ऐसा स्वीकार किया है ।

शंका—अर्द्धपुद्गलपरिवर्तनरूप काल अनन्त होते हुए भी उसका दाय देखा जाता है,

१ अलेख्या अयोगनेवलिन । स पि १ ८

२ पद्मलेख्याणां कोट्टाणास्स वा अवचयति ति । त नाणतत्तणञ्जोत्तणायपरुषणाय व ॥ ज चालता-

॥ ११७ ॥

शयदेशानादन्तज्ञानिक आनन्दहेतुरिति चेत्र, उभयोर्भिननियन्धनवः प्राप्तानन्तयोः  
 नाम्नाभानोऽन्धेष्टुद्रलभिरित्तिनस्य गानमानन्यामाभात् । तद्यथा, अर्द्धेष्टुद्रलपरिवर्तनकालः  
 नश्योऽयन्तः अर्द्धेष्टुद्रलव्यपर्यन्तत्वात् । केवलमनन्तत्वात् द्विपत्यत्वाद्वा । जीवराशिस्तु  
 प्रुनः संन्येयराशिनयोऽपि निर्मूलप्रलयामादादन्त इति । अथवा छत्रस्यानुपलब्ध्यपेक्षा-  
 मन्येयानन्यत्वादिनि विशेषाद्वा नान्नकान्तिक इति । किं च सव्ययस्य निरवशेष-  
 श्येऽप्युपस्थाप्यमाने कालस्यापि निरवशेषयो जायेत सव्ययत्वं प्रत्यविशेषात् । अस्तु  
 चेत्र, मरुलप्रायप्रयनोऽपस्य वस्तुनः प्रक्षीणस्त्वश्रणस्याभावापत्तेः । युक्तिमनु-  
 पगच्छतां कथं पुनर्मन्यन्त्वमिति चेत्र, युक्तिगमनयोपयतापेक्षया तेषां भव्यव्यपदेशात् । न

इतलिये भव्य राशिके क्षय न होनेसे जो अनन्तर रूप हेतु दिया है वह व्याभिचारित ही जाता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, भिन्न भिन्न कारणोंसे अनन्तरपनेको प्राप्त भव्यराशि और  
 अर्द्धेष्टुद्रल परिवर्तनरूप माल इन दोनों राशियोंमें समानताका अभाव है, और इतलिये अर्द्धेष्टुद्रल-  
 परिवर्तना काल साम्यामें अनन्तर रूप नहीं है । आगे इन्हींका स्पष्टीकरण करते हैं—

अर्द्धेष्टुद्रल परिवर्तनकाल इत्यस्मादित हीने द्रुण भी इतलिये अनन्त है कि छत्रस्थ जीवोंके  
 द्वारा उमका एत नहीं पाया जाता है । किंतु केवलज्ञान वास्तवमें अनन्त है । अथवा,  
 क्षान्तको शिष्य करनेवाला होनेसे वह अनन्त है । जीवराशितो, उमका सव्ययत्वं भागरूप  
 राशिके क्षय ही होने पर भी निर्मूल वादा नहीं होनेसे, अनन्त है । अथवा, उपर जो भव्य  
 राशिके क्षय नश्र होनेमें अनन्तरूप हेतु दे शोधे है । उतमें 'छत्रस्थ जीवोंके द्वारा अनन्तकी  
 उपलब्धि नहीं होती है, इस उपोक्तिके बिना ही' यह विशेषण लगा देनेसे अतीकान्तिक दोष  
 नहीं जाता है । दूसरे व्ययसहित अनन्तके सर्वथाक्षय मान लेनेपर कालका भी सर्वथा क्षय  
 ही जायगा, क्योंकि, व्ययस्मरित होनेके प्रति दोनों समान हैं ।

शंका—यदि ऐसा ही मान लिया जाय तो क्या दानि है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, ऐसा माननेपर कालकी समस्त पर्यायोंके क्षय हो जानेसे  
 दूसरे द्रव्योंकी स्वल्पशरूप पर्यायोंका भी अभाव हो जायगा और इतलिये समस्त वस्तुओंके  
 क्षयानी आपत्ति आ जायगी ।

शंका—मुक्तिको नहीं जानेवाले जीवोंके भव्यपना कैसे बन सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, मुक्ति जानेकी योग्यताकी अपेक्षा उनके भव्य संज्ञा  
 बन जाती है । भिन्ने भी जीव मुक्ति जानेके योग्य होते हैं चे सब नियमसे कलकरहित होते हैं

पाठशास्त्र [ ५ ] अधो ५ अध्याय । ११७ ] अतलमाग मध्याह्नर्ष्यालोक ॥ पूर्वोक्त तद्विजो धिय सुतो ज तो वि  
 न-अस्मान् । एवा न मरुऽप्यो रोष नई कश्चिन्न मिद्र । मातामातस्यपगतमागो ऋ किं च सुको वि ।  
 स्वापयो ऋ कश्चिन्न मातागो ऋ परिशब्द ॥ रि मा ३१०६-२३०९.

च योग्याः सर्वेऽपि नियमेन विरुक्लङ्का भवन्ति सुवर्णपाषाणेन व्यभिचारात् । उक्तं च—  
 एय-णिगोद-सरीरे जीवा दव्य-णमागदो दिद्रा ।

सिद्धेहि अणत-गुणा सचेण वितीद-का'ण' ॥ २१० ॥

तद्विपरिता. अभव्याः । उक्तं च—

भरिया सिद्धो जेसि जीवाण ते भाति मम सिद्धा ।

तद्विचरीदामन्ना ससाराहो ण सिद्धति' ॥ २११ ॥

भव्यगुणस्थानप्रतिपादनार्थमाह—

भवसिद्धिया एंड्रदिय-पहुडि जाव अजोगिकेवलि ति' ॥ १४२ ॥

सुगममेतत् ।

अभव्यानां गुणस्थाननिरूपणायाह—

अभवसिद्धिया एंड्रदिय-पहुडि जाव सणि-मिच्छाइहि  
 ति' ॥ १४३ ॥

पेसा कोई नियम नहीं है, क्योंकि, सर्वथा ऐसा मान लेने पर स्वर्णपाषाणसे व्यभिचार आ  
 जायगा । महा भी है—

द्रव्यममाणकी अपेक्षा सिद्धराशिसे और सपूर्ण अनंत कालमें जननगुणें जीव प्रक  
 तिनोदशरीरसे देखे गये हैं ॥ २१० ॥

भव्योंसे विपरित अर्थात् मुक्तिगमनकी योग्यता न मानेवाले अभव्य जीव होते हैं ।  
 कहा भी है—

जिन जीवोंकी अनन्तद्युष्ट्यरूप सिद्धि होनेवाली हो अथवा जो उमकी प्राप्तिके  
 योग्य हों उन्हें भव्यनिद्र कहते हैं । और इनसे विपरित अभव्य होते हैं । जो समारसे निराल-  
 कर तभी भी मुक्तिको प्राप्त नहीं होते हैं ॥ २११ ॥

अथ भव्यजीवोंके गुणस्थानोंका प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

भव्यसिद्ध जीव एंड्रदियसे लेकर अयोगित्ववाली गुणस्थानतक होते हैं ॥ १४० ॥

इस सूत्रका अर्थ सुगम है—

अथ अभव्यजीवोंके गुणस्थानका निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

अभव्यसिद्ध जीव एंड्रदियसे लेकर संबन्धी मिथ्यादृष्टि गुणस्थानतक होते हैं ॥ १४३ ॥

१ गो जी १९६

२ गो जी २७७. ( भवसिद्धा ) अतल विडेड्विकयोग्यताया भयानां त्रि ण्णत् । ची. प्र टी.

३ भव्यासुमदिन मनेण चतुर्दशापि मति । ग मि १.८

४ अभव्य आय एतानि । स मि १.८

एतदपि सुगमम् ।

सम्प्रत्ताणुवादेण अत्थि सम्माइह्ठी खइयसम्माइह्ठी वेदग-  
सम्माइह्ठी उवसमसम्माइह्ठी सासणसम्माइह्ठी सम्मामिच्छाइह्ठी  
मिच्छाइह्ठी चेदि ॥ १४४ ॥

आप्रनान्तत्थनिम्मानामाप्रनव्यपदेशवन्मिच्छात्वादीनां सम्मयक्त्वव्यपदेशो  
न्यायः । सुगममन्यत् । उक्तं च—

उप्यच-गण-निहण अथाण जिणवरोवइद्वण ।

आणए अरिगमेण व सहहण होइ समत्त' ॥ २१२ ॥

मीणे दसण-मोहे ज सहहण सुणिमल होई ।

त लाइय-समत्त णिच्च कम्म-यखण-हेऊ' ॥ २१३ ॥

वयणेहि णि हेऊहि णि इदिय भय-आणएहि रुवेहि ।

वीहउ-दुगुछहि ण सो ते-लेकेण चोलेज्ज' ॥ २१४ ॥

इस सूत्रका अर्थ भी सुगम है ।

अथ सम्मयस्वमार्गणाके अनुयादसे जीवोंके अस्तित्वके प्रतिपादन करनेके लिये  
मत्र कहते हैं—

सम्प्रत्यमार्गणाके अनुयादसे सामान्यकी अपेक्षा सम्प्रवृष्टि और विशेषकी अपेक्षा  
धायिकसम्प्रवृष्टि, वेदन्तसम्प्रवृष्टि, उपशमसम्प्रवृष्टि, सासादनसम्प्रवृष्टि, सम्प्रमिथ्यावृष्टि  
और मिथ्यावृष्टि जीव होते हैं ॥ १४४ ॥

जिसप्रकार आप्रवन्के भीतर रहनेवाले नीमके वृक्षोंको आप्रवन् यह संज्ञा प्राप्त हो  
जाती है, उसीप्रकार मिथ्यान्व आदिको सम्प्रस्त्व यह संज्ञा देना उचित ही है । शेष कथन  
सुगम है । करा भी है—

जिनेन्द्रियके द्वारा उपविष्ट छह द्रव्य, पाच अस्तिकाय और नव पदार्थोंका आत्मा  
अथवा अग्निगमसे श्रद्धान करनेको सम्प्रस्त्व कहते हैं ॥ २१२ ॥

स्तीनमोहनीय कर्मके सर्वथा क्षय हो जाने पर जो निर्मल श्रद्धान होता है वह धायिक  
सम्प्रस्त्व है । जो तिर्य है और कर्मके क्षणका कारण है ॥ २१३ ॥

श्रद्धानको भ्रष्ट करनेवाले वचन या हेतुओंसे अथवा इन्द्रियोंको भय उत्पन्न करनेवाले

१ भाष्य पूर्वपत्र ६६ गाथापूरेन आगता । तदियण तु गाताण मग्गाने उवणुण । भावेण गरत्तस  
पत्तं ण विपारिण ॥ उव २८ १५

२ गो जी ६५६

३ गो जी ६८०

दसणमोहदुदयादो उपपज्जइ ज पयथ-सवहण ।

चल-मलिनमगाढं तं वेदग-सम्प्रत्तमिह सुणसु' ॥ २१५ ॥

दसणमोहवसमदो उपपज्जइ ज पयथ सहहण ।

उवसम-सम्प्रत्तमिण पसण-मल पक-तोय-सम' ॥ २१६ ॥

सम्प्रवृत्तीनस्य सामान्यस्य धायिकसम्प्रवृत्तीनस्य च गुणनिरूपणार्थमाह—

सम्माइह्ठी खइयसम्माइह्ठी असंजदसम्माइह्ठी-पहुडि जाव  
अजोगिकेवल्लि ति' ॥ १४५ ॥

किं तत्सम्प्रवृत्तवगतसामान्यमिति चेत्त्रिष्वपि सम्प्रवृत्तेशेषेषु यः साधारणोऽज्ञास्त-  
त्सामान्यम् । धायिकधायोपशमिकौपशमिकेषु परस्परतो भिन्नेषु किं सादृश्यमिति चेन्न,

आकारांसे या वीभत्स अर्थात् निन्दित पदार्थोंके देखनेसे उत्पन्न हुई ग्लानिले, कि बहुना तीन  
लोकसे भी वह धायिक सम्प्रवृत्तीन चलायमान नहीं होता है ॥ २१४ ॥

सम्प्रवृत्तमोहनीय प्रकृतिके उदयसे पदार्थोंका जो जल, मलिन और अगाढरूप श्रद्धान  
होता है उसको वेदक सम्प्रवृत्तीन कहते हैं ऐसा ही शिष्य तू समझ ॥ २१५ ॥

दर्शनमोहनीयके उपशमसे कीचड़के नीचे बैठ जानेसे निर्मल जलके समान पदार्थोंका,  
जो निर्मल श्रद्धान होता है वह उपशमसम्प्रवृत्तीन है ॥ २१६ ॥

अथ सामान्य सम्प्रवृत्तीन और धायिकसम्प्रवृत्तीनके गुणस्थानोंके निरूपण  
लिये सूत्र कहते हैं—

सामान्यसे सम्प्रवृष्टि और विशेषकी अपेक्षा धायिकसम्प्रवृष्टि जीव असंयतसम्प्र-  
वृष्टि गुणस्थानसे लेकर अयोगिकेवली गुणस्थानतक होते हैं ॥ १४५ ॥

शंका—सम्प्रवृत्तमें रहनेवाला वह सामान्य क्या वस्तु है ?

समाधान—तीनों ही सम्प्रवृत्तीनोंमें जो साधारण धर्म है वह सामान्य शब्दसे यहाँ  
पर विवक्षित है ।

शंका—धायिक, धायोपशमिक और औपशमिक सम्प्रवृत्तीनोंके परस्पर भिन्न भिन्न

१ गो जी ६४९ नाना मीनमिथेषु चलताति चल सृत्त । लसत्तल्लोमालासु जलमत्तमस्थित ॥  
स्वप्पत्तिइहेत्तादो दोग्य मेऽपकत्ति । अन्यस्यामिति आभ्यार मोहइच्छाद्वीनपि वेधते ॥ तदयल वमाहाण्य

पत्तं सम्प्रवृत्तीन । मलिन मलयगेण शुद्ध स्वर्णमिवोद्भूते ॥ स्थान एव स्थित कंमपगादमिति कीर्यते ।  
वृद्धावृष्टिवास्तवस्थाना णत्तले स्थिता ॥ समेऽयन तज्जित्ते सेवपामवतामय । दती-ज्जे प्रभुवेऽस्सा इय्यथा

सुत्तामपि ॥ गो जी २५ जी प्र दो उत्तथा

२ गो जी ६५०

३ सम्प्रवृत्तौदैन धायिरम्यन्ती अतत्तसम्प्रवृत्तादीनि अयोगनेत्र यत्तानि सन्ति । म सि २ ८

तत्र यथार्थश्रद्धानं प्रति माम्योपलम्भात् । क्षयक्षयोपशमोपशमविगिणाना यथार्थ-  
श्रद्धानाना कथं गमानन्तेति चेद्वयतु विशेषानां भेदो न विशेष्यस्य यथार्थश्रद्धानस्य ।  
गुणमन्यन्त् ।

वेदरुसम्यग्दर्शनगुणसंन्याप्रतिपादनार्थमाह—

**वेदरासम्माहृद्दी असंजदसम्माहृदि-पहुडि जाव अपमपत-  
संजदा सिं ॥ १४६ ॥**

उपनिषद्गुणेषु किमिति वेदरुसम्यक्त्वं नास्तीति चेन्न, अगाढसमलश्रद्धानेन  
सह अपहोपजयश्रेयारोपणानुपपत्तेः । वेदरुसम्यक्त्वादौपगमिकसम्यक्त्वस्य कथ-  
मायिप्यन्तेति चेन्न, दर्शनमोहोदयजनितशैथिल्योद्वेस्तासत्तन्मदाभिक्रय्योपलम्भात् ।

तेने पर नदस्ताग त्या वस्तु हो सकती है ?

गमाधान—नहीं, क्योंकि, उन तीनों सम्यग्दर्शनोंमें यथार्थ श्रद्धानके प्रति समानता  
पाई जाती है ।

शंका—एह, क्षयोपशम एत उपशम विशेषणसे युक्त यथार्थ श्रद्धानोंमें समानता  
होगे हो सकती है ?

गमाधान—विशेषणोंमें भेद नके ही रहा आये, परन्तु इनसे यथार्थ श्रद्धानरूप  
विशेष्यमें भेद नहीं पड़ता है ।

और वरना अर्थ सुगम है ।

अथ वेदरुसम्यग्दर्शनोंके गुणस्थानोंकी सत्यके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र  
कहने में—

वेदरुसम्यग्दर्शित जीव प्रत्यक्षसम्यग्दर्शसे लेकर अप्रसक्तसयत गुणस्थानतक  
होये है ॥ १४६ ॥

शंका—ऊपरके शब्दों आदि गुणस्थानोंमें वेदरुसम्यग्दर्शन क्यों नहीं होता है ?

गमाधान—नहीं होता, क्योंकि, अगाढ आदि मलसहित श्रद्धानके साथ अपक  
तौर उपशम विशेषीका चरना नहीं बनता है ।

शंका—वेदरुसम्यग्दर्शनसे औपशमिक सम्यग्दर्शनकी अधिकता अर्थात् विशेषता  
कैसे संभव है ?

गमाधान—नहीं, क्योंकि, दर्शनमोहनीयके उदयसे उत्पन्न हुई शिथिलता आदि  
औपशमिक सम्यग्दर्शनमें नहीं पाई जाती है, इसलिये वेदरुसम्यग्दर्शनसे औपशमिकसम्य-  
ग्दर्शनमें विशेषता भिन्न हो जाती है

• शोच्यभिरुसम्यग्दर्शनो गमाधानगमाधानसिं । न सिं १ ८

कथमस्य वेदकसम्यग्दर्शनव्यपदेश इति चेदुच्यते । दर्शनमोहोदयो वेदकः, तस्य  
सम्यग्दर्शनं वेदरुसम्यग्दर्शनम् । कथं दर्शनमोहोदयवता सम्यग्दर्शनस्य सम्भन इति  
चेन्न, दर्शनमोहनीयस्य देशवातिन उदये तस्यपि जीवस्वभावश्रद्धानस्यैकदेशे सत्य-  
विरोधात् । देशवातिनो दर्शनमोहनीयस्य कथं सम्यग्दर्शनव्यपदेश इति चेन्न, सम्य-  
ग्दर्शनसाहचर्यात्तस्य तद्व्यपदेशविरोधात् ।

औपगमिकसम्यग्दर्शनगुणस्थानप्रतिपादनार्थमाह—

**उवसमसम्माहृद्दी असंजदसम्माहृदि-पहुडि जाव उवसंत-  
कसाय वीयराय-छदुमस्था सिं ॥ १४७ ॥**  
गुणममेतत् ।

**सासणसम्माहृद्दी एकस्मिं चय सासणसम्माहृदि-पहुणे ॥ १४८ ॥**

शंका—आपोपशमिक सम्यग्दर्शनको वेदक सम्यग्दर्शन या सत्ता कैसे प्राप्त होती है ?  
समाधान—दर्शनमोहनीय कर्मके उदयता चरन करनेवाले जीवको वेदक कहते हैं ।  
उसके जो सम्यग्दर्शन होता है उसे वेदरुसम्यग्दर्शन कहते हैं ।

शंका—जिनके दर्शनमोहनीय कर्मका उदय विद्यमान है उनके सम्यग्दर्शन कैसे पाया  
जा सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, दर्शनमोहनीयकी देशवाति प्रकृतिके उदय रहने पर भी  
जीवके स्वभावरूप श्रद्धानके षट्देश रहनेमें कोई निरोध नहीं आता है ।

शंका—दर्शनमोहनीयकी देशवाति प्रकृतिको सम्यग्दर्शन यह सत्ता कैसे वी गई ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, सम्यग्दर्शनके साथ सहचर संन्य होनेके कारण उसको  
सम्यग्दर्शन इस सत्ताके देनेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

अथ औपशमिक सम्यग्दर्शनके गुणस्थानोंके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—  
उपशमसम्यग्दर्शित जीव असयतसम्यग्दर्शित गुणस्थानसे लेकर उपशान्त-रुणाय-  
वीतराग छमस्थ गुणस्थानतक होते हैं ॥ १४७ ॥

इस सूत्रका अर्थ सुगम है ।

अथ सासादनसम्यक्त्व आदि संबन्धी गुणस्थानोंके प्रतिपादन करनेके लिये तीन  
सूत्र कहते हैं—

सासादनसम्यग्दर्शित जीव एक सासादनसम्यग्दर्शित गुणस्थानमें ही होते हैं ॥ १४८ ॥

• शोच्यभिरुसम्यग्दर्शनो गमाधानगमाधानसिं । न सिं १ ८





विद्विद्यादि जाव सत्तमाए पुढवीए णेरइया असंजदसमाह्वये  
द्वारेण स्वइयसमाह्वये णरिथि, अवसेसा अरिथि ॥ १५५ ॥

मन्तप्रकृतीषु धीणासु किमिति तत्र नोत्पद्यन्त इति चेत्स्वाभावात् । तत्रत्याः  
किमिति न प्तप्रकृतीनि क्षययन्तीति चेन्न, तत्र जिनानामभावात् ।  
निर्यादांशप्रतिपादनार्थमाह—

तिरिक्खा अरिथि मिच्छाइही सासणसमाह्वये सम्माभिच्छा-  
इही असंजदसमाह्वये संजदासंजदा रि ॥ १५६ ॥

संन्यस्तशरीरत्वात्प्रकृताहराणां तिरथा किमिति संयमो न भवेदिति चेन्न,  
अन्तराद्याः गच्छन्निद्राग्रेसमावात् । किमिति तदभावधेनातिविशेषात् ।  
एवं जाव संन्य-दीव-समुदेषु ॥ १५७ ॥

इसरी पृथिवीलेखे मातयां पृथिवीतक नारकी जीव असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें  
क्षायिकसम्यग्दृष्टि नहीं होते हैं । शेषके दो सम्यग्दर्शनोंसे युक्त होते हैं ॥ १५५ ॥

शंका—सम्यक्तरनी प्रतिबन्धक सात प्रकृतियोंके क्षय दो जानेपर क्षायिकसम्यग्दृष्टि  
जीव तिरिथीयारि पृथिवियोंमें क्यों उत्पन्न नहीं होते हैं ?  
यमाधान — ऐसा स्वप्न ही है कि क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव द्वितीयादि पृथिवियोंमें  
नहीं उत्पन्न होते हैं ।

शंका—द्वितीयादि पृथिवियोंमें रहनेवाले नारकी सम्यक्त्वजी प्रतिबन्धक सात प्रकृ-  
तियोंका क्षय क्यों नहीं करते हैं ?

यमाधान — नहीं, क्योंकि, नरूपर जिनेश्वका अभाव है ।  
एक निर्दिष्ट गतिमें विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—  
तिरिच भिय्यागए, सामादगसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यागए, असंयतसम्यग्दृष्टि और  
सयत्तासयत्ता होते हैं ॥ १५६ ॥

शंका — शरीरसे सत्यास प्राण कर लेनेके कारण तिरिचोने आहारका त्याग कर दिया  
है वेसे तिरिचोके संयम क्यों नहीं होता है ?

यमाधान — नहीं, क्योंकि, उनके आभ्यन्तर सकल-नियुत्तिका अभाव है ।  
शंका — उनके आभ्यन्तर सकल-नियुत्तिका अभाव क्यों है ?

यमाधान — जिस ज्ञानिमें ये उत्पन्न हुए हैं उसमें संयम नहीं होता यह नियम है,  
इसलिये उनके संयम नहीं पाया जाता है ।

एक तिरिचोके और तिरिचो प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—  
इसीप्रकार संपूर्ण शीघ्र समुद्रयती तिरिचोमें समझना चाहिये ॥ १५७ ॥

स्वयम्भवादारान्मात्रुपोचरत्परतो भोगभूमिसमानत्वाच्च तत्र देशत्रतिनः सन्ति  
तत एतत्सूत्रं न घटत इति न, चैरसम्बन्धेन देवैर्दानवैर्विद्याप्य शिखतानां सर्वत्र  
सत्त्वाविरोधात् ।

सम्यग्दर्शनविशेषप्रतिपादनार्थमाह—

तिरिक्खा असंजदसमाह्वये-द्वारेण अरिथि खइयसमाह्वये वेदग-  
समाह्वये उवसमसमाह्वये ॥ १५८ ॥

तिरिक्खा संजदासंजद-द्वारेण खइयसमाह्वये णरिथि अवसेसा  
अरिथि ॥ १५९ ॥

तिरिक्खु क्षायिकसम्यग्दृष्टयः संयतासंयताः किमिति न गन्तीति चेन्न, क्षायिक-  
सम्यग्दृष्टीना भोगभूमिसन्तरेणोत्पत्तेरभावात् । न च भोगभूमिसुखरुचानामनुव्रतोपादानं  
सम्भवति तत्र तद्विरोधात् । सुगममन्यत् ।

शंका — स्वयंभूरमण डीपवतीं स्वयंप्रभ पर्वतके इस ओर और मातुलेतर पर्वतके  
दूस ओर असत्प्यात डीपोंमें भोगभूमिके समान रचना होनेसे वहापर देशजनी नरी पाये जाते  
हैं, इसलिये यह सूत्र घटित नहीं होता है ?

यमाधान — नहीं, क्योंकि, चैरके संबन्धसे देवों अथवा दानवोंके द्वारा कर्मभूमिसे  
उठाकर डाले गये कर्मभूमिज तिरिचोका सब जगह राइराव देनेमें कोई विरोध नहीं आता है,  
इसलिये वहापर तिरिचोके पात्रों गुणस्थान बन जाते हैं ।

अप तिरिचोमें सम्यग्दर्शनके विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

तिरिच असयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें क्षायिकसम्यग्दृष्टि, वेदकसम्यग्दृष्टि और उपराम-  
सम्यग्दृष्टि होते हैं ॥ १५८ ॥

अप तिरिचोके पांचवें गुणस्थानमें विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

तिरिच सयतासयत गुणस्थानमें क्षायिकसम्यग्दृष्टि नहीं होते हैं । शेषके दो सम्य-  
ग्दर्शनोंसे युक्त होते हैं ॥ १५९ ॥

शंका—तिरिचोमें क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव सयतासयत क्यों नहीं होते हैं ?

यमाधान — नहीं, क्योंकि, तिरिचोमें यदि क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न होते हैं तो  
वे भोगभूमिमें ही उत्पन्न होते हैं, दूसरी जगह नहीं । परंतु भोगभूमिमें उत्पन्न हुए जीवोंके  
अणुतकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि, वहांपर अणुव्रतके होनेमें आगमसे विरोध  
आता है । शेष कथन सुगम है ।

अब तिरिच-विशेषोंमें प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

एवं पंचिदिय-तिरिक्खा पंचिदिय-तिरिक्ख पज्जत्ता ॥ १६० ॥

एतदपि सुबोध्यम् ।

पंचिदिय-तिरिक्ख-जोणिणीसु असंजदसम्माइड्ढि-संजदासंजद-  
द्वारेण खइयसम्माइड्ढी णत्थि, अवसेसा अत्थि ॥ १६१ ॥

तत्र शायिकसम्यग्दृष्टीनामुत्पत्तेरभावात्तत्र दर्शनमोहनीयस्य क्षपणाभावाच्च ।

मनुष्यदेशप्रतिपादनार्थमाह—

मणुस्सा अत्थि मिच्छाइड्ढी सासणसम्माइड्ढी सम्माभिच्छाइड्ढी  
असंजदसम्माइड्ढी संजदासंजदा संजदा ति ॥ १६२ ॥  
सुगममेतत् ।

एवमट्ठाइज्ज-दीव-समुद्देशु ॥ १६३ ॥

वैरसम्बन्धेन क्षिप्तानां संयताना संयतासंयतानां च सर्वद्वीपसमुद्रेषु सभवा  
भवन्ति चेन्न, मानुषोत्तरारण्यतो देवस्य प्रयोगतोऽपि मनुष्याणां गमनाभावात् ।

इसीप्रकार पचेन्द्रिय तिर्यच और पचेन्द्रिय-पर्याप्त-तिर्यच भी होते हैं ॥ १६० ॥

इस सूत्रका अर्थ भी सुबोध्य है ।

अब योनिमती तिर्यचोंमें विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

योनिमती-पचेन्द्रिय-तिर्यचोंके असंयतसम्यग्दृष्टि और संयतासंयत गुणस्थानमें  
शायिकसम्यग्दृष्टि नहीं होते हैं । शेषके दो सम्यग्दर्शनोंसे युक्त होते हैं ॥ १६१ ॥

योनिमती पचेन्द्रिय तिर्यचोंमें शायिकसम्यग्दृष्टि जीव मरकर उत्पन्न नहीं होते हैं  
और जो वहा उत्पन्न होते हैं उनके दर्शनमोहनीयका क्षय नहीं होता है, अतः वहां शायिक  
सम्यग्दर्शन नहीं पाया जाता है ।

अब मनुष्योंमें विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

मनुष्य मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यगभिध्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयता-  
संयत और संयत होते हैं ॥ १६२ ॥

इस सूत्रका अर्थ सुगम है—

उन्हीं और विशेष कहनेके लिये सूत्र कहते हैं—

इसीप्रकार द्वार द्वीप और दो समुद्रोंमें जानना चाहिये ॥ १६३ ॥

शेका—चैरके सबन्धसे डालि गये संयत और संयतासंयत आदि मनुष्योंका संपूर्ण  
द्वीप और समुद्रोंमें सद्भाव रहा आवे, ऐसा मान लेनेमें क्या हानि है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, मानुषोत्तर पर्वतके उस तरफ देवकी प्रेरणासे भी  
मनुष्योंका गमन नहीं हो सकता है । ऐसा न्याय भी है कि जो स्वत असमर्थ होता है वह

न हि स्वतोऽसमर्थोऽन्यतः समर्थो भवत्यतिप्रसङ्गात् । अथ स्यादर्धतृतीयशब्देन किमु  
द्वीपो विशिष्यते उत समुद्र उत द्वावपीति ? नान्त्योपान्त्यविकल्पौ मानुषोत्तरारण्यतोऽपि  
मनुष्याणामस्तित्वप्रसङ्गात् । अस्तु चेन्न, द्वीपत्रये मनुष्याणां सत्त्वप्रसङ्गात् । न तदपि  
सुखविरोधोऽत् । नादिविकल्पोऽपि समुद्राणां संख्यानियमाभावतः सर्वसमुद्रेषु तत्त्वसत्त्व-  
प्रसङ्गादिति ।

अत्र प्रतिविधीयते । नान्त्योपान्त्यविकल्पोक्तदोषाः समाटौकन्ते, तयोरनभ्यु-  
पगमात् । न प्रथमविकल्पोक्तदोषोऽपि द्वीपेष्वर्धतृतीयसंख्येषु मनुष्याणामस्तित्वनियमे  
सति शेषद्वीपेषु मनुष्याभावसिद्धिन्मानुषोत्तरत्वं प्रत्यविशेषतः शेषसमुद्रेषु तदभावसिद्धेः ।  
नाशेषसमुद्राणां मानुषोत्तरत्वमसिद्धमारात्तनर्द्धीपभागस्याप्यन्यथा मानुषोत्तरत्वानुपपत्तेः ।  
ततः सामर्थ्याद् द्वयोः समुद्रयोः सन्तीत्यनुक्तमप्यवगम्यते ।

दूसरोंके सबन्धसे भी समर्थ नहीं हो सकता है । यदि ऐसा न माना जावे तो अतिप्रसंग दोष  
आ जायगा । अत मानुषोत्तरके उस ओर मनुष्य नहीं पाये जाते हैं ।

शेका—अर्धतृतीय शब्द द्वीपका विशेषण है या समुद्रका अथवा दोनोंका ? इनमेंसे  
अन्तके दो विकल्प तो बराबर नहीं हैं, क्योंकि, वैसा मान लेने पर मानुषोत्तर पर्वतके उस  
तरफ भी मनुष्योंके अस्तित्वका प्रसंग आ जायगा । यदि यह कहा जावे कि अच्छी बात है,  
मानुषोत्तरके परे भी मनुष्य पाये जावे सो भी कबना ठीक नहीं है, क्योंकि, इसप्रकार तो  
तीन द्वीपोंमें मनुष्योंके सद्भावका प्रसंग आता है । और वैसा माना नहीं जा सकता, क्योंकि,  
सूत्रसे विरोध आता है । इसीप्रकार पहला विकल्प भी नहीं बन सकता है, क्योंकि, इसप्रकार  
द्वीपोंकी सख्याका नियम होने पर भी समुद्रोंकी सख्याका कोई नियम नहीं बनता है, इसलिये  
समस्त समुद्रोंमें मनुष्योंके सद्भावका प्रसंग प्राप्त होता है ?

समाधान—दूसरे और तीसरे विकल्पमें दिये गये दोष तो प्राप्त ही नहीं होते हैं,  
क्योंकि, परमागममें वैसा माना ही नहीं गया है । इसीप्रकार प्रथम विकल्पमें दिया गया दोष  
भी प्राप्त नहीं होता है, क्योंकि, द्वार द्वीपमें मनुष्योंके अस्तित्वका नियम हो जानेपर शेषके  
द्वीपोंमें जिसप्रकार मनुष्योंके अभावकी सिद्धि हो जाती है उसीप्रकार येन समुद्रोंमें भी  
मनुष्योंका अभाव सिद्ध हो जाता है, क्योंकि द्वार द्वीपोंको छोड़कर शेष द्वीपोंकी तरफ दो समु-  
द्रोंके अतिरिक्त शेष समुद्र भी मानुषोत्तरसे परे हैं, अतः शेष द्वीपोंकी तरफ शेष समुद्रोंके भी  
मानुषोत्तरसे परे होनेमें कोई विशेषता नहीं है । इसप्रकार शेष द्वीपोंके लिये जो नियम लागू है वही  
शेष समुद्रोंके लिये भी हो जाता है । इसलिये शेष समुद्रोंमें मनुष्योंका अभाव है यह बात निश्चित  
हो जाती है । शेषके संपूर्ण समुद्रोंका मानुषोत्तर पर्वतके उस तरफ होना असिद्ध भी नहीं है,  
अन्यथा समीपवर्ती द्वीपभागके भी मानुषोत्तर पर्वतके उस तरफ होना सिद्ध नहीं होगा । इस-  
लिये सामर्थ्यसे दो समुद्रोंमें मनुष्य पाये जाते हैं, यह बात बिना कहे ही जानी जाती है ।

सम्यग्दर्शनविशेषप्रतिपादनार्थमाह--

मथुसा असंजदसम्माइडि-संजदासंजद-संजद-ङ्गणे अत्थि  
सम्माइड्डी वेदयसम्माइड्डी उवसमसम्माइड्डी ॥ १६४ ॥

मुगमन्वान्नात्र वक्तव्यमस्मि ।

एवं मथुस-पजजरा-मथुसिणीसु ॥ १६५ ॥

एतदपि मुगमम् ।

देवादेशप्रतिपादनार्थमाह --

देवा अत्थि भिच्छाइड्डी सासणसम्माइड्डी सम्मामिच्छाइड्डी असं-  
जदसम्माइड्डी ति ॥ १६६ ॥

एवं जाव उवरिम-उवरिम-भेवज्ज-विमाण-वासिय-देवा ति  
॥ १६७ ॥

देवा असंजदसम्माइड्डी-ङ्गणे अत्थि खडयसम्माइड्डी वेदय-  
सम्माइड्डी उवसमसम्माइड्डी ति ॥ १६८ ॥

अथ मनुष्योंमें सम्यग्दर्शनके विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं--

मनुष्य अस्यानमस्यग्दृष्टि, गयतामयन और मयत गुणस्थानोंमें आधिक्यसम्यग्दृष्टि  
प्राप्त्यन्यग्दृष्टि और उपगममस्यग्दृष्टि होते हैं ॥ १६४ ॥

इस सूत्रका अर्थ सुगम होनेसे यदा पर विशेष कहने योग्य नहीं है ।

अथ विशेष मनुष्योंमें विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं--

इमीप्रकार पर्याप्त मनुष्य और पर्याप्त मनुष्यान्वियोंमें भी जानना चाहिये ॥ १६५ ॥

इस सूत्रका अर्थ भी सुगम है ।

अथ तैवोंमें विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं--

अथ मिय्याग्दृष्टि, सामान्यनमस्यग्दृष्टि, समग्गिमथ्याग्दृष्टि और असयतसम्यग्दृष्टि  
होते हैं ॥ १६६ ॥

अथ उक्त अर्थके तैव-विशेषोंमें प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं--

इमीप्रकार उपरिम श्रेयस्फलेके उपरिम पटल तकके देव जानना चाहिये ॥ १६७ ॥

अथ तैवोंमें सम्यग्दर्शनके श्रेयोंके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं--

अथ प्रत्ययानमस्यग्दृष्टि गुणस्थानमें आधिक्यसम्यग्दृष्टि, वेदकसम्यग्दृष्टि और उपशम-

सुगमत्वारुवण्णितये न किञ्चिद्वक्तव्यमस्ति ।

भवणवासिय-वाणवेंतर-जोइसिय-देवा देवीओ च सोधम्मीसाण-  
कपवासिय-देवीओ च असंजदसम्माइडि-ङ्गणे खडयसम्माइड्डी णत्थि  
अवसेसा अत्थि अवसेसियाओ अत्थि ॥ १६९ ॥

किमिति धार्थिकसम्यग्दृष्टयस्तत्र न सन्तीति चेन्न, देवेषु दर्शनमोहक्षपणाभावा-  
त्क्षपितदर्शनमोहकर्मणामपि प्राणिनां भजनवासादिष्वधमदेवेषु सर्वदेवीषु चोत्पत्तेर-  
भावाच्च । शेषसम्यक्त्वदृश्यस्य तत्र कथं नमभय इति चेन्न, तत्रोत्पन्नजीवानां पश्चात्तरप-  
र्यायपरिणतेः सत्त्वात् ।

सोधम्मीसाण-पहुडि जाव उवरिम-उवरिम-भेवज्ज-विमाण-  
वासिय देवा असंजदसम्माइडि-ङ्गणे अत्थि खडयसम्माइड्डी वेदय-  
सम्माइड्डी उवसमसम्माइड्डी ॥ १७० ॥

सम्यग्दृष्टि होते हैं ॥ १६८ ॥

पूर्वोक्त तैनों सूत्रोंका अर्थ सुगम होनेसे इनके विषयमें अविश्व कुछ भी नहीं कहना है।  
अथ भवतवासी आदि देवोंमें विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं--

भवतवासी, वानव्यन्तर और ज्योतिषी देव तथा उन्नती देविया और सौधर्म तथा  
ईशानकल्पवासी देवियां असयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें आधिक्यसम्यग्दृष्टि नहीं होती हैं या  
नहीं होती हैं । शेषके दो सम्यग्दर्शनोंसे युक्त होते हैं या होती हैं ॥ १६९ ॥

अंशा--आधिक्यसम्यग्दृष्टि जिन उक्त स्थानोंमें क्यों नहीं होते हैं ?

समाधान--नहीं, क्योंकि, एक तो वहांपर दर्शनमोहनियका क्षपण नहीं होता है।  
दूसरे जिन जीवोंने पूर्व पर्यायमें दर्शनमोहनियता शय कर दिया है उनकी भवतवासी आदि  
अधम देवोंमें और सभी देवियोंमें उत्पत्ति नहीं होती है ।

अंशका--शेषके दो सम्यग्दर्शनोंका उक्त स्थानोंमें सद्भाव कैसे संभव है ?

समाधान--नहीं, क्योंकि, वहांपर उत्पन्न हुए जीवोंके अन्तर सम्यग्दर्शनरूप  
पर्याय हो जाती है, इसलिये शेषके दो सम्यग्दर्शनोंका वहांपर सद्भाव पाया जाता है ।

अथ शेष देवोंमें सम्यग्दर्शनके भेद वतलानेके लिये सूत्र कहते हैं--

सौधर्म और पेशान करपसे लेकर उपरिम श्रेयस्फलेके उपरिम भागतक रखनेवाले  
देव असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें आधिक्यसम्यग्दृष्टि, वेदकसम्यग्दृष्टि और उपशमसम्यग्दृष्टि  
होते हैं ॥ १७० ॥



प्रकृत्याऽऽनेन्द्रियमदिति चेन्नस्त्वेषां यदि मनोऽनपेक्ष्य ज्ञानोत्पत्तिमात्रमाश्रित्यासंज्ञित्वस्य  
निवन्त्यनमिति चेन्नमनसोऽभावाद् मुद्ध्यतिशयाभावात्, ततो नानन्तरोक्तद्रोप इति सुगममेतत् ।

असृणी पृंइदिय-पहुडि जाव असृणिण-पंचिदिया ति' ॥१७४॥

एतदपि सुगमं सूत्रम् ।

आहारगुणेन जीवप्रतिपादनार्थमाह—

आहाराणुवादेण अस्थि आहारा अणाहारा ॥ १७५ ॥

एतदपि सुगमम् ।

आहारगुणप्रतिपादनार्थमाह—

आहारा पृंइदिय-पहुडि जाव सजोगिकेवलि ति' ॥ १७६ ॥

अत्र काललेपोऽभमनः कर्माहारान् परित्यज्य नो कर्माहारो ग्राह्यः, अन्यथाहार काल-  
विरहाभ्यां नह निरोधात् ।

जीवोंकी तरह याग पत्राओंका ग्रहण करते हैं ?

गमाधान—यदि मनुकी अपेक्षा न करके घालकी उत्पात्तिमात्रका आश्रय करके जानो-  
रगति अर्थात् जीवोंकी कारण होती तो ऐसा होता। परंतु ऐसा तो है नहीं, क्योंकि, कदाचित् मनुके  
अभावे पिकलेन्द्रिय जीवोंकी तरह केवलीके बुद्धिके अतिशयका अभाव भी कहा जावेगा,  
रगलिये केवलीके पूर्वोक्त दोष लागू नहीं होता है। सोप कथन सुगम है ।

अब अमंकी जीवोंके गुणस्थान बतलानेके लिये सूत्र कहते हैं—

असनी जीर प केन्द्रियसे लेकर असनी पनेन्द्रियपर्यन्त होते हैं ॥ १७४ ॥

यह सूत्र सुगम है ।

अब आहारमार्गिकाके छान जीवोंके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

आहारमार्गिकाके अनुवादसे आहारक और अनाहारक जीव होते हैं ॥ १७५ ॥

यह सूत्र भी सुगम है ।

अब आहारमार्गिकोंमें गुणस्थानोंके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

आहारक जीर पकेन्द्रियसे लेकर सजोगिकेवली गुणस्थानतक होते हैं ॥ १७६ ॥

यह सूत्र आहार शब्दसे कजलाहार, लेपाहार, ऊमाहार, मानसिकाहार और कर्माहारकी  
छोड़कर नो कर्माहारका ही ग्रहण करना चाहिये । अन्यथा आहारकाल और विरहके साथ  
विरोध जाना है ।

१. अतिरिक्त जीवोंकी शक्ति । म पि १. ८.

२. अतिरिक्त अणुकेन्द्रिय विद्यमान होनेसे सजोगिकेवली । म पि १. ८

अणाहारा चटुसु डाणेषु विगहगइ-समावण्णणं केवलीणं वा  
समुग्धाद-गदाणं अजोगिकेवली सिद्धा चेदि ॥ १७७ ॥

एते शरीरआयोग्यपुद्गलोपादानरहितत्वादानाहारिण उच्यन्ते ।

इदि संत-सुत्त-विवरण समत्त ।

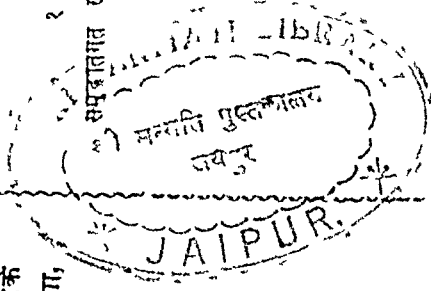
अब अनाहारकोंके गुणस्थान बतलानेके लिये सूत्र कहते हैं—

विप्रद्वगतिको प्राप्त जीवोंके मिव्यात्व, सासादन और अविस्तसम्यग्दृष्टि तथा समुदा-  
तगत केवलियोंके सजोगिकेवली, इन चार गुणस्थानोंमें रहनेवाले जीव और अजोगिकेवली  
तथा सिद्ध अनाहारक होते हैं ॥ १७७ ॥

ये जीव शरीरके योग्य पुद्गलोंका ग्रहण नहीं करते हैं, इसलिये अनाहारक होते हैं ।

इसप्रकार सत्यरूपणा-सूत्र-विवरण समाप्त हुआ ।

१ अनाहारके गुणस्थानोंमें विगहगयापके गुणस्थानानि, पियाण्डि सामादनसम्यग्-परिपपपामम्यग्दृष्टिश्च ।  
समुदागत सजोगिकेवली च । म पि १. ८







# परिशिष्ट

## १ संत-परुषणा-सुताणि

| सूत्र संख्या | सूत्र  | पृष्ठ | सूत्र सख्या   | सूत्र | पृष्ठ |
|--------------|--|-------|---|-------|-------|
| १            | णमो अरिहंताणं णमो सिद्धाणं<br>णमो आइरियाणं णमो उवब्भं-<br>याणं णमो लोए सव्वसाहूणं<br>इदि ।                       | ११    | १ ओघेण अत्थि मिच्छाइडी ।                              | १५१   | २५    |
| २            | एत्तो इमंमि चोइसण्हं जीवसमा-<br>माणं मग्गणट्टराए तत्थ इमाणि<br>चोइम चैव इाणणि णायव्वाणि<br>मांति ।               | १२    | १० सासणसम्माइडी ।                                     | १५२   | २६    |
| ३            | तं जहा ।   | १३    | ११ सम्मामिच्छाइडी ।                                   | १५६   | २६    |
| ४            | गह इंदिए ऋए जोवे वेदे ऋए<br>णाणे मंजमे दंमणे लेस्सा भविय<br>सम्मत्त सण्णि आत्तरए चेदि ।                          | १३    | १२ असंजदमम्माइडी ।                                    | १७०   | २७    |
| ५            | एदंमि नेम चोइसण्हं जीवसमा-<br>माणं पत्तणट्टराए तत्थ इमाणि<br>अट्ट अणियोगइराणि णाय-<br>व्वाणि भंति ।              | १३    | १३ संजदासंजदा ।                                       | १७३   | २७    |
| ६            | तं जहा ।   | १५    | १४ पमत्तसंजदा ।                                       | १७५   | २७    |
| ७            | संतपरुषणा दब्बपमाणायुगमो<br>नेत्तायुगमो फोगणायुगमो<br>ऋलायुगमो अंतरायुगमो भाना-<br>युगमो अप्पावदुगणायुगमो चेदि । | १५    | १५ अप्पमत्तसंजदा ।                                    | १७८   | २७    |
| ८            | भवत्तणराए दुत्तिहो णिंदसो<br>ओघेण आदेसेण य ।   | १५    | १६ अपुब्बऋणपविट्टसुद्विसंजदेसु<br>अत्थि उवयमा सत्ता । | १७९   | २७    |

| सूत्र संख्या | सूत्र  | पृष्ठ | सूत्र सख्या   | सूत्र | पृष्ठ |
|--------------|--|-------|---|-------|-------|
| २५           | णेइया चउट्टणेसु अत्थि मिच्छा-<br>इडी सासणसम्माइडी सम्मा-<br>मिच्छाइडी असंजदसम्माइडि<br>त्ति ।  | २०४   | ३० तिरिक्खा मिस्सा सण्णिमिच्छा-<br>इट्टिप्पहुडि जाव संजदासंजदा<br>त्ति ।                              | २२८   | २२    |
| २६           | तिरिक्खा पंचसु ट्ठाणेसु अत्थि<br>मिच्छाइडी सासणसम्माइडी<br>सम्मामिच्छाइडी असंजदसम्मा-<br>इडी संजदासंजदा त्ति ।   | २०७   | ३१ मणुस्सा मिस्सा मिच्छाइडि-<br>प्पहुडि जाव संजदासंजदा त्ति ।   | २३१   | २३    |
| २७           | मणुस्सा चोइससु गुणट्टणेसु<br>अत्थि मिच्छाइडी, सासणसम्मा-<br>इडी, सम्मामिच्छाइडी, असंजद-<br>सम्माइडी, संजदासंजदा, पमत्त-<br>संजदा, अप्पमत्तसंजदा, अपुब्ब-<br>ऋणपविट्टसुद्विसंजदेसु अत्थि<br>उवयमा सत्ता, अणियट्टिवाइदर-<br>सांपराइयपविट्टसुद्विसंजदेसु अत्थि<br>उवयमा सत्ता, सुहुमसांपराइय-<br>पविट्टसुद्विसंजदेसु अत्थि उव-<br>यमा सत्ता, उयमत्तकुसायनीय-<br>रायछदुमत्था, सीणकसायनीय-<br>रायछदुमत्था, सजोगिकेवली,<br>अजोगिकेवलि त्ति । | २१०   | ३२ तेण परं सुट्ठा मणुस्सा ।   | २३१   | २३    |
| २८           | देवा चट्टसु ट्ठाणेसु अत्थि मिच्छा-<br>इडी मानणमम्माइडी सम्मा-<br>मिच्छाइडी अमंजदमम्माइडि<br>त्ति ।   | २२५   | ३३ इंदिया तीइदिया चट्टरिदिया<br>तीइदिया अणिदिया चेदि ।  | २३१   | २३    |
| २९           | तिरिक्खा सुट्ठा एइदियप्पहुडि<br>जाव अमण्णिपंचिदिया त्ति ।  | २२७   | ३४ एइदिया दुविहा, वादरा सुहुमा ।<br>वादरा दुविहा, पजत्ता अपजत्ता ।<br>सुहुमा दुविहा, पजत्ता अपजत्ता । | २४९   | २४    |

( ३ )

| सूत्र संख्या | सूत्र   | सूत्र संख्या | सूत्र   | पृष्ठ |
|--------------|---|--------------|---|-------|
| ४०           | वाउकाइया वणफइकाइया तस-<br>काइया अकाइया चेदि ।   | २६४          | काइया एकम्मि चेष मिच्छा-<br>इट्टिङ्गणे ।  | २७४   |
| ४१           | पुढविकाइया दुविहा, वादरा<br>सुहुमा । वादरा दुविहा, पज्जत्ता<br>अपज्जत्ता । सुहुमा दुविहा,<br>पज्जत्ता अपज्जत्ता । आउकाइया<br>दुविहा, वादरा सुहुमा । वादरा<br>दुविहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता ।<br>सुहुमा दुविहा, पज्जत्ता अप-<br>ज्जत्ता । तेउकाइया दुविहा,<br>वादरा सुहुमा । वादरा दुविहा,<br>पज्जत्ता अपज्जत्ता । सुहुमा दुविहा,<br>पज्जत्ता अपज्जत्ता । वाउकाइया<br>दुविहा, वादरा सुहुमा । वादरा<br>दुविहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता ।<br>सुहुमा दुविहा, पज्जत्ता अप-<br>ज्जत्ता चेदि । | २६७          | ४४ तसकाइया वीइंदियप्पहुडि जाव<br>अजोगिकेवल्लि ति ।  | २७५   |
| ४२           | वणफइकाइया दुविहा, पत्तेय-<br>सरीरा साधारणसरीरा । पत्तेय-<br>सरीरा दुविहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता ।<br>साधारणसरीरा दुविहा, वादरा<br>सुहुमा । वादरा दुविहा, पज्जत्ता<br>अपज्जत्ता । सुहुमा दुविहा,<br>पज्जत्ता अपज्जत्ता चेदि ।   | २६८          | ४५ वादरकाइया वादरेइंदियप्पहुडि<br>जाव अजोगिकेवल्लि ति ।   | २७६   |
| ४३           | पुढविकाइया आउकाइया तेउ-<br>काइया वाउकाइया वणफइ-   | २७२          | ४६ तेण परमकाइया चेदि ।  | २७७   |
|              |   |              | ४७ जोगाणुवादेण अत्थि मणजोगी<br>वाचिजोगी कायजोगी चेदि ।  | २७८   |
|              |   |              | ४८ अजोगी चेदि ।   | २८०   |
|              |   |              | ४९ मणजोगो चउव्विहो, सच्चमण-<br>जोगो मोसमणजोगो सच्चमोस-<br>मणजोगो असच्चमोसमणजोगो<br>चेदि ।         | २८०   |
|              |   |              | ५० मणजोगो सच्चमणजोगो असच्च-<br>मोसमणजोगो सण्णिमिच्छाइट्टि-<br>प्पहुडि जाव सजोगिकेवल्लि ति ।       | २८२   |
|              |   |              | ५१ मोसमणजोगो सच्चमोसमणजोगो<br>सण्णिमिच्छाइट्टिप्पहुडि जाव<br>खीणकसायवीयरारयछदुमत्था<br>त्ति ।     | २८५   |
|              |   |              | ५२ वाचिजोगो चउव्विहो, सच्चवचि<br>जोगो मोसवाचिजोगो सच्चमोस-<br>वाचिजोगो असच्चमोसवाचिजोगो<br>चेदि । | २८६   |
|              |   |              | ५३ वाचिजोगो असच्चमोसवाचि-<br>जोगो वीइंदियप्पहुडि जाव<br>सजोगिकेवल्लि ति ।                         | २८७   |

( ४ )

| सूत्र संख्या | सूत्र   | सूत्र संख्या | सूत्र   | पृष्ठ |
|--------------|---|--------------|---|-------|
| ५४           | सच्चवाचिजोगो सण्णिमिच्छाइट्टि-<br>प्पहुडि जाव सजोगिकेवल्लि ति ।   | २८८          | ५४ सच्चवाचिजोगो सच्चमोसवाचि-<br>जोगो सण्णिमिच्छाइट्टिप्पहुडि<br>जाव खीणकसायवीयरारयछदु-<br>मत्था ति ।  | ३०५   |
| ५५           | मोसवाचिजोगो ओरालियमिस्सकाय-<br>जोगो वेउव्वियकायजोगो वेउ-<br>व्वियमिस्सकायजोगो आहार-<br>कायजोगो आहारमिस्सकायजोगो<br>कम्मइयकायजोगो चेदि । | २८९          | ५६ कायजोगो सत्तविहो, ओरालिय-<br>कायजोगो ओरालियमिस्सकाय-<br>जोगो वेउव्वियकायजोगो वेउ-<br>व्वियमिस्सकायजोगो आहार-<br>कायजोगो आहारमिस्सकायजोगो<br>कम्मइयकायजोगो चेदि । | ३०६   |
| ५७           | ओरालियकायजोगो ओरालिय-<br>मिस्सकायजोगो तिरिक्खमणु-<br>स्साणं ।   | २९५          | ५७ कायजोगो एइंदियाण ।   | ३०९   |
| ५८           | वेउव्वियकायजोगो वेउव्विय-<br>मिस्सकायजोगो देवणेइयणं ।   | २९६          | ६८ मणजोगो वाचिजोगो पज्जत्ताणं<br>अत्थि, अपज्जत्ताणं णत्थि ।   | ३१०   |
| ५९           | आहारकायजोगो आहारमिस्स-<br>कायजोगो संजदाणमिद्धिपत्ताणं ।   | २९७          | ६९ कायजोगो पज्जत्ताण वि अत्थि,<br>अपज्जत्ताण वि अत्थि ।   | ३१०   |
| ६०           | कम्मइयकायजोगो विग्गहाइ-<br>समावण्णाणं केत्तलीणं वा ससु-<br>ग्घादगदाणं ।   | २९८          | ७० छ पज्जत्तीओ, छ अपज्जत्तीओ ।  | ३११   |
| ६१           | कायजोगो ओरालियकायजोगो<br>ओरालियमिस्सकायजोगो एइं-<br>दियप्पहुडि जाव सजोगिकेवल्लि<br>त्ति ।   | ३०५          | ७१ सण्णिमिच्छाइट्टिप्पहुडि जाव<br>असंजदसम्माइट्टि ति ।  | ३१२   |
| ६२           | वेउव्वियकायजोगो वेउव्विय-<br>मिस्सकायजोगो सण्णिमिच्छा-  | ३०५          | ७२ पंच पज्जत्तीओ, पंच अपज्ज-<br>त्तीओ ।   | ३१३   |
|              |   |              | ७३ वीइंदियप्पहुडि जाव असण्णि-<br>पंचिदिया ति ।  | ३१३   |
|              |   |              | ७४ चत्तारि पज्जत्तीओ, चत्तारि<br>अपज्जत्तीओ ।   | ३१४   |

| सूत्र सख्या | सूत्र   | पृष्ठ | सूत्र सख्या   | सूत्र | पृष्ठ |
|-------------|---|-------|---|-------|-------|
| १०४         | तेण परमवगदेवेदा चेदि ।  | ३४४   | वामिय-देवीओ च मिच्छाइट्टि-  |       |       |
| १०५         | णेइया चटुसु ट्ठोणेसु सुद्धा णंउंसयेवेदा ।                         | ३४५   | सासणसम्माइट्टिट्ठोणे सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता, सिया पज्जत्तियाओ सिया अपज्जत्तियाओ ।   | ३३५   |       |
| १०६         | तिरिक्सा सुद्धा णंउंसयेवेदा एइंदियप्पहुडि जाव चउरिंदिया ति ।      | ३४५   | ९७ सम्मामिच्छाइट्टि-अंसजदसम्माइट्टिट्ठोणे णियमा पज्जत्ता णियमा पज्जत्तियाओ ।  | ३३६   |       |
| १०७         | तिरिक्सा तिवेदा असणिण-पंचिदियप्पहुडि जाव संजदासजदा ति ।           | ३४६   | ९८ सोधम्मीसाणप्पहुडि जाव उवरिमउवरिमोगेवज्जं ति विमाण-वासिय-देवेसु मिच्छाइट्टि-सासणसम्माइट्टि-अंसजदसम्माइट्टिट्ठोणे मिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता । | ३३७   |       |
| १०८         | मणुस्सा तिवेदा मिच्छाइट्टि-पहुडि जाव अणियाट्टि ति ।               | ३४६   | ९९ मम्मामिच्छाइट्टिट्ठोणे णियमा पज्जत्ता ।  | ३३९   |       |
| १०९         | तेण परमवगदेवेदा चेदि ।  | ३४७   | १०० अणुदिस-अणुत्तर-विजय-वइज-यंत-जयंतावराजित-सव्वट्ठसि-ट्टि-विमाणवासिय-देवा अस-जदसम्माइट्टिट्ठोणे सिया-पज्जत्ता, सिया अपज्जत्ता ।                  | ३३९   |       |
| ११०         | देवा चटुसु ट्ठोणेसु दुवेदा, इत्थियेवेदा पुरिसवेदा ।               | ३४७   | १०१ वेदाणुवादेण अत्थि इत्थियेदा पुरिसवेदा णंउंसयेवेदा अवगद-वेदा चेदि ।  | ३४०   |       |
| १११         | रुसायाणुवादेण अत्थि कोथ-कसाई माणकसाई मायकसाई लोभकसाई अकसाई चेदि । | ३४८   | १०२ इत्थियेदा पुरिसवेदा असणिण-मिच्छाइट्टिप्पहुडि जाव अणियाट्टि ति ।   | ३४२   |       |
| ११२         | कोथकसाई माणकसाई माय-कसाई एइंदियप्पहुडि जाव अणियाट्टि ति ।         | ३५१   | १०३ णंउंसयेवेदा एइंदियप्पहुडि जाव अणियाट्टि ति ।  | ३४३   |       |

| सूत्र सख्या | सूत्र   | पृष्ठ | सूत्र सख्या   | सूत्र | पृष्ठ |
|-------------|---|-------|---|-------|-------|
| ७५          | णंउंइत्थियाणं ।   | ३१४   | ८६ णं पंचिदियतिरिक्सा पंचि-दियतिरिक्खपज्जत्ता ।   | ३२७   |       |
| ७६          | आगल्लियक्कायजोगो पज्जत्ताणं, आगल्लियमिम्मक्कायजोगो अप-ज्जत्ताणं ।                           | ३१५   | ८७ पंचिदियतिरिक्खजोणिसु मि-च्छाइट्टि मासणसम्माइट्टिट्ठोणे मिया पज्जत्तियाओ, सिया अपज्जत्तियाओ । | ३२८   |       |
| ७७          | पेटच्चियक्कायजोगो पज्जत्ताणं, पेटच्चियमिम्मक्कायजोगो अप-ज्जत्ताणं ।                         | ३१७   | ८८ मम्मामिच्छाइट्टि-अंसजदसम्मा-इट्टि-मंजदासजदद्वोणे णियमा पज्जत्तियाओ ।                         | ३२८   |       |
| ७८          | आहारक्कायजोगो पज्जत्ताणं, आहारमिम्मक्कायजोगो अपज्ज-त्ताणं ।                                 | ३१७   | ८९ मणुस्सा मिच्छाइट्टि-सासण-सम्माइट्टि-अंसजदसम्माइट्टिट्ठोणे मिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता ।     | ३२९   |       |
| ७९          | णेउया मिच्छाइट्टि-अंसजद-मम्मामिच्छाइट्टिट्ठोणे मिया पज्जत्ता गिया अपज्जत्ता ।               | ३१९   | ९० मम्मामिच्छाइट्टि-मंजदासजद-संसजदद्वोणे णियमा पज्जत्ता ।                                       | ३२९   |       |
| ८०          | मासणसम्माइट्टि-मम्मामिच्छा-इट्टिट्ठोणे णियमा पज्जत्ता ।                                     | ३२०   | ९१ णं मणुस्सपज्जत्ता ।  | ३३१   |       |
| ८१          | पं पदमाण पुढीण णेइया ।  | ३२२   | ९२ मणुणिसु मिच्छाइट्टि-मासण-सम्माइट्टिट्ठोणे मिया पज्जत्ति-याओ सिया अपज्जत्तियाओ ।              | ३३२   |       |
| ८२          | पिदियादि जाव मत्तसाए पुढ-पीए णेउया मिच्छाइट्टिट्ठोणे मिया पज्जत्ता, मिया अपज्जत्ता ।        | ३२३   | ९३ मम्मामिच्छाइट्टि-अंसजदसम्मा-इट्टि-मंजदानंसजदद्वोणे णियमा पज्जत्तियाओ ।                       | ३३२   |       |
| ८३          | मासणसम्माइट्टि-मम्मामिच्छा-इट्टि-अंसजदसम्माइट्टिट्ठोणे णि-यमा पज्जत्ता ।                    | ३२३   | ९४ देवा मिच्छाइट्टि-सासणसम्माइट्टि-अंसजदसम्माइट्टिट्ठोणे सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता ।         | ३३४   |       |
| ८४          | तिरिक्सा मिच्छाइट्टि-सासण-सम्माइट्टि-अंसजदसम्माइट्टि-द्वोणे मिया पज्जत्ता, सिया अपज्जत्ता । | ३२५   | ९५ मम्मामिच्छाइट्टिट्ठोणे णियमा पज्जत्ता ।  | ३३५   |       |
| ८५          | सम्मामिच्छाइट्टि-मंजदासजद-द्वोणे णियमा पज्जत्ता ।   | ३२६   | ९६ भवणवासिय-याणवत्तर-जोडसिय-देवा देवीओ सोधम्मीसाण-कप्प-   |       |       |

( ७ )

| सूत्र संख्या | सूत्र  | सूत्र संख्या | सूत्र  | पृष्ठ |
|--------------|--|--------------|--|-------|
| ११५          | गाणानुवादेण अत्थि मदिअण्णाणी सुदअण्णाणी विसंगणाणी आभिणिबोहियणाणी सुदणाणी ओहिणाणी मणपज्जवणाणी केवलणाणी चेदि ।   | ३५३          | १२२ केवलागणी तिसु ड्ढाणसु सजोगकेवली अजोगकेवली सिद्धा चेदि ।  | ३६७   |
| ११६          | मदिअण्णाणी सुदअण्णाणी एइदियप्पहुडि जाव सासणस्समाइट्ठि ति ।   | ३६१          | १२३ संजमाणुवादेण अत्थि संजदा सामाइयच्छेदोवट्ठावणसुद्धिसंजदा परिहारसुद्धिसंजदा सुहुमसांपराइयसुद्धिसंजदा जहाक्खादविहारसुद्धिसंजदा संजदासंजदा असंजदा चेदि । | ३६८   |
| ११७          | विसंगणाणं सण्णिमिच्छाइट्ठिणं वा सासणस्समाइट्ठिणं ।   | ३६२          | १२४ संजदा पयत्तसंजदप्पहुडि जाव अजोगकेवलि ति ।  | ३७४   |
| ११८          | पज्जत्ताणं अत्थि, अपज्जत्ताणं गत्थि ।  | ३६३          | १२५ सामाइयच्छेदोवट्ठावणसुद्धिसंजदा पमत्तसंजदप्पहुडि जाव अणियट्ठि ति ।  | ३७४   |
| ११९          | स्समाभिच्छाइट्ठि-ट्ठाने तिणि वि गाणाणि अण्णाणेण मिस्साणि । आभिणिबोहियणाणं मदिअण्णाणेण मिस्सिय, सुदणाणं सुदअण्णाणेण मिस्सिय, ओहिणाण विसंगणाणेण मिस्सिय, तिण्णि वि गाणाणि अण्णाणेण मिस्साणि वा । | ३६४          | १२६ परिहारसुद्धिसंजदा दोसु ड्ढाणसु पमत्तसंजदट्ठाने अप्यमत्तसंजदट्ठाने ।  | ३७५   |
| १२०          | आभिणिबोहियणाण सुदणाणं ओहिणाणं असंजदस्समाइट्ठिप्पहुडि जाव खीणकसायवीदारागछुदुमत्था ति ।  | ३६४          | १२७ सुहुमसांपराइयसुद्धिसंजदा ए कम्हि चैव सुहुमसांपराइयसुद्धिसंजद-ट्ठाने ।  | ३७६   |
| १२१          | मणपज्जवणाणी पमत्तसजदप्पहुडि जाव खीणकसायवीदारागछुदुमत्था ति ।   | ३६६          | १२८ जहाक्खादविहारसुद्धिसंजदा च-दुसु ट्ठानेसु उवसंतकसायवीयरायछुदुमत्था खीणकसायवीयरायछुदुमत्था सजोगि-केवली अजोगिकेवलि ति ।                                 | ३७७   |
| १२२          | मणपज्जवणाणी पमत्तसजदप्पहुडि जाव खीणकसायवीदारागछुदुमत्था ति ।   | ३६६          | १२९ संजदासंजदा एकम्मि चैव संजदासंजद-ट्ठाने ।   | ३७८   |

( ८ )

| सूत्र संख्या | सूत्र  | सूत्र संख्या | सूत्र   | पृष्ठ |
|--------------|--|--------------|---|-------|
| १३०          | असंजदा एइदियप्पहुडि जाव असंजदराम्माइट्ठि ति ।  | ३७८          | १३९ सुक्कलेस्सिया सण्णिमिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव सजोगिकेवलि ति ।   | ३९१   |
| १३१          | दंसणाणुवादेण अत्थि चक्खुदंसणी अचक्खुदंसणी ओधिदंसणी केवलदंसणी चेदि ।  | ३७८          | १४० तेण परमलेस्सिया ।   | ३९२   |
| १३२          | चक्खुदंसणी चउरिदियप्पहुडि जाव खीणकसायवीयरायछुदुमत्था ति ।  | ३८३          | १४१ भवियाणुवादेण अत्थि भवसिद्धिया अभवसिद्धिया ।   | ३९२   |
| १३३          | अचक्खुदंसणी एइदियप्पहुडि जाव खीणकसायवीयरायछुदुमत्था ति ।   | ३८३          | १४२ भवसिद्धिया एइदियप्पहुडि जाव अजोगिकेवलि ति ।   | ३९४   |
| १३४          | ओधिदंसणी असंजदस्समाइट्ठिप्पहुडि जाव खीणकसायवीयरायछुदुमत्था ति ।  | ३८४          | १४३ अभवसिद्धिया एइदियप्पहुडि जाव सण्णि मिच्छाइट्ठि ति ।   | ३९४   |
| १३५          | केवलदंसणी तिसु ट्ठानेसु सजोगिकेवली अजोगिकेवली सिद्धा चेदि ।  | ३८५          | १४४ स्समत्ताणुवादेण अत्थि स्समाइट्ठी उइयस्समाइट्ठी वेदगस्समाइट्ठी उवमत्तस्समाइट्ठी सासणस्समाइट्ठी स्समाभिच्छाइट्ठी मिच्छाइट्ठी चेदि । | ३९५   |
| १३६          | लेरसाणुवादेण अत्थि किण्हलेस्सिया गील्लेस्सिया काउलेस्सिया तेउलेस्सिया पल्लेस्सिया सुक्कलेस्सिया अलेस्सिया चेदि । | ३८६          | १४५ स्समाइट्ठी खइयस्समाइट्ठी असंजदस्समाइट्ठिप्पहुडि जाव अजोगिकेवलि ति ।   | ३९६   |
| १३७          | किण्हलेस्सिया गील्लेस्सिया काउलेस्सिया एइदियप्पहुडि जाव असंजदस्समाइट्ठि ति ।                                     | ३९०          | १४६ वेदगस्समाइट्ठी असंजदस्समाइट्ठिप्पहुडि जाव अप्पमत्तसंजदा ति ।  | ३९७   |
| १३८          | तेउलेस्सिया पम्मलेस्सिया सण्णिमिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव अप्पमत्तसंजदा ति ।  | ३९१          | १४७ उवसमत्तस्समाइट्ठी असंजदस्समाइट्ठिप्पहुडि जाव उवसंतकसायवीयरायछुदुमत्था ति ।  | ३९८   |
|              |  |              | १४८ सासणवस्साइट्ठी एकम्मि चैव सासणस्समाइट्ठि-ट्ठाने ।   | ३९८   |
|              |  |              | १४९ स्समाभिच्छाइट्ठी एकम्मि चैव स्समाभिच्छाइट्ठि-ट्ठाने ।   | ३९९   |

| पृष्ठ संख्या   | पृष्ठ संख्या | पृष्ठ संख्या   | पृष्ठ संख्या |
|--|--------------|--|--------------|
| १५०  | ३९९          | १६०  | ००३          |
| मिच्छाङ्गी एतदियपुत्रि जाव मणिगमिच्छाङ्गि चि ।   |              | एवं पंचिद्वियतिरिता धनि-द्वियलियसपञ्जचा ।  |              |
| १५१  | ३९९          | १६१  | ००३          |
| गेरुड्या अनिय मिच्छाङ्गी मा-मणममाङ्गी नमामिच्छाङ्गी अमचदगममाङ्गि चि ।                              |              | पंचिद्वियतिरितसजोणिगीसु अ-संजदममाङ्गि-संजदांसंजदडाणे रात्र्यसन्माङ्गी गन्थि, अन-मेसा अन्थि । |              |
| १५२  | ३९९          | १६२  | ००३          |
| एवं जान नचापु पुडवीसु  |              | मणुसा अन्थि मिच्छाङ्गी सासनमल्लाङ्गी रात्रमाभिच्छा-ङ्गी असंनदसमाङ्गी संजदा-मंजदा संजदा चि ।  |              |
| १५३  | ४००          | १६३  | ००३          |
| गेरुड्या अमंजमममाङ्गि-दृडाणे अनिय रात्र्यसममाङ्गी वेदरासममाङ्गी उगसमममा-ङ्गी चेदि ।                |              | एवमदृष्टजदीवसमुदुल ।   |              |
| १५४  | ४००          | १६४  | ००३          |
| एत पडमाण पुडवीए गेरुड्या ।   |              | मणुसा असंजदसगाङ्गि-संज-दांसंजदडाणे अन्थि सइय-सममाङ्गी वेदयसममाङ्गी उव-समगममाङ्गी ।           |              |
| १५५  | ४०१          | १६५  | ००५          |
| त्रिद्वियादि जाव सचमाण पुड-नीए गेरुड्या अंसंजदगममाङ्गि-डाणे रात्र्यमममाङ्गी गन्थि, अ-आमंसा अन्थि । |              | एवं मणुम-पञ्जचमणुसिणीसु ।  |              |
| १५६  | ४०१          | १६६  | ००५          |
| तिरित्वा अन्थि मिच्छाङ्गी मावणममाङ्गी तमामिच्छा-ङ्गी असंजदगममाङ्गी संजदा-मंजदा चि ।                |              | देवा अन्थि मिच्छाङ्गी साराण-सममाङ्गी ममामिच्छाङ्गी असंजदनममाङ्गि चि ।                        |              |
| १५७  | ४०१          | १६७  | ००५          |
| एवं जान गगदीवपुदेसु ।  |              | एवं जाव उवरिमउवरिम-गेवेज्जनिमाणवासियदेवा चि ।  |              |
| १५८  | ४०१          | १६८  | ००५          |
| तिरित्वा अमंजदममाङ्गि-डाणे अन्थि रात्र्यमममाङ्गी वेदरासममाङ्गी उगसमम-ममाङ्गी ।                     |              | देवा असंजदसममाङ्गिडाणे अन्थि रात्र्यसममाङ्गी वेदय-सममाङ्गी उगसमगममाङ्गि चि ।                 |              |
| १५९  | ४०२          | १६९  | ००५          |
| तिरित्वा संजदासजदडाणे रात्र्यमममाङ्गी गन्थि, अन-मेसा अन्थि ।                                       |              | भवणवासियवाणवेतरजोडमिय-देवा देवीओ च, सोधन्मी-साणकपवासियदेवीओ च असंजदसममाङ्गिडाणे सइय- १०६     |              |

| पृष्ठ संख्या   | पृष्ठ संख्या | पृष्ठ संख्या  | पृष्ठ संख्या |
|--|--------------|---|--------------|
| १७०  | ४०६          | १७३   | ४०८          |
| सोधन्मीसाणपुहुडि जाव उव-रिमउवरिम-गेवज्जविलणवा-भियदेवा असंजदसममाङ्गिडाणे अन्थि रात्र्यसममाङ्गी वेदरा-सममाङ्गी उगसमममाङ्गी । |              | सर्पणी मिच्छाङ्गिपुहुडि जाव खीणनारायवीयापचडुगारथा चि ।                                    |              |
| १७१  | ४०६          | १७४   | ४०९          |
| अणुदिमअणुचरविजयवइजयं-तजयंतावरजिदसवडादि-निमाणवासियदेवा असंजद-सममाङ्गिडाणे अन्थि खयरा-सममाङ्गी वेदरासममाङ्गी उव-समसममाङ्गी । |              | असण्णी एंसंदिपपुहुडि जाव असण्णीपंचिद्विया चि ।  |              |
| १७२  | ४०७          | १७५   | ४०९          |
| सण्णियाणुभादेण अन्थि सण्णी असण्णी ।  |              | आहारपुभादेण अन्थि आहारा अणाहारा ।   |              |
| १७३  | ४०८          | १७६   | ४०९          |
| सण्णियाणुभादेण अन्थि सण्णी असण्णी ।  |              | आहारा एंसंदिपपुहुडि जाव सजोगिकेनलि चि ।   |              |
| १७४  | ४०८          | १७७   | ४१०          |
| सण्णियाणुभादेण अन्थि सण्णी असण्णी ।  |              | अणाहारा चदुसु डाणेलु निग्ग-हगइयसावणां गं केनलीणं ना समुवादाणदाणं अजोगिकेवली सिद्धा चेदि । |              |

२२





| कम संख्या | गाथा                | कम संख्या     | गाथा         | पृष्ठ | अन्यत्र कहा                              |
|-----------|---------------------|---------------|--------------|-------|--|
| १५        | उत्तर गङ्गाजिज्ञासा | ३०            | अनु गङ्गा    | १७२   | गो. जी. ३६.                              |
| ३१        | अई चो चो जिज्ञे     | १०            | आचारा नि ३   | १२    | आ नि. १११.                               |
|           |                     | ३०३३          | मूलाचा.      | ११    |  |
|           |                     | ४, ८          | दशाने        |       |  |
| १२३       | आणालिया ममूरी       | ३३३           | मूलाचा.      | २०४   | ण य पस्तिपर पर सो ३८९. गो जी ५१३.        |
|           |                     | १०१           |              | २५७   | ण य सचमोसुचो २८२ गो जी २१९.              |
| ३१        | जर्मणि धमयव         | ५४            | दशाने १, १३. | ८०    | ण य स्मंति जदो गिन् २०० गो जी १३७        |
| १४४       | मह कचणमगिनाय        | २६६           | गो जी. २०३.  | १४०   | ण नि इडियकरण २४८ गो. जी १७४.             |
| ८७        | मह भगवदो पुग्लो     | १३९           | गो जी. २००   | १     | णाम डवणा दधिण १५. स. त. १, ६             |
| १३२       | आइतरा मरणमना        | २०३           | गो जी. १५०.  | २३    | गिह. नमोदतरणो ४५                         |
| २०६       | आथा कजमकज           | ३८०           | गो जी ५१५.   | २००   | गिहाचणमहुलो ३८९ गो जी ५११.               |
| ११        | आणह निकलमणि         | १४३           | गो. जी. २२०  | १२३   | गिन्सेसनीणमोहो १९० गो जी. ६२             |
| १३५       | आणदि पम्सदि         | ३३०.          |              | २६    | गिहयविदितकूममा ४८                        |
| १७        | आणिया मरणमहा        | ८०            | गो. क. ८०४   | १७०   | गेविदी गेव पुम ३३२ गो जी २७५             |
|           |                     | स त १, ४७.    |              | १११   | गो इदिएसु विरदो १७३ गो. जी २९            |
| १०५       | "                   | १६२           |              |       | त  |
| ८३        | आदि ग जाणु न        | १३०           | गो जी १४१    | ३९    | तत्तो चैव मुदाइ ५९                       |
| ५०        | जियमोभिभणजलणो       | ५९.           |              | ११२   | तदियो य गियर ११२                         |
| ८१        | जीयो रुत्ता य मत्ता | ११८           | गो जी. जी.,  |       | ११. नम्हा अदिगन सुत्तेण ११. स त ३, ६४-६५ |
|           |                     | प्र. डी., ३३६ |              |       |  |
| १०४       | जीया चोरम्भेया      | ३७३           | गो. जी. ४७८  |       | ११८ तारिसपरिणामद्विय १८३ गो. जी. ५३      |
| १६८       | जेवि प्राउसमाई      | ३०४           | मूलाचा.      |       | ३५. नितययररणहरत्त ५८                     |
|           |                     | २१०६.         |              |       | ५. नितयस्वयणसगह १२ स. त. १, ३.           |
| १५५       | जेदिं ण सति जोगा    | २८०           | गो जी. २४३.  |       | २५. नितरणतिसूल ४५                        |
| १०३       | जेदिं तु लपिणजतो    | १६१           | गो. जी. ८    |       | १२०. तिरियनि कुडिल २०२ गो. जी १३८.       |
| १५२       | जेण सणमोमो          | २८६           | गो जी २२१    |       | ६४ तिविहा य आणुपुब्बी ७२                 |
| ११०       | जे नसबन्नाउरिजो     | १७५           | गो. जी. ३१.  |       | १०७ तं मिच्छत्त जहमस १६३                 |
| १३        | जे माणणं गहण        | १४९           | गो. जी. ४८२  |       | द  |
|           |                     | द्रव्यमं ४३   |              |       |  |
| ११        | जां प्रणापमित्याहुः | १७            | लणीय ६, ०    |       | १६ दलियमयणपयावा ४०                       |
|           |                     | ण             |              |       | ६ रन्वद्वियणयपरई १२ स. त. १, ४.          |
| २०८       | म उ हुणर पम्भ       | ३९०           | गो. जी. ५१७. |       | १५८ वसविह सच्चे वयणे २८६ गो. जी. २२०.    |

| कम संख्या | गाथा                   | कम संख्या          | गाथा                      | पृष्ठ | अन्यत्र कहा |
|-----------|------------------------|--------------------|---------------------------|-------|-------------|
| १०९       | वह्निगुडमिचमिस्स       | ७०                 | गो. जी २२                 |       |             |
| ५८        | दोणे लोभे भेणे         | ६३                 | वसु आ ५२७                 |       |             |
| १३१       | विचवति जदो गिन्च       | २०३                | गो. जी १५१.               |       |             |
| ४१        | डिसहजराजगाथो           | ५७                 | ति प २, ४६ (महातरूप)      |       |             |
| ३०        | देसकुलजारसुचो          | ४९                 | वसु आ ३८८ (प्रथमचरण)      |       |             |
| २१५       | दसणमोदुदयादो           | ३९६                | गो जी १४९                 |       |             |
| २१६       | दसणमोदुवसमदो           | "                  | गो जी ६५०                 |       |             |
| ७४        | दंसणवदलामाइय           | २०२                | गो. जी ४७७.               |       |             |
|           |                        | वसु आ. ४           |                           |       |             |
|           |                        | वा. अ ६२           |                           |       |             |
| १९३       | "                      | ३७३                | "                         |       |             |
|           |                        | ध                  |                           |       |             |
| ६३        | धदगास्वपरिजो           | ६८                 | दर जयध अ ९                |       |             |
| ५४        | धणुराकारजिजो           |                    |                           |       |             |
|           |                        | प                  |                           |       |             |
| ७८        | पढमो अरुत्ताण          | ११२                |                           |       |             |
| १२६       | परमाणु-आदियाइ          | ३८२                | गो जी ४८५                 |       |             |
| २९        | परयणजलदिजलो            | ४९                 |                           |       |             |
| १७        | पापं मलमिति प्रोक्त    | ३४                 | ति. प १, १७ (प्रकृतरूप.)  |       |             |
| १४९       | पुढवी य सक्रत          | २७२                | मूलाचा. २०६               |       |             |
|           |                        |                    | आचा. नि. ७३               |       |             |
| १७१       | पुरुगुणमोरो सेदे       | ३४१                | गो जी. २७३.               |       |             |
| १६०       | पुरुमहुदाकरालं         | २९१                | गो. जी २३०.               |       |             |
| १२१       | पुब्बापुब्बफहय         | १८८                |                           |       |             |
| ३९        | पृतनाकडण्डनायक         | ५७                 |                           |       |             |
| १९२       | पवतितउच्चिदेदिं        | ३७३                | गो. जी. ४७६.              |       |             |
| १८९       | पवसमिदो तित्तुतो       | ३७२                | गो जी. ४७२.               |       |             |
| ५२        | पवसेलपुरे रम्भे        | ६१                 | जयध. अ. ९                 |       |             |
| ४०        | पञ्चशतनरपतीना          | ५७                 | ति. प. १, ४५ (महातरूप).   |       |             |
| १०        | प्रमाणनयनिक्षेपे       | १६                 | ति. प १, ८२ (महातरूप)     |       |             |
|           |                        | न च. पृ. ९६        |                           |       |             |
| २२७       | बसुविहवहुपयारा         | ३८२                | गो जी. ४८६.               |       |             |
| ७७        | बास्सविह पुराण         | ११२                |                           |       |             |
| १४१       | बाहिरपणेदि जवा         | २५५                | गो जी १२९                 |       |             |
|           |                        | म                  |                           |       |             |
| २११       | भविया सिद्धि जेसि ३९४  | गो जी ५५७          |                           |       |             |
| ४७        | भावियसिद्धिताण         | ५९                 |                           |       |             |
| ११६       | भिण्णसमयद्विपदि तु १८३ | गो. जी. ५२.        |                           |       |             |
|           |                        | म                  |                           |       |             |
| १३८       | मरुडयममरमुटु           | २४५                |                           |       |             |
| १३०       | मणति जदो गिन्च         | २०३                | गो जी. १४९                |       |             |
| ८८        | मणसा वचसा काए          | १४०                | स्या. सू. पृ १०१.         |       |             |
| २०५       | मरण पत्येइ रणे         | ३८२                | गो. जी. ५१५.              |       |             |
|           |                        | महावीरेणटयो कदि ६१ |                           |       |             |
| २८        | माणुससठाणा वि टु       | ४८                 |                           |       |             |
| १०६       | मिच्छत्तं वेयंतो       | १६२                | गो. जी. १७.               |       |             |
| १५३       | मूलगणोपेखीया           | २७३                | गो. जी. १८६.              |       |             |
|           |                        | मूलाचा. २१३.       |                           |       |             |
| ७         | मूलणिमेण पज्जव         | १३                 | स. त. १, ५.               |       |             |
| ४८        | मेख्व णिपकप            | ५९                 |                           |       |             |
| १         | मंगलणिमिच्छेऊ          | ७                  | पञ्चा. ज. से. डी.         |       |             |
| २०१       | मयो बुद्धिबिणो         | ३८८                | गो. जी. ५१०.              |       |             |
| १६        | मत्तराज्जेऽयमुदियः     | ३३                 | ति. प. १, १६ (प्रकृतरूप). |       |             |

| नाम मन्त्री | गाथा          | पुत्र        | अपत्य            | रत्न                       | संज्ञा         | वृत्त | संज्ञा |
|-------------|---------------|--------------|------------------|----------------------------|----------------|-------|--------|
| २०३         | रुक्मिणि      | विश्वामित्र  | मन्त्रे          | ३२९                        | गो. श्री. ५१३. | म     |        |
| १४          | लियादि        | अप्योक्ता    | १५०              | गो. श्री. ४८९.             |                |       |        |
|             |               |              |                  |                            |                |       |        |
| २१३         | वृत्तावतपत्नी | १७८          | गो. श्री. ३३.    |                            |                |       |        |
| २१४         | व्योमहि       | वि देवदत्त   | ३२५              | गो. श्री. ३४५              |                |       |        |
| १२          | व्योमहि       | कामायनी      | १४५              | गो. श्री. ४३५.             |                |       |        |
| १५२         | वाउष्मिणी     | उष्मिणि      | २३३              | मुद्राणा. २१२.             |                |       |        |
|             |               | भाषा. नि.    |                  |                            |                |       |        |
|             |               | १६४.         | ( अने-<br>ममता ) |                            |                |       |        |
| ५६          | वासुध         | पद्ममाम्बे   | २३               | नि. प. १, ३९.              |                |       |        |
| ११४         | विष्णु        | तथा कन्याया  | १७८              | गो. श्री. ३४               |                |       |        |
| १२          | विष्णु        | हारावतपत्नी  | १५३              | गो. श्री. ३३५.             |                |       |        |
| २३          | विष्णु        | अनार्यणि     | ४१               | नि. प. १, ३०.              |                |       |        |
|             |               |              |                  |                            |                |       |        |
| १०३         | विष्णु        | विष्णुविष्णु | ३०९              | गो. श्री. ३०५.             |                |       |        |
| १३२         | विष्णु        | विष्णुविष्णु | ३३३              | गो. श्री. ३३२.             |                |       |        |
| १७१         | विष्णु        | विष्णुविष्णु | ३०८              | गो. श्री. ३०३.             |                |       |        |
| १७          | विष्णु        | विष्णुविष्णु | २३               | गो. श्री. ५५.              |                |       |        |
| १०४         | विष्णु        | विष्णुविष्णु | २७३              | गो. श्री. १९८.             |                |       |        |
| १३३         | विष्णु        | विष्णुविष्णु | ३२२              | गो. श्री. ३२९.             |                |       |        |
| १७          | विष्णु        | विष्णुविष्णु | ३५४              |                            |                |       |        |
| १७५         | विष्णु        | विष्णुविष्णु | ३००              | गो. श्री. २८५.             |                |       |        |
|             |               |              |                  |                            |                |       |        |
| २           | व्याप्य       | व्योमहि      | १०               | म. शाब्दा.<br>विष्णु देव.  |                |       |        |
|             |               |              |                  |                            |                |       |        |
| २३          | व्योमहि       | व्योमहि      | ५८               | नि. प. १, ४५.<br>( भागवत ) |                |       |        |

३. ऐतिहासिक नाम सूची

| व   | व्योमहि | वृत्त   | संज्ञा | वृत्त         | संज्ञा | वृत्त | संज्ञा |
|-----|---------|---------|--------|---------------|--------|-------|--------|
| १०२ | व्योमहि | व्योमहि | १०२    | गो. श्री. ३३. |        |       |        |
| १०३ | व्योमहि | व्योमहि | १०३    | गो. श्री. ३३. |        |       |        |
| १०४ | व्योमहि | व्योमहि | १०४    | गो. श्री. ३३. |        |       |        |
| १०५ | व्योमहि | व्योमहि | १०५    | गो. श्री. ३३. |        |       |        |
| १०६ | व्योमहि | व्योमहि | १०६    | गो. श्री. ३३. |        |       |        |
| १०७ | व्योमहि | व्योमहि | १०७    | गो. श्री. ३३. |        |       |        |
| १०८ | व्योमहि | व्योमहि | १०८    | गो. श्री. ३३. |        |       |        |
| १०९ | व्योमहि | व्योमहि | १०९    | गो. श्री. ३३. |        |       |        |
| ११० | व्योमहि | व्योमहि | ११०    | गो. श्री. ३३. |        |       |        |
| १११ | व्योमहि | व्योमहि | १११    | गो. श्री. ३३. |        |       |        |
| ११२ | व्योमहि | व्योमहि | ११२    | गो. श्री. ३३. |        |       |        |
| ११३ | व्योमहि | व्योमहि | ११३    | गो. श्री. ३३. |        |       |        |
| ११४ | व्योमहि | व्योमहि | ११४    | गो. श्री. ३३. |        |       |        |
| ११५ | व्योमहि | व्योमहि | ११५    | गो. श्री. ३३. |        |       |        |
| ११६ | व्योमहि | व्योमहि | ११६    | गो. श्री. ३३. |        |       |        |
| ११७ | व्योमहि | व्योमहि | ११७    | गो. श्री. ३३. |        |       |        |
| ११८ | व्योमहि | व्योमहि | ११८    | गो. श्री. ३३. |        |       |        |
| ११९ | व्योमहि | व्योमहि | ११९    | गो. श्री. ३३. |        |       |        |
| १२० | व्योमहि | व्योमहि | १२०    | गो. श्री. ३३. |        |       |        |
| १२१ | व्योमहि | व्योमहि | १२१    | गो. श्री. ३३. |        |       |        |
| १२२ | व्योमहि | व्योमहि | १२२    | गो. श्री. ३३. |        |       |        |
| १२३ | व्योमहि | व्योमहि | १२३    | गो. श्री. ३३. |        |       |        |
| १२४ | व्योमहि | व्योमहि | १२४    | गो. श्री. ३३. |        |       |        |
| १२५ | व्योमहि | व्योमहि | १२५    | गो. श्री. ३३. |        |       |        |
| १२६ | व्योमहि | व्योमहि | १२६    | गो. श्री. ३३. |        |       |        |
| १२७ | व्योमहि | व्योमहि | १२७    | गो. श्री. ३३. |        |       |        |
| १२८ | व्योमहि | व्योमहि | १२८    | गो. श्री. ३३. |        |       |        |
| १२९ | व्योमहि | व्योमहि | १२९    | गो. श्री. ३३. |        |       |        |
| १३० | व्योमहि | व्योमहि | १३०    | गो. श्री. ३३. |        |       |        |
| १३१ | व्योमहि | व्योमहि | १३१    | गो. श्री. ३३. |        |       |        |
| १३२ | व्योमहि | व्योमहि | १३२    | गो. श्री. ३३. |        |       |        |
| १३३ | व्योमहि | व्योमहि | १३३    | गो. श्री. ३३. |        |       |        |
| १३४ | व्योमहि | व्योमहि | १३४    | गो. श्री. ३३. |        |       |        |
| १३५ | व्योमहि | व्योमहि | १३५    | गो. श्री. ३३. |        |       |        |
| १३६ | व्योमहि | व्योमहि | १३६    | गो. श्री. ३३. |        |       |        |
| १३७ | व्योमहि | व्योमहि | १३७    | गो. श्री. ३३. |        |       |        |
| १३८ | व्योमहि | व्योमहि | १३८    | गो. श्री. ३३. |        |       |        |
| १३९ | व्योमहि | व्योमहि | १३९    | गो. श्री. ३३. |        |       |        |
| १४० | व्योमहि | व्योमहि | १४०    | गो. श्री. ३३. |        |       |        |
| १४१ | व्योमहि | व्योमहि | १४१    | गो. श्री. ३३. |        |       |        |
| १४२ | व्योमहि | व्योमहि | १४२    | गो. श्री. ३३. |        |       |        |
| १४३ | व्योमहि | व्योमहि | १४३    | गो. श्री. ३३. |        |       |        |
| १४४ | व्योमहि | व्योमहि | १४४    | गो. श्री. ३३. |        |       |        |
| १४५ | व्योमहि | व्योमहि | १४५    | गो. श्री. ३३. |        |       |        |
| १४६ | व्योमहि | व्योमहि | १४६    | गो. श्री. ३३. |        |       |        |
| १४७ | व्योमहि | व्योमहि | १४७    | गो. श्री. ३३. |        |       |        |
| १४८ | व्योमहि | व्योमहि | १४८    | गो. श्री. ३३. |        |       |        |
| १४९ | व्योमहि | व्योमहि | १४९    | गो. श्री. ३३. |        |       |        |
| १५० | व्योमहि | व्योमहि | १५०    | गो. श्री. ३३. |        |       |        |





| पृष्ठ | पङ्क्ति | श              | आ                | क        | स          | मुद्रित      |
|-------|---------|----------------|------------------|----------|------------|--------------|
| १३    | ४       | सिद्ध          | "                | "        | सर-        | सद्-         |
| "     | "       | -विसनायो       | "                | "        | "          | -विस्मयाओ    |
| १४    | ४       | सुहोण          | मणेण             | मुणेण    | मणेण       | "            |
| "     | ६       | नुञ्जत         | -पुवुत्त         | -पुवुत्त | -पुञ्जं    | "            |
| १५    | २       | विहाय-         | विवाह-           | विवाह-   | विवाह-     | "            |
| १०३   | २       | गद्यहस्तित्वा- | तत्त्वार्थभाष्ये | "        | "          | "            |
|       |         | र्थभाष्ये      | "                | "        | "          | "            |
| १०५   | २       | सुद्धिमर्कंति  | "                | "        | "          | सुद्धि करंती |
| "     | ३       | धावती          | "                | "        | "          | धावती        |
| "     | ७       | उक्तं च भाष्ये | "                | "        | उक्तं च    | "            |
| १०८   | ३       | -मन्याविक-     | "                | "        | -मन्याविक- | "            |
| ११०   | ४       | पव्वयदह-       | "                | "        | पव्वयदह-   | "            |
| ११८   | २       | यहोके          | "                | "        | "          | यहोके        |
| "     | १३      | सरीर           | "                | "        | "          | सरीर         |
| ११९   | ६       | -देसोहि        | "                | "        | -देहेहि    | "            |
| १२०   | १       | सरीरो          | "                | "        | "          | सरीरी        |
| १२३   | २       | धारणा          | "                | "        | धारणा      | "            |
| १२७   | १०      | भानो           | भावादेशो भानो    | भानो     | "          | भावो         |
| १२८   | २       | दोणिण पद्दाणि  | "                | "        | दोणिण      | "            |
| १३०   | ११      | पुत्त-         | उत्त-            | पुवुत्त- | उत्त-      | पुवुत्त-     |
| १३३   | ६       | -रीकृतत्वा-    | "                | "        | "          | -रीक तत्वा-  |
| १३१   | १       | रुद्धिव्यप-    | "                | "        | रुद्धिनशा- | "            |
| "     | ४       | मेयो           | "                | "        | मेओ        | वेथो         |
| १३७   | ५       | तवा भावाणं     | "                | "        | भावण       | भावणं        |
| १५१   | ३       | -मुस्तना       | "                | "        | "          | -मनुरक्तता   |
| १५३   | ७       | इमान्यथो       | इमान्यथो         | "        | इमानि अट्ट | "            |
| १५८   | १       | परूवणा णं      | "                | "        | परूवणा     | "            |
| १६३   | १       | ततोऽसत्येषु    | ततो सत्येष-      | सत्येष-  | ततोऽसत्त्  | "            |
| १६८   | ३       | सतोऽपि         | "                | "        | सतापि      | "            |
| "     | ५       | -दिवत्         | "                | "        | "          | -दिवान्तः    |
| १७१   | १०      | अट्टि-         | "                | "        | "          | लट्टि-       |
| १७४   | ५       | सहभाजो         | "                | "        | सहभुवो     | "            |
| १७७   | २       | कुत्त-         | "                | "        | क तद्      | "            |

| पृष्ठ | पङ्क्ति | अ              | आ              | इ              | ए              | मुद्रित         |
|-------|---------|----------------|----------------|----------------|----------------|-----------------|
| ४८    | ५       | वज्जमिल्लथ-    | वज्जमिल्लथ-    | वज्जमिल्लथ-    | वज्जमिल्लथ-    | वज्जमिल्लथ-     |
|       |         | समस्य          | अभगय-          | ससगय-          | अभगय-          | अभगय-           |
| ४९    | ६       | सगभग-          | सगभग-          | सगभग-          | सगभग-          | सगभग-           |
| ५०    | ७       | -कारिणादेर-    | "              | "              | "              | -कारिणादेर-     |
|       |         | नन्त्थ         | "              | "              | "              | सन्त्थेव        |
| ५३    | ३       | रंतेकडेसस्य    | रतेक-          | रतेक-          | रतेक-          | रतेकडेसस्य      |
|       |         | देशत्वा-       | देशत्वा-       | देशत्वा-       | देशत्वा-       | देशत्वा-        |
| ५५    | १       | सजान-          | सजान-          | सजान-          | सजान-          | सजान-           |
| "     | २       | गुणिभूतान्ते   | "              | "              | "              | गुणिभूतान्ते    |
| "     | ३       | -अत्राविम-     | "              | "              | "              | अत्राविम-       |
| "     | ४       | -स्थापनार्थं   | -स्थापनार्थं   | -स्थापनार्थं   | -स्थापनार्थं   | -स्थापनार्थं    |
| ५९    | ६       | कम्म मुपज्जस्य | कम्म फुट       | कम्म फुट       | कम्म फुट       | कम्म फुट सिद्ध- |
|       |         | कः सिन्नुद पि  | सिद्धमुहं      | सिद्धमुहं      | सिद्धमुहं      | सुद पि पवय-     |
|       |         | पयणदो ।        | पि यणदो        | पि यणदो        | पि यणदो        | पादो ।          |
| ६२    | ३       | -दित्तोर-      | "              | "              | -दित्तो        | "               |
| ६३    | ४       | सइयाइ ण होति   | "              | "              | सइयाइ होति     | "               |
| "     | ५       | सिन्नुजानी     | "              | "              | दिव्वज्जुणी    | "               |
| "     | ८       | गानम गोत्तेण   | गोत्तम-गोत्तेण | गोत्तम-गोत्तेण | गोत्तम-गोत्तेण | गोत्तम गोत्तेण  |
| ६५    | ६       | जारेति         | "              | "              | "              | जावेत्ति        |
| ६६    | ५       | निदिमिणो       | "              | "              | धिदिमिणो       | "               |
| ६७    | ४       | अयमोन्नेदो     | "              | "              | "              | अथवोच्छेदो      |
| ७३    | ९       | -नन्त्थे       | "              | "              | "              | -वच्छओ          |
| ८२    | ३       | यथेर           | जथेद           | यथेद           | यथेद           | पत्थेद          |
| ८३    | ३       | समनस्य         | "              | "              | "              | समन्सस्य        |
| "     | ६       | नेरुगमो गय     | "              | "              | नेरुगमो नेगम-  | "               |
| ८९    | १       | मतिपुनि        | सतिपुणे        | "              | "              | तिष्ठति         |
|       |         | तिष्ठति        | तिष्ठति        | "              | "              | सतिपुणे         |
| ८९    | १       | हत्थान्ते      | "              | "              | "              | -कत्थान्ते      |
| "     | "       | भियपपाना-      | भियपपार्थाना-  | भियपपार्थाना-  | भियपपार्थाना-  | भियपपार्थाना-   |
| ९०    | ६       | नागार्थं       | नानार्थं       | "              | "              | "               |
| ९१    | ३       | परथेत्थ        | अत्थो ज्व      | "              | "              | "               |
| ९२    | ४       | संथेयानन्ता-   | संथेयामन्ते-   | संथेयानन्ता-   | संथेयानन्ता-   | संथेयानन्त्या-  |
|       |         | त्सक-          | यानन्तात्सक-   | त्सक-          | त्सक-          | नन्तात्सक-      |

( २३ )

| पृष्ठ | पंक्ति | अ                   | आ               | क               | स               | मुद्रित      |
|-------|--------|---------------------|-----------------|-----------------|-----------------|--------------|
| १७९   | ४      | -ख्यानानुरूपेः      | "               | "               | -ख्यानोरूपेः    | "            |
| "     | ५      | -क्षयोपशमोप-        | -क्षयोपशमज-     | "               | -ख्यानोरूपेः    | -क्षयोपशमोप- |
| १८१   | ३      | शमज-                | "               | "               | शमज-            | शमज-         |
| "     | ५      | -करणनाम-            | "               | "               | -करणनाम-        | "            |
| १८३   | ९      | -देशी               | "               | "               | -देशा-          | "            |
| १८४   | ६      | -राश्य-             | "               | राश्य           | "               | "            |
| १९६   | ६      | तासु                | "               | "               | तासु            | तेषु         |
| १९८   | ६      | -स्यात्पौ-          | "               | "               | -स्यापौ-        | "            |
| १९९   | १      | क्षेयसमवि           | "               | "               | क्षेयसमवि-      | "            |
| २०१   | ८      | -माक्षिष्ट-         | "               | "               | -मैक्षिष्ट-     | "            |
| २०२   | ५      | -स्यापत्य           | "               | "               | -स्यापत्यानि    | "            |
|       | ५      | तत्तु अंत्वति       | "               | "               | तदञ्चिन्ति      | "            |
|       | ४      | तदञ्चति             | "               | "               | "               | "            |
| २०५   | ४      | -दृष्टियु           | -दृष्ट्यादिसु   | "               | -दृष्टियु       | "            |
| "     | ९      | तद्वत्य             | तद्वत्य-        | तद्वत्या        | तद्वत्या        | "            |
| २१०   | १०     | -मनुत्तमुत्तमुत्त-  | "               | "               | -मनुत्तमुत्त-   | "            |
| २२१   | ४      | तदो                 | तदो ण           | तदो तदो         | तदो             | "            |
| "     | ६      | आर्रियक्रहि-        | आर्रियारि-      | आर्रियार्य-     | आर्रियक्रहि-    | "            |
|       | ६      | याण                 | रियकस्माणं      | क्रहियणं        | याणं            | "            |
| २२३   | ६      | अप्पणो              | तदो अप्पणो      | अप्पणो          | "               | "            |
| "     | ७      | गमियमिदं            | "               | "               | गमिय            | "            |
| २२८   | ३      | -सयतास्ता-          | "               | "               | संयतासयतास्ता-  | "            |
| २३०   | २      | -त्वोदेशा-          | "               | "               | -त्वोदेशा-      | "            |
| "     | ५      | -वासजनना-           | "               | "               | -वासजना-        | "            |
| २३३   | २      | -मान्द्य-           | "               | "               | -मान्द्य-       | "            |
| २६६   | ७      | किट्टेण             | "               | "               | किट्टेण         | "            |
| २६७   | ११     | -शक्त्याविर्भावित   | -शक्त्युपबृंहि- | -शक्त्याविर्भा- | "               | "            |
|       |        | वृत्तयः             | तद्वृत्तः       | वित्तवृत्तयः    | "               | "            |
| २७६   | ७      | सप्रतिघातः          | "               | "               | सप्रतिघातः      | "            |
| २७९   | ६      | स्यादप्रयत्नो       | "               | "               | स्यात् प्रयत्नो | "            |
| २८१   | ४      | समनस्के             | "               | "               | समनस्केषु       | "            |
| २८२   | ५      | सरस रूप-            | "               | "               | तत्स्वरूप-      | "            |
| "     | "      | -मुत्तरसूत्रद्वयमाह | "               | "               | -मुत्तरसूत्रमाह | "            |

( २४ )

| पृष्ठ | पंक्ति | अ                 | आ                 | क             | स               | मुद्रित |
|-------|--------|-------------------|-------------------|---------------|-----------------|---------|
| "     | ७      | सजोगिकेवलि        | अजोगिकेवलि        | "             | सजोगिकेवलि      | "       |
| २८९   | ७      | तत्रान्तर्जल्पस्य | तत्रान्तर्जल्पस्य | तत्रान्तर्ज-  | तत्रान्तर्ज-    | "       |
|       |        | ल्पस्य            | ल्पस्य            | ल्पस्य        | ल्पस्य          | "       |
| ३९२   | २      | मिस्सकायजोगो      | "                 | "             | मिस्सजोगो       | "       |
| २९३   | ५      | पूत शरीर-         | "                 | "             | पूर्व शरीर-     | "       |
| २९८   | ३      | तत्तच्च डिहेतु-   | "                 | "             | तत्तच्च डिहेतु- | "       |
| ३०२   | ३      | सर्वघाति-         | "                 | "             | सर्वघाति-       | "       |
| "     | १०     | चेतेषु            | "                 | "             | चेते            | "       |
| ३०५   | ३      | -धारणाभावान्न     | धारणान्न          | -धारणाभावान्न | "               | "       |
| ३०६   | १      | ऽप्यथा न          | "                 | "             | ऽप्यथा          | "       |
| ३१६   | २      | वलेनोच्छन्न-      | "                 | "             | वलेनोरत्न-      | "       |
| ३१९   | २      | प्रवृत्तसूत्र-    | "                 | "             | प्रवृत्तसूत्र-  | "       |
| "     | ३      | कुतो भवत्         | "                 | "             | कुतो भवेत्      | "       |
| ३२०   | ५      | तत्र तु न         | "                 | "             | तत्रतन          | "       |
| "     | ७      | सन्त्येताभ्यां    | "                 | "             | सन्त. ताभ्यां   | "       |
| ३२१   | ७      | प्राप्तौ यौ-      | "                 | "             | प्राप्त्यौ-     | "       |
| ३२४   | ७      | नियमान्न          | नियमान            | नियमान्न      | विद्यमान-       | "       |
| ३२५   | ८      | संज्ञासंज्ञद-     | संज्ञासंज्ञद-     | "             | "               | "       |
|       |        | द्वेषे            | सत्तद्वेषे        | "             | "               | "       |
| ३२६   | १०     | महव्वदो सु य ण    | "                 | "             | महव्वदार् ण     | "       |
|       |        | अहर दो वा         | "                 | "             | लहर देवा-       | "       |
| ३३४   | ६      | नन्वतारभक्त्य     | "                 | "             | न चारभक्त्य     | "       |
| ३३७   | ७      | उवरिम-            | उवरिम-            | "             | उवरिम-उवरिम-    | "       |
|       |        | उवरिम-            | उवरिम-            | "             | "               | "       |
| ३३८   | ३      | -नुपशान्तास्त-    | "                 | "             | -नुपशान्त-      | "       |
| "     | ७      | तत्तु न           | तत्र तुन          | "             | तत्रतन-         | "       |
| ३३२   | १      | पुरद              | "                 | "             | "               | "       |
| "     | २      | समाणा             | "                 | "             | समाणा-          | "       |
| ३५७   | ३      | शब्दस्य           | "                 | "             | शब्दस्य च       | "       |
| "     | ४      | नि सुतासु-        | "                 | "             | अनि सुतासु-     | "       |
| ३५८   | ८      | अभेयमासु-         | "                 | "             | आभेयमासु-       | "       |
| ३६३   | ११     | नामिश्रण          | "                 | "             | न मिश्रण-       | "       |
| ३६५   | १      | तद्वचि-           | "                 | "             | तद्वचि-         | "       |



| श्रु | पंक्ति | अ               | आ            | क            | स           | सुद्धित          |
|------|--------|-----------------|--------------|--------------|-------------|------------------|
| ३६६  | १      | सयमोरिस-        | "            | "            |             | सयमै. देश-       |
| ३६६  | २०     | सयमसंयत-        | सयमसयतस्य    | सयमसयत-      |             | सयमसयमा-         |
| ३६७  | १      | नामभविष्यत्     | "            | "            | शेष रूपमिदं | नामभविष्यत्      |
| ३६७  | ५      | शेष सामेदं      | शेषः सामेदं  | "            |             | "                |
| ३७०  | १      | श्रुतिवंगत      | "            | सूत्रे       |             | श्रुतिवयम        |
| "    | ७      | सूत्रे          | निशिश्रुते   |              |             | "                |
| ३७२  | २०     | वादे            | वादे         | वादेन        |             | "                |
| ३७३  | ५      | संजमो           | संजमो        | "            | संजयो       | "                |
| ३७५  | ५      | निमशात्ताना     | निमशात्तानां | निमशात्ताना  |             | "                |
| ३७७  | ३      | नियन्तनायेव-    | नियन्तनाय-   | नियन्तनायेव  |             | नियन्तनायेवा-    |
|      |        | भवि             | भवि          |              |             | भवि-             |
| ३७८  | ४      | गुणस्थ गुणस्थान | गुणस्थ गुण-  | गुणस्थान     |             | गुणस्थ गुणस्थान- |
|      |        | प्रमाणनिरू-     | स्थान निरू-  | प्रमाणनिरू-  |             | प्रमाणनिरू-      |
| ३८०  | ६      | नियम            | "            | "            |             | नियमित           |
| "    | ९      | न दर्शनस्य      | "            | न दर्शनविषय- | तद्दर्शनस्य | "                |
|      |        | विषय-           |              |              |             |                  |
| ३८१  | ६      | रूपद्वय-        | द्वय-        | द्वय         |             | द्वय-            |
| ३८५  | ८      | मानदर्शन-       | "            | "            |             | मानदर्शन-        |
| ३८८  | ८      | णाणलिय          | "            | "            |             | णाणी य           |
| ३८९  | १      | द्वय-           | द्वय-        | द्वय-        |             | द्वय-            |
| ३९२  | ८      | नेक्षया ने      | "            | "            |             | नेक्षया तद्      |
| ३९३  | ७      | गच्छन्तो        | "            | "            |             | गच्छन्तो         |
| ३९५  | १      | निष्कल्लो       | "            | "            |             | निष्कल्लो        |
|      |        | भगि             |              |              |             | भगि              |
| ३९५  | ६      | त्याज्य-        | "            | "            |             | त्याज्य-         |
| ५०२  | ७      | तिरिस्पा-       | "            | "            |             | तिरिस्पा         |
| ५०३  | ८      | सज्जामंजवा      | सज्जामंजवा   |              |             | "                |
|      |        | नजवा            |              |              |             |                  |
| ५०३  | ९      | भयन्त ममर्थ     | भयन्त        | भयन्त        |             | भयन्त            |
| ५०४  | १      | भयन्त ममर्थ     | "            | भयन्त        |             | भयन्त            |
| ५०५  | २      | भयन्त-          | भयन्त        | भयन्त        |             | भयन्त            |
| ५०५  | ५      | पञ्जत्ता        | "            | पञ्जत्ता     |             | पञ्जत्त-         |

## प्रतियोगे छूटे हुए पाठ

सूचना—ये पाठ केवल निर्देशमात्रके लिये दिये जाते हैं। इस प्रकारके छूटे हुए पाठ प्रतियोगे बहुत अधिक है।

| पृष्ठ | पंक्ति | प्रति | कहासे                     | कहा तक                 |
|-------|--------|-------|---------------------------|------------------------|
| २५    | ८      | अ     | चइदं । जीवियासाए          | पविद सरिरं ।           |
| ३९    | ७      | अ     | मंगलकरणीय                 | मंगलकत्ता ।            |
| ५२    | ६      | क     | तां सिद्धस्थलैभ्यो        | स्थरता-                |
| ५३    | ३      | अ     | रत्नैकेदेशस्य             | कृत्स्नकर्मक्षयकर्तृणि |
| ५६    | २      | अ     | प्रतिसमयम संख्यात         | सततमभ्यर्चनम् ।        |
| ६६    | १०     | अ     | तदो सुभदो                 | भेगदेश-धारया           |
| ८१    | ४      | अ     | स्य बहुयु                 | पमाण छविहं             |
| ९३    | ९      | आ     | परमाणु जाणदि              | असंखेज्जदि-            |
| ९४    | १      | अ     | उत्तस्सेण                 | अणुक्कस्सोही जाणदि     |
| १२८   | ५      | अ     | पदस्य पयडि-               | पवदि सेत्ते            |
| १३०   | १      | अ     | उत्तरपयडि                 | पयडिडिदिवधो            |
| १७७   | २      | क     | इत्तवान्                  | विरोधः                 |
| १९३   | ८      | अ     | सर्वत्र सर्वदा            | अद्वयविषये             |
| १९५   | १      | अ     | वाच्यवाचक-                | तस्यास्त्विति चेन्न    |
| २२३   | १      | अ     | तवो अनोमुहुत्त            | पुरिसवेद गवेदि         |
| २२३   | ४      | आ     | मणुसगइपा                  | अहया                   |
| २३०   | ७      | क     | जीवानां सादृश्यं          | गुणद्वारेण             |
| २५३   | ४      | अ     | तस्सेव                    | समेजगुणा               |
| २८३   | ५      | आ     | संशयानध्यव                | केवलिनो यत्नं          |
| २९०   | ७      | आ     | पदेसा अणंत-               | दृग्भवगणा-             |
| २९८   | ८      | आ     | विरोध इति सर्वाभि-        |                        |
| ३१०   | ९      | क     | अपज्जत्ताण वि अरिथ        |                        |
| ३४८   | ८      | आ     | अकपायः                    |                        |
| ३६१   | ३      | क     | मिथ्यात्वोदयस्य सत्त्वान् |                        |

वासस पदम मासे पढमे पक्खग्धि सावणे बहुले ।  
पाडिवद्-पुब्ब-दिवसे त्तिथुणत्ती दु अभिजिग्धि' ॥ ५६ ॥  
सावण-बहुल पडिवदे रुद्ध-मुहुत्ते सुबोदए रधिणो ।  
अभिजिस्स पढम-जोए जय जुगाँदी मुण्यब्बो' ॥ ५७ ॥

एसो कालपरिच्छेदो ।

भावतोऽर्थकर्ता निरूप्यते, ज्ञानावरणादि-निश्चय-व्यवहारापायातिशयजातानन्त-  
ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य-क्षायिक-सम्पत्त्व-दान-लाभ-भोगोपभोग-निश्चय-व्यवहार-श्रात्यति-  
शयभूत-नव-केवल-लब्धि-परिणतः । उक्तं च —

कृष्णपक्षमें, प्रतिपदाके दिन प्रतःकालके समय आकाशमें अभिजित् नक्षत्रके उदित रहने पर  
तीर्थ अर्थात् धर्मतीर्थकी उत्पत्ति हुई ॥ ५५, ५६ ॥

श्रावणकृष्ण-प्रतिपदाके दिन खड्गमूर्द्धतमें सूर्यका शुभ उदय होने पर और अभिजित्  
नक्षत्रके प्रथम योगमें जन युगकी आदि हुई तभी तीर्थ की उत्पत्ति समझना चाहिये ॥ ५७ ॥  
यह काल-परिच्छेद हुआ ।

अब भावकी अपेक्षा अर्थकर्ताका निरूपण करते हैं—

ज्ञानावरणादि आठ कर्मके निश्चय-व्यवहाररूप विनाश-कारणकी विशेषतासे उत्पन्न हुए  
अनन्त-ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य तथा क्षायिक-सम्पत्त्व, दान, लाभ, भोग और उपभोगकी  
निश्चय-व्यवहाररूप प्रातिके अतिशयसे प्राप्त हुई नौ केवल-लब्धियोंसे परिणत भगवान् महावीर्यसे  
भावश्रुतका उपदेश दिया । अर्थात् निश्चय और व्यवहारसे अभेद-भेदरूप नौ लब्धियोंसे युक्त  
द्वोक्त भगवान् महावीर्यसे भावश्रुतका उपदेश दिया । कदा भी है—

१ वासस पदममासे सावण्णामग्नि बहुलवाडिजाए । जणित्थीणसत्त्वग्नि य उण्णो धम्मत्तिस्स ॥

ति प १, ६८-६९

२ जुगाह ( युगादि ) युगाग्ने, युगाग्नेमाल श्रथात ऋतुवे मांम त्तिथिदुर्तादो च । आदी जग्ग  
मनच्छो उ मासस्स अद्धमासो उ । दिवसा मरुत्तरए राईया मह तिदेहे ॥ युगस्स XX मत्तरपचरामकस्यादि समत्तर ।  
स च श्रावणत आपादगौर्णमात्तीचरगमय । तत ऋतुमान थावण एव भवति । तस्मापि च मासस्य थावणस्यादि-  
र्यमाण पक्ष पक्षद्वयमालेनन मासस्य मभवत् । सो पि च पयो बहुलो वेदितय वौर्णमास्यत तर बहुलपक्षस्य  
मानत् । XX । दिवसाह अहोरात्रा ऋतुर्गणिति नोति पत्तानि । जग्भिर् रत्तत्ताई ऋदो आई सुहुवाण ॥ सावण-  
ऋतुपडिवए बालवत्तणे जग्भिर्जनवत्ते । मनय पदममपए जुगस्स आठ विथाणत्ति ॥ ज्यो क २ पाहुड  
वत्तयो ये च कावशा सुमामुपपादा । आस्स गतिवयत मग्ने तेग्नि युगादित ॥ लो ऋ २५, ४७१

३ मावणबहुल पाडिन र-मुहुत्ते सुबोदए रधिणो । अभिजिस्स पदम जोए जुगस्स आदी इमस्स पुद ॥

ति प १, ६० श्रावणस्यामिते पक्षे नक्षत्रेऽभिजिति प्रथु । प्रतिपवत्ति इदंदि शासनार्थसुदाहर ॥ ऋ पु २, ९१

४ थावणवरणपहुदि ज णिच्छन्नन्नहागपायजतिमग्ग । मज्जादेण अणत गणिण दसणसुहेण ॥ निरिणण तदा  
बाहयम्मत्तेण पि दाणलाहेहि । भोगोपभोगिणिच्छन्नन्नहाहेहि च परिपुण्णो ॥ ति प ७१, ७२

दाणे लाभे भोगे परिभोगे वीरिए य सम्मत्ते ।  
णव केवल-लब्धीओ ढंसण-णाणं चरित्ते य ॥ ५८ ॥  
खीणे दसण-मोहे चरित्त-मोहे चउक्क-वाइ तिए ।  
सम्मत्त निरिय-णाण खइयाइं हेंति केवल्लिणों ॥ ५९ ॥  
उण्णग्धि अणत्ते णट्ठग्नि य छादुमत्थिए णणे ।

णन-विह-पयय गन्धा दिब्बज्जुणी कहेइ सुत्तं ॥ ६० ॥

एवंविधो महावीरोऽर्थकर्ता । तेण महावीरेण केवल्लणाणिणा कहिदत्थो तम्मिह चेव  
काले तत्थेव सेत्ते सयोगमम-जणिट-चउरसल-चुट्ठि-संपण्णेण चमहेणेण गोदम-गोत्तेण सयल-  
दुस्सुट्ठि-पारएण जीवाजीव-विसय-संदेहे-विणासणदुवगय-चडुमाण-पाद-मूलेण इंदभूदिणा-  
वहारिदो' । उक्तं च —

दान, लाभ, भोग, परिभोग, वीर्य, सम्पत्त्व, दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य ये नव केवल-  
लब्धिया समझना चाहिये ॥ ५८ ॥

दर्शनमोहनीय और चारित्र्यमोहनीयके क्षय हो जाने पर तथा मोहनीय कर्मके क्षय हो  
जानेके बाद चार घातिया कर्मोंसे शेष तीन घातिया कर्मोंके क्षय हो जाने पर केवली जितके  
सम्पत्त्व, वीर्य और ज्ञान ये क्षायिक भाव प्रगट होते हैं ॥ ५९ ॥

क्षयोपशमिक ज्ञानके नष्ट हो जाने पर और अनन्तरूप केवलज्ञानके उत्पन्न हो जाने  
पर नौ प्रकारके पद्योंसे गर्भित दिव्यध्वनि सूत्रार्थका प्रतिपादन करती है । अर्थात् केवलज्ञान  
हो जाने पर भगवानकी दिव्यध्वनि शिरस्ती है ॥ ६० ॥

इसप्रकार भगवान् महावीर अर्थ-कर्ता है । इसप्रकार केवलज्ञानसे विभूषित उन भगवान्  
महावीरके द्वारा कहे गये अर्थको, उसी कालमें और उसी क्षेत्रमें क्षयोपशमविशेषसे उत्पन्न हुए  
चार प्रकारके निर्मल ज्ञानसे युक्त, वर्णसे ब्राह्मण, गौतमगोत्री, संपूर्ण दुःश्रुतिमें पारंगत, और  
जीव-श्रजीवविषयक संदेहको दूर करनेके लिये श्री वर्द्धमानके पादमूलमें उपस्थित हुए ऐसे  
रुद्रभूतित्ते अवधारण किया । कदा भी है—

१ खीणे दसणमोहे चरित्तमोहे तरेव धारतिए । सम्मत्तणाणविरिया रग्गा ते नोति नेवल्लिणो ॥ जयव  
ज पृ ८ दसणमोहे णट्ठ वादिदिए चरित्तमोहग्नि । सम्मत्तणाणदग्गवत्तीरियचरियाए हेंति खइयाइ ॥  
ति प १, ७३,

२ जादे अणत्तणाणं णट्ठे अदुमट्ठिदग्नि णाणग्नि ॥ णवविहयदयसाता दिग्गज्जुणी कइइ सुत्तय ॥ अण्णेहि  
अणत्तेहि गुणेहि खो विहेद्वचरित्ति । मनममज्जणदग्गो मरुत्तीरो अथरवारो ॥ ति प १, ७४-७५

३ मरुत्तीरोपसिययो तरित्ते खेचग्नि तथकाले य । खाणोगमपिवादिच्चउममलमईहि पुण्णेण ॥ लोयालोपाण  
तना जीवाजीनाण विनिद्विपएगु । मदेहणासण थ उवग्गदग्गित्तिारचलणमूलेण ॥ विमले गोदमगोचे जादेण इदमदि-  
णाग्नि ॥ चउरवपारोण तिस्सेण निमुद्धत्तलिण ॥ ति प १, ७६-७८

४ भियादग्गवत्सायाग्निग्गुत्ति सारल्लेवेद्वेदात्तपाए सन्नपि जीवात्तिवत्तिपये सदिग्घ एवासीत् । रुद्ध-

गोतरेण गोदमो' त्रिणा चाउत्तम-सडगवि ।

गामेग इदमृदि ति सीला वग्दणुत्तमो ॥ ६१ ॥

पुणो तेणिदभृदिणा भाव-सुद-पञ्जय-परिणदेण चारहणां चोदस-पुत्राणं च गंयाणमेतण चैव मुदुत्तेण क्रमेण रयणा कदा' । तदो भाव-सुदस्स अत्थ-पदानां च तित्थ-यसो कत्ता । तित्थयरादो सुद-पञ्जाएण गोदमो परिणदो ति दव्व-सुदस्स गोदमो कत्ता । तत्तो गंथ-रयणा जादेत्ति । तेण गोदमेण दुविहमवि सुदणाणं लोहज्जस्स मंचारिदं । तेण नि जंतुयामिस्स संचारिदं । परिवाडिमिस्सिदूण एदे तिणिण वि सयल-सुद-धारया भणिया । अपरिवाडीए पुण सयल-सुद-पारया संखेज्ज-सहस्सा ।

गोतमगोत्री, विप्रवर्णी, चारों वेद और पडगविद्याका पारगामी, शीलवाच और नामाणोंमें श्रेष्ठ ऐसा वर्तमानस्वामीका प्रथम गणधर इन्द्रभूति इस नामसे प्रसिद्ध हुआ ॥ ६१ ॥

अनन्तर भावश्रुतरूप पर्यायसे परिणत उस इन्द्रभूतिने वारह अंग और चौदह पूर्वरूप प्रन्यांती एक ही मुहूर्तमें फलसे रचना की । अतः भावश्रुत और अर्थ-पदोंके कर्त्ता तीर्थकर हैं । तथा तीर्थकरके निमित्तसे गोतम गणधर श्रुतपर्यायसे परिणत हुए, इसलिये द्रव्यश्रुतके कर्त्ता गोतम गणधर हैं । इसतरह गोतम गणधरसे प्रन्थरचना हुई । उन गोतम गणधरने येना प्रकारका श्रुतज्ञान लोहाचार्यको दिया । लोहाचार्यने जम्भूस्वामीको दिया । परिपाटी-क्रमसे ये तीनों ही सकलश्रुतके धारण करनेवाले कहे गये हैं । और यदि परिपाटी क्रमकी अपेक्षा न की जाय तो उस समय सख्यात हजार सकल श्रुतके वारी हुए ।

पञ्चमो गमपारा गमन्य ग्रन्थे त श्रिमर्मानस्तामिन पप्रच्छ कि जोजास्ति नास्ति वा किण्ण त्रियान् ति० १' तदा जीवाज्जनादिनि स गभाप्रसिद्धिदस्सेणां त्ता । XX इयायनेकमेहेत्तथा स जीवालिकसु-मरा' । दिव्वजिना ददमि-भुत्तो म मतिराचत । इदं श्रुता ४'-६४ देव क्रियमाणां सममरणलक्षणां मिसां 'पुणमि स रि परिर्णति-मा सो व्राज्जणाय' मा मुत्ता किमप नागलोत्तन्त्य कस्यचिन्वायल धारि' त्त सारकूहेल रययतामि'त'नमिदि महाप्रलयसंघ रत गलि वा ममवरण प्रविशो वादायंम । पर च ता भारि र्पुयत्त इ मगहित म म पुन रिथत । तदा सगवता पारंगमापित 'कि मचे जीध जीतो ज्याहु नथि रि मयतो त म । येपपारा त'यण मग्गी तेमिगो जयो' ( आ ति १५० ) ततश्च नि मथय सन्मो मरिणि ति ना २०१८-२०२३

' गोमा रा ददथा रारा मा च यन्तमारतो । ता मेम तास गिंटे च तप्ततो गोतमो मत ॥ गोतमान्ततो रा स्वर्गामांतिनी मत । तेन श्रोतवर्गामन्त्ययमिणोतमश्रुति ॥ इच्छण ज्ञानपुजद्विद्विभूतिस्वकि-या । तपामन्तिपुण्यमहाप्रजनरिडिक ॥ आ पु २, ५३ १४

२ गोतम-स्य-पु-वि-परि-द-स-र-गा-य-वा-म-णा-ग-। चो-प-पु-ज-ना-त-हा-ः-प-मु-त्ते-ण-नि-र-त्-त्-वा-नि-दि-दा-॥ ति प १, ७३

गोदमदंबो लोहज्जाइरियो' जंबूसामी य एदे तिणिण वि सत्त-विह-ल्लि-संपण्णा सयल-सुय-सायर-पारया होज्जण केवलणाणमुपपइय णिवुइं पत्तां । तदो विण्हू णंदिमित्तो अत्राइदो गोवद्धणो भइवाहु ति एदे पुरिसोली-क्रमेण पंच' वि चोइस-पुव-हरा । तदो विसाहाइरियो पोहिलो खत्तियो जयाइरियो णागाइरियो सिद्धत्थेवो धिदिसेणो विजयाइरियो बुद्धिलो गंगदेवो धम्मसेणो ति एदे' पुरिसोली-क्रमेण एकारस वि आइरिया एकारसण्हमंगाणं उप्पायपुव्वादि-दसण्हं पुव्वाणं च पारया जादा, सेसुवरिम-चटुण्हं पुव्वाणमेग-देस-धरा य । तदो णवखचाइरियो जयपालो पांडुसामी ध्रुवसेणो कंसाइरियो ति एदे पुरिसोली-क्रमेण पंच' वि आइरिया एकारसंग-धारया जादा, चोइसण्हं पुव्वाणमेग-देस-धारया । तदो सुभदो जसभदो' जसवाह' लोहज्जो ति एदे चत्तरि वि आइरिया आयारंग धरा

गौतमस्वामी, लोहाचार्य और जम्भूस्वामी ये तीनों ही सात प्रकारकी ऋद्धियोंसे युक्त और सकल-श्रुतरूपी सागरके पारगामी होकर अन्तमें केवलज्ञानको उत्पन्न कर निर्वाणको प्राप्त हुए । इसके बाद विण्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन, और भद्रबाहु ये पाचों ही आचार्य परिपाटी क्रमसे चौदह पूर्वके धारी हुए ।

तदनन्तर विशाचाचार्य, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जयाचार्य, नागाचार्य, सिद्धार्थदेव, धृतिसेन, विजयाचार्य, बुद्धिल, गंगदेव और धर्मसेन ये ग्यारह ही महापुरुष परिपाटी क्रमसे ग्यारह अंग और उत्पादपूर्व आदि दश पूर्वोंके धारक तथा शेष चार पूर्वोंके एकदेशके धारक हुए ।

इसके बाद नक्षत्राचार्य, जयपाल, पाण्डुस्वामी, ध्रुवसेन, कंसाचार्य ये पाचों ही आचार्य परिपाटी-क्रमसे संपूर्ण ग्यारह अंगोंके और चौदह पूर्वोंके एकदेशके धारक हुए । तदनन्तर सुभद्र, यशोधर, यशोवाहु और लोहाचार्य ये चारों ही आचार्य संपूर्ण आचारणके धारक और

१ जपमलयाभिच्छन्दिश्रुतावतारे च लोहायम्य म्याने सुवर्माचार्यास्संखेयास्मि । तपमा-तपो तेण गोअमगात्तेण इदमृदिणा जतोमुत्तेणामहादिबुवालमगयथेण तेणेन कलिण कपटुनालसगयथरणेण कृणरि सगममाणम्प सुहुसाइरियस्स गथां वक्खाणिदा । जयव अ पु १' प्रतिपादित ततमन्त्त ममन महा मत्ता तेन । प्रथितागीय-सर्वमेणे मुधमभिवानाय ॥ इन्द्र श्रुता ६७

२ मामट्टि वरिसकालो जयुवदिय तिणिण स्वलिणो । न शु ६७

३ एदेमि पचण्ह पि मुदनेलीण कालो वत्समद १०० । जपम अ. पु १'

४ तेमि कालो तिसीदिमदत्तमाणि १८३ । जयव. अ. पु १'

५ ' दुमनेन ' इति पाठ । इन्द्र श्रुता ८२

६ एदेमि कालो वीमलरविमदनामभेचो २२० । जयव अ. पु १'

७ ' अमयमद ' इति पाठ । इन्द्र श्रुता ८३.

८ ' जहवाद् ' इति पाठ । जपम अ. पु १' ' जयमहु ' इति पाठ । इन्द्र श्रुता ८३

९ एदेमि XX कालो उट्टारउत्तर वाममद ११८ जयम. अ. पु १'.

संसर्ग-पुत्राणमेग-देस-धारया' । तदो सर्वेसिमंग पुत्राणमेग-देसो आइरिय-परंपराए आग-च्छमाणो धरसेणाइरियं संपत्तो ।

तेण वि सोरट्ट-विसय-गिरिणयर-पट्टण-चंदगुहा-ठिएणं अडुंग महाणिमित्त पार-एण गंथ-वोच्छेदो होहदि चि जाद-भएण पवयण-वच्छलेण दक्खिणावहाइरियाणं महिमाए मिलियाणं लेहो पेसिदो' । लेह-ट्टिय-धरसेण-वयणमवधारिय तेहि वि आइरिएहि वे साह गहण-धारण-समत्था धवलामल-चहु-विह-विणय-विहूसियंगा सील-माला-हरा गुरु-पेसासण-तित्ता देस-कुल-जाइ-सुद्धा सयल-कला-पारया तिमबुचावुच्छियाइरिया अंध-विसय-चेणायडदो पेसिदा । तेसु आगच्छमाणेसु रयणीए पच्छिमे भाए कुंदेदु-संख-रोष अग तथा पूर्वोके एकदेशके धारक हुए । इसके बाद सभी अग और पूर्वोका एकदेश आचार्य-परंपरासे आता हुआ धरसेन आचार्यको प्राप्त हुआ ।

सौराष्ट्र ( गुजरात काठियावाड़ ) देशके निरिनगर नामके नगरकी चन्द्रगुफामें रहने-वाले, अग्रग महानिमित्तके पारगामी, प्रवचन-वत्सल और आगे अग श्रुतका विच्छेद हो जायगा इसप्रकार उत्पन्न हो गया है भय जिनको ऐसे उन धरसेनाचार्यने किसी धर्मोत्सव आदि निमित्तसे महिमा नामकी नगरीमें समिलित हुए दक्षिणपथ के ( दक्षिणदेशके निवासी ) आचार्योंके पास एक लेख भेजा । लेखमें लिखे गये धरसेनाचार्यके वचनोंको भलीभांति समझ-कर उन आचार्योंने शास्त्रके अर्थके ग्रहण और धारण करनेमें समर्थ, नानाप्रकारकी उल्लव और निर्मल विगयसे विमूर्षित अगवाले, शैलरूपी मालके धारक, गुरुओं द्वारा प्रेरण ( भेजने ) रूपी भोजनसे तृप्त हुए, देश, कुल और जातिसे शुद्ध, अर्थात् उत्तम देश उत्तम कुल और उत्तम जातिमें उत्पन्न हुए, समस्त कलाओंमें पारगत, और तीन वार पूंछा है आचार्योंसे जिन्होंने, ( अर्थात् आचार्योंसे तीन वार आज्ञा लेकर ) ऐसे दो साधुओंको आन्ध्रदेशमें बहनेवाली वेणानदीके तटसे भेजा ।

मार्गमें उन दोनों साधुओंके आते समय, जो कुन्दके पुष्प, चन्द्रमा और शखके समान

१ एतेसि स नेसि कालाण समासो अमद्वामाणि तंमोदिवापममदिद्याणि ६८३ म्हुमाणजिण्दिं पित्राण गदे । जयम ज पृ ११

२ देसे तत एरादे गिरिनगरपुरातिकेज्यन्तगितो । बट्टयशमिनित्रामी मन्ततया परममुनिपुरय ॥

३ मत्तिपु ' नवकोच्छेदो ' इति पाठ ।

४ देशेदेशनामानि वेणास्तदवपुरे महामहिमा-ममुदित्तमुनीर मति नमचारिणा प्रापयन्तेसम् ॥

इ-द श्रुता २०६

वण्णा सब-लक्खण-संपुण्णा अप्पणो कय-तिप्पयाहिणा पाएसु भिसुद्धियं-पदियंगा वे वसहा सुमिणंतरेण धरसेण-भडारएण दिट्ठा । एवंविह-सुमिणं दट्टुण तुड्डेण धरसेणाइरिएण ' जयउ सुय-देवदा' चि संलवियं' । तद्विसे चय ते दो वि जणा संपत्ता धरसेणाइरियं । तदो धरसेण-भयवदो' किदियम्मं कालण दोगिण दिवसे वोलाविय तदिय-दिवसे विणएण धरसेण-भडारओ तेहिं विणत्तो ' अणेण कज्जेणम्हा दो वि जणा तुम्हं पादमूलमुगवया' चि । ' सुहु भदं' ति भणिजग धरसेण-भडारएण दो वि आनासिदा । तदो चिचिदं भयवदा—

सेलवण-भगावड-अहि-चालणि महिसाडवि-जाहय-सुरहि ।

मट्टिय-मसय-समाण वक्खवाणड जो मुदं मोहां ॥ ६२ ॥

वद-गारव-पडिवदो विसयामिस-विस-वसेण वुग्मतो ।

सो भट्ट-वेहि लहो भमइ चिरं भव-वणे मूढो ॥ ६३ ॥

सफेद वर्णवाले हैं, जो समस्त लक्षणोंसे परिपूर्ण हैं, जिन्होंने आचार्य ( धरसेन ) की तीन प्रदक्षिणा की हैं और जिनके अंग नञ्जित होकर आचार्यके चरणोंमें पड़ गये हैं ऐसे दो वैलोंको धरसेन भट्टारकने रात्रिके पिछले भागमें स्वप्नमें देया । इसप्रकारके स्वप्नको देखकर सतुष्ट हुए धरसेना-चार्यने ' श्रुतदेवता जयन्त हो ' ऐसा वाक्य उच्चारण किया ।

उसी दिन दक्षिणपथसे भेजे हुए वे दोनों साधु धरसेनाचार्यको प्राप्त हुए । उसके बाद धरसेनाचार्यकी पादवन्दना आदि कृतिकर्म करके और दो दिन त्रिताकर तीसरे दिन उन दोनोंने धरसेनाचार्यसे निवेदन किया कि ' इस कार्यसे हम दोनों आपके पादमूलको प्राप्त हुए हैं ' । उन दोनों साधुओंके इसप्रकार निवेदन करने पर ' अच्छा है, कल्याण हो ' इसप्रकार कहकर धरसेन भट्टारकने उन दोनों साधुओंको आशवासन दिया । इसके बाद भगवान् धरसेनने विचार किया कि—

शैलधन, भद्रघट, अहि ( सर्प ) चालनी, महिय, अवि ( नेदा ), जाहक ( जौक ) गुरु, माटी और मशक के समान श्रोताओंको जो मोहसे श्रुतका व्याख्यान करता है । वह मूढ रस-गारवके आधीन होकर धियोंकी लोलुपतारूपी विषके वशसे मूर्च्छित हो, बोधि अर्थात् रत्नत्रयकी प्राप्तिसे अग्र होकर भव-वनमें चिरकालतक परिभ्रमण करता है ॥ ६२, ६३ ॥

१ ' भाराकाने नमोणसुद '—हे ८, ६, १५८

२ जगमनदिने च तयो बुल धयेनसरिपि रातो । निजपादगो पतन्तो वल्लुगान्विशत सपे ॥

तत्सपेक्षणमानाज्जयु श्रिदित्तेति समुपलपन् । उदतिष्ठत गत समापातान्विशत मुनी द्वा ॥ इत्थ श्रुता ११२, ११३

३ ईसरिय रच सिरि-जम धम्म पयत्तामया भयाभिवसा । ते तेमिमाणाण्णा सति जयो तेण भगते ॥

वि भा १०५३

४ सेलवण वुडग चालिणि परिपुण्ण हम्मसिसनेसे य । मसग जट्ठग निरालो जाहग गो भेरी आमोरी ॥

वृ क मू ३३४, आ नि १३९

विशेषार्थ—शैलनाम पायागका है और नव नाम मेयका है। जिसप्रकार पायाग, मेरुके चिरकालतक वर्षा करते पर भी आर्ट या मृदु नहीं होता है, उसीप्रकार कुछ ऐसे भी श्रोता होते हैं, जिन्हें गुरुजन चिरकाल तक भी धर्मसूतके वर्षण या सिंचन द्वारा कोमल-परिणामी नहीं बना सकते हैं ऐसे श्रोताओंको शैलयन श्रोता कहा है ॥ १ ॥ भग्नघट फटे नुकेको कहते हैं। जिसप्रकार फटे घड़ेमें ऊपरसे भरा गया जल नीचेकी ओरसे निकल जाता है भीतर कुछ भी नहीं बहता, इसीप्रकार जो उपदेशको एक कानसे सुनकर दूसरे कानसे निकाल देते हैं उन्हें भग्नघट श्रोता कहा है ॥ २ ॥ अहि नाम सायका है। जिसप्रकार मिश्री-मिश्रित-उरुके पान करते पर भी सर्प विषका ही वमन करता है, उसीप्रकार जो सुन्दर, मधुर और हितकर उपदेशके सुनने पर भी विष वमन करते हैं अर्थात् प्रतिकूल आचरण करते हैं, उन्हें अहिसमान श्रोता समझना चाहिये ॥ ३ ॥ चालनी जैसे उत्तम आटेको नीचे गिरा देती है और भूसा या चोकरको अपने भीतर रखा लेती है, इसीप्रकार जो उत्तम सारयुक्त उपदेशको तो बाहर निकाल देते हैं और निःसार तत्वको धारण करते हैं वे चालनीसमान श्रोता हैं ॥ ४ ॥ महिया अर्थात् भैंसा जिसप्रकार जलाशयसे जल तो कम पीता है परंतु चारचार डुबकी लगाकर उसे गदवा कर देता है, उसीप्रकार जो श्रोता सभामें उपदेश तो अल्प ग्रहण करते हैं पर प्रसंग पारु शोभ या उठेग उत्पन्न कर देते हैं वे महियासमान श्रोता हैं ॥ ५ ॥ अवि नाम भेग ( मँडा ) का है। जैसे मँडा पालनेवालेको ही मारता है, उसीप्रकार जो उपदेशवालाकी जी निन्दा करते हैं और समय आनेपर बात तक करते हैं, उसीप्रकार जो उपदेशवालाकी अविने समान श्रोता समझना चाहिये ॥ ६ ॥ जाहक नाम सेही आदि अनेक जीवोंका है पर प्रकृतमें जौक अर्थ ग्रहण किया गया है। जैसे जौकको स्तनपर भी लगावें तो भी वह दूध न पीकर गुन ही पीती है, इसीप्रकार जो उत्तम आचार्य या गुरुके समीप रहकर भी उत्तम तत्त्वको तो ग्रहण नहीं करते, पर अधम तत्वको ही ग्रहण करते हैं वे जौकके समान श्रोता हैं ॥ ७ ॥ गुरु नाम तैतेका है। तैतेको जो कुछ सिखाया जाता है वह सीख तो जाता है पर उसे यथार्थ अर्थ प्रतिभासित नहीं होता, उसीप्रकार उपदेश स्मरणकर लेने पर भी जिनके हृदयमें भान-भामना नहीं होती है वे गुरुसमान श्रोता हैं ॥ ८ ॥ मट्टी जैसे जलके सयोग मिश्रणपर तो कोमल हो जाती है पर जलके अभावमें पुनः कठोर हो जाती है, इसीप्रकार जो उपदेश मिलने तक तो मृदु परिणामी जने रहते हैं और बादमें पूर्ववत् ही कठोर-हृदय हो जाते हैं वे मट्टीके समान श्रोता हैं ॥ ९ ॥ मशक अर्थात् मच्छर पहले कानोंमें आकर गुन-गुनाता है नरजोंमें गिरता है किंतु अघसर पाते ही नाट खाता है, उसीप्रकार जो श्रोता पहले तो गुरु या उपदेशवालाकी प्रशंसा करे, चरण-चन्दना भी करेंगे, पर अघसर आते ही काने विना न रहेगे उन्हें मशकके समान श्रोता समझना चाहिये ॥ १० ॥ उक्त सभी प्रकारके श्रोता अपोष्य हैं, उन्हें उपदेश देना व्यर्थ है।

किन्ती किसी शास्त्रमें उक्त नामोंमें तथा अर्थमें भेद भी देखनेमें आता है, किंतु कुश्रोताका भार गदा पर अभीष्ट है।

इदि वयणादो जहालंदाईणं विज्जा-दाणं संसार-भय-वद्धणमिदि चिंतिज्जा सुह-सुमिण-दंसणेणव अवगय-पुरिसंतेरण धरसेण-भयवदा पुणरवि ताणं परिकखा काउमाहत्ता ' सुपरिकखा हियय-णिवुइकरेति ' । तदो ताणं तेण दो विज्जाओ दिण्णाओ । तत्थ एया अहिय-पसरा, अचरा विहीण-क्खरा । एदाओ छड्ढेविवासेण साहेहु ति । तदो ते सिद्ध-विज्जा विज्जा-देवदाओ पेच्छंति, एया उहंत्तरिया अवरेया काणिया । एमो देवदाणं सहाओ ण होदि ति चिंतिज्जा मंत-व्वायरण-सत्थ-कुसलेहिं हीणाहिय-वलराणं छुहणावण-यण-विहाणं काज्जाण पठंतेहि दो वि देवदाओ सहाव-रूच-डियाओ दिड्ढाओ । पुणो तेहि धरसेण-भयवंतस्स जहाविनेण विणएण णिवेदिदे सुहु उट्ठेण धरसेण-भडारएण सोम-तिहि-णस्सत्त-चारे गंथो पारडो । पुणो कमेण वक्खाणंतेण आसाढ-मास-सुक्क-पवस-एकारसीए पुवण्हे गंथो समाणिदो । विणएण गंथो समाणिदो ति तुड्ढेहि भूदेहि तत्थेयस्स महदी

इस वचनके अनुसार यथाछन्द अर्थात् स्वच्छन्दतापूर्वक आचरण करनेवाले श्रोता-ओंको विद्या देना संसार और भयका ही बढ़ानेवाला है, ऐसा विचारकर, शुभ स्वप्नके देखने मात्रसे ही यद्यपि धरसेन भट्टारकने उन आये हुए दोनों साधुओंके अन्तर अर्थात् विशेषतःको जान लिया था, तो भी फिरसे उनकी परीक्षा लेनेका निश्चय किया, क्योंकि, उत्तम प्रकारसे ली गई परीक्षा हृदयमें संतोषको उत्पन्न करती है। इसके बाद धरसेनचार्यने उन दोनों साधु-ओंको दो विद्याएं दीं। उनमेंसे एक अधिक अक्षरवाली थी और दूसरी हीन अक्षरवाली थी। दोनोंको दो विद्याएं देकर कहा कि इनको पशुभक्त उपवास अर्थात् दो दिनके उपवाससे सिद्ध करो। इसके बाद जब उनको विद्याएं सिद्ध हुईं, तो उन्होंने विद्याकी अधिष्ठात्री देवताओंको देखा कि एक देवीके दात बाहर निकले हुए हैं और दूसरी कानी है। ' विकृतांग होना देवता-ओंका स्वभाव नहीं होता है ' इसप्रकार उन दोनोंने विचारकर मन्त्र-सूक्तकी व्याकरण-शास्त्रमें कुशल उन दोनोंने हीन अक्षरवाली विद्यामें अधिक अक्षर मिलाकर और अधिक अक्षरवाली विद्यामेंसे अक्षर निकालकर मन्त्रको पढ़ना, अर्थात् फिरसे सिद्ध करना प्रारम्भ किया। जिससे वे दोनों विद्यादेवताएं अपने स्वभाव और अपने सुन्दर रूपमें स्थित दिखलाई पड़ीं। तदनन्तर भगवान् धरसेनके समक्ष, योग्य विनय-सहित उन दोनोंके विद्या-सिद्धिसंबन्धी समस्त वृत्तान्तके निवेदन करने पर ' बहुत अच्छा ' इसप्रकार संतुष्ट हुए धरसेन भट्टारकने शुभ तिथि, शुभनक्षत्र और शुभवारमें ग्रन्थका पढ़ना प्रारम्भ किया। इसतरह कमसे व्याख्यान करते हुए धरसेन भगवान्से उन दोनोंने आपाढ़ मासके गुरुपथकी एकादशके पूर्वार्त्तिकालमें ग्रन्थ समाप्त किया। विनयपूर्वक ग्रन्थ समाप्त किया, इसलिये संतुष्ट हुए भूत जातिके ब्यन्तर देवोंने

• उपरीक्षा हृत्विभुतिकपीति मधिन्य दचचार गरी । नामगितु विने हे हीनाभिरुमर्णयुने ॥

इत्थ भुता. ? १५.

तदो मूल-तंत-कृत्वा ब्रह्माण-भडारओ, अणुतंत-कृत्वा गोदम-सामी, उवतंत-कृत्वा भूदबलि-पुष्पयंतदयो वीय-राय-दोस-मोहा मुणिवरा । किमर्थं कर्ता प्ररूप्यते ? शास्त्रस्य प्रामाण्यप्रदर्शनार्थम् ' वक्तृप्रामाण्याद् वचनप्रामाण्यम् ' इति न्यायात् ।

संपहि जीवढाणस्स अवयारो उच्चदे । तं जहा, सो वि चउविहो, उवकमो णिक्खेवो गयो अणुगमो चेदि । तत्थ उवकमं भणिससामो । उपक्रम इत्यर्थमात्मनः उप समीपं क्राम्यति करोतीत्युपक्रमः । सो वि उवकमो पंचविहो, आणुपुब्बी णामं पमाणं वत्तव्वदा अत्थाहियारो चेदि । उतं च—

तिविहा य आणुपुब्बी दसहा णाम च छविह माण ।

वत्तव्वदा य तिविहा तिविहो अत्थाहियारो वि ॥ ६४ ॥ इदि ।

इसतरह मूलग्रन्थकर्ता वर्द्धमान भट्टारक हैं, अनुग्रन्थकर्ता गौतमस्वामी हैं और उपग्रन्थकर्ता राग, द्वेष और मोहसे रहित भूतबलि, पुष्पदन्त इत्यादि अनेक आचार्य हैं ।

शंका—यहा पर कर्ताका प्ररूपण किस्सलिये किया गया है ?

सामथान—शास्त्रकी प्रमाणताके दिखानेके लिये यहा पर कर्ताका प्ररूपण किया गया है, क्योंकि, ' वक्ताकी प्रमाणतासे ही वचनमें प्रमाणता आती है ' ऐसा न्याय है ।

अव जीवस्थानके अवतारका प्रतिपादन करते हैं । अर्थात् पुष्पदन्त और भूतबलि आचार्यने जीवस्थान, खुदबन्ध, बन्धस्वामित्व, वेदनाखण्ड, वर्णनाखण्ड और महाबन्ध नामक जिस पद-खण्डागमकी रचना की । उनमेंसे, प्रकृतमें यहाँ जीवस्थान नामके प्रथम खण्डकी उत्पत्तिका क्रम कहते हैं । वह इसप्रकार है—

वह अवतार चार प्रकारका है, उपक्रम, निक्षेप, नय और अनुगम । उन चारोंमें पहले उपक्रमका निरूपण करते हैं, जो अर्थको अपने समीप करता है उसे उपक्रम कहते हैं । उस उपक्रमके पांच भेद हैं, आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता और अर्थाधिकार । कहा भी है—  
आनुपूर्वी तीन प्रकारकी है, नामके दश भेद हैं, प्रमाणके छह भेद हैं, वक्तव्यताके तीन भेद हैं और अर्थाधिकारके भी तीन भेद समझना चाहिये ॥ ६३ ॥

१. इयमूलततकृत्वा सिरीचरो इदयुदि विपररे । उवतते कृत्तारो अणुतते सेस आइरिया ॥ णिण्डुराय-दोमा महैसिणो दिव्वसुत्तकृत्तारो । कि कारण पमणिदा कहिहु सुत्तम पाणण ॥ ति प १, ८०, ८१

२. पुष्पद तभूतबलिभ्या प्रणीतस्यागमस्य नाम 'पदखण्डागम' तस्यैमे वद् खण्डा - १ जीवस्थान २ खुदा-बन्ध ३ बन्धस्वामित्वविचय ४ वेदनाखण्ड ५ वर्णनाखण्ड ६ महान्धयेति । एषा णणा खण्डाना मने प्रथम-तस्तावज्जीवस्थाननामकप्रथमखण्डस्यावतारो निरूप्यते ।

३. प्रहृतस्वार्थतन्व शीमुद्वो समर्पणम् । उपक्रमोऽप्यो विज्ञेयस्तथोपोद्धत इयपि ॥ आ. पु. २. १०३  
सत्यसोविक्रमण उवकमो तेण तम्मि व तथो वा । सत्यसमीचीकरण आणयण नानदेसम्मि ॥ वि. मा. ९.२४

पूजा पुष्प-बलि-संस-नूर-रथ-संकुला कदा । तं दट्टण तस्स ' भूदबलि ' ति भडारण णामं कयं । अवरस्स वि भूदेहि पूजिदस्स अत्थ-वियत्थ-द्विय-दंत-पंतिमोसारिय भूदेहि समीकय-दंतस्स ' पुष्पयंतो ' ति णामं कयं

पुणो तद्विसे' चेव पेसिदा संतो ' गुरु-वयणमलंघणिजं ' इदि चित्तिजगागेदिहि अङ्के-सरे वरिसा-कालो कओ । जोगं समाणीय जिणवालियं दट्टण पुष्पयंतारियो वण-वास-विसयं गदो । भूदबलि-भडारओ वि दमिल-देसं गदो । तदो पुष्पयंतारिएण जिणवालिदस्स दिक्खं दाज्जण वीसदि-सुत्ताणि' करिय पढाविय पुणो सो भूदबलि-भयवं-तस्स पासं पेसिदो । भूदबलि-भयवदा जिणवालिद-पासे दिट्ठ-वीसदि-सुत्तेण अप्पाउओ ति अवगय-जिणवालिदेण महाकम्म-पयडि-पाहुडस्स वोच्चेदो होहदि ति समुप्पण-दुद्धिणा पुणो दव्य-पमाणानुगममादि काज्जण गंथ-रचणा कदा । तदो एयं संड-सिद्धंतं पडुच्च भूदबलि-पुष्पयंतारिया वि कत्तारो उचंति ।

उन दोनोंमेंसे एककी पुष्पावलीसे तथा शख और तूर्य जातिके वाद्यविशेषके नादसे व्याप्त बड़ी भारी पूजा की । उसे देखकर धरसेन भट्टारकने उनका ' भूतबलि ' यह नाम रक्खा । तथा जिनकी भूतोंने पूजा की है, और अल-व्यस्त दन्तपंक्तिको दूर करके भूतोंने जिनके दात समान कर दिये हैं ऐसे दूसरेका भी धरसेन भट्टारकने ' पुष्पदन्त ' नाम रक्खा ।

तदनन्तर उसी दिन वहासे भेजे गये उन दोनोंने ' गुरुके वचन अर्थात् गुरुकी आज्ञा अलघनीय होती है ' ऐसा विचार कर आते हुए अंकलेद्वार ( गुजरात ) में वर्षाकाल बिताया । वर्षायोगको समाप्तकर और जिनपालितको देखकर ( उसके साथ ) पुष्पदन्त आचार्य तो वन-वासको चले गये और भूतबलि भट्टारक भी द्रमिल-देशको चले गये । तदनन्तर पुष्पदन्त आचार्यने जिनपालितको वीक्षा देकर, वीस प्ररूपणा गर्भित सत्प्ररूपणाके सूत्र बनाकर और जिनपालितको पढ़ाकर अनन्तर उन्हें भूतबलि आचार्यके पास भेजा । तदनन्तर जिन्होंने जिनपालितके पास वीस प्ररूपणान्तर्गत सत्प्ररूपणाके सूत्र देखे हैं और पुष्पदन्त आचार्य अल्पानु हैं इसप्रकार जिन्होंने जिनपालितसे जान लिया है, अतएव महाकर्मप्रकृतिप्रभृतका विच्छेद हो जायगा इसप्रकार उत्पन्न हुई है बुद्धि जिनको ऐसे भगवान् भूतबलिने द्रव्यप्रमाणा-नुगमको आदि लेकर ग्रन्थ-रचना की । इसलिये इस खण्डसिद्धान्तकी अपेक्षा भूतबलि और पुष्पदन्त आचार्य भी श्रुतके कर्ता कहे जाते हैं ।

१. ' द्वितीयदिवसे ' इति पाठ । इत्थं श्रुता २२९

२. ' स्वभाणिय ' इति विषय । इत्थं श्रुता २३४

३. वाच्यं णजीवादिरेवैशित्तियमूत्तम-भरुणया । युक्त जीवस्थानाधिकार व्यरचयन्मयक ॥

इत्थं श्रुता २३५



पुत्र्याणुपुत्री पञ्चाणुपुत्री जत्यतथाणुपुत्री चेदि तिविहा आणुपुत्री । जं मूलानां परिवाडीए उच्यते मा पुत्र्याणुपुत्री । तिस्से उदाहरणं— 'उसहमजियं च वंदे' इयेनामदि । जं उवरीदो हेन्ना परिवाडीए उच्यति मा पञ्चाणुपुत्री । तिस्से उदाहरणं—

णम क्रोमि' य णम जिणपर वसहस्स वडुमाणस ।

मेसाण च जिणाण सिव-सुह-कळा विलोमेण' ॥ ६५ ॥ इदि ।

नमणुलोम-विलोमेहि विणा जहा तथा उच्यदि सा जत्यतथाणुपुत्री' । तिस्से उदाहरणं—

गय-गजल-सज-जलहर-परहुव-सिहि-जलय-भमर-सजासो ।

हरिउल-वस-यईतो सिव-माउव-वच्छओ जयज ॥ ६६ ॥ इचेवमादि ।

पूर्वाणुपूर्वी, पञ्चाणुपूर्वी और यथातथाणुपूर्वी इस्तरह आणुपूर्वीके तीन भेद हैं । जो यन्मुक्ता मंत्रसे परिपाटीद्वारा किया जाता है उसे पूर्वाणुपूर्वी कहते हैं । उसका उदाहरण इसप्रकार है, 'नमभनायकी वन्दना करता हूँ, अजितनाथकी वन्दना करता हूँ, इत्यादि क्रमसे नमनायको आदि लेकर मन्दावीरस्वामी पर्यन्त क्रमवार वन्दना करना सो वन्दनासंबन्धी पूर्वाणुपूर्वी उपक्रम है । जो वस्तुका विवेचन ऊपरसे अर्थात् अन्तसे लेकर आदितक परिपाटी-क्रमसे ( प्रतिलोम-पञ्जतिसे ) किया जाता है उसे पञ्चाणुपूर्वी उपक्रम कहते हैं । जैसे—

मोक्ष-सुखकी अभिलाषासे यह मैं जिनवरोंमें श्रेष्ठ ऐसे वर्द्धमानस्वामीको नमस्कार करता हूँ । और विलोमक्रमसे अर्थात् वर्द्धमानके बाद पार्श्वनाथको, पार्श्वनाथके बाद नेमिनाथको इत्यादि क्रमसे शेष जितनेन्द्रोंको भी नमस्कार करता हूँ ॥ ६५ ॥

जो कथन अनुलोम और प्रतिलोम क्रमके विना जहां कहाँने भी किया जाता है उसे यथातथाणुपूर्वी कहते हैं । जैसे—

हाथी, अरण्यभैसा, जलपरिपूर्ण और सघन मेघ, कोयल, मयूरका कण्ठ और अमरके

१ ज जोत क्रमेण मरुकारिद्रे इददगुण्यण मा तस्स तेण क्लेण गण्णा पुत्र्याणुपुत्री णाम । जयय अ. पु. ३.

२ उण्णुमदिण च वदे ममतमामिणरण च म्मड च । पउमयह सुपास जिण च चदप्पह वदे ॥

३ षिदि च पक्कदा गीरत्थेण च वाणुपुत्रं च । मिमलमणत्त मयव वम्म सति च वदामि ॥ ऊणु च जिणवरिद परं च मीत्त च पुत्तिरत्तव्य च । णमि वदामि अट्ठि वेमि तह पाववपुसाण च ॥ पुसणए अभिपुत्थिया विडुय-एणना परीज्जसाणा । चउवीरं वि जिणवरा तिलयरा मे पत्तीणु ॥ ६ म पु ४

४ तस्स तिलोमेण गण्णा पञ्चाणुपुत्री । जयय अ. पु. ३

५ पत्तिपु ' स्मेमि ' इति पाठ ।

६ एव क्रोमि णाम पिणारसमस्स वडुमाण व । मेसाण च जिणल सणणणयवराण च सव्वेत्ति ॥

७ उच्य मा तप सा पय्यो इति इदमादि ऋतूण गन्ना ऋतुवत्पुत्र्याणुपुत्री । जयय. अ. पु. ३.

मूलाभा. १०५.

इदं पुण जीवद्वानं खंड-सिद्धंतं पडुच्च पुत्र्याणुपुत्रीए द्विदं छण्हं खंडाणं पडम-खंडं जीवद्वानमिदि । वेदणा-कसिण-पाहुड-मल्लदो अणुलोम-विलोम-क्रमेहि विणा जीवद्वानसस संतादि-अहियारा अहिणिमया त्ति जीवद्वानं जत्यतथाणुपुत्रीए वि संठिदं । जीवद्वाने ण पञ्चाणुपुत्री संभवह ।

णामसस दस' द्वाणानि भवंति । तं जहा, गोणपदे । गोणपदे । आदाणपदे पडिक्कसपदे अणादियसिद्धंतपदे पाथणपदे णामपदे पमाणपदे अवयवपदे संजोगपदे चेदि ।

गुणानां भावो गौण्यम् । तद् गौण्यं पदं स्थानमाश्रयो येषां नाशां तानि गौण्य-पदानि' । यथा, आदित्यस्य तपनो भास्कर इत्यादीनि नामानि । नोगौण्यपदं नाम गुणनिरपेक्षमनन्वर्थमिति यावत् । तद्यथा, चन्द्रस्वामी सूर्यस्वामी इन्द्रगोप इत्यादीनि

समान वर्णवाले, हरिवंशके प्रदीप, और शिवदेवी माताके लाल ऐसे नेमिनाथ भगवान् जयवन्त हों ॥ ६६ ॥ इत्यादि यथातथाणुपूर्वीका उदाहरण समझना चाहिये ।

यह जीवस्थान नामक शाल ऋषिसिद्धान्तकी अपेक्षा पूर्वाणुपूर्वी क्रमसे लिखा गया है, क्योंकि, पदखण्डागममें जीवस्थान प्रथम खण्ड है । वेदनाकवायप्रायुक्तके मध्यसे अनुलोम और विलोमक्रमके विना जीवस्थानके सत्, संख्या आदि अधिकार निकले हैं, इसलिये जीवस्थान यथातथाणुपूर्वीमें भी गर्भित है । किंतु इस जीवस्थान खण्डमें केवल पञ्चाणुपूर्वी संभव नहीं है ।

नाम-उपक्रमके दश भेद होते हैं । वे इसप्रकार हैं—गौण्यपद, नोगौण्यपद, आदत्तपद, प्रतिपक्षपद, अनादिसिद्धान्तपद, प्राधान्यपद, नामपद, प्रमाणपद, अवयवपद और संयोगपद ।

गुणोंके भावको गौण्य कहते हैं । जो पदार्थ गुणोंकी मुख्यतासे व्यवहृत होते हैं वे गौण्य-पदार्थ हैं । वे गौण्य पदार्थ पद अर्थात् स्थान या आश्रय जिन नामोंके होते हैं उन्हें गौण्यपद-नाम कहते हैं । अर्थात् जिस संज्ञाके व्यवहारमें अपने विशेष गुणका आश्रय लिया जाता है उसे गौण्यपदनाम कहते हैं । जैसे, सूर्यकी तपन और भास्व-गुणकी अपेक्षा तपन और भास्कर इत्यादि संज्ञाप हैं । जिन संज्ञाओंमें गुणोंकी अपेक्षा न हो, अर्थात् जो असार्यक नाम हैं उन्हें नोगौण्यपदनाम कहते हैं । जैसे, चन्द्रस्वामी, सूर्यस्वामी, इन्द्रगोप इत्यादि नाम ।

१ से कि दस्ताने पण्ठे ? त जहा, गोण्णे नोगोण्णे आणाणपण पडिक्कसपण पहाणयाः अणाअ-सिद्धतेण नामेण अवयवेण संजोगेण पमाणेण । अउ १, १२७

२ से कि त गोण्णे ? गोणे खमइ ति खमणो, तपइ ति तपणो, जलइ ति जलणो, पवइ ति पणो । से च गोणे । अउ १, १२८.

३ नो गोणे अकुतो सकुतो अणुणो मणुणो अलल पलल अकुलिया मकुलिया अकुतो समुद्धो, नोपल अणइ ति पलास, जमाति नाए माइवाएए, जयीप वावए चीयााएए, नो इदगोवइए ति इदगोवे से च नो गोणे । अउ. १, १२८.

नामानि। आदानपदं नाम आत्तद्रव्यनिबन्धनम् । नैतद्गुणान्नाश्रोऽन्तर्भावति तत्रादानादेयत्व-  
विवक्षाभावात् । भावे वा न तद्गुणाश्रितमादानपदनाश्रोऽन्तर्भावात् । पूर्णकलश इत्येत-  
दादानपदम् । नादानपदम् । तद्यथा, घटस्य कलश इति संज्ञा नात्तद्रव्यादिमाश्रिता  
तस्यात्तथाविधिविधक्षान्तरेण प्रवृत्तायाः समुपलम्भात् । न पूर्णशब्दोऽपि तस्य  
पर्याप्तवाचकत्वेन गुणनाश्रोऽन्तर्भावात् । नोभयसमासोऽपि तस्य भावसंयोगेऽ-  
न्तर्भावादिति न, जलादिद्रव्याधारत्वविवक्षायां पूर्णकलशशब्दस्यादानपदत्वाभ्युप-  
विशेषार्थ—जिन मनुष्योके चन्द्रत्वामी आदि नाम रक्ष्ये जाते हैं। उनमें चन्द्र  
आदिका न तो स्वामीपना पाया जाता है और न इन्द्रके वे रक्षक ही होते हैं। केवल ये नाम  
रूढ़िसे रक्ष्ये जाते हैं। इनमें गुणादि की कुछ भी प्रधानता नहीं पायी जाती है, इसलिये इन्हें  
नोगौण्यपदनाम कहते हैं।

ग्रहण किये गये द्रव्यके निमित्तसे जो नाम व्यवहारमें आते हैं, अर्थात् जिनमें  
द्रव्यके निमित्तकी अपेक्षा होती है उन्हें आदानपदनाम कहते हैं।

विशेषार्थ— आदानपदनामोंमें, संयोगको प्राप्त हुए द्रव्यके निमित्तसे उत्पन्न हुई अवस्था-  
विशेषकी वाचक संज्ञाएं ली जाती हैं। अर्थात् आदान-आदेय भावकी मुख्यतासे जो नाम  
प्रचलित होते हैं उन्हें आदानपदनाम कहते हैं।

इस आदानपदनामका गुणनाममें अन्तर्भाव नहीं हो सकता है, क्योंकि, गुणनामोंमें  
आदान-आदेय भावकी विवक्षा नहीं रहती है। यदि गुणनामोंमें भी आदान-आदेय भावकी  
विवक्षा मान ली जाय तो गौण्यपदनाम गुणाश्रित नहीं रह संकते हैं, क्योंकि, आदान-आदेय  
भावकी मुख्यतासे उनका आदानपदनामोंमें अन्तर्भाव हो जायगा।

‘पूर्णकलश’ इस पदको आदानपदनाम समझना चाहिये।

शंका—‘पूर्णकलश’ यह आदानपदनाम नहीं हो सकता है। इसका खुलासा इस-  
प्रकार है, घटकी ‘कलश’ यह संज्ञा ग्रहण किये गये किसी द्रव्यादिके आश्रयसे नहीं है,  
क्योंकि, ‘कलश’ इस संज्ञाकी द्रव्यादिके निमित्तकी विवक्षाके विना ही प्रवृत्ति देखी जाती  
है। इसीतरह ‘पूर्ण’ यह शब्द भी आदानपदनाम नहीं हो सकता है, क्योंकि, ‘पूर्ण’ यह  
शब्द पर्याप्तको वाचक होनेसे उसका गौण्यपदनाममें अन्तर्भाव हो जाता है। पूर्ण और कलश  
इन दोनोंका समास भी आदानपदनाम नहीं हो सकता है, क्योंकि, उसका भावसंयोगमें  
अन्तर्भाव हो जाता है?

समाधान—ऐसी शंका करना उचित नहीं है, क्योंकि, जलादि द्रव्यके आधारपदनामोंकी  
विवक्षामें ‘पूर्णकलश’ इस शब्दको आदानपदनाम माना गया है।

१ से कि त आदानपदेण ? धम्मो माल, चूलिया चाउरगिज्ज जमखय आतती तथिज्ज अट्ठञ्च  
जण्हञ्ज पुत्तिट्ठञ्ज पुत्तिट्ठञ्ज नीर धम्मो मम्मो समोमण गथो ज महिय म च आमाणपण, अनु १, १०८

गमात् । एवमविधेवत्यपि चालयित्वा व्यवस्थापनीयम् । अक्लिष्टानि कानि पुनरादान-  
पदनामानि ? वधूर्न्तर्वलीत्यादीनि आत्तर्भृष्टतापत्यनिबन्धनत्वात् । प्रतिपक्षपदानि\* कुमारी  
चन्ध्येत्येवमादीनि आदानपदप्रतिपक्षनिबन्धनत्वात् । अनादिसिद्धान्तपदानि धर्मास्तिर-  
धर्मास्तिरित्येवमादीनि । अपौरुषेयत्वतोऽनादिः सिद्धान्तः स पदं स्थानं यस्य तदनादि-  
सिद्धान्तपदम् । प्राधान्यपदानि\* आश्रयनं निम्बवनमित्यादीनि । वनान्तः सत्स्वप्यन्येष्व-  
विशेषार्थ—जलादि द्रव्य आदान है और कलश आदेय है। इसलिये ‘पूर्णकलश’ इस  
शब्दका आदानपदनाममें अन्तर्भाव होता है। यह बात गौण्यपदनाममें नहीं है, इसलिये उसमें  
उसका अन्तर्भाव नहीं हो सकता है। यदि गौण्यपदमें इसप्रकारकी विवक्षा की जायगी तो यह  
गौण्यपद न कहलाकर आदानपदकी कोटिमें आ जायगा।

इसीप्रकार ‘अविधवा’ इस पदका भी विचार कर आदानपदनाममें अन्तर्भाव कर  
लेना चाहिये।

शंका—अक्लिष्ट अर्थात् सरल आदानपदनाम कौनसे हैं ?

समाधान—वधू और अन्तर्वली इत्यादि सरल आदानपदनाम समझना चाहिये,  
क्योंकि, स्विकृत पतिकी अपेक्षा वधू और धारण किये गये गर्भस्थ पुत्रकी अपेक्षा ‘अन्तर्वली’  
संज्ञा प्रचलित है।

कुमारी, वन्धा इत्यादिक प्रतिपक्षपदनाम हैं, क्योंकि, आदानपदमें ग्रहण किये गये  
दूसरे द्रव्यकी निमित्तता कारण पड़ती है और यहाँ पर अन्य द्रव्यका अभाव कारण पड़ता  
है। इसलिये आदानपदनामोंके प्रतिपक्ष-कारणक होनेसे कुमारी या वन्धा इत्यादि पद प्रतिपक्ष-  
पदनाम जानना चाहिये।

अनादिकालसे प्रवाहरूपसे चले आये सिद्धान्तवाचक पदोंको अनादिसिद्धान्तपदनाम  
कहते हैं। जैसे धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय इत्यादि। अपौरुषेय होनेसे सिद्धान्त अनादि है।  
यह सिद्धान्त जिस नामरूप पदका आश्रय हो उसे अनादिसिद्धान्तपद कहते हैं।

बहुतसे पदार्थोंके होने पर भी किसी एक पदार्थकी बहुलता आदि द्वारा प्राप्त हुई  
प्रधानतासे जो नाम बोले जाते हैं उन्हें प्राधान्यपदनाम कहते हैं। जैसे, आश्रयन निम्बवन

१ से कि त पडिवक्खपणं ? पडियक्खपदेण नवेसु गामाणारणारोडकव्व उमडवदोणपुहुट्टणामसत्ताह-  
संनिसेसु तनिविसमाणेण अस्सिा सिवा, अग्गी सथिलो, विस महु, कल्लअधरेसु अत्रिल साउअ, जे रत्तए से  
अल्लए, जे लाउए से जलाउए, जे सुमए से कुसुमए, आलवने निालोअसापए, से च पडिवक्खपणं ।  
अनु १, १२८

२ अणादियसिद्धतेण, धम्मथिकाए जवम्मथिकाए जामामथिकाए जीवथिकाए पुगलथिकाए अद्धामए  
से च अणादियसिद्धतेण । अनु १, १२८

३ पाहणयाए असेगवणे सतवणवणे चपणवणे च्चअवणे नागवणे पुचागवणे उच्चवणे दसखवणे सालवणे से  
त पाहणयाए । अनु १, १२८

तिश्रितश्रेयु विवक्षारुवप्राधान्यचूतपिचुमन्डनिवन्धनत्वात् । नामपदं' नाम गौडोज्ज्वो  
द्रमिल उति गौडान्द्रमिलभाषानामधामत्वात् । प्रमाणपदानि' शतं महस्रं द्रोणः सारी  
पलं तुला ऋग्नीनि प्रमाणनाम्नां प्रमेयेषूपल्मभात् ।

अवयवपदानि' यथा । सोऽवयवो द्विविधः, उपचितोऽपचित इति । तत्रोप-  
चितावयवनिवन्धनानि यथा, गलगण्ड शिलीपदः लम्बकर्ण इत्यादीनि नामानि ।  
अवयवापचयनिवन्धनानि यथा, छिन्नकर्णः छिन्ननासिक इत्यादीनि नामानि । संयोग-  
पदानि यथा । स संयोगश्चतुर्विधो द्रव्यक्षेत्रकालभावसंयोगभेदात् । द्रव्यसंयोगपदानि  
यथा, इम्यः गौयः दण्डी छत्री गभिणी इत्यादीनि द्रव्यसंयोगनिवन्धनत्वात् तेषां ।

इत्यादि । वनमं अन्य अविवाहित वृक्षोंके रहने पर भी विवक्ष्यसे प्रधानताको प्राप्त आम और  
नीमके वृक्षोंके कारण आन्नवन और निम्बवन आदि नाम व्यवहारमें आते हैं ।

जो भाषाभेदसे नाम बोले जाते हैं उन्हें नामपदनाम कहते हैं । जैसे गौड, आन्ध्र,  
द्रमिल इत्यादि । ये गौड आदि नाम गौडी, आन्धी और द्रमिल भाषाओंके नाम के  
आधारसे हैं ।

गणना अथवा मापकी अपेक्षासे जो संज्ञाए प्रचलित हैं उन्हें प्रमाणपदनाम कहते हैं ।  
जैसे, सौ, हजार, द्रोण, सारी, पल, तुला, ऋग् इत्यादि । ये सत्र प्रमाणनाम प्रमेयोंमें पाये  
जाते हैं, अर्थात् इन नामोंके द्वारा तत्प्रमाण वस्तुका बोध होता है ।

अथ अवयवपदनाम कहते हैं । अवयव को प्रकारके होते हैं, उपचितावयव और अप-  
चितावयव । रोगादिके निमित्त मिलने पर किसी अवयवके वद् जानेसे जो नाम बोले  
जाते हैं उन्हें उपचितावयवपदनाम कहते हैं । जैसे, गलगण्ड, शिलीपद, लम्बकर्ण इत्यादि ।  
जो नाम अवयवोंके अपचय अर्थात् उनके छिन्न हो जानेके निमित्तसे व्यवहारमें आते हैं उन्हें  
अपचितावयवपदनाम कहते हैं । जैसे, छिन्नकर्ण, छिन्ननासिक इत्यादि नाम ।

अथ संयोगपदनामका उच्यते कहते हैं । द्रव्यसंयोग, क्षेत्रसंयोग, कालसंयोग और  
भाससंयोग के भेदसे संयोग चार प्रकारका है । इम्य, गौथ, दण्डी, छत्री, गभिणी इत्यादि द्रव्य-  
संयोगपदनाम हैं, क्योंकि, धन, गृथ, दण्डा, छत्ता इत्यादि द्रव्यके संयोगसे ये नाम व्यवहारमें

१ गभेर सिग्गी चत्तरस नामो जगत्तिचड ने च गभिण । उतु १, १२८.

२ वनमो वडोने पणो । न जना, नामसामो उक्कयसामो उक्कयसामो नामवमोनि । उतु १, १३३

३ गभिणी, तिगी तिरी तिगी । दतो पत्तो लगी नहीं गली । दुप वडय वडुप उल्ली केगी  
करी पतिर जोन भः वतीज्जा नरिन्धि निरतो निरतो क्षेत्रा तति व एजाए गजाए । मे च अवयवो ।  
उतु १, १२८

४ मे ति व संकोर ' न्तोने चरुचिई पणत्ते, न द्वा, दवज्जोने, उंउवज्जोने, वल्लवज्जोने, मत्त-  
वज्जोने । मे ति व वसवत्ते । उक्कयत्ते ति तिरे पत्ते, न द्वा, वत्तिरे नत्तिरे, मत्तु । मे ति व गत्तिने ।

नासिपरश्वाद्यस्तेषामादानपदेऽन्तर्भावात् । सहचरितत्वविवक्षया भवन्तीति चेन्न, सहच-  
रितत्वविवक्षायां तेषां नामपदनाम्नोऽन्तर्भावात् । क्षेत्रसंयोगपदानि', माथुरः बालम'  
दाक्षिणात्यः औदीब्य इत्यादीनि, यदि नामत्वेनाविवक्षितानि भवन्ति । कालसंयोग-  
पदानि' यथा, शरदः वासन्तक इत्यादीनि । न वसन्तशरद्रेमन्तादीनि तेषां नामपदेऽ-  
न्तर्भावात् । भावसंयोगपदानि', क्रोधो मानी मायावी लोभीत्यादीनि । न शीलसादृश्य-  
आते हैं । अस्मि, परशु इत्यादि द्रव्यसंयोगपदनाम नहीं हैं, क्योंकि, उनका आदानपदमें  
अन्तर्भाव होता है ।

शंका—सहचारीपनेकी विवक्षामें अस्मि, परशु आदिका संयोगपदनाममें अन्तर्भाव  
हो जायगा ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि, सहचारीपनेकी विवक्षा होने पर उनका नामपदमें  
अन्तर्भाव हो जाता है ।

माथुर, बालम, दाक्षिणात्य और औदीब्य इत्यादि क्षेत्रसंयोगपदनाम हैं, क्योंकि,  
मथुरा आदि क्षेत्रके संयोगसे माथुर आदि संज्ञाएं व्यवहारमें आती हैं । जब माथुर  
आदि संज्ञाए नामरूपसे विवक्षित न हों तभी उनका क्षेत्रसंयोगपदमें अन्तर्भाव होता है,  
अन्यथा नहीं ।

शरद, वासन्तक इत्यादि कालसंयोगपदनाम हैं, क्योंकि, शरद् और वसन्त क्रतुके  
संयोगसे ये संज्ञाए व्यवहारमें आती हैं । किन्तु वसन्त, शरद् हेमन्त इत्यादि संज्ञाओंका काल-  
संयोगपदनाममें प्रहण नहीं होता है, क्योंकि, उनका नामपदमें अन्तर्भाव हो जाता है ।

क्रोधो, मानी, मायावी और लोभी इत्यादि नाम भावसंयोगपद हैं, क्योंकि, क्रोध,  
मान, माया और लोभ आदि भावोंके निमित्तसे ये नाम व्यवहारमें आते हैं । किन्तु जिनमें

मचिते गां पि गंमिण, मत्तिमादि महिमण, उग्गादि उग्गाण, उद्दि उद्दिणाल, म त मधिना । म कि त अचिण ?  
अचिते उगेण उवी, उडेण उडी, पडेण पडी, रेडेण रडी, रेडेण रजा मे त अचिणे । म कि न सीणण ' सीणण'  
इत्येव गच्छिण, मत्तिय, मत्तिय, मत्तिय गच्छिण, नामण नासिण, मे च उव पत्तेणे । उतु १, १२९.

' मे ति न खेउमत्तेणे ' मारुहे, पुक्कण, रेसण, पण्णण, द्दिगिणण, म्मण्णणण, उक्कयण, उक्क-  
यण, पुक्कयिउक्कण उक्कयिउक्कण । अत्ता मान्हे, माल्लवण, मत्तण, मत्तण, मे व पत्तवज्जाम ।  
उतु १, १३०.

२ मे कि उ वज्जमत्तेणे ' सुममण्णण, सुमण्ण, सुमण्णण, सुमण्णण, सुमण्णण, सुमण्णण, सुमण्णण, सुमण्णण ।  
अत्ता पत्तवज्जण, वणावज्जण, मत्तण, उक्कयण, उक्कयण, उक्कयण, मे च उक्कयत्तेणे । उतु १, १३१.

३ मे कि उ मावमत्तेणे ' उद्दिई पणत्ते, न द्वा, पण्णये व पण्णये । म कि उ पण्णये ? गोणण गणां,  
उक्कय उक्कय, वत्तिरे वत्तिरे मे व पण्णये । मे कि उ उक्कयत्तेणे ' क्किये उक्किये, मत्तण मत्तण, क्किये  
लोही ने व उक्कये, मे त मत्तवज्जणे । मे च मत्तवज्जणे । उतु १, १३२.

निबन्धनयमसिंहाशिरावणादीनि नामानि तेषां नामपदेऽन्तर्भावत् । न चैतेभ्यो व्यतिरिक्तं नामास्त्युपलम्भात् ।

तथेदस्स जीवद्वयणस्स गामं किं पदं ? जीवाणं द्वाण-वणणादो जीवद्वयणमिदि गोणपदं । मंगलादिसु छसु अहियारेसु वक्खणाणिसमाणेसु गामं वुत्तमेव । पुणो किमिदं

स्वभावकी सदृशता कारण है ऐसी यम, सिंह, अश्वि और रावण आदि सङ्घाप भावसंयोग-पदरूप नहीं हो सकती है, क्योंकि, उनका नामपदमें अन्तर्भाव होता है । उक्त दश प्रकारके नामोंसे भिन्न और कोई नामपद नहीं है, क्योंकि, व्यवहारमें इनके अतिरिक्त अन्य नाम नहीं पाये जाते हैं ।

विशेषार्थ—यत्तियुपभाचार्थेने कषयप्रभृतमं नामके केवल छह भेद बताये हैं । वे ये हैं, गौण्यपद, नोगौण्यपद, आदानपद, प्रतिपक्षपद, अपचयपद और उपचयपद । ऊपर जो नामके दश भेद कह आये हैं । उनमेंसे, यहां पर अनावृत्तिसिद्धान्तसबन्धी गुणसोपेश नामोंका गौण्यपद और आदानपदमें तथा गुणनिरपेश नामोंका नोगौण्यपदमें अन्तर्भाव किया है । प्राधान्यपदनामोंका गौण्यपद और आदानपदमें अन्तर्भाव किया है । प्रमाणपदनामोंका गौण्यपदमें नामपदनामोंका नोगौण्यपदमें और सयोगपदनामोंका आदानपदमें अन्तर्भाव किया है । अवयवपदनामोंका उपचितपदनाम और अपचितपदनामोंमें अन्तर्भाव हो ही जाता है ।

शंका—उन पूर्वोक्त दश प्रकारके नामपदोंमें यह जीवस्थान कौनसा नामपद है ?

समाधान—जीवोंके स्थानोंका वर्णन करनेसे 'जीवस्थान' यह गौण्य नामपद है ।

शंका—पहले मंगलादिक छह अधिकारोंका व्याख्यान करते समय नामपदका

१ गाम ळव्हिह ३ ॥ ( कसायपाहुडुण्णिमुत्त ) गोणपदे गोणपदे आदानपदे पडिवक्खपदे अपचयपदे उपचयपदे चेदि । XXX पायणपदणमाण कय त मावो ? वलाहकाए च चहुसु वण्णेषु सेतेसु धवला नलाहका लेकाओ ति जो गामणिदंसे सो गोणपदे गिणददि गुणदुहेण दव्वमि पलत्तिदसणादो । कयवणितादि-अणेषु स्वखेषु तथ सेतेसु जो पुरेण स्वखेण गिणवणमिदि गिदंसे सो आदानपदे गिणददि वण्णारक्खसव्वेणदस्स पउत्तिदसणादो । दव्वखेचकाम्मावसजोयपदाणि रायामिधुहरसरलोमणयस्माहउअहरावयसारवासतयकोहीमाणी उच्चार्हिणि गामाणि ति आदानपदे चैव गिणददि इदमेदस्स अयि पय न इदमथि ति निपक्खाए एदंमि गामाण पयुत्तिदसणादो । अवयवपदणामाणि अपचयउचयपदणामेषु पविंसाति, तेहिंतो तस्स भेदात्तमादो । सुअणसा कउमुनीता कमलदलयणया चदसुही विचोही इच्चार्हिणि ततो नाहिराणि अथि ति च वेदाणि गामाणि समासतभूददन-मइत्तसन्धेण दव्वमि पउत्तदो । अणादियत्तिदत्तपदणामेषु जाणि अणादियुणसवधमव्वेखिय पयट्ठाणि जीवो गणी चैयणावतो ति ताणि गोणपदे आदानपदे च गिणददि । जाणि गोणपदणामेषु गिणददि । पमाणपदणामाणि ति गोणपदे चैव गिणददि समाणस्स दव्वयुणत्तादो अरत्तिदसधस्स अरत्तिदसणा गामपदा । सा च अणादियत्तिदत्तपदणामेषु पविट्ठा अणादिसरुवेण तस्स तथ पउत्तिदसणादो । अणादियत्तिदत्तपदणामाण वम्मकालागास-जीवपुणलादीण छयपदनामो पुव्व मरुत्तिदो ति वेदाणि परुविज्जेदे । तदो गाम दसाविन चैव नोदि ति प्यत्तमहो ण वरत्त्वो, किउ ऋव्हि पि होदि ति वेत्तव्व । जयय अ पु ४-५

शंखावदारे गामं उच्चदि ति ? न, पूर्वोदियस्य नामोऽनेन पदान्वेषणात् ।

प्रमाणं पंचविहं दव्व-खेत्त-काल भाव-णय-प्यमाण-भेदेहि । तत्थ दव्व-पमाणं संखेज्जसंखेज्जमणंतयं चेदि । खेत्त-पमाणं एय-पदेसादि । काल-पमाणं समयावलियादि । भाव-पमाणं पंचविहं, आभिणिवोहियणाणं सुदणाणं ओहिणाणं मणपज्जवणाणं केवलणाणं चेदि । णय-पमाणं सत्तविहं, णेगम-संगह-उवहारुज्जुसुद-सह-समभिरुट-एवंभूद-भेदेहि । अहवा णय-प्यमाणमेणयविहं—

जावदिया वयण-वहा तावदिया चैव होंति णय-वादा ।

जावदिया णय-वादा तावदिया चैव पर-ससयां ॥ ६७ ॥ इदि वयणादो ।

कथं नयाना प्रमाण्यं ? न, प्रमाणकार्याणां नयानापुपचारतः प्रामाण्याविरोधात् ।

व्याख्यान कर ही आये हैं, फिर यहा पर ग्रन्थके प्रारम्भमें नामपदका व्याख्यान किसलिये किया गया है ?

समाधान—ऐसा नहीं, क्योंकि, पूर्वमें कहे गये नामका दशप्रकारके नामपदोंमेंसे किसमें अन्तर्भाव होता है इसका इस कथनके द्वारा ही अन्वेषण किया है ।

द्रव्यप्रमाण, क्षेत्रप्रमाण, कालप्रमाण, भावप्रमाण और नयप्रमाणके भेदसे प्रमाणके पांच भेद हैं । उनमें, संख्यात असंख्यात और अज्ञत यह द्रव्यप्रमाण है । एक प्रदेश आदि क्षेत्रप्रमाण है । एक समय, एक आवली आदि कालप्रमाण है । आभिनिवोधिक ( मति ) ज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञानके भेदसे भावप्रमाण पांच प्रकारका है । नैगम, संग्रह, व्यवहार, कलुसुव, शब्द, समभिरुट और एवंभूतनयके भेदसे नयप्रमाण सात प्रकारका है । अथवा नयप्रमाण निम्न वचनके अनुसार अनेक प्रकारका भी समझना चाहिये ।

जितने भी वचन-मार्ग हैं, उतने ही नयवाद, अर्थात् नयके भेद हैं । और जितने नयवाद हैं, उतने ही परसमय हैं ॥ ६७ ॥

शंका—नयोंमें प्रमाणता कैसे संभव है, अर्थात् उनमें प्रमाणता कैसे आ सकती है ?

समाधान - नहीं, क्योंकि, नय प्रमाणके कार्य हैं, इसलिये उपचारसे नयोंमें प्रमाण-ताके मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

विशेषार्थ—शंकाकारका अभिप्राय यह है कि जब नय वस्तुके एक अंशमात्रको ग्रहण करता है सर्वांशरूपसे वस्तुको नहीं जानता है तब उसे प्रमाण कैसे माना जाय । इसका समाधान इसप्रकार किया गया है कि, यद्यपि केवल एक नय नय है प्रमाण नहीं है । किन्तु उनमें दूसरे नयोंकी अपेक्षा रहनेसे वे प्रमाणका कार्य करते हैं, इसलिये उपचारसे उनमें प्रमाणता आ जाती है ।

एतथ इदं जीवज्ञानं पदसु पंचसु पमांगेषु कदमं पमाणं ? भावपमाणं । तं पि पंचविहं, तदथ पंचविहंगु भाव-पमाणेषु सुद-भाव-पमाणं । कर्तृनिरूपणया एवास्य प्रामाण्यनिरूपितमिति पुनस्य प्रामाण्यनिरूपणमनर्थकमिति चेन्न, सामान्येन जिनोक्तत्वान्यथापुनपरितोऽनगतजीवस्थानप्रामाण्यस्य शिष्यस्य बहुषु भावप्रमाणेषुपिदं जीवस्थानं श्रुतभाव-प्रमाणमिति आप्तार्थत्वात् । अहवा पमाणं छविहं, नामस्थापनाद्व्यक्षेत्रकालभावप्रमाण-भेदात् । तन्न नाम-पमाणं पमाणा-रूपणा । द्वयणा-पमाणं दुविहं, सन्भाव-द्वयगा-पमाणा-मन्भाव-द्वयणा-पमाणा-मिदि । आकृतिमिति सद्भावस्थापना । अनाकृतिमित्यसद्भावस्थापना । द्वायपमाणं द्विहं आगमदो णोआगमदो य । आगमदो पमाणा-पाहुड-जाणओ अणुनजुओ, संखेज्जसंखेज्जाणंत-भेद-सिणग-सद्वागमो वा । णोआगमो तिविहो, जाणुग-यरीं भवियं तन्नदिरित्तमिदि । जाणुगयरीं च भवियं च गयं । तन्नदिरित्त-द्वय-पमाणं

अंक्षा — उन पात्र प्रकारके प्रमाणोंसे ' जीवस्थान ' यह कौत्सा प्रमाण है ?

यमाधान — यह भावप्रमाण है ।

मतिगलनद्विरूपसे भावप्रमाणके भी पांच भेद हैं । इसलिये उन पात्र प्रकारके भाव-प्रमाणोंमेंसे इस जीवस्थान शरण हो श्रुतप्रत्यक्षप्रमाणरूप जानना चाहिये ।

अंक्षा — पहले कर्ताका निरूपण कर आये हैं इसलिये उसके निरूपण कर देनेसे ही इस शरण ही प्रमाणताका निरूपण हो जाता है, अतः फिरसे उसकी प्रमाणताका निरूपण करना निरर्थक है ?

समाधान — ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि, यह जीवस्थान शाल्प्रमाण है, अन्यथा तद निरूपणका कदा युवा नहीं हो सकता था । इतप्रकार सामान्यरूपसे इस जीव-स्थान शरण ही प्रमाणताका निश्चय करनेवाले शिष्यको बहुत प्रकारके भाव प्रमाणोंमेंसे यह जीवस्थान शरण प्रत्यक्षप्रमाणकर के स्वरूपसे विशेष जान करके ले लिये यहाँ पर इसकी प्रमाणताका निरूपण किया ।

अथवा, नामप्रमाण, स्थापनाप्रमाण, द्रव्यप्रमाण, क्षेत्रप्रमाण, जालप्रमाण और भाव-प्रमाणके भेदसे प्रमाण कर प्रकारका है ।

उन्में ' प्रमाण ' केनी शरणको नामप्रमाण करते हैं । सद्भावस्थापनाप्रमाण और सद्भावस्थापनाप्रमाणके भेदसे स्थापनाप्रमाण दो प्रकारका है । तदकारवाले पदार्थोंमें सद्भावस्थापना होती है । और अनसद्भावस्थानके भेदसे असद्भावस्थापना होती है । आगमद्रव्य-प्रमाण और जो आगमद्रव्यप्रमाणके भेदसे द्रव्यप्रमाण दो प्रकारका है । प्रमाणविषयक शाल्प्रमाण जाननेवाले परतु वर्तमानमें उसके उपरोक्तसे रहित जीवको आगमद्रव्यप्रमाण कहते हैं । अथवा, शरणको अपेक्षा सद्भावभेदरूप तत्त्वोंकी अपेक्षा असत्त्वभेदरूप और तद्वत्त्व अर्थकी अपेक्षा सत्त्वभेदरूप केसे शरणरूप अलमको आगमद्रव्यप्रमाण कहते हैं । नातकरारी, भावि और तद्वत्त्वगतिकके भेदसे नोआगमद्रव्यके तीन भेद समझने चाहिये ।

तिविहं, संखेज्जसंखेज्जमणंतमिदि । रोत्त-काल-पमाणाणि पुवं न वत्तव्याणि । भाव-पमाणं पंचविहं, मदि-भाव-पमाणं सुद-भाव-पमाणं ओहि-भाव-पमाणं मणपज्जव-भाव-पमाणं केवल-भाव-पमाणं चेदि । एत्थेदं जीवज्ञानं भावदो सुद-भाव-पमाणं । दव्वदो संखेज्जासंखेज्जाणंत-सरुव सद् पमाणं ।

वनव्यदा तिविहा, ससमयवत्त्ववदा परसमयवत्त्ववदा तदुभयवत्त्ववदा चेदि । जस्सिह सत्थस्सिह स-समयो चेव वणिज्जदि परुविज्जदि परुविज्जदि तं सत्थं ससमयवत्त्ववं, तसत्त भावो ससमयवत्त्ववदा । पर-समयो मिच्छत्तं जस्सिह पाहुडे अणियोगे वा नणिज्जदि परुविज्जदि पणगविज्जदि तं पाहुडमणियोगो वा परसमयवत्त्ववं, तसत्त भावो पर-समयवत्त्ववदा णम । जत्थ दो वि परुवेज्जग पर-समयो दूक्षिज्जदि स-समयो थानिज्जदि सा तदुभयवत्त्ववदा णम भवदि । एत्थ पुण जीवज्ञाने सप्तमयवत्त्ववदा सप्तमयस्सेन परुवगादो । अत्थाधियारो तिविहो, पमागं पमेयं तदुभयं चेदि । एत्थ जीवज्ञाने एको चेय अत्थाधियारो पमेय-परुववणाओ । उक्कमो गदो ।

उन्में, सब करारीर और भावि नोआगमद्रव्यका वर्णन पहले कर आये । तद्वत्त्वित्ति नोआगमद्रव्यप्रमाण संख्यातरूप, असंख्यातरूप और अनन्तरूप भेदकी अपेक्षा तीन प्रकारका है । क्षेत्रप्रमाण और कालप्रमाणका वर्णन पहलेके सगान ही करना चाहिये । मतिभावप्रमाण, श्रुतभाव-प्रमाण, अवधिभावप्रमाण, मनःपर्ययभावप्रमाण और केवलभावप्रमाणके भेदसे भावप्रमाण पांच प्रकारका है । इनमेंसे यह ' जीवस्थान ' नामका शाल्प्र भावप्रमाण ही अपेक्षा श्रुतभावप्रमाणरूप है, और द्रव्यकी अपेक्षा संख्यात असत्त्व और अनन्तरूप शब्दप्रमाण है ।

वक्तव्यता तीन प्रकारकी है, स्वरागमयवक्तव्यता, परसमयवक्तव्यता और तदुभयवक्तव्यता । जिस शाल्में स्वसमयका ही वर्णन किया जाता है, प्ररूपण किया जाता है अथवा विशेषरूपसे जान कराया जाता है उसे स्वसमयवक्तव्य कहते हैं, और उसके भावको अर्थानि उन्में रहनेवाली विशेषताको स्वरागमयवक्तव्यता कहते हैं । परसमय मिथ्यात्वको कहते हैं । उसका जित प्राश्रुत या अनुयोगमें वर्णन किया जाता है, प्ररूपण किया जाता है वा विशेष जान कराया जाता है उस प्राश्रुत या अनुयोगको परसमयवक्तव्य कहते हैं, और उसके भावको अर्थानि उन्में होनेवाली विशेषताको परसमयवक्तव्यता कहते हैं । जहाँ पर स्वसमय और पर-समय इन दोनोंका निरूपण करके परसमयको दोबिशुक्त दिगलाया जाता है और स्वसमय ही स्थापना की जाती है उसे तदुभयवक्तव्य कहते हैं और उसके भावको अर्थानि उन्में रहनेवाली विशेषताको तदुभयवक्तव्यता कहते हैं । इनमेंसे इस जीवस्थान शरणप्रमाण स्वसमयवक्तव्यता ही समझनी चाहिये, क्योंकि, इन्में स्वसमयका ही निरूपण किया गया है ।

प्रमाण, प्रमेय और तदुभयके भेदसे अर्थविचारके तीन भेद हैं । उनमेंसे इस जीवस्थान शाल्में एक प्रमेय-अर्थविचारका ही वर्णन है, क्योंकि, इन्में प्रमाणके विषयगत प्रमेयका ही वर्णन किया गया है । इसतरह उपक्रमनामका प्रकरण समाप्त हुआ ।



णिक्रमेवो चउचिहो गाम-द्वयणा-द्व-भाव-जीवद्वान्-भेएण । गाम-जीवद्वान् जीवद्वान्-सदो । द्वयण-जीवद्वान् बुद्धीए समारोविय-जीवद्वान्-द्व-भाव । द्व-जीवद्वान् दुविहं आगम-गोआगम-भेएण । तत्थ जीवद्वान्-जाणओ अपुवजुतो आगम-द्व-भाव-जीवद्वान् । गोआगम-द्व-भाव-जीवद्वान् तिविहं जाणुगसरिरे-भवि-य-त्व-दिरिच-णोआगम-द्व-भाव-जीवद्वान्-भेएण । आदिह्ण-दुगं सुगमं । तव-दिरिचं जीवद्वान्-आहार-भूदागास-द्व-भाव-जीवद्वान् दुविहं आगम-गोआगम-भेएण । आगम-भाव-जीवद्वान् जीवद्वान्-जाणओ उवजुतो । गोआगम-भाव-जीवद्वान् मिच्छहद्वियादि-चोहस-जीव-समासा । एत्थ णो-आगम-भाव-जीवद्वान् पयदं । णिक्रमेवो गदो ।

नयैविना लोकव्यवहारानुपत्तेर्नया उच्यन्ते । तद्यथा, प्रमाणपरिशुद्धीताथैकदेशे वस्त्वध्यवसायो नर्यः । स द्विविधः, द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्चेति । द्रव्यतुदुवचत्तास्तान्पर्यायानिति द्रव्यम्, द्रव्यमेवार्थः प्रयोजनमसेति द्रव्यार्थिकः ।

नामजीवस्थान, स्थापनाजीवस्थान, द्रव्यजीवस्थान और भावजीवस्थानके भेदसे निक्षेप चार प्रकारका है । 'जीवस्थान' इसप्रकारकी संज्ञाको नामजीवस्थान कहते हैं । जिस द्रव्यमें बुद्धिसे जीवस्थानकी आरोपणा की हो उसे स्थापनाजीवस्थान कहते हैं । आगम-जीवस्थान और नोआगमजीवस्थानके भेदसे द्रव्यजीवस्थान दो प्रकारका है । उनमें, जीवस्थान शास्त्रके जाननेवाले किन्तु वर्तमानमें उसके उपयोगसे रहित जीवको आगमद्रव्यजीवस्थान कहते हैं । ब्राह्मणकार, भावि और तद्व्यतिरिक्तके भेदसे नोआगमद्रव्यजीवस्थान तीन प्रकारका है । इनमेंसे, आदिके दो अर्थोंमें ब्राह्मणकार और भावि सुगम हैं । जीवस्थानोंके अथवा जीवस्थान शास्त्रके आधारभूत आकाशद्रव्यको तद्व्यतिरिक्तनोआगमद्रव्यजीवस्थान कहते हैं । आगम और नोआगमके भेदसे भावजीवस्थान दो प्रकारका है । जीवस्थान शास्त्रके जानने-वाले और वर्तमानमें उसके उपयोगसे युक्त जीवको आगमभावजीवस्थान कहते हैं । और मिथ्यादृष्टि आदि बौद्ध जीवसमासोंको नोआगमभावजीवस्थान कहते हैं । इनमेंसे, इस जीव-स्थान शास्त्रमें नोआगमभावजीवस्थान निक्षेप प्रकृत है । इसतरह निक्षेपका वर्णन हुआ ।

नर्वोंके बिना लोकव्यवहार नहीं चल सकता है, इसलिये यहाँ पर नर्वोंका वर्णन करते हैं । इन नर्वोंका खूलासा इसप्रकार है, प्रमाणके द्वारा ग्रहण की गई वस्तुके एक अंशमें वस्तुका निश्चय करनेवाले ज्ञानको नय कहते हैं । वह नय द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकके भेदसे दो प्रकारका है । जो भविष्यत् पर्यायोंको प्राप्त होगा और भूत पर्यायोंको प्राप्त हुआ था उसे द्रव्य

१ अनिराहतप्रतिपक्षो यस्त्वक्षमाही ह्यतुरभिप्रायो नय । प्र क मा पृ २०५

२ द्रव्य सामान्यमेदोऽव्यय उस्तगाऽर्थो विषयो येषां ते द्रव्यार्थिका । पर्यायो विशेषो भेदा व्यतिरेकोऽपवादोऽर्थो विषयो येषां ते पर्यायार्थिका । लवीय पृ ५१

३ द्रव्यति गच्छति तौस्तान् पर्यायान् द्रव्यते तैस्तै पर्यायैरिति वा द्रव्यम् । जयथ अ पृ २६ निजनिजप्रदेशमूर्तरखण्डवृत्त्या स्वसामान्यविभाषणपर्यायान् द्रव्यति द्रव्यद्रव्यद्रव्यचेति द्रव्यम् । आ प ८७

परि भेदमेति गच्छतीति पर्यायः, पर्याय एवार्थः प्रयोजनमस्येति पर्याया-र्थिकः । तत्र द्रव्यार्थिकत्वविधः, नैगमः संग्रहो व्यवहारश्चेति । विधिव्यतिरिक्त-प्रतिषेधानुपलम्भाद्विधिमार्गमेव तत्त्वमित्यध्यवसायः समस्तस्य' ग्रहणात्संग्रहः । द्रव्य-व्यतिरिक्तपर्यायानुपलम्भाद् द्रव्यमेव तत्त्वमित्यध्यवसायो वा संग्रहः । संग्रहनयाश्रिताना-मर्थानां विधिपूर्वकमवहरणं भेदं न व्यवहारः, व्यवहारपरतन्त्रो व्यवहारनय इत्यर्थः । यदस्ति न तद् द्रव्यमतिलब्ध्य वर्तते इति नैकगमो नैगमः, संग्रहासंग्रहस्वरूपद्रव्यार्थिको नैगम' इति यावत् । एते त्रयोऽपि नयाः नित्यवादिनः स्वविषये पर्यायाभावतः सामान्य-

कहते हैं । द्रव्य ही जिसका अर्थ अर्थात् प्रयोजन हो उसे द्रव्यार्थिकनय कहते हैं । 'परि' अर्थात् भेदको जो प्राप्त होता है उसे पर्याय कहते हैं । वह पर्याय ही जिस नमका प्रयोजन हो उसे पर्यायार्थिकनय कहते हैं ।

द्रव्यार्थिक नयके तिन भेद हैं-नैगमनय, संग्रहनय और व्यवहारनय । विधि अर्थात् सत्ताको छोड़कर प्रतियेध अर्थात् असत्ताकी प्राप्ति नहीं होती है, इसलिये विधिमात्र ही तत्व है । इसप्रकारके निश्चय करनेवाले नयको समस्तका ग्रहण करनेवाला होनेसे संग्रहनय कहते हैं । अथवा, द्रव्यको छोड़कर पर्याय नहीं पाई जाती है, इसलिये द्रव्य ही तत्व है । इसप्रकारके निश्चय करनेवाले नयको संग्रहनय कहते हैं । संग्रहनयसे ग्रहण क्रिये गये पदार्थोंके विधिपूर्वक भेद करनेको व्यवहार कहते हैं । उस व्यवहारके आधुन चलनेवाले नयको व्यवहारनय कहते हैं । जो है वह उक्त दोनों अर्थात् संग्रह और व्यवहारको छोड़कर नहीं रहता है । इसतरह जो केवल एकको ही प्राप्त नहीं होता है, अर्थात् अनेकको प्राप्त होता है उसे नैगमनय कहते हैं । अर्थात् संग्रह और असंग्रहरूप जो द्रव्यार्थिक नय है वह ही नैगमनय है । ये तीनों ही नय नित्यवादी हैं, क्योंकि, इन तीनों ही नर्वोंका विषय पर्याय न होनेके कारण इन तीनों नर्वोंके विषयमें

१ प्रतिपु 'समस्य' इति पठ ।

२ संद्रव्यतानिका तत्त्वस्त्वामाभिद जगत् । सतावपयमा मं मगुद्व ममतेऽत ॥ न त. टी पृ ३२२ सवालविरोधेनैतन्पुपनीय पर्यायानाज्ञानभेदानुश्रियेण ममत्त्वमनया समर । म मि १, ३३ सजालविरोधे-नैकव्योपनया ममत्त्वमनया ममत् । त रा वा १, ३३ एकत्रेण विशेषाणा मरा समयो मत । मजांतरविरोधेन स्पष्टार्था त्वयन ॥ त ओ वा १, ३३, ४९

३ म मि १, ३३ त. रा वा १, ३३ प क मा पृ २०५ संग्रहाः ग्रहंतानामर्थानां विधिपूर्वक । योऽनहारी विभाग स्याद्व्यवहारी नय स्मृत ॥ त श्लो. वा १, ३३, ५८ व्यवहारसु तामेव प्रतिपत्तु यवस्थिताम् । तथैव द्रव्यमानचकार व्यवहारपति देहिने ॥ म त टी पृ ३११.

४ अनभिनिवृत्तापेण ह्यन्यमात्राही नैगम । म मि १, ३३ अर्थमह्वल्यमात्राही नैगम । त रा वा १, ३३ तत्र सत्त्वममात्रस्य मात्राही नैगम नय । त श्लो. वा १, ३३ अनिष्य तार्थमह्वल्यमात्रमाही नैगम । म क मा पृ २०५ अप्येव हि सामान्यमभिज्ञानकारणम् । विशेषोऽव्यय एवति नयते निगमो नय ॥ म त टी पृ ३११ नैगमनिर्देशलतागामाया विशेषमभिज्ञानमिति विनाति वा नैकम । निगमेतु मा





शब्दनयः लिङ्गसंख्याकालकारकपुरुषोपग्रहव्यभिचारनिवृत्तिपरत्वात् । लिङ्गव्यभिचारस्तावदुच्यते । स्त्रीलिङ्गे पुल्लिङ्गाभिधानं तारका स्वातिरिति । पुल्लिङ्गे स्त्र्यभिधानं अवगमो विद्येति । स्त्रीत्वे नपुंसकाभिधानं वीणा आतोद्यमिति । नपुंसके स्त्र्यभिधानं आयुधं शक्तिरिति । पुल्लिङ्गे नपुंसकाभिधानं पटो वस्त्रमिति । नपुंसके पुल्लिङ्गाभिधानं आयुधं पशुरिति । संख्याव्यभिचारः, एकत्वे द्वित्वं नक्षत्रं पुनर्वसू इति । एकत्वे बहुत्वं नक्षत्रं शतभिषज इति । द्वित्वे एकत्वं गौदा ग्राम इति । द्वित्वे बहुत्वं पुनर्वसू

बाद अर्थके ग्रहण करनेमें समर्थ शब्दनय है, क्योंकि, यह नय लिंग, संख्या, काल, कारक, पुरुष और उपग्रहके व्याभिचारकी निवृत्ति करनेवाला है ।

स्त्रीलिंगके स्थानपर पुल्लिङ्गका कथन करना और पुल्लिङ्गके स्थानपर स्त्रीलिंगका कथन करना आदि लिंगव्यभिचार है । जैसे, 'तारका स्वाति.' स्वाति नक्षत्र तारका है । यहाँ पर तारका शब्द स्त्रीलिंग और स्वाति शब्द पुल्लिङ्ग है । इसलिये स्त्रीलिंगके स्थानपर पुल्लिङ्ग कहनेसे लिंगव्यभिचार है । 'अवगमो विया' शत विद्या है । यहाँ पर अवगम शब्द पुल्लिङ्ग और विद्या शब्द स्त्रीलिंग है । इसलिये पुल्लिङ्गके स्थानपर स्त्रीलिंग कहनेसे लिंगव्यभिचार है । 'वीणा आतोद्यम्' वीणावाजा आतोद्य कहा जाता है । यहाँ पर वीणा शब्द स्त्रीलिंग और आतोद्य शब्द नपुंसकलिंग है । इसलिये स्त्रीलिंगके स्थानपर नपुंसकलिंगका कथन करनेसे लिंगव्यभिचार है । 'आयुधं शक्तिः' शक्ति आयुध है । यहाँ पर आयुध शब्द नपुंसकलिंग और शक्ति शब्द स्त्रीलिंग है । इसलिये नपुंसकलिंगके स्थानपर स्त्रीलिंगका कथन करनेसे लिंगव्यभिचार है । 'पटो वस्त्रम्' पट वस्त्र है । यहाँ पर पट शब्द पुल्लिङ्ग और वस्त्र शब्द नपुंसकलिंग है । इसलिये पुल्लिङ्गके स्थानपर नपुंसकलिंगका कथन करनेसे लिंगव्यभिचार है । 'आयुध परशु.' परसा आयुध है । यहाँ पर आयुध शब्द नपुंसकलिंग और परशु शब्द पुल्लिङ्ग है । इसलिये नपुंसकलिंगके स्थानपर पुल्लिङ्गका कथन करनेसे लिंगव्यभिचार है ।

एक वचनकी जगह द्विवचन आदिका कथन करना संख्याव्यभिचार है । जैसे, 'नक्षत्रं पुनर्वसू' पुनर्वसू नक्षत्र है । यहाँ पर नक्षत्र शब्द एक वचनान्त और पुनर्वसू शब्द द्विवचनान्त है । इसलिये एकवचनके स्थानपर द्विवचनका कथन करनेसे संख्याव्यभिचार है । 'नक्षत्र शतभिषज.' शतभिषज नक्षत्र है । यहाँ पर नक्षत्र शब्द एकवचनान्त और शतभिषज शब्द बहुवचनान्त है । इसलिये एकवचनके स्थानपर बहुवचनका कथन करनेसे संख्याव्यभिचार है ।

१ लिङ्गसंख्यासाधनदिव्यभिचारमिदृषिपर शब्दनय । स ति १, ३३ अपत्यमार्गगति मत्यातीति शब्द । त रा वा १, ३३ कालादिभेदतोऽर्थस्य भेद य मतिपादौ । सोऽन्य शब्दनय शब्दप्रधानत्वादुदाहृत ॥ त शो वा १, ३३, ६८ कालकारकलिङ्गसंख्यासाधनोपग्रहमद्विग्रमर्थ शपतीति शब्दो नय । प्र क मा पृ २०६ त्रिगोभिलिङ्गसंख्यादिभेदाद्विग्रहमात्रताम् । तस्थान मयमानाऽय शब्द मयवतिष्ठते ॥ स त टी पृ ३३३

पञ्चतारका इति । बहुत्वे एकत्वं आम्नाः वनमिति । बहुत्वे द्वित्वं देवमनुष्या उभौ राशी इति । कालव्यभिचार', विशदशस्य पुत्रो जनिता', भविष्यदर्थे भूतप्रयोगः । भाषि कृत्यमासीदिति भूते भविष्यत्प्रयोग इत्यर्थः । साधनव्यभिचारः, ग्राममधिगते इति । पुरुषव्यभिचार', एहि मन्ये रथेन यास्यसि न हि यास्यसि यातस्ते पितेति । उपग्रह- 'गौदो ग्राम.' गर्थोको देनेवाले गात्र है । यहाँ पर गौद शब्द द्विवचनान्त और ग्राम शब्द एकवचनान्त है । इसलिये द्विवचनके स्थानपर एकवचनका कथन करनेसे संख्याव्यभिचार है । 'पुनर्वसू पञ्च तारकाः' पुनर्वसू पांच तारे हैं । यहाँ पर पुनर्वसू द्विवचनान्त और पञ्चतारका शब्द बहुवचनान्त है । इसलिये द्विवचनके स्थानपर बहुवचनका कथन करनेसे संख्याव्यभिचार है । 'आम्ना. वनम्' आम्नके वृक्ष वन हैं । यहाँ पर आम्न शब्द बहुवचनान्त और वन शब्द एकवचनान्त है । इसलिये बहुवचनके स्थानपर एकवचनका कथन करनेसे संख्याव्यभिचार है । 'देवमनुष्या उभौ राशी' देव और मनुष्य ये दो राशि हैं । यहाँ पर देव-मनुष्य शब्द बहुवचनान्त और राशी शब्द द्विवचनान्त है । इसलिये बहुवचनके स्थानपर द्विवचनका कथन करनेसे संख्याव्यभिचार है ।

भविष्यत् आदि कालके स्थानपर भूत आदि कालका प्रयोग करना कालव्यभिचार है । जैसे, 'विषदशस्य पुत्रो जनिता', जिसने समस्त विश्वको देश लिया है ऐसा इसके पुत्र होगा । यहाँ पर विषदश देवता भविष्यत् कालका कार्य है, परंतु उसका भूतकालके प्रयोगद्वारा कथन किया गया है । इसलिये यहाँ पर भविष्यत् कालका कार्य भूतकालमें कइनेसे काल-व्यभिचार है । इसलिये 'भविष्यत्कालका कथन करनेसे कालव्यभिचार है । यहाँ पर भूतकालके स्थानपर भविष्यत् कालका कथन करनेसे कालव्यभिचार है ।

एक साधन अर्थात् एक कारकके स्थानपर दूसरे कारकके प्रयोग करनेको साधनव्यभिचार कहते हैं । जैसे, 'ग्राममधिगते' वह ग्राममें गयेन करता है । यहाँ पर सन्तमी कारकके स्थानपर द्वितीया कारकका प्रयोग किया गया है, इसलिये यह साधनव्यभिचार है ।

उत्तम पुरुषके स्थानपर मध्यम पुरुष और मध्यम पुरुषके स्थानपर उत्तम पुरुष आदिके

१ ये हि वेद्यात्पण्यत्तानागुणेन 'थापुमन्ये प्रयाग' इति ग्रामाण्य विशदशस्य पुत्रो जनिता, भाषिस्त्वगामिदि या कालभेदेऽयं कदाचिन्माता यो मिस इति नोऽपि पुत्रो जनितेति भाषिस्त्वलिना-तीति कालस्यभेदोऽभिप्रायः, तथा वराशुदर्यनामिणी । ता य परीक्षाया ग्लयते कालभेदेऽप्यस्यभेदेऽपि सगा रवणशुचि च्यवतिनोरुत्तीतानागतकालोऽप्यस्यभेदेऽपि सगा । आपोऽप्यस्यो राजा, शरवकृत्ता भविष्यतीति शब्दोऽभिप्रायः । नैक्यतीति चैर, विशदशना जनितेऽप्यनगरिणि माभूत् तत एव । न हि विशदशना इति विशदशती लीति शब्दस्य योऽभिप्रायः कालस्य जनितेति शब्दस्यानागतकाल पुरातन भाषिनीऽपि नाराधारा । अतीतकालस्याप्यनागतता-अपरीपदिनार्थताभिप्रायः । चेत् तर्हि न पस्यार्थतः कालभेदेऽप्यभिप्रायव्यास्था । त शो वा पृ २७२-२७३

२ 'गहि मन्ये रथेन यास्यसि, न हि यास्यसि, स यातस्ते पिता' इति साधनभेदेऽपि पदार्थमभिलाषता "ग्रामं मय त्रिगुपमन्यते रसदेकत्रय" इति वचनात् । तदपि न श्रेय परीक्षायां, अत्र पचासि, त पचमी-

व्यभिचारः, रमते विरमति, निष्ठति मंतिष्ठते, विशति निनिगते इति । एवमाद्यो व्यभि-  
चारा न युक्ताः अन्यार्थस्यान्यार्थेन सम्बन्धभावत्वात् । ततो ययालिङ्गं यथासंख्यं यथा-  
साधनादि च न्याय्यमभिधानमिति ।

नानार्थमभिरोहणाल्पमभिरुद्धः । इन्दनादिन्द्रः पूर्दारणात्पुरन्दरः अकनाञ्चक  
इति भिन्नार्थानुक्तत्वात् । न पर्यायशब्दः । न पर्यायशब्दः सन्ति भिन्नपदानामेकार्थ-  
कथन करनेको पुराणव्यभिचार कहते हैं । जैसे, 'गदि मन्थे रथेन यास्यसि नदि यास्यसि यातस्ते  
पिता' आओ, तुम समझते हो कि मैं रथके जाऊंगा परन्तु अग न जाओगे, तुम्हारा पिता  
जला गया । यहाँ पर 'मन्थे' के स्थानपर 'मन्थे' यह उत्तमपुहयका और 'यास्यसि' के  
स्थानपर 'यास्यसि' यह मध्यमपुहयका प्रयोग हुआ है । इसलिये पुरुषव्यभिचार है ।

उपसर्गके निमित्तसे परस्परपदके स्थानपर आत्मनेपद और आत्मनेपदके स्थानपर  
परस्परपदके स्थान कर देनेको उपप्रत्ययविचार कहते हैं । जैसे, 'रमते' के स्थानपर 'विरमति'  
'निष्ठति' के स्थानपर 'सतिष्ठते' और विशतिके स्थानपर 'निविशते' का प्रयोग किया  
जाता है ।

इसतरह जितने भी लिंग आदि व्यभिचार ऊपर दे आये हैं वे सभी अयुक्त हैं, क्योंकि,  
अन्य अर्थका अन्व अर्थके साथ संबन्ध नहीं हो सकता है । इसलिये समान लिंग, समान  
मन्था और समान साधन आदि का ऋतन करना ही उचित है ।

शब्दभेदसे जो नाना अर्थोंमें अभिरुद्ध होता है उसे समभिरुद्ध नय कहते हैं । जैसे,  
'इन्दनात्' अर्थात् परम श्रेष्ठशाली होनेके कारण इन्द्र 'पूर्दारणात्' अर्थात् नगरोंका विभाग  
करनेवाला होनेके कारण पुरन्दर और 'शकनात्' अर्थात् सामर्थ्यवाला होनेके कारण शक । ये  
तीनों शब्द भिन्नार्थवाचक होनेसे इन्हें परस्परवर्ती नहीं समझना चाहिये । इस नयकी दृष्टिमें  
पर्यायवाची शब्द नहीं होते हैं, क्योंकि, भिन्न पूर्वोंका एक पदार्थमें रहना स्वीकार कर लेनेमें

न्यायि पर्यायवाची । शब्दभेदके कारण प्रमाण । त श्रो वा प्र २०३ त मा पुरमभेदसि नैकात्तिक तर वस्तु  
इति, 'गदि मन्थे' इत्यादि । इति च प्रयोगो न युक्त, अपि तु 'एदि मन्थे' यथाह रथेन यास्यसि' इत्यनेन  
एतावतीति शब्दः । य त. प्र ३०३ 'प्रमथे च मन्थोपपदे मयतेरथम एफत्र' वा १, ४, १०६ 'एदि  
मन्थे रथेन यास्यसि, नदि यास्यसि यातस्ते पिता' इति शब्दो यथासाधनेन प्रतिपत्ति नान प्रत्ययव्यभिचारिणो  
विचिन्तयन्मन्थि, 'रथेन यास्यसि, इति साधनवाचिमानात् प्रमासो गम्यते' । 'नदि यास्यसि' इति नदिर्गमन  
परिभाषिते । 'नदिर्गमनवाचि परगतिर्वा च प्रयोज्येव परिहास इति अभिधानवशाः 'मन्थे' इति एवमन्थन  
परिभाषिते प्रयोगोऽप्यर्थः इति न दशरत्नारम्भ्यता याया । 'गोपि गोपि अन्य उन्मदत्सदि' हेम ३, ३, १०

१ म ति १, ३३ न त. मा १, ३३ पर्यायशब्दके भिन्नार्थवाचिपेक्षा । न मभिरुद्ध  
एव पर्यायवाची विधाय ॥ त श्रो वा १, ३३, ७६ नानार्थान् मन्थोपपदेन नद मभिरुद्ध । प्र. क मा  
प्र २०५. नानाभिचार तन्वाचि वस्तुन क्षणजितिन । ते मभिरुद्धन्तु मन्थेदेन भिन्नताम् ॥ य न शी प्र ३३३

२ शरीर 'चैते' इति पाठ ।

वृत्तिविरोधात् । नाविरोधः पदानामेकत्वापत्तेरिति । नानार्थस्य भागः नानार्थता' तां  
समभिरुद्धत्वात्ममभिरुद्धः ।

एवं भेदे भवनदेवम्भूत । न पदानां समासोऽस्ति भिन्नकालवर्तिनां भिन्नार्थ-  
वर्तिनां चैकत्वविरोधात् । न परस्परव्यपेक्षापत्ति वर्णार्थसंख्याकालादिभिर्भिन्नानां पदानां  
भिन्नपदोपेक्षायोगात् । ततो न वाक्यमप्यस्तीति सिद्धम् । ततः पदभेदमेकार्थस्य वाच्यरु-  
मित्यभ्यवसायः एवम्भूतनयः । एतस्मिन्नये एको गोशब्दो नानार्थे न वर्तते एकस्यैक-  
सभास्य वहुषु वृत्तिविरोधात् । पदगतनर्णभेदाद्वाच्यभेदस्याभ्यवसायकोऽप्येवम्भूतः ।

विरोध आता है । यदि भिन्न पूर्वोंकी एक पदार्थमें वृत्ति हो सकती है इसमें कोई विरोध नहीं  
है, ऐसा मान लिया जावे तो समस्त पूर्वोंको एकत्वकी आपत्ति आ जावेगी । इससे यह तर्क  
निम्नला कि जो नय शब्दभेदसे अर्थमें भेद स्वीकार करता है उसे समभिरुद्ध नय कहते हैं ।  
नाना पदार्थोंके भाव अर्थात् विशेषताको नानार्थता कहते हैं । और उस नानार्थताके प्रति जो  
अभिरुद्ध है उसे समभिरुद्ध नय कहते हैं ।

एवंभेद अर्थात् जिस शब्दका जो वाच्य है वह तद्रूप क्रियासे परिणत समयमें ही पाया  
जाता है । उसे जो विषय करता है उसे एवंभूत नय कहते हैं । इस नयकी दृष्टिसे पूर्वोंका समास  
नहीं हो सकता है, क्योंकि, भिन्न भिन्न कालवर्ती और भिन्न भिन्न अर्थवाले शब्दोंमें एकपदेका  
विरोध है । इसीतरह शब्दोंमें परस्पर सापेक्षता भी नहीं है, क्योंकि, वर्ण, अर्थ, सख्या और  
कालादिकके भेदसे भेदको प्राप्त हुए पूर्वोंके दूसरे पूर्वोंकी अपेक्षा नहीं बन सकती है । जब कि  
एक पद दूसरे पदकी अपेक्षा नहीं रखता है तो इस नयकी दृष्टिमें वाक्य भी नहीं बन सकता

१ 'नानार्थसमभिरुहणानामभिरुद्ध' इति पाठमभिरुह्य निष्के, मन्थतिभ्रन्त्या ।

२ येना मना श्रुतेनैवाभ्यवसाययतीति एवम्भूत । म ति १, ३३ त रा वा १, ३३ तं क्रियापरिणामाऽर्थ-  
धनति विनिश्चयात् । एतद्भूतेन नयेत क्रियान्तत्परत्सुसु । त शो वा १, ३३, ७५ एवमित्य विप्रवितितित्यापरिणाम-  
प्रकारेण श्रुत परिणतमर्थं योऽभिप्रेति स एवम्भूतो नय । ( क्रियाशयेण भेदप्रकल्पणमित्यर्थमाजोऽन । टिप्पणी ) प्र क  
मा प्र २०६ एकस्यापि धनेर्नान्य मया ततोपपद्यते । क्रियाभेदेन भिन्नवादेवभूतोऽभिपद्यते ॥ य त  
शी प्र ३३४.

३ एवम्भूतान्देवम्भूत । अस्मिन्ने न पदानां समासोऽस्ति स्वल्पत कालभेदेन च भिन्नानामभ्यवसरोधात् ।  
न पदानामेकत्वावृत्ति समास प्रयोगानां क्षणक्षणिनां तदनुपपत्ते । नेतार्थं यृपि समास, भिन्नपदानामेका-  
वृत्त्यनुपपत्ते । न वर्णसमासोऽप्यस्ति, तथापि पदसामानोक्तदोषप्रमाणत्वात् । तत एक एव वर्ण एकार्थवाचक इति पदगतन-  
सानार्थ एवार्थ मन्थेवस्तुभिन्नार्थान् एवम्भूतनय । जयध ज प्र २१ यत्क्रियाविशिष्टशब्दनीचोऽप्ये, तामेव तिला  
कुर्वदस्तेवभूतसुप्यते । एवम्भूतेनोच्यते चेष्टाक्रियादिक प्रकार, तमेवभूत प्राप्तमिति क्त्वा तन्मन्थेवभूतसुप्रतिपादको  
नयोऽप्युपचारादेवम्भूत । अथवा एवम्भूतेनोच्यते चेष्टाक्रियादिक प्रकार, तत्रिष्टिरूपेण वस्तुनोऽप्युपचारादेवम्भूत  
प्राप्त एवम्भूत रूपचारादेवम्भूतपि व्याख्यायते स एवंभूतो नय । य रा शेष. ( एवम्भूत )

एवम्भूते समुत्पन्नत्वात् । एवमेते संक्षेपेण नया सप्तविधाः, अवान्तरभेदेन पुनरसंख्येया । एते च पुनर्व्यवहृत्प्रियमवगन्तव्या अन्यथार्थप्रतिपादनावगमानुपपत्ते । उतं च—

णथि नपुहि विद्वण सुच अत्थो व्व जिणवरमदग्धि ।

तो णय-वादे णिउणा मुणिणो सिद्धतिया होत्ति' ॥ ६८ ॥

तग्धा अहियाय-सुत्तेण अत्थ-संपायणाग्धि जइयव्व ।

अत्थ-गई वि य णय-वाद-गहण-लीणा दुरहियमो ॥ ६९ ॥

एवं णय-परुवणा गदा । अणुगमं वत्तइसामो—

**एतो इमेसिं चोदसण्हं जीव-समासाणं मगणट्टदाए तत्थ  
इमाणि चोदस चेव द्वाणाणि णायव्वाणि भवंति ॥ २ ॥**

हे यह बात सिद्ध हो जाती है । इसलिये एक पद एक ही अर्थका वाचक होता है । इसप्रकारके विषय करनेवाले नयको एवंभूतनय कहते हैं । इस नयकी दृष्टिमें एक गो शब्द नाना अर्थोंमें नहीं रहता है, क्योंकि, एकसंभाववाले एक पदका अनेक अर्थोंमें रहना विरुद्ध है । अथवा, पदमें रहनेवाले वर्णोंके भेदसे वाच्यभेदका निश्चय करानेवाला भी एवंभूतनय है, क्योंकि, यह नय इसी रूपमें उत्पन्न होता है । इसतरह ये नय संक्षेपसे सात प्रकारके और अवान्तर भेदोंसे असंख्यात प्रकारके समझना चाहिये । व्यवहारकुशल लोगोंको इन नयोंका स्वरूप अवश्य समझ लेना चाहिये । अन्यथा, अर्थात् नयोंके स्वरूपको समझे बिना पदार्थोंके स्वरूपका प्रतिपादन और उसका ज्ञान अथवा पदार्थोंके स्वरूपके प्रतिपादनका ज्ञान नहीं हो सकता है । कहा भी है—

‘जिनेन्द्रभगवाचके मतमें नयवादके विना सूत्र और अर्थ कुछ भी नहीं कहा गया है । इसलिये जो मुनि नयवादमें निपुण होते हैं वे सबे सिद्धान्तके ज्ञाता समझने चाहिये । अतः जिसने सूत्र अर्थात् परमागमको भलेप्रकार जान लिया है उसे ही अर्थसंपादनमें अर्थात् नय और प्रमाणके द्वारा पदार्थके परिज्ञान करनेमें प्रयत्न करना चाहिये, क्योंकि, पदार्थोंका परिज्ञान भी नयवादरूपी जंगलमें अन्तर्निहित है अतएव दुरधिगम्य अर्थात् जाननेके लिये कठिन है ॥ ६८, ६९ ॥ इसतरह नयप्ररूपणाका वर्णन समाप्त हुआ ।

अब अनुगमका निरूपण करते हैं ।

इस द्रव्यश्रुत और भावश्रुतरूप प्रमाणसे इन चौदह गुणस्थानोंके अन्वेनगरूप प्रयो-जनके होने पर ये चौदह ही मार्गणस्थान जानने योग्य हैं ॥ २ ॥

१ नथि नपुहि निद्वण सुच अत्थो य जिणमए किंचि । आमज्ज उ सीमार नए नयविमारओ वूआ ॥

आ नि ६६२

२ सुच शयनिमिण न सुचमत्तेण अत्थपिउव्वती । अत्थगई उण णमनामगहणलीणा दुरमिगममा ॥ तग्धा अहियसुत्तेण अत्थमपायणग्धि जइयव्व । जामरियवीरथा नदि महण पित्थेत्ति ॥ स त ३, ६४, ६५

‘ एत्तो ’ एत(म.दित्यर्थः । कस्मान्, प्रमाणात् । कुत एतदवगम्यते ? प्रमाणस्य जीवस्थानस्याप्रमाणादवतारविरोधात् । नाजलात्मकहिमवतो निपतञ्जलात्मकगङ्गाया व्यभिचारः अवयविनोऽवयवस्यात्र वियोगापायस्य विशिक्षित्वात् । नावयविनोऽवयवो भिन्नो विरोधात् । तदपि प्रमाणं द्विविधं द्रव्यभावप्रमाणभेदात् । द्रव्यप्रमाणात् संख्येया-

‘ एत्तो ’ अर्थात् इससे ।

शंका — यहाँ पर ‘ एतद् ’ पदसे किसका ग्रहण किया है ?

सामधान — यहाँ पर ‘ एतद् ’ पदसे प्रमाणका ग्रहण किया है, इसलिये ‘ इससे ’ अर्थात् ‘ प्रमाणसे ’ ऐसा अभिप्राय समझना चाहिये ।

शंका - यह कैसे जाना, कि यहाँ पर ‘ एत्तो ’ पदका ‘ प्रमाणसे ’ यह अर्थ लिया गया है ?

सामधान — क्योंकि, प्रमाणरूप जीवस्थानका अप्रमाणसे अवतार अर्थात् उत्पत्ति नहीं हो सकती है, इससे यह जाना जाता है कि यहाँ पर ‘ एत्तो ’ इस पदमें स्थित ‘ एतद् ’ शब्दसे प्रमाणका ग्रहण किया गया है ।

यहा पर यदि कोई यह कहे कि कार्यमें कारणानुक्कूल ही गुणधर्म पाये जाते हैं, क्योंकि, वह कार्य है । इस अनुमानमें जो कार्यस्वरूप हेतु है, वह प्रमाणरूप कारणसे उत्पन्न हुए प्रमाणात्मक जीवस्थानरूप साध्यमें पाया जाता है, और अजलस्वरूप हिमवानसे उत्पन्न हुई जलात्मक गंगानदीरूप विपक्षमें भी पाया जाता है । अतएव इस कार्यस्वरूप हेतुके पक्षमें रहते हुए भी विपक्षमें चले जानेके कारण व्यभिचार दोष आता है । अतः यह कहना कि प्रमाणरूप जीवस्थानकी उत्पत्ति प्रमाणसे ही हुई है, संगत नहीं है । इस शंकाको मनमें निश्चय करके आचार्य आगे उत्तर देते हैं कि इसतरह अजलात्मक हिमवानसे निकलती हुई जलात्मक गंगा-नदीसे भी व्यभिचार दोष नहीं आता है, क्योंकि, यहाँ पर अवयवीसे वियोगापायरूप अर्थात् अवयवीसे संयोगको प्राप्त हुआ अवयव विवक्षित है । इसका कारण यह है कि अवयवीसे अवयव भिन्न नहीं है, क्योंकि, अवयवीसे अवयवको सर्वथा भिन्न मान लेनेमें विरोध आता है ।

विशेषार्थ— यद्यपि हिमवान् पर्वत अजलात्मक है । परंतु उस पर्वतके जिस भागसे गंगा नदी निकली है, वह भाग जलमय ही है । इसलिये यहाँ पर हिमवान् पर्वतसे उसका जलात्मक अवयव ग्रहण करना चाहिये । इससे, जो पहले व्यभिचार दोष दे आये हैं वह दोष भी नहीं आता है, क्योंकि, यहाँ पर हिमवान् पर्वतका जलात्मक भाग ही ग्रहण किया गया है, और उससे गंगा नदी निकली है । अतएव इसे विपक्ष न समझकर सपक्ष ही समझना चाहिये । इसतरह सिद्ध हो जाता है कि प्रमाणस्वरूप जीवस्थानकी उत्पत्ति प्रमाणसे ही हुई है ।

द्रव्यप्रमाण और भावप्रमाणके भेदसे वह प्रमाण दो प्रकारका है । द्रव्यप्रमाणकी अपेक्षा शब्द, प्रमात् और प्रमेयके आलम्बनसे क्रमशः संख्यात, असंख्यात और अनतरूप द्रव्यजीव-

मंत्वेयानन्तात्पक्रुव्यजीवन्थानस्यावतारः । भावप्रमाण पञ्चविधम्, आभिनिवेशिभावप्रमाणं, सुदभाप्रमाणं ओहिभावप्रमाणं मणपञ्चवभावप्रमाणं केवलभावप्रमाणं चेदि ।

तत्थ आभिनिवेशिप्रमाणं गाम पंचिदिय-गोइंदिएहि मदिणाणावरण-खयो रसमेण य जणिदेवगहेहानाय-धारणाओ सह-परित-रस-रुच-गंध-दिङ्-सुदानुभूद-विसयाओ बहु-बहुविह-वि-पाणिसिदाणुत्त-धुवेदर-भेदेण ति-सय-छत्तीसाओ । सुदणानं गाम मदि-पुव्व मदिणाण-पडिगहियमन्थं मोत्तणणात्थमिह वावदं सुदणणावरणीय-कसयोधसम-जणिदं । ओहिणाणं गाम दव्व मत्तेच-काल भाव-वियपियं पोण्णल-दव्वं पच्चसं जाणदि । दव्वोदो जहणेण जाणतो एय जीवस्स ओरालिय-सरीर-संचयं लोगागास-पदेस-भेत्ते सुडे क्कडे तत्थेय-सुंदं जाणदि । उक्कसेणेग-परमाणुं जाणदि । दोण्हमंतरालमजहणमणु-कसोही जाणदि । सेत्तदो जहणेणगुलस्स असंखेज्जिदि-भागं जाणदि । उक्कसेण असं-खेज्ज-लोगमेत्त-सेत्तं जाणदि । दोण्हमंतरालमजहणमणुकसोही जाणदि । कालदो

स्थानका अवतार हुआ है । भावप्रमाणके पांच भेद हैं, आभिनियोजिकावप्रमाण, श्रुतभाव-प्रमाण, अवधिभावप्रमाण, मनःपर्ययभावप्रमाण और केवलभावप्रमाण ।

उत्तमें पांच द्रव्येन्द्रिय और द्रव्यमन्त्रके निमित्तसे तथा मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोप-शमसे पैदा हुआ, अवग्रह, ईशा, अवाय और धारणास्वरूप, शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गन्ध और गूद, श्रुत तथा अनुभूत पदार्थको विषय करनेवाला और बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिश्चित अनुक्त, धृग, पक्, पक्रुविध, अक्षिप्र, नि खल, उक्त और अश्रुवके भेदसे तीनसौ छत्तीस भेदरूप आभिनियोजिक मतिज्ञान होता है ।

जिस ज्ञानमें मतिज्ञान कारण पड़ता है, जो मतिज्ञानसे ग्रहण किये गये पदार्थको श्रेष्ठकर तत्सन्धिगत दूसरे पदार्थमें व्यापार करता है और श्रुतज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न होता है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं ।

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके विकल्पसे अनेक प्रकारके पुद्गलद्रव्यको जो प्रत्यक्ष जानता है उसे अवधिज्ञान कहते हैं । यह ज्ञान द्रव्यकी अपेक्षा जघन्यरूपसे जानता हुआ एक जीने भौतिक शरीरके सचयके लोकाकारके प्रदेशप्रमाण सण्ड करने पर उनमेंसे एक सण्ड तकतो जानता है । उत्कृष्टरूपसे, अर्थात् उत्कृष्ट अवधिज्ञान एक परमाणुतकको जानता है । अज्ञान्य और अनुकृष्ट अर्थात् मध्यम अवधिज्ञान, जघन्य और उत्कृष्टके अन्तरालगत द्रव्य-भेदोंको जानता है । क्षेत्रकी अपेक्षा अत्रधिज्ञान जघन्यसे अंगुल, अर्थात् उत्सेधांगुलके असंख्या-तों भागतक क्षेत्रको जानता है । उत्कृष्टसे असंख्यात लोकप्रमाणतक क्षेत्रको जानता है । अज्ञान्य और अनुकृष्ट ( मध्यम ) अवधिज्ञान जघन्य और उत्कृष्टके अन्तरालगत क्षेत्रभेदोंको जानता है । अवधिज्ञान कालकी अपेक्षा जघन्यसे आचलीके असंख्यातवें भागप्रमाण भूत और भविष्यत् पर्यायोंको जानता है । उत्कृष्टसे असंख्यात लोकप्रमाण समयोंमें स्थित अनीत और

जहणेण आवलियाए असंखेज्जिदि-भागो भूदं भविस्सं च जाणदि । उक्कसेण असंखेज्ज-लोगमेत्त-समएसु अदीदमणागयं च जाणदि । दोण्हं पि विचालमजहण-अणुकस्सोही जाणदि । भावदो पुव्व-णिरूविद-दव्वस्स सत्ति जाणदि ।

मणपञ्चवणाणं गाम पर-मगो-गयाइं मुत्ति-दवाइं तेण मगेग सह पच्चखं जाणदि । दव्वदो जहणेण एग-समय-ओरालिय-सरीर-णिज्जरं जाणदि । उक्कसेण एग-समय-पडिवट्टस्स कम्मइय-इव्वस्स अणंतिम-भागं जाणदि । सेत्तदो जहणेण गाउव-पुयत्तं । उक्कसेण माणुस-खेत्तसंतो जाणदि, णो बहिद्वा । कालदो जहणेण दो तिणिण भव-

अनागत पर्यायोंको जानता है । जघन्य और अनुकृष्ट ( मध्यम ) अवधिज्ञान, जघन्य और उत्कृष्टके अन्तरालगत कालभेदोंको जानता है । भावकी अपेक्षा अवधिज्ञान द्रव्यप्रमाणसे पहले निरूपण किये गये द्रव्यकी शक्तिको जानता है ।

जो दूसरोंके मनोगत मूर्त्तिक द्रव्योंको उस मनके साथ प्रत्यक्ष जानता है उसे मनःपर्ययज्ञान कहते हैं । मनःपर्ययज्ञान द्रव्यकी अपेक्षा जघन्यरूपसे एक समयमें होनेवाले औद्यत्तिकशरीरके निर्जालरूप द्रव्यतकको जानता है । उत्कृष्टरूपसे कार्माणद्रव्यके अर्थात् आठ कर्मोंके एक समयमें बधे हुए समयप्रवद्धरूप द्रव्यके अनन्त भागोंमेंसे एक भागतकको जानता है । क्षेत्रकी अपेक्षा जघन्यरूपसे गव्यूतिपृथक्त्व, अर्थात् दो, तीन क्रोस तक क्षेत्रको जानता है, और उत्कृष्टरूपसे मनुष्यक्षेत्रके भीतर तक जानता है, मनुष्यक्षेत्रके बाहिर नहीं जानता है । ( यहांपर मनुष्यक्षेत्रसे प्रयोजन विष्कम्भरूप मनुष्यक्षेत्रसे है, वृत्तरूप मनुष्यक्षेत्रसे नहीं है । ) कालकी अपेक्षा जघन्यरूपसे दो, तीन भव्योंको ग्रहण करता है, और उत्कृष्टरूपसे असंख्यात

शोम्पुरालमच मीजमजानाजिय सतिस्सच । लोयमिच जाणदि अपरोही दव्वदो णियमा ॥ सुदमणिगोद-जपञ्चचयस्स जादस्स तदियममयन्दि । अपरोगाहणमाण जहणय ओहिमेत्त तु ॥ आनञ्जिअसरमाण तीदमविस्स च कालदो अतर । ओही जाणदि मांते कालअमसेज्जभाग तु ॥ रव्यात्रिस्स एको परमायू होदि णिञ्चियणो सो । गगामहाणइस्स पवाहो व्व वुयो हने हारो ॥ परमोहिदव्वमेदा जेसियमेचा ट्ठ तेविया होति । तस्सेव खेत्तकालभियपा मिसया जमसणुणिदरुमा ॥ जाणलिअससमागा जहणट्ठ-रस होति पज्जाया । कालस्स जहणणट्ठो अत्तखणुणहीणमेचा हु ॥ सच्चोइं वि कम्मो आपलिअससमागणुणिदरुमा । द-गण भावण पदमसा सरिणा होति ॥ गो जी ३७७, ३७८, ३८२, ४१५, ४२२, ४२३ तथ दव्वओ ण जोहिनाणी जहणेण अणताइ रुदिदव्वइ जाणइ पामइ, उक्कसेण सञ्चाइ रुदिदव्वइ जाणइ पामइ । खियओ ण ओहिनाणी जहणेण अणुलस्स अमरिअइमग जाणइ पामइ, उक्कसेण अमरिअइअइ अलोम लोगपमाणमिताइ सटाइ जाणइ पाणइ । कालओ ण जोहिनाणी जहणेण आनञ्जिअइमग जाणइ पाणइ, उक्कसेण अमरिअइअओ उस्सपिणीओ अमरिअइमग च काल जाणइ पामइ । भाजो ण ओहिनाणी जहणेण अणते मांते जाणइ पामइ, उक्कसेण वि अणते मांते जाणइ पामइ, मच्चमात्राणमणतमाग जाणइ पाणइ । न वू. १६



ग्राहणाणि । उक्तस्तेषां अंशखेज्जाणि भवन्ग्राहणाणि जाणदि । केवलणानं गाम, सव्व-  
द्वानि अदीदानापय-वद्धमाणाणि सपज्जयाणि पच्चखंलं जाणदि ।

एतथ किमाभिणिवोहिय-पमाणादो, किं सुद-पमाणादो किमोहि-पमाणादो, किं  
मणपज्जव-पमाणादो, किं केवल-पमाणादो ? एवं पुच्छा सव्वेसिं । एवं पुच्छिदे णो  
आभिणिवोहिय-पमाणादो, णो ओहि-पमाणादो, णो मणपज्जव-पमाणादो । गंथं पडुच्च  
सुद-पमाणादो, अत्थदो केवल-पमाणादो ।

भयंको ग्रहण करता है, अर्थात् जानता है । भावकी अपेक्षा मनःपर्यय ज्ञान द्रव्यप्रमाणसे पहले  
निरूपण क्रिये गये द्रव्यकी शक्तिको जानता है ।

जो अतीत, अतागत और वर्तमान पर्यायोंसहित सपूर्ण द्रव्योंको प्रत्यक्ष जानता है उसे  
केवलज्ञान कहते हैं ।

यहाँपर क्या आश्रितबोधिक प्रमाणसे प्रयोजन है, क्या श्रुतप्रमाणसे प्रयोजन है, क्या  
अधिप्रमाणसे प्रयोजन है, क्या मनःपर्ययप्रमाणसे प्रयोजन है, अथवा क्या केवलप्रमाणसे  
प्रयोजन है ? इसतरह सबके विययमें पुच्छा करनी चाहिये, और इसतरह पूछे जानेपर,  
यहाँपर न तो आश्रितबोधिकप्रमाणसे प्रयोजन है, न अधिप्रमाणसे प्रयोजन है, और न  
मनःपर्ययप्रमाणसे प्रयोजन है, किंतु ग्रन्थकी अपेक्षा श्रुतप्रमाणसे और अर्थकी अपेक्षा केवल-

१ अत्र भाष्यार्थेण मन पर्ययज्ञानस्य विषयो नोपलभ्यते । अत्र द्रव्यगुणालियसरीरिण्जिणसमयवद्  
तु । चक्रियदियणिज्जण उक्तस्स उक्तमिदंस्स हेने ॥ मणद-ववगणणमणत्तिममाणेण उक्तुगउक्तस्स । खडिदसेच होदि  
हु निउलमादिसावर दव्व ॥ अट्टण्ह कमाण समयपवद्द विविस्सोसोवचय । बुवहोरोणिवाव भजिदे विदिय हने दव्व ॥  
तव्विदिय कमाणमसखेज्जाण च समयसखसम । बुवहोरोणवहिरिदे होदि हु उक्तस्सय दव्व ॥ गाउयपुधत्तमवर उक्तस्स  
होदि जोयणपुधत्त । निउलमादिसस य अत्र तस्स पुवत्त वर खु णलोए ति य वयण विवखमणियासय ण  
वट्टस्स । जन्हा तण्णपदर मणपज्जव-खेचयुद्धिद्ध ॥ दुमत्तिगमत्ता हु अत्र सत्तडमत्ता हवति उक्तस्स । अडणमत्ता हु  
अवमसखेज्ज निउलउक्तस्स ॥ आवलिअसखमाग अत्र च वर वरमसरुणुण । ततो यत्तखयुगिद अत्तखलोण तु  
निउलमदी ॥ गो जी ४५-४५८ तथ दव्वओ ण उक्तुमई ण अणत्ते अणत्तपएसिए खधे जाणइ पासइ, त चेव  
निउलमई अन्मरियत्तराए निउलत्तराए विविस्सितराए जाणइ पासइ । खेत्तओ ण उक्तुमई अ जह्वेणेण  
अयुलस्स अत्तखेज्जमाग, उक्कीणेण ओ जेव ३मीसे रयणप्पमाए पुद्वीए उवविमिहेट्टिल्ले खुट्टुगपरि उट्टु जात्र जोइस्सस  
उत्तरिपत्तले, तिरिय जात्र अतोमयुत्तखिने अट्टुइज्जेणु दोवसमुहेसु पवरमउ कम्मभूमिसु तीणाए अकम्मभूमिसु लप्पणाए  
अत्तरदीवगोसु सपिपचिदाण पज्जत्तमाग मणोणाए भावे जाणइ पासइ । त चेव निउलमई अट्टुइज्जेणुसुलेदि  
अन्मरिअत्र निउलत्तरा विवदत्तरा विवित्तिराग खेत्त जाणइ पासइ । कालो ण उक्तुमई जह्वेणे पल्लोवमत्त  
अत्तखिज्जदमाग, उक्कीणेण ति पल्लोवमत्त अत्तखिज्जदमाग उत्तीयमणाग वा काउ जाणइ पासइ । त चेव  
निउलमई अन्मरियत्तराग निउलत्तराग विवदत्तराग विवित्तिराग जाणइ पासइ । भावओ ण उक्तुमई जह्वेणे अणत्ते  
भावे जाणइ पासइ, उक्कीणेण वत्तमावण अणत्तमाग जाणइ पासइ । त चेव निउलमई अन्मरियत्तराग विउलत्तराग  
निउलत्तराग विवित्तिराग जाणइ पासइ । न म् १८

एतथ पुव्वानुपुव्वीए गणिज्जमाणे दव्व-भाव-सुदं पडुच्च त्रिदियादो, अत्थं पडुच्च  
पंचमादो केवलगाणादो । पच्छानुपुव्वीए गणिज्जमाणे दव्व-भाव-सुदं पडुच्च चउत्थादो  
सुद-पमाणादो । अत्थं पडुच्च पढमादो केउलादो । जत्थत्थाणुपुव्वीए गणिज्जमाणे  
सुदणादो केउलणाणादो य । सुदणाणमिदि गुणगामं, अक्खर-पद-संघाद-पडिवत्ति-  
यादीहि संखेज्जमत्थदो अणत्तं । एदस्स तदुभयवत्तव्वदा ।

अत्थाहियारो दुविहो, अंगवाहियो अंगपइहो चेदि । तत्थ अंगवाहिरस्स चोहस  
अत्थाहियारा । तं जहा, सामाहयं चउवीसत्थओ वंदणा पडिक्कमणं वेणइयं किदियम्मं  
दसवेयालियं उत्तरज्जयणं कप्पववहारो कप्पाक्कप्पियं महाक्कप्पियं पुंडरीयं महापुंडरीयं  
णिसिहियं चेदि । तत्थ ज सामाहयं तं गाम इवणा-दव्व-खेत्त काल-भावेसु समत्त-  
विहाणं वण्णेदि । चउवीसत्थओ चउवीसण्हं तित्थयराणं वंदण-विहाणं तण्णाम-संठाणुसंवेह-  
पंच-महाकल्लाण-चेत्तीस-अइसय-सरूत्तं तित्थयर-चंदणाए सहलत्तं च वण्णेदि ।

प्रमाणसे प्रयोजन है, ऐसा उत्तर देना चाहिये ।

यहाँपर पूर्वानुपूर्वीसे गणना करनेपर द्रव्यश्रुत और भावश्रुतकी अपेक्षा तो दूसरे  
श्रुतप्रमाणसे प्रयोजन है और अर्थकी अपेक्षा पांचवे केवलज्ञानप्रमाणसे प्रयोजन है । पद्मवादानु-  
पूर्वीसे गणना करनेपर द्रव्यश्रुत और भावश्रुतकी अपेक्षा चौथे श्रुतप्रमाणसे प्रयोजन है और  
अर्थकी अपेक्षा प्रथम केवलप्रमाणसे प्रयोजन है । यथातथातुपूर्वीसे गणना करनेपर श्रुतप्रमाण  
और केवलप्रमाण इन दोनोंसे प्रयोजन है ।

श्रुतज्ञान यह सार्थक नाम है । वह अक्षर, पद, सघात और प्रतिपत्ति आदिकी अपेक्षा  
सख्यातभेदरूप है और अर्थकी अपेक्षा अनन्त है ।

तीन वक्तव्यताओंमेंसे इस श्रुतप्रमाणकी तदुभयवक्तव्यता ( स्वसमय-परसमयवक्तव्यता )  
जानना चाहिये ।

अर्थधिकार दो प्रकारका है, अंगवाह्य और अंगप्रविष्ट । उन दोनोंमेंसे, अंगवाह्यके चौदह  
अर्थधिकार हैं । वे इसप्रकार हैं, सामायिक, चतुर्विंशतिस्त्व, वन्दना, प्रतिक्रमण, वैनयिक,  
कृतिकर्म, दशवैकलिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्प्याकल्प्य, महाकल्प्य, पुण्डरीक,  
महापुण्डरीक और निबिद्धिका । उनमेंसे, सामायिक नामका अंगवाह्य अर्थधिकार नाम,  
स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन छह भेदों द्वारा समताभावके विधानका वर्णन करता  
है । चतुर्विंशतिस्त्व अर्थधिकार उस उस कालसकन्धी चौविस तीर्थकरोंकी वन्दना करनेकी  
विधि, उनके नाम, सस्थान, उत्सव, पात्र महाकल्याणक, चौत्तिस अतिशयोक्तै स्वरूप और  
तीर्थकरोंकी वन्दनाकी सफलताका वर्णन करता है ।





अंगपविद्धस अर्थाधियारो बारसविहो । तं जहा, आयारो हृदयदं ठाणं समवायो  
वियाहपणत्ती णाहधम्मकहा उवासयञ्जयणं अंतयडदसा अणुनरोवत्तादियदसा  
पण्हावारणं विवागसुं चिद्विवादो चेदि । एत्थायारंगमट्टारह-पद-सहस्सेहि १८०००—

कथं चरे कथं चिद्वे कथमासे कथं सए ।

कथं मुंजेज भासेज्ज कथं पाव ण बज्जई ॥ ७० ॥

जद चरे जदं चिद्वे जदमासे जदं सए ।

जद मुंजेज भासेज्ज एवं पावं ण बज्जई ॥ ७१ ॥

एवमादियं सुणीणमायारं वर्णणेदि ।

हृदयदं णाम अंगं छचीस-पय-सहस्सेहि ३६००० णाणविणय-पण्णावणा-  
कप्पाकप-च्छेदोवटावण-ववहारधम्मकिरियाओ परुवेइ ससमय-परसमय-सरुवं च परुवेइ ।

अंगप्रविष्टके अर्थाधिकार वारह प्रकारके हैं । वे ये हैं, आचार, सूत्रकृत, स्थान,  
समवाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति, नाथधर्मकथा, उपासकाध्ययन, अंतःकृद्दशा, अनुत्तरौपपादिकदशा,  
प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र और दृष्टिवाद । इनमेंसे, आचारंग अठारह हजार पदोंके द्वारा—

किसप्रकार चलना चाहिये ? किसप्रकार खड़े रहना चाहिये ? किसप्रकार  
बैठना चाहिये ? किसप्रकार शयन करना चाहिये ? किसप्रकार भोजन करना  
चाहिये ? किसप्रकार संभाषण करना चाहिये और किसप्रकार पापकर्म नहीं  
बंधता है ? (इसतरह गणधरके प्रश्नोंके अनुसार) यत्नसे चलना चाहिये, यत्नपूर्वक खड़े रहना  
चाहिये, यत्नसे बैठना चाहिये, यत्नपूर्वक शयन करना चाहिये, यत्नपूर्वक भोजन करना चाहिये,  
यत्नसे संभाषण करना चाहिये । इसप्रकार आचरण करनेसे पापकर्मका बंध नहीं होता है  
॥ ७०-७१ ॥ इत्यादि रूपसे मुनियोंके आचारका वर्णन करता है ।

सूत्रकृतांग छचीस हजार पदोंके द्वारा ज्ञानचिन्तय, प्रज्ञापना, कल्याकलय, छेदोपस्थापना  
और व्यववहारधर्मक्रियाका प्ररूपण करता है । तथा यह स्वसमय और परसमयका भी निरूपण

१ मूलावा १०१०, १०१३ दृश्ये ६ ७, ८.

२ आयारे ण समणण आयार गोयर विणयु वेणइय-ठणण गमण चरुमण पमाण-जोण-जुणण ममा मामिति-  
शुची सेखेनादि मत पाण-उगम उव्यायण एसणा विमोदि सुद्धासुद्धगएण-यय णियम-त्तवीपइण सुयम-अथादिज्जइ । सम  
ए १३६

३ सुअणडे ण ससमया सुइज्जति, परसमया सुइज्जति, समसपरसमया सुइज्जति X । सुअणडे ण  
जीवजीव-गुण्ण पापामव सनर णिज्जण नव सोक्खान्तसाणा पयथा सुइज्जति मणणण अचिरकाल पन्वइयाण कुमसय-  
मोह मोहमइ-मोहियाण सदेइ-जाय सहजुद्धि परिणाम समइयाण पापकर्ममालन मइ-गुण विरोहण य जसीअत्स किरी-  
यानाइयमयत्स चउपासीए अकिरियानार्हण सत्तए अण्णाणियमार्हण उचोसाए वेणइयमार्हण तिण्ह तेमट्टण अण्ण-  
दिट्ठियसयाण सुइ किंचा मसमए वाविज्जति XXX । मम ए ३३७

ठाणं णाम अंगं नायालीस-पद-सहस्सेहि ४२००० एगादि-एगुत्तर-ट्टाणाणि वर्णणेदि ।  
तत्सोदाहरणं—

एको चव महणो सो दुवियणो ति-लक्खणो भणियो ।

चइ-सकमणा-जुत्तो पवण-गुण-ण्हाणो य ॥ ७२ ॥

लक्कावक्कम-जुत्तो कमसो सो सत्त-भणि-सम्भावो ।

अट्टासवो णवडो जीवो दस-ठाणियो भणियो ॥ ७३ ॥

करता है । स्थानांग ज्यालीस हजार पदोंके द्वारा एकको आदि लेकर उत्तरोत्तर एक  
एक अधिक स्थानोंका वर्णन करता है । उसका उदाहरण—

महात्मा अर्थात् यह जीव द्रव्य निरन्तर चैतन्यरूप धर्मसे उपयुक्त होनेके कारण  
उसकी अपेक्षा एक ही है । ज्ञान और दर्शनके भेदसे दो प्रकारका है । कर्मफलचेतना, कर्मचेतना  
और ज्ञानचेतनासे लक्ष्यमान होनेके कारण तीन भेदरूप है । अथवा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यके  
भेदसे तीन भेदरूप है । चार गतियोंमें परिश्रमण करनेकी अपेक्षा इसके चार भेद हैं । औदयिक  
आदि पांच प्रधान गुणोंसे युक्त होनेके कारण इसके पांच भेद हैं । भवन्तरमें संक्रमणके समय  
पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊपर और नीचे इसतरह छह संक्रमण अपनमेंसे युक्त होनेकी  
अपेक्षा छह प्रकारका है । अस्तित्, नास्ति इत्यादि सात भगोंसे युक्त होनेकी अपेक्षा सात  
प्रकारका है । ज्ञानावरणादि आठ प्रकारके कर्मोंके आश्रयसे युक्त होनेकी अपेक्षा आठ प्रकारका  
है । अथवा ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंका तथा आठ गुणोंका आश्रय होनेकी अपेक्षा आठ  
प्रकारका है । जीवादि नौ प्रकारके पदार्थोंको विषय करनेवाला, अथवा जीवादि नौ प्रकारके  
पदार्थोंरूप परिणामन करनेवाला, होनेकी अपेक्षा नौ प्रकारका है । पृथिवीकायिक, जलकायिक,  
अग्निकायिक, वायुकायिक, प्रत्येकवनस्पतिकायिक, साधारणवनस्पतिकायिक, द्वीन्द्रियजाति,  
त्रीन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रियजाति और पचेन्द्रियजातिके भेदसे दश स्थानगत होनेकी अपेक्षा  
दश प्रकारका कहा गया है ॥ ७२-७३ ॥

१ ठाण ण दव-गुण-वेव-वाल पव्जन पत्तयाण XX एकनिहत्त ता दुमिह जाप दग्गविहत्तना जोगाण  
योगलाण य लंगट्टाड च ण पन्वयया वाघविज्जति XX । सम म् १३८

२ पना ७१, ७२ समहनयेन एक एवामा । व्यवहलनेन मगारी युत्तयेति प्रिविरुप्य । जसादव्य-  
नौ-युत्त इति णिलक्षण । र्मवक्का चतुगित्तु मानमर्तति चतु गत्तमणुत्त । जीपथानिस्साविस्सायोपशानिको-  
दनिस्साणिमिस्सेदेन फन्निशिष्टधर्मप्रदान । पूर्वदक्षिणधिमोचोचोभोगतिमदेन ससारात्तयायां पट्टोपकमयुत्त ।  
स्यादस्ति स्यानानि XX इलादिमत्तभगीमसोऽयुत्तयुत्त । अष्टमिधर्मान्तयुत्तचादइत्तन । नज्जताज्जात्तान-  
वधसत्तनिर्जोमोक्षपुण्यपापरूपा अर्थां पदार्थां निरया यत्स र नार्थां । गुभियेजेनयुत्तयेत्तसागारणदिनिचु-  
पचेन्द्रियमेदार दक्षयानर । गो जी, जी म, टी ३५६





चेदि चउव्यिहाओ क्हाओ वण्णेदि' । तत्थ अस्सेवणी' गाम छइव्व-णव-पयत्थानं सरूवं दिगंतर-समयांतर-णिराकरणं सुद्धिं कंती परूवेदि । विक्खेवणी' गाम पर-समएण म-मयं दूमंती पच्चा दिगंतर-सुद्धिं कंती स-समयं थावंती छइव्व-णव-पयत्थे परूवेदि । संयेणी' गाम पुण्ण-फल-भंक्कहा । काणि पुण्ण-फल-णहर-रिभि-चक्कविद्धि-वल्लेव-चापुदेव-सुर-विज्जाहरिद्धिओ । गिब्वेयणी गाम पाव-फल-संक्कहा । काणि पाव-फलाणि ? गिरम-तिरिय-कुमाणस-जोणीसु जाइ-जरा-मरण-चाहि-वेयणा दालिहादीणि । संसार-सरीर-भोगेसु वेरगुपाइणी गिब्वेयणी गाम । उक्तं च —

जो नाना प्रकारकी एकान्त दृष्टियोंका और दूसरे समयोंका निराकरणपूर्वक शुद्धि करके छद्म द्रव्य और नौ प्रकारके पदार्थोंका प्ररूपण करती है उसे आक्षेपणी कथा कहते हैं । जिसमें पहले परसमयके द्वारा स्वसमयमें दोष बतलाये जाते हैं । अनन्तर परसमयकी आधारभूत अनेक एकान्त दृष्टियोंका शोधन करके स्वसमयकी स्थापना की जाती है और छद्म द्रव्य नौ परार्थोंका प्ररूपण किया जाता है उसे विक्षेपणी कथा कहते हैं । पुण्यके फलका वर्णन करनेवाली कथाने सवेदनी कथा कहते हैं ।

शंका — पुण्यके फल कौनसे हैं ?

समाधान—तीर्थकर, गणधर, क्रमि, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, देव और विद्या-धर्मोंकी कठिया पुण्यके फल हैं ।

पापके फलका वर्णन करनेवाली कथाको निर्वदनी कथा कहते हैं ।

शंका — पापके फल कौनसे हैं ?

समाधान—नरक, तिर्यक और कुमासुपकी योनियोंमें जन्म, जरा, मरण, व्याधि, नेत्रता और अरिद्र आदिनी प्राप्ति पापके फल हैं ।

अथवा, ससार, शरीर और भोगोंमें वैराग्यको उत्पन्न करनेवाली कथाको निर्वदनी कथा कहते हैं । कथा भी है—

१ प्रथम सृष्ट्यात्म-प्रतिपिता-स्वस्वार्थीयिज्जाओचरो धनधान्यादिलालागसुखदुःखजीवितमरणजय-पापकारिण्या ग्राह्यते नार्यागते यस्मिन्नास्य सारणम् । अथवा गिर्यभ्रातुरूपतया आक्षेपणी विक्षेपणी भोजनी निर्वदनी भेति त्वा चतुर्भवा ग्नाह्यन्ते मस्मिन्नास्यारण नाम । गो जी, जी प्र, दी ३५७

२ परमवैराग्यरत्नसुखयोग्यदुःखयोग्यरूपसामयवद्वार्यान्ता तीर्थरत्नरत्नलोत्तमस्यानदेश-पत्त्यगिर्लभ्ये तादिवापारीनां पलताशरत्नरत्न स्यन्तमाक्षेपणी कथा । गो जी, जी प्र, दी ३५७

३ क्कान्त्यामरसुिपुत्तेनु पादिनेन सर्वपैकतादियसमयार्थनिराकरण्या विक्षेपणी कथा ।

४ मन्तामरुभूमौनजनकलमर्तापिरास्यस्यमातेजोर्वाप्तानसुखादियर्गनारूपा सवेदनी कथा । गो जी, जी प्र, दी ३५७.

गो जी, जी प्र, दी ३५७

५ मन्तरीसोवसारा रतिवृत्तमरुभूमौनकादिदुःखदुःखनिर्वाणदायिपमानदुःखादिवर्गनाद्वारेण वैपाय-

आक्षेपणी' तवविधानभूता विक्षेपणी' तत्त्वदिगन्तशुद्धिम् ।  
सवेगिनीं धर्मफलप्रपञ्चा निर्वेगिनीं चाह कथा विरागम् ॥ ७५ ॥

एत्थ विक्खेवणी गाम कहा जिण-वयणमयाणं तस्स ण क्हेयव्वा', अगहिद-स-समय-सञ्भावो पर-समय-संक्कहाहि वाउलिद-चिचो मा मिच्छत्तं गच्छेज्ज ति तेण तस्स विक्खेवणी मोत्तूण सेसओ तिण्णिण वि क्हाओ क्हेयव्वाओ । तदो गहिद-समयस्स उवल्लद-पुण्ण-पावस्स जिण-सासणे अट्ठि-मज्जाणुरत्तस्स जिण-वयण-णिव्विदिगिच्छस्स भोग-

तत्त्वोंका निरूपण करनेवाली आक्षेपणी कथा है । तत्वसे दिशान्तरको प्राप्त हुई दृष्टि-योंका शोधन करनेवाली अर्थात् परमतकी एकान्त दृष्टियोंका शोधन करके स्वसमयकी स्थापना करनेवाली विक्षेपणी कथा है । विस्तारसे धर्मके फलका वर्णन करनेवाली सवेगिनी कथा है और वैराग्य उत्पन्न करनेवाली निर्वेगिनी कथा है ।

इन कथाओंका प्रतिपादन करते समय जो जिनवचनको नहीं जानता है, अर्थात् जिसका जिनवचनमें प्रवेश नहीं है, ऐसे पुरुषको विक्षेपणी कथाका उपदेश नहीं करना चाहिये; क्योंकि, जिसने स्वसमयके रहस्यको नहीं जाना है और परसमयकी प्रतिपादन करनेवाली कथाओंके सुननेसे व्याकुलित चित्त होकर वह मिथ्यात्वको स्वीकार न कर लेवे, इसलिये स्वसमयके रहस्यको नहीं जाननेवाले पुरुषको विक्षेपणी कथाका उपदेश न देकर शेष तीन कथाओंका उपदेश देना चाहिये । उक्त तीन कथाओंद्वारा जिसने स्वसमयको भलीभांति समझ लिया है, जो पुण्य और पापके स्वरूपको जानता है, जिसतरह मज्जा अर्थात् हृदयोंके भयमें रहनेवाला

कथनरूपा निर्वदनी कथा । गो जी, जी प्र, दी ३५७

१ आक्षिप्यते मोहात्तत्र प्रत्याकृत्यते श्रोताऽन्यथाक्षेपणी । चतुर्भिधा सा आचारस्येवणी, वनहारस्येवणी, पण्णत्तिस्स्येवणी, डिद्धिवायस्येवणी । आचरो लोचान्नादि , व्यनहार क्यचिदापवदोव्यपोहाय त्रायश्रितलक्षण , प्रकृतिथ सशयापवस्य मधुमचने प्रज्ञापना, दृष्टिवाद्द्वय श्रोत्रपेक्षया क्क्षमजीवादिभामकथनम् । विज्जावरण च ततो य पुरिमकारो य समिद्ध युत्तीजो । उनइस्सइ सउ जहिय क्हाइ जस्येवणीइस्सो ॥ अमि रा को. (जमस्येवणी )

२ विज्जियते मन्मार्गो कुमार्गो कुमार्गोत्ताऽन्येति विक्षेपणी । सा चउव्विहा पण्णत्ता । त जहा, (१) ससमय क्हेत्ता परसमय क्हेइ । (२) परसमय क्हेत्ता ससमय ठाविवा भयइ । (३) सम्मानाय क्हेइ, मम्मानाय क्हेत्ता भिच्छपाय क्हेइ । (४) भिन्नायाय क्हेत्ता सम्मानाय ठावइत्ता भयइ ॥ जा ससमयवज्जा सखु होइ कहा लोपेयमजुत्ता । परसमयाण च कहा एसा विक्खेवणी गाम ॥ अमि रा को [ विक्खेवणी ]

३ आस्येवणी कहा सा विज्जावरणसुवदिसिद्धे जन्व । ससमयपरसमयपदा कथा ङ विक्खेवणी गाम ॥ सयेवणी पुण कहा णाण चरिच तन्वीरियइड्डिगढा । गिब्वेयणी पुण कहा मरीसोते भयोवे य ॥ मूलात्ता ६५६, ६५७.

४ वेणइयस्स परसया कहा उ आस्येवणी क्हेयत्ता । तो ससमयगहियथे क्खिज्ज विक्खेवणी पञ्जा ॥ जक्खेवणी अनिच्चता जे जीवा ते लभति मम्मत्त । विक्खेवणीए मञ्जा गाढतराण च भिच्छत्त ॥ अमि रा को [ धम्मकथा ]

५ मामापुणपेमाशुत्तागामञ्जाशुत्तागसो त्ता । वम्माशुत्तागसो य होइ जिणसत्तणे णिच ॥ मूलात्ता ७३७.



रह-विरदस्स तव-सील-णियम-जुत्तस्स पच्छा विक्खेवणी कहा क्हेयव्वा । एसा अकहा वि  
पणवयंतस्स परुत्तयंतस्स तदा कहा होदि । तम्हा पुरिसंतरं पप्प समणेण कहा क्हेयव्वा ।  
पण्हदो हद-णड-मुट्ठि-चित्ता-ल्लाहाह-सुह-दुक्ख-जीविय-मरण-जय-पराजय-णाम-दव्वायु-  
संखं च पुरूवेदि । विवागसुत्तं णाम अंगं एग-कोडि-चउगसीदि-लक्ख-पदेदि  
१८४०००० पुण-पाव-कम्मणं विवायं वण्णेदि । एक्कारसंगणं सब्ब-पद-समासो  
चचारि कोडीओ पण्णारह-लक्खा-वे-सहस्स च ४१५०२००० । दिट्ठिवादो णाम अंगं  
वारसमं । तस्य दृष्टिवादस्य स्वरूप निरूप्यते । कौत्कल-काणेविट्ठि-कौशिक-हरिश्मशु-  
मांद्रूपिक-रोमश-हारित-मुण्ड-अश्रवलयनादीनां क्रियावाद-दृष्टीनामशीतिशतम्, मरीचि-

रस दृष्टिसि ससृक्त होकर ही शरीरमें रहता है, उसीतरह जो जिनशासनमें असुरक है, जिन-  
वचनमें जिसको किसीप्रकारकी विचिकित्सा नहीं रही है, जो भोग और रतिसे विरक्त है और  
जो तप, शील और नियमसे युक्त है ऐसे पुरुषको ही पश्चात् विक्षेपणी कथाका उपदेश देना  
चाहिये । प्ररूपण करके उत्तमरूपसे ज्ञान करानेवालेके लिये यह अकथा भी तब कथारूप हो  
जाती है । इसलिये योग्य पुरुषको प्राप्त करके ही साधुको कथाका उपदेश देना चाहिये । यह  
प्रश्रव्याकरण नामका अंग-प्रश्नके अनुसार इत, - नष्ट, मुष्टि, चित्ता, लाभ, अलाभ, सुख, दुःख,  
जीवित, मरण, जड़, पराजय, नाम, द्रव्य, आयु और संब्यका भी प्ररूपण करता है । विपाक-  
सूत्र नामका अंग एक करोड़ चौरासी लाख पदोंके द्वारा पुण्य और पापरूप कर्मोंके फलोंका  
वर्णन करता है । ग्यारह अंगोंके कुल पदोंका जोड़ चार करोड़ पन्द्रह लाख दो हजार पद है ।  
दृष्टिवाद नामका बारहवा अंग है । आगे उसके स्वरूपका निरूपण करते हैं । दृष्टिवाद नामके  
अंगमें कौत्कल, काणेविट्ठि, कौशिक, हरिश्मशु, मांधपिक, रोमश, हारित, मुण्ड और अश्रवलयन  
आदि क्रियावादीयोंके एकसौ अस्सी मतोंका, मरीचि, उलूक, कपिल, उलूक, गार्ग्य, व्याघ्रभूति,

अर्थानि च श्रीस्तानि भिज्जा च तमभ्यनत्ती धातुरियिभिज्जास्ता त्रेमादुरोगेण सर्वप्रनचनर्मातिरूपकुमुम्मादिरोगेण  
स्ता इव स्ता येपं ते तथा । अथवास्थियभिज्जासु जिनशामतपत्रेमादुरोगेण स्ता ये ते अट्ठिभिज्जेपेम्माशुरागरत्ता ।  
सग २ ५ १०६ ( टीका )

१ परसमथो उमय वा सम्मादिट्ठिस्स सममथो जेण ॥ तो सन्वज्जणमाड ससमयवत्त्वनिन्याइ ॥ मिच्छव-  
परसमूह सम्पत्त ज च तदुवणारिभ । वट्ठ परसिद्धतो तो तस्स तओ सनिद्धतो ॥ वि मा, ९५६, ९५७

२ शुभाशुभकर्माणा तीनमदमभ्यमविक्खयन्तिरूपामुमागस्य इवयेननालममाथाथयकलदतनपरिणतिरूप उदयो  
विपाक, त ह्यरयति वर्णयतीति विपाकमूत्तम् । गो जी, जी प्र, टी ३५७ विवागसुत्तं ण सुत्तदुक्कजाण कम्मण  
फलविवागे आवविज्जति । XX । सम सू १४६

३ दृष्टीनां नियमशुचरिभगतमह्यनात् मिथादर्शनाना वादोऽनुवाद, तन्निराकरण य यस्मिन् क्रियते तददृष्टि-  
वाद नाम । गो जी, जी प्र, टी ३६० दिट्ठिवाए ण सत्तमावपवत्तणया आघाविज्जति । ते समासओ पचत्तिरे,

कपिलोत्कृ-गार्ग्य-व्याघ्रभूति-वाट्ठलि-माठर-मौद्गल्यायनादीनामक्रियावाददृष्टीनां चतुर-  
शीतिः, शाकल्य-वल्कल-कुथुमि-सात्यमुग्रि-नारायण-कण्व-माध्यंदिन-मोद-पैप्पलाद-वाट्ठरा-  
यण-स्वेष्टकृदतिकायन-बसु-जैमिन्यादीनामज्ञानिकदृष्टीनां सप्तषष्टिः, वशिष्ठ-पाराशर-जतु-  
कर्ण-वाल्मीकि-रोमहर्षणी-सत्यदत्त-व्यासैलापुत्रौपमन्यवैन्द्रदत्तायस्थूणादीनां त्रैविधिक-  
दृष्टीनां द्वात्रिंशत् । एषां दृष्टिशतानां त्रयाणां त्रिपष्ट्युत्तराणां प्ररूपणं निग्रहश्च दृष्टिवादे  
क्रियते ।

एत्थ किमायारादो, एवं पुच्छा सव्वेसिं । णो आयारादो, एवं वारणा सव्वेसिं,  
दिट्ठिवादो । तस्स उवकमो पंचविहो, आणुपुव्वी णामं पमाणं वत्तव्वदा अत्थाहियारो  
चेदि । तत्थ आणुपुव्वी तिविहा, पुव्वाणुपुव्वी पच्छाणुपुव्वी जत्थत्थाणुपुव्वी चेदि ।

वाट्ठलि, माठर और मौद्गल्यायन आदि अक्रियावादीयोंके चौरासी मतोंका, शाकल्य, वल्कल,  
कुथुमि, सात्यमुग्रि, नारायण, कण्व, माध्यंदिन, मोद, पैप्पलाद, वाट्ठरायण स्वेष्टकृत्, पतिकायन  
बसु और जैमिनी आदि अज्ञानवादीयोंके सरसठ मतोंका तथा वशिष्ठ, पाराशर, जतुकर्ण,  
वाल्मीकि, रोमहर्षणी, सत्यदत्त, व्यास, एलापुत्र, औपमन्यु, ऐन्द्रदत्त और अयस्थूण आदि  
त्रैविधिकवादीयोंके बत्तीस मतोंका वर्णन और निराकरण किया गया है । ऊपर कहे हुए क्रिया-  
वादी आदिके कुल भेद तीनसौ त्रैसठ होते हैं ।

इस शास्त्रमें क्या आचारांगसे प्रयोजन है, क्या सूत्रकृतांगसे प्रयोजन है, इसतरह  
बारह अंगोंके विषयमें पुच्छा करनी चाहिये । और इसतरह पूछे जाने पर यहां पर न तो  
आचारांगसे प्रयोजन है, न सूत्रकृतांग आदिसे प्रयोजन है इसतरह सबका निषेध करके यहां  
पर दृष्टिवाद अंगसे प्रयोजन है ऐसा उत्तर देना चाहिये । उसका उपक्रम पांच प्रकारका है,  
आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता और अर्थाधिकार । इनसेसे, पूर्वानुपूर्वी, पश्चादानुपूर्वी और  
यथातथातुपूर्वीके भेदसे आनुपूर्वी तनि प्रकारकी है । यहां पूर्वानुपूर्वीसे गिनने पर बारहवें

परिक्रम सुत्ताइ पुव्वगय अणुओगो चूलिया । परिक्रमे सत्ताविहे XXX । सुत्ताइ अट्ठसीति भवतीति मखायाइXXX ।  
पुव्वगय चउइसविहं पत्त । अणुओगे दुमहे पत्तचे XXX । जण्ण आइत्तण चउह पुव्वाण चूलियाओ, तेसाइ  
'पुव्वाइ अचूलियाइ सेच चूलियाओ । सम सू १४७

१ कौत्कलकठिनिट्ठिकौशिकहरिश्मशुमाळयिनरोममहारोतमुडाल्लालयलादीना क्रियावाददृष्टीनामशीतिशत ।  
मरिचुमारकपिलोत्कृगार्ग्यव्याघ्रभूतिवाट्ठलिमाठरमौद्गल्यायनादीनामन्यावाददृष्टीना चतुरशीति । शाकल्यवाट्ठल-  
कुथुमिसात्यमुग्रिनारायणकण्वमाध्यंदिनमोदपैप्पलादवाट्ठरायणवशिष्ठकौशिकरोमहर्षणीनामज्ञानकृष्टाना सप्तषष्टि ।  
वशिष्ठपाराशरजतुर्णिवाल्मीकिरोमहर्षिसत्यदत्तव्यासैलापुत्रौपमन्यवैन्द्रदत्तायस्थूणादीना त्रैविधिकदृष्टीनां  
त रा वा पृ ५१ 'काणेविट्ठि' स्थाने 'कठेनिट्ठि', 'माडपिक' स्थाने 'मांधपिक', 'कण्व' स्थाने 'कठ',  
'स्वेष्टकृत्' स्थाने 'स्त्रिष्ठिक्य', 'जतुकर्ण' स्थाने 'जतुर्कर्ण', 'अयस्थूण' स्थाने 'अगारस' पाठा  
उपलभ्यन्ते । गो जी, जी प्र, टी ३६०



एत्य पुष्पाणुपुष्वीए गणित्जमाणे वारसमादो, पञ्चाशुपुष्वीए गणित्जमाणे षडमादो, जत्यतथाशुपुष्वीए गणित्जमाणे दिङ्घिवायो । णानं, डिङ्घीथो वददीदि दिङ्घिवादिं ति गुणणामं । पमाणं, अवसर-पद-संघाट-पडिवि-अणियोगदारेहि संखेजं अत्थदो अणंतं । नचब्बदा, तदुभयवत्त्वदा । तस्स पंच अत्थाहियारा हवंति, परियम्मं-सुत्तं-षडमाणियोग-पुष्वाण्यं-चुलिया चेदि । जं तं परियम्मं तं पंचविहं । तं जहा, चंदपण्णत्तीं सूरपण्णत्तीं जंजूदीपण्णत्तीं दीवसायरपण्णत्तीं त्रियाहपण्णत्तीं चेदि । तत्थ चंदपण्णत्तीं णाम छत्तीस-लम्स-पंच-पद-सहस्सेहि ३६०५०० चंदाशु-परिवारिदि-गइ-विंशुस्सेह-चण्णणं कुणइ ।

अणसे, षड्मादाशुपूर्वसे णिनेने पर पवलेसे और यथातथाशुपूर्वसे णिनेने पर द्वाष्टिवाद अणसे प्रयोजन दे ।

नाम—इसमें अनेक दृष्टियोंका वर्णन किया गया है, इसलिये इसका 'द्वाष्टिवाद' यह शीर्षकनाम है ।

प्रमाण—अक्षर, पद, संघात, प्रतिपत्ति और अनुयोग आदिका अपेक्षा सरयातप्रमाण और अर्थकी अपेक्षा अन्ततप्रमाण है ।

नचब्बदा—इसमें तदुभयवत्त्वदा है ।

उस द्वाष्टिवादके पांच अधिकार हैं, परिकर्मा, सूत्र, प्रथमाशुयोग, पूर्वगत और चूलिका । उनमेंसे, चन्द्रप्रगति, सूर्यप्रगति, जम्बूद्वीपप्रगति, द्वीपसागरप्रगति और व्याख्याप्रगति इसतरह परिकर्माके पांच भेद हैं ।

चन्द्रप्रगति नामका परिकर्मा छत्तीस लाख पांच हजार पदोंके द्वारा चन्द्रमाकी आयु,

परित मंत र्मानि गणितरग्नमनाणि यस्मिन् तद्वरिर्मन् । गो जी, जी ५, दी ३६१

२ सूयति ऋष्टिर्शानोति नृम् । जी अत्रक जन्तो निगुण जसोत्ता स्वप्नशरक पपकाशफ भय्यो जी नान्म जी रराधिग्यागिगानानिगच्छद्वीना भिग्यदर्शनानि पूर्वकतया कथ्यति । गो जी,

जी ५, दी ३६२

३ प्रथम भिग्याशिमत्तमिक्कम्युपन ना प्रतिपावमात्रिय प्रतुनोडुयोगोडविकार प्रथमानुयोग । नडुभिगिर्गिग्याशिमत्तमिक्कम्युपनानाशुदेप्रतिगाल्लेयव्यपिपिथिलालानुन्यपुराणानि णंयति । गो जी,

जी ५, दी ३६२

४ ३३ तीर्णरत्तर्णपरिपत्तनं लळे गणधत्तं सत्त्वशुताथमिगाहनसमर्थानि विटुल पूर्णं गतं सूर्यार्थे माणते, ततल्लानि पूर्णसुत्तते । गणरा पुन सूरत्तनां विदधत आचासादि त्तेण विदधति शापयन्ति वा । अन्ये तु रगाक्षो, पूर्णं पूर्णगासूरार्थेर्णं भाणते गणधत्ता अपि पूर्णं गतसूरं निरत्तयन्ति पत्रादाचारानिक्कम् ।

न सू. पु. २४०

५ सूदरयाग विवेकपत्तिना चूलिया णाम । वक्कला अ पु ५७३. द्वाष्टिवादे परिकर्मासूर्यपूर्वाशुयोगोडुत्ताथ-सम्पत्ता प्रणयस्सत । न सू. पु. २४६.

६ चन्द्रप्रगति चन्द्रा विमानाणु परिवारिदिग्नमनहानिदुदिरत्तलार्थचतुर्थांशप्रगणादीन् वर्णयति ।

गो जी, जी. ५, दी. ३६२.

सूर-पण्णत्तीं पंच-लख-तिण्ण-सहस्सेहि ५०३००० सूरस्साशु-भोगोवभोग-परिवारिदि-गइ-विंशुस्सेह-दिग-किरणुजोव-चण्णणं कुणइ । जंजूदीवपण्णत्तीं तिण्ण-लख-पंचवीस-पद-सहस्सेहि ३२५००० जंजूदीने णाणाविह-मणुयाणं भोग-रुम्म-भूमियाणं अणोसिं च पव्वद-दह णइ वेइयाणं वस्सावासाक्कडिम-जिणहरादीणं चण्णणं कुणइ । दीवसायरपण्णत्तीं चावण्ण लख-छत्तीस-पद-सहस्सेहि ५२३६००० उद्धार-पल्ल-पसाणेण दीव-सायर-पमाणं अणं पि दीव-सायरंतवूदत्थं बहु-भेयं वण्णेदि । वियाहपण्णत्तीं णाम चउरसीदि-लख-छत्तीस-पद-सहस्सेहि ८४३६००० रुवि-अजीव-द्वं अरुवि-अजीव-द्वं भवसिद्विय-अभवसिद्विय-रासि च वण्णेदि । सुत्तं अट्टासीदि लख-पदेहि ८८०००० अंशयओ अवलेवओ अयत्ता अमोत्ता णिगुणो सव्वगओ अणुयेचो गत्थि जीवो जीवो जीवो चैव अत्थि पुढावियादीणं समुदण जीवो उपजइ णिचैयणो णाणेण विगा सचैयणो

परिवार, ऋद्धि, गति और विगकी उंचाई आदिका वर्णन करता है । सूर्यप्रगति नामका परिकर्मा पांच लाख तीन हजार पदोंके द्वारा सूर्यकी आयु, भोग, उपभोग, परिवार, ऋद्धि, गति, विगनी उंचाई, दिनकी हानि-वृद्धि, किरणोंका प्रमाण और प्रकाश आदिका वर्णन करता है । जम्बूद्वीपप्रगति नामका परिकर्मा तीन लाख पचीस हजार पदोंके द्वारा जम्बूद्वीपस्य भोगभूमि और कर्माभूमि उत्पन्न हुए नानाप्रकारके मनुष्य तथा दूसरे तिर्यंच आदिका और पर्वत, द्रव, नदी, वेदिका, वर्ष, आवास, अन्ननि जिनालय आदिका वर्णन करता है । द्वीप-सागरप्रगति नामका परिकर्मा बावन लाख छत्तीस हजार पदोंके द्वारा उद्धारपल्लसे द्वीप और समुद्रोंके प्रमाणका तथा द्वीपसागरके अन्तर्भूत नानाप्रकारके दूसरे पदार्थाना वर्णन करता है । व्याख्याप्रगति नामका परिकर्मा चौदसी लाख छत्तीस हजार पदोंके द्वारा रूपी अजीवद्रव्य अर्थात् पुद्गल, अरुपी अजीवद्रव्य अर्थात् धर्म, अधर्म, आकाश और काल, भव्यसिद्ध और अभव्यसिद्ध जीव, इन सबका वर्णन करता है,

द्वाष्टिवाद अंगका सूत्र नामका अर्थाधिकार अठ्ठासी लाख पदोंके द्वारा जीव अयन्धक ही है, अवलेपक ही है, अकर्ता ही है, अभोक्ता ही है, निर्गुण ही है, अणुप्रमाण ही है, जीव नस्तिस्वत्प ही है, जीव अस्तिस्वत्प ही है, पृथिवी आदिक पांच भूतोंके समुदायरूपसे जीव उत्पन्न होता है, चेतना रहित है, नानके विना भी सचेतन है, नित्य ही है, अनित्य ही है,

१ सूर्यप्रगति सूर्यस्यायुर्मंडलयस्वित्वाजद्विगमनप्रमाणग्रहणादीन् वर्णयति । गो जी, जी ५, दी ३६२.

२ जम्बूद्वीपप्रगति जम्बूद्वीपगतमेरुकुलैर्द्वर्षकुञ्जैदिग्नमनउच्यतापसमाहृतथादीन् वर्णयति ।

गो जी, जी. ५, दी ३६२

३ द्वीपसागरप्रगति अमल्यातद्वीपसागराणां स्वरूप तनरिक्तयौतिर्वानमानानासरेण त्रियमानाद्यमितिन-मनानादीन् वर्णयति । गो जी, जी ५, दी ३६२.

४ रूप्यरूपिचीनाजीवव्यव्याणां भव्याभन्यमेदप्रमाणलक्षणाना जनतरमिद्धपरम्परामिद्वानां जयवस्तुनां च वर्णनं करोति । गो जी, जी ५, दी ३६२.

णिञो अणिञो अप्येति वण्णेदि । तेरासियं' णियदिवादं' विण्णणवादां' सद्वादां' पहाणवादां' द्वावादां' पुरिसवादां' च वण्णेदि । उच्चं च—

रत्यादि रूपसे क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादियोंके तनसो त्रेसठ मतोंका पूर्वपक्षरूपसे वर्णन करता है । इसमें त्रैराशिकवाद, नियतिवाद, विज्ञानवाद, शब्दवाद, प्रधानवाद, द्रव्यवाद, और पुरुषवादका भी वर्णन है । कहा भी है—

१ तेराभिय ( त्रैराशिक ) गोगालप्रवतिता आज्जीविका पाब्बण्डनद्वैराशिका उच्यन्ते । कस्सादिति चेदुच्यते, इह ते सर्वं वत्तु न्यात्मकमिच्छन्ति । तथथा, जीवोड्डीवो जीवानीवथ, लोका अलोका लोकालोकाश्च, सदसस-दसस् । नयचिन्तायापि त्रिविध नयमिच्छन्ति । तथथा, दव्यास्तिक पर्यायिस्तिकसुभयास्तिक च । ततन्निमी राशिभि-श्रतीति त्रैराशिका । न सू. पृ. २३९.

२ णियतिवाद ( दैववाद ) जत्तु जदा जेण जहा जस्स य णियमेण होदि तत्तु तदा । तेण तहा तस्स ह्वे इदि वादो णियदिवादो दु ॥ गो क ८८२ ये तु नियतिमादिनस्से बेवमाहु, नियतिनाम तत्त्वान्तरमस्ति यद्धसादेते भावा संवदपि नियतेनैव रूपेण प्रादुर्भवमस्सुवते, नान्यथा । तथाहि, यथदा यतो भवति तत्तदा तत एव नियतेनैव रूपेण भवदुपलभ्यते, अन्यथा कार्यभावव्यवस्था प्रतिनियतव्यवस्था च न भवेत् । नियामकभावत्वात् । तत एव कार्यनैयत्यतः प्रतीयमानामेना नियतिं को नाम प्रमाणपथकुशलो वागितु क्षमते ? मा प्रापदन्यापि प्रमाणपथ-न्यायात्प्रसङ्ग । अभि रा. को ( णियह )

३ विण्णणवाद ( विज्ञानद्वैतवाद ) प्रतिमासमानस्यशेषस्य वत्तुनो ज्ञानस्वरूपात्त त्रिविद्वयमिद्धे संवेदमेव पारमार्थिक तत्त्वम् । तथाहि, यदवभासते तद्वानमेव यथा सुखादि, अवभासन्ते च भावा इति ।  $X \times X$  तथा यद्धयेते तद्धि ज्ञानादभिन्नम् यथा विज्ञानस्वरूपम्, वेद्यन्ते च नीलादय इत्यतोऽपि विज्ञानाद्वैतसिद्धिरिति । न्या कु च पृ ११९ बाव्यार्थनिरपेक्ष ज्ञानाद्वैतमेव ये चोद्धविशेषा मन्वते ते विज्ञानवादिन । तेया रादान्तो विज्ञानवाद । अभि रा को ( विण्णणवाद )

४ सद्वादा ( शब्दशक्तवाद ) मकल योगजमयोगज वा मत्यक्ष शब्दशक्तौल्लेख्येवावभासते बाह्याध्यात्मिकाथे-पूर्यमानस्यास्य शब्दात्प्रविद्धत्वेनैवोपपत्ते, तत्सत्यवैकल्ये श्रत्यालां प्रकल्पमानताया दुर्वदत्वात् । वाप्रपता हि शश्वती मत्यक्षमशिक्षिनी च, तदभावे तेषां नापर रूपमवशिष्यते । न्या कु च पृ १३९, १४०.

५ पहाणवाद [ प्रधानवादः ] सत्वजस्तमसा साम्यावस्था प्रधानम् । प्रधानस्य वाद प्रधानवाद सात्यवाद इत्यर्थ । सांख्यता हि पुमर्थपेक्षप्रकृतिपरिणाम एव लोक । अभि रा को [ पहाणरुड ]

६ द्रव्यवाद [ द्रव्यैकान्तवादी नियतवाद ] यत्कपिल दर्शन सांख्यमत एतद् द्रव्यास्तिकनस्य वत्त्वम् । तदुक्तम्, ज काविल दस्सिण एय दव्वड्डियस्स वत्त्व । स त ३, ४८

७ पुरिसवाद [ पौरुषवाद ] आलसद्वौ पिरुच्छाहो फल किञ्चि ण भुज्जे । थणक्खीरादिपाण वा पउरसेण विणा ण दि ॥ गो क ८९० अथवा, पुरिसवाद पुरवाद्वैतवाद—एको चैव मरुथा पुरिसो देवो य सत्त्वावी य । सत्त्वानिमूढो वि य संवेचयो निगुणो परमो ॥ गो क ८८१ पुनर एवैक सकलोनैमित्तिकप्रलयहेतु श्लयैऽप्यलुप्त-ज्ञानातिशयमनिरिति । तथा चोक्तम्, ऊर्णनाम इवाधुना चन्द्रकाल इवाभसम् । प्रोदानाणमिन्न अक्ष स हेतु-सर्वजन्मिनाम् ॥ इति । तथा 'पुण एतेद सर्वं यद भूत यच्च भाव्यम्' इत्यादि मन्वानाना वाद पुरुषवाद । अभि रा को [ पुरिसवाद ]

अट्टासी'-आहियारेसु चउण्हमहियाराणमथि णिद्वेसो ।  
पढमो अन्नंधयाणं विदियो तेरासियाण बोद्धवो ॥ ७६ ॥  
तदियो य णियह-पक्खे हवइ चउत्थो ससमयमि ॥

षट्मपणियोगो पंच-सहस्र-पदेहि ९००० पुराणं वण्णेदि । उच्चं च—

वारसविह पुराण जंदिह जिणवरोहि सन्वेहि ।  
तं सब्बं वण्णेदि ह् जिणवसे रायवसे य ॥ ७७ ॥  
पढमो अरहताण विदियो पुण चक्कवट्टि-वसो दु ।  
विज्जहराण तदियो चउत्थयो वासुदेवाण ॥ ७८ ॥  
चारण-वसो तह पचमो दु छट्ठो य पण्ण-समणाणं ।  
सत्तमओ कुरुवसो अहमओ तह य हरिवसो ॥ ७९ ॥  
णवमो य इक्खयाण दसमो वि य कासियाण बोद्धवो ।  
वाईणक्कारसमो बारसमो णाह-वसो दु ॥ ८० ॥

पुत्रवायं पंचाणउदि-कोडि-पणास-लक्ख-पंच पदेहि ९५५००००५ उप्पयाय

इस सूत्र नामक अर्थधिकारके अट्टासी अधिकारोंमेंसे चार अधिकारोंका नामनिर्देश मिलता है । उनमें पहला अधिकार अबन्धकोंका दूसरा त्रैराशिकवादियोंका, तीसरा नियति-वादका समझना चाहिये । तथा चौथा अधिकार स्वसमयका प्ररूपक है ॥ ७६ ॥  
दृष्टिवाद अंगका प्रथमायुयोग अर्थधिकार पांच हजार पदोंके द्वारा पुराणोंका वर्णन करता है । कहा भी है—

जिनेन्द्रदेवने जगतमें बारह प्रकारके पुराणोंका उपदेश दिया है । अतः वे समस्त पुराण जिनवंश और राजवंशोंका वर्णन करते हैं । पहला अरिदंत अर्थान् तीर्थकरोका, दूसरा चक्रवर्तियोंका, तीसरा विद्याधरोंका, चौथा नारायण, प्रतिनारायणोंका, पांचवां चार-णोंका, छठवां प्रह्लादप्रमाणोंका वंश है । इसतिरह सातवां कुरुवंश, आठवां हरिवंश, नववा इक्ष्वाकुवंश, दशवा काश्यपवंश, ग्यारहवा वादियोंका वंश और बारहवां नाथवंश है ॥ ७७-८० ॥  
दृष्टिवाद अंगका पूर्वगत नामका अर्थधिकार पंचानवे करोड़ पचास लाख और पांच

१ सुचाइ अट्टासीति भवति । त जहा, उज्जुण परिणयापरिणय बहुमणिय विण्णवच्चय विनयचरिय अणतर परपर समाण सव्हू [ मासाण ] समिन्न अहाच्चय [ अहव्वाय नन्धा ] सेवथि [ वत्त य ] णदानत्त वहुल पुट्टापुट्ट विद्यावत्त एवभूय दुआवत्त वत्तमाणपय समभिरुट्ट सव्वजोमह पणाम [ पक्खास नथा ] दुपडिणह इच्चैयाइ वानीस चार छिण्णकेअणइआइ ससमयसुत्तपरिवाडीए इच्चैयाइ वानीस सुत्ताइ अन्निक्खलेयनइयाइ आजीवियसुत्तपरिवाडीए इच्चैयाइ वानीस सुत्ताइ तिक्काइयाइ तेरासियसुत्तपरिवाडीए, इच्चैयाइ वानीस सुत्ताइ चउक्कणइयाइ ससमयसुत्तपरिवाडीए एवामेव सपुव्वावरेण अट्टासीति सुत्ताइ भवति । सम सू १४७

२ 'ज दिट्ठ' इति पाठ श्रुतिमति ।

त्रय-शुभ-वृत्त-दीर्घं वर्णनं कृणुह । चूलिया पंचविहा, जलमया थलमया मायागया रूचगया आगामगया चेदि । तस्य जलमया दो-कोडि-गव-लक्ष एजग-गवुह-सहस्र-चै-सद-पदेहि २०९८९२०० जलममण-जलस्थभण-कारण-मंत-तंत-तव-च्छरणानि वर्णेदि' । थलमया गाम तेत्तिपहि चैव पदेहि २०९८९२०० भूमि-गमण-कारण-मंत-तंत-तव-च्छरणानि वर्णेदि' । मायागया तेत्तिपहि चैव पदेहि २०९८९२०० इंद-जालं वर्णेदि' । रूचगया तेत्तिपहि चैव पदेहि २०९८९२०० सीह-द्वय-हरिणादि रूचायारेण परिगमण-हेदु-मंत-तंत-तव-च्छरणानि चित्त कठ-लेप-लेण-कम्मदि-लक्ष्मणं च वर्णेदि' । आयासमया गाम तेत्तिपहि चैव पदेहि २०९८९२०० आगाम-गमण-णिमित्तं मंत तंत-तव-च्छरणानि वर्णेदि । चूलिया-सव्य-पद-समासो दस-

पदों द्वारा उत्पाद, व्यय और श्रौष्य आदिका वर्णन करता है ।

जलमता, थलमता, मायागता, रूपमता और आकाशगताके भेदसे चूलिका पांच प्रकारकी है । उनमेंसे, जलमता चूलिका दो करोड़ नौ लाख नवासी हजार दोसौ पदोंद्वारा जलमें गमन और जलस्तम्भनके कारणभूत मन्त्र, तन्त्र और तपश्चर्यारूप अतिशय आदिका वर्णन करती है । थलमता चूलिका उतने ही २०९,८९,२०० पदोंद्वारा पृथिवीके भीतर गमन करनेके कारणभूत मन्त्र, तन्त्र, और तपश्चरणरूप आश्चर्य आदिका तथा वास्तुविद्या और भूमि-संबन्धी दूसरे शुभ अशुभ कारणोंका वर्णन करती है । मायागता चूलिका उतने ही २०९,८९,२०० पदोंद्वारा ( मायारूप ) इन्द्रजाल आदिके कारणभूत मन्त्र, तन्त्र और तपश्चरणका वर्णन करती है । रूपमता चूलिका उतने ही २०९,८९,२०० पदोंद्वारा सिंह, घोड़ा और हरिणादिके स्वरूपके आकाररूपसे परिगमन करनेके कारणभूत मन्त्र, तन्त्र और तपश्चरणका तथा चित्र-कर्म, काष्ठकर्म, लेपकर्म और लेनकर्म आदिके लक्षणका वर्णन करती है । आकाशगता चूलिका उतने ही २०९,८९,२०० पदोंद्वारा आकाशमें गमन करनेके कारणभूत मन्त्र, तन्त्र और तपश्चरणका वर्णन करती है । इन पांचों ही चूलिकाओंके पदोंका जोड़ दश करोड़ उनचास लाख

१ जलमता चूलिका जयस्तम्भजलमनानिस्तम्भाभिमक्षणाभ्यामनाभिमन्त्रेभ्योनादिकाणाम ततपश्चरणानि वर्णयति । गो जी, जी प्र, प्र, ३६२

२ थलमता चूलिका मंत्ररुचालं गुणानि श्रेयमनश्रीगमनादिकारणमयततपश्चरणानि वर्णयति । गो जी, जी प्र, प्र, ३६२

३ मायागता चूलिका मायास्त्रेजालनिष्कारणमन्ततपश्चरणानि वर्णयति । गो जी, जी प्र, प्र, ३६२

गो जी, जी, प्र, प्र, ३६२

४ रूपमता चूलिका चित्तकठलेपलेपनततपश्चरणानि वर्णयति । गो जी, जी प्र, प्र, ३६२

५ आकाशगता चूलिका आकाशगमनकारणमन्ततपश्चरणानि वर्णयति । गो जी, जी, प्र, प्र, ३६२

कोडीओ एमूण-पंचाम-लख छायाल-सहस्र-पदाणि १०४९४६० ० ।

एतथ किं परियम्मदो, किं सुत्तादो ? एवं पुच्छा सव्वेसि । गो परियम्मदो, गो सुत्तादो, एवं वारणा सव्वेसि । पुब्बमयादो । तस्स उवकमो पंचविहो, आणुणुब्बी गामं पमाणं वत्तवदा अत्थाहियारो चेदि । तथाणुणुब्बी तिन्निहा, पुब्बाणुणुब्बी पच्छाणुणुब्बी जत्थतथाणुणुब्बी चेदि । एतथ पुब्बाणुणुब्बीए गणिज्जमाणे चउत्थादो, पच्छाणुणुब्बीए गणिज्जमाणे विदियादो, जत्थतथाणुणुब्बीए गणिज्जमाणे पुब्बमयादो । पुब्बाणं गयं पत्त-पुब्ब-सरूवं वा पुब्बगयमिदि गुणगामं । अक्खर-पद-संघाद-पडिवत्ति-अणियोगद्वारेहि संखेजं, अत्थादो पुण अणंतं । वत्तव्वदा ससमयवत्तवदा । अत्थाधियारो चोद्वसविहो । तं जहा, उत्पादपूर्वं अत्रायणीयं वीर्याणुप्रवाहं अत्तिनास्तिप्रवाहं ज्ञानप्रवाहं सत्यप्रवाहं आत्मप्रवाहं कर्मप्रवाहं प्रत्याख्याननामधेयं विद्याणुप्रवाहं कल्याणनामधेयं प्राणावायं क्रियाविशालं लोकविन्दुसारमिति ।

ततथ उत्पादपुब्बं दसण्हं वत्थूणं १० वे-सद-पाहुडाणं २०० कोडि-पदेहि

छायालीस हजार पद है ।

इस जीवस्थान शालमें क्या परिकर्मसे प्रयोजन है ? क्या सूत्रसे प्रयोजन है ? इसतरह सबके विषयमें पूच्छा करनी चाहिये । यहां पर परिकर्मसे प्रयोजन नहीं है, सूत्रसे प्रयोजन नहीं है इसतरह सबका निषेध करके यहा पर पूर्वगतसे प्रयोजन है ऐसा उत्तर देना चाहिये । उसका उपक्रम पांच प्रकारका है, अनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता और अर्थोपधिकार । उनमेंसे, पूर्वानुपूर्वी, पश्चादानुपूर्वी और यथातथानुपूर्वीके भेदसे अनुपूर्वी तीन प्रकारकी है । यहा पूर्वानुपूर्वीसे गिन्ने पर चौथे भेदसे, पश्चादानुपूर्वीसे गिन्नेपर दूसरे भेदसे और यथातथानुपूर्वीसे गिन्ने पर पूर्वगतसे प्रयोजन है । जो पूर्वको प्राप्त हो, अथवा जिसने पूर्वोंके स्वरूपको प्राप्त कर लिया हो उसे पूर्वगत कहते हैं । इसतरह 'पूर्वगत' यह शौण्यनाम है । वह अक्षर, पद, संघात, प्रतिपत्ति और अनुयोगद्वाराकी अपेक्षा संख्यात और अर्थकी अपेक्षा अनन्त-प्रमाण है । तीनों वक्तव्यताओंमेंसे यहा ससमयवक्तव्यता समझना चाहिये । अर्थोधिकारके चौदह भेद हैं । वे ये हैं, उत्पादपूर्व, अत्रायणीयपूर्व, वीर्याणुप्रवाहपूर्व, अत्तिनास्तिप्रवाहपूर्व, ज्ञानप्रवाहपूर्व, सत्यप्रवाहपूर्व, आत्मप्रवाहपूर्व, कर्मप्रवाहपूर्व, प्रत्याख्यानपूर्व, विद्याणुप्रवाहपूर्व, कल्याणवाहपूर्व, प्राणावायपूर्व, क्रियाविशालपूर्व और लोकविन्दुसारपूर्व ।

उनमेंसे, उत्पादपूर्व दश वस्तुगत दोसौ प्राभृतोंके एक करोड़ पदोंद्वारा जीव, काल

१ वस्तुन द्रव्यस्यो पादव्ययध्रौव्यावनेकधर्मरकुसादादूर्वम् । तच्च, जीवादिद्रव्याणां नानानयविययज्जम-यौगपथमभाक्षितोपादव्ययनौव्याणि निकालगोचराणि नवधर्मा भवन्ति । तपरिणत द्रव्यमपि नवत्रियम्, उपन उदयमाल उदस्यमान नष्ट नश्यत् नक्ष्यत् स्थित तिष्ठत् स्थार्यदिति नवप्रकारा भवन्ति । उत्पादादीना प्रलेक नवविधत्तमभवादेकाशीतिरिक्तव्ययधर्मपरिणतद्रव्यवर्णनं करोति । गो. जी, जी प्र, प्र, ३६६

१००००० जीव-काल-पोगलाणमुपपाद-वय-धुवत्तं वण्णेइ । अग्गेणियं णाम पुवं चोहसण्हं वत्थूणं १४ वे-सयासीदि-पाहुडणं २८० छण्णउइ-लक्ख-पदेहि ९६००००० अंगणमगं वण्णेइ । वीरियाणुपवांदं णाम पुवं अट्ठणं वत्थूणं ८ सट्ठि-सय-पाहुडणं १६० सत्तरि-लक्ख पदेहि ७०००००० अप्प-विरियं पर-विरियं उभय-विरियं खेत्त-विरियं भव-विरियं तव विरियं वण्णेइ । अत्थिणत्थिपवांदं णाम पुवं अट्ठारसण्हं वत्थूणं १८ सट्ठि-ति-सद-पाहुडणं ३६० सट्ठि-लक्ख-पदेहि ६०००००० जीवाजीवाणं अत्थि-णत्थिंत्तं वण्णेदि । तं जहा, जीवः स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैः स्यादस्ति, परद्रव्यक्षेत्रकालभावैः स्यान्नास्ति, ताभ्यामक्रमेणादिष्टः स्यादवक्तव्यः, प्रथमद्वितीयधर्माभ्यां क्रमेणादिष्टः स्यादस्ति च नास्ति च, प्रथमतृतीयधर्माभ्यां क्रमेणादिष्टः स्यादस्ति चावक्तव्यश्च, द्वितीयतृतीयधर्माभ्यां क्रमेणादिष्टः स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च, प्रथमद्वितीयधर्मौ

और पुदल द्रव्यके उत्पाद, वय और भ्रौव्यका वर्णन करता है । (अत्र अर्थत्वं द्वादशगोमं प्रधानभूत वस्तुके अयन अर्थत्वं ज्ञानको अग्रायण कहते हैं, और उसका कथन करना जिसका प्रयोजन हो उसे अग्रायणियपूर्व कहते हैं ।) यह पूर्व चौदह वस्तुगत दोसौ अस्सी प्राभृतोंके छयानवे लाख पदों द्वारा अगोंके अत्र अर्थत्वं प्रधानभूत पदार्थोंका कथन करता है । वीर्यानुप्रवादपूर्व आठ वस्तुगत एकसौ साठ प्राभृतोंके सत्तर लाख पदों द्वारा आत्मवीर्य, परवीर्य, उभयवीर्य, क्षेत्रवीर्य, भववीर्य और तपर्वीर्यका वर्णन करता है । अस्तिनास्तिप्रवादपूर्व आठारह वस्तुगत तीससौ साठ प्राभृतोंके साठ लाख पदोंद्वारा जीव और अजीवके अस्तित्व और नास्तित्वधर्मका वर्णन करता है । जैसे, जीव, स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभावकी अपेक्षा कथंचित् अस्तिरूप है । परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभावकी अपेक्षा कथंचित् नास्तिरूप है । जिससमय वह स्वद्रव्यचतुष्टय और परद्रव्यचतुष्टयद्वारा अक्रमसे अर्थत्वं युगपत् विवक्षित होता है उससमय स्यादवक्तव्यरूप है । स्वद्रव्यादिरूप प्रथमधर्म और परद्रव्यादिरूप द्वितीयधर्मसे जिससमय क्रमसे विवक्षित होता है उससमय कथंचित् अस्ति-नास्तिरूप है । स्यादस्तिरूप प्रथम धर्म और स्यादवक्तव्यरूप तृतीय धर्मसे जिससमय विवक्षित होता है उससमय कथंचित् अस्ति-अवक्तव्यरूप है । स्यान्नास्तिरूप द्वितीय धर्म और स्यादवक्तव्यरूप तृतीय धर्मसे जिससमय क्रमसे विवक्षित होता है उससमय कथंचित् नास्ति-अवक्तव्यरूप है । स्यादस्तिरूप प्रथम

१ अत्रस्य द्वादशांगु प्रधानभूतस्य वस्तुन अयन ज्ञान अग्रायण, तत्रयोजनमग्रायणीयम् । तच्च सत्तशत-सुनयदुर्गपचात्तिकायपद्व्यसत्तत्वनपदाधार्थान् वर्णयति । अत्र परिमाण तस्यायन गमन परिच्छेदनमित्यर्थः । तस्मै दित्तमग्रायणीय, सर्वद्रव्यादिपरिमाणपरिच्छेदकारिणि भावार्थः । न स्र् २ ४१

२ वीर्यस्य जीवादिवस्तुसामर्थ्यस्याविवक्षितवस्तुवर्णनमस्तिमिति वीर्यादुप्रवाद नाम तृतीय पूर्वम् । तच्च आत्मवीर्यपत्तोपस्यवीर्यक्षेत्रवीर्यकालवीर्यभाववीर्यतपर्वीर्यविद्विदिमस्तद्रव्यगुणपर्यायविधिणि वर्णयति ।

३ अस्ति नास्ति इत्यादिधर्माणां प्रवाद प्रव्यणमस्तिमिति अस्तिनास्तिप्रवाद नाम चतुर्थं पूर्वम् ।

गो जी, जी प्र, टी ३६६  
गो जी, जी प्र, टी ३६६

क्रमेणादिष्टः स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्च जीव इति । एवमजीवाद्योऽपि वक्तव्याः । णाणपवांदं णाम पुवं चारसण्हं वत्थूणं ११ वि-सद-चालीस-पाहुडणं २४० एग्गूण-कोडि-पदेहि ९९९९९९ पंच णाणाणि तिण्णिण अण्णाणाणि वण्णेदि । दव्वट्ठिय-पञ्ज-चट्ठिय-णयं पडुच्च अणादिअणिहण-अणादिसणिहण-सादिअणिहण-सादिसणिहणाणि वण्णेदि, णाणं णाणसरूवं च वण्णेदि ।

सच्चपवांदं पुवं चारसण्हं वत्थूणं १२ दु-सय-चालीस-पाहुडणं २४० छ-अहिय-एग-कोडि-पदेहि १००००००६ वाग्गुप्तिः वाक्कसंस्कारकारणं प्रयोगो द्वादशधा भाषा वक्तारश्च अनेकप्रकारं सृषाभिधानं दशप्रकारश्च सत्यसद्भावो यत्र निरूपितस्तत्स-त्यप्रवादम् । व्यलीकनिवृत्तिर्वाचां संयमत्तं वा वाग्गुप्तिः । वाक्कसंस्कारकारणानि शिर-कण्ठादीन्यथौ स्थानानि । वाक्प्रयोगः शुभेतरलक्षणः सुगमः । अभ्याख्यानकलह-पैशुन्याद्यद्रप्रलापरत्यस्त्युपधिनिकृत्यप्रणतिमोपम्यग्मिथ्यादर्शनात्मिका भाषा द्वादशधा । अयमस्य कर्तव्येति अनिष्टकथनमभ्याख्यानम् । कलहं प्रतीति । पृष्ठतो दोषाविकरणं

धर्म, स्यान्नास्तिरूप द्वितीय धर्म और स्यादवक्तव्यरूप तृतीय धर्मसे जिससमय क्रमसे विवक्षित होता है उससमय कथंचित् अस्ति-नास्ति-अवक्तव्यरूप जीव है । इसीतरह अजीवादिक्रमा भी कथन करना चाहिये । ज्ञानप्रवादपूर्व चारह वस्तुगत दोसौ चालीस प्राभृतोंके एकक्रम एक करोड़ पदोंद्वारा पांच ज्ञान और तीन अक्षानोंका वर्णन करता है । तथा द्रव्यार्थिकतय और पर्यायार्थिकतयकी अपेक्षा अनादि-अनन्त, अनादि-सान्त, सादि-अनन्त और सादि-सान्तरूप विकल्पोंका तथा इसीतरह ज्ञान और ज्ञानके स्वरूपका वर्णन करता है । सत्यप्रवादपूर्व चारह वस्तुगत दोसौ चालीस प्राभृतोंके एक करोड़ छह पदोंद्वारा वचनगुप्ति, वाक्कसंस्कारके कारण, वचनप्रयोग, चारह प्रकारकी भाषा, अनेक प्रकारके वक्ता, अनेक प्रकारके असत्यवचन और दश प्रकारके सत्यवचन इन सबका वर्णन करता है । असत्य नहीं बोलनेको अथवा वचन-समय अर्थत्वं मौनके धारण करनेको वचनगुप्ति कहते हैं । मस्तक, कण्ठ, हृदय, जिह्वाका मूल, दांत, नासिका, तालु और ओठ ये आठ वचनसंस्कारके कारण हैं । शुभ और अशुभ लक्षणरूप वचनप्रयोगका स्वरूप सरल है । अभ्याख्यानवचन, कलहवचन, पैशुत्यवचन, अबद्धप्रलापवचन, रतिवचन, अरतिवचन, उपधिवचन, निरुत्तिवचन, अप्रणतिवचन, मोपवचन, सम्यग्दर्शनवचन और मिथ्यादर्शनवचनके भेदसे भाषा चारह प्रकारकी है । यह इसका कर्ता है इसतरह अनिष्ट कथन करनेको अभ्याख्यानभाषा कहते हैं । कलहका अर्थ स्पष्ट ही है । (परस्पर विरोधके

१ ज्ञानानां प्रवाद प्रव्यणमस्तिमिति ज्ञानप्रवादम् । तच्च मतिशुभावयिमत पर्यायकत्वानि पच सत्यप्रदानानि । क्रमतिशुभुतिसिमाख्याति नीण्यज्ञानानि स्वल्पसत्याविययकत्वानि आण्येत् तथा प्रामाण्याप्रामाण्य-भिभाग च वर्णयति । गो जी, जी प्र, टी ३६६

२ इत् आरभ्य सत्यप्रवादवर्णनान्त यावत् समप्रपाठोऽत्रिकलरूपेण तत्पार्यराजत्वानिके पृ ५२ पत्ति ८ त आरभ्य २८ तमपत्तिपर्यन्त शब्दश्च उपलभ्यते ।

पशुन्यम् । धर्मार्थकाममोक्षात्मन्वद्वा वागवद्ब्रह्मलापः । शब्दादिविषयेषु रस्तुत्पादिका रतिवाक् । तेनैव रस्तुत्पादिकारतिवाक् । यां वाचं श्रुत्वा परिग्रहार्जनरक्षणदिप्यामज्यते गोपधियाक् । वणिगव्यवहारे यामवधार्यं निरुक्तिप्रवणः आत्मा भवति स निरुक्तिवाक् । यां श्रुत्वा तपोविज्ञानार्थां केष्वपि न प्रणमति साप्रणतिवाक् । यां श्रुत्वा स्तेये प्रवर्तते सा मोपवाक् । मम्यगमार्गोपदेब्धी सम्यग्दर्शनवाक् । तद्विपरीता मिथ्यादर्शनवाक् । नकारात्मिभ्रुतवक्तृपर्यायाः द्वीन्द्रियादयः । द्रव्यक्षेत्रकालभावाश्रयनेकप्रकारमनृतम् । दशविधः सत्यामदानः नाम-रूप-स्थापना-श्रुतिय-संश्रुति-संयोजना-जनपद-देश-भाव-समय-मल्यभेदेन । तत्र सचेतेनतरद्रव्यस्यासत्यव्यर्थे संव्यवहारार्थं संज्ञाकरणं तन्नामसत्यम्, यथेन्द्र इत्यादि । यदर्थानविधानेऽपि रूपमवैगोच्यते तद्रूपसत्यम्, यथा चित्रपुरुषादि-व्यसत्यपि चैतन्योपयोगादावर्थपुरुष इत्यादि । असत्यव्यर्थे यत्कार्यार्थं स्थापितं धृताशा-

नदानेवाले वचनोंको कलहवचन कहते हैं । पीछेसे वीप प्रगट करनेको पैशूत्यवचन कहते हैं । धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके सवन्धसे रहित वचनोंको अयद्धप्रलापवचन कहते हैं । इन्द्रियोंके शब्दादि विषयोंमें राग उत्पन्न करनेवाले वचनोंको रतिवचन कहते हैं । इन्द्रियोंके शब्दादि विषयोंमें आनिको उत्पन्न करनेवाले वचनोंको अरतिवचन कहते हैं । जिस वचनको सुनकर परिग्रहके अर्जन और रक्षण करनेमें आत्मिक उत्पन्न होती है उसे उपधिवचन कहते हैं । जिस वचनको अग्यारण करके जीव वाणिज्यमें दानेरूप प्रवृत्ति करनेमें समर्थ होता है उसे निरुक्तिवचन कहते हैं । जिस वचनको सुनकर तग और शानसे अधिक गुणवाले पुरुषोंमें भी जीव नश्रीभूत नहीं होता है उसे श्रणतिवचन कहते हैं । जिस वचनको सुनकर चौर्यकर्ममें प्रवृत्ति होती है उसे मोपवचन कहते हैं । समीचीन मार्गका उपदेश देनेवाले वचनको सम्यग्दर्शनवचन कहते हैं । मिथ्यामार्गका उपदेश देनेवाले वचनको मिथ्यादर्शन वचन कहते हैं । जिनमें वस्तुपर्याय प्रगट नो गर्दे ऐसे इन्द्रियसे आदि लेकर सभी जीव वक्ता हैं । द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा असत्य अनेक प्रकारका है । नामसत्य, रूपसत्य, स्थापनासत्य, प्रतित्यसत्य, सश्रुतिसत्य, संयोजनासत्य, जनपदसत्य, देशसत्य, भावसत्य और समयसत्यके भेदसे सत्यवचन दश प्रकारका है ।

मूल पर्यायके नहीं रहने पर भी सचेतन और अचेतन द्रव्यके व्यवहारके लिये जो ममा की जाती है उसे नामसत्य कहते हैं । जैसे, पेश्वर्यादि गुणोंके न होने पर भी किसीका नाम 'इन्द्र' ऐसा रचना नामसत्य है । पर्यायके नहीं होने पर भी रूपकी मुख्यतासे जो वचन कहे जाते हैं उसे रूपसत्य कहते हैं । जैसे, चित्रलिखित पुरुष आदिमें चैतन्य और उपयोग-विक्रमे नहीं रहने पर भी 'अर्थपुरुष' इत्यादि कहना रूपसत्य है । मूल पर्यायके नहीं रहने पर भी कार्यके लिये जो यत्सत्यन्वधी अक्ष ( पासा ) आदिमें स्थापना की जाती है उसे स्थापनासत्य

द्विषु तत् स्थापनासत्यम् । साधनादीनौपशमिकादीन् भावाच् प्रतीत्य यद्बचस्तत्प्रतीत्य-सत्यम् । यल्लोके संश्रुत्याश्रितं वचस्तत्संश्रुतिसत्यम्, यथा पृथिव्याद्यनेककारणत्वेऽपि सति पङ्के जातं पङ्कजमित्यादि । धूपचूर्णवासानुलेपनप्रघर्षादिषु पञ्चमकरहंससर्वतोभद्रकौश्व-व्यूहादिषु इतरेतरद्रव्याणां यथाविभागविधिसन्निवेशविधिवर्षिकं यद्बचस्तत्संयोजना-सत्यम् । द्वात्रिंशज्जनपदेष्वगार्यानार्यभेदेषु धर्मार्थकाममोक्षाणां प्रापकं यद्बचस्तज्जनपद-सत्यम् । ग्रामनगरराजगणपाण्डुजातिखिलादिधर्मिणां संयतासंयतस्य वा स्वगुणपरिपालनार्थं छत्रज्ञानस्य द्रव्ययाथात्म्यादर्शनेऽपि संयतस्य संयतासंयतस्य वा स्वगुणपरिपालनार्थं प्रासुकमिदमप्रासुकमिदमित्यादि यद्बचस्तद्भ्रातृवसत्यम् । प्रतिनियतपशूतयद्रव्यपर्यायाणा-सागमगम्यानां याथात्म्याविष्करणं यद्बचस्तत्समयसत्यम् ।

आदपवादं सोलसण्हं वत्थूणं १६ वीसुत्तर-ति-सय-पाहुडाणं ३२० छवीस-कोडि-पदेहि २६०००००० आदं वण्णेदि वेदे ति वा विण्हु ति वा भोत्ते ति वा बुद्वे ति वा इच्चादि-सरूवेण । उत्तं च—

जीवो कत्ता य वत्ता य पाणी भोत्ता य पोगलो ।

वेदो विण्ह सयमू य सरीरो तह माणवो ॥ ८१ ॥

कहते हैं । सादि और अनादिरूप औपशमिक आदि भावोंकी अपेक्षा जो वचन बोला जाता है उसे प्रतित्यसत्य कहते हैं । लोकोमें जो वचन संश्रुति अर्थात् कल्पनाके आश्रित बोले जाते हैं उन्हें संश्रुतिसत्य कहते हैं । जैसे, पृथिवी आदि अनेक कारणोंके रहने पर भी जो पुरु अर्थान् कीचइमें उत्पन्न होता है उसे पंकज कहते हैं इत्यादि । धूपके सुगन्धी चूर्णके अबुलेपन और प्रघर्षणके समय, अथवा पद्म, मकर, हंस, सर्वतोभद्र और कौंच आदिरूप व्यूहचरनाके समय सचेतन अथवा अचेतन द्रव्योंके विभागानुसार विधिपूर्वक रचनाविशेषके प्रकाशक जो वचन हैं उन्हें संयोजनासत्य कहते हैं । अर्थ और अनार्यके भेदसे बत्तीस देशोंमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके प्राप्त करनेवाले वचनको जनपदसत्य कहते हैं । ग्राम, नगर, राजा, गण, पाण्डु, जाति और कुल आदिके धर्मोंके उपदेश करनेवाले जो वचन हैं उन्हें देशसत्य कहते हैं । छत्रस्थोंका जान यद्यपि द्रव्यकी यथार्थताका निश्चय नहीं कर सकता है तो भी अपने गुण अर्थात् धर्मके पालन करनेके लिये यह प्रासुक है, यह अप्रासुक है इत्यादि रूपसे जो सत्य और शावकके वचन हैं उन्हें भावसत्य कहते हैं । आगमगम्य प्रतिनियत छत्र प्रकारकी द्रव्य और उनकी पर्यायोंकी यथार्थताके प्रगट करनेवाले जो वचन हैं उन्हें समयसत्य कहते हैं ।

आत्मप्रवादपूर्व सोलह वस्तुगत तीनसौ बीस प्राश्रुतोंके छत्रवसि करोड पदोंद्वारा जीव वेत्ता है, विण्णु है, भोक्ता है, बुद्ध है, इत्यादि रूपसे आत्मना वर्णन करता है । कहा भी है—  
जीव कर्ता है, वक्ता है, प्राणी है, भोक्ता है, पुद्गलरूप है, वेत्ता है, विण्णु है, स्वयंमू है,



सत्ता जहू य माणी य माई जोगी य सकडो ।

असकडो' य खेतण्हू अतरप्पा तहेव य' ॥ ८२ ॥

एदेसिमत्थो बुच्चदे । तं जहा, जीवदि जीविस्सदि पुब्बं जीविदो त्ति जीवो' । सुहम-  
सुहं करोदि त्ति कत्ता' । सच्चमसच्चं संतमसंतं वददीदि वत्ता । पाणा एयस्स संति त्ति  
पाणी' । अमर-णर-तिरिय-णारय-भेएण चउव्विहे संसारे कुसलमकुसलं भुजंदि त्ति भोत्ता' ।  
छव्विह-संठाणं बहुविह-देहेहि पूरदि गलदि त्ति पोगलो' । सुय-दुक्खं वेदेदि त्ति वेदो,  
वेत्ति जानतीति वा वेद' : । उपात्तेदं व्याप्पोतीति विष्णु' : । स्वयमेव भूतवानिति

शरीरी है, मानव है, सत्ता है, जन्तु है, मानी है, मायावी है, योगसहित है, सकुट है, असंकुट  
है, क्षेत्रज्ञ है और अन्तरात्मा है ॥ ८१-८२ ॥

आगे इन्ही दोनों गाथाओंका अर्थ कहते हैं । वह इसप्रकार है, जीता है, जीवित  
रहेगा और पहले जीवित था, इसलिये जीव है । शुभ और अशुभ कार्यको करता है, इसलिये कर्ता  
है । सत्य-असत्य और योग्य अयोग्य वचन बोलता है, इसलिये वक्ता है । इसके दश प्राण पाये  
जाते हैं इसलिये प्राणी है । देव, मनुष्य तिर्यच और नारकीके भेदसे चार प्रकारके संसारमें  
पुण्य और पापका भोग करता है, इसलिये भोक्ता है । नाशप्रकारके शरीरोंके द्वारा छह प्रकारके  
संस्थानको पूर्ण करता है और गलाता है, इसलिये पुष्ट है । सुख और दुःखका वेदन करता  
है, इसलिये वेद है । अथवा, जानता है, इसलिये वेद है । प्राप्त हुए शरीरको व्याप्त करता है,

१ ' वेदो' स्थाने ' वेदी', ' सकडो', स्थाने ' सकुडो', ' स्थाने ' अमकुडो' पाठ ।

२ गाथाद्वयान्तर्गता ' च' शब्दा उक्तानुक्तमपुत्र्यार्था वेदितव्या । तत कारणान व्यवहाराश्रयेण  
कर्मनोक्तमूर्तव्यव्यादिसम्बन्धेन मूर्ते, निश्चयनयाश्रयेणापूर्ते इत्यादय आत्मधर्मा समुचीयन्ते । गो जी, जी, प्र,  
टी ३६६

३ जीवति व्यवहारेण दशप्राणात् निश्चयनेन केवलज्ञानदर्शनमप्यकम्बरूपवि प्राणाश्च धारयति जीविष्यति  
जीवितपूर्वश्चेति जीव । गो जी, जी प्र, टी ३६६

४ व्यवहारेण शुभाशुभ कर्म, निश्चयेन चित्तपर्यायांश्च करोतीति कर्ता । गो जी, जी, प्र, टी ३६६

५ व्यवहारेण सत्यमसत्य च वक्तोति वक्ता, निश्चयेनामत्ता । गो जी, जी प्र, टी ३६६

६ नयद्वयौक्तप्राणा सत्यरूपेति प्राणी । गो जी, जी प्र, टी ३६६

७ व्यवहारेण शुभाशुभकर्मफल, निश्चयेन स्वस्वरूप च भुक्ते अशुभवताति भोक्ता । गो जी, जी प्र,  
टी ३६६

८ व्यवहारेण कर्मनोक्तमपुष्टलान् पूरयति गालयति चेति पुष्टल, निश्चयेनापुष्टल । गो जी, जी प्र, टी ३६६

९ नयद्वयेन लोकालोकगत निकालगोचर सर्वं वेत्ति जानतीति वेद । गा जी, जी प्र, टी ३६६

१० व्यवहारेण स्तोपात्तेदं समुद्भाते सर्वलोक, निश्चयेन ज्ञानेन सर्वं वेत्ति व्याप्नोतीति विष्णु । गो जी,  
जी प्र, टी ३६६

स्वयम्भू' : शरीरमेयस्स अत्थि त्ति शरीरी' । मनुः ज्ञानं, तत्र भव इति मानवः' । सजण-  
संबंध-मित्त-चग्गादिसु संजदि त्ति सत्ता' । चउग्गाइ-संसारे जायदि जणयदि त्ति जंतू' ।  
माणो एयस्स अत्थि त्ति माणी' । माया अत्थि त्ति मायी' । जोगो अत्थि त्ति जोगी' ।  
अइसण्ह देह-पमाणेण संकुडदि त्ति संकुडो' । सव्वं लोमागासं त्रियापदि त्ति असंकुडो' ।  
क्षेत्रं स्वस्वरूपं जानतीति क्षेत्रज्ञ' : अट्ट-कम्मवम्भंतरो त्ति अंतरप्पा ।

इसलिये विष्णु है । स्वतः ही उत्पन्न हुआ है, इसलिये स्वयम्भू है । संसार अवस्थामें इसके  
शरीर पाया जाता है, इसलिये शरीरी है । मनु ज्ञानको कहते हैं । उसमें यह उत्पन्न हुआ है,  
इसलिये मानव है । स्वजनसंघन्धी भिन्न आदि वर्गमें आसक्त रहता है, इसलिये सत्ता है । चार  
गतिरूप संसारमें उत्पन्न होता है, इसलिये जन्तु है । इसके मानकगण पाई जाती है, इसलिये  
मानी है । इसके मायाकगण पाई जाती है इसलिये मायी है । इसके तीन योग होते हैं, इसलिये  
योगी है । अतिसूक्ष्म देह मिलनेसे संकुचित होता है इसलिये संकुट है । संपूर्ण लोकाकारको  
व्याप्त करता है, इसलिये असंकुट है । लोकालोकरूप क्षेत्रज्ञो और अपने स्वरूपको जानता है,  
इसलिये क्षेत्रज्ञ है । आठ कर्मके भीतर रहता है इसलिये अन्तरात्मा है ।

१ यद्यपि व्यवहारेण सर्वशास्त्र मते मन माति परिणमति, तथापि निश्चयेन सप्त मन्त्रिभेदेन मानदर्शनेन-  
स्वरूपेण मनवति परिणमति इति सारम्भू । गो जी., जी प्र, टी ३६६.

२ व्यवहारेण औदारिकदिशरारिसस्यास्ताति शरीरी, निश्चयेनाशरीर- । गो जी, जी प्र, टी ३६६

३ व्यवहारेण मानत्रादियर्यापणितो मानव उपलक्षणधारक तिरिहू देवप । निश्चयेन मनो ज्ञाने मन  
मानव । गो जी, जी प्र, टी ३६६

४ व्यवहारेण सज्जनमि तादिपरिमिश्रेणु मज्जतीति सत्ता, निश्चयेनामत्ता । गो जी, जी प्र, टी ३६६

५ व्यवहारेण चतुर्गतिगमारे नानायोनित्तु जानत इति जन्तु मसारीर्यर्थ । निश्चयेनाजन्तु । गो जी,  
जी प्र, टी ३६६

६ व्यवहारेण मानोऽहोऽहोऽहोऽहो मज्जतीति मानो, निश्चयेनामानो । गो जी, जी प्र, टी ३६६

७ व्यवहारेण नाया वचना अस्यान्तीति मायी, निश्चयेनामायी । गो जी, जी प्र, टी ३६६

८ व्यवहारेण योग कयवाइसन कर्मास्सास्तीति योगी, निश्चयेनायोगी । गो जी, जी प्र, टी ३६६

९, १० व्यवहारेण सूक्ष्मनिर्गोदलव्यपण्यात्तारसर्वलोकव्यशरीरप्रमाणेन सकुटति सक्तु-विसृष्टदेशो भवतीति समुट,  
समुद्भाते सर्वलोक व्याप्नोतीति अयमुट । निश्चयेन प्रदेशसहरावसर्पणाभावाद्दुष्पत्त निश्चिदुनचरत्सहरारमण  
इत्यर्थ । गो जी, जी प्र, टी ३६६

११ नयद्वयेन क्षेत्र लोकालोक स्वस्वरूप च जानतीति क्षेत्रज्ञ । गो जी, जी प्र, टी ३६६

१२ व्यवहारेण अष्टकर्मण्यन्तस्वचित्स्वमानत्वात्, निश्चयेन चेतन्यान्तस्वचित्स्वमानत्वात् अन्तरात्मा ।  
गो जी, जी प्र, टी ३६६





एत्य किमुष्णायुष्वादो, किमगेणियादो ? एवं पुञ्चा सन्वेमि । गो उल्पाय-  
पुञ्वादो, एवं वारणा सन्वेसि । अगेणियादो । तस्स अगेणियस्स पंचविहो उवकमो,  
आणुपुञ्ची णामं पमाणं वतव्वदा अत्थाहियारो चेदि । आणुपुञ्ची तिविहा, पुञ्चाणुपुञ्ची  
पञ्चाणुपुञ्ची जत्यतथाणुपुञ्ची चेदि । एत्य पुञ्चाणुपुञ्चीए गणिज्जमाणे विडियादो,  
पञ्चाणुपुञ्चीए गणिज्जमाणे वेरसमादो, जत्यतथाणुपुञ्चीए गणिज्जमाणे अगेणियादो ।  
अंगाणमग्ग-यदं वण्णेदि ति अगेणियं गुणणामं । अक्खर-पद-मंघाट-पडिच्चि-अणि-  
योगादोहि संखेज्जमत्थदो अणंतं । वतव्वदा ससमयवतव्वदा ।

अत्थाधियारो चोदसविहो । तं जहा, पुञ्चिते अवरो भूवे अदुवे चणलदो अदुवमं  
पणिधिकप्पे अट्टे भोम्मावयादीए सव्वट्टे कप्पिज्जमाणे तीदि अणागय-काले निज्जाए  
वज्जाए ति चोदस वरूणि । एत्य किं पुञ्चत्तादो, किं अवरत्तादो ? एवं पुञ्चा सन्वेमि  
कायव्वा । गो पुञ्चत्तादो गो अवरत्तादो, एवं वारणा सन्वेमि कायव्वा । चणलदोदो ।

इस जीवस्थान शाल्रमं क्या उत्पादपूर्वमे प्रयोजन हे. क्या अप्रायणीयपूर्वमे प्रयोजन  
हे? इसतरह सबके विषयमें पूछा करनी चाहिये। यहां पर न तो उत्पादपूर्वमे प्रयोजन हे, और  
न दूसरे पूर्वमे प्रयोजन हे इसतरह सबका निषेध करते यहां पर अप्रायणीयपूर्वमे प्रयोजन हे,  
इसतरहका उत्तर देना चाहिये।

उस अप्रायणीयपूर्वके पात्र उपक्रम हे, आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, यत्नयत्ना और अर्थो-  
धिकार । पूर्वानुपूर्वी, पदवादाणुपूर्वी और यथातयाणुपूर्वीके भेदमे आनुपूर्वी तीन प्रकारकी हे।  
यहां पर पूर्वानुपूर्वीसे गिनती करते पर दूसरेसे, पदवादाणुपूर्वीसे गिनती करते पर तेरहवसे  
और यथातयाणुपूर्वीसे गिनती करते पर अप्रायणीयपूर्वमे प्रयोजन हे । अंगोंके प्रथ अर्थो-  
प्रधानभूत पदार्थोंका वर्णन करनेवाला होनेके कारण ' अप्रायणीय ' यह गोप्यनाम हे । अक्षर,  
पद, संघात, प्रतिपत्ति और अनुयोगरूप द्वालोंकी अपेक्षा संघात और अर्थोंकी अपेक्षा अनन्तरूप  
हे । इसमें स्वसमयका ही कथन किया गया हे, इसलिये स्वस्मयवत्त्वयत्ता हे ।

अप्रायणीयपूर्वके अर्थधिकार जोरह प्रकारके हे । ये इसप्रकार हे, पूर्वोक्त अपरान्त  
धुव, अधुव, चयनलक्षि, अर्थोपम, प्रणधिकल्प अर्थ, सोम, तत्तादिक, सर्वार्थ, कल्पविशाल,  
अतीतकालमें सिद्ध और बद्ध, अनागतकालमें सिद्ध और बद्ध । इनमेंसे यहां पर क्या पूर्वान्तमे  
प्रयोजन हे, क्या अपरान्तसे प्रयोजन हे? इसतरह सबके विषयमें पूछा करनी चाहिये। यहां  
पर पूर्वान्तसे प्रयोजन नहीं, अपरान्तसे प्रयोजन नहीं, इत्यादि रूपमे सबका निषेध कर देना  
चाहिये। किन्तु चयनलक्षिये यहां पर प्रयोजन हे इसप्रकार उत्तर देना चाहिये। चयनलक्षिका

' पूर्वोक्त कप्यात् धुवमधुवश्चयनलक्षियनामानि । अधुव मन्निधि तावत् भोमावयाए ( ? ) व ॥  
मर्थोपम-पत्तीय भानवतीत तनागत तावत् । निद्विष्याप्य न तथा चूर्द्धा एगुति त्रिभिग्व ॥ २ म ५ २-३.

तस्म उपक्रमो पंचविहो, आणुपुञ्ची णामं पमाणं वतव्वदा अत्थाहियारो चेदि ।  
तत्य आणुपुञ्ची तिविहा, पुञ्चाणुपुञ्ची पञ्चाणुपुञ्ची जत्यतथाणुपुञ्ची चेदि । एत्य  
पुञ्चाणुपुञ्चीए गणिज्जमाणे पंचमादो, पञ्चाणुपुञ्चीए गणिज्जमाणे दनमादो, जत्य-  
तथाणुपुञ्चीए गणिज्जमाणे चणलदोदो । णामं चयण-निहिं लद्धि-विहिं च उण्णेदि  
तेण चयणलद्धि ति गुणणामं । पमाणमक्खर-पद-मंघाट-पडिच्चि-अणियोगादोहि  
मंवेज्जमत्थदो अणंतं । वतव्वदा ससमयवतव्वदा । अत्थाधियारो नीमट्टिविहो ।  
एत्य किं पदम-पाहुडदो, किं त्तिदिय-पाहुडदो ? एवं पुञ्चा सन्वेमि जेयव्वा । गो पदम-  
पाहुडदो गो त्तिदिय-पाहुडदो, एवं वारणा सन्वेमि जेयव्वा । चउन्य-पाहुडदो ।  
तस्स उपक्रमो पंचविहो, आणुपुञ्ची णामं पमाणं वतव्वदा अत्थाहियारो चेदि । तत्य  
आणुपुञ्ची तिविहा, पुञ्चाणुपुञ्ची पञ्चाणुपुञ्ची जत्यतथाणुपुञ्ची चेदि । पुञ्चाणुपुञ्चीए  
गणिज्जमाणे चउत्थादो, पञ्चाणुपुञ्चीए गणिज्जमाणे नत्तारमादो, जत्यतथाणुपुञ्चीए  
गणिज्जमाणे कम्मपयडिपाहुडदो । णामं कम्मालं पयडि-मच्छं उण्णेदि तेण कम्म-  
पयडिपाहुडे ति गुणणामं । जेयनत्तभिगवाण्डे नि ति तस्म त्तिदियं णाममलिय ।

उपक्रम पात्र प्रकारका हे, आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, यत्नयत्ना और अर्थधिकार । पूर्वानुपूर्वी,  
पदवादाणुपूर्वी और यथातयाणुपूर्वीके भेदमे आनुपूर्वी तीन प्रकारकी हे । उन तीनोंमेंसे, यहां-  
पर पूर्वानुपूर्वीसे गिनती करते पर पांचवसे अर्थधिकारमे, पदवादाणुपूर्वीसे गिनती करते पर  
दसवसे अर्थधिकारमे और यथातयाणुपूर्वीसे गिनती करते पर चयनलक्षिय नामके अर्थो-  
धिकारमे प्रयोजन हे । यह अर्थधिकार चयनलक्षिय और लक्षियविषिका वर्णन करता हे,  
इसलिये चयनलक्षिय यह गोप्यनाम हे । अक्षर, पद, संघात, प्रतिपत्ति और अनुयोगरूप द्वालोंकी  
नयेक्षा संघात तथा अर्थोंकी अपेक्षा अनन्तप्रमाण हे । स्वस्मययत्नयत्ता हे। स्वस्मययत्नयत्ता होनेके  
कारण यहां पर स्वस्मययत्नयत्ता हे । चयनलक्षियके अर्थधिकार गोम प्रकारके हे । उनमेंसे  
यहां सेना प्रथम प्रयोजन हे, क्या दूसरे प्रयोजन हे! इसतरह सबके  
विषयमें पूछा करनी चाहिये। यहां पर प्रथम प्रयोजनसे प्रयोजन नहीं हे, दूसरे प्रयोजनसे प्रयो-  
जन नहीं हे, इसप्रकार सबका निषेध कर देना चाहिये। किन्तु यहां पर चौथे प्रायणमे प्रयोजन  
हे, येना उत्तर देना चाहिये।

उपका उपक्रम पांच प्रकारका हे, आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, यत्नयत्ना और अर्थधिकार ।  
उनमेंसे, पूर्वानुपूर्वी, पदवादाणुपूर्वी और यथातयाणुपूर्वीके भेदमे आनुपूर्वी तीन प्रकारकी हे ।  
यहां पर पूर्वानुपूर्वीसे गिनती करते पर चौथे प्रायणमे, पदवादाणुपूर्वीसे गिनती करते पर दसवसे  
प्रायणमे और यथातयाणुपूर्वीसे गिनती करते पर कम्मपयडिपाहुडदोसे प्रयोजन हे । यह कम्मोंकी  
प्रकृतियोंके स्वरूपका वर्णन करता हे, इसलिये कम्मपयडिपाहुडदो यह गोप्यनाम हे । इसका  
' वेरुताहत्तव्याधुव ' यह दूसरा नाम भी हे । कम्मोंके उत्तरको करना कहते हे । उपका यह

वेद्यना कस्मान्मुद्रयो तं कस्मिन् गिरवसेसं वपेदि, अदो वेद्यकसिणपाहुडमिदि पद्ममि गुणणामसेव । पमाणमक्खर-पय-संधाय-पडिवत्ति-अणियोगद्वारेहि संखेज्ज-मत्यदो अणंतं । वत्तवं ससमयो । अत्थाहियारो चउवीसदिविहो । तं जहा, कदी वेदणाए फासे कम्मे पयडी सुबंधणे गिबंधणे पक्कमे उवकमे उदए मोक्खे संकमे लेस्सा लेस्सायम्मे लेस्सापरिणामे सादससादे दीहि रहस्से भवधारणीए पोगलत्ता णिधत्त-मणिधत्तं णिकाचिदमणिक्काचिदं कम्मट्ठिदी पच्चिमन्नबंधं ति । अप्पावहुंगं च सवत्थ, जेण चउवीसण्हमणियोगद्वाराणं साहारणो तेण पुह अहियारो ण होदि ति । एत्थ किं कदीदो, किं वेद्यनादो ? एवं पुच्छा सवत्थ कायन्वा । णो कदीदो णो वेद्यनादो, एवं वारणा सव्वेसिं णेयन्वा । बंधनादो । तस्स उवकमो पंचविहो, आणुपुन्वी णामं पमाणं वत्तवदा अत्थाहियारो चेदि । तत्थ आणुपुन्वी तिविहा, पुन्वाणुपुन्वी पच्छाणुपुन्वी जरथतत्थाणुपुन्वी चेदि । तत्थ पुन्वाणुपुन्वीए गणिज्जमाणे छट्टादो, पच्छाणुपुन्वीए

निरयोपपरूपसे वर्णन करता है, इसलिये वेदनादृक्त्वप्राप्त यह भी गौण्यनाम है । यह अक्षर, पद, सधान, प्रतिपत्ति और अनुयोगरूप द्वारोंकी अपेक्षा सव्यातप्रमाण और अर्थकी अपेक्षा अन्तप्रमाण है । स्वसमयका ही कृत्य करनेवाला होनेके कारण इसमें स्वसमयवक्तव्यता है ।

कर्मप्रकृतिप्राभृतके अर्थधिकार चौवीस प्रकारके हैं वे इसप्रकार हैं । कृति, वेदना, स्पर्श, कर्म, प्रकृति, सुबन्धन, निबन्धन, प्रक्रम, उपक्रम, उदय, मोक्ष, संक्रम, लक्ष्या, लक्ष्याकर्म, लक्ष्यापरिणाम, सातअमात, दीर्घहस्त, भवधारणीय, पुद्गलत्व, निधत्त-अनिधत्त, निकाचित अनिकाचित, कर्मस्थिति और पञ्चिमस्सकथ । इन चौवीस अधिकारोंमें अल्पबहुत्व लगा लेना चाहिये, क्योंकि, चौवीस ही अधिकारोंमें अल्पबहुत्व साधारण अर्थात् समानरूपसे है । इसलिये अल्पबहुत्वनामका पृथक् अधिकार नहीं हो सकता है ।

यहां पर क्या कृतिसे प्रयोजन है, क्या वेदनासे प्रयोजन है ? इसतरह सन अधि-कारोंके विषयमें पृच्छा करनी चाहिये । यहाँ पर न तो कृतिसे प्रयोजन है, न वेदनासे ही प्रयोजन है, इसतरह सबका निषेध कर देना चाहिये । किन्तु बन्धन अधिकारसे प्रयोजन है, इसतरह उत्तर देना चाहिये । उस बन्धन नामके अधिकारका उपक्रम पांच प्रकारका है, आनु-पूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता और अर्थधिकार । उनमेंसे, पूर्वानुपूर्वी, पश्चानुपूर्वी और यथानयानुपूर्वीके भेदसे आनुपूर्वी तीन प्रकारकी हैं । उन तीनोंमेंसे, पूर्वानुपूर्वीसे गिननेपर

१ पानानुपूर्वीया इतराज्यागानामानि । इतिवदने तथेयं स्वर्शनकर्मं प्रवृत्तिमेव ॥ यथनन्तिसधन-परमाप न्यमथा-पुरामीमा । सन्तदेशे च तथा लेशयाया नमोपगामो ॥ सातममात दीवं न्दस भव भागीय-या ॥ १२५०॥ यथा च नि तमनिभक्तमपिनामि ॥ गिनाचित्तमिकाचिणप त्मीथित्तिपप्रिस्सकमो । अप्पावहुंगं तं वेदनायां ननुनिष्प ॥ २५ म १ ९

गणिज्जमाणे एरणवीसदिमादो, जरथतत्थाणुपुन्वीए गणिज्जमाणे बंधनादो । णामं बंध-वणणादो बंधणो ति गुणणामं । पमाणमक्खर-पय-संधाद-पडिवत्ति-अणियो-गद्वारेहि संखेज्जमत्यदो अणंतं । वत्तवदा ससमयवत्तवदा । अत्थाहियारो चउव्विहो । तं जहा, बंधो बंधणो बंधणिज्जं बंधविधाणं चेदि । एत्थ किं बंधादो ? एवं पुच्छा सव्वेसिं कायन्वा । णो बंधादो णो बंधणिज्जादो । बंधनादो बंधविधाणादो च । एत्थ बंधणे ति अहियारस एक्कारस अणियोगद्वाराणि । तं जहा, एगजीवेण ममिचं एगजी-वेण कालो एगजीवेण अंतरं गणजाजीवेहि भंगविचयो दव्वपमाणानुगमो खेत्ताणुगमो पोसणानुगमो णाणाजीवेहि कालानुगमो णाणाजीवेहि अंतराणुगमो भागाभागाणु-गमो अप्पावहुगाणुगमो चेदि । एत्थ किं एगजीवेण सामिचादो ? एवं पुच्छा सव्वेसिं । णो एगजीवेण सामिचादो, एवं वारणा सव्वेसिं । पंचमादो । दव्वपमाणो दव्वपमाणा-णुगमो गिग्गदो ।

छटे अधिकारसे, पश्चानुपूर्वीसे गिननेपर उन्नीसवें अधिकारसे और यथातथापुपूर्वीसे गिननेपर बन्धन नामके अधिकारसे प्रयोजन है । यह बन्धन नामका अधिकार बन्धका वर्णन करता है, इसलिये इसका 'बन्धन' यह गौण्यनाम है । यह अक्षर, पद, सधात, प्रतिपत्ति और अनुयोगरूप द्वारोंकी अपेक्षा सव्यातप्रमाण और अर्थकी अपेक्षा अन्तप्रमाण है । स्वसमयका वर्णन करनेवाला होनेसे इसमें स्वसमयवक्तव्यता है ।

इसके अर्थधिकार चार प्रकारके हैं, बन्ध, वन्धक, बन्धनीय और वन्धविधान । यहाँपर क्या बन्धसे प्रयोजन है ? इत्यादि रूपसे चारों अधिकारोंके विषयमें पृच्छा करनी चाहिये । यहाँपर बन्धसे प्रयोजन नहीं है और बन्धनीयसे भी प्रयोजन नहीं है, किन्तु बन्धक और बन्धविधानसे यहाँपर प्रयोजन है ।

इन वन्ध आदि चार अधिकारोंमेंसे बन्धक इस अधिकारके ग्यारह अनुयोगद्वार हैं । वे इसप्रकार हैं, एक जीवकी अपेक्षा स्वामित्वानुगम, एक जीवकी अपेक्षा कालानुगम, एक जीवकी अपेक्षा अन्तरानुगम, नाना जीवोंकी अपेक्षा भंगविचयानुगम, द्रव्यप्रमाणानुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शानुगम, नाना जीवोंकी अपेक्षा कालानुगम, नाना जीवोंकी अपेक्षा अन्तरानुगम, भागाभागाणुगम और अल्पबहुत्वानुगम । यहाँपर क्या एक जीवकी अपेक्षा स्वामित्वानुगमसे प्रयोजन है ? इत्यादि रूपसे ग्यारह अनुयोगद्वारोंके विषयमें पृच्छा करनी चाहिये । यहाँपर एक जीवकी अपेक्षा स्वामित्वानुगमसे प्रयोजन नहीं है, इत्यादि रूपसे सबका निषेध भी कर देना चाहिये । किन्तु यहाँ पांचवे द्रव्यप्रमाणानुगमसे प्रयोजन है, इसप्रकार उत्तर देना चाहिये ।

इस जीवस्थान शास्त्रमें जो द्रव्यप्रमाणानुगम नामका अधिकार है, वह इस बन्धक नामके अधिकारके द्रव्यप्रमाणानुगम नामके पांचवे अधिकारसे निकला है ।

बंधविहाणं च उच्यते । तं जहा, पयडिबंधो द्विदिबंधो अणुभागबंधो पदेसबंधो चेदि । तस्य जो सो पयडिबंधो सो दुविहो, मूलपयडिबंधो उत्तरपयडिबंधो चेदि । तस्य जो सो मूलपयडिबंधो सो थप्यो । जो सो उत्तरपयडिबंधो सो दुविहो, एगेगुत्तरपयडिबंधो अब्बोगाडउत्तरपयडिबंधो चेदि । तस्य जो सो एगेगुत्तरपयडिबंधो तस्स चउर्वसि अणियोगद्वाराणि गादन्वाणि भवन्ति । तं जहा, समुक्तिचणा सन्धबंधो णोसन्धबंधो उक्कस्सबंधो अणुक्कस्सबंधो जहणबंधो अजहणबंधो सादियबंधो अणादियबंधो धुवबंधो अद्भुवबंधो बंधसामित्तविचयो बंधकालो बंधतरं बंधसण्णियासो णाणाजीविहि भंगविचयो भागाभागानुगमो परिसाणानुगमो खेत्तानुगमो पोसणानुगमो कालानुगमो अंतरानुगमो भावानुगमो अप्पावहुगणुगमो चेदि । एदेसु समुक्तिचणादो पयडिसमुक्तिचणा द्वणसमुक्तिचणा तिणि महादंडया णिगया । तेवीसदिमादो भावो णिगदो । जो सो अब्बोगाडउत्तरपयडिबंधो सो दुविहो, युजगारबंधो पयडिद्वणबंधो चेदि । जो सो युजगारबंधो तस्स अट्ट अणियोगद्वाराणि सो थप्यो । जो सो पयडिद्वणबंधो तस्य इमाणि अट्ट अणियोगद्वाराणि । तं जहा, संतपरुवणा द्वयप्रमाणानुगमो खेत्तानुगमो पोसणानुगमो कालानुगमो अंतरानुगमो भावानुगमो अप्पावहुगणुगमो चेदि । एदेसु अट्टसु अणियोगद्वारेसु छ अणियोगद्वाराणि णिगयाणि । तं जहा, संतपरुवणा

बन्धविधान चार प्रकारका हैं, प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध, और प्रदेशबन्ध । उन चार प्रकारके बन्धमेंसे मूलप्रकृतिबन्ध और उत्तरप्रकृतिबन्धके भेदसे प्रकृतिबन्ध दो प्रकारका है । उनमेंसे, मूलप्रकृतिबन्धका वर्णन स्थिति करनेके उत्तरप्रकृतिबन्धके भेदका वर्णन करते हैं । वह उत्तरप्रकृतिबन्ध दो प्रकारका है, एकैकोत्तरप्रकृतिबन्ध और अब्बोगाड उत्तरप्रकृतिबन्ध । उनमेंसे जो एकैकोत्तरप्रकृतिबन्ध है उसके चौबीस अनुयोगद्वार होते हैं । वे इसप्रकार हैं, समुत्कीर्तन, सर्वबन्ध, नोसर्वबन्ध, उत्तरप्रबन्ध, अल्लुप्रबन्ध, जयव्यबन्ध, अजयव्यबन्ध, सादिवन्ध, अनादिवन्ध, धुवबन्ध, अद्भुवबन्ध, बन्धत्तामित्त्वित्तय, बन्धकाल, बन्धान्तर, बन्धसाक्षिकर्म, नाना जीवोंकी अपेक्षा शंगविचय, भागभागानुगम, परिमाणानुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शानुगम, कालानुगम, अन्तरानुगम, भावानुगम, और अल्पबहुत्वानुगम । इन चौबीस अधिकारोंमें जो समुत्कीर्तन नामका अधिकार है उसमेंसे प्रकृतिसमुत्कीर्तना, स्थानसमुत्कीर्तना और तीन महादण्डक निकले हैं और तेविसैंव भावानुगमसे भावानुगम निकला है ।

जो अब्बोगाड उत्तरप्रकृतिबन्ध है वह दो प्रकारका है, युजगारबन्ध और प्रकृतिस्थानबन्ध । उनमेंसे, युजगारबन्धके आठ अनुयोगद्वारोंके वर्णनको स्थिति करनेके प्रकृतिस्थानबन्धमें जो आठ अनुयोगद्वार होते हैं उनका वर्णन करते हैं । वे इसप्रकार हैं, सत्यप्रमाण, द्रव्यप्रमाणानुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शानुगम, कालानुगम, अन्तरानुगम, भावानुगम और अल्पबहुत्वानुगम । इन आठ अनुयोगद्वारोंमेंसे छह अनुयोगद्वार निकले हैं । वे इसप्रकार हैं, सत्यप्रमाण, क्षेत्रप्रमाण,

खेत्तपरुवणा पोसणपरुवणा कालपरुवणा अंतरपरुवणा अप्पावहुगणरुवणा चेदि । एदाणि छ पुविह्याणि दोणि एकदो भेलिदे जीवद्वणस्प अट्ट अणियोगद्वाराणि हवन्ति । पयडिद्वणबंधे बुत्त संतादि-छ-अणियोगद्वाराणि पयडिद्वणबंधस्स बुत्ताणि । पुणो जीवद्वणस्स संतादि-छ-अणियोगद्वाराणि चोदमण्हं गुणद्वणागं बुत्ताणि । कथं तेहितो एदाणमवदारो ति ? ण एस दोसो, एदस्स पयडिद्वणस्स बंधया मिच्छाड्डी अस्थि । एदस्स पयडिद्वणस्स बंधया मिच्छाड्डी एवदि खेत्ते । एदस्स पयडिद्वणस्स बंधया मिच्छाड्डी एवदियं खेत्तं पोसिदं । एदस्स पयडिद्वणस्स बंधया मिच्छाड्डी तं मिच्छत्त-गुणमच्छंता जहणेण एत्तियं कालमुक्कस्सेण एत्तियं कालमच्छंति । ताणमंतर-कालो जहणुक्कस्सेण एत्तियो होदि । एवं सेसगुणद्वानं च भणिऊग पुणो ताणमप्पावहुगं उत्तं । तेण तेहि पयडिद्वणमिह उत्त-छहि अणियोगद्वारेहि सह एगत्तं ण विरुज्जेदे ।

स्पर्शनप्ररूपणा, कालप्ररूपणा, अन्तरप्ररूपणा और अल्पबहुत्वप्ररूपणा । ये छह और बन्धक अधिकार के ग्यारह अधिकार हैं, उनमेंके द्रव्यप्रमाणानुगममेंसे निकला हुआ द्रव्यप्रमाणानुगम तथा एकैकोत्तरप्रकृतिबन्धके जो चौबीस अधिकार हैं उनमेंके तेवीसैंव भावानुगममेंसे निकला हुआ भावप्रमाणानुगम, इसतरह इन सबको एक जगह मिला देने पर जीवस्थानके आठ अनुयोगद्वार हो जाते हैं ।

शंका—प्रकृतिस्थानबन्धमें जो छह अनुयोगद्वार कहे गये हैं, वे प्रकृतिस्थानबन्धसंबन्धी कहे गये हैं । और जीवस्थानके जो सत्यप्रमाण आदि छह अनुयोगद्वार हैं वे गुणस्थानसंबन्धी कहे गये हैं । ऐसी कालमें प्रकृतिस्थानबन्धसंबन्धी छह अनुयोगद्वारोंमेंसे जीवस्थानसंबन्धी छह अनुयोगद्वारोंका अवतार कैसे हो सकता है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, इस प्रकृतिस्थानके बन्धक मिथ्यादृष्टि जीव हैं । मिथ्यादृष्टि जीव इतने क्षेत्रमें इस प्रकृतिस्थानके बन्धक होते हैं । इस प्रकृतिस्थानके बन्धक मिथ्यादृष्टि जीवोंते इतना क्षेत्र स्पष्टी किया है । इस प्रकृतिस्थानके बन्धक मिथ्यादृष्टि जीव उन मिथ्यात्व गुणस्थानको नहीं छोड़ते हुए जयव्यकी अपेक्षा इतने कालतक और उत्तरप्रकृती अपेक्षा इतने कालतक मिथ्यात्व गुणस्थानमें रहते हैं । इस प्रकृतिस्थानके बन्धक मिथ्यादृष्टि जीवोंका जयव्य अन्तरकाल इतना और उत्तरप्र अन्तरकाल इतना होता है । इसीतरह शेष गुणस्थानोंका कथन करके फिर उनका अल्पबहुत्व कहा गया है । इसलिये उस प्रकृतिस्थानमें कहे गये छह अनुयोगद्वारोंके साथ जीवस्थानमें कहे गये छह अनुयोगद्वारोंका परस्पर अर्थात् समानता विरोधको प्राप्त नहीं होती है ।

विशेषार्थ—प्रकृतिस्थानबन्धमें सवादि छह अनुयोगोंका प्रकृतिस्थानकी अपेक्षा इतन है और इस जीवस्थानमें प्रकृतिस्थानके बन्धक मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानोंकी अपेक्षा सवादि छह अनुयोगोंका कथन है । इसलिये प्रकृतिस्थानके छह अनुयोगोंमेंसे जीवस्थानके छह अनुयोगोंकी उत्पत्ति विरोधको प्राप्त नहीं होती है ।

प्रथमतः द्रव्याण्ययोगस्य वि किं ण गहनं कीरदि चि उत्ते ण, मिच्छइडि-  
आदि-गुणद्राणेदि निणा एयस्य वंशद्राणस्य वंशया जीना एचिया इदि सामणेण वृत्त-  
नादो । मंणे उच-द्रव्याण्ययोगस्य गहनं कीरदि, तस्य वंशया मिच्छइड्डी एचिया  
सामणादिया एचिया इदि उचचादो । कथमजोगी-गुणद्राणस्य अवंशयास्य दब्ब-संखा  
पक्की पदि चि ण एत दोमो, भूद-पुब्ब-नाडमस्सिलण तस्स भणण-संशयादो । जीव-  
परि-अंत-वंशयासिलण उचमिदि वा । एत भासस वि वत्तवं । एवं जीवद्राणस्य  
अद्र अणियोगादा-परुणं कंदि ।

प्रकृतिस्थान अधिकारं कहे गये द्रव्यानुयोगका प्रवृण इत जीवस्थानमें क्यों नहीं  
किया है । अर्थान् प्रकृतिस्थान अधिकारके सदादि त्व अनुयोगोंमेंसे जिसप्रकार जीवस्थानके  
व्यतिरिक्त अनुयोगकारोंकी उत्पत्ति गतलाई है, उसीप्रकार प्रकृतिस्थानाधिकारके द्रव्यानु-  
योगोंमें जीवस्थानके द्रव्यानुयोगकी उत्पत्तिका कथन क्यों नहीं किया गया है । इसप्रकार की  
ज्ञान करने पर आचार्य उचर देते हैं कि ऐसी शंका करना ठीक नहीं है, क्योंकि, प्रकृति-  
स्थानके द्रव्यानुयोग अधिकारमें मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानोंकी अपेक्षाके विना ' इस वन्ध-  
स्थानके त-रत जीव इतने हैं ' ऐसा केवल सामान्यरूपसे कथन किया गया है । और वन्धक  
अनिवारके द्रव्यानुयोग प्रकरणमें इस प्रकृतिस्थानके वन्धक मिथ्यादृष्टि जीव इतने हैं, सासादन  
सम्यग्दृष्टि जीव इतने हैं ऐसा विशेषरूपसे कथन किया गया है । इसलिये वन्धक अधिकारमें  
कहे गये द्रव्यानुयोगका प्रवृण इस जीवस्थानमें किया है । अर्थात् वन्धक अधिकारके द्रव्यानुगम  
प्रकरणसे जीवस्थानका द्रव्यप्रमाणानुगम प्रकरण निकला है ।

शंका - अयोगी गुणस्थानमें कर्मप्रकृतियोंका वन्ध नहीं होता है, इसलिये उनके कर्म-  
प्रकृतिस्थानकी अपेक्षा द्रव्यसंख्या कैसे नहीं जावेगी ?

समाधान - यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, भूतपूर्व न्यायका आश्रय लेकर अयोगी  
गुणस्थानमें भी द्रव्यमत्प्राप्ता कथन संभव है । अर्थात् जो जीव पहले मिथ्यादृष्टि आदि  
गुणस्थानोंमें प्रकृतिस्थानोंके वन्धक थे वे ही अयोगी हैं । इसलिये अयोगी गुणस्थानमें भी  
द्रव्यमत्प्राप्ता प्रतिपादन किया जा सकता है । अथवा, जीवके सत्वरूप प्रकृतिस्थानका आश्रय  
लेकर अयोगी गुणस्थानमें द्रव्यसंख्याका प्रकरण किया गया है ।

भावानुगमका कथन भी इसीप्रकार समझ लेना चाहिये ।

विशेषार्थ - जीवस्थानकी भावरूपणा प्रकृतिस्थानके भावानुगममेंसे न निकल कर  
एकैकोत्तरप्रकृतिस्थानके जो चौबीस अधिकार हैं उनके तेरहसर्व भावानुगममेंसे निकली है ।  
इसका कारण यह है कि प्रकृतिस्थानके भावानुगममें भावोंका सामान्यरूपसे कथन है और  
एकैकोत्तरप्रकृतिस्थानके भावानुगममें भावोंका विशेषरूपसे कथन है । इसतरह जीवस्थानके  
भावा अनुयोगकारोंका निरूपण किया ।

तदो द्विदिवंधो दुविहो, मूलपरयडिद्विदिवंधो उत्तरपरयडिद्विदिवंधो चेदि । तस्य जो सो  
मूलपरयडिद्विदिवंधो सो थपो । जो सो उत्तरपरयडिद्विदिवंधो तस्स चउवीम अणियोगदा-  
राणि । तं जहा, अद्राछेदो तव्वंधो णोसव्वंधो उक्कससंधो अणुक्कससंधो जहणवंधो  
अजहणवंधो सादियवंधो अणादियवंधो वुवंधो अद्रुवंधो वंधसागित्तविचयो वंधकालो  
बंधंतरं बंधसणियासो णाणाजीवेहि भंगविचयो भागाभागाणुगमो परिमाणाणुगमो  
खेचाणुगमो पोसाणाणुगमो कालाणुगमो अंतराणुगमो भाताणुगमो अप्पानहुगाणुगमो  
चेदि । तस्य अद्राछेदो दुविहो, जहणगडिदिअद्राछेदो उक्कसडिदिअद्राछेदो चेदि ।  
जहणगडिदिअद्राछेदादो जहणगडिदी णिगदा । उक्कसडिदिअद्राछेदादो उक्कसडिदी  
णिगदा । पुणो सुत्तादो सम्मतुप्पची णिगया । वियाहपणचीदो गदिरागदी णिगदा ।  
संपहि पुवं उचपरयडिसमुक्कित्तणा द्वाणसमुक्कित्तणा तिण्णिण महाइडया एदाणं पंचण्ह-  
मुनरि संपहि पुंचुच-जहणगडिदिअद्राछेदं उक्कसडिदिअद्राछेदं सम्मनुप्पचिं गदि-  
रागदिं च पक्कित्ते चूलियाए णव अहियारा मंति । एदं सव्वमति मणेण अनहारिय  
' एत्तो ' इदि उचं भयवदा पुण्फर्यतेण ।

स्थितिवन्ध दो प्रकारका है, मूलप्रकृतिस्थितिवन्ध और उत्तरप्रकृतिस्थितिवन्ध । उचमेंने  
मूलप्रकृतिस्थितिवन्धका वर्णन स्थितिकारके जो उत्तरप्रकृतिस्थितिवन्धके चौबीस अनुयोगद्वार  
हैं उनका कथन करते हैं । वे इसप्रकार हैं, अर्धच्छेद, सर्ववन्ध, नोसर्ववन्ध, उत्कृष्टवन्ध,  
अनुकृष्टवन्ध, अवन्धवन्ध, अजघ्नप्रवन्ध, सादिवन्ध, अनादिवन्ध, ध्रुववन्ध, अधुववन्ध, नन्ध-  
स्वामित्तविचय, वन्धकाल, तन्वात्त, वन्धसन्निकर्ष, नाना जीवोंकी अपेक्षा भगविचय, भागा-  
भागाणुगम, परिमाणाणुगम, क्षेत्राणुगम, रपर्याणुगम, कालाणुगम, अन्तराणुगम, भावाणुगम  
और अल्पवहुत्वाणुगम । इनमें, अर्धच्छेद दो प्रकारका है, जघन्यस्थितिवन्ध-अर्धच्छेद और उत्कृष्ट-  
स्थितिवन्ध-अर्धच्छेद । इनमें जघन्यस्थितिवन्ध-अर्धच्छेदसे जघन्यस्थितिकाली निकली है और उत्कृष्टस्थिति-  
अर्धच्छेदसे उत्कृष्टस्थितिकाली है । सूत्रसे सम्यक्त्वोत्पत्ति नामका अधिकार निकला है और  
व्याख्याप्रबन्धसे गति आगति नामका अधिकार निकला है ।

अब नौ चूलिकाओंका उत्पत्तिक्रम बतते हैं, पहले जो एकैकोत्तरप्रकृति अधिकारके  
समुत्कीर्तना नामके प्रथम अधिकारसे प्रकृतिसमुत्कीर्तना, स्थानसमुत्कीर्तना और तीन महा-  
वृण्डोंके निकलनेका उल्लेख कर आये हैं, उन पाँचोंमें अभी कहे गये जघन्यस्थितिवन्ध-अर्धच्छेद,  
उत्कृष्टस्थितिवन्ध-अर्धच्छेद, सम्यक्त्वोत्पत्तिकार और गति-आगति इन चार अधिकारोंके मिला देने पर  
चूलिकाके नौ अधिकार हो जाते हैं । इस समस्त कथनको मनमें निश्चय करके भगवान् पुण-  
वन्धने ' एत्तो ' इत्यादि सूत्र कहा ।



‘इमेसि’ एतेषाम् । न च प्रत्यक्षनिर्देशोऽनुपपन्नः आगमाहितसंस्कारास्वाचार्य-  
स्यापरोक्षचतुर्दशभावजीवसमासस्य तदविरोधात् । जीवाः समस्यन्ते एष्विति जीव-  
समासाः । चतुर्दश च ते जीवसमासाश्च चतुर्दशजीवसमासाः । तेषां चतुर्दशानां  
जीवसमासानां चतुर्दशगुणस्थानानामित्यर्थः । तेषां मार्गणा गवेषणमन्वेषणमित्यर्थः ।  
मार्गणा एवार्थः प्रयोजनं मार्गणार्थस्तस्य भावो मार्गणार्थता तस्यां मार्गणार्थतायाम् ।  
तस्यामिति तत्र । ‘इमानि’ इत्यनेन भावमार्गणास्थानानि प्रत्यक्षतीभूतानि निर्दिश्यन्ते ।  
नार्थमार्गणस्थानानि तेषां देशकालस्वभावविप्रकृष्टानां प्रत्यक्षतानुपपत्तेः । तानि च  
मार्गणस्थानानि चतुर्दशैव भवन्ति, मार्गणस्थानसंख्याया न्यूनाधिकभावप्रतिषेधफल  
एवकारः । किं मार्गणं नाम ? चतुर्दश जीवसमासाः सदादिविशिष्टाः मार्ग्यन्तेऽस्मिन्ननेन  
वेति मार्गणम् । उक्तं च —

‘एतो’ इत्यादि सूत्रमें जो ‘इमेसि’ पद आया है उससे जो प्रत्यक्षीभूत पदार्थका  
निर्देश होता है वह अनुपपन्न नहीं है, क्योंकि, जिनकी आत्मा आगमाभ्याससे संस्कृत है ऐसे  
आचार्यके भावरूप चौदह जीवसमास प्रत्यक्षीभूत हैं । अतएव ‘इमेसि’ इस पदके प्रयोग  
करनेमें कोई विरोध नहीं आता है । अनन्तान्त जीव और उनके भेद-प्रमेदोंका जिनमें संग्रह किया  
जाय उन्हें जीवसमास कहते हैं । वे जीवसमास चौदह होते हैं । उन चौदह जीवसमासोंसे  
यहां पर चौदह गुणस्थान विवक्षित हैं । अर्थात् जीवसमासका अर्थ यहाँ पर गुणस्थान लेना  
चाहिये । मार्गणा, गवेषणा और अन्वेषण ये तीनों शब्द एकार्थवाची हैं । मार्गणारूप प्रयोजनको  
मार्गणार्थ कहते हैं । मार्गणार्थ अर्थात् मार्गणारूप प्रयोजनके भाव अर्थात् विशेषताको मार्ग-  
णार्थता कहते हैं । उस मार्गणारूप प्रयोजनकी विवक्षा होने पर, यहाँ पर इसी अर्थमें ‘तत्थ’  
यह पद आया है । ‘इमानि’ इस पदसे प्रत्यक्षीभूत भावमार्गणास्थानोंका ग्रहण करना चाहिये ।  
द्रव्यमार्गणाओंका ग्रहण नहीं किया गया है, क्योंकि, द्रव्यमार्गणाएं देश, काल और स्वभावकी  
अपेक्षा दूरवर्ती हैं । अतएव अल्पज्ञानियोंको उनका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता है । वे मार्गणा-  
स्थान भी चौदह ही होते हैं । यहाँ सूत्रमें जो ‘एव’ पद दिया है उसका फल या प्रयोजन  
मार्गणास्थानकी संख्याके न्यूनाधिकभावका निषेध करना है ।

शंका - मार्गणा किसे कहते हैं ?

समाधान - सत्, संख्या आदि अनुयोगद्वारोंसे युक्त चौदह जीवसमास जिसमें या  
जिसके द्वारा खोजे जाते हैं उसे मार्गणा कहते हैं । कदा भी है—

१ कथमियं ‘जीवमाम’ इति सहा गुणस्थानस्य जाता ? इति चेच्छ्रीवा समस्यन्ते सक्षिप्यन्ते एष्विति  
जीवसमासा । अथवा जीवा सम्यगास्ते एष्विति जीवसमासा इत्यत्र प्ररूपसामर्थ्येन गुणस्थानान्येव जीवसमास-  
श्चेदोच्यते । गो जी, जो प्र, धी १०

जाहि व जासु व जीवा मगिज्जते जहा तथा दिहा ।  
ताओ चोइस जाणे सुदणणे मगणा होति’ ॥ ८३ ॥

तं जहा ॥ ३ ॥

‘तच्छब्द पूर्वप्रक्रान्तपरामर्शी’ इति न्यायात् ‘तत्’ मार्गणविधानं । ‘जहा’ यथेति  
यावत् । एवं पृथगतः शिष्यस्य सन्देहापोहनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

गइ इंदिए काए जोगे वेदे कसाए णणे संजमे दंसणे लेस्सा  
भभिय सम्मत सणि आहारए चेदि ॥ ४ ॥

गताविन्द्रिये काये योगे वेदे कषाये ज्ञाने संयमे दर्शने लेख्यायां भव्ये सम्यक्त्वे  
सज्ञिनि आहारे च जीवसमासाः सृण्यन्ते । ‘च’ शब्दः प्रत्येकं परिसमाप्यते समुच्चयार्थः ।  
‘इति’ शब्दः समाप्तौ वर्तते । सप्तमनिर्देशः किमर्थः ? तेषामधिकरणत्वप्रतिपादनार्थः ।

श्रुतज्ञान अर्थात् द्रव्यश्रुतरूप परमगममें जीव पदार्थ जिसप्रकार देसे गये हैं उसी-  
प्रकारसे वे जिन नारकत्वादि पर्यायोंके द्वारा अथवा जिन नारकत्वादित्प पर्यायोंसे खोजे जाते  
हैं उन्हें मार्गणा कहते हैं । और वे चौदह होती हैं ऐसा जानो ॥ ८३ ॥  
वे चौदह मार्गणास्थान कौनसे हैं ? ३ ॥

‘तत्’ शब्द पूर्व प्रकरणमें आये हुए अर्थका परामर्शक होता है । इस न्यायके  
अनुसार ‘तत्’ इस शब्दसे मार्गणाओंके भेदोंका ग्रहण करना चाहिये । ‘जहा’ इस पदका  
अर्थ ‘जैसे’ होता है । वे जैसे ? इसतरह पूछनेवाले शिष्यके सन्देहको दूर करनेके लिये आगेका  
सूत्र कहते हैं ।

गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेख्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व,  
संज्ञी और आहार ये चौदह मार्गणाएं हैं और इनमें जीव खोजे जाते हैं ॥ ४ ॥

गतिमें, इन्द्रियमें, कायमें, योगमें, वेदमें, कषायमें, ज्ञानमें, संयममें, दर्शनमें, लेख्यामें,  
भव्यत्वमें, सम्यक्त्वमें, संज्ञीमें और आहारमें जीवसमासोंका अन्वेषण किया जाता है । इस  
सूत्रमें ‘च’ शब्द समुच्चयार्थक है, इसलिये प्रत्येक पदके साथ उसका संबन्ध कर लेना चाहिये ।  
और ‘इति’ शब्द समाप्तिरूप अर्थमें है । जिससे यह तात्पर्य निकलता है कि मार्गणाएं चौदह  
ही होती हैं ।

१ गो जी १४१ गायदिमार्गणा यदा एकजीवस्य नारकत्वादिपर्यायस्वरूपा विवक्षितास्तदा ‘यामि’  
इतिस्थभूतलक्षणे तृतीया निमित्ति । यदा एकद्रव्य प्रति पर्यायणामधिकरणता निवक्ष्यते तदा ‘यामु’  
इत्यधिकरणे सप्तमी निमित्ति । विवक्षावशा कारकप्रवृत्तिरिति न्यायस्य सङ्गत्वार । जी प्र टी श्रुत ज्ञातेजनेति  
श्रुतज्ञान, वर्णपदवाच्यरूप द्रव्यश्रुत शुभशिष्यप्रशिक्षणस्य पर्यायणस्य अत्रिच्छिन्नप्रवाहेण प्रवर्तमानत्वार । तत्र  
, यथा दृष्टास्तथा जानीहि’ इति वचनेन शात्रकारस्य कालदेवात्प्रमादाद्वा यस्मलिन तन्मुखा परमागमात्सामरेण  
व्याख्यातार अन्वतारे वाविक्रद्वमेव कस्तुस्वरूप श्रुतीति प्रदाश्रितमाचार्ये । म प्र टी



तृतीयानिर्देशोऽप्यविरुद्धः स कथं लभ्यते ? न, देशामर्थरूपाविर्देशस्य । यत्र च गत्यादौ विभक्तिर्न श्रूयते तत्रापि ' आइ-मज्जत-वण्ण-सर-लोवो ' इति लुसा विभक्तिरित्यभ्युह्यम् । अहवा 'लेस्सा-भविय सम्मत्त-सण्णि-आहारए' चेदि एकपदत्वान्नावायवविभक्तयः श्रूयन्ते ।

अर्थे स्याज्जगति चतुर्भिर्मार्गणा निष्पाद्यमानोपलभ्यते । तद्यथा, मृगयिता मृग्यं मार्गणं मार्गणोपाय इति । नात्र ते सन्ति, ततो मार्गणमनुपपन्नमिति । नैप दोष, तेषामप्यत्रोपलम्भात् । तद्यथा, मृगयिता भव्यणुडरीकः तत्त्वार्थश्रद्धालुर्जीव, चतुर्दशगुण-

शंका - सूत्रमें गति आदि प्रत्येक पदके साथ सप्तमी विभक्तिका निर्देश क्यों किया गया है ?

सामर्थान—उन गति आदि मार्गणांशोंको जीवोंका आधार बतानेके लिये सप्तमी विभक्तिका निर्देश किया है ।

इसीतरह सूत्रमें प्रत्येक पदके साथ तृतीया विभक्तिका निर्देश भी हो सकता है, इसमें कोई विरोध नहीं आता है ।

शंका—जब कि प्रत्येक पदके साथ सप्तमी विभक्ति पाई जाती है तो फिर तृतीया विभक्ति कैसे सम्भव है ?

सामर्थान—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, इस सूत्रमें प्रत्येक पदके साथ जो सप्तमी विभक्तिका निर्देश किया है वह देशामर्शक है, इसलिये तृतीया विभक्तिका भी ग्रहण हो जाता है ।

सूत्रोक्त गति आदि जिन पदोंमें विभक्ति नहीं पायी जाती है, वहा पर भी ' आइमज्जंत-तवण्णसरलोवो ' अर्थात् आदि, मध्य और अन्तके वर्ण और स्वरका लोप हो जाता है । इस प्राकृतव्याकरणके सूत्रके नियमानुसार विभक्तिका लोप हो गया है ऐसा समझना चाहिये । अथवा 'लेस्साभवियसम्मत्तसण्णिआहारए' यह एक पद समझना चाहिये । इसलिये लेख्या अपि प्रत्येक पदमें विभक्तियां देखनेमें नहीं आती हैं ।

शंका—लोकमें अर्थात् व्यावहारिक पदार्थोंका विचार करते समय भी चार प्रकारसे अन्येयण देखा जाता है । वे चार प्रकार ये हैं, मृगयिता, मृग्य, मार्गण और मार्गणोपाय । परंतु यथा लोकोत्तर पदार्थके विचारमें वे चारों प्रकार तो पाये नहीं जाते हैं, इसलिये मार्गणाका कथन करना नहीं बन सकता है ?

सामर्थान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, इस प्रकरणमें भी वे चारों प्रकार पाये जाते हैं । वे इसप्रकार हैं, जीवादि पदार्थोंका अद्वान करनेवाला भव्यणुडरीक मृगयिता

१ ननु लोके नामशरीकपदापस्य विचारे कृत्रिम्युगिता किंचित् मृग्य अपि मार्गणा कृत्रिमार्गणोपाय गी चतुःसन्ति । अत्र लोकोत्तरेऽपि तद वक्तव्यमिति चेदुच्यते, मृगयिता भव्यणुडरीक. शुभ शिष्यो वा । मृग्या. मार्गणादिभिः जीवा, मार्गणा ज्ञेयिन्युगिता च विचाराणा । मार्गणोपाया. गतीत्रयादयः पच मात्रविशेषा मृगयितृत्तस्या मतीति लोकेऽप्यनुमानोऽपि लोकोत्तरव्यवहारोऽपि व्रतते । गो. जी., म. प्र., टी. १४१.

विशिष्टजीवा मृग्यं, मृग्यसाधारतामारुंदन्ति मृगयितुः करणतत्सादधानानि वा गत्यादीनि मार्गणम्, विनेयोपाध्यायादयो मार्गणोपाय इति । ह्ये शेषव्रितयं परिहृतमिति मार्गण-भेदोक्तमिति चेन्न, तस्य देशामर्शकत्वात्, तन्नान्तरियकत्वाद्वा ।

मम्यत इति गतिः । नातिव्यासिदोषः सिद्धैः प्राप्यगुणाभावात् । न केवल-ज्ञानादयः प्राप्यास्तथात्मकैकरिमन् प्राप्यप्रापकभावविरोधात् । कषयादयो हि प्राप्याः औपाधिकत्वात् । मम्यत इति गतिरित्युच्यमाने गमनक्रियापरिणतजीवप्राप्यद्रव्यादी-

अर्थात् लोकोत्तर पदार्थोंका अन्वेषण करनेवाला है । चौदह गुणस्थानोंसे युक्त जीव मृग्य अर्थात् अन्वेषण करने योग्य हैं । जो मृग्य अर्थात् चौदह गुणस्थानविशिष्ट जीवोंके आधारभूत हैं, अथवा अन्वेषण करनेवाले भव्य जीवको अन्वेषण करनेमें अत्यन्त सहायक कारण हैं ऐसी गति आदिक मार्गणा है । शिष्य और उपाध्याय आदिक मार्गणाके उपाय हैं ।

शंका—इस सूत्रमें मृगयिता, मृग्य और मार्गणोपाय इन तीनोंको छोड़कर केवल मार्गणाका ही उपदेश क्यों किया गया है ?

सामर्थान—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, गति आदि मार्गणवाचक पद देशामर्शक हैं, इसलिये इस सूत्रमें कही गई मार्गणाओंसे तत्सवन्धी शेष तीनोंका ग्रहण हो जाता है । अथवा मार्गणा पद शेष तीनोंका अविनाभावी है, इसलिये भी केवल मार्गणाका कथन करनेसे शेष तीनोंका ग्रहण हो जाता है ।

जो प्राप्त की जाय उसे गति कहते हैं । गतिका ऐसा लक्षण करनेसे सिद्धोंके साथ अतिव्याप्ति दोष भी नहीं आता है, क्योंकि, सिद्धोंके द्वारा प्राप्त करने योग्य गुणोंका अभाव है । यदि केवलज्ञानादि गुणोंको प्राप्त करने योग्य कहा जाये, सो भी नहीं बन सकता, क्योंकि, केवलज्ञानस्वरूप एक आत्मामें प्राप्य-प्रापकभावका विरोध है । उपाधिजन्य होनेसे कषयादिक भावोंको ही प्राप्त करने योग्य कहा जा सकता है । परंतु वे सिद्धोंमें पाये नहीं जाते हैं, इसलिये सिद्धोंके साथ तो अतिव्याप्ति दोष नहीं आता है ।

शंका—जो प्राप्त की जाय उसे गति कहते हैं । गतिका ऐसा लक्षण करने पर गमनरूप क्रियामें परिणत जीवके द्वारा प्राप्त होने योग्य द्रव्यादिकको भी गति यह संज्ञा प्राप्त हो जावेगी, क्योंकि, गमनक्रियापरिणत जीवके द्वारा द्रव्यादिक ही प्राप्त किये जाते हैं ?

१ 'मम्यत इति गति' एवमुच्यमाने गमनक्रियापरिणतजीवप्राप्यद्रव्यादीनामापि गतियपदेश स्यात् ? तत्र, गतिनामकर्मोद्देश्यत्वजनैवपर्यायस्यैव गतिस्त्वाप्युपगमात् । गमन वा गति । ननु गति आमारात्मादिगमनस्यपि गतिच मस्यते । तत्र, भवात् मत्सकत्वेऽपि विवक्षितत्वात् । गमनहेतुर्वा गतिरियमपि भण्यमाने शक्योदेरपि गतित्व प्राप्नोति । तत्र, मनांतरगमनहेतौ गतिनामकर्मणो गतिनाम-मुपगमात् । जी. प्र., टी. अत्र मार्गणा-प्रकरणे गतिनामकर्म न गृह्यते, कष्यसाणनात्कादिगतिपचस्य नात्कृत्रिमार्गणोऽपि न भवन्नात् । गो जी., म. प्र., टी. १४६.

नामपि गतिव्यपदेशः स्यादिति चेन्न, गतिकर्मणः समुत्पन्नस्यात्मपर्यायस्य ततः कथञ्चिद्भेदादविरुद्धप्राप्तिः। प्राप्तकर्मभावस्य गतिव्याप्युपगमे पूर्वोक्तदोषानुपपत्तेः। भवाद्भवसंक्रान्तिर्वा गतिः। सिद्धगतिस्तद्विपर्यायतात्। उक्तं च—

गद्-कर्म-विधिबन्ता जा चेद्वा सा गई मुण्यब्बा ।

जीवा ह चाउरग गच्छति ति य गई होइ' ॥ ८४ ॥

प्रत्यक्षनिरतानीन्द्रियाणि । अक्षाणीन्द्रियाणि । अक्षमथ प्रति वर्तत इति प्रत्यक्षं विषयोऽक्षजो बोधो वा । तत्र निरतानि व्यापृतानि इन्द्रियाणि । शब्दस्पर्शरसरूपगन्ध-ज्ञानावरणकर्मणां क्षयोपशमाद् द्रव्येन्द्रियनिबन्धनादिन्द्रियाणीति यावत् । भावेन्द्रिय-कार्यत्वाद् द्रव्यस्येन्द्रियव्यपदेशः । नेयमदृष्टपरिकल्पना कार्यकारणोपचारस्य जगति

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, गति नामकर्मके उदयसे जो आत्मके पर्याय उत्पन्न होती है वह आत्मसे कथञ्चित् भिन्न है अतः उसकी प्राप्ति अविरुद्ध है । और इसीलिये प्राप्तिकार्य क्रियाके कर्मपनेको प्राप्त नारकादि आत्मपर्यायके गतिपना माननेमें पूर्वोक्त दोष नहीं आता है ।

अथवा, एक भवसे दूसरे भवमें जानेको गति कहते हैं। ऊपर जो गतिनामा नामकर्मके उदयसे प्राप्त होनेवाली पर्यायविशेषको अथवा एक भवसे दूसरे भवमें जानेको गति कह आये है, ठीक इससे विपरीतस्वभाववाली सिद्धगति होती है। कहा भी है—

गतिनामा नामकर्मके उदयसे जो जीवकी चेष्टाविशेष उत्पन्न होती है उसे गति कहते हैं । अथवा, जिसके निमित्तसे जीव चतुर्गतिमें जाते हैं उसे गति कहते हैं ॥ ८४ ॥

जो प्रत्यक्षमें व्यापार करती है उन्हें इन्द्रियों कहते हैं। जिसका खुलासा इसप्रकार है, अक्ष इन्द्रियको कहते हैं, और जो अक्ष अक्षके प्रति अर्थात् प्रत्येक इन्द्रियके प्रति रहता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। जो कि इन्द्रियोंका विषय अथवा इन्द्रियजन्य ज्ञानरूप पड़ता है। उस इन्द्रिय-विषय अथवा इन्द्रिय-ज्ञानरूप प्रत्यक्षमें जो व्यापार करती है उन्हें इन्द्रिया कहते हैं। वे इन्द्रियां शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्ध नामके ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे और द्रव्येन्द्रियोंके निमित्तसे उत्पन्न होती हैं। क्षयोपशमरूप भावेन्द्रियोंके होने पर ही द्रव्येन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है, इसलिये भावेन्द्रियां कारण हैं और द्रव्येन्द्रियां कार्य हैं और इसलिये द्रव्येन्द्रियोंको भी इन्द्रिय यह संज्ञा प्राप्त है। अथवा, उपयोगरूप भावेन्द्रियोंकी उत्पत्ति द्रव्येन्द्रियोंके निमित्तसे होती है, इसलिये भावेन्द्रियां कार्य हैं और द्रव्येन्द्रिया कारण हैं। इसलिये भी द्रव्येन्द्रियोंको इन्द्रिय यह संज्ञा प्राप्त है। यह कोई अदृष्टकल्पना नहीं है, क्योंकि, कार्यगत धर्मका कारणमें और कारणगत धर्मका कार्यमें उपचार जगत्में प्रसिद्धरूपसे पाया जाता है।

? गद्उदरजपन्वाया चउगद्गणणस्म हेउ वा हु गई । णास्यतिरिक्खमाणुदेवगड ति य हुने चडुथा ॥

गो जी १४६

सुप्रासिद्धस्योपलम्भात् । इन्द्रियवैकल्यमनोऽनवस्थानानध्यवसायालोकाध्याभावावस्थायां क्षयोपशमस्य प्रत्यक्षविषयव्यापाराभावात्तत्रात्मनोऽनिन्द्रियत्वं स्यादिति चेन्न, गच्छतीति गौरिति व्युत्पादितस्य गोशब्दस्यागच्छदोषार्थेऽपि प्रवृत्त्युपलम्भात् । भवतु तत्र रूढिबललाभादिति चेदत्रापि तल्लाभादेवास्तु, न कश्चिद्दोषः । विशेषाभावतस्तेषां सङ्कर-व्यतिकररूपेण व्यापृतिः व्याप्नोतीति चेन्न, प्रत्यक्षे नीतिनियमिते रतानीति प्रतिपाद-नात् । सङ्करव्यतिकराभ्यां व्यापृतिनिराकरणाय स्वविषयनिरतानीन्द्रियाणि इति वा वक्तव्यम् । स्वेषां विषय. स्वविषयत्तत्र निश्चयेन निर्गयेन रतानीन्द्रियाणि । संशयविपर्य-

शंका—इन्द्रियोंकी विकलता, मनकी चंचलता, और अमध्यवसायके सद्भावमें तथा प्रकाशादिकके अभावरूप अवस्थामें क्षयोपशमका प्रत्यक्ष विषयमें व्यापार नहीं हो सकता है, इसलिये उस अवस्थामें आत्मके अनिन्द्रियपना प्राप्त हो जायगा ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि, जो गमन करती है उसे गौ कहते हैं। इसतरह 'गौ' शब्दकी व्युत्पत्ति हो जाने पर भी नहीं गमन करनेवाले गौ पदार्थमें भी उस शब्दकी प्रवृत्ति पाई जाती है ।

शंका—भले ही गोपदार्थमें रूढिके बलसे गमन नहीं करती हुई अवस्थामें भी गो-शब्दकी प्रवृत्ति होओ। किंतु इन्द्रियवैकल्यादिरूप अवस्थामें आत्मके इन्द्रियपना प्राप्त नहीं हो सकता है ?

समाधान—यदि ऐसा है तो आत्मामें भी इन्द्रियोंकी विकलता आदि कारणोंके रहने पर रूढिके बलसे इन्द्रिय शब्दका व्यवहार माल लेना चाहिये। ऐसा मान लेनेमें कोई दोष नहीं आता है ।

शंका—इन्द्रियोंके नियामक विशेष कारणोंका अभाव होनेसे उनका संकर और व्यतिकररूपसे व्यापार होने लगेगा। अर्थात् या तो वे इन्द्रियां एक दूसरी इन्द्रियके विषयको ग्रहण करेंगी या समस्त इन्द्रियोंका एक ही साथ व्यापार होगा ?

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, इन्द्रिया अपने नियमित विषयमें ही रत हैं, अर्थात् व्यापार करती हैं, ऐसा पढ़ते ही कथन कर आये हैं। इसलिये संकर और व्यतिकर दोष नहीं आता है ।

अथवा, संकर और व्यतिकरद्वारा विषयमें व्यापाररूप दोषके निराकरण करनेके लिये इन्द्रिया अपने अपने विषयमें रत हैं, ऐसा लक्षण कहना चाहिये। अपने अपने विषयको स्वविषय कहते हैं। उसमें जो निश्चयसे अर्थात् अन्य इन्द्रियके विषयमें प्रवृत्ति न करके केवल अपने विषयमें ही रत है उन्हें इन्द्रिय कहते हैं ।

१ इत आरण्य ' इन्द्रिय ' शब्दस्य व्याख्यात यात्रसमप्रमाठ गो जानमाडरन ' नदि आरण्य ' इत्यादि १६५ तमगाथाया जीमित वप्रदीपिकाटीक्या प्रायेण समान ।

२ सर्वेया युगपन्नाति सङ्कर । परस्परनियमन व्यतिकर । न्या कु च पु ३६०

३ ' नीति ' इति पाठो नाति । गो जी, जी प्र, टी १६५

यावद्यायां निर्णयान्मरुतेतन्मात्रात्तत्त्वमनोऽनिन्द्रियत्वं स्यादिति चेन्न, रुडिवललाभा-  
दुभयत्र प्रत्ययविरोधान् । अथवा सप्तचिरतानीन्द्रियाणि । मंशयविपर्ययनिर्णयादौ वर्तनं  
वृत्तिः, तस्यां सप्तचौ स्तानीन्द्रियाणि । निर्व्यपारावस्थायां नेन्द्रियव्यपदेशः स्यादिति  
चेन्न, उक्तोत्तरत्वात् । अथवा स्वार्थनिरतानीन्द्रियाणि । अर्थत इत्यर्थः, स्वैर्धै च निरतानी-  
न्द्रियाणि, निरवधत्वाच्चात्र वक्तव्यमस्ति । अथवा इन्दनादाधिपत्यादिन्द्रियाणि । उक्तं च—  
अहमिन्द्रा जह देवा अविसेस अहमह ति मण्णता ।  
इंसति पुरुमेरु उदा उव इदिण जाणं ॥ ८५ ॥

शंका—मंशय और विपर्ययरूप शलकी अवस्थाओंमें निर्णयात्मक रति अर्थात् प्रवृत्तिका  
अपार होनेसे उस अवस्थामें आत्माको अनिन्द्रियपनेकी प्राप्ति हो जावेगी ?  
समाधान—नहीं, क्योंकि, रूडिके बलसे निर्णयारमक और अनिर्णयात्मक इन  
शेनों अवस्थाओंमें इन्द्रिय शब्दकी प्रवृत्ति माननेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

अथवा, अपनी अपनी वृत्तिमें जो रत हैं उन्हें इन्द्रियां कहते हैं । इसका तुलासा  
इसप्रकार है । मंशय और विपर्ययगतके निर्णय आदिके करनेमें जो प्रवृत्ति होती है उसे वृत्ति  
कहते हैं । उस अपनी अपनी वृत्तिमें जो रत हैं उन्हें इन्द्रियां कहते हैं ।

शंका—जर इन्द्रिया अपने विपर्ययमें व्यापार नहीं करती हैं तब उन्हें व्यापाररहित  
अवस्थाओंमें इन्द्रिय संज्ञा प्राप्त नहीं हो सकेगी ?

समाधान—ऐसा नहीं कहना, क्योंकि, इसका उत्तर पहले दे आये हैं कि रूडिके  
बलसे ऐसी अवस्थाओंमें भी इन्द्रिय-व्यवहार होता है ।

अथवा, जो अपने अर्थमें निरत हैं उन्हें इन्द्रियां कहते हैं । 'अर्थते' अर्थात् जो निश्चित  
क्रिया जाय उसे अर्थ कहते हैं । उस अपने विपर्ययरूप अर्थमें जो व्यापार करती हैं उन्हें इन्द्रिया  
कहते हैं । इन्द्रियोंका यह लक्षण निर्दोष होनेके कारण इस विपर्ययमें अधिक वक्तव्य कुछ भी  
नहीं है । अर्थात् इन्द्रियोंका यह लक्षण इतना स्पष्ट है कि पूर्वोक्त दोषोंको यहा अवज्ञा ही  
नहीं है ।

अथवा, अपने अपने विपर्ययका सतन्त्र आधिपत्य करनेसे इन्द्रियां कहलाती हैं ।  
कहा भी है—

चित्सप्रकार भवेयकादिमें उत्पन्न हुए अहमिन्द्र देव में सेवक ह अथवा स्वामी हं इत्यादि  
, परिहरामो लिंग गदि नेत्रेण लंणा । मृष्ट वृट तथा दृष्ट दत्त वेति तदिन्द्रियम् ॥  
शा जी, जी ५, गी १६४ इत्ये जीरो त्त्वोवलङ्गिमोपमेसत्तणओ । गोवासेयमिदियमिह तल्लिगाह मावाओ ॥  
ति मा २५६० ' गदि ' परमेन्वो ' इदितो न्म् ' इन्दनादिन् आमा ( जीव ) सर्वत्रियोपलब्धि ( ज्ञान )  
योग्यतापरमेन्वोयोगत तस्य चिक्त्र निरुमिनामाभिलिङ्गमवाप्तृत्तान् पदगनानुपलभ्यन्त । बन्धनाच्च जीविर  
न्निमित्तिरम् । जमि रा. तो. ( इन्द्रि )

२ गो जी १५४. तथा प्रोपनादिज्ञाना अहमिन्द्रेता अहममिति सामिगुगादिविशेषयन् मन्यमाना

चीयत इति कायः । नेष्टकादिचयेन व्यभिचारः पृथिव्यादिकर्मभिरिति विशेष-  
णात् । औदारिकादिकर्मभिः पुद्गलनिपाकिभिश्चीयत इति चेन्न, पृथिव्यादिकर्मणां  
सहकारिणामभावे तत्त्वथयनानुपपत्ते । कर्मणशरीरस्थानां जीवानां पृथिव्यादिकर्मभिश्चित-  
नोकर्मपुद्गलाभावादकायत्वं स्यादिति चेन्न, तच्चयनेहेतुकर्मणस्तत्रापि सरातत्तद्व्यपदेशस्य  
न्याय्यत्वात् । अथवा आत्मप्रवृत्त्युपचितपुद्गलपिण्डः कायः । अत्रापि स दोषो न निर्वायत  
विशेषभावसे रहित अपनेको मानते हुए एक एक होकर अर्थात् कोई किसीकी आत्मा आदिके  
पराधीन न होते हुए स्वयं स्वामीपनेको प्राप्त होते हैं, उसीप्रकार इन्द्रिया भी अपने अपने  
स्पर्शादिक विपर्ययका ज्ञान उत्पन्न करनेमें समर्थ हैं और दूसरी इन्द्रियोंकी अपेक्षासे रहित हैं,  
अतएव अहमिन्द्रोंकी तरह इन्द्रिया जानना चाहिये ।

जो संचित किया जाता है उसे काय कहते हैं । यहां पर जो संचित किया जाता है  
उसे काय कहते हैं ऐसी व्याप्ति बना लेने पर कायको छोड़कर ईष्ट आदिके संचयरूप  
विपर्ययमें भी यह व्याप्ति घटित हो जाती है, अतएव व्यभिचार दोष आता है । ऐसी शंका मनमें  
निश्चय करके आचार्य कहते हैं कि इसतरह ईष्ट आदिके संचयके साथ व्यभिचार दोष भी नहीं  
आता है, क्योंकि, पृथिवी आदि कर्मके उदयसे इतना विशेषण जोड़कर ही ' जो संचित  
किया जाता है ' उसे काय कहते हैं ऐसी व्याख्या की गई है ।

शंका—पुद्गलविपाकी औदारिक आदि कर्मके उदयसे जो संचित किया जाता है उसे  
काय कहते हैं, कायकी ऐसी व्याख्या क्यों नहीं की गई है ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि, सहकारीरूप पृथिवी आदि नामकर्मके अभाव  
रहने पर केवल औदारिक आदि नामकर्मके उदयसे नो कर्मवर्गणाओंका संचय नहीं हो  
सकता है ।

शंका—कर्मणकाययोगसे स्थित जीवके पृथिवी आदिके द्वारा संचित हुए नो कर्म  
पुद्गलका अभाव होनेसे अकायपता प्राप्त हो जायगा ?

समाधान—ऐसा नहीं समझना चाहिये, क्योंकि, नो कर्मरूप पुद्गलोंके संचयका कारण  
पृथिवी आदि कर्मसहस्रत औदारिकादि नामकर्मका उदय कर्मणकाययोगरूप अवस्थाओंमें भी  
पाया जाता है, इसलिये उस अवस्थाओंमें भी कायपनेका व्यवहार बन जाता है ।

अथवा, योगरूप आत्माकी प्रवृत्तिसे संचित हुए औदारिकादिरूप पुद्गलपिण्डको काय  
कहते हैं ।

शंका—कायका इसप्रकारका लक्षण करने पर भी पहले जो दोष दे आये हैं, वह  
दूर नहीं होता है । अर्थात् इसतरह भी जीवके कर्मणकाययोगरूप अवस्थाओंमें अकायपनेकी  
प्राप्ति होती है ।

इन्केक पूना आत्मादिमिपरतन्ना सत ईशते प्रममति सामिमाम अयति, तथा स्पृशनादीन्द्रियाण्यपि स्वर्शादि-  
स्वस्वविपर्ये ज्ञानपुपादियितुमीगते, परानपेक्षया प्रमवन्ति, तत कार्यादहमिन्द्रा एव इन्द्रियाणि इति ।  
जी. प्र दी

इति चैव, आत्मप्रवृत्त्युपचितकर्मपुद्गलपिण्डस्य तत्र सत्त्वात् । आत्मप्रवृत्त्युपचितनोकर्म-  
पुद्गलपिण्डस्य तत्रासत्त्वात् तस्य कायव्यपदेश इति चैव, तच्चयनहेतुकर्मणस्तत्रास्तित्व-  
तस्य तद्व्यपदेशसिद्धेः । उक्तं च—

अप्यवृत्ति-संचिद-बोगल-पिंड विषाण कायो ति ।

सो जिणमद्विह भणिओ पुवविक्कायादयो सो दो' ॥ ८६ ॥

जह भारवहो पुरिसो वहइ भर गेण्हज्जण कायोळि ।

एमेव वहइ जीवो कम्म भरं काय-कायोळि' ॥ ८७ ॥

युज्यत इति योगः । न युज्यमानपटादिना व्यभिचारस्तस्यानात्मधर्मत्वात् । न

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि, योगरूप आत्माकी प्रवृत्तिसे संचित हुए कर्मरूप पुद्गलपिण्डका कर्मणकाययोगरूप अवस्थामें सद्भाव पाया जाता है । अर्थात् जिससमय आत्मा कर्मणकाययोगकी अवस्थामें होता है उस समय उसके ज्ञानावरणादि आठो कर्मोंका सद्भाव रहता ही है, इसलिये इस अपेक्षासे उसके कायपना बन जाता है ।

शंका—कर्मणकाययोगरूप अवस्थामें योगरूप आत्माकी प्रवृत्तिसे सचयको प्राप्त हुए नोकर्म पुद्गलपिण्डका असत्त्व होनेके कारण कर्मणकाययोगमें स्थित जीवके 'काय' यह व्यपदेश नहीं बन सकता है ?

समाधान—नोकर्म पुद्गलपिण्डके संचयके कारणभूत कर्मका कर्मणकाययोगरूप अव-  
स्थामें सद्भाव होनेसे कर्मणकाययोगमें स्थित जीवके 'काय' यह सत्त्वा बन जाती है ।  
कहा भी है—

योगरूप आत्माकी प्रवृत्तिसे सचयको प्राप्त हुए औदारिकादिरूप पुद्गलपिण्डको काय समग्रता चाहिये । वह काय जिनमतमें पृथिवीकाय आदिके भेदसे छह प्रकारका कहा गया है । और वे पृथिवी आदि छह काय इसकाय और स्थावरकायके भेदसे दो प्रकारके होते हैं ॥ ८६ ॥

जिसप्रकार भारको देनेवाला पुरुष कावड़को लेकर भारको ढोता है, उसीप्रकार यह जीव शरीररूपी कावड़को लेकर कर्मरूपी भारको ढोता है ॥ ८७ ॥

जो संयोगको प्राप्त हो उसे योग कहते हैं । यहाँ पर जो जो संयोगको प्राप्त हो उसे योग कहते हैं ऐसी व्याप्ति करने पर संयोगको प्राप्त होनेवाले वखादिकसे व्यभिचार हो जायगा । इसप्रकारकी शंकाको मनमें निश्चय करके आचार्य कहते हैं कि इसतरह संयोगको प्राप्त होने-  
वाले वखादिकसे व्यभिचार दोष भी नहीं आता है, क्योंकि, संयोगको प्राप्त होनेवाले वखादिक आत्मोंके धर्म नहीं हैं । जो जो संयोगको प्राप्त हो उसे योग कहते हैं इसप्रकारकी व्याप्तिमें

१ जाईं अणिणामां तस्यथारउदरजो हने काओ । सो जिणमद्विह भणिओ पुदवीकायादिउमेओ ॥

गो जी १८१

२ गो जी २०२ लोक्रे यथा माखइ पुण्य नमदिउ भार शुहीना निवशितस्थान वहति नयति प्रापयति  
तथा मगाजिओ आदारिकादिनोकर्मशरीरमित्तजानावरणादिउच्यकर्मभार शुहीला नानायोनिरत्तानानि वहति ।

जी प्र, टी

कषायेण व्यभिचारस्तस्य कर्मादानहेतुत्वाभावात् । अथवात्मप्रवृत्तेः कर्मादाननिबन्धनवीर्यो-  
त्पादो योगः । अथवात्मप्रदेशानां सङ्कोचविकोचो योगः । उक्तं च—

मणसा वचसा काएण चावि जुत्तरस विरिय-परिणामो ।

जीवस्स प्पणियोओ जोगो त्ति जिणेहि णिद्धिहो' ॥ ८८ ॥

वेद्यत इति वेदः । अष्टकर्मोदयस्य वेदव्यपदेशः प्राप्नोति वेद्यत्वं प्रत्यविशेषादिति  
चैव, ' सामान्यचोदनाश्च विशेषेष्ववतिष्ठन्ते ' इति विशेषावगतेः ' रूढितन्त्रा व्युत्पत्तिः '  
इति वा । अथवात्मप्रवृत्तेः सम्मोहोत्पादो वेदः । अत्रापि मोहोदयस्य सकलस्य वेदव्यप-

आत्मधर्मकी मुख्यता होनेसे यद्यपि संयोगको प्राप्त होनेवाले वखादिकका निराकरण हो  
जायगा फिर भी कषायका निराकरण नहीं हो सकता है, क्योंकि, कषाय आत्माका धर्म है  
और संयोगको भी प्राप्त होता है । इसलिये जो जो संयोगको प्राप्त हो उसे योग कहते हैं यह  
व्याप्ति कषायमें भी घटित होती है, अतएव कषायके साथ व्यभिचार दोष आ जाता है । ऐसी  
शंकाको मनमें धारण करके आचार्य कहते हैं कि इसतरह कषायके साथ भी व्यभिचार दोष  
नहीं आता है, क्योंकि, कषाय कर्मोंके ग्रहण करनेमें कारण नहीं पड़ती है । अथवा, प्रदेश-  
परिस्पन्दरूप आत्माकी प्रवृत्तिके निमित्तसे कर्मोंके ग्रहण करनेमें कारणभूत वीर्यकी उत्पत्तिको  
योग कहते हैं । अथवा, आत्माके प्रदेशोंके संकोच और विस्ताररूप होनेको योग कहते हैं ।  
कहा भी है—

मन, वचन और कायके निमित्तसे होनेवाली क्रियासे युक्त आत्माके जो वीर्यविशेष  
उत्पन्न होता है उसे योग कहते हैं । अथवा, जीवके प्रणियोग अर्थात् परिस्पन्दरूप क्रियाको  
योग कहते हैं । ऐसा जिनेन्द्रदेवने कथन किया है ॥ ८८ ॥

जो वेदा जाय, अनुभव किया जाय उसे वेद कहते हैं ।

शंका—वेदका इसप्रकारका लक्षण करने पर आठ कर्मोंके उदयको भी वेद  
संज्ञा प्राप्त हो जायगी, क्योंकि, वेदनकी अपेक्षा वेद और आठ कर्म दोनों ही समान हैं ।  
जिसतरह वेद वेदनरूप है, उसीतरह ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंका उदय भी वेदनरूप है ?

समाधान—ऐसा नहीं समझना चाहिये, क्योंकि सामान्यरूपसे की गई कोई भी  
प्ररूपणा अपने विशेषोंमें पाई जाती है, इसलिये विशेषका ज्ञान हो जाता है । अथवा, रौढिक  
शब्दोंकी व्युत्पत्ति रूढिके आधीन होती है, इसलिये वेद शब्द पुरुषवेदादिमें रूढ़ होनेके  
कारण ' वेद्यते ' अर्थात् जो वेदा जाय इस व्युत्पत्तिसे वेदका ही ग्रहण होता है, ज्ञानावरणादि  
आठ कर्मोंके उदयका नहीं ।

१ पुगलविवाइहेदएण मणयणकायजुत्तरस । जीवस्स जा इ रवी कम्ममगकरण जोगो । गो जी  
२८६ मणसा वयसा काएण वाणि जुत्तरस विरियपरिणामो । जीवस्स अप्पणिज्जो स जोगसत्तो जिणम्बाओ ॥ तेओ  
जीणेण जहा रत्तचार्इ वडस्स परिणामो । जीवस्सणप्पओए विरियमणि तहपपरिणामो ॥ जोगो विरिय थासो उच्छाह  
परकमो तहा चेढा । मत्तो साम,४ ति य जोगम्म इति पच्चागा ॥ स्या सू, पृ २०२

देशः स्यादिति चेन्न, अत्रापि रूढिवशादेनात्रां कर्मणासुदयस्यैव वेदव्यपदेशात् । अत्रात्राप्यवृत्तेर्मथुनमम्मोहोत्पादो वेदः । उक्तं च—

वेदसुखीरणाए चालत् पुण गियच्छेदे बहुसो ।

थी-पु-णधुमए वि य वेप चि य वेप चि तओ हवइ वेओ<sup>१</sup> ॥ ८९ ॥

मुसदुःखवहुस्यकर्मक्षेत्रं कृपन्तीति कृपायाः । 'कृपन्तीति कृपायाः' इति क्रिमिति न व्युत्पादितः कृपायशब्दश्चेन्न, ततः संशयोत्पत्तेः प्रतिपत्तिरौषभयाच्च । उक्तं च—

अथवा, आत्मप्रवृत्ति अर्थात् आत्माकी चैतन्यरूप पर्यायमें सम्मोह अर्थात् राग-द्वेषरूप चित्तविक्षेपके उत्पन्न होनेको मोह कहते हैं । यहापर मोह शब्द वेदका पर्यायवाची है । शंका—इसप्रकारके लक्षणके करने पर भी संपूर्ण मोहके उदयको वेद संज्ञा प्राप्त हो जावेगी, क्योंकि, वेदकी तरह शेष मोह भी व्यामोहको उत्पन्न करता है ?

समाधान—ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि, रुढिके बलसे वेद नामके कर्मके उदयको ही वेद संज्ञा प्राप्त है ।

अथवा, आत्मप्रवृत्ति अर्थात् आत्माकी नैतन्यरूप पर्यायमें मैथुनरूप चित्तविक्षेपके उत्पन्न होनेको वेद कहते हैं । क्या भी है—

वेदकर्मकी उद्दीरणसे यह जंचि नाना प्रकारके बालभाव अर्थात् चानल्यको प्राप्त होता है और रीभाव, पुबन्भाव तथा नपुसकभावका वेदन करता है, इसलिये उस वेदकर्मके उदयसे प्राप्त होनेवाले भावको वेद कहते हैं ॥ ८९ ॥

सुत, दुरस्वरूपी नाना प्रकारके धान्यको उत्पन्न करनेवाले कर्मरूपी क्षेत्रको जो कर्षण करती है, अर्थात् फल उत्पन्न करनेके योग्य करती हैं, उन्हें कृपाय कहते हैं ।

शंका—यदा पर कृपाय शब्दकी, 'कृपन्तीति कृपाया' अर्थात् जो कसे उन्हें कृपाय कहे हैं, इसप्रकारकी व्युत्पत्ति क्यों नहीं की ?

समाधान—'जो कसे उन्हें कृपाय कहते हैं' कृपाय शब्दकी इसप्रकारकी व्युत्पत्ति करने पर करनेवाले किसी भी पदार्थको कृपाय माना जायगा । अतः कृपायोंके स्वरूप समझनेमें स्वाय उत्पन्न तो सकता है, इसलिये जो कसे उन्हें कृपाय कहते हैं इसप्रकारकी व्युत्पत्ति नहीं की गई । तथा, उक्त व्युत्पत्तिसे कृपायोंके स्वरूपके समझनेमें कठिनता जायगी, इस भावितसे भी 'जो कसे उन्हें कृपाय कहते हैं' कृपाय शब्दकी इसप्रकारकी व्युत्पत्ति नहीं की गई । क्या भी है—

<sup>१</sup> पुमितिउमरोदोमनेण पुमिणि उमदो भोमे । गमोदनेण दने पाण गमा कहि विममा ॥ वेदम्होदो-  
ता गमिगमन र शोमन गमोगे । समोदण ग जाणदि जतो दि उण व दोण ग ॥ गो जी २७१, २७२

<sup>२</sup> गोप 'ने गो' इति पाठ ।

सुह-दुक्ख सुवहु-ससं कम्म-वलेत्त कसेदि जीवरत्त ।  
ससार दूर मेरं तेण कसायो चि ण वेत्ति' ॥ ९० ॥

भूतार्थप्रकाशकं ज्ञानम् । मिथ्यादृष्टीनां कथं भूतार्थप्रकाशकमिति चेन्न, सम्यग्-मिथ्यादृष्टीनां प्रकाशस्य समानतोपलम्भात् । कथं पुनस्त्वज्ञानिन इति चेन्न, मिथ्या-त्वोदयात्यतिभासितेऽपि वस्तुनि संशयविपर्ययानध्यवसायानिद्विचिन्तितस्तेषामज्ञानितोक्तैः । एवं सति दर्शनावस्थायां ज्ञानाभावः स्यादिति चेन्नैव दोषः, इत्यत्रात् । कालसूत्रेण सह

सुख, दुःख आदि अनेक प्रकारके धान्यको उत्पन्न करनेवाले तथा जिसकी ससाररूप मर्यादा अत्यन्त दूर है ऐसे कर्मरूपी क्षेत्रको जो कर्षण करती हैं उन्हें कृपाय कहते हैं ॥ ९० ॥ सत्यार्थका प्रतीति करनेवाली शक्तिविक्षेपको ज्ञान कहते हैं ।

शंका—मिथ्यादृष्टियोंका ज्ञान भूतार्थका प्रकाशक कैसे हो सकता है ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि, सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टियोंके प्रकाशमें समानता पाई जाती है ।

शंका—यदि दोनोंके प्रकाशमें समानता पाई जाती है, तो फिर मिथ्यादृष्टि जीव अज्ञानी कैसे हो सकते हैं ?

समाधान—यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि, मिथ्यावृत्तकर्मके उदयसे वस्तुके प्रति-भासित होनेपर भी संशय, विपर्यय और अनध्यवसायकी निवृत्ति नहीं होनेसे मिथ्यादृष्टियोंको अज्ञानी कहा है ।

शंका—इसतरह मिथ्यादृष्टियोंको अज्ञानी मानने पर दर्शनीपयोगकी अवस्थामें ज्ञानका अभाव प्राप्त हो जायगा ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, दर्शनीपयोगकी अवस्थामें ज्ञानोपयोगका अभाव इष्ट ही है ।

शंका—यदि ऐसा मान लिया जावे तो इस कथनका कालाजुयोगमें अर्थे दुग 'एगजीव

१ गो जी २८२ अत्र मिथ्यादर्शनाद्विज्ञानसंलक्षणपरिणामस्य गीज प्रवृत्तिश्चिरयमुत्तमागद्वैशमदेवमन्वन्-  
लक्षणं अने उच्यते। क्रीधादिप्रपायनामा जीवस्य शून्य पुनरपि कालादिसामप्रालंबिभ्रमपुपवसुखदुःखलक्षणमद्विधिवान्यानि  
अनाद्यनियमसमारसमीभानि तथा सुफलितानि भवति तथा उपर्युपरि टपति इति 'कृषि विअसने' इत्यस्य  
वातोर्निखनार्थं गृह्णात्या निरक्षिप्रपूर्क कृपायश्च दस्यार्थनिरूपण आचार्येण उतमिति । जी प्र की, कयतेऽस्मिन्  
श्राणी पुन पुनराट्टिसिमात्तमुत्पत्ति क्योपलकयमाणमनकनदिति । कय गगार तन्मिनामताव्यन्तं गच्छत्यभिर-  
स्यन्त इति स्याता । यदा स्याया इव कृपाया, यथा हि तुवरिकादिप्रपायमरुद्विते गममि मन्विज्यादिराग शिवाति  
चिर चातनिधिते तैयत्कटुपितं जासमति कर्म नवत्यते चिर शिवातिकं च जायते, तदापनात्तस्थिते । यमि रा को  
( स्याय )

२ कालपटनान कालाजुयोगद्वारे ओद्वय । तत्र चकारनेकजीवापेक्षया ज्ञानदिमार्गानां काल प्रतिपादित ।



विरोधः किञ्च भवेदिति चेन्न, तत्र क्षयोपशमस्य ग्राह्यात् । विपर्ययः क्रथं भूतार्थ-  
प्रकाशक इति चेन्न, चन्द्रमस्तुपलम्भ्यमानद्वित्वस्यान्यत्र सत्त्वतस्तस्य भूतत्वोपपत्तेः ।  
अथवा सद्भावविश्वयोपलम्भकं ज्ञानम् । एतेन संशयविपर्ययानध्यवसायावस्थासु  
ज्ञानाभावः प्रतिपादितः स्यात्, शुद्धनयविवक्षायां तत्त्वार्थोपलम्भकं ज्ञानम् । ततो  
मिथ्यादृष्टयो न ज्ञानिन इति सिद्धं द्रव्यगुणपर्यायाननेन जानातीति ज्ञानम् । अभिन्नस्य  
क्रथं करणत्वमिति चेन्न, सर्वथा भेदाभेदे च स्वरूपहानिप्रसङ्गादेनेकान्ते स्वरूपोपलब्धेर्न तस्य

पहुच्च अणवित्यो अपञ्जवसिद्धो' इत्यादि सूत्रके साथ विरोध क्यो नही प्राप्त हो जायगा ?  
अर्थात् कालानुयोगमें ज्ञानका काल एक जीवकी अपेक्षा अनन्त-अनन्त आदि आया है । और  
यहा पर दर्शनोपयोगकी अवस्थामें ज्ञानका अभाव बतलाया है, इसलिये यह कथन परस्पर  
विरुद्ध है । अतः दर्शनोपयोगकी अवस्थामें ज्ञानका अभाव कैसे माना जा सकता है, क्योंकि,  
इस कथनका कालानुयोगके सूत्रसे विरोध आता है ?

समाधान — ऐसी शका करना ठीक नहीं है, क्योंकि, कालानुयोगमें जो ज्ञानकी अपेक्षा  
कालका कथन किया है, वहाँ क्षयोपशमकी प्रधानता है ।

शंका — विपर्ययज्ञान ( मिथ्याज्ञान ) सत्यार्थका प्रकाशक कैसे हो सकता है ?

समाधान — ऐसी शका ठीक नहीं है, क्योंकि, चन्द्रमामें पाये जानेवाले द्वित्वका दूसरे  
पदार्थमें सत्त्व पाया जाता है, इसलिये उस ज्ञानमें भूतार्थता बन जाती है ।

अथवा, सद्भाव अर्थात् वस्तु-स्वरूपका निश्चय करनेवाले धर्मको ज्ञान कहते हैं ।  
ज्ञानका इसप्रकारका लक्षण करनेसे संशय, विपर्यय और अनध्यवसायरूप अवस्थामें ज्ञानका  
( सत्यज्ञानका ) अभाव प्रतिपादित हो जाता है । कारण कि, शुद्ध-निश्चयनकी विवक्षामें  
वस्तु-स्वरूपका उपलम्भ करनेवाले धर्मको ही ज्ञान कहा है । इसलिये मिथ्यादृष्टी जीव ज्ञानी  
नहीं हो सकते हैं । इसप्रकार जिसके द्वारा द्रव्य, गुण और पर्यायोंको जानते हैं उसे ज्ञान  
कहते हैं यह बात सिद्ध हो जाती है ।

शंका — ज्ञान तो आत्मासे अभिन्न है, इसलिये वह पदार्थके जाननेके प्रति साधकतम  
कारण कैसे हो सकता है ?

समाधान — ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, साधकतम कारणरूप ज्ञानको आत्मासे  
सर्वथा भिन्न अथवा अभिन्न मान लेने पर आत्मके स्वरूपकी हानिका प्रसंग आता है, और  
कथञ्चित् भिन्न अथवा अभिन्नस्वरूप अनेकान्तके मान लेने पर वस्तुस्वरूपकी उपलब्धि होती है,  
इसलिये आत्मासे कथञ्चित् भेदरूप ज्ञानको जाननेरूप क्रियाके प्रति साधकतम कारण मान

तत्र प्रतिपादितानि च सूत्रानि कालसूत्रानि ज्ञेयानि । ऋते च ' गणायुक्तादेण मदियण्णामिदुदअण्णामिदु  
मिच्छादिदी ओच ( कालसूत्र २.६३ ) ओषेण मिच्छादिदी केचिचि कालदो होति ? गणायुक्ता पटुञ्च सन्च्छा  
( कालसूत्र २.२० ) एण्णोच पटुञ्च अण्णामिदो अपञ्जमिदो, अण्णामिदो अपञ्जमिदो, सादिओ सपञ्जमिदो ।  
( कालसूत्र २.३ ) ङ जी का नू.

करणत्वविरोध इति । उक्तं च—

जाणइ तिकाल-सहिए दब्ब-गुणे पज्जे य बहु-भेए ।

पव्वण्ण च परोक्ख अणेण गणे ति ण बेति' ॥ ९१ ॥

संयमनं संयमः । न द्रव्ययमः संयमस्तस्य 'सं' शब्देनापादितत्वात् । यमेन  
समितयः सन्ति, तास्वसतीषु संयमोऽनुपपन्न इति चेन्न, 'सं' शब्देनात्मसात्कृताशेषसमिति-  
त्वात् । अथवा व्रतसमितिकषायदण्डेन्द्रियाणां धारणानुपालननिग्रहत्यागजयाः संयमः ।  
उक्तं च—

लेनेमे कोई विरोध नहीं आता है ।

विशेषार्थ — यदि धर्मको धर्मसे सर्वथा भिन्न माना जावे तो दोनोंकी स्वतन्त्र सत्ता  
सिद्ध हो जानेके कारण यह धर्म है और यह धर्म है अथवा यह धर्म इस धर्मका है, इसप्रकारका  
व्यवहार ही नहीं बन सकता है । इसलिये निश्चित धर्मके अभावमें वस्तुके विनाशका प्रसंग  
आता है । और यदि धर्मको धर्मसे सर्वथा अभिन्न माना जावे तो धर्म और धर्म इसप्रकारका  
भेदरूप व्यवहार नहीं बन सकता है, क्योंकि, सर्वथा अवेद मानने पर इन दोमेंसे किसी  
एकका ही अस्तित्व सिद्ध होगा । उनमेंसे यदि केवल धर्मका ही अस्तित्व मान लिया जावे,  
तो उसके लिये आधार चाहिये, क्योंकि, कोई भी धर्म आधारके बिना नहीं रह सकता है ।  
और यदि केवल धर्मका अस्तित्व मान लिया जावे तो धर्मके बिना उसकी स्वतन्त्र सत्ता  
नहीं सिद्ध हो सकती है । इसलिये धर्मको धर्मसे कथञ्चित् भिन्न और कथञ्चित् अभिन्न  
ही मानना चाहिये । इसतरह अनेकान्तके मानने पर ही धर्म-धर्मो व्यवस्था बन सकती है  
और धर्म-धर्मो व्यवस्थाके सिद्ध हो जाने पर ज्ञानको साधकतम कारण माननेमें किसी भी  
प्रकारका विरोध नहीं आता है । कहा भी है—

जिसके द्वारा जीव त्रिकालविषयक समस्त द्रव्य, उनके गुण और उनकी अनेक प्रकारकी  
पर्यायोंको प्रत्यक्ष और परोक्षरूपसे जाने उसको ज्ञान कहते हैं ॥ ९१ ॥

संयमन करनेको संयम कहते हैं । संयमका इसप्रकारका लक्षण करने पर द्रव्य-यम  
अर्थात् भावचारित्र्यस्य द्रव्यचारित्र संयम नहीं हो सकता है, क्योंकि, संयम शब्दमें ग्रहण  
क्रिये गये 'स' शब्दसे उसका निराकरण कर दिया है ।

शंका — यहा पर यमसे समितियोंका ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि, समितियोंके नहीं  
होने पर संयम नहीं बन सकता है ?

समाधान — ऐसी शंका ठीक नहीं है, क्योंकि, संयममें दिये गये 'सं' शब्दसे संपूर्ण  
समितियोंका ग्रहण हो जाता है ।

अथवा, पांच व्रतोंका धारण करना, पांच समितियोंका पालन करना, क्रोधादि  
कषायोंका निग्रह करना, मन, वचन और कायरूप तीन दण्डोंका त्याग करना और पांच  
इन्द्रियोंके विषयोंका जीतना संयम है । कहा भी है—



वचनमिन्द्र-रुमायाण दृष्टाण तद्विद्विषाण पचण्डं ।

भरण-याण्य-णिगाद-चाग जया सजमो भणिओ' ॥ ९२ ॥

दृश्यतेऽन्तेति दर्शनम् । नाश्यालोकेन चातिप्रसङ्गस्तयोरनात्मधर्मत्वात् । दृश्यते ज्ञायतेऽन्तेति दर्शनमित्युच्यमाने ज्ञानदर्शनयोरविशेषः स्यादिति चेन्न, अन्तर्बहिर्मुखयो- द्विप्रकाशयोर्यद्वैतज्ञानव्यपदेशभाजोरैकत्वनिरोधात् । किं तच्चैतन्यमिति चेन्निकालगोच- गन्ननपर्यायात्मकस्य जीनस्वरूपस्य स्वधयोपगमवशेन संवेदनं चैतन्यम् । स्वतो व्यतिरिक्त-

अद्विन्मा, सत्त्वं, उच्यते, ब्रह्मचर्यं, अपरिग्रह इत पात्र मदावतोंका धारण करना, ईर्ष्या, भाया, गणणा, आदाननिक्षेप, उत्सर्ग इत पात्र समितियोंका पालना क्रोध, मान, माया, और लोभ इन चार कगयोंका निग्रह करना मन, वचन और नायरूप तीन दण्डोंका त्याग करना आर पात्र इन्द्रियोंका जय इसको समय कहते हैं ॥ ९२ ॥

ज्ञितके द्वारा देना जाय अर्थात् अवलोकन किया जाय उसे दर्शन कहते हैं । दर्शनका इतप्रकार ला लक्षण करते पर चक्षु इन्द्रिय और आलोक भी देयनेमें सहकारी होनेसे उनमें दर्शनका लक्षण चला जाता है, इसलिये अतिप्रसङ्ग दोष आता है । शङ्काकारकी इसप्रकारकी शङ्काको मगमें निन्द्य करते आचार्य कहते हैं कि इसतरह चक्षु इन्द्रिय और आलोकके साथ अतिप्रसङ्ग दोष भी नहीं आता है, क्योंकि, चक्षु इन्द्रिय और आलोक आत्माके धर्म नहीं हैं । या चक्षुसे दृश्य चक्षुका ही ग्रहण करना चाहिये ।

शंका—जितके द्वारा देया जाय, जाना जाय उसे दर्शन कहते हैं । दर्शनका इसप्रकार लक्षण करने पर ज्ञान और दर्शनमें कोई विशेषता नहीं रह जाती है, अर्थात् दोनों एक हो जाते हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, अन्तर्मुख चित्तकाशकी दर्शन और बहिर्मुख चित्तकाशकी ज्ञान माना है, इसलिये इन दोनोंके एक होनेमें विरोध आता है ।

शंका—पर चैतन्य क्या वस्तु है ?

समाधान—चित्तकालिपरक अतन्तर्पर्यायरूप जीवके स्वरूपका अपने अपने क्षयोप- शमके अनुसार जो संवेदन होना है उसे चैतन्य कहते हैं ।

शंका—अपनेसे भिन्न द्वारा पदार्थोंके ज्ञानको प्रकाश कहते हैं, इसलिये अन्तर्मुख

१ भा जी ४६५

२ उक्तान्तर्मुखिनिमित्त रक्षण तद्रूप यस्त्वामन परिऽउदतमल्लोचन तदर्शन भण्यते । तदनन्तर पर भणितो रित्-पक्षेण पदार्थप्रश त ज्ञानमिति चातिम् । तथा कोऽपि पुरगो षटत्रिपर्यायिन्प कुर्वन्नास्ते, परपक्षीमानार्थ तिरे जाने सति पदवित्पा- व्यापृत्य रन्वन्वे प्रथममल्लोचन परिऽउदन करोति तददर्शनमिति । तस्मिन् पदार्थमिति लिपय पर कोऽपिपक्षेण पदार्थप्रशक्तिम् करोति तद ज्ञान भण्यते । बृ द स. गृ ८१-८२

चाह्यार्थविगतिः प्रकाश इत्यन्तर्बहिर्मुखयोश्चित्प्रकाशयोजानात्यनेनात्मानं ब्राह्ममर्थमिति च ज्ञानमिति सिद्धत्वादेकत्वम्, ततो न ज्ञानदर्शनयोर्भेद इति चेन्न, ज्ञानादिव दर्शनात् प्रतिकर्मव्यवस्थाभावात् । तर्हस्त्वन्तर्बहिर्मासान्यग्रहणं दर्शनम्, विशेषग्रहणं ज्ञानमिति चेन्न, सामान्यविशेषात्मकस्य वस्तुनो विक्रमेणोपलम्भात् । सोऽप्यस्तु न कश्चिद्विशेष इति चेन्न, 'हृदि द्रुचे णत्थि उवजोगा' इत्यनेन सह निरोधात् । अपि च न ज्ञानं प्रमाणं सामान्यव्यतिरिक्तविशेषस्यार्थक्रियाकर्तृत्व प्रत्यसमर्थत्वतोऽवस्तुनो ग्रहणात् । न तस्य ग्रहणमपि सामान्यव्यतिरिक्ते विशेषे ह्यवस्तुनि कर्तृकर्मरूपाभावात् । तत एव न दर्शनमपि

चैतन्य और बहिर्मुख प्रकाशके होने पर जिसके द्वारा यह जीव अपने स्वरूपको और पर पदार्थोंको जानता है उसे ज्ञान कहते हैं । इसप्रकारकी व्याख्याके सिद्ध हो जानेसे ज्ञान और दर्शनमें एकता आ जाती है, इसलिये उनमें भेद सिद्ध नहीं हो सकता है ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि, जिसतरह ज्ञानके द्वारा यह घट है, यह पट है, इत्यादि विशेषरूपसे प्रतिनियत कर्मकी व्यवस्था होती है उसतरह दर्शनके द्वारा नहीं होती है, इसलिये इन दोनोंमें भेद है ।

शंका—यदि ऐसा है तो अन्तरग सामान्य और बहिरग सामान्यको ग्रहण करनेवाला दर्शन है तथा अन्तर्बहिर् विशेषको ग्रहण करनेवाला ज्ञान है, ऐसा मान लेना चाहिये ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि, सामान्य और विशेषात्मक वस्तुका क्रमके विना ही ग्रहण होता है ।

शंका—यदि सामान्यविशेषात्मक वस्तुका क्रमके विना ही ग्रहण होता है तो वह भी रहा आओ, ऐसा मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि, 'छमस्यो'के दोनों उपयोग एक साथ नहीं होते हैं, इस कथनके साथ पूर्वोक्त कथनका विरोध आता है ।

दूसरी बात यह है कि सामान्यको छोड़कर केवल विशेष अर्थक्रिया करनेमें अरामर्थ है । और जो अर्थक्रिया करनेमें असमर्थ होता है वह अवस्तुरूप पड़ना है, अतएव उसका ग्रहण करनेवाला होनेके कारण ज्ञान प्रमाण नहीं हो सकता है । तथा केवल विशेषका ग्रहण भी तो नहीं हो सकता है, क्योंकि, सामान्यरहित, अवस्तुरूप केवल विशेषमें कर्तृकर्मरूप व्यवहार नहीं बन सकता है । इसतरह केवल विशेषको ग्रहण करनेवाले ज्ञानमें प्रमाणात् सिद्ध नहीं होनेसे केवल सामान्यको ग्रहण करनेवाले दर्शनको भी प्रमाण नहीं मान सकते हैं । अर्थात्, जब कि सामान्यरहित विशेष और विशेषरहित सामान्य वस्तुरूपसे सिद्ध ही नहीं होते हैं तो केवल विशेषको ग्रहण करनेवाला ज्ञान और केवल सामान्यको ग्रहण करनेवाला दर्शन प्रमाण कैसे माने जा सकते हैं ?



कनस्य वृत्तारालोकवृत्तिः स्वप्नेदं, तदर्शनमिति लक्ष्यनिर्देशः । प्रकाशवृत्तिर्चा दर्शनम् । अस्य गमनिका, प्रकाशो ज्ञानम्, तदर्थमात्मनो वृत्तिः प्रकाशवृत्तिसादर्शनम् । विषयविषयि-  
नंपातात् पूर्ववस्था दर्शनमित्यर्थः । उक्तं च —

ज साम्ना गृहणं भावाण गेव कद्दु आचारं ।

अविसेसिक्कण अत्थे दसणमिदि भण्णदे समए ॥ ९३ ॥

लिम्पतीति लक्ष्या । न भूमिलेपिक्रयाऽतिव्याप्तिदोषः कर्मभिरात्मानमित्यध्या-  
हारोपेक्षितत्वात् । अथवात्मप्रवृत्तिसंश्लेषणकरी लक्ष्या । नात्रातिप्रसङ्गदोषः प्रवृत्तिशब्दस्य  
कर्मपर्यायत्वात् । अथवा कर्मायानुरञ्जिता कर्मावाङ्मनोयोगप्रवृत्तिलक्ष्या । ततो न केवलः

अलोकवृत्ति या स्वप्नेदं कथने है, और उसीको दर्शन कहते हैं । यहा पर दर्शन इस  
शब्दसे लक्ष्यका निर्देश किया है । अथवा, प्रकाश-वृत्तिको दर्शन कहते हैं । इसका अर्थ  
इसप्रकार है कि प्रकाश ज्ञानको कहते हैं और उस ज्ञानके लिये जो आत्माका व्यापार होता  
है उसे प्रकाशवृत्ति कहते हैं, और वही दर्शन है । अर्थात् विषय और विषयके योग्य देशमें  
हेतुकी पूर्णव्याप्तिको दर्शन कहते हैं । कहा भी है—

सामान्यविशेषात्मक बाल पदार्थोंको अलग अलग भेदरूपसे ग्रहण नहीं करके जो  
सामान्य ग्रहण अर्थात् स्वरूपभावका अवभासन होता है उसको परमाण्वममें दर्शन  
कहा है ॥ ९३ ॥

जो लिम्पन करनी है उसे लक्ष्या कहते हैं । यहाँ पर जो लिम्पन करती है यह  
लक्षण भूमिलेपिका (जिनके द्वारा जमीन लीपी जाती है) में चला जाता है, इसलिये लक्ष्यभूत  
लक्ष्याको चोत्रकर लक्षणके अलक्ष्यमें चले जानेके कारण अतिव्याप्ति दोष आता है । ऐसी  
प्रकाशो गमनं उदाहर आचार्य कहते हैं कि इसप्रकार लक्ष्याका लक्षण करने पर भी  
अतिव्याप्ति दोष नहीं आता है, क्योंकि, इस लक्षणमें 'कर्मसे आत्माको' इतने अध्याहारकी  
अपेक्षा है । इसका यह तात्पर्य है, कि जो कर्मसे आत्माको लिप्त करती है उसको लक्ष्या कहते  
हैं । अथवा, जो आत्मा और प्रवृत्ति अर्थात् कर्मका संन्य करनेवाली है उसको लक्ष्या कहते  
हैं । इसप्रकार लक्ष्याका लक्षण करने पर अतिप्रसंग दोष भी नहीं आता है, क्योंकि, यहाँ पर  
प्रवृत्ति शब्द कर्मका पर्यायवाची ग्रहण किया है । अथवा, कर्मायसे अनुरजित काययोग, वचन-  
योग और मनोयोगकी प्रवृत्तिको लक्ष्या कहते हैं । इसप्रकार लक्ष्याका लक्षण करने पर केवल

१ गो जी ६८२ मातातां गामागिगिया मन्वात्तपदार्थानां जातर मंदप्रश्नमट्वा यमामात्मग्रहण  
रान्यपामात्तागतं तर्जुमिति परमाण्वे भवति । तन्मुक्त्यन्याप्रश्नस्य कथं अर्थात् मात्तपदात्तं जतिजै-  
आतिव्याप्त्या गतिभारविक्तं स्वप्नवृत्तिसामान्य दर्शनमित्यर्थः । जी प्र द्यं भावाण साम्नाविनेगया गन्तवैत  
२ । गन्तवैपिगहण जीपि य दम्यं होदि ॥ गो जी ६८३

३ । तस्मैरसतिज्जा गेपगात्तिल्लेशा । न पि, २, ६

कपायो लक्ष्या, नापि योगः, अपि तु कपायातुविद्धा योगप्रवृत्तिलक्ष्येति सिद्धम् । ततो  
न चीतराणाणा योगो लक्ष्येति न प्रत्ययत्थेयं तन्त्रत्वाद्योगस्य, न कपायस्तन्त्रं विशेषण-  
त्वतस्तस्य प्राधान्याभावात् । उक्तं च —

लिपदि अर्पीकीरिदि एदाए णियय-पुण्ण-पात्रं च ।

जीवो ति होइ लेस्सा लेस्सा-गुण जाणय बखादो ॥ ९४ ॥

निर्वाणपुरस्कृतो भव्यः । उक्तं च —

सिद्धत्तणस्स जोगा जे जीवा ते हवति भवसिद्धा ।

ण उ मल विगमे णियमो ताण कणगोवलाणमिन्नं ॥ ९५ ॥

कपाय और केवल योगको लक्ष्या नहीं कह सकते हैं किन्तु कपायातुविद्ध योगप्रवृत्तिको ही लक्ष्या  
कहते हैं, यह बात सिद्ध हो जाती है । इससे बारहवें आदि गुणस्थानवर्ती चीतराणियोंके केवल  
योगको लक्ष्या नहीं कह सकते हैं ऐसा निश्चय नहीं कर लेना चाहिये, क्योंकि, लक्ष्यमें योगकी  
प्रधानता है । कपाय प्रधान नहीं है, क्योंकि, वह योगप्रवृत्तिका विशेषण है । अतएव उसकी  
प्रधानता नहीं हो सकती है । कहा भी है—

जिसके द्वारा जीव पुण्य और पापसे अपनेको लिप्त करता है, उनके आधीन करता  
है उसको लक्ष्या कहते हैं, ऐसा लक्ष्यको स्वरूपको जाननेवाले गणधरदेव आदिने कहा है ॥९४॥  
जिसने निर्वाणको पुरस्कृत किया है, अर्थात् जो सिद्धिपद प्राप्त करनेके योग्य है,  
उसको भव्य कहते हैं । कहा भी है—

जो जीव सिद्धत्व, अर्थात् सर्व कर्मसे रहित मुक्तिरूप अयस्या पानेके योग्य है उन्हें  
भव्यसिद्ध कहते हैं । किंतु उनके कनकौपल अर्थात् स्वर्णपायाणके समान मलका नाश होनेमें  
नियम नहीं है ।

विशेषार्थ — सिद्धत्वकी योग्यता रखते हुए भी कोई जीव सिद्ध अवस्थामें प्राप्त कर  
लेते हैं और कोई जीव सिद्ध अवस्थाको नहीं प्राप्त कर सकते हैं । जो भव्य होते हुए भी  
सिद्ध अवस्थाको नहीं प्राप्त कर सकते हैं, उनके लिये यह कारण बतलाया है कि जिसप्रकार  
स्वर्णपायाणमें सोना रखते हुए भी उसका अलग किया जाता निश्चित नहीं है, उसीप्रकार सिद्ध-  
अवस्थाकी योग्यता रखते हुए भी तदनुकूल सामर्थ्यके नहीं मिलनेसे सिद्ध-पदकी प्राप्ति  
नहीं होती है ।

२ गो जी ६८९ । किं तु ' णियपुण्णपाप च ' इत्यत्र ' णियपुण्णपुण्ण च ' पाठ ।

२ गो. जी ५५८ किं तु ' मिद्धत्तणस्स ' इति स्थाने ' भवत्तणस्स ' इति पाठ ।

३ मण्णइ मयो जोगो न य जोगेण मिच्छंइ सज्जो । जह जोगमि पि दळिण मज्ज य न कोएण पडिमा ॥  
जह वा म एण पामाणकणजोगो मिजोगजोगोडडि । न पि तुजइ मन्तोधि य मिजुडड जस्य मपची ॥ कि पुण  
जा मपची ता जोगसंवे न उ जजोगस । तह जो मोस्यो विममा गो मज्जाण न इयोरमि ॥

वि मा २३१३, - २३१५.

तद्विपरीतोऽभव्यः' । सुगममेतत् ।

प्रथमसंवेगानुकम्पास्तिक्रियाभिव्यक्तिलक्षणं सम्यक्त्वम् । सत्येवमसंयतसम्यग्दृष्टिगुणस्याभावः स्यादिति चेत्सत्यमेतत् शुद्धनये समाश्रियमाणे । अथवा तत्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् । अस्य गमनिकोच्यते, आप्तागमपदार्थस्तत्त्वार्थस्तेषु श्रद्धानमनुरक्ततां सम्यग्दर्शनमिति लक्ष्यनिर्देशः । कथं पौरस्त्येन लक्षणेनास्य लक्षणस्य न विरोधश्चैव दोषः, शुद्धाशुद्धनयसमाश्रयणात् । अथवा तत्त्वचिः सम्यक्त्वं अशुद्धतरनयसमाश्रयणात् । उक्तं च—

जिन्होंने निर्वाणको पुरस्कृत नहीं किया है उन्हें अभव्य कहते हैं । इसका अर्थ सरल है ।

प्रथम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्यकी प्रगटता ही जिसका लक्षण है उसको सम्यक्त्व कहते हैं ।

शंका—इसप्रकार सम्यक्त्वका लक्षण मान लेने पर असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानका अभाव हो जायगा ?

समाधान—यह कहना शुद्ध निश्चयनयके आश्रय करने पर ही सत्य कहा जा सकता है । अथवा, तत्वार्थके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं । इसका अर्थ यह है कि आप आगम और पदार्थको तत्वार्थ कहते हैं । और उनके विषयमें श्रद्धान अर्थात् अनुसृतिकि करनेको सम्यग्दर्शन कहते हैं । यथा पर सम्यग्दर्शन लक्ष्य है । तथा आप, आगम और पदार्थका श्रद्धान लक्षण है ।

शंका—पहले कहे हुए सम्यक्त्वके लक्षणके साथ इस लक्षणका विरोध क्यों न माना जाय ? अर्थात् पहले लक्षणमें प्रथमादि गुणोंकी अभिव्यक्तिकी सम्यक्त्व कह आये हैं और इस लक्षणमें आप आदिके विषयमें श्रद्धाको सम्यक्त्व कहा है । इसलिये ये दोनों लक्षण भिन्न भिन्न अर्थको प्रगट करते हैं, इन दोनोंमें अविरोध कैसे हो सकता है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, शुद्ध और अशुद्ध नयकी अपेक्षासे ये दोनों लक्षण कहे गये हैं । अर्थात् पूर्वोक्त लक्षण शुद्धनय की अपेक्षासे है और तत्वार्थश्रद्धान रूप लक्षण अशुद्धनयकी अपेक्षासे है, इसलिये इन दोनों लक्षणोंके कथनमें द्विष्टभेद होनेके कारण कोई विरोध नहीं आता है ।

अथवा तत्त्वचिःको सम्यक्त्व कहते हैं । यह लक्षण अशुद्धतर नयकी अपेक्षा जानना चाहिये । कहा भी है—

१ प्रथमसंवेगानुकम्पास्तिक्रियाभिव्यक्तिलक्षणं प्रथम ॥ रागादीनामनुष्ठेन प्रथम । समाराद्धान्ता संवेग । सर्वप्राणेषु मैत्री अनुकम्पा । जीमादयोऽर्था यथास्वमात्रं सतीति मतिरास्तिक्यम् । एतरेभिव्यक्तिलक्षणं प्रथम सराग-सम्यक्त्वमित्युच्यते । त रा वा १, २, ३०

२ मतिषु 'श्रद्धानमुक्ता' इति पाठ ।

छ-पच-गव-विहाण अथाणं जिणवरोवड्डाण ।

आणाए हिगमेण व सदहण होइ सम्मत्तं ॥ ९६ ॥

सम्यक् जानतीति संज्ञं मनः, तदस्यास्तीति संज्ञी । नैकेन्द्रियादिनातिप्रसङ्गः तस्य मनसोऽभावात् । अथवा शिक्षाक्रियोपदेशालापग्रही संज्ञी । उक्तं च—

सिख्वा-किरियुवदेसालावगाही मणोवल्लेण ।

जो जीवो सो सण्णी तच्चिद्वरीदो असण्णी दुं ॥ ९७ ॥

शरीरप्रायोग्यपुद्गलपिण्डग्रहणमाहारः । सुगममेतत् । उक्तं च—

आहरदि सरारणं तिण्हं एगदर-वगणाओ व ।

भाता मणस्स णियद तम्हा आहारओ भणिओ ॥ ९८ ॥

जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा उपदेश दिये गये छह द्रव्य, पांच अस्तिकाय और नव पदार्थका आज्ञा अर्थात् आप्तवचनके आश्रयसे अथवा अयोगम अर्थात् प्रमाण, नय, निक्षेप और निराकिरूप अनुयोगद्वारोंसे श्रद्धान करनेको सम्यक्त्व कहते हैं ॥ ९६ ॥

जो भलीप्रकार जानता है उसको संज्ञ अर्थात् मन कहते हैं । वह मन जिसके पाया जाता है उसको संज्ञी कहते हैं । यह लक्षण एकेन्द्रियादिकर्म चला जायगा, इसलिये अतिप्रसंग दोष आज्ञायगा यह बात भी नहीं है, क्योंकि, एकेन्द्रियादिकके मन नहीं पाया जाता है । अथवा, जो शिक्षा, क्रिया, उपदेश और आलापको ग्रहण करता है उसको संज्ञी कहते हैं । कहा भी है—

जो जीव मनके अवलम्बनसे शिक्षा, क्रिया, उपदेश और आलापको ग्रहण करता है उसे संज्ञी कहते हैं । और जो इन शिक्षा आदिको ग्रहण नहीं कर सकता है उसको असंज्ञी कहते हैं ॥ ९७ ॥

औदारिकादि शरीरके योग्य पुद्गलपिण्डके ग्रहण करनेको आहार कहते हैं । इसका अर्थ सरल है । कहा भी है—

औदारिक, चैक्रियक और आहारक इन तीन शरीरोंमेंसे उद्यको प्राप्त हुए किसी

१ गो जी ५६१ आणाए जल्लया प्रमाणादिभिनिता ईपनिर्णयलक्षणया । अहिगमेण अधिगमेण प्रमाणनयआप्तवचनाश्रयेण निदोषनिवृत्त्यनुयोगद्वारै निक्षेपनिर्णयलक्षणेण । जी प्र टी

२ क्षिताहितमिथिनिधेभिमिमा शिक्षा । करचरणचारनादिरूपा क्रिया । चर्मयुनिकादितोषादिरयमानवध-मिधानादिरूपदेश । श्लोमादिपाठ आलाप । तत्प्राही मनोऽवल्लेन यो मुख्य उक्षगजराजनीरादिलीन स सज्ञी नाम । गो जी, जी प्र, टी ६६२

३ गो जी ६६१ मीमसादि जो पुव्य कच्चमकच्च च तच्चमिदर च । मिसखादि नामेणेदि य समणो जमणो य निवरीदो ॥ गो जी ६६१

४ गो जी ६६५ तत्र च 'भासागणस्स' स्थाने 'भामागण' इति पाठ । उदयाणाणसरारोदणुण तदेहवयणवित्ताण । णोस्ममवगणणं गहण आहारय णाम ॥ गो जी ६६४



रिति श्रुतवत् शिष्यस्य तन्निर्देशविषयसंशयः समुत्पद्यत इति जातनिश्चयः प्रच्छास्त्रमाह—  
तं जहा ॥ ६ ॥

अव्यक्तत्वाच्चदिति ननुसकल्लिङ्गनिर्देशः । 'तद्' अष्टानामनुयोगद्वाराणां निर्देशः ।  
यथेति पृच्छा । एवं प्रष्टवतः शिष्यस्य संदेहापोहनार्थमुत्तरमाह—

**संतपरूवणा दृव्यपमाणानुगमो खेत्तानुगमो फोसणानुगमो  
कालानुगमो अंतरानुगमो भावानुगमो अप्पावहुगानुगमो चेदि ॥७॥**

अट्टणमणियोगद्वाराणामाहम्मि किमिदि संतपरूवणा चेय उच्चदे ? ण, संताणि-  
योगो सेसाणियोगद्वाराणं जेण जेणीभूदो तेण पढमं संताणियोगो चेव मणणदे ।  
समासोका ज्ञान नहीं हो सकता है। ऐसा सुननेवाले शिष्यको उन आठ अनुयोगद्वारोंके नामके  
विषयमें संशय उत्पन्न हो सकता है। इसप्रकारका निश्चय होने पर अन्वर्थ प्रच्छास्त्रको  
कहते हैं—

वे आठ अधिकार कौनसे हैं ॥ ६ ॥

कहा जानेवाला विषय अव्यक्त होनेसे 'सामान्ये ननुसकम्' इस नियमको ध्यानमें  
रखकर आचर्यते 'तद्' यह नपुंसकलिङ्ग निर्देश किया है, जो कि आगे कहे जानेवाले उन  
आठों ही अनुयोगद्वारोंका निर्देश करता है। 'यथा' यह पद प्रच्छाको प्रगट करता है।  
अर्थात् वे आठ अनुयोगद्वार कौनसे हैं? इसप्रकार पूछनेवाले शिष्यके संदेहको दूर करनेके  
लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सत्यरूपणा, द्रव्यप्रमाणानुगम, क्षेत्रानुगम, स्पर्शानुगम, कालानुगम, अन्तरानुगम,  
भावानुगम और अल्पबहुत्वानुगम ये आठ अनुयोगद्वार होते हैं ॥ ७ ॥

शंका—आठ अनुयोगद्वारोंके आदिमें सत्यरूपणा ही क्यों कहीं गई है?

समाधान—ऐसा नहीं कहना, क्योंकि, सत्यरूपणारूप अनुयोगद्वार जिस  
कारणसे शेष अनुयोगद्वारोंका योनिभूत (मूलकारण) है, उसीकारण सत्यसे पहले सत्यरूप-  
णाका ही निरूपण किया है।

१ सत्तं छव्यमिचारी मर्मपदार्थविषयमा, न णि कथिम् पदार्थं मत्तां न्यमिचरिणि xx मया च त्तिवा-  
रहणामास्तित मूल तेन हि निश्चितस्य मन्तुन उत्तरा विंता युन्ति अतमस्यारो वचन क्रियेते । सत्त पाणानांपलःये  
सत्योपदेग । निश्चितमस्यस्य निश्चयमितिप्रतिरुत्तं क्षेत्रामिवात्मम् । अवस्थाविगमस्य वणिगाच्चिकालवियोगोप-  
क्षेपनिश्चयार्थं सर्वमम् । स्थितिमतोऽविषयिच्छेदार्थं कालोपादानम् । अनुसूतार्थोयस्य व्यगामे पुनरनुतिदर्शनात्तत्त्वन्म्  
(अतस्तत्त्वन्म्) । परिणामप्रकारनिर्णयार्थं मासत्त्वन्म् । मरुतात्तात्त्वन्मितिप्रोऽप्यनोयतिरेयप्रतिपक्ष्यर्थमयवन्म्-  
यत्त्वन्म् । त रा ना पृ ३०

संतपरूवणागतं किमिदि दृव्यपमाणानुगमो उच्चदे ? ण, णिय-संखा-गुणिद्वोगाहण-  
खेत्तं सेत्तं उच्चदे दि । एवं चेव अदीदि-कृतसणेण सह फोसणं उच्चदे । तदो दो वि अहि-  
यारा संखा-जेणिणो । णाणेग-जीवे अस्सिसऊग उच्चमाण-कालंतर-परूवणा वि संखा-जेणी ।  
इदं थोवमिदं च बहुवमिदि मणगमाण-आप्पावहुगं पि संखा-जेणी । तेण एद्राणमाहम्मिह  
दव्यपमाणानुगमो मणग-जेणो । एत्थ भावो किमिदि ण उच्चदे ? ण, तस्स बहु-  
वणणादो । कथं भावो बहु-वणणीयो ? ण, कम्म कम्मोदय-परूवणाहि विणा  
तस्म परूवणाभावादो । छ-वड्डि-हाणि-ट्टिय-भाव-संसमंतरेण भाव-वणणाणुववत्तीदो वा ।  
वड्डमाण-फारं वणणेदि सेत्तं । फोमणं पुग अदीदिं वड्डमाणं च वणणेदि । अवगय वड्डमाण-  
फासो सुहेण दो वि पच्छा जाणदु ति पोसगपरूवणादो हेदु णाम पुब्बं खेत्तस्स

शंका—सत्यरूपणके बाद द्रव्यप्रमाणानुगमका कथन क्यों किया गया है?

समाधान—यह शंका भी ठीक नहीं है, क्योंकि, अपनी अपनी संख्यासे गुणित  
अवगाहनारूप क्षेत्रको ही क्षेत्रानुगम कहते हैं। और अपनी अपनी संख्यासे गुणित अवगा-  
हनारूप क्षेत्र ही भूतकालीन स्पर्शानुगम कहा जाता है। इसलिये इन  
दोनों ही अधिकारोंका सत्त्वाधिकार (द्रव्यप्रमाणानुगम) योनिभूत है। उसीप्रकार नाना  
जीव और एक जीवकी अपेक्षा वर्णन की जानेवाली कालप्ररूपणा और अन्तरप्ररूपणाका  
भी सत्त्वाधिकार योनिभूत है। तथा यह अल्प है, यह बहुत है, इसप्रकार कहे जानेवाले  
अल्पबहुत्वानुयोगद्वारका भी सत्त्वाधिकार योनिभूत है। इसलिये इन सबके आदिमें द्रव्य-  
प्रमाणानुगमका ही कथन करना योग्य है।

शंका—यहां भावप्ररूपणाका वर्णन क्यों नहीं किया गया है?

समाधान—उसका वर्णन करने योग्य विषय बहुत है, इसलिये यहां भावप्ररूपणाका  
वर्णन नहीं किया गया है।

शंका—यह कैसे जाना जावे कि भावप्ररूपणा बहुवर्णनीय है?

समाधान—ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि, मर्म और कर्मोदयके निरूपणके  
विना भावानुयोगद्वारका निरूपण नहीं हो सकता है, इसलिये भाव बहुवर्णनीय है यह  
समझना चाहिये। अथवा, पद्गुणी रहति ओर पद्गुणी बुद्धिमें स्थित भावकी संख्याके विना  
भावप्ररूपणाका वर्णन नहीं हो सकता है, इसलिये भी यहां भावप्ररूपणाका वर्णन नहीं किया  
गया है।

शंका—क्षेत्रानुयोग वर्तमानकालीन स्पर्शका वर्णन करता है। और स्पर्शानुयोग  
अतीत और वर्तमानकालीन स्पर्शका वर्णन करता है। जिसने वर्तमानकालीन स्पर्शको जान  
लिया है वह अन्तर सरलतापूर्वक अतीत और वर्तमानकालीन स्पर्शको जान लेवे, इसलिये



परुच्यणा, ण पुण कालंतरोहिंतो ? इदि ण, अणवगय-खेत्त-फोसणस्स तकालंतर-जाणणुवाया-भावादो । ण च मंतमत्थमागमो ण परुवेइ तस्स अत्थावयत्त-पांसगदो । गेदाणि तन्नालंतरं पडिवज्जीटि चेण्ण, तापडणे विरोहाभावदो । तथा भावप्पावहुगाणं पि परुच्यणा खेत्त-फोसणणुगमंतरेण ण तव्विसया होति ति पुव्वमेव खेत्त-फोसण-परुच्यणा कायन्ना । सेमाहियोरसु संनेतु ते मोत्तूण किमहं कालो पुव्वमेव उच्चदे ? ण ताव अंतगपरुच्यणा एत्थ भण्ण-जोग्गा काल-जोणित्तादो । ण भावो वि तस्स तदो हेट्ठिम-अहियार-जोणित्तादो । ण अप्पावहुगं पि तस्स वि सेसाणियोग-जोणित्तादो । परिसेसादो कालो चैव तत्थ परुच्यणा-जोगो ति । भावप्पावहुगाणं जोणित्तादो पुव्वमेवंतरपरुच्यणा

स्पर्शन प्ररूपणके पहले क्षेत्रप्ररूपणाका वर्णन रहा आवे इसमें कोई आपत्ति नहीं, परंतु काल और अन्तरप्ररूपणके पहले क्षेत्रप्ररूपणाका वर्णन समभव नहीं है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जिसने क्षेत्र और स्पर्शनको नहीं जाना है उसे तन्मन्थी काल और अन्तरके जाननेका कोई भी उपाय नहीं प्राप्त हो सकता है । और आगम, जिन प्रकारसे चस्तु व्यवस्था है, उसीप्रकारसे प्ररूपण नहीं करे यह ही नहीं सकता है । यदि ऐसा नहीं माना जावे तो उस आगमको अर्थपर्यत्व अर्थात् अनर्थकपर्यत्वका प्रसंग प्राप्त हो जायगा ।

शंका—तो भी क्षेत्र और स्पर्शनप्ररूपणके पश्चात् काल और अन्तरप्ररूपणाका कथन प्राप्त नहीं होता है ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि, क्षेत्र और स्पर्शनके बाद काल और अन्तर-प्ररूपणके कथन करनेमें कोई निरोध नहीं आता है ।

उसीप्रकार भान और अल्पपरुत्वकी भी प्ररूपणा क्षेत्र और स्पर्शनानुगमके विना क्षेत्र और स्पर्शनको विषय करनेवाली नहीं हो सकती है, इसलिये इन सबके पहले ही क्षेत्र और स्पर्शनानुगमका कथन करना चाहिये ।

शंका—अन्तरादि शेष अधिकारोंके रहते हुए भी उन्हें छोड़कर कालाधिकारका कथन पहले क्यों किया गया है ?

समाधान—यहांपर ( स्पर्शनप्ररूपणके पश्चात् ) अन्तरप्ररूपणाका कथन तो किया नहीं जा सकता है, क्योंकि, अन्तरप्ररूपणाका मूल आधार ( योनि ) कालप्ररूपणा ही है । स्पर्शनप्ररूपणके बाद भावप्ररूपणाका भी वर्णन नहीं कर सकते हैं, क्योंकि, कालप्ररूपणासे योनिका अधिकार ( अन्तराधिकार ) भावप्ररूपणाका योनिरूप है । उसीप्रकार स्पर्शनप्ररूपणाके बाद अल्पपरुत्वप्ररूपणाका भी कथन नहीं किया जा सकता है, क्योंकि, शेषानुयोग ( भावानुयोग ) अल्पपरुत्वप्ररूपणाका योनिरूप है । इसप्रकार जब स्पर्शनप्ररूपणके पश्चात् अन्तर, भान और अल्पशुल इतमेंसे किसीका भी प्ररूपण नहीं हो सकता था तब परिशेष-न्यायमें त्यों पर काल ही प्ररूपणके योग्य है यह बात सिद्ध हो जाती है ।

उत्ता । अप्पावहुग जोणित्तादो पुव्वमेव भावपरुच्यणा उच्चदे । सुत्ते तथा परुच्यणा किमिदि ण दिस्सदे ? ण, सुत्तस्सत्थ-ख्यणसेत्त-चावारादो । तथाहरिया किमिदि ण चमत्ताणेति ? ण, अवधारणसमत्थाणं सिस्साणं रपहि अभावादो तहोवएसभावादो वा । अत्थित्तं षणदि संताणियोगो । संताणियोगग्ग्हि जमत्थित्तं उच्चं तस्स पमाणं परुवेदि दब्बाणियोगो । तेहितो अवगय-संत-पमाणं वड्डमाणोगाहणं परुवेदि खेत्ताणियोगो । पुणो तेहितो-वलद्ध-संत-पमाण-रोत्ताणं अदीद-काल-विभिद्ध-फासं परुवेदि फोसणाणुगमो । तेहितो अवगय-संत-पमाण-खेत्त-फोसणाणं द्विदिं परुवेदि कालाणियोगो । तेसिं चैव विरहं परुवेदि अंतराणियोगो । तेसिं चैव भावं परुवेदि भावाणियोगो । तेसिं चैव शोव-चहुत्तं वर्णेदि अप्पावहुगमिदि । उच्चं च—

अत्थित्तं पुण सत अत्थित्तस्स य तहेव परिमाण ।

पच्चुपण्ण खेत्त अदीद-पटुपण्णण फुसण ॥ १०२ ॥

भावप्ररूपणा और अल्पपरुत्वप्ररूपणाकी योनि होनेसे इन दोनोंके पहले ही अन्तरप्ररूपणाका उल्लेख किया है । तथा अल्पपरुत्वकी योनि होनेसे इसके पहले ही भावप्ररूपणाका कथन किया है ।

शंका—खुदमें प्ररूपणाओंका वर्णन इसप्रकार क्यों नहीं दिखाई देता है ?

समाधान—यह कोई बात नहीं, क्योंकि, सूत्रका कार्य अर्थकी सूचना करना मात्र है ।

शंका—यदि ऐसा है तो दूसरे आचार्य उक्त प्रकारसे प्ररूपणाओंका व्याख्यान क्यों नहीं करते हैं ?

समाधान—ऐसा भी नहीं कहना चाहिये, क्योंकि, एक तो आजकल विस्तृत व्याख्यानरूप तत्त्वार्थके अवधारण करनेमें समर्थ शिष्योंका अभाव है, और दूसरे उसप्रकारके उपदेशका अभाव है । इसलिये आचार्यने उक्त प्रकारसे प्ररूपणाओंका व्याख्यान नहीं किया ।

सत्यरूपणा पदार्थोंके अस्तित्वका कथन करती है । सत्यप्ररूपणमें जो पदार्थोंका अस्तित्व कहा गया है उनके प्रमाणका वर्णन द्रव्यानुयोग करता है । इन दोनों अनुयोगोंके द्वारा जाने हुए अस्तित्व और सत्या-प्रमाणरूप द्रव्योंकी वर्तमान अवगाहनाका निरूपण शेषानुयोग करता है । उक्त तीनों अनुयोगोंके द्वारा जाने हुए सत्व, संख्या और क्षेत्ररूप द्रव्योंके अतीत-कालावाशय वर्तमान स्पर्शका स्पर्शनानुयोग वर्णन करता है । पूर्वोक्त चारों अनुयोगोंके द्वारा जाने गये सत्व, संख्या, क्षेत्र और स्पर्शरूप द्रव्योंकी स्थितिका वर्णन कालानुयोग करता है । जिन पदार्थोंके अस्तित्व, संख्या, क्षेत्र, स्पर्श और स्थितिका ज्ञान हो गया है उनके अन्तरकालका वर्णन अन्तरानुयोग करता है, उन्हींके भावोंका वर्णन भावानुयोग करता है और उन्हींके अल्पपरुत्वका वर्णन अल्पपरुत्वानुयोग करता है । कहा भी है—

अस्तित्वना प्रतिपादन करनेवाली प्ररूपणाको सत्यप्ररूपणा कहते हैं । जिन पदार्थोंके

कालो द्विदि-अवधरणं अतरं विरहो य सुष्ण-कालो य ।

भावो खलु परिणामो स-गाम-सिद्धं खु अप्पवड् ॥ १०३ ॥

प्रथमानुयोगस्वरूपनिरूपणार्थं सूत्रमाह—

**संतपरुवणदाए' दुविहो णिहेसो ओधेण आदेसेण' य ॥ ८ ॥**

चतुर्दशजीवसमासानामित्यनुवर्तते, तेनैवमाभिसम्बन्धः क्रियते चतुर्दशजीव-समासानां सत्परुवणायामिति । सत्परुवणमित्यर्थः । कथम्? अन्तर्भावितभावत्वात् । प्ररूपणा निरूपणा प्रज्ञापनेति यावत् । चतुर्दशजीवसमाससत्परुवणायामित्यर्थः । सच्छब्दोऽस्ति शोभनवाचकः, यथा सदभिधानं सत्यमित्यादि । अस्ति अस्तित्ववाचक', सति सत्ये

अस्तित्वका ज्ञान हो गया है ऐसे पदार्थोंके परिमाणका कथन करनेवाली सूत्र्याप्ररूपणा है । वर्तमान क्षेत्रका वर्णन करनेवाली क्षेत्रप्ररूपणा है । अतितत्पर्या और वर्तमानस्पर्शका वर्णन करनेवाली स्पर्शनप्ररूपणा है । जिसमें पदार्थोंकी जघन्य और उत्कृष्ट स्थितिका वर्णन हो उसे कालप्ररूपणा कहते हैं । जिसमें विरहकाल अथवा शून्यकालका कथन हो उसे अन्तर-प्ररूपणा कहते हैं । जो पदार्थोंके परिणामोंका वर्णन करे वह भावप्ररूपणा है । तथा अल्प-बहुत्वप्ररूपणा अपने नामसे ही सिद्ध है ॥ १०२-१०३ ॥

अब पहले सदनुयोगके स्वरूपका निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं ।

सत्परुवणामें ओघ अर्थात् सामान्यकी अपेक्षासे और आदेश अर्थात् विशेषकी अपेक्षासे इसतरह दो प्रकारका कथन है ॥ ८ ॥

इस सूत्रमें 'चतुर्दशजीवसमासानाम्' इस पदकी अनुवृत्ति होती है, इसलिये उस पदके साथ ऐसा संबन्ध कर लेना चाहिये कि 'चौदह जीवसमासोंकी सत्परुवणामें' । यद्वा पर सत्का अर्थ सत्व है ।

शंका—यद्वा सत्का अर्थ सत्व करनेका क्या कारण है ?

समाधान—क्योंकि, सत्में भावरूप अर्थ अन्तर्भूत है, इसलिये यद्वा पर सत्का अर्थ सत्व लिया गया है ।

प्ररूपणा, निरूपणा और प्रज्ञापना ये सब पर्यायवाची नाम हैं । इसलिये 'सत्परुवण-दाए' इसपदका अर्थ यह हुआ कि चौदह जीवसमासोंके सत्वके निरूपण करनेमें । 'सत्' शब्द शोभन अर्थात् सुन्दर अर्थका भी वाचक है । जैसे, सदभिधान अर्थात् शोभनरूप कथनको

१ सति तिज्जमाण एयस्स पयस्स जा परुवणया । गदयाइएए वयुए सतपयपरुवणा सा उ । जीवस्स च ज सत जग्हा त तेहिं तेणु वा पयति । तो सतस्स पयाइ ताइ तेणु परुवणया ॥ वि भा ४०.७.४०८

२ मखेओ ओघो ति य गुणमण्णा सा च मोहजोगमया । वित्थारदिसो ति य मगणसण्णा सत्परुवणया ॥ गो जी ३

त्रतीत्यादि । अत्रास्तित्ववाचको ग्राह्यः । निर्देशः प्ररूपणं विवरणं व्याख्यानमिति यावत् । स द्विविधो द्विप्रकारः, ओघेन आदेशेन च । ओघेन सामान्येनाभेदेन प्ररूपण-मेकः । अपरः आदेशेन भेदेन विशेषेण प्ररूपणमिति । न च प्ररूपणायाम्प्रतीत्यः प्रकारोऽस्ति सामान्यविशेषव्यतिरिक्तस्यानुपलम्भात् । विशेषव्यतिरिक्तसामान्याभावादादेशप्ररूपणया एव ओघावगतिः स्यादिति न द्विविधं व्याख्यानमिति चेन्न, संक्षेपविस्तररुचिद्रव्य-पर्यायार्थिकसत्त्वाग्रहार्थत्वात् । जीवसमास इति किम् ? जीवाः सम्यगासतेऽस्मिन्निति जीवसमासः । कासते ? गुणेषु । के गुणाः ? औदयिकौपशमिकश्चाप्यधिकशायोपशमिक-

सत्य कहते हैं । कहीं पर 'सत्' शब्द अस्तित्ववाचक भी पाया जाता है । जैसे, यह सत्यके अस्तित्व अर्थात् सद्भावमें व्रती है । इनमेंसे यहाँ पर 'सत्' शब्द अस्तित्ववाचक ही लेना चाहिये ।

निर्देश, प्ररूपण, विवरण और व्याख्यान ये सब पर्यायवाची नाम हैं । वह निर्देश ओघ और आदेशकी अपेक्षा दो प्रकारका है । ओघ, सामान्य या अभेदसे निरूपण करना पहली ओघप्ररूपणा है, और आदेश, भेद या विशेषरूपसे निरूपण करना दूसरी आदेश-प्ररूपणा है । इन दो प्रकारकी प्ररूपणाओंको छोड़कर वस्तुके विवेचनका और कोई तीसरा प्रकार संभव नहीं है, क्योंकि, वस्तुमें सामान्य और विशेष धर्मको छोड़कर और कोई तीसरा धर्म नहीं पाया जाता है ।

शंका—विशेषको छोड़कर सामान्य सत्तन्त्र नहीं पाया जाता है, इसलिये आदेशप्ररूपणाके कथनसे ही सामान्यप्ररूपणाका ज्ञान हो जायगा । अतएव दो प्रकारका व्याख्यान करना आवश्यक नहीं है ?

समाधान—यह आशंका ठीक नहीं है, क्योंकि, जो संक्षेप-रुचिवाले शिष्य होते हैं वे द्रव्यार्थिक अर्थात् सामान्यप्ररूपणासे ही तत्त्वको जानना चाहते हैं । और जो विस्तार-रुचिवाले होते हैं वे पर्यायार्थिक अर्थात् विशेषप्ररूपणाके द्वारा तत्त्वको समझना चाहते हैं, इसलिये इन दोनों प्रकारके प्राणियोंके अनुग्रहके लिये यहाँ पर दोनों प्रकारकी प्ररूपणाओंका कथन किया है ।

शंका—जीवसमास किसे कहते हैं ?

समाधान—जिसमें जीव भेदप्रकार रहते हैं अर्थात् पाये जाते हैं उसे जीवसमास कहते हैं ?

शंका—जीव कहाँ रहते हैं ?

समाधान—गुणोंमें जीव रहते हैं ।

शंका—वे गुण कौनसे हैं ?

समाधान—औदयिक, औपशमिक, श्वायिक श्वायोपशमिक और पारिणामिक ये पांच

पारिणामिका इति गुणाः । अस्य गमनिका, कर्मणामुदयादुत्पन्नो गुण औदयिकः, नेणामुदयादापशामिकः, शयात्स्वयिकः, तदशयादुपशमाच्चोत्पन्नो गुण क्षायोपशामिकः । कर्मद्वयोपशमयश्चयोपशममन्तरेणोत्पन्न पारिणामिकः । गुणमहचरितत्वादत्तमापि गुणसंज्ञा प्रातिपत्ते । उक्तं च—

भेः दृष्टमिबन्तने उदयादिषु समवेदि भवेदि ।

जीवा ते गुण मग्ना निद्रिडा सन्नदरिसीहि ॥ १०४ ॥

ओषनिदेशार्थमुत्तरसूत्रमाह—

ओषेण अत्थि मिच्छाहृद्दी ॥ ९ ॥

ययोदेशस्तथा निर्देश इति न्यायात् ओषाभिधानमन्तरेणापि ओषोऽवगम्यते प्रकाशके गुण अर्थात् भाव है । इनका तुलासा इस प्रकार है । जो कर्मके उदयसे उत्पन्न होता है उसे औदयिक भाव कहते हैं । जो कर्मके उपशमसे उत्पन्न होता है उसे अपशामिक भाव कहते हैं । जो कर्मके क्षयसे उत्पन्न होता है उसे क्षायिक भाव कहते हैं । जो वर्तमान समयमें सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयाभावी क्षयसे और अनागत कालमें उदयमें आनेवाले सर्वघाती स्पर्धकोंके सद्बन्धस्वरूप उपशमसे उत्पन्न होता है उसे क्षायोपशामिक भाव कहते हैं । जो कर्मके उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमकी अपेक्षाके विना जीवके सभावमानसे उत्पन्न होता है उसे पारिणामिक भाव कहते हैं । इन गुणोंके सादृश्यासे आत्मा भी गुणसंज्ञाको प्राप्त होता है । कहा भी है—

दर्शनमोहनीय आदि कर्मोंके उदय, उपशम आदि अवस्थाओंके होने पर उत्पन्न हुए जिन परिणामोंसे युक्त जो जीव देने जाते हैं उन जनोंको सर्वबदेवने उसी गुणसंज्ञावाला कहा है ॥ १०४ ॥

अब ओष अर्थात् गुणस्थान प्ररूपणाका कथन करनेके लिये ओषका सूत्र कहते हैं— सामान्यसे गुणस्थानकी अपेक्षा मिथ्यादृष्टि जीव है ॥ ९ ॥

शंका— 'उदेशके अनुसार ही निर्देश होता है' इस न्यायके अनुसार 'ओष' इस शब्दके कहे विना भी 'ओष' का ज्ञान हो ही जाता है, इसलिये उसका सूत्रमें फिरसे

१ गो जी ८ अंशम गुणस्थानमिप्रधानमृणं मिथ्यावदयोऽयंमिष्वल्लिखपर्यं ता जीवपरिणामनिशिया व ११ गणस्थानानां विनिष्पत्तिवत् । जी १ १

२ ११ यदि मिथा दृष्टिमात्रं त्रय तस्य गुणस्थानमस्य । गुणा हि ज्ञानादिरूपान्तस्य ते ददौ विपर्यन्ताया भोऽपरीति १ ७११, १२ यथापि सर्वभातिप्रकृतमिन्नात्तमोर्नानां दयादर्दं प्रणतजिवाजिवादिबस्तुप्रतिपत्तिरुपा दृष्टि- एतन्वी विपर्यन्ता भवति, तथापि कश्चिन्नुपपत्त्याद्विपत्तिपरिपर्यन्ता, ततो निगोदावस्थायामपि तथाशुभाव्यक- सर्वभातापिभोगविपर्यन्ता मस्यि अक्यान्-चीपर्यन्ता । अभि रा अ ( मिच्छादृष्टिगुणद्वय )

तस्यैह पुनरुच्चारणमनर्थकमिति न, तस्य दुर्भोजनानुग्रहार्थत्वात् । सर्वसत्त्वानुग्रह- कारिणो हि जिनाः नीरागत्वात् । सन्ति मिथ्यादृष्टयः । मिथ्या वितथा व्यलीका असत्या दृष्टिदर्शनं विपरितैकान्तविनयसंशयाज्ञानरूपमिथ्यात्वकर्मोदयजनिता येषां ते मिथ्या- दृष्टयः ।

जात्रदिया वयण-वहा तात्रदिया चैव होति णय-वादा ।

जात्रदिया णय-वादा तात्रदिया चैव पर-समया ॥ १०५ ॥

इति वचनात्त्र मिथ्यात्वपञ्चकनियमोऽस्ति किन्तूपलक्षणमात्रमेतदभिहितं पञ्चविधं मिथ्यात्वमिति । अथवा मिथ्या वितथं, तत्र दृष्टिः रुचिः श्रद्धा प्रत्ययो येषां ते मिथ्या- दृष्टयः । उक्तं च—

मिच्छन्तं वेयतो जीवो विवरीय-दमणो होह ।

ण य वमं रोचेदि ह्म म्हुंरं खु रस जहा जरिदो ॥ १०६ ॥

उच्चारण करना निष्प्रयोजन है ?

समाधान— ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, अल्पबुद्धि या मूढ़जनोंके अनुग्रह- के लिये सूत्रमें 'ओष' शब्दका उल्लेख किया है । जिनदेव संपूर्ण प्राणियोंका अनुग्रह करनेवाले होते हैं, क्योंकि, वे वीतराग हैं ।

'मिथ्यादृष्टि जीव है' यहाँ पर मिथ्या, वितथ, व्यलीक और असत्य ये प्रकार- वाची नाम हैं । दृष्टि शब्दका अर्थ दर्शन या अद्धान है । इससे यह तात्पर्य हुआ कि जिन जीवोंके विपरीत, एकांत, धिनय, संशय और अज्ञानरूप मिथ्यात्व कर्मके उदयसे उत्पन्न हुई मिथ्यारूप दृष्टि होती है उन्हें मिथ्यादृष्टि जीव कहते हैं ।

'जितने भी वचन-मार्ग हैं उतने ही नय-वाद अर्थात् नय के भेद होते हैं और जितने नय वाद हैं उतने ही पर-समय ( अनेकान्त-वाल मत ) होते हैं ॥ १०५ ॥

इस वचनके अनुसार मिथ्यात्वके पांच ही भेद हैं यह कोई नियम नहीं समझना चाहिये, किंतु मिथ्यात्व पांच प्रकारका है यह कहना उपलक्षणमात्र है । अथवा, मिथ्या शब्दका अर्थ वितथ और दृष्टि शब्दका अर्थ रुचि, श्रद्धा या प्रत्यय है । इसलिये जिन जीवोंकी रुचि असत्यमें होती है उन्हें मिथ्यादृष्टि कहते हैं । कहा भी है—

मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयसे उत्पन्न होनेवाले मिथ्यात्वभावका अनुभव करनेवाला जीव विपरीत अद्धानवाला होता है । जिसप्रकार पित्तज्वरसे युक्त जीवको मधुर रस भी अच्छा मालूम

१ माथेय पूर्वमपि ६७ गाथाकेन आगता ।

२ एव सूत्रलक्षाश्रयेण मिथ्यात्वस्य पंचविधत्वं चयित एशंभाशाश्रयेणालयातजोऽस्मात्प्रिकृत्यममवा । तत्र च्यवहरानुपपत्ते । गो. जी, जी १, टी १५

३ गो. जी १७



न व्यपदिश्यते चेन्न, अनन्तानुबन्धिनां द्विस्वभावत्वप्रतिपादनफलत्वात् । न च दर्शन-  
मोहनीयस्योद्देश्यदुपगमात्क्षयात्क्षयोपशामाद्वा सासादनपरिणामः प्राणिनामुपजायते येन  
मिथ्यादृष्टिः सम्यग्दृष्टिः सम्यग्मिथ्यादृष्टिरिति चोच्येत । यस्माच्च विपरीताभिनि-  
नेशोऽभूदनन्तानुबन्धिनी, न तद्दर्शनमोहनीयं तस्य चारित्र्यावरणत्वात् । तस्योभयप्रतिबन्ध-  
कत्वाद्भयव्यपदेशो न्याय्य इति चेन्न, इष्टत्वात् । खूत्रे तथाऽनुपदेशोऽप्यपितनयोपेक्षः ।  
निश्चितदर्शनमोहोद्देश्योपशमक्षयोपशममन्तरेणोत्पन्नत्वात्पारिणामिक सासादनगुणः ।

शंका—ऊपरके ऋयन्तानुसार जब वह मिथ्यादृष्टि ही है तो फिर उसे मिथ्यादृष्टि  
सत्रा क्यों नहीं की गई है ?

समाधान—पेसा नहीं है, क्योंकि, सासादन गुणस्थानको स्वतन्त्र कहनेसे अनन्ता-  
नुबन्धी प्रशतियोंकी छिस्वभावताका कथन सिद्ध हो जाता है ।

वियोगार्थ—सासादन गुणस्थानको स्वतन्त्र माननेका फल जो अनन्तानुबन्धीकी  
छिस्वभावता बतलाई गई है, वह छिस्वभावता दो प्रकारसे हो सकती है। एक तो अनन्ता-  
नुबन्धी कयाय सम्यक्त्व और चारित्र्य इन दोनोंकी प्रतिबन्धक मानी गई है, और यही उसकी  
छिस्वभावता है । इसी कथनकी पुष्टि यहा पर सासादन गुणस्थानको स्वतन्त्र मानकर की  
गई है । दूसरे, अनन्तानुबन्धी जिसप्रकार सम्यक्त्वके विवातमें मिथ्यात्वप्रकृतिका काम करती  
है, उसप्रकार वह मिथ्यात्वके उत्पादमें मिथ्यात्वप्रकृतिका काम नहीं करती है । इसप्रकारकी  
छिस्वभावताको सिद्ध करनेके लिये सासादन गुणस्थानको स्वतन्त्र माना है ।

दर्शनमोहनीयके उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमसे जीवोंके सासादनरूप परिणाम  
तो उत्पन्न होता नहीं है जिससे कि सासादन गुणस्थानको मिथ्यादृष्टि, सम्यग्दृष्टि अथवा  
सम्यग्मिथ्यादृष्टि कहा जाता । तथा जिस अनन्तानुबन्धीके उदयसे दूसरे गुणस्थानमें जो  
विपरीताभिनिवेश होता है, वह अनन्तानुबन्धी दर्शनमोहनीयका भेद न होकर चारित्र्यका  
आवरण करनेवाला होनेसे चारित्र्यमोहनीयका भेद है । इसलिये दूसरे गुणस्थानको मिथ्यादृष्टि  
न कहकर सासादनसम्यग्दृष्टि कहा है ।

शंका—अनन्तानुबन्धी सम्यक्त्व और चारित्र्य इन दोनोंका प्रतिबन्धक होनेसे उसे  
उभयरूप ( सम्यक्तन्त्राचिरमोहनीय ) सत्ता देना न्यायसंगत है ?

समाधान—यह अपेक्ष ही नहीं, क्योंकि, यह तो हमें इष्ट ही है, अर्थात् अनन्तानु-  
बन्धीकी सम्यक्त्व और चारित्र्य इन दोनोंका प्रतिबन्धक माना ही है । फिर भी परमागममें मुख्य  
नगरती ओपेक्षा हस्तारूपका उपदेश नहीं दिया है ।

सासादन गुणस्थान तन्त्रित्तन ऋमके अर्थात् दर्शनमोहनीयके उदय, उपशम, क्षय  
और क्षयोपशमके रित्ना उत्पन्न होता है, इसलिये वह पारिणामिक है । और सासादनासहित

सासादनधासौ सम्यग्दृष्टिश्च सासादनसम्यग्दृष्टिः । विपरीताभिनिवेशदृष्टितस्य तस्य  
कथं सम्यग्दृष्टित्वमिति चेन्न, भूतपूर्वगत्या तस्य तद्व्यपदेशोपपत्तेरिति । उक्तं च—

समन्त रयण-पञ्चय सिहरादो मिच्छ-भूमि समभिसुहो ।

णासिय-सम्मतो सो सासण-णामो मुणेयवो ॥ १०८ ॥

व्यामिश्रचिगुणप्रतिपादनार्थं सूत्रमाह—

सम्माभिच्छादही ॥ ११ ॥

दृष्टिः श्रद्धा रुचिः प्रत्यय इति यावत् । समीचीना च मिथ्या च दृष्टिर्यस्यासौ  
सम्यग्मिथ्यादृष्टिः । अथ सादेकस्मिन् जीवे नाक्रमेण समीचीनासमीचीनदृष्टयोरस्ति  
संभवो विरोधात् । न क्रमेणापि सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणयोरैवान्तर्भावोदिति । अक्रमेण

सम्यग्दृष्टि होनेके कारण उसे सासादनसम्यग्दृष्टि कहते हैं ।

शंका—सासादन गुणस्थान विपरीत अभिप्रायसे दृष्टित है, इसलिये उसके सम्यग्दृष्टि-  
पना कैसे वन सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, पहले वह सम्यग्दृष्टि था, इसलिये भूतपूर्व न्यायकी अपेक्षा  
उसके सम्यग्दृष्टि सत्ता वन जाती है । कहा भी है—

सम्यग्दर्शनरूपी रत्नानिरिके शिखरसे गिरकर जो जीव मिथ्यात्वरूपी भूमिके अभिसुख  
है, अतएव जिसका सम्यग्दर्शन नष्ट हो चुका है परन्तु मिथ्यादर्शनकी प्राप्ति नहीं हुई है, उसे  
सासन या सासादनगुणस्थानवर्ती समझना चाहिये ॥ १०८ ॥

अब सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

सामान्यसे सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव है ॥ ११ ॥

दृष्टि, श्रद्धा, रुचि और प्रत्यय ये पर्यायवाची नाम हैं । जिस जीवके समीचीन और  
मिथ्या दोनों प्रकारकी दृष्टि होती है उसको सम्यग्मिथ्यादृष्टि कहते हैं ।

शंका—एक जीवमें एकसाथ सम्यक् और मिथ्यापददृष्टि सम्भव नहीं है, क्योंकि, इन  
दोनों दृष्टियोंका एक जीवमें एकसाथ रहनेमें विरोध आता है । यदि कहा जावे कि ये दोनों  
दृष्टियां क्रमसे एक जीवमें रहती हैं तो उनका सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि नामके स्वतन्त्र

१ गो जी २०

२ लक्ष्मणपदमिथ्यमप्यनेन ओपयिषियेयकपेन मदनकौद्रमस्थानीय मिथ्यामोहनीय ऋम शोवायिना  
निवा म्नाति, इन्द्रमर्षगुद्रमविशुद्र चीति । तत्र त्यागा पुञ्जानां मये यदावविशुद्र गुञ्ज उदेति तदा नुदुदयाञ्जन-  
स्वार्थविशुद्र विनम्रान्तत्वश्रद्धाम भवति, तेन तदातो नम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानतन्त्रमूर्तताञ्ज रशुगति । अमि रा-  
की ( गम्भामिच्छादृष्टिगुणह्राण )



कथं मिथ्यादृष्टेः सम्यग्मिथ्यात्वगुणं प्रतिपद्यमानस्य तावदुच्यते । तद्यथा, मिथ्यात्व-  
कर्मणः सर्वघातिस्पर्द्धकानामुदयक्षयात्तस्यैव सत उदयाभावलक्षणोपशमात्सम्यग्मिथ्यात्व-  
कर्मणः सर्वघातिस्पर्द्धकोदयोच्चोत्पद्यत इति सम्यग्मिथ्यात्वगुणः क्षायोपशमिकः । सतापि  
सम्यग्मिथ्यात्वोदयेन औदयिक इति किमिति न व्यपदिश्यत इति चेन्न, मिथ्या-  
त्वोदयादिघातः सम्यक्त्वस्य निरन्वयनिनाशानुपलम्भात् । सम्यग्दृष्टेनिरन्वयनिनाशाकारिणः  
सम्यग्मिथ्यात्वस्य कथं सर्वघातित्वमिति चेन्न, सम्यग्दृष्टेः साकल्यप्रतिबन्धितामपेक्ष्य  
तस्य तथोपदेशात् । मिथ्यात्वक्षयोपशमादिवादान्तालुबन्धिनामपि सर्वघातिस्पर्द्धकक्षयो-  
पशमाज्जातमिति सम्यग्मिथ्यात्वं किमिति नोच्यत इति चेन्न, तस्य चारित्र्यप्रतिबन्धक-

समाधान— तीसरे गुणस्थानमें क्षायोपशमिक भाव है ।

शंका—मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानको प्राप्त होनेवाले जीवके  
क्षायोपशमिक भाव कैसे संभव है ?

समाधान— वह इसप्रकार है, कि वर्तमान समयमें मिथ्यात्वकर्मके सर्वघाती स्पर्द्धकों  
का उदयाभावी क्षय होनेसे, सतामें रहनेवाले उसी मिथ्यात्व कर्मके सर्वघाती स्पर्द्धकोंका  
उदयाभावलक्षण उपशम होनेसे और सम्यग्मिथ्यात्वकर्मके सर्वघाती स्पर्द्धकोंके उदय होनेसे  
सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानमें पैदा होता है, इसलिये वह क्षायोपशमिक है ।

शंका— तीसरे गुणस्थानमें सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिके उदय होनेसे वह औदयिक भाव  
क्यों नहीं कहा है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयसे जिसप्रकार सम्यक्त्वका निरन्वय  
नाश होता है, उसप्रकार सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयसे सम्यक्त्वका निरन्वय नाश नहीं  
पाया जाता है, इसलिये तीसरे गुणस्थानमें औदयिक भाव न कहकर क्षायोपशमिकभाव  
कहा है ।

शंका— सम्यग्मिथ्यात्वका उदय सम्यग्दर्शनका निरन्वय विनाश तो करता नहीं है,  
फिर उसे सर्वघाती क्यों कहा ?

समाधान— ऐसी शंका ठीक नहीं, क्योंकि, वह सम्यग्दर्शनकी पूर्णताका प्रतिकष  
करता है, इस अपेक्षासे सम्यग्मिथ्यात्वको सर्वघाती कहा है ।

शंका— जिसतरह मिथ्यात्वके क्षयोपशमसे सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानकी उत्पत्ति  
बतलाई है उसीप्रकार वह अनन्तालुबन्धी कर्मके सर्वघाती स्पर्द्धकोंके क्षयोपशमसे होता है,  
ऐसा क्यों नहीं कहा ?

त्रिसुखस्य अहिंसादिश्रद्धानापेक्षया सम्यक्त्व, अनात्तादिश्रद्धानापेक्षया मिथाव च युगपदेव नियमं देन समनताति  
सम्यग्मिथ्यादृष्टित्वात्सम्यग्दर्शनं दृश्यते । गो जी म प्र, टी २२.

१ नतितु 'दिवत' इति पाठ ।

सम्यग्मिथ्यात्वात्समीचीनः जीवः सम्यग्मिथ्यादृष्टिरिति प्रतिजानीमहे । न विरोधोऽप्यने-  
कान्ते आत्मनि भूयसां धर्माणां सहानवस्थानलक्षणविरोधासिद्धेः । नात्मनोऽनेकान्तत्वम-  
सिद्धमनेकान्तमन्तरेण तस्यार्थक्रियाकर्तृत्वानुपपत्तेः । अस्त्वेकस्मिन्नात्मनि भूयसां  
सहावस्थानं प्रत्यविरुद्धानां संभवो नाशोषणमिति चेत्क एवमाह समस्तानामप्यवस्थिति-  
रिति चैतन्यचैतन्यभव्याभव्यादिधर्माणामप्यक्रमैणैकान्तत्वमवस्थितिप्रसङ्गात् । किन्तु येषां  
धर्माणां नात्यन्ताभावो यस्मिन्नात्मनि तत्र कदाचित्कविदक्रमेण तेषामस्तित्वं प्रतिजानीमहे ।  
अस्ति चानयो श्रद्धयोः क्रमैकस्मिन्नात्मनि संभवस्ततोऽक्रमेण तत्र कदाचित्चयोः  
संभवेन भवितव्यमिति । न चैतत्काल्पनिकं पूर्वस्वीकृतदेवतापरित्यागेनाहंनपि देव  
इत्यभिप्रायवतः पुरुषस्योपलम्भात् । पंचसु गुणेषु कोऽयं गुण इति चेत्क्षायोपशमिकः ।

गुणस्थानोंमें ही अन्तर्भाव मानना चाहिये । इसलिये सम्यग्मिथ्यादृष्टि नामका तीसरा गुण-  
स्थान नहीं बनता है ?

समाधान— युगपत् समीचीन और असमीचीन श्रद्धावाला जीव सम्यग्मिथ्यादृष्टि है  
ऐसा मानते हैं । और ऐसा माननेमें विरोध भी नहीं आता है, क्योंकि, आत्मा अनेक धर्मात्मक है,  
इसलिये उसमें अनेक धर्मोंका सहानवस्थानलक्षण विरोध असिद्ध है । अर्थात् एक साथ अनेक  
धर्मोंके रहनेमें कोई बाधा नहीं आती है । यदि कहा जाय कि आत्मा अनेक धर्मात्मक है, यह  
बात ही असिद्ध है । सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, अनेकान्तके विना उसके अर्थक्रिया-  
कारीपना नहीं बन सकता है ।

शंका— जिन धर्मोंका एक आत्मामें एकसाथ रहनेमें विरोध नहीं है, वे रहें, परतु  
संपूर्ण धर्म तो एकसाथ एक आत्मामें रह नहीं सकते हैं ?

समाधान— कौन ऐसा कहता है कि परस्पर विरोधी और अविरोधी समस्त  
धर्मोंका एकसाथ एक आत्मामें रहना संभव है ? यदि संपूर्ण धर्मोंका एकसाथ रहना मान  
लिया जावे तो परस्पर विरुद्ध चैतन्य-अचैतन्य, भव्यत्व-अभव्यत्व आदि धर्मोंका एकसाथ  
एक आत्मामें रहनेका प्रसंग आ जायगा । इसलिये संपूर्ण परस्पर विरोधी धर्म एक आत्मामें  
रहते हैं, अनेकान्तका यह अर्थ नहीं समझना चाहिये । किंतु अनेकान्तका यह अर्थ समझना  
चाहिये कि जिन धर्मोंका जिस आत्मामें अत्यन्त अभाव नहीं है वे धर्म उस आत्मामें किसी काल  
और किसी क्षेत्रकी अपेक्षा युगपत् भी पाये जा सकते हैं, ऐसा हम मानते हैं । इसप्रकार जब  
कि समीचीन और असमीचीनरूप इन दोनों श्रद्धाओंका क्रमसे एक आत्मामें रहना संभव है,  
तो कदाचित् किसी आत्मामें एकसाथ भी उन दोनोंका रहना बन सकता है । यह सब कथन  
काल्पनिक नहीं है, क्योंकि, पूर्व स्वीकृत अन्य देवताके अपरित्यागके साथ साथ अरिद्धत भी  
देव है ऐसी सम्यग्मिथ्यारूप श्रद्धावाला पुरुष पाया जाता है ।

शंका— पांच प्रकारके भावोंमेंसे तीसरे गुणस्थानमें कौनसा भाव है ?

१ यथा कस्यचित् मितं प्रति मितं च, चैव प्रकल्पितान्तरियुभयामकत्वमविरुद्ध लोके दृश्यते तथा कस्य-



त्मान् । ये त्वन्तानुबन्धिभयोपशमादुत्पत्तिं प्रतिजानते तेषां सासादनगुण औदयिकः स्यात्, न चैवमनन्युपगमात् । अथवा, सम्यक्त्वकर्मणो देशघातिस्पर्धकानामुदयक्षयेण तेषामेव गतामुदयाभावालक्षणोपशमेन च सम्यगिमम्यात्वकर्मण सर्वघातिस्पर्धकोदयेन च सम्यगिमम्यात्वगुण उत्पद्यत इति क्षायोपशमिकः । सम्यगिमम्यात्वस्य क्षायोपशमिकत्वमेवमुच्यते बालजनन्युत्पादनार्थम् । वस्तुतस्तु सम्यगिमम्यात्वकर्मणो निरन्वयेनाप्तगमपदार्थपिपयलधिहननं प्रत्यममर्थस्योदयात्मदसद्विषयश्रद्धोत्पद्यत इति क्षायोपशमिकः सम्यगिमम्यात्वगुण । अन्यथोपशमसम्यग्दृष्टौ सम्यगिमम्यात्वगुणं प्रतिपन्ने सति सम्यगिमम्यात्वस्य क्षायोपशमिकत्वमनुपपन्नं तत्र सम्यक्त्वमिमम्यात्वानन्तानुबन्धिनानामुदयधयाभावात् । तत्रोदयाभावलक्षण उपशमोऽस्तीति चेन्न, तस्यौपशमिकत्वप्रसङ्गात् ।

समाधान—नहीं, क्योंकि, अनन्तानुबन्धी कषाय चारित्रिका प्रतिबन्ध करती है, इसलिये यथा उनके क्षयोपशमसे तृतीय गुणस्थान नहीं कहा गया है ।

जो ज्ञानार्थ अनन्तानुबन्धी कर्मके क्षयोपशमसे तीसरे गुणस्थानकी उत्पत्ति मानते हैं, उनके मनसे सासादन गुणस्थानको औदयिक मानना पड़ेगा । पर ऐसा नहीं है, क्योंकि, दूसरे गुणस्थानकी औदयिक नहीं माना गया है ।

यद्यपि, सम्यक्प्रकृतिकर्मके देशघाती स्पर्धकोंका उदयक्षय होनेसे, सत्तामें स्थित उन्हीं देशघाती स्पर्धकोंका उदयाभावलक्षण उपशम होनेसे और सम्यगिमम्यात्व कर्मके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदय होनेसे सम्यगिमम्यात्व गुणस्थान उत्पन्न होता है, इसलिये वह क्षयोपशमिक है । यथा इत्यन्तर जो सम्यगिमम्यात्व गुणस्थानको क्षयोपशमिक कहा है वह केवल सिद्धान्तके पाठानुसार करनेवालोंके परिज्ञान करनेके लिये ही कहा है । वास्तवमें तो सम्यगिमम्यात्व कर्म विरन्परूपसे आन, आगम और पदार्थवियक श्रद्धाके नाश करनेके प्रति अवमर्ष है, किन्तु उनके उदयसे मत्तर्ममर्चिन और अस्तत्-असमीचनि पदार्थको युगपत्पिपय करनेवाली श्रद्धा उत्पन्न होती है, इसलिये सम्यगिमम्यात्व गुणस्थान क्षायोपशमिक कहा जाता है । यदि इन गुणस्थानमें सम्यगिमम्यात्व प्रकृतिके उदयसे सत् और असत् पदार्थको पिपय करनेवाली मिश्र स्वरूप क्षयोपशमना न मानी जाये तो उपशमसम्यग्दृष्टिके सम्यगिमम्यात्व गुणस्थानको प्राप्त होने पर उस सम्यगिमम्यात्व गुणस्थानमें क्षयोपशमपना नहीं बन सकता है, क्योंकि, उपशम सम्यक्त्वसे तृतीय गुणस्थानमें आये हुए जीवके ऐसी आस्थामें सम्यक्प्रकृति, मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी इन तीनोंका उदयाभावी क्षय नहीं पाया जाता है ।

शंका—उपशम सम्यक्त्वसे आये हुए जीवके तृतीय गुणस्थानमें सम्यक्प्रकृति, मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी इन तीनोंका उदयाभावरूप उपशम तो पाया जाता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, इसतरह तो तीसरे गुणस्थानमें औपशमिक भाव मानना पड़ेगा ।

अस्तु चेन्न, तथाप्रतिपादकस्यापिस्वाभावात् । अपि च यद्यत्र क्षयोपशम इष्येत, मिथ्यात्वमपि क्षायोपशमिके सम्यक्त्वसम्यगिमम्यात्वयोरुदयप्राप्तस्पर्धकानां क्षयात्सत्तामुदयाभावलक्षणोपशममन्मिम्यात्वकर्मण. सर्वघातिस्पर्धकोदयाच्च मिथ्यात्वगुणस्य प्रादुर्भावोपलम्भादिति । उक्तं च—

दहि-गुडमिम वामिस्स पुहभावं गेव कारिहु सक्क ।

एव मिस्सयभावो सम्माभिच्छे त्ति णावन्नो ॥ १०९ ॥

सम्यग्दृष्टिगुणनिरूपणार्थपुत्रसूत्रमाह—

असंजदसमादृष्टौ ॥ १२ ॥

शंका—तो तीसरे गुणस्थानमें औपशमिक भाव भी मान लिया जावे ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, तीसरे गुणस्थानमें औपशमिक भावका प्रतिपादन करनेवाला कोई आर्षवाक्य नहीं है । अर्थात् आगममें तीसरे गुणस्थानमें औपशमिक भाव नहीं बताया है ।

दूसरे, यदि तीसरे गुणस्थानमें मिथ्यात्व आदि कर्मके क्षयोपशमसे क्षयोपशम भाव की उत्पत्ति मान ली जाये तो मिथ्यात्व गुणस्थानको भी क्षयोपशमिक मानना पड़ेगा, क्योंकि, सादि मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षा मिथ्यात्व गुणस्थानमें भी सम्यक्प्रकृति और सम्यगिमम्यात्व कर्मके उदय अवस्थाको प्राप्त हुए स्पर्धकोंका क्षय होनेसे, सत्तामें स्थित उन्हींका उदयाभाव लक्षण उपशम होनेसे तथा मिथ्यात्व कर्मके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदय होनेसे मिथ्यात्व गुणस्थानकी उत्पत्ति पाई जाती है । इतने कथनसे यह तात्पर्य समझना चाहिये कि तीसरे गुणस्थानमें मिथ्यात्व सम्यक्प्रकृति और अनन्तानुबन्धीके क्षयोपशमसे क्षयोपशमिक भाव न होकर केवल मिश्र प्रकृतिके उदयसे मिश्रभाव होता है । कहा भी है—

जिसप्रकार दही और गुड़को मिला देने पर उनको अलग अलग नहीं किया जा सकता है, किन्तु मिले हुए उन दोनोंका रस मिश्रभावको प्राप्त हो जाता है, उसप्रकार एक ही कालमें सम्यक्त्व और मिथ्यात्वरूप मिले हुए परिणामोंको मिश्र गुणस्थान कहने हैं, ऐसा समझना चाहिये ॥ १०९ ॥

अब सम्यग्दृष्टि गुणस्थानके निरूपण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—  
सामान्यसे असंयतसम्यग्दृष्टि जीव होते हैं ॥ १२ ॥

१ गो जी २० यथा नालिनेलीपमिन्न यथादित्तम्यापीनागतस्योदनादिनेऽनेकविधे द्वाकिते तस्योपरि न रुचि नापि निष्ठा, यत्स्तेन स औदवादिक् आहागे न रुचावित् तथो नापि श्रुत, एव सम्यगिमम्यात्वपि जीवादिपदार्थानामपरि न न रुचिनापि निन्देति । न सू पृ १०६

२ यथ अरिश्चैड जाणती राग्द्वेसदुस्स च । विग्गुह इच्छो विरइ काउ न जममाती ॥ एव जमजय-

समीची दृष्टिः श्रद्धा यस्यासौ सम्यग्दृष्टिः, असंयतथासौ सम्यग्दृष्टिश्च, असंयत-सम्यग्दृष्टिः । सो वि सम्माहङ्गी तिविहो, सइयसम्माहङ्गी वेदयसम्माहङ्गी उवसम-सम्माहङ्गी चेदि । दंसण-चरण-गुण-वाह चचारि अणंताणुंधि-पयडीओ, मिच्छत्त-सम्मत्त-सम्मामिच्छत्तमिदि तिण्ण दंसणमोह-पयडीओ च एदासिं सत्तहं णिरवसेस-क्खएण सइयसम्माहङ्गी उच्च । एदासिं सत्तहं पयडीणसुवसेण उवसससम्माहङ्गी होइ । सम्मत-सण्णिद-दंसणमोहणीय-भेय-कम्मसत्त उदएण वेदयसम्माहङ्गी णास । तत्थ सइय-सम्माहङ्गी ण कयाइ वि मिच्छत्तं गच्छइ, ण कुणह संदेहं पि, मिच्छत्तुवभं दडूण णो विम्हयं जायदि । एरिसो चेय उवसससम्माहङ्गी, किंतु परिणाम-पच्चएण मिच्छत्तं गच्छइ, सासणगुणं पि पडिवज्जइ, सम्मामिच्छत्तगुणं पि कुक्कह, वेदगसम्मत्तं पि समिल्लि-यइ । जो पुण वेदयसम्माहङ्गी सो सिथिल-सइहणो थेरस्स लड्ढि-गहणं व सिथिलगाहो

जिसकी दृष्टि अर्थात् अद्वा समीचीन होती है उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं, और सयमरहित सम्यग्दृष्टिको असंयतसंयग्दृष्टि कहते हैं । वे सम्यग्दृष्टि जीव तीन प्रकारके हैं, क्षयिकसम्यग्दृष्टि, वेदकसम्यग्दृष्टि और औपशमिकसम्यग्दृष्टि । सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र गुणका घात करनेवाली चार अनन्तानुबन्धी प्रकृतियां, और मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व तथा सम्यक्प्रकृतिमिथ्यात्व ये तीन दर्शनमोहनीयकी प्रकृतियां, इसप्रकार इन सात प्रकृतियोंके सर्वथा विनाशसे जीव क्षयिकसम्यग्दृष्टि कदा जाता है । तथा पूर्वोक्त सात प्रकृतियोंके उपशमसे जीव उपशमसम्यग्दृष्टि होता है । तथा जिसकी सम्यक्त्व संज्ञा है ऐसी दर्शनमोहनीय कर्मकी भेदरूप प्रकृतिके उदयसे यह जीव वेदकसम्यग्दृष्टि कहलाता है । उनमें क्षयिकसम्यग्दृष्टि जीव कभी भी मिथ्यात्वको प्राप्त नहीं होता है, किसी प्रकारके सदेहको भी नहीं करता है और मिथ्यात्वजन्य अतिशयोंको देखकर विस्मयको भी प्राप्त नहीं होता है । उपशम सम्यग्दृष्टि जीव भी इसीप्रकारका होता है, किंतु परिणामोंके निमित्तसे उपशम सम्यक्त्वको छोड़कर मिथ्यात्वको जाता है, कभी सासादन गुणस्थानको भी प्राप्त करता है, कभी सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानको भी पहुंच जाता है और कभी वेदकसम्यक्त्वसे मेल कर लेता है । तथा जो वेदकसम्यग्दृष्टि जीव है वह शिथिलश्रद्धानी होता है, इसलिये वृद्ध पुरुष जिसप्रकार अपने हायमें लकड़ीको शिथिलतापूर्वक पकड़ता है, उसीप्रकार वह भी तत्त्वार्थके विषयमें शिथिलग्राही होता है,

सग्नो निक्खो पावकमकरणं च । अहिण्यजीवाज्जीवो ज्जलियदिद्धी वलियमोहो । अमि रा नो (अत्रिरसमसिद्धि)

१ वयणहिं वि हेरुहिं वि इदिमयआणपुहिं खेहिं । वापच्छुच्छुच्छाहिं य त्तेल्लेण नि ण चालेजो ॥  
नो जी ६४७

२ दसणमोहुवमपदो उप्पजइ ज पयथमवदण । उवसमममत्तमिण पणमल्लपत्तोयतम । गो जी ६५०

कुहेउ-कुदिद्वेहि इदिदि विराहओ । पंचसु गुणेषु के गुणे अस्सिऊण असंजदसम्माइदि-गुणस्सुपत्ती जादत्ति पुच्छेदे उच्चदे, सत्त-पयडि-मखएणुप्पण-सम्मत्तं खइयं । तेसिं चेव सत्तहं पयडीणुवसेणुप्पण-सम्मत्तयुवसमियं । सम्मत-देसधाइ-वेदयसम्मत्तुदएणु-प्पण-वेदयसम्मत्तं सओवसमियं । मिच्छत्ताणुबंधीणं सव्वधाइ-फहयाणं उदय-क्खएण तेसिं चेव संतोवसेण अहवा सम्मामिच्छत्त-सव्वधाइ-फहयाणं उदय-क्खएण तेसिं चेव संतोवसेण उहत्य मम्मत्त-देसधाइ-फहयाणुदएणुप्पज्जइ जदो तदो वेदयसम्मत्तं सओवसमियमिदि केसिंचि आइरियाणं वक्खसाणं तं किमिदि णेच्छिज्जदि, इदि चेत्तण, पुवं उउत्तरादो । 'असंजद' इदि जं सम्मादिद्विस्स विसेसण-यणं तमतदीवयतादो

अत. कुहेतु और कुह्यन्तसे उसे सम्यक्त्वकी विराधना करनेमें देर नहीं लगती है ।

पाच प्रकारके भावोंसे किन किन भावोंके आशयसे असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानकी उत्पत्ति होती है । इसप्रकार पहले पर आचार्य उत्तर देते हैं, कि सात प्रकृतियोंके क्षयसे जो सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है वह क्षायिक है, उन्हीं सात प्रकृतियोंके उपशमसे उत्पन्न हुआ सम्यक्त्व उपशमसम्यग्दर्शन होता है और सम्यक्त्वका एकदेश घातरूपसे वेदन करने-वाली सम्यक्प्रकृतिके उदयसे उत्पन्न होनेवाला वेदनसम्यन्-य क्षयोपशमिक है ।

शंका—मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धीके उदयमें आनेवाले सर्ववाती स्पष्टकोंके उदयाभावी क्षयसे तथा आगामी कालमें उदयमें आनेवाले उन्हींके सर्ववाती स्पष्टकोंके सदवस्थारूप उपशमसे अथवा सम्यग्मिथ्यात्वके उदयमें आनेवाले सर्ववाती स्पष्टकोंके उदया-भावी क्षयसे, आगामी कालमें उदयमें आनेवाले उन्हींके सदवस्थारूप उपशमसे तथा इन दोनों ही अवस्थाओंमें सम्यक्प्रकृतिमिथ्यात्वके देशवाती स्पष्टकोंके उदयसे जब क्षयोपशमरूप सम्यक्त्व उत्पन्न होता है तब उसे वेदन सम्यग्दर्शन कहते हैं । ऐसा कितने ही आचार्योंका मत है उसे यहां पर क्यों नहीं स्वीकार किया है ?

समाधान—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, इसका उत्तर पहले दे चुके हैं ।

विशेषार्थ—जिसप्रकार मिथ्य गुणस्थानकी उत्पत्ति सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयकी मुख्यतासे बतला आये है, उसीप्रकार यहां पर भी सम्यक्प्रकृतिके उदयकी मुख्यता समझना चाहिये । यदि इस सम्यक्त्वमें सम्यक्प्रकृतिके उदयकी मुख्यता न मान कर केवल मिथ्या-त्वादिके क्षयोपशमसे ही इसकी उत्पत्ति मानी जावे तो सादि मिथ्यादृष्टिकी अयेक्षा सम्यक्-प्रकृति और सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयाभाव क्षय और रूदवस्थारूप उपशमसे तथा मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयसे मिथ्यात्व गुणस्थानको भी क्षयोपशमिक मानना पड़ेगा । क्योंकि, वहा पर भी क्षयोपशमका लक्षण घटित होता है । इसलिये इस सम्यक्त्वकी उत्पत्ति क्षयोप-शमकी प्रधानतासे न मागकर सम्यक्प्रकृतिके उदयकी प्रधानतासे समझना चाहिये ।

सूत्रमें सम्यग्दृष्टिके लिये जो असंयत विशेषण दिया गया है, वह अन्तदीपरु है, इस-

१ दसणमोहुवमपदो उप्पजइ ज पय थमवदण । चलमल्लिणगाः त नेदयममत्तानिदि जागे ॥ गो जी ६४९

होदित्याणं गयल-गुणद्वानाममंजदत्तं पर्व्वेद्वि । उवरि असंजमभावं किण्ण पर्व्वेद्वि चि  
उत्ते ण पर्व्वेद्वि, उरि सव्वत्थ संजमामंजम-मंजम-विसेसणोवलंभादो चि । उत्तं च—

मग्गाद्वी जीमो उवइड पयण तु सव्वद्वि ।

सव्वद्वि अत्त नां अणाणमाणो गुरु-णियोगा ॥ ११० ॥

णो इद्विएसु रिद्वो णो जीमे वाये तसे चाणि ।

जो सव्वद्वि तिणुव मग्गाद्वी अरिद्वो सो ॥ १११ ॥

एदं मग्गाद्वि-वयणं उवरिम-सव्व-गुणद्वानेषु अणुवइड गंगा-णई-पवाहो व्व ।  
देसविद्व-गुणद्वान पर्व्वणइमुत्तर-सुत्तमाह—

**संजदासंजदा ॥ १३ ॥**

संयताश्च ते असंयताश्च संयतामंयताः । यदि संयत, नामावसंयतः । अथासंयतः,

लिये वह अपनेसे नीचेके भी समस्त गुणस्थानोंके असंयतपनेका निरूपण करना है ।

पर असंयत पर ऊपर अर्थात् पाचवे आदि गुणस्थानोंमें असंयमभावका प्ररूपण क्यों  
नहीं करता है श्रमप्रकारकी शक्तोंके होने पर आचार्य उक्त देते हैं कि पाचवें आदि गुणस्थानोंमें  
पर असंयत पर असंयमभावका प्ररूपण नहीं करता है, क्योंकि, ऊपर सब जगह संयमासयम  
और मयम विशेषण ही पाया जाता है । कहा भी है—

सम्यग्प्रति जीन विनेन्द्र भगवान्के द्वारा उपदिष्ट प्रवचनका तो श्रद्धान करता ही  
है, किन्तु किसी तत्वको नहीं जानना हुआ गुणके उपदेशसे विपरीत अर्थका भी श्रद्धान कर  
लेता है ॥ ११० ॥

जो इन्द्रियोंके विषयोंसे तथा उस और स्थावर जीवोंकी हिंसासे विरक्त नहीं है,  
किन्तु विनेन्द्रोंद्वारा रचित प्रवचनका श्रद्धान करता है वह अविरतसम्यग्दृष्टि है ॥ १११ ॥  
इन सूत्रोंमें जो सम्यग्प्रति पद है, वह गंगा नदीके प्रवाहके समान ऊपरके समस्त  
गुणस्थानोंमें श्रुतचित्तको प्राप्त होता है । अर्थात् पाचवें आदि समस्त गुणस्थानोंमें सम्यग्दर्शन  
पाया जाता है ।

अत्र देशविरति गुणस्थानके प्ररूपण करनेके लिये अगोत्रा सूत्र कहते हैं—  
सामान्यसे सयतासंयत जीन होते हैं ॥ १३ ॥

जो सयत होने गुण भी असंयत होते हैं उन्हें संयतासयत कहते हैं ।

शंका—जो सयत होता है वह असयत नहीं हो सकता है, और जो असंयत

नासौ संयत इति विरोधानायं गुणो घटत इति चेदस्तु गुणानां परस्परपरिहारलक्षणो  
विरोध इष्टत्वात्, अन्यथा तेषां स्वल्पहानिप्रसङ्गात् । न गुणानां सहानवस्थानलक्षणो विरोध-  
सम्भवति, सम्भवेद्वा न वस्तुवन्ति तस्यानिकान्तानिन्वयनत्वात् । यदर्थक्रियाकारि तद्वस्तु ।  
सा च नैकान्ते एकानेकाभ्यां नातनिरूपितानस्थाभ्यामर्थक्रियाविरोधात् । न चैतन्या-  
चैतन्याभ्यामनेकान्तस्तयोर्युगताभावात् । सहसुबो हि गुणा, न चानयोः सहश्रुतिरस्ति  
असति विन्वयर्थसुपलम्भात् । भाति च विरोधः समाननिन्वयनत्वे सति । न चान्न विरोधः  
संयमासंयमयोरैकद्रव्यवर्तिनोत्सथावरविन्वयनत्वात् । औदयिकादियु पंचसु गुणेषु कं  
गुणमाश्रित्य संयमासंयमगुणः राधुत्पन्न इति चेत्क्षायोपशमिकोऽयं गुणः अपत्याख्याना-

होता है वह सयत नहीं हो सकता है, क्योंकि, सयमभाव और असयमभावका परस्पर  
विरोध है । इसलिये यह गुणस्थान नहीं बनता है ।

समाधान—विरोध दो प्रकारका है, परस्परपरिहारलक्षण विरोध और सहानवस्था-  
लक्षण विरोध । इनमेंसे एक द्रव्यके अतन्त गुणोंमें परस्परपरिहारलक्षण विरोध ही है,  
क्योंकि, यदि गुणोंका एक दूसरेका परिहार करते अस्तित्व नहीं माना जावे तो उनके  
स्वरूपकी दृष्टिका प्ररग आता है । परन्तु इतने मात्रसे गुणोंमें सहानवस्थालक्षण विरोध  
संभव नहीं है । यदि नामा गुणोंका एकसाथ रहना ही विरोधस्वरूप मान लिया जावे तो  
वस्तुना अस्तित्व ही नहीं बन सकता है, क्योंकि, वस्तुका रद्धान अनेकान्त-विमित्त ही  
होता है । जो अर्थक्रिया करनेमें समर्थ है वह वस्तु है । परन्तु वह अर्थक्रिया एकान्तपणमें नहीं  
भन सकती है, क्योंकि, अर्थक्रियान्तो यदि एकरूप माना जावे तो पुन. पुनः उसी अर्थक्रि-  
याकी प्रति होनेसे, और यदि अनेकरूप माना जावे तो अगवस्था दोन आनेसे एकान्तपणमें  
अर्थक्रियान्त होनेमें विरोध आता है ।

ऊपरके कथनसे चैतन्य और अचेतनके साथ भी अनेकान्त दोन नहीं आता है,  
क्योंकि, चैतन्य और अचेतन्य ये दोनों गुण नहीं हैं । जो सहभावी होते हैं उन्हें गुण कहते  
हैं । परन्तु ये दोनों सहभावी नहीं हैं, क्योंकि बंधरूप अवस्थाके नहीं रहने पर चैतन्य और  
अचेतन्य ये दोनों एकरूपाय नहीं पाये जाते हैं । दूसरे विरुद्ध दो धर्मोंकी उत्पत्तिका कारण  
यदि समान अर्थान् एक मान लिया जावे तो विरोध आता है, परन्तु सयमभाव और अस-  
यमभाव इन दोनोंको एक आत्मामें स्वीकार कर लेने पर भी कौन विरोध नहीं आता है,  
क्योंकि, उन दोनोंकी उत्पत्तिके कारण भिन्न भिन्न हैं । सयमभावकी उत्पत्तिका कारण उस-  
हिंसासे विरतिभाव है और असयमभावकी उत्पत्तिका कारण स्थावरहिंसासे अविरतिभाव  
है । इसलिये सयतासंयत नामका पांचवां गुणस्थान बन जाता है ।

शंका—औदयिक आदि पांच भावोंमेंसे किस भावके अथयसे संयमासयम भाव पैदा  
होता है ?

समाधान—सयमासंयम भाव आयोपशमिक है क्योंकि, अपत्याख्यानावस्थायीय

वरणीयस्य सर्वधातिस्पृहकानामुदयक्षयात् सतां चोपशमात् प्रत्याख्यानावरणीयोदया-  
दप्रत्याख्यानोत्पत्तेः । संयमासंयमधाराधिकृतसम्यक्त्वानि कियन्तीति चेत्क्षायिकक्षायोप-  
शमिकौपशमिकानि त्रीण्यपि भवन्ति पर्यायेण नान्यन्तरेणाप्रत्याख्यानस्योत्पत्तिविरोधात् ।  
सम्यक्त्वमन्तरेणापि देशयतयो हृश्यन्त इति चेन्न, निर्गतमुक्तिकाङ्क्षस्यानिवृत्तविषयपिपा-  
सस्याप्रत्याख्यानानुपपत्तेः । उक्तं च—

जो तस-बहाउ विरखो अविरखो तह य थावर-बहाओ ।

एक-सम्यक्हि जीवो विरयाविरखो जिणेक्कमई ॥ ११२ ॥

संयतानामादिगुणस्थाननिरूपणार्थमुत्तरद्वयमाह—

**पमत्तसंजदा ॥ १४ ॥**

प्रक्रयैण मत्ताः प्रमताः, सं सम्यग् यताः विरताः संयताः । प्रमत्ताश्च ते संयताश्च

कषायके वर्तमान कालिक सर्वधाती स्पृहकोके उदयाभावी क्षय होनेसे, और आगामी कालमें  
उदयमें आने योग्य उन्हीके सद्वस्धारूप उपशम होनेसे तथा प्रत्याख्यानावरणीय कषा-  
यके उदयसे संयमासंयमरूप अप्रत्याख्यान-चारित्र्य उत्पन्न होता है ।

शंका—संयमासंयमरूप देशचारित्र्यकी धारासे संबन्ध रखनेवाले कितने सम्यग्-  
दर्शन होते हैं ?

समाधान—क्षायिक, शायोपशमिक और औपशमिक ये तर्निमेंसे कोई एक  
सम्यग्दर्शन विकल्पसे होता है, क्योंकि, उनमेंसे किसी एकके विना अप्रत्याख्यान चारित्र्यका  
प्रादुर्भाव ही नहीं हो सकता है ।

शंका—सम्यग्दर्शनके विना भी देशसंयमी देखनेमें आते है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जो जीव मोक्षकी आकांक्षासे रहित हैं और जिनकी  
विषय-पिपासा दूर नहीं हुई है, उनके अप्रत्याख्यानसंयमकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है ।  
कहा भी है—

जो जीव जितन्देवमें अद्वितीय अद्भको रखता हुआ एक ही समयमें त्रसजीवीको  
हिसासे विरत और स्थावर जीवीकी हिसासे अविरत होता है, उसको विरतविरत  
कहते हैं ॥ ११२ ॥

अब सयतोंके प्रथम गुणस्थानके निरूपण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सामान्यसे प्रमत्तसयत जीव होते हैं ॥ १४ ॥

प्रकृतसे मत्त जीवीको प्रमत्त कहते हैं, और अच्छी तरहसे विरत या संयमको प्रान्त  
जीवीको सयत कहते हैं । जो प्रमत्त होते हुए भी सयत होते हैं उन्हें प्रमत्तसयत कहते हैं ।

१ गो जी ३१ 'च' शब्देन प्रयोजन विना स्थावरत्वधर्मपि न करोतीति व्याख्येयो भवति ।  
जी प्र टी

प्रमत्तसंयताः । यदि प्रमत्ताः न संयताः स्वरूपासवेदनात् । अथ सयताः न प्रमत्ताः  
संयमस्य प्रमादपरिहाररूपात्वादिति नैष दोषः, संयमो नाम हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो  
विरतिः शुभिसमित्यनुरक्षितः, नासौ प्रमादेन विनाश्यते तत्र तस्मान्मलोत्पत्तेः ।  
संयमस्य मलोत्पादक एवात्र प्रमादो विवक्षितो न तद्विनाशक इति कुतोऽवसीयत इति  
चेत् संयमाधिनाशान्थानुपपत्तेः । न हि मन्दतमः प्रमादः क्षणक्षयी संयमविनाशकोऽसति  
विवन्धर्यनुपलब्धेः । प्रमत्तवचनमन्तदीपकत्वाच्छेषातीतसर्वगुणेषु प्रमादास्तित्वं सूचयति ।  
पञ्चसु गुणेषु कं गुणमाश्रित्यायं प्रमत्तसंयत गुण उत्पन्नश्चेत्संयमापेक्षया क्षायोपशमिकः ।  
कथम् ? प्रत्याख्यानावरणसर्वधातिस्पृहकोदयक्षयात्तेषामेव सतामुदयाभावलक्षणोपशमात्

शंका—यदि छट्वे गुणस्थानवर्ती जीव प्रमत्त हैं तो संयत नहीं हो सकते हैं,  
क्योंकि, प्रमत्त जीवीको अपने स्वरूपका सवेदन नहीं हो सकता है । यदि वे सयत हैं तो  
प्रमत्त नहीं हो सकते हैं, क्योंकि, संयमभाव प्रमादके परिहारस्वरूप होता है ।

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्म और  
परिग्रह इन पांच पापोंसे विरतिभावको संयम कहते हैं जो कि तीन गुणों और पांच सामि-  
तियोंसे अनुरक्षित है । वह संयम वास्तवमें प्रमादसे नष्ट नहीं किया जा सकता है, क्योंकि,  
संयममें प्रमादसे केवल मलकी ही उत्पत्ति होती है ।

शंका—छट्वें गुणस्थानमें संयममें मल उत्पन्न करनेवाला ही प्रमाद विवक्षित है,  
संयमका नाश करनेवाला प्रमाद विवक्षित नहीं है, यह बात कैसे निश्चय की जाय ?

समाधान—छट्वें गुणस्थानमें प्रमादके रहते हुए संयमका सद्भाव अन्यथा बन नहीं  
सकता है, इसलिये निश्चय होता है कि यहां पर मलको उत्पन्न करनेवाला प्रमाद ही अभीष्ट  
है । दूसरे छट्वें गुणस्थानमें होनेवाला स्वल्पकालवर्ती मन्दतम प्रमाद संयमका नाश भी नहीं  
कर सकता है, क्योंकि, सकलसंयमका उत्कटरूपसे प्रतिबन्ध करनेवाले प्रत्याख्यानावरणके  
अभावमें संयमका नाश नहीं पाया जाता ।

यहां पर प्रमत्त शब्द अन्तर्दीपक है, इसलिये वह छट्वें गुणस्थानसे पहलेके संपूर्ण  
गुणस्थानोंमें प्रमादके अस्तित्वको सूचित करता है ।

शंका—पांच भावोंमेंसे किस भावका आश्रय लेकर यह प्रयत्नसयत गुणस्थान उत्पन्न  
होता है ?

समाधान—संयमकी अपेक्षा यह गुणस्थान क्षायोपशमिक है ।

शंका—प्रमत्तसयत गुणस्थान क्षायोपशमिक किस प्रकार है ?

समाधान—क्योंकि, वर्तमानमें प्रत्याख्यानावरणके सर्वधाती स्पृहकोके उदयक्षय  
होनेसे और आगामी कालमें उदयमें अनेवाले सत्तामें स्थित उन्हीके उदयमें न आनेरूप उप-  
शमसे तथा सज्वलन कषायके उदयसे प्रत्याख्यान (संयम) उत्पन्न होता है, इसलिये

मंज्वलनोदयाच्च प्रत्याख्यानममुत्पत्तेः । मंज्वलनोदयात्संयमो भवतीत्यौदयिक व्यप-  
देशोऽस्य किं न स्यादिति चेन्न, ततः संयमस्योत्पत्तेरभावात् । क्व नद् व्याप्रियत इति  
चेन्नप्रत्याख्यानानरणमर्थातिस्मर्द्धकोदयक्षयसमुत्पत्तव्यसंयममलोत्पादने तस्य व्यापार ।  
संयमनिन्दनस्य स्वोपपन्नया क्षयिकलायोपशमिकौपशमिरुगुणनिवन्धनः । मन्व्यक्त्व-  
मन्तरणापि संयमोपलम्भनार्थं सम्यग्त्वानुवर्तनेति चेन्न, आन्तागमपदार्थेष्वनुत्पन्नश्रद्धस्य  
त्रिमृत्कालीदचेतनः संयमानुपपत्तेः । द्रव्यसंयमस्य नाद्योपादानमिति कुतोऽवगम्यत  
इति चेत्सम्पद् ज्ञात्वा श्रद्धाय यतः संयत इति व्युत्पत्तितत्त्वद्वगतेः । उक्तं च—

आयोपशमिक ङं ।

शंका—सञ्चलन रूपयके उदयसे संयम होता है, इसलिये उसे औदयिक नामसे  
क्यों नहीं कहा जाता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, सञ्चलन रूपयके उदयसे संयमकी उत्पत्ति नहीं  
होती है ।

शंका—तो मंज्वलनका व्यापार कहाँ पर होता है ?

समाधान—प्रत्याख्यानारण रूपयके सर्वथाती स्पर्द्धाकी उदयाभावी क्षयसे ( और  
सदृशरूप उगमसे ) उत्पन्न हुए संयममें मलके उत्पन्न करनेमें सञ्चलनका व्यापार  
होता है ।

संयमके कारणभूत सम्यग्दर्शनकी अपेक्षा तो यह गुणस्थान क्षयिक, आयोपशमिक  
और आपशमिक भावनिमित्तक है ।

शंका—यद्य पर सम्यग्दर्शनपद की जो अनुवृत्ति बतलाई है उससे क्या यह तात्पर्य  
निकलता है कि सम्यग्दर्शनके बिना भी संयमकी उपलब्धि होती है ?

समाधान—पेसा नहीं है, क्योंकि आस, आगम और पदार्थोंमें जिस जीवके श्रद्धा  
उत्पन्न नहीं हुई, तथा जिसका चित्त तीन मूढताओंसे व्याप्त है, उसके संयमकी उत्पत्ति नहीं  
हो सकती है ।

शंका—यहाँ पर द्रव्यसंयमका ग्रहण नहीं किया है, यह कैसे जाना जाय ?

समाधान—क्योंकि, भले प्रकार जानकर और श्रद्धान कर जो यमसहित है उसे संयत  
कहते हैं । संयत शब्दकी इसप्रकार व्युत्पत्ति करनेसे यह जाना जाता है कि यहाँ पर द्रव्य-  
संयमका ग्रहण नहीं किया है । कहा भी है—

परिप्राप्तस्य सज्जनस्य तापोपनिषत्पुण्याग्नेरुल्लासो रूपं मज्जलणोक्तायाग चारिविरोधिगं  
भारितकाणमः देवादिगेण मग्निमग्नुक्तिम्भूतमसिनिदिशियासुदया विज्जनागे वि ग न रुज्जकारो वि  
सम्भवेद्वेगे निमित्तिपागदो, एतुदो इ रूपं पद्मगाग्निं मन्त्रापापमादो वि । गो जी, जी प्र, दो ३२.

वचावत-पमाए जो नसइ पमत्तसजो होइ ।

सपठ-गुण-सील-कलिओ महब्बई चितलायणो' ॥ ११३ ॥

बिक्का तथा कसाया इशिय-णिदा तेह्व पणयो व ।

चट्टु-चट्टु-पणगेग होति पमादा य पणगरसा ॥ ११४ ॥

आयोपशमिकसंयमेषु शुद्धसंयमोपलक्षितगुणस्थानिरूपणार्थमुत्तरसूत्रमाह—

अप्रमत्तसंजदा ॥ १५ ॥

प्रमत्तसंयताः पूर्वोक्तलक्षणा, न प्रमत्तसंयताः अप्रमत्तसंयताः पञ्चदशप्रमाद-  
रहितसंयता इति यावत् । शेषशेषसंयतानामत्रैवान्तमत्रैवान्तर्भावच्छेयसंयतगुणस्थानानामभावः  
स्यादिति चेन्न, संयतानामुपरिष्टात्प्रतिपद्यमानविशेषणाविशिष्टानामत्तप्रमादानामिह

जो व्यक्त अर्थात् स्वस्वैव और अव्यक्त अर्थात् प्रत्यक्षजनितियोंके ज्ञानद्वारा जानने  
योग्य प्रमादमें वास करता है, जो सम्बन्ध, जानादि संपूर्ण गुणोंसे और तर्कोंके रक्षण करनेमें  
समर्थ ऐसे शीलेंसे युक्त है, जो ( देशसंयतकी अपेक्षा ) महाव्रती है और जिसका आचरण  
प्रमादमिश्रित है, अथवा चिन्तल सागरको कहते हैं, इसलिये जिसका आचरण सागरके समान  
शकलित अर्थात् अनेक प्रकारका है, अथवा, चित्तमें प्रमादको उत्पन्न करनेवाला जिसका  
आचरण है उसे प्रमत्तसंयत कहते हैं ॥ ११३ ॥

खीकथा, भक्तकथा, राष्ट्रकथा और अवनिपालकथा ये चार विकथाए, क्रोध, मान,  
माया और लोभ ये चार कर्मायें, स्पर्शन, रसना, द्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पांच इन्द्रियां, निद्रा  
और प्रणय इसप्रकार प्रमाद पन्द्रह प्रकारका होता है ॥ ११४ ॥

अब क्षयोपशमिक संयमोंमें शुद्ध संयमसे उपलक्षित गुणस्थानके निरूपण करनेके  
लिये अनेका सूत्र कहते हैं—

सामान्यसे अप्रमत्तसंयत जीव होते हैं ॥ १५ ॥

प्रमत्तसंयतोंका स्वरूप पहले कह आये है, जिनका संयम प्रमाद सहित नहीं होता  
है उन्हें अप्रमत्तसंयत कहते हैं, अर्थात् संयत होते हुए जिन जीवोंके पन्द्रह प्रकारका प्रमाद  
नहीं पाया जाता है, उन्हें अप्रमत्तसंयत समझना चाहिये ।

शंका—बाक्रीके संपूर्ण संयतोंका इसी अप्रमत्तसंयत गुणस्थानमें अन्तर्भाव हो जाता  
है, इसलिये शेष संयतगुणस्थानोंका अभाव हो जायगा ?

समाधान—पेसा नहीं है, क्योंकि, जो आगे चलकर प्राप्त होनेवाले अपूर्वकरणादि

१ गो जी ३३ चित्र प्रमादमिश्र लताति चित्तल, चित्तल आचरण यस्यासौ चित्तलचरण । अथवा  
चित्तल साग, तद्वत् शकलित आचरण यस्यासौ चित्तलचरण । अथवा चित्त लताति चित्तल, चित्तल आचरण  
यस्यासौ चित्तलचरण । जी प्र दो

२ गो जी ३४.



ग्रहणात् । तत्कथमवगम्यत इति चेन्न, उपरिष्ठात्तनसंयतगुणस्थाननिरूपणान्यान्यथानुपपत्तितस्तदवगतेः । एषोऽपि गुणः श्रायोपशमिकः प्रत्याख्यानानवरणीय-कर्मणः सर्वघातिस्पर्द्धकोदयक्षयात्तेषामेव सतां पूर्ववदुपशमात् संज्वलनोदयाच्च प्रत्याख्यानोत्पत्तेः । संयमनिबन्धनसम्यक्त्वापेक्षया सम्यक्त्वप्रतिबन्धककर्मणां क्षय-क्षयोपशमोपशमजगुणनिबन्धनः । उक्तं च—

णद्गतेस-पमाओ वय-गुण-सीलोलि-मडिओ णाणी ।

अणुवसमओ अक्खवओ झाण-णिलीणो ढ अपमत्तो ॥ ११५ ॥

चारित्र्यमोहोपशमकक्षपकेषु प्रथमगुणस्थाननिरूपणार्थमुत्तरखंडसमाह—

**अपुव्वकरण-पविट्ट-सुद्धि-संजदेसु अत्थि उवसमा खवा ॥ १६ ॥**

विशेषणोंसे विशेषता अर्थात् भेदको प्राप्त नहीं होते हैं और जिनका प्रमाद नष्ट हो गया है ऐसे संयतोंका ही यथा पर ग्रहण किया है । इसलिये आगेके समस्त संयतगुणस्थानोंका इसमें अन्तर्भाव नहीं होता है ।

शंका—यह कैसे जाना जाय कि यथा पर आगे प्राप्त होनेवाले अपूर्वकरणदि विशेषणोंसे भेदको प्राप्त होनेवाले संयतोंका ग्रहण नहीं किया गया है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, यदि यह न माना जाय, तो आगेके संयत गुणस्थानोंका निरूपण बन नहीं सकता है, इसलिये यह मालूम पड़ता है कि यथा पर अपूर्वकरणदि विशेषणोंसे रहित केवल अप्रमत्त संयत-गुणस्थानका ही ग्रहण किया गया है ।

वर्तमान समयमें प्रत्याख्यानानवरणीय कर्मके सर्वघाती स्पर्द्धकोंके उदयक्षय होनेसे और आगामी कालमें उदयमें आनेवाले उन्हींके उदयाभावलक्षण उपशम होनेसे तथा सज्वलन कषायके मन्द उदय होनेसे प्रत्याख्यानकी उत्पत्ति होती है, इसलिये यह गुणस्थान भी श्रायोपशमिक है । समयके कारणभूत सम्यक्त्वकी अपेक्षा, सम्यक्त्वके प्रतियन्धक कर्मोंके क्षय, श्रायोपशम और उपशमसे यह गुणस्थान उत्पन्न होता है, इसलिये श्रायिक, श्रायोपशमिक और औपशमिक भी है । कहा भी है—

जिसके व्यक्त और अव्यक्त सभी प्रकारके प्रमाद नष्ट हो गये हैं, जो व्रत, गुण और शीलोंने मण्डित है, जो निरन्तर आत्मा और शरीरके भेद विद्वानसे युक्त है, जो उपशम और क्षपक श्रेणीपर आरूढ़ नहीं हुआ है और जो ध्यानमें लवलीन है, उसे अप्रमत्तसंयत कहते हैं ॥ ११५ ॥

अब आगे चारित्र्यमोहनीयका उपशम करनेवाले या क्षपण करनेवाले गुणस्थानोंमेंसे प्रथम गुणस्थानके निरूपण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं ।

अपूर्वकरण-प्रविष्ट-शुद्धि संयतोंमें सामान्यसे उपशमक और क्षपक ये दोनों प्रकारके

करणः परिणामाः, न पूर्वाः अपूर्वाः । नानाजीवापेक्षया प्रतिसमयमादितः क्रमप्रवृद्धांतर्ल्येलोकपरिणामस्यास्य गुणस्थान्तर्विचक्षितसमयवर्तिप्राणिनो व्यतिरिच्यान्य-समयवर्तिप्राणिभिरप्राप्या अपूर्वा अत्रतनपरिणामैरसमाना इति यावत् । अपूर्वाश्च ते करणाश्चापूर्वकरणाः । एतेनापूर्वविशेषणेन अधःप्रवृत्तपरिणामव्युदासः कृत इति दृष्टव्यः, तत्रतनपरिणामानामपूर्वत्वाभावात् । अपूर्वशब्दः प्रागप्रतिपन्नार्थवाचको नासमानार्थ-वाचक इति चेन्न, पूर्वसमानशब्दयोरैकार्थत्वात् । तेषु प्रविष्टा शुद्धिर्येषां ते अपूर्वकरण-प्रविष्टशुद्धयः । के ते ? संयताः । तेषु संयतेषु ' अत्थि ' सन्ति । नदीस्रोतोन्यायेन जीव होते हैं ॥ १६ ॥

करण शब्दका अर्थ परिणाम है, और जो पूर्व अर्थात् पहले नहीं हुए उन्हें अपूर्व कहते हैं । इसका तात्पर्य यह है, कि नाना जीवोंकी अपेक्षा आदिसे लेकर प्रत्येक समयमें क्रमसे बढ़ते हुए असंख्यात-लोक प्रमाण परिणामवाले इस गुणस्थानके अन्तर्गत विवक्षित समयवर्ती जीवोंको छोड़कर अन्य समयवर्ती जीवोंके द्वारा अपाप्य परिणाम अपूर्व कह-लाते हैं । अर्थात् विवक्षित समयवर्ती जीवोंके परिणामोंसे भिन्न समयवर्ती जीवोंके परिणाम असमान अर्थात् विलक्षण होते हैं । इसतरह प्रत्येक समयमें होनेवाले अपूर्व परिणामोंको अपूर्वकरण कहते हैं । इसमें दिये गये अपूर्व विशेषणसे अधःप्रवृत्त-परिणामोंका निराकरण किया गया है ऐसा समझना चाहिये, क्योंकि, जहां पर उपरितन समयवर्ती जीवोंके परिणाम अधस्तन समयवर्ती जीवोंके परिणामोंके साथ सदृश भी होते हैं और विसदृश भी होते हैं ऐसे अधःप्रवृत्तमें होनेवाले परिणामोंमें अपूर्वता नहीं पाई जाती है ।

शंका—अपूर्व शब्द पहले कभी नहीं प्राप्त हुए अर्थात् वाचक है, असमान अर्थात् वाचक नहीं है, इसलिये यहां पर अपूर्व शब्दका अर्थ असमान या विसदृश नहीं हो सकता है ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि पूर्व और समान ये दोनों शब्द एकार्थवाची हैं, इसलिये अपूर्व और असमान इन दोनों शब्दोंका अर्थ भी एक ही समझना चाहिये । ऐसे अपूर्व परिणामोंमें जिन जीवोंकी शुद्धि प्रविष्ट हो गई है, उन्हें अपूर्वकरण प्रविष्ट शुद्धि जीव कहते हैं ।

शंका—वे अपूर्वकरणरूप परिणामोंमें विशुद्धिको प्राप्त करनेवाले कौन होते हैं ?

समाधान—वे संयत ही होते हैं, अर्थात् संयतोंमें ही अपूर्वकरण गुणस्थानवाले जीवोंका सद्भाव होता है । और उन संयतोंमें उपशमक और क्षपक जीव होते हैं ।

शंका—नदीस्रोत न्यायसे ' सन्ति ' इस पदकी अनुसृष्टि चली आती है, इसलिये

१ अर्धमपूर्वां क्रियां गच्छनीलार्द्धकरणम् । तत्र च प्रथममस्य एव स्थितिमातमत्तगुणश्रेणिगुणमत्मा अयम् स्थितितन्व इत्थे पनाप्यधिकारा योगपयेन पूर्वमप्रवृत्ता प्रवर्तते इत्यपूर्वकरणम् । अग्नि रा को (अनुवकरण)





क्षयास्यां विनोपशमश्रेण्यारोहणानुपलम्भात् । उक्तं च—

भिण्ण-समय-द्वियहि दु जीवेहि ण होइ सब्बदा सरिसो ।

करणेहि एक-समय-द्वियहि सरिसो विसरिसो रं ॥ ११६ ॥

एदाहि गुणद्वाने विसरिस-समय-द्वियहि जीवेहि ।

पुव्वमपत्ता जम्हा हेंति अपुव्वा हु परिणामो ॥ ११७ ॥

तारिस-परिणाम-द्विय जीवा हु जिणेहि गलिय-तिमिरेहि ।

मोहस्स पुव्वकरणे खवणुवसमणुज्जया भणियौ ॥ ११८ ॥

इदानीं वादरकपोयेषु चरमगुणस्थानप्रतिपादनार्थमाह—

**अणियद्वि-वादर-सांपराइय-पविट्ट-सुद्धि-संजदेसु अत्थि उवसमा खवा ॥ १७ ॥**

समानसमयावस्थितजीवपरिणामानां निर्भेदेन वृत्तिः निवृत्तिः । अथवा निवृत्ति-

नहीं किया है, वह उपशमश्रेणीपर नहीं चढ़ सकता है । कहा भी है—

अपूर्वकरण गुणस्थानमें भिन्न-समयवर्ती जीवोंके परिणामोंकी अपेक्षा कभी भी सह-शता नहीं पाई जाती है, किंतु एक-समयवर्ती जीवोंके परिणामोंकी अपेक्षा सहशता और विसहशता दोनों ही पाई जाती हैं ॥ ११६ ॥

इस गुणस्थानमें विसहश अर्थात् भिन्न भिन्न समयमें रहनेवाले जीव, जो पूर्वमें कभी भी नहीं प्राप्त हुए थे ऐसे अपूर्व परिणामोंको ही धारण करते हैं, ( इसलिये इस गुणस्थानका नाम अपूर्वकरण है । ) ॥ ११७ ॥

पूर्वोंके अपूर्व परिणामोंको धारण करनेवाले जीव मोहनीय कर्मकी शेष प्रकृतियोंके क्षण अथवा उपशमन करनेमें उद्यत होते हैं, ऐसा अज्ञानरूपी अन्धकारसे सर्वथा रहित जिनन्देवने कहा है ॥ ११८ ॥

अब वादर-कपायवाले गुणस्थानोंमें अन्तिम गुणस्थानके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

अनिवृत्ति-वादर सांपरायिक-प्रविष्ट-शुद्धि सयतोंमें उपशमक भी होते हैं और क्षपक भी होते हैं ॥ १७ ॥

समान-समयवर्ती जीवोंके परिणामोंकी भेदरहित वृत्तिको निवृत्ति कहते हैं । अथवा

१ गो जी ५२

२ गो जी ५१

३ गो जी ५४

४ निवृत्तिव्यावृत्ति परिणामानां विसहशमात्रेण परिणतिरित्यनर्थो तस्म । जय १ अ पृ १७४

व्यावृत्तिः, न विद्यते निवृत्तियेषां तेऽनिवृत्तयः । अपूर्वकरणाश्च तादृक्षाः केचित्सन्तीति तेषामप्ययं व्यपदेशः प्राप्तोतीति चेन्न, तेषां नियमाभावात् । समानममयस्थितजीव-परिणामानामिति कथमधिगम्यत इति चेन्न, 'अपूर्वकरण' इत्यनुवर्तनादेव द्वितीयादि-समयवर्तीजीवैः सह परिणामायेक्षया भेदसिद्धे । सांपरायाः कपायाः, वादरा स्थूलाः, वादराश्च ते सांपरायाश्च वादरमांपरायाः । अनिवृत्तयश्च ते वादरसांपरायाश्च अनिवृत्ति-वादरसांपराया । तेषु श्रविष्टा शुद्धियेषां संयतानां तेऽनिवृत्तिवादरसांपरायाश्च विष्ट-शुद्धिसंयताः । तेषु सन्ति उपशमकाः क्षपकाश्च । ते सर्वे एको गुणोऽनिवृत्तिरिति । यावन्तः परिणामास्तावन्त एव गुणाः किन्न भवन्तीति चेन्न, तथा व्यवहारानुपपत्तितो निवृत्ति शब्दका अर्थ व्यावृत्ति भी है । अतएव जिन परिणामोंकी निवृत्ति अर्थात् व्यावृत्ति नहीं होती है उन्हें ही अनिवृत्ति कहते हैं ।

शंका—अपूर्वकरण गुणस्थानमें भी तो कितने ही परिणाम इसमकारके होते हैं, अतएव उन परिणामोंको भी अनिवृत्ति सत्ता प्राप्त होनी चाहिये ?

समाधान - नहीं, क्योंकि, उनके निवृत्तिरहित होनेका कोई नियम नहीं है ।

शंका—इस गुणस्थानमें जो जीवोंके परिणामोंकी भेदरहित वृत्ति बतलाई है, वह समान समयवर्ती जीवोंके परिणामोंकी ही विवक्षित है यह कैसे जाना ?

समाधान—'अपूर्वकरण' पदकी अशुद्धिसे ही यह सिद्ध होता है, कि इस गुण-स्थानमें प्रथमादि समयवर्ती जीवोंका द्वितीयादि समयवर्ती जीवोंके साथ परिणामोंकी अपेक्षा भेद है । ( अतएव इससे यह तात्पर्य निकल आता है कि 'अनिवृत्ति' पदका सम्बन्ध एकसमयवर्ती परिणामोंके साथ ही है । )

सांपराय शब्दका अर्थ कपाय है, और वादर स्थूलको कहते हैं, इसलिये स्थूल-कषायोंको वादर-सांपराय कहते हैं । और अनिवृत्तिरूप वादर सांपरायको अनिवृत्तिवादरसांपराय कहते हैं । उन अनिवृत्तिवादरसांपरायरूप परिणामोंमें जिन सयतोंकी विष्टुद्धि प्रविष्ट हो गई है उन्हें अनिवृत्तिवादरसांपरायमविष्टुद्धिसयत कहते हैं । ऐसे सयतोंमें उपशमक और क्षपक दोनों प्रकारके जीव होते हैं । और उन सब सयतोंका मिलकर एक अनिवृत्तिकरण गुणस्थान होता है ।

शंका—जितने परिणाम होते हैं, उतने ही गुणस्थान क्यों नहीं होते हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जितने परिणाम होते हैं, उतने ही गुणस्थान यदि माने

१ युगपदेतत् गुणस्थानक प्रतिमत्ताना वद्वानामिति जीवनामयोगमन्वयमायस्थानस्य व्यावृत्तिर्नास्तिव्यति अनिवृत्तिः । ममकालमेतद् गुणस्थानरुमारूढस्याप्यस्य यद्भयमायस्थान विवक्षितोऽयौऽपि कश्चिच्चद्वयेत्यर्थ । मपरैति पर्यटति ससारमनेनेति संपराय कषायोदय । × × तत्र चानुसुद्धते यावत् समयास्तत्यविद्याना तानन्ये-वाध्यवसायव्याधानि भवति । एकममयमविद्यानामैक्येवाध्यवसायव्याधानसावुवर्तनादिति । अभि रा को ( अणि-यद्विवादरसंपरायकुण्डलण )

द्रव्याधिक्यसमाश्रयणान् । चादरग्रहणमन्तदीपकत्वाद् गतागोपगुणस्थानानि चादर-  
रूपायाणीनि प्रज्ञापनार्थम्, 'मति संभवे व्यभिचारे च विशेषणमर्थवद्भवति' इति  
न्यायान् । संयतग्रहणमनर्थकमिति चैवैव दोषः, संयमस्य पञ्चस्यपि गुणेषु सम्भव एव न  
व्यभिचार इत्यस्यान्यस्याधिगमोपायस्याभावतस्तदुक्तैः । आद्यं संयतग्रहणमनुवर्तते,  
तन्मदानीयत इति चेत्तयोस्तु जडजनानुग्रहार्थमिति । यद्येवमुपशान्तरूपायादिव्यपि  
नयतग्रहणमस्त्विति चेन्न, सरूपायत्वेन संयतानामसंयतैः साधर्म्यमस्तीति मन्द्ध्ययामधः  
संशयोत्पत्तिमम्भात् । नोपशान्तरूपायादिषु मन्द्ध्ययामयरेकोत्पद्यते । धीणोपशान्त-  
रूपायाः संयताः, भावनोऽसंयतैस्संयताना साधर्म्योभावात् । काश्चित्प्रकृतीरुपशमयति,

जां नो यजगार ही नहीं चल सकता है, इसलिये द्रव्याधिक्य न्यकी अपेक्षा नियत-सख्यावाले  
ही गुणस्थान रहे गये हैं ।

गुरुमें जो 'गार' पदका ग्रहण किया है, वह अन्तर्दीपक होनेसे पूर्ववर्ती समस्त  
गुणस्थान चास्वरूपाय हैं इन गानका ज्ञान करनेके लिये ग्रहण किया है, ऐसा समझना  
चाहिये, क्योंकि, जगत् पर विशेषण सम्भव ही अर्थान् लागू पड़ता ही और न देने पर व्यभि-  
चार आना ही, ऐसी जगत् दिया गया विशेषण सार्विक होता है, ऐसा न्याय है ।

शंका— इस गुरुमें सयत पदका ग्रहण करना व्यर्थ है ?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, सयम पावों ही गुणस्थानोंमें समन है,  
इसमें कोई व्यभिचार दोष नहीं आता है, इसप्रकार जाननेका दूसरा कोई उपाय नहीं होनेसे  
यथा सयम पदका ग्रहण किया है ।

शंका— 'पमत्तमजडा' इस सूत्रमें ग्रहण किये गये संयत पदकी यहा अनुवृत्ति  
तोनी है, और उसने ही उक्त अर्थका ज्ञान भी हो जाता है, इसलिये फिरसे इस पदका ग्रहण  
करना व्यर्थ है ?

समाधान— यदि ऐसा है, तो सयत पदका यहा पुनः प्रयोग मन्द्द्वुद्धि जनोंके  
अनुवृत्तिके लिये समझना चाहिये ।

शंका— यदि ऐसा है, तो उपशान्तरूपाय आदि गुणस्थानोंमें भी सयत पदका  
ग्रहण करना चाहिये ?

समाधान— नशा, क्योंकि, वृशवे गुणस्थानतक सभी जीव कयायमहित होनेके  
कारण, कयायकी अपेक्षा सयतोंकी असंयतोंके साथ सदृशता पाई जाती है, इसलिये नीचेके  
दशों गुणस्थानतक मन्द्द्वुद्धि-जनोंको सशय उत्पन्न होनेकी सम्भावना है । अतः सशयके  
निवारणके लिये सयत विशेषण देना आवश्यक है । किंतु ऊपरके उपशान्तरूपाय आदि गुण-  
स्थानोंमें मन्द्द्वुद्धि-जनोंको भी शका उत्पन्न नहीं हो सकती है, क्योंकि, वहां पर सयत क्षीण-  
कयाय अथवा उपशान्तरूपायही होते हैं, इसलिये भावोंकी अपेक्षा भी सयतोंकी असंयतोंसे  
सदृशता नहीं पाई जाती है । अतएव वहा पर सयत विशेषण देना आवश्यक नहीं है ।

काश्चिदुपरिष्ठादुपशमयिष्यतीति औपशमिकोऽस्यं गुणः । काश्चित् प्रकृतीः क्षययति  
काश्चिदुपरिष्ठात् क्षययिष्यतीति क्षायिकश्च । सम्यक्त्वापेक्षया चारित्रमोहक्षपकस्य क्षायिक  
एव गुणस्तत्रान्यस्यासम्भवात् । उपशमकरूपौपशमिकः क्षायिकश्चोभयोरपि तत्राविरोधात् ।  
क्षपकोपशमकयोर्द्वित्वं किमिति नेष्यत इति चेन्न, गुणनिबन्धनानिद्वित्वलिपरिणामानां  
साम्यप्रदर्शनार्थं तदेकत्वोपपत्तेः । उक्तं च—

एकस्मि काल-समए सटाणादीहिं जह गिबड्ढति ।

ण गिबड्ढति तह त्रिय परिणामेहिं मिहो जे हु ॥११९ ॥

होति अगियद्विणो ते पडिसमय जेरिसिसेरूपपरिणामा ।

विमलधर-शाण-हुयवह-सिहाहिं गिद्वद्व-कम-वणां ॥ १२० ॥

इस गुणस्थानमें जीव मोहकी कितनी ही प्रकृतियोंका उपशमन करता है, और  
कितनी ही प्रकृतियोंका आगे उपशम करेगा, इस अपेक्षासे यह गुणस्थान औपशमिक है । और  
कितनी ही प्रकृतियोंका क्षय करता है, तथा कितनी ही प्रकृतियोंका आगे क्षय करेगा, इस  
दृष्टिसे साधिक भी है । सम्यग्दर्शनकी अपेक्षा चारित्रमोहका क्षय करनेवालेके यह गुणस्थान  
साधिकभावरूप ही है, क्योंकि, क्षपकश्रेणियोंमें दूसरा भाव संभव ही नहीं है । तथा चारित्र-  
मोहनीयका उपशम करनेवालेके यह गुणस्थान औपशमिक और साधिक दोनों भावरूप  
है, क्योंकि, उपशमश्रेणियोंकी अपेक्षा वहां पर दोनों भाव समव है ।

शंका— क्षपकका स्वतन्त्र गुणस्थान और उपशमकका स्वतन्त्र गुणस्थान, इसतरह  
अलग अलग दो गुणस्थान क्यों नहीं कहे गये हैं ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, इस गुणस्थानके कारणभूत अनिवृत्तिरूप परिणामोंकी  
समानता दिखानेके लिये उन दोनोंमें एकता बन जाती है । अर्थात् उपशमक और क्षपक इन  
दोनोंके अनिवृत्तिरूप परिणामोंकी अपेक्षा समानता है । कहा भी है—

अन्तर्मुहूर्तमात्र अनिवृत्तिकरणके जालमेंसे किसी एक समयमें रहनेवाले अनेक जीव  
जिसप्रकार शरीरके आकार, वर्ण आदि गाररूपसे, और शान्तोपयोग आदि अन्तरण रूपसे परस्पर  
भेदको प्राप्त होते हैं, उसप्रकार जिन परिणामोंके द्वारा उनमें भेद नहीं पाया जाता है उनको  
अनिवृत्तिकरण परिणामवाले कहते हैं । और उनके प्रत्येक समयमें उत्तरोत्तर अनन्तगुणी  
विशुद्धिसे बढ़ते हुए एकसे ही (समान विशुद्धिको लिये हुए) परिणाम पाये जाते हैं ।

१ नरकोटक त्रिगोद्वर निरालय स्त्रानगुद्विययुयोत आतप एकेन्द्रिय साधारण वृक्ष सागर चेति  
गोड्य अत्रायायानप्रकारयाननयाया अष्टा, लोण पट्टेड त्रिगोदो नोक्यापट्ट, पुण्ड गड्ढल्लकोम सन्धन-  
मान मचल्लभाया एता स्थले अनिवृत्तिरूपे [ मख- ] धुत्तिया भवति । गो क, जी ग, दी २३८ ३३९

२ मस्थानवर्णागाहल्लगादिनिर्विदुरीनिदर्शनदिभिशातरं । गो जा, म. ग, टी ५३

३ गो जी ५७,

इदानीं कुशलितेषु पाश्चात्यगुणप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

**सुहुम-सांपराइय-पविट्ट-सुद्धि-संजदेसु अतिथि उवसमा खवा ॥१८॥**

सूक्ष्मआत्मी साम्परायश्च सूक्ष्मसाम्परायः । तं प्रविष्टा शुद्धिर्येषां संयतानां ते सूक्ष्मसाम्परायप्रविष्टशुद्धिसंयताः । तेषु सन्ति उपशमकाः क्षपकाश्च । सर्वे त एको गुणः सूक्ष्मसाम्परायत्वं प्रत्यभेदात् । अपूर्वं इत्यनुवर्तते अनिवृत्तिरिति च । ततस्ताभ्यां सूक्ष्मसाम्परायो विशेषायतव्यः । अन्यथातीतगुणेभ्यस्तस्याधिभ्यानुपपत्तेः । प्रकृतीः

तथा ये अत्यन्त निर्मल ध्यानरूप अग्निर्वाच्यंसे कर्म-वनको भस्म करनेवाले होते हैं ॥ ११९, १२० ॥

अब कुशील जातिके मुनिवर्गके अस्तिम गुणस्थानके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सूक्ष्म-सापराय प्रविष्ट शुद्धि सयतमें उपशमक और क्षपक दोनों होते हैं ॥ १८ ॥

सूक्ष्म करायको सूक्ष्मसांपराय कहते हैं । उसमें जिन संयतोंकी शुद्धिने प्रवेश किया है उन्हें सूक्ष्म-सांपराय-प्रविष्ट-शुद्धि सयत कहते हैं । उनमें उपशमक और क्षपक दोनों होते हैं । और सूक्ष्मसांपरायकी अपेक्षा उनमें भेद नहीं होनेसे उपशमक और क्षपक इन दोनोंका एक ही गुणस्थान होता है । इस गुणस्थानमें अपूर्वं और अनिवृत्ति इन दोनों विशेषणोंकी अनुवृत्ति होती है । इसलिये ये दोनों विशेषण भी सूक्ष्म सापराय-शुद्धि-सयतके साथ जोड़ लेना चाहिये । अन्यथा पूर्ववर्ती गुणस्थानोंसे इस गुणस्थानकी कोई भी विशेषता नहीं बन सकती है ।

विशेषार्थ—यदि वर्रावे गुणस्थानमें अपूर्वं विशेषणकी अनुवृत्ति नहीं होगी तो उसमें प्रतिसमय अपूर्वं परिणामोंकी सिद्धि नहीं हो सकेगी । और अनिवृत्ति विशेषणकी अनुवृत्ति नहीं मानने पर एक समयवर्ती जीवोंके परिणामोंमें समानता और कर्मोंके क्षपण और उपशमनकी योग्यता सिद्ध नहीं होगी । इसलिये पूर्व गुणस्थानोंसे इसमें सर्वथा भिन्न जातिके ही परिणाम होते हैं इस बातके सिद्ध करनेके लिये अपूर्वं और अनिवृत्ति इन दो विशेषणोंकी अनुवृत्ति कर लेना चाहिये । इसप्रकार इस गुणस्थानमें अपूर्वता, अनिवृत्तिपना और सूक्ष्मसांपरायपरूप विशेषता सिद्ध हो जाती है ।

१ सन्तललोमव्य अगस्तल्येतमस्य एण्डसासखेगानि लण्डानि वेदयमानोऽनुभव उपशमक क्षपको वा भवति । योऽन्तर्मुहूर्त काल यावन्-सूक्ष्मपरायो भण्यते । ×× सुहुमपराइय जो वचति सो सुहुमसपरायो । सुहुम नाम भोव । कर भोव ? आउयमीहण्डिनज्वाओ उ रूपमयडीओ तिदिम्बणमद्धाओ अप्पफलडिट्टिकिओ महाशु-मात्ताओ अप्पदेपानो सुहुममपरागस व साति । एर भोम सपराइय कम्म त स न्धाति । सुहुमो सपराओ वा जस्स सो सुहुमपराओ, सो य अमसे जममग्गो अनीमुट्टिविओ भिनुत्तपापपरिणामो ग पडिगत्तापपरिणामो वा भवति पि । यमि रा को [ सुहुमपराय ]

काश्चित्सपयति क्षपयिष्यति क्षपिताश्चेति क्षायिकगुणः । काश्चिदुपशमयति उपशमयिष्यति उपशमिताश्चैतौपशमिकगुणः । सम्यदर्शनापेक्षया क्षपकः क्षायिकगुणः, उपशमकः औपशमिकगुणः क्षायिकगुणो वा द्वाभ्यामपि सम्यक्त्वाभ्यामुपशमश्रेण्यारोहणसम्भवात् । संयतग्रहणस्य पूर्ववत्साफल्यमुपदेशद्वयम् । उक्तं च—

पुत्रापुत्रव्य-फइय अणुभागादो अणत गुण-हीणे ।

लोहाणुग्धि द्वियओ हद सुहुम-सापराओ सो ॥ १२१ ॥

साम्प्रतमुपशमश्रेण्यन्तगुणप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

**उवसंत-कसाय-वीयराय-च्छट्टमथा ॥ १९ ॥**

उपशान्तः कपायो येषां त उपशान्तकपायाः । वीतो विनष्टो रागो येषां ते वीतरागा । छत्र ज्ञानहारावर्णे, तत्र तिष्ठन्तीति छत्रस्थाः । वीतरागाश्च ते छत्रस्थाश्च वीतरागछत्रस्थाः । एतेन सरागछत्रस्थनिराकृतिरागन्तव्या । उपशान्तकपायाश्च ते वीत-

इस गुणस्थानमें जीव कितनी ही प्रकृतियोंका क्षय करता है, अगे क्षय करेगा और पूर्वमें क्षय कर चुका, इसलिये इसमें क्षायिकभाव है । तथा कितनी ही प्रकृतियोंका उपशम करता है, अगे उपशम करेगा और पहले उपशम कर चुका, इसलिये इसमें औपशमिक भाव है । सम्यदर्शनीकी अपेक्षा क्षपक श्रेणीवाला क्षायिकभावसहित है । और उपशमश्रेणीवाला औपशमिक तथा क्षायिक इन दोनों भावोंसे युक्त है, श्योंकि, दोनों ही सम्यक्त्वोंसे उपशम-श्रेणीका चढ़ना समभव है । इस सूत्रमें ग्रहण किये गये सयत पदकी पूर्ववत् अर्थात् अनिवृत्तिरूप गुणस्थानमें बतलाई गई संयत पदकी सफलताके समान सफलता समझ लेना चाहिये । कहा भी है—

पूर्वस्पर्द्धक और अपूर्वस्पर्द्धकके अनुभागसे अनन्तगुणे हीन अनुभागवाले सूक्ष्म-लोभमें जो स्थित है उसे सूक्ष्मसापराय गुणस्थानवर्ती जीव समझना चाहिये ॥ १२१ ॥

अब उपशमश्रेणीके अन्तिम गुणस्थानके प्रतिपादनार्थे अगेका सूत्र कहते हैं—

सामान्यसे उपशान्त-कपाय-वीतराग छत्रस्थ जीव होते हैं ॥ १९ ॥

जिनकी कराय उपशान्त हो गई है उन्हें उपशान्तकपाय कहते हैं । जिनका राग नष्ट हो गया है उन्हें वीतराग कहते हैं । छत्र ज्ञानावरण और दर्शनावरणको कहते हैं, उनमें जो रहते हैं उन्हें छत्रस्थ कहते हैं । जो वीतराग होते हुए भी छत्रस्थ होते हैं उन्हें वीतरागछत्रस्थ कहते हैं । इसमें अये हुए वीतराग विशेषणसे वशम गुणस्थान तकके सरागछत्रस्थोंका निराकरण समझना चाहिये । जो उपशान्तकपाय होते हुए भी वीतरागछत्रस्थ होते हैं उन्हें

१ सूक्ष्मसाम्पराये सूक्ष्मगच्छनलोभ गो क, जो य, दो ३२९

२ पुत्रापुत्रव्य-फइयमादर-सुहुमगणनिट्टियुमागा । हीण क्कामाणतगुणवगइ र व हेट्टस ॥ गो जी ५९

रागछन्दमथाथ उपशान्तकृपायवीतरागछन्दमस्याः । एतेनोपरितनगुणव्युदासोऽवगन्तव्यः ।  
एतस्योपशान्तकृपायत्वादापशमिकः, सम्यक्त्वापेक्षया क्षायिक औपशमिको वा  
गुणः । उक्तं च—

सकृमा-हृदं जल वा सरए सरत्राणियं च णिम्लयं ।

सञ्जयंसत-मोहो उवसंत-कसायओ होई' ॥ १२२ ॥

निर्ग्रन्थगुणप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

**स्वीण-कसाय-वीयराय-छट्टुमत्या ॥ २० ॥**

क्षीणः कृपायो येषां ते क्षीणकृपायाः । क्षीणकृपायाश्च ते वीतरागाश्च क्षीणकृपाय-  
उपशान्त कृपाय वीतराग-छन्दस्य कहते हैं । इससे ( उपशान्तकृपाय विशेषणसे ) आगेके गुण-  
स्थानोंका निराकरण समझना चाहिये ।

इस गुणस्थानमें सपूर्ण कृपायें उपशान्त हो जाती हैं, इसलिये इसमें औपशमिक भाव  
है । तथा सम्यग्दर्शनकी अपेक्षा औपशमिक और क्षायिक दोनों भाव हैं । कहा भी है—  
निर्मली फलमे युक्त निर्मल जलकी तरह, यथवा शरद् ऋतुमें होनेवाले सरोवरके  
निर्मल जलकी तरह, सपूर्ण मोहनीय कर्मके उपशमसे उत्पन्न होनेवाले निर्मल परिणामोंको  
उपशान्तकृपाय गुणस्थान कहते हैं ॥ १२२ ॥

अब निर्ग्रन्थगुणस्थानके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सामान्यसे क्षीण-कृपाया वीतराग-छन्दस्य जीव होने हैं ॥ २० ॥

जिनकी कृपाय क्षीण हो गईं हे उन्हें क्षीणकृपाय कहते हैं । जो क्षीणकृपाय होते हुए

> अधिक गुणस्थान-विशेषितरिपि मोहनीयपदतय उपशाता मातया । उपशान्तकृपाय जवयनक  
मया माति, उतत न तर्पुहूं काल गाता । तत ऊं नियमादमा श्रितितति । प्रतिपातय देवा, मवक्षयेण अद्वा-  
भयेन । तत मासगो नियमाप्य, पदाक्षय उपशानाढ्यायौ यमात्तायाम् । अद्वाक्षयेण च प्रतिपतति यंयान्दस्तयैव  
प्रतिपति यत तत नभोरुोरीणा व्याडिजान्ता तत प्रतिपता यता ते जारयत इति यात् । XX य पुनर्न-  
रायेन गतिपति न पयमगाय मसंगुपि नयनशीनि रणानि नवर्ततीति नियेय । अमि रा को । ( उक्वत-  
रमागरीरागच्छन्दगुणगुडात् )

२ गो जा. ६? परं च वा यमचले ' रदर कल-रुद जल वा ' इति पाठ ।

२ थीया भनात्तापना रूप्या यत्त य क्षीणरपा । तमानेचपि गुणस्थानकेषु क्षपकशेणित्वातीतुक्ला  
नरि निगामपि रपागा क्षीणत्वनमात्त क्षीणकृपायपदेश समवति । ततन्त-यवच्छेदायं वीतरागग्रहण,  
धान्यगानीतरागा च रंष्टिनोऽप्यनाति तरराच्छेदायं अग्रथग्रहणम् । तदा छयस्य रगोऽपि भवतीति  
तरराशां शंभगपपन । वितरगभ्राम । अन्त्यथ वीतरागअग्रथ न चोपशान्तरपायंयन्तीति तद्व्यपच्छेदायं  
शंभगपपपपप । अमि रा को [ क्षीणकृपायवीतरागअग्रमय ]

वीतरागाः । छान्ति आवरणे तिष्ठन्तीति छान्त्याः । क्षीणकृपायवीतरागाश्च ते छान्त्याश्च  
क्षीणकृपायवीतरागछान्त्याः । छान्त्यग्रहणमन्तदीपकत्वादतीतिशेषगुणानां सावरणत्तस्य  
म्वक्तमित्यग्रन्तव्यम् । क्षीणकृपाया हि वीतरागा एव व्यवभिकाराभावाद्धीतरागग्रहण-  
मन्तर्थास्त्विति चेन्न, नामादिक्षीणकृपायमिनिवृत्तिकलत्वात् । पञ्चसु गुणेषु कस्मादस्य  
प्रादुर्भाव इति चेद् द्रव्यभावद्वैविध्यादुभयात्मरुमोहनीयस्य निरन्त्यमिनाशात्क्षायिकगुण-  
निबन्धनः । उक्तं च—

णिस्सेस-स्वीण-मोहो फलियामल भायगुदय-समचितो ।

स्वीण-कसायो भण्णइ णिगयो' वीयरएहि ॥ १२३ ॥

सनातकगुणप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

**सजोगकेवली ॥ २१ ॥**

वीतराग होते हैं उन्हें क्षीणकृपायवीतराग कहते हैं । जो छान्त्य अर्थात् शान्तारण और दर्शना-  
वरणमें रहते हैं उन्हें छान्त्य कहते हैं । जो क्षीणकृपाय वीतराग होते हुए छान्त्य होते हैं  
उन्हें क्षीण कृपाय-वीतराग-छान्त्य कहते हैं । इस सूत्रमें आया हुआ छान्त्य पद अन्तर्दीपक है,  
इसलिये उसे पूर्ववर्ती समस्त गुणस्थानोंके सावरणपनेका सूत्रक समझना चाहिये ।

शंका — क्षीणकृपाय जीव वीतराग ही होते हैं, इसमें किसी प्रकारका भी व्यभिचार  
नहीं आता, इसलिये सूत्रमें वीतराग पदका ग्रहण करना निष्फल है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, नाम, स्थापना आदि रूप क्षीणकृपायकी निवृत्ति करना  
यही इस सूत्रमें वीतराग पदके ग्रहण करनेका फल है । अर्थात् इस गुणस्थानमें नाम,  
स्थापना और द्रव्यरूप क्षीणकृपायका ग्रहण नहीं है, किन्तु भावरूप क्षीणकृपायोंका ही ग्रहण  
है, इस वातके प्रगट करनेके लिये सूत्रमें वीतराग पद दिया है ।

शंका—पांच प्रकारके भावोंमेंसे किस भावसे इस गुणस्थानकी उत्पत्ति होती है ?

समाधान—मोहनीय कर्मके दो भेद हैं, द्रव्यमोहनीय और भावमोहनीय । इस  
गुणस्थानके पहले दोनों प्रकारके मोहनीय कर्मोंका निरन्त्यय ( सर्वथा ) नाश हो जाता है, अतएव  
इस गुणस्थानकी उत्पत्ति क्षायिक गुणसे है । कहा भी है—

त्रिसने संपूर्ण अर्थात् प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बन्धरूप मोहनीय कर्मको  
नष्ट कर दिया है, अतएव जिसका चित्त स्फटिकमणिके निर्मल भाजनमें रम्ये हुए जलके  
समान निर्मल है, ऐसे निर्ग्रन्थको वीतरागदेवने क्षीणकृपायगुणस्थानवर्ती कहा है ॥ १२३ ॥

अब स्नातकोंके गुणस्थानके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सामान्यसे सयोगकेवली जीव होते हैं ॥ २१ ॥

१ अर्थात् स्वयन्ति यत्तारकाण कर्मबन्धमिति अन्त्या परिश्रवा विध्यात्वेददय उतरगाथनुदंश, नहि-  
राश्र धेवादीयो दय, तेभ्यो नि-कात गर्वाकना तिरुगो निर्ग्रन्थ इति । गो जी, म य, टी ६२.



केवलं केवलज्ञानम् । कथं नामैकदेशात्सकलनाम्ना प्रतिपद्यमानस्यार्थस्यावगम इति चेन्न, बलदेवशब्दवाच्यस्यार्थस्य तदेकदेशेवशब्दादपि प्रतीयमानस्योपलम्भात् । न च दृष्टेऽनुपपन्नता अव्यवस्थापत्तेः । केवलमसहायमिन्द्रियालोकमनस्कारनिरपेक्षम्, तदेवामस्तीति केवलिन । मनोवाक्कायप्रवृत्तियों, योगेन सह वर्तन्त इति सयोगाः । सयोगारूच ते केवलिनश्च सयोगकेवलिनः । सयोगग्रहणमध्यस्तनसकलगुणानां सयोगत्व-प्रतिपादकमन्तर्दीपकत्वात् । क्षपिताशेषघातिकर्मत्वान्निःशक्तीकृतवेदनीयत्वान्नाष्टाटकर्मत्व-यवपट्टिकर्मत्वाद्वा क्षायिकगुण । उक्तं च—

केवलगुण-दियायर किरण-कलाव-पणासि-अण्णाणो ।

णव-केवल-लडुगम-सुजणिय-परमण-ववरसो । १२४ ॥

केवल पदसे यहां पर केवलज्ञानका ग्रहण किया है ।

शंका—नामके एकदेशके कथन करनेसे संपूर्ण नामके द्वारा कहे जानेवाले अर्थका बोध कैसे संभव है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, बलदेव शब्दके वाच्यभूत अर्थका, उसके एकदेशरूप 'देव' शब्दसे भी बोध होता पाया जाता है । और इसतरह प्रतीति-सिद्धि-बातमें 'यह नहीं बन सकता है' इसप्रकार कहना निष्फल है, अन्यथा सब जगह अव्यवस्था हो जायगी ।

जिसमें इन्द्रिय, आलोक और मनकी अपेक्षा नहीं होती है उसे केवल अथवा असहाय कहते हैं । वह केवल अथवा असहाय ज्ञान जिनके होता है, उन्हें केवली कहते हैं । मन, वचन और कायकी प्रवृत्तिको योग कहते हैं । जो योगके साथ रहते हैं उन्हें सयोग कहते हैं । इसतरह जो सयोग होते हुए केवली हैं उन्हें सयोगकेवली कहते हैं । इस सूत्रमें जो सयोग पदका ग्रहण किया है वह अन्तर्दीपक होनेसे नबिके संपूर्ण गुणस्थानोंके सयोगपनेका प्रतिपादक है । चारों घातिया कर्मोंके क्षय कर देनेसे, वेदनीय कर्मके निःशक्त कर देनेसे, अथवा आठों ही कर्मोंके अवयवरूप साठ उत्तर कर्म-प्रकृतियोंके नष्ट कर देनेसे इस गुणस्थानमें क्षायिक भाव होता है ।

विशेषार्थ—यद्यपि अर्हत परमेष्ठिके चारों घातिया कर्मोंकी सेतार्त्तलस, नामकर्मकी तरह और आयुर्कर्मकी तीन, इसतरह त्रेसठ प्रकृतियोंका अभाव होता है । फिर भी यहा साठ कर्मप्रकृतियोंका अभाव बतलाया है । इसका ऐसा अभिप्राय समझना चाहिये कि आयुर्की तीन प्रकृतियोंके नाशके लिये प्रयत्न नहीं करना पडता है । मुक्तिको प्राप्त होनेवाले जीवके एक मनुष्यायुको छोड़कर अन्य आयुर्की सत्ता ही नहीं पाई जाती है, इसलिये यहा पर आयुर्कर्मकी तीन प्रकृतियोंकी अविधवा करके साठ प्रकृतियोंका नाश बतलाया गया है । कहा भी है—

जिसका केवलज्ञानरूपी सूर्यकी किरणोंके समूहसे अज्ञानरूपी अन्धकार सर्वथा नष्ट

१ अनन सयोगमदारस्य भव्यलोकोपकारकवलक्षणपरार्थसंपत्त्यर्णाता । गो जी, जी प्र, टी ६३

२ [अनेन पदेन] भगवददीपसोष्ठिनोऽन तज्ञानादिलक्षणस्यार्थसपत् प्रदर्शिता । गो जी, जी प्र, टी ६३

असहाय-गण-दसण सहिओ इदि केवली हु जोएण ।

जुतो ति सजोगो इदि अणाइ-णिहणारिसे उच्चो ॥ १२५ ॥

साम्प्रतमन्त्यस्य गुणस्य स्वरूपनिरूपणार्थमहन्मुखोद्गतार्थं गणधरेद्वयग्रथित-शब्दसन्दर्भं प्रवाहरूपतयानिधनतामापन्नमशेषदोषव्यतिरिक्तत्वादकलङ्कमुत्तरसूत्रं पुष्पदन्त-भट्टारक प्राह—

अजोगकेवली ॥ २२ ॥

न विद्यते योगो यस्य स भवत्ययोगः । केवलमस्यास्तीति केवली । अयोगश्चासौ केवली च अयोगकेवली । केवलीत्यनुवर्तमाने पुनः केवलियहणं न कर्तव्यमिति चेन्नैप दोष', समनस्केषु ज्ञानं सर्वत्र सर्वदा मनोनिबन्धनत्वेन प्रतिपन्न प्रतीयते च । सति चैवं नायोगिनां केवलज्ञानमस्ति तत्र मनसोऽसत्त्वादिति विग्रथितपन्नस्यशिष्यस्य तदस्त्व-हो गया है, और जिसने तब केवल-लब्धियोंके प्रगट होनेसे 'परमात्मा' इस सज्ञाको प्राप्त कर लिया है, वह इन्द्रिय आदिकी अपेक्षा न रखनेवाले ऐसे असहाय ज्ञान और दर्शनसे युक्त होनेके कारण केवली, तनों योगोंसे युक्त होनेके कारण सयोगी और घाति-कर्मोंसे रहित होनेके कारण जिन कहा जाता है, ऐसा अनादिनिधन आर्यमें कहा है ॥ १२४, १२५ ॥

अब पुष्पदन्त भट्टारक अन्तिम गुणस्थानके स्वरूपके निरूपण करनेके लिये, अर्थ-रूपसे अर्द्धत-परमेष्ठिके मुखसे निकले हुए, गणधरेद्वेवके द्वारा गृथे गये शब्द स्वनावाले, प्रवाहरूपसे कभी भी नाशको नहीं प्राप्त होनेवाले और संपूर्ण दोषोंसे रहित होनेके कारण निर्दोष, ऐसे आगेके सूत्रको कहते हैं—

सामान्यसे अयोगकेवली जवि होते हैं ॥ २२ ॥

जिसके योग विद्यमान नहीं है उसे अयोग कहते हैं । जिसके केवलज्ञान पाया जाता है उसे केवली कहते हैं । जो योग रहित होते हुए केवली होता है उसे अयोगकेवली कहते हैं । शंका—पूर्वसूत्रसे केवली पदकी अनुवृत्ति होने पर इस सूत्रमें फिरसे केवली पदका ग्रहण नहीं करना चाहिये ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, समनस्क जीवोंके सर्वदेश और सर्व कालमें मनके निमित्तसे उत्पन्न होता हुआ ज्ञान प्रतीत होता है, इसप्रकारके नियमके मान लेने पर, अयोगियोंके केवलज्ञान नहीं होता है, क्योंकि, वहा पर मन नहीं पाया जाता है । इसप्रकार विवादग्रस्त शिष्यको अयोगियोंमें केवलज्ञानके अस्तित्वके प्रतिपादनके लिये

१ गो जी ६४

२ योग अस्यास्तीति योगी, न योगी अयोगी, अयोगी केवलजिन इत्युत्तरान् अयोगी चामो

केवलजिनश्च अयोगिचेवलजिन । गो जी, जी प्र, टी १०





किञ्च म्यादिति चेन्न, नान्यत्राचरुभेदेन तस्य नानात्वाभ्युपगमात् । तद्वत्सत्यासत्यकृत-  
भेदोऽपि तस्यास्त्विति चेन्न, अयद्विद्वारौरेकस्य प्रमाहरूपेणापौरुषेयस्यागमस्यासत्यत्व-  
विरोधात् । अथाना न तावदयं वेदः स्वस्याथं स्यमाचष्टे सर्वेषामपि तदवगमप्रसङ्गात् ।  
अस्तु चेन्न चैत्रं, तथातुपलम्भात् ।

अथान्ये व्याचक्षते, तेषां तदर्थविषयपरिज्ञानमस्ति वा नेति विकल्पद्वयावतारः ?  
न द्वितीयविकल्पमन्वर्थानुगमरहितस्य व्याख्यातुत्वविरोधात् । अविरोधे वा सर्वैः सर्वस्य  
व्याख्यातास्त्वन्नरं प्रत्यनिशेषात् । प्रथमविकल्पेऽसौ सर्वज्ञो वा स्यादसर्वज्ञो वा ? न  
द्वितीयविकल्पः, ज्ञानविज्ञानरिहादश्राप्तप्रामाण्यस्य व्याख्यातुर्नचनस्य प्रामाण्याभावात् ।  
लेना चाहिये ?

समाधान — नहीं, क्योंकि, वाच्य वाचकके भेदसे उसमें नानापना माना ही गया है ।  
शंका — जिसप्रकार वाच्य वाचकके भेदसे आर्ष वचनोंमें भेद माना जाता है, उसी-  
प्रकार वचनोंमें सत्य असत्यकृत भी भेद मान लेना चाहिये ?

समाधान — नहीं, क्योंकि, अवयवीरूपसे प्रवाह-रूपसे आये हुए अपौरुषेय  
गुरु आगममें असत्यपना स्वीकार करनेमें विरोध आता है ।  
अथवा, यह वेद ( आगम ) अपने वाच्यभूत अर्थको स्वयं नहीं कहता है । यदि वह  
स्वयं कहे तो सभीतो उसका ज्ञान हो जानेका प्रसंग आ जायगा, इसलिये भी वक्तोके  
श्रोतसे वचनोंमें दोष मानना चाहिये ।

शंका — यदि सभीको वेदका ज्ञान स्वयं हो जाय तो इसमें क्या हानि है ?  
समाधान — नहीं, क्योंकि, इसप्रकारकी उपलब्धि नहीं होती है ।

कोई लोग ऐसा व्याख्यान करते हैं कि वक्तोओंको वेदके वाच्यभूत विषयका परि-  
ज्ञान दे या नहीं? इन्तरह दो विकल्प उत्पन्न होते हैं । इनमेंसे दूसरा विकल्प तो बन  
नहीं सकता है, क्योंकि जो वेदके अर्थ ज्ञानसे रहित है, उसको वेदका व्याख्याता माननेमें  
विरोध आता है । यदि कहे कि इसमें कोई विरोध नहीं है, तो सबको संपूर्ण शास्त्रोंका  
व्याख्याता हो जाना चाहिये, क्योंकि, अक्षपना सभीके बराबर है । यदि प्रथम विकल्प लेते  
हो कि वक्तोको वेदके अर्थका ज्ञान है, तो वह वक्तो सर्वज्ञ है कि असर्वज्ञ? इनमेंसे दूसरा  
विकल्प तो माना नहीं जा सकता, क्योंकि, ज्ञान-विज्ञानसे रहित होनेके कारण जिसने स्वयं  
प्रमाणताको प्राप्त नहीं किया ऐसे व्याख्यातके वचन प्रमाणरूप नहीं हो सकते हैं ।

१ अर्थविज्ञानगो न स्य स्याथं प्रमाविदुगीशानादधीप्रतिपत्त्यमानाऽप्यादिति तद्व्याख्यातानुमतय ।  
न त यदि मासो रीतपानथ स्यात्प्रामाण्यस्य त पतततया गतुसे किमर्थाभिप्रायण पोयते । तद्व्याख्यातु-  
गच्छने गतिने वाधीपमाने तद्व्यस्य मयस्य नैन प्रमाणता युग तस्य विद्वान्मानत् । त भी वा पृ ७  
२ ग पुरषोऽर्थाको रागादिमीध यदि तदा तद्व्याख्यातादर्थकिभ्यादुपपत्तिरप्याभाविथानुचनत् ।  
धर्मेना पीरगपान न गोऽन्वयागीकिदो यवन्न्वर्धीयय स्यादिति । त भी वा पृ ८

भवतु तस्य तद्वचनस्य चाप्रामाण्यम्, नागमस्य पुरुषव्यापारनिरपेक्षत्वादिति चेन्न,  
व्याख्यातारस्मन्तरेण स्वार्थप्रतिपादकस्य तस्य व्याख्यात्रधीनवाच्यवाचकभावस्य  
पुरुषव्यापारनिरपेक्षत्वविरोधात् । तस्मादागमः पुरुषेच्छतोऽर्थप्रतिपादक इति प्रतिपत्तव्यम् ।  
तथा च 'वचनप्रामाण्याद्वचनप्रामाण्यम्' इति न्यायादप्रमाणपुरुषव्याख्यातार्थ आगमोऽप्रमा-  
णतां कथं नास्कन्देत् ? तस्माद् विगताशेषोपावरणत्वात् प्रागताशेषस्तुविषयबोधस्तस्य  
व्याख्यतेति प्रतिपत्तव्यम्, अन्यथास्यापौरुषेयत्वस्यापि पौरुषेयवदप्रामाण्यप्रासङ्गात् ।  
असर्वज्ञानां व्याख्यातुत्वाभावे आर्षसन्ततेर्विच्छेदस्यार्थशून्याया वचनपद्धतेरार्पत्वाभावा-  
दिति चेन्न, इष्टत्वात् । नाप्यर्षसन्ततेर्विच्छेदो विगतदोषावरणहृद्व्याख्यातार्थस्यार्षस्य  
चतुरस्रलघुद्वयतिशयेपेतिर्दोषगणभृदवधारितस्य ज्ञानविज्ञानसम्पन्नगुरुपर्वक्रमेणायत-  
स्याविनष्टप्राक्तनवाच्यवाचकभावस्य विगतदोषावरणनिष्प्रतिपक्षसत्यस्वभावपुरुषव्याख्यात-

शंका — असर्वज्ञ वक्तो और उसके वचनको अप्रमाणता भले ही मान ली जाय, परंतु  
आगममें अप्रमाणता नहीं मानी जा सकती, क्योंकि, आगम पुरुषके व्यापारकी अपेक्षासे  
रहित है ?

समाधान — नहीं, क्योंकि, व्याख्यातके विना वेद स्वयं अपने विषयका प्रतिपादक  
नहीं है, इसलिये उसका वाच्य वाचकभाव व्याख्यातके आधीन है । अतएव वेदमें पुरुष  
व्यापारकी निरपेक्षता नहीं बन सकती है । इसलिये आगम पुरुषकी इच्छाले अर्थका प्रतिपादक  
है, ऐसा समझना चाहिये । दूसरे 'वक्तोकी प्रमाणतासे वचनमें प्रमाणता आती है' इस  
न्यायके अनुसार अप्रमाणभूत पुरुषके द्वारा व्याख्यान किया गया आगम अप्रमाणताको कैसे  
प्राप्त नहीं होगा, अर्थात् अवश्य प्राप्त होगा ? इसलिये जिसने, संपूर्ण भावकर्म और द्रव्यकर्मको  
दूर कर देनेसे संपूर्ण वस्तु-विषयक ज्ञानको प्राप्त कर लिया है, वही आगमका व्याख्याता हो  
सकता है, ऐसा समझना चाहिये । अन्यथा पौरुषेयत्व-रहित इस आगमको भी पौरुषेय  
आगमके समान अप्रमाणताका प्रसंग आ जायगा ।

शंका — असर्वज्ञको व्याख्याता नहीं मानने पर भी आर्ष-परपराके विच्छेदको या अर्थ-  
शून्य वचन-रचनाको आर्षपना प्राप्त नहीं हो सकता है ?

समाधान — नहीं, क्योंकि, वैसा तो हम मानते ही हैं । अर्थात् आर्ष-परपराके  
विच्छेदको या अर्थशून्य वचन-रचनाको हमारे यहाँ आगमरूपसे प्रमाण नहीं माना है ।

दूसरे हमारे यहाँ आर्ष-परपराका विच्छेद भी नहीं है, क्योंकि, जिसका दोष और  
आवरणसे रहित अस्वत परमेष्ठिने अर्थरूपसे व्याख्यान किया है, जिसको चार निर्मल बुद्धिप  
अतिशयसे युक्त और निर्दोष गणधरदेवने धारण किया है, जो ज्ञान-विज्ञान संपन्न गुरुपरपरासे  
बला आ रहा है, जिसका पटलेका वाच्य-वाचकभाव अभीतर नष्ट नहीं हुआ है और जो  
दोषावरणसे रहित तथा निष्प्रतिपक्ष सत्य-स्वभाववाले पुरुषके द्वारा व्याख्यात देनेसे अर्थके

त्वेन श्रद्धाप्रमाणम्योपलभ्यात् । अप्रमाणमिदानीन्तन आगमः आरतीयपुरुषव्याख्या-  
तार्थमादिति चेन्न, ऐदंयुगीनज्ञानविज्ञानमप्यन्यथा प्राप्तप्रामाण्यैराचार्यैर्व्याख्यातार्थ-  
त्वात् । कथं छग्यातां सत्यमादित्यमिति चेन्न, यथाश्रुतव्याख्यातृणा तदविरोधात् ।  
प्रामाण्यभूतगुरुपरिक्रमेणायातोऽयमर्थ इति कथमवसीयत इति चेन्न, इष्टविषये सर्वत्राविसंवा-  
दात्, अष्टविषयेऽयमिदंदिनागममार्थैर्नैकत्वे सति सुनिश्चितासम्भवद्राक्षकप्रमाणत्वात्,  
ऐदंयुगीनज्ञानविज्ञानसम्पन्नभूयसामाचार्योणापुष्टदेशाद्वा तद्वगतेः । न च भूयांसः  
साधनो प्रिसंयदन्ते तथान्यत्रानुपलभ्यात् । प्रमाणपुरुषव्याख्यातार्थत्वात् स्थितं वचनस्य  
प्रामाण्यम् । ततो मनमोऽभावेऽयस्ति केवलज्ञानमिति सिद्धम् । अथवा न केवलज्ञानं

शोच्य ते ऐसे आगमकी आज भी उपलब्ध होती है ।

शंका—आधुनिक आगम अप्रमाण है, क्योंकि, अर्वाचीन पुरुषोंने इसके अर्थका  
व्याख्यान किया है ?

समाधान—यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, इस कालसन्धी ज्ञान-विवानसे  
मदित होनेके कारण प्रमाणताको प्राप्त आचार्यके द्वारा इसके अर्थका व्याख्यान किया गया  
है, इसलिये आधुनिक आगम भी प्रमाण है ।

शंका—दृष्टस्थोंके सत्यवादीपना कैसे माला जा सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, श्रुतके अनुसार व्याख्यान करनेवाले आचार्यके प्रमाणता  
माननेमें कोई शिरोधार नहीं है ।

शंका—आगमका यह विवक्षित अर्थ प्रामाणिक गुरुपरपरके क्रमसे आया हुआ है,  
यह कैसे निश्चय किया जाय ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, प्रत्यक्षभूत विषयमें तो सब जगह विसवाद् उत्पन्न नहीं  
होनेसे निश्चय किया जा सकता है । और परंपर विषयमें भी, जिसमें परोक्ष-विषयका वर्णन  
किया गया है वह भला अतिसंवादी आगमके दूसरे भागोंके साथ आगमकी अपेक्षा एकताको  
प्राप्त होने पर, श्रुतमानादि प्रमाणोंके द्वारा वाचक प्रमाणोंका अभाव सुनिश्चित होनेसे उसका  
निश्चय किया जा सकता है । अथवा, आधुनिक मान-विज्ञानसे युक्त अनेक आचार्योंके उपदेशसे  
उम्मी प्रमाणता जानना चाहिये । और बहुतसे साधु इस विषयमें विसंवाद नहीं करते हैं,  
क्योंकि, इमतरहका विमंवाद कहीं पर भी नहीं पाया जाता है । अतएव आगमके अर्थके  
व्याख्याता प्रामाणिक पुरुष हैं इस बातके निश्चित हो जानेसे अर्थ-वचनकी प्रमाणता भी सिद्ध  
हो जाती है । और अर्थ-वचनकी प्रमाणताके सिद्ध हो जानेसे मनके अभावमें भी केवलज्ञान  
होता है यह बात भी सिद्ध हो जाती है ।

अथवा, केवलज्ञान मनसे उत्पन्न होता हुआ न तो किन्हीं उपलब्ध किया और न  
परिधिगम्यारसापन्नकर्म नपत्तो गामपति । त ओ मा ७

मनसः समुत्पद्यमानमुपलब्धं श्रुतं वा, येनैपरिकोत्पद्येत । धायोपशमिको हि बोधः  
क्वचिन्मनस उत्पद्यते । मनसोऽभावाद्भवतु तस्यैवाभावः, न केवलस्य तस्मात्स्योत्पत्ते-  
रभावात् । सयोगस्य केवलिनः केवलं मनसः समुत्पद्यमानं समुपलभ्यत इति चेन्न,  
स्वावरणक्षयादुत्पन्नस्याक्रमस्य पुनरुत्पत्तिनिरोधात् । ज्ञानत्वान्मनस्यदिज्ञानवन्कारक-  
मपेक्षते केवलमिति चेन्न, धायिकभायोपशमिकयोः साधर्म्यभावात् । प्रतिकर्षणं निवर्त-  
मानार्थानपरिणामि केवलं कथं परिछिनचीति चेन्न, ज्ञेयसमविपरिवर्तिनः केवलस्य  
तदविरोधात् । ज्ञेयपरतन्त्रतया विपरिवर्तमानस्य केवलस्य कथं पुनर्नैवोत्पत्तिरिति चेन्न,  
केवलोपयोगसामान्यापेक्षया तस्योत्पत्तेरभावात् । विशेषोपेक्षया च नेन्द्रियालोक-  
मनोभ्यस्तदुत्पत्तिर्विगतावरणस्य तद्विरोधात् । केवलमसहायत्वान्न तत्सहायमपेक्षते

किस्मिन्ने सुना ही, जिससे कि यह शक्य उत्पन्न हो सके । धायोपशमिक ज्ञान अवश्य ही कहीं  
पर ( सही पचेन्द्रियोंमें ) मनसे उत्पन्न होता है । इसलिये अयोगकेवलीके मनका अभाव  
होनेसे धायोपशमिक ज्ञानका ही अभाव सिद्ध होगा, न कि केवलज्ञानका, क्योंकि, अयोग-  
केवलियोंके मनसे केवलज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होती है ।

शंका—सयोगकेवलीके तो केवलज्ञान मनसे उत्पन्न होता हुआ उपलब्ध होता है ?

समाधान—यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, जो ज्ञान ज्ञानावरण कर्मके  
अपेक्षे उत्पन्न है और जो अक्रमवर्ती है, उसकी मनसे पुनः उत्पत्ति मानना विरुद्ध है ।

शंका—जिसप्रकार मति आदि ज्ञान, स्वयं ज्ञान होनेसे अपनी उत्पत्तिमें कारककी  
अपेक्षा करते हैं, उसीप्रकार केवलज्ञान भी ज्ञान है, अतएव उसे भी अपनी उत्पत्तिमें कारककी  
अपेक्षा करनी चाहिये ।

समाधान—नहीं, क्योंकि, धायिक और धायोपशमिक ज्ञानमें साधर्म्य नहीं पाया  
जाता है ।

शंका—अपरिवर्तनशील केवलज्ञान प्रत्येक समयमें परिवर्तनशील पदार्थोंको कैसे  
जानता है ?

समाधान—ऐसी शक्य ठीक नहीं है, क्योंकि, ज्ञेय पदार्थोंको जाननेके लिये तद्वस्तुकुल  
परिवर्तन करनेवाले केवलज्ञानके ऐसे परिवर्तनके मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

शंका—ज्ञेयकी परतन्त्रतासे परिवर्तन करनेवाले केवलज्ञानकी फिरसे उन्पत्ति क्यों  
नहीं मानी जाय ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, केवलज्ञानरूप उपयोग-सामान्यकी अपेक्षा केवलज्ञानकी  
पुनः उत्पत्ति नहीं होती है । विशेषकी अपेक्षा उसकी उत्पत्ति होते हुए भी वह ( उपयोग )  
इन्द्रिय, मन और आलोकसे उत्पन्न नहीं होता है, क्योंकि, जिसके ज्ञानावरणादि कर्म नष्ट हो  
गये हैं ऐसे केवलज्ञानमें इन्द्रियादिककी सहायता माननेमें विरोध आता है ।

दूसरी बात यह है कि केवलज्ञान स्वयं असहाय है, इसलिये वह इन्द्रियादिकोंकी

स्वरूपहानिप्रसङ्गात् । प्रमेयमपि भैवमैश्वर्यामहायत्वादिति चेन्न, तस्य तत्त्वभावत्वात् । न हि स्वभावाः परपर्यनुयोगार्हाः । अव्यवस्थापत्तेरिति । पञ्चसु गुणेषु कोऽत्र गुण इति चेत्क्षीणशेषघातिकर्मत्वान्निस्स्यमानाघातिकर्मत्वाच्च क्षायिको गुणः । उक्तं च—

सेलेसि<sup>१</sup> सपतो गिरुद्ध-गिस्सेस-आसवो जीवो ।

कम्म रय-विण्णमुक्को गय-जोगो केवली होई ॥ १२६ ॥

मोक्षस्य सोपानीभूतानि चतुर्दश गुणस्थानानि प्रतिपाद्य संसारातीतगुणप्रतिपादनार्थमाह—

सहायताकी अपेक्षा नहीं करता है, अथवा ज्ञानके स्वरूपकी दृष्टिका प्रसंग आ जायगा ।

शंका—यदि केवलज्ञान असहाय है तो वह प्रमेयको भी मत जाने ?

समाधान—पेसा नहीं है, क्योंकि, पदार्थोंको जानना उसका स्वभाव है । और वस्तुके स्वभाव दूसरोंके प्रयत्नोंके योग्य नहीं हुआ करते हैं । यदि स्वभावमें भी प्रयत्न होने लगे तो फिर वस्तुओंकी व्यवस्था ही नहीं बन सकेगी ।

शंका—पाव प्रकारके भावोंमेंसे इस गुणस्थानमें कौनसा भाव है ?

समाधान—संपूर्ण घातिया कर्मोंके क्षीण हो जानेसे और थोड़े ही समयमें अघातिया कर्मोंके नाशको प्राप्त होनेवाले होनेसे इस गुणस्थानमें क्षायिक भाव है । कहा भी है—

जिन्होंने अठारह हजार शीलके स्वामीपनेको प्राप्त कर लिया है, अथवा जो मेरुके

समान निष्कम्प अवस्थाको प्राप्त हो चुके हैं, जिन्होंने संपूर्ण आश्रयका निरोध कर दिया है, जो नूतन बंधनेवाले कर्म-रजसे रहित हैं, और जो मन, वचन तथा काय योगसे रहित होते हुए केवलज्ञानसे विभूषित हैं उन्हें अयोगकेवली परमात्मा कहते हैं ॥ १२६ ॥

मोक्षके सोपानीभूत चौदह गुणस्थानोंका प्रतिपादन करके अब ससारसे अतीत गुणस्थानके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

१ विशेषजिज्ञासामि अष्टहर्षा पृ २३६ २३७ प्रमेयकर्मलमार्तण्ड पृ १२२ ११६ दृष्टव्य ।

२ मतिपुं, माक्षिष्ट, इति पाठ ।

३ शिलाभिनिर्वृत शिलानां वाऽयमिति शैलेस्येयमिषा शैलेस्यो मेरु शैलेस्येय, स्थिता-  
साम्यात् परसमुक्चयाने वर्तमान शैलेसीमानमिधीयते, अमेदोपचारात् स एव शैलेसी, मेरुवाप्यकम्पो  
यस्याभवस्थाया सा शैलेस्यवस्था । अथवा पूर्वमस्थितयाऽशैलेस्यो भूत्वा पश्चादस्थितयैव यस्याभवस्थाया शैलेसाहुकार्गी  
भवति स सा । अथवा सेलेसी होई >>> सोऽतिथिताए शैलेस्य इतीति स ऋषि स्थितया शैल इव भवति । अथवा  
सेलेसी भण्णइ सेलेसी होई मागधदेशीमापया से सी अलेसीभवति तस्याभवस्थाया, अकालोपात् । अथवा सेलेसी-  
निभयत शील समाधान, स च सर्वस्वरत्तस्येश, तस्य शैलेस्य याऽवस्था सा शैलेसी अवस्थोच्यते । वि भा को  
दृ पृ ८६६

४ गो जी ६५ तत्र 'सौलेसि', इति पाठ । शीलाना अष्टादशमहत्त्वमप्यानां ऐश्वर ईश्वरत्व स्वाभिल  
मयात् । म प्र टी

## सिद्धा चेदि ॥ २३ ॥

सिद्धाः निष्ठिताः निष्पन्नाः कृतकृत्याः सिद्धसाध्या इति यावत् । निराकृताशेष-  
कर्माणो बाह्यार्थनिरपेक्षानन्तानुपमसहजाप्रतिपक्षसुखाः निरुपलेपाः अविचलितस्वरूपाः  
सकलावगुणातीताः निःशेषगुणनिधानाः चरमदेहात्किञ्चिन्न्यूनस्वदेहाः कोशत्रिनिर्गत-  
सायक्रोपमाः लोकशिखरनिवासिनः सिद्धाः । उक्तं च—

अहविह-कम्म-विजुदा सीदीभूदा गिरजणा गिन्वा ।

अह-गुणा किदकिन्वा लोयग-णिवासिणो सिद्धा' ॥ १२७ ॥

संवत्थ अरिथ चि संबंधो कायव्वो । 'च' सहो समुच्चयट्ठो । 'इदि' सहो एतिया-  
णि चैव गुणद्वानाणि ति गुणद्वानाणं समत्ति-वाचओ ।

सामान्यसे सिद्ध जीव होते हैं ॥ २३ ॥

सिद्ध, निष्ठित, निष्पन्न, कृतकृत्य और सिद्धसाध्य ये एकार्थवाची नाम हैं । जिन्होंने  
समस्त कर्मोंका निराकरण कर दिया है, जिन्होंने बाह्य पदार्थोंकी अपेक्षा रहित, अतन्त,  
अनुपम, स्वाभाविक और प्रतिपक्षरहित सुखको प्राप्त कर लिया है, जो निर्लेप है, अचल  
स्वरूपको प्राप्त हैं, संपूर्ण अवगुणोंसे रहित हैं, सर्व गुणोंके निधान हैं, जिनका स्वदेह अर्थात्  
आत्माका आकार चरम शरीरसे कुछ न्यून है, जो कोशसे निकले हुए वाणके समान विनिःसग  
हैं और लोकके अग्रभागमें निवास करते हैं उन्हें सिद्ध कहते हैं । कहा भी है—

जो ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंसे सर्वथा मुक्त हैं, सुनिर्वृत ( सब प्रकारकी शीतलतासे  
मुक्त ) हैं, निरजन हैं, नित्य हैं, ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, अव्याबाध, अवगाहन, सूक्ष्मत्व और  
अगुरुत्व इत आठ गुणोंसे युक्त है, कृतकृत्य हैं और लोकके अग्रभागमें निवास करते हैं  
उन्हें सिद्ध कहते हैं ॥ १२७ ॥

' अस्थि मिच्छाहृदी ' इस सूत्रसे लेकर ' सिद्धा चेदि ' इस सूत्र पर्यन्त सब जगह  
' अस्ति ' पदका सबन्ध कर लेना चाहिये । ' सिद्धा चेदि ' इस सूत्रमें आया हुआ ' च ' शब्द  
शब्द समुच्चयरूप अर्थका वाचक है और ' इति ' शब्द, गुणस्थान इतने ही होते हैं इससे  
कम या अधिक नहीं, इस प्रकार गुणस्थानोंकी समाप्तिका वाचक है ।

१ गो जी ६८ ' अहविहकम्मविजुदा ' अनेन ससारिखविद्युत्स्य मुत्तिर्नास्तीति याजिकमत, सर्वदा कर्ममले-  
स्पृष्टत्वेन सदा मुक्त एव सर्वेश्वर इति सदाशिवमत च अपास्त । ' सीदीभूदा ' अनेन पुत्तौ आत्मन सुखाभाव  
वदन् साख्यमतपमाहृत । ' गिरजणा ' अनेन मुत्तान्मन पुन कर्मजननसर्वेण ससारोऽस्तीति वदन् मत्स्कीर्दकानं  
प्रत्याख्यात । ' गिन्वा ' अनेन प्रतिक्षण विनश्चरचित्तयोर्या एव एकरतानप्रतिन परमार्थतो  
नित्यद्वय नेति वदतीति बौद्धप्रथयस्था प्रतिबुद्धा । ' अहगुणा ' अनेन ज्ञानादिगुणानामत्यन्तोच्छित्तरात्मनो  
भुत्तिरिति वदथैयायिकर्मशेषिकाभिप्राय प्रयुक्त । ' किदकिन्वा ' अनेन ईश्वर सदा मुत्तोऽपि जगदिभोपण वृत्ता-  
दरत्वेनाकृतकृत्य इति वददीश्वरसृष्टिवादाकृतम् निराकृतम् । ' लोयगणिवसिणो ' अनेन आत्मन ऊर्ध्वगमत्सामान्यात्  
मुत्तानस्थाया ऋचिदपि विश्रामाभावात् उपरुपरि गमनमिति वदन् मड्डिकमतम् प्रबलत् । जी प्र टी

चोदसहं गुणद्वयानं ओच-परुषणं काळण आदेम-परुषणं सुत्तमह—

आदेसेण गदियाणुवादेण अत्थि णिरयगदी तिरिक्सगदी  
मणुरसगदी देवगदी सिद्धगदी चेदि ॥ २४ ॥

आदेयप्रवृत्तण मामर्थ्यलभ्यमिति न गच्यमिति चेच, स्पष्टीकरणार्थत्वात् । गति-  
रुक्कलक्षण, तस्याः वदनं गदः । अस्मिन्नुवाचार्थपरम्परामतस्यार्थस्य अतु पश्चाद् वादोऽनु-  
गादः । गतेरनुवादो गत्यनुवादः, तेन गत्यनुवादेन । 'हिंसादिध्वंसदनुष्ठानेषु व्याश्रुताः  
निवृत्तान्तेषां गतिनिर्गतगतिः । अथवा नरात् प्राणिनः कायति पातयति खलीकरोति इति  
नरकः कर्म, तस्य नरकस्यापत्यानि' नारकात्तेषां गतिनिर्करगतिः । अथवा यस्या उदयः  
मकलाशुभकर्मणापुदयस्य महकारिकारणं भवति मा नरकगतिः । अथवा द्रव्यक्षेत्रकाल-

चोदक गुणस्थानांका सामान्य प्रवृत्तण करके अत्र विशेष प्रवृत्तणके लिये आगेका सूत्र  
कहते हैं—

आदेश प्रवृत्तणानी अपेक्षा गत्यनुवादसे नरकगति, तिर्यचगति, मनुष्यगति, देवगति  
आत्र निरगति है ॥ २४ ॥

यंका— आदेश पदका ग्रहण सामर्थ्य-लभ्य है, इसलिये इस सूत्रमें उसका फिरसे  
ग्रहण नहीं करना चाहिये ?

ममाथान— नरक, कर्षण, स्पर्शीकरण करनेके लिये आदेश पदका सूत्रमें ग्रहण  
किया है ।

गतिना लक्षण पहले कह जाये है । उसके कथन करनेको चाह कहते हैं । आचार्य-पर-  
पराचे अपे रूप प्रसिद्ध अर्थका तदनुसार कथन करना अनुवाद है । इसतरह गतिना  
आचार्य परपराके अनुसार कथन करना गत्यनुवाद है, उससे अर्थक गत्यनुवादसे नरकगति  
आदि गतियां होती हैं । जो हिंसादि अस्मिन्वीन कार्योंमें व्यापृत हैं उन्हें निरत कहते हैं,  
और उनकी गतिने निरतगति कहते हैं । अथवा, जो नर अर्थक प्राणियोंको मारता है  
प्रायत्त गिराता है, पीसता है उसे नरक कहते हैं । नरक यह एक कर्म है । इससे जिनकी  
उत्पत्ति होती है उनको नरक कहते हैं, और उनकी गतिको नरकगति कहते हैं ।  
अथवा, जिन गतिना उदय संपूर्ण अशुभ कर्मके उदयका सहकारी-कारण है उसे नरकगति  
कहते हैं । अथवा, जो द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावमें तथा परस्परमें रत नहीं हैं, अर्थात्

१ जलस्य तद्वेगं गो वातास्यज्जगं गा २४० तस्य जी प्र. यत्ता यथेण ममाना ।

२ गीत 'गण' जी पाठ ।

भावेऽन्वयोन्येषु च विरताः नरताः, तेषां गतिनिर्गतगतिः । उक्तं च—

ण रमति जदो णिच दव्ये खेते य काळ-भावे य ।

अण्णोणोहि य जहा तहा ते णारया भणिया' ॥ १२८ ॥

सकलतिर्यकपर्यायोत्पत्तिनिमित्ता तिर्यगतिः । अथवा तिर्यगतिकर्मोदयापादित-  
तिर्यकपर्यायकलापस्तिर्यगतिः । अथवा तिर्रो वक्रं कुटिलमित्यर्थः, तदञ्चन्ति व्रजन्तीति  
तिर्यञ्चः । तिरश्चां गतिः तिर्यगतिः । उक्तं च—

तिरियति कुटिल भाव सुधियड-सण्णा णिगिडमण्णाणा ।

अच्चत-पान-वट्टया तम्हा तेरिच्छया णाम' ॥ १२९ ॥

अशेषमनुष्यपर्यायनिष्पादिका मनुष्यगतिः । अथवा मनुष्यगतिकर्मोदयापादित-  
मनुष्यपर्यायकलापः कार्ये कारणोपचारान्मनुष्यगतिः । अथवा मनसा निपुणाः मनसा  
प्रीति नहीं रखते है उन्हें नरत कहते है, और उनकी गतिको नरतगति कहते है ।  
कहा भी है—

जिस कारणसे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावमें जो स्वय तथा परस्परमें कभी भी प्रीतिको  
प्राप्त नहीं होते, इसलिये उनको नारत कहते है ॥ १२८ ॥

समस्त जातिके तिर्यचोंमें उत्पत्तिका जो कारण है उसे तिर्यचगति कहते है । अथवा,  
तिर्यगति कर्मके उदयसे प्राप्त हुए तिर्यच पर्यायोंके समूहको तिर्यगति कहते है । अथवा,  
तिरस्, वक्र और कुटिल ये परकार्यवाची नाम है, इसलिये यह अर्थ हुआ कि जो कुटिलभावको  
प्राप्त होते है उन्हें तिर्यच कहते है, और उनकी गतिको तिर्यचगति कहते है । कहा भी है—

जो मन, वचन और कायकी कुटिलताको प्राप्त है, जिनकी आहारादि सजाए सुव्यक्त  
हैं, जो निरुद्य अज्ञानी है और जिनके अत्यधिक पापकी गहलता पाई जाये उनको तिर्यच  
कहते है ॥ १२९ ॥

जो मनुष्यकी संपूर्ण पर्यायोंमें उत्पन्न कर्माती है उसे मनुष्यगति कहते है । अथवा,  
मनुष्यगति नामकर्मके उदयसे प्राप्त हुए मनुष्य-पर्यायोंके समूहको मनुष्यगति कहते है । यह  
लक्षण कार्यमें कारणके उपचारसे किया गया है । अथवा, जो मनसे निपुण है, या मनसे

१ नररगणियन् पापनादिद्वये तदभुतलयपक्षेने यमयादिरापुररमानकालं त्रिसयांपरुषगाने । गो जी,  
जी प्र, टी १६७

२ अथवा निर्गतोऽय पुण्य पुण्यन्ने निरसा तेषां गति निरगति । गो जी, जा प्र, टी १७७

३ गो जी १४७

४ गो जी १४८ यस्मात्तण्णान् ये जीमा सुविट्ठमजा अत्ताहारादिप्रकसजायता, प्रमातरययुति-

लेयामिथुद्धताधिसिन्धीमन्तानिच्छदा, हेयोपादेयजानादिभिर्निर्हीनतादानाना, निवृत्तिगोद्विप्रथया अयत्तवापमट्टया

तस्मात् नग्यते जीमा तिगेमान कुटिलमान मायापरिणाम अचति गच्छति इति तिं चो भणित्ता भवन्ति । जी. प्र. टी  
५ प्रतिष्ठु 'कार्पण्य' इति पाठ ।



उत्कटा इति वा मनुष्याः, तेषां गतिः मनुष्यगतिः । उक्तं च —

मण्णति जदो णिच्च मणेण णिउणा मणुकडा जग्हा ।

मणु-उब्भवा य सब्बे तग्हा ते माणुसा भणियां ॥ १३० ॥

अणिमाद्यष्टगुणाद्यष्टम्बलेन दीव्यन्ति क्रीडन्तीति देवाः । देवानां गतिर्देवगतिः ।

अथवा देवगतिनामकर्मोद्दयोऽणिमादिदेवाभिधानप्रत्ययव्यवहारनिबन्धनपर्यायोत्पादको

देवगतिः । देवगतिनामकर्मोद्दयजनितपर्यायो वा देवगतिः कार्ये कारणोपचारात् ।

उक्तं च —

दिव्यति जदो णिच्च गुणेहि अह्हि य दव्व भवेहि ।

भासत-दिव्य-जाया तग्हा ते वणिया देवां ॥ १३१ ॥

सिद्धिः सारूपोपलब्धिः सकलगुणैः सारूपनिष्ठा सा एव गतिः सिद्धिगतिः ।

उत्कट अर्थात् सूक्ष्म-विचार आदि साक्षात्प्रय उपयोगसे युक्त है उन्हें मनुष्य कहते हैं, और उनकी गतिको मनुष्यगति कहते हैं । कहा भी है—

जिसकारण जो सदा हेय उपादेय आदिका विचार करते हैं, अथवा, जो मनसे गुणचोपादिका विचार करनेमें निपुण हैं, अथवा, जो मनसे उत्कट अर्थात् दूरदर्शन, सूक्ष्म-विचार, निरकाल धारण आदि रूप उपयोगसे युक्त हैं, अथवा, जो मनुकी सन्तान हैं, इसलिये उन्हें मनुष्य कहते हैं ॥ १३० ॥

जो अणिमा आदि आठ ऋद्धियोंकी प्राप्तिसे बलसे क्रीडा करते हैं उन्हें देव कहते हैं, और देवोंकी गतिको देवगति कहते हैं । अथवा, जो अणिमादि ऋद्धियोंसे युक्त 'देव' इस-प्रकारके शब्द, ज्ञान और व्यवहारमें कारणभूत पर्यायका उत्पादक है ऐसे देवगति नामकर्मके उद्दयको देवगति कहते हैं । अथवा, देवगति नामकर्मके उद्दयसे उत्पन्न हुई पर्यायको देवगति कहते हैं । यहां कार्यमें कारणके उपचारसे यह लक्षण किया गया है । कहा भी है—

स्योंकि वे द्रव्य और भावरूप अणिमादि आठ दिव्य गुणोंके द्वारा निरन्तर क्रीडा करते हैं, और उनका शरीर प्रकाशमान तथा दिव्य है, इसलिये उन्हें देव कहते हैं ॥ १३१ ॥

आत्म-स्वरूपकी प्राप्ति अर्थात् अपने संपूर्ण गुणोंसे आत्म-स्वरूपमें स्थित होनेको सिद्धि कहते हैं । ऐसी सिद्धिस्वरूप गतिको सिद्धिगति कहते हैं । (यद्यपि सूत्रमें सिद्धिगति पाठ है

१ गो जी १४३; कित्तियो यस्माच्चञ्चोच्चर्यक लब्धपर्याप्तिकमनुयाणा धूर्वोत्तमणुयलक्षणभावेऽपि मनुयगतिनामाणु क्कोद्दयजनितत्वमात्रेण मणुयत्वमाचारस्येए जापरति । अनर्थमनि वचनानि किंचिदिष्ट ज्ञाप-यन्याचारस्य इति न्यायात् । म प्र टी

२ अणिमा महिमा चैत गरिमा लक्षिमा तथा । प्राप्ति प्राक्कान्तमोक्षत्व वाशे च चाए पिद्धम ॥

३ प्रतितु 'कार्यकारण', इति पाठ ।

४ गो जी १५१ तत्र 'दन्ममन्दि', इति स्थाने 'दिव्यमन्त्रेहि', इति पाठ ।

उक्तं च—

संत-परुषणुणुयोगदारे गदिसमणापरुषणं [ १, १, २५.

जाह-जरा-मरण-भया संजोय-वियोय-दुक्ख-सण्णाओ' ।

रोगादिया य जिस्से ण सति सा होइ सिद्धगई ॥ १३२ ॥

सर्वत्रास्तीत्यभिस्मवन्धः कर्तव्यः । प्रतिज्ञावाक्यत्वाद्धेतुप्रयोगः कर्तव्यः;

प्रतिज्ञासात्रतः साध्यसिद्धचतुषपचेरिति चेन्नैदं प्रतिज्ञावाक्यं प्रमाणत्वात्, न हि प्रमाणं

प्रमाणान्तरमपेक्षेतऽनवस्थापत्तेः । नास्य प्रमाणस्यसिद्धमुक्तोत्तरत्वात् ।

साम्प्रतं मार्गणैकदेशगतेरस्तित्वमभिधाय तत्र जीवसमासात्चेपणाय सूत्रमग्रह—

**णेरइया चउ-ट्टाणेषु अत्थि मिच्छाइही सासणसम्माइही  
सम्मामिच्छाइही असंजदसम्माइट्टि ति ॥ २५ ॥**

फिर भी टीकाकारने सिद्धिगति पाठको लेकर निरुक्ति की है । ) कहा भी है—

जिसमें जन्म, जरा, मरण, भय, संयोग, वियोग, दुख, आहारादि सब्बाए और रोग-दिक नहीं पाये जाते हैं उसे सिद्धगति कहते हैं ॥ १३२ ॥

सूत्रमें आये हुए अस्ति पदका प्रत्येक गतिके साथ सबन्ध कर लेना चाहिये ।

शुका—'नरकगति है, तिर्यचगति है; इत्यादि प्रतिज्ञा वाक्य होनेसे इनके अस्तित्वकी सिद्धिके लिये हेतुका प्रयोग करना चाहिये, क्योंकि, केवल प्रतिज्ञा-वाक्यसे सा-नकी सिद्धि नहीं हो सकती है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, 'नरकगति है' इत्यादि वचन प्रतिज्ञावाक्य न होकर प्रमाणवाक्य ( आगमप्रमाण ) हैं । जो स्वयं प्रमाणस्वरूप होते हैं वे दूसरे प्रमाणकी अपेक्षा नहीं करते हैं । यदि स्वयं प्रमाण होते हुए भी दूसरे प्रमाणोंकी अपेक्षा की जावे तो अनवस्थादोष आ जाता है । और इन वचनोंकी रवय प्रमाणता भी अस्िद्ध नहीं है, क्योंकि, इस विषयमें पहले ही उत्तर दिया जा चुका है कि यह उपदेश सर्वशके मुख कमलसे प्रगट होकर आचार्यपरंपरासे चला आ रहा है, इसलिये प्रमाण ही है ।

मार्गणके एकदेशरूप गतिको सद्भाव बताकर अब उसमें जीवसमासोंके अन्वेषणके लिये सूत्र कहते हैं—

मिथ्यादृष्टि, सात्वाइतसव्यगृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यगृष्टि इन चार गुणस्थानोंमें नारकी होते हैं ॥ २५ ॥

१ कर्मशब्दोक्तस्य भयं भयं स्वशरीरपर्यायोपसिञ्जति । जातस्य तथाभिवर्गरीस्वपर्यायस्य कर्मोहात्या निक्षणं जरा । स्नाणु क्षयात्तथात्रियशरीरपर्यायप्राणायामो मरण । अनर्थाशयना अपकारकेभ्य पलायनेच्छा मय । केवकारणानिष्टद्वयवगम संयोग । सुखकारणैष्टद्वयवापायो भियोग । एतेव्य सुकल्पवानि आमतो निग्रहरूपाणि इ यानि । शेषास्तिस्र आहारादिव्यावस्था सन्ना । गो जी, म. प्र, टी १५२

२ गो जी १५२



नारुहणं मनुष्यादिनिराकरणार्थम् । चतुर्ग्रहणं पञ्चादिसंख्यापोहनार्थम् । अग्निग्रहणं प्रतिपत्तिगौरानिराकरणार्थम् । नारुहणं स्थानेषु सन्तीत्यस्मात्सामान्यवचनान्तराश्रयो मा जनीति तदुत्पत्तिनिराकरणार्थं मिथ्यादृष्ट्यादिगुणानां नामनिर्देशः । अस्तु मिथ्यादृष्टिगुणे तेषां सत्त्वं मिथ्यादृष्टिषु तत्रोत्पत्तिनिमित्तमित्यात्वस्य सत्त्वात् । नेतरेषु गुणेषु तेषां सत्त्वं तत्रोत्पत्तिनिमित्तस्य मिथ्यात्वस्यासत्त्वादिति चेन्न, आयुषो बन्धमन्तरेण मिथ्यात्वाविरतिक्रम्याणां तत्रोत्पत्तिनिमित्तमित्यात्वस्य सत्त्वात् । न च बद्धस्यायुषः सम्यक्त्वाविरत्यविनाशः अपिनिरोधात् । न हि बद्धायुषः सम्यक्त्वं संयममिव न प्रतिपद्यन्ते यद्यविरोधात् । सम्यग्दृष्टीनां बद्धायुषां तत्रोत्पत्तिरस्तीति सन्ति तत्रासंयतसम्यग्दृष्टयः, न सासादनगुणवतां तत्रोत्पत्तिरुद्गुणस्य तत्रोत्पत्त्या सह विरोधात् । तर्हि कथं तद्वतां

मनुष्यादिके निराकरण करनेके लिये सूत्रमें नारक पदका ग्रहण किया है । पाँच आदि संख्याओंके निराकरण करनेके लिये 'चतुर' पदका ग्रहण किया है । जाननेमें कठिनाई न पड़े इसलिये 'अस्ति' पदका ग्रहण किया है । नारकी चार गुणस्थानोंमें होते हैं, इस सामान्य उचनसे संशय न हो जाय कि वे चार गुणस्थान कौनसे हैं, इसलिये इस संशयको दूर करनेके लिये मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानोंका नाम-निर्देश किया है ।

शंका—मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें नारकियोंका सत्त्व रहा अथे, क्योंकि, बद्धा पर नारकियोंमें उत्पत्तिका निमित्त कारण मिथ्यादर्शन पाया जाता है । किंतु दूसरे गुणस्थानोंमें नारकियोंका सत्त्व नहीं पाया जाना चाहिये, क्योंकि, अन्य गुणस्थानसहित नारकियोंमें उत्पत्तिका निमित्त कारण मिथ्यात्व नहीं माना गया है ?

समाधान—पेसा नहीं है, क्योंकि, नरकायुके बन्ध विना मिथ्यादर्शन, अविरति और कृपायकी नरकमें उत्पत्त करणसे नहीं है । और पहले यही हुई आयुका पीछेसे उत्पन्न हुए सम्यग्दर्शनसे निरन्तर नाश भी नहीं होता है, क्योंकि, पेसा मान लेने पर आपसे प्रियेन आता है । जिनोंने नरकायुका बन्ध कर लिया है ऐसे जीव जिसप्रकार समयको प्राप्त नहीं हो सकते हैं उमीपकार सम्यक्त्वको प्राप्त नहीं होते हैं, यह बात भी नहीं है, क्योंकि, पेसा मान लेने पर भी सूत्रसे विरोध आता है ।

शंका—जिन जीवोंने पहले नरकायुका बन्ध किया और जिन्हें पीछेसे सम्यग्दर्शन उत्पन्न हुआ ऐसे यज्ञायुक्त सम्यग्दृष्टियोंकी नरकमें उत्पत्ति होती है, इसलिये नरकमें जनयतसम्यग्दृष्टि भले ही पाये जायें, परंतु सासादन गुणस्थानवालोंकी (नरकर) नरकमें उत्पत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि सासादन गुणस्थानका नरकमें उत्पत्तिके साथ विरोध है । इसलिये सासादन गुणस्थानवालोंका नरकमें सद्भाव कैसे पाया जा सकता है ?

१ तथापि निरुहणः आरण्यप्रवेशे नरक । अणुदमनः यदा ष लरुः देवाङ्ग मोक्षु । गो क ३३४

२ न माननें नारायणने । गो नी १२८ पिरा माणमको ण गच्छे ति । गो क ३३२

तत्र सत्त्वमिति चेन्न, पर्याप्तनरकगत्या सहापर्याप्तया इय तस्य विरोधाभावात् । किमित्यपर्याप्तया विरोधेत्सगणोऽर्थ, न हि स्वभावाः परपर्यनुयोगार्हाः । तर्हिन्यास्वपि गतिष्यपर्याप्तताहलेऽस्य सत्त्वं मा भूत्तेन तस्य निरोधादिति चेन्न, नारकापर्याप्तकालेनेव शेषापर्याप्तपर्यायैः सह विरोधासिद्धेः । सम्यग्भिध्मात्त्वगुणस्य पुन सत्त्वं सर्वत्रापर्याप्ताद्वाभिर्विरोधेस्तत्र तस्य सत्त्वप्रतिपादकार्याभावात् । किमित्यागमे तत्र तरय रात्तं नोक्तमिति चेन्न, आगमस्यातर्कगोचरत्वात् । कथं पुनस्तयोस्तत्र सत्त्वमिति चेन्न, परिणामप्रत्ययेन तदुत्पत्तिरिति चेन्न, तर्हि सम्यग्दृष्टयोऽपि तथैव सन्तीति चेन्न, इत्यत्रात् ।

समाधान—नहीं, क्योंकि, जिसप्रकार नरकगतिमें अपर्याप्त अवस्थाके साथ सासादन गुणस्थानका विरोध है, उसप्रकार पर्याप्त-अवस्था सहित नरकगतिके साथ सासादन गुणस्थानका विरोध नहीं है । अर्थात् नारकियोंके पर्याप्त अवस्थामें दूसरा गुणस्थान उत्पन्न हो सकता है । यदि कहो कि नरकगतिमें अपर्याप्त अवस्थाके साथ दूसरे गुणस्थानका विरोध क्यों है ? तो उसका यह उत्तर है, कि यह नारकियोंका स्वभाव है, और स्वभाव दूसरेके प्रत्येक योग्य नहीं होते हैं ।

शंका—यदि पेसा है, तो अन्य गतियोंके अपर्याप्त कालमें भी सासादन गुणस्थानका सद्भाव मन होओ, क्योंकि, अपर्याप्त कालके साथ सासादन गुणस्थानका विरोध है ?

समाधान—यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि, जिसतरह नारकियोंके अपर्याप्त कालके साथ सासादन गुणस्थानका विरोध है, उसतरह शेष गतियोंके अपर्याप्त कालके साथ सासादन गुणस्थानका विरोध नहीं है । केवल सम्यग्भिध्मात्त्व गुणस्थानका तो सदा ही सभी गतियोंके अपर्याप्त कालके साथ विरोध है, क्योंकि, अपर्याप्त कालमें सम्यग्भिध्मात्त्व गुणस्थानका अस्तित्व यतनिचले आगमका अभाव है ।

शंका—आगममें अपर्याप्त कालमें मिथ्य गुणस्थानका सत्त्व क्यों नहीं बताया ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, आगम तर्कका विषय नहीं है ।

शंका—तो फिर सासादन और मिथ्य इत दोनों गुणस्थानोंका नरकगतिमें सत्त्व कैसे समभव है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, परिणामोंके निमित्तसे नरकगतिकी पर्याप्त अवस्थामें उत्पत्ती उत्पत्ति बन जाती है ।

शंका—तो फिर सम्यग्दृष्टि भी उसीप्रकार होते हैं, पेसा मानना चाहिये ? अर्थात्

१ [ नरदया ] गणमणममादृष्टिममामिअदृष्टिणं नियमा पञ्चता । जा य म् ८०

२ तिरिगता XX मणुसा XX देवा मिच्छादृष्टि माणमममादृष्टि अमजदमममादृष्टिणं निगा पञ्चता निगा अपञ्चता । जी य स ८६, ८९, ९४

३ मरण मरणतममुवादी पि य ण मिसम्मि । गो जी २६

सासादनस्येव सम्यग्दृष्टेऽपि तत्रोत्पत्तिर्मा भूदिति चेन्न, प्रथमपृथिव्युत्पत्तिं प्रति निषेधाभावात् । प्रथमपृथिव्यामिव द्वितीयादिसु पृथिवीषु सम्यग्दृष्टयः किन्नोत्पद्यन्त इति चेन्न, सम्यक्त्वस्य तत्रतन्यापर्याप्तत्वाद्द्वया सह विरोधात् । नोपरिमगुणानां तत्र सम्भवस्तेषां संयमांशयसंयमपर्यायेण सहात्र विरोधात् ।

तिर्यगतौ गुणस्थानान्येषणार्थमुत्तरसूत्रमाह—

तिरिक्त्वा पंचसु द्वाणेषु अरिथ मिच्छाद्द्वी सासणसम्माद्द्वी  
सम्माभिच्छाद्द्वी असंजदसम्माद्द्वी संजदासंजदा ति ॥ २६ ॥

तिर्यग्रहणं जेषगतिनिराकर्णार्थम् । पञ्चसु गुणस्थानेषु सन्तीति वचनं पडाडिसंख्याप्रतिषेधफलम् । मिथ्यादृष्ट्यादिगुणानां नामनिर्देशः सामान्यवचनतः

नरकगतिं पर्याप्त अवस्थामें सम्यग्दर्शनकी भी उत्पत्ति मानना चाहिये ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, यह बात तो हमें इष्ट ही है, अर्थात् सातों पृथिवियोंकी पर्याप्त अवस्थामें सम्यग्दृष्टियोंका सद्भाव माना गया है ।

शंका—जिसप्रकार सासादनसम्यग्दृष्टि नरकमें उत्पन्न नहीं होते हैं, उसीप्रकार सम्यग्दृष्टियोंकी मरकर नरकमें उत्पत्ति नहीं होनी चाहिये ?

समाधान—सम्यग्दृष्टि मरकर प्रथम पृथिवीमें उत्पन्न होते हैं, इसका आपममें निषेध नहीं है ।

शंका—जिसप्रकार प्रथम पृथिवीमें सम्यग्दृष्टि उत्पन्न होते हैं, उसीप्रकार द्वितीयादि पृथिवियोंमें सम्यग्दृष्टि जीव नयों उत्पन्न नहीं होते हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, द्वितीयादि पृथिवियोंकी अपर्याप्त अवस्थानके साथ सम्यग्दर्शनका विरोध है, इसलिये सम्यग्दृष्टि द्वितीयादि पृथिवियोंमें उत्पन्न नहीं होते हैं ।

इन चार गुणस्थानोंके अतिरिक्त ऊपरके गुणस्थानोंका नरकमें सद्भाव नहीं है, क्योंकि, मयमासयम और संयम-पर्यायके साथ नरकगतिमें उत्पत्ति होने का विरोध है ।

अब तिर्यच गतिमें गुणस्थानोंके अन्वेषण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—  
मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि और संयतासयत इन पांच गुणस्थानोंमें तिर्यच होते हैं ॥ २६ ॥

शेष गतियोंके निराकरण करनेके लिये 'तिर्यग' पदका ग्रहण किया है । छह गुणस्थान आदिके निवारण करनेके लिये 'पांच गुणस्थानोंमें होते हैं' यह पद दिया है । 'तिर्यच

१ हेदिमच्छ-पुत्राणि जोरुपिषणमणमयइर्याण । पुणिदरे ण नि मम्मो ॥ गो जी १२८

२ तिर्यगतौ तानि सयतासयतस्थानाधिकानि सन्ति । म नि १८

ससुपधमानसंशयनिरोधार्थः । बद्धासुरसंयतसम्यग्दृष्टिसासादनानामिव न सम्यग्मिथ्यादृष्टिसंयतासंयतानां च तत्रापर्याप्तकाले सम्भवः समस्ति तत्र तेन तयोर्विरोधात् । अथ स्यात्तिर्यञ्चः पञ्चविधाः, तिर्यञ्चः पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चः पञ्चेन्द्रियपर्याप्ततिर्यञ्चः पञ्चेन्द्रियापर्याप्ततिर्यञ्च इति । तत्र न ज्ञायते केमानि पञ्च गुणस्थानानि सन्तीति ? उच्यते, न तावदपर्याप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यक्षु पञ्च गुणाः सन्ति, लब्धपर्याप्तेषु मिथ्यादृष्टियतिरिक्तशेषगुणासम्भवात् । तत्कृतोऽवगम्यत इति चेत् 'पंचिन्द्रिय-तिरिसण-अपज्जत्त-मिच्छाद्द्वी दब्ब-पमाणेण केवडिया, असंखेज्जा' इति, तत्रैकस्यैव मिथ्यादृष्टिगुणस्य संख्यायाः प्रति-

पांच गुणस्थानोंमें होते हैं' इस सामान्य वचनसे संशय उत्पन्न हो सकता है कि वे पांच गुणस्थान कौन कौन हैं, इसलिये इस संशयको दूर करनेके लिये मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानोंका नाम निर्देश किया है ।

जिसप्रकार बद्धासुरक असंयतसम्यग्दृष्टि और सासादन गुणस्थानवालोंका तिर्यच-गतिके अपर्याप्तकालमें सद्भाव संभव है, उसप्रकार सम्यग्मिथ्यादृष्टि और संयतासयतोंका तिर्यचगतिके अपर्याप्तकालमें सद्भाव संभव नहीं है, क्योंकि, तिर्यचगतिमें अपर्याप्त कालके साथ सम्यग्मिथ्यादृष्टि और संयतासंयतका विरोध है ।

शंका—तिर्यच पांच प्रकारके होते हैं, सामान्य-तिर्यच, पचेन्द्रिय-तिर्यच, पचेन्द्रिय-पर्याप्त तिर्यचनी और पचेन्द्रिय-अपर्याप्त-तिर्यच । परंतु यह जाननेमें नहीं आया कि इन पांच भेदोंमेंसे किस भेदमें पूर्वोक्त पांच गुणस्थान होते हैं ?

समाधान—उक्त शंका पर उत्तर देते हैं कि अपर्याप्त-पचेन्द्रिय-तिर्यचोंमें तो पांच गुणस्थान होते नहीं हैं, क्योंकि, लब्धपर्याप्तकोंमें एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थानको छोड़कर शेष गुणस्थान ही असंभव हैं ।

शंका—यह कैसे जाना कि लब्धपर्याप्तक पचेन्द्रिय तिर्यचोंमें पहला ही गुणस्थान होता है ?

समाधान—'पचेन्द्रिय-तिर्यच-अपर्याप्त-मिथ्यादृष्टि जीव द्रव्यप्रमाणकी अपेक्षा कितने हैं' इसप्रकारकी शंका होने पर द्रव्यप्रमाणानुगममें उत्तर दिया कि 'असंख्यात' है । इसतरह द्रव्यप्रमाणानुगममें लब्धपर्याप्तक-पचेन्द्रिय-तिर्यचोंके एक ही मिथ्यादृष्टि गुणस्थानकी संख्याका प्रतिपादन करनेवाला आर्यवचन मिलता है । इससे पता चलता है कि लब्धपर्याप्तकोंके एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थान ही होता है, और शेष चार प्रकारके तिर्यचोंमें पाचों ही गुणस्थान होते हैं । यदि शेषके चार भेदोंमें पांच गुणस्थान न माने जाय, तो उन चार प्रकारके तिर्यचोंमें पांच गुणस्थानोंकी संख्या आदिके प्रतिपादन करनेवाले द्रव्यानुयोग

पादकार्यात् । जेसु पञ्चापि गुणस्थानानि सन्ति, अन्यथा तत्र पञ्चानां गुणस्थानानां भेदादिप्रतिपादकद्रव्यागर्पस्याप्राप्त्याप्रमत्तात् । अत्र पञ्चविधास्तिर्यञ्चः किन्तु निरूपिता इति चेन्न, ' आकृष्टशेषविशेषविषयं सामान्यम् ' इति द्रव्याधिकनयान्त्वमन्वनात् । निरर्थीपपर्याप्तान्ताद्वयां मिथ्यादृष्टिमासादना एव सन्ति, न शेषास्तत्र तन्निरूपकार्पाभावात् । भवतु नाम सम्यग्मिथ्यादृष्टिसंयतासंयतानां तत्रासत्त्वं पर्याप्तान्ताद्वयाभेदेति नियमोपलम्भात् । कथं पुनरसंयतसम्यग्दृष्टीनामसत्त्वमिति न, तत्रासंयतसम्यग्दृष्टीनामपचेरभावात् । तन्कुतोऽसम्भव इति चेत्—

उमु दृष्टिमासु पुडगीसु नोइस-वण-भयण-सव्य-इथीसु ।

भेदेसु समुच्य-जड समाइडी दू जो जीरो ॥ १३३ ॥ इत्यार्यात् ।

एति आगमसं प्रमाणताका प्रसंग आज्ञायगा ।

शंका—मूत्रमें तिर्यचत्वामान्यके स्थानपर पांच प्रकारके तिर्यचोंका निरूपण क्यों नहीं किया ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, ' अपनेमें सभब सपूर्ण विशेषोंको विषय करनेवाला सामान्य होता है ' इस न्यायके अनुसार द्रव्यार्थिक अर्थात् सामान्य नयके अवलम्बनसे संपूर्ण भेदोंका तिर्यच सामान्यमें अन्तर्भाव कर लिया है, अतएव पांचों भेदोंका अलग अलग निरूपण नहीं किया, किंतु तिर्यच इतना सामान्य पद दिया है ।

तिर्यचनियोंके अपर्याप्तकालमें मिथ्यादृष्टि और सासादत ये दो गुणस्थानवाले ही होते हैं, शेष तीन गुणस्थानवाले नहीं होते हैं, क्योंकि, तिर्यचनियोंके अपर्याप्त-कालमें शेष तीन गुणस्थानोंका निरूपण करनेवाले आगमका अभाव है ।

शंका—तिर्यचनियोंके अपर्याप्तकालमें सम्यग्मिथ्यादृष्टि और सयतासयत इन दो गुणस्थानवालोंका अभाव रहा आवे, क्योंकि, ये दो गुणस्थान पर्याप्त-कालमें ही पाये जाते हैं, ऐसा नियम मिलता है । परंतु उनके अपर्याप्त-कालमें असंयतसम्यग्दृष्टि जीवोंका अभाव कैसे माना जा सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, तिर्यचनियोंमें असयतसम्यग्दृष्टियोंकी उत्पत्ति नहीं होती है, इसलिये उनके अपर्याप्त कालमें चौथा गुणस्थान नहीं पाया जाता है ।

शंका—यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान—' जो सम्यग्दृष्टि जीव होता है, वह प्रथम पृथिवीके विना नचिकी छद्म पृथिवीयोंमें ज्योतिरि, अन्तर और भवनवासी देवोंमें और सर्व प्रकारकी स्थियोंमें उत्पन्न नहीं होता है ' ॥ १३३ ॥

१. पौर्वादिप्रतिपत्तिरामर्जोपिगोषु मिथ्यादृष्टिमागतस्माद्विद्वान्पिया पञ्चत्तियाओ सिया अपञ्चत्तियाओ जी म म्. ८७

२. यन्मासिपञ्चादिभयजदरन्माइष्टिमजदलजदुले पियमा पञ्चत्तियाओ । जी त. म्. ८८.

मनुष्यगतौ गुणस्थानान्तेषणार्थमुत्तरसूत्रमाह—

मणुस्सा चोदससु गुणद्वुणेषु अत्थि मिच्छाइडी, सासणसम्माइडी, सम्मामिच्छाइडी, असंजदसम्माइडी, संजदासंजदा, पमत्तसंजदा, अपमत्तसंजदा, अपुव्वकरण-पविट्ट-सुद्धि-संजदेसु अत्थि उवसमा खवा, अणियट्टि-वादर-सांपराइय-पविट्ट-सुद्धि-संजदेसु अत्थि उवसमा खवा, सुहुम-सांपराइय-पविट्ट-सुद्धि-संजदेसु अत्थि उवसमा खवा, उवसंत-कसाय-वीयराय-छट्टुमत्था, खीण-कसाय-वीयराय-छट्टुमत्था, सजोगिकेवली, अजोगिकेवलि ति ॥ २७ ॥

एयस्स सुत्तस्स अत्थो पुव्वं उत्तो ति णेदाणिं सुचदे जाणिद-जाणावणे फलाभावादो । पुव्वममुत्तपुव्वसामण-खवण-विहिं एत्थ संवद्भवसामग-प्सवण-सरुव-जाणावणं संसेवदो भणिससामो । तं जहा, तत्थ ताव उवसामण-विहिं वचइस्सामो । अणंताणुवंधि-कोथ-माण-माया-लोभ-सम्मत्त-सम्मामिच्छत्त-मिच्छत्तमिदि एदाथो सत्त-पयडीथो असंजदसम्माइडि-प्पहुडि जाव अपमत्तसंजदो ति ताव एदेसु जो वा सो वा हेते हैं ।

इस आर्प-वचनसे जानते हैं कि असयतसम्यग्दृष्टि जीव तिर्यचनियोंमें उत्पन्न नहीं होते हैं ।

अब मनुष्यगतिमें गुणस्थानोंके अन्वेषण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असयतसम्यग्दृष्टि, संयतासयत, प्रमत्तसयत, अप्रमत्तसयत, अपूर्वकरण प्रविष्ट-विद्युद्धि संयतोंमें उपशमक और क्षपक, अनि-वृत्तिवादरसापराय-प्रविष्ट-विद्युद्धि-सयतोंमें उपशमक और क्षपक, सूक्ष्मसांपराय प्रविष्ट विद्युद्धि-संयतोंमें उपशमक और क्षपक, उपशांतकपाय-वीतराग-छद्मस्थ, क्षीणकपाय-वीतराग-छद्मस्थ, सयोगिकेवली और अयोगिकेवली इसतरह इन चौदह गुणस्थानोंमें मनुष्य पाये जाते हैं ॥ २७ ॥

इस सूत्रका अर्थ पहले कहा जा चुका है इसलिये अब नहीं कहते हैं, क्योंकि, जिसका ज्ञान हो गया है उसका फिरसे ज्ञान करनेमें कोई विशेष फल नहीं है । पहले उपशमन और क्षणविधिका स्वरूप नहीं कहा है, इसलिये उपशमन और क्षणके स्वरूपका ज्ञान करनेके लिये यहां पर संमन्ध-प्राप्त उपशमन और क्षणविधिको संश्लेषसे कहते हैं । वह इसप्रकार है । उसमें भी पहले उपशमनविधिको कहते हैं—

अनत्तासुबन्धी-त्रोध, मान, माया और लोभ, सम्यक्प्रकृति, सम्यग्मिथ्यात्व तथा

१ मनुष्यगतौ चतुर्दशापि सति । स. मि. १.८.



गत्तूण तेनेत्र विहिणा छण्णोकरुमाए पुरिमवेद-चिराण-संत कम्मणे सह जुगवं उपसामेदि । ततो उवरि ममऊण-दो-आवलियाओ गंतूण पुरिसवेद-गवक-बंधुवसामेदि । ततो अंतोमुहुत्तमुवरि गंतूण पडिसमयमसंसेजाए गुणभेदीए अपच्चक्खणाण-पच्चक्खणाणावरण-सण्णिद-दोणिण वि क्रोधे क्रोध-संजलण-चिराण-संतकम्मणेण सह जुगवमुवसामेदि । ततो उवरि दो आवलियाओ समऊणाओ गंतूण क्रोध-संजलण-णवरु-बंधुवसामेदि । तदो अंतोमुहुत्तं गंतूण तेसिं चेत्र दुविहं माणसंसरेजाए गुणसेदीए माणसंजलण-चिराण-संत कम्मणेण सह जुगवं उपसामेदि । तदो समऊण-दो-आवलियाओ गंतूण माणसंजलण-मुवसामेदि । तदो पडिसमयमसंसेजाए गुणभेदीए उवसामेतो अंतोमुहुत्तं गंतूण दुविहं मायं माया-संजलण-चिराण-संत-कम्मणेण सह जुगवं उपसामेदि । तदो दो आवलियाओ समऊणाओ गंतूण माया-संजलणमुवसामेदि । तदो समयं पडि असंखल्लगुणाए सेदीए पदेसमुवसामेतो अंतोमुहुत्तं गंतूण लोभ-संजलण-चिराण-संत-कम्मणेण राह पच्चक्खणाणा-पच्चक्खणाणावरण-दुविहं लोभं लोभ-वेदगद्दाए विदिय-ति-भगो सुहुमकिद्धीओ करंतो

उपशम करता है । फिर एक अन्तर्मुहूर्त जाकर उसी विधिसे पुरुषवेदके ( एक समय कम दो आवलीमात्र नवकसमयप्रवद्धको छोड़कर बाकीके संपूर्ण ) प्राचीन सत्तामें स्थित कर्मके साथ उह नोकयायका उपशम करता है । इसके आगे एक समय कम दो आवली काल बिता कर पुरुषवेदके नवक समयप्रवद्धका उपशम करता है । इसके पश्चात् प्रत्येक समयमें असंख्यातगुणी श्रेणीके द्वारा सञ्चलनक्रोधके एक समय कम दो आवलीमात्र नवक समयप्रवद्धको छोड़कर पहलेके सत्तामें स्थित कर्मके साथ अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान क्रोधोंका एक अन्तर्मुहूर्तमें एकसाथ ही उपशम करता है । इसके पश्चात् एक समय कम दो आवलीमें क्रोधसंज्वलनके नवरु-समयप्रवद्धका उपशम करता है । तत्पश्चात् प्रतिसमय असंख्यातगुणी श्रेणीके द्वारा सञ्चलनमानके एक समय कम दो आवलीमात्र नवक-समयप्रवद्धको छोड़कर प्राचीन सत्तामें स्थित कर्मके साथ अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानमानका एक अन्तर्मुहूर्तमें उपशम करता है । इसके पश्चात् एक समयकम दो आवलीमात्र कालमें सञ्चलनमानके नवक-समयप्रवद्धका उपशम करता है । तदन्तर प्रतिसमय असंख्यात गुणित श्रेणीरूपसे उपशम करता हुआ, माया-सञ्चलनके नवक-समयप्रवद्धको छोड़कर प्राचीन सत्तामें स्थित कर्मके साथ अप्रत्याख्यान सञ्चलनके नवक-समयप्रवद्धका उपशम करता है । तत्पश्चात् एक समय कम दो आवलीमात्र कालमें माया सञ्चलनके नवरु-समयप्रवद्धका उपशम करता है । तत्पश्चात् प्रत्येक समयमें असंख्यातगुणी श्रेणीरूपसे कर्मप्रदेशोंका उपशम करता हुआ, लोभवेदके दूसरे विभागमें सूक्ष्मकृष्टिको करता हुआ संज्वलनलोभके नवक-समयप्रवद्धको छोड़कर प्राचीन सत्तामें स्थित कर्मके साथ प्रत्याख्यान, अप्रत्याख्यान इन दोनों लोभोंका एक अन्तर्मुहूर्तमें उपशम करता

उपसामेदि । सुहुमकिद्धि मोचण अवसेसो वादरलोभो फइयं गदो सव्वो णवरु-बंधुच्छिदोवलिय-वज्जो अणियाद्धि-चरिम-समए उवसंतो । णंउंसयवेदपपहुडि जाव वादर-लोभ-संजलणो चिं ताव एदासि पयडीणमणियद्धी उवसामगो होडि । तदो गंतर-समए सुहुमकिद्धि-सरुवं लोभं वेदंतो णट्ट-अणियाद्धि-सण्णो सुहुमसांपराइओ होदि । तदो सो अप्पणो चरिम-समए लोह-संजलणं सुहुमकिद्धि-सरुवं णिस्सेसपुवसामिय उवसत-रुसाय-वीदराग-छदुमरुथो होदि । एसा मोहणीयरस उवसामण-विही ।

है । इसतरुह सूक्ष्मकृष्टिगत लोभको छोड़कर और एक समय कम दो आवलीमात्र नवक-समयप्रवद्ध तथा उच्छिद्यावली मात्रनिबेकोको छोड़कर शेष स्पईकगत संपूर्ण वादरलोभ अनिवृत्तिकरणके चरम समयमें उपशान्त हो जाता है । इसप्रकार नपुंसकवेदसे लेकर जब तक वादर-सञ्चलन-लोभ रहता है तबतक अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवाला जीव इन पूर्वोक्त प्रकृतियोंका उपशम करनेवाला होता है । इसके अनन्तर समयमें जो सूक्ष्मकृष्टिगत लोभका अनुभव करता है और जिसने अनिवृत्ति इस संज्ञाको नष्ट कर दिया है, ऐसा जीव सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानवर्ती होता है । तदनन्तर वह अपने कालके चरम समयमें सूक्ष्मकृष्टिगत संपूर्ण लोभ-सञ्चलनका उपशम करके उपशान्तकयाय-वीतराग-छन्नस्थ होता है । इसप्रकार मोहनीयकी उपशमन-विधिकी वर्णन समाप्त हुआ ।

विशेषार्थ—लब्धिसार आदि ग्रन्थोंमें द्वितीयोपशम समयवृत्तकी उत्पत्ति अप्रमत्तसंयत गुणस्थानमें ही बतलाई है, किन्तु यहां पर उपशमन विधिके कथनमें उसकी उत्पत्ति असंयत-सम्यग्दृष्टिसे लेकर अप्रमत्तसंयत गुणस्थानतक किसी भी एक गुणस्थानमें बतलाई गई है । धवलमें प्रतिपादित इस मतका उल्लेख श्वेताम्बर संप्रदायमें प्रचलित कर्मप्रकृति आदि ग्रंथोंमें देखनेमें आता है ।

तथा अनन्तानुबन्धीके अन्य प्रकृतिरूपसे सक्रमण होनेको ग्रन्थान्तरोमें विसंयोजना कहा है, और यहां पर उसे उपशम कहा है । यद्यपि यह केवल शब्द भेद है, और स्वयं वीरसेन स्वामीको द्वितीयोपशम समयस्वमें अनन्तानुबन्धीका अभाव इत है । फिर भी उसे विसंयोजना शब्दसे न कहकर उपशम शब्दके द्वारा कहनेसे उनका यह अभिप्राय रहा हो कि द्वितीयोपशम समयग्दृष्टि जीव कदाचित् मिथ्यात्व गुणस्थानको प्राप्त होकर पुनः अनन्तानुबन्धीका बन्ध करने लगता है, और जिन कर्मप्रदेशोंका उसने अन्य

१ (यत्र) स्थितिस्त्रमात्रलिमानमवशिष्यते तद्गच्छिटावलिखन्म । ल. श. ११३

२ ल श. २१५ सञ्चलनवादलोभस्य प्रथमस्थितौ उच्छिद्यत्रलिमानेऽप्राश्रिते उपशमनात्त्रलिवससमये लोभत्रयद्रव्य सर्वमप्युपशमित भवति । तत्र सूक्ष्मकृष्टिगतद्रव्य समयोन्नद्यत्रलिमानसमयप्रवद्धननक-बंधु-उच्छिद्यत्रलिमानानिकेपद्रव्य च नोपशमयति । एतद्द्रव्यत्रय मुक्त्वा लोभत्रयस्य सर्वमपि सत्प्रव्यमुपशमितमित्यर्थ । म टी

३ विषयत्रिभासुभिर्लब्धिसारस्य चारिणोपशमनविधिवलोक्तनीय । ल श २०५ ३५१



खवण-विहिं वत्तइसामो। खवणं णाम किं ? अट्टण्हं कम्मणं मूलुत्तर-भेय-

प्रकृतिरूपसे सक्रमण किया था उनका फिरसे अनन्तानुबन्धीरूपसे सक्रमण हो सकता है। इस प्रकार यद्यपि द्वितीयोपशम सम्यक्त्वमें अनन्तानुबन्धीकी सत्ता नहीं रहती है, फिर भी उसका पुनः सद्भाव होना संभव है। अतः द्वितीयोपशम सम्यक्त्वमें अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना में कह कर उपशम शब्दका प्रयोग किया हो।

अथवा, द्वितीयोपशम सम्यक्त्वकी उत्पत्ति कोई आचार्य तो अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजनासे मानते हैं, और दूसरे आचार्य अनन्तानुबन्धीके उपशमसे मानते हैं। इस प्रकार दो मत हैं। अनन्तानुबन्धीके उपशमका उक्त प्रकारसे लक्षण बाधते समय संभव है कि धवलाकारकी दृष्टि उक्त दोनों मतों पर रही हो।

उपशमन और क्षण विधिमें सर्वत्र एक समय कम दो आवलीमात्र नवक-समय-प्रबद्धका उल्लेख आया है। और वही पर यह भी बतलाया है कि इनका प्राचीन सत्तामें स्थित कर्मोंके साथ उपशमन या क्षणन न होकर अनन्तर उतने ही कालमें एक एक निवेकके क्रमसे उपशमन या क्षय होता है। इसका यह अभिप्राय है कि जिन कर्मप्रकृतियोंकी बन्ध, उदय और सत्त्व व्युच्छित्त एकसाथ होती है, उनके बन्ध और उदय-व्युच्छित्तिके कालमें एक समय कम दो आवलीमात्र नवक-समयप्रबद्ध रह जाते हैं, जिनकी सत्त्व व्युच्छित्त अनन्तर होती है। वह इस प्रकार है कि विवक्षित ( पुरुषवेद आदि ) प्रकृतिके उपशमन या क्षण होनेके दो आवली काल अवशिष्ट रह जाते पर द्विचरमावलीके प्रथम समयमें बंधे हुए द्रव्यका, बन्धावलीको व्यतीत करके चरमावलीके प्रथम समयसे लेकर प्रत्येक समयमें एक एक फालिका उपशमन या क्षय होता हुआ चरमावलीके अन्त समयमें संपूर्णरितसे उपशमन या क्षय होता है। तथा द्विचर-मावलीके द्वितीय समयमें जो द्रव्य बधता है, उसका चरमावलीके द्वितीय समयसे लेकर अन्त समयतक उपशमन या क्षय होता हुआ अन्तिम फालिको छोड़कर सबका उपशमन या क्षय होता है। इसीप्रकार द्विचरमावलीके तृतीयादि समयमें बंधे हुए द्रव्यका बन्धावलीको व्यतीत करके चरमावलीके तृतीयादि समयसे लेकर एक एक फालिका उपशमन या क्षय होता हुआ क्रमसे दो आदि फालिरूप द्रव्यको छोड़कर शेष सबका उपशमन या क्षय होता है। तथा चरमावलीके प्रथमादि समयोंमें बंधे हुए द्रव्यका उपशमन या क्षय नहीं होता है, क्योंकि, बंधे हुए द्रव्यका एक आवली तक उपशम नहीं होता, ऐसा नियम है। इसप्रकार चरमावलीका संपूर्ण द्रव्य और द्विचरमावलीका एक समयकम आवलीमात्र द्रव्य उपशमन या क्षय रहित रहता है, जिसका प्राचीन सत्तामें स्थित कर्मोंके उपशमन या क्षय हो जानेके पश्चात् ही उपशमन या क्षय होता है।

अब क्षणविधि को कहते हैं—

शंका—क्षय किसे कहते हैं ?

समाधान—जिनके मूलप्रकृति और उत्तरप्रकृतिके भेदसे प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध अनेक प्रकारके हो जाते हैं, ऐसे आठ कर्मोंका जीवसे जो अत्यन्त

भिण्ण-पयडि-द्विदि-अणुभाग-पदेसाणं जीवादो जो णिस्सेस-विणासो तं खवणं णाम'। अणंताणुवधि कोध-माण-माया-लोभ-मिच्छत-सम्मामिच्छत-सम्मत्तमिदि एदाओ सत्त-पयडीओ असंजदसम्मइड्डी संजदासंजदो वा पमत्तसंजदो वा अप्पमत्तसंजदो वा खवेदि'। किमकमेण किं कमेण खवेदि ? ण, पुव्वमणंताणुबंधि-चउकं तिण्णि वि करणाणि काळण अणियडि-करण-चरिम-समए अकमेण खवेदि। पच्छा पुणो वि तिण्णि करणाणि काळण अथापवत्त-अपुव्वकरणाणि दो वि बोलाविय अणियडि-करणद्वए संखेज्जे भागे गंतूण मिच्छत्तं खवेदि। तदो अंतोमुहुत्तं गंतूण सम्मामिच्छत्तं खवेदि। तदो अंतोमुहुत्तं गंतूण सम्मत्तं खवेदि'। तदो अधापवत्तकरणं कमेण काळणंतोमुहुत्तेण अपुव्वकरणो होदि। सो ण एकं पि कम्मं वखवेदि, किंतु समयं पडि असंखेज्ज-गुण-सरूवेण पदेस-णिज्जरं करेदि। अंतोमुहुत्तेण एकेकं द्विदि-कंडयं घटंतो अप्पणो कालबन्धंतरे संखेज्ज-सहस्साणि द्विदि-कंडयाणि घादेदि। तत्तियाणि चैव द्विदि-बंधोसराणाणि वि विनाशा हो जाता है उसे क्षण (क्षय) कहते हैं। अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ, तथा मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति, इन सात प्रकृतियोंका असंयतसम्यग्वाष्टि, सयतासंयत, प्रमत्तसंयत अथवा अप्रमत्तसंयत जीव नारा करता है।

शंका—इन सात प्रकृतियोंका क्या युगपत् नाश करता है या क्रमसे ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, तीन करण करके अनिवृत्तिकरणके चरम समयमें पहले अनन्तानुबन्धी चारका एक साथ क्षय करता है। तत्पश्चात् फिरसे तीन करण करके, उनमें से अधाकरण और अपूर्वकरण इन दोनों को उल्लघन करके अनिवृत्तिकरणके संबध्यातभाग व्यतीत हो जाने पर मिथ्यात्वका क्षय करता है। इसके अनन्तर अन्तर्मुहुर्त व्यतीतकर सम्यग्मिथ्यात्वका क्षय करता है। तत्पश्चात् अन्तर्मुहुर्त व्यतीतकर सम्यक्प्रकृतिका क्षय करता है।

इसतरह क्षायिक सम्यग्वाष्टि जीव सातिशय अप्रमत्त गुणस्थानको प्राप्त होकर जिस समय क्षणविधिकी प्रारम्भ करता है, उससमय अधा-प्रवृत्तिकरणको करके क्रमसे अन्तर्मुहुर्तमें अपूर्वकरण गुणस्थानवाला होता है। वह एक भी कर्मका क्षय नहीं करता है, किंतु प्रत्येक समयमें असंबध्यातगुणितरूपसे कर्म-प्रदेशोंकी निर्जाप करता है। एक एक अन्तर्मुहुर्तमें एक एक स्थितिकाण्डकका घात करता हुआ अपने कालके भीतर संबध्यात-द्वजार स्थितिकाण्ड-कोंका घात करता है। और उतने ही स्थितिबन्धापसरण करता है। तथा उनसे संबध्यात-द्वजार-

१ क्षय आत्यन्तिकी निवृत्ति। यथा तस्मिन्नेवाम्भसि शुचिमाजनातरसकान्ते पद्कस्याल्यतामात्र। स ति २ १ त रा वा २ १ २ त शो वा २ १ ३

२ पहमवत्सायवउक इत्थो मिच्छत्तमीसम्मत्त। अत्रिरसम्मं देसे पमति अपमति खीअति। क म ६ ७८

३ अयदवउक तु अण अणियडि-करणचरिसमिदि। जुगव सजोगिवा पुणो ति अणियडि-करणवहुमाग ॥ नीलिय कम्मो मिच्छ मित्स म्म खवेदि कमे। गो क ३६५, ३६६



क्रेदि । वेदितो संवेज्ज-सहस्स-गुणं श्रुणुभाग-कंडय-घाटे क्रेदि ' एकाणुभाग-कंडय-उपरिण-कालादो एं' द्विट्-कंडय-उभीरण-कालो संवेज्ज-गुणो ' ति सुचादो । एवं माज्जग अणियट्ठि-गुणद्वारणं पत्तिभिय तत्थ मि अणियट्ठि-अट्टाए संखेज्जे भगो अपुव्व-रुण-पिणाण गभिय अणियट्ठि-अट्टाए संवेज्जदि-भागे सेमे श्रीणरिगिट्ठि-त्तियं गिरयगइ-तिग्गिस्वगइ-एट्ठिय-नीइदिय-नेइदिय-चउरिगिट्ठियजादि-गिरयगइ-तिग्गिस्वगइ-पाओगाणु-वृत्ति-आश-मुज्जेव-थार-मुहुम-माहाग्गा चि एदाओ मोलस पयडीओ सेवेदि । तदो अंनोमुत्तं गंतूण पच्चरसाणापचरसाणावरण-कोध-माण-माया-ल्लेभे अक्खमेण रणेदि' । एतो संत-कम्म-पाहुइ-उवएसो । कमाय-पाहुइ-उवएसो पुण अट्ट-रुसाएसु रीणियु पच्छा अंनोमुहुत्तं गंतूण मोलय-कम्मणि सविज्जंति' ति । एते दो वि उवएसु मवमिदि के ति भणंति, तण्ण वडडे, विरुद्धादो सुचादो । दो वि पमाणाइं ति पयणमति ण वडडे, 'पमाणेण पमाणिविरोहिणा होद्वं' इदि णायदो । णाणा-जीवाणं

गुणे अनुभागात्ताणुत्तंता यात कत्ता हं, क्योंकि, एक अनुभागकाणुत्तके उत्कीरण-कालसे एक स्थितताणुत्तका उत्कीरण-काल सत्यांतरण है, ऐसा सूत्र-वचन है । इसप्रकार अपूर्वकरण गुणस्थानसम्बन्धी क्रियाको करके और अनिष्टित्तरण गुणस्थानमें प्रविष्ट होकर, वहा पर भी अनिष्टित्तरण कालके सत्यांतरणमें अपूर्वकरणके समान स्थिति काणुत्त-व्यापार विद्यात्तर अनिष्टित्तरण के कालमें सत्यांतरण शेष रहने पर स्थानान्तरण, निद्रा निद्रा, प्रवला-प्रसन्न, नरकगति, निर्वचगति, एकैन्द्रियजाति, द्वैन्द्रियजाति, त्रैन्द्रियजाति, चतुरिन्द्रियजाति, चतुर्गामिप्रयोग्याणुत्तं, त्रिसंननिप्रयोग्याणुत्तं, आताप, उद्योत, स्थावर, सूक्ष्म और साधारण इन सोलर प्रकृतियोंका क्षय करना है । फिर अन्तर्मुहूर्त व्यतीतकर प्रत्याख्यानावरण और अप्रत्याख्यावारणसम्बन्धी मोच, मान, माया और लोभ इन आठ प्रकृतियोंका एकसाथ क्षय करता है । यह सत्कर्मशुभ्रता उपदेश है । किंतु कर्मायमाश्रुतका उपदेश तो इसप्रकार है कि पहले आठ कर्मायोंके धार होताने पर पीछेमें एक अन्तर्मुहूर्तमें पूर्वोक्त सोलर कर्म प्रकृतियों क्षयको प्राप्त होती है । ये दोनों ही उपदेश सत्य हैं, ऐसा कितने ही आचार्योंका कहना है । किंतु उनका ऐसा कल्पना प्रकृतित नहीं होता है, क्योंकि, उनका ऐसा कहना सूत्रसे विरुद्ध पड़ता है । तथा दोनों कथन प्रमाण हैं, यह वचन भी वदित नहीं होता है, क्योंकि, 'एक प्रमाणको दूसरे प्रमाणका विरोधी नहीं होना चाहिये' ऐसा न्याय है ।

१ विरतागिरिन्द, विरह नीतिगुणाय ताम पश्ये । मातङ्गपुत्रमात्र गोल मत्र म्मागद ॥ गो ४  
२०० गोपिचारे गणित्तिगो विरयतिगित्तामागो । नत्तेवसे मंत्र तपाडगावो नीअति ॥ इतो ह्णद  
साम्पन्नी १५५ ४ ७८, ७०

३ एते अन्तर्मुहूर्तियत्ताणुत्त मवमि-जति । त्ता ज पु १०७८ तदो द्विदिसडयपुव्वेण अपाज्जे  
वि-रुद्धाण अरेभे एरेभि मोस्स' त्त्ताण विरित्तान्ममावलिचत्तर नेम । त्ता ज पु १०७९ ५५ एत्ता

णाणाविह-सत्ति-संभावविरोहादो । केसिं चि जीवाणं णट्ठेसु अट्टसु कसाएसु पच्छा सोलस-कम्म-वखवण-सत्ती मसुपज्जदि ति तेण पच्छा सोलस-कम्म-सखयो हेदि, ' कारण-कम्माणुसारी कज्ज-कमो ' ति णायदो । केसिं चि जीवाणं पुव्व सोलस-कम्म-वखवण-सत्ती समुपज्जदि, पच्छा अट्ट-कसाय-सन्ववण-सत्ती उपपज्जदि ति णट्ठेसु सोलस-कम्म-सु पच्छा अंनोमुहुत्ते अदिकंते अट्ट कमाया गस्संति । तदो ण दोणं उणएसणं विरोहो ति के वि आहरिया भणंति, तण्ण वडडे । किं कारणं ? जेण अणियट्ठिणो णाम जे के वि एग-समए वड्डमाणा ते सब्बे वि अदीदाणागइ-वड्डमाणा-कालेसु समाण-परिणामा, तदो चैय ते समाण-गुणसेट्ठि-णिज्जारा नि । अह भिण्ण-परिणामा वुच्चति तो क्वहि ण ते अणियट्ठिणो, भिण्ण-परिणामत्तदो अपुव्वकरण इव । ण च कम्म-संश्रानं

शंका — नाना जीवोंके नाना प्रकारकी शक्तिया संभव हैं, इसमें कोई विरोध नहीं आता है । इसलिये कितने ही जीवोंके आठ कर्मायोंके नष्ट हो जानेपर तदनन्तर सोलर कर्मोंके क्षय कालेकी शक्ति उत्पन्न होती है । अतः उनके आठ कर्मायोंके क्षय हो जानेके पश्चात्, सोलर कर्मोंका क्षय होता है । क्योंकि, जिस कर्मसे कारण मिलते हैं उसी कर्मसे कार्य होता है' ऐसा न्याय है । तथा कितने ही जीवोंके पहले सोलर कर्मोंके क्षयकी शक्ति उत्पन्न होती है, और तदनन्तर आठ कर्मायोंके क्षयकी शक्ति उत्पन्न होती है । इसलिये पहले सोलर कर्म-प्रकृतियां नष्ट होती हैं, और इसके पीछे एक अन्तर्मुहूर्तके व्यतीत होने पर आठ कर्मायें नष्ट होती हैं । इसलिये पूर्वोक्त दोनों उपदेशोंमें कोई विरोध नहीं आता है, ऐसा कितने ही आचार्यों कहते हैं ?

समाधान — परंतु उनका ऐसा कहना घटित नहीं होता है, क्योंकि, अनिष्टित्तरण गुणस्थानचाले जितने भी जीव हैं, वे सब अतीत, वर्तमान और भविष्य काल सम्बन्धी किसी एक समयमें विद्यमान होते हुए भी समान-परिणामचाले ही होते हैं, और इसीलिये उन जीवोंकी गुणश्रेणी-निर्जरा भी समानरूपसे ही पाई जाती है । ओर यदि एक-समयस्थित अनिष्टित्तरण गुणस्थानचालेको विवक्ष्य परिणामवाला कहा जाता है, तो जिस प्रकार एक समयस्थित अपूर्वकरण गुणस्थानचालोंके परिणाम विसदृश होते हैं, अतएव उन्हें अनिष्टित्ति यह संज्ञा प्राप्त नहीं हो सकती है, उसीप्रकार इन परिणामोंको भी अनिष्टित्तरण यह संज्ञा प्राप्त नहीं हो सकती । और असंख्यातगुणी-श्रेणिके द्वारा कर्मकृत्योंके क्षयणके कारण-

पुत्र धमिणु अट्टा य । पच्छा गोलद्वारंण गणण इदि रेदि गिट्ठि ॥ गो ४, ३९१ प्र या-याना य याणाएकपत्तयं  
गुणं नयमे । तस्मिन्वर्धवन्ति अपयदित पीडन प्रकृता ॥ ५५५ अर्धद्वयेवतो तदिदंहे श्रायं-वनातरण । अपसीडपि  
तथायात क्षयप प्रकृती पण ॥ स्यायाए शेष च क्षयपि ताड-तेण् त्ताण् । छान्निमिदहायाणियदू-पुणपेद्वान् ॥ पुण  
युवादिस । अन्ये पुनराहु, पीडन र्मण्येव पुर्व क्षयपितुमासते, केवलमागतलंछा स्यायात् क्षयपति, पया  
वीड्य र्मण्यति र्मन्वयुत्तं ॥ लो प्र, प्र मा पु ६८,

असंवेज्ज-गुणसेवीए खवण-हेटु-परिणामे उज्झाज्जणणे परिणामा द्विदि-अणुभाग-खंडय-वाटस्स कारणभूदा अत्थि, तेषिं गिरूवय-सुत्ताभावादो । ' कज्ज-गाणत्तादो कारण-गाणत्तमणुसाणिज्जदि ' इदि एदमवि ण घडदे, एयादो भोगरादो बहु-क्खेडि-कवालवलंभा । तत्थ वि होटु णाम भोगरो एओ, ण तस्स सत्तीणमेयत्तं, तदो एय-कत्तप्परुप्पत्ति-प्पसंगादो इदि चे तो कव्वहि एत्थ वि भवटु णाम द्विदि-अणुभाग-अणुभाग-कंडयवाट-द्विदिचंधोसरण-गुणसंक्रम-गुणसेवी-द्विदि-अणुभाग-अणुभाग-गाणत्तं तो वि एग-समय-संठिय-गाणा-जीवाणं सरिसा चैव, अण्णहा अणियट्टि-विसेसणाणु-ववत्तीदो । जह एवं, तो सवेसिमणियट्टीणमेय-समयमिह वट्टमाणं द्विदि-अणुभाग-वादाणं सरिसत्तं एवेदि त्ति चे ण एस दोसो, इट्टादो । पट्टम-द्विदि-अणुभाग-खंडयानं

भूत परिणामोंको छोड़कर अन्य कोई भी परिणाम स्थितिकाण्डकघात और अनुभागकाण्डकघातके कारणभूत नहीं है, क्योंकि, उन परिणामोंका निरूपण करनेवाला सूत्र ( आगम ) नहीं पाया जाता है ।

शंका—अनेक प्रकारके कार्य होनेसे उनके साधनभूत अनेक प्रकारके कारणोंका अनुमान किया जाता है ? अर्थात् नवें गुणस्थानमें प्रति समय असंख्यातगुणी कर्मनिर्जरा, स्थितिकाण्डकघात आदि अनेक कार्य देखे जाते हैं, इसलिये उनके साधनभूत परिणाम भी अनेक प्रकारके होने चाहिये ।

समाधान—यह कहना भी नहीं बनता है, क्योंकि, एक मुद्दरसे अनेक प्रकारके कपालरूप कार्यकी उपलब्धि होती है ।

शंका—बद्धा पर मुद्दर एक भले ही रहा आवे, परतु उसकी शक्तियोंमें एकपना नहीं बन सकता है । यदि मुद्दरकी शक्तियोंमें भी एकपना मान लिया जावे तो उससे एक कपालरूप कार्यकी ही उत्पत्ति होगी ?

समाधान—यदि ऐसा है तो यहा पर भी स्थितिकाण्डकघात, अनुभागकाण्डकघात, स्थितिकथापसरण, गुणसक्रमण, गुणश्रेणीनिर्जरा, शुभप्रकृतियोंके स्थितिवन्ध और अनुभाग-बन्धके कारणभूत परिणामोंमें नानापना रहा आवे, तो भी एक समयमें स्थित नाना जीवोंके परिणाम सदृश ही होते हैं, अन्यथा उन परिणामोंके ' अनिवृत्ति ' यह विशेषण नहीं बन सकता है ।

शंका—यदि ऐसा है, तो एक समयमें स्थित संपूर्ण अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवालोंके स्थितिकाण्डकघात और अनुभागकाण्डकघातकी समानता प्राप्त हो जायगी ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, यह बात तो हमें इष्ट ही है ।

शंका—प्रथम-स्थितिकाण्डक और प्रथम-अनुभागकाण्डकोंकी समानताका निरम तो नहीं पाया जाता है, इसलिये उक्त कथन वदित नहीं होता है ?

सरिसत्त-णियमों णत्थि, तदो वेदं घडदि त्ति चे स दोसो ण दोसो, हद-सेस-द्विदि-अणुभागणं एय-पमाण णियम-दंसणादो । ण च थोव-द्विदि-अणुभाग-विरोहि-परिणामो तदो अब्भहिय-द्विदि-अणुभागणमविरोहितमल्लियइ अण्णत्थ तह अंसणादो । ण च अणियट्टिमिह पदेस-अधो एय-समयमिह वट्टमाण-सव्व-जीवाणं सरिसो तस्स जोग-कारणत्तादो । ण च तेषिं सवेसिं जोगस्स सरिसत्तणे णियमो अत्थि लोग-पूरणमिह द्विय-केवलीणं व तहा पडिवायय-सुत्ताभावादो । तदो सरिस-परिमाणत्तादो सवेसिमणियट्टीणं समाण-समय-संठियाणं द्विदि-अणुभागवाटत्त-बंधोसरण-गुणसेडि-

समाधान—यह भी कोई दोष नहीं है, क्योंकि, प्रथमस्थितिके अविशिष्ट रहे हुए खण्डका और उसके अनुभागखण्डका अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवाले प्रथम समयमें ही घात कर देते हैं, अतएव उनके द्वितीयादि समयमें स्थितिकाण्डकोंका और अनुभागकाण्डकोंका एक-प्रमाण नियम देखा जाता है । दूसरे, अल्प-स्थिति और अल्प अनुभागरूप विरोधी परिणाम उससे अधिक स्थिति और अधिक अनुभागोंके अविरोधीपनेको प्राप्त नहीं हो सकते हैं, क्योंकि, प्रथमस्थितिके अतिरिक्त द्वितीयादि स्थितियोंमें वैसा विरोध देखनेमें नहीं आता है । परतु इस कथनसे अनिवृत्तिकरणके एक समयमें स्थित संपूर्ण जीवोंके प्रदेशवन्ध सदृश होता है ऐसा नहीं समझ लेना चाहिये, क्योंकि, प्रदेशवन्ध योगके निमित्तसे होता है । परंतु अनिवृत्तिकरणके एक समयवर्ती संपूर्ण जीवोंके योगकी सदृशताका कोई नियम नहीं पाया जाता है । जिसप्रकार लोकपूरण समुद्घातमें स्थित केवलियोंके योगकी समानताका प्रतिपादक परमाणम है, उस-प्रकार अनिवृत्तिकरणमें योगकी समानताका प्रतिपादक परमाणमका अभाव है । इसलिये समान ( एक ) समयमें स्थित संपूर्ण अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवाले जीवोंके सदृश परिणाम होनेके कारण स्थितिकाण्डकघात, अनुभागकाण्डकघात, बन्धोपसरण, गुणश्रेणीनिर्जरा और

१ तिकाण्डोपरण मत्तेमिणियट्टिरणण समाणयमए वट्टमाण मरिमपरिणामत्तादो पट्टमद्विदिखडय णि तेषिं सरिसत्तेवेति णामहरियव्व किंतु त य जहणुक्कमणियप्पमत्तादो । जयव अ म १०७४ वाटपट्टमे पट्टम विदिखड तिसरिस तु विदियादि । विदिखडय समाण सव्वस्स ममाणालमिह । पल्लस्स सबमाण अजर तु च तु सत्तभागहिय । वादादिमद्विदिपडो सेमा सव्वस्स सरिया हु । ल ख ४२२, ४२३

२ ' उपसपल्लिया ' हेम ८, ४, १३९

३ ल ख ६२६ लोो पुण्णे एया वणणा जोगस्स त्ति समज्जोो त्ति णयन्तो । लोगपूरणमकुवादे वट्टमाणस्सेदस्स क्खल्लिणो लोगमेचासेमजीवपदेसेए जोगाप्रिमाणमलिच्छेदा न्हिद्विणाहिं निणा सरिसा चंय होण्ण परिणमति तेण स ने जीवपदेसा अण्णोण सरिमवणियसरुण परिणदा सता एया वणणा जादा तदो समज्जोो त्ति एसो तदयथाए णयन्तो । जोगमत्तीए सव्वजीवपदेसेए सरिमत्ताव मोचूण निमरिमभागखुलभादो त्ति बुत्त होइ । जयव अ पृ १२३९

गिज्जरा-संकमाणं सरिसचगं मिदं । समाण-समय-संठिय-मञ्चाणियद्धिंणं द्विदि-अणुभाग-  
म्वउणु सरिमं गिज्जदेसु वादिदवसेस-द्विदि-अणुभागेषु सरिसत्तेण चिद्धमाणेषु  
अणुणो पसत्थापसत्तर्णं पयडीसु अ छदमाणेषु कथं पयडि-विणासस्स विवज्जामो ?  
तम्हा दोहं वयणाणं मज्जे एकमेव सुत्तं होदि, जदो ' विणा ण अण्णहा-वाइणो ' तदो  
तव्वयणाणं विपडिसेहो इदि चे सच्चमेयं, किंतु ण तव्वयणाणि एयाइं आइल्लु-  
आइरिय-नयणाइं, तदो एयाणं विरोहसत्थि संभवो इदि । आइरिय कहियाणं संतकम्म-  
कसायपाहुडाणं कथं सुत्तत्तणमिदि चे ण, तित्थयर-कहियत्थाणं गणहरदेव-कय-गंथ-  
रयणाणं चारहंगाणं आइरिय-परंपराए गिरंतरमागयाणं जुग-सहावेण बुद्धीसु ओहइतीसु  
मायणाभावेण पुणो ओहइय आगयाणं पुणो सुहु-बुद्धीणं खयं दट्टण तित्थ-बोच्छेद-  
भाएण वज-भीरुहि गहिदत्थेहि आइरिएहि पोत्थएसु चडवियाणं अमुत्तत्तण-विरोहादो ।

संक्रमणमें भी समानता सिद्ध हो जाती है ।

शंका—इस्तरु समान समयमें स्थित संपूर्ण अनिवृत्तिकरण गुणस्थानचालोंके स्थितिकेन्द्र और अनुभागोंके समानताको प्राप्त होने पर, गत करनेके पश्चात् शेष रहे हुए स्थिति ओं अनुभागोंके समानरूपसे विप्रमान रहने पर और प्रकृतियोंके अपना अपना प्रयास और अप्रयासपनाके छोड़ देने पर अर्थात् सभी कार्योंके समानरूपसे रहने पर व्युत्क्रिय होनेवाली प्रकृतियोंके विनाशमें विपर्यास कैसे हो सकता है ? अर्थात् किन्हीं जीवोंके पहले आठ कपायके नष्ट हो जाने पर सोलह प्रकृतियोंका नाश होता है, और किन्हीं जीवोंके पहले सोलह प्रकृतियोंके नष्ट हो जाने पर पश्चात् आठ कपायोंका नाश होता है, यह बात कैसे संभव हो सकती है ? इसलिये दोनों प्रकारके वचनोंमेंसे कोई एक वचन ही स्वरूप हो सकता है, क्योंकि, जिन अन्यथावारी नहीं होते । अतः उनके वचनोंमें विशेष नहीं होना चाहिये ।

समाधान—यह कहना सत्य है कि उनके वचनोंमें विशेष नहीं होना चाहिये, परन्तु ये निन्दनेके वचन न होकर उनके पश्चात् उनके वचन हैं, इसलिये उन वचनोंमें विशेष होना संभव है ।

शंका—नौ फिर आचार्योंके द्वारा कहे गये सत्कर्मप्राप्त और कपायप्राप्तिको सूत्र प्राप्त करने प्राप्त हो सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जिनका अर्थरूपसे तीर्थकरोने प्रतिपादन किया है, और गणपरसे नित्यकी ग्रन्थ-रचना की ऐसे वारट अंग आचार्य-परंपरासे निरन्तर चले आ रहे हैं । परन्तु कालके प्रभावसे उत्तरोत्तर गुच्छिके क्षीण होने पर और उन अंगोंके धारण करनेवाले योग्य पापके अभावमें ये उत्तरोत्तर क्षीण होते हुए आ रहे हैं । इसलिये जिन आचार्योंने आगे श्रेष्ठ बुद्धिवाले पुरुषोंका अभाव देखा, जो अत्यन्त पापभीरु थे और जिन्होंने गुरुपरंपरासे 'पुनर्भूत'करण किया था उन आचार्योंने तीर्थविच्छेदके भयसे उस समय जवशिए रहे हुए अंग सत्कर्म अर्थको पौधियोंमें लिपिबद्ध किया, अतएव उनमें अमूल्यपना नहीं आ सकता है ।

जदि एवं, तो एयाणं पि वयणाणं तदवयवचत्तदो सुत्तत्तणं पावटि ति चे भग्नु दोण्ह मज्जे एकस्स सुत्तत्तणं, ण दोण्हं पि परोपर-विरोहादो । उस्सुत्तं लिहंता आइरिया कथं वज-भीरुणो ? इदि चे ण एस दोसो, दोण्हं मज्जे एकस्सेव संगहे कीरमाणे वज-भीरुत्तं णिवट्ठति ? दोण्हं पि संगहं करेताणमाइरियाणं वज-भीरुत्ताविणासादो । दोण्हं वयणाणं मज्जे कं वयणं सच्चमिदि चे सुदकेवली केवली वा जाणदि, ण अणुणो, तद्हा णिणया-भावादो । वट्टमाण-कालाइरिएहि वज-भीरुहि दोण्हं पि संगहो कायव्वो, अण्णहा वज-भीरुत्त-विणासादो ति ।

तदो अंतोमुहुत्तं गंतूण चउसंजलग-णवणोक्तसायाणसंतरं करेदि । सोदयाण-भंतोमुहुत्त-मेत्तिं पढम-द्विदि अणुदयाणं समज्जणचलिय-मेत्तिं पढम-द्विदिं करेदि । तदो

शंका—यदि ऐसा है, तो इन दोनों ही वचनोंको छादशाणका अवयव होनेसे सूत्रपना प्राप्त हो जायगा ?

समाधान—दोनोंमेंसे किसी एक वचनको सूत्रपना भले ही प्राप्त होओ, किंतु दोनोंको सूत्रपना नहीं प्राप्त हो सकता है, क्योंकि, उन दोनों वचनोंमें परस्पर विशेष पाया जाता है । शंका—उत्सूत्र लिखनेवाले आचार्य पापभीरु कैसे माने जा सकते हैं ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं, क्योंकि, दोनों प्रकारके वचनोंमेंसे किसी एक ही वचनके संग्रह करने पर पापभीरुता निकल जाती है, अर्थात् उच्छंखलता आ जाती है । अतः उन दोनों प्रकारके वचनोंका संग्रह करनेवाले आचार्योंके पापभीरुता नष्ट नहीं होती है, अर्थात् वनी रहती है ।

शंका—दोनों प्रकारके वचनोंमेंसे किस वचनको सत्य माना जाय ?

समाधान—इस बातको तो केवली या श्रुतकेवली ही जान सकते हैं, दूसरा कोई नहीं जान सकता । अतः इससमय उसका निर्णय नहीं हो सकता है, इसलिये पापभीरु वर्तमान-कालके आचार्योंको दोनोंका ही संग्रह करना चाहिये, अन्यथा पापभीरुताका विनाश हो जायगा ।

तत्पश्चात् आठ कपाय या सोलह प्रकृतियोंके नाश होनेपर एक अन्तर्मुहूर्त जाकर चार संवत्तन और नौ नौ-कपायोंका अन्तःकरण करता है । अन्तःकरण करनेके पहले चार संवत्तन और नौ नौ-कपायसंबन्धी तीन वेदोंमेंसे जिन दो प्रकृतियोंका उदय गहला है उनको प्रथमस्थिति अन्तर्मुहूर्तमात्र स्थापित करता है, और अनुदयरूप ग्यारह प्रकृतियोंकी प्रथमस्थिति एक समयक्रम आवलीमात्र स्थापित करता है । तत्पश्चात् अन्तःकरण करके एक अन्तर्मुहूर्त

१ त अतो ' णिवृत्ति ' ; अ क. प्रयो ' णिवृत्ति ' इति पाठ ।

२ यजग्नात्तु वेदोक्तं उदेदि तन्पठ् । यमोण पद्मद्विदि द्वेदि अतोणुत्त मफ्लिय । ल. न ८३४

अंतरकरणं काऊण पुणो अंतोमुहुचे गदे णवुंसयवेदं खवेदि । तदो अंतोमुहुचं गंतूणित्थियवेदं खवेदि । तदो अंतोमुहुचं गंतूण छण्णोक्साए पुरिसवेद-चिराण-संत-कम्मण सह सवेद-दुचरिम-समए जुगवं खवेदि । तदो 'दो-आवलिय-मेत्त-कालं गंतूण पुरिसवेदं खवेदि । तदो अंतोमुहुचमुवरि गंतूण क्रोध-संजलणं खवेदि । तदो अंतोमुहुचमुवरि गंतूण माण-संजलणं खवेदि । तदो अंतोमुहुचं गंतूण माया-संजलणं खवेदि । तदो अंतोमुहुचं गंतूण सुहुम-सांपराइय-गुणट्ठाणं पडिवज्जदि । सो वि सुहुम-सांपराइओ अप्पणो चरिम-समए लोभ-संजलणं खवेदि । तदो से काले खीण-क्साओ होदूण अंतोमुहुचं गमिय अप्पणो अद्वाए दु-चरिम-समए णिदा-ययलाओ दो वि अक्केण खवेदि । तदो से काले पंचणावरणीय-चहुदंसणावरणीय-पचअंतराइयमिदि चोदसपयडीओ अप्पणो चरिम-समए खवेदि । एदेसु सट्ठि-कम्मसु सीणेसु सजोगिजिणो होदि । सजोगिकेवली ण किंचि कम्म खवेदि । तदो कमेण विहरिय जोग-णिरोहं-काऊण अजोगिकेवली होदि । सो वि अप्पणो दु-चरिम-समए अणुदयवेदणीय-देवगदि-पंचसरीर-पच-सरीरसधाद-पंचसरिरिवंधण-छस्संठाण-त्तिणिअंगोवंग-छस्सघडण-पंचववणा-दोगथ-पचरस-

जाने पर नुंसकवेदका क्षय करता है । तदनन्तर एक अन्तर्मुहूर्त जाकर खविदका क्षय करता है । फिर एक अन्तर्मुहूर्त जाकर सेवेद-भागके द्विचरम समयमें पुरुषवेदके पुरातन सत्त्वरूप कर्मोंके साथ छह नो-कयायका एकसाथ क्षय करता है । तदनन्तर एक समय कम दो आवली-मात्र कालके व्यतीत होने पर पुरुषवेदका क्षय करता है । तत्पश्चात् एक अन्तर्मुहूर्त ऊपर जाकर नोथ संज्वलनका क्षय करता है । इसके पीछे एक अन्तर्मुहूर्त ऊपर जाकर मान-संज्वलनका क्षय करता है । इसके पीछे एक अन्तर्मुहूर्त ऊपर जाकर माया-संज्वलनका क्षय करता है । पुनः एक अन्तर्मुहूर्त ऊपर जाकर सधमसांपराय गुणस्थानको प्राप्त होता है । वह सूक्ष्म-सांपराय गुणस्थानवाला जीव भी अपने गुणस्थानके अन्तिम समयमें लोभ-संज्वलनका क्षय करता है । तदनन्तर उसी कालमें क्षीणकयाय गुणस्थानको प्राप्त करके और अन्तर्मुहूर्त बिताकर अपने कालके द्विचरम समयमें निद्रा और प्रचला इन दो प्रकृतियोंका एकसाथ क्षय करता है । इसके पीछे अपने कालके अन्तिम समयमें पाच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण और पांच अन्तराय इन चौदह प्रकृतियोंका क्षय करता है । इसतरह इन साठ कर्म-प्रकृतियोंके क्षय हो जाने पर यह जीव सयोगिकेवली जिन होता है । सयोगी जिन किसी भी कर्मका क्षय नहीं करते हैं । इसके पीछे विहार करके और क्रमसे योगनिरोध करके वे अयोगिकेवली होते हैं । वे भी अपने कालके द्विचरम समयमें वेदनीयकी दोनों प्रकृतियोंमेंसे अनुदयरूप कोई एक देवगति, पाच शरीर, पाच शरीरोंके सघात, पाच शरीरोंके बन्धन, छह संस्थान, तीन आंगोपाण, छह

१ 'मज्जण' इयथेनेन पाठेन माव्यम् । समज्जण दोषिणअत्रित्थियमाणमत्तपपवद्धयवववो । ल अ ४६१

२ अणियटिगुणट्ठाणं मायागदिह व द्वाणमिच्छति । ट्ठाणा मयमाणो केटं एव पन्वति ॥ गो क ३९२

अट्टफास-देवगदिपाओग्गाणुपुत्थि-अगुल्लालहुग-उवघाद-परघाद-उस्सास-दोविहायगदी-अपज्जत्त-पत्तेय-थिर-अथिर-सुभ-असुभ-दुभग-सुस्सर-दुस्सर-अणदेज्ज-अजसगिचि-णिमिण-णीचागोदाणि चि एदाओ बाहत्तरि पयडीओ खवेदि । तदो से काले सोदय-वेदणीय-मणुसाउ-मणुसगइ-पंचिदियजादि-मणुसगइपाओग्गाणुपुव्वी-तस-चादर-पज्जत्त-सुभग-आदेज्ज-जसगिति-तित्थयर-उच्चागोदाणि चि एदाओ तेरह पयडीओ खवेदि, अहवा मणुसगइपाओग्गाणुपुव्वीए सह अजोगि-दुचरिम-समए तेहत्तरि पयडीओ वारह चरिम समए । उप्पायाणुच्छेदादो तदो उवरिम-समए णीरयो णिममलो भिद्दो होदि । तत्थ जे कम्म-खवणणमिह वावदा ते जीवा खवणा उचंति । जे पुण तेसिं चव

संहतन, पांच वर्ण, दो गन्ध, पांच रस, आठ स्पर्श, देवगति-प्रायोग्यानुपूर्वी, अगुरुल्लु, उपघात परघात, उच्छ्वाल, प्रशस्त-विहायोगति, अप्रशस्त-विहायोगति, अपर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, दुर्भग, सुस्वर, उःस्वर, अनादेय, अयशस्कीर्ति, निर्माण और नीच-गोत्र, इन बहत्तर प्रकृतियोंका क्षय करते हैं । इसके पीछे अपने कालके अन्तिम समयमें दोनों वेदनीयमेंसे उदयागत कोई एक वेदनीय, मनुष्यायुः मनुष्यगति, पचेन्द्रियजाति मनुष्यगति-प्रायोग्यानुपूर्वी, वस, वादर, पर्याप्त, सुभग, आदेय, यशस्कीर्ति, तीर्थ हर और उच्च गोत्र, इन तेरह प्रकृतियोंका क्षय करते हैं । अथवा, मनुष्यगति-प्रायोग्यानुपूर्वीके साथ अयोगिकेवलीके द्विचरम सम यमें तेहत्तर प्रकृतियोंका और चरम समयमें बारह प्रकृतियोंका क्षय करते हैं । इसतरह संसारकी उत्पत्तिके कारणोंका विच्छेद हो जानेसे इसके आगेके समयमें कर्म-जैसे रहित निर्मल-दशाको प्राप्त सिद्ध हो जाते हैं । इनमेंसे जो जीव कर्म-क्षयणमें व्यापार करते हैं उच्छेदक्षपक कहते हैं, और जो जीव कर्मोंके उपशमन करनेमें व्यापार करते हैं उन्हें

१ बाहत्तरि पयडीओ दुचरिमगे तेस च चरिमदि ल क्ष ३४४ ×× द्विससति कर्माणि स्वरूपसत्तामि-कृत्य क्षयणुपपच्छन्ति, चरमसमये त्तिउत्तकसमणेपोदयवतीह मध्ये सत्तम्यमाणवाप । चरमसमये चात्यतरेदनीयमनुच्य-धिकपचेन्द्रियजातिवससुभगादेयश कतिपयापिनादादरतीर्थकरोवैगोत्ररूपाणा त्रयोदशप्रकृतौना सत्ताव्यवच्छेद । अन्ये ल्याह—'मनुष्याणुपूर्व्या द्विचरसमये व्यपच्छेद उदयाभावान्, उदयवतीना हि त्तिउत्तकममामामान् स्वरूपेण चरम समयं दलिक दृश्यत एवेति युक्तस्तासा चरमसमये सत्ताव्यवच्छेद । आनुपूर्वाणा च चतसृणामपि क्षेत्रत्रिपाकृत्याऽपान्त-रालगतावैवेदिय इति न भगवत्य लतुदयममम इत्ययोग्यवस्थाद्विचरमसमय एव मनुष्याणुपूर्व्या सत्ताव्यवच्छेद । तन्मते द्विचरमसमये तिससते, चरमसमये च द्वादशाना सत्ताव्यवच्छेद । क म य उ टी गृ ६४ × चयो-दशैता नरुत्ती क्षपथिवात्तिमे क्षणे । अयोगिकेवली सिद्धजैमित्तैल्लूतारूपम् ॥ मतान्तरेऽनानुपूर्वी क्षिपयुपात्तिमक्षणे । ततस्तिससति तत्र द्वादशानये क्षणे क्षिपेत् ॥ लो म १, १२७५, १२७६

२ बोच्छेदो दुविहो उप्पादाणुच्छेदो अणुप्पादाणुच्छेदो चेदि । उप्पाद सत्त, अनुच्छेदो विनाश अमान निरूपित इति यावत् । उप्पाद एव अनुच्छेद उप्पादाणुच्छेद भाव एव अभाव इति यावत् । एसो दव्यट्टियणयव्यन-हरो । अनुप्पाद असत्त, अनुच्छेदो विनाश । अनुप्पाद एव अनुच्छेद, उप्तत अभाव इति यावत् । मत असत्त्वनिर्वाण । एसो पञ्चद्वियणयव्यवहरो । धवला अ गृ ५७७

उपसर्गमिहिरात्तादा ने उपसर्गमगा ।

गदि-मगगापय-देगदिमिहिर गुण-मगगाटं मुत्तमाह—

देवा बहुसु द्वाणेषु अथि मिच्छाद्द्वी सासणसमाद्द्वी समा-  
मिच्छाद्द्वी असंजदसमाद्द्वि सिं ॥ २८ ॥

देवाथसुं व्यानेषु सन्ति । कानि तानीति चेन्मिथ्यादृष्टिः मासादनमस्यदृष्टिः  
गम्यमिथ्यादृष्टिः अमंयनमस्यदृष्टियेति । प्रागुक्तार्थत्वचैतेषां गुणस्थानानामिह  
मन्सुपपुच्यते ।

उपसर्गक कृते ङे ।

विशेषार्थ—चौरसं गुणस्थानं अधिकसे अधिक पचासी प्रकृतियोंकी सत्ता रहती  
है । इनमेंसे पान्तर प्रकृतियोंका उपान्त्य समयमें और उदयागत बारह तथा मनुष्यगत्यानुपूर्वी  
इमप्रकार तेरह प्रकृतियोंका अन्त समयमें क्षय होता है । सर्वाथिसिद्धि, राजवार्तिक, गोमटसार  
गदि प्रयोगमें इन्हीं एक मतका उल्लेख मिलता है । किन्तु ऊपर मनुष्यगत्यानुपूर्वीका उपान्त्य  
समयमें भी उपसर्गमगा गया है, जिमका उल्लेख कर्मप्रकृति आदि ग्रन्थोंमें भी मिलता है ।  
नया उपसर्ग पुष्टिके लिये उपसर्गकार समर्थन भी किया गया है कि अनुदयप्रान्त प्रकृतियोंका  
विनियुक्तमगगाटंके द्वारा उदयागत बारह प्रकृतियोंमें ही उपान्त्य समयमें संक्रमण हो जाता  
है । अन्त मनुष्यगत्यानुपूर्वीका भी उपान्त्य समयमें ही सत्त्वनाश हो जाता है,  
क्योंकि, मनुष्यगत्यानुपूर्वीका उदय केवल विप्रहृगतिके गुणस्थानोंमें ही होता है, शेषमें  
नहीं । उपसर्गकार दूसरे आचार्योंके मतानुसार उपान्त्य समयमें मनुष्यगत्यानुपूर्वी-सहित तेरह  
और अन्त समयमें बारह प्रकृतियोंका सत्त्व नाश होता है ।

अथ गतिमार्गणाके अवयवस्य देवगतिमें गुणस्थानोंके अन्वेषण करनेके लिये आगेका  
मूल कृते ङे—

मिथ्यादृष्टिः सामादनसस्यदृष्टिः, सम्यगिमिथ्यादृष्टि और अस्यतसस्यदृष्टि, इन चार  
गुणस्थानोंमें देव पाये जाते हैं ॥ २८ ॥

देव चार गुणस्थानोंमें पाये जाते हैं ।

अंका—ये चार गुणस्थान कौनसे हैं ?

ममाधान—मिथ्यादृष्टि, सामादनसस्यदृष्टि, सम्यगिमिथ्यादृष्टि और अस्यतसस्यदृष्टि,  
एकप्रकार देवोंके चार गुणस्थान होते हैं ।

इन गुणस्थानोंका सत्त्व पहले कृद आये है, इसलिये यहा पर उनका स्वरूप पुनः  
नहीं कहते हैं ।

१ देवगति नारायण । ग वि १, २

अथ साद्यासु याभिर्वा जीवाः सृज्यन्ते ताः मार्गणा इति प्राक् मार्गणाशब्दस्य  
निरुक्तिरुक्ता, आपं चेतसु गुणस्थानेषु नारकाः सन्ति, तिर्यश्चः सन्ति, मनुष्याः सन्ति,  
देवाः सन्तीति गुणस्थानेषु अन्विष्यन्ते, अतस्तद्ब्याख्यानमार्पिखल्लमिति नैप दोषः,  
' गिरय-गईए गेरइएसु मिच्छाद्द्वी दवपमाणेण केमडियां ' इत्यादिभगवद्-भूतवलि-  
भङ्गारुसुरारुमलविनिर्गनगुणसंख्यादियतिपादरुशशाथयेण तविरुक्तेरनतारात् । कथम-  
नयोर्भूतवलिषुपदन्तनास्त्रयोर्न विरोध इति चेव विरोधः । कथमिदं तावत् ? निरूपयते ।  
न तावदमिद्वेन असिद्धे वाभिद्व्यस्यन्वेषणं सम्भवति विरोधात् । नापि सिद्धे सिद्धस्यान्वे-  
षणं तत्र तस्यान्वेषणे फलाभावान् । ततः सामान्याकारेण सिद्धानां जीवानां गुणसत्त्व-  
द्रव्यसंख्यादिविशेषरूपेणासिद्धानां त्रिकोटिपरिणामात्मकानादिवन्धनवद्ब्रह्मानदर्शनलक्षण-  
त्मास्तित्वान्यथानुपपत्तितः सामान्याकारेणावगतानां गत्यादीनां मार्गणानां च विशेष  
तोऽनवगतानामिच्छातः आधाराधेयभानो भवतीति नोभयवाक्ययोर्विरोधः ।

अंका—जिनमें अथवा जिनके द्वारा जीवोंका अन्वेषण किया जाता है उन्हें मार्गणा  
कहते हैं, इसप्रकार पहले मार्गणा शब्द ही निरुक्ति कइ आये है । और आर्यमें तो इन  
गुणस्थानोंमें नारकी होते हैं, इतनेमें तिर्यच होते हैं, इतनेमें मनुष्य होते हैं और इतनेमें देव  
होते हैं, इसप्रकार गुणस्थानोंमें मार्गणाओंका अन्वेषण किया जा रहा है । इसलिये उक्त  
प्रकारसे मार्गणाकी निरुक्ति करना अर्पविरुद्ध है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, 'नरकगतिमें नारकियोंमें मिथ्यादृष्टि  
द्रव्यप्रमाणसे कितने हैं', इत्यादि रूपसे भगवान् भूतवलि भङ्गारुक्तेके मुर-कमलसे निकले हुए  
गुणस्थानोंका अवलम्बन लेकर सरया आदिके प्रतिपादन सूत्रोंके आश्रयसे उक्त निरुक्तिका  
अवतार हुआ है ।

अंका—तो भूतवलि और पुण्यदन्तेके इन वचनोंमें विरोध क्यों न माना जाय ?

समाधान—उनके वचनोंमें विरोध नहीं है । यदि पृच्छो हिसप्रकार, तो आगे उन्नी  
वातका निरूपण करते हैं । असिद्धके द्वारा अथवा असिद्धमें असिद्धका अन्वेषण करना तो  
सभव नहीं है, क्योंकि, इसतरह अन्वेषण करनेमें तो विरोध आता है । उत्तीप्रकार सिद्धमें  
सिद्धका अन्वेषण करना भी उचित नहीं है, क्योंकि, सिद्धमें सिद्धका अन्वेषण करने पर कोई  
फल निष्पन्न नहीं होता है । इसलिये स्वरूपसामान्यकी अपेक्षा सिद्ध, किन्तु गुण, सत्त्व,  
द्रव्य, संख्या आदि विशेषरूपसे असिद्ध जीवोंका अर्थवि जीवस्थानोंका और उत्पाद, व्यय  
और श्रौब्यरूपसे परिणमनशील अनादि-कालीन वन्धनसे बंधे हुए, तथा ज्ञान और दर्शन लक्षण  
स्वरूप आत्माके अस्तित्वकी सिद्धि अन्यथा, अर्थात् गत्यादिकके अभावमें, हो नहीं सकती है,  
इसलिये सामान्यरूपसे जानी गई और विशेषरूपसे नहीं जानी गई ऐसी गति आदि मार्गणा-



अतीतसूत्रोक्तार्थविशेषप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रचतुष्टयमाह—

**तिरिक्खा सुद्धा एहंदिपप्पहुडि जाव असण्णि-पंचिंदिया ति ॥ २९ ॥**

एकमिन्द्रियं येषां त एकेन्द्रियाः । प्रभृतिरादिः, एकेन्द्रियान् प्रभृति कृत्वा, अध्याहृतेन कृत्वेत्यनेनाभिसम्बन्धादस्य नपुंसकता । असंज्ञिनश्च ते पञ्चेन्द्रियाश्च असंज्ञि-पञ्चेन्द्रियाः । यत्परिमाणामस्येति यावत् । यावदसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाः शुद्धास्तिर्यञ्चः । किमित्येतदुच्यत इति चेन्न, अन्यथासुषुष्यां गतावेकेन्द्रियादयोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्यन्ताः वर्तन्त इत्यवगमोपायाभावतस्तद्वद्वजिगमयिष्यै एतत्प्रतिपादनात् ।

असाधारणतिरश्चः प्रतिपाद्य साधारणतिरश्चां प्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

ओंका इच्छासे आधार-आधेयभाव बन जाता है। अर्थात् जब सामान्यरूपसे जाने गये गुणस्थान विवक्षित होते हैं तब वे आधार-भावको प्राप्त हो जाते हैं और मार्गणाए आधेयपदको प्राप्त होती हैं। उसीप्रकार जब सामान्यरूपसे जानी गई मार्गणाए विवक्षित होती हैं तब वे आधारभावको प्राप्त हो जाती हैं और गुणस्थान आधेयपदको प्राप्त होते हैं। इसलिये भूतबलि और पुण्यदन्त आचार्योंके वचनोंमें कोई विरोध नहीं समझना चाहिये ।

अब पूर्व सूत्रोंमें कहे गये अर्थके विशेष प्रतिपादन करनेके लिये आगेके चार सूत्र कहते हैं—

एकेन्द्रियसे लेकर असह्यी पचेन्द्रिय तकके जीव शुद्ध तिर्यच होते हैं ॥ २९ ॥

जिनके एक ही इन्द्रिय होती है उन्हें एकेन्द्रिय कहते हैं। प्रभृतिका अर्थ आदि है। 'एकेन्द्रियको आदि करके' इसप्रकारके अर्थमें, अध्याहृत 'कृत्वा' इस पदके साथ 'एकेन्द्रिय-प्रभृति' इस पदका संबन्ध होनेसे इस पदको नपुंसक-लिंग कहा है। जो असह्यी होते हुए पंचेन्द्रिय होते हैं उन्हें असह्यी-पंचेन्द्रिय कहते हैं। जिसका जितना परिमाण होता है, उसके उस परिमाणको प्रगट करनेके लिये 'यावत्' शब्दका प्रयोग होता है। इसप्रकार असह्यी पचेन्द्रिय तकके जीव शुद्ध तिर्यच होते हैं ।

शंका— इसप्रकारका सूत्र क्यों कहा ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, यदि उक्त सूत्र नहीं कहेते तो 'इस (तिर्यच) गतिमें ही एकेन्द्रियको आदि लेकर असह्यी पचेन्द्रियतकके जीव होते हैं'; इस बातके जाननेके लिये कोई दूसरा उपाय नहीं था। अतः उक्त बातको जतानेके लिये ही उक्त सूत्रका प्रतिपादन किया गया है ।

असाधारण (शुद्ध) तिर्यचोंका प्रतिपादन कर अत्र साधारण (मिश्र) तिर्यचोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

**तिरिक्खा भिस्सा सण्णि-मिच्छाहट्टि-पप्पहुडि जाव संजदासंजदा ति ॥ ३० ॥**

संज्ञिमिथ्यादृष्टिप्रभृति यावत्संयतासंयतास्तावतिर्यञ्चो मिथाः । न तिरश्चामन्यैः सह मिश्रणमवगम्यते, कथं ? न तावत्संयोगोऽस्यार्थः तस्योपरितनगुणेष्वपि सच्चात् । नैकत्वापत्तिरर्थः द्वयोरैकस्याभावतो द्वित्वादिनिबन्धनमिश्रतातुपपत्तेरिति । न प्रथम-विकल्पोऽनभ्युपगमात् । न द्वितीयविकल्पोऽक्तदोषोऽपि गुणकृतसाहचर्यमाश्रित्य तिरश्चां मनुष्यगतिजीवैर्मिश्रभावाम्भ्युपगमात् । तद्यथा, मिथ्यादृष्टिसादानसम्यग्दृष्टिसम्य-ग्मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टिगुणैर्गतित्रयगतजीविसाम्यात्तैस्ते मिथाः, संयसांसंयमगुणेन मनुष्यैः सह साम्यात्तिर्यञ्चो मनुष्यैः सहैकत्वमापन्ना इति ततो न दोषः । स्यान्मतं, गतिनिरूपणायामिन्यतो गुणाः अस्यां गतौ सन्ति न सन्तीति निरूपणयैवमवगम्यतेऽस्याः

सह्यी-पंचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टिसे लेकर संयतासंयत-गुणस्थानतक तिर्यच मिथ्र होते हैं ॥ ३० ॥ सह्यी-मिथ्यादृष्टिसे लेकर संयतासंयत तक तिर्यच मिथ्र है ।

शंका—तिर्यचोंका किसी भी गतिवाले जीवोंके साथ मिश्रण समझमें नहीं आता, क्योंकि, इस मिश्रणका अर्थ संयोग तो हो नहीं सकता है ? यदि मिश्रणका अर्थ अन्य गतिवाले जीवोंके साथ संयोग ही लिया जाय, तो ऐसा संयोग तो छट्ठे आदि ऊपरके गुणस्थानोंमें भी पाया जाता है । और दो वस्तुओंका एकरूप हो जाना भी इस मिश्रणका अर्थ नहीं हो सकता है ? यदि मिश्रणका अर्थ दो वस्तुओंका एकरूप दो जाना ही माना जाय, तो जब भिन्न भिन्न सत्तावाले दो पदार्थ एकरूप होंगे, तब दोमेंसे किसी एकका अभाव हो जानेसे द्वित्वादिके निमित्तसे पैदा होनेवाली मिश्रता नहीं बन सकती है ?

समाधान— प्रथम विकल्पसंबन्धी दोष तो यहां पर लागू हो नहीं सकता, क्योंकि, यहां पर मिश्र शब्दका अर्थ दो पदार्थोंके संयोगरूप स्वीकार नहीं किया है । उसीतरह दूसरे विकल्पमें दिया गया दोष भी यहां पर लागू नहीं होता है, क्योंकि, यहां पर गुणकृत सामन्यताकी अपेक्षा तिर्यचोंका मनुष्यगतिके जीवोंके साथ मिश्रभाव स्वीकार किया है । आगे इसीको स्पष्ट करते हैं—

तिर्यचोंकी मिथ्यादृष्टि, सासादगसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, और असंयतसम्यग्दृष्टि-रूप गुणोंकी अपेक्षा तो तीन गतिमें रहनेवाले जीवोंके साथ समानता है, इसलिये तीन गति-वाले जीवोंके साथ तिर्यच जीव चैथै गुणस्थानतक मिश्र कहलाते हैं । और तयमासयम गुणकी अपेक्षा तिर्यचोंकी मनुष्योंके साथ समानता होनेसे तिर्यच मनुष्योंके साथ एकरूपको प्राप्त हुए । इसलिये पांचवें गुणस्थानतक मनुष्योंके साथ तिर्यचोंको मिश्र कहनेमें पूर्वोक्त दोष नहीं आता है ।

शंका— गति-मार्गणाकी प्ररूपणा करने पर 'इस गतिमें इतने गुणस्थान होते हैं, और



गत्याः अनया गत्या मह गुणद्वारेण योगोऽस्ति नास्तीति, ततः पुनरिदं निरूपणमनर्थक-  
मिति न, तस्य दुर्मेधमामपि स्पष्टीकरणार्थत्वात् । 'प्रतिपद्यस्य बुद्धिसत्तार्थविषय-  
निर्णयत्वादनं नक्तुवचनः फलम्' इति न्यायात् । अथवा न तिरश्चां मिथ्यात्वादि-  
मनुष्यादिमिथ्यात्वादिभिः समानः तिर्यङ्मनुष्यादिव्यतिरिक्तमिथ्यात्वादेरभावात् ।  
नापि तिर्यगादीनामेकनं चतुर्गतेरभावप्रमत्तात् । न चाभावो मनुष्येभ्यो व्यतिरिक्त-  
तिरथापुपलम्भादिति पर्यायनैकान्तावष्टम्भलेन केचिद् विश्रितपन्ना । न मिथ्यात्वाद्यः  
पर्यायाः जीवद्वयाद्विन्नाः कोपादशेरित तेषां तस्मात्पृथगुपलम्भादसेमे इति सम्बन्धा-  
नुपपत्तेश्च । ततस्तस्मात्तेषामभेदः । तथा च न गतिभेदो नापि गुणभेदः इति द्रव्यनै-  
कान्तावष्टम्भलेन केचिद्विश्रितपन्नास्तदभिप्रायकदर्थनार्थं वास्य सूत्रस्यावतारः । नाभि-

इतने नहीं' इत्यकारके निरूपण करतेसे ही यह जाना जाता है कि इस गतिकी इस गतिके  
साथ गुणस्थानोंकी अपेक्षा समानता है, इसकी समके साथ नहीं । इसलिये फिरसे इसका कथन  
रूचना निरूपण है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, अल्पबुद्धिवाले शिष्योंको भी विषयका स्पष्टीकरण हो  
जाये, इत्यर्थ इम कथनका यदा पर निरूपण किया है, क्योंकि, शिष्यको जिज्ञासित-अर्थ  
संबन्धी निर्णय उत्पन्न करा देना ही चक्रोंके चक्कोंका फल है, ऐसा न्याय है ।

अथवा, तिर्यचोंके मिथ्यात्वादि भाव मनुष्यादि तीन गतिबंध्नी जीवोंके मिथ्यात्वादि  
भावोंके समान नहीं है, क्योंकि, तिर्यच और मनुष्यादिको छोड़कर मिथ्यात्वादि  
भागोंका स्वतन्त्र सद्भाव नहीं पाया जाता है । इसलिये जब कि तिर्यचादिकोंमें परस्पर  
भेद है, तो तदाश्रित भावोंमें भी भेद होना सम्भव है । यदि कहा जाय कि  
तिर्यचादिकोंमें परस्पर एकता अर्थात् अभेद है, तो भी कहना नहीं बन सकता  
है, क्योंकि, तिर्यचादिकोंमें परस्पर अभेद माननेपर चारों गतियोंके अभावका  
प्रमाण आजायगा । परंतु चारों गतियोंका अभाव माना नहीं जा सकता है, क्योंकि, मनुष्योंसे  
अतिरिक्त तिर्यचोंकी उपलब्धि होती है । इसप्रकार पर्यायार्थिकत्वको ही एकान्तसे आश्रय  
करके कितने ही लोग विचारप्रस्त हैं । इसीप्रकार मिथ्यात्वादि पर्यायों जीवद्वयसे भिन्न नहीं  
हैं, क्योंकि, निम्नप्रकार तस्वार स्थानसे भिन्न उपलब्ध होती है, उसप्रकार मिथ्यात्वादिककी  
जीवद्वयसे पृथक् उपलब्धि नहीं होती है । और यदि भिन्न मान ली जायें तो ये मिथ्यात्वादिक  
पर्यायों इम जीव द्रव्यकी हैं, इमप्रकार सन्ध भी नहीं बनता है । इसलिये इन मिथ्यात्वादिक  
पर्यायोंका जीव-द्रव्यसे अभेद है । इमप्रकार जब मिथ्यात्वादिक पर्यायोंका जीवसे भेद सिद्ध  
नहीं होता है, तो गतियोंका भेद भी सिद्ध नहीं हो सकता है और न गुणस्थानोंका भेद ही  
भिन्न होता है । इमप्रकार केवल द्रव्यार्थिक त्वको ही एकान्तसे आश्रय करके कितने ही लोग  
विचारमें पड़े हुए हैं । इसलिये इन रेतों एकान्तियोंके अभिप्रायके गण्डन करतेके लिये

प्रायद्वयं घटते तथाप्रतिभामनात् । न च प्रमाणानुसार्थभिप्रायः साधुरव्यवसायपत्तेः । न  
च जीवद्वैते द्वैते वा प्रमाणमस्ति कृत्स्नसैकत्वादेशेदेरित सचातोऽप्यन्यतो भेदात् ।  
न प्रसेयस्यापि स्वप्नपेक्षितप्रमाणव्यापारस्य तस्य प्रमाणाभावे सचायोगात् । प्रमाणं  
वस्तुनो न कारकमतो न तद्विनाशद्वस्तुविनाश इति चेन्न, प्रमाणाभावे वचनाभावतः  
सकलव्यवहारोच्छिचिप्रसङ्गात् । अस्तु चेन्न, वस्तुविषयनिधितिपेयोरप्यभावासङ्गनात् ।  
अस्तु चेन्न, तथापुपलम्भात् । ततो विधिप्रतिषेधात्मकं वस्त्वत्यङ्गीकृतव्यम्, अन्यथोक्त-  
दोषानुपद्गात् । ततः सिद्धं गुणद्वारेण जीवानां सादृश्यं विशेषरूपेणारादृश्यमिति । गुण-  
स्थानमार्गणापु जीवसमासान्वेषणार्थं वा ।

तिरिक्त्वा मिस्था' इत्यादि प्रकृत सूत्रका अवतार हुआ है । उक्त दोनों प्रकारके एकान्तरूप,  
अभिप्राय घटित नहीं होते हैं, क्योंकि, सर्वथा एकान्तरूपसे वस्तु-स्वरूपकी प्रतीति नहीं होती  
है । और प्रमाणसे प्रतिकूल अभिप्राय ठीक नहीं माना जा सकता, अन्यथा सब जगह अव्यवस्था  
प्राप्त हो जायेगी । तथा जीवद्वैत ( जीव और मनुष्यादि पर्यायोंके सर्वथा अभेद ), या जीव-द्वैत  
( जीव और मनुष्यादि पर्यायोंके सर्वथा भेद ) के माननेमें कोई प्रमाण नहीं है । यदि जीव-  
द्वैतवादको प्रमाण मानते हैं तो नरक तिर्यच आदि सभी पर्यायोंको एकताकी आपत्ति आजाती  
है । और यदि जीव-द्वैतवादको प्रमाण मानते हैं तो देशभेद आदिकी तरह वस्तुका सत्ताकी अपेक्षा  
पर पदार्थसे भी भेद सिद्ध हो जाता है । इसप्रकार द्वैतवाद या अद्वैतवादमें प्रमाण नहीं मिलनेसे  
प्रमेयका भी सत्त्व सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि, प्रमाणके व्यापारकी अपेक्षा रखनेवाले प्रमेयका  
प्रमाणके अभावमें सद्भाव नहीं बन सकता है ।

शंका—प्रमाण वस्तुका कारण ( उत्पादक ) नहीं है, इसलिये प्रमाणके विनाशसे  
वस्तुका विनाश नहीं माना जा सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, प्रमाणके अभाव होने पर वचनकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती  
है, और उसके विना संपूर्ण लोकव्यवहारके विनाशका प्रसंग आता है ।

शंका—यदि लोकव्यवहार विनाशको प्राप्त होता है, तो हो जाओ ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, ऐसा मानने पर वस्तु-विषयक विधि-प्रतिषेधका भी  
अभाव प्राप्त हो जायगा ।

शंका—यह भी हो जाओ ?

समाधान—ऐसा भी नहीं है, क्योंकि, वस्तुका विधि-प्रतिषेधरूप व्यवहार देना  
जाता है । इसलिये विधि-प्रतिषेधात्मक वस्तु स्वीकार कर लेना चाहिये । अन्यथा ऊपर ऊपर ऊपर  
हुए संपूर्ण दोग प्राप्त हो जायेंगे । इसलिये यह सिद्ध हुआ कि गुणोंकी मुख्यतासे जीवोंके  
परस्पर समानता है, और विशेष ( पर्याय ) की मुख्यतासे परस्पर भिन्नता है ।

अथवा, गुणस्थानों और मार्गणाओंमें जीवसमासोंके अन्वेषण करनेके लिये यह सूत्र

२ स यतो ' त्वेदिना ' इति पाठ । २ य क यतो ' भागजन्नात् ' इति पाठ ।

इदानीं मनुष्याणां गुणद्वारेण साहस्रयासाहस्रप्रतिपादनार्थमाह—  
**मणुस्सा भिस्सा मिच्छाइट्टिपहुडि जाव संजदासंजदा सि ॥३॥**  
 आदित्तत्तुं गुणस्थानेषु ये मनुष्यास्ते मिथ्यात्वादिभिश्चतुर्भिर्गुणैस्त्रिगतिर्जीवैः  
 समानाः सयमांसंयमेन तिर्यग्भिः ।

**तेण परं सुद्धा मणुस्सा ॥ ३२ ॥**

श्रेणुणानां मनुष्यगतित्यतिरिक्तगतिष्वसम्भवाच्छ्रेणुणा मनुष्येष्वेव सम्भवन्ति  
 उपरितगुणैर्मनुष्याः न कैश्चित्समाना इति यावत् । देवनरकगत्योः साहस्रयमसाहस्रं  
 वा किमिति नोक्तमिति चेन्न, आभ्यामेव प्ररूपणाभ्यां मन्दमेधसामपि तदवगमो-  
 त्पचेरिति ।

इन्द्रियमार्गणायां गुणस्थानान्वेषणार्थमुत्तरसूत्रमाह—

**इंदियाणुवादेण अत्थि एइंदिया बीइंदिया तीइंदिया चदुरिंदिया  
 पंचिंदिया अणिंदिया चेदि ॥ ३३ ॥**

स्वा गया है ।

अब मनुष्योंकी गुणस्थानोंके द्वारा समानता और असमानताके प्रतिपादन करनेके  
 लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

मिथ्यादृष्टियोंसे लेकर सयतासयततकके मनुष्य मिथ्य हैं ॥ ३१ ॥

प्रथम गुणस्थानसे लेकर चार गुणस्थानोंमें जितने मनुष्य हैं वे मिथ्यात्वादि चार  
 गुणस्थानोंकी अपेक्षा तीन गतिके जीवोंके साथ समान हैं और संयमांसंयमगुणस्थानकी  
 अपेक्षा तिर्यवोंके साथ समान हैं ।

पाचवें गुणस्थानसे आगे शुद्ध (केवल) मनुष्य हैं ॥ ३२ ॥

प्रारम्भके पांच गुणस्थानोंको छोड़कर शेष गुणस्थान मनुष्यगतिके विना अन्य तीन  
 गतियोंमें नहीं पाये जाते हैं, इसलिये शेष गुणस्थान मनुष्योंमें ही सभव हैं । अतः छत्रवे आदि  
 ऊपरके गुणस्थानोंकी अपेक्षा मनुष्य अन्य तीन गतिके किन्हीं जीवोंके साथ समानता नहीं  
 रखते हैं । यह इस सूत्रका तात्पर्य समझना चाहिये ।

शंका—देव और नरकगतिके जीवोंकी अन्य गतिके जीवोंके साथ समानता और  
 असमानताका कथन क्यों नहीं किया ?

समाधान—अलग कथन करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि, तिर्यच और  
 मनुष्यसंबन्धी प्ररूपणाओंके द्वारा ही मन्दबुद्धि जनकोंकी भी देव और नारकियोंकी दूसरी गति-  
 वाले जीवोंके साथ सदृशता और असदृशताका ज्ञान हो जाता है ।

अब इन्द्रियमार्गणमें गुणस्थानोंके अन्वेषणके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

इन्द्रियमार्गणाकी अपेक्षा एकैन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय और  
 अनिन्द्रिय जीव होते हैं ॥ ३३ ॥

इन्दनादिन्द्रः आत्मा, तसेन्द्रस्य लिङ्गमिन्द्रियम् । इन्द्रेण सृष्टमिति वा इन्द्रियम् ।  
 तद् द्विविधं, द्रव्येन्द्रियं भवोन्द्रियं चेति । निर्दुच्युपकरणे द्रव्येन्द्रियम्, निर्दुच्यत इति  
 निर्दुचिः, कर्मणा या निर्दुच्यते निष्पाद्यते सा निर्दुचितिरित्युपदिश्यते । सा निर्दुचिर्द्विविधा  
 बाह्याभ्यन्तरभेदात् । तत्र लोकप्रमितानां विद्युद्धानामात्मप्रदेशानां प्रतिनियत-  
 चक्षुरादीन्द्रियसंस्थानेनावस्थितानामुत्सेधाङ्गुलस्यासंख्येयभागप्रमितानां वा वृत्तिरभ्यन्तरा  
 निर्दुचिः ।

आह, चक्षुरादीनामिन्द्रियाणां क्षयोपशमो हि नाम स्पर्शनेन्द्रियस्येव किञ्च सर्वात्म-  
 प्रदेशेषूपजायते, उत प्रतिनियतेष्विति ? किं चातः, नं सर्वात्मप्रदेशेषु स्वसर्वावयवैः रूपा-  
 षुपलब्धिप्रसङ्गात् । अस्तु चेन्न, तथातुपलम्भात् । नं प्रतिनियतात्मावयवेषु, वृत्तेः 'सिया

इन्दन अर्थात् पेश्वर्याशाली होनेसे यहा इन्द्र शब्दका अर्थ आत्मा है, और उस इन्द्रके  
 लिंग (चिन्ह) को इन्द्रिय कहते हैं । अथवा जो इन्द्र अर्थात् नामकर्मसे रची जावे उसे इन्द्रिय  
 कहते हैं । वह इन्द्रिय दो प्रकारकी है, द्रव्येन्द्रिय और भवोन्द्रिय । निर्दुचि और उपकरणको  
 द्रव्येन्द्रिय कहते हैं । जो निर्दुच होती है अर्थात् कर्मके द्वारा रची जाती है, उसे निर्दुचि कहते  
 हैं । बाह्य-निर्दुचि और आभ्यन्तर-निर्दुचिके भेदसे वह निर्दुचि दो प्रकारकी है । उनमें, प्रतिनियत  
 चक्षु आदि इन्द्रियोंके आकाररूपसे परिणत हुए लोकप्रमाण अवयव उरसेधागुलके असस्य, तवें  
 भागप्रमाण विद्युद् आत्मप्रदेशोंकी रचनाको आभ्यन्तर निर्दुचि कहते हैं ।

शंका—जिसप्रकार स्पर्शन-इन्द्रियका क्षयोपशम संपूर्ण आत्मप्रदेशोंमें उत्पन्न होता  
 है, उसीप्रकार चक्षु आदि इन्द्रियोंका क्षयोपशम क्या संपूर्ण आत्मप्रदेशोंमें उत्पन्न होता है, या  
 प्रतिनियत आत्मप्रदेशोंमें ? आत्माके संपूर्ण प्रदेशोंमें क्षयोपशम होता है, यह तो माना नहीं जा  
 सकता है, क्योंकि, ऐसा मानने पर आत्माके संपूर्ण अवयवोंसे रूपादिककी उपलब्धिका प्रसंग आ  
 जायगा । यदि कहा जाय, कि संपूर्ण अवयवोंसे रूपादिककी उपलब्धि होती ही है, सो यह भी  
 कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, सर्वांगसे रूपादिका ज्ञान होता हुआ पाया नहीं जाता । इसलिये  
 सर्वांगमें तो क्षयोपशम माना नहीं जा सकता है । और यदि आत्माके प्रतिनियत अवयवोंमें

? इवतीति इन्द्र नामा, तस्य इत्यभासस्य तदानरणक्षयोपशमे सति स्वयमर्थान् ग्रहीतुमममस्य यदयो-  
 पलब्धिनिमित्तं लिंगं तदिन्द्रस्य लिंगमिन्द्रियमित्युच्यते । अयमा लीनमर्थं गमयतीति लिंगम् । आत्मन सूक्ष्मस्थासि-  
 त्वाधिक्ये लिंगमिन्द्रियम् । अयमा 'इन्द्र' इति नामकमोच्यते, तेन मृष्टमिन्द्रियमिति । स सि १, १४

२ भाग चित्परिणाम, तदात्मनमिन्द्रिय मानेन्द्रियम् । गो जी, जी प्र, टी १६५

३ जातिनामवचोदयग्रहणरि देहनामरूपोदयजनित निर्दुच्युपकरणरूप देहविहृद् द्रव्येन्द्रियम् ।

गो जी, जी प्र, टी. १६५

४ त मू. २, १७ ५ त रा मा पु ९०

६ उरसेधागुलमख्येयभागप्रमितानां शुद्धानामात्मप्रदेशानां प्रतिनियतचक्षुरादीन्द्रियस्थानेनावस्थितानां वृत्ति-  
 रभ्यन्तरा निर्दुचिः । स मि २, १७ त रा मा २ १७

७ अ क प्रकी 'न' इति पाठ नास्ति, 'नोपलम्भात्' न' इति च स्थानं 'नोपलम्भात्' इति पाठ ।



अतिमुक्तपुरुषसंस्थाना अङ्गुलस्यासंख्येयभागप्रमिता प्राणनिर्वृत्तिः । अर्धचन्द्राकारा क्षुराकारा बाङ्गुलस्य संख्येयभागप्रमिता रसननिर्वृत्तिः । स्पर्शनेन्द्रियनिर्वृत्तिरनियत-संस्थानो सा जघन्येन अङ्गुलस्यासंख्येयभागप्रमिता बृह्मशरीरेण, उक्तपेण संख्येययनाङ्गुल-प्रमिता महामस्यादित्यसजीवेणुं । सर्वतः स्तोकाश्छुपः प्रदेशाः, श्रोत्रेन्द्रियप्रदेशाः संख्येयगुणाः, घ्राणेन्द्रियप्रदेशा विशेषाधिकाः, जिह्वायामसंख्येयगुणाः, स्पर्शने संख्येय-गुणाः । उक्तं च—

घनागुलके असंख्यातवें भाग-प्रमाण श्रोत्र इन्द्रियकी बाह्य-निर्वृत्ति होती है । कदम्बके फूलके समान आकारवाली और घनागुलके असंख्यातवें भाग-प्रमाण घ्राण-इन्द्रियकी बाह्य निर्वृत्ति होती है । अर्ध-चन्द्र अथवा खुरपाके समान आकारवाली और घनागुलके असंख्यातवें भाग-प्रमाण रसना इन्द्रियकी बाह्य-निर्वृत्ति होती है । स्पर्शनेन्द्रियकी बाह्य-निर्वृत्ति अनियत आकारवाली होती है । वह जघन्य-प्रमाणकी अपेक्षा घनागुलके असंख्यातवें भाग-प्रमाण सूक्ष्मनिगेदिया लब्धपर्याप्तक जीवके (तीन मोड़से उत्पन्न होनेके तृतीय समयवर्ती) शरीरमें पाई जाती है, और उत्कृष्ट प्रमाणकी अपेक्षा संख्यात घनागुल प्रमाण महामस्य आदि त्रस-जीवके शरीरमें पाई जाती है । चक्षु-इन्द्रियके अवगाहनारूप प्रदेश सबसे कम है । उनसे संख्यात-गुणे श्रोत्र इन्द्रियके प्रदेश है । उनसे अधिक घ्राण-इन्द्रियके प्रदेश है । उनसे असंख्यातगुणे जिह्वा-इन्द्रियमें प्रदेश है । और उनसे संख्यातगुणे स्पर्शनेन्द्रियमें प्रदेश है ।

विशेषार्थ — ऊपर इन्द्रियोंकी अवगाहना बतला कर जो चक्षु आदि इन्द्रियोंके प्रदेशोंका प्रमाण बतलाया गया है, वह इन्द्रियोंकी अवगाहनाके तारतम्यका ही बोधक जानना चाहिये । अर्थात् चक्षु इन्द्रिय अपनी अवगाहनासे जितने आकाश-प्रदेशोंको रोकती है, उससे संख्यात-गुणे आकाश प्रदेशोंको ब्याप्त कर श्रोत्रेन्द्रिय रहती है । उससे विशेष अधिक आकाशप्रदेशोंको घ्राण इन्द्रिय ब्याप्त करती है । उससे असंख्यातगुणे आकाशप्रदेशोंको ब्याप्त कर जिह्वा-इन्द्रिय रहती है और उससे संख्यातगुणे आकाश प्रदेशोंको ब्याप्त कर स्पर्शनेन्द्रिय रहती है । गोमटसार जीवकाण्डकी 'अगुलअसरभाग' इत्यादि गाथासे इसी कथनकी पुष्टि होती है । अवगाहनाके समान इन्द्रियाकार आत्मप्रदेशोंकी रचनामें भी यह क्रम लागू हो सकता है । परन्तु राजवातिकमें 'स्पर्शनेन्द्रियके प्रदेश अनन्तगुणे अधिक बतलाये हैं । यह कथन इन्द्रियोंकी अव-इन्द्रियसे स्पर्शनेन्द्रियके प्रदेश अनन्तगुणे अधिक बतलाये हैं । यह कथन इन्द्रियोंकी अव-गाहना और इन्द्रियाकार आत्मप्रदेशोंकी रचनामें किसी भी प्रकारसे घटित नहीं होता है, क्योंकि, एक जीवके अवगाहनारूप क्षेत्र और आत्मप्रदेश अनन्तप्रमाण या अनन्तगुणे सभ्रव ही नहीं हो सकते । सभ्रव है वहा पर बाह्यनिर्वृत्तिके प्रदेशोंकी अपेक्षसे उक्त कथन किया गया हो । कहा भी है—

१ छद्मनिगेदियलक्ष्यस्य जादस्य तदियगमयसिंह । अगुलअसरभाग जर्हणगुणस्त्य मन्डे ॥ गो जी १७३

२ 'स्पर्शनेन्द्रियगुणा' इति पाठ त रा ना २ १९. ५

जव-गाळिया मसूरी चंददइसुत्त-कुल्ल-कुल्लइ ।  
इदिय-सठाणाइ परसे पुण णेय-सठाणं ॥ १३४ ॥

उपक्रियतेऽनेनेत्युपकरणम्, येन निर्वृत्तेरुपकारः क्रियते तदुपकरणम् । तद् द्विविधं बाह्याभ्यन्तरभेदात् । तत्राभ्यन्तरं कृष्णशुक्लमण्डलम् । बाह्यमक्षिपत्रपद्ममद्वयादि । एवं श्रोत्रेन्द्रियेषु ज्ञेयम् । लब्धुपयोगौ भवेन्द्रियम् । इन्द्रियनिर्वृत्तिहेतुः क्षयोपशमविशेषो लब्धिः । यत्सन्नियानाढात्सा द्रव्येन्द्रियनिर्वृत्ति प्रति व्याप्रियते स ज्ञानावरणक्षयोपशमविशेषो लब्धिरिति विज्ञायते । तदुक्तनिमित्तं प्रतीत्योरुपशमनामः आत्मनः परिणामः उपयोग इत्यपदिश्यते । तदेतदुभयं भवेन्द्रियम् । उपयोगस्य तत्फलत्वादिन्द्रियव्यपदेशानुपपत्ति-

श्रोत्र-इन्द्रियका आकार यवकी नालीके समान है, चक्षु-इन्द्रियका मसूरके समान, रसना-इन्द्रियका आधे चन्द्रमके समान, घ्राण इन्द्रियका कदम्बके फूलके समान आकार है और स्पर्शनेन्द्रिय अनेक आकारवाली है ॥ १३४ ॥

जिसके द्वारा उपकार किया जाता है, अर्थात् जो निर्वृत्तिका उपकार करता है उसे उपकरण कहते हैं । वह वाता-उपकरण और अभ्यन्तर-उपकरणके भेदसे दो प्रकारका है । उनमेंसे कृष्ण और शुक्ल मण्डल नेत्र-इन्द्रियका अभ्यन्तर उपकरण है, और दोनों पलकें तथा दोनों नेत्ररोम ( बरोली ) आदि उसके बाह्य-उपकरण हैं । इसीप्रकार शेष इन्द्रियोंमें जानना चाहिये ।

लब्धि और उपयोगको भवेन्द्रिय कहते हैं । इन्द्रियकी निर्वृत्तिका कारणभूत जो क्षयोपशम विशेष है उसे लब्धि कहते हैं । अर्थात् जिसके सन्निधानसे आत्मा द्रव्येन्द्रियकी रचनामें व्यापार करता है, ऐसे ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशम-विशेषको लब्धि कहते हैं । और उस पूर्वोक्त निमित्तके आलम्बनसे उत्पन्न होनेवाले आत्माके परिणामको उपयोग कहते हैं ।

१ चसू गोद वाण जिभायार मइजनणाली । अतिसुत्त नुत्पसम फास तु उणियमठाण ॥ गो जी १७१

२ पाठीइत्त रा ना २. १७ पा ५-७ व्यात्ता समाज ।

३ त स २ ४८

४ अर्थग्रहणशक्तिर्लब्धि । लभो स मि १ ५ । गो जी, जी प्र, दो १६५ लभन लब्धि । क पुनरतो ? सापारणक्षयोपशमविशेष । त मि २ १८ इन्द्रियनिर्वृत्तिहेतु क्षयोपशमविशेषो लब्धि । त रा ना २ १८ १ स्वार्थमपिन्द्रियगतं च लब्धि । त शो ना २ १८ आरण्योपशममात्तित्त्या अर्थग्रहण-शक्तिर्लब्धि । सा र्ता पृ ३४४

५ अर्थग्रहणयापार उपयोग । गो जी, जी प्र, दो १६५ उपयोग पुन अर्थग्रहणयापार । लब्धी स्व वि १ ५ यन्निवामाकाराया द्रव्येन्द्रियनिर्वृत्ति प्रति व्याप्रियते तन्निमित्त आमन परिणाम उपयोग । स मि २ १८ । त रा ना २ १८ ० उपयोग प्रणिधानम् । त भा २ १९ उपयोगसु रूपादिग्रहण व्यापार । सा र्ता पृ ३४४

६ उपयोगस्य फलत्वादिन्द्रियव्यपदेशानुपपत्तिरिति चेत्, कारणमस्य र्ताभिर्नुचे । त रा ना २ १८ ३

मिति चेन्न, कारणधर्मस्य कार्यानुवृत्तः । कार्यं हि लोके कारणमनुवर्तमानं दृष्टं, यथा  
 यदाकारपरिणतं विज्ञानं वद इति । तथेन्द्रियनिवृत्त उपयोगोऽपि इन्द्रियमित्यपठिष्यते ।  
 उन्मत्तस्य लिङ्गमिन्द्रेण मृष्टमिति वा य इन्द्रियगन्धार्थः स क्षयोपगमे प्राधान्येन विद्यत  
 इति तन्मिन्द्रियव्यपदेशो न्याय्य इति । तेन इन्द्रियेण अनुवादः इन्द्रियानुवादः, तेन  
 मन्ति एकेन्द्रियाः । एकमिन्द्रियं येषां त एकेन्द्रियाः । किं तदेकमिन्द्रियम् ? स्पर्शनम् ।  
 रीर्यान्तरायम्पर्शनेन्द्रियारणश्रयोपगमाद्गोपाङ्गनामलाभावदृग्मात्स्मृगत्यनेनेति स्पर्शनं  
 ऋणकारकं । इन्द्रियस्य स्वातन्त्र्यविवक्षायां कर्तृत्वं च भवति । यथा पूर्वोक्तेहेतुसन्निधाने  
 मति मृष्टमिति स्पर्शनम् । कोऽस्य विषयः ? स्पर्शः । कोऽस्यार्थः ? उच्यते, यदा वस्तु

प्रकारकार लब्धि ओर उपयोग ये दोनों भावेन्द्रियां हैं ।

शंका—उपयोग इन्द्रियोंका फल है, क्योंकि, उसकी उत्पत्ति इन्द्रियोंसे होती है,  
 इसलिये उपयोगको इन्द्रिय संग देना उचित नहीं है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, कारणमें रहनेवाले धर्मकी कार्यमें अनुवृत्ति होती है ।  
 अर्थात् कार्य लोकेमें कारणका अनुकरण करता हुआ देखा जाता है । जैसे, वटके आकारसे  
 परिणत हुए गजको वट कला जाता है, उर्मिप्रकार इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुए उपयोगको भी  
 इन्द्रिय संग देी गई है ।

इन्द्र ( आत्मा ) के लिंगको इन्द्रिय कहते हैं । या जो इन्द्र अर्थात् नामकर्मसे  
 स्वी गई है उसे इन्द्रिय कहते हैं । इसप्रकार जो इन्द्रिय शब्दका अर्थ किया जाता है, वह  
 श्रयोपगममें प्रधानतासे पाया जाता है, इसलिये उपयोगको इन्द्रिय संग देना  
 उचित है ।

उक्त प्रकारकी इन्द्रियकी अपेक्षा जो अनुवाद, अर्थात् आगमानुकूल कथन किया  
 जाना है उसे इन्द्रियानुवाद कहते हैं । उसकी अपेक्षा एकेन्द्रिय जीव है । जिनके एक ही  
 इन्द्रिय पारि जाती है उन्हें एकेन्द्रिय जीव कहते हैं ।

शंका—वह एक इन्द्रिय कौनसी है ?

समाधान—वह एक इन्द्रिय स्पर्शन समझना चाहिये ।

रीर्यान्तराय और स्पर्शनेन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपगमसे तथा आगोपाग नामकर्मके  
 उन्मत्तरूप आलस्यसे जिसके द्वारा आत्मा पदार्थोंको स्पर्श करता है, अर्थात् पदार्थगत स्पर्श-  
 धर्मकी मुख्यतासे जानता है, उसे स्पर्शन इन्द्रिय कहते हैं । यह लक्षण करण-कारककी अपेक्षाओं  
 ( परतन्त्र विषयोंमें ) बनता है । और इन्द्रियकी स्वातन्त्र्यविवक्षाओंमें कर्तृसाधन भी होता  
 है । जैसे, पूर्वोक्त साधनोंके मूले पर जो स्पर्श करती है उसे स्पर्शन-इन्द्रिय कहते हैं ।

शंका—स्पर्शन-इन्द्रियका विषय क्या है ?

१ मन्मोपत. रा वा २ १८ अ १-३ न्याय्या ममान ।

२ न ति ३ १९ त रा मा २ १९

प्राधान्येन विनाशितं तदा इन्द्रियेण वस्त्वेव विषयीकृतं भवेद् वस्तुव्यतिरिक्तस्पर्शाद्यभावात् ।  
 एतस्यां विवक्षायां स्पृश्यत इति स्पर्शी वस्तु । यदा तु पर्यायः प्राधान्येन विवक्षितस्तदा  
 तस्य ततो भेदोपपत्तेरौदासीन्यावस्थितभावकथनाद्भावसाधनत्वमप्यविरुद्धम्, यथा स्पर्शनं  
 स्पर्श इति । यद्येवम्, सूक्ष्मेण परमाण्यादिषु स्पर्शव्यवहारो न प्राप्नोति तत्र तदभावात् ?  
 नैव दोषः, सूक्ष्मेणपि परमाणादिष्वस्ति स्पर्शः स्थूलेषु तत्कार्येषु तद्दर्शनान्यथासुपपत्तेः ।  
 नहस्त्यन्तासतां प्रादुर्भावोऽस्त्यतिप्रसङ्गात् । किन्तु इन्द्रियग्रहणयोग्या न भवन्ति । ग्रहणा-  
 योग्यानां कथं स व्यपदेश इति चेन्न, तस्य सर्वदायोग्यताभावात् । परमाणुगतः सर्वदा

समाधान—स्पर्शन-इन्द्रियका विषय स्पर्श है ।

शंका—स्पर्शका क्या अर्थ है ? अर्थात् स्पर्शसे किसका ग्रहण करना चाहिये ?

समाधान—जिस समय द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा प्रधानतासे वस्तु ही विवक्षित  
 होती है, उस समय इन्द्रियके द्वारा वस्तुता ही ग्रहण होता है, क्योंकि, वस्तुको छोड़कर  
 स्पर्शादिक धर्म पाये नहीं जाते हैं । इसलिये इस विवक्षामें जो स्पर्श किया जाता है उसे स्पर्श  
 कहते हैं, और वह स्पर्श वस्तुरूप ही पड़ता है । तथा जिस समय पर्यायार्थिकनयकी प्रधानतासे  
 पर्याय विवक्षित होती है, उससमय पर्यायका द्रव्यसे भेद होनेके कारण उदासीनरूपसे अवस्थित  
 भावका कथन किया जाता है । इसलिये स्पर्शमें भावसाधन भी नन जाता है । जैसे, स्पर्शन  
 ही स्पर्श है ।

शंका—यदि ऐसा है, तो सूक्ष्म परमाणु आदिमें स्पर्शका व्यवहार नहीं वन सकता  
 है, क्योंकि, उसमें स्पर्शनरूप क्रियाका अभाव है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, सूक्ष्म परमाणु आदिमें भी स्पर्श है,  
 अन्यथा, परमाणुओंके कार्यरूप स्थूल पदार्थोंमें स्पर्शकी उपलब्धि नहीं हो सकती थी । किन्तु  
 स्थूल पदार्थोंमें स्पर्श पाया जाता है, इसलिये सूक्ष्म परमाणुओंमें भी स्पर्शकी सिद्धि हो जाती  
 है, क्योंकि, न्यायका यह सिद्धान्त है, कि जो अत्यंत ( सर्वथा ) असत् होते हैं उनको उत्पत्ति  
 नहीं होती है । यदि सर्वथा असत्की उत्पत्ति मानी जावे तो अतिप्रसंग हो जायगा । ( अर्थात्  
 बाँझके पुत्र, आकाशके फूल आदि अविद्यमान बातोंका भी प्रादुर्भाव मानना पड़ेगा ) इसलिये  
 यह समझना चाहिये कि परमाणुओंमें स्पर्शादिक पाये तो अवश्य जाते हैं, किन्तु वे इन्द्रियोंके  
 द्वारा ग्रहण करने योग्य नहीं होते हैं ।

शंका—जब कि परमाणुओंमें रहनेवाला स्पर्श इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण नहीं किया जा  
 सकता है, तो फिर उसे स्पर्श सत्ता कैसे दी जा सकती है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, परमाणुगत स्पर्शके इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण करनेकी  
 योग्यताका सदैव अभाव नहीं है ।

२ 'नेनामतो जन्म मतो न नागो' वृ त्त स्तो २४ नामतो विवते मातो नामागो विवत गत । मग.  
 गो २ १६.

२ प्रत्यधीत्य त रा वा २ २० १. व्याख्या समान ।



न ग्रहणयोग्यश्चेन्न, तस्यैव स्थूलकार्याकारेण परिणतौ योग्यत्वोपलम्भात् । के त एकेन्द्रियाः? पृथिव्यन्तेजोवायुवनस्पतयः । एतेषां स्पर्शनमेकमेवेन्द्रियमस्ति, न शेषाणीति कथमवगम्यत इति चेन्न, स्पर्शनेन्द्रियवन्त एत इति प्रतिपादकार्योपलम्भात् । क तत्सह्यमिति चेत्कथ्यते—

जाणदि पस्सदि भुजदि सेवदि पस्सिदिएण एक्केण ।

कुणदि य तस्सामिच्च थावर एइदिओ तेण ॥ १३५ ॥

‘वनस्पत्यन्तानामेकम्’ इति तत्सार्थसूत्राद्वा । अस्यार्थः, अयमन्तशब्दोऽनेकार्थवाचकः, क्वचिदवयवे, यथा वृक्षान्तो वसनान्त इति । क्वचित्सामीप्ये, यथा उदकान्तं गतः, उदकसमीपं गत इति । क्वचिद्वसाने वर्तते, यथा संसारान्तं गतः, संसारावसानं

शंका—परमाणुमें रहनेवाला स्पर्श तो इन्द्रियोंद्वारा कभी भी ग्रहण करने योग्य नहीं है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जब परमाणु स्थूल कार्यरूपसे परिणत होते हैं, तब तद्गत धर्मोंकी इन्द्रियोंद्वारा ग्रहण करनेकी योग्यता पाई जाती है ।

शंका—वे एकेन्द्रिय जीव कौन कौनसे हैं ?

समाधान—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, और वनस्पति, ये पांच एकेन्द्रिय जीव हैं ।

शंका—इन पांचोंके एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है, शेष इन्द्रियां नहीं होती, यह कैसे जाना ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, पृथिवी आदि एकेन्द्रिय जीव एक स्पर्शन-इन्द्रियवाले होते हैं, इसप्रकार कथन करनेवाला आर्ष-वचन पाया जाता है ।

शंका—यह आर्ष-वचन कहाँ पाया जाता है ?

समाधान—यह आर्ष-वचन यहाँ कहा जाता है—

स्योकि, स्यावर जीव एक स्पर्शन इन्द्रियके द्वारा ही जानता है, देखता है, खाता है, सेवन करता है और उसका स्वामीपना करता है, इसलिये उसे एकेन्द्रिय स्थावर जीव कहा है ॥ १३५ ॥

अथवा, ‘वनस्पत्यन्तानामेकम्’ तत्सार्थसूत्रके इस वचनसे जाना जाता है कि उनके एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है । अब इस सूत्रका अर्थ करते हैं, अन्त शब्द अनेक अर्थोंका वाचक है । कहीं पर अवयवरूप अर्थमें आता है, जैसे, ‘वृक्षान्तः’ अर्थात् वृक्षका अवयव । कहीं पर समीपताके अर्थमें आता है, जैसे ‘उदकान्त गत’ अर्थात् जलके समीप गया । कहीं पर अवसानरूप अर्थमें आता है, जैसे, ‘संसारान्त गतः’ अर्थात् संसारके अन्तको प्राप्त हुआ ।

गत इति । तत्रेह विवक्षातोऽवसानार्थो वेदितव्यः । वनस्पत्यन्तानां वनस्पत्यवसानानामिति सामीप्यार्थः किन्न गृह्यते ? वनस्पत्यन्तानां वनस्पतिसमीपानामित्यर्थे गृह्यमाणे वायुकायानां त्रसकायानां च सम्प्रत्ययः प्रसज्येत ‘पृथिव्यन्तेजोवायुवनस्पतित्रसाः’ इत्यत्र तयोरेव सामीप्यदर्शनात् । अयमन्तशब्दः सम्बन्धिशब्दत्वात् कांश्चित्पूर्वानपेक्ष्य वर्तते । ततोऽर्थादादिसम्प्रत्ययो भवति तस्मादयमर्थोऽवगम्यते पृथिव्यादीनां वनस्पत्यन्तानामेकमिन्द्रियमिति । एवमपि पृथिव्यादीनां वनस्पत्यन्तानां स्पर्शनादिव्यन्यतम-मेकमिन्द्रियं प्राप्नोत्यविशेषादिति चेन्नैष दोषः, अयमेकशब्दः प्राथम्यवचनम् ‘स्पर्शन-रसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि’ इत्यत्र तनप्राथम्यमाश्रित इति । त्रीयन्तरायस्पर्शनेन्द्रियावरण-क्षयोपशमे सति शेषेन्द्रियसर्वधातिस्पर्धकोदये चैकेन्द्रियजातिनामकमेदियवशवर्तितयां च सत्यां स्पर्शनमेकमिन्द्रियमाविर्भवति ।

उनमेंसे यहाँ पर विवक्षाले अन्त शब्दका अवसानरूप अर्थ जानना चाहिये ।

शंका—‘वनस्पत्यन्तानामेकम्’ इसमें आये हुए अन्त पदका ‘वनस्पतिके समीपवर्ती जीवोंके एक स्पर्शन-इन्द्रिय होती है’ इसप्रकार सामीप्य वाचक अर्थ क्यों नहीं लेते ?

समाधान—यदि ‘वनस्पत्यन्तानामेकम्’ इस सूत्रमें आये हुए अन्त शब्दका समीप अर्थ लिया जाय तो उससे वायुकायिक और त्रसकायिकका ही ज्ञान होगा, क्योंकि, ‘पृथिव्यन्तेजोवायुवनस्पतित्रसाः’ इस वचनमें वायुकायिक और त्रसकायिक ही वनस्पतिके समीप दिखाई देते हैं । यह अन्त शब्द सबन्धी शब्द होनेसे अपनेसे पूर्ववर्ती कितने ही शब्दोंकी अपेक्षा करके प्रवृत्ति करता है, और इससे अर्थवशा आदिका ज्ञान हो जाता है । उससे यह अर्थ मालूम पड़ता है कि पृथिवीकायिकसे लेकर वनस्पति पर्यन्त जीवोंके एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है ।

शंका—ऐसा मान लेने पर भी पृथिवीसे लेकर वनस्पति पर्यन्त जीवोंके स्पर्शन आदि पांच इन्द्रियोंमेंसे कोई एक इन्द्रिय प्राप्त होती है, क्योंकि, ‘वनस्पत्यान्तानामेकम्’ इस सूत्रमें आया हुआ एक पद स्पर्शन-इन्द्रियका बोधक तो है नहीं, वह तो सामान्यसे सब्यावाची है, इसलिये पांच इन्द्रियोंमेंसे किसी एक इन्द्रियका ग्रहण किया जा सकता है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, यह एक शब्द प्राथम्यवाची है, इसलिये उससे ‘स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि’ इस सूत्रमें आई हुई सबसे प्रथम स्पर्शन इन्द्रियका ही ग्रहण होता है ।

वीर्यान्तराय और स्पर्शनेन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशम होने पर, रसना आदि शेष इन्द्रियावरणके सर्वधाती स्पर्धकोंके खदय होने पर तथा एकेन्द्रियजाति नामकमेंके उदयकी वशवर्तितताके होने पर स्पर्शन एक इन्द्रिय उत्पन्न होती है ।



के इन्द्रिये येषां ते इन्द्रियाः । के ते ? संसृष्ट्युक्तिक्रम्यादयः । उक्तं च—

दुर्गित्तिभिः क्षिप्रि-सना गंडोळारिडि-अस्य-गुन्ध्या य ।

तः य सगडय जीवा णेया वीडदिया एते' ॥ १३६ ॥

के ते ते इन्द्रिय इति चेत्सपर्यायसने । स्पर्शनमुक्तक्षणम् । भेदविवक्षायां नीर्यान्तरायसनेन्द्रियावगणशयोपगमाद्भोपाज्ञनामलाभावष्टम्भाद्रमयत्यनेनेति रसनं करण-

जिनके दो इन्द्रियां होती हैं उद्धे इन्द्रिय जीव कहते हैं ।

शंका—ये इन्द्रिय जीव कौन कौन हैं ?

समाधान—शप, शुक्ति और श्रुमि आदिक इन्द्रिय जीव हैं । कहा भी है—

कृत्स्निक्रमि अर्थत्वे पेष्टके कीड़े, सीप, शप, गण्डोला अर्थत्वे उदरमें उत्पन्न होनेवाली

रही श्रुमि, अण्ड नामक एक जीवविशेष, अक्ष अर्थत्वे चन्दनक नामका जलकर जीवविशेष,

शुद्धक अर्थत्वे चोटा शप और कोड़ी आदि इन्द्रिय जीव हैं ॥ १३६ ॥

शंका—ये दो इन्द्रिया कौनसी हैं ?

समाधान—स्पर्शन और रसना । उनमेंसे स्पर्शनका स्वरूप कह आये हैं । अब रसना इन्द्रियका स्वरूप कहते हैं—

भेद विवक्षाकी प्रानता अर्थत्वे करणकारककी विवक्षा होने पर, वीर्यान्तराय और रसनेन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशमसे तथा आगोपना नामकर्मके उदयके अवलम्बनसे जिसके द्वारा स्पर्शका प्रण होना ते उमे रसना-इन्द्रिय कहते हैं । तथा इन्द्रियोंकी स्वातन्त्र्य-विवक्षा अर्थत्वे कर्तृ-कारककी विवक्षामें पूर्वांक साधनोंके मिलने पर जो आस्वाद ग्रहण करती हैं उमे रसना-इन्द्रिय कहते हैं ।

१ उद्यमवर्तना हतो ( तया मूलमपानकरुणा गीयोग्यवर्गता या जीवा मुक्षिप्रमय । गण्डोलाका अर्थत्वे शप । तल लक्ष्मीपिका चन्द्रका, तं तु ममयायाया-कतेन प्रतीता । उराटक स्पर्शक, काडीति भावात् । ) । य तैर निष्पत्तिनामानो जाग अपि इति रानेन ममिदा ) मय मयान गंडोळ-जलीय-चदणम-जलम-अक्षार । मरुतिने एषाणा रशिय मा-गण्डोळो । जलोका । जलमा श्रुनागा, यडश्यास्ते मानो जलदृष्टो मया मय परे । यदुरा जागोयेतो तित्यप्रमिड ( उपितापोपजीव, टेंचोला-दोष्य ) मेरुक्त मष्टभेदशेष । प्रारणा तम जन्पातनो रक्तपां रक्तमुपा जीवा । मारमती-मातृमार्जिका गर्जदेशप्रमिदा नुडेलीति मरिष्यमारी उरस्योजता अपि रशिया प्राजा । जी ति य दृ १०. तिमिणे गोमगला चेन जलमा मातात् । मर्ममश य तिमिपा मय मयणा तदा ॥ वल्लोपाशु-श्या चेन तरेन य वराडगा । तथा चेन चरणा य तरेन य ॥ उक्त २६, १२९-१३० मे किं त केदिया ? केदिया भोगेशिया पयका । न जना. पुकातिमिया, दुर्गित्तिमिया, गडूयलगा, गोलोमा, गडरा, मासवगा, रशिय, एरुप गजलेता, जलोमा, जालाडा, मया, मलणगा, गुल्का, गुल्का, गुल्का, गुल्का, मया, गोमिया, मुसिया, एटागामा, पुनओरत्ता, इडओरत्ता, नदिपामता, ममुका, माडवाहा, शीरपुअ, चरता, मसुरतिमिया, के पाते तदुपगता । मत्ता १ ४४,

कारके । इन्द्रियाणां स्मातन्त्र्यविवक्षायां पूर्वोक्तेहेतुसन्निधाने सति रसयतीति रसनं कर्तृकारके भवति । कोऽस्य विषयः ? रसः । कोऽस्यार्थः ? यदा वस्तु प्राधान्येन विवक्षितं तदा वस्तुव्यतिरिक्तपर्यायाभावाद्ब्रह्मस्त्वेव रसः । एतस्यां विवक्षायां कर्मसाधनत्वं रसस्य, यथा रस्यत इति रसः । यदा तु पर्यायः प्राधान्येन विवक्षितस्तदा भेदोपपत्तेः औदासीन्यावस्थितभावकथनाद्भावसाधनत्वं रसस्य, रसनं रन इति । न सूक्ष्मेषु परमाण्वादेषु रसाभावः उक्तोत्तरत्वात् । कुत एतयोरुत्पत्तिरिति चेद्वीर्यान्तरायस्पर्शन-रसनेन्द्रियावरणशयोपशमे सति शेषेन्द्रियसर्वघातिस्पर्धकोदये चाद्भोपाज्ञनामलाभावष्टम्भे इन्द्रियजातिकर्मोदयवशवर्तितायां च सत्यां स्पर्शनरसनेन्द्रिये आविर्भवतः ।

त्रीणि इन्द्रियाणि येषां ते त्रीन्द्रियाः । के ते ? कुन्धुमरुत्तुणादयः । उक्तं च—

शंका—रसना इन्द्रियका विषय क्या है ?

समाधान—रस इन्द्रियका विषय रस है ।

शंका—रस शब्दका क्या अर्थ है ?

समाधान—जिस समय प्रधानरूपसे वस्तु विवक्षित होती है, उस समय वस्तुको छोड़कर पर्याय नहीं पाई जाती है, इसलिये वस्तु ही रस है । इस विवक्षामें रसके कर्मसाधनपना है । जैसे, जो चखा जाय, वह रस है । तथा जिस समय प्रधानरूपसे पर्याय विवक्षित होती है, उस समय द्रव्यसे पर्यायका भेद बन जाता है, इसलिये जो उदसीनरूपसे अवस्थित भाव है उसीका कथन किया जाता है । इसप्रकार रसके भावसाधनपना भी बन जाता है । जैसे, आस्वादनरूप क्रियाधर्मको रस कहते हैं । सूक्ष्म परमाणु आदिमें रसका अभाव हो जायगा, यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, इसका उत्तर पहले दे आये हैं ।

शंका—स्पर्शन और रसना इन दोनों इन्द्रियोंकी उत्पत्ति किस कारणसे होती है ?

समाधान—वीर्यान्तराय और स्पर्शन व रसनेन्द्रियावरण कर्मके शयोपशम होने पर, शेष इन्द्रियावरण कर्मके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदय होने पर, आंगोपांग नामकर्मके उदयकी वशावर्तिता होने पर स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रिया उत्पन्न होती हैं ।

जिनके तीन इन्द्रियां होती हैं उन्हें त्रीन्द्रिय जीव कहते हैं ।

शंका—ये तीन इन्द्रिय जीव कौन कौन हैं ?

समाधान—कुन्धु और रसमल आदि त्रीन्द्रिय जीव हैं । कहा भी है—

१ प्रन्वाडय त रा वा २ १९-२०, मा. १-१ त्पार्यानां ममान ।

२ न किं त तेद्विद्य-मसा समान-जीवपवणा ? तेद्विद्य ममासमान-जीवपवणा अणोगमिहा पवता । त जना, ओपन्ना, रोहिणिया, कुण्ड, पिपीलिया, उडमगा, उडेदिया, उकलिया, उष्पाडा, उष्पाडा, तणावारा, कडावारा, माटुया, पत्तावारा, तण्डेटिया, पचनेटिया, पुकनेटिया, फलकटिया, वीर्येडिया, तेडरणमिमिया, तओमिमिमिया, रूप्यामटिमिमिया, मिलिया, मिलिया, मिलिया, मिलिया, लहुया, लहुया, लुमगा, सोममिमिया, मयंयंटा, इडकाडगा, तुलुमिया, तुलुमिया, कुन्धुल-माहागा, नूया, तुलाका, पिसुया, मयमाहया, गोमही, हृथियांका,

कुटु-विपीलिक मक्खुण-विच्छिअ-नु इंदोग-गोम्ही य ।

उत्तराणद्वियादी' (१) गेया तीइदिया जीवां ॥ १३७ ॥

कानि तानि त्रीणिन्द्रियाणीति चेत्स्पर्शनरसनघ्राणानि । स्पर्शनरसने उक्तलक्षणे । किं घ्राणमिति ? करणसाधनं घ्राणम् । कुतः ? पारतन्त्र्यादिन्द्रियाणाम् । ततो वीर्यान्तराय-घ्राणेन्द्रियावरणक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभावष्टम्भाज्जिघ्रत्यनेनात्ममेति घ्राणम् । कर्तृसाधनं च भवति स्वातन्त्र्यविवक्षायामिन्द्रियाणाम् । दृश्यते चेन्द्रियाणां लोके स्वातन्त्र्यविवक्षा, यथेदं भेदक्षि सुष्ठु पश्यति, अयं मे कर्णः सुष्ठु शृणोतीति । ततः पूर्वोक्तेहेतुसन्निधाने

कु-उ, पिपीलिका, खटमल, विच्छू, जू, इन्द्रगोप, कनखजूरा, तथा उत्तरा नद्वियादिक मीदविशेष, ये सब त्रीन्द्रिय जीव है ॥ १३७ ॥

शंका—वे तीन इन्द्रियां कौन कौन है ?

समाधान—स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन इन्द्रिया हैं । इनमेंसे स्पर्शन और रसनाका लक्षण कद आये । अब घ्राण इन्द्रियका लक्षण कहते हैं—

शंका—घ्राण किसे कहते हैं ?

समाधान—घ्राण शब्द करणसाधन है, क्योंकि, पारतन्त्र्यविवक्षामे इन्द्रियोंके करण-साधन होता है । इसलिये वीर्यान्तराय और घ्राणेन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशम तथा आंगोपांग नामकर्मके उदयके आलम्बनसे जिसके द्वारा सूखा जाता है उसे घ्राण-इन्द्रिय कहते हैं । अथवा, इन्द्रियोंकी स्वातन्त्र्यविवक्षामें घ्राण शब्द कर्तृसाधन भी होता है, क्योंकि, लोकमें इन्द्रियोंकी स्वातन्त्र्यविवक्षा भी देखी जाती है । जैसे, यह मेरी आंख अच्छी तरह देखती है, यह मेरा कान अच्छी तरह सुनता है । अतः पहले कहे हुए हेतुओंके मिलने पर जो सूद्यती है उसे घ्राण इन्द्रिय कहते हैं ।

ने यामने तहपारा । प्रभा. १ ४५

१ अ प्रती 'उत्तरा' स प्रती व 'उत्तरा' इति पाठ ।

२ कुटुपिपीलिके प्रतीति । मक्खुणवृश्चिककूट्रगोपाश्रापि प्रसिद्धा एव । गोमिति गुलि कर्णशृगाली ( कनखजूरा इति दिव्यमायायाम् ) निगेषपरिज्ञानायायेऽपि त्रीन्द्रियजीवा उल्लिख्यते । गोमीमकुणजूआपिपीलि-उदेहिया य मकोडा । इच्छियक्यमिल्लोओ सावय गोमीडजाईओ ॥ गदहयचोरिकीडगोमयकीडा य धनकीडा य । कुडु उ ( गो ) बालिय इलिया तेइदिय इदगोमाई ॥ उदेहिया उपदेहिना बाल्मिय । इल्लिना धान्यादिपुसत्ता । ' क्यामिच्छि' ति घृतेल्लिना । ' सावयेति ' लोकमाकया साता, ते मउय्याणामशुभोदकं प्राण भाविति कटे शरीरेशेपचन्ते । गोकीटका प्रतीता एव । जातिपक्वणेन सर्वतिरस्ता कर्णावयवैपुसत्ताश्च जन्मुकविचडादयो प्राणा । गदहय-गदयका ( गोमालीपान्तव ) चोरकीटा, ( त्रियोत्पनजन्तव ) गोमयकीटाइरणोत्पत्ता । धारकीटा युणन्तेन प्रसिद्धा । शेषाश्च स्वनामामिद्धा । जी नि प्र पु ११ कुटुपिपीलिउडुमा उक्खुहेहिया तथा । तण्णहारल्लहरा य माडुरा पत्तहारणा । कय्यामाद्धिमे जायति दुगा तउमामिजगा । मदावरी य गुम्मी य नोववा इन्द-गाइता ॥ इन्दोगमाईमा गेम्हा एवमायजी । उच ३६, १३८-१४०

सति जिघ्रतीति घ्राणम् । कोऽस्य विषयः ? गन्धः । अयं गन्धशब्दः कर्मसाधनः । कुतः ? यदा द्रव्यं प्राधान्येन विवक्षितं तदा न ततो व्यतिरिक्ताः स्पर्शादयः केचन सन्तीति । एतस्यां विवक्षायां कर्मसाधनत्वं स्पर्शादीनामवस्यते, गन्धयत इति गन्धो वस्तु । यदा तु पर्यायः प्राधान्येन विवक्षितस्तदा भेदोपपत्तेः औदासीन्यावस्थितभाव-कथनाद्भावसाधनत्वं स्पर्शादीनां युज्यते, गन्धनं गन्ध इति । कुत एतेपायुत्पत्तिरिति चेद्वीर्यान्तरायस्पर्शनरसनघ्राणेन्द्रियावरणक्षयोपशमे सति शेषेन्द्रियसर्वधातिस्पर्धकोदये चाङ्गोपाङ्गनामलाभावष्टमे त्रीन्द्रियजातिकर्मोदयवशवर्तितायां च सत्यां स्पर्शनरसन-घ्राणेन्द्रियाण्याविर्भवन्ति ।

चत्वारि इन्द्रियाणि येषां ते चतुरिन्द्रियाः । के ते ? मशकमक्षिकादयः । उक्तं च—

शंका—घ्राण-इन्द्रियका विषय क्या है ?

समाधान— इस इन्द्रियका विषय गन्ध है ।

यह गन्ध शब्द कर्मसाधन है, क्योंकि, जिस समय प्रधानरूपसे द्रव्य विवक्षित होता है, उससमय द्रव्यसे भिन्न स्पर्शादिक कुछ भी नहीं रहते हैं, इसलिये इस विवक्षामें स्पर्शा-दिकके कर्मसाधन समझना चाहिये । जैसे, ' जो सूखा जाय ' इसप्रकारकी निरुक्ति करने पर गन्ध द्रव्यरूप ही पड़ता है । तथा जिससमय प्रधानरूपसे पर्याय विवक्षित होती है, उस समय द्रव्यसे पर्यायका भेद बन जाता है, अतएव उदासीनरूपसे अवस्थित जो भाव है, वही कहा जाता है । इसतरह स्पर्शादिकके भावसाधन भी बन जाता है । जैसे, सूखनेरूप क्रिया-धर्मको गन्ध कहते हैं ।

शंका—इन तीनों इन्द्रियोंकी उत्पत्ति किस कारणसे होती है ?

समाधान—वीर्यान्तराय और स्पर्शन, रसना तथा घ्राण-इन्द्रियावरणके क्षयोपशमके होने पर, शेष इन्द्रियावरण कर्मके सर्वधाती स्पर्धकोके उदय होने पर, आंगोपांग नामकर्मके उदयके आलम्बन होने पर और त्रीन्द्रियजाति नामकर्मके उदयकी वशवर्तितके होने पर स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं ।

जिनके चार इन्द्रियां पाई जाती हैं वे चतुरिन्द्रिय जीव होते हैं ।

शंका—वे चतुरिन्द्रिय जीव कौन कौन हैं ?

समाधान—मच्छर, मक्खी आदि चतुरिन्द्रिय जीव हैं । कहा भी है—

१ मन्धोऽयं त रा वा २ १९-२०, वा १-२ व्याख्याया समाप्त ।

२ से किं त चर्वादिद्य-ससासमानन जीवपक्वणा ? २ अणेगिहा पन्त्ता । त जहा, आविय पचिय-मच्चिय मसगा कीडे तहा पग्गे य । दकुण कुकड-उरुखह नदावत्ते य मिगिरुं ॥ रिणरुपत्ता, नील्पत्ता, लाहियपत्ता, हाहियपत्ता, झकिरुपत्ता, चित्तपक्वसा, त्रिचित्तपक्खा, ओहजलिया, जलचारिया, गर्मीरा, णीणिया, ततवा,

मात्र-अमर-महुर-मसय-मयगा य सलह-गोमच्छी ।

मच्छी सईस कीडा गेया चउरिदिया जीवा ॥ १३८ ॥

कानि तानि चत्वारिन्द्रियाणीति चेत्स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुषि । स्पर्शनरसनघ्राणानि उक्तलक्षणानि । चक्षुषः स्वरूपमुच्यते । तद्यथा, करणसाधनं चक्षुः । कुतः ? चक्षुषः पारतन्त्र्यात् । इन्द्रियाणां हि लोके पारतन्त्र्यविवक्षा दृश्यते आत्मनः स्वातन्त्र्यविवक्षायाम् । यथानेनाश्या सुष्ठु पश्यामि, अनेन कर्णेन सुष्ठु शृणोमीति । ततो वीर्यान्तराय-चक्षुषिन्द्रियावरणशयोपशमाज्ञोपाज्ञानामलाभावष्टम्भाक्षुः । अनेकार्थत्वादर्शनार्थविवक्षयां चक्षुष्यान् पश्यत्यनेनेति चक्षुः । चक्षुषः कर्तृसाधनं च भवति स्वातन्त्र्यविवक्षायाम् । इन्द्रियाणां हि लोके स्वातन्त्र्यविवक्षा च दृश्यते, यथेदं मेऽक्षि सुष्ठु पश्यति, अय मे कर्णः सुष्ठु शृणोतीति । ततः पूर्वोक्तेहस्तुसन्निधाने सति चष्ट इति चक्षुः । कोऽस्य

मकड़ी, भौरा, मधु-मस्मी, मच्छर, पतंग, शलभ, गोमस्फी, मक्खी, और दंशसे दूरेवाले कीड़ोंको चतुरिन्द्रिय जीव जानना चाहिये ॥ १३८ ॥

शंका—वे चार इन्द्रियां कौन कौन हैं ?

समाधान—स्पर्शन, रसना, घ्राण, और चक्षु ये चार इन्द्रिया हैं । इसमेंसे स्पर्शन, रसना, और घ्राणके लक्षण कहूँ अरे । अतः चक्षु-इन्द्रियका स्वरूप कहते हैं । वह इसप्रकार है । चक्षु-इन्द्रिय करणसाधन है, क्योंकि, उसकी पारतन्त्र्यविवक्षा है । जिस समय आत्माकी स्वातन्त्र्यविवक्षा होती है, उस समय लोकमें इन्द्रियोंकी पारतन्त्र्यविवक्षा देखी जाती है । जैसे, इस चक्षुसे अच्छी तरह देखता हूँ, इस कालसे अच्छी तरह सुनता हूँ । इसलिये वीर्यान्तराय और चक्षु इन्द्रियावरणके क्षयोपराम और आंगोपांग नामकर्मके उदयके लाभसे जिसके द्वारा परार्थ देगे जाने हें उसे चक्षु-इन्द्रिय कहते हैं । यद्यपि 'चक्षुः' धातु अनेक अर्थोंमें आती है, फिर भी यदा पर वीर्यरूप अर्थकी विवक्षा होनेसे 'जिसके द्वारा पदार्थको देखता है वह चक्षु है' ऐसा अर्थ लेना चाहिये । तथा स्वातन्त्र्यविवक्षामें चक्षु इन्द्रियते कर्तृसाधन भी होता है, क्योंकि, इन्द्रियोंकी लोकमें स्वातन्त्र्यविवक्षा भी देखी जाती है । जैसे, मेरी यह आस अच्छी तरह देखती है, यह मेरा कान अच्छी तरह सुनता है । इसलिये पहले कहे गये हेतुओंके मिलने पर जो देखती है उसे चक्षु-इन्द्रिय कहते हैं ।

शंका—इस इन्द्रियका विषय क्या है ?

समाधान—स्पर्शन, रसना, घ्राण, मच्छर, मणिली, जकथा, तोडा, तिया, पचिन्त्या, जणिन्त्या, मच्छी, मीलाज, तया, गामपकीडा, जे गाने तन्पारा । प्रवा १ ४६

१ विषया वेधिया गे मजिया मयगा तहा । मरु केउपरगे र दृशे उरुडो तहा ॥ कुमुदे विधिये र पदाचे र तिन् । दोरे विगारी र विपडी चिन्डोइए ॥ अजिले माहर अजिरोइए, किचिचे विचपचए । र विधिया तजारी र तंगे तततरा ॥ दय चउरिदिया एउंणरा एवगाओ ॥ उत ३६, १४७-१५०

विषयश्रेष्ठर्णः । अयं वर्णशब्दः कर्मसाधनः । यथा यदा द्रव्यं प्राधान्येन विवक्षितं तदेन्द्रियेण द्रव्यमेव सन्निकृष्यते, न ततो व्यतिरिक्तः स्पर्शादयः सन्तीत्यतस्मात् विवक्षयां कर्मसाधनत्वं स्पर्शादीनामवसीयते, वर्ण्यत इति वर्णः । यदा तु पर्यायः प्राधान्येन विवक्षितस्तदा भेदोपपत्तौदासिन्यावास्थितभावकथनाद्भावसाधनत्वं स्पर्शादीनां युज्यते वर्णनं वर्णः । कुत एतौपास्तुत्पत्तिश्रेष्ठैर्योन्तरायस्पर्शनरसनघ्राणचक्षुरावरणक्षयोपशमे सति शेषेन्द्रियसर्वत्रातिस्पर्धकोदये चाज्ञोपाज्ञानामलाभावष्टम्भे चतुरिन्द्रियजातिकर्मोदय-वशवर्तितायां च सत्यां चतुर्णामिन्द्रियाणामाविर्भावो भवेत् ।

पञ्च इन्द्रियाणि येषां ते पञ्चेन्द्रियाः । के ते ? जरायुजाण्डजादयः । उक्तं च—

सस्वेदिम-सम्मुच्छिम उन्मेदिम-ओववादिद्या चैव ।

रस-पोदह जरायुज गेया पचिदिया जीवा ॥ १३९ ॥

समाधान—वर्ण इस इन्द्रियका विषय है । यह वर्ण शब्द कर्मसाधन है । जैसे, जिस समय प्रधानरूपसे द्रव्य विवक्षित होता है, उस समय इन्द्रियसे द्रव्य का ही ग्रहण होता है, क्योंकि, उससे भिन्न स्पर्शादिक पर्यायें नहीं पाई जाती हैं । इसलिये इस विवक्षामें स्पर्शादिकके कर्मसाधन जाना जाता है । उस समय जो देखा जाय उसे वर्ण कहते हैं, ऐसी निरुक्ति करना चाहिये । तथा जिस समय पर्याय प्रधानरूपसे विवक्षित होती है, उस समय द्रव्यसे पर्यायका भेद वन जाता है, इसलिये उदासीनरूपसे अवस्थित जो भाव है, उसीका कथन किया जाता है । अतएव स्पर्शादिकके भावसाधन भी वन जाता है । उस समय देखनेरूप धर्मको वर्ण कहते हैं ऐसी निरुक्ति होती है ।

शंका—इन चारों इन्द्रियोंकी उत्पत्ति किस कारणसे होती है ?

समाधान—वीर्यान्तराय और स्पर्शन, रसना, घ्राण तथा चक्षु इन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपराम, शेष इन्द्रियावरण सर्वघाती स्पर्शकोका उदय, आंगोपांग नामकर्मके उदयका आलम्बन और चतुरिन्द्रिय जाति नामकर्मके उदयकी वशवर्तिताके होने पर चार इन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है ।

जिनके पांच इन्द्रियां होती हैं उन्हें पंचेन्द्रिय जीव कहते हैं ।

शंका—वे पंचेन्द्रिय जीव कौन कौन हैं ?

समाधान—जरायुज और अण्डज आदिक पंचेन्द्रिय जीव हैं । कहा भी है—

स्वेदज, सम्मुच्छिम, उद्रिज्ज, औपपादिक, रसज, पोल, अंडज और जरायुज, ये सब पंचेन्द्रिय जीव जानना चाहिये ॥ १३९ ॥

१ स दमाज्य त रा मा २ १९-२० मा १-२ व्याख्याना ममान ।

२ मे वेमि सतिमे तमा पाणा, त जहा, जट्या पोयया जराउजा मया मयंया सपुजिमा उभियया उवमादया, एम मगरिचि पचुज । आत्ता म् ४९. उन्पुपयधेडिमविमुपपादः । त रा मा पु. ९८ उप-

कानि तानि पञ्चेन्द्रियाणीति चेत्स्पर्शनसन्निधानचक्षुःश्रोत्राणि । इमानि स्पर्श-  
नादीनि करणसाधनानि । कुतः ? पारतन्व्यात् । इन्द्रियाणां हि लोके दृश्यते च पार-  
तन्व्यविवक्षा आत्मनः स्वातन्त्र्यविवक्षायाम्, अनेनाङ्गणा सुष्ठु पश्यामि, अनेन कर्णेन  
सुष्ठु शृणोमीति । ततो वीर्यान्तरायश्रोत्रेन्द्रियावरणक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभावप्रम्भा-  
न्वृणोत्यनेनेति श्रेयम् । कर्तृसाधनं च भवति स्वातन्त्र्यविवक्षायाम् । दृश्यते चेन्द्रियाणां  
लोके स्वातन्त्र्यविवक्षा, इदं मेऽक्षि सुष्ठु पश्यति, अयं मे कर्णः सुष्ठु शृणोतीति ।  
ततः पूर्वोक्तहेतुविविधाने सति शृणोतीति श्रेयम् । कोऽस्य विषयः ? शब्दः । यदा  
द्रव्यं प्राधान्येन विवक्षितं तदेन्द्रियेण द्रव्यमेव सन्निकृष्यते, न ततो व्यतिरिक्ताः  
स्पर्शादयः केचन सन्तीति एतस्यां विवक्षयां कर्मसाधनत्वं शब्दस्य युज्यत इति,  
शब्दत इति शब्दः । यदा तु पर्यायः प्राधान्येन विवक्षितस्तदा भेदोपपत्तेः औदासीन्याव-  
स्थितभावकथनाद्भावसाधनं शब्दः, शब्दनं शब्द इति । कुत एतेपामाविर्भाव इति चेद्वीर्यान्त-

शंका—वे पाच इन्द्रिया कौन कौन हैं ?

समाधान—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र । ये स्पर्शनादिक इन्द्रिया करण-  
साधन हैं, क्योंकि, वे परतन्व देखी जाती हैं । लोकमें आत्माकी स्वातन्त्र्यविवक्षा होने पर  
इन्द्रियोंकी पारतन्त्र्यविवक्षा देखी जाती है । जैसे, मैं इस आलसे अच्छी तरह देखता हूँ, इस  
कानसे अच्छी तरह सुनता हूँ । इसलिये वीर्यान्तराय और श्रोत्र इन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशम  
तथा आपोपांग नामकर्मके आलम्बनसे जिसके द्वारा सुना जाता है, उसे श्रोत्र-इन्द्रिय कहते  
हैं । तथा स्वातन्त्र्यविवक्षामें कर्तृसाधन होता है, क्योंकि, लोकमें इन्द्रियोंकी स्वातन्त्र्यविवक्षा भी  
देयी जाती है । जैसे, यह मेरी आल अच्छी तरह देखती है, यह मेरा कान अच्छी तरह सुनता  
है । इसलिये पहले कहे गये हेतुओंके मिलने पर जो सुनती है उसे श्रोत्र-इन्द्रिय कहते हैं ।

शंका—इसका विषय क्या है ?

समाधान—शब्द इसका विषय है । जिस समय प्रधानरूपसे द्रव्य विवक्षित होता  
है, उस समय इन्द्रियोंके द्वारा द्रव्यका ही ग्रहण होता है । उससे भिन्न स्पर्शादिक कोई चीज  
नहीं है । इस विवक्षामें शब्दके कर्मसाधनपना बन जाता है । जैसे, 'शब्दते' अर्थात् जो  
ध्वनिरूप हो वह शब्द है । तथा जिस समय प्रधानरूपसे पर्याय विवक्षित होती है, उस समय  
द्रव्यसे पर्यायका भेद सिद्ध हो जाता है, अतएव उदासीनरूपसे अवस्थित भावका कथन  
क्रिया जानेसे शब्द भावसाधन भी है । जैसे, 'शब्दतम् शब्द.' अर्थात् ध्वनिरूप क्रियाधर्मकी  
शब्द कहते हैं ।

पता-जाता उपपातजा । यथा उपाते मवा अपपातिका देवा नारकात्र । आवा नि पृ ६३ सम्पूर्णयम  
पीर्यथादिपामयपलाक्षित पत । सुक्रोगितपरिरणपुपाचनठि न सतत्त्यदश परिमडलमड, अडे जाता  
पञ्जा । जालन प्राणित्तिवण मिततमामशोणित जरावु, जतरा जाता जरावुजा । त रा वा पृ १००, १०१

२ प्रथमोऽयं त रा वा २ १९ २० वा १-२ च्चार्याभ्यां समाप्त ।

रायस्पर्शनसन्निधानचक्षुःश्रोत्रेन्द्रियावरणक्षयोपशमे सति अङ्गोपाङ्गनामलाभावप्रम्भे  
पञ्चेन्द्रियजातिकर्मोदयवशवर्तितयां च सत्यां पञ्चानामिन्द्रियाणामाविर्भावो भवेदिति ।  
नेदं व्याख्यानमत्र प्रधानम्, 'एकद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियजातिनामकर्मोदयोदेकद्वित्रिचतुःपञ्चे-  
न्द्रिया भवन्ति' इति भाष्येण सह विरोधात् । ततः एकेन्द्रियजातिनामकर्मोदयादेकेन्द्रियः,  
द्वीन्द्रियजातिनामकर्मोदयाद् द्वीन्द्रियः, त्रीन्द्रियजातिनामकर्मोदयात्त्रीन्द्रियः, चतुरिन्द्रिय  
जातिनामकर्मोदयात्चतुरिन्द्रियः, पञ्चेन्द्रियजातिनामकर्मोदयात्पञ्चेन्द्रियः, एषोऽर्थोऽयं  
प्रधानं निरवद्यत्वात् ।

न सन्तीन्द्रियाणि येषां तेऽनिन्द्रियाः । के ते ? अशरीराः सिद्धाः । उक्तं च—

ण वि इदिय-करण-सुदा अवगहादीहि गाहया अथे ।

णत्र य इदिय सोक्खा अणियणत-गण-सुहा ॥ १४० ॥

तेषु सिद्धेषु भावेन्द्रियस्योपयोगस्य सत्त्वात्सेन्द्रियास्त इति चेन्न, क्षयोपशमजनि-

शंका—इन पांचों इन्द्रियोंकी उत्पत्ति कैसे होती है ?

समाधान—वीर्यान्तराय और स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु तथा श्रोत्रेन्द्रियावरण  
कर्मके क्षयोपशम होने पर, आपोपांग नामकर्मके आलम्बन होने पर, तथा पञ्चेन्द्रियजाति  
नामकर्मके उदयकी वशवर्तितके होने पर पांचों इन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है । फिर भी  
वीर्यान्तराय और स्पर्शन इन्द्रियावरण आदिके क्षयोपशमसे एकेन्द्रिय आदि जीव होते हैं,  
यह व्याख्यान यहा पर प्रधान नहीं है, क्योंकि, 'एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय  
और पञ्चेन्द्रियजाति नामकर्मके उदयसे एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय-  
जीव होते हैं' भावसुगमके इस कथनसे पूर्वोक्त कथनका विरोध आता है । इसलिये एकेन्द्रिय-  
जाति नामकर्मके उदयसे एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रियजाति नामकर्मके उदयसे द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रियजाति  
नामकर्मके उदयसे त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रियजाति नामकर्मके उदयसे चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय-  
जाति नामकर्मके उदयसे पञ्चेन्द्रिय जीव उत्पन्न होते हैं, यही अर्थ यहां पर प्रधान है, क्योंकि,  
यह कथन निर्दोष है ।

जिनके इन्द्रियां नहीं पाई जाती हैं उन्हें अनिन्द्रिय जीव कहते हैं ।

शंका—वे कौन हैं ?

समाधान—शरीररहित सिद्ध अनिन्द्रिय है । कहा भी है—

वे सिद्ध जीव इन्द्रियोंके व्यापारसे युक्त नहीं हैं और अवग्रहादिक आयोपशमिक ज्ञानके  
द्वारा पदार्थको ग्रहण नहीं करते हैं । उनके इन्द्रिय-सुख भी नहीं है, क्योंकि, उनका अनन्त  
ज्ञान और अनन्त सुख अनिन्द्रिय है ॥ १४० ॥

शंका—उन सिद्धोंमें भावेन्द्रिय और तज्जन्त उपयोग पाया जाता है, इसलिये वे  
इन्द्रियसहित हैं ?

नान्योपयोग्येन्द्रियत्वान् । न च क्षीणोपकर्मसु सिद्धेषु क्षयोपशमोऽस्ति तस्य क्षायिक-  
भावेनापमानित्वान् ।

एकेन्द्रियनिरूपणप्रतिपादनार्थमुत्तरखण्डमाह—

पञ्चिन्द्रिया दुर्विहा, वादरा सुहुमा । वादरा दुर्विहा, पञ्जता  
अपञ्जता । सुहुमा दुर्विहा, पञ्जता अपञ्जता ॥ ३४ ॥

एकेन्द्रियाः द्विविधाः, वादराः सूक्ष्मा इति । वादरशब्दः स्थूलपर्यायः स्थूलत्वं  
चानियतम्, ततो न ज्ञायते के स्थूला इति । चक्षुर्ग्राह्याश्चैव, अचक्षुर्ग्राह्याणां स्थूलानां  
सङ्गतोपपत्तेः । अचक्षुर्ग्राह्याणामपि वादरत्वे सूक्ष्मवादराणामविशेषः सादिति चेन्न,  
आपिन्मन्यमानसमात् । न वादरशब्दोऽयं स्थूलपर्यायः, अपि तु वादरनाम्नः कर्मणो  
प्राप्तकः । तदुद्यमगहनरितत्वाज्जीवोऽपि वादरः । शरीरस्य स्थौल्यनिर्वर्तिकं कर्म वादर-

समाधान— नर्ही, क्योंकि, क्षयोपरामसे उत्पन्न हुए उपयोगको इन्द्रिय कहते हैं ।  
परन्तु जिनके सपूर्ण कर्म क्षीण हो गये हैं, ऐसे निद्रोंमें क्षयोपशम नहीं पाया जाता है, क्योंकि,  
यह शायिक भावके द्वारा दूर कर दिया जाता है ।

अत्र एकेन्द्रिय जीवोंके भेदोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

एकेन्द्रिय जीव दो प्रकारके हैं, वादर और सूक्ष्म । वादर एकेन्द्रिय दो प्रकारके हैं,  
पर्याप्त और अपर्याप्त । सूक्ष्म एकेन्द्रिय दो प्रकारके हैं, पर्याप्त और अपर्याप्त ॥ ३४ ॥

एकेन्द्रिय जीव वादर और सूक्ष्मके भेदसे दो प्रकारके हैं ।

शंका— वादर शब्द स्थूलता पर्यायवाची है, और स्थूलताका स्वरूप कुछ नियत  
नहीं है, इसलिये यह मालूम नहीं पड़ता है, कि कौन कौन जीव स्थूल हैं । जो चक्षु इन्द्रियके  
द्वारा ग्रहण करते योग्य हैं वे स्थूल हैं, यदि ऐसा कहा जाये सो भी नहीं बनता है, क्योंकि,  
ऐसा मानने पर, जो स्थूल जीव चक्षु इन्द्रियके द्वारा ग्रहण करते योग्य नहीं हैं उन्हें सूक्ष्म-  
पनेकी प्राप्ति हो जायगी । और जिनका चक्षु इन्द्रियसे ग्रहण नहीं हो सकता है ऐसे जीवोंको  
वादर मान लेने पर सूक्ष्म और वादरोंमें कोई भेद नहीं रह जाता है ?

समाधान— नर्ही, क्योंकि, यह आशका आपके स्वरूपकी अनभिज्ञताकी द्योतक है ।  
यह वादर शब्द स्थूलता पर्यायवाची नहीं है, किन्तु वादर नामक नामकर्मका वाचक है, इसलिये  
उस वादर नामकर्मके उद्यमेके सम्बन्धसे जीव भी वादर कहा जाता है ।

शंका— शरीरकी स्थूलताको उत्पन्न करनेवाले कर्मको वादर और सूक्ष्मताको उत्पन्न  
करनेवाले कर्मको सूक्ष्म कहते हैं । तथापि कि जो चक्षु इन्द्रियके द्वारा ग्रहण करने योग्य नहीं है

सुच्यते । सौक्ष्म्यनिर्वर्तिकं कर्म सूक्ष्मम् । तथापि चक्षुषोऽप्राप्तं सूक्ष्मशरीरम्, तद्ग्राह्यं  
वादरमिति तद्वत्तां तद्व्यपदेशो हठादास्फुन्देत् । ततश्चक्षुर्ग्राह्या वादराः, अचक्षुर्ग्राह्याः  
सूक्ष्मा इति तेषामेताभ्यामेव भेदः समापतदन्यथा तेषामविशेषतापत्तेरिति चेन्न, स्थूलाश्च  
भवन्ति चक्षुर्ग्राह्याश्च न भवन्ति, को विरोधः स्यात् ? सूक्ष्मजीवशरीरादसंख्येयगुणं शरीरं  
वादरम्, तद्वन्तो जीवाश्च वादराः । ततोऽसंख्येयगुणहीनं शरीरं सूक्ष्मम्, तद्वन्तो जीवाश्च  
सूक्ष्मा उपचारादित्यपि कल्पना न साध्या, सर्वजन्यवादराज्जात्सूक्ष्मकर्मनिर्वर्तितस्य सूक्ष्म-  
शरीरस्यासंख्येयगुणत्नतोऽनेकान्तात् । ततो वादरकर्मोदयवन्तो वादराः, सूक्ष्मकर्मोदयवन्तः  
सूक्ष्मा इति सिद्धम् । कोऽनयोः कर्मणोरुदययोर्भेदश्चेन्मूर्तेरन्यैः प्रतिहन्यमानशरीरनिर्वर्तिको  
वादरकर्मोदयः, अप्रतिहन्यमानशरीरनिर्वर्तिकः सूक्ष्मकर्मोदय इति तयोर्भेदः । सूक्ष्मत्वा-

वह सूक्ष्म शरीर है, और जो उसके द्वारा ग्रहण करने योग्य है वह वादर शरीर है, अतः सूक्ष्म और  
वादर कर्मके उदयवाले सूक्ष्म और वादर शरीरसे युक्त जीवोंको सूक्ष्म और वादर सखा हउत्  
प्राप्त हो जाती है । इससे यह सिद्ध हुआ कि जो चक्षुसे ग्राह्य है वे वादर हैं, और जो चक्षुसे  
अग्राह्य हैं वे सूक्ष्म हैं । सूक्ष्म और वादर जीवोंके इन उपर्युक्त लक्षणोंसे ही भेद प्राप्त हो गया ।  
यदि उपर्युक्त लक्षण न माने जाय, तो सूक्ष्म और वादरोंमें कोई भेद नहीं रह जाता है ?

समाधान— ऐसा नहीं है, क्योंकि, स्थूल तो हों और चक्षुसे ग्रहण करने योग्य न हों,  
इस रूपमें क्या विरोध है ।

शंका— सूक्ष्म शरीरसे असंख्यातगुणी अधिक अवगाहनावाले शरीरको वादर कहते  
हैं, और उस शरीरसे युक्त जीवोंको उपचारसे वादर जीव कहते हैं । अथवा, वादर शरीरसे  
असंख्यातगुणी हीन अवगाहनावाले शरीरको सूक्ष्म कहते हैं, और उस शरीरसे युक्त जीवोंको  
उपचारसे सूक्ष्म जीव कहते हैं ?

समाधान— यह कल्पना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, सबसे जगन्मय वादर शरीरसे सूक्ष्म  
नामकर्मके द्वारा निर्मित सूक्ष्म शरीरकी अवगाहना असंख्यातगुणी होनेसे ऊपरके कथनमें अने-  
कान्त दोष आता है । इसलिये जिन जीवोंके वादर नामकर्मका उदय पाया जाता है वे वादर हैं,  
और जिनके सूक्ष्म नामकर्मका उदय पाया जाता है वे सूक्ष्म हैं, यह बात सिद्ध हो जाती है ।

शंका— सूक्ष्म नामकर्मके उदय और वादर नामकर्मके उदयमें क्या भेद है ?

समाधान— वादर नामकर्मका उदय दूसरे मूर्ते पदार्थोंसे आघात करने योग्य शरीरको

१ यदुद्यमद्वयमावासरशीरममति तत् वादरनाम । त्मशरीरनिर्वर्तिकं सूक्ष्मनाम । गो क, जी म, टी ३३.  
न सि. ८-२१

२ यदुद्यम जीवाना चक्षुर्ग्राह्यशरीरत्वात्सूक्ष्म वादरममति तत् वादरनाम, पृथिव्यादेरेकैकगणस्य चक्षुर्ग्राहि-  
त्वामात्रेऽपि वादरत्वपरिणामविशेषात् ननु नी मुद्यमै चक्षुषा ग्रहण ममति । तद्विपरीत म्भयनाम, यदुद्यमत् वादर-  
समुदितानामपि जन्तुशरीराणां चक्षुर्ग्राह्यता न भवति । क म पृ ७

३ वादरसुदुपव्येण य वादरसुहुमा इति तद्वद् । वादरशरीर थूल जगद्भेदं ह्ये सुहुम ॥ गो. जी १८३



सूक्ष्मजीवानां शरीरमन्येन मूर्तद्रव्यैरभिहन्यते ततो न तत्प्रतिघातः सूक्ष्मकर्मणो विपाकादिति चेन्न, अन्यैरप्रतिहन्यमानत्वेन प्रतिलब्धसूक्ष्मव्यपदेशभाजः सूक्ष्मशरीरादसंख्येयगुणहीनस्य चादरकर्मोदयतः प्राप्तवादरव्यपदेशस्य सूक्ष्मत्वं प्रत्यविशेषतोऽप्रतिघाततापत्तेः । अस्तु चेन्न, सूक्ष्मवादरकर्मोदययोराविशेषतापत्तेः । सूक्ष्मशरीरोपादायकः सूक्ष्मकर्मोदयश्चेन्न, तस्मादप्यसंख्येयगुणहीनस्य वादरकर्मनिर्वर्तितस्य शरीरस्योपलम्भात् । तत्कृतोऽवसीयत इति चेद्वेदानां क्षेत्रविधानसूत्रात् । तद्यथा—

‘सर्वतथोवा सुहुमणिगोदजीवअपज्जत्तयस्स जहणिया ओगाहणा । सुहुमवाउ-सुहुमतेउ-सुहुमआउ-सुहुमपुढवि-अपज्जत्तयस्स जहणिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा ।

उत्पन्न करता है । और सूक्ष्म नामकर्मका उदय दूसरे मूर्त पदार्थोंके द्वारा आघात नहीं करने योग्य शरीरको उत्पन्न करता है । यही उन दोनोंमें भेद है ।

शंका—सूक्ष्म जीवोंका शरीर सूक्ष्म होनेसे ही अन्य मूर्त द्रव्योंके द्वारा आघातको प्राप्त नहीं होता है, इसलिये मूर्त द्रव्योंके साथ प्रतिघातका नहीं होना सूक्ष्म नामकर्मके उदयसे नहीं मानना चाहिये ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, ऐसा मानने पर दूसरे मूर्त पदार्थोंके द्वारा आघातको नहीं प्राप्त होनेसे सूक्ष्म सबको प्राप्त होनेवाले सूक्ष्म शरीरसे असत्यातगुणी हीन अवगाहनावाले, और बादर नामकर्मके उदयसे बादर सबको प्राप्त होनेवाले बादर शरीरकी सूक्ष्मताके प्रति कोई विशेषता नहीं रह जाती है, अतएव उसका भी मूर्त पदार्थोंसे प्रतिघात नहीं होगा ऐसी आपत्ति आजायगी ।

शंका—आजाने दो ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, ऐसा मानने पर सूक्ष्म और बादर नामकर्मके उदयमें फिर कोई विशेषता नहीं रह जायगी ।

शंका—सूक्ष्म नामकर्मका उदय सूक्ष्म शरीरको उत्पन्न करनेवाला है, इसलिये उन दोनोंके उदयमें भेद है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, सूक्ष्म शरीरसे भी असंख्यातगुणी हीन अवगाहनावाले और बादर नामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुए बादर शरीरकी उपलब्धि होती है ।

शंका—यह कैसे जाना ?

समाधान—वेदना नामक चौथे खण्डागमके क्षेत्रासुयोगद्वारसबन्धी निम्न सूत्रोंसे जाना जाता है । वे इसप्रकार हैं—

सूक्ष्म निगोदिया लब्धपर्याप्तक जीवकी जघन्य अवगाहना सबसे स्तोत्र ( थोड़ी ) है । सूक्ष्म वायुकायिक, सूक्ष्म अशिकायिक, सूक्ष्म जलकायिक और सूक्ष्म पृथिवीकायिक लब्धपर्याप्तक जीवोंकी जघन्य अवगाहना सूक्ष्म निगोदिया लब्धपर्याप्तककी जघन्य अवगाहनासे

चादरवाल-चादरतेउ-चादरआउ-चादरपुढवि-चादरणिगोदजीव-चादरवणफ्फादिकाइयपत्तेय-सरीर-अपज्जत्तयस्स जहणिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा । वेइदिय-तेइदिय-चउरिदिय-पंचिदिय-अपज्जत्तयस्स जहणिया ओगाहणा अमसेज्जगुणा । सुहुम-णिगोद-पज्जत्तयस्स जहणिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा । तस्सेव अपज्जत्तयस्स उक्कस्सियया ओगाहणा विसेसाहिया । तस्सेव अपज्जत्तयस्स उक्कस्सियया ओगाहणा विसेसाहिया । सुहुमवाउ-काइय-सुहुमतेउ-काइय-सुहुमआउ-काइय-सुहुमपुढवि-काइय-पज्जत्तयस्स जहणिया-ओगाहणा असंखेज्जगुणा । तस्सेव अपज्जत्तयस्स उक्कस्सियया ओगाहणा विसेसाहिया । तस्सेव पज्जत्तयस्स उक्कस्सियया ओगाहणा विसेसाहिया । चादरवाल-काइय-चादरतेउ-काइय-चादर-आउ-काइय-चादरपुढवि-काइय-चादरणिगोदजीव-पज्जत्तयस्स जहणिया ओगाहणा असंखेज्जगुणा । तस्सेव अपज्जत्तयस्स उक्कस्सियया ओगाहणा विसेसाहिया । तस्सेव पज्जत्तयस्स उक्कस्सियया ओगाहणा विसेसाहिया । 'चादरवणफ्फादिकाइयपत्तेय-

उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी है । सूक्ष्म पृथिवीकायिक लब्धपर्याप्तक जीवकी जघन्य अवगाहनासे बादर वायुकायिक, बादर अशिकायिक, बादर जलकायिक, बादर पृथिवीकायिक, बादरनिगोद और सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिकायिक लब्धपर्याप्तक जीवोंकी जघन्य अवगाहना उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी है । सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिकायिक लब्धपर्याप्तक जीवकी जघन्य अवगाहनासे अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिकायिक, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय लब्धपर्याप्तक जीवोंकी जघन्य अवगाहना उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी है । लब्धपर्याप्तक पंचेन्द्रिय जीवकी जघन्य अवगाहनासे सूक्ष्म निगोदिया पर्याप्तककी जघन्य अवगाहना असंख्यातगुणी है । इससे सूक्ष्म निगोदिया लब्धपर्याप्तककी उत्कृष्ट अवगाहना कुछ अधिक है । इससे सूक्ष्म निगोदिया पर्याप्तककी उत्कृष्ट अवगाहना कुछ अधिक है । इससे सूक्ष्म वायुकायिक अपर्याप्तकी उत्कृष्ट अवगाहना विशेष अधिक है । इसीतरह सूक्ष्म वायुकायिक पर्याप्तकी उत्कृष्ट अवगाहना विशेष अधिक है । इसीतरह सूक्ष्म अशिकायिक, उससे सूक्ष्म जलकायिक, उससे सूक्ष्म पृथिवीकायिकसबन्धी प्रत्येककी क्रमसे पर्याप्त, अपर्याप्त और पर्याप्तसम्बन्धी जघन्य, उत्कृष्ट और उत्कृष्ट अवगाहना उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी, विशेषाधिक और विशेषाधिक समझ लेना चाहिये । इसीतरह सूक्ष्मपृथिवीकायिक पर्याप्तकी उत्कृष्ट अवगाहनासे बादर वायुकायिक, उससे बादर अशिकायिक, उससे बादर जलकायिक, उससे बादर पृथिवीकायिक, उससे बादर निगोद जीव और उससे निगोदप्रतिष्ठित वनस्पतिकायिकसम्बन्धी प्रत्येककी क्रमसे पर्याप्त, अपर्याप्त और पर्याप्तसम्बन्धी जघन्य, उत्कृष्ट और उत्कृष्ट अवगाहना उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी, विशेषाधिक और विशेषाधिक समझना चाहिये । सप्रतिष्ठित प्रत्येककी उत्कृष्ट

१ चादरणिगोदपट्टिद्वयज्जाता निमित्ति सुवर्णिं ण वृत्ता ? ण, तेमि पत्तेयमरोए उतत्थावादो ।  
बला अ पृ २५०



शरीरपञ्चतयस्य जहणिया ओगाहणा अमरोज्जगुणा । वेद्दिय-पञ्चतयस्य जहणिया ओगाहणा अमरोज्जगुणा । तेद्दिय-चउरिदिय-यच्चिय-पञ्चतयस्य जहणिया ओगाहणा संखेज्जगुणा । तेद्दिय-चउरिदिय-वेद्दिय-वादरवणफाटिकाइयपत्तेयशरीर-पंचिदिय-अपज-तयस्य उक्कसिया ओगाहणा संखेज्जगुणा । तस्सेव पञ्चतयस्य वि संखेज्जगुणा' चि ।

पंमूर्तद्वयैरप्रतिहन्यमानशरीरनिर्वर्तकं सूक्ष्मकर्म । तद्विपरीतशरीरनिर्वर्तकं वादर-कर्मति स्थितम् । तत्र वादराः सूक्ष्माश्च द्विविधाः, पर्याप्ताः अपर्याप्ता इति । पर्याप्त-

अवगाहनासे वादर वनस्पतिकार्यिक प्रत्येकशरीर पर्याप्तकर्मकी जघन्य अवगाहना असंख्यात-गुणी है । इससे इन्द्रिय पर्याप्तकी जघन्य अवगाहना असंख्यात गुणी है । इससे त्रिन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय पर्याप्तकी जघन्य अवगाहना उत्तरोत्तर संख्यातगुणी है । पंचेन्द्रिय पर्याप्तकी जघन्य अवगाहनासे त्रिन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, इन्द्रिय, वादर वनस्पतिकार्यिक प्रत्येक-शरीर और पंचेन्द्रिय अपर्याप्तकी उरुहण अवगाहना उत्तरोत्तर संख्यातगुणी है । पंचेन्द्रिय अपर्याप्तकी उरुहण अवगाहनासे त्रिन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, इन्द्रिय, वादर वनस्पतिकार्यिक प्रत्येक-शरीर और पंचेन्द्रिय पर्याप्तकी उरुहण अवगाहना उत्तरोत्तर संख्यातगुणी है ।

इस उपर्युक्त कथनसे यह बात सिद्ध हुई कि जिसका मूर्त पदार्थसे प्रतिघात नहीं होता है उसे शरीरको निर्माण करनेवाला सूक्ष्म नामकर्म है, और उससे विपरीत अर्थात् मूर्त पदार्थसे प्रतिघातको प्राप्त होनेवाले शरीरको निर्माण करनेवाला वादर नामकर्म है ।

विशेषार्थ — ऊपर जो सूक्ष्म निर्गोदिया लब्धपर्याप्तकर्मकी जघन्य अवगाहनासे लेकर पंचेन्द्रिय पर्याप्ततक जीवोंकी उरुहण अवगाहनाका क्रम बतला आये हैं, उसे देखते हुए यह सिद्ध होता है कि सूक्ष्म जीवोंकी मध्यम अवगाहना वादरोंसे भी अधिक होती है । इसलिये छोटी मरी अवगाहनासे स्थूलता और सूक्ष्मता न मानकर स्थूल और सूक्ष्म कर्मके उदयसे सम्प्रियात और अप्रतिघातवाले शरीरको वादर और सूक्ष्म कहते हैं । तथा ऊपर जो वेदनाखण्डके सूत्र उद्भूत किये हैं उनमें सम्प्रतिष्ठित वादर वनस्पतिसे अप्रतिष्ठित वादर वनस्पतिका स्थान स्वतंत्र माना है । फिर भी यहाँ 'सन्वयोवा' इत्यादि उद्भूत सूत्रमें सम्प्रतिष्ठितके स्थानको अप्रतिष्ठितके स्थानमें अन्तर्भूत करके सम्प्रतिष्ठित वनस्पतिका स्वतंत्र स्थान नहीं बतलाया है ।

इसमें, वादर और सूक्ष्म दोनों ही प्रत्येक दो दो प्रकारके हैं, पर्याप्त और अपर्याप्त ।

१ । ग म २१-१३ सुमनित्तेआमृतेआणुणपिट्ठि इदर । तित्तिपमादिल्लण पुयाराण तित्ति य ॥ अपमिउपपंचेय तित्तिपत्तित्तिअपिट्ठि मयल । तित्तिअपिट्ठि च य मयल तालगुणित्ठमा ॥ अरुणपण पदम गेत्त तुल तित्तिअपिट्ठि । पुणित्ठपुण्यण जहणपुण्णमुत्त ॥ पुण्णजहण ततो वर अणुणत्त उअसस । चोणुणत्तो पि अमत्त सण गण तवो ॥ सहमेदरगुणारो आबल्लियन्त्वा असखमाणो इ । मत्तो तेऽय्या भिया त्तेणभियाणो ॥ गो ती १७-१०२.

कर्मोदयवन्तः पर्याप्ताः । तदुदयवन्तमनिष्पन्नशरीराणा कथं पर्याप्तव्यपदेशो घटत इति चेन्न, नियमेन शरीरनिष्पादकानां भाविनि भूतवदुपचारतस्तदविरोधात् पर्याप्त-नामकर्मोदयसहचारात् । यदि पर्याप्तवशब्दो निष्पात्तिवाचकः, कैसे निष्पन्नाः इति चेत्पर्याप्तिभिः । क्रियत्यस्ताः इति चेत्सामान्येन पद् भवन्ति, आहारपर्याप्तिः शरीर-पर्याप्तिः इन्द्रियपर्याप्तिः आनापानपर्याप्तिः भाषापर्याप्तिः मन पर्याप्तिरिति ।

तत्राहारपर्याप्तेरर्थ उच्यते । शरीरनामकर्मोदयात् पुद्गलविपाकिन आहारवर्णा-गतपुद्गलस्कन्धाः समवेतान्तपरमाणुनिष्पादिता आत्मविषयक्षेत्राः कर्मस्कन्धस्मन्व्यथो मूर्तीभूतमात्मानं समवेतत्वेन समाश्रयन्ति । तेषामुपगतानां पुद्गलस्कन्धानां खलरापर्यायैः यरिणमनशक्तेर्निमित्तानामाप्तिराहारपर्याप्तिः । सा च नान्तमुद्दृतमन्तरेण समयैकैकैर्नोप-जायते आत्मनोऽक्रमेण तथाविधपरिणामाभावाच्छरीरोपादानप्रथमसमायादारभ्यान्तमुद्दृतै-उतमैसे जो पर्याप्त नामकर्मके उदयसे युक्त हैं उन्हें पर्याप्त कहते हैं ।

शंका — पर्याप्त नामकर्मके उदयसे युक्त होते हुए भी जब तक शरीर निष्पन्न नहीं हुआ है तब तक उन्हें पर्याप्त कैसे कह सकते हैं ?

समाधान — नहीं, क्योंकि, नियमसे शरीरको उत्पन्न करनेवाले जीवोंके, होनेवाले कार्यमें यह कार्य हो गया, इसप्रकार उपचार कर लेनेसे पर्याप्त संज्ञा करनेमें कोई विरोध नहीं आता है । अथवा, पर्याप्त नामकर्मके उदयसे युक्त होनेके कारण पर्याप्त संज्ञा दी गई है ।

शंका — यदि पर्याप्त शब्द निष्पात्ति वाचक है तो यह बतलाइये कि ये पर्याप्तजीव किससे निष्पन्न होते हैं ।

समाधान — पर्याप्तियोंसे निष्पन्न होते हैं ।

शंका — वे पर्याप्तियां कितनी हैं ?

समाधान — सामान्यकी अपेक्षा छह हैं, आहारपर्याप्ति, शरीरपर्याप्ति, इन्द्रिय-पर्याप्ति, आनापानपर्याप्ति, भाषापर्याप्ति और मनःपर्याप्ति । इनमेंसे, पहले आहारपर्याप्तिका अर्थ कहते हैं । शरीर नामकर्मके उदयसे जो परस्पर अनन्त परमाणुओंके संवन्धसे उत्पन्न हुए हैं, और जो आत्मासे व्याप्त आकाश क्षेत्रमें स्थित हैं ऐसे पुद्गलविपाकी आहारवर्णा-सवन्धी पुद्गलस्कन्ध, कर्मस्कन्धके संवन्धसे कथंचित् मूर्तपनेको प्राप्त हुए आत्माके साथ समवायरूपसे संवन्धको प्राप्त होते हैं, उन खल-भ्रग और रस भागके भेदसे परिणमन करनेरूप शक्तिसे बने हुए आगत पुद्गलस्कन्धोंकी प्रतिको आहारपर्याप्ति कहते हैं । वह आहारपर्याप्ति अन्तर्मुद्दृतके विना केवल एक समयमें उत्पन्न नहीं हो जाती है, क्योंकि, आत्माका एकसाय आहारपर्याप्तिरूपसे परिणमन नहीं हो सकता है । इसलिये शरीरको ग्रहण करनेके प्रथम समयसे लेकर एक अन्तर्मुद्दृतमें आहारपर्याप्ति निष्पन्न होती है । तिलकी रलीके

नाहारपर्याप्तिनिष्पद्यत' इति यावत् । तं खलभागं तिलखलोपममस्थ्यादिस्थिरावयवैस्ति-  
तैलसमानं रसभागं रसरुधिरवसाशुक्रादिद्रवावयवैरौदारिकादिशरीरत्रयपरिणामशक्त्युपेतानां  
स्कन्धानामवाप्तिः शरीरपर्याप्तिः । साहारपर्याप्तेः पश्चादन्तर्मुहूर्तेन निष्पद्यते । योग्य-  
देशस्थितरूप्यादिविशिष्टार्थग्रहणशक्त्युत्पत्तेर्निमित्तपुद्गलप्रचयावाप्तिरिन्द्रियपर्याप्तिः । सापि  
ततः पश्चादन्तर्मुहूर्तदुपजायते । न चेन्द्रियनिष्पत्तौ सत्यामपि तस्मिन् क्षणे बाह्यार्थ-  
विषयविज्ञानसुरद्यते तदा तदुपकरणभावात् । उच्छ्वासनिस्सरणशक्तेर्निष्पत्तिनिमित्त-  
पुद्गलप्रचयावाप्तिरानापानपर्याप्तिः । एषापि तस्मादन्तर्मुहूर्तकाले समतीते भवेत् । भाषा-  
वर्णनायाः स्कन्धाच्चतुर्विधभाषाकारेण परिणमनशक्तेर्निमित्तनोकर्मपुद्गलप्रचयावाप्तिर्भाषा-  
पर्याप्तिः । एषापि पश्चादन्तर्मुहूर्तदुपजायते । मनोवर्णनास्कन्धानिष्पन्नपुद्गलप्रचयः अनु-  
भूतार्थस्मरणशक्तिनिमित्तः मनःपर्याप्तिः द्रव्यमनोऽवष्टम्भेनानुभूतार्थस्मरणशक्तेरुत्पत्ति-  
र्भेनःपर्याप्तिर्वा । एतासां प्रारम्भोऽक्रमेण जन्मसमयादारभ्य तासां सत्त्वाभ्युपगमात् ।

समान उस खलभागको हड्डी आदि कठिन अवयवरूपसे और तिलके तेलके समान रसभागको  
रस, रुधिर, वसा, वीर्य आदि द्रव अवयवरूपसे परिणमन करनेवाले औदारिक आदि तीन  
शरीरोंकी शक्तिसे युक्त पुद्गलस्कन्धोंकी प्राप्तिको शरीर पर्याप्ति कहते हैं । वह शरीर पर्याप्ति  
आहार पर्याप्तिके पश्चात् एक अन्तर्मुहूर्तमें पूर्ण होती है । योग्य देशमें स्थित  
रूपादिसे युक्त पदार्थके ग्रहण करनेरूप शक्तिकी उत्पत्तिके निमित्तभूत  
पुद्गलप्रचयकी प्राप्तिको इन्द्रियपर्याप्ति कहते हैं । यह इन्द्रिय पर्याप्ति भी शरीर पर्याप्तिके  
पश्चात् एक अन्तर्मुहूर्तमें पूर्ण होती है । परन्तु इन्द्रिय पर्याप्तिके पूर्ण हो जाने पर भी उसी  
समय बाह्य पदार्थसंबन्धी ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है, क्योंकि, उस समय उसके उपकरणरूप  
द्रव्येन्द्रिय नहीं पाई जाती है । उच्छ्वास और निःश्वासरूप शक्तिकी पूर्णताके निमित्तभूत  
पुद्गलप्रचयकी प्राप्तिको आनापान पर्याप्ति कहते हैं । यह पर्याप्ति भी इन्द्रिय पर्याप्तिके अन-  
न्तर एक अन्तर्मुहूर्त काल व्यतीत होने पर पूर्ण होगी । भाषावर्णनाके स्कन्धोंके निमित्तसे  
चार प्रकारकी भाषारूपसे परिणमन करनेकी शक्तिके निमित्तभूत नोकर्म पुद्गलप्रचयकी  
प्राप्तिको भाषा पर्याप्ति कहते हैं । यह पर्याप्ति भी आनापान पर्याप्तिके पश्चात् एक अन्तर्मुहू-  
र्तमें पूर्ण होती है । अनुभूत अर्थके स्मरणरूप शक्तिके निमित्तभूत मनोवर्णनाके स्कन्धोंसे  
निष्पन्न पुद्गलप्रचयको मनःपर्याप्ति कहते हैं । अथवा, द्रव्यमनके आलम्बनसे अनुभूत अर्थके  
स्मरणरूप शक्तिकी उत्पत्तिको मन पर्याप्ति कहते हैं । इन छहों पर्याप्तियोंका प्रारम्भ युगपत्

<sup>१</sup> आहारपर्याप्तिश्च ग्रथसमन एव निष्पद्यते XXX आहारपर्याप्त्या अपर्याप्ती विग्रहयतावेतोत्पद्यते  
नेपपातक्षेनमागतोऽपि, उपपातक्षेनमागतस्य ग्रथसमन एवाहारपर्याप्तिर्वा । तत एकमासायिकी आहारपर्याप्तिर्नृति ।  
न स १७ टी

२ गो जी गा ११९ न सू. १७ अन्तर्मुहूर्तानि विशेषानुसन्धानाय दृष्टव्या ।

निष्पत्तिस्तु पुनः क्रमेण । एतासामनिष्पत्तिरपर्याप्तिः ।

पर्याप्तिप्राणयोः को भेद इति चेन्न, अनयोर्हिमवद्विन्ध्ययोरिव भेदोपलम्भात् । यत्  
आहारशरीरेन्द्रियानापानभाषामनःशक्तीनां निष्पत्तेः कारणं पर्याप्तिः । प्राणिति एभिरात्मेति  
प्राणाः पञ्चेन्द्रियमनोवाक्कायानापानार्थेषु इति । भवन्त्विन्द्रिययुक्त्वायाः प्राणव्यपदेश-  
भाजः तेषामाजन्मन आमरणाद्भवधरणत्वेनोपलम्भात् । तत्रैकस्याप्यभावतोऽसुमतां मरण-  
संदर्शनाच्च । अपि तूच्छ्वासमनोवचसां न प्राणव्यपदेशो युज्यते तान्यन्तेरापि अपर्याप्ता-  
वस्थयां जिनोपलम्भादिति चेन्न, तैर्विना पश्चाज्जीवतामनुपलम्भतस्तेषामपि प्राणत्वा-  
विरोधात् । उक्तं च—

बाहिर-पाणेहि जहा तहेव अबन्तरेहि पाणेहि ।

जीवति नेहि जीवा पाणा ते होति बोद्धव्यौ ॥ १४१ ॥

होता है, क्योंकि, जन्म समयसे लेकर ही इनका अस्तित्व पाया जाता है । परन्तु पूर्णता क्रमसे  
होती है । तथा इन पर्याप्तियोंकी अपूर्णताको अपर्याप्ति कहते हैं ।

शंका — पर्याप्ति और प्राणमें क्या भेद है ?

समाधान — नहीं, क्योंकि, इनमें हिमवान् और विन्ध्याचल पर्वतके समान भेद पाया  
जाता है । आहार, शरीर, इन्द्रिय, आनापान, भाषा और मनरूप शक्तियोंकी पूर्णताके कारणको  
पर्याप्ति कहते हैं । और जिनके द्वारा आत्मा जीवन संज्ञाको प्राप्त होता है उन्हें प्राण कहते  
हैं । यही इन दोनोंमें भेद है । वे प्राण पाच इन्द्रिया मनोबल, वचनबल कायबल, आनापान और  
आयुके भेदसे दश प्रकारके हैं

शंका—पांचों इन्द्रिया, आयु और कायबल ये प्राण सत्त्वाको प्राप्त हो सकते हैं,  
क्योंकि, वे जन्मसे लेकर मरणतक भव ( पर्याय ) को धारण करनेरूपसे पाये जाते हैं । और  
उनमेंसे किसी एकके अभाव होने पर मरण भी देखा जाता है । परन्तु उच्छ्वास, मनोबल और  
वचनबल इनको प्राण सत्त्वा नहीं दी जा सकती है, क्योंकि, इनके विना भी अपर्याप्त अवस्थामें  
जीवन पाया जाता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, उच्छ्वास, मनोबल और वचनबलके विना अपर्याप्त  
अवस्थायके पश्चात् पर्याप्त अवस्थामें जीवन नहीं पाया जाता है, इसलिये उन्हें प्राण माननेमें  
कोई विरोध नहीं आता है । कहा भी है—

जिसप्रकार नेत्रोंका खोलना, बन्द करना, वचनप्रवृत्ति, आदि बाह्य प्राणोंसे जीव जीते

१ पञ्चोपद्वयवृणणु युगम तु क्रमेण होदि णिद्वयवण । अतोऽसुहृत्कालेणहियकमा तवियालावा ॥ गो जी १२०

२ गो जी १२९ टीकासुन्धेया ।

३ गो जी १२९ तत्र 'जीवति' इति शब्दे 'प्राणिति' इति शब्दे 'प्राणिति' इति पाठ । पौत्रलिकद्वयैः प्रमादिव्यापाररूपा  
द्रव्यप्राणा । तन्निमित्तवृत्तानापानपर्याप्त्यन्तराश्रयोपशमादिविजुमितचेतनव्यापाररूपा भावप्राणा । जी म टी

पर्यायिप्रमाणानां नास्ति विभक्तिपत्तिर्न वस्तुनि इति चेन्न, कार्यकारणयोर्भेदात्, पर्यायिप्रमाणोऽयत्नकाले न सन्तीति तत्र तदमन्त्रमिति चेन्न, अपर्यायित्वरूपेण तत्र तासां पर्यायपर्यायित्वकाले न सन्तीति तत्र तदमन्त्रमिति चेन्न, अपर्यायित्वरूपेण तत्र तासां तासां । किमपर्यायित्वरूपमिति चेन्न, पर्यायिप्रमाणोऽयत्नकाले न सन्तीति चेन्न, ततोऽस्ति तेषां भेद इति । अथवा जीवनेहेतुनां तन्मन्त्रमन्त्रेषु शक्तिनिष्पत्तिमात्रं पर्यायित्वरूपेण, जीवनेहेतुः पुनः प्राणा इति तयोर्भेदः ।

एकेन्द्रियाणां भेदमभियाय तास्यन्तं द्वीन्द्रियादीनां भेदमभिधातुकाम उत्तर-  
मन्त्रमाह —

हे, उत्तीप्रकार त्विन् अन्तर द्वीन्द्रियावरण कर्मके अयोपशमादिके द्वारा जीवनें जीवितपनेका  
व्यवहार हो उनको प्राण कहते हैं ॥ १४१ ॥

शंका—पर्यायि और प्राणके नाममें अर्थात् ऋतेमात्रमें विवाद है, वस्तुमें कोई  
विवाद नहीं है, इसलिये दोनोंका तात्पर्य एक ही मानना चाहिये?

समाधान—नहीं, क्योंकि, कार्य और कारणके भेदसे उन दोनोंमें भेद पाया जाता है।  
तथा पर्यायियोंमें आयुका सद्भाव नहीं होनेसे और मनोबल, वचनबल, तथा उच्छ्वास  
इन प्राणोंके अपर्यायित्व अवस्थामें नहीं पाये जानेसे पर्यायि और प्राणमें भेद समझना  
चाहिये ।

शंका—ये पर्यायित्वा भी अपर्यायित्व कालमें नहीं पाई जाती है, इसलिये अपर्यायित्व  
कालमें उनका सद्भाव नहीं रहेगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, अपर्यायित्व कालमें अपर्यायित्वरूपसे उनका सद्भाव पाया  
जाता है ।

शंका—अपर्यायित्वरूप इसका क्या तात्पर्य है ?

समाधान—पर्यायियोंकी अपूर्णताको अपर्यायित्व कहते हैं, इसलिये पर्यायि,  
अपर्यायि और प्राण इनमें भेद सिद्ध हो जाता है । अथवा, इन्द्रियादिमें विद्यमान जीवनेके  
कारणपर्यन्त श्रेयसा न करने इन्द्रियादिरूप शक्तिनी पूर्णतामात्रको पर्यायि कहते हैं और  
जो जीवनेके कारण है उन्हें प्राण कहते हैं । इसप्रकार इन दोनोंमें भेद समझना चाहिये ।

इसप्रकार एकेन्द्रियोंके भेद प्रभेदोंका कथन करके अब द्वीन्द्रियादिक जीवोंके भेदोंका

१ अथवाप्रमाणोऽयत्नकाले न सन्तीति तत्र तदमन्त्रमिति चेन्न, अपर्यायित्वरूपेण तत्र तासां  
पर्यायपर्यायित्वकाले न सन्तीति तत्र तदमन्त्रमिति चेन्न, ततोऽस्ति तेषां भेद इति । अथवा जीवनेहेतुनां  
तन्मन्त्रमन्त्रेषु शक्तिनिष्पत्तिमात्रं पर्यायित्वरूपेण, जीवनेहेतुः पुनः प्राणा इति तयोर्भेदः ।

वीहृदिया दुविहा. पजता अपजता । तीहृदिया दुविहा,  
पजता अपजता । चउरिहृदिया दुविहा, पजता अपजता । पंचि-  
हृदिया दुविहा, सण्णी असण्णी । सण्णी दुविहा, पजता अपजता ।  
असण्णी दुविहा, पजता अपजता चेदि ॥ ३५ ॥

द्वीन्द्रियादय उक्तार्था इति पुनरुक्तमयात्पुनस्तेषां नेहार्थ उच्यते । अथ स्यादेतस्य  
एतान्त्येवेन्द्रियाणीति कथमत्रमगम्यते इति चेन्न, आर्यात्तदवगतेः । किं तदार्थमिति चेदुच्यते—  
एददियस पुसण एक चि य होइ सेस-जीवाणं ।  
होति कम-चड्डियाइ विवधा-घाणत्रिप-सोचाइं ॥ १४२ ॥

अस्य सूत्रस्यार्थ उच्यते । स्पर्शनमेकमेव एकेन्द्रियस्य भवति, स्पर्शनरसने  
द्वीन्द्रियस्य, स्पर्शनरसनघ्राणेन्द्रियाणि त्रीन्द्रियाणाम्, तानि सचक्षुषि चतुरिन्द्रियाणाम्,  
स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्रेन्द्रियाणि पञ्चेन्द्रियाणामिति । अथवा 'कृमिपिपीलिका-  
कथन करनेके इच्छुक आचार्य आगेका सूत्र कहते हैं

द्वीन्द्रिय जीव दो प्रकारके हैं, पर्यायित्व और अपर्यायित्व । त्रीन्द्रिय जीव दो प्रकारके हैं,  
पर्यायित्व और अपर्यायित्व । चतुरिन्द्रिय जीव दो प्रकारके हैं, पर्यायित्व और अपर्यायित्व । पञ्चेन्द्रिय  
जीव दो प्रकारके हैं, संज्ञी और असंज्ञी । संज्ञी जीव दो प्रकारके हैं, पर्यायित्व और अपर्यायित्व ।  
असंज्ञी जीव दो प्रकारके हैं, पर्यायित्व और अपर्यायित्व ॥ ३५ ॥

द्वीन्द्रिय आदि जीवोंका स्वरूप पहले कह आये है, इसलिये पुनरुक्त रूपके भयसे  
फिरसे यहाँ नहीं कहते हैं ।

शंका—इस जीवके इतनी ही इन्द्रियां होती हैं, यह कैसे जाना ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, आर्यसे इस बातको जाना ।

शंका—यह आगम कौनसा है ?

समाधान—एकेन्द्रिय जीवके एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है, और शेष जीवोंके  
क्रमसे बढ़ती हुई जिह्वा, घ्राण, अक्षि और श्रोत्र इन्द्रियां होती हैं ॥ १४२ ॥

अब इस सूत्रका अर्थ कहते हैं । एकेन्द्रिय जीवके एक स्पर्शन इन्द्रिय, द्वीन्द्रिय  
जीवके स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रियां, त्रीन्द्रिय जीवके स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन  
इन्द्रियां, चतुरिन्द्रिय जीवके स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु ये चार इन्द्रियां और पञ्चेन्द्रिय  
जीवके स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पांच इन्द्रियां होती हैं । अथवा 'कृमिपिपीलिका-

अमरमनुष्यादीनामैकैकवृद्धानि' इति अस्मात्तत्त्वार्थद्वयद्वारावसीयते । असाध्यं उच्यते । एकैकं वृद्धं येषां तानीमानि एकैकवृद्धानि । 'वनस्पत्यन्तानामेकम्' इत्येतस्मात्पुत्रास्पर्शनमित्यनुवर्तते । तत एवमभिसम्बध्यते, स्पर्शनं रसनवृद्धं कृम्यादीनाम्, स्पर्शनरसने प्राणवृद्धे पिपीलिकादीनाम्, स्पर्शनरसनघ्राणानि चर्षुवृद्धानि अमरादीनाम्, तानि श्रोत्रवृद्धानि मनुष्यादीनामिति' ।

समनस्काः संज्ञिन इति । मनो द्विविधम्, द्रव्यमनो भावमन इति । तत्र पुद्गलविपाकिकर्मोदयोपेक्षं द्रव्यमनः<sup>१</sup> । वीर्यान्तरायनोद्दिन्द्रियावरणक्षयोपशमोपेक्षात्मनो विशुद्धिर्भावमनः<sup>२</sup> । तत्र भवेन्द्रियाणामिव भावमनस उत्पत्तिकाल एव सत्त्वादपर्याप्तकालेऽपि भावमनसः सत्त्वमिन्द्रियाणामिव किमिति नोक्तमिति चेन्न, बाह्येन्द्रियैरग्राह्यअमरमनुष्यादीनामैकैकवृद्धानि' इस सूत्रसे यह जाना जाता है कि किस जिवके कितनी इन्द्रिया होती हैं । अब इस सूत्रका अर्थ कहते हैं—

एक एक इन्द्रियका बढता हुआ क्रम जिन इन्द्रियोंका पाया जावे, ऐसी एक एक इन्द्रियके बढते हुए क्रमरूप पाच इन्द्रिया होती हैं । 'वनस्पत्यन्तानामेकम्' इस सूत्रमेंसे स्पर्शन पर्वकी अनुवृत्ति होती है, इसलिये ऐसा सबन्ध कर लेना चाहिये कि कृमि आदि द्वाँन्द्रिय जीवोंके स्पर्शनके साथ रसना इन्द्रिय और अधिक होती है । पिपीलिका आदि त्रीन्द्रिय जीवोंके स्पर्शन और रसनकेसायघ्राण इन्द्रिय और अधिक होती है । अमर आदि चतुरिन्द्रिय जीवोंके स्पर्शन, रसना और घ्राणके साथ चक्षु इन्द्रिय और अधिक होती है । मनुष्य आदि पंचेन्द्रिय जीवोंके स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षुके साथ श्रोत्र इन्द्रिय और अधिक होती है ।

मनसहित जीवोंको सबी कहते हैं । मन दो प्रकारका है, द्रव्यमन और भावमन । उनमें पुद्गलविपाकी आंगोपांग नामकर्मके उदयकी अपेक्षा रखनेवाला द्रव्यमन है । तथा वीर्यान्तराय और नो-इन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशमरूप आत्मामें जो विद्युद्धि पैदा होती है वह भावमन है ।

शंका—जीवके नवीन भवको धारण करनेके समय ही भवेन्द्रियोंकी तरह

१ त सू २ २३

२ पाठान्य त रा वा २ २३ वा २४ ज्यौल्यया ममान ।

३ स मि २ ११ । त रा वा २ ११ द्रव्यमन व ज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशममात्रोपात्तव्यमप्रत्यया

युद्धोपशिविचारस्मरणादिशोभानद्यामिभुवद्यामनोऽनुमादका पुला मनस्वन पाणना इति पाण्डिकम् । म मि

५ ११ । त रा वा ५ ११

४ म मि २ ११ । त रा वा २ ११ भावमनान्तरापुरयोगवद्वा पुद्गलवृद्धमनस्तात्सोद्-

लिङ्गम् । म मि ५ ११ । त रा वा ५ १९

द्रव्यस्य मनसोऽपर्याप्त्यवस्थायामस्तिवेऽङ्गीक्रियमाणे द्रव्यमनसो विद्यमाननिरूपणस्या-सत्त्वप्रसङ्गात् । पर्याप्तिनिरूपणात्तदस्तित्वं सिद्धयेदिति चेन्न, बाह्यार्थस्मरणशक्तिनिष्पत्तौ पर्याप्तिव्यपदेशतो द्रव्यमनसोऽभावेऽपि पर्याप्तिनिरूपणोपपत्तेः । न बाह्यार्थस्मरणशक्तेः प्रागस्तित्वं योग्यस्य द्रव्यस्योत्पत्तेः प्राक् सत्त्वविरोधात् । ततो द्रव्यमनसोऽस्तित्वस्य ज्ञापकं भवति तस्यापर्याप्त्यवस्थायामस्तित्वानिरूपणमिति सिद्धम् । मनस इन्द्रियव्यपदेशः किञ्च कृत इति चेन्न, इन्द्रस्य लिङ्गमिन्द्रियम् । उपभोक्तुरात्मनोऽनिवृत्तकर्मसम्बन्धस्य परमेस्वरशक्तियोगादिन्द्रव्यपदेशमर्हतः स्वयमर्थान् गृहीतुमसमर्थस्योपयोगोपकरणं लिङ्गमिति कथ्यते । न च मनस उपयोगोपकरणमस्ति । द्रव्यमन उपयोगोपकरणमस्तीति

भावमनका भी सत्त्व पाया जाता है, इसलिये जिसप्रकार अपर्याप्त कालमें भवेन्द्रियोंका सद्भाव कहा जाता है उसीप्रकार वहां पर भावमनका सद्भाव क्यों नहीं कहा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, बाह्य इन्द्रियोंके द्वारा नहीं ग्रहण करते योग्य वस्तुभूत मनका अपर्याप्तिरूप अवस्थामें अस्तित्व स्वीकार करलेने पर, जिसका निरूपण विद्यमान है ऐसे द्रव्यमनके असत्त्वका प्रसंग आ जायगा ।

शंका—पर्याप्तिके निरूपणसे ही द्रव्यमनका अस्तित्व सिद्ध हो जायगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, बाह्यार्थकी स्मरणशक्तिकी पूर्णतामें ही पर्याप्ति इस प्रकारका व्यवहार मान लेनेसे द्रव्यमनके अभावमें भी मनःपर्याप्तिका निरूपण बन जाता है । बाह्य पदार्थोंकी स्मरणरूप शक्तिके पहले द्रव्यमनका सद्भाव बन जायगा ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, द्रव्यमनके योग्य द्रव्यकी उत्पत्तिके पहले उसका सत्त्व मान लेनेमें विरोध आता है । अतः अपर्याप्तिरूप अवस्थामें भावमनके अस्तित्वका निरूपण नहीं करना द्रव्यमनके अस्तित्वका नापक है, ऐसा समझना चाहिये ।

शंका—मनको इन्द्रिय सजा क्यों नहीं दी गई ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, इन्द्र अर्थात् आत्माके लिंगको इन्द्रिय कहते हैं । जिसके कर्मोंका सबन्ध दूर नहीं हुआ है, जो परमेस्वररूप शक्तिके सबन्धसे इन्द्र सशक्तो धारण करता है, परतु जो स्वतः पदार्थोंको ग्रहण करनेमें असमर्थ है ऐसे उपभोक्ता आत्माके उपयोगके उपकरणको लिंग कहते हैं । परतु मनके उपयोगका उपकरण पाया नहीं जाता है, इसलिये मनको इन्द्रिय सजा नहीं दी गई ।

शंका—उपयोगका उपकरण द्रव्यमन तो है ?

१ म मि १, १४

२ इन्द्र आत्मा, तस्य कर्मवर्तीमत्तस्य स्वयमर्थान् गृहीतुमममर्थायोगोपक्रमेण यञ्जित तदिन्द्रियमित्युच्यते ।

त रा वा ? १४ ?

दोणहं एकदरस्स सुत्तत्तादो । दोणहं मज्जे इदं सुत्तमिदं च ण भवदीदि कथं णव्वदि ?  
उव्वदेसमंतरेण तदवगमाभावा दोणहं पि संगहो कायव्वो । दोणहं संगहं करेतो संसय-  
मिच्छाह्दी होदि त्ति तण्ण, सुत्तुदिट्ठमेव अत्थि त्ति सद्दहंतस्स संदेहाभावादो । उत्तं च —  
सुत्तादो त सम्म दरिसिज्जंत जव्वा ण सद्दहदि ।  
सो चेष हवदि मिच्छाह्दी इ तदो पड्ढि जीवो ॥ १४३ ॥ इदि ।

पञ्चेन्द्रियप्रतिपादनार्थसुत्तरसूत्रमाह —

पंचिदिया असण्णिपंचिदिय-पहुडि जाव अजोगिकेवलि  
त्ति ॥ ३७ ॥

पञ्चेन्द्रियेषु गुणस्थानसंख्यामप्रतिपाद्य किमिति असंक्षिप्रभृतयः पञ्चेन्द्रिया इति  
सकता है ?  
समाधान — नहीं, क्योंकि, दोनों वचन सूत्र नहीं हो सकते हैं, किंतु उन दोनों  
वचनोंमेंसे किसी एक वचनको ही सूत्रपना प्राप्त हो सकता है ।

शंका — दोनों वचनोंमें यह वचन सूत्ररूप है और यह नहीं, यह कैसे जाना जाय ?  
समाधान — उपदेशके बिना दोनोंमेंसे कौन वचन सूत्ररूप है यह नहीं जाना जा  
सकता है, इसलिये दोनों वचनोंका संग्रह करना चाहिये ।

शंका — दोनों वचनोंका संग्रह करनेवाला संग्रह-मिथ्यादृष्टि हो जायगा ?

समाधान — नहीं, क्योंकि, संग्रह करनेवालेके ' यह सूत्रकथित ही है ' इसप्रकारका  
श्रद्धान पाया जाता है, अतएव उसके सदेह नहीं हो सकता है । कदा भी है—  
सूत्रसे आचार्यादिके द्वारा भलेप्रकार समझाये जाने पर भी यदि वह जीव विपरीत  
अर्थको छोड़कर समीचीन अर्थका श्रद्धान नहीं करता है, तो उसी समयसे वह सभ्यदृष्टि  
जीव मिथ्यादृष्टि हो जाता है ॥ १४३ ॥

पंचेन्द्रियोंमें गुणस्थानोंकी संख्याके प्रतिपादन करनेके लिये अंगोका सूत्र कहते हैं—  
असली-पंचेन्द्रिय-मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर अयोगिकेवली गुणस्थानतक पंचेन्द्रिय  
जीव होते हैं ॥ ३७ ॥

शंका — पंचेन्द्रिय जीवोंमें गुणस्थानोंकी संख्याका प्रतिपादन नहीं करके असंक्षी  
आदिक पंचेन्द्रिय होते हैं, ऐसा क्यों कहा ?

भगति तेमिमहिपाएण तारह्वोरसमाणा देवणा उव्वदकंणण होदि, एद पि वत्सराण सतदत्तउव्वमिद्व ति ण  
नेत्तव । ववला अ पृ २६०.

१ गो जी २९

२ पंचेन्द्रियेषु चतुर्दशापि भवन्ति । म वि १. ८

चेव, अंपेन्द्रियाणामिव चालेन्द्रियग्राहत्वाभावतस्तस्येन्द्रलिङ्गत्वात्तुपपत्तेः । अथ स्यादर्थो-  
लोकमनस्कारचक्षुर्भ्यः सम्प्रवर्तमानं रूपज्ञानं समनस्केषुपलभ्यते तस्य कथममनस्केष्व्या-  
निर्माण इति नेप दोषः, भिन्नजातित्वात् ।

इन्द्रियेषु गुणस्थानामियत्ताप्रतिपादनार्थसुत्तरसूत्रमाह —

एइंदिया वीइंदिया तीइंदिया चउरिंदिया असण्णिपंचिदिया  
एकाम्भि चेष मिच्छाह्दि-द्वरणे ॥ ३६ ॥

एकाम्भित्तेति विशेषणं द्वयादिसंख्यानिराकरणार्थम् । शेषगुणस्थाननिरसनार्थं  
मिथ्यादृष्ट्युपादानम् । एइंदिएसु सासणगुणद्वरणं पि सुणिज्जदि तं कथं घड्ढे ? ण,  
एदमिह सुत्ते तस्स णिसिद्धत्तादो । विरुद्धत्थाणं कथं दोणहं पि सुत्तत्तणमिदि ण,

समाधान — नहीं, क्योंकि, जिसप्रकार शेष इन्द्रियोंका बाह्य इन्द्रियोंसे ग्रहण होता  
है उसप्रकार मनका नहीं होता है, इसलिये उसे इन्द्रका लिंग नहीं कह सकते हैं ।

शंका — पदार्थ, प्रकार, मन और चक्षु इनसे उत्पन्न होनेवाला रूप-ज्ञान समनस्क  
जीवोंमें पाया जाता है, यह तो ठीक है । परंतु अमनस्क जीवोंमें उस रूप-ज्ञानकी उत्पत्ति कैसे  
हो सकती है ?

समाधान — यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, समनस्क जीवोंके रूप-ज्ञानसे अमनस्क  
जीवोंका रूप-ज्ञान भिन्न जातीय है ।

अब इन्द्रियोंमें गुणस्थानोंकी निश्चित संख्याके प्रतिपादन करनेके लिये अंगोका सूत्र  
कहते हैं—

एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असली पंचेन्द्रिय जीव मिथ्यादृष्टि  
नामक प्रथम गुणस्थानमें ही होते हैं ॥ ३६ ॥

शे, तीन आदि संख्याके निराकरण करनेके लिये सूत्रमें एक पदका ग्रहण किया  
है । तथा अन्य गुणस्थानोंके निराकरण करनेके लिये मिथ्यादृष्टि पदका ग्रहण किया है ।

शंका — एकेन्द्रिय जीवोंमें सासादन गुणस्थान भी सुननेमें आता है, इसलिये उनके  
केवल एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थानके कथन करनेसे वह कैसे बन सकेगा ?

समाधान — नहीं, क्योंकि, इस मङ्गल-सूत्रमें एकेन्द्रियादिकोंके सासादन गुणस्थानका  
निषेध किया है ।

शंका — जब कि दोनों वचन परस्पर विरोधी हैं तो उन्हें सूत्रपना कैसे प्राप्त हो

१ १ वि १ १६। त रा १ १४ २ अनतोर्वाएसा विशेषपरितानायानुगन्धेया ।

२ मत्तरानुवादेन पुंरियादिषु चतुरिन्द्रियपर्यन्तेषु एस्मेव मिथ्यादृष्टिस्थानम् । अमत्रिषु एरुमेव मिथ्या-

दृष्टिस्थानम् । म. वि १, ८

३ येषां नो जगत्तन एकेन्द्रियेषु नोपपत्तेः १४ न वि. १. ८ जे पुता देवमाणा एददिएसुप्य-जति सि



प्रतिपादितमिति चैत्रैप दोषः, असंख्यादयोऽयोगिकत्रलिपर्यन्ताः पञ्चेन्द्रिया इत्यभिहिते पञ्चेन्द्रियेषु गुणस्थानानामियत्तावगतेः । अथ सादसंख्यादयोऽयोगिकत्रलिपर्यन्ताः किमु पञ्चद्रव्येन्द्रियवन्त उत भावेन्द्रियवन्त इति ? न तावदादिविकल्प. अपर्याप्तजैवैर्व्यभि-  
चारत् । न द्वितीयनिकल्पः केवलिव्यभिचारदिति नैष दोषः, भावेन्द्रियतः पञ्चेन्द्रियत्वाभ्युपगमात् । न पूर्वोक्तदोषोऽपि केवलानां निर्मूलतो विनष्टान्तरङ्गेन्द्रियाणां ग्रह-  
वाहेन्द्रियव्यापारणां भावेन्द्रियजनितद्रव्येन्द्रियसत्त्वापेक्षया पञ्चेन्द्रियत्वप्रतिपादनात्, भूतपूर्वगतित्वायसमाश्रयणाद्वा । सर्वत्र निश्चयनयमाश्रित्य प्रतिपाद्य अत्र व्यवहारनयः किमित्यवलम्ब्यते इति चैत्रैप दोषः, मन्दमेधसामनुग्रहार्थत्वात् । अथवा नेदं व्याख्यानं ममीचीनं दुरधिगमत्वात्, इन्द्रियप्राणैरस्य पौनरुक्त्यप्रसङ्गात् । किमपरं व्याख्यानमिति

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, असंखीको आदि लेकर अयोगिकवली पर्यन्त पचेन्द्रिय जीव होते है, ऐसा कथन कर देने पर पचेन्द्रियोंमें गुणस्थानोंकी सख्याका ज्ञान हो जाता है ।

शंका—असंखीसे लेकर अयोगिकवलीतक पचेन्द्रिय जीव होते है यह ठीक है, परंतु वे स्या पाच द्रव्येन्द्रियोंसे युक्त होते है या पाच भावेन्द्रियोंसे युक्त होते हैं? इनमें से प्रथम विकल्प तो वन नहीं सकता, क्योंकि, उसके मान लेने पर अपर्याप्त जीवोंके साथ व्यभिचार दोष आता है । अर्थात् अपर्याप्त जीव पचेन्द्रिय होते हुए भी उनके द्रव्येन्द्रिया नहीं पाई जाती, इसलिये व्यभिचार दोष आता है । इसीप्रकार दूसरा विकल्प भी नहीं बनता, क्योंकि, उसके मान लेने पर केवलियोंसे व्यभिचार दोष आता है । अर्थात् केवली पचेन्द्रिय होते हुए भी भावेन्द्रियों नहीं पाई जाती हैं, इसलिये व्यभिचार आता है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, यहां पर भावेन्द्रियोंकी अपेक्षा पचेन्द्रियपना स्वीकार किया है । और ऐसा मान लेने पर पूर्वोक्त दोष भी नहीं आता है । केवलियोंके यद्यपि भावेन्द्रिया समूल नष्ट हो गई हैं, और बाह्य इन्द्रियोंका व्यापार भी बन्द हो गया है, तो भी ( छद्मस्थ अवस्थामें ) भावेन्द्रियोंके निमित्तसे उत्पन्न हुई द्रव्येन्द्रियोंके सद्भावकी अपेक्षा उन्हें पचेन्द्रिय कहा गया है । अथवा भूतपूर्वका ज्ञान करानेवाले न्यायके आश्रयसे उन्हें पचेन्द्रिय कहा है ।

शंका—सब जगह निश्चय नयका आश्रय लेकर वस्तु स्वरूपका प्रतिपादन करनेके पश्चात् फिर यहां पर व्यवहार नयका आलम्बन क्यों लिया जा रहा है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, मन्दबुद्धि शिष्योंके अनुग्रहके लिये उत्कृष्टकारसे वस्तुस्वरूपका विचार किया है । अथवा, उक्त व्याख्यानको ठीक नहीं समझना, क्योंकि, मन्दबुद्धि शिष्योंके लिये यह व्याख्यान दुरुवबोध है । दूसरे इन्द्रिय और प्राणोंके साथ इस कथनका पुनरुक्त दोष भी आता है ।

चेदुच्यते । एकेन्द्रियजातिनामकर्मोदयोदेकेन्द्रियः, द्वीन्द्रियजातिनामकर्मोदयाद् द्वीन्द्रियः, त्रीन्द्रियजातिनामकर्मोदयात्रीन्द्रियः, चतुरिन्द्रियजातिनामकर्मोदयाचतुरिन्द्रियः, पञ्चेन्द्रिय-  
जातिनामकर्मोदयात्पञ्चेन्द्रियः । समस्त च केवलिनामपर्याप्तजीवानां च पञ्चेन्द्रियजातिनामकर्मोदयः । निरवद्यत्वाद् व्याख्यानमिदं समाश्रयणीयम् । पञ्चेन्द्रिय-  
जातिरिति किं ? यस्याः पारापतादयो जातिविशेषाः समानप्रत्ययग्राह्या सा पञ्चेन्द्रिय-  
जातिः पञ्चेन्द्रियक्षयोपशमस्य सहकारित्वमाधाना ।

अतीन्द्रियजीवास्तिवप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

तेण परमणिदिया इदि ॥ ३८ ॥

तेनेति एकनचनं जातिनिवन्धनम् । परमूर्धमनिन्द्रियाः एकेन्द्रियादिजात्यतीताः सकलकर्मकलङ्कतीतत्वात् ।

कायमार्गणाप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

कायाणुवादेण अत्थि पुढाविकाइया आउकाइया तेउकाइया वाउकाइया वणफ्फइकाइया तसकाइया अकाइया वेदि ॥ ३९ ॥

शंका—तो फिर वह दूसरा कौनसा व्याख्यान है जिसे ठीक माना जाय ?

समाधान—एकेन्द्रिय जाति नामकर्मके उदयसे एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय जाति नामकर्मके उदयसे द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रियजाति नामकर्मके उदयसे त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रियजाति नामकर्मके उदयसे चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रियजाति नामकर्मके उदयसे पचेन्द्रिय जीव होते हैं । इस व्याख्यानके अनुसार केवली और अपर्याप्त जीवोंके भी पचेन्द्रिय जाति नामकर्मका उदय होता ही है । अतः यह व्याख्यान निर्दोष है । अतएव इसका आश्रय करना चाहिये ।

शंका—पंचेन्द्रियजाति किसे कहते है ?

समाधान—जिसके कर्तुत्तर आदि जाति-विशेष 'ये पंचेन्द्रिय है' इसप्रकार समान प्रत्ययसे ग्रहण करने योग्य होते है और जिसमें पंचेन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशमके सहकारी-पनेकी अपेक्षा रहती है उसे पचेन्द्रिय जाति कहते हैं ।

अब अतीन्द्रिय जीवोंके अस्तित्वके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते है—  
उन एकेन्द्रियादि जीवोंसे परे अनिन्द्रिय जीव होते हैं ॥ ३८ ॥

सूत्रमें 'तेन' यह एक वचन जातिका सूचक है । 'पर' शब्दका अर्थ ऊपर है । जिससे यह अर्थ हुआ कि एकेन्द्रियादि जातिरेवोंसे रहित अनिन्द्रिय जीव होते हैं, क्योंकि, उनके संपूर्ण द्रव्यकर्म और भावकर्म नहीं पाये जाते हैं ।

अब कार्यमार्गणाके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते है—

कायाणुवादकी अपेक्षा पृथिवीकायिक, जलकायिक, अशिकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक, त्रसकायिक और कायरहित जीव होते है ॥ ३९ ॥



अनुदानमनुवादः । कायानामनुवादः कायानुवादः तेन कायानुवादेन । पृथिव्येव कायः पृथिवीकायः स एगामस्तीति पृथिवीकायिकाः । न कर्मणशरीरमात्रस्थितजीवानां पृथिवीकायत्तमाभारः भाविनि भूतमनुपचारतस्तेषामपि तद्व्यपदेशेऽप्यपत्ते । अथवा पृथिवीकायिकनामकर्मोदयवशीकृताः पृथिवीकायिकाः । एतन्मन्त्रिकादीनामपि नाच्यम् । पृथिव्यादीनि कर्मण्यपिद्वानीति चेन्न, पृथिवीकायिकादिकार्यान्मथानुपपत्तितस्तदस्ति-त्पमिद्रेः । एते पञ्चापि व्यापराः स्थाननामकर्मोदयजनितविशेषत्वात् । स्थानशीलाः व्यापरा इति चेन्न, वायुतेजोऽम्भसां देवान्तराग्निदिदर्शनदथावरत्नप्रसङ्गात् । स्थानशीलाः व्यापरा इति व्युत्पत्तिमात्रमेव, नार्थः प्राधान्येनाधीयते गोशब्दस्येव । नसनामकर्मोदियापा-

सृष्टे अणुशूल कथन करनेको अनुवाद कहते हैं । कायके अनुवादको कायानुवाद कहते हैं, उसकी अपेक्षा पृथिवीकायिक आदि जीव होते हैं । पृथिवीरूप शरीरको पृथिवी-काय कहते हैं, वर जिनके पाया जाता है उन जीवोंको पृथिवीकायिक कहते हैं । पृथिवी-कायिकता इसप्रकार लक्षण करते पर कर्मण काययोगमें स्थित जीवोंके पृथिवीकायपना नहीं हो सकता है, यह गत नहीं है, क्योंकि, जिसप्रकार जो कार्य अभी नहीं हुआ है, उसमें यह तो नूतन इतप्रकार उपचार किया जाता है, उसीप्रकार कर्मण काययोगमें स्थित पृथिवीकायिक जीवोंके भी पृथिवीकायिक यह सजा उन जाती है । अथवा, जो जीव पृथिवीकायिक नामकर्मके उदयके नशर्ता हैं उन्हें पृथिवीकायिक कहते हैं । इसीप्रकार जलकायिक आदि शब्दोंकी भी निकटिक कर लेना चाहिये ।

शंका—पृथिवी आदि कर्म तो अस्तित्व है, अर्थात् उनका सद्भाव किसी प्रमाणसे फिर नहीं होता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, पृथिवीकायिक आदि कार्यात्ता होना अन्यथा वन नहीं सकता, इसलिये पृथिवी आदि नामकर्मोंके अस्तित्वकी सिद्धि हो जाती है ।

स्थारर नामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुई निशोपनाके कारण ये पावों ही स्थावर कालने हैं ।

शंका—स्थानशील अर्थात् ढहरना ही जिनका स्वभाव हो उन्हें स्थावर कहते हैं, तेनी व्याप्यके अनुसार स्थावरता स्वरूप क्यों नहीं कहा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, वैसा लक्षण मानने पर, वायुकायिक, अग्निकायिक और जलकायिक जीवोंकी एक देशसे दूसरे देशमें गति देवी जानेसे उन्हें अस्थावरत्वका प्रमाण प्राप्त हो जायगा ।

स्थानशील स्थावर होते हैं, वर निकटिक व्युत्पत्तिमात्र ही है, इसमें गो शब्दकी

\* न. १। प. ३। २३. ३ तंनोमपू शान्तिपराय पत्ता । म. त. पृ. ३. १४

दितवृत्तयत्ससाः । नसेरुदेजनक्रियस्य त्रस्यन्तीति त्रसा इति चेन्न, गर्भोण्डजम्लिष्ठत-सुप्त्येतु तदभानादत्रसत्प्रसङ्गात् । ततो न चलनाचलनापेक्षं त्रसस्थावरत्नम् । आत्म-प्रवृत्त्युपचितपुद्गलपिण्डः कायः इत्यनेनेद व्याख्यानं निरुद्ध्यत इति चेन्न, जीवविपाकि-त्रसपृथिवीकायिकादिकर्मोदयसहकार्यैर्दिरिकशरीरोदयजनितशरीरस्यपि उपचारतस्तद्-व्यपदेशार्हत्वाविरोधात् । त्रसस्थावरकायिकनामकर्मनन्धातीताः अकायिकाः सिद्धाः । उक्तं च—

जह कंचणमगि-गयं मुचद् किट्टेणं कालियाए य ।

तह काय-वय-मुक्का अकाइया ज्ञाण-जोएण ॥ १३४ ॥

पुढवि-काइयादीणं भेद-पदुपपायणडुमुत्तर-सुत्तं भणइ—

व्युत्पत्तिकी तरह प्रधानतासे अर्थका ग्रहण नहीं है ।

त्रस नामकर्मके उदयसे जिन्होंने त्रसपर्यायतो प्राप्त कर लिया है उन्हें त्रस कहते हैं । शंका—‘त्रसी उद्वेगे’ इस वायुसे त्रस शब्दकी सिद्धि हुई है, जिसका यह अर्थ होता है कि जो उद्विग्न अर्थात् भयभीत होकर भागते हैं वे त्रस हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, गर्भमें स्थित, अण्डमें यन्द, मूर्छित और सोते हुए जीवोंमें उक्त लक्षण घटित नहीं होनेसे उन्हें अत्रसत्वका प्रसग आजायगा । इसलिये चलने और ढहरनेकी अपेक्षा त्रस और स्थावरपना नहीं समझना चाहिये ।

शंका—आत्म-प्रवृत्ति अर्थात् योगसे संचित हुए पुद्गलपिण्डको काय कहते हैं, इस व्याख्यानसे पूर्वोक्त व्याख्यान विरोधको प्राप्त होता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जिसमें जीवविपाकी त्रस नामकर्म और पृथिवीकायिक आदि नामकर्मके उदयकी सहकारिता है ऐसे औदारिक शरीर नामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुए शरीरको उपचारसे कायपना वन जाता है, इसमें कोई विरोध नहीं आता है ।

त्रस और स्थावर-कायिक नामकर्मके बन्धसे अर्थात् सिद्धोंको अकायिक कहते हैं । कहा भी है—

जिसप्रकार अग्निको प्राप्त हुआ सोना कीट और कालिमारूप वाह्य और अभ्यन्तर दोनों प्रकारके मलसे रहित हो जाता है, उसीप्रकार ध्यानके द्वारा यह जीव काय और कर्म-रूप बन्धसे मुक्त होकर कायरहित हो जाता है ॥ १३४ ॥

अब पृथिवीकायिकादि जीवोंके भेदोंके प्रतिपादन करनेके लिये अगेका सूत्र कहते हैं—

१ त रा वा २ १२ २ २ अतिपु ‘किट्टेण’ इति पाठ ।

३ गो. जी. २०३ किट्टेण बहिर्गलेन कालिण्या व त्रैपण्यरूपान्तरामलेन । जी. प्र. टी.



समाप्तमिति चेन्न, वादरत्वेन मनामभावानुपपत्तेः । अनुक्तं कथमवगम्यत इति चेन्न, मन्त्रान्यानुपपत्तितत्सिद्धे । मौक्ष्यनिश्चिद्यस्यापि जीवसत्त्वस्यासंभ्रमः समस्तीति नैकान्तिको हेतुरिति चेन्न, वादरा इति लक्षणमुत्सर्गरूपत्वाद्दोषप्राणिव्यापि । ततः प्रत्येकशरीरधनस्पतयो वादरा एव न सूक्ष्माः साधारणशरीरोपि त्वत्सर्गविधिविधाकाप- वादविधेरभावात् । तदुत्सर्गत्वं कथमवगम्यत इति चेन्न, प्रत्येकधनस्पतित्वेऽप्युभय- विशेषणानुपपदान्त्वं यस्मत्त्वमुत्सर्गः आर्पित्वेऽपि प्रत्यक्षादिनामवगतेः प्रसिद्धस्य वादर- त्वस्येत्युत्सर्गत्वनिरोधात् ।

साधारणं सामान्यं शरीरं येषां ते साधारणशरीराः । प्रतिनियतजीवप्रतिवैद्वैः

सामानान्—येसा नहीं है, क्योंकि, प्रत्येक वनस्पतिका वादररूपसे अस्तित्व पाया जाता है, इसलिये उसका अभाव नहीं हो सकता है ।

शंका—प्रत्येक वनस्पतिको वादर नहीं कहा गया है, फिर कैसे जाना जाय कि प्रत्येक वनस्पति वादर ही होती है ?

ममाधान—नहीं, क्योंकि, प्रत्येक वनस्पतिका दूसरे रूपसे अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता है, इसलिये वादररूपसे उसके अस्तित्वकी सिद्धि हो जाती है ।

शंका—प्रत्येक वनस्पतिमें यद्यपि मृदुमत्ता-विक्षिप्त जीवकी सत्ता असंभव है, परतु मत्त्वान्यानुपपत्ति रूपसे उसकी भी सिद्धि हो सकती है, इसलिये यह सत्त्वान्यानुप- पत्तिरूप हेतु अनैकान्तिक है ?

ममाधान—नहीं, क्योंकि, वादर यह लक्षण उत्सर्गरूप ( व्यापक ) होनेसे संपूर्ण प्राणियोंमें पाया जाता है । इसलिये प्रत्येक शरीर वनस्पति जीव वादर ही होते हैं, मृदुम नहीं, क्योंकि, जिसप्रकार साधारण शरीरोंमें उत्सर्गविधिकी बाधक अपवादविधि पाई जाती है, अर्थात् साधारण शरीरों में वादर भेद के अतिरिक्त सूक्ष्म भेद भी पाया जाता है, उसप्रकार प्रत्येक वनस्पतिमें अपवादविधि नहीं पाई जाती है, अर्थात् उनमें मृदुम भेदका सर्वथा अभाव है ।

शंका—प्रत्येक वनस्पतिमें वादर यह लक्षण उत्सर्गरूप है, यह कैसे जाना जाय ?

ममाधान—नहीं, क्योंकि, प्रत्येक वनस्पति और त्रसोंमें वादर और सूक्ष्म ये दोनों विशेषण नहीं पाये जाते हैं, इसलिये सूक्ष्मत्व उत्सर्गरूप नहीं हो सकता है, क्योंकि, आगमके विना प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे मृदुमत्वका ज्ञान नहीं होता है, अतएव प्रत्यक्षादिसे अप्रसिद्ध मृदुमको वादरकी तत्त्व उत्सर्गरूप माननेमें विरोध आता है ।

नियोगार्थ—वादरत्व पावों स्यावर और त्रसोंमें पाया जाता है, परतु सूक्ष्मत्व प्रत्येक- वनस्पति और त्रसोंमें नहीं पाया जाता है । इसलिये वादर उत्सर्ग विधि है, सूक्ष्मत्व नहीं ।

त्रिन जीवोंका साधारण अर्थात् भिन्न भिन्न शरीर न होकर समानरूपसे एक शरीर पाया जाता है उन्हे साधारणशरीर जीव कहते हैं ।

पुद्गलविक्रितादाहारवर्णाररूढानां कायाकारपरिणमनहेतुभिरौदारिककर्मरूढैः कथं भिन्नजीवफलदातृभिरैकं शरीरं निष्पाद्यते विरोधादिति चेन्न, पुद्गलानामेकदेशाव- स्थितानामेकदेशावस्थितमित्यसमवेतजीवसमनेतानां तत्स्थायेशेषप्राणिसञ्चयेकशरीरनिष्पा- दनं न विरुद्धं साधारणकारणतः समुत्पन्नकार्यस्य साधारणत्वाविरोधात् । कारणानुरूपं कार्यमिति न निषेधुं पार्यते सकलनैयथियिकलोकाप्रसिद्धत्वात् । उक्तं च—

साधारणमाहरो साधारणमाणमाण-गहण च ।

साधारण-जीवाणं साधारण लखण भणियं ॥ १४५ ॥

जयैककु मरइ जीवो तय दु मरण हवे अणताण ।

वक्रमदि जय एको वक्रमण तय णताणं ॥ १४६ ॥

एव-णिगेद सरिरे जीवा दव-णमाणदो दिडा ।

सिद्धेहि अणत-गुणा सबेण वितीद-कालेणं ॥ १४७ ॥

शंका—जीवोंसे अलग अलग बंधे हुए, पुद्गलवियकी होनेसे आहार-वर्णिकाके स्वरूथोंको शरीरके आकाररूपसे परिणमन करानेमें कारणरूप और भिन्न-भिन्न जीवोंको भिन्न- भिन्न फल देनेवाले औदारिक कर्मस्वरूथोंके द्वारा अनेक जीवोंके एक शरीर कैसे उत्पन्न किया जा सकता है, क्योंकि, ऐसा माननेमें विरोध आता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जो एकदेशमें अवस्थित है और जो एकदेशमें अवस्थित तथा परस्पर सवइ जीवोंके साथ समवेत हैं, ऐसे पुद्गल वहां पर स्थित संपूर्ण जीव- संबन्धी एक शरीरको उत्पन्न करते हैं इसमें कोई विरोध नहीं आता है, क्योंकि, साधारण कारणसे उत्पन्न हुआ कार्य भी साधारण ही होता है । कारणके अनुरूप ही कार्य होता है, इसका नियम भी तो नहीं किया जा सकता है, क्योंकि, यह बात संपूर्ण नैयथियिक लोगोंमें प्रसिद्ध है । कहा भी है—

साधारण जीवोंका साधारण ही आहार होता है और साधारण ही व्यवसोच्छ्रयसका ग्रहण होता है । इसप्रकार परमाणुमें साधारण जीवोंका साधारण लक्षण कहा है ॥ १४५ ॥

साधारण जीवोंमें जहां पर एक जीव मरण करता है वहां पर अनन्त जीवोंका मरण होता है । और जहां पर एक जीव उत्पन्न होता है वहां पर अनन्त जीवोंका उत्पाद होता है ॥ १४६ ॥

दृश्य-प्रमाणकी अपेक्षा सिद्धराशि और संपूर्ण अतीत कालसे अनन्तगुणे जीव एक निगोद-शरीरमें देखे गये हैं ॥ १४७ ॥

१ गो जी १९२ च शब्देन शरीरं द्रियपर्याप्तित्त्रय मधुवर्षाकृतम् । जी प्र दी । आवा नि ८३६

२ गो जी १९३ एकनिगोदशरीरे प्रतिमयमन तानन्तजीवास्ताय् संश्रु म्रियते संश्रुत्वयते यामद- मव्यातमागोपमकौटिकोटिमाजी अवव्यातलोत्सामामयममिता उद्वयनिगोदकायलिति परिसमायते । अत्र विशेषश्च शीकृतोऽन्वयेय । जी प्र. दी ।

३ गो जी १९६ त्वु अष्टसमयाधिकरणमामान्यतरे अष्टोत्तरपश्चतजित्त्रिगु कर्मक्षय कृत्वा सिद्धेयु मव्यु

अथि अणता जीवा जेहि ण पत्तो तसाण परिणामो ।

भाव-कलकइएउरा णिगोद-वास ण मुचत्तिं ॥ १४८ ॥

ते तादृक्षाः सन्तीति कथमवगम्यत इति चेन्न, आगमस्यातर्कगोचरत्वात् । न हि प्रमाणप्रकाशिताधिगतिः प्रमाणान्तरप्रकाशमपेक्षते स्वरूपविलोपप्रसङ्गात् । न चैतन्नामाण्यमसिद्धं सुनिश्चितासम्भवद्राधकप्रमाणस्यासिद्धत्वविरोधात् । चादरनिगोद-प्रतिष्ठिताध्यायान्तरेषु श्रूयन्ते, क तेपामन्तर्भावधेत् प्रत्येकशरीरवन्नस्पतिप्रिति त्रमः । के ते ? सुगार्दकमूलकादयः ।

त्रसकायानां भेदप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह —

नित्य निगोदमें पेसे अनन्तान्त जीव हें जिन्दोंने त्रस जीवोंकी पर्याय अभीतर कभी नहीं पाई है, और जो भाव अर्थात् निगोद पर्यायके योग्य रूपयके उदयसे उत्पन्न हुए दुर्लभरूप परिणामोंसे अत्यन्त अभिमूढ रहते हैं, इसलिये निगोद स्थानको कभी नहीं छोड़ते ॥ १४८ ॥

शंका—साधारण जीव उक्त लक्षणवाले होते हैं यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान—ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि, आगम तर्कका नियम नहीं है। एक प्रमाणसे प्रकाशित अर्थज्ञान दूसरे प्रमाणके प्रकाशकी अपेक्षा नहीं करता है, अन्यथा प्रमाणके स्वरूपका अभाव प्राप्त हो जायगा। तथा आगमकी प्रमाणता अन्विष्ट भी नहीं है, क्योंकि, जिसके बाधक प्रमाणोंकी अक्षभावता अच्छलितरह निश्चित है उसको अस्तिर माननेमें विरोध आता है। अर्थात् बाधक प्रमाणोंके अभावमें आगमकी प्रमाणताका निश्चय होता ही है।

शंका—बादर निगोदोंसे प्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति दूसरे आगमोंमें सुनी जाती है, उसका अन्तर्भाव वनस्पतिके किस भेदमें होगा ?

समाधान—प्रत्येकरूपीर वनस्पतिमें उसका अन्तर्भाव होगा, ऐसा हम कहते हैं।

शंका—जो बादरनिगोदसे प्रतिष्ठित हैं वे कौन हैं ?

समाधान—शूद्र, अदरक और मूली आदिक वनस्पति बादर निगोदसे प्रतिष्ठित हैं। अब त्रसकायिक जीवोंके भेदोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका मूत्र कहते हैं—

सिद्धाकोटिद्विदशानार समाशिविवाधेय हासिदशनात् ऋ गदां पिद्वेयोजनतुणत्रं परशरानिगोदरुत्तानाम् सर्वजीवराशेन वरणमालमयमयपूयस्य तद्योगान्तमगो गो मते सगारिजीवराशिस्यस्य पिद्वेयविरुदानं च सुषट्कारं ? इति चेत्तत्र, केवलज्ञानदृष्टया केवलमि, धृतज्ञानदृष्टया श्रुतकेवलमि मया एतदत्र मयमगी-जीवराशयस्यस्यतिष्ठम वाचमंधिययतामानार । मयज्ञानमपिचितस्य च तर्कप्रमाणानार । जी म-दी

१ गो जी ११७ नित्यनिगोदलक्षणमनेन सातय । xxx पुंदेशामागिभिरियमकअर्थमारिना मर शब्देन यदाविदृष्टस्यपरिष्करणमागम्यत्वे चतुर्गतिजीवराशितो निगोदेषु अद्योत्तरदृष्टतर्कानु गीं गतेषु तातो जीवा नित्यनिगोदमात्र एकमा चतुर्गतिमत्र शब्दकतीयमयं प्रतिपादितो योऽयम् । जी म द

तसकाइया दुर्विहा, पज्जता अपज्जता ॥ ४२ ॥

गानार्थान्वासास्यार्थं उच्यते । किं त्रमः मूःमा उन चादरा इति ? चादरा एव न मूःमाः । कुतः ? तत्तान्अभ्यप्रिधायकार्पाभाभात् । चादरत्वविधायकार्पाभावे कथं तदवगम्यत इति चेन्न, उत्तमभ्रतन्तेषां चादरत्वमिद्वेः । के ते ? पृथिवीजायादय इति चेदुच्यते—

पुत्रो य सप्रज्ञा गडुना य उणंल तिआदि उचोनां ।

पुत्रोमया द जीवा णिदिआ विणारिदि ॥ १४९ ॥

त्रसकायिक जीव दो प्रकारके होते हैं, पर्याप्त और अपर्याप्त ॥ ४२ ॥ गतार्थ होनेसे इस सूत्रका अर्थ नहीं कहते हैं।

शंका—यस जीव तथा मूल्य होते हैं अथवा चादर ?

समाधान—यस जीव चादर ही होते हैं, सूत्रम नहीं होने।

शंका—यह कैसे जाना जाय ?

समाधान—स्वीकृत तस जीव मूल्य होते हैं, इसप्रकार त्रस्यन त्रसेमाला आगम प्रमाण नहीं पाया जाता है।

शंका—यस जीवोंके चादरप्रमाण प्रतिपादन करनेमाला आगम प्रमाण भी तो अभी तक नहीं आया है, फिर यह कैसे जाना जाय कि ये चादर ही होते हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, आगे अनेमाले सूत्रसे त्रस जीवोंका चादरपणा सिद्ध हो जाता है।

शंका—ये पृथिवीकाय आदि जीव मोनसे हैं ?

समाधान—जिनेन्द्र भगवन्नेने पृथिवी, शक्ति, चालुका उपल और शिला आदिके भेदसे पृथिवीमूल्य उचोम प्रकारके जीव कहे हैं ॥ १४९ ॥

निधेयार्थ—ऊपर जो पृथिवीके अन्तर्गत भेदोंकी अपेक्षा पृथिवीकायिक जीव उचलित प्रकारके कहे हैं, ये इसप्रकार हैं मृदा-रूप पृथिवी, गंगा आदि नदियोंमें उत्पन्न होनेमाली रूक्ष यालुका, तीक्ष्ण और चौकोर आदि प्रकारमाली शक्ति, गोल पर्यय, रसा पर्यय, समुद्रादिमें उत्पन्न होनेमाला ममक, लोहा, ताँबा, सीसा, चाँदी, सोना, रज (हीरा), हरिताल, इंगुल, मैमसिल, हरे खाला नम्यक, अजिन, मृगा, मोडल, चिकनी और चमकती हुई रेली,

१ पुराण म यथा तस्या य उल्ले मित म लेने य । य उव तउ य सीय रूप गल्ने य गरी य ॥ हरितांके हियुय गोमिण्य मस्याजग पतां य । पञ्चास गारा य गारराया नीगोपेया ॥ गोमयने य म्गो अके कद्रे य कोरिदरे य । परयम तेमिरे जग्गा सुने य ॥ गेतर चरा मगा गानेए तउ मगागन्ती य । त जाय पुंमिनांशा जागिषा परिरेरन ॥ म्गाना-२ ६-२-९९ । यामा नि ७३-७६ । उच ३६-७४-७७ । प्रजा. १ १७

ज्ञाना य इति भूमिं हरदशु सुसंज्ञो योऽहो ॥  
 इदं तु आउक्ताया जीवा विण सासृष्टिः ॥ १५० ॥  
 शब्द जाड-अनां ममुर मुद्गाणो तथा अगणो ।  
 अगो नि एमाई तेउताया समुदिश ॥ १५१ ॥  
 आउ-गो उरुदि-मडलि-गुजा महा यणा य तथा ।  
 एदे उ ताउताया जीवा निग-उरु-गिदिश ॥ १५२ ॥  
 भयण-गेर-वीया कदा तह पाव बीय-बीयरुहा ।  
 मसुदिश य भणिया पसेयणतकाया य ॥ १५३ ॥

कर्मन्तमणि, राचतर्करूप मणि, पुलकनर्मणि, स्फटिकमणि, पसरगमणि, चद्रकार्तमणि, धैर्यमणि, जलकान्तमणि, सूर्यकान्तमणि, गेल्बर्ण कथिराशमणि, चन्दनगन्धमणि, अनेक प्रकारता मरुतमणि, पुरारज, नीलमणि, और चिद्रुमवर्णवाली मणि ये सब पृथिवीके भेद हैं, इतलिये इनके भेदने पृथिवीज्ञानिक जीन भी छत्तीस प्रकारके हो जाते हैं ॥ १४९ ॥

जोम, पर्ण, ऊदरा, स्वूल विन्दुरूप जल, नूस्म विन्दुरूप जल, चद्रकान्तमणिसे उत्पन्न हुआ शुभ जल, गरजा आदिसे उत्पन्न हुआ जल, समुद्र, तालाव और वनवात आदिसे उत्पन्न हुआ गौरवक, अथवा, दररणु अर्थात् नालाव और समुद्र आदिसे उत्पन्न हुआ जल तथा नोदक अर्थात् मेघ आदिसे उत्पन्न हुआ जल ये सब जिन शासन्तमें जलकायिक जीव कहे गये हैं ॥ १५० ॥

अमात्र, ज्वाला, अग्नि अर्थात् आग्निकरण, सुर्ग अर्थात् भूसा अथवा कण्टकी अग्नि, युगाधि अर्थात् पिजली और सूर्यकान्त आदिसे उत्पन्न हुई अग्नि और धूमादिसहित सामान्य भाषि, ये चार अधिकाधिक जीव कहे गये हैं ॥ १५१ ॥

नामान्य वायु, उरुग्राम अर्थात् धूमता हुआ ऊपर जानेवाला वायु (चक्रवात), उत्कलि अर्थात् नीचकी ओर जानेवाला या जलकी तरंगोंके साथ तरंगित होनेवाला वायु, मण्डलि अर्थात् पृथिवीसे स्पर्श करके धूमता हुआ वायु, गुजा अर्थात् गुजायमान वायु, महावात अर्थात् दुर्सादिकके भंगसे उत्पन्न होनेवाला वायु, वनवात और तनुवात ये सब वायुकायिक जीव तिनके भगवान्से कहे हैं ॥ १५२ ॥

मूलीज, अघ्राज, पर्वज, कन्दर्बज, स्तब्धर्बज, वीजरुह और संसृष्टिम, ये सब प्राणत २०। प्राण नि १०८। उच ३६ ८६। प्रजा १ २०

२ ज्ञाना २२१। प्राण नि १०८। उच ३६ १००-१११। प्रजा १ २३

३ मृगता २१० उरुगिया मन्त्रिणा गुजा पचमाय मरुताया य। माद्र वाजनिहाणा पचक्रिना वीणय

ण ॥ प्राण नि १६६। उच ३६ ११९-१२०। प्रजा २ २६

४ गो जी १८६। मृजाण. २१३. प्रप मूर्धना जीवा यो मू प्रार्थमनि ते व हरिदाय । अग-

विधि तीरि चउहि पचहि सहिया जे इरिपहि लोयभि ।  
 ते तसकाया जीवा गेया वीरोवसेण ॥ १५४ ॥

पृथिवीकायिकार्दीना स्वरूपमभिधाय साम्प्रतं तेषु गुणस्थाननिरूपणाश्रमुत्तर-  
 व्रतमाह —

**पुढविकाहया आउकाहया तेउकाहया वाउकाहया वणफइ-  
 काहया एकम्मि चेष मिच्छइष्टि-द्वारे ॥ ४३ ॥**

आह, आत्तागमविषयश्रद्धारहिता मिथ्यादृष्टयो भण्यन्ते। श्रद्धाभावश्राद्धेयवस्तु-  
 परिज्ञानपूर्वकः। तथा च पृथिवीनायादीनामात्तागमविषयपरिज्ञानोद्धितानां कथं मिथ्या-

वनस्पतिया सम्प्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येकके भेदसे देना प्रकारकी कही गई है ॥ १५३ ॥  
 लोहमें जो जीव दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पाच इन्द्रियोंसे युक्त हैं उहें वरि भगवान्के उपदेशसे ब्रह्मकायिक जीव जानना चाहिये ॥ १५४ ॥

पृथिवीकायिक आदि जीवोंके स्वरूपका कथन करके अब उनमें गुणस्थानों का निरूपण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक जीव मिथ्यादृष्टि नामक प्रथम गुणस्थानमें ही होते हैं ॥ ४३ ॥

गंजा—शकाकार कहता है कि आप्त, आगम और पदार्थकी अद्वारे रहित जीव मिथ्यादृष्टि कहे जाते हैं, और श्रद्धान करने योग्य वस्तुमें विषयीन नानपूर्वक ही अथवा अर्थात् मिथ्याभिगिवेश हो सकता है। ऐसी अवस्थामें आप्त, आगम और पदार्थके परिज्ञानने रहित पृथिवीकायिक आदि जीवोंके मिथ्यादृष्टिाना कैसे सम्भव है ?

अग्रर्षा जीवा कोष्टकमालिका कुञ्जकादयो येषामत्र प्रारोहति । योगीया मंत्रजीजीवा इयुनेनादया येवा पोरप्रदेश प्रारोहति । कदा कन्दर्बीना लडलीपिण्डालुकादयो येषां कन्दलेश प्राहुर्मति । तत्र तथा । सखरीया स्तब्धवामजजात्रा गल्लरीपालिमद्रकादयो येषां रुच्यदेशो रोहति । योगीया विजयीजा जीवा यामोमुदादयो येवा क्षेत्रोदरदिमामाया प्ररोह । सम्पुष्टिमाय मम्पुष्टिमाश मूलयमावेजि येषां जन्म ।  $\times \times$  पसेया प्रलम्पजीवा पूगफलनलिकेपादन । अणतनाया य अणतनायाय स्तुहीयुःप्यादय , ये लिता मिवाण प्ररोहति ।  $\times \times$  रा टी अणवीया मूलवीया सखरीया चेष पीरवीया य । वीगन्हा मम्पुष्टिम मामामवीणमई जीता ॥ आचा. नि १३०। उच ३६ १३२-१००। प्रजा २ २९-४८

१ गो जी १९८

२ तयावृकदेन पृथिवीजापादियु वनस्पतिकायातेतु पुरुमेव मिययदृष्टिभानम् । य नि १८

दृष्टत्वमिति नैप दोषः, परिज्ञाननिरपेक्षमूढमिथ्यात्वसत्तस्य तत्रविरोधात् । अथवा ऐकान्तिकंशैथिकमूढव्युद्ग्राहितैवैनयिकस्वाभाविकविविपरितमिथ्यात्वानां सप्तानामपि तत्र संभवः संमस्ति । अत्रतन्जीवानां सप्तविधमिथ्यात्वकलङ्काङ्कितहृदयानामविनष्ट-मिथ्यात्वपर्ययेण सह स्थावरत्वमुपगतानां तत्सत्त्वाविरोधात् । इन्द्रियानुवादेन एकेन्द्रिया विकलेन्द्रियाश्च सर्वे मिथ्यादृष्टय इत्यभाणि, ततस्तेनैव गतार्थत्वान्ना-रम्णीयमिदं सूत्रमिति नैप दोषः, पृथिवीकायादीनामिन्तीन्द्रियाणि भवन्ति न भवन्तीति अनवगतस्य विस्मृतस्य वा शिष्यस्य प्रश्नशब्दादस्य सूत्रस्यावतारात् ।

त्रसजीवप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

**तसकाइया बीईदिय-प्पहुडि जाव अजोगिकेवलि ति ॥ ४४ ॥**

एते त्रसनामकर्मोदयशशवर्तिनः । के पुनः स्थावराः इति चेदेकेन्द्रियाः ।

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, पृथिवीकायिक आदि जीवोंमें परिज्ञानकी अपेक्षारहित मूढ मिथ्यात्वका सद्भाव मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है । अथवा, ऐकान्तिक, सांशयिक, मूढ, व्युद्ग्राहित, वैनयिक, स्वाभाविक और विपरीत इन सातों प्रकारके मिथ्यात्वोंका भी उन पृथिवीकायिक आदि जीवोंमें सद्भाव संभव है, क्योंकि, जिनका हृदय सात प्रकारके मिथ्यात्वरूपी कलङ्के अंकित है ऐसे मनुष्यादि गतिसंबन्धी जीव पहले ग्रहण की हुई मिथ्यात्व पर्यायको न छोड़कर जब स्थावर पर्यायको प्राप्त हो जाते हैं, तो उनके सातों ही प्रकारका मिथ्यात्व पाया जाता है, इस कथन में कोई विरोध नहीं आता है ।

शंका—इन्द्रियानुवादसे एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय ये सब जीव मिथ्यादृष्टि होते हैं, ऐसा कह आये हैं, इसलिये उसीसे यह ज्ञान हो जाता है कि पृथिवीकायिक आदि जीव मिथ्यादृष्टि होते हैं । अतः इस सूत्रको प्रथक् रूपसे बनानेकी कोई आवश्यकता नहीं थी ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, पृथिवीकाय आदि जीवोंके इतनी इन्द्रिया होती हैं, अथवा इतनी इन्द्रिया नहीं होती हैं, इसप्रकार जिस शिष्यको ज्ञान नहीं है, अथवा जो मूल गया है, उस शिष्यके प्रश्नके अनुरोधसे इस सूत्रका अवतार हुआ है ।

अब त्रस जीवोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

द्वीन्द्रियसे आदि लेकर अयोगिकेवलितक त्रस जीव होते हैं ॥ ४४ ॥

इन सब जीवोंके त्रस नामकर्मका उदय पाया जाता है, इसलिये इन्हें त्रसकायिक कहते हैं ।

शंका—स्थावर जीव कौन कहलाते हैं ?

समाधान—एकेन्द्रिय जीव स्थावर कहलाते हैं ।

१ त्रसकायेषु चतुर्दशापि मति । म नि १ ८

कथमनुक्तमवगम्यते चेत्परिशेषात् । स्थावरकर्मणः किं कार्यमिति चेदेकस्थानावस्था-पकत्वम् । तेजोवाय्वक्कायानां चलनात्मकानां तथा सत्यस्थावरत्वं स्यादिति चेन्न, स्थास्त्वानां प्रयोगतश्चलच्छिन्नघर्णानामिव गतिपर्यायपरिणतसमीरणव्यव्यतिरिक्तशरीरत्वत-स्तेषां गमनाविरोधात् ।

बादरजीवप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

**बादरकाइया बादरेईदिय-प्पहुडि जाव अजोगिकेवलि ति ॥ ४५ ॥**

बादरः स्थूलः सप्रतिघातः कायो येषां ते बादरकायाः । पृथिवीकायिकादिषु वनस्पतिपर्यन्तेषु पूर्वमेव बादराणां सूक्ष्मणां च सत्त्वमुक्त ततोऽत्र बादरैकेन्द्रियग्रहण-मनर्थकमिति चेन्नानर्थकम्, प्रत्येकशरीरवनस्पत्युपादानार्थम् तदुपादानात्प्रत्येकशरीर-

शंका—सूत्रमें एकेन्द्रिय जीवोंको स्थावर तो कहा नहीं है, फिर कैसे जाना जाय कि एकेन्द्रिय जीवोंको स्थावर कहते हैं ?

समाधान—सूत्रमें जब द्वीन्द्रियादिक जीवोंको त्रसकायिक कहा है, तो परिशेष-न्यायसे यह जाना जाता है कि एकेन्द्रिय जीव स्थावर कहलाते हैं ।

शंका—स्थावरकर्मका क्या कार्य है ?

समाधान—एक स्थान पर अवस्थित रखना स्थावरकर्मका कार्य है ।

शंका—ऐसा मानने पर, गमन स्वभाववाले अशिकायिक, वायुकायिक और जल-कायिक जीवोंको अस्थावरपना प्राप्त हो जायगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जिसप्रकार वृक्षमें लगे हुए पत्ते वायुसे हिला करते हैं और दूटने पर इधर उधर उड़ जाते हैं, उसीप्रकार अशिकायिक और जलकायिकके प्रयोगसे गमन माननेमें कोई विरोध नहीं आता है । तथा वायुके गतिपर्यायसे परिणत शरीरको छोड़कर कोई दूसरा शरीर नहीं पाया जाता है, इसलिये उसके गमन करनेमें भी कोई विरोध नहीं आता है ।

अब बादर जीवोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

बादर एकेन्द्रिय जीवोंसे लेकर अयोगिकेवलपर्यन्त जीव बादरकायिक होते हैं ॥ ४५ ॥

जिन जीवोंका शरीर बादर, स्थूल अर्थात् प्रतियातसहित होता है उन्हें बादरकाय कहते हैं ।

शंका—पृथिवीकायिकसे लेकर वनस्पति पर्यन्त जीवोंमें बादर और सूक्ष्म दोनों प्रकारके जीवोंका सद्भाव पहले ही कह आये है, इसलिये इस सूत्रमें बादर एकेन्द्रिय पदका ग्रहण करना निष्फल है ?

समाधान—अनर्थक नहीं है, क्योंकि, प्रत्येकशरीर वनस्पतिके ग्रहण करनेके लिये





ज्ञानरूपत्वतः उपयोगान्तर्भावात् इति न त्रितयविकल्पोक्तदोषः, तेषामनभ्युपगमात् ।  
कः पुनः मनोयोग इति चेद्भावमनसः समुत्पत्त्यर्थः प्रयत्नो मनोयोगः । तथा वचसः  
समुत्पत्त्यर्थः प्रयत्नो वाग्योगः । कायक्रियासमुत्पत्त्यर्थः प्रयत्नः काययोगः । त्रयाणां  
योगानां प्रवृत्तिक्रमेण उत नेति ? नाक्रमेण, त्रिविक्रमैकस्यात्मनो योगनिरोधात् ।  
मनोवाकायप्रवृत्तयोऽक्रमेण क्वचिद् दृश्यन्त इति चेद्भवतु तासां तथा प्रवृत्तिर्दृष्टत्वात्, न  
तत्रयत्नानामक्रमेण वृत्तित्थोपदेशाभावादिति । अथ स्यात्प्रयत्नो हि नाम बुद्धिपूर्वकः,  
बुद्धिश्च मनोयोगपूर्विका, तथा च सिद्धो मनोयोगः शेषयोगाधिनाभावीति न, कार्य-  
कारणरूपत्वतः रहती है, इसलिये एक योगकी स्थिति भी अहोरात्र प्रमाण माननी  
पड़ेगी । किंतु आगममें तो एक योगकी स्थिति एक अन्तर्मुहूर्तसे अधिक नहीं मानी है ।  
अतः क्रियासहित अवस्था भी योग नहीं हो सकता है । इसीप्रकार भावमनके साथ सवन्ध  
होनेको भी मनोयोग नहीं कह सकते हैं, क्योंकि, भावमन ज्ञानरूप होनेके कारण उसका  
उपयोगमें अन्तर्भाव हो जाता है ?

समाधान—इसप्रकार तीनों विकल्पोंके द्वारा दिये गये दोष प्राप्त नहीं होते हैं,  
क्योंकि, उक्त तीनों ही विकल्पोंको स्वीकार नहीं किया है ।

शंका—तो फिर मनोयोगका क्या स्वरूप है ?

समाधान—भावमनकी उत्पत्तिके लिये जो प्रयत्न होता है उसे मनोयोग कहते हैं ।  
उसीप्रकार वचनकी उत्पत्तिके लिये जो प्रयत्न होता है उसे वचनयोग कहते हैं और कायकी  
क्रियाकी उत्पत्तिके लिये जो प्रयत्न होता है उसे काययोग कहते हैं ।

शंका—तीनों योगोंकी प्रवृत्ति युगपत् होती है या नहीं ?

समाधान—युगपत् नहीं होती है, क्योंकि, एक आत्माके तीनों योगोंकी प्रवृत्ति  
युगपत् मानने पर योगनिरोधका प्रसंग आजायगा । अर्थात् किसी भी आत्माके योग नहीं  
बन सकेगा ।

शंका—कहीं पर मन, वचन और कायकी प्रवृत्तिया युगपत् देखी जाती हैं ?

समाधान—यदि देखी जाती है, तो उनकी युगपत् वृत्ति होको । परंतु इससे, मन  
वचन और कायकी प्रवृत्तिके लिये जो प्रयत्न होते हैं उनकी युगपत् वृत्ति सिद्ध नहीं हो  
सकती है, क्योंकि, आगममें इसप्रकार उपदेश नहीं मिलता है ।

विशेषार्थ—तीनों योगोंकी प्रवृत्ति एकसाथ हो सकती है, प्रयत्न नहीं ।

शंका—प्रयत्न बुद्धिपूर्वक होता है, और बुद्धि मनोयोगपूर्वक होती है । ऐसी परि-  
स्थितिमें मनोयोग शेष योगोंका अधिनाभावी है, यह बात सिद्ध हो जाना चाहिये ? अर्थात्  
अनेक प्रयत्न एक साथ होते हैं यह बात सिद्ध हो जायगी ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, कार्य और कारण इन दोनोंकी एक कालमें उत्पत्ति नहीं हो  
सकती है ।

कारणयोरैककाले समुत्पत्तिविरोधात् । तदस्यास्यस्मिन्निति इति सति सिद्धं मनोयोगी  
त्राय्योगी काययोगीति ।

योगातीतजीवप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

अजोगी चेदि ॥ ४८ ॥

न योगी अयोगी । उक्त च—

जेसि ण सति जोगा सुहासुहा पुण्ण-पाव सजणया ।

ते होति अजोइजिणा अणोवमाणत वल-कलियां ॥ १५३ ॥

मनोयोगस्य सामान्यतः एकविधस्य भेदप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

मणजोगो चउब्बिहो, सच्चमणजोगो मोसमणजोगो सच्चमोस-  
मणजोगो असच्चमोसमणजोगो चेदि ॥ ४९ ॥

सत्यमवित्तथममोघामित्यनर्थान्तरम् । सत्ये मनः सत्यमनः तेन योगः सत्यमनो-  
योगः । तद्विपरीतो मोपमनोयोगः । तदुभययोगात्सत्यमोपमनोयोगः । उक्तं च—

बहु मनोयोग जिसके या जिस जर्विमं होता है उसे मनोयोगी कहते हैं । यहा पर  
मनोयोग शब्दसे 'इन्' प्रत्यय कर देने पर मनोयोगी शब्द बन जाता है । इसीप्रकार वाग्योगी  
और काययोगी शब्द भी बन जाते हैं ।

अब योग रहित जीवोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

अयोगी जीव होते हैं ॥ ४८ ॥

जिनके योग नहीं पाया जाता है वे अयोगी हैं । कहा भी है—

जिन जीवोंके पुण्य और पापके उत्पादक शुभ और अशुभ योग नहीं पाये जाते  
हैं वे अनुपम और अनन्त-बल सहित अयोगीजिन कहलाते हैं ॥ १५३ ॥

सामान्यकी अपेक्षा एक प्रकारके मनोयोगके भेदोंके प्रतिपादन करनेके लिये  
आगेका सूत्र कहते हैं—

मनोयोग चार प्रकारका है, सत्यमनोयोग, मृयामनोयोग सत्यमृयामनोयोग, और  
असत्यमृयामनोयोग ॥ ४९ ॥

सत्य, अवितथ और अमोघ, ये एकार्थवाची शब्द हैं । सत्यके विषयमें होनेवाले मनको  
सत्यमन कहते हैं, और उसके द्वारा जो योग होता है उसे सत्यमनोयोग कहते हैं । इससे  
विपरीत योगको मृयामनोयोग कहते हैं । जो योग सत्य और मृया इन दोनोंके सयोगसे उत्पन्न  
होता है उसे सत्यमृयामनोयोग कहते हैं । कहा भी है—

१ गो जी २४३ अन योगामात्रे सति अयोगिजन्यादीनां बलाभान प्रमत्तते अस्मदादिषु बल्य  
योगाश्रितःतदर्थनाए, इत्याशयक्य इदमुच्यते अट्टपमानतवलहलितता । जी प्र.यी.

तन्मनो सच्चमनो ते जोगे तेण सच्चमनजोगे ।

तस्मिन्मनो सच्चमनो ते जोगे तेण सच्चमनजोगे ॥ १५४ ॥

वाच्यां मलयमोषाभ्यां व्यतिरिक्तोऽमत्यमोषमनोयोगः । तद्दुर्भयसंयोगोऽस्तु ? मनःशुक्तिः चरुः प्रवृत्तिः अन्यथाऽनुपलम्भात् । तत्र सत्यवचननिबन्धनमनसा योगः मलयमनोयोगः । तथा मोषवचननिबन्धनमनसा योगो मोषमनोयोगः । उभयात्मकवचननिबन्धनमनसा योगः सत्यमोषमनोयोगः । त्रिविधवचनव्यतिरिक्तमन्त्रणादिवचननिबन्धनमनसा योगोऽमत्यमोषमनोयोगः । नायमर्थो मुख्यः सकलमनसामव्यापकत्वात् । कः पुनर्निर्गमोऽर्थव्यथावस्तु प्रवृत्तं मनः सत्यमनः । विपरीतमसत्यमनः ।

मद्भाग अर्थत्वं मत्यर्थको विषय करनेवाले मनको सत्यमन कहते हैं और उससे जो योग होता है उसे सत्यमनोयोग कहते हैं । इससे विपरीत योगको मृयामनोयोग कहते हैं । प्रत्यक्षा योगको मद्यमृयामनोयोग जाने ॥ १५३ ॥

मन्वमनोयोग और मृयामनोयोगसे व्यतिरिक्त योगको असत्यमृयामनोयोग कहते हैं ।

शंका—तो अन्तरमृयामनोयोग ( अनुभव ) उभयसंयोगज रहा अथे ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, उभयसंयोगजका तीसरे भेदमें अन्तर्भाव हो जाता है ।

शंका—तो फिर इनसे भिन्न चौथा अनुभव मनोयोग कौनसा है ?

समाधान—समस्तक जीवोंमें वचनप्रवृत्ति मनपूर्वक देखी जाती है, क्योंकि, मनके बिना उनमें वचनप्रवृत्ति नहीं पाई जाती है । इसलिये उन चारोंमेंसे सत्यवचननिमित्तक मनके निमित्तसे होनेवाले योगको सत्यमनोयोग कहते हैं । असत्य वचन निमित्तक मनसे होनेवाले योगको असत्यमनोयोग कहते हैं । सत्य और मृया इन दोनोंरूप वचननिमित्तक मनसे होनेवाले योगको उभय मनोयोग कहते हैं । उक्त तीनों प्रकारके वचनोंसे भिन्न आमन्त्रण आदि अनुभवस्वरूप वचन निमित्तक मनसे होनेवाले योगको अनुभवमनोयोग कहते हैं । फिर भी उक्त प्रकारका कथन मुख्यार्थ नहीं है, क्योंकि, इसकी संपूर्ण मनके साथ व्यतिरिक्त नहीं पाई जाती है । अर्थात् उक्त कथन उपचरित है, क्योंकि, वचनकी सत्यादिक्रममें मनमें सत्य आदि का उपचार किया गया है ।

शंका—तो फिर यदा पर निर्दोष अर्थ कौनसा लेना चाहिये ?

१ गा जी २१- गह्रा गयानं तस्मिन् मन मयमन, मयार्थवानजनशक्तिय भावमन  
१५४ अस्मिन्मनो सच्चमनो ते जोगे तेण सच्चमनजोगे मृया अमत्यमोषो योगे ।  
अमत्यमोषो योगोऽमत्यमोषमनोयोगः । नायमर्थो मुख्यः सकलमनसामव्यापकत्वात् । कः पुनर्निर्गमोऽर्थव्यथावस्तु प्रवृत्तं मनः सत्यमनः । विपरीतमसत्यमनः ।

द्वयात्मकमुभयमनः । संगयानध्यवसायज्ञाननिबन्धनमसत्यमोषमन इति । अथवा तद्वचनजननयोग्यतामपेक्ष्य चिरन्तनोऽव्यर्थः समीचीन एव । उक्तं च—

ण य सच्च-मोस-जुतो जो दु मणो सो असच्चमोसमणो ।

जो जोगो तेण हेते असच्चमोतो दु मणजोगो ॥ १५५ ॥

मनसो भेदमधियाय माम्प्रतं गुणस्थानेषु तत्स्वरूपनिरूपणार्थमुत्तरसूत्रमाह—

मणजोगो सच्चमणजोगो असच्चमोसमणजोगो सणिमिच्छा-  
इष्टि-पहुडि जाव सजोगिकेवलि ति ॥ ५० ॥

मनोयोग इति पञ्चमो मनोयोगः क्व लब्धश्चैव दोषः, चतसृणां मनोव्यक्तीनां सामान्यस्य पञ्चगत्यवोपपत्तेः । किं तत्सामान्यमिति चेन्नमनसः सादृश्यम् । मनसः

समाधान—जहा जिसप्रकारकी वस्तु विद्यमान हो, वहा उसीप्रकारसे प्रवृत्ति करनेवाले मनको सत्यमन कहते हैं । इससे विपरीत मनको असत्यमन कहते हैं । सत्य और असत्य इन दोनोंरूप मनको उभयमन कहते हैं । तथा जो सशय और अन्तश्चरारारूप ज्ञानका कारण है उसे अनुभव मन कहते हैं । अथवा मनमें सत्य, असत्य आदि नवनोंको उत्पन्न करनेरूप योग्यता है, उसकी अपेक्षासे सत्यवचनादिके निमित्तसे होनेके कारण जिसे पहले उपचार कइ अर्थे हैं वह कथन मुख्य भी है । कहा भी है—

जो मन सत्य और मृयासे युक्त नहीं होता है उसको असत्यमृयामन कहते हैं, और उससे जो योग अर्थात् प्रयत्नविशेष होता है उसे असत्यमृयामनोयोग कहते हैं ॥ १५५ ॥

मनोयोगके भेदोंका कथन करके अब गुणस्थानोंमें उसके स्वरूपका निरूपण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सामान्यसे मनोयोग और विशेषरूपसे सत्यमनोयोग तथा असत्यमृयामनोयोग सभी मिथ्यादृष्टिसे लेकर सयोगिकेवली पर्यन्त होते हैं ॥ ५० ॥

शंका—चार मनोयोगोंके अतिरिक्त मनोयोग इस नामका पाचवा मनोयोग कहासे आया ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, भेदरूप चार प्रकारके मनोयोगोंमें रहनेवाले सामान्य योगके पाचवी संख्या बन जाती है ।

शंका—वह सामान्य क्या है जो चार प्रकारके मनोयोगोंमें पाया जाता है ?

समाधान—यहा पर सामान्यसे मनकी सदृशताका ग्रहण करना चाहिये ।

समुत्पत्तये प्रयत्नो मनोयोगः । पूर्वप्रयोगात् प्रयत्नमन्तरेणापि मनसः प्रवृत्तिर्हस्यते इति चेद्भवतु, न तेन मनसा योगोऽत्र मनोयोग इति विवक्षितः, तन्निमित्तप्रयत्नसम्यन्धस्य परिस्पन्दरूपस्य विवक्षितत्वात् ।

भवतु केवलिनः सत्यमनोयोगस्य सत्त्वं तत्र वस्तुयाथात्म्यावगतेः सत्त्वात् । नासत्यमोपमनोयोगस्य सत्त्वं तत्र भंशयानध्यवसाययोरभावादिति न, संशयानध्यवसाय-निबन्धनवचनहेतुमनसोऽध्यवसायमनस्त्वमस्तीति तत्र तस्य सत्त्वाविरोधात् । किमिति केवलिनो वचनं संशयानध्यवसायजनकमिति चेत्सार्थानन्त्याच्छोतुरावरणक्षयोपशमाति-शयाभावात् । तीर्थकरवचनमनश्चरत्वाद् ध्वनिरूपं तत एव तदेकम् । एकत्वान्न तस्य द्वैविध्यं घटत इति चेन्न, तत्र सादित्यादि असत्यमोपवचनसत्त्वात्स्य भवेननश्चरत्वा-मनकी उत्पत्तिके लिये जो प्रयत्न होता है उसे मनोयोग कहते हैं ।

शंका -- पूर्व प्रयोगसे प्रयत्नके विना भी मनकी प्रवृत्ति देखी जाती है ?

समाधान -- यदि प्रयत्नके विना भी मनकी प्रवृत्ति होती है तो होने दें, क्योंकि, ऐसे मनसे होनेवाले योगको मनोयोग कहते हैं, यह अर्थ यहाँ पर विवक्षित नहीं है । किंतु मनके निमित्तसे जो परिस्पन्दरूप प्रयत्नविशेष होता है, वह यहाँ पर योगरूपसे विवक्षित है ।

शंका -- केवली जिनके सत्यमनोयोगका सद्भाव रहा अथे, क्योंकि, वहाँ पर वस्तुके यथार्थ ज्ञानका सद्भाव पाया जाता है । परंतु उनके असत्यमृगमनोयोगका सद्भाव सभव नहीं है, क्योंकि, वहाँ पर संशय और अनध्यवसायरूप ज्ञानका अभाव है ?

समाधान -- नहीं, क्योंकि, संशय और अनध्यवसायके कारणरूप वचनका कारण मन होनेसे उसमें भी अनुभयरूप धर्म रह सकता है । अतः सयोगी जिनमें अनुभय मनोयोगका सद्भाव स्वीकार कर लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

शंका -- केवलीके वचन संशय और अनध्यवसायको पैदा करते हैं इसका क्या तात्पर्य है ?

समाधान -- केवलीके ज्ञानके विषयभूत पदार्थ अनन्त होनेसे और श्रोतके आवरण-कर्मका क्षयोपशम अतिशयरहित होनेसे केवलीके वचनोंके निमित्तसे संशय और अनध्य-वसायकी उत्पत्ति हो सकती है ।

शंका -- तीर्थकरके वचन अनश्चररूप होनेके कारण ध्वनिरूप हैं, और इसलिये वे एकरूप हैं, और एकरूप होनेके कारण वे सत्य और अनुभय इसप्रकार दो प्रकारके नहीं हो सकते हैं ?

समाधान -- नहीं, क्योंकि, केवलीके वचनमें ' स्यात् ' इत्यादिरूपसे अनुभयरूप वचनका सद्भाव पाया जाता है, इसलिये केवलीकी ध्वनि अनश्चररूपक है यह बात असिद्ध है ।

सिद्धेः । साक्षरत्वे च प्रतिनियतैकभाषात्मकमेव तद्वचनं नाशेषभाषारूपं भवेदिति चेन्न, क्रमविशिष्टवर्णान्तरकभूयःपङ्क्तिरुदम्बकस्य प्रतिप्राणिप्रवृत्तस्य ध्वनेरशेषभाषारूपत्वाविरो-धात् । तथा च कथं तस्य ध्वनित्वमिति चेन्न, एतद्भाषारूपमेवेति निर्देष्टुमशक्यत्वतः तस्य ध्वनित्वसिद्धेः । अतीन्द्रियज्ञानत्वाच्च केवलिनो मन इति चेन्न, द्रव्यमनसः सत्त्वात् । भवतु द्रव्यमनसः सत्त्वं न तत्कार्यमिति चेद्भवतु तत्कार्यस्य क्षायोपशमिक-ज्ञानस्याभावः, अपि तु तदुत्पादने प्रयत्नोऽस्त्येव तस्य प्रतिबन्धरुत्वाभावात् । तेनात्मनो

शंका -- केवलीकी ध्वनिको साक्षर मान लेने पर उनके वचन प्रतिनियत एक भाषारूप ही होंगे, अशेष भाषारूप नहीं हो सकेंगे ?

समाधान -- नहीं, क्योंकि, क्रमविशिष्ट, वर्णान्तरक, अनेक पङ्क्तियोंके समुच्चयरूप और सर्व श्रोतार्थोंमें प्रवृत्त होनेवाली ऐसी केवलीकी ध्वनि संपूर्ण भाषारूप होती है ऐसा मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

शंका -- जब कि वह अनेक भाषारूप है तो उसे ध्वनिरूप कैसे माना जा सकता है ?

समाधान -- नहीं, क्योंकि, केवलीके वचन इसी भाषारूप ही हैं, ऐसा निर्देश नहीं किया जा सकता है, इसलिये उनके वचन ध्वनिरूप हैं यह बात सिद्ध हो जाती है ।

शंका -- केवलीके अतीन्द्रिय ज्ञान होता है, इसलिये उनके मन नहीं पाया जाता है ? समाधान -- नहीं, क्योंकि, उनके द्रव्यमनका सद्भाव पाया जाता है ।

शंका -- केवलीके द्रव्यमनका सद्भाव रहा अथे, परंतु वहाँ पर उसका कार्य नहीं पाया जाता है ?

समाधान -- द्रव्यमनके कार्यरूप उपयोगात्मक क्षायोपशमिक ज्ञानका अभाव भले ही रहा अथे, परंतु द्रव्यमनके उत्पन्न करनेमें प्रयत्न तो पाया ही जाता है, क्योंकि, द्रव्यमनकी वर्णान्तरोंके लानेके लिये होनेवाले प्रयत्नमें कोई प्रतिबन्धक कारण नहीं पाया जाता है । इसलिये यह सिद्ध हुआ कि उस मनके निमित्तसे जो आत्माका परिस्पन्दरूप प्रयत्न होता है उसे मनोयोग कहते हैं ।

१ वयणं निणा अथपदुपायण ण समवदं, एहुमत्थाण सण्णाए परुवणाणुवत्तादो । ण चाणएए ( चाणकवरपाए ) इणीए अथपदुपायण खुज्जदे, अणवरुभामातिरिवल्ले मोयूण अण्णेसि ततो अत्थानगमाभावादो । ण च दिव्यच्चुणी अणत्तरपिय्या चैनं, अट्टाससत्तसयमासहुमासपिय्याचादो । धवला अ पु ६९३ सूयपीरणीपु भगवत्ततीर्थसस ताव्वाहपुटवचलनमतरेण सकलभाषास्वरूपदिव्यध्वनियमकव्यनविधान X X कथ्यते । धवला अ पु ७०६ सा नि य ण भवमओ अट्टरागहा भासा मासिज्जमाणी तेषि सचेसि आयरियमगायियाण दुपयचउपयमियपसुपिखसिरीसियाण अपण्णो भामताए परिणमइ । सम स ३४ अट्टादशमहाभाषासत्तशत-शुद्धभाषामध्यक्षरानक्षरमाया मत्तयत्ताहुदत्ताहठठय्यापारमव्यजनानन्दकगुणसवोत्तरप्रतिपादपदिव्यध्वन्युपेत । गो जी , जी य , टी १ X X सायनवथाणियमहुगराभीरकोचणिवोमहुडुभिस्मेरे उरे तिष्ठडाए वठेऽवाडियाए सिरे समाहण्णाए पुण्णरताए मन्वमामाणुगामिणाए सरस्समहए जोगणीशरिया सरंग अट्टनागहाए मामाए भामति अरिहा

योगः मनोयोगः । विद्यमानोऽपि तदुत्पादने प्रयत्नः किमिति स्वकार्यं न विदध्यादिति चेतन, तत्त्वकारिणः श्रमोपयोग्यमात्रात् । असतो मनसः कथं वचनद्वितयसमुत्पत्तिरिति चेन्न, उपचारतत्त्वोस्ततः सप्रत्यक्षविधानात् ।

अयमनमोर्गुणस्थानप्रतिपादनार्थमुत्तरप्रश्नमाह—

मोसमणजोगो सच्चमोसमणजोगो साणिमिच्छाहृदि-पहुडि  
जाय खीण-कसाय-वीराराय-छुडुमत्था ति ॥ ५१ ॥

भवतु नाम क्षपकोपशमकानां सत्यस्यासत्यमोसस्य च सच्च नेतरयोरप्रमादस्य शंका—केवलीके इव्यमनको उत्पन्न करनेमें प्रयत्न विद्यमान रहते हुए भी वह अपने कार्यको स्यों नहीं करता है ।

समाधान—नहीं, क्योंकि, केवलीके मानसिक ज्ञानके सहकारी कारणरूप क्षयोपशमका अभाव है, इसलिये उनके मनोनिमित्तक ज्ञान नहीं होता है ।

शंका—उच्य कि केवलीके योग्यमें अर्थात् क्षयोपशमिक मन नहीं पाया जाता है, तो उनसे मत्त और अनुभव इन दो प्रकारकी वचनोंकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, उपचारसे मनके द्वारा उन दोनों प्रकारके वचनोंकी उत्पत्तिका विधान किया गया है ।

अप शेष दो मनोयोगोंके गुणस्थानोंके प्रतिपादन करनेके लिये अग्रेका सूत्र कहते हैं— असत्यमनोयोग और उभयमनोयोग सद्यः मित्याद्यष्टि गुणस्थानसे लेकर क्षीणकयाय-पीतमग छापस्य गुणस्थानतक पये जाते हैं ॥ ५२ ॥

शंका—क्षपक और उपशमक जीवोंके सत्यमनोयोग और अनुभवमनोयोगका सद्भाव भवन परिच्छेद । ४२ मा ति य न चन्द्रमागहा भामा तेमि गन्धि अरियमणोरियाण अण्णां मानापु परिणामेण परिणमद । ५५ ग. २४ - तापोयाभजन ज्ञाणां संभावानुवा प्रमो ॥ तथाहु श्री हेमचरय ज्ञाव्याहुणामन्तं, अर्थात्तरादुपच पयणोपि गतिनीम् । गन्मापपरिणता जना गानुपासते ॥ देवा देवीं नरा नारा श्रमराथापि गच्छन् । तिर्नानि च तेरपी मन्तिर मगादिष् ॥ यया जलधर्यागम जाययाणां सिंघत । नानारम मत्तयेन गान भवागामपि ॥ व्याश्रोत्रलकता च समानादर्धमागरी । राता रे लक्षणे मसां मागथा शाकृतस्य च ॥ यन्तिरे तथा इरागामि मरणा । श्रियते मति तमानां गतालोपवचोमिधि ॥ अमच्छेदे सक्षयानामस्यत्रा यदुभयतर । अम्येतामि हाचन मौरु हागमप्रह ॥ शब्दशोभितिनन्वा मन्तीदृशी म्वांसि च । प्रमुक्तैरुचर रानारमपुणामरि ॥ गर जतराणेन मिनेन युगपथा । 'मते नपि' चि गमनेन प्रियात्नियोऽपि शोभिता ॥ शो ५ ३०, ६२-६४२ गार्गिणोर्पाया माया मसति, कोऽर्थ ? अयं मगवद्रापाया मगवेदसमागामक, अर्थ च पापगत म । समार देवापीर म तदनेनशान्चिरे ? मगादेसमिधानं तथापरिणतया मापया मरुतमामया गार्गि । पशु ४ ३२ ( न. श्री )

अमादविरोधित्वादिति न, रजोबुधां विपर्ययानध्ययनसायाज्ञानकारणमनसः सच्चा-विरोधात् । न च तद्योगात्प्रमादिनस्ते प्रमादस्य मोहपर्यायत्वात् ।

वाग्योगभेदप्रतिपादनार्थमुत्तरप्रश्नमाह—

वचिजोगो चरुविवहो सच्चवचिजोगो मोसवचिजोगो सच्चमोस-  
वचिजोगो असच्चमोसवचिजोगो चेदि ॥ ५२ ॥

चतुर्विधमनोभ्यः समुत्पन्नवचनानि चतुर्विधान्यपि तद्वच्यपदेशं प्रतिलभन्ते  
तथा प्रतीयते च । उक्तं च—

दमविह-सच्चै वयणे जो जोगो सो हु सच्चवचिजोगो ।

तविवरीदो मोसो जाणुभय सच्चमोस ति' ॥ १५६ ॥

जो णेव सच्च-मोसो त जाण असच्चमोसवचिजोगो ।

अमणण जा भासा सण्णीणामतगीयादीं ॥ १५७ ॥

रहा आवे, परतु वार्कके दो अर्थात् असत्यमनोयोग और उभयमनोयोगका सद्भाव नहीं हो सकता है, क्योंकि, इन दोनोंमें रहनेवाला अप्रमाद असत्य और उभय मनके कारणभूत प्रमादका विरोधी है ? अर्थात् क्षपक और उपशमक प्रमादरहित होते हैं, इसलिये उनके असत्यमनोयोग और उभयमनोयोग नहीं पाये जा सकते हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, आवरणकर्मसे युक्त जीवोंके विपर्यय और अलभत्वस्वरूप अज्ञानके कारणभूत मनके सद्भाव मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है । परंतु इसके सव्यसे क्षपक या उपशमक जीव प्रगत नहीं माने जा सकते हैं, क्योंकि, प्रमाद मोहकी पर्याय है ।

अथ वचनयोगके भेदोंके प्रतिपादन करनेके लिये अग्रेका सूत्र कहते हैं—

वचनयोग चार प्रकारका है, सत्यवचनयोग, असत्यवचनयोग, उभयवचनयोग, और अनुभववचनयोग ॥ ५२ ॥

चार प्रकारके मनसे उत्पन्न हुए चार प्रकारके वचन भी उन्हीं संज्ञाओंको प्राप्त होते हैं और ऐसी प्रतीति भी होती है । कहा भी है—

दश प्रकारके सत्यवचनमें वचनवर्णनके निमित्तसे जो योग होता है उसे सत्यवचन-योग कहते हैं । उससे विपरीत योगको सृष्टवचनयोग कहते हैं । सत्यसृष्टारूप वचन योगको उभयवचनयोग कहते हैं ॥ १५६ ॥

जो न तो सत्य रूप है और न सृष्टारूप ही है वह असत्यसृष्टवचनयोग है । अस्सी

१ गो. जी २२०

२ गो. जी २२१.

वचसो भेदमभिधाय गुणस्थानेषु तत्सच्चप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

**वचिजोगो असच्चमोसवचिजोगो वीहंदिय-प्पहुडि जाव सजोगिकेवलि ति ॥ ५३ ॥**

असत्यमोपमनोनिबन्धनवचनमसत्यमोपवचनमिति प्रागुक्तम्, तद् द्वीन्द्रियादीनां मनोरहितानां कथं भवेदिति नायमेकान्तोऽस्ति सकलवचनानि मनस एव समुत्पद्यन्त इति मनोरहितकेवलानां वचनाभावात्संजननात् । विकलेन्द्रियाणां मनसा विना न ज्ञानसमुत्पत्तिः । ज्ञानेन विना न वचनप्रवृत्तिरिति चेन्न, मनस एव ज्ञानसमुत्पद्यत इत्येकान्ताभावात् । भावे वा नाशेन्द्रियेभ्यो ज्ञानसमुत्पत्तिः मनसः समुत्पन्नत्वात् । नैतदपि दृष्टश्रुतानुभूतविषयस्य मानसप्रत्ययसान्ध्य वृत्तिविरोधात् । न चक्षुरादीनां सहकार्यपि प्रयत्नात्मसहकारिभ्यः इन्द्रियेभ्यस्तदुत्पत्त्युपलम्भात् । समनस्केषु ज्ञानस्य प्रादुर्भावो मनोयोगादेवेति चेन्न,

जीवोंकी भाषा और सबी जीवोंकी आमन्त्रणी आदि भाषाय इसके उदाहरण हैं ॥ १५७ ॥

इसप्रकार वचनयोगके भेद कहकर अब गुणस्थानोंमें उसके सत्वके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सामान्यसे वचनयोग और विशेषरूपसे अनुभववचनयोग द्वीन्द्रिय जीवोंसे लेकर सयोगिकेवली गुणस्थानतक होता है ॥ ५३ ॥

शंका—अनुभयरूप मनके निमित्तसे जो वचन उत्पन्न होते हैं उन्हें अनुभववचन कहते हैं, यह बात पहले कही जा चुकी है । ऐसी हालतमें मनरहित द्वीन्द्रियादिक जीवोंके अनुभववचन कैसे हो सकते हैं ?

समाधान—यह कोई एकान्त नहीं है कि संपूर्ण वचन मनसे ही उत्पन्न होते हैं । यदि संपूर्ण वचनोंकी उत्पत्ति मनसे ही मान ली जावे तो मनरहित केवलियोंके वचनोंका अभाव प्राप्त हो जायगा ।

शंका—विकलेन्द्रिय जीवोंके मनके विना ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है और ज्ञानके विना वचनोंकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि, मनसे ही ज्ञानकी उत्पत्ति होती है यह कोई एकान्त नहीं है । यदि मनसे ही ज्ञानकी उत्पत्ति होती है यह एकान्त मान लिया जाता है, तो संपूर्ण इन्द्रियोंसे ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकेगी, क्योंकि, संपूर्ण ज्ञानकी उत्पत्ति मनसे मानते हैं । अथवा, मनसे समुत्पन्नत्वरूप धर्म इन्द्रियोंमें रह भी तो नहीं हो सकता है, क्योंकि, दृष्ट, श्रुत और अनुभूतको विषय करनेवाले मानसज्ञानका दूसरी जगह सद्भाव माननेमें विरोध आता है । यदि मनको चक्षु आदि इन्द्रियोंका सहकारी कारण माना जावे तो भी नहीं बनता है, क्योंकि, प्रयत्न और आत्मके सहकारकी अपेक्षा रखनेवाली इन्द्रियोंसे इन्द्रियज्ञानकी उत्पत्ति पाई जाती है ।

शंका—समनस्क जीवोंमें तो ज्ञानकी उत्पत्ति मनोयोगसे ही होती है ?

केवलज्ञानेन व्यभिचारात् । समनस्कानां यत्क्षयोपशमिक ज्ञानं तन्मनोयोगात्स्यदिति चेन्न, इष्टत्वात् । मनोयोगाद्ब्रह्मचरनसुत्वद्यत इति प्रागुक्तं तत्कथं घटत इति चेन्न, उपचारेण तत्र मानसस्य ज्ञानस्य मन इति संज्ञां विधायोक्तत्वात् । कथं विकलेन्द्रियवचसोऽसत्य-मोपत्वमिति चेदनध्यवसायहेतुत्वात् । ध्वनिविषयोऽध्यवसायः समुपलभ्यत इति चेन्न, वक्तुरभिप्रायविषयाध्यवसायाभावस्य विवक्षितत्वात् ।

सत्यवचसो गुणनिरूपणार्थमुत्तरसूत्रमाह—

**सच्चवचिजोगो सणिमिच्छाइट्टि-प्पहुडि जाव सजोगि-केवलि ति ॥ ५३ ॥**

दशविधानमर्षिः सत्यानामेषु गुणस्थानेषु सत्त्वस्य विरोधासिद्धेः तत्र भवन्ति

समाधान—नहीं, क्योंकि, ऐसा मानने पर केवलज्ञानसे व्यभिचार आता है ।

शंका—तो फिर ऐसा माना जाय कि समनस्क जीवोंके जो क्षयोपशमिक ज्ञान होता है वह मनोयोगसे होता है ?

समाधान—यह कोई शंका नहीं, क्योंकि, यह तो इष्ट ही है ।

शंका—मनोयोगसे वचन उत्पन्न होते हैं, यह जो पहले कहा जा चुका है वह कैसे श्रुति होना ?

समाधान—यह शंका कोई दोषजनक नहीं है, क्योंकि, 'मनोयोगसे वचन उत्पन्न होते हैं' यहाँ पर मानस ज्ञानकी 'मन' यह शंका उपचारसे रखकर कथन किया है ।

शंका—विकलेन्द्रियोंके वचनोंमें अनुभवपना कैसे आ सकता है ?

समाधान—विकलेन्द्रियोंके वचन अन्ध्यवसायरूप ज्ञानके कारण हैं, इसलिये उन्हें अनुभयरूप कहा है ।

शंका—उनके वचनोंमें ध्वनिविषयक अन्ध्यवसाय अर्थात् निश्चय तो पाया जाता है, फिर उन्हें अन्ध्यवसायका कारण क्यों कहा जाय ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, यहाँ पर अन्ध्यवसायसे वक्ताका अभिप्रायविषयक अन्ध्यवसायका अभाव विवक्षित है ।

अब सत्यवचनयोगका गुणस्थानोंमें निरूपण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सत्यवचनयोग सज्ञी मिथ्यादृष्टिसे लेकर सयोगिकेवली गुणस्थानतक होता है ॥ ५४ ॥

दशों ही प्रकारके सत्यवचनोंके सूत्रोक्त तैरह गुणस्थानोंमें पाये जानेमें कोई विरोध

१ जणपदसम्बद्धिठणणामे ख्वे पडुच ववहारे । समावणे य मात्रे उवमाणु एससिह सच्च ॥ सच्च देवी चदपुसुपडिमा तद य हीदि जिणदचो । मेदो दिग्धो रड्वादि करो ति य ज हते यण ॥ गो जी, २२२, २२३



द्व्यापि मन्यन्तीति ।

शेषवचनोः गुणव्यानक्तिरूपार्थमुत्तरमहमाह—

**मोसवचिजोगो सच्चमोसवचिजोगो सणिमिच्छाडि-पहुडि  
जाव खीण-कसाय-चीयराय-च्छुदुमत्था ति ॥ ५५ ॥**

क्षीणरूपायस्य वचनं कथमयत्यमिति चेन्न, असत्यनिवन्धनज्ञानसत्त्वोपेक्षया तत्र नयन्यप्रतिपादनत् । तत्र एव नोपयसंयोगोऽपि विरुद्ध इति । वाच्यमस्य क्षीणकपायस्य रूपं वाच्यमेव, तत्रान्तर्जन्यस्य सत्त्वातिरोधान् ।

काययोग्यत्वाप्रतिपादनार्थमुत्तरमहमाह—

**कायजोगो सत्त्वविहो ओरालियकायजोगो ओरालियमिस्सकाय-  
जोगो वेडव्वियकायजोगो वेडव्वियमिस्सकायजोगो आहारकायजोगो  
आहारमिस्सकायजोगो कम्मइयकायजोगो चेदि ॥ ५६ ॥**

औदारिकशरीरजनितवीर्याजीवद्रव्यगुणस्पर्शनिवन्धनप्रयतः औदारिककाययोगः ।

नर्ता जाता ते, इत्युच्ये उच्यते तेषां प्रकारके सत्त्ववचनं हेतुं हे ।

शेष वचनयोगोके गुणस्थानोमं निरूपण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

गुणवचनयोगे ओर सत्ययुगावचनयोगे सली सिव्याद्युच्ये लेकर क्षीणकपाय-चतिराय-  
उच्यते गुणवचनतक पाये जाते हैं ॥ ५५ ॥

शंका—जिनकी कपायें क्षीण हो गई हैं ऐसे जीवके वचन अस्तव्य कैसे हो सकते हैं ?  
यमाधान—ऐसी शंका व्यर्थ है, क्योंकि, असत्यवचनका कारण अज्ञान वारहवें  
गुणस्थानतक पाया जाता है, इस अपेक्षासे वहा पर असत्यवचनके सद्भावका प्रतिपादन किया  
है । और इन्हींके उभयसंयोगज सत्ययुगावचन भी वारहवें गुणस्थानतक होता है, इस  
कथनमें कोई विरोध नहीं आता है ।

शंका—वचनगुणिका पूरी तरहसे पालन करनेवाले कपायरहित जीवोंके वचनयोग  
कैसे सम्भव है ?

यमाधान—नहीं, क्योंकि, कपायरहित जीवोंमें अन्तर्जल्पके पाये जानेमें कोई  
विरोध नहीं आता है ।

यद्यपि कपाययोगकी संख्याके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—  
काययोगे मात प्रकारता हे, औदारिककाययोग, औदारिकमिश्रकाययोग, वैकियक-  
काययोग, वैकियकमिश्रकाययोग, आहारककाययोग, आहारकमिश्रकाययोग और काम्यकाय-  
योग ॥ ५६ ॥

औदारिक शरीरछाया ( औदारिक वर्णणांसे ) उत्पन्न हुई शक्तिसे जीवके प्रदेशोंमें

काम्यौदारिकरूपाभ्यां जनितवीर्यात्तत्परिस्पन्दनार्थः प्रयतः औदारिकमिश्रकाययोगः ।  
उदारः पुरुः महानित्यर्थः, तत्र भवं शरीरमौदारिकम् । अथ स्यान्न महत्त्वमौदारिक-  
शरीरस्य ? कथमेतदवगम्यते ? वर्णणात्मात् । किं तद्वर्णणात्त्वमिति चेदुच्यते 'सव्वत्थोवा  
ओरालिय-सरीर-दव्व-वग्गणा-पदेसा, वेडव्विय-सरीर-दव्व-वग्गणा-पदेसा असंखेज्जगुणा,  
आहार-सरीर-दव्व-वग्गणा-पदेसा असंखेज्जगुणा, तेया-सरीर-दव्व-वग्गणा-पदेसा अणंतगुणा,  
भासा-दव्व-वग्गणा-पदेसा अणंतगुणा, मण-दव्व-वग्गणा-पदेसा अणंतगुणा, कम्मइय-सरीर-  
दव्व-वग्गणा-पदेसा अणंतगुणा ति ।' न, अनगगहनापेक्षया औदारिकशरीरस्य महत्त्वोपपत्तेः ।  
यथा 'सव्वत्थोवा कम्मइय-सरीर दव्व-वग्गणाए ओगाहणा, मण-दव्व-वग्गणाए ओगाहणा  
असंखेज्जगुणा, भासा-दव्व-वग्गणाए ओगाहणा असंखेज्जगुणा, तेया-सरीर-दव्व-वग्गणाए  
ओगाहणा असंखेज्जगुणा, आहार-सरीर-दव्व-वग्गणाए ओगाहणा असंखेज्जगुणा,  
वेडव्विय-सरीर-दव्व-वग्गणाए ओगाहणा असंखेज्जगुणा, ओरालिय-सरीर-दव्व-वग्गणाए

परिस्पन्दका कारणभूत जो प्रयत्न होता है उसे औदारिककाययोग कहते हैं । काम्य और  
औदारिक वर्णणांके द्वारा उत्पन्न हुए वीर्यसे जीवके प्रदेशोंमें परिस्पन्दके लिये जो प्रयत्न  
होता है उसे औदारिकमिश्रकाययोग कहते हैं । उदार, पुरु और महान् ये एक ही अर्थके  
वाचक शब्द हैं । उसमें जो शरीर उत्पन्न होता है उसे औदारिकशरीर कहते हैं ।

शंका—औदारिक शरीर महान् है, यह बात नहीं बनती है ?

प्रतिशंका—यह कैसे जाना ?

शंकाका समर्थन—वर्णणासूत्रसे यह बात मालूम पड़ती है ।

प्रतिशंका—वह वर्णणासूत्र कौनसा है ?

शंकाका समर्थन—जिससे औदारिक शरीरकी महानता सिद्ध नहीं होती है वह  
वर्णणासूत्र इसप्रकार है, 'औदारिकशरीरद्रव्यसवन्धी वर्णणांके प्रदेश सवसे थोड़े हैं ।  
उससे असत्यातगुणे वैकियकशरीरद्रव्यसवन्धी वर्णणाके प्रदेश हैं । उससे असत्यातगुणे  
आहारकशरीरद्रव्यसवन्धी वर्णणाके प्रदेश हैं । उससे अनन्तगुणे तैजसशरीरद्रव्यसवन्धी  
वर्णणाके प्रदेश हैं । उससे अनन्तगुणे भायाद्रव्यवर्णणाके प्रदेश हैं । उससे अनन्तगुणे  
मनोद्रव्यवर्णणाके प्रदेश हैं, और उससे अनन्तगुणे काम्यशरीरद्रव्यवर्णणाके प्रदेश हैं' ।

यमाधान—प्रकृतमें ऐसा नहीं है, क्योंकि, अवगाहनाकी अपेक्षा औदारिक शरीरकी  
स्थूलता बन जाती है । जैसे कि कहा भी है—

'काम्यशरीरसवन्धी द्रव्य-वर्णणाकी अवगाहना सवसे सूक्ष्म है । मनोद्रव्य-  
वर्णणाकी अवगाहना इससे असंख्यातगुणी है । भायाद्रव्यवर्णणाकी अवगाहना इससे अस-  
ख्यातगुणी है । तैजसशरीरसवन्धी द्रव्य-वर्णणाकी अवगाहना इससे असंख्यातगुणी है ।  
आहारशरीरसवन्धी द्रव्य वर्णणाकी अवगाहना इससे असंख्यातगुणी है । वैकियकशरीर-  
सवन्धी द्रव्य-वर्णणाकी अवगाहना इससे असंख्यातगुणी है । औदारिकशरीरसवन्धी

ओगाहणा असंखेज्जगुणा ति ।' उत च—

पुरु महसुदाराल एय्हो त वियाण तहिं भव ।

ओरालियं ति वुत्त ओरालियमायजोगो सो' ॥ १६० ॥

ओरालियमुत्तथ विजाण मिस्स च अपरिपुण्ण ति ।

जो तेण सपजोगो ओरालियमिस्सको जोगो' ॥ १६१ ॥

अणिमादिर्विक्रिया, तद्योगात्पुद्गलाथ विक्रियेति भण्यन्ते । तत्र भवं शरीरं वैक्रियकम् । तदवष्टम्भतः समुत्पन्नपरिस्पन्देन योगः वैक्रियककाययोगः । कार्मण-वैक्रियकरून्धतः समुत्पन्नवर्षीयेण योगः वैक्रियकमिश्रकाययोगः । उक्तं च—

विहिह-गुण-इद्धि-उत्त वेउब्बियमहव विकिरिया चव ।

तिस्से भव च गेय वेउब्बियकायजोगो सो' ॥ १६२ ॥

द्रव्य-वर्णनाकी अवगाहना इससे असंख्यातगुणी है । कहा भी है—

पुरु, महत्, उदार और उराल, ये शब्द एकार्थवाचक है । उदारमें जो होता है उसे औदारिक कहते हैं, और उसके निमित्तसे होनेवाले योगको औदारिककाययोग कहते हैं ॥१६०॥

औदारिकका अर्थ ऊपर कह आये हैं । वही शरीर जबतक पूर्ण नहीं होता है तबतक मिश्र कहलाता है, और उसके द्वारा होनेवाले सप्रयोगको औदारिकमिश्रकाययोग कहते हैं ॥१६१॥

अणिमा, महिमा आदि ऋद्धियोंको विक्रिया कहते हैं । उन ऋद्धियोंके सपकसे पुद्गल भी 'विक्रिया' इस नामसे कहे जाते हैं । उसमें जो शरीर उत्पन्न होता है उसे वैक्रियकशरीर कहते हैं । उस शरीरके अवलम्बनसे उत्पन्न हुए परिस्पन्दद्वारा जो प्रयत्न होता है उसे वैक्रियककाययोग कहते हैं । कार्मण और वैक्रियक वर्णनाओंके निमित्तसे उत्पन्न हुई शक्तिसे जो परिस्पन्दके लिये प्रयत्न होता है उसे वैक्रियकमिश्रकाययोग कहते हैं । कहा भी है—

नाना प्रकारके गुण और ऋद्धियोंसे युक्त शरीरको वैशुर्विक अथवा वैक्रियक शरीर

१ गो. जी २३० सूक्ष्मशुश्रियत्तेजोनायुसाधारणशरीराणा स्थूलतामात्रं कथमौदारिकत्वं ? इति चेतनं, तत् सूक्ष्मतरवैश्रियकाणशरीरपेक्षया तेषा महत्त्वेन पसागामरूढ्या वा औदारिकत्वसमवात् । म प्र टी

२ गो जी २३१ प्रायुक्तवृक्षणमौदारिकशरीरं तदेवान्तमुद्धृतपर्यंतमपूर्णं अपर्याप्तं तावन्निशमित्युच्यते अपर्याप्तकालसमभिसमयनममनिकापेणकाययोगाच्छुद्धकार्मणवर्णनासयुक्तत्वेन पसागामरूढ्या वा अपर्याप्तं अपर्याप्त शरीरमित्यर्थ । जी प्र टी । तत्रौदारिकद्वयं शुद्धा सुनोवा । औदारिकमिश्रस्तु औदारिक एवपरिपूर्णो मिश्र उच्यते, यथा गुडमिश्रं दधि न शुद्धतया नापि दधितया व्यपदिरस्यते तत्ताभ्यामपरिपूर्णत्वात् । एवमौदारिक मिश्र कार्मणेन । नोदाकिक्तया नापि कार्मणतया व्यपदेन्दे शक्यम् अपरिपूर्णत्वादिति तस्योदाकिक्तमिश्रव्यपदेश । एव वैक्रियमाहारान्निश्रावणीति शतशब्दकालश । मत्तापनाग्याख्यानाशस्तोत्रम्, औदारिकाया गृद्धास्तःपर्याप्तत्वं मिश्रास्तःपर्याप्तत्वंस्येति । स्या म् प्र २०१

३ गो जी २३२

वेउब्बियमुत्तथ विजाण मिस्स च अपरिपुण्णं ति ।

जो तेण सपजोगो वेउब्बियमिस्सजोगो सो' ॥ १६३ ॥

आहरति आत्मसात्करोति सूक्ष्मानर्थाननेनेति आहारः । तेन आहारकायेन योगः आहारकाययोगः । कथमौदारिकरून्धसम्यद्धानां जीवावयवानां अन्यशरीरेण हस्तमात्रेण शब्दध्वलेन शुभसंस्थानेन योग इति चैत्रैप दोषः, अनादिवन्धनवद्धत्वतो मूर्तानां जीवावयवानां मूर्तेण शरीरेण सम्बन्धं प्रति विरोधासिद्धेः । तत एव न पुनः सङ्घटनमपि विरोधमास्कन्देत् । अथ स्याज्जीवस्य शरीरेण सम्बन्धकृदाद्युस्तथोविधयोगो मरणम् । न च गलितायुस्तस्मिन् शरीरे पुनरुत्पत्तिर्विरोधात् । ततो न तस्यौदारिक-शरीरेण पुनः सङ्घटनमिति ।

अत्र प्रतिविधीयते, न तावज्जीवशरीरयोर्वियोगो मरणं तयोः संयोगस्योत्पत्ति-कहते है । और इसके द्वारा होनेवाले योगको वैशुर्विककाययोग कहते हैं ॥ १६२ ॥

वैशुर्विकका अर्थ पहले कह ही चुके है । वही शरीर जबतक पूर्ण नहीं होता है तबतक मिश्र कहलाता है । और उसके द्वारा जो संप्रयोग होता है उसे वैशुर्विकमिश्रकाययोग कहते हैं ॥ १६३ ॥

जिस्के द्वारा आत्मा सूक्ष्म पदार्थोंको ग्रहण करता है, अर्थात् आत्मत्वात् करता है उसे आहारकशरीर कहते हैं । और उस आहारकशरीरसे जो योग होता है उसे आहारक काययोग कहते हैं ।

शंका—औदारिकरून्धोंसे संबन्ध रखनेवाले जीवप्रदेशोंका हस्तप्रमाण, शब्दके समान धवल वर्णवाले, और शुभ अर्थात् समचतुरस्र संस्थानसे युक्त वाग्य शरीरके साथ कैसे संबन्ध हो सकता है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, जबके प्रदेश अनादिकालीन बन्धनसे बद्ध होनेके कारण मूर्त हैं, अतएव उनका मूर्त आहारकशरीरके साथ संबन्ध होनेमें कोई विरोध नहीं आता है । और इसीलिये उनका फिरसे औदारिक शरीरके साथ सघटनका होना भी विरोधको प्राप्त नहीं होता है ।

शंका—जीवका शरीरके साथ संबन्ध करनेवाला आयुर्कर्म है, और जीव तथा शरीरका परस्परमें वियोग होना मरण है । इसलिये जिसकी आयु नष्ट हो गई है ऐसे जीवकी फिरसे उसी शरीरमें उत्पत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि, ऐसा माननेमें विरोध आता है । अतः जीवका औदारिक शरीरके साथ पुन सघटन नहीं बन सकता है । अर्थात् एकवार जीवप्रदेशोंका आहारक शरीरके साथ संबन्ध हो जानेके पश्चात् पुनः उन प्रदेशोंका पूर्ण औदारिक शरीरके साथ संबन्ध नहीं हो सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, आगममें जीव और शरीरके वियोगको मरण नहीं



कर्मैव कर्मणं शरीरम्, अष्टकर्मस्कन्ध इति यावत् । अथवा कर्मणि भवं कर्मणं शरीरं नामकर्मावयवस्य कर्मणो ग्रहणम् । तेन योगः कर्मणकाययोगः । केवलेन कर्मणा जन्तिवीर्येण सह योगः इति यावत् । उक्तं च —

कम्मैव च कम्म-भवं कम्मइय तेण जो दु सजोगो ।

कम्मइयकायजोगो एण-विण-तिणेषु सम्पसु' ॥ १६६ ॥

को हौदारिककाययोगो भवतीत्येतत्प्रतिपादनार्थमुत्तरद्वयमाह—

**ओरालियकायजोगो ओरालियमिस्सकायजोगो तिरिक्ख-मणु-  
स्साणं ॥ ५७ ॥**

देवनारकाणां किमिल्यौदारिकशरीरोदयो न भवेत् ? न, स्वाभाव्याद् देवनरक-

कर्म ही कर्मणशरीरं है, अर्थात् आठ प्रकारके कर्मस्कन्धोंको कर्मणशरीरं कहते हैं । अथवा, कर्ममें जो शरीर उत्पन्न होता है उसे कर्मण शरीर कहते हैं । यहाँ पर नामकर्मके अवयवरूप कर्मणशरीरका ग्रहण करना चाहिये । उस शरीरके निमित्तसे जो योग होता है उसे कर्मणकाययोग कहते हैं । इसका तात्पर्य यह है कि अन्य औदारिकादि शरीर-वर्गीणाओंके विना केवल एक कर्मसे उत्पन्न हुए वीर्यके निमित्तसे आत्मप्रवेशपरिस्वरूप जो प्रयत्न होता है उसे कर्मणकाययोग कहते हैं । कहा भी है—

ज्ञानावरणादि आठ प्रकारके कर्मस्कन्धको ही कर्मणशरीर कहते हैं । अथवा, जो कर्मणशरीर नामकर्मके उदयसे उत्पन्न होता है उसे कर्मणशरीर कहते हैं । और उसके द्वारा होनेवाले योगको कर्मणकाययोग कहते हैं । यह योग एक, दो अथवा तीन समयतक होता है ॥ १६६ ॥

औदारिककाययोग किसके होता है, इस बातके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

तिर्यच और मणुयोंके औदारिककाययोग और औदारिकमिश्रकाययोग होता है ॥ ५७ ॥

शंका—देव और नारकियोंके औदारिकशरीर नामकर्मका उदय क्यों नहीं होता है ? समाधान—नहीं, क्योंकि, स्वभावसे ही उनके औदारिकशरीर नामकर्मका उदय नहीं

१ गी जी २४? स कर्मणकाययोग एकद्विदिसमयविशिष्टविग्रहातिकालेषु केवलिसमुद्भातसमीधप्रतर-  
द्रयलोकपूर्णे समययोगे च प्रवर्तते शेषकाले नास्तीति विभाग तु शब्देन सूच्यते । अनेन शेषयोगानामन्याषातविक्रय  
अन्तर्दृष्टकालो व्याघातविक्रये एकममयादियथासम्भवात्तदुर्चर्पयतकालश्च एकजीव प्रति मणितो मन्वति । नानाजीवा-  
पेक्षया उवसमधुमेत्याषाष्टमांतरसाणान्विंशतिशतितरत्साणानां सर्वकाल इति विशेषो द्वातन्व । जी प्र टी

गतिकर्मोदयेन सह औदारिककर्मोदयस्य विरोधाद्वा । न च तिरथां मणुष्याणां चौदारिककाययोग एवेति नियमोऽस्ति तत्र कर्मणकाययोगादीनामभावापत्तेः । किं तु औदारिककाययोगाल्लियङ्मणुष्याणामेव ।

केषु वैक्रियककाययोगो भवतीत्येतत्प्रतिपादनार्थमुत्तरद्वयमाह—

**वेउव्वियकायजोगो वेउव्वियमिस्सकायजोगो देवणेइ-  
याणं ॥ ५८ ॥**

तिरथां मणुष्याणां च किमिति तदुदयो न भवेत् ? न, तिर्यङ्मणुष्यगतिकर्मो-  
दयेन सह वैक्रियकोदयस्य विरोधात्स्वभावाद्वा । न हि स्वभावाः परपर्यनुयोगाहोः  
अतिप्रसङ्गात् । तिर्यञ्चो मणुष्याश्च वैक्रियकशरीराः श्रूयन्ते तत्कथं घटत इति चेन्न,  
औदारिकशरीरं द्विविधं विक्रियात्मकमविक्रियात्मकमिति । तत्र यद्विक्रियात्मकं तद्वै-

होता है । अथवा, देवगति और नरकगति नामकर्मके उदयके साथ औदारिकशरीर नामकर्मके उदयका विरोध है, इसलिये उनके औदारिकशरीरका उदय नहीं पाया जाता है । फिर भी तिर्यच और मणुयोंके औदारिक और औदारिकमिश्रकाययोग ही होता है ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि, इस प्रकारके नियमके करने पर तिर्यच और मणुयोंमें कर्मणकाययोग आदिके अभावकी आपत्ति आ जायगी । इसलिये औदारिक और औदारिकमिश्र तिर्यच और मणुयोंके ही होता है, ऐसा नियम जानना चाहिये ।

वैक्रियक नाययोग किन जीवोंमें होता है इस बातके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

देव और नारकियोंके वैक्रियककाययोग और वैक्रियकमिश्रकाययोग होता है ॥ ५८ ॥

शंका—तिर्यच और मणुयोंके इन दोनों योगोंका उदय क्यों नहीं होता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, तिर्यचगति और मणुष्यगति कर्मोदयके साथ वैक्रियक नामकर्मके उदयका विरोध आता है, अथवा, तिर्यच और मणुष्यगतिमें वैक्रियक नामकर्मका उदय नहीं होता है, यह स्वभाव ही है । और स्वभाव दूसरेके प्रयोजके योग्य नहीं होते हैं, अन्यथा, अतिप्रसंग दोष आ जायगा । इसलिये तिर्यच और मणुयोंके वैक्रियक और वैक्रियकमिश्रकाययोग नहीं होता है, यह सिद्ध हो जाता है ।

शंका—तिर्यच और मणुष्य भी वैक्रियकशरीरवाले सुने जाते हैं, इसलिये यह बात कैसे घटित होगी ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, औदारिकशरीर दो प्रकारका है, विक्रियात्मक और अविक्रियात्मक । उनमें जो विक्रियात्मक औदारिक शरीर है, वह मणुष्य और तिर्यचोंके

क्रियामिति तत्रोक्तं न तदत्र परिश्रुते विविधगुणद्वयभावात् । अत्र विविधगुणद्वया-  
न्महं परिश्रुते, तत्र देवतारक्षणमेव ।

आहारशरीरस्वामिप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

**आहारकायजोगो आहारमिस्सकायजोगो संजडाणमिड्ढि-  
पत्ताणं ॥ ५९ ॥**

आहारद्विप्राज्ञेः किमु मंथताः ऋद्धिप्राप्ता उत वैक्रियकृद्धिप्राधान्ते ऋद्धिप्राप्ता  
इति । किं चालः नात्रः पशु आश्रयणयोग्यः इतरेतराश्रयदोषासंजनात् । कथम् ?  
यात्राबारद्विरूपते न तान्नेपास्यद्विप्राप्तत्नम्, यान्नद्विप्राप्तत्नं न तावत्तेषामाहारद्वि-  
गिति । न द्वितीयविकल्पोऽपि ऋद्धेरुपर्यभावात् । भवे वा आहारशरीरत्वं मनः-  
पर्ययज्ञानमपि जायत विवेकाभावान् । न चैवमायं मह निरोधादिति नाद्विप्राप्तदोषः

वैक्रियकरूपमेव कृतं गतां दे । उसका यहा पर ब्रह्मण नहीं किया है, क्योंकि, उसमें नाना गुण  
और कर्तियों का अभाव है । यदा पर गाना गुण और कर्तियुक्त वैक्रियकरशरीरका ही ब्रह्मण  
क्रिया है, और तब देव और नास्तिकियोंके ही होता है ।

अथ आहारशरीरके स्वामीके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—  
आहारककाययोग और आहारकमित्रकाययोग ऋद्धिप्राप्त छेदे गुणस्थानवर्ती सत्यतोंके  
भी होने दें ॥ ५९ ॥

शंका — यदा पर क्या आहारक ऋद्धिकी प्राप्तिसे सत्यतोंको ऋद्धिप्राप्त समझना  
चाहिये, या उन्होंने पहले वैक्रियक ऋद्धिको प्राप्त कर लिया है, इसलिये उन्हें ऋद्धिप्राप्त  
मगसना चाहिये ? इन दोनों पक्षोंमेंसे प्रथम पक्ष तो ब्रह्मण करने योग्य नहीं है, क्योंकि,  
प्रथम पक्षके ब्रह्मण करने पर इतरेतराश्रय दोष आता है । वह कैसे आता है, आगे इसीको  
स्पष्ट करते हैं । जयन्त आहारक ऋद्धि उत्पन्न नहीं होती है तबतक उन्हें ऋद्धिप्राप्त  
नहीं माना जा सकता, और जयन्त वे ऋद्धिप्राप्त न हों तबतक उनके आहारक ऋद्धि  
उत्पन्न नहीं तो सकती है । इसीप्रकार दूसरा विकल्प भी नहीं बनता है, क्योंकि, उनके  
उत्पन्न दूसरी कर्तियोंका अभाव है । इतने पर भी यदि सद्भाव माना जाता है, तो  
आहारक कर्तियोंके मन पर्ययज्ञानकी उत्पत्ति भी माननी चाहिये, क्योंकि दूसरी ऋद्धि-  
योंके समान इसके होनेमें कोई विशेषता नहीं है । परन्तु आहारक ऋद्धिवालेके मनःपर्यय  
ज्ञान माना नहीं जा सकता है, क्योंकि ऐसा मानने पर आगमसे विरोध आता है ?

समाधान—प्रथम पक्षमें जो इतरेतराश्रय दोष दिया है, वह तो आता नहीं है, क्योंकि,

१ वात्स्ययणशरीरे पशुपुत्रस्तत् शोणिं आहता । ग्देतुं शुभगन्धे गयि सि अपेय्य जाले ॥  
भा जी ३२०.

समादौकते । यतो नाहारद्विरात्मनमपेक्ष्योत्पद्यते स्वात्मनि क्रियाविरोधात् । अपि तु  
संयमातिशयपेक्षया तस्याः समुत्पत्तिरिति । ऋद्धिप्राप्तसंयतानामिति विशेषणमपि घटते  
तदनुत्पत्तापि ऋद्धिहेतुसंयमः ऋद्धिः कारणे कार्योपचारात् । ततश्चद्विहेतुसंयमप्राप्ताः  
यतयः ऋद्धिप्राप्तास्तेषामाहारद्विरिति विद्वम् । संयमिशेषजनिताहारशरीरित्पादन-  
अक्तिराहारद्विरिति वा नेतेतराश्रयदोषः । न द्वितीयविकल्पोऽप्यनभ्युपगमात् ।  
नैव नियमोऽप्यस्त्येकस्मिन्नक्रमेण नर्दयो भूयस्यो भगन्तीति । गणश्रुतु रापानामपि  
ऋद्धीनामक्रमेण सचोपलब्धात् । आहारद्वया मह मनःपर्ययस्य विरोधो दृश्यत इति  
चेद्भगवतु नाम दृष्टत्वात् । न चानेन विरोध इति सर्वाभिनिरोधो नक्तु पर्यतेऽव्यवस्था-  
पचेरिति ।

कार्मणशरीरस्वामिप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह —

**कर्ममह्यकायजोगो विग्गहगहइ-समावणणं केवलीणं वा  
समुग्घाद-गदाणं ॥ ६० ॥**

आहारक ऋद्धि स्वतन्त्री अपेक्षा करके उत्पन्न नहीं होती है, क्योंकि, स्वतन्त्रसे स्वतन्त्री  
उत्पत्तिरूप क्रियाके होनेमें विरोध आता है । किन्तु संयमातिशयकी अपेक्षा आहारक ऋद्धिकी  
उत्पत्ति होती है, इसलिये 'ऋद्धिप्राप्तसंयतानाम्' यह विशेषण भी वग जाता है । यदा पर  
दूसरी ऋद्धियोंके उत्पन्न नहीं होने पर भी कारणमें कार्यके उपनारसे ऋद्धिके कारणभूत  
संयमको ही ऋद्धि कहा गया है, इसलिये ऋद्धिके कारणरूप संयमको प्राप्त सत्यतोंको ऋद्धि-  
प्राप्त सयत कहते हैं, और उनके आहारक ऋद्धि होती है, यह बात सिद्ध हो जाती है । अथवा,  
संयमविरोधसे उत्पन्न हुई आहारकशरीरके उत्पादनरूप शक्तिको आहारक ऋद्धि कहते हैं,  
इसलिये भी इतरेतराश्रय दोष नहीं आता है । इसीप्रकार दूसरे विकल्पमें दिया गया दोष भी  
नहीं आता है, क्योंकि, एक ऋद्धिके साथ दूसरी ऋद्धिया नहीं होती हैं, यह हम मानने ही  
नहीं हैं । एक आत्मामें युगपत् अनेक ऋद्धियां उत्पन्न नहीं होती हैं, यह कोई नियम नहीं है,  
क्योंकि, गणधरोंके एकसाथ सातों ही ऋद्धियोंका सद्भाव पाया जाता है ।

शंका — आहारक ऋद्धिके साथ मनःपर्ययज्ञानका तो विरोध देगा जाता है ?

समाधान—यदि आहारक ऋद्धिके साथ मन पर्ययज्ञानका विरोध देखनेमें आता है  
तो रहा आगे । किन्तु मन पर्ययके साथ विरोध है, इसलिये आहारक ऋद्धिका दूसरी संपूर्ण  
ऋद्धियोंके साथ विरोध है, ऐसा नहीं कहा जा सकता है । अन्यथा अव्यवस्थाकी आपत्ति आ  
जायगी ।

अथ कार्मणशरीरके स्वामीके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—  
विग्गहगतिको प्राप्त चारों गतियोंके जीवोंके तथा प्रतर और लोकपूर्ण समुदातको

१ 'क' प्रती 'ये तपःकृद्धिप्राप्ता' इति पाठ ।



विग्रहो देहस्तदर्थो गतिः विग्रहगतिः । औदारिकादिशरीरनामोदयात्स्वनिर्वर्तन-  
समर्थान् विधिधान् पुद्गलान् गृह्णाति विगृह्यतेऽसौ संसारिणा इति वा विग्रहो देहः । विग्रहाय  
गतिः विग्रहगतिः । अथवा विरुद्धो ग्रहो निग्रहः व्याघातः पुद्गलादाननिरोध इत्यर्थः ।  
विग्रहेण पुद्गलादाननिरोधेन गतिः विग्रहगतिः । अथवा विग्रहो व्याघातः कौटिल्य-  
मित्यनर्थान्तरम् । विग्रहेण कौटिल्येन गतिः विग्रहगतिः । तां सम्यगापन्नाः प्राप्ताः  
विग्रहगतिसमापन्नाः, तेषां विग्रहगतिसमापन्नानाम् । सर्वाणि शरीराणि यतः शरोहन्ति  
तद्विजभूतं कार्मणशरीरं कार्मणकाय इति भण्यते । वाङ्मनःकायवर्गणानिमित्तः आत्म-  
ग्रदेशपरिस्पन्दो योगो भवति । कार्मणकायकृतो योगः कार्मणकाययोगः । स विग्रहगतौ  
वक्रगतौ वर्तमानजीवानां भवति । एतदुक्तम्, गतेर्गत्यन्तरं व्रजतां प्राणिनां चतसो गतयो  
भवन्ति इषुगतिः पाणिमुक्ता लाङ्गलिका गोमूत्रिका चेति । तत्राविग्रहा प्राथमिकी,  
शेषाः विग्रहवत्यः । ऋची गतिरिषुगतैरुक्तसमयिकी । यथा पाणिना तिर्यकप्रक्षिप्तस्य

प्राप्त केवली जिनके कार्मणकाययोग होता है ॥ ६० ॥

विग्रह देहको कहते हैं । उसने लिये जो गति होती है उसे विग्रहगति कहते हैं ।  
यह जीव औदारिक आदि शरीर नामकर्मके उदयसे अपने अपने शरीरकी रचना करनेमें  
समर्थ नाना प्रकारके पुद्गलोंको ग्रहण करता है, अतएव संसारी जीवके द्वारा शरीरका  
ग्रहण किया जाता है । इसलिये देहको विग्रह कहते हैं । ऐसे विग्रह अर्थात् शरीरके लिये जो  
गति होती है उसे विग्रहगति कहते हैं । अथवा, 'वि' शब्दना अर्थ विरुद्ध और 'ग्रह'  
शब्दका अर्थ घात होनेसे विग्रह शब्दना अर्थ व्याघात भी होता है । जिसका अर्थ पुद्गलोंके  
ग्रहण करनेका निरोध होता है । इसलिये विग्रह अर्थात् पुद्गलोंके ग्रहण करनेके निरोधके  
साथ जो गति होती है उसे विग्रहगति कहते हैं । अथवा, विग्रह व्याघात और कौटिल्य  
ये पर्यायवाची नाम हैं । इसलिये विग्रहसे अर्थात् कूटिलता ( मोडों ) के साथ जो गति  
होती है उसे विग्रहगति कहते हैं । उसको भली प्रकारसे प्राप्त जीव विग्रहगतिसमापन्न  
कहलाते हैं । उनके अर्थात् विग्रहगतिको प्राप्त जीवोंके कार्मणकाययोग होता है । जिससे  
संपूर्ण शरीर उत्पन्न होते हैं, उस वीजभूत कार्मणशरीरको कार्मणजाय कहते हैं । वचन-  
वर्णना, मनोवर्णना और कायवर्णनाके निमित्तसे जो आत्मप्रदेशोंका परिस्पन्द होता है उसे  
योग कहते हैं । कार्मणकायसे जो योग उत्पन्न होता है उसे कार्मणकाययोग कहते हैं ।  
यह विग्रहगति अर्थात् वक्रगतिमें विद्यमान जीवके होता है । आगममें ऐसा कहा है कि एक  
गतिसे दूसरी गतिको गमन करनेवाले जीवोंके चार गतिया होती हैं, इषुगति, पाणिमुक्तागति,  
लागलिकागति और गोमूत्रिकागति । उनमें पहली गति विग्रहग्रहित होती है और शेष गतिया  
विग्रहग्रहित होती हैं । सरल अर्थात् ध्रुवसे छूटे हुए वाणके समान मोड़ग्रहित गतिको इषुगति

द्रव्यस्य गतिरेकविग्रहा गतिः तथा संसारिणामेकविग्रहा गतिः पाणिमुक्ता द्वैसमयिकी ।  
यथा लाङ्गलं द्विवक्रं तथा द्विविग्रहा गतिर्लाङ्गलिका त्रैसमयिकी । यथा गोमूत्रिका  
बहुवक्रा तथा त्रिविग्रहा गतिर्गोमूत्रिका चातुःसमयिकी । तत्र कार्मणकाययोगः स्यादिति ।  
स्वस्थितग्रदेशादरंभ्योर्ध्वाधस्तिर्यगाकाशप्रदेशानां क्रमसन्धिविधानां पङ्क्ति-श्रेणिरित्युच्यते ।  
तथैव जीवानां गमनं नोच्छेदणिरूपेण । ततस्त्रिविग्रहा गतिर्न विरुद्धा जीवस्येति ।

घातनं घातः स्थित्यनुभवयोर्विनाश इति यावत् । कथमनुक्तमनधिष्ठतं चावागम्यत  
इति चेन्न, प्रकरणवशात्तदवगतेः । उपरि घातः उद्धातः, समीचीन उद्धातः समुद्धातः ।

कहते हैं । इस गतिमें एक समय लगता है । जैसे हाथसे तिरछे फेंके गये द्रव्यकी एक मोड़वाली  
गति होती है, उसीप्रकार संसारी जीवोंके एक मोड़वाली गतिको पाणिमुक्ता गति कहते हैं ।  
यह गति दो समयवाली होती है । जैसे हलमें दो मोड़े होते हैं, उसीप्रकार दो मोड़वाली  
गति को लागलिका गति कहते हैं । यह गति तीन समयवाली होती है । जैसे गावका चलते  
समय मूत्रना करना अनेक मोड़वाला होता है, उसीप्रकार तीन मोड़वाली गतिको गोमूत्रिका  
गति कहते हैं । यह गति चार समयवाली होती है । इषुगतिको छोड़कर शेष तर्कों विग्रह-  
गतियोंमें कार्मणकाययोग होता है ।

जो प्रदेश जहा स्थित है वहांसे लेकर ऊपर, नीचे और तिरछे क्रमसे विद्यमान  
आकाशप्रदेशोंकी पङ्क्तिको श्रेणी कहते हैं । इस श्रेणिके द्वारा ही जीवोंका गमन होता है,  
श्रेणीको उल्लंघन करके नहीं होता है । इसलिये विग्रहगतियाले जीवके तीन मोड़वाली गति  
विरोधको प्राप्त नहीं होती है । अर्थात् ऐसा कोई स्थान ही नहीं है जहां पर पहुंचनेके लिये  
चार मोड़े लग सकें ।

घातेनैरूप धर्मको घात कहते हैं, जिसका प्रकृतमे अर्थ कर्मकी स्थिति और अनु-  
भागका विनाश होता है ।

शंका—कर्मकी स्थिति और अनुभागके घातका अभी तक कथन नहीं किया है, अथवा,  
उसका अधिकार भी नहीं है, इसलिये यहां पर कर्मकी स्थिति और अनुभागका घात विवक्षित  
है, यह कैसे जागा जाय ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, प्रकरणके वशसे यह जाना जाता है कि केवलिसमुद्धातमे  
कर्मकी स्थिति और अनुभागका घात विवक्षित है ।

उत्तरोत्तर होनेवाले घातको उद्धात कहते हैं, और समीचीन उद्धातको समुद्धात  
कहते हैं ।

१ त रा वा २ २८ वा ४

२ लोकप्रथादारभ्यं स लि २ २६ । त रा वा २ २६ । अष्टपण्णो रमणो तिरिय लोपस्स मच्च-  
यारमि । एम पमणो दिसाण एमा मने अणुदिसाण । आचा ति ४२

३ मूलमरीरमण्डिय उत्तरेदस्स जीगिडस्स । णिगमण देहादि मणुवाणम तु ॥ गो जी ६६८





श्रेयारोहणदर्शनात् । न तत्र संसारसमानकर्मस्थितयः समुद्धातेन विना स्थितिकाण्डकानि अन्तर्मुहूर्तेन निपतनस्वभावानि पल्योपमस्यासंख्येयभागायतानि संख्येयावलिकायतानि च निपातयन्तः आयुःसमानि कर्माणि कुर्वन्ति । अपरे समुद्धातेन समानयन्ति । न चैष संसारघातः केवलिनः शक्यः सम्भवति स्थितिकाण्डघातवत्समानपरिणामत्वात् । परिणामातिशयाभावे पश्चादपि सा भूत्तद्धात इति चेन्न, वीतरागपरिणामेषु समानेषु सत्स्वन्वयेभ्योऽन्तर्मुहूर्तार्थपेक्षेय आत्मनः समुत्पन्नेभ्यस्तद्धातोपपत्तेः । अन्यैराचार्यैर्व्याख्यात्यातमिममर्थं भणन्तः कथं न सूत्रप्रत्यनीकाः ? न, वर्षपृथक्त्वान्तरसूत्रवशवर्तिनां तद्विरोधान् ।

छम्बासाउवसेसे उपण्ण जस्स केवल णाण ।

स-समुग्धाओ सिञ्चइ सेसा भज्जा समुग्धाए ॥ १६७ ॥

हे । अतः वहा पर संसार व्यक्तिके समान कर्मस्थिति नहीं पाई जाती है । इसप्रकार अन्तर्मुहूर्तम नियमसे नाशको प्राप्त होनेवाले पल्योपमके असंख्यतत्वे भागप्रमाण या सख्यात आवली-प्रमाण स्थिति काण्डकोका विनाश करते हुए कितने ही जीव समुद्धातके विना ही आयुके समान शेष कर्मको कर लेते हैं । तथा कितने ही जीव समुद्धातके द्वारा शेष कर्मको आयु-कर्मके समान करते हैं । परंतु यह संसारका घात केवलमें पहले संभव नहीं है, क्योंकि, पहले स्थितिकाण्डके घातके समान सभी जीवोंके समान परिणाम पाये जाते हैं ।

शंका—जब कि परिणाममें कोई अतिशय नहीं पाया जाता है, अर्थात् सभी केवलियोंके परिणाम समान होते हैं तो पीछे भी संसारका घात मत होओ ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, वीतरागरूप परिणामोंके समान रहने पर भी अन्तर्मुहूर्तप्रमाण आयुर्कर्मकी अपेक्षासे आत्मके उत्पन्न हुए अन्य विशिष्ट परिणामोंसे संसारका घात बन जाता है ।

शंका—अन्य आचार्योंके द्वारा नहीं व्याख्यान किये गये इस अर्थका इसप्रकार व्याख्यान करते हुए आप सूत्रके विरुद्ध जा रहे हैं, ऐसा क्यों न माना जाय ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, वर्षपृथक्त्वके अन्तरालका प्रतिपादन करनेवाले सूत्रके वशवर्ती आचार्योंका ही पूर्वोक्त ऋतनसे विरोध आता है

शंका—‘छह माह प्रमाण आयुर्कर्मके शेष रहने पर जिस जीवको केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है वह समुद्धातको करके ही मुक्त होता है । शेष जीव समुद्धात करते भी हैं और नहीं भी करते हैं’ ॥ १६७ ॥

१ विद्विस्तर्म्ममगकरणस्य सर्वोसि तेषि कम्मण । अतोमहुत्तमे जति समुग्धादमाडमि ॥ उह सत वथ मिरादिद जह लहु मणिक्वाइ । सेदिय तु ण तथा तेषम कम्म पि णादव्य ॥ मूलारा २१०८, २१०९ जह उट्ठा साडिया आस सुणइ मिरिट्टिया सती । तह कम्मन्हुयसमपु वचति जिणा समुग्धाय ॥ ति मा ३६५०

२ उक्कस्सएण उम्मापाडगमेसामि कनली जादा । वचति मग्ग्वाइ सेमा भज्जा मग्ग्वादे ॥ मूलारा

एदिस्से गाहाए उवाएसो किण्ण गहिओ ? ण, भज्जत्ते कारणणुवलंभादो ।

जेसिं आउ-समाइ णामा गोदाणि वेयणीय च ।

ते अकय-समुग्धाया वच्चतियरे समुग्धाए ॥ १६८ ॥

गेदं भज्जत्ते कारणं सव्व-जीविसु समेहि अणियट्ठि-परिणामेहि पत्त-घादाणं ट्ठिदीणमाउ-समाणत्त-निरोहदो, अघाइ-तियस्स खीण-कसाय-चरिम-समाए जहण्ण-ट्ठिदि-संतस्स वि पलिदोवमस्स असंखेज्जदिभाग-पमाणुवलंभादो । नागमस्तर्कगोचर इति चेन्न, एतयोर्गाथोरोगमत्वेन निर्णयाभावाद् । भावे वास्तु गाथयरेवोपादानम् ।

इदानीं काययोगस्याध्वानज्ञापनार्थमुत्तरसूत्रचतुष्टयमाह—

इस पूर्वोक्त गाथाका उपदेश क्यों नहीं ग्रहण किया है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, इसप्रकार विकल्पके माननेमें कोई कारण नहीं पाया जाता है, इसलिये पूर्वोक्त गाथाका उपदेश नहीं ग्रहण किया है ।

जिन जीवोंके नाम, गोज और वेदनीयकर्मकी स्थिति आयुर्कर्मके समान होती है वे समुद्धात नहीं करके ही मुक्तिको प्राप्त होते हैं । दूसरे जीव समुद्धात करके ही मुक्त होते हैं ॥ १६८ ॥

इसप्रकार पूर्वोक्त गाथामें कहे गये अभिप्रायको तो किन्ही जीवोंके समुद्धातके होनेमें और किन्ही जीवोंके समुद्धातके नहीं होनेमें कारण कहा नहीं जा सकता है, क्योंकि, संपूर्ण जीवोंमें समान अनिष्टरूप परिणामोंके द्वारा कर्मस्थितियोंका घात पाया जाता है, अतः उनका आयुके समान होनेमें विरोध आता है । दूसरे, क्षीणकपाय गुणस्थानके चरम समयमें तीन अघा-तिया कर्मोंकी जघन्य स्थिति पल्योपमके असंख्यतत्वे भाग सभी जीवोंके पाई जाती है, इसलिये भी पूर्वोक्त अर्थ ठीक प्रतीत नहीं होता है ।

शंका—आगम तो तर्कका विषय नहीं है, इसलिये इसप्रकार तर्क के बलसे पूर्वोक्त गाथाओंके अभिप्रायका खण्डन करना उचित नहीं है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, इन दोनों गाथाओंका आगमरूपसे निर्णय नहीं हुआ है । अथवा, यदि इन दोनों गाथाओंका आगमरूपसे निर्णय हो जाय तो इनका ही ग्रहण रहा आवे ।

अब काययोगका गुणस्थानोंमें ज्ञान करानेके लिये आगेके चार सूत्र कहते हैं—

२१०५ पपमासायुपि शेषे साहुत्तन्न यस्य केवलम् । समुद्धातमसौ याति केनली नापर पुनः ॥ पचस ३२७

पपमासाविकायुको लभते केवलंरुमम् । करोत्यसौ समुद्धातमन्ये कुर्वति वा न वा ॥ गुण क म ९४

१ मूलारा २१०६ पर च तत्र चतुर्थवरण पाठवेदोऽयम्—‘ जिणा उवणमति सेलमिं ’ । जेमिं हाति मिसमाणि णामगोदाइ वेदणीयाणि । ते अरुदसमुग्धादा जिणा उवणमति सेलमिं ॥ मूलारा २१०७

कायजोगो ओरालियकायजोगो ओरालियमिस्सकायजोगो  
पुईदिय-पुहुडि जाव सजोगिकेवल्लि ति' ॥ ६१ ॥

काययोग एवंव्यवधारणामात्र वाइसनमोरभावः । एवं जेपणामपि वाच्यमिति ।  
एकेन्द्रियप्रभृत्यनयोगकेनलिन. औदारिकमिश्रकाययोगिनः इति प्रतिपाद्यमाने देशविरतादि-  
क्षीणरूपायान्नामपि तदभिनतं प्राप्नुयादिति चेन्न, प्रभृतिशब्दोऽयं व्यवस्थायां  
प्रकारे च वर्तते । अत्र प्रभृतिशब्दः प्रकारे परिगृह्यते, यथा सिंहप्रभृतयो मृगा इति ।  
ततो न तेषां ग्रहणम् । व्ययथाचिचिनोऽपि ग्रहणे न दोषः 'ओरालिय-मिस्स-कायजोगो  
अपञ्जचाणं' ति वाचकसूत्रमम्भवाद्वा ।

वैक्रियरूपाययोगाधिपतिप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

वेडव्वियकायजोगो वेडव्वियमिस्सकायजोगो सण्णिमिच्छइडि-  
पुहुडि जाव असंजदसम्माइडि ति' ॥ ६२ ॥

नामान्यसे काययोग ओर विशेषकी अपेक्षा औदारिक काययोग ओर औदारिकमिश्र  
काययोग एकेन्द्रियसे लेकर सयोगिकेवली गुणस्थानतक होते है ॥ ६१ ॥

काययोग ही होता है, इसप्रकार अवधारण नहीं होनेसे पूर्वोक्त गुणस्थानोंमें वचनयोग  
ओर मनोयोगका अभाव नहीं समझना चाहिये । इसीप्रकार शेष योगोंका भी कथन करना चाहिये ।

शंका—एकेन्द्रियसे लेकर सयोगिकेवलीतक औदारिकमिश्रकाययोगी होते हैं ऐसा  
कथन करने पर देशविरत आदि क्षीणरूपायपर्यन्त गुणस्थानोंमें भी औदारिकमिश्रयोगका  
सङ्घात प्राप्त हो जायगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, यह प्रभृति शब्द व्यवस्था और प्रकाररूप अर्थमें  
रहता है । उनमेंसे गला पर प्रभृति शब्द प्रकाररूप अर्थमें ग्रहण किया गया है । जैसे, सिंह  
आरि मृग । इमल्लिये ओडारिकमिश्रयोगमें देशविरत आदि क्षीणरूपायतकके गुणस्थानोंका ग्रहण  
नहीं होता है । अथवा, व्ययस्थावाची भी प्रभृति शब्दके ग्रहण करते पर कोई दोष नहीं  
जाता है । अथवा, 'ओरालियमिस्सकायजोगो अपञ्जचाणं' अर्थात् औदारिकमिश्रकाययोग  
अपर्याप्तकोंके होता है, इस वाचक सूत्रके समर्थ होनेके कारण भी पूर्वोक्त दोष नहीं आता है ।

अथ वैक्रियरूपाययोगके स्वामीका प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—  
वैक्रियरूपाययोग ओर वैक्रियरूपाययोग संजी मिथ्यादृष्टिसे लेकर असत्य-  
सम्पत्तिरूपाययोग होते हैं ॥ ६२ ॥

१ योग १ पत्रके भागकायादि जाव जोगो ति । तन्मिस्सामपप्रने नदुण्डाणेषु पियमेण ॥ गो जी ६८०

२ जी म म् ७६

३ योग १ पत्रके ६२ म् १०१ तस्म मिसा न् । एतारिणचउडणे मिसने ण दि मिसनोगो हु ॥  
गो जी ६८२

अत्र 'च' शब्दः कर्तव्योऽन्यथा समुच्चयावगमलुपपचेरिति न, च-शब्दसन्त-  
रेणापि समुच्चयार्थवर्गतेः यथा पृथिव्यप्तेजोवायुरित्यत्र । सम्यङ्मिथ्यादृष्टेरपि वैक्रियक-  
मिश्रकाययोगः प्राप्नुयादिति चेन्न, उक्तोत्तरत्वात् । 'सम्माभिच्छाइडि-द्वणे णियमा  
पञ्जचां', वेडव्विय-मिस्स-कायजोगो अपञ्जचाणं' इत्याभ्यां वा सूत्राभ्यामवसीयते  
यथा न सम्यङ्मिथ्यादृष्टेवैक्रियकमिश्रकाययोगः समस्तीति ।

आहारकाययोगस्वामिप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

आहारकायजोगो आहारमिस्सकायजोगो एकमिह चैव पमत्त-  
संजद-द्वणे' ॥ ६३ ॥

अप्रमादिनां संयतानां क्रियाहारकाययोगो न भवेदिति चेन्न, तत्र तदुत्थापने  
निमित्ताभावात् । तदुत्थापने किं निमित्तमिति चेदाज्ञाननिष्ठतायाः समुत्पन्नप्रमादः

शंका—इस सूत्रमें च शब्द और अधिक जोड़ देना चाहिये, अन्यथा समुच्चयरूप  
अर्थका ज्ञान नहीं हो सकेगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, च शब्दके बिना भी समुच्चयरूप अर्थका ज्ञान हो जाता  
है । जैसे, 'पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पत्य' स्थावरा.' इस सूत्रमें च शब्दके नहीं रहते पर भी समु-  
च्चयरूप अर्थका ज्ञान हो जाता है ।

शंका—सूत्रके कथनानुसार सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानवालेके भी वैक्रियकमिश्रकाय-  
योगका सङ्घात मानना पड़ेगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, इसका उत्तर औदारिकमिश्रकाययोगके प्रकरणमें दे आये  
हैं । अर्थात् यहा पर प्रभृति शब्द व्यवस्था या प्रकारवाची होनेसे पूर्वोक्त दोष नहीं आता है ।  
अथवा, 'सम्माभिच्छाइडिद्वणे णियमा पञ्जचां' 'वेडव्वियमिस्सकायजोगो अपञ्जचाणं' अर्थात्  
'सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें जीव नियमसे पर्याप्तक ही होते हैं, अथवा, वैक्रियकमिश्रकाय-  
योग अपर्याप्तकोंके ही होता है, इन दोनों सूत्रोंसे भी जाना जाता है कि सम्यगपि यथादृष्टिके  
वैक्रियकमिश्रकाययोग नहीं पाया जाता है ।

आहारककाययोगके स्वामीके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

आहारककाययोग ओर आहारकमिश्रकाययोग एक प्रमत्त गुणस्थानमें ही होते हैं ॥ ६३ ॥

शंका—प्रमादरहित सयतोंके आहारककाययोग क्यों नहीं होता है ?

समाधान—प्रमादरहित जीवोंके आहारककाययोगके उत्पन्न करानेमें निमित्तकारणका  
अभाव है ।

शंका—आहारककाययोगके उत्पन्न करानेमें निमित्तकारण क्या है ?

१ जी म म् ८३

२ आहारगे मज्जतो इदं एउ होदि तस्म भिसो ढ । अतोमुत्तचलं उडुणे तंदि आहारो ॥  
गो जी ६८३



द्विपंयोगप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

**वचिजोगो कायजोगो वीइदिय-पहुडि जाव असणिपंचि-  
दिया ति ॥ ६६ ॥**

अत्र सामान्यतया काययोर्विधितत्वात् द्वीन्द्रियादिर्भवत्यसंज्ञिनश्च पर्यवसानम् । त्रिणो तु पुनरन्तर्लब्धमाने तुरीयसैन वचनमः सत्त्वमिति । तदाद्यन्तव्यवहारो न घटामदेत्, उपरिष्टादपि वाकाययोगौ विद्येते ततो नासंज्ञिन पर्यवसानमिति चेन्न, उपरि त्रयाणामपि सत्त्वात् । अस्तु चेन्न, निरुद्धिसंयोगस त्रिसंयोगेन सह विरोधात् ।

एकसंयोगप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

**कायजोगो एइदियाणं ॥ ६७ ॥**

एकेन्द्रियाणामेकः काययोग एव, द्वीन्द्रियादीनामसंज्ञिपर्यन्तानां वाकाययोगौ त्रयेण, जेगणियोगाः ।

अत्र छिन्मयोगी योगोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—  
तत्त्वयोग और काययोग द्वीन्द्रिय जीवोंसे लेकर असंज्ञी पचेन्द्रिय जीवों तक होते हैं ॥६६॥  
यज्ञ पर सामान्य वचन और काययोगकी विवक्षा होनेसे द्वीन्द्रियसे लेकर असंज्ञी पचेन्द्रिय तक सामान्यसे दोनों योग पाये जाते हैं । किंतु विशेषके अवलम्बन करने पर तो द्वीन्द्रियसे अंतर्गतक वचनयोगके बोधे भेद ( अनुभववचन ) का ही सत्त्व समझना चाहिये ।  
शंका—इन दोनों योगोंका द्वीन्द्रियसे आदि लेकर असंज्ञीपर्यन्त जो सद्भाव बताया है, यह यदि और अन्ततः व्यवहार यज्ञा पर बंठित नहीं होना है, क्योंकि, इन जीवोंसे आगेके जीवोंके भी वचन और काययोग पाये जाते हैं । इसलिये असंज्ञितक ये योग होते हैं, यह बात नहीं बनती है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, आगेके जीवोंके तीनों योगोंका मत्र पाया जाता है ।

शंका—यदि ऊपर तीन योगोंका सत्त्व है तो रहा आवे, फिर भी इन दो योगोंके तत्त्व करनेमें क्या शक्ति है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, त्रिसंयोगी योगका त्रिसंयोगी योगके साथ कथन करनेमें आता है । इसलिये त्रिसंयोगी योगका असंज्ञितक ही कथन किया है ।

अब एक संयोगी योगके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

तत्रयोग एकेन्द्रिय जीवोंके होना है ॥ ६७ ॥

एकेन्द्रिय जीवोंके एक काययोग ही होता है । द्वीन्द्रियसे लेकर असंज्ञितक जीवोंके वचन और काय ये दो योग ही होते हैं । तथा, शेष जीवोंके तीनों ही योग होते हैं ।

प्राक् सामान्येन योगस्य सत्त्वमभिधायेदानीं व्यवच्छेदेषुष्णिम् कालेऽस्य सत्त्व-  
मशुष्मिथ न सत्त्वमिति प्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

**मणजोगो वचिजोगो पज्जत्ताणं अत्थि, अपज्जत्ताणं अत्थि ॥ ६८ ॥**

श्वयोपशमापेक्षया अपर्याप्तकालेऽपि तयोः सत्त्वं न विरोधमाशङ्कन्वेदिति चेन्न,  
चाइमनोम्यामनिष्पन्नस्य तद्योगाद्युपपत्तेः । पर्याप्तानामपि निरुद्धयोगमध्यासितावस्थायां  
नास्त्येवेति चेन्न, सम्भवोपेक्षया तत्र तत्सत्त्वप्रतिपादनात्, तच्छक्तिमत्तापेक्षया वा ।  
सर्वत्र समुच्चयार्थवद्योतक-च-शब्दाभावेऽपि समुच्चयार्थः परैरेनावद्योत्यत इत्यवसेयः ।

काययोगसामान्यस्य सत्त्वग्रदेशप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

**कायजोगो पज्जत्ताण वि अत्थि, अपज्जत्ताण वि अत्थि ॥ ६९ ॥**

पहले सामान्यसे योगका सत्त्व कहकर, अब जिस कालमें योगका सद्भाव नहीं पाया  
जाता है, ऐसा निराकरण करने योग्य कालके होने पर, इस कालमें इस योगका सत्त्व है, और  
इस कालमें इस योगका सत्त्व नहीं है, इस बातके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र  
कहते हैं—

मनोयोग और वचनयोग पर्याप्तकोंके ही होते हैं, अपर्याप्तकोंके नहीं होते ॥ ६८ ॥

शंका—क्षयोपशमकी अपेक्षा अपर्याप्त कालमें भी वचनयोग और मनोयोगका पाया  
जाना विशेषको प्राप्त नहीं होता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जो क्षयोपशम वचनयोग और मनोयोगरूपसे उत्पन्न  
नहीं हुआ है, उसे योग सत्ता प्राप्त नहीं हो सकती है ।

शंका—पर्याप्तक जीवोंके भी निरुद्ध योगको प्राप्त होनेरूप अवस्थायके होने पर  
विवक्षित योग नहीं पाया जाता है ?

विशेषार्थ—शकाकारका यह अभिप्राय है कि जिसप्रकार अपर्याप्त अवस्थामें मनो-  
योग और वचनयोगका अभाव वतलाया गया है, उसीप्रकार पर्याप्त अवस्थामें भी किसी  
एक योगके रहने पर शेष दो योगोंका अभाव रहता है, इसलिये उस समय भी उन दो योगोंके  
अभावका कथन करना चाहिये ।

समाधान—नहीं, क्योंकि, पर्याप्त अवस्थामें किसी एक योगके रहने पर शेष  
योग सभव है, इसलिये इस अपेक्षसे यज्ञा पर उनके अस्तित्वका कथन किया जाता है ।  
अथवा, उस समय वे योग शक्तिरूपसे विद्यमान रहते हैं, इसलिये इस अपेक्षसे उनका  
अस्तित्व कहा जाता है ।

इन सभी सूत्रोंमें समुच्चयरूप अर्थको प्रगट करनेवाला च शब्द नहीं होने पर  
भी सूत्रोक्त पदोंसे ही समुच्चयरूप अर्थ प्रगट हो जाता है, ऐसा समझ लेना चाहिये ।

अब सामान्य काययोगकी सत्ताके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—  
काययोग पर्याप्तकोंके भी होता है, और अपर्याप्तकोंके भी होता है ॥ ६९ ॥



‘अपि’ शब्दः समुच्चयार्थे दृष्टव्यः । कः समुच्चयः ? एकस्य निर्दिष्टप्रदेशद्विप्रभृते-  
रुपनिपातः समुच्चयः । द्विरस्ति-शब्दोपादानमनर्थकमिति चेन्न, विस्तररुचिसत्त्वानुग्रहार्थ-  
त्वात् । संक्षेपरुचयो नानुग्रहीताश्चेन्न, विस्तररुचिसत्त्वानुग्रहस्य संक्षेपरुचिसत्त्वानुग्रहा-  
विनाभावित्वात् ।

पर्याप्तस्यैव एते योगाः भवन्ति, एते चोभयोरिति वचनमाकर्ण्य पर्याप्तियपयजात-  
संशयस्य शिष्यस्य सन्देहापोहनार्थमुत्तरद्वयमाणीत्—

**छ पञ्जत्तीओ, छ अपञ्जत्तीओ ॥ ७० ॥**

पर्याप्तिसिनिःशेषलक्षणोपलक्षणार्थं तत्संख्यमेव प्रागाह । आहारशरीरेन्द्रियोच्छ्वास-  
निःश्वासभाषामनसां निष्पत्तिः पर्याप्तिः । ताश्च पट् भवन्ति, आहारपर्याप्तिः शरीरपर्याप्तिः  
सूत्रं जो अपि शब्द आया है वह समुच्चयार्थक जानना चाहिये ।

शंका -- समुच्चय किसे कहते है ?

समाधान— किसी एक वस्तुके निर्दिष्ट स्थानमें दो आदि बार प्राप्त होनेको समुच्चय  
कहते हैं ।

शंका -- सूत्रमें दो बार अस्ति शब्दका ग्रहण करना निरर्थक है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, विस्तारसे समझनेकी रुचि रखनेवाले शिष्योंके अनुग्रहके  
लिये सूत्रमें दो बार अस्ति पदका ग्रहण किया ।

शंका— तो इस सूत्रमें संक्षेपसे समझनेकी रुचि रखनेवाले शिष्य अनुग्रहीत नहीं  
किये गये ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, संक्षेपसे समझनेकी रुचि रखनेवाले जीवोंका अनुग्रह  
विस्तारसे समझनेकी रुचि रखनेवाले जीवोंके अनुग्रहका अविनाभावी है । अर्थात्, विस्तारसे  
कथन कर देने पर संक्षेपरुचि शिष्योंका काम चल ही जाता है, इसलिये यहा पर विस्तारसे  
कथन किया है ।

ये योग पर्याप्तिकके ही होते है और ये योग दोनोंके होते है, इस वचनको सुनकर  
जिन शिष्योंके पर्याप्तिकके विषयमें संशय उत्पन्न हो गया है, उनके संदेहको दूर करनेके लिये  
आगेका सूत्र कहा गया है—

छह पर्याप्तिया और छह अपर्याप्तिया होती हैं ॥ ७० ॥

पर्याप्तियोंके संपूर्ण लक्षणको बतलानेके लिये उनकी सख्या ही पहले कही गई है ।  
आहार, शरीर, इन्द्रिय, उच्छ्वासनिःश्वास, भाषा और मन, इनकी निष्पत्तिको पर्याप्ति कहते  
हैं । वे पर्याप्तिया छह होती हैं, आहारपर्याप्ति, शरीरपर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति, आनापान-

१ उपविदेसमागतेन प्रथम ये गर्हीता पुद्गलात्मना तथायेयामपि प्रतिसम्य ग्रहमाणानां तत्सम्पर्कत-  
द्रूपतया जानानां य शक्तिविशेष आहारादिपुद्गलरसरस्वतपापादन्नेतुर्गोदणतर्गतानां पुद्गलविशेषाणामाहारपुद्गलख-  
सस्वतपापरिपमनहेतु सा पर्याप्ति । जी १ प्रति ( अमि रा को, पञ्जचि )

इन्द्रियपर्याप्तिः आनापानपर्याप्तिः भाषापर्याप्तिः मन.पर्याप्तिरिति । एतामामेवानिष्पत्तिर-  
पर्याप्तिः । ताश्च पट् भवन्ति, आहारपर्याप्तिः शरीरपर्याप्तिः इन्द्रियापर्याप्तिः आनापाना-  
पर्याप्तिः भाषापर्याप्तिः मनोऽपर्याप्तिरिति । एतासां द्वादशानामपि पर्याप्तीनां स्वरूपं  
प्रागुक्तमिति पौनरुक्तिभयादिह नोच्यते ।

इदानीं तासामाधारप्रतिपादनार्थमुत्तरद्वयमवोचत्—

**सण्णभिन्धाइडि-पहुडि जाव असंजदसम्माइडि ति ॥ ७१ ॥**

सम्यग्मिथ्यादृष्टानामपि पट् पर्याप्तयो भवन्तीति चेन्न, तत्र गुणेऽपर्याप्तकाला-  
भावात् । देशविरताद्युपरितनगुणानां किमिति पट् पर्याप्तयो न सन्तीति चेन्न, पर्याप्ति-  
नाम षण्णां पर्याप्तीनां समाप्तिः, न सोपरितनगुणेष्वस्ति अपर्याप्तित्तरमावस्थायामैक-  
समयिक्या उपरि सत्त्वविरोधात्

पट्पर्याप्तिश्रवणात् पडेव पर्याप्तयः सन्तीति ममुत्पन्नप्रत्ययस्य शिष्यस्याव-  
धारणात्मकप्रत्ययनिराकरणार्थमुत्तरद्वयमवोचत्—

पर्याप्ति, भाषापर्याप्ति और मन पर्याप्ति । इन छह पर्याप्तियोंकी अपूर्णताको ही अपर्याप्ति  
कहते हैं । अपर्याप्तिया भी छह ही होती हैं, आहार-अपर्याप्ति, शरीर-अपर्याप्ति, इन्द्रिय-  
अपर्याप्ति, आनापान-अपर्याप्ति, भाषा-अपर्याप्ति और मन-अपर्याप्ति । इन बारह पर्याप्तियोंका  
स्वरूप पहले कह आये हैं, इसलिये पुनरुक्ति दृग्गणके भयसे उनका स्वरूप फिरसे यहाँ नहीं  
कहते हैं ।

अब उन पर्याप्तियोंके आधारको बतलानेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—  
उपर्युक्त सभी पर्याप्तियां संज्ञी मिय्यादाएसे लेकर असयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानतक  
होती है ॥ ७१ ॥

शंका— तो म्या सम्यग्मिथ्यादाएि गुणस्थानवालोंके भी छह पर्याप्तियां होती हैं ?  
समाधान— नहीं, क्योंकि, उस गुणस्थानमें अपर्याप्त काल नहीं पाया जाता है ।

शंका— देशविरतादिक ऊपर के गुणस्थानवालोंके छह पर्याप्तियां क्यों नहीं होती हैं ?  
समाधान— नहीं, क्योंकि छह पर्याप्तियोंकी समाप्तिका नाम ही पर्याप्ति है और  
यह समाप्ति चौथे गुणस्थान तक ही होनेसे पंचवें आदि ऊपरके गुणस्थानमें नहीं पायी  
जाती, क्योंकि, अपर्याप्तिकी अन्तिम अवस्थावर्ती एक समयमें पूर्ण हो जानेवाली पर्याप्तिकी  
आगेके गुणस्थानमें सत्त्व माननेसे विरोध उत्पन्न होता है ।

छह पर्याप्तियोंके सुननेसे जिस शिष्य को यह निश्चय होगया कि पर्याप्तियां छह  
ही होती हैं, हीनाधिक नहीं, उस शिष्यके ऐसे धारणारूप निश्चयको दूर करनेके लिये  
आगेका सूत्र कहा है—



## पंच पञ्चत्तीओ पंच अपञ्चत्तीओ ॥ ७२ ॥

पर्याप्तीनामपर्याप्तीनां च लक्षणमभाणीति नेदानीं भण्यते । पण्णां पर्याप्तीनामन्तः पञ्चापि तन्तीति श्रुत्वा पर्याप्तिपञ्चकोपदेशोऽनर्थक इति चेन्न, क्वचिज्जीवविशेषे पर्याप्तयो भग्नित, क्वचित्पञ्चा भवन्तीति प्रतिपादनफलत्वात् । काः पञ्च पर्याप्त्यति चन्मनोनाजोः शेषाः पञ्च ।

नाः केपां भवन्तीति मंगयानस्य शिष्यस्यारेऽनिराकरणार्थमुत्तरद्वयं वक्ष्यति—

## वीहंदिद्य-पद्दुडि जाव असण्णिपंचिदिया ति ॥ ७३ ॥

विकलेन्द्रियेवन्ति मनः तत्कार्यस्य विज्ञानस्य तत्र सत्त्वान्मनुष्येभ्येति न प्रत्यवस्थातुं शुकं तत्रतनय्य विज्ञानस्य तत्कार्यत्वाभिद्वेः । मनुष्येषु विज्ञानस्य तत्कार्यत्वं दृश्यत

पञ्च पर्याप्तिया और पंच अपर्याप्तियां होती हैं ॥ ७२ ॥

पर्याप्तियोंका और अपर्याप्तियोंका लक्षण पहले कह आये हैं, इसलिये अब फिरसे नहीं कहते हैं ।

शंका—पंच पर्याप्तिया छह पर्याप्तियोंके भीतर आ ही जाती हैं, इसलिये अलग-रूपसे पंच पर्याप्तियोंका कथन करना निष्फल है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, किन्हीं जीव-विशेषोंमें छहों पर्याप्तियां पाई जाती हैं, और किन्हीं जीवोंमें पंच ही पर्याप्तिया पाई जाती हैं । इस बातका प्रतिपादन करना इस सूत्रका फल है ।

शंका—ये पांच पर्याप्तिया कौनसी हैं ?

समाधान—मनःपर्याप्तिको छोड़कर शेष पांच पर्याप्तियां यहां पर ली गई हैं ।

ये पांच पर्याप्तियां किसके होती हैं, इस प्रकार संशयापन्न शिष्यकी शंका दूर करनेके लिये शेष पर कहते हैं—

ये पांच पर्याप्तियां अस्त्रिय जीवोंसे लेकर असस्त्री-पंचेन्द्रियपर्यन्त होती हैं ॥ ७३ ॥

शंका—विकलेन्द्रिय जीवोंमें भी मन है, क्योंकि, मनका कार्य जो विज्ञान मनुष्योंमें ही विकलेन्द्रिय जीवोंमें भी पाया जाता है ?

समाधान—यह बात निश्चय करने योग्य नहीं है, क्योंकि, विकलेन्द्रियोंमें रहनेवाला विकल मनुष्य कहते हैं, यह बात अस्तिर है ।

शंका—एक-शेषोंमें जो विशेष काल होता है यह मतका कार्य है, यह बात तो स्वी जाती है ?

समाधान—एक-शेषोंमें विशेष विचार शरीर मतका कार्य है तो रहा शरीर, क्योंकि,

इति चेदमुत्तु, क्वचिद् दृष्टत्वात् । मनसः कार्यत्वेन प्रतिपन्नविज्ञानेन सह तत्रतनविज्ञानस्य ज्ञानत्वं प्रत्यविशेषान्मनोनिवन्धनत्वमनुमीयत इति चेन्न, भिन्नजातिस्थितविज्ञानेन सहाविशेषानुपपत्तेः । न प्रत्यक्षेणाप्येव आगमो वाध्यते तत्र प्रत्यक्षस्य दृश्यभावात् । विकलेन्द्रियेषु मनसोऽभानः कुतोऽवसीयत इति चेदपर्याप्त्यति चेदपर्याप्त्यति चेत्स्वाभाव्यात्प्रत्यक्षस्येव ।

पुनरपि पर्याप्तिसंख्यासत्त्वभेदशर्तुनाश्रयुत्तरद्वयमाह—

## चत्तारि पञ्चत्तीओ चत्तारि अपञ्चत्तीओ ॥ ७४ ॥

केपुचित्प्राणिषु चतस एव पर्याप्तयोऽपर्याप्तयो वा भवन्ति । कास्ताश्चतस इति चेदाहारशरीरेन्द्रियानापानपर्याप्तयः इति । शेषं सुगमम् ।

चतुर्णामपि पर्याप्तीनामधिपतिजीवप्रतिपादनार्थमुत्तरद्वयमाह—

## एहंदिद्यणं ॥ ७५ ॥

यह क्वचित् अर्थात् मनुष्योंमें देखा जाता है ।

शंका—मनुष्योंमें मनके कार्यरूपसे स्वीकार किये गये विज्ञानके साथ विकलेन्द्रियोंमें होनेवाले विज्ञानकी शानसासान्यकी अपेक्षा कोई विशेषता नहीं है, इसलिये यह अनुमान किया जाता है कि विकलेन्द्रियोंका विज्ञान भी मनसे होता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, भिन्न जातियोंमें स्थित विज्ञानके साथ भिन्न जातियोंमें स्थित विज्ञानकी समानता नहीं बन सकती है । 'विकलेन्द्रियोंके मन नहीं होता है' यह आगम प्रत्यक्षमें भी बाधित नहीं है, क्योंकि, वहां पर प्रत्यक्षकी प्रवृत्ति ही नहीं होती है ।

शंका—विकलेन्द्रियोंमें मनका अभाव है यह बात किस प्रमाणसे जानी जाती है ?

समाधान—आगम प्रमाणसे जाना जाता है कि विकलेन्द्रियोंके मन नहीं होता है ।

शंका—आर्षको प्रमाण कैसे माना जाय ?

समाधान—जैसे प्रत्यक्ष स्वभावतः प्रमाण है उसीप्रकार आर्ष भी स्वभावतः प्रमाण है ।

फिर भी पर्याप्तियोंकी संख्याके अस्तित्वमें भेद यतनेके लिये आगोका सूत्र कहने में चार पर्याप्तियां और चार अपर्याप्तियां होती हैं ॥ ७४ ॥

किन्हीं जीवोंमें चार पर्याप्तियां अथवा किन्हींमें चार अपर्याप्तियां होती हैं ।

शंका—ये चार पर्याप्तिया कौनसी हैं ?

समाधान—आहारपर्याप्ति, शरीरपर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति और आनापानपर्याप्ति । शेष कथन सुगम है ।

चतुर्ण पर्याप्तियोंके अधिकांसी जीवोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगोका सूत्र कहने में उक्त चारों पर्याप्तियां एकेन्द्रिय जीवोंके होती हैं ॥ ७५ ॥

ताश्चतस्रोऽपि पर्याप्तय एकेन्द्रियाणामेव नान्येषाम् । एकेन्द्रियाणां नोच्छ्वास-  
मुपलभ्यते चेन्न, आर्षाच्चतुःपलम्भात् । प्रत्यक्षेणामो वाध्यत इति चेद्धवत्वस वाधा प्रत्यक्षा-  
त्प्रत्यक्षीकृतानेषोपमेयात् । न चेन्द्रियजं प्रत्यक्ष समस्तवस्तुविषयं येन तदविपर्ययीकृतस  
वस्तुनो भावो भेदीयते ।

एवं पर्याप्त्यपर्याप्तीरिभयाय साम्प्रतममुष्मिन्नयं योगो भास्यश्रुम्भिश्च न भवतीति  
प्रतिपादनार्थमुत्तरस्यसाह—

**ओरालियकायजोगो पञ्जत्ताणं ओरालियमिस्सकायजोगो  
अपञ्जत्ताणं ॥ ७६ ॥**

पद्भिः पञ्चभिश्चतसृभिर्ना पर्याप्तिभिर्निष्पन्नाः परिनिष्ठितान्तिर्यञ्चो मनुष्याश्च  
पर्याप्ताः । किमेकया पर्याप्त्या निष्पन्नः पर्याप्तः उत साकल्येन निष्पन्न इति ? शरीर-

वे चारों पर्याप्तिया एकेन्द्रिय जीवोंके ही होती हैं, दूसरोंके नहीं ।

शंका—एकेन्द्रिय जीवोंके उच्छ्वास तो नहीं पाया जाता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, एकेन्द्रियोंके श्वासोच्छ्वास होता है, यह बात आम  
प्रमाणसे जानी जाती है ।

शंका—प्रत्यक्षसे यह आगम बाधित है ?

समाधान—जिससे संपूर्ण पदार्थों को प्रत्यक्ष कर लिया है उसे प्रत्यक्ष प्रमाणसे  
यदि बाधा समन हो तो वह प्रत्यक्षवाधा कही जा सकती है । परंतु इन्द्रियप्रत्यक्ष तो संपूर्ण  
पदार्थोंको विषय ही नहीं करता है, जिससे कि इन्द्रियप्रत्यक्षकी निष्पत्ताको नहीं प्राप्त  
होनेवाले पदार्थोंमें भेद किया जा सके ।

इसप्रकार पर्याप्ति और अपर्याप्तियोंका कथन करते नर इन जीवोंमें यह योग  
होता है और इस जीवोंमें यह योग नहीं होता है, इसका कथन करनेके लिये आगेका  
सूत्र कहते हैं—

**ओरालियकाययोग पर्याप्तिकं ओर ओरालिमिश्रकाययोग अपर्याप्तिकं होला  
हे ॥ ७६ ॥**

शंका—छह पर्याप्ति, पांच पर्याप्ति अथवा चार पर्याप्तियोंसे पूर्णताको प्राप्त हुएतिर्यंच  
और मनुष्य पर्याप्तक कहलाते हैं । तो क्या उनमेंसे किसी एक पर्याप्तिसे पूर्णताको प्राप्त हुआ  
पर्याप्तक कहलाता है या संपूर्ण पर्याप्तियोंसे पूर्णताको प्राप्त हुआ पर्याप्तक कहलाता है ?

१ ओराल पञ्चो आरालभादि जाओ जोगो दि । तमिमममम तव चतुस्रदांशु निष्पोग ॥  
गो जी ६८०

पर्याप्त्या निष्पन्नः पर्याप्त इति भण्यते । तत्रादारिकृत्ताययोगो निष्पन्नशरीरवष्टुम्भ-  
चलेनोपवृत्तवैश्वेदशपरिस्पन्देन योगः आदारिकृत्ताययोगः । अययोवाप्ययायामौदारिक-  
मिश्रकाययोगः । कामौदारिकृत्कृत्यनिष्पन्नजीववैश्वेदशपरिस्पन्देन योगः आदारिकृ-  
मिश्रकाययोग इति यावत् । पर्याप्तान्तर्याया कामागजगिम्भ मन्वानत्राप्युभय-  
निष्पन्नात्मस्रदशपरिस्पन्द इति आदारिकमिश्रकाययोगः किमु न ज्ञादिति चेन्न, तत्र  
तस्य भवोऽपि जीवस्रदशपरिस्पन्दस्याहंतुतात् । न परम्पर्यकृतं तद्वेतुनं तस्योपचारि-  
कृत्वात् । न तदप्यभिप्रियन्तात् । अथ स्यात्परिस्पन्दस्य कथंहेतुनं नंचदत्राणा-  
मपि कर्मबन्धः प्रमजतीति न, कर्मजनितस्य चैनन्यपरिस्पन्दस्यावाहंतुयेन विवक्षित-  
त्वात् । न चाश्रयपरिस्पन्दः कर्मजनितो येन वेद्वेतुतामान्कन्देत् ।

भौतिक्यकृताययोगस्य मरुस्रदशप्रतिपादनार्थमाह—

समाधान—कभी जो न शरीरपर्याप्तिकं निष्पन्न होते पर पर्याप्तक रहे जाँगे ।  
उत्तरमें पहले भौतिककृताययोगका उल्लेख कहते हैं । पर्याप्तिको प्राप्त हुए शरीरके  
आच्छन्नापरा उष्ण हुए जीवोंसे परिस्पन्दसे जो योग होता है उसे भौतिककृताययोग  
कहते हैं । नर भौतिककृताययोग अपर्याप्त पर्याप्तोंमें भौतिकमिश्रकाययोग होता है ।  
निष्पन्नतापरी इनप्रकार है कि कर्मजनित और भौतिककृताययोग मनुष्योंके निष्पत्तसे जीवोंके  
प्रदेशोंमें उष्ण हुए परिस्पन्दसे जो योग होता है उसे भौतिककृताययोग कहते हैं ।

शंका—पर्याप्त पर्याप्तोंमें कर्मपरशरीरका मरुत्तर होनेके कारण तत्रों पर भी कर्मबन्ध  
और भौतिककृताययोग मनुष्योंके निष्पत्तसे आत्माके प्रदेशोंमें परिस्पन्द होता है, इनलिये तत्रों  
पर भी भौतिककृताययोग पर्याप्तोंमें क्या जाता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, पर्याप्त अस्वयोंमें तद्यदि कर्मजनशरीर निष्पन्नान् दे फिर  
भी यह जीव प्रदेशोंके परिस्पन्दररा कारण नहीं है । यदि पर्याप्त पर्याप्तोंमें कर्मजनशरीर  
पर्यन्तसे जीवप्रदेशोंके परिस्पन्दका कारण कहा जाये, तो भी ठीक नहीं है, क्योंकि, कर्मजन-  
शरीरको पर्यन्तसे विवक्षित मानना उचित है । यदि नहीं कि उपचारता भी यथा पर ग्रहण कर  
लिया जाये, तो भी ठीक नहीं है, क्योंकि, उपचारसे परंपरास्य विवक्षितके प्रमाण करतेही यथा  
निष्पन्ना नहीं है ।

शंका—परिस्पन्दको पर्यन्तका कारण मानने पर संचार करने हुए भेयेंकि भी कर्मबन्ध  
प्राप्त हो जायगा, क्योंकि, उनके भी परिस्पन्द प्राप्त जाता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, कर्मजनित चेतनापरिस्पन्द ही आश्रयका कारण है, यहाँ  
अर्थ यथा पर विवक्षित है । भौतिक परिस्पन्द कर्मजनित तो है नहीं, जिससे वह कर्मबन्धके  
आश्रयका हेतु ही नके, अर्थात् नहीं हो सकता है ।

अथ भौतिककृताययोगके सद्रावके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

वेडव्वियकायजोगो पज्जत्ताणं वेडव्वियमिस्सकायजोगो अप-  
ज्जत्ताणं ॥ ७७ ॥

पर्यानावस्थायां वैक्रियककाययोगे सति तत्र शेषयोगाभावः स्यादिति चेन्न,  
तत्र वैक्रियककाययोग एवास्तीत्यत्रधारणाभावात् । अत्रधारणाभावेऽपर्यान्तावस्थायां  
शेषयोगानामपि सत्त्वमापत्तेरिति चेत्सत्यम्, कर्मणककाययोगस्य सत्त्वोपलम्भान् । न  
तद्वत्तत्तत्त्वनस्योरपि सत्त्वमपर्यान्तानां तयोरभावस्योक्तत्वात् ।

आहारकाययोगमन्त्रमदेजप्रतिपादनायाह—

आहारकायजोगो पज्जत्ताणं आहारमिस्सकायजोगो अप-  
ज्जत्ताणं ॥ ७८ ॥

आहारशरीरेत्थापकः पर्याप्तः सयतत्वान्यथानुपपत्तेः । तथा चाहारमिश्रकाय-

वैक्रियककाययोग पर्याप्तकोंके और वैक्रियकमिश्रकाययोग अपर्याप्तकोंके होता है ॥७७॥  
शंका—पर्याप्त अवस्थामें वैक्रियककाययोगके मानने पर वहा शेष योगोंका अभाव  
मानना पड़ेगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, पर्याप्त अवस्थामें वैक्रियककाययोग ही होता है ऐसा  
निश्चयरूपसे कथन नहीं किया है ।

शंका—तत्र कि उक्त कथन निश्चयरूप नहीं है तो अपर्याप्त अवस्थामें भी उसीप्रकार  
शेष योगोंका सद्भाव प्राप्त हो जायगा ?

समाधान—यद्य कहुना किसी अपेक्षासे ठीक है, क्योंकि, अपर्याप्त अवस्थामें  
वैक्रियकमिश्रके आतिरिक्त कर्मणककाययोगका भी सद्भाव पाया जाता है । किन्तु कर्मणककाययोगके  
समान अपर्याप्त अवस्थामें वननयोग और मनोयोगका सद्भाव नहीं माना जा सकता है,  
क्योंकि, अपर्याप्त अवस्थामें इन दोनों योगोंका अभाव रहता है, यह बात पहले कही जा  
चुकी है ।

अत्र आहारककाययोगका आधार वसलनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

आहारककाययोग पर्याप्तकोंके और आहारकमिश्रकाययोग अपर्याप्तकोंके होता है ॥७८॥

शंका—आहारकशरीरको उत्पन्न करनेवाला साधु पर्याप्तक ही होता है, अन्यथा  
उसके संयतपना नहीं बन सकता है । ऐसी हालतमें आहारकमिश्रकाययोग अपर्याप्तकोंके होता

१ इति पत्रो हरे मउ गेदि तन्म मित्स्स उ । गो जी ६८२

२ आशा पन्ना हरे मउ गेदि तन्म मित्स्स उ । गो जी ६८३.

योगोऽपर्याप्तकस्येति न घटामटेदिति चेन्न, अनवगतसद्भाभिप्रायत्वात् । तद्यथा, भवत्वसौ  
पर्याप्तकः औदारिकशरीरगतपट्पर्याप्त्यपेक्षया, आहारशरीरगतपर्याप्तित्तिष्पत्यभावा-  
पेक्षया त्वपर्याप्तकोऽसौ । पर्यान्तापर्याप्तत्वयोनैकत्राक्रमेण संभवो विरोधादिति चेन्न,  
पर्यान्तापर्याप्तयोगोरक्रमेणैकत्र न सम्भवः इतीदृत्वात् । कथं न पूर्वोऽभ्युपगमः इति  
विरोध इति चेन्न, भूतपूर्वगतन्यायापेक्षया विरोधासिद्धेः । विनष्टौदारिकशरीरसम्बन्ध-  
पट्पर्याप्तेरपरिनिष्ठिताहारशरीरगतपर्याप्तेरपर्याप्तस्य कथं संयम इति चेन्न, संयमस्या-  
सर्वनिरोधलक्षणस्य मन्दयोगेन सह विरोधासिद्धेः । विरोधे वा न केवलिनोऽपि  
समुद्धातगतस्य संयमः तत्राप्यपर्याप्तकयोगास्तित्वं प्रत्यविशेषात् । 'संजदासंजदङ्घणे

है यह कथन नहीं बन सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, ऐसा कहुनेवाला आगमके अभिप्रायको ही नहीं समझा है ।  
आगमका अभिप्राय तो इसप्रकार है कि आहारकशरीरको उत्पन्न करनेवाला साधु औदारिक  
शरीरगत छह पर्याप्तियोंकी अपेक्षा पर्याप्तिक भले ही रहा आवे, किन्तु आहारकशरीरसंबन्धी  
पर्याप्तिकके पूर्ण होनेकी अपेक्षा वह अपर्याप्तक है ।

शंका—पर्याप्त और अपर्याप्तपना एकसाथ एक जीवमें संभव नहीं है, क्योंकि, एक-  
साथ एक जीवमें इन दोनोंके रहनेमें विरोध आता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, एकसाथ एक जीवमें पर्याप्त और अपर्याप्तसंबन्धी योग  
संभव नहीं है, यह बात हमें इट ही है ।

शंका—तो फिर हमारा पूर्व कथन क्यों न मान लिया जाय, अतः आपके ऋयन्तमें  
विरोध आता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, भूतपूर्व न्यायकी अपेक्षा विरोध अस्ति है । अर्थात्  
औदारिक शरीरसंबन्धी पर्याप्तपनेकी अपेक्षा आहारकमिश्र अवस्थामें भी पर्याप्तपनेका व्यवहार  
किया जा सकता है ।

शंका—जिसके औदारिक शरीरसंबन्धी छह पर्याप्तियां नष्ट हो चुकी हैं, और आहा-  
रक शरीरसंबन्धी पर्याप्तियां अभी तक पूर्ण नहीं हुई हैं ऐसे अपर्याप्तक साधुके संयम कैसे हो  
सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जिसका लक्षण आश्रवका निरोध करना है ऐसे संयमका  
मन्व्ययोग ( आहारकमिश्रयोग ) के साथ होनेमें कोई विरोध नहीं आता है । यदि इस मन्व-  
योगके साथ संयमके होनेमें विरोध आता ही है ऐसा माना जावे, तो समुद्रततो प्राप्त  
धुए केवलिके भी संयम नहीं हो सकेगा, क्योंकि, वहां पर भी अपर्याप्तकसंबन्धी योगका  
सद्भाव पाया जाता है इसमें कोई विशेषता नहीं है ।

णियमा पञ्जत्ता' इत्यनेनार्पण सह कथं न विरोधः स्यादिति चेन्न, द्रव्यार्थिकनया-  
पेक्षया प्रवृत्तसूत्रस्याभिप्रायेणाहारशरीरानिष्पत्त्यवस्थायामपि षट्पर्याप्तानां सत्त्वाविरोधान् ।  
कार्मणकाययोगः पर्याप्तैवपर्याप्तैवभूयत्र वा भवतीति नोक्तम्, तन्निश्चयः कुतो भवेत् ?  
'कम्मइयकायजोगो विग्गहगइ-समावणणां केवलीणं वा समुग्घाद-पदाणं' इत्येतस्मा-  
त्सत्त्वात्पर्याप्तैवैव कार्मणकाययोग इति निश्चीयते ।

पर्याप्तैवपर्याप्तियु च योगानां सत्त्वमसत्त्वं चाभिधायेदानीं गतिषु तत्र गुण-  
स्थानानां सत्त्वासत्त्वप्रतिपादनार्थमुत्तरसूत्रमाह—

**णेरइया मिच्छाद्विट्ठि-असंजदस्समाइद्विट्ठाने सिया पज्जत्ता  
सिया अपज्जत्ता ॥ ७९ ॥**

नारका इत्यनेन बहुवचनेन स्यादित्येतस्य एकवचनस्य न सामानाधिकरण्य-

शंका—'सयतासंयतसे लेकर सभी गुणस्थानोंमें जीव नियमसे पर्याप्तक होते हैं', इस  
अर्थवचनके साथ उपर्युक्त कथनका विरोध क्यों नहीं आजायगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे प्रवृत्त हुए इस सूत्रके  
अभिप्रायसे आहारक शरीरकी अपर्याप्त अवस्थामें भी औदारिक शरीरसंबन्धी छह पर्याप्तियोंके  
हेतुमें कोई विरोध नहीं आता है ।

शंका—'कार्मणकाययोग पर्याप्त होने पर होता है, या अपर्याप्त रहने पर होता है,  
अथवा दोनों अवस्थाओंमें होता है, यह कुछ भी नहीं कहा, इसलिये इसका निश्चय कैसे  
किया जाय ?

समाधान—'विग्रहगतिको प्राप्त चारों गतिके जीवोंके और समुद्धातगत केवलियोंके  
कार्मणकाययोग होता है' इस सूत्रके कथनानुसार अपर्याप्तकोंके ही कार्मणकाययोग होता  
है, इस कथनका निश्चय हो जाता है ।

इसप्रकार पर्याप्त और अपर्याप्तियोंमें योगोंके सत्त्व और असत्त्वका कथन करके अब  
चार गतिसंबन्धी पर्याप्त और अपर्याप्तियोंमें गुणस्थानोंके सत्त्व और असत्त्वके प्रतिपादन  
करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

नारकी जीव मिथ्याद्विट्ठि और असयतसस्यद्विट्ठि गुणस्थानमें पर्याप्तक होते हैं और  
अपर्याप्तक भी होते हैं ॥ ७९ ॥

शंका—सूत्रमें आये हुए 'नारका.' इस बहुवचनके साथ 'स्यात्' इस एक वचनका  
सामानाधिकरण नहीं बन सकता है ?

१ अ क आ प्रतियु 'कुतोभवत्' इति पाठ । २ जी स सू. ६०.

मिति चेन्न, एकस्य नानात्मकस्य नानात्वाविरोधात् । विरुद्धयोः कथमेकमधिकरणमिति  
चेन्न, दृष्टत्वात् । न हि दृष्टेऽनुपपन्नता' । नारकाः मिथ्याद्विट्ठयोऽसंयतसस्यद्विट्ठयश्च  
पर्याप्ताश्चापर्याप्ताश्च भवन्ति । समुच्चयावगतये चशब्दोऽत्र वक्तव्यः न, सामर्थ्य-  
लभ्यत्वात् ।

तत्रतन्शेषगुणद्वयप्रदेशप्रतिपादनार्थमाह—

**सासणसम्माइद्विट्ठि-सम्माभिच्छाद्विट्ठाने णियमा पज्जत्ता ॥ ८० ॥**

नारकाः निष्पन्नपदपर्याप्तयः सन्तः ताभ्यां गुणाभ्यां परिणमन्ते नापर्याप्ता-  
वस्थायाम् । किमिति तत्र तौ नोत्पद्येते इति चेत्तयोस्तत्रोत्पत्तिनिमित्तपरिणामाभावात् ।

समाधान—नहीं, क्योंकि, एक भी नानात्मक होता है, इसलिये एकको नानारूप  
मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

शंका—'विरुद्ध दो पदार्थोंका एकाधिकरण कैसे हो सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, विरुद्ध दो पदार्थोंका भी एकाधिकरण देखा जाता है ।  
और देखे गये कार्यमें यह नहीं बन सकता यह कहा नहीं जा सकता है । अतः सिद्ध हुआ  
कि मिथ्याद्विट्ठि और असयतसस्यद्विट्ठि नारकी पर्याप्तक भी होते हैं और अपर्याप्तक  
भी होते हैं ।

शंका—समुच्चयका ज्ञान करानेके लिये इस सूत्रमें व शब्दका कथन करना चाहिये?  
समाधान—नहीं, क्योंकि, वह सामर्थ्यसे ही प्राप्त हो जाता है ।

अब नारकसंबन्धी शेष दो गुणस्थानोंके आधारके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका  
सूत्र कहते हैं—

नारकी जीव सासादनसस्यद्विट्ठि और सस्यग्मिथ्याद्विट्ठि गुणस्थानमें नियमसे पर्याप्तक  
होते हैं ॥ ८० ॥

जिनकी छह पर्याप्तिया पूर्ण हो गई हैं ऐसे नारकी ही इन दो गुणस्थानोंके साथ  
परिणत होते हैं, अपर्याप्त अवस्थामें नहीं ।

शंका—नारकियोंकी अपर्याप्त अवस्थामें ये दो गुणस्थान क्यों नहीं उत्पन्न होते हैं ?

समाधान—क्योंकि, नारकियोंकी अपर्याप्त अवस्थामें इन दो गुणस्थानोंकी उत्पत्तिके  
निमित्तभूत परिणामोंका अभाव है, इसलिये उनकी अपर्याप्त अवस्थामें ये दो गुणस्थान  
नहीं होते हैं ।

१ सम्भावेऽनक्षत सिद्धे यदि पर्याप्तयुज्यन्ते । ततोत्तरामिदं युक्तं न दृष्टव्युपपन्नता ॥ स त पु. २६

मोक्षपि विमिति तयानं स्यादिति चेन्ममाभाव्यात् । नारकाणांमिदमन्यथाऽस्ममाद्भाव-  
मुपगतानां पुनर्गन्मिति मनुष्यमानानामपर्यायात्तद्वाप्या गुणद्वयस्य सत्ताविरोधान्मियमेन  
पर्याया इति न वदत इति चेन्न, तेषां मरणाभावात् । भवे वा न ते तत्रोत्पद्यन्ते,  
' शिरयादो षोडश्या उत्रिंशद्वयमाणा णो शिरस्यगदि जादि णो देवगदि जादि. तिरिक्स-  
गदि मणुष्यगदि च जादि ' इत्यनेनापि निषिद्धत्वात् । आयुषोऽवसाने त्रियमाणानामपि  
नियमोऽन्त, तेषामपमृत्योरप्युत्पत्त्यात् । मम्ममाद्भावमुपगतदेहाना तेषा कथं पुनर्मरणमिति  
चेन्न, देही ह्यस्यायुर्विच्छिद्यनिमित्तत्वात् । अन्यथा बालावस्थातः प्राप्तयौवनस्यापि  
मरणप्रभवत्वात् ।

शंका— इत्यन्तकारके परिणाम उत दो गुणस्थानोंमें क्यों नहीं होते हैं ?

समाधान— क्योंकि, वेमा स्वभाव ही है ।

शंका— अक्षिके सान्धसे भस्मीभानको प्राप्त हुए और फिर भी उसी भस्ममें होने-  
वाले नारकियोंके अपर्याय कालमें उन दो गुणस्थानोंके होनेमें कोई विरोध नहीं आता है,  
अर्थात् देह भेदन आदिसे नष्ट हुए शरीरके पश्चात् पुनः उन्हीं अवयवोंमें उत्पन्न होनेवाले जीवोंके  
साधारण और मिय गुणस्थान गान्तेमें कोई विरोध नहीं आता है, इसलिये इन गुणस्थानोंमें  
नारकी नियमसे पर्यायक होते हैं, यह नियम नहीं बनता है ?

समाधान नहीं, क्योंकि, अग्नि आदि निमित्तसे नारकियोंका मरण नहीं होता  
है । यदि नारकियोंका मरण हो जाले, तो पुन वे नहीं पर उत्पन्न नहीं होते है, क्योंकि,  
' जिनकी आयु पूर्ण हो गई है वेमे नारकी जीव नरकगतिले निकलकर पुनः नरकगतिको  
नहीं जाते है, जिनको नहीं जाते है । किन्तु तिथेचगति ओर मनुष्यगतिको जाते है ' इस  
परिपन्तके अनुसार नारकियोंका पुन नरकगतिसमें उत्पन्न होना निषिद्ध है ।

शंका— आयुके गन्तमें मरनेवाले नारकियोंके लिये ही यह सूत्रोक्त नियम लागू  
होना चाहिये ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, नारकी जीवोंके अपमृत्युका सद्धान नहीं पाया जाता है ।  
अर्थात् नारकियोंका आयुके अन्तमें ही मरण होना है, बीचमें नहीं ।

शंका— यदि उनकी अपमृत्यु नहीं होनी है, तो जिनका शरीर भस्मीभावको प्राप्त  
हो गया है वेमे नारकियोंका पुनर्मरण कैसे रहेगा ?

समाधान— यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, देहका विकार आयुर्कर्मके विनाशका  
निमित्त नहीं है । अन्यथा जिसने बाल-अवस्थाके पश्चात् यौवन-अवस्थाको प्राप्त कर लिया  
है वेमे जीवके भी मरणका प्रसंग आ जायगा ।

नारकाणामोद्यमभिधायदेशप्रतिपादनार्थमाह—

**एवं पठमाए पुठवीए णेरइया ॥ ८१ ॥**

प्रथमायां श्रुतिव्या ये नारकास्तेषां नारकाणां सामान्योक्तरूपेण भवन्ति । कुतो ?  
विशेषाभावात् । यदि सामान्यप्ररूपणया प्रथमश्रुतिनीगतनारका एव निरूपिता भवेयुरलं  
तया, विशेषनिरूपणतयैव तदवगतेरिति ? न, द्रव्यार्थिकनयात् सत्त्वानुग्रहार्थं तदप्रवृत्तेः ।  
विशेषप्ररूपणमन्तरेण न सामान्यप्ररूपणतोऽर्थवगतिर्भवतीति तथा निरूपणमनर्थक-  
मिति चेन्न, बुद्धीनां नैचिञ्चयात् । तथाविधबुद्धयो नेदानीमुपलभ्यन्त इति चेन्न,  
अस्यापस्य त्रिकालगोचरानन्तप्राण्यपेक्षया प्रवृत्तत्वात् ।

शेषश्रुतिनीनारकाणां प्रतिपादनार्थमाह—

इत्यन्तकार सामान्यरूपसे नारकियोंका कथन करके अत विशेषरूपसे कथन करनेके  
लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

इसीप्रकार प्रथम श्रुतिवर्षिमें नारकी होते है ॥ ८१ ॥

प्रथम श्रुतिवर्षिमें जो नारकी रहते है उनकी पर्याप्तियों और अपर्याप्तियों  
नरकगतिके सामान्य कथनके अनुसार होती हैं, क्योंकि, नरकगतिसम्बन्धी सामान्य  
कथनमें और प्रथम श्रुतिवर्षिसम्बन्धी कथनमें कोई विशेषता नहीं है ।

शंका— यदि सामान्यप्ररूपणके द्वारा प्रथम श्रुतिवर्षिसम्बन्धी नारकी ही निरूपित  
किये गये है, तो सामान्यप्ररूपणके कथन करनेसे रहने दो, क्योंकि, विशेषप्ररूपणसे ही  
उसका ज्ञान हो जायगा ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, द्रव्यार्थिक नयनी अपेक्षा रखनेवाले जीवोंके अनुभवके  
लिये सामान्यप्ररूपणाही प्रवृत्ति मानी गई है ।

शंका— विशेषप्ररूपणके बिना केवल सामान्यप्ररूपणसे अर्थका ज्ञान नहीं हो  
सकता है, ऐसी द्वालतमें सामान्यप्ररूपणाका कथन करना निष्फल है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, श्रोताओंकी बुद्धि अनेक प्रकारकी होती है, इसलिये  
विशेष प्ररूपणके कथनके समान सामान्यप्ररूपणाका कथन करना भी निष्फल नहीं है ।

शंका— जो सामान्यसे पदार्थको समझ लेते हैं वेसे बुद्धिमान पुरुष इस कालमें तो  
नहीं पाये जाते है ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, आगम तो त्रिकालमें होनेवाले अनन्त प्राणियोंकी अपेक्षा  
प्रवृत्त होता है ।

शेष श्रुतिवर्षियोंमें रहनेवाले नारकियोंके विशेष कथनके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

१ ' पर्याप्तियोंपर्याप्तियत ' इति पाठजेप ।

विद्यादि जाव सत्ताए पुढवीए णेरइया मिच्छाइडिद्विद्वाने  
सिया पज्जता सिया अपज्जता ॥ ८२ ॥

अथस्तनीए पइसु पृथिवीए मिथ्यादृष्टीनामुत्पत्तेः सत्तात् । पृथिवीशब्दः  
प्रत्येकमभिसम्बन्धीयः । सुगममन्यत् ।

शेषगुणस्थानानां तत्र क सत्त्वं क च न भवेदिति जातारेकस्य भव्यस्यारका-  
निरसनार्थमाह—

सासणसम्माइडि-सम्माभिच्छाइडि-असंजदसम्माइडिद्विद्वाने णि-  
यमा पज्जता ॥ ८३ ॥

भवतु नाम सम्यग्मिथ्यादृष्टेस्तत्रासुत्पत्तिः । सम्यग्मिथ्यात्वपरिणाममधिष्ठितस्य  
मरणाभावात् । भवति च तस्य मरणं गुणान्तरमुपादाय । न च तत्र म गुणोऽस्तीति ।  
किन्त्वेतन्न युज्यते शेषगुणस्थानप्राणिनस्तत्र नोत्पद्यन्त इति ? न तावत् मामादनस्तत्रोत्पद्यते

इसरी पृथिवीसे लेकर सातवां पृथिवी तक रहनेवाले नारकी मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें  
पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं ॥ ८२ ॥

प्रथम पृथिवीको छोड़कर शेष छह पृथिवियोंमें मिथ्यादृष्टि जीवोंकी डी उत्पत्ति पाई  
जाती है, इसलिये वहाँ पर प्रथम गुणस्थानमें पर्याप्त और अपर्याप्त दोनों अवस्थायें उत्पन्न  
हीं हैं । सबसे आया हुआ पृथिवी शब्द प्रत्येक नरकके साथ जोड़ देना चाहिये । शेष  
व्याख्यान सुगम है ।

उन पृथिवियोंकी कित्त अवस्थायें शेष गुणस्थानोंका सङ्काच है और कित्त अवस्थायें  
नहीं, इसप्रकार जिसको शक्ता उत्पन्न हुई है उस शब्दकी शक्ताके दूर करनेके लिये आगेना मूत्र  
कहते हैं—

इसरी पृथिवीसे लेकर सातवां पृथिवी तक रहनेवाले नारकी सामान्यसम्यग्दृष्टि  
सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें नियमसे पर्याप्तक होते हैं ॥ ८३ ॥

शंका—सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवकी मरकर शेष छह पृथिवियोंमें भी उत्पत्ति नहीं होती है,  
स्योंकि, सम्यग्मिथ्यात्वरूप परिणामको प्राप्त हुए जीवका मरण ही नहीं होता है । यदि उनका  
मरण भी होता है तो किसी दूसरे गुणस्थानको प्राप्त होकर ही होता है । परंतु मरणकालमें  
वह गुणस्थान नहीं होता, यह सच ठीक है । किंतु शेष ( दूसरे, चौथे ) गुणस्थानवाले प्राणी  
मरकर वहाँ पर उत्पन्न नहीं होते, यह ऋहना नहीं बनता है ?

समाधान—सासादन गुणस्थानवाले तो नरकमें उत्पन्न ही नहीं होते हैं, स्योंकि,

तस्य नरकायुयो वन्धाभावात् । नापि चन्द्रनरकायुक्कः मामादनं प्रतिपद्य नारकैरूप्यद्यते  
तस्य तस्मिन् गुणे मरणाभावात् । नायंयतमम्यग्दृष्टयोऽपि तत्रोत्पद्यन्ते तत्रोत्पत्तिनिमित्ता-  
भावात् । न तावत्कर्मस्कन्धवहुत्वं तस्य तत्रोत्पत्तेः कारणं श्रपितकर्मज्ञानामपि जीवानां  
तत्रोत्पत्तिद्वर्जनात् । नापि कर्मस्कन्धाणुत्वं तत्रोत्पत्तेः कारणं गुणितकर्मज्ञानामपि  
तत्रोत्पत्तिद्वर्जनात् । नापि नरकातिकर्मणः सत्त्वं नम्य तत्रोत्पत्तेः कारणं तत्त्वत्त्वं प्रत्य-  
विशेषतः मरुत्तपञ्चेन्द्रियागामपि नरकातिकर्मणः सत्त्वं तत्रोत्पत्तेः कारणं मरणावस्थाया-  
व्यमकर्मणां त्रयपुत्रपत्तिप्रसन्नात् । नाशुभलेख्यानां सत्त्वं तत्रोत्पत्तेः कारणं मरणावस्थाया-  
सयतमम्यग्दृष्टेः पट्टे पृथिवीपुत्रपत्तिनिमित्तायुभलेख्याभावात् । न नरकायुषः सत्त्वं तस्य  
तत्रोत्पत्तेः कारणं सम्यग्दृष्ट्योनासितानि त्रयपुत्रपत्तिनिमित्तायुभलेख्यायुक्त्वात् । न च तच्छेदोऽभिद्व-  
जार्पात्तस्त्रियद्वयुपलम्भात् । ततः व्यिनयेन न सम्यग्दृष्टिः पट्टे पृथिवीपुत्रपत्तये इति ।

सासादन गुणस्थानवाले नरकायुग सच ही नहीं होता है । किन्ते पहले नरकायुग सच  
कर दिया है वे थे जीव भी सासादन गुणस्थानको प्राप्त होकर नारकियोंमें उत्पन्न नहीं होते  
हैं, स्योंकि, नरकायुग सच करनेवाले जीवका सासादन गुणस्थानमें मरण ही नहीं  
होता है । असंयतसम्यग्दृष्टि जीव भी मिथ्यादृष्टि पृथिवियोंमें उत्पन्न नहीं होते हैं, स्योंकि,  
सम्यग्दृष्टियोंके शेष छह पृथिवियोंमें उत्पन्न होनेके निमित्त नहीं पाये जाते हैं । यदि स्म-  
स्कन्धोंकी अधिकता असंयतसम्यग्दृष्टि जीवके शेष छह नरकोंमें उत्पत्तिका कारण कहा जाये,  
तो भी ठीक नहीं है, स्योंकि, किन्तोंने मनुष्यमें कर्मस्कन्धोंका क्षय कर दिया है ऐसे जीवोंकी  
भी नरकमें उत्पत्ति नहीं जाती है । कर्मस्कन्धोंकी अल्पता भी नरकमें उत्पत्तिका कारण नहीं  
है, स्योंकि, जिनके उत्तरोत्तर गुणित कर्मस्कन्ध पाये जाते हैं उनको भी वहाँ पर उत्पत्ति  
नहीं जाती है । नरकगतित्त सच भी सम्यग्दृष्टिके नरकमें उत्पत्तिका कारण नहीं होता है  
है, स्योंकि, नरकगतिके नरके प्रति नहीं मिलेता न होनेके लयी पहले ही नरक-  
गतिकी प्राप्ति का प्रसन्न गजायगा । नरक गतिविशेषोंका जीवोंके भी कर्मोंकी सत्ता  
वियोग्यता होती है, इसलिये उनको भी नरकमें उत्पत्ति होने लगेगी । अतः लेख्याके सत्त्वको  
नरकमें उत्पत्तिका कारण नरका ठीक नहीं है, स्योंकि, मरणके समय अत्यंतसम्यग्दृष्टि  
जीवके भीनेही छह पृथिवियोंमें उत्पत्तिका कारणरूप अतः लेख्याप नहीं पाई जाती है ।  
नरकायुग सच भी सम्यग्दृष्टिके नरकेकी छह पृथिवियोंमें उत्पत्तिका कारण नहीं है, स्योंकि,  
सम्यग्दृष्टितरकी मरसे नरकेकी छह पृथिवीसन्धी आयु काट दी जाती है । भीनेही छह  
पृथिवीसन्धी आयुका कटना जानकर भी नहीं है, स्योंकि, आगमसे इसकी पुष्टि होती है ।  
इसलिये यह स्थिर गुण कि नरकेकी छह पृथिवियोंमें सम्यग्दृष्टी जीव उत्पन्न नहीं होता है ।



तिर्यग्गतां गुणस्थानानां सत्त्वानथाप्रतिपादनार्थमाह—

**तिरिक्खा मिच्छाइट्टि-सासणसम्माइट्टि-असंजदसम्माइट्टि-ट्टाणे  
सिया पज्जता, सिया अपज्जता ॥ ८४ ॥**

अत्र नाम मिथ्यादृष्टितासादनस्यदृष्टीनां तिर्यक्षु पर्यान्तार्थान्तद्वयोः सत्त्वं तयोन्मद्योपचयविशेषात् । सम्यग्दृष्टयस्तु पुनर्नोत्पद्यन्ते तिर्यगपर्याप्तपर्यायेण सम्यग्दर्शनस्य विनाशदिति ? न विरोधः, अत्यार्यस्याप्राप्त्यसङ्गात् । श्याकिसस्यग्दृष्टिः शोचितीर्थतः शपितसप्तप्रकृतिः कथं तिर्यक्षु दुःसभूयस्सुत्वद्यते इति चेन्न, तिरश्चां नारुभ्यो दुःप्राधिभ्याभावात् । नारुकेणपि सम्यग्दृष्टयो नोत्पत्स्यन्त इति चेन्न, तेषां तनोत्पत्तिप्रतिपादनापोषलम्भात् । किमिति ते तत्रोत्पद्यन्त इति चेन्न, सम्यग्दर्शनोपादानात् अत्र मिथ्यादृष्टयस्त्रयाणां तद्वनिर्यङ्गनुरस्युक्तत्वात् । सम्यग्दर्शनेन तत् कर्तव्यं—

अत्र तिर्यग्गतिसं गुणस्थानां सत्त्वानां प्रतिपादनं कर्तव्यं इत्येव आशङ्क्यं सूत्रं लिख्य मिथ्यादृष्टिः, सान्नायनसम्यग्दृष्टिः और असत्यतसम्यग्दृष्टिः गुणस्थानमं पर्याप्तं भी देते इ आर पर्याप्तं भी देते ॥ ८३ ॥

मिथ्यादृष्टि आर सासादनसम्यग्दृष्टि जीवोंकी तिर्यचोसबन्धी पर्याप्त और अपर्याप्त आस्यमं भले ही सत्ता रही अने, क्योंकि, इन दो गुणस्थानोंकी तिर्यचसंबन्धी पर्याप्त और अपर्याप्त आस्यमं उत्पत्ति होनेमें कोई विरोध नहीं आता है । परंतु सम्यग्दृष्टि जीव तो तिर्यचमं उत्पन्न नहीं करते, क्योंकि, तिर्यचोंकी अपर्याप्त पर्यायके साथ सम्यग्दर्शनका विरोध है ?

समाधान—विरोध नहीं है, फिर भी यदि विरोध माना जावे तो ऊपरका सूत्र अस्मान् ही जायगा।

शंका—जिसने ती ईच्छाही सेवा की है और जिसने मोक्षनीयकी सात प्रकृतियोंका उपाय कर दिया है ऐसा शारीक सम्यग्दृष्टि जीव दुःसमूल तिर्यचोंमें कैसे उत्पन्न होता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, तिर्यचोंके नारक्तियोंकी अपेक्षा अधिक दुःसमूल नहीं पाये जाते हैं।

शंका—तो फिर नारक्तियोंमें भी सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न नहीं होंगे ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, सम्यग्दृष्टियोंकी नारक्तियोंमें उत्पत्तिका प्रतिपादन करने-वाला भाग्य प्रमाण पाया जाता है।

शंका—सम्यग्दृष्टि जीव नारक्तियोंमें क्यों उत्पन्न होते हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जिन्होंने सम्यग्दर्शनको ग्रहण करनेके पहले मिथ्यादृष्टि

( ८४ ॥ ) सम्यग् प्रतिपादन सम्यग् सेवा नाति । जी २ म् २६७

किमिति न छिद्यते ? इति चेत् किमिति तत्र छिद्यते ? अपि तु न तस्य निर्मूलच्छेदः । तदपि कुतः ? स्वाभाव्यात् ।

तत्र सम्यग्विषयध्यादृष्ट्यादिस्वरूपानिरूपणार्थमाह—

**सम्भामिच्छाइट्टि-संजदासंजद-ट्टाणे गियिमा पज्जता ॥ ८५ ॥**

मनुष्याः मिथ्यादृष्टयवस्थायां तद्वतिर्यगायुपः पश्चात्सस्यग्दर्शनेन सहात्ता-प्रत्याख्यानः क्षपितसप्तप्रकृतयस्तिर्यक्षु किञ्चोत्पद्यन्ते ? इति चेत् किञ्चितोऽप्रात्याख्यान-गुणस्य तिर्यगपर्यायेषु सत्त्वापचिः ? न, देवगतिव्यतिरिक्तगतित्रयसम्पन्नाद्रायुषोपलथिताना-मणुव्रतोपादानदुष्टयनुत्पत्तेः । उक्तं च—

चत्तारि वि छेत्ताइ आउग-ववे वि होइ समत्त ।

अणुवद-महववदाइ ण ल्हइ देवायुग मोत्तुं ॥ १६९ ॥

अवस्थामं तिर्यचायु और नरकायुक्ता वन्ध कर लिया है उनकी सम्यग्दर्शनके साथ वहां पर उत्पत्ति माननेमें कोई आपत्ति नहीं आती है ।

शंका—सम्यग्दर्शनकी सामर्थ्यसे उस आयुका छेद क्यों नहीं हो जाता है ?

समाधान—उसका छेद क्यों नहीं होता है ? अवश्य होता है, किंतु उसका समूल नष्ट नहीं होता है ।

शंका—समूल नारा क्यों नहीं होता ?

समाधान—आगेके भवकी बाधी हुई आयुर्भ्रंजा समूल नारा नहीं होता है इस-प्रकारका स्वभाव ही है ।

अब तिर्यचोंमें सम्यग्विषयध्यादृष्टि आदि गुणस्थानोंके स्वरूपका निरूपण करनेके लिये श्रोता सन्न कहते हैं—

तिर्यच सम्यग्विषयध्यादृष्टि और सयतासयत गुणस्थानमं नियमसे पर्याप्तकर होते हैं ॥ ८५ ॥

शंका—जिन्होंने मिथ्यादृष्टि अवस्थामं तिर्यचनायुका बन्ध करनेके पश्चात् देवस्य-मको ग्रहण कर लिया है और मोक्षकी सात प्रकृतियोंका उपाय कर दिया है ऐसे मनुष्य तिर्यचोंमें क्यों नहीं उत्पन्न होते ? यदि होते हैं तो इससे तिर्यच-अपर्यायोंमें देवसंयमके प्राप्त होनेकी आपत्ति आती है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, देवगतिको छेदकर शेष तीन गतिरान्धी आयुवन्धले युक्त जीवोंके अणुव्रतको ग्रहण करनेकी बुद्धि ही उत्पन्न नहीं होती है । कदा भी है—

चारों गतिसबन्धी आयुर्भ्रंजके बन्ध हो जाने पर भी सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो सकता

१ गो जी ६५३ गो क ३३६ । प्रतिपु 'अणुवद महववो गु य ण अणुव दाता' इति पाठ ।

न तिर्यक्षूपना अपि क्षायिकसम्यग्दृष्टयोऽणुत्रतान्यादधते भोगभूमाबुत्पन्नानां तदुपादानाबुत्पत्तेः । ये निर्दानस्ते कथं तत्रोत्पद्यन्त इति चेन्न, सम्यग्दर्शनस्य तत्रोत्पत्तिकारणस्य सत्त्वात् । न च पात्रदानेऽनुसुभोदिनः सम्यग्दृष्टयो भवन्ति तत्र तदनुत्पत्तेः ।

तिर्यथाभोगमभियायादेशस्वरूपनिरूपणार्थं वक्ष्यति—

**एवं पंचिंदिय-तिरिक्खा पंचिंदिय-तिरिक्ख-पज्जत्ता ॥ ८६ ॥**

एतेषामभोगप्ररूपणमेव भवेद्विचक्षितं प्रति विशेषमात्रात् ।

स्त्रीविदविशिष्टतिरिक्खा विशेषप्रतिपादनार्थमाह—

है, परंतु देवायुके बन्धको छोड़कर शेष तीन आयुर्कर्मके वन्ध होने पर यह जीव अणुवत् और महावत्को ग्रहण नहीं करता है ॥ १९९ ॥

तिर्यचोंमें उत्पन्न हुए भी क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव अणुवत्को नहीं ग्रहण करते हैं, क्योंकि, क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव यदि तिर्यचोंमें उत्पन्न होते हैं तो भोगभूमिमें ही उत्पन्न होते हैं और भोगभूमिमें उत्पन्न हुए जीवोंके अणुवत्को ग्रहण करना वन नहीं सकता है ।

शंका—जिन्होंने ज्ञान नहीं किया है ऐसे जीव भोगभूमिमें कैसे उत्पन्न हो सकते हैं ? समाधान—नहीं, क्योंकि, भोगभूमिमें उत्पत्तिका कारण सम्यग्दर्शन है और वह जिनके पाया जाता है उनके वहां उत्पन्न होनेमें कोई विरोध नहीं आता है । तथा पात्रदानकी अनुमोदनासे रहित जीव सम्यग्दृष्टि हो नहीं सकते हैं, क्योंकि, उनमें पात्रदानकी अनुमोदनाका अभाव नहीं बन सकता है ।

विशेषार्थ—क्षायिक सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति मनुष्य पर्यायमें ही होती है । अतः जिस मनुष्यने पहले तिर्यचायुका वन्ध कर लिया है और अन्तर उसके क्षायिक सम्यग्दर्शन उत्पन्न हुआ है ऐसे जीवके भोगभूमिमें उत्पत्तिका मुख्य कारण क्षायिक सम्यग्दर्शन ही जानना चाहिये, पात्रदान नहीं । फिर भी वह पात्रदानकी अनुमोदनासे रहित नहीं होता है । इसप्रकार तिर्यचोंकी सामान्य प्ररूपणाका कथन करते अत्र उनके विशेष स्वरूपके निर्णय करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

तिर्यचसंबन्धी सामान्यप्ररूपणाके समान पंचेन्द्रियतिर्यच और पर्याप्तपंचेन्द्रिय-तिर्यच भी होते हैं ॥ ८६ ॥

पंचेन्द्रियतिर्यच और पर्याप्त-पंचेन्द्रिय-तिर्यचोंकी प्ररूपणा तिर्यचसंबन्धी सामान्य-प्ररूपणाके समान ही होती है, क्योंकि, विचक्षित विषयके प्रति इन दोनोंके कथनमें कोई विशेषता नहीं है ।

अब स्त्रीविद्ययुक्त तिर्यचोंमें विशेषका कथन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

**पंचिंदिय-तिरिक्ख-जोणिणीसु मिच्छाइट्टि-सासणसम्माइट्टि-द्वारे  
सिया पज्जत्तियाओ सिया अपज्जत्तियाओ ॥ ८७ ॥**

सासादनो नारकोधिव तिर्यक्ष्ववि नोत्पादीति चेन्न, द्वयोः साधर्म्याभावतो द्रष्टान्ताबुत्पत्तेः ।

तत्र शेषगुणानां स्वरूपमभियातुमाह—

**सम्माभिच्छाइट्टि-असंजदसम्माइट्टि-संजदासंजद-द्वारे णियमा  
पज्जत्तियाओ ॥ ८८ ॥**

कृतः ? तत्रैतामामुरूपनेरभावात् । वद्वायुष्कः क्षायिकसम्यग्दृष्टिर्नारकेषु नपुंसकवेद इवात्र सीवेदे किन्नोत्पद्यत इति चेन्न, तत्र तस्यैवैकस्य सत्त्वात् । यत्र कचन समुत्पद्यमानः

योनिमती-पंचेन्द्रिय-तिर्यच मिय्यादृष्टि और सामान्न गुणस्थानमें पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं ॥ ८७ ॥

शंका—सामान्न गुणस्थानवाला जीव मरकर जिसप्रकार नारकियोंमें उत्पन्न नहीं होता है, उसीप्रकार तिर्यचोंमें भी उत्पन्न नहीं होता चाहिये ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, नारकी और तिर्यचोंमें साधर्म्य नहीं पाया जाता है, इसलिये नारकियोंका दृष्टान्त तिर्यचोंको लागू नहीं हो सकता है ।

योनिमती तिर्यचनियोंमें शेष गुणस्थानोंके स्वरूपका कथन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

योनिमती-तिर्यच सम्यग्मिय्यादृष्टि, असयतसम्यग्दृष्टि और सयतासंयत गुणस्थानमें नियमसे पर्याप्तक होते हैं ॥ ८८ ॥

शंका—पेसा क्यों होता है ?

समाधान—क्योंकि, उपर्युक्त गुणस्थानोंमें मरकर योनिमती-तिर्यच उत्पन्न नहीं होते हैं ।

शंका—जिसप्रकार वद्वायुष्क क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव नारकसबन्धी नपुंसकवेदमें उत्पन्न होता है उसीप्रकार यहां पर स्त्रीवेदमें क्यों नहीं उत्पन्न होता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, नारकमें एक नपुंसकवेदका ही सद्भाव है । जिस किसी गतिमें उत्पन्न होनेवाला सम्यग्दृष्टि जीव उस गतिसबन्धी विशिष्ट वेदाधिक्यमें ही उत्पन्न होता है । यह अभिप्राय यहां पर ग्रहण करना चाहिये । इससे यह सिद्ध हुआ कि सम्यग्दृष्टि जीव मरकर योनिमती तिर्यचमें नहीं उत्पन्न होता है ।



पर्याप्त इत्युपचर्यते । निश्चयनयाश्रयणे तु पुनरपर्याप्तः । एवं समुदातगतकेवललिना-  
मपि वक्तव्यम् ।

मनुष्यविशेषस्य निरूपणार्थमाह —

**एवं मनुस्स-पज्जत्ता ॥ ९१ ॥**

पर्याप्तेषु नापर्याप्तत्वमस्ति विरोधात् । ततः 'एवं पज्जत्ता' इति क्रथमेतद्वदत इति  
नैप दोषः, शरीरनिष्पत्त्यपेक्षया तदुपपत्तेः । क्रथं तस्य पर्याप्तत्वं ? न, द्रव्याधिकनया-  
श्रयणात् । ओदनः पच्यत इत्यत्र यथा तन्दुलानामेवौदनव्यपदेशस्तथाऽपर्याप्तानामस्थायी-  
मयत्र पर्याप्तव्यवहारो न विरुद्धत इति । पर्याप्तनामकर्मोदयोपेक्षया वा पर्याप्तता ।  
एवं तिर्यक्षपि वक्तव्यम् । सुगममन्यत् ।

अवस्थामे भी पर्याप्त है, इसप्रकारका उपचार किया जाता है । निश्चयनयका आश्रय करने पर  
तो यह अपर्याप्त ही है । इसीप्रकार समुदातगत केवलीके संबन्धमें भी कथन करना चाहिये ।

अब मनुष्यके भेदोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

मनुष्य सामान्यके कथनके समान पर्याप्त मनुष्य होते हैं ॥ ९१ ॥

शंका—पर्याप्तकोंमें अपर्याप्तपना तो यन नहीं सकता है, क्योंकि, इन दोनों  
अवस्थायोंका परस्पर विरोध है । इसलिये 'इसीप्रकार पर्याप्त होते हैं' यह कथन कैसे  
बदित होगा ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, शरीरकी अनिष्पत्तिकी अपेक्षा पर्याप्त-  
कोंमें भी अपर्याप्तपना नन जाता है ।

शंका—जिसके शरीरपर्याप्ति पूर्ण नहीं हुई है उसे पर्याप्तक कैसे कहा जायगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, द्रव्याधिक नयकी अपेक्षा उसके भी पर्याप्तपना नन  
जाता है । भात पक रहा है, यहा पर जिसप्रकार चावलको भात कहा जाता है, उसीप्रकार  
जिसके सभी पर्याप्तिया पूर्ण होनेवाली हैं ऐसे जीवके अपर्याप्त अवस्थायोंमें भी पर्याप्तपनेका  
व्यवहार विरोधको प्राप्त नहीं होता है । अथवा, पर्याप्त नामकर्मके उदयकी अपेक्षा उनके पर्याप्त  
पना समझ लेना चाहिये । इसीप्रकार तिर्यचोंमें भी कथन करना चाहिये । शेष कथन सुगम है ।

विशेषार्थ—पर्याप्त मनुष्योंमें पर्याप्त और निर्दुस्यपर्याप्त इन दोनों प्रकारके मनुष्योंका

<sup>१</sup> ओदारिकाया शब्दास्तपर्याप्तस्य, मिश्रास्तपर्याप्तस्येति । तथा परामोदारिकाया नामिणेन, आदा-  
रिच्छपीणित्र वैक्यिकाहारशकणफले वैक्यिकाहारकाया मिश्रो भवतीति । प्लुमादारिकामित्थ । तथा वैक्यिकमिश्रो  
देवाद्युपचो कामिणेन, एतवैक्यस्य बोदारिकमयेवाद्यायामोदारिकेण । आहारमिश्रस्तु मादिकाहारानामप्रापान  
पुनरौदारिकव्येकं औदारिकमिति । स्या ३ न १३ ( 'गमि रा को जीग )

मानुषीपु निरूपणार्थमाह—

**मणुसिणीसु मिच्छाइडि-सासणसम्माइडि-द्वणणे सिया पज्जत्ति-  
याओ सिया अपज्जत्तियाओ ॥ ९२ ॥**

अत्रापि पूर्ववदपर्याप्तानां पर्याप्तव्यवहारः प्रवर्तयितव्यः । अथवा स्यादित्ययं  
निपातः क्रथञ्चिदित्यस्मिन्नर्थे वर्तते, तेन स्यात्पर्याप्तानाः पर्याप्तनामकर्मोदयोच्छरीर-  
निष्पत्त्यपेक्षया वा । स्यादपर्याप्तानाः शरीरनिष्पत्त्यपेक्षया इति वक्तव्यम् । सुगममन्यत् ।  
तत्रैव शेषगुणभियारैकापान्दनायेमाह—

**सम्माभिच्छाइडि-असंजदसम्माइडि-संजदासंजद-द्वणणे णियमा  
पज्जत्तियाओ ॥ ९३ ॥**

दृण्डाममपिण्णपां तीपु नम्यग्दृश्यः किन्नोत्पद्यन्न इति चेन्न, उत्पद्यन्ते । कुतोऽस्मी-  
अन्तर्भाव होता है, क्योंकि, जगममं जो मनुष्योंके चार भेद लिये हैं उनमेंसे जिनके पर्याप्त  
नामकर्मका उदय नियमान है उन्हें पर्याप्त कहा है । इन पर शकाकारका कहना है कि जिनके  
पर्याप्तिया पूर्ण नहीं हुई हैं ऐसे अपर्याप्तकोंका पर्याप्तकोंमें अन्तर्भाव कैसे किया जा सकता  
है । इसी शकाको ध्यानमें रगलर ऊपर नमाधान किया गया है ।

अब मनुष्य तिर्यचोंमें गुणव्ययोंके निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

मनुष्य तिर्यां भिव्यादधि और सात्तासम्यग्दधि गुणस्थानमें पर्याप्त भी होती है  
और अपर्याप्त भी होती है ॥ ९३ ॥

यहां पर भी पर्याप्त मनुष्योंके समान निर्दुस्यपर्याप्तकोंमें पर्याप्तपनेका व्यवहार कर  
लेना चाहिये । अथवा, 'स्यात्' या निपात कथनिन् अर्थमें रहता है । इसके अनुसार कथनिन्  
पर्याप्त होते हैं, इसका यह तात्पर्य है कि पर्याप्त नामकर्मके उदयकी अपेक्षा अथवा शरीर-  
पर्याप्तिकी पूर्णताकी अपेक्षा पर्याप्त होते हैं । और कथनिन् अपर्याप्त होते हैं, इसका यह  
तात्पर्य है कि शरीर पर्याप्तिकी अपूर्णताकी अपेक्षा अपर्याप्त होते हैं । शेष कथन सुगम है ।

अब मनुष्य तिर्यचोंमें ही शेष गुणस्थानाधिक्यक शंकाके दूर करनेके लिये सूत्र कहते हैं—  
मनुष्य-तिर्या सम्यग्मित्था-दधि, असंजतसम्यग्दधि संयतासयत और सजत गुणस्थानोंमें  
नियमसे पर्याप्तक होती हैं ॥ ९३ ॥

शंका—दुण्डात्तन्तिणीं कालत्तन्थी रियंमं सम्यग्दधि जीव स्यां नही उत्पन्न होते हैं ?  
समाधान—नहीं, क्योंकि, उनमें सम्यग्दधि जीव उत्पन्न होने दें ।

शंका—यह किस प्रमाणसे जाना जाता है ?

१ अथ ' गजद ' इति पाठसंन पतिमाति



शेषगुणस्य सत्त्वावस्थाप्रतिपादनार्थमाह—

सम्माभिच्छाहट्टि-द्वाने णियमा पज्जता ॥ १५ ॥

कथं ? तेन गुणेन सह तेषां मरणाभावात् । अपर्याप्तकालेऽपि सम्यग्मिथ्यात्व-  
गुणस्योत्पत्तेरभावाच्च । नियमेऽभ्युपगम्यमाने एकान्तवादः प्रसजतीति चेन्न, अनेकान्त-  
गमैकान्तस्य सत्त्वाविरोधात् ।  
देवादेशप्रतिपादनार्थमाह—

भवणवासिय-वाणवैतर-जोइसिय-देवा' देवीओ सोधम्मीसाण-  
कप्पवासिय-देवीओ च मिच्छाहट्टि-सासणसम्माहट्टि-द्वाने सिया पज्जता  
सिया अपज्जता, सिया पज्जत्तियाओ सिया अपज्जत्तियाओ ॥ १६ ॥

इसी गतिमें शेष गुणस्थानोंकी सत्ताके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—  
देव सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें नियमसे पर्याप्तक होते हैं ॥ १५ ॥

शंका—यह कैसे ?

समाधान—स्योंकि, तीसरे गुणस्थानके साथ मरण नहीं होता है । तथा अपर्याप्त  
कालमें भी सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानकी उत्पत्ति नहीं होती है ।

शंका—'तृतीय गुणस्थानमें पर्याप्त ही होते हैं,' इसप्रकार नियमके स्वीकार कर  
लेने पर तो एकान्तवाद प्राप्त होता है ?

समाधान—नहीं, स्योंकि, अनेकान्तगर्भित एकान्तवादके सद्भाव माननेमें कोई  
विरोध नहीं आता है

अब देवगतिमें विशेष प्ररूपणके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—  
भवनवासी वानव्यन्तर और ज्योतिषी देव और उनकी देविया तथा सौधर्म और  
पेशान कल्पवासिनी देविया ये सब मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें पर्याप्त  
भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं ॥ १६ ॥

? मरणेण वमतीयेण शैला भवनग्रामेण । निविद्धेदशान्तराणि येषां निनामास्ते व्यतरा । घेतन-  
स्वभावत्वाच्च्योतिष्का । स मि त रा वा ८ १०-१२ मरणेण अवोलोकेद्वेवासासिनिक्षेपेणु नखु शीलमस्येति ।  
अभि रा की ( भरणमासि ) निविध भवननगरासुररूपमन्तर येषां ते व्यतरा । XX अथवा निगतमतर मनुयेन्मो  
येषांते व्यन्तरा । त-माहि, मनुष्यानापि चक्रगतिवाधुद्वेषप्रश्रुतीन् भूत्सवदुपचरन्ति केचिद्व्यन्तरा इति मनुयेभ्यो विगता तरा ।  
यदि वा निविधमतर शैलातर कन्दरातर वनातर वा आशयरूप येषां ते व्यतरा । प्राश्रवनाच सूते 'धणमन्तरा' इति  
पाठ । यदि वानमन्तरा इति पदसस्मर, तनेय अुत्पत्ति, वनामामन्तराणि वनातराणि, तेषु मत्ता यानमन्तरा ।  
पृषोदराद्विवाहुमयपदपदात्तालकानिभकाराणाम । प्रज्ञा १ ( पद अमि रा की गणमन्तर ) चोत्तते इति-

उभयगुणोपलक्षितजीवानां तत्रोत्पत्तेरुभयत्रापि तदस्तित्वं सिद्धम् । अन्यत्सुगमम् ।  
तत्रानुत्पद्यमानगुणस्थानप्रतिपादनार्थमाह—

सम्माभिच्छाहट्टि-असंजदसम्माहट्टि-द्वाने णियमा पज्जता णियमा  
पज्जत्तियाओ ॥ १७ ॥

भवतु सम्यग्मिथ्यादृष्टेस्तत्रानुत्पत्तिस्य तद्गुणेन मरणाभावात्, कित्वेत्तन्न  
वदते यदभयतसम्यग्दृष्टिर्मरणवांस्तत्र नोत्पद्यत इति न, जघन्येषु तस्योत्पत्तेरभावात् ।  
नारकेषु तिर्यक्षु च कनिष्ठेषुत्पद्यमानास्तत्र तेभ्योऽधिकेषु किमिति नोत्पद्यन्त इति चेन्न,  
मिथ्यादृष्टीनां प्राग्बुद्धयुक्त्वाणां पश्चादात्तसम्यग्दर्शानां नारकाद्युत्पत्तिप्रतिवन्वनं प्रति  
सम्यग्दर्शनस्यासामर्थ्यात् । तद्वदेवेष्वपि किन्न स्यादिति चेत्सत्यमिष्टत्वात् । तथा च

इन दोनों गुणस्थानोंसे युक्त जीवोंकी उत्पत्तिक देव और देवियोंमें भी उत्पत्ति होती है,  
अतएव उन दोनों गुणस्थानोंमें भी पर्याप्त और अपर्याप्तरूपसे उनका अस्तित्व सिद्ध हो  
जाता है । शेष कथन सुगम है ।

उक्त देव और देवियोंकी अपर्याप्त अवस्थामें नहीं होनेवाले गुणस्थानोंके प्रतिपादन  
करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असत्यतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें पूर्वोक्त देव नियमसे पर्याप्त होते  
हैं और पूर्वोक्त देवियां नियमसे पर्याप्त होती हैं ॥ १७ ॥

शंका—सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवकी उक्त देव और देवियोंमें उत्पत्ति मत होओ, यह  
ठीक है, स्योंकि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानके साथ जीवका मरण ही नहीं होता है । परतु यह  
यात नहीं बनती है कि मरनेवाला असत्यतसम्यग्दृष्टि जीव उक्त देव और देवियोंमें उत्पन्न  
नहीं होता है ?

समाधान—नहीं, स्योंकि, सम्यग्दृष्टिकी जघन्य देवोंमें उत्पत्ति नहीं होती है ।

शंका—जघन्य अवस्थाको प्राप्त नारकियोंमें और तिर्यक्षोंमें उत्पन्न होनेवाले  
सम्यग्दृष्टि जीव उनसे उत्पन्न अवस्थाको प्राप्त भवनवासी देव और देवियोंमें तथा कल्प-  
वासिनी देवियोंमें स्यों नहीं उत्पन्न होते हैं ?

समाधान—नहीं, स्योंकि, जो आयुर्कर्मका बन्ध करते समय मिथ्यादृष्टि थे और  
जिन्होंने तदनन्तर सम्यग्दर्शनको ग्रहण किया है ऐसे जीवोंकी नरकादि गतिमें उत्पत्तिके रोक  
नेकी सामर्थ्य सम्यग्दर्शनमें नहीं है ।

शंका—सम्यग्दृष्टि जीवोंकी जिसप्रकार नरकगति आदिमें उत्पत्ति होती है उत्ती-  
प्रकार देवोंमें स्यों नहीं होती है ?

समाधान—यह कहना ठीक है, स्योंकि, यह यात इष्ट ही है ।

ज्योतापि निमानानि, तापीवासीनो ज्योतिष्का । उक्त २ अ । ज्योतापि निमाननियोगा, तेषु मत्ता ज्योतिष्का ।  
स्था ५ ठा ७ उ [ अभि रा का ज्योतिक, ज्योतिक ]



भवनव्यवस्थायां गुणव्यवस्थायां तस्य तेष्वप्यसिद्धिः । सनत्कुमारदुपरि न स्वियः समुत्पद्यन्ते सौधर्मदाविष्य तदुत्पद्यप्रतिपादनात् । तत्र स्त्रीणामभारो कथं तेषां देवानामनुशान्ततत्सन्तापानां सुखमिति चेन्न, तत्स्त्रीणां सौधर्म-कल्पोपपत्तेः । तर्हि तत्रापि स्त्रीणामस्त्वित्त्वमभिधातव्यमिति चेन्न, अन्यत्रोत्पन्नानामन्य-लेख्यायुर्वलानां स्त्रीणां तत्र सत्प्रविरोधात् । तत्र भवनवासिनो व्यन्तरज्योतिष्काः सौधर्मशान्देवाश्च मनुष्या इव कायप्रवर्चिणः । प्रवीचारी मैथुनसेवनम्, काये प्रवीचारी येषां ते कायप्रवीचाराः । सनत्कुमारमाहेन्द्रयोः स्पर्शप्रवीचाराः, तत्रतन्देवा देवाङ्गना-स्पर्शनमात्रादेन परां प्रीतिमुपलभन्ते इति यात् । तथा देव्योऽपि । यतो ब्रह्मब्रह्मोत्तर-लान्तवकापिष्टेषु देवाः दिव्याङ्गनाश्रृङ्गाराकारविलासचतुरमनोवैपरूपा लोकमात्रादेव

शंका — सौधर्म स्वर्गमे लेकर उपरिम त्रैवेयकके उपरिम भाग तकके देवों की पर्याप्त और

अपर्याप्त इन दोनों अवस्थाओंमें प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ गुणस्थानोंका अस्तित्व पाया जाता है, यह कहना तो ठीक है, क्योंकि, उन तीन गुणस्थानोंकी उक्त देवोंमें उत्पत्तिके प्रति विरोध है । किंतु सनत्कुमार स्वर्गसे लेकर ऊपर लिये जा जिस प्रकार कथन किया गया है, उत्सप्रकार आगेके पेशान स्वर्गमें देवागनाओंके उत्पन्न होनेका जिसप्रकार कथन किया गया है, उसप्रकार आगेके स्वर्गमें उनकी उत्पत्तिका कथन नहीं किया गया है । इसलिये बड़ा स्वर्गोंके अभाव रहने पर, जिनका रीसबन्धी सत्ताप शान्त नहीं हुआ है ऐसे देवोंके उनके विना सुग कैसे हो सकता है? रसाधान— नहीं, क्योंकि, सनत्कुमार आदि कल्प-राजन्वी स्त्रियोंकी सौधर्म और पेशान स्वर्गमें उत्पत्ति होती है ।

शंका — तो सनत्कुमार आदि कल्पोंमें भी स्त्रियोंके अस्तित्वका कथन करना चाहिये? समाधान— नहीं, क्योंकि, जो दूसरी जगह उत्पन्न हुई है, तथा जिनकी लेख्या, आयु और बल सनत्कुमारादि कल्पोंमें उत्पन्न हुए देवोंसे भिन्न प्रकारके है, ऐसी स्त्रियोंका सनत्कु-मारादि कल्पोंमें उत्पत्तिकी अपेक्षा अस्तित्व माननेमें विरोध आता है ।

उन देवोंमें भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देव तथा सौधर्म और पेशान कल्पवासी देव मनुष्योंके समान शरीरसे प्रवीचार करते हैं । मैथुनमेवनको प्रवीचार करते हैं । जिनका कायमें प्रवीचार होना है उन्हें कायसे प्रवीचार करनेवाले कहते हैं । सनत्कुमार और माहेन्द्र कल्पमें देव स्पर्शसे प्रवीचार करते हैं । अर्थात् इन दोनों कल्पोंमें रहनेवाले देव देवागनाओंके स्पर्शमात्रसे ही अत्यन्त प्रीतिको प्राप्त करते हैं । इसीप्रकार ब्रह्माकी देवियां भी देवोंके स्पर्शमात्रसे अत्यन्त प्रीतिको प्राप्त होती हैं । क्योंकि ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव और कापिष्ट कल्पोंमें रहनेवाले देव अपनी देवागनाओंके श्रृंगार, आकार, विलास, यथायोग्य तथा मनोज वेग तथा रूपके अवलोकन आदिव्यवहाररूपमनुषुणा प्राप्त प्रयोग सांभगानादिदेवलोकनविशालिन । यमोक्त्य प्रपत्ताना अनि-काना कल्पतीता । प्रता ४ पद [ यमि रा के वैमर्षिण ]

शंका — तो सनत्कुमार आदि कल्पोंमें भी स्त्रियोंके अस्तित्वका कथन करना चाहिये? समाधान— नहीं, क्योंकि, जो दूसरी जगह उत्पन्न हुई है, तथा जिनकी लेख्या, आयु और बल सनत्कुमारादि कल्पोंमें उत्पन्न हुए देवोंसे भिन्न प्रकारके है, ऐसी स्त्रियोंका सनत्कु-मारादि कल्पोंमें उत्पत्तिकी अपेक्षा अस्तित्व माननेमें विरोध आता है ।

उन देवोंमें भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देव तथा सौधर्म और पेशान कल्पवासी देव मनुष्योंके समान शरीरसे प्रवीचार करते हैं । मैथुनमेवनको प्रवीचार करते हैं । जिनका कायमें प्रवीचार होना है उन्हें कायसे प्रवीचार करनेवाले कहते हैं । सनत्कुमार और माहेन्द्र कल्पमें देव स्पर्शसे प्रवीचार करते हैं । अर्थात् इन दोनों कल्पोंमें रहनेवाले देव देवागनाओंके स्पर्शमात्रसे ही अत्यन्त प्रीतिको प्राप्त करते हैं । इसीप्रकार ब्रह्माकी देवियां भी देवोंके स्पर्शमात्रसे अत्यन्त प्रीतिको प्राप्त होती हैं । क्योंकि ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव और कापिष्ट कल्पोंमें रहनेवाले देव अपनी देवागनाओंके श्रृंगार, आकार, विलास, यथायोग्य तथा मनोज वेग तथा रूपके अवलोकन आदिव्यवहाररूपमनुषुणा प्राप्त प्रयोग सांभगानादिदेवलोकनविशालिन । यमोक्त्य प्रपत्ताना अनि-काना कल्पतीता । प्रता ४ पद [ यमि रा के वैमर्षिण ]

शंका — तो सनत्कुमार आदि कल्पोंमें भी स्त्रियोंके अस्तित्वका कथन करना चाहिये? समाधान— नहीं, क्योंकि, जो दूसरी जगह उत्पन्न हुई है, तथा जिनकी लेख्या, आयु और बल सनत्कुमारादि कल्पोंमें उत्पन्न हुए देवोंसे भिन्न प्रकारके है, ऐसी स्त्रियोंका सनत्कु-मारादि कल्पोंमें उत्पत्तिकी अपेक्षा अस्तित्व माननेमें विरोध आता है ।

उन देवोंमें भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देव तथा सौधर्म और पेशान कल्पवासी देव मनुष्योंके समान शरीरसे प्रवीचार करते हैं । मैथुनमेवनको प्रवीचार करते हैं । जिनका कायमें प्रवीचार होना है उन्हें कायसे प्रवीचार करनेवाले कहते हैं । सनत्कुमार और माहेन्द्र कल्पमें देव स्पर्शसे प्रवीचार करते हैं । अर्थात् इन दोनों कल्पोंमें रहनेवाले देव देवागनाओंके स्पर्शमात्रसे ही अत्यन्त प्रीतिको प्राप्त करते हैं । इसीप्रकार ब्रह्माकी देवियां भी देवोंके स्पर्शमात्रसे अत्यन्त प्रीतिको प्राप्त होती हैं । क्योंकि ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव और कापिष्ट कल्पोंमें रहनेवाले देव अपनी देवागनाओंके श्रृंगार, आकार, विलास, यथायोग्य तथा मनोज वेग तथा रूपके अवलोकन आदिव्यवहाररूपमनुषुणा प्राप्त प्रयोग सांभगानादिदेवलोकनविशालिन । यमोक्त्य प्रपत्ताना अनि-काना कल्पतीता । प्रता ४ पद [ यमि रा के वैमर्षिण ]

परं सुसमवाप्नुवन्ति ततस्ते रूपप्रवीचाराः। यतः शुक्रमहाशुक्रयतारसहस्राणु देवाः देवाङ्गनानां मधुरसङ्गीतमृदुहसितललितकथितभूषणवश्रवणमन्त्रादेव परां प्रीतिमास्क्रन्दन्ति ततस्ते शब्दप्रवीचाराः। आनतप्राणतारणाच्युतकल्पेषु देवाः यतः स्वाङ्गनामनःसङ्कल्पमन्त्रादेव परं सुसमवाप्नुवन्ति ततस्ते मनःप्रवीचाराः। प्रवीचारो वेदनाप्रतीकारः। वेदनाभावाच्छेषाः देवाः अप्रवीचाराः अनन्तरतसुखा इति यावत्।

सम्यग्मिथ्यादृष्टिस्वरूपनिरूपणार्थमाह—

**सम्भामिच्छादृष्टिद्वारेण नियमा पञ्जता ॥ ९९ ॥**

सुगमत्वात्वात्र वक्तव्यमस्ति।

शेषद्वेषु गुणस्थानस्वरूपनिरूपणार्थमाह—

**अणुदिस-अणुतरं विजय-वइजयंत-जयंतावराजितसम्बद्धसिद्धि-विमाणवासिय-देवा असंजदसम्भादृष्टि-द्वारेण सिया पञ्जता सिया अपञ्जता ॥ १०० ॥**

मात्रसे ही परम सुखको प्राप्त होते हैं। इसलिये वे रूपसे प्रवीचार करनेवाले हैं। क्योंकि, शुक, महाशुक, शतार और सहस्रार कल्पोंमें रहनेवाले देव देवात्मनाओंके मधुर संगीत, कोमल हास्य, ललित शब्दोच्चार और भूषणोंके शब्द सुनने मात्रसे ही परम प्रीतिको प्राप्त होते हैं, इसलिये वे शब्दसे प्रवीचार करनेवाले हैं। क्योंकि, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत कल्पोंमें रहनेवाले देव अपनी स्त्रीका मनमें सम्मलप करने मात्रसे ही परम सुखको प्राप्त होते हैं, इसलिये वे मनसे प्रवीचार करनेवाले कोहे जाते हैं। वेदनाके प्रतीकारको प्रवीचार कहते हैं। उस वेदनाका अभाव होनेसे नव श्रेयसकसे लेकर ऊपरके सभी देव प्रवीचारपीहत हैं अर्थात् निरन्तर सुखी हैं।

अब सम्यग्मिथ्यादृष्टि देवोंके स्वरूपके निर्णय करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें देव नियमसे पर्याप्तक होते हैं ॥ ९९ ॥

इस सूत्रका अर्थ सुगम होनेसे यहा पर अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं है।

अब शेष देवोंमें गुणस्थानोंके स्वरूपके निर्णय करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

नव अनुद्विशोंमें और विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि इन पांच अनुत्तर विमानोंमें रहनेवाले देव असयतसम्पदृष्टि गुणस्थानमें पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं ॥ १०० ॥

१ स सि ४ ८ त ग वा ४ ८ वा ५

२ नैयमयानुत्तराणि विमानानि सतीलनुत्तरप्रमाणानि । अद्य अनुत्तरं सतीलं विमानविक्षेपेण

पञ्चानामेव नामान्यभ्यधादन्तदीपकार्थम्। ततः शेषस्वर्गनामान्यपि वक्तव्यानि । तानि च यथासारं वक्ष्यामः। एवं योगनिरूपणात्तर एव चतसृषु गतिषु पर्याप्तान्पर्याप्तकालविशिष्टासु सकलगुणस्थानानामभिहितमस्तिवत्सम् । शेषमार्गिणासु असमर्थः किमिति नाभिधीयत इति चेत्, नोच्यते अनेनैव गतार्थत्वाद् गतिचतुष्टयव्यतिरिक्त-मार्गणाभावात्।

वेदविशिष्टगुणस्थाननिरूपणार्थमाह—

**वेदानुवादेण अतिथि वेदा पुरिसवेदा णनुंसयवेदा अवगद-वेदा चेदि ॥ १०१ ॥**

दोषैरात्मानं परं च स्तृणाति छादयतीति स्त्री, स्त्री चासौ वेदश्च स्त्रीवेदः। अथवा पुरुषं स्तृणाति आकाङ्क्षतीति स्त्री पुरुषज्ञाद्वैत्यर्थः। स्त्रियं विन्दतीति स्त्रीवेदः। अथवा

ये पाव विमान सर्वसे अन्तमें हे इस चातके प्रगट करनेके लिये पावों ही विमानोंके नाम कहे गये हैं, इसलिये शेष स्वर्गोंके नाम भी कहने चाहिये। परतु उनका वर्णन यथावसर करेंगे।

इसप्रकार योगमार्गिणाके निरूपण करनेके अवसर पर ही पर्याप्त और अपर्याप्त काल युक्त चारों गतियोंमें सपूर्ण गुणस्थानोंकी सत्ता बतला दी गई।

शंका—शेष मार्गिणाओंमें यह विषय क्यों नहीं कहा जाता है?

समाधान—नहीं, क्योंकि, इसी कथनसे शेष मार्गिणाओंमें यह विषय आगया है, क्योंकि, चारों गतियोंको छोड़कर और कोई मार्गिणाएं नहीं हैं।

अब वेदसहित गुणस्थानोंके निरूपण करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

वेदमार्गिणाके अनुवादसे स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद और अपगतवेदवाले जीव होते हैं ॥ १०१ ॥

जो देवोंसे स्वयं अपनेको और दूसरोंको आच्छादित करती है उसे स्त्री कहते हैं और स्त्रीरूप जो वेद है उसे स्त्रीवेद कहते हैं। अथवा, जो पुरुषकी आकांक्षा करती है उसे स्त्री कहते हैं, जिसका अर्थ पुरुषकी चाह करनेवाली होता है। जो अपनेको स्त्रीरूप अनुभव करता है उसे स्त्रीवेद कहते हैं। अथवा वेदन करनेको वेद कहते हैं और स्त्रीरूप वेदको स्त्रीवेद

उपपाती जमानुत्तरोपपात । म ६ श ६ उ अथि ण भते अणुत्तरोवमाइया देवा । रता । अथि । म केण्हे ण भते ? एव वुक्कइ अणुत्तरोवमाइया देवा ? गोयमा । जणुत्तरोवमाइयाण अणुत्तरा सदा, अणुत्तरा रता, जाव अणुत्तरा फामा, से तेण्हे ण गोयमा । एण तुच्चज जाव अणुत्तरोवमाइया देवा । म १४ श ७ उ (अभि रा को णुत्तरोवमाइय )

वेदने वेदः, स्त्रियो वेदः स्त्रीवेदः । उक्तं च—

छादेति मय द्रोमेण यदो छादह परं हि द्रोसेण ।

छादणतीत्या जग्धा ताहा सा वणिग्या इर्थी ॥ १७० ॥

पुरुगुणेषु पुरुभोगेषु च श्रेते स्वपितीति पुरुषः । सुपुत्रपुरुषपददुगतगुणोऽप्राप्त-  
भोगश्च यदृदयाजीवो भवति स पुरुषः अङ्गनाभिलाष इति यावत् । पुरुगुणं कर्म श्रेते  
स्त्रोतीति वा पुरुषः । कथं स्व्यभिलाषः पुरुगुणं कर्म कुर्यादिति चेन्न, तथाभूतसामर्थ्यादि-  
विद्विजीमहचरितत्वात्पचारेण जीवस्य तत्कर्तृत्वाभिधानात् । तस्य वेदः पुंवेदः ।

उक्तं च—

पुरु-गुण-भोगे सेदं करोदि लोमहि पुरुगुण कर्म ।

पुरु उत्तमो य जग्धा तग्धा सो वणिदो पुरिसो ॥ १७१ ॥

न स्त्री न पुमान्पुंसकथुभयाभिलाष इति यावत् । उक्तं च—

कहते ६ । क्हा मी न्—

नो मित्रावर्यन्, अजल और असयम आदि दोनोंसे अपनेको आच्छादित करती है  
और मयुर सभाषण, कटाक्ष निक्षेप आदिके द्वारा जो दूसरे पुल्लिंगोंको भी अप्रसन्न आदि दोनोंसे  
आच्छादित करती है, उनको आच्छादणशील होनेके कारण स्त्री कहा है ॥ १७० ॥

जो उत्कृष्ट गुणोंमें और उत्कृष्ट भोगोंमें शयन करता है उसे पुल्ल्य कहते हैं । अथवा,  
जिस कर्मके उदात्ते जीव, सोने हुए पुरुषके समान, गुणोंसे अनुगत होता है और भोगोंको  
प्राप्त करती करता है उसे पुल्ल्य कहते हैं । अर्थात् स्त्रीसंबन्धी अभिलाषा जिसके पारि जाती है  
उसे पुल्ल्य कहते हैं । अथवा, जो श्रेष्ठ कर्म करता है वह पुरुष है ।

शंता—जिसके रीतिरिपयक अभिलाषा पारि जाती है वह उत्तम कर्म कैसे कर  
सकता है ?

ममाधान—नाता, स्त्रीकि, उत्तम कर्मको करेकरूप सामर्थ्यसे युक्त जीवके स्त्रीरिपयक  
अभिलाषा पारि जाती है, अतः वह उत्तम कर्मको करता है ऐसा कथन उपचारसे किया है ।  
कहा भी है—

जो उत्तम गुण और उत्तम भोगोंमें स्वामीपनेता अनुभव करता है, जो लोकमें उत्तम  
गुणयुक्त कर्म करता है और जो उत्तम है उसे पुल्ल्य कहा है ॥ १७१ ॥

जो न स्त्री है और न पुरुष है उसे नपुंसक कहते हैं अर्थात् जिसके स्त्री और पुरुष-  
रिपयक दोनों प्रकारकी अभिलाषा पारि जाती है उसे नपुंसक कहते हैं । कहा भी है—

१ गो जी २७४ नमस मनुमिपिदिः मीशेन्वाद्यत्रावर्तनादिसुखलयापार । जी प्र. टी

२ सा वा २७३ पुस्त्रो तस्य मानाीरगुमगुरे । पुस्त्रोते नःत्रनागेद्रेदेःत्रायविस्त्रोपचये ।  
पुस्त्रोः स्त्री मानाीरभने, १३ तपुस्त्रोमानाभन्वश्चित्तमगल । पुस्त्रमे परमपिपदे । जी प्र टी

पेात्रिवी गेव पुमं णवुसओ उभय लिग-नदिरितो ।

इडाग-समाणग-नेयण गरुओ कलुस चित्तो ॥ १७२ ॥

अपगतास्त्रयोऽपि वेदसंतापा येपा तेऽपगतवेदाः । प्रक्षीणान्तर्दाहा इति यावत् ।

सर्वत्र सन्तीत्यभिसन्धः कर्तव्यः । उक्तं च—

कारिस-तणिडिवागग्नि-सरिस-परिणाम-वेद्यणुमुक्ता ।

अगय-वेदा जीवा सग-संमवणत-वर-सोमखा ॥ १७३ ॥

वेदवतां जीवानां गुणस्थानादिषु सचप्रतिपादनार्थमुत्तरस्रमाह—

इत्थिवेदा पुरिःवेदा असणिणभिच्छाइडि-पहुडि जाव अणि-  
शट्टि ति ॥ १०२ ॥

उभयोर्वेदयोरक्रमेणैकस्मिन् प्राणिनि सचं ग्रामोतीति चेन्न, विरुद्धयोरक्रमेणै-

जो न स्त्री है और न पुरुष है, किंतु स्त्री और पुरुषसंबन्धी दोनों प्रकारके लिंगोंसे  
रहित है, अर्थात् आशिके समान तीन वेदनासे युक्त है और सर्वदा स्त्री और पुरुष विषयक  
मैथुनकी अभिलाषासे उत्पन्न हुई वेदनासे जिसका चित्त कलुषित है उसे नपुंसक कहते हैं ॥ १७२ ॥  
जिनके तीनों प्रकारके वेदोंसे उत्पन्न होनेवाला संताप ( अन्तरग दाह ) दूर हो गया है  
वे वेदरहित जीव है ।

सत्रमें कहे गये सभी पदोंके साथ ' सन्ति ' पदका सान्ध कर लेना चाहिये ।  
कहा भी है—

जो क्षारीण ( कण्टकी ) आश्रि, वृणाश्रि, और इष्टपाकाश्रि ( अवेकी आश्रि ) के समान  
परिणामोंसे उत्पन्न हुई वेदनासे रहित है और अपनी आत्मामें उत्पन्न हुए अन्त और उत्कृष्ट  
सुखके भोक्ता है उन्हें वेदरहित जीव कहते हैं ॥ १७३ ॥

अब वेदोंसे युक्त जीवोंके गुणस्थान आदिकमें अस्तित्वके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका  
मन्त्र कहते हैं—

स्त्रीवेद और पुरुषवेदवले जीव असती भित्याद्येतिसे लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थान  
तक होते हैं ॥ १०२ ॥

शंका—इसप्रकार तो दोनों वेदोंका एकसाथ एक जीवमें अस्तित्व प्राप्त हो जायगा?

२ गो जी २७५ त तापि रीपुन्वाभिकामरुषतीव्रमामंदनाच्छाणा गागपुमकदाऽस्तिति आचार्यस्य  
तापर्यं ज्ञातव्य । जी प्र टी

२ गो जी २७६ यमपि अपगतं दानिगृत्तिकरणादीना वेदोदयजनिन हागमेदनाम्पमकेगामान तथापि  
गुणस्थानातीतधुक्तानामां त्नाभोग्युखमस्त्राव नानाशिशुणमद्रामदशित । परमार्युया तु अपगतं वेदानामपामापि  
नानीपयोगस्त्रास्पृशक्षणपरमानदो जीमस्त्रमामोऽस्तोति ति-जान्य । जी प्र टी

कस्मिन् सच्चविरोधोत् । कथं पुनस्तयोस्तत्र सच्चमिति चेद्विन्नजीवद्रव्याधारतया पर्यायैकद्रव्याधारतया च । तत्र न नपुंसकवेदस्याभावः तत्र द्वौवेव वेदो भवत इत्यवधारणभावात् । तच्छुतोऽसीयत इति चेत् 'तिरिक्त्वा ति-वेदा असणिणपंचिदिय-प्पहुडि जाव संजदासंजदा ति । मणुस्सा ति-वेदा मिच्छाडि-प्पहुडि जाव अणियडि ति' एतस्मादापात् । सुगममन्यत् ।

नपुंसकवेदसच्चप्रतिपादनार्थमाह—

णपुंसयवेदा एहंदि-प्पहुडि जाव अणियडि ति ॥ १०३ ॥

एकेन्द्रियाणां न द्रव्यवेद उपलभ्यते, तदनुपलब्धौ कथं तस्य तत्र सच्चमिति समाधान--नहीं, क्योंकि, विरुद्ध दो धर्मोंका एकसाथ एक जीवमें सद्भाव माननेमें विरोध आता है ।

शंका—तो फिर नववें गुणस्थानतक इन दोनों वेदोंकी एकसाथ सत्ता कैसे बनेगी ? समाधान - भिन्न भिन्न जीवोंके आधारपेनकी अपेक्षा, अथवा, पर्यायरूपसे एक जीवद्रव्यके आधारपेनकी अपेक्षा नववें गुणस्थानतक इन दोनों वेदोंकी सत्ता बन जाती है । अर्थात् एक कालमें भी नाना जीवोंमें अनेक वेद पाये जा सकते हैं और एक जीवमें भी पर्यायी अपेक्षा कालभेदसे अनेक वेद पाये जा सकते हैं ।

नववें गुणस्थानतक नपुंसक वेदका अभाव नहीं है, क्योंकि, नववें गुणस्थानतक दो ही वेद होते हैं ऐसे अवधारणका ( सूत्रमें ) अभाव है ।

शंका—यह बात कैसे जानी जाय कि नववें गुणस्थानतक तीनों वेद होते हैं ?

समाधान—'असन्नी पचेन्द्रियसे लेकर सयतासयत गुणस्थानतक तिर्यच तीनों वेदवाले होते हैं, और, मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर अनिष्टवृत्तिकरण गुणस्थानतक मनुष्य तीनों वेदोंसे युक्त होते हैं' इस आगम-वचनसे यह बात जानी जाती है कि नववें गुणस्थानतक तीनों वेद हैं । शेष कथन सुगम है ।

अब नपुंसकवेदके सत्त्वके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

एकेन्द्रियसे लेकर अनिष्टवृत्तिकरण गुणस्थानतक नपुंसकवेदवाले जीव पाये जाते हैं ॥ १०३ ॥

शंका—एकेन्द्रिय जीवोंके द्रव्यवेद नहीं पाया जाता है, इसलिये द्रव्यवेदकी उपलब्धि नहीं होने पर एकेन्द्रिय जीवोंमें नपुंसक वेदका अस्तित्व कैसे बतलाया ?

१ वेदानुवादेन त्रिषु वेदेषु मिथ्यादृष्टयानिष्टवृत्तिनादरात्तानि सति । स सि १ ८ यात्रकायम्पहुडो हतो मत्ता असणिण्णादी य । अणियडिस्स य पदमो मागो ति जिणेहि णिडिड ॥ गो जी ३८५

चेन्माभूत्तत्र द्रव्यवेदः तस्यात्र प्राधान्याभावात् । अथवा नानुपलब्ध्या तदभावः सिद्धचेत्, सकलप्रमेयव्याप्युपलम्भवलेन तत्सिद्धिः । न स छद्मस्थेष्वस्ति । एकेन्द्रियाणाम-प्रतिपन्नस्त्रीपुरुषाणां कथं स्त्रीपुरुषविषयामिहापे घटत इति चेन्न, अप्रतिपन्नस्त्रीवेदेन भूमिगृहान्तर्बुद्धिमुपगतेन यूना पुरुषेण व्यभिचारात् । सुगममन्यत् ।

अपगतवेदजीवप्रतिपादनार्थमाह—

तेण परमवगदेवदा चेदि ॥ १०४ ॥

समाधान—एकेन्द्रियोंमें द्रव्यवेद मत होओ, क्योंकि, उसकी यहां पर प्रधानता नहीं है । अथवा, द्रव्यवेदकी एकेन्द्रियोंमें उपलब्धि नहीं होती है, इसलिये उसका अभाव नहीं सिद्ध होता है । किंतु संपूर्ण प्रमेयोंमें व्याप्त होकर रहनेवाले उपलम्भप्रमाणसे ( केवलज्ञानसे ) उसकी सिद्धि हो जाती है । परंतु वह उपलम्भ ( केवलज्ञान ) छद्मस्थोंमें नहीं पाया जाता है ।

विशेषार्थ—इन्द्रियप्रत्यक्षसे एकेन्द्रियोंमें वेदकी अनुपलब्धि सच्ची अनुपलब्धि नहीं है, क्योंकि, एकेन्द्रियोंमें यद्यपि इन्द्रियोंसे द्रव्यवेदका ग्रहण नहीं होता है तो भी सकल प्रमेयोंमें व्याप्त होकर रहनेवाले केवलज्ञानसे उत्पन्न ग्रहण होता है । अत एकेन्द्रियोंमें इन्द्रिय प्रमाणके द्वारा द्रव्यवेदका अभाव नहीं किया जा सकता है ।

शंका--जो स्त्रीभाव और पुरुषभावसे सवर्था अनभिन्न है ऐसे एकेन्द्रियोंके स्त्री और पुरुषविषयक अभिलाषा कैसे बन सकती है ?

समाधान--नहीं, क्योंकि, जो पुरुष स्त्रीवेदसे सर्वथा अज्ञात है और भृगुहृके भीतर बुद्धिको प्राप्त हुआ है, ऐसे पुरुषके साथ उक्त कथनका व्यभिचार देखा जाता है ।

विशेषार्थ—यदि यह मान लिया जाय कि एकेन्द्रिय जीव स्त्री और पुरुषसंबन्धी भेदसे सर्वथा अपरिचित होते हैं, इसलिये उनके स्त्री और पुरुषसंबन्धी अभिलाषा नहीं उत्पन्न हो सकती है, तो जो पुरुष जन्मसे ही एकान्तमें बुद्धिको प्राप्त हुआ है और जिसने स्त्रीको कभी भी नहीं देखा है उसके भी युवा होने पर स्त्रीविषयक अभिलाषा नहीं उत्पन्न होना चाहिये । परंतु उसके स्त्रीविषयक अभिलाषा देखी जाती है । इससे सिद्ध है कि स्त्री और पुरुषसंबन्धी अभिलाषाका कारण स्त्री और पुरुषविषयक ज्ञान नहीं है । किंतु वेदकर्मके उदयसे वह अभिलाषा उत्पन्न होती है । वह एकेन्द्रियोंके भी पाया जाता है, अतएव उनके स्त्री और पुरुषविषयक अभिलाषाके होनेमें कोई दोष नहीं आता है ।

शेष व्याख्यान सुगम है ।

अब वेदरहित जीवोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

नववें गुणस्थानके सवेद भागके आगे जीव वेदरहित होते हैं ॥१०४ ॥

१ अपगतन्देवु जानिष्टुत्तिनादरावयोगायेत्यत्तानि । स सि १ ८

श्रेयगुणसंग्रहः। यंत्रं चि प्राणिनेऽपगतवेदाः । न द्रव्यवेदस्यागावसेन  
विद्याभावात् । अत्रिहोत्रं च भागवेदस्त्वत्सद्वत्सत्त्वात्तदो नान्यथेति ।

वेदादेशप्रतिपादनार्थमाह—

णेरइया चतुसु द्वाणेषु सुद्धा णडुंसयवेदा ॥ १०५ ॥

नारकेषु अंपंदाभावाः ऋथमग्रीयत इति चेत् 'सुद्धा णडुंसयवेदा' इत्यापत् ।  
अपंदां तत्र क्रियेति न स्यातामिति चेन्न, अनवरतदुःखेषु तत्तत्प्रविरोधात् । स्त्रीपुरुष-  
वेदादपि दुःखमेवेति चेन्न, दृष्टकापाकाशिममानमन्तापान्यूनतया तार्णकारीयाधिममान-  
पुरुषमीदयोः सुयस्वरूपात् ।

निर्यगतीं वेदनिरूपणार्थमाह—

तिरिक्त्वा सुद्धा णडुंसयवेदा एइंदिय-पहुडि जाव चरिंदिया  
ति ॥ १०६ ॥

नार्यं गुणस्थानके सवेद भावाये अतो शेष गुणस्थानंको प्राप्त एष जीव वेदरहित होते  
है । परंतु पापके गुणस्थानमें द्रव्यवेदका अभाव नहीं होता है, क्योंकि, केवल द्रव्यवेदसे  
कोई विचार ही उपलब्ध नहीं होता है । यद्यपि तो भागवेदका अधिकार है । इसलिये भाव-  
वेदके अभावसे ही उन जीवको वेदरहित जानना चाहिये, द्रव्यवेदके अभावसे नहीं ।

अथ वेदका मार्गणाओंमें प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

नारकीं त्वि नारं ही गुणस्थानोंमें शुद्ध ( केवल ) नंपुसकवेदी होते हैं ॥ १०५ ॥

शंका—नारक्तियोंमें नंपुसकवेदको छोड़कर दूसरे वेदोंका अभाव है, यह कैसे  
जाना जाता है ?

ममाधान—'नारकीं गुण नंपुसकवेदी जेते हैं, इस आर्पवचनसे जाना जाता है  
कि नारा अन्य वेद नहीं होते हैं ।

शंका—तदा पर शेष वेद क्यों नहीं होते हैं ?

ममाधान—'इसलिये नहीं होते कि निरन्तर दुःखी जीवोंमें शेष वेदोंके सद्भाव  
माननेमें विशेष आना है ।

शंका—स्त्री और पुरुषोंसे भी तो शुद्ध ही होता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, नंपुसक वेद अर्थात् आग्नि के समान सत्तापसे स्यूत नहीं है,  
अपण उससे हीन गुण और कण्डेकी आग्नि के समान पुरुषवेद और स्त्रीवेद सुन्दर रूप हैं ।

अथ निर्यगतीमें वेदोंके निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

तिर्यक् पकेन्द्रिय जीवोंसे लेकर चतुरिन्द्रियतक शुद्ध नंपुसकवेदी होते हैं ॥ १०६ ॥

अत्र शेषवेदाभावाः कुतोऽसीयत इति चेत् 'सुद्धा णडुंसयवेदा' इत्यापत् ।  
पिपीलिकानामण्डदुर्गानां तेषु नंपुसका इति चेन्न, अण्डानां गर्भे एतोत्पत्तिरिति नियमा-  
भावात् । विश्वहृगतौ न वेदाभावात्सत्त्वाप्यव्यक्तवेदस्य मत्स्यत् ।

अपत्तिरश्रां क्रियन्तो वेदा इति शङ्कितव्यव्यागङ्गानिराकरणार्थमाह—

तिरिक्त्वा तिवेदा असणिपंचिंदिय-पहुडि जाव संजदासंजदा  
ति ॥ १०७ ॥

त्रयाणां वेदानां क्रमेणैव अष्टचिर्नाक्रमेण पर्यायत्वात् । कर्मायवचनान्तमुद्धृत्यायिनी  
वेदा आजन्मनः आसर्णात्तदुदयस्य सत्त्वात् । सुगममन्यत् ।

मनुष्यवेदप्रतिपादनार्थमाह—

मणुससा तिवेदा भिच्छाइडि-पहुडि जाव अणियट्टि ति ॥ १०८ ॥

शंका—चतुरिन्द्रियतकके जीवोंमें शेष वेदोंका अभाव है, यह कैसे जाना जाय ?  
ममाधान—'पकेन्द्रियसे चतुरिन्द्रियतक जीव शुद्ध नंपुसकवेदी होते हैं' इस  
आर्पवचनसे जाना जाता है कि इनमें शेष वेद नहीं होते हैं ।

शंका—चौदियोंके अण्डे देखे जाते हैं, इसलिये वे नंपुसकवेदी नहीं हो सकते हैं ?

ममाधान—अण्डोंकी उत्पत्ति गर्भमें ही होती है, ऐसा कोई नियम नहीं है ।

विशेषार्थ—'मत्स्य पिपीलिके शुक्र और शोणितसे गर्भधारणा होती है । इसप्रकार गर्भ-  
धारणा चौदियोंके नहीं पाई जाती है । अतः उनके अण्डे गर्भज नहीं समतना चाहिये ।

विश्वहृगतिसमें भी वेदका अभाव नहीं है, क्योंकि, वहा पर भी अव्यक्तवेद पाया जाता है ।  
शेष तिर्यकोंके कितने वेद होते हैं, इसप्रकारकी आशङ्कसे युक्त शिष्योंकी शक्यके  
दूर करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

तिर्यक् असखी पचेन्द्रियसे लेकर संयतासंयत गुणस्थानतक तीनों वेदोंसे युक्त  
होते हैं ॥ १०७ ॥

तीनों वेदोंकी प्रवृत्ति कमसे ही होती है युगापत् नहीं, क्योंकि, वेद पर्याय है । जैसे,  
विवक्षित कर्माय केवल अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त रहती है, वैसे सभी वेद केवल एक अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त  
ही नहीं रहते हैं, क्योंकि, जन्मसे लेकर मरणतक भी किसी एक वेदका उदय पाया जाता है ।  
शेष कथन सुगम है ।

मनुष्यगतिसमें विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

मनुष्य मिथ्याग्रि गुणस्थानसे लेकर अनिबृत्तिकरण गुणस्थानतक तीनों वेदवाले  
होते हैं ॥ १०८ ॥

संयतानां कथं त्रिवेदसत्त्वमिति चेन्न, अव्यक्तवेदसत्त्वापेक्षया तत्र तथोक्तम् ।  
सुगममन्यत् ।

वेदत्रयावीतजीवप्रतिपादनार्थमाह—

तेण परमवगदवेदा चेदि ॥ १०९ ॥

सर्वत्र च-शब्दः समुच्चये दृष्टव्यः एते च पूर्वोक्ताश्च सन्तीति । इति शब्दः सर्वत्र  
समाप्तौ परिगृहीतव्यः । सुगममन्यत् ।

वेदोदेशप्रतिपादनार्थमाह—

देवा चतुसु द्वाणेषु दुवेदा, इत्थिवेदा पुरिसवेदा ॥ ११० ॥

सानत्कुमारमोहेन्द्रादुपरि पुरुषवेदा एव । यत्नमन्तरेण तत्कर्त्तृ लभ्यत इति चेत्  
'तेण परमवगदवेदा चेदि' अत्रतन च शब्दो यतोऽनुक्तसमुच्चयार्थं तस्मात्सान-  
त्कुमारादीनां पुंवेदत्वमवसीयते । तिर्यङ्मनुष्यलब्धपर्याप्ताः सम्मूर्च्छिमपञ्चेन्द्रियाश्च  
नपुंसका एव । असंख्येयवर्षायुषस्तिर्यश्चो मनुष्याश्च द्विवेदा एव, न नपुंसकवेदाः इत्यादयोऽ-

शंका—सयत्ते के तीनों वेदोंका सत्त्व कैसे समझ है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, अव्यक्तरूपसे वेदोंके अस्तित्वकी अपेक्षा वहां पर तीनों  
वेदोंकी सत्ता कही । शेष कथन सुगम है ।

अब तीनों वेदोंसे रहित जीवोंके प्रतिपादन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—  
नववें गुणस्थानके सेवेद भागसे आगेके सभी गुणस्थानवाले जीव वेदरहित हैं ॥१०९॥  
सब जगह च शब्द समुच्चयरूप अर्थमें जानना चाहिये । अर्थात् वेदरहित और पहले  
कहे हुए वेदवाले जीव होते हैं । इति शब्द सब जगह समाप्तिरूप अर्थमें ग्रहण करना  
चाहिये । शेष कथन सुगम है ।

अब देवगतिमें विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

देव चार गुणस्थानोंमें स्त्री और पुरुष इसप्रकार दो वेदवाले होते हैं ॥ ११० ॥

सानत्कुमार और मोहेन्द्र कल्पसे लेकर ऊपर सभी देव पुरुषवेदी ही होते हैं ।

शंका—यत्नके बिना अर्थात् बिना आगम प्रमाणके यह बात कैसे जानी जाय ?

ममाधान—'तेण परमवगदवेदा चेदि' इस सूत्रमें आया हुआ च शब्द अनुक्त  
अर्थके समुच्चयके लिये है । इसलिये इससे यह जाना जाता है कि सानत्कुमार और मोहेन्द्र  
कल्पसे लेकर ऊपरके देव एक पुरुषवेदी ही होते हैं ।

उत्तीप्रकार, लब्धपर्याप्तक तिर्यच और मनुष्य तथा सम्मूर्छित पंचेन्द्रिय जीव नपुंसक  
ही होते हैं । असंख्यतन वर्षकी आयुवाले मनुष्य और तिर्यच ये दोनों स्त्री और पुरुष ये दो

नुक्तास्त एवावसेयाः ।

वेदद्वारेण जीवपदार्थमभिधाय कषायमुखेन जीवसमासस्थाननिरूपणार्थमाह—

कसायाणुवादेण अत्थि कोधकसाई माणकसाई मायकसाई  
लोभकसाई अकसाई चेदि ॥ १११ ॥

कषायिसामान्यनैकत्वाद्ब्रह्मनामय्येकवचनं घटते क्रोधकषायी मानकषायी माया-  
कषायी लोभकषायी अकषायीति । अथवा नेदमेकवचनं 'एए सोहति सिही णचता  
गिरिवरस्स सिहरम्मि' इत्येवमादिबहुत्वेऽपि एवंविधरूपोपलम्भमादनेकान्तात् । अथ  
स्यात्क्रोधकषायः मानकषायः मायाकषायः लोभकषायः अकषाय इति वक्तव्यं कषायेभ्य-  
स्तद्धता भेदात् इति न, जीवेभ्यः पृथक् क्रोधाद्यनुपलम्भात् । तयोर्भेदाभावे कथं  
भिन्नं तन्निर्देशो घटत इति चेन्न, अनेकान्ते तदविरोधात् । शब्दनयाश्रयणे क्रोधकषाय

वेदवाले होते हैं, नपुंसक नहीं होते हैं । इत्यादि अनुक्त अर्थ भी उसी च शब्दसे जान लेना ।  
वेदमार्गणके द्वारा जीव पदार्थको कहकर अब कषाय मार्गणके द्वारा गुणस्थानोंके  
निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

कषाय मार्गणके अनुवादेसे क्रोधकषायी, मानकषायी, मायाकषायी, लोभकषायी और  
कषायरहित जीव होते हैं ॥ १११ ॥

कषायी-सामान्यकी अपेक्षा एक होनेके कारण बहुतका भी एकवचनके द्वारा कथन  
बन जाता है । जैसे, क्रोधकषायी, मानकषायी, मायाकषायी, लोभकषायी और अकषायी ।  
अथवा, 'क्रोधकसाई' इत्यादि पद एकवचन नहीं हैं, क्योंकि, 'एए सोहति सिही णचता  
गिरिवरस्स सिहरम्मि' ( अर्थात् गिरिवरके शिखरपर नृत्य करते हुए ये मयूर शोभा  
पा रहे हैं । ) इत्यादि प्रयोगोंमें बहुत्वकी विवक्षा रहने पर भी 'कोधकसाई' की तरह 'सिही'  
इसप्रकार रूपोंकी उपलब्धि होती है । इसलिये इसप्रकारके प्रयोगोंमें अनेकान्त समझना चाहिये ।

शंका—सूत्रमें क्रोधकषायी आदिके स्थान पर क्रोधकषाय, मानकषाय, मायाकषाय,  
लोभकषाय और अकषाय कहना चाहिये, क्योंकि, कषायोंसे कषायवालोंमें भेद पाया जाता है ?  
समाधान—नहीं, क्योंकि, जीवोंसे पृथक् क्रोधादि कषायें नहीं पाई जाती हैं ।

शंका—यदि कषाय और कषायवानमें भेद नहीं है तो भिन्न रूपसे उनका निर्देश कैसे  
बन सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, अनेकान्तमें भिन्न निर्देशके बन जानेमें भी कोई विरोध  
नहीं आता है ।

विशेषार्थ—यद्यपि कषायार्थि धर्म जीवको छोड़कर स्वतन्त्र नहीं पाये जाते हैं, इस-





सकलकषायाभावोऽकषायः । उक्तं च —

अण-परोभय-त्राधानं-त्राधासजम-णिमित्त-क्रोधादी ।

जेसि गथि कसाया अमला अक्साइणो जीवा' ॥ १७८ ॥

कषायाध्वानप्रतिपादनार्थमाह —

**क्रोधकसाई माणकसाई मायकसाई एंइदिय-पहुडि जाव  
अणियट्टि ति' ॥ ११२ ॥**

यतीनामपूर्वकरणादीना कथं कषायस्तित्वमिति चेन्न, अव्यक्तकषायपक्षेया  
तथोपदेशात् । सुगममन्यत् ।

लोभस्याध्वाननिरूपणार्थमाह —

सपूर्ण कषायोंके अभावको अकषाय कहते हैं । कहा भी है—

जिनके, स्वयं अपनेको दूसरेको तथा दोनोंको बाधा देने, बन्ध करने और असयम  
करनेमें निमित्तभूत क्रोधादि कषाय नहीं हैं, तथा जो बाह्य और आभ्यन्तर मलसे रहित हैं  
पैसे जीवोंको अकषाय कहते हैं ॥१७८॥

अब कषायमार्गणके विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

पकेन्द्रियसे लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थानतक क्रोधकषायी, मानकषायी और माया-  
कषायी जीव होते हैं ॥ ११२ ॥

शंका—अपूर्वकरण आदि गुणस्थानवाले साधुओंके कषायका अस्तित्व कैसे पाया  
जाता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, अव्यक्त कषायकी अपेक्षा वहां पर कषायोंके अस्तित्वका  
उपदेश दिया है । शेष कथन सुगम है ।

अब लोभकषायके विशेष प्ररूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

चउन्निहो मण्णो ॥ कषायपहुड लोहो हल्लिखजणकदमकिमिरामतामाणो । क प्र १ २०

१ गो जी २८९ यद्यपि उपशातकषायविचतुर्गुणस्थानमतिनोऽपि उक्तमाया अमलाश्च यथासम  
द्रव्यमात्मलहीता मति तथापि तेषां गुणस्थानरूपणयंत्र अकषायत्वसिद्धिरस्तीति नातव्य । तथा, कथंचिच्छीवस्य  
क्रोधादिप्रणय स्वल्पेन त्व्यनहेतु स्वशिरोगिघातादिबाधाहेतु हिसायसाममहतुश्च भवति । कथंचिच्छीवस्य क्रोधादि-  
कषाय परस्व सन्न-त्रादिनिवृत्तनाममहेतुर्भवति । कश्चिन्मणुक्रादिजीवस्य क्रोधादिकषाय स्वपरयोरपि यथा-  
समा वा मनस्वनात्तारमहेतुर्भवति इति विभाग लोकांतुराण आगमांतुराण च दृश्यते । जी प्र टी

२ कषायानुवर्द्धिन क्रोधमालमापातु मियण्टात्तीनि अनिवृत्तिरस्थानात्तानि मति । म मि १ ८

**लोभकसाई एंइदिय-पहुडि जाव सुहुम-सांपराइय-सुद्धि-संजदा  
ति' ॥ ११३ ॥**

शेषकषायोदयविनाशे लोभकषायस्य विनाशानुपपत्तेः लोभकषायस्य सूक्ष्म-  
साम्परायोऽन्वधिः ।

अकषायोपलक्षितगुणप्रतिपादनार्थमाह—

**अकसाई चटुसु टाणेषु अत्थि उवसंतकसाय-वीयराय-छटु-  
मत्था खीणकसाय-वीयराय-छटुमत्था सजोगिकेवली अजोगिकेवलि  
ति' ॥ ११४ ॥**

उपशान्तकषायस्य कथमकषायत्वमिति चेत्, कथं च न भवति ? द्रव्यकषायस्या-  
नन्तरस्य सत्त्वात् । न, कषायोदयाभावापेक्षया तस्याकषायत्वोपपत्तेः । सुगममन्यत् ।  
कषायसादेशः किमिति नोक्तमिति चेन्न, विशेषाभावतोऽनैनैव गतार्थत्वात् ।

लोभकषायसे युक्त जीव एकेन्द्रियोंसे लेकर सूक्ष्मसांपरायण्युद्धिसयत गुणस्थान-  
तक होते हैं ॥ ११३ ॥

शेष कषायोंके उदयके नाश हो जाने पर उसीसमय लोभकषायका विनाश वन  
नहीं सकता है, इसलिये लोभकषायकी अन्तिम मर्यादा सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान है ।

कषायरहित जीवोंसे उपलक्षित गुणस्थानोंके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—  
कषायरहित जीव उपशान्त कषाय-वीतराग छम्बस्थ, क्षीणकषाय-वीतराग-छम्बस्थ,  
संयोगिकेवली और अयोगिकेवली इन चार गुणस्थानोंमें होते हैं ॥ ११४ ॥

शंका—उपशान्तकषाय गुणस्थानको कषायरहित कैसे कहा ?

प्रतिशान्ता—वह कषायरहित क्यों नहीं हो सकता है ?

शंका—वहां अतन्त द्रव्यकषायका सद्भाव होनेसे उसे कषायरहित नहीं कह  
सकते हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, कषायके उदयने अभावकी अपेक्षा उसमें कषायोंसे रहित-  
पना वन जाता है । शेष कथन सुगम है ।

शंका—कषायोंका विशेष ( मार्गणांशमें ) कथन क्यों नहीं किया ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, कषायोंके सामान्य कथनसे उनका मार्गणांशमें कथन कर-  
नेमें कोई विशेषता नहीं है, इसलिये उसका ज्ञान हो जाता है । इसलिये आदेश प्ररूपणा नहीं की ।

१ लोभकषाय तात्पर्य सूक्ष्मसांपरायण्यनाधिकारि । म मि १ ८

२ जन्मानुपपत्तौ तन्नाय क्षीणकषाय योगेनेवली जयोगेनेवली चेदि । म मि १ ८

ज्ञानमार्गके तीसरे अध्यायके तीसरे भाग—

गणानुवादण अस्थि मदि-अण्णाणी सुद-अण्णाणी विभंग-  
णाणी आभिणिवोहियणाणी सुदणाणी ओहिणाणी मणपज्जव-  
णाणी केवलणाणी चेदि ॥ १:५ ॥

अत्रापि पूर्वतत्पर्यायपर्यायिणाः कवचिदभेदात्पर्यायिग्रहोऽपि पर्यायस्य ज्ञानस्यैव  
श्रुतं भवति । ज्ञानिना भेदात् ज्ञानभेदोऽवगम्यत इति वा पर्यायिद्वारेणोपदेशः ।  
ज्ञानानुवादेन कथमज्ञानस्य ज्ञानप्रतिपक्षस्य सम्भन इति चेत्, मिथ्यात्वसमेतज्ञानस्यैव  
ज्ञानकार्यात्तरगाढ-ज्ञानव्यपदेशान् पुत्रस्यैव पुत्रकार्यारुणाढपुत्रव्यपदेशवत् । किं तद्-  
ज्ञानकार्यमिति चेत्चरार्थं ह्येतिः प्रत्ययः श्रद्धा चारित्र्यस्पर्शनं च । अथवा प्रधानपद-  
योगिन्याज्ञानानामपि ज्ञानव्यपदेशः आत्मनमिति यथा । ज्ञानातीति ज्ञानं साकारोप-  
योगः । यथा ज्ञानान्यज्ञानीऽऽस्थान्यनेनेति वा ज्ञानं ज्ञानान्तरणीयकर्मणः एकदेश-  
प्रशयान् समुद्रचात्सापरिणामः आप्नोति वा । तदपि ज्ञानं द्विविधम्, प्रत्यक्षं परोक्षमिति ।

अत्र ज्ञानमार्गणके द्वारा जीव पदार्थके निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

ज्ञानमार्गणके अनुवादने मदि-अण्णाणी, विभंगणाणी, आभिणिवोहियणाणी,  
सुदणाणी, ओहिणाणी, मणपज्जवणाणी, आभिणिवोहियणाणी, सुदणाणी, ओहिणाणी, मणपज्जवणाणी,  
केवलणाणी, चेदि ॥ १:५ ॥

यहां हम नीचे पहले की तरह पर्याय और पर्यायोंमें कवचिन् अशब्द दोनोसे पर्यायोंके  
आशय करने पर भी पर्यायरूप ज्ञानका ही श्रुतन होता है । अथवा, ज्ञानी कितने प्रकारके  
द्वारे में इस ज्ञानके समान देनेसे ज्ञानके भेदोंका ज्ञान हो जाता है । इसलिये पर्यायोंके कथन-  
प्रकार यथा पर उपदेश दिया है ।

शब्दा — ज्ञान मार्गणके अनुवादने ज्ञानके प्रतिपक्षभूत अज्ञानका ज्ञानमार्गणमें  
क्रम संभन है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, भिन्नावस्थित ज्ञानको ही ज्ञानका कार्य नहीं करतेसे  
ज्ञान कहा है । अर्थात्, पुत्रोचित कार्यको नहीं करतेवाले पुत्रको ही अनुप कहा जाता है ।  
शब्दा—ज्ञानका कार्य क्या है ?

समाधान—तरार्थमें ह्येति, निष्पत्त्य, श्रद्धा और चारित्र्यका धारण करना ज्ञानका  
कार्य है । यथा, प्रधानपदकी अपेक्षा अज्ञानको भी ज्ञान कहा जाता है । जैसे, जिस वनमें  
हमके पुत्रोंकी मरुलना होती है उसे आत्मन कहा जाता है ।

जो जानता है उसे ज्ञान कहते हैं । अर्थात् साकार उपयोगको ज्ञान कहते हैं । अथवा,  
जिसे ज्ञान पर धारणा जानना है, जानना या अथवा ज्ञानका, ऐसे ज्ञानावरण कर्मके एकदेश  
अथवा यथा संपूर्ण ज्ञानावरण कर्मके क्षयसे उत्पन्न हुए आत्मके परिणामको ज्ञान कहते हैं ।

परोक्षं द्विविधम्, मतिः श्रुतमिति । तत्र पञ्चभिरिन्द्रियैर्मनसा च यदर्थग्रहणं तन्मतिज्ञानम् ।  
तदपि चतुर्विधम्, अवग्रह ईहा अवायो धारणा चेति । विषयविषयिसन्निपात-  
समन्तरमाद्यग्रहणमग्रहः । अवग्रहीतस्यार्थस्य विशेषाकाङ्क्षामहीहा । इहितस्यार्थस्य  
निश्चयोऽवाय । कालान्तरेऽव्यविस्मरणसंस्कारजनकं ज्ञानं धारणा । अथवा चतुर्विधमिति-  
विधं मतिज्ञानम् । तद्यथा, चाशुपं च चतुर्विधं मतिज्ञानमग्रहः ईहानायो धारणा चेति ।  
एवं शेषाणामपि इन्द्रियाणां मनसस्य वाच्यम् । अथवा अष्टानिश्चितिविधम् । तद्यथा,  
अवग्रहो द्विविधोऽर्थावग्रहो व्यञ्जनानग्रहश्चेति । कोऽर्थावग्रहश्चेदशापार्थग्रहणस्यार्थविग्रहः ।

बहु ज्ञान दो प्रकारका है, प्रत्यक्ष और परोक्ष । परोक्षके भी दो भेद हैं, मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ।  
उनमें पांच इन्द्रियों और मनसे जो पदार्थका ग्रहण होता है उसे मतिज्ञान कहते हैं । यह  
मतिज्ञान चार प्रकारका है, अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा । विषय और विषयोंके समन्वय  
दोनेके अन्तर समयमें जो प्रथम ग्रहण होता है उसे अवग्रह कहते हैं । अनग्रहसे ग्रहण  
किये गये पदार्थके विशेषको जाननेके लिये अधिष्ठानरूप जो ज्ञान होता है उसे ईहा कहते हैं ।  
ईहानेके द्वारा जो गये पदार्थके निश्चयरूप ज्ञानको अवाय कहते हैं । कालान्तरमें भी विस्मरण  
न होनेके रूप संस्कारके उत्पन्न करनेवाले ज्ञानको धारणा कहते हैं ।

अथवा, मतिज्ञान चौबीस प्रकारका होता है । इसका स्पष्टीकरण इसप्रकार है, चतु-  
रिन्द्रियसे उत्पन्न होनेवाला मतिज्ञान चार प्रकारका है, अनग्रह, ईहा, अवाय और धारणा  
इसीप्रकार शेष चार इन्द्रियोंसे और मनसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान भी अवग्रह, ईहा, अवाय  
और धारणाके भेदसे चार चार प्रकारका होता है इसप्रकार कथन करना चाहिये । इसप्रकार  
ये सब मिलकर चौबीस भेद हो जाते हैं । अथवा, मतिज्ञान अष्टारिंश प्रकारका होता है ।  
उसका स्पर्शिकरण इसप्रकार है । अवग्रह दो प्रकारका होता है, अर्थावग्रह और व्यञ्जनानवग्रह ।

शब्दा—अर्थावग्रह किसे कहते हैं ?

समाधान—अज्ञान अर्थके ग्रहण करनेको अर्थावग्रह कहते हैं ।

१ विषयविषयिसन्निपातस्यमानतरमाद्यग्रहणमग्रहः । स मि १ १५ विषयविषयिसन्निपाते मति दर्शन  
मनाति तदनतरमर्थस्य ग्रहणमग्रहः । त रा वा १ १५ विषयविषयिसन्निपातान्तरमाद्य ग्रहणमग्रहः । विषय-  
स्तात् इव्यपर्यायात्मार्थं विषयिणो इव्यसाप्रेन्द्रिय जर्थावग्रहण याव्यतालक्षण तदनन्तरम समान दर्शन मन्विषय-  
व्यव्यापनिकल्पपुत्र परिणाम प्रतिपद्यतेऽवग्रहः । लवीयत्, न्यो ट लि प्र २ प्र प १-३ । तत्रव्यक्त  
यथात्वमिन्द्रियोपयोगामालोचनवाच्यमग्रहः । तरार्थं मा १ १५ विषयविषयिसन्निपातान्तरमाद्य-ग्रहणमग्रहः  
सागोचरदर्शनानुज्ञानमाद्यमाद्यमाद्यविषयिणस्तुप्रकणमग्रहः । प्रमाणमत १ ७, जर्थाव्योनि दर्शन-  
नन्तरमर्थावग्रहणमग्रहः । प्रमाणमी १ १ २७

२ पूर्वा विशेषाभिज्ञानान् विशेषावश्यमानान् १७९, त ३५० गाथातुयात्-पट्टयम् । उगर्हो एव  
मम ईहानाया मुहुमुम तु । गलममपु सव च वाणा नोई नायत्वा ॥ आ नि. ४.





विधरीयमोहिणाण खइयुसमिय च कम्म-वीज च ।

वेमणो सि पउच्चइ समत्त-गणाहि समयधिं ॥ १८१ ॥

अभिमुह्णु गियमिय-वेहणामाभिणिबोहियमणिदि-इदियज ।

बहु-ओगाहाइणा खह कय-उत्तीस-ति सय-भेयं ॥ १८२ ॥

अथादो अयत्तर-उजलभो त भणति सुदणाणं ।

आभिणिबोहिय-पुव्व गियमेणिह सइज पमुहं ॥ १८३ ॥

अपहीयदि ति ओही सोभाणाणे ति वणिणद समए ।

भन-गुण-पच्चय-निहिय तमेहिणाणे ति ग वेत्ति ॥ १८४ ॥

सर्वज्ञके द्वारा आगममें क्षयोपशमजन्य और मिथ्यात्वादि कर्मके कारणरूप विपरीत अधिज्ञानको विभग ज्ञान कहा है ॥ १८१ ॥

मन और इन्द्रियोंकी सहायतासे उत्पन्न हुए अभिसुख और नियमित पदार्थके ज्ञानको अभिनियोधिरु ज्ञान कहते हैं। उसके बहु आवधिक ब्राह्म प्रकारके पदार्थ और अवग्रह आदिकी अपेक्षा तीनसौ छत्तीस भेद हो जाते हैं ॥ १८२ ॥

मतिज्ञानसे जाने हुए पदार्थके अवलम्बनसे तत्संबन्धी दूसरे पदार्थके ज्ञानको श्रुतज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान नियमसे मतिज्ञानपूर्वक होता है। इसके अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक अथवा शब्दजन्य और लिगजन्य इसप्रकार दो भेद हैं। उनमें शब्दजन्य श्रुतज्ञान मुख्य है ॥ १८३ ॥

द्रव्य, क्षेत्र, माल और भावकी अपेक्षा जिस ज्ञानके विषयकी सीमा हो उसे अधि-ज्ञान कहते हैं। इसीलिये परमगममें इसको सीमाज्ञान कहा है। इसके भवप्रत्यय और गुण-प्रत्यय इसप्रकार जिनेत्रेयेवने दो भेद कहे हैं ॥ १८४ ॥

१ गो जी ३०५ निशिष्टस्य अधिज्ञानस्य भग विपर्यय विभग इति निरुक्तिरिन्द्रार्थस्येव अनेन प्ररु-पितस्ता ॥ जी ५ टी निरुद्धो विंतयो ग जयथा गच्छुमगो वस्तुविकल्पो यदिसस्ताद्विभगं, तच्च तज्ज्ञान च माहारनादिति विभक्तज्ञान मिथ्याऽनादितोऽनाधिरित्यर्थ ॥ सू ५४२ (आभि रा को विभगणण )

२ गो जी ३०६ स्फुल्लतर्तमानोपदेशान्त्वितोऽर्थे अभिसुख, असेन्द्रियस्य अयमेवार्थ इत्यनवाप्तौ विरपित । यामेवप्रथमा निगमिन्प्रथमो अभिपुननिगमित । तस्यार्थस्य योगन अभिनिगोधिक मतिज्ञानमित्यर्थ । जी ५ टी

३ गो जी ३१५ जीवोऽस्तीति शब्दज्ञान श्रोत्रोद्भयप्रम मतिज्ञान भवति । ज्ञानेन गोोऽस्तीति शब्दत्वात्पञ्चे आभासिन्ने कच्ययादकमयसकेतसफलनपूर्वक यद् ज्ञानमुपयति तदक्षरालमक श्रुतज्ञान मती, यस्यपञ्चशब्दसमुत्पन्ननेन कार्ये कारणोपचारा । वातवीतसर्तज्ञानेन तत्प्रकृतिरस्य तत्सर्वे अपनोऽज्ञान-मनससाधार लिगज श्रुतज्ञान भवति, शब्दपूर्वत्वाभावात् जी ५ टी

४ गो जी ३०७ ज्ञानाभावात्तिष्ठतिगवियपारा अवधि । स ति १ ९ आभिज्ञानास्यपयोपगमापुमपरेनुगणाने सारथीरेऽन्वाद्-माययायानमात्र माधि । अधिश्चब्दोऽय

चिन्तियमचिन्तिय वा अद्द चिन्तियमणोय-भेय च ।

मणपज्जव ति उच्चइ ज जाणइ त खु णर-लोए ॥ १८५ ॥

सपुण्ण तु समग केवलमसत्त-सव्व-भाव-विद ।

लेगालेग-वितीमि र कवलणाण मुणेयव्वं ॥ १८६ ॥

इदानी गतीन्द्रियक्रायुणस्थानेषु मतिश्रुतज्ञानयोरध्वानप्रतिपादनार्थमाह—

जिसका श्रुतमालमें चिन्तवन किया है, अथवा जिसका भविष्यकालमें चिन्तवन होगा, अथवा जो अर्धचिन्तित है इत्यादि अनेक भेदरूप दूसरेके मनमें स्थित पदार्थको जो जानता है उसे मनःपर्ययज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान मनुष्यक्षेत्रमें ही होता है ॥ १८५ ॥

जो जीवद्रव्यके शक्तिगत सर्व ज्ञानके अविभाग प्रतिच्छेदके व्यक्त हो जानेके कारण संपूर्ण है, ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्मके सर्वथा नाश हो जानेके कारण जो अप्रतिहत-शक्ति है इसलिये समग्र है, जो इन्द्रिय और मनकी सहायतासे रहित होनेके कारण केवल है, जो प्रतिपक्षी चार घातिया कर्मके नाश हो जानेसे अनुक्रम रहित संपूर्ण पदार्थमें प्रवृत्ति करता है इसलिये असंपन्न है और जो लोक और अलोकमें अज्ञानरूपी अन्धकारसे रहित होकर प्रकार-मान हो रहा है उसे केवलज्ञान जानना चाहिये ॥ १८६ ॥

अच गति, इन्द्रिय और क्रायमार्गीणान्तर्गत गुणस्थानोंमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके विशेष कथन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

पर्यायचन, यथाऽय क्षेत्रणभवक्षेपण, इत्यधीगतभूयोद्भवमित्ययो जवधि । अथवापरिर्मयोदा, अनधिना मतिन्द्र-ज्ञानमप्रधिज्ञानम् । त रा वा १ ९, वा ३ अवशब्दोऽय शब्दार्थ, अय अधोऽधो विस्तृत वस्तु धीयते परिच्छिद्यतेऽनेत्त्ववधि । अथवा अत्रार्थर्मयोदा रूपिवेव द्रव्येणु पारोच्छेदकतया प्रवृत्तिरूपा तदुपलक्षित ज्ञानमप्यवधि । यद्वा अवधानम्—आत्मनोऽर्थसाक्षात्करणव्यापारोऽपि । न सू ५ ६५

१ गो जी ४३८ परकीयमनोगतोयो मन इत्युच्यते साहचर्यात्तस्य पर्यायण परिममन मन पर्यय । स ति १ ९ मन प्रतीत्य प्रतिसथाय वा ज्ञान मन पर्यय । त रा वा १ ९ वा ४ स मन पर्ययो हेयो मनोवार्थ (मन्यतेऽर्था ?) मनोगता । परया स्वमनो वापि तदालम्बनमात्मम् ॥ त श्लो वा १ ९ ७ परि सर्वतो भागे अवन अत्र । X X अवन गमन वेदनमिति पर्याया, परि अव-पर्यय, मनमि मनसो ना पर्यय मन पर्यय सर्वतो मनोद्भवपरि उद्द इत्यर्थ । अथवा मन पर्यय इति पाठ, तत्र पर्ययण पर्यय, भावोऽद् प्रत्यय, सन्ति मनसो ना पर्ययो मन पर्यय सर्वतस्तारोऽद् इत्यर्थ । X X अथवा मन पर्यायज्ञानमिति पाठ तत्र मनसि मनोद्भवाणि पर्ययति सर्वमना परिच्छिन्नाति मन पर्याय, पर्याया भेदा यमां वाप्यस्त्वलोचयप्रकारा इत्यर्थ, तेषु तेषा ना सम्बन्धि ज्ञान मन पर्यायज्ञानम् । न सू ५ ६६

२ गो जी ४६० जीवद्रव्यस्य शक्तिगतसर्वज्ञानाविभागप्रतिच्छेदाना व्यक्तितगत्यामपूर्णम् । मोदनाय-कीर्यात्तरायनिरक्षेयश्रयादप्रतिहतशक्तिनुक्तान्-निश्चल-नाच्च ममप्र । इन्द्रियमहाभिनित्येक मात्र-केऽल । घातिचतुष्टय-प्रक्षयात् असंपन्नम् । जी ५ टी



१८१ ॥  
 यदि-अण्णाणी सुद-अण्णाणी एइदिय-पुह्णुडि जाव सासण-  
 सम्माहट्टि ति ॥ ११६ ॥

मिथ्याः इन्द्रियोंके भवता नाम तत्र मिथ्यात्वोदयस्य सत्त्वात् । मिथ्या-  
 न्नादयस्यासत्त्वाच्च नामादने तयोः सत्त्वमिति न, मिथ्यातां नाम विपरीताभिनिवेशः  
 स च मिथ्यातादन्तानुबन्धिनश्चोत्पत्त्येन । समस्ति च सासादनस्यान्तानुबन्धुदय  
 इति । ऋगोक्तन्द्रियाणां श्रुतत्वानमिति चैतच्छ्रुतं च न भवति ? श्रोत्राभावात् शब्दावगति-  
 स्तद्भावात् शब्दार्थानुभव इति नैव दोषः, यतो नायमेकान्तोऽस्ति शब्दार्थानुबोध एव  
 श्रुतमिति । अपि तु अगच्छरूपादपि लिङ्गलिङ्गिज्ञानमपि श्रुतमिति । अमनसां तदपि  
 ऋयमिति चेन्न, मनोऽन्तरेण वनस्पतिषु हिताहितप्रवृत्तिनिवृत्त्युपलम्भतोऽनेकान्तात् ।

एकेन्द्रियसे लेकर सासादनस्यस्यस्ये गुणस्थानतक सत्यतानी और श्रुतत्वानी जीव  
 होने हैं ॥ ११६ ॥

शंका — मिथ्याऽपि जीवोंके भले ही देनों अज्ञान होने, क्योंकि, वहा पर मिथ्यात्व  
 कर्मका उदय पाया जाता है । परन्तु सासादनमें मिथ्यात्वका उदय नहीं पाया जाता है, इसलिये  
 वहा पर ये देनों ज्ञान अज्ञानरूप नहीं देना चाहिये ?

समाधान — नहीं, क्योंकि, विपरीत अभिनिवेशको मिथ्यात्व कहते हैं । और वह  
 मिथ्यात्व और वतन्तानुबन्धी इन दोनोंके निमित्तसे उत्पन्न होता है । सासादन गुणस्थान-  
 तनेके अन्तानुबन्धीका उदय तो पाया ही जाता है, इसलिये वहा पर भी दोनों अज्ञान सम्भव हैं ।

शंका — एकेन्द्रियोंके श्रुतत्वान कैसे हो सकता है ?

प्रतिशंका — कैसे नहीं हो सकता है ?

शंका — एकेन्द्रियोंके श्रोत्र इन्द्रियका अभाव होनेसे शब्दका ज्ञान नहीं हो सकता है,  
 परन्तु शब्दका ज्ञान नहीं होनेसे शब्दके विपरीतमभूत वाच्यका भी ज्ञान नहीं हो सकता है । इस-  
 लिये उनके श्रुतत्वान नहीं होता है यह बात सिद्ध हो जाती है ?

समाधान — यह कोई श्रेय नहीं है, क्योंकि, यह कोई एकान्त नहीं है कि शब्दके  
 विपरीतसे होनेवाले परार्थके ज्ञानको ही श्रुतत्वान कहते हैं । किन्तु शब्दसे भिन्न रूपादिक लिंगसे  
 भी जो स्थितिका ज्ञान होता है उसे भी श्रुतत्वान कहते हैं ।

शंका — मगरहित जीवोंके ऐसा श्रुतत्वान भी कैसे सम्भव है ?

समाधान — नहीं, क्योंकि, मनके बिना वनस्पतिकारिक जीवोंके हितमें प्रवृत्ति और  
 अहितसे विपुत्ति रेनी जाती है, इसलिये मन्महित जीवोंके ही श्रुतत्वान माननेमें उनसे अने-  
 कान्त श्रेय जाता है ।

विभङ्गज्ञानाध्वानप्रतिपादनार्थमाह —  
 विभंगणं सण्ण-मिच्छाहट्टीणं वा सासणसम्माहट्टीणं  
 वा ॥ ११७ ॥

विकलेन्द्रियाणां किमिति तत्र भवतीति चेन्न, तत्र तत्रिन्धनसंयुक्तमभावात् ।  
 सोऽपि तत्र किमिति न सम्भवतीति चेन्न, तद्वैतभ्रवगुणानामभावात् ।

विभङ्गज्ञानं भवप्रत्यये सति पर्याप्तापर्याप्तान्शयोरपि तस्य सत्त्वं स्यादित्या-  
 शङ्कितशिष्याशशपोहनार्थमाह —

पज्जत्ताणं अत्थि, अपज्जत्ताणं णत्थि ॥ ११८ ॥

अथ साद्यदि देवनारकाणां विभङ्गज्ञानं भवनिन्धनं भवेदपर्याप्तकालेऽपि तेन  
 भवितव्यं तदेतौर्भवस्य सत्त्वादिति न, 'सामान्यबोधनाथ विशेषेण्वनतिष्ठन्ते' इति

विभग्वानके विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

विभंगजान सबी मिथ्याऽपि जीवोंके तथा सासादनस्यस्यस्ये जीवोंके होता है ॥ ११७ ॥  
 शंका — विकलेन्द्रिय जीवोंके वह क्यों नहीं होता है ?

समाधान — नहीं, क्योंकि, वहा पर विभंगजानका कारणभूत शयोपशम नहीं पाया  
 जाता है ।

शंका — वह शयोपशम भी विकलेन्द्रियोंमें क्यों सम्भव नहीं है ?

समाधान — नहीं, क्योंकि, अवाधिज्ञानावरणका शयोपशम भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय  
 श्रुता है । परन्तु विकलेन्द्रियोंमें ये दोनों प्रकारके कारण नहीं पाये जाते हैं, इसलिये उनके  
 विभग्वान सम्भव नहीं है ।

विभग्वानको भवप्रत्यय मान लेने पर पर्याप्त और अपर्याप्त इन दोनों अवस्थाओंमें  
 उसका सद्भाव पाया जाना चाहिये इसप्रकार आशंकाको प्राप्त शिष्यके सन्देहके दूर करनेके  
 लिये ओका सूत्र कहते हैं—

विभंगजान पर्याप्तकोंके ही होता है, अपर्याप्तकोंके नहीं होता है ॥ ११८ ॥

शंका — यदि देव और नारिक्योंके विभग्वान भवप्रत्यय होता है तो अपर्याप्तकालमें  
 भी वह हो सकता है, क्योंकि, अपर्याप्तकालमें भी विभग्वानके कारणरूप भवकी सत्ता पाई  
 जाती है ?

समाधान — नहीं, क्योंकि, 'सामान्य विषयका बोध करानेवाले वाच्य विद्योत्तम' रहा

\* ज्ञानाद्वैतनेन मन्यज्ञानश्रुतत्वानमिभङ्गजानेषु मिथ्याऽपि सासादनस्यस्यस्येऽस्ति । म. पि. १. ८.



भगवतु नाम देवनागराग्रप्रतस्यगृष्टिपञ्चविज्ञानस्य मत्तं तस्य तद्भवनिबन्धन-  
नाम् । देशविवागुपरिनिनामपि भगवतु तत्पत्तं तन्निमित्तगुणस्य तत्र सत्त्वात्, न  
निबन्धनानुयायनस्यगृष्टिषु तस्य मत्तं तन्निबन्धनभगवतुणां तत्रासत्त्वादिति चेन्न,  
अत्रिज्ञाननिबन्धनस्यगृष्टिगुणस्य तत्र मत्त्वात् । सर्वमस्यगृष्टिषु तदनुत्पत्त्यन्यथास्तुप-  
पत्तेर्नात्रिज्ञानं यस्यगृष्टीननिबन्धनमिति चेत्सर्वसंयतेषु तदनुत्पत्त्यन्यथास्तुपपत्तेर्वधि-  
ज्ञानं संयतेषु मत्तं न भवतीति किञ्च भवत् । विशिष्टः संयमस्तुद्वैतुरिति न सर्वसंयता-  
नामपिर्धीतीति चेदत्रापि विशिष्टस्यस्यस्तु तद्वैतुरिति न सर्वेषां तद्भवति को विरोधः  
स्यात् ? औपगमिकप्राधिकारायोपशामिकेषुदमिषेषु त्रिपपि सम्यक्त्वविशेषव्यवधानो-  
त्पत्तेर्व्यभिचारदर्शनात् तद्विशेषनिबन्धनसमीपि चेत्यर्थेवापि सामायिकच्छेदोपस्थापन-

शंका—देव आर नारकीसम्बन्धी अस्तमत्त्वस्यगृष्टि जीवोंमें अवधिज्ञानका सद्भव  
आदि उत्पत्तेः गुणस्थानोंमें भी अवधिज्ञान रत्ता आये, क्योंकि, अवधिज्ञानकी उत्पत्तिके कारण-  
गत गुणोंका यथा पर सद्भवन पाया जाता है । परतु असत्पत्तस्यगृष्टि तिर्यच और मनुष्योंमें  
उपको सद्भवा नहीं पाया जा सकता है, क्योंकि, अवधिज्ञानकी उत्पत्तिके कारण भव और  
गुण अस्तमत्त्वस्यगृष्टि तिर्यच और मनुष्योंमें नहीं पाये जाते हैं ?

गमप्राधान—नहीं, क्योंकि, अवधिज्ञानकी उत्पत्तिके कारणरूप सम्यग्दर्शनका असंय-  
त्वस्यगृष्टि तिर्यच और मनुष्योंमें सद्भवा पाया जाता है ।

शंका—चकि सपूर्ण सम्यग्दर्शियोंमें अवधिज्ञानकी अनुत्पत्ति अन्वया वन नहीं सकती  
है, इत्यथे मान्य पत्ता है कि सम्यग्दर्शन अवधिज्ञानकी अनुत्पत्ति कारण नहीं है ?

समाधान—यदि ऐसा है तो सपूर्ण स्वयंतोंमें अवधिज्ञानकी अनुत्पत्ति अन्यथा वन  
नहीं सकती है, इसलिये स्वयम भी अवधिज्ञानका कारण नहीं है, ऐसा स्व्योंन मान लिया जाय ?

शंका—विशिष्ट स्वयम ही अवधिज्ञानकी उत्पत्तिके कारण है, इसलिये समस्त  
सगतीके अवधिज्ञान नहीं होता है, किंतु कुछके ही होता है ?

समाधान—यदि ऐसा है तो यहा पर भी ऐसा ही मान लेना चाहिये कि असत्त-  
त्वस्यगृष्टि तिर्यच और मनुष्योंमें भी विशिष्ट स्वयत्त्व ही अवधिज्ञानकी उत्पत्तिके कारण  
है । इसलिये सभी सम्यग्दर्शि तिर्यच और मनुष्योंमें अवधिज्ञान नहीं होता है, किंतु कुछके ही  
होता है, ऐसा मान लेनेमें क्या विरोध आता है ?

शंका—औपशामिक, क्षायिक और क्षायोपशामिक इन तीनों ही प्रकारके विशेष  
सम्यग्दर्शियोंमें अवधिज्ञानकी उत्पत्तिमें व्यभिचार देगा जाता है । इसलिये सम्यग्दर्शनविशेष  
अप्राप्यज्ञानकी उत्पत्तिके कारण दे यह नहीं कहा जा सकता है ?

समाधान—यदि ऐसा है तो स्वयममें भी सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि,

परिहार-सूक्ष्मसात्परय-यथाख्यात-भेदभिद्वैः पञ्चभिरपि संयमैः देशविरत्या च तस्य  
व्यभिचारदर्शनात्तत्रावधिज्ञानं संयमविशेषनिबन्धनसमीपि समानमेतत् । असंख्यतालोका-  
मात्रसंयमपरिणामेषु केचिद्विशिष्टाः परिणामास्तद्वेतन इति नायं दोषश्चेत्तर्हि सम्यग्दर्शन-  
परिणामेष्वन्यसंख्येयलोकपरिणामेषु केचिद्विशिष्टाः सम्यक्त्वपरिणामाः सहकारिकारण-  
व्यपेक्षास्तद्वेतन इति स्थितम् ।

मनःपर्ययज्ञानस्वामिप्रतिपादनार्थमाह—

सगणपञ्जवर्णाणी पमत्तसंजद-पहुडि जाव स्त्रीणकसाय-वीदराग-  
छुदुमत्था ति ॥ १२१ ॥

पर्यायपर्यायिणोरभेदापेक्षया मनःपर्ययज्ञानस्यैव मनःपर्ययज्ञानव्यपदेशः । देश-  
विरतावधत्तनगुणभूमिस्थितानां क्रिमिति मनःपर्ययज्ञानं न भवेदिति चेन्न, संयमा-  
संयमासंयमतं उत्पत्तिविरोधात् । संयमसमाजकारणत्वे सर्वसंयतानां किञ्च तद्भवेदिति

सूक्ष्मसात्परय और यथारयान इन पाच प्रकारके विशेष सयमके साथ और देशविरतिके साथ  
भी अवधिज्ञानकी उत्पत्तिके व्यभिचार देरा जाता है, इसलिये अवधिज्ञानकी उत्पत्ति स्वयम-  
विशेषके निमित्तसे होती है यह भी तो नहीं कहा सकते हैं, क्योंकि, सम्यग्दर्शन और स्वयम  
इन दोनोंको अवधिज्ञानकी उत्पत्तिमें निमित्त मानने पर आद्योप और परिहार समान है ।

शंका—अस्तव्यात लोकप्रमाण स्वयमरूप परिणामोंमें कितने ही विशेष जातिके  
परिणाम अवधिज्ञानकी उत्पत्तिके कारण होते हैं, इसलिये पूर्वोक्त दोष नहीं आता है ?

समाधान—यदि ऐसा है तो अस्तव्यात लोकप्रमाण स्वयमदर्शनरूप परिणामोंमें दूरो-  
सहकारी कारणोंकी अपेक्षासे उरुक होते हुए कितने ही विशेष जातिके सम्यक्त्वपरिणाम  
अवधिज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण हो जाते हैं यह बात निश्चित हो जाती है ।

अथ मनःपर्ययज्ञानके स्वामीके प्रतिपादन करनेके लिये आगेजा उद्घृत कहते हैं—

मन पर्ययज्ञानी जीन प्रमत्तस्यतसे लेकर श्रीणरूपय वीनगग-छरय गुणस्थाननक  
होते है ॥ १२२ ॥

पर्याय और पर्यायोंमें अभेदकी अपेक्षासे मनःपर्ययज्ञानका ही मनःपर्ययज्ञानीरूपसे  
उल्लेख किया है ।

शंका—देशविरति आदि नचिके गुणस्थानवर्ती जीवोंके मनःपर्ययज्ञान क्यों  
नहीं होता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, संयमासयम और असयमके साथ मनःपर्ययज्ञानकी  
उत्पत्ति माननेमें विरोध आता है ।

१ मन पर्ययज्ञाने प्रमत्तगुणद्वय क्षीणगुणयाता मति । म पि १ ८.

२ अ क प्रयो ' सायमयत ' आ प्रतो च ' मयममत्तस्य अवयस्य ' मति पाठ ।

चेदभिव्यद्यदि संयम एक एव तदुत्पत्तेः कारणतामगमिष्यत् । अप्यन्येऽपि तु तद्वैतवः सन्ति तद्वैकल्यान्न सर्वसंयतानां तदुत्पद्यते । केऽन्ये तद्वैतव इति चेद्विशिष्टद्रव्य-क्षेत्रकालादयः ।

केवलज्ञानाधिपतिगुणभूमिप्रतिपादनार्थमाह—

**केवलगणाणी तिसु द्वाणेषु सजोगिकेवली अजोगिकेवली सिद्धा चेदि' ॥ १२२ ॥**

अथ स्यान्नाहृतः केवलज्ञानमस्ति तत्र नोद्भिद्रयावरणक्षयोपशमजनितमनसः सत्त्वात्, न, प्रक्षीणसमस्तावरणे भगवत्यर्हति ज्ञानावरणक्षयोपशमाभावात्तत्कार्यस्य मनसोऽसंज्ञात् । न वीर्यान्तरायक्षयोपशमजनितशक्त्यस्तित्वद्वारेण तत्सत्त्वं प्रक्षीण-

शंका—यदि सयममात्र मनःपर्ययज्ञानकी उत्पत्तिका कारण है तो समस्त सयमियोंके मनःपर्ययज्ञान क्यों नहीं होता है ?

समाधान—यदि केवल सयम ही मन पर्ययज्ञानकी उत्पत्तिका कारण होता तो ऐसा भी होता । किंतु अन्य भी मनःपर्ययज्ञानकी उत्पत्तिके कारण हैं, इसलिये उन दूसरे हेतुओंके न रहनेसे समस्त सयमोंके मन पर्ययज्ञान उत्पन्न नहीं होता है ।

शंका—वे दूसरे कौनसे कारण हैं ?

समाधान—विशेष जातिके द्रव्य, क्षेत्र और कालादि अन्य कारण हैं । जिनके बिना सभी सयमियोंके मन पर्ययज्ञान उत्पन्न नहीं होता है ।

अब केवलज्ञानके स्वामीके गुणस्थान बतलानेके लिये सूत्र कहते हैं—

केवलज्ञानी जीव सयोगिकेवली, अयोगिकेवली और सिद्ध इन तीन स्थानोंमें होते हैं ॥ १२२ ॥

शंका—अरिहंत परमेष्ठिके केवलज्ञान नहीं है, क्योंकि, वहां पर नोद्भिद्रयावरण कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुए मनना सद्भाव पाया जाता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जिनके संपूर्ण आवरणकर्म नाशको प्राप्त हो गये हैं ऐसे अरिहंत परमेष्ठियोंमें ज्ञानावरणकर्मका क्षयोपशम नहीं पाया जाता है, इसलिये क्षयोपशमके कार्यरूप मन भी उनके नहीं पाया जाता है । उसी प्रकार वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुई शक्तिकी अपेक्षा भी वहां पर मनका सद्भाव नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि, जिनके वीर्यान्तराय कर्मका क्षय पाया जाता है ऐसे जीवोंके वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुई शक्तिके सद्भाव माननेमें विरोध आता है ।

वीर्यान्तरायस्य वीर्यान्तरायजनितशक्त्यस्तित्वविरोधात् । क्रथ पुनः सयोग इति चेन्न, प्रथमचतुर्थभाषोत्पत्तिनिमित्तात्मप्रदेशपरिस्पन्दस्य सत्त्वापेक्षया तस्य सयोगत्तविरोधात् । तत्र मनसोऽभावे तत्कार्यस्य वचनोऽपि न सत्त्वमिति चेन्न, तस्य ज्ञानकार्यत्वात् । अक्रमज्ञानात्क्रथं क्रमवता वचनानामुत्पत्तिरिति चेन्न, घटविषयाक्रम-ज्ञानसमवेतकुम्भकारादृष्टस्य क्रमेणोत्पत्त्युपलम्भात् । मनोयोगाभावे ह्यत्रेण सह विरोधः स्यादिति चेन्न, मनःकार्यप्रथमचतुर्थवचसोः सत्त्वापेक्षयोपचारेण तत्त्वत्रयोपदेशात् । जीवप्रदेशपरिस्पन्दहेतुनोऽक्रमजनितशक्त्यस्तित्वापेक्षया वा तत्त्वज्ञानन्न विरोधः ।

सयममार्गणाप्रतिपादनार्थमाह—

**संजमणुवादेण अत्थि संजदा सामाइय-छेदोवट्टावण-सुद्धि-संजदा परिहार-सुद्धि-संजदा सुहुम-सांपराइय-सुद्धि-संजदा जहावखाद-विहार-सुद्धि-संजदा संजदासंजदा असंजदा चेदि ॥ १२३ ॥**

शंका—फिर अरिहंत परमेष्ठिको सयोगी कैसे माना जाय ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, प्रथम ( सत्य ) और चतुर्थ ( अद्युभय ) भाषाकी उत्पत्तिके निमित्तभूत आत्मप्रदेशोंका परिस्पन्द वहां पर पाया जाता है, इसलिये इस अपेक्षाले अरिहंत परमेष्ठिके सयोगी होनेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

शंका—अरिहंत परमेष्ठियोंमें मनका अभाव होने पर मनके कार्यरूप वचनका सद्भाव भी नहीं पाया जा सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, वचन ज्ञानके कार्य हैं, मनके नहीं ।

शंका—अक्रम ज्ञानसे क्रमिक वचनोंकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, घटविषयक अक्रम ज्ञानसे युक्त कुम्भकारद्वारा क्रमसे घटकी उत्पत्ति देखी जाती है । इसलिये अक्रमवर्ती ज्ञानसे क्रमिक वचनोंकी उत्पत्ति मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

शंका—सयोगिकेवलीके मनोयोगका अभाव मानने पर 'संजमणजोगो असत्त्वमोस-मणजोगो सण्णिसिच्छादट्टिपणुडि जाव सजोतिंभवलि ति' इस पूर्वोक्त सूत्रके साथ विरोध आ जायगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, मनके कार्यरूप प्रथम और चतुर्थ भाषाके सद्भावकी अपेक्षा उपचारसे मनके सद्भाव मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है । अथवा, जीवप्रदेशोंके परि-स्पन्दके कारणरूप मनोवर्गणारूप नोऽक्रमसे उत्पन्न हुई शक्तिके अस्तित्वकी अपेक्षा सयोगि-केवलीमें मनका सद्भाव पाया जाता है ऐसा मान लेनेमें भी कोई विरोध नहीं आता है ।

अब संयममार्गणके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

संयममार्गणके अनुवादसे सामायिकशुद्धिसयत, छेदोपस्थापनाशुद्धिसयत, परिहार-

अवाच्यभेदोपेक्षया पर्यायस्य पर्यायिव्यपदेशः । मम् सम्यक् सम्यग्दर्शनज्ञानानु-  
नांशं यतः महिद्वान्तरज्ञानोभ्यो विरताः संयताः । सर्वसाधयोगात् विरतोऽस्मीति  
मरुत्सागरयोगविरतिः सामाधिक्यशुद्धिसंयमो' द्रव्यार्थिकत्वात् । एवंविधैकत्रतो भिव्या-  
दृष्टिः क्लिप्त्यादिति चेन्न, आशित्वाद्येपविशेषसामान्यार्थिनो नयस्य सम्यग्दृष्टित्वाविरोधात् ।  
आशित्वाद्येपरूपिदं सामान्यमिति कुतोऽनभियत इति चेत्सर्वसाधयोगोपादानात् ।  
नोक्तस्मिन् सर्वशब्दः शर्तौ विरोधात् । स्थान्तर्भावितोयेपसंयमविशेषैक्यमः

शुद्धिययत्, मृत्प्रमापराय शुद्धिस्वयत्, यथाच्यत् चिद्वार-शुद्धिः स्वयत् ये पांन प्रकारके स्वयत्  
नया मयनास्वयत् और अस्वयत् जीव होतै है ॥ १२३ ॥

यहां पर भी अपेक्षकी अपेक्षासे पर्यायका पर्यायीरूपसे कथन किया है । 'सम्' उपसर्ग  
सम्यक् अर्थात् तार्किक है, इसलिये सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानपूर्वक 'यत्' अर्थात् जो नदिरंग  
और यन्नरंग आप्तोभे विरत है उक्तें स्वयत् कहते हैं ।

'मं' नपी प्रकारके साधनयोगभे विरत है ' इत्यप्रकार द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा सकल  
साधनयोगके त्यागको सामाधिक्यशुद्धिस्वयम कहते हैं ।

अंता—इसप्रकार एक व्रतका नियमवाला जीव मित्यादृष्टि क्यों नहीं हो जायगा ?

समाधान—गर्ह, क्योंकि जितमें संपूर्ण चारित्रिके भेदोंका समग्र होता है । ऐसे  
व्यक्तियों द्वारा ही नयको समन्वित दृष्टि माननेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

यहां पर यह सामान्य मयम अपने संपूर्ण भेदोंका समग्र करनेवाला है, यह कैसे  
करेगा ? 'सर्वसाधयोग' परके प्रवृत्त करनेसे ही, यहां पर अपने संपूर्ण भेदोंका  
समग्र करनेसे ही शर्त ही जाती है । यदि यहां पर सम्यक् किसी एक भेदकी  
अपेक्षा ही पर्यायको प्राप्त किया जा सकता था, क्योंकि, ऐसे स्थल  
पर ही पर्यायको प्राप्त किया जाता है ।

अथ—इसप्रकार एक व्रतका नियमवाला जीव मित्यादृष्टि क्यों नहीं हो जायगा ?  
समाधान—गर्ह, क्योंकि जितमें संपूर्ण चारित्रिके भेदोंका समग्र होता है । ऐसे  
व्यक्तियों द्वारा ही नयको समन्वित दृष्टि माननेमें कोई विरोध नहीं आता है ।  
यहां पर यह सामान्य मयम अपने संपूर्ण भेदोंका समग्र करनेवाला है, यह कैसे  
करेगा ? 'सर्वसाधयोग' परके प्रवृत्त करनेसे ही, यहां पर अपने संपूर्ण भेदोंका  
समग्र करनेसे ही शर्त ही जाती है । यदि यहां पर सम्यक् किसी एक भेदकी  
अपेक्षा ही पर्यायको प्राप्त किया जा सकता था, क्योंकि, ऐसे स्थल  
पर ही पर्यायको प्राप्त किया जाता है ।

सामाधिक्यशुद्धिसंयम इति यावत् । तस्यैकस्य व्रतस्य छेदेन द्वित्र्यादिभेदेनोपस्थापनं  
व्रतसमारोपणं छेदोपस्थापनशुद्धिसंयमः । सकलव्रतानामेकत्वात्पाद्य एक्यमोपादानाद्  
द्रव्यार्थिकनयः सामाधिक्यशुद्धिसंयमः । तदेवैकं व्रतं पञ्चधा बहुधा वा  
विषाद्य धारणात् पर्यायार्थिकनयः छेदोपस्थापनशुद्धिसंयमः । निशितशुद्धिजनानुग्रहार्थं  
द्रव्यार्थिकनयादेशना, मन्दधियामनुग्रहार्थं पर्यायार्थिकनयादेशना । ततो नानयोः संय-  
मयोरनुष्ठानकृतो विशेषोऽस्तीति द्वितयदेशेनानुगृहीत एक एव संयम इति चेन्नप दोषः,  
इष्टत्वात् । अनेनैवाभिप्रायेण द्वये पृथक् न शुद्धिसंयतग्रहणं कृतम् ।

परिहारग्रधानः शुद्धिसंयतः परिहारशुद्धिसंयतः । त्रिशुद्धिर्पाणि यथेच्छया भोगसमु-  
भूय सामान्यरूपेण विशेषरूपेण वा संयममादाय द्रव्यश्रेयज्ञालभावागतपरिमितापरिमित-  
प्रत्याख्यानप्रतिपादकप्रत्याख्यानपूर्वमहार्णवं तस्यगधियम्य व्यपगतसकलसंशयस्तपो-

इस कथनसे यह निश्च उभा कि जिसने संपूर्ण संयमके भेदोंको अपने अन्तर्गत कर  
लिया है ऐसे अभेदरूपसे एक यमको धारण करनेवाला जीव सामाधिक्यशुद्धि संयत कहलाता है ।

उस एक व्रतका छेद अर्थात् दो, तीन आदिके भेदसे उपस्थापन करनेको अर्थात् नतीके  
आरोपण करनेको छेदोपस्थापना-शुद्धि-संयम कहते हैं । संपूर्ण व्रतोंको सामान्यकी अपेक्षा एक  
मानकर एक यमको ग्रहण करनेवाला होनेसे सामाधिक्यशुद्धि संयम द्रव्यार्थिकनयरूप है । और  
उसी एक व्रतको पात्र अथवा अनेक प्रकारके भेद करके धारण करनेवाला होनेसे छेदोप-  
स्थापना-शुद्धि-संयम पर्यायार्थिकनयरूप है । यहाँ पर तीक्ष्णवृद्धि मनुष्योंके अनुग्रहके लिये  
द्रव्यार्थिक नयका उपदेश दिया गया है और मन्दवृद्धि प्राणियोंका अनुग्रह करनेके लिये  
पर्यायार्थिक नयका उपदेश दिया गया है । इसलिये इन दोनों समयमें अनुष्ठानजन होई  
विशेषता नहीं है ।

गंता—तत तो उपदेशकी अपेक्षा संयमको भले ही दो प्रकारका कर लिया जाये,  
पर वास्तवमें तो वह एक ही है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, यह कथन हमें इष्ट ही है । और इसी अभि-  
प्रायसे स्वयं स्वतन्त्ररूपसे (सामाधिक्य पदके साथ) 'शुद्धिसंयत' पदका ग्रहण नहीं किया है ।  
जिसके (द्विसाका) परिहार ही प्रधान है उसे शुद्धिप्राप्त संयतोंको परिहार-शुद्धि संयत  
कहते हैं । तीस न्यतक अपनी कृच्छानुसार भोगोंको भोगकर सामान्यरूपसे अर्थात् सामाधिक्य  
संयमको और विशेषरूपसे अर्थात् छेदोपस्थापना संयमको धारण कर द्रव्य, धेन, काल  
और भावके अनुसार परिमित या अपरिमित प्रत्याख्यानके प्रतिपादन करनेवाले प्रत्याख्यान-  
पूर्वरूपी महार्णवमें अच्छीतरह प्रवेश करके जिसका संपूर्ण संशय दूर हो गया है और जिसने

१ छेदेन पूर्वपर्यायनिरोधेन उपस्थापनमारोपण महान्तानां यत्र तच्छेदोपस्थापनम् । xx उत्तुण तु परियाण  
पोरणं वो वृत्तिषि अप्पाण । धम्ममि पचजामे ऐओवट्ठवणे म उलु । प. मा. [ ऐओवट्ठवण. अमि. रा को ]

चेदभविष्यद्यदि संयम एक एव तदुत्पत्तेः कारणतामगमिष्यत् । अभ्यन्त्येऽपि तु तद्वैतवः सन्ति तद्वैकल्यात्न सर्वसंयतानां तदुत्पद्यते । केऽन्ये तद्वैतव इति चेद्विशिष्टद्रव्य-क्षेत्रकालादयः ।

केवलज्ञानाधिपतिगुणभूमिश्रुतिपादनार्थमाह—

**केवलगुणो तिसु द्वाणेषु सजोगिकेवली अजोगिकेवली सिद्धा  
चेदि ॥ १२२ ॥**

अथ स्यात्त्रार्हतः केवलज्ञानमस्ति तत्र नोद्भिन्द्रयावरणक्षयोपशमजनितमनसः सत्त्वात्, न, प्रक्षीणसमस्तावरणे भगवत्यर्हति ज्ञानावरणक्षयोपशमाभावात्तत्कार्यस्य मनसोऽसत्त्वात् । न वीर्यान्तरायक्षयोपशमजनितशक्त्यस्तित्वद्वारेण तत्सत्त्वं प्रक्षीण-

शंका—यदि सयममात्र मनःपर्ययज्ञानकी उत्पत्तिका कारण है तो समस्त सयमियोंके मनःपर्ययज्ञान क्यों नहीं होता है ?

समाधान—यदि केवल सयम ही मन पर्ययज्ञानकी उत्पत्तिका कारण होता तो ऐसा भी होता । किंतु अन्य भी मनःपर्ययज्ञानकी उत्पत्तिके कारण हैं, इसलिये उन दूसरे हेतुओंके न रहनेसे समस्त सयतोंके मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न नहीं होता है ।

शंका—वे दूसरे कौनसे कारण है ?

समाधान—विशेष जातिके ड्रव्य, क्षेत्र और कालादि अन्य कारण हैं । जिनके बिना सभी सयमियोंके मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न नहीं होता है ।

अब केवलज्ञानके स्वामीके गुणस्थान बतलानेके लिये सूत्र कहते हैं—

केवलज्ञानी जीव सयोगिकेवली, अजोगिकेवली और सिद्ध इत तीन स्थानोंमें होते हैं ॥ १२२ ॥

शंका—अरिहंत परमेष्ठिके केवलज्ञान नहीं है, क्योंकि, ब्रह्मा पर नोद्भिन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुए मनका सद्भाव पाया जाता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जिनके सपूर्ण आवरणकर्म नाशको प्राप्त हो गये हैं ऐसे अरिहंत परमेष्ठियोंमें ज्ञानावरणकर्मका क्षयोपशम नहीं पाया जाता है, इसलिये क्षयोपशमके कार्यरूप मन भी उनके नहीं पाया जाता है । उसी प्रकार वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुई शक्तिकी अपेक्षा भी ब्रह्मा पर मनका सद्भाव नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि, जिनके वीर्यान्तराय कर्मका क्षय पाया जाता है ऐसे जीवोंके वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुई शक्तिके सद्भाव माननेमें विरोध आता है ।

वीर्यान्तरायस्य वीर्यान्तरायजनितशक्त्यस्तित्वविरोधात् । कथं पुनः सयोग इति चेन्न, प्रथमचतुर्थभाषोत्त्वचिनिमित्तात्मप्रदेशपरिस्पन्दस्य सत्यापेक्षया तस्य सयोगत्वाविरोधात् । तत्र मनसोऽभावे तत्कार्यस्य वचमोऽपि न सत्यामिति चेन्न, तस्य ज्ञानकार्यत्वात् । अक्रमज्ञानात्कथं क्रमवतां वचनानामुत्पत्तिरिति चेन्न, षटविषयाक्रम-ज्ञानसमवेतकुरुभकारादृष्टस्य क्रमेणोत्पत्त्युपलम्भात् । मनोयोगाभावे ह्यत्रेण सह विरोधः स्यादिति चेन्न, मनःकार्यप्रथमचतुर्थवचसोः सत्यापेक्षयोपचारेण तत्सत्त्वोपदेशात् । जीवप्रदेशपरिस्पन्दहेतुनोऽकर्मजनितशक्त्यस्तित्वापेक्षया वा तत्सत्त्वान्न विरोधः ।

सयमसर्गाणाप्रतिपादनार्थमाह—

**संजमाणुवादेण अस्थि संजदा सामाहय-छेदोवद्भावण-सुद्धि-  
संजदा परिहार-सुद्धि-संजदा सुहुम-सांपराहय-सुद्धि-संजदा जहामखाद-  
विहार-सुद्धि-संजदा संजदासंजदा असंजदा चेदि ॥ १२३ ॥**

शंका—किर अरिहंत परमेष्ठिको सयोगी कैसे माना जाय ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, प्रथम ( सत्य ) और चतुर्थ ( अतुभय ) भाषाकी उत्पत्तिके निमित्तभूत आत्मप्रदेशोंका परिस्पन्द ब्रह्मा पर पाया जाता है, इसलिये इस अपेक्षासे अरिहंत परमेष्ठिके सयोगी होनेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

शंका—अरिहंत परमेष्ठिमें मनका अभाव होने पर मनके कार्यरूप वचनका सद्भाव भी नहीं पाया जा सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, वचन ज्ञानके कार्य हैं, मनके नहीं ।

शंका—अक्रम ज्ञानसे क्रमिक वचनोंकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, षटविषयक अक्रम ज्ञानसे युक्त कुभकारद्वारा क्रमसे षटकी उत्पत्ति देखी जाती है । इसलिये अक्रमवर्ती ज्ञानसे क्रमिक वचनोंकी उत्पत्ति मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

शंका—सयोगिकेवलीके मनोयोगका अभाव मानने पर ' सच्चमणजोगो असच्चमोस-मणजोगो सण्णिमिच्छादट्टिपपुडि जाव सजोभिक्वलि ति ' इस पूर्वोक्त सूत्रके साथ विरोध आ जायगा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, मनके कार्यरूप प्रथम और चतुर्थ भाषाके सद्भावकी अपेक्षा उपचारसे मनके सद्भाव मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है । अथवा, जीवप्रदेशोंके परि-स्पन्दके कारणरूप मनोवर्गाणरूप नोऽकर्मसे उत्पन्न हुई शक्तिके अस्तित्वकी अपेक्षा सयोगि-केवलीमें मनका सद्भाव पाया जाता है ऐसा मान लेनेमें भी कोई विरोध नहीं आता है ।

अब संयमसर्गाणके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

संयमसर्गाणके अनुवादसे सामायिकशुद्धिसंयत, छेदोपस्थापनाशुद्धिसंयत, परिहार-





विशेषात्समुत्पन्नपरिहारद्विस्तीर्थकरपादमूले परिहारशुद्धिसंयममादत्ते' । एवमादाय स्थान-गमनचङ्कमणाशनपानासनादियु व्यापारेणशेषप्रणिपरिहरणदक्षः परिहारशुद्धिसंयतो नाम । साम्प्रदायः कषायः, सूक्ष्मः साम्प्रदायो येषां ते सूक्ष्मसांप्रदायः । शुद्धाश्च ते संयताश्च शुद्धसंयताः । सूक्ष्मसाम्प्रदायाश्च ते शुद्धिसंयताश्च सूक्ष्मसाम्प्रदायशुद्धिसंयताः । त एव द्विधोपात्तसंयमा यदा सूक्ष्मीकृतकषायाः भवन्ति तदा ते सूक्ष्मसाम्प्रदायशुद्धि-संयता इत्युच्यन्त इति यावत् ।

यथाख्यातो यथाप्रतिपादितः विहारः कषायाभावरूपमनुष्ठानम् । यथाख्यातो विहारो येषां ते यथाख्यातविहाराः । यथाख्यातविहाराश्च ते शुद्धिसंयताश्च यथाख्यात-विहारशुद्धिसंयताः । सुगममन्यत् ।

संयमानुवादेनासंयतानां संयतासंयतानां च न ग्रहणं प्राप्नुयादिति चेन्न, आम्रतरु-तणवियेषसे परिहार ऋदिको प्राप्त कर लिया है ऐसा जीव तीर्थकरके पादमूलमे परिहार-शुद्धि सयमको ग्रहण करता है । इसप्रकार सयमको धारण करके जो खड़े होना, गमन करना यथा बद्धा विहार करना, भोजन करना, पान करना और बैठना आदि सपूर्ण व्यापारोंमें प्राणि-योंकी हिसाके परिहारमें दक्ष हो जाता है उसे परिहार-शुद्धि-सयत कहते हैं ।

सांप्रदाय कषायको कहते हैं । जिनकी कषाय सूक्ष्म हो गई है उन्हें सूक्ष्मसांप्रदाय कहते हैं । जो सयत विशुद्धिको प्राप्त हो गये हैं उन्हें शुद्धिसयत कहते हैं । जो सूक्ष्मकषाय-वाले होते हुए शुद्धिप्राप्त सयत हैं उन्हें सूक्ष्मसांप्रदाय-शुद्धि-सयत कहते हैं । इसका तात्पर्य यह है कि सामायिक या छेदोपस्थापना सयमको धारण करनेवाले साधु जब अत्यन्त सूक्ष्म-कषायवाले हो जाते हैं तब वे सूक्ष्मसांप्रदायशुद्धिसंयत कहे जाते हैं ।

परमागममें विहार अर्थात् कषायोंके अभावरूप अनुष्ठानका जैसा प्रतिपादन किया गया है तदनुकूल विहार जिनके पाया जाता है उन्हें यथाख्यातविहार कहते हैं । जो यथा-ख्यातविहारवाले होते हुए शुद्धिप्राप्त संयत हैं वे यथाख्यातविहार-शुद्धि संयत कहलाते हैं । रोप कथन सुगम है ।

शंका — सयम मार्गणके अनुवादसे सयतोंमे सयतासयत और असयतोंका ग्रहण नहीं हो सकता है ?

१ तौस वासो जन्मे वासपुत्रस्य तु तित्थयसूले । पञ्चखण्ड पठितो सनूणदुगाण्यविहारो ॥ गो जी ४७३  
२ परिहारार्थमेत पञ्जीवनिकायसकुले विहार । पयसेव पत्रपन न लियते पापनिवहेन ॥ गो जा ४७३ जी ३ दी उदयत्तम् ।

३ अहसदो जाह्स्ते आडोडभिरीए कहियमस्वाय । चरणमकषायमुदित तमहस्वाय अहस्वाय ॥ त दुविगण उअमयकेलिविहाणजो पुणेकेक । सयसमजसयोपाजोपिकेनलिनिराणजो दुमिह । वि मा १२७९

प्रधानयनान्तस्थनिम्बानामपि आम्रवनव्यपदेशदर्शनतोऽनेकान्तात् । उक्तं च —  
सगहिय सयल-सजममेय-जममणुत्तर दुरवगमं ।

जीवो समुब्वहतेो सामाहय संजदो होई' ॥ १८७ ॥

छेत्तूण य परियाय पोराण जो ठेवई अप्पाणं ।

पचजमे धममे सो छेदोबद्धावओ जीवो' ॥ १८८ ॥

पच समिदो ति-गुत्तो परिहारइ सदा वि जो हु सावज्जं ।

पंच-जोघ-जमो वा परिहारो सजदो सो हु' ॥ १८९ ॥

समाधान — नही, क्योंकि, जिस वनमें आम्रवृक्षोंकी प्रधानता है उसमें रहनेवाले नीमके वृक्षोंकी भी 'आम्रवन' ऐसी सजा देखनेमें आती है । अतएव अनेकान्तका आश्रय करनेसे संयतासयत और असंयतोंका भी सयम मार्गणमे ग्रहण किया है । कदा भी है—

जिसमें सयस्त संयमोंका सग्रह कर लिया गया है ऐसे लोकोंतर और दुरधिगम्य अभेदरूप परू यमको धारण करनेवाला जीव सामायिकसयत होता है ॥ १८७ ॥

जो पुरानी सावद्यव्यापाररूप पर्यायको छेदकर पांच यमरूप धर्ममें अपनेको स्थापित करता है वह जीव छेदोपस्थापक सयमी कहलाता है ॥ १८८ ॥

जो पाच समिति और तीन मुत्तियोंसे युक्त होता हुआ सदा ही सावद्ययोगका परिहार करता है तथा पांच यमरूप छेदोपस्थापना सयमको और एक यमरूप सामायिकसंयमको धारण करता है वह परिहार-शुद्धि-सयत कहलाता है ॥ १८९ ॥

१ गो जी ४७०

२ गो जी ४७१ छेदन प्रायश्चित्ताचरणेन उपस्थापन यस्य स छेदोपस्थापन इति निरुते । अथवा प्रायश्चितेन स्वकृतदोषपरिहाराय पूर्वकृततपस्तपोबाहुसारेण जिवा आत्मान तानिस्वयसयमे स्थापयति स छेदोपस्थापक-सयत , रतपश्छेदे सति उपस्थापन यस्य स छेदोपस्थापन इत्यायकरणव्युत्पत्ते । जी ३ दी

३ गो जी ४७२ परिहारकप्य पक्खामि परिहरति जहा निज । आदिमस्ववसाणेण आयुपुञ्चि जह क्कम ॥ ३६९ ॥ सचावास जहणेण उवासिण सहरससो ॥ निगाथयरा मगावतो स्ववगोण वियाहिया ॥ ३७२ ॥ सयगलो य उक्कोसा जहणेण तजो गणा । गणो य पवओ वुत्तो एमता पडिगत्तिओ ॥ ३७३ ॥ एग कप्पाट्टिय कुञ्जा चत्तारि परिहारिए । अणुपरिहारिणा नेव चउरो तेसि तु ठावए ॥ ३७४ ॥ ण य तेयि जायती निक्ख जा माना दस अट्ट य । ण वेयणा ण वात्तमा णव अण्णे उवद्धवा ॥ ३७५ ॥ अट्टारसस पुण्णेण होञ्ज एते उमहवा । कणिणु कणिणु यावि गणमेरा इमा मने ॥ ३७६ ॥ पडिबनजिणिंदस्स पादमूलस्मि जे विज । ठामयतिआ ते अण्णे ण उ ठावित-ठावणा ॥ ३८३ ॥ सज्जे चरित्तमता य दसणे परिनिहिया । णवपुञ्जिया जहणेण उक्कोस दमपुञ्जिया ॥ ३८४ ॥ पचविहे वयहो कप्पे ते दुविहस्मि य । दसमिहे य पच्छित्ते सज्जे वि परिनिहिया ॥ ३८५ ॥ पडिपुच्छ वाय ण मोत्तण गत्थि सकदा । आलावो अचण्हियो परिहारस्स काणे ॥ ३९६ ॥ वास दसट्ट दस अट्ट उच्चट्ट छ चउरो य उक्कोसि । मच्चिम जहद्धणा ऊ वासासिारिणिहे उ ॥ ३९४ ॥ आयविलगारसग पत्तेय परिहारा परिहरति । अभिमाहितइसणाए

अणुभेदो भवेत्तो जीवो उवसामो व लवधो वा ।  
 मो सुकुम-भापराशो नराखोद्रेणशो किं वि' ॥ १९० ॥  
 उभते एषिं न अर्धे कर्मधि मोटणीयगि ।  
 उदुमयो व जिणो न लवरादो सजो सो दु' ॥ १९१ ॥  
 पचन्ति-वर्जि-वहेटि अणु-गुण-सिसमा-वधि संजुजा ।  
 कृपि देस-रिसा समादृशो जारिय-कर्मा' ॥ १९२ ॥  
 दगण-नय-सामाडय-गोसह-सत्रित-वडभते य ।  
 बभारभ-परिगद-अणुमण-उद्वि देस-रिलेदे' ॥ १९३ ॥  
 जीना चोदस-मेमा इदिय-विसया तरद्वीस तु ।  
 न तेसु णा मिदा असयदा ते गुणयव्या ॥ १९४ ॥

जारे उपजगत्रेणीता आरोहण करनेवाला जो अथवा अथकत्रेणीका आरोहण करने-  
 वाला हो, परन्तु जो जीव सूक्ष्म लोभका अनुभव करना दे उसे सूक्ष्मसापराय-शुद्धि सयत  
 करे । पर सयत चयनसयत संयमगे कुछ कम समयतो धारण करनेवाला होता है ॥ १९० ॥  
 अनुभ मोदनीय गर्भे उपसन्त अथवा क्षय जो जाते पर न्यारद्वे, वारद्वे गुणस्थान-  
 र्नी यस्य जोर तेरुने चोदरुने गुणस्थानवर्ती जिन ययात्यात शुद्धि सयत होते हैं ॥ १९१ ॥  
 जो पाप अनुभव, तीन गुणवत्ता और चार गिज्ञानतोसे सयुक्त होते हुए असंख्यात-  
 गुणी जनिर्जित करने दे केने सम्यग्प्रति जीव देशविरत रहे जाते है ॥ १९२ ॥  
 र्सीनिक, नरि, सामारिती, शोपयोपवासी, सच्चिचविरत, रानिभुक्तविरत, ब्रह्मचारी,  
 गान्भीरय, परिमद्विरत, अनुमतिरित और उद्विष्टविरत ये देशविरतके ग्यारह भेद हैं ॥ १९३ ॥  
 जीवनमाम चौर प्रनारके होते हैं और इन्द्रिय तथा मनके विय अद्वारस प्रनारके  
 होते हैं । जो जीव इनसे विरत नहीं दे उन्हें अत्यंत जानना चाहिये ॥ १९४ ॥

१ १९० ॥ १९१ ॥ १९२ ॥ १९३ ॥ १९४ ॥  
 १ १९० ॥ १९१ ॥ १९२ ॥ १९३ ॥ १९४ ॥  
 १ १९० ॥ १९१ ॥ १९२ ॥ १९३ ॥ १९४ ॥  
 १ १९० ॥ १९१ ॥ १९२ ॥ १९३ ॥ १९४ ॥

१ गो जी ४०४

२ गो जी. ४०५

३ गो जी. ४०६

४ गो जी. ४०७

५ गो जी. ४०८

संयतानां गुणस्थानानां संख्यानिरूपणार्थमाह —

**संजदा पमत्संजद-प्पहुडि जाव अजोगिकेवलि ति ॥ १२४ ॥**

अथ स्याद् बुद्धिपूर्विका सावद्यविरतिः संयमः, अन्यथा काष्ठादिष्वपि संयम-  
 प्रसङ्गात् । न च केवलीषु तथाभूता निवृत्तिरस्ति ततस्तत्र संयमो दुर्घट इति नैप  
 दोषः, अघातिचतुष्टयविनाशापेक्षया समयं प्रत्यसंख्यातगुणश्रेणिकर्मनिर्जरापेक्षया च सकल-  
 पापक्रियानिरोधलक्षणपारिणासिकगुणानिर्भावापेक्षया न, तत्र संयमोपचारात् ।  
 अथवा प्रवृत्त्यभावापेक्षया मुख्यसंयमोऽस्ति । न काष्ठेन व्यभिचारस्तत्र प्रवृत्त्यभाव-  
 तस्तन्निवृत्त्यनुपपत्तेः । सुगमसमन्यत् ।

द्रव्यपर्यायार्थिकनयद्वयनिबन्धनसंयमगुणप्रतिपादनार्थमाह —

**सामाह्य-च्छेदोवद्वावण-सुद्धि-संजदा पमत्संजद-प्पहुडि जाव  
 अणियट्टि ति ॥ १२५ ॥**

अथ सत्यतैमै गुणस्थानोंकी सख्याके निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं—  
 सयत जीव प्रमत्सल्यतले लेकर अमोगिकेवली गुणस्थानतक होते हैं ॥ १२४ ॥

अंता—बुद्धिपूर्वक सावद्ययोगके त्यागको समय कहना तो ठीक है । यदि ऐसा न  
 माना जाय तो काष्ठ आदिमें भी समयका प्रसंग आजायगा । किंतु केवलीमें बुद्धिपूर्वक सावद्य-  
 यागकी निवृत्ति तो पार नहीं जाती है इसलिये उनमें समयका होना दुर्घट ही है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, चार अयातिया कमके विनाशा करेयत्री  
 अपेक्षा और समय समयमें अतस्यातगुणी श्रेणीरूपसे कर्मनिर्जरा करनेकी अपेक्षा सपूर्ण  
 पाप-क्रियोंके निरोधस्वरूप पारिणासिक गुण प्रगट हो जाता है, इसलिये उस अपेक्षासे  
 वहां समयका उपचार किया जाता है । अतः वहां पर समयका होना दुर्घट नहीं है । अथवा  
 प्रवृत्तिके अभावकी अपेक्षा वहां पर मुख्य समय है । इसप्रकार जिनेंद्रमें प्रवृत्त्यभावसे मुख्य सय-  
 मकी सिद्धि करने पर काष्ठसे व्यभिचार दोष भी नहीं आता है, क्योंकि, काष्ठमें प्रवृत्ति नहीं पाई  
 जाती है, तब उसकी निवृत्ति भी नहीं बन सकती है । शेष कथन सुगम है ।

अथ द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दोनों नयोंके निमित्तसे माने गये संयमके  
 गुणस्थान प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं ।

सामायिक और छेदोपस्थापनारूप शुद्धिको प्राप्त सयत जीव प्रमत्संयतसे लेकर  
 अनिवृत्तिकरण गुणस्थानतक होते हैं ॥ १२५ ॥

१ सयमावृत्तिन सयता प्रमत्तादयोऽयोगकमन्यता । स मि १ ८.

२ सामायिक-छेदोपस्थापनाशुद्धिसयता प्रमत्तादयोऽनिवृत्तिस्थानता । स मि. १. ८.

सुगमत्वाद्वा न किञ्चिद्वक्तव्यमस्ति ।

द्वितीयसंयमस्याध्याननिरूपणार्थमाह—

**परिहार-सुद्धि-संजदा दोसु द्वाणेसु पमत्तसंजद-द्वारे अपमत्त-संजद-द्वारे ॥ १२६ ॥**

उपरिष्टात्क्रियत्ययं संयमो न भवेदिति चेन्न, ध्यानासुत्तसारान्तर्निष्ठात्मना वाच्यमानासुपसंहृतगमनागमनादिकायव्यापाराणां परिहारानुपपत्तेः । प्रवृत्तः परिहारि नामाप्रवृत्तस्ततो नोपरिष्टारसंयमोऽस्ति । परिहारशुद्धिसंयतः किञ्च एकयम उत पंचयम इति ? किंचातो यद्येकयमः सामायिकेऽन्तर्भवति । अथ यदि पंचयमः छेदोपस्थापनेऽन्तर्भवति ? न च संयममाद्धानस्य पुरुषस्य द्रव्यपर्यायाधिकाभ्यां व्यतिरिक्तस्यास्ति सम्भास्ततो न परिहारसंयमोऽस्तीति न, परिहारद्वयतिशयोत्पत्त्यपेक्षया ताभ्यामस्य कथञ्चिद्वेदात् । तद्व्यापारित्यगौनैव परिहारद्विपर्यायेण परिणतत्वान्न ताभ्यामन्योऽय-

इस सूत्रका अर्थ सुगम होनेसे यहां कुछ विशेष कहने योग्य नहीं है ।

अथ दूसरे संयमके गुणस्थानोंके निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

परिहार-शुद्धि संयत प्रमत्त और अप्रमत्त इन दो गुणस्थानोंमें होते हैं ॥ १२६ ॥

शंका—ऊपरके आठवें आदि गुणस्थानोंमें यह संयम क्यों नहीं होता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, जिनकी आत्माएं ध्यानरूपी अमृतके सागरमें निमग्न हैं, जो वचन-यम (मौन) का पालन करते हैं और जिन्होंने आने जनैरूप संपूर्ण शरीरसंबन्धी व्यापार सङ्घचित कर लिया है ऐसे जीवोंके शुभाशुभ क्रियाओंका परिहार बन ही नहीं सकता है । क्योंकि, गमनागमन आदि क्रियाओंमें प्रवृत्ति करनेवाला ही परिहार कर सकता है, प्रवृत्ति नहीं करनेवाला नहीं । इसलिये ऊपरके आठवें आदि ध्यान अवस्थाको प्राप्त गुणस्थानोंमें परिहार-शुद्धि-संयम नहीं बन सकता है ।

शंका—परिहार-शुद्धि-संयम क्या एक यमरूप है या पांच यमरूप ? इनमेंसे यदि एक यमरूप है तो उसका सामायिकमें अन्तर्भाव होना चाहिये और यदि पांच यमरूप है तो छेदोपस्थापनामें अन्तर्भाव हो जाना चाहिये । संयमको धारण करनेवाले पुरुषके द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा इन दोनों संयमोंसे भिन्न तीसरे संयमकी संभावना तो है नहीं, इसलिये परिहार-शुद्धि-संयम नहीं बन सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, परिहार ऋद्धिरूप अतिशयकी उत्पात्तिकी अपेक्षा सामायिक और छेदोपस्थापनासे परिहार शुद्धि संयमका कथञ्चिद् भेद है ।

शंका—सामायिक और छेदोपस्थापनारूप अवस्थाका त्याग न करते हुए ही परिहार ऋद्धिरूप पर्यायमे यह जीव परिणत होता है, इसलिये सामायिक और छेदोपस्थापनासे भिन्न

संयम इति चेन्न, प्रागविद्यमानपरिहारद्वयपेक्षया ताभ्यामस्य भेदात् । ततः स्थितमेत-ताभ्यामन्यः परिहारसंयम इति । परिहारद्वैरुपरिष्टादपि सत्त्वात्तत्रास्यास्तु सत्त्वामिति चेन्न, तत्कार्यस्य परिहरणलक्षणस्यासत्त्वतस्तत्र तदभावात् ।

तृतीयसंयमस्याध्यानप्रतिपादनार्थमाह—

**सुद्धम-सांपराइय-सुद्धि-संजद-द्वारे ॥ १२७ ॥**

सूक्ष्मसाम्परायः किञ्च एकयम उत पञ्चयम इति ? किंचातो यद्येकयमः पञ्चयमान् मुक्तिरुपशमश्रेण्यारोहणं वा सूक्ष्मसाम्परायगुणप्राप्तिमन्तरेण तदुभयाभावात् । अथ पञ्चयमः एकयमानां पूर्वोक्तदोषो समाहोक्ते । अथोभययमः एकयमपञ्चयमभेदेन सूक्ष्मसाम्परा-यह संयम नहीं हो सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, पहले अविद्यमान परतु पीछेसे उत्पन्न हुई परिहार ऋद्धिकी अपेक्षा उन दोनों संयमोंसे इसका भेद है, अतः यह बात निश्चित हो जाती है कि सामायिक और छेदोपस्थापनासे परिहार-शुद्धि संयम भिन्न ही है ।

शंका—परिहार ऋद्धिकी आगेके आठवें आदि गुणस्थानोंमें भी सत्ता गई जाती है, अतएव वहां पर इस संयमका सद्भाव मान लेना चाहिये ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, यद्यपि आठवें आदि गुणस्थानोंमें परिहार ऋद्धि गई जाती है परतु वहां पर परिहार करनेरूप उसका कार्य नहीं पाया जाता है, इसलिये आठवें आदि गुणस्थानोंमें परिहार-शुद्धि-संयमका अभाव कहा गया है ।

अब तीसरे संयमके गुणस्थानका निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

सूक्ष्मसांपराय-शुद्धि-संयत जीव एक सूक्ष्मसांपराय शुद्धि-संयत गुणस्थानमें ही होते हैं ॥ १२७ ॥

शंका—सूक्ष्मसांपरायसंयम क्या एक यमरूप है अथवा पांच यमरूप ? इनमेंसे यदि एक यमरूप है तो पंचयमरूप छेदोपस्थापनासंयमसे मुक्ति अथवा उपशमश्रेणीका आरोहण नहीं बन सकता है, क्योंकि, सूक्ष्मसांपरायगुणस्थानकी प्राप्तिके बिना मुक्तिकी प्राप्ति और उपशमश्रेणीका आरोहण नहीं बन सकता ? यदि सूक्ष्मसांपराय पांच यमरूप है तो एक यमरूप सामायिक संयमको धारण करनेवाले जीवोंके पूर्वोक्त दोनों दोष प्राप्त होते हैं ? यदि छेदोपस्थापनाको उभय यमरूप मानते हैं तो एक यम और पंचयमके भेदसे सूक्ष्मसांपरायके दो भेद हो जाते हैं ?

याणां त्रिविध्यापत्तेरिति । नायां विरुधानाम्युपगमान् । न कृतीयविकल्पोक्तदोषः  
गम्भानि पञ्चक्यमभेदन संयमभेदाभावात् । यथेक्यमपञ्चयमी संयमस न्यूनाधिक-  
भावात् निन्यनानामित्यतां संयमभेदोऽप्यभिव्यन् । न चैवं संयमं प्रति द्वयोर-  
भिप्रायः । ततो न गद्यमाम्परायसंयमस तद्द्वारेण द्वैविध्यमिति । तद्द्वारेण संयमस  
त्रिविधाभवे पञ्चविधसंयमोपदेशः कथं यत्न इति चेत्सा घट्टि । तर्हि कतिविधः  
संयमः ? चतुर्विधः पञ्चमस्य संयमसानुपलम्भान् । सुगमसम्यत् ।

चतुर्थसंयमस्याधानप्रतिपादनार्थमाह—

जहाक्खाद-विहार-सुद्धि-संजदा चदुसु द्वाणेषु उवसंत-कसाय-  
वीरराय-छदुमस्था स्त्रीण-कसाय-वीरराय-छदुमस्था सजोगिकेवली  
अजोगिकेवलि ति ॥ १२८ ॥

गमाधान — आदि के दो प्रकार तो ठीक नहीं हैं, क्योंकि, वेसा हमने माना नहीं  
है। इसी प्रकार नीसं विरुधानों दिया गया दोष भी संभव नहीं है, क्योंकि, पचयम और एक्यमके  
शेष संयमों को भेद ही संभव नहीं है। यदि गह्यम और पचयम संयमके न्यूनाधिकभावके  
कारण दोष तो संयमों में भेद भी हो जाता। परंतु ऐसा तो है नहीं, क्योंकि, संयमके प्रति दोनोंमें  
कोई विशेषता नहीं है। अतः सूत्रमाम्पराय संयमके उन दोनोंकी अपेक्षा दो भेद नहीं हो  
सकते हैं।

शंका—जर कि उन दोनोंकी अपेक्षा संयमके दो भेद नहीं हो सकते हैं तो पाच  
पक्षके अयमका उपदेश कैसे उन सकता है ?

गमाधान— यदि पाच प्रकारका संयम घटित नहीं होता है तो मत दोओ।

शंका—तो संयम कितने प्रकारका है ?

गमाधान— संयम चार प्रकारका है, क्योंकि, पाचवा संयम पाया ही नहीं जाता है।  
जेर कथत सुगम है।

त्रिजोर्था— सामायिक और छेदोपस्थापना संयममें विवक्षा भेदसे ही भेद है वास्तवमें  
नहीं, यतः ये दोनों मिलकर एक और श्रेयके तिन इसप्रकार संयम चार प्रकारके होते हैं।

पर चौथे संयमके गुणस्थानोंके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—  
यथाव्यक्त विहार सुखि-स्यत जीम उपशान्त-रुगय वीतराग-द्वयस्य, क्षीणकपाय-  
वीतराग उमस्य सजोगिकेवली और अजोगिकेवली इन चार गुणस्थानोंमें होते हैं ॥ १२८ ॥

१ गह-नासिहात्प्रिमता उपशान्त-रुगयदोग्योगेध्वन्या । ग ति. १. ८

सुगमत्तान्नात्र वक्तव्यमस्ति ।

देशविरतगुणस्थानप्रतिपादनार्थमाह—

संजदासंजदा एकस्मि चैय संजदासंजद-द्वाणे ॥ १२९ ॥

सुगमभेदतत् ।

असंयतगुणस्य गुणस्थानप्रमाणनिरूपणार्थमाह—

असंजदा एहंदिद्य प्पहुडि जाव असंजदसम्माइडि ति ॥ १३० ॥

मिथ्यादृष्टयोऽपि केचित्तसंयता इत्यन्त इति चेन्न, सम्यक्त्वमन्तरेण संयमानुप-  
पत्तेः । सिद्धान्तं कः संयमो भवतीति चेन्नैकोऽपि । यथा बुद्धिपूर्वकनिवृत्तेरभानात्र  
संयतास्तत एव न संयतासंयताः नाप्यसंयताः प्रणष्टाशेषपापक्रियत्वात् ।

संयमद्वारेण जीनपदार्थमभिधाय साम्प्रतं दर्शनमुत्सेन जीवसत्तानिरूपणार्थमाह—  
दंसणाणुवादेण अत्थि चक्खुदंसणी अचक्खुदंसणी ओधिदंसणी  
केवलदंसणी चेदि ॥ १३१ ॥

इस सूत्रका अर्थ सुगम होनेसे यहां विशेष कुछ कहने योग्य नहीं है।

अथ देशविरत गुणस्थानके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

संयतास्यत जीव एक संयतासंयत गुणस्थानमें ही होते हैं ॥ १२० ॥

इस सूत्रका अर्थ सुगम है।

अथ असंयतगुणके गुणस्थानोंके प्रमाणके निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

असंयत जीव एकेन्द्रियसे लेकर अन्यतमस्यदृष्टि गुणस्थानतः होते हैं ॥ १३० ॥

शंका—कितने ही मिथ्यादृष्टि जीव सगत देने जाते हैं ?

समाधान— नहीं, क्योंकि, सम्यग्दर्शनके विना संयमकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है।

शंका—सिद्ध जीवोंके कौनसा संयम होता है ?

समाधान— एक भी संयम नहीं होता है। उनके बुद्धिपूर्वक निवृत्तिका अभाव होनेसे  
जिसलिये वे सयत नहीं हैं, इसलिये सयतास्यत नहीं है और असंयत भी नहीं है, क्योंकि,  
उनके संपूर्ण पापरूप क्रियाएँ नष्ट हो चुकी हैं।

संयममार्गणके द्वारा जीन-पदार्थका कथन करनेके अथ दर्शनमार्गणके द्वारा जीवोंके  
अस्तित्वके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

दर्शनमार्गणके अनुवादसे चक्षुदर्शन, अत्र-शुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शनके  
धारण करनेवाले जीव होते हैं ॥ १३१ ॥

१ सयतास्यता एकस्मिनेन सयतास्यत-धान । ग. ति. १. ८

२ असंयता आयेणु चतुर्णु गुणस्थानेषु । म. ति. १. ८

३ मानचतुस्त्रिंशत्तरुणाण्यपीपमसार् इत्यंत्रियाणुपमाताच्च चतुर्दुर्गोनिच-शुदर्शन-अधि-भती जीमस्य वयाद्विगु





म्भान् । प्रकाशते च रूपसामान्यविशेषविशिष्टार्थः । न स दर्शनमर्थस्योपयोगरूपत्व-  
विशेषात् । न तस्योपयोगोऽपि दर्शनं तस्य ज्ञानरूपत्वात् । ततो न चक्षुर्दर्शनमिति न,  
चक्षुर्दर्शनानुपयोगस्य कर्मणोऽस्तित्वान्यथानुपपत्तेरधार्थभावे आधारकस्याप्यभावात् ।  
न समाचक्षुर्दर्शनमन्तरङ्गविषयमित्यङ्गीकर्तव्यम् । किं च निद्रानिद्रादीनि कर्मणि न  
ज्ञानप्रतिबन्धकानि ज्ञानावरणभ्यन्तरे तेषामपाठात् । नान्तरङ्गबहिर्ज्ञानविषयोपयोग-  
द्वयप्रतिबन्धकानि एवमपि ज्ञानावरणस्यैवान्तर्भागात् । नान्तरङ्गबहिर्ज्ञानविषयोपयोग-  
सामान्यप्रतिबन्धकानि जाग्रदवस्थायां छद्मस्थज्ञानदर्शनोपयोगगोरक्रमेण दृष्टिप्रसङ्गात् ।  
ततो दर्शनानुपयोगीकर्मणोऽस्तित्वान्यथानुपपत्तेरन्तरङ्गविषयोपयोगप्रतिबन्धक दर्शना-  
वरणीयम्, बहिर्ज्ञानविषयोपयोगप्रतिबन्धकं ज्ञानावरणमिति प्रतिपत्तव्यम् । आत्म-  
विषयोपयोगस्य दर्शनत्वेऽङ्गीक्रियमाणे आत्मनो विशेषभावाचतुर्णामपि दर्शनानाम-  
विशेषः स्यादिति चेन्नप दोषः, यद्यस्य ज्ञानस्योत्पादकं स्वरूपसंवेदनं तस्य तद्दर्शन-

होता है । परंतु प्रथम तो उपयोगरूप हो नहीं सकता, क्योंकि, प्रथमको उपयोगरूप माननेमें  
तिरोत्ता आता है । प्रथमज्ञान उपयोग भी दर्शन नहीं हो सकता है, क्योंकि, वह उपयोग ज्ञान-  
रूप पचना है । इसलिये चक्षुर्दर्शनका अस्तित्व नहीं पचना है ।

गमाधान—दर्शन, क्योंकि, यदि चक्षुर्दर्शन नहीं हो तो चक्षुर्दर्शनावरण कर्म नहीं  
न सकता है, क्योंकि, आधारेके अभावमें आधारकता भी अभाव हो जाता है । इसलिये  
अन्तरंग प्रथमको विषय करनेवाला चक्षुर्दर्शन दे यह बात स्वीकार नर लेना चाहिये ।  
दूसरे निद्रानिद्रा आदि कर्म जलके प्रतिबन्धक नहीं है, क्योंकि, ज्ञानावरण कर्मके भेदोंमें इन  
निद्रानिद्रा आदि कर्मोंका पाठ नहीं है । तथा निद्रानिद्रा आदि कर्म अन्तरंग और बहिर्रंग  
प्रथमको विषय करनेवाले तैनों उपयोगोंके भी प्रतिबन्धक नहीं है, क्योंकि, ऐसा मानने पर  
भी निद्रानिद्रादि कर्मका ज्ञानावरणके भीतर ही अन्तर्भाजन होगा चाहिये या । परंतु ऐसा नहीं है,  
जान' निद्रानिद्रादि कर्म तैनों उपयोगके भी प्रतिबन्धक नहीं है । निद्रानिद्रादि कर्म अन्तरंग और  
परिग्रह प्रथमको विषय करनेवाले उपयोग सामान्यके भी प्रतिबन्धक नहीं है, क्योंकि, ऐसा  
मान लेते पर जाग्रद-वस्थामें छद्मस्थके ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोगकी युगण् प्रवृत्तिका प्रसंग  
न जायगा । इसलिये पर्यंत यदि न हो तो दर्शनानुपयोग कर्मका अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता  
है । तब अन्तरंग प्रथमको विषय करनेवाले उपयोगका प्रतिबन्धक दर्शनानुपयोग कर्म है  
और बहिर्रंग प्रथमको विषय करनेवाले उपयोगका प्रतिबन्धक ज्ञानावरण कर्म है ऐसा  
जानना चाहिये ।

शंका—आत्मानो विषय करनेवाले उपयोगको दर्शन स्वीकार कर लेनेपर आत्मामें  
कोई विशेषता नहीं होनेसे चारों स्तरोंमें भी कोई भेद नहीं रह जायगा ?

तमाधान—यद्यपि शेष नहीं है, क्योंकि, जो जिन ज्ञानका उत्पन्न करनेवाला

व्यपदेशान्न दर्शनस्य चातुर्विध्यनिश्चयः । यान्तश्चक्षुरिन्द्रियक्षयोपशमजनितज्ञानस्य  
विषयभावमापन्नाः पदार्थास्तानन्त एवात्मसंस्थयोपशमास्तचक्रामानस्तद्विज्ञानात्सापि तावा-  
नेव तच्छक्तिसच्चिदात्मपरिच्छिन्निदर्शनम् । न चैतच्छाल्पनिकं परमार्थत एव परोपदेश-  
मन्तरेण शक्त्या सहात्मनः उपलम्भात् । न दर्शनानामक्रमेण प्रवृत्तिज्ञानानामक्रमेणो-  
त्पत्त्यभावतस्तद्भावात् । एवं शेषदर्शनानामपि वक्तव्यम् । ततो न दर्शनानामैकत्व-  
मिति उक्तं च—

चक्रवृण ज पयासदि दिस्सदि तच्चसु-दसण वेति ।

सेतित्थिय-पयासो णाद्ववो सो अववसु ति' ॥ १९५ ॥

परमणु-आदिशाइ अतिम-खव ति मुत्ति-इवाइ ।

त ओवि-दसण पुण ज फसइ ताइ पच्चसु' ॥ १९६ ॥

बहुविह वटुपयारा उज्जोवा परिमिथिइ खेत्तिहि ।

लोगालोग-अतिमिरा जो केवददसणुज्जोवो' ॥ १९७ ॥

स्वरूपसंवेदन है उसको उसी नामका दर्शन कहा जाता है । इसलिये दर्शनके चार प्रकारके  
होनेका कोई नियम नहीं है । बहुत इन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपरामसे उत्पन्न हुए ज्ञानके विषय-  
भावको प्राप्त जितने पदार्थ हैं उतने ही आत्मामें स्थित दायोपशम उन उन सजायोंको प्राप्त  
होते है । और उनके निमित्तसे आत्मा भी उतने ही प्रकारका हो जाता है । अतः इन  
प्रकारकी शक्तियोंसे युक्त आत्मके संवेदन करनेको दर्शन करते है । यह सन कथन कात्पर्यिक  
भी नहीं है, क्योंकि, परोपदेशके विना अनेक शक्तियोंसे युक्त आत्मकी परमार्थसे उपलब्धि  
होती है । सभी दर्शनोंकी अक्रमसे प्रवृत्ति होती है, सो बात भी नहीं है, क्योंकि, जनोंकी  
प्रकसाथ उत्पत्ति नहीं होती है, अतः संपूर्ण दर्शनोंकी भी प्रकसाथ उत्पत्ति नहीं होता है ।  
इसीप्रकार शेष दर्शनोंका भी कथन करना चाहिये । इसलिये दर्शनमें प्रकसा अर्थात् अंधे  
सिद्ध नहीं हो सकता है । कहा भी है—

जो बहुत इन्द्रियके द्वारा प्रकाशित होता है अथवा विचार्य देता है उसे चक्षुर्दर्शन  
कहते है । तथा शेष इन्द्रिय और मनसे जो प्रतिभास होता है उसे अत्रक्षुर्दर्शन कहते है ॥१९५॥  
परमाणुसे आदि लेकर अन्तिम स्वरूपपर्यन्त सूर्त पदार्थोंको जो प्रत्यक्ष देरता है उसे  
अधिदर्शन कहते है ॥१९६॥

अपने अपने अनेक प्रकारके भेदोंसे युक्त बहुत प्रकारके प्रकाश इस परिमित क्षेत्रमें ही  
पाये जाते है । परंतु जो केवल दर्शनरूपी प्रकाश है वह लोक और अलोकको भी विभिर  
रहित कर देता है ॥१९७॥

१ गो जी ४८६

२ गो जी ४८५

३ गो जी ४८६

चक्षुर्दर्शनाध्वानप्रतिपादनार्थमाह—

**चक्षु-दंसणी चउरिंदिय-पहुडि जाव खीण-कसाय-वीयराय-  
छदुमत्था ति ॥ १३२ ॥**

सुगममेतत् ।

अचक्षुर्दर्शनस्याधिपतिप्रतिपादनार्थमाह—

**अचखु-दंसणी एइंदिय-पहुडि जाव खीण-कसाय-वीयराय-  
छदुमत्था ति ॥ १३३ ॥**

दृष्टान्तस्मरणमचक्षुर्दर्शनमिति केचिदाचक्षते तत्र घटते एकेन्द्रियेषु चक्षुर-  
भावतोऽचक्षुर्दर्शनस्याभावासङ्जननात् । दृष्टशब्द उपलम्भभावाच्च इति चेन्न, उपलब्धार्थ-  
विषयमृतेर्दर्शनत्वेऽङ्गीक्रियमाणे मनसो निर्विषयतापत्तेः । ततः स्वरूपमवेदनं दर्शन-  
मित्यङ्गीकर्तव्यम् । ज्ञानमेव द्विस्वभावं किन्न स्यादिति चेन्न, स्वस्माद्भिन्नवस्तुपरिच्छेदकं

अव चक्षुर्दर्शनसंबन्धी गुणस्थानोंके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

चक्षुर्दर्शन उपयोगवाले जीव चतुरिन्द्रियसे लेकर शीणकपाय-छम्बस्थ-वितराम गुण-  
स्थान तक होते हैं ॥ १३२ ॥

इसका अर्थ सरल है ।

अब अचक्षुर्दर्शनके स्वामी बतलानेके लिये सूत्र कहते हैं—

अचक्षुर्दर्शन उपयोगवाले जीव एकेन्द्रियसे लेकर शीणकपाय वितराम-छम्बस्थ गुण-  
स्थान तक होते हैं ॥ १३३ ॥

दृष्टान्त अर्थात् देखे हुए पदार्थका स्मरण करना अचक्षुर्दर्शन है, इसप्रकार कितने ही  
पुरुष कहते हैं । परंतु उनका ऐसा कहना यदित नहीं होता है, क्योंकि, ऐसा माननेपर  
एकेन्द्रिय जीवोंमें चक्षुश्चन्द्रियका अभाव होनेसे उनके अचक्षुर्दर्शनके अभावका प्रसंग आजायगा ।

शंका—दृष्टान्तमें ' दृष्ट ' शब्द उपलम्भभावाच्च ग्रहण करना चाहिये ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, उपलब्ध पदार्थको विषय करनेवाली स्मृतिको दर्शन  
स्वीकार कर लेनेपर मनको विषय रहितपनेकी आपत्ति आजाती है । इसलिये स्वरूपसंवेदन  
दर्शन है ऐसा स्वीकार कर लेना चाहिये ।

शंका—ज्ञान ही दो स्वभाववाला क्यों नहीं मान लिया जाता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, अपनेसे भिन्न वस्तुका परिच्छेदक ज्ञान है और अपनेसे  
अभिन्न वस्तुका परिच्छेदक दर्शन है, इसलिये इन दोनोंमें एकपना नहीं बन सकता है ।

ज्ञानम्, स्वतोऽभिन्नवस्तुपरिच्छेदकं दर्शनम्, ततो नानयोरैकत्वमिति । ज्ञानदर्शनयोर-  
क्रमेण प्रवृत्तिः किन्न स्यादिति चेत् किमिति न भवति ? भवत्येव क्षीणावरणे द्ययोरक्रमेण  
प्रवृत्त्युपलम्भात् । भवतु छम्बस्थावस्थायामप्यक्रमेण क्षीणावरणे इव तयोः प्रवृत्तिरिति चेन्न,  
आवरणानिरुद्धाक्रमयोरक्रमवृत्तिविरोधात् । अस्वसंविद्भूषो न कदाचिदायात्मोपलम्भयत  
इति चेन्न, बहिरङ्गोपयोगावस्थायामन्तरङ्गोपयोगानुपलम्भमाह । श्रुतदर्शनं किमिति  
नोच्यत इति चेन्न, तस्य मतिपूर्वकस्य दर्शनपूर्वकत्वविरोधात् । यदि बहिरङ्गार्थसामान्य-  
विषयं दर्शनमभाविष्यत्तदा श्रुतज्ञानदर्शनमपि सममविष्यत् ।

अवधिदर्शनप्रदेशप्रतिपादनार्थमाह—

**ओधि-दंसणी असंजदसमभाइडि-पहुडि जाव खीण-कसाय-  
वीयराय-छदुमत्था ति ॥ १३४ ॥**

शंका—ज्ञान और दर्शनकी युगपत् प्रवृत्ति क्यों नहीं होती ?

समाधान—कैसें नहीं होती, होती ही है, क्योंकि, जिनके आवरण कर्म नष्ट हो गये  
हैं ऐसे तेरहवें आदि गुणस्थानवर्ती जीवोंमें ज्ञान और दर्शन इन दोनोंकी युगपत् प्रवृत्ति पाई  
जाती है ।

शंका—आवरणकर्मसे रहित जीवोंमें जिसप्रकार ज्ञान और दर्शनकी युगपत् प्रवृत्ति  
पाई जाती है, उसीप्रकार छम्बस्थ अवस्थामें भी उन दोनोंकी एक साथ प्रवृत्ति होओ ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, आवरणकर्मके उदयसे जिनकी युगपत् प्रवृत्ति करनेकी  
शक्ति रक गई है ऐसे छम्बस्थ जीवोंके ज्ञान और दर्शनमें युगपत् प्रवृत्ति माननेमें विरोध  
आता है ।

शंका—अपने आपके संवेदनसे रहित आत्माकी तो कभी भी उपलब्धि नहीं होती है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, बहिरंग पदार्थोंकी उपयोगरूप अवस्थामें अन्तरंग  
पदार्थका उपयोग नहीं पाया जाता है ।

शंका—श्रुत दर्शन क्यों नहीं कहा ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, मतिज्ञानपूर्वक होनेवाले श्रुतज्ञानको दर्शनपूर्वक माननेमें  
विरोध आता है । दूसरे यदि बहिरंग पदार्थको सामान्यरूपसे विषय करनेवाला दर्शन होता  
तो श्रुतज्ञानसंबन्धी दर्शनभी होता । परंतु ऐसा नहीं है, इसलिये श्रुतज्ञानके पहले दर्शन नहीं  
होता है ।

अब अवधिज्ञानसंबन्धी गुणस्थानोंके प्रतिपादन करनेकेलिये सूत्र कहते हैं—

अवधिदर्शनवाले जीव असंयत सम्यग्दृष्टिसे लेकर क्षीणकपायवितरामगच्छस्थ गुण

युगमेतन् । विभक्त्यर्थेन क्रिमिति प्रथम् नोपादिष्टमिति चेन्न, तस्याविधिदर्शनेऽ-  
नर्थात् । मनःपर्यवेक्षणं तर्हि यत्कथमिति चेन्न, मतिपूर्वकृत्यान्तस्य दर्शनाभावात् ।

तेन दर्शनानामभिप्रायव्यवहारः—

**केवलदर्शनी तिसु द्वाणेषु सजोगिकेवली अजोगिकेवली  
सिद्धा चेदि ॥ ३३५ ॥**

अन्नादिबालगोचराद्यर्थं प्रवृत्तं केवलज्ञानं ( स्वतोऽभिन्ववस्तुपरिच्छेदकं च  
दर्शनमिति ) ह्यभ्यन्तरोः समानेनेति नेतृकथ्यते । ज्ञानप्रमाणमात्मा ज्ञानं च त्रिकाल-  
बोचनान्नद्रव्यापार्यायपरिमाणं ततो ज्ञानदर्शनयोः समानत्वमिति । स्वजीवस्थपर्याये-  
गोचरदर्शनमिति चेन्न, उट्त्वात् । कथं पुनस्तेन तस्य समानत्वम् ? न, अन्योन्या-  
त्मक्योक्तद्विराभात् । उक्तं च—

ज्ञानं न तद्वेत्ति ॥३३५॥

इत्यन्तत्ता अर्थं न्युक्तम् ।

शंका—विभक्त्यर्थेन प्रवृत्तं उपरोक्तं त्रयो नर्था क्रिया ?

समाधान—नर्था, स्वयंकि, उक्तता अविधिदर्शनमं अन्तर्भाव हो जाता है ।

शंका—तो मन पर्यवेक्षणको भिन्न रूपसे कठना चाहिये ?

समाधान—नर्था, स्वयंकि, मन पर्यवेक्षण मतिज्ञानपूर्वक होता है, इसलिये मन-पर्यवे-  
क्षण नर्था होता है ।

पर केवलदर्शनके स्वामीके प्रतिपादित करनेके लिये एव कहते हैं—

केवलदर्शनं च धारक जीव सजोगिकेवली, अजोगिकेवली और सिद्ध इत तीन  
स्वभावोंमें होते हैं ॥३३५॥

शंका—चित्तद्रव्योत्तर अन्त बारा पदार्थमें प्रवृत्ति करनेवाले जान है और स्वरूप-  
मायों प्रवृत्ति करनेवाला दर्शन है, इसलिये इन दोनोंमें समानता कैसे हो सकती है ?

समाधान—मात्मा ज्ञानप्रमाण है और ज्ञान त्रिकालके विषयभूत द्रव्योंकी अन्त  
पर्यायोंको जाननेवाला होनेसे तत्परिमाण है, इसलिये ज्ञान और दर्शनमें समानता है ।

शंका—जीवमें करनेवाली स्वीय पर्यायोंकी ज्ञेयता ज्ञानसे दर्शन अधिक है ?

समाधान—नर्था, स्वयंकि, यह बात स्पष्ट ही है ।

शंका—किर ज्ञानके साथ दर्शनकी समानता कैसे हो सकती है ?

समाधान—समानता नर्था हो सकती यह बात नर्था है, स्वयंकि, एक दूसरेकी अपेक्षा  
करनेवाले इन दोनोंमें समानता मान लेनेमें कोई विरोध नर्था आता है । कदा भी है—

‘ ज्ञानस्य ज्ञेयस्योत्पत्त्या ज्ञानोत्पत्त्या ॥ ३३६ ॥ ’

आदा णाण पमाण णाण जेय-व्यमाणमुदिट्ठ ।

णेण लोशालोश तग्घा णाण तु मच्च-गगं ॥ १९८ ॥

एय-दिविगमि जे अय-पञ्जया नगण-पञ्जया वानि ।

तोदाणागध-भूदा तानदिय त ह्वत्त-द-प- ॥ १९९ ॥ इदि

लेख्याद्वारेणजीवपदार्थसत्यान्वेपणायाह—

**लेस्साणुवादेण अत्थि किणहलेस्सिया णील्लेस्सिया काउ-  
लेस्सिया तेउलेस्सिया पम्मलेस्सिया सुकलेस्सिया अलेस्सिया  
चेदि ॥ ३३६ ॥**

लेख्या इति किञ्चुक्तं भवति ? कर्मस्वरूपात्मानं लिम्पतीति लेख्या ।  
कपायाणुञ्जित्वं योगवृत्तिलेश्येति नात्र परिग्रहोत्ते सयोगक्रेलिनोऽलेख्यतापत्तेः ।  
अस्तु चेन्न, ‘ शुक्लेख्यः सयोगक्रेवली ’ इति नचनव्याघातात् । लेख्या नाम योगः

आत्मा ज्ञानप्रमाण है, ज्ञान ज्ञेयप्रमाण है, ज्ञेय लोकालोकप्रमाण है, इसलिये ज्ञान  
सर्वगत कहा है ॥ ३३६ ॥

एक द्रव्यमें अतीत, अतागत और मायामें अर्थे न्युत् ‘अपि’ शब्दसे वर्तमानपर्यायरूप  
जितनी अर्थपर्याय और व्यजनपर्याय हैं तत्प्रमाण वह द्रव्य होता है ॥ ३३६ ॥

अथ लेख्यामार्गणाद्वारा जीवपदार्थके अस्तित्वके अन्वेषण करनेके लिये नृत्त तद्धते है—  
लेख्यामार्गणदि अनुवादसे कृष्णलेख्या, नीललेख्या, कापोतलेख्या, तेजोलेख्या, पद्म-  
लेख्या, शुक्लेख्या और अलेख्यावाले जीव है ॥ ३३६ ॥

शंका—‘लेख्या’ इस शब्दसे क्या कहा जाता है ?

समाधान—जो कर्मकरंभसे आत्माको लिप्त करती है उसे लेख्या कहते हैं ।

यदापर ‘ कपालसे अनुसृजित योगवृत्तिको लेख्या कहते हैं ’ यह अर्थ नर्था अरण  
करना चाहिये, क्योंकि, उस अर्थके अरण करनेपर सयोगिकेवलीको लेख्यामत्तित्वपेक्षा ही आपत्ति  
प्राप्त होती है ।

शंका—यदि सयोगिकेवलीको लेख्यारहित मान लिया जावे तो क्या ज्ञानि है ?

समाधान—नर्था, क्योंकि, ऐसा मान लेनेपर ‘ सयोगिकेवलीके शुक्लेख्या पाई

१ प्रश्न १, २३

२ गो जी ५८२ म त १ ३३

३ लिख्यते प्राणा कर्मणा या मा लेख्या । यदाह, लेख इव तर्पयथ वर्तमानविरतिप्राप्त । स्या १.

ठा. ना । लिख्यते लिख्यते कर्मणा मह आत्मा अन्वयेति लेख्या । कर्म ४ कर्म । कृपादिज्यमाविद्यापरिणामो  
७ ज्ञानम् । दृष्टित्थैव तत्रा वैश्यायन्द पतन्ति ॥ १ ॥ प्रश्न १७ पद १ । ( तसि. ग. चो. केमा )

कृपायस्ताडुभौ वा? किं चातो नाद्यौ विकल्पौ योगकृपायमार्गयोरेव तस्या अन्तर्भावात् । न तृतीयविकल्पस्तस्यापि तथाविधत्वात् । न ग्रथमद्वितीयविकल्पोक्तदोषावनभ्युपगमात् । न तृतीयविकल्पोक्तदोषो द्वयोरेकस्मिन्नन्तर्भावविरोधात् । न द्वित्वमपि कर्मलैककार्यकर्तृत्वेनैकत्वमापनयोर्योगकृपायोल्लेख्यात्वभ्युपगमात् । नैकत्वात्तयोरन्तर्भवति द्रयात्मकैकस्य जाल्यन्तरमापनस्य केवलैकैकन सैहकत्वसमानत्वयोर्विरोधात् । योगकृपायकार्योद्भवतिरिक्तलेख्याकार्योत्पलम्भान्न ताभ्यां पृथग्लेख्यास्तीति चेन्न, योगकृपायाम्यां प्रत्यनीकत्वाद्यालम्भनाचार्यादिवाह्यार्थसन्निधानेनापनलेख्यामागाम्यां संसारवृद्धिकार्यस्य जाती है' इस वचनका व्याघात हो जाता है ।

शंका—लेख्या योगको कहते हैं, अथवा, कृपायको कहते हैं, या योग और कृपाय दोनोंको कहते हैं? इनमेंसे आदिके दो विकल्प अर्थात् योग या कृपायरूप लेख्या तो मान नहीं सकते, क्योंकि, वैसा माननेपर योगमार्गण और कृपायमार्गणमें ही उसका अन्तर्भाव हो जायगा । तीसरा विकल्प भी नहीं मान सकते हैं, क्योंकि, तीसरा विकल्प भी आदिके दो विकल्पोंके समान है । अर्थात् तीसरे विकल्पके माननेपर भी लेख्याका उक्त दोनों मार्गणोंमें अथवा किसी एक मार्गणमें अन्तर्भाव हो जाता है । इसलिये लेख्याकी स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध नहीं होती है ?

समाधान—शंकारने जो ऊपर तीन विकल्प उठाये हैं उनमेंसे पहले और दूसरे विकल्पमें विधे गये दोष तो प्राप्त ही नहीं होते हैं, क्योंकि, लेख्याको केवल योग और केवल कृपायरूप माना ही नहीं है । उसीप्रकार तीसरे विकल्पमें विद्या गया दोष भी प्राप्त नहीं होता है, क्योंकि, योग और कृपाय इन दोनोंका किसी एकमें अन्तर्भाव माननेमें विरोध आता है । यदि कहा जाय कि लेख्याको दोरूप मान लिया जाय जिससे उसका योग और कृपाय इन दोनों मार्गणोंमें अन्तर्भाव हो जायगा, तो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, कर्मलैपरूप एक कार्यको करनेवाले होनेकी अपेक्षा एकफनेको प्राप्त हुए योग और कृपायको लेख्या माना है । यदि कहा जाय कि एकताको प्राप्त हुए योग और कृपायरूप लेख्या होनेसे उन दोनोंमें लेख्याका अन्तर्भाव हो जायगा, तो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, दो धर्मोंके संयोगसे उत्पन्न हुए द्रयात्मक अतएव किसी एक तीसरी अवस्थाको प्राप्त हुए किसी एक धर्मका केवल परस्मैके साथ एकत्व अथवा समानता मान लेनेमें विरोध आता है ।

शंका—योग और कृपायके कार्यसे भिन्न लेख्याका कार्य नहीं पाया जाता है, इसलिये उन दोनोंसे भिन्न लेख्या नहीं मानी जा सकती है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, विपरितताको प्राप्त हुए भिव्यात्व अविरति आदिके आलम्भनरूप आचार्यादि बाह्य पदार्थोंके स्पर्शसे लेख्याभावको प्राप्त हुए योग और कृपायोंसे, केवल योग और केवल कृपायके कार्यसे भिन्न संसारकी वृद्धिरूप कार्यकी उपलब्धि होती

तत्केवलकार्यद्वयतिरिक्तस्योपलम्भात् । संसारवृद्धिहेतुलेश्येति प्रतिज्ञायमाने लिम्पतीति लेश्येत्यनेन विरोधश्चेन्न, लेपाविनाभावित्त्वेन तद्वृद्धेरपि तद्व्यपदेशाविरोधात् । ततस्ताभ्यां पृथग्भूता लेश्येति स्थितम् । पङ्क्तिः कृपायोदयः । तबथा, तीव्रतमः तीव्रतरः तीव्रः मन्दः मन्दतरः मन्दतम इति । एतेभ्यः पङ्क्त्यः कृपायोदयेभ्यः परिपाट्या पङ्क्तेः लेख्या भवन्ति । कृष्णलेख्या नीलेख्या कापोतलेख्या पीतलेख्या पत्रलेख्या शुक्लेख्या चेति । उक्तं च—

चडो ण मुयदि वेर भडण-सीलो य धम्म दय-रहिओ ।

दुडो ण य एदि वंस लक्खणमेद तु किण्हस्स' ॥ २०० ॥

मदो बुद्धि विहीणो णिब्धिणणी य विसय-खेओ य ।

माणी माथी य तथा आलसमो वेय भेज्जो य' ॥ २०१ ॥

है जो केवल योग और केवल कृपायका कार्य नहीं कहा जा सकता है, इसलिये लेख्या उन दोनोंसे भिन्न है यह बात सिद्ध हो जाती है ।

शंका—संसारकी वृद्धिका हेतु लेख्या है ऐसी प्रतिज्ञा करनेपर 'जो लिप्त करती है उसे लेख्या कहते हैं' इस वचनके साथ विरोध आता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, कर्मलेपकी अविनाभावी होने रूपसे संसारकी वृद्धिको भी लेख्या ऐसी सब देनेसे कोई विरोध नहीं आता है । अतः उन दोनोंसे पृथग्भूत लेख्या है यह बात निश्चित हो जाती है ।

कृपायका उदय छह प्रकारका होता है । वह इसप्रकार है, तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र, मन्द, मन्दतर और मन्दतम । इन छह प्रकारके कृपायके उदयसे उत्पन्न हुई परिपाटीक्रमसे लेख्या भी छह हो जाती है । कृष्णलेख्या, नीलेख्या, कापोतलेख्या, तेजोलेख्या, पत्रलेख्या और शुक्लेख्या । कदा भी है—

तन्नि, क्रोध करतेवाला हो, वैरको न छोड़े, लड़ना जिसका स्वभाव हो, धर्म और दयासे रहित हो, उग्र हो और जो किसीके वशको प्राप्त न हो, ये सब कृष्णलेख्यावालेके लक्षण हैं ॥ २०० ॥

मन्द अर्थात् स्वच्छन्द हो अथवा काम करनेमें मन्द हो, वर्तमान कार्य करनेमें चिक्क रहित हो, कला-चातुर्यसे रहित हो, पांच इन्द्रियोंके स्पर्शादि बाह्य चिन्तनोंमें लम्पट हो, मानी हो, मायावी हो, आलसी हो, और भीरू हो, ये सब भी कृष्णलेख्यावालेके लक्षण हैं ॥ २०१ ॥

१ गो जी ५०९ पचान परतो तीहि अणुतो उचु अणिरजो य । तिवारमपरिणजो पुटो माहामिजो नरो ॥ निद्वयपरिणामो निरमो भजिइदिगो । पणजोगमाउतो निण्णेम तु परिणमे ॥ उच ३४ २१ २२

२ गो जी ५१०

गिगन्वचण-नट्टो नण-नणो होइ तिअ-सणो य ।  
 न-गणनेट भणिय समासने गील लेस्सस' ॥ २०२ ॥  
 न्वदि गिदिः अणो दूसदि वहुसो य सोअ-अय-वहुलो ।  
 अणुनदि परिभवदि पर पससदि य आअं वहुसो ॥ २०३ ॥  
 ण य पदिचइ पर सो अण्णमि पर पि मण्णतो ।  
 तनदि अभिणुत्तो ण य जाणइ हाणि वड्डीओ ॥ २०४ ॥  
 गण परेइ एो देदि सुगुहो टि शुअमाणो वु ।  
 ण गणइ अकन्न-कन्न लखणनेट तु काउसस ॥ २०५ ॥  
 जाणइ कच्चकच मेअसेय च सअ-अण-आसी ।  
 दस-अण-अट्टो य मिट् लखणनेट तु तेउसस ॥ २०६ ॥

जो अनिनिअलु ने, दूसरोंको उगेनें अतिवज हो, और धन-वान्यके विषयमें जिसकी आज भीम काउसा हो, ये सब नीललेख्यावालेके लक्षणे लक्षण कहे गये हैं ॥ २०२ ॥

जो दूसरोंके ऊपर जोर करता है, दूसरेकी निन्दा करता है, अनेक प्रकारसे दूसरोंको मार देता है, अथवा, दूसरोंको दोष लगाता है, अत्यधिक शोक और भयसे व्याप्त रहता है, दूसरोंको महन नहीं करता है, दूसरोंका परामय करना है, अपनी नाना प्रकारसे प्रशंसा करता है, दूसरोंके ऊपर विश्वास नहीं करता है, अपने समान दूसरेको भी मानता है, स्तुति करने-वालेके ऊपर मनुष्य तो जाता है, अपनी और दूसरेकी बातों और बुराईको नहीं जानता है, दूसरों मनेकी आर्थता करता है, स्तुति करनेवालेको मनुष्य धन ये उल्लाता है, और कार्य-कार्यकी कुछ भी गणना नहीं करता है, ये सब नीललेख्यावालेके लक्षण हैं ॥ २०३-२०५ ॥  
 जो कार्य-कार्य और श्रेय-श्रेयस्को जानता है, स्वयंके विषयमें समदर्शी रहता है, तथा और दूसरों तरफ सरता है, और मन, वचन तथा कार्यसे कोमलपरिणामी होता है ये सब नीललेख्यावालेके लक्षण हैं ॥ २०६ ॥

१ गो जी ५११ रसना मारिण अता जाणमाणा अहीरिणा । गेरी पजामे य मंटे पसच सललुण ॥  
 २ गो जी ५१२ रालनां गेरिणा गजे मारिणो नंगे । एजोणमाज्जो नील्लेय तु परिणमे ॥

य ३६ ३३०५

३ गो जी ५१३

४ गो जी ५१४

५ गो जी ५१४. १ क नममापारे विगिं अणुअणु । पाण्डुअणुओमादिः सिग्गदिदो अणारिण ॥  
 ६ गो जी ५१४ य अणु य मण्डरी । एजोणमाज्जो वाउजे तु परिणमे ॥ उच ३४ २५ २६.

७ गो जी ५१५ नीवाली पावडे अमाई अणुअणु । विजोणमिणए व्ते जोगा उअणए ॥  
 ८ गो जी ५१५ एजोणमाज्जो तेउसस तु परिणमे ॥ उच. ३६. २७-२८

चाभी भरो चोन्खो उन्जुन-कम्मो य खमइ वहुअ हि ।  
 साह-गुरु-पूल-णिरदो लखणनेट तु पमसस' ॥ २०७ ॥  
 ण उ कुणइ पखवायं ण वि य गिदाण समो य सओसु ।  
 णि य रान-ओसो णेहो वि य सुह-लेससस' ॥ २०८ ॥

पद्लेख्यानीताः अलेख्याः । उक्तं च—

किण्हदि-देरस रहिडा ससार-निणिगया अणत-युहा ।  
 सिद्धि-पुर सपत्ता अलेसिया ते सुणेयव्वां ॥ २०९ ॥

लेख्यानां गुणसाननिरूपणार्थमाह—

किण्हलेसिया नीललेसिया काउलेसिया एइदिय-पहुडि  
 जाव असंजइ-सम्मइदि तिं ॥ १३७ ॥

जो लागी है, अट्टपरिणामी है, निरन्तर कार्य करनेमें उग्र रहता है, जो अनेक प्रकारके कष्टप्रद और अनिष्ट उपसर्गोंको क्षमा कर देता है, और साधु तथा गुरुजनोंकी पूजामें रत रहता है, ये सब पालेख्यावालेके लक्षण हैं ॥ २०७ ॥

जो पक्षपात नहीं करता है, निदान नहीं पावता है, स्वयंके साथ समान व्यवहार करता है, इष्ट और अनिष्ट पदार्थोंके विषयमें राग और द्वेषसे रहित है तथा स्त्री, पुत्र और मित्र आदिमें स्नेह-रहित है ये सब गुरुलेख्यावालेके लक्षण हैं ॥ २०८ ॥

जो छत्र लेख्याओंसे रहित है उदंटे देवमारहित जीव कहते हैं । कहा भी है—

जो कृणादि लेख्याओंसे रहित है, पंच परिवर्तनरूप सत्त्वसे पार हो गये है, जो अतीन्द्रिय और अनन्त सुगन्धो प्राप्त है और जो आत्मोपलब्धि-रूप विचित्रिपुत्रीको प्राप्त हो गये है उन्हें लेख्यारहित जानना चाहिये ॥ २०९ ॥

अत्र लेख्याओंके गुणस्यान वतल्लेखे लिखे सूत्र कहते हैं—

कृणलेख्या, नीललेख्या और कापेतलेख्यावाले जीव गकेन्द्रियसे लेकर असयन-सम्यग्दृष्टि गुणस्थानतत्त होते हैं ॥ २३७ ॥

१ गो जी ५१६ परयुत्तहमांणं य मायाओमि य पयगुणु । पमत्तित्तिं दत्तया जोगा उअणएण ॥  
 तहा पयगुणुई य उअत्ते जिइदिणु । एजोणमाज्जो पण्ह्लेम तु परिणमे ॥ उच ३६ २९-३०

२ गो जी ५१७ अट्टवदाणि वजिजा धम्मसुत्ताणि आणए । पमत्तित्तिं रत्तया रमिणए गुते य गुत्तिणए ॥  
 मग्गे गिराणे वा उअत्ते जिइदिणु । एजोणमाज्जो सुक्कल्लेम तु परिणमे ॥ उच ३६. ३१-३२

३ गो जी ५५६

४ लेख्यावृद्धिन कृगनील्लेख्याणु मिपाट्टयाद्वानि अपयनयण्यट्टयत्तानि मतिं । त पि १ ८

कथम् ? त्रिविधतीव्रादिककृपायोदयवृत्तेः सत्त्वात् । सुगममन्यत् ।

तेजःपद्मलेख्याध्वानप्रतिप्रादनार्थमाह—

तेउलेस्सिसया पम्मलेस्सिसया सण्णि-भिच्छाइट्टि-प्पहुडि जाव  
अपमत्तसंजदा तिं ॥ १३८ ॥

कथम् ? एतेषां तीव्रादिककृपायोदयाभावात् । सुगममन्यत् ।

सुकुलेस्सिसया सण्णि-भिच्छाइट्टि-प्पहुडि जाव सजेगिकेवलि-  
तिं ॥ १३९ ॥

कथं क्षीणोपशान्तकृपायाणां सुकुलेश्येति चेत्, कर्मलेपनिमित्तयोगस्य तत्र  
सत्त्वापेक्षया तेषां सुकुलेश्यास्तित्वाविरोधात् ।

शंका—चौथे गुणस्थानतक इी आदिकी तीन लेश्यापं स्यो होती है ?

समाधान—तीव्रतम, तीव्रतर और तीव्र कृपायके उदयका सद्भाव चौथे गुणस्थान-  
तक ही पाया जाता है, इसलिये वर्हातक तीन लेश्याण कही । शेष कथन सुगम है ।

अब पीत और पद्मलेश्याके गुणस्थान बतलानेके लिये सूत्र कहते हैं—  
पितलेश्या और पद्मलेश्यावाले जीव संबन्धी मिथ्याइयिसे लेकर अप्रमत्तसंयत गुणस्थान-  
तक होते हैं ॥ १३८ ॥

शंका—ये दोनों लेश्याएँ सातवें गुणस्थानतक कैसे पाई जाती हैं ?

समाधान—स्योकि, इन लेश्यावाले जीवोंके तीव्रतम आदि कृपायोंका उदय नहीं  
पाया जाता है । शेष कथन सुगम है ।

अब सुकुलेश्याके गुणस्थान बतलानेके लिये सूत्र कहते हैं—

शुकुलेश्यावाले जीव सब्धी मिग्गाइयिसे लेकर सयोगिकेवली गुणस्थान तक होते  
हैं ॥ १३९ ॥

शंका—जिन जीवोंकी कृपाय क्षीण अथवा उपशान्त हो गई है उनके सुकुलेश्याका  
होना कैसे संभव है ?

समाधान—नहीं, स्योकि, जिन जीवोंकी कृपाय क्षीण अथवा उपशान्त हो गई है  
उन्में कर्मलेपना कारण योग पाया जाता है, इसलिये इस अपेक्षासे उनके सुकुलेश्याके सद्भाव  
मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

अब लेश्यारहित जीवोंके गुणस्थान बतलानेके लिये सूत्र कहते हैं—

१ तेषु पद्मश्यामीमगाइयिवादीनि अप्रमत्तस्थानात्तानि । स मि १ ८

२ सुकुलेश्यामी मिग्गाइयिवादीनि सयोगिकेवलीतानि । स मि १ ८

तेण परमलेस्सिसयां ॥ १४० ॥

कथम् ? बन्धहेतुयोगकृपायाभावात् । सुगममन्यत् ।

लेश्यासुखेन जीवपदार्थमभिधाय भव्याभव्यद्वारेण जीवास्तित्वप्रतिप्रादनार्थमाह—  
भवियणुवादेण अत्थि भवसिद्धिया अभवसिद्धिया ॥ १४१ ॥

भव्याः भविष्यन्तीति सिद्धिर्येषां ते भव्यसिद्धयः । तथा च भव्यसन्ततिच्छेदः  
स्थादिति चेन्न, तेपमानन्त्यात् । न हि सान्तस्यानन्त्यं विरोधात् । सव्ययरय निरायस्य  
राशेः कथमानन्त्यमिति चेन्न, अन्यथैकस्याध्यानन्त्यप्रसङ्गः । सव्ययस्यानन्तस्य न  
क्षयोऽस्तीत्येकान्तोऽस्ति स्वसंख्येयासंख्येयभागव्ययस्य राशेरनन्तस्यापेक्षया तद्विद्व्य-  
दिसंख्येयराशिर्व्ययतो न क्षयोऽपीत्यभ्युपगमात् । अर्द्धपुद्गलपरिवर्तनकालस्यानन्तस्यापि

तेरहद्वं गुणस्थानके आगे सभी जीव लेश्यारहित हैं ॥ १४० ॥

शंका—यह कैसे ?

समाधान—स्योकि, वहांपर बन्धके कारणभूत योग और कृपायका अभाव है । शेष  
कथन सुगम है ।

लेश्यामार्गणके द्वारा जीवपदार्थका कथन करके अब भव्याभव्य मार्गणके द्वारा जीवोंके  
अस्तित्वके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं ।

भव्यमार्गणके अनुवादसे भवसिद्ध और अभवसिद्ध जीव होते हैं ॥ १४१ ॥

जो आगे सिद्धिको प्राप्त होंगे उन्हें भव्यसिद्ध जीव कहते हैं ।

शंका—इसप्रकार तो भव्यजीवोंकी सततिका उच्छेद हो जायगा ?

समाधान—नहीं, स्योकि, भव्यजीव अनन्त होते हैं । हां, जो राशि सान्त होनी है  
उसमें अनन्तपत्ता नहीं बन सकता है, स्योकि, सान्तको अनन्त माननेमें विरोध आता है ।

शंका—जिस राशिका निरन्तर व्यय चालू है, परंतु उसमें आय नहीं होती है तो  
उसके अनन्तपत्ता कैसे बन सकता है ?

समाधान—नहीं, स्योकि, यदि सव्यय और निराय राशिको भी अगन्त न माना  
जाये तो पक्षको भी अनन्तके माननेका प्रसंग आ जायगा । व्यय होते हुए भी अनन्तका क्षय  
नहीं होता है, यह पक्षान्त नियम है, इसलिये जिसके सख्यातवें और असंख्यातवें भागका  
व्यय हो रहा है ऐसी राशिका, अनन्तकी अपेक्षा उसकी दो तीन आदि सख्यात राशिके व्यय  
होनेसे भी क्षय नहीं होता है, ऐसा स्वीकार किया है ।

शंका—अर्द्धपुद्गलपरिवर्तनरूप काल अनन्त होते हुए भी उसका क्षय देखा जाता है,

१ अलेश्या अयोगिकेवलीनि । स मि १ ८

२ एव मत्तुच्छेओ कोट्टिगास्स वा अवकयति ति । त नागतत्तणओत्पागायएल्लयण व ॥ ज चत्तीता-



॥ ११७ ॥

शयदेशानादनंज्ञानिक आनन्दहेतुरिति चेत्र, उभयोर्भिननियन्धनवः प्राप्तानन्तयोः  
 नाम्नाभानोऽन्धेद्रुद्रलभिरित्तिनस्य मानमानन्यामाभात् । तद्यथा, अर्द्धेद्रुद्रलपरिवर्तनकालः  
 नश्योऽयन्तः अर्द्धेद्रुद्रलव्यपर्यन्तत्वात् । केवलमनन्तत्वात् द्विपयत्वाद्वा । जीवराशिस्तु  
 प्रुनः संन्येयराशिनयोऽपि निर्मूलप्रलयामादादन्त इति । अथवा छत्रस्यानुपलब्ध्यपेक्षा-  
 मन्येयानन्यत्वादिनि विद्येयगात्रा नानंज्ञानिक इति । किं च सव्ययस्य निरवशेष-  
 श्येऽप्युपस्थाप्यमाने कालस्यापि निरवशेषयो जायेत सव्ययत्वं प्रत्यविशेषात् । अस्तु  
 चेत्र, मूलप्रयायप्रयनोऽपस्य वस्तुनः प्रक्षीणस्वल्पश्रणस्याभावापत्तेः । युक्तिमनु-  
 पगच्छतां कथं पुनर्मन्यन्त्विति चेत्र, युक्तिगमनयोपयतापेक्षया तेषां भव्यव्यपदेगात् । न

इतलिये भव्य राशिके क्षय न होनेसे जो अनन्तरूप हेतु दिया है वह व्याभिचारित ही जाता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, भिन्न भिन्न कारणोंसे अनन्तरूपनेहो प्राप्त भव्यराशि और  
 अर्द्धेद्रुद्रल परिवर्तनरूप काल इन दोनों राशियोंमें समानताका अभाव है, और इतलिये अर्द्धेद्रुद्रल-  
 परिवर्तन काल साम्यामें अनन्तरूप नहीं है । आगे इन्हींका स्पष्टीकरण करते हैं—

'अर्द्धेद्रुद्रल परिवर्तनकाल इत्यस्मादित हीने द्रुग भी इतलिये अनन्त है कि छत्रस्थ जीवोंके  
 द्वारा उमत्ता एत नहीं पाया जाता है । किंतु कालकाल वास्तवमें अनन्त है । अथवा,  
 क्षान्तको शिष्य करनेवाला होनेसे वह अनन्त है । जीवराशितो, उमत्ता सव्ययत्वेन भागरूप  
 राशिके क्षय ही होने पर भी निर्मूल नारा नहीं होनेसे, अनन्त है । अथवा, उपर जो भव्य  
 राशिके क्षय नश होनेमें अनन्तरूप हेतु दे शोधे है । उतमें 'छत्रस्थ जीवोंके द्वारा अनन्तकी  
 उपलब्धि नहीं होती है, इस उपोक्तके बिना ही' यह विद्येयण लगा देनेसे अतीक्षास्तिक दोष  
 नहीं जाता है । दूसरे व्ययसहित अनन्तके सर्वथाक्षय मान लेनेपर कालका भी सर्वथा क्षय  
 हो जायगा, क्योंकि, व्ययस्मरित होनेके प्रति दोनों समान हैं ।

शंका—यदि ऐसा ही मान लिया जाय तो क्या दानि है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, ऐसा माननेपर कालकी समस्त पर्यायोंके क्षय हो जानेसे  
 दूसरे द्रव्योंकी स्वल्पश्रणरूप पर्यायोंका भी अभाव हो जायगा और इतलिये समस्त वस्तुओंके  
 क्षयानी आपत्ति आ जायगी ।

शंका—मुक्तिको नहीं जानेवाले जीवोंके भव्यपना कैसे बन सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, मुक्ति जानेकी योग्यताकी अपेक्षा उनके भव्य संज्ञा  
 बन जाती है । भिन्ने भी जीव मुक्ति जानेके योग्य होते हैं चे सब नियमसे कलकरहित होते हैं

पाठशास्त्र [ ५ ] अधो ५ अध्याय । ११७ ] आत्मशास्त्रात् । अथ तद्विजो धिय सुतो ज तो वि  
 न-अस्मत्त । एता न मरुःको रोष नई कदाभिनं मिद्र । सात्तामातस्यपगतमागो ऋ किं च सुको वि ।  
 स्वात्तयो ऋ कोऽय मात्तागो ऋ परिशुच ॥ रि मा ३३०६-२३०९ ।

च योग्याः सर्वेऽपि नियमेन विरूकलका भवन्ति सुवर्णपाषाणेन व्यभिचारात् । उक्तं च—  
 एय-णिगोद-सरीरे जीवा दव्य-णमागदो दिद्रा ।

सिद्धेहि अणत-गुणा सचेण वितीद-का'ण' ॥ २१० ॥

तद्विपरिता. अभव्याः । उक्तं च—

भरिया सिद्धो जेसि जीवाण ते भगति मप सिद्धा ।

तविचरीदाग्ना ससाराहो ण सिद्धति' ॥ २११ ॥

भव्यगुणस्थानप्रतिपादनार्थमाह—

भवसिद्धिया एइंदिय-पहुडि जाव अजोगिकेवलि ति' ॥ १४२ ॥

सुगममेतत् ।

अभव्यानां गुणस्थाननिरूपणायाह—

अभवसिद्धिया एइंदिय-पहुडि जाव सणि-मिच्छाइहि  
 ति' ॥ १४३ ॥

पेसा कोई नियम नहीं है, क्योंकि, सर्वथा ऐसा मान लेने पर स्वर्णपाषाणसे व्यभिचार आ  
 जायगा । महा भी है—

द्रव्यममाणकी अपेक्षा सिद्धराशिसे और सपूर्ण अनंत कालमें जननगुणें जीव प्रक  
 तिनोदशरीरसे देने गये हैं ॥ २१० ॥

भव्योंसे विपरित अर्थात् मुक्तिगमनकी योग्यता न मानेवाले अभय जीव होते हैं ।  
 कहा भी है—

जिन जीवोंकी अनन्तद्युष्ट्यरूप सिद्धि होनेवाली हो अथवा जो उमत्ता प्राप्तिके  
 योग्य हों उन्हें भव्यनिद्र कहते हैं । और इनसे विपरित अभय होते हैं । जो समस्तमें निराल-  
 कर तभी भी मुक्तिको प्राप्त नहीं होते हैं ॥ २११ ॥

अथ भव्यजीवोंके गुणस्थानोंका प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

भव्यसिद्ध जीव पंडुन्द्रियसे लेकर अयोगिभवली गुणस्थानतक होते हैं ॥ १४० ॥

इस सूत्रका अर्थ सुगम है—

अथ अभव्यजीवोंके गुणस्थानका निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

अभव्यसिद्ध जीव एकौन्द्रियसे लेकर संबन्धी मिथ्यादृष्टि गुणस्थानतक होते हैं ॥ १४३ ॥

१ गो जी १९६

२ गो जी २०७. ( भवमिद्धा ) अतः विडेडंविद्योग्यताया भव्यानां त्रि ण्णत् । ची. प्र टी.

३ भव्यासुमदिन मंत्रेण चतुर्दशापि मति । ग मि १.८

४ अभय आय तु द्याने । स मि १.८

एतदपि सुगमम् ।

सम्प्रत्ताणुवादेण अत्थि सम्माइही खइयसम्माइही वेदग-  
सम्माइही उवसमसम्माइही सासणसम्माइही सम्मामिच्छाइही  
मिच्छाइही चेदि ॥ १४४ ॥

आप्रनन्तत्थनिम्मानामाप्रनव्यपदेशवन्मिथात्वादीनां साम्यवत्त्वव्यपदेशो  
न्यायः । सुगममन्यत् । उक्तं च—

उप्यच-गन-निहण अथाण जिणवरोवइद्राण ।

आणए अरिगमेण व सहहण होइ समत्त' ॥ २१२ ॥

मीणे दसण-मोहे ज सहहण सुणिमल होई ।

त लाइय-समत्त णिच्च कम्म-यखण-हेऊ' ॥ २१३ ॥

वयणेहि णि हेऊहि णि इदिय भय-आणएहि रुवेहि ।

वीहउ-मुगुछहि ण सो ते-लेकेण चोलेज्ज' ॥ २१४ ॥

इस सूत्रका अर्थ भी सुगम है ।

अथ साम्यस्वमार्गणके अनुवादसे जीवोंके अस्तित्वके प्रतिपादन करनेके लिये  
मत्र कहते हैं—

सम्यक्स्वमार्गणके अनुवादसे सामान्यकी अपेक्षा साम्यदृष्टि और विशेषकी अपेक्षा  
धायिकसम्यदृष्टि, वेदान्तसम्यदृष्टि, उपशमसम्यदृष्टि, सासादनसम्यदृष्टि, साम्यमिथ्यादृष्टि  
और मिथ्यादृष्टि जीव होते हैं ॥ १४४ ॥

जिसप्रकार आप्रवन्के भीतर रहनेवाले नीमके वृक्षोंको आप्रवन् यह संज्ञा प्राप्त हो  
जाती है, उसीप्रकार मिथ्यान्व आदिको सम्यक्त्व यह संज्ञा देना उचित ही है । शेष कथन  
सुगम है । करा भी है—

जिनेन्द्रियके द्वारा उपदिष्ट छह द्रव्य, पाच अस्तिकाय और नव पदार्थोंका आत्मा  
अथवा अविगमसे श्रद्धान करनेको सम्यक्त्व कहते हैं ॥ २१२ ॥

स्वीनमोहनीय कर्मके सर्वथा क्षय हो जाने पर जो निर्मल श्रद्धान होता है वह धायिक  
सम्यक्त्व है । जो नित्य है और कर्मके क्षणका कारण है ॥ २१३ ॥

श्रद्धानको भ्रष्ट करनेवाले वचन या हेतुओंसे अथवा इन्द्रियोंको भय उत्पन्न करनेवाले

१ भाष्य पूर्वपत्र ६६ गाथापूरेन आगता । तदियण तु गाताण मम्मन्ने उवणुण । भावेण गरत्तस  
पत्तं ण विपारिण ॥ उव २८ १५

२ गो जी. ६५६

३ गो जी ६८०

दसणमोहदुदयादो उपपज्जइ ज पयथ-सहहण ।

चल-मलिनमगाढं तं वेदग-समत्तमिह सुणसु' ॥ २१५ ॥

दसणमोहवसमदो उपपज्जइ ज पयथ सहहण ।

उवसम-सम्मत्तमिण पसण-मल पक-तोय-सम' ॥ २१६ ॥

सम्यग्दर्शनस्य सामान्यस्य धायिकसम्यग्दर्शनस्य च गुणनिरूपणार्थमाह—

सम्माइही खइयसम्माइही असंजदसम्माइहि-पहुडि जाव  
अजोगिकेवल्लि ति' ॥ १४५ ॥

किं तत्सम्यक्त्वगतसामान्यमिति चेत्त्रिष्वपि सम्यग्दर्शनेषु यः साधारणोऽज्ञास्त-  
त्सामान्यम् । धायिकधायोपशमिकौपशमिकेषु परस्परतो भिन्नेषु किं सादृश्यमिति चेन्न,

आकारोंसे या वीभत्स अर्थात् निन्दित पदार्थोंके देखनेसे उत्पन्न हुई ग्लानिले, कि बहुना तीन  
लोकमें भी वह धायिक सम्यग्दर्शन चलायमान नहीं होता है ॥ २१४ ॥

सम्यक्त्वमोहनीय प्रकृतिके उदयसे पदार्थोंका जो जल, मलिन और अगाढरूप श्रद्धान  
होता है उसको वेदक सम्यग्दर्शन कहते हैं ऐसा ही शिष्य तू समझ ॥ २१५ ॥

दर्शनमोहनीयके उपशमसे कीचड़के नीचे बैठ जानेसे निर्मल जलके समान पदार्थोंका,  
जो निर्मल श्रद्धान होता है वह उपशमसम्यग्दर्शन है ॥ २१६ ॥

अथ सामान्य सम्यग्दर्शन और धायिकसम्यग्दर्शनके गुणस्थानोंके निरूपण  
लिये सूत्र कहते हैं—

सामान्यसे सम्यदृष्टि और विशेषकी अपेक्षा धायिकसम्यदृष्टि जीव असंयतसम्य-  
दृष्टि गुणस्थानसे लेकर अयोगिकेवली गुणस्थानतक होते हैं ॥ १४५ ॥

शंका—सम्यक्त्वमें रहनेवाला वह सामान्य क्या वस्तु है ?

समाधान—तीनों ही सम्यग्दर्शनोंमें जो साधारण धर्म है वह सामान्य शब्दसे यहाँ  
पर विवक्षित है ।

शंका—धायिक, धायोपशमिक और औपशमिक सम्यग्दर्शनोंके परस्पर भिन्न भिन्न

१ गो जी ६४९ नाना मीमिक्षेषु चलताति चल सृत्त । लसत्तल्लोमालासु जलमलमस्थित ॥  
स्वगतिसिद्धेवेतादो दोग्य मेऽपकस्सि । अन्यस्यायमिति आभ्यार मोहइच्छाद्वीनपि वेधते ॥ तदयल वमाहात्य  
पत्तं सम्यक्त्वदर्शनं । मलिन मलयगेण शुद्ध स्वर्णमिवोद्भूते ॥ स्थान एव स्थित कंभ्रमगादमिति कीर्यते ।  
बुद्धादिसिखलत्तस्थाना मत्तले स्थिता ॥ समेऽयन तगतिले सेवपावततामय । दती-रमे प्रभुवेऽस्सा इत्यारथा  
सुत्तामपि ॥ गो जी २५ जी प्र टी उ-इत्था

२ गो जी ६५०

३ सम्प्रत्ताणुवादेण धायिकसम्यग्दर्शनो अतस्तसम्यग्दर्शनादिनि अयोगनेत्र यत्तानि सन्ति । म सि २ ८

तत्र यथार्थश्रद्धानं प्रति माम्योपलम्भात् । क्षयक्षयोपशमोपशमविगिणाना यथार्थ-  
श्रद्धानाना कथं समानंति चेद्वयतु विशेषानां भेदो न विशेष्यस्य यथार्थश्रद्धानस्य ।  
गुणममन्यत् ।

वेदरूपस्य दर्शनगुणसंन्यप्रतिपादनार्थमाह—

**वेदरासम्माहृदी असंजदसम्माहृदि-पहुडि जाव अपमपत-  
संजदा सिं ॥ ११६ ॥**

उपनिषद्गुणेषु किमिति वेदरूपस्य कथं नास्तीति चेन्न, अगाढसमलश्रद्धानेन  
यद् अपमोपजगम्यश्रेयारोपणानुपात्तः । वेदरूपस्य कृतवादीपगमिकसम्यक्त्वस्य कथ-  
मायिप्यतेति चेन्न, दर्शनमोहोदयजनितशैथिल्योद्वेस्तासत्तानन्दान्नाभिक्रयोपलम्भात् ।

तेने एव नन्दताग त्या वस्तु हो सकती है ?

गमाधान—नहीं, क्योंकि, उन तीनों सम्यग्दर्शनोंमें यथार्थ श्रद्धानके प्रति समानता  
पाई जाती है ।

शंका—एव, क्षयोपशम एव उपशम विशेषणसे युक्त यथार्थ श्रद्धानोंमें समानता  
होगे हो सकती है ?

गमाधान—विशेषणोंमें भेद नके ही रहा अथे, परतु इससे यथार्थ श्रद्धानरूप  
विशेष्यमें भेद नहीं पडता है ।

शेव वराजा अर्थ मुगम है ।  
अथ वेदरूपस्य दर्शनोंके गुणस्थानोंकी सभ्यके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र  
कहाँ है—

वेदरूपस्य दर्शित जीव जगयनसम्यग्दर्शसे लेरूप अपमससयत गुणस्थानतक  
होये है ॥ ११६ ॥

शंका—ऊपरके शब्दों आदि गुणस्थानोंमें वेदरूपस्य दर्शनें क्यों नहीं होता है ?

गमाधान—नहीं होता, क्योंकि, अगाढ आदि मलसहित श्रद्धानके साथ अपक  
होए उपशम श्रेणीका चरना नहीं बनता है ।

शंका—वेदरूपस्य दर्शनसे औपशमिक सम्यग्दर्शनकी अधिकता अर्थात् विशेषता  
कैसे संभव है ?

गमाधान—नहीं, क्योंकि, दर्शनमोहनीयके उदयसे उत्पन्न हुई शिथिलता आदि  
औपशमिक सम्यग्दर्शनमें नहीं पाई जाती है, इसलिये वेदरूपस्य दर्शनसे औपशमिकस्य-  
दर्शनमें विशेषता स्पष्ट हो जाती है

श्रद्धानके विशेषणोंमें गमाधानपर्यन्त दर्शनमें समानतापाने । न सिं १ ८

कथमस्य वेदकसम्यग्दर्शनव्यपदेश इति चेदुच्यते । दर्शनमोहोदयको वेदकः, तस्य  
सम्यग्दर्शनं वेदरूपस्य दर्शनम् । कथं दर्शनमोहोदयवता सम्यग्दर्शनस्य सम्भन इति  
चेन्न, दर्शनमोहनीयस्य देशघातिन उदये तस्यपि जीवस्वभावश्रद्धानस्यैकदेशे सत्य-  
विरोधात् । देशघातिनो दर्शनमोहनीयस्य कथं सम्यग्दर्शनव्यपदेश इति चेन्न, सम्य-  
ग्दर्शनसाहचर्यात्तस्य तद्व्यपदेशविरोधात् ।

औपशमिकसम्यग्दर्शनगुणस्थानप्रतिपादनार्थमाह—

**उवसमसम्माहृदी असंजदसम्माहृदि-पहुडि जाव उवसंत-  
कसाय वीयराय-छटुमस्था सिं ॥ ११७ ॥**

गुणममेतत् ।

**सासणसम्माहृदी एकस्मिं चय सासणसम्माहृदि-पहुणे ॥ ११८ ॥**

शंका—धातुपरामिक सम्यग्दर्शनको वेदक सम्यग्दर्शन याद सता केशे प्राप्त होती है ?

समाधान—दर्शनमोहनीय कर्मके उदयता वेदन करनेवाले जीवको वेदक कहते हैं ।  
उसके जो सम्यग्दर्शन होता है उसे वेदरूपस्य दर्शन कहते हैं ।

शंका—जिनके दर्शनमोहनीय कर्मका उदय विद्यमान है उनके सम्यग्दर्शन कैसे पाया  
जा सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, दर्शनमोहनीयकी देशघाति प्रकृतिके उदय रहने पर भी  
जीवके स्वभावरूप श्रद्धानके षट्देश रहनेमें कोई निरोध नहीं आता है ।

शंका—दर्शनमोहनीयकी देशघाति प्रकृतिको सम्यग्दर्शन यह सता कैसे वी गई ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, सम्यग्दर्शनके साथ सहचर संन्य होनेके कारण उवको  
सम्यग्दर्शन इस सताके देनेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

अव औपशमिक सम्यग्दर्शनके गुणस्थानोंके प्रतिपादन करनेके लिये पूरा कहते हैं—  
उपशमनस्य दर्शित जीव असयतसम्यग्दर्शित गुणस्थानसे लेरूप उपशान-कषाय-  
वीतराग छमस्थ गुणस्थानतक होते हैं ॥ ११७ ॥

इस सूत्रका अर्थ मुगम है ।

अव सासादनसम्यक्त्व आदि संबन्धी गुणस्थानोंके प्रतिपादन करनेके लिये तीन  
सूत्र कहते हैं—

सासादनसम्यग्दर्शित जीव एक सासादनसम्यग्दर्शित गुणस्थानमें ही होते हैं ॥ ११८ ॥

श्रद्धानके विशेषणोंमें गमाधानपर्यन्त दर्शनमें समानतापाने । न सिं १ ८

सम्भामिच्छाइही एकस्मि चैय सम्भामिच्छाइहिद्वाने ॥१४९॥  
मिच्छाइही एइदिय-पहुडि जाव सण्णि-मिच्छाइहिं ति ॥१५०॥

सुगमस्त्रात्रिष्वप्येतेषु सूत्रेषु न वक्तव्यमस्ति ।

सम्यग्दर्शनदेशप्रतिपादनार्थमाह—

णेइया अत्थि मिच्छाइही सासण-सम्भाइही सम्भामिच्छा-  
इही असंजदसम्भाइहिं ति ॥ १५१ ॥

अथ स्याद्गतनिरूपणायामस्यां गतौ इयन्ति गुणस्थानानि सन्ति, इयन्ति न सन्तीति निरूपितत्वान्न वक्तव्यमिदं सूत्रम्, सम्यक्त्वनिरूपणार्थां गुणस्थाननिरूपणान्न सराभावाच्चेति न, विस्मृतपूर्वोक्तार्थस्य प्रतिपाद्यस्य तमर्थं संस्मर्य तत्र तत्र गतौ सम्यग्दर्शनदेशप्रतिपादनप्रवणत्वात् । सुगममन्यत् ।

एवं जाव सत्तसु पुढवीसु ॥ १५२ ॥

सम्यग्मिथ्याद्यष्टि जीव एव सम्यग्मिथ्याद्यष्टि गुणस्थानमें ही होते हैं ॥ १४९ ॥

मिथ्याद्यष्टि जीव एकेन्द्रियसे लेकर संबन्धी मिथ्याद्यष्टितक होते हैं ॥ १५० ॥

इन तीनों सूत्रोंका अर्थ सुगम है, अतएव इनके विषयमें अधिक कुछ भी नहीं कहना है ।

अथ सम्यग्दर्शनका मार्गणाओंमें निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

नारकी जीव मिथ्याद्यष्टि मासादानमम्यद्यष्टि सम्यग्मिथ्याद्यष्टि और असंयतसम्यद्यष्टि गुणस्थानवर्ती होते हैं ॥ १५१ ॥

शंका— गतिमार्गणाका निरूपण करते समय 'इस गतिमें इतने गुणस्थान होते हैं और इतने नहीं होते हैं' इस बातका निरूपण कर ही आये हैं, इसलिये इस सूत्रके कथनकी कोई आवश्यकता नहीं है । अथवा, सम्यग्दर्शनमार्गणाके निरूपण करते समय गुणस्थानोंके निरूपणका अवसर ही नहीं है, इनलिये भी सूत्रके कथनकी आवश्यकता नहीं है ?

गममाधान—नहीं, क्योंकि, जो शिष्य पूर्वोक्त अर्थको भूल गया है उसके लिये, उस अर्थका पुनः स्मरण कराके उन उन गतियोंमें सम्यग्दर्शनके भेदोंके प्रतिपादन करनेमें यह सूत्र समर्थ है, इसलिये इन सूत्रका अवतार हुआ है । शेष कथन सुगम है ।

अथ सातों प्रयित्तियोंमें सम्यग्दर्शनके निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

एसीप्रकार सातों प्रयित्तियोंमें प्रारम्भके चार गुणस्थान होते हैं ॥ १५२ ॥

\* गममादानम्यद्यष्टि मिथ्याद्यष्टि चैव सन्ति । ग ति १५०

कथं सामान्यवद्विशेषः स्यादिति चेन्न, विशेषव्यतिरिक्तसामान्यस्यासत्त्वात् । नाव्यतिरेकोऽपि द्वयोरभावासञ्जननात् । नोभयपक्षोऽपि पक्षद्वयोक्तदोषासञ्जननात् । नानुभयपक्षोऽपि निःस्पृहभावप्रसङ्गात् । न च सामान्यविशेषयोरभाव एव प्राप्तजात्यन्तर-त्वेनोपलभ्यात् । ततः सूक्तमेतदिति स्थितम् ।

सम्यग्दर्शनविशेषप्रतिपादनार्थमाह—

णेइया असंजदसम्भाइहिं-द्वाने अत्थि खइयसम्भाइही वेदग-  
सम्भाइही उवसमसम्भाइही चेदि ॥ १५३ ॥

सुगममेतत् ।

एवं पढमाए पुढवीए णेरइआ ॥ १५४ ॥

एतदपि सुबोधयम् ।

शंका—सामान्य कथनके समान ही विशेष कथन कैसे हो सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, विशेषको छोड़कर सामान्य नहीं पाया जाता है, इसलिये सामान्य कथनसे विशेषका भी बोध हो जाता है । इससे सामान्य और विशेषमें सर्वथा अभेद भी नहीं समझ लेना चाहिये, क्योंकि, दोनोंमें सर्वथा अभेद मान लेने पर दोनोंका अभाव हो जायगा । इसीप्रकार इन दोनोंमें सर्वथा उभयपक्ष अर्थात् सर्वथा भेद और सर्वथा अभेद भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि, ऐसा माननेपर दोनों पक्षमें द्विये गये दोष प्राप्त हो जायगे । सामान्य और विशेषको सर्वथा अनुभयरूप भी नहीं मान सकते हैं, क्योंकि, ऐसा मान लेनेपर वस्तुको निःस्वभावताका प्रसंग आ जायगा । परंतु इसप्रकार सामान्य और विशेषका अभाव भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि, जात्यन्तर अवस्थाको प्राप्त होने के रूपसे उन दोनोंकी उपलब्धि होती है । इसलिये ऊपर जो कथन किया है वह सर्वथा ठीक है, यह बात निश्चित हो जाती है ।

अथ सम्यग्दर्शनका मार्गणाओंमें प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

नारकी जीव असंयतसम्यद्यष्टि गुणस्थानमें श्रायिकनमम्यद्यष्टि, चैरकसम्यद्यष्टि, और उपशमसम्यद्यष्टि होते हैं ॥ १५३ ॥

इस सूत्रका अर्थ सुगम है ।

अथ प्रथम प्रयित्तियोंमें सम्यग्दर्शन बतलानेके लिये सूत्र कहते हैं—

एसीप्रकार प्रथम प्रयित्तियोंमें नारकी जीव होते हैं ॥ १५४ ॥

इस सूत्रका अर्थ भी सुबोध है ।

अथ शेष प्रयित्तियोंमें सम्यग्दर्शनके निरूपण करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

विद्विद्यादि जाव सत्तमाए पुढवीए णेरइया असंजदसमाह्वये  
द्वारेण स्वइयसमाह्वये णरिथि, अवसेसा अरिथि ॥ १५५ ।

मत्तप्रकृतीषु क्षीणानु किमिति तत्र नोत्पद्यन्त इति चेत्स्वाभाव्यात् । तत्रत्याः  
किमिति नष्टप्रकृतीनि क्षययन्तीति चेन्न, तत्र जिनानामभावात् ।  
निर्यादांशप्रतिपादनार्थमाह—

तिरिक्खा अरिथि मिच्छाइही सासणसमाह्वये सम्मभिच्छा-  
इही असंजदसमाह्वये संजदासंजदा रि ॥ १५६ ॥

संन्यस्तशरीरत्वात्तद्धारणां तिरथा किमिति संयमो न भवेदिति चेन्न,  
अन्तरायाः गत्तनिष्ठेणैरभावात् । किमिति तदभावधेनातिविशेषात् ।  
एवं जाव संन्यदीवन्सुहेसु ॥ १५७ ॥

इसरी पृथिवीलेखे मातयां पृथिवीतक नारकी जीव असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें  
क्षायिकसम्यग्दृष्टि नहीं होते हैं । शेषके दो सम्यग्दर्शनोंसे युक्त होते हैं ॥ १५५ ॥

शंका—सम्यक्तरनी प्रतिबन्धक सात प्रकृतियोंके क्षय दो जानेपर क्षायिकसम्यग्दृष्टि  
जीव तिरिथीयारि पृथिवियोंमें क्यों उत्पन्न नहीं होते हैं ?  
यमाधान — ऐसा स्वप्न ही है कि क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव द्वितीयादि पृथिवियोंमें  
नहीं उत्पन्न होते हैं ।

शंका—द्वितीयादि पृथिवियोंमें रहनेवाले नारकी सम्यक्त्वजी प्रतिबन्धक सात प्रकृ-  
तियोंका क्षय क्यों नहीं करते हैं ?

यमाधान — नहीं, क्योंकि, नष्टापर जिनेश्वका अभाव है ।  
एक निर्दिष्ट गतिमें विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—  
तिरिच भिय्यागए, सामादगसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यागए, असंयतसम्यग्दृष्टि और  
सयत्तासयत्ता होते हैं ॥ १५६ ॥

शंका — शरीरसे सत्यास प्राण कर लेनेके कारण चिन्तोंने आहारका त्याग कर दिया  
है वेसे तिरिचोंके संयम क्यों नहीं होता है ?

यमाधान — नहीं, क्योंकि, उनके आभ्यन्तर सकल-नियुत्तिका अभाव है ।  
शंका — उनके आभ्यन्तर सकल-नियुत्तिका अभाव क्यों है ?

यमाधान — जिस ज्ञानमें वे उत्पन्न हुए हैं उसमें संयम नहीं होता यह नियम है,  
इसलिये उनके संयम नहीं पाया जाता है ।

एक तिरिचोंके और तिरिच प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—  
इसीप्रकार संपूर्ण क्षीण समुद्रयती तिरिचोंमें समझना चाहिये ॥ १५७ ॥

स्वयम्भवादारान्मात्रुपोचरत्परतो भोगभूमिसमानत्वाच्च तत्र देशत्रतिनः सन्ति  
तत एतत्संज्ञं न घटत इति न, चैरसम्बन्धेन देवैर्दानवैर्विद्याप्य शिखितानां सर्वत्र  
सत्त्वाविरोधात् ।

सम्यग्दर्शनविशेषप्रतिपादनार्थमाह—

तिरिक्खा असंजदसमाह्वये-द्वारेण अरिथि खइयसमाह्वये वेदग-  
समाह्वये उवसमसमाह्वये ॥ १५८ ॥

तिरिक्खा संजदासंजद-द्वारेण खइयसमाह्वये णरिथि अवसेसा  
अरिथि ॥ १५९ ॥

तिरिक्खु क्षायिकसम्यग्दृष्टयः संयतासंयताः किमिति न गन्तीति चेन्न, क्षायिक-  
सम्यग्दृष्टीना भोगभूमिसन्तरेणोत्पत्तेरभावात् । न च भोगभूमिमुत्पन्नानामनुव्रतोपादानं  
सम्भवति तत्र तद्विरोधात् । सुगममन्यत् ।

शंका — स्वयम्भूरमण द्वीपवर्ती स्वयम्भ प्रपर्वतके इस ओर और मातुलेतर पर्वतके  
दूस ओर असत्प्रायत द्वीपोंमें भोगभूमिके समान रचना होनेसे वहापर देशजनी नरी पाये जाते  
हैं, इसलिये यह सूत्र घटित नहीं होता है ?

यमाधान — नहीं, क्योंकि, चैरके संबन्धसे देवों अथवा दानवोंके द्वारा कर्मभूमिसे  
उठाकर डाले गये कर्मभूमिज तिरिचोंका सब जगह राक्षस होनेमें कोई विरोध नहीं आता है,  
इसलिये वहापर तिरिचोंके पात्रों गुणस्थान बन जाते हैं ।

अप तिरिचोंमें सम्यग्दर्शनके विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

तिरिच असयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें क्षायिकसम्यग्दृष्टि, वेदकसम्यग्दृष्टि और उपराम-  
सम्यग्दृष्टि होते हैं ॥ १५८ ॥

अप तिरिचोंके पांचवें गुणस्थानमें विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

तिरिच सयतासयत गुणस्थानमें क्षायिकसम्यग्दृष्टि नहीं होते हैं । शेषके दो सम्य-  
ग्दर्शनोंसे युक्त होते हैं ॥ १५९ ॥

शंका—तिरिचोंमें क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव सयतासयत क्यों नहीं होते हैं ?

यमाधान — नहीं, क्योंकि, तिरिचोंमें यदि क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न होते हैं तो  
वे भोगभूमिमें ही उत्पन्न होते हैं, दूसरी जगह नहीं । परंतु भोगभूमिमें उत्पन्न हुए जीवोंके  
अणुव्रतकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि, वहांपर अणुव्रतके होनेमें आगमसे विरोध  
आता है । शेष कथन सुगम है ।

अब तिरिच-विशेषोंमें प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

एवं पंचिदिय-तिरिक्खा पंचिदिय-तिरिक्ख पज्जत्ता ॥ १६० ॥

एतदपि सुबोध्यम् ।

पंचिदिय-तिरिक्ख-जोणिणीसु असंजदसम्माइड्ढि-संजदासंजद-  
द्वारेण खइयसम्माइड्ढी णत्थि, अवसेसा अत्थि ॥ १६१ ॥

तत्र शायिकसम्यग्दृष्टीनामुत्पत्तेरभावात्तत्र दर्शनमोहनीयस्य क्षपणाभावाच्च ।

मनुष्यदेशप्रतिपादनार्थमाह—

मणुस्सा अत्थि मिच्छाइड्ढी सासणसम्माइड्ढी सम्माभिच्छाइड्ढी  
असंजदसम्माइड्ढी संजदासंजदा संजदा ति ॥ १६२ ॥  
सुगममेतत् ।

एवमट्ठाइज्ज-दीव-समुद्देशु ॥ १६३ ॥

वैरसम्बन्धेन क्षिप्तानां संयताना संयतासंयतानां च सर्वद्वीपसमुद्रेषु सभवा  
भवन्ति चेन्न, मानुषोत्तरारण्यतो देवस्य प्रयोगतोऽपि मनुष्याणां गमनाभावात् ।

इसीप्रकार पचेन्द्रिय तिर्यच और पचेन्द्रिय-पर्याप्त-तिर्यच भी होते हैं ॥ १६० ॥

इस सूत्रका अर्थ भी सुबोध्य है ।

अब योनिमती तिर्यचोंमें विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

योनिमती-पचेन्द्रिय-तिर्यचोंके असंयतसम्यग्दृष्टि और संयतासंयत गुणस्थानमें  
शायिकसम्यग्दृष्टि नहीं होते हैं । शेषके दो सम्यग्दर्शनोंसे युक्त होते हैं ॥ १६१ ॥

योनिमती पचेन्द्रिय तिर्यचोंमें शायिकसम्यग्दृष्टि जीव मरकर उत्पन्न नहीं होते हैं  
और जो वहा उत्पन्न होते हैं उनके दर्शनमोहनीयका क्षय नहीं होता है, अतः वहां शायिक  
सम्यग्दर्शन नहीं पाया जाता है ।

अब मनुष्योंमें विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

मनुष्य मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यगभिध्यादृष्टि, असंयतसम्यग्दृष्टि, संयता-  
संयत और संयत होते हैं ॥ १६२ ॥

इस सूत्रका अर्थ सुगम है—

उन्हीं और विशेष कहनेके लिये सूत्र कहते हैं—

इसीप्रकार ढाई द्वीप और दो समुद्रोंमें जानना चाहिये ॥ १६३ ॥

शेका—चैरके सबन्धसे डालि गये संयत और संयतासंयत आदि मनुष्योंका संपूर्ण

द्वीप और समुद्रोंमें सद्भाव रहा आवे, ऐसा मान लेनेमें क्या हानि है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, मानुषोत्तर पर्वतके उस तरफ देवकी प्रेरणासे भी  
मनुष्योंका गमन नहीं हो सकता है । ऐसा न्याय भी है कि जो स्वत असमर्थ होता है वह

न हि स्वतोऽसमर्थोऽन्यतः समर्थो भवत्यतिप्रसङ्गात् । अथ स्यादर्धतृतीयशब्देन किमु  
द्वीपो विशिष्यते उत समुद्र उत द्वावपीति ? नान्त्योपान्त्यविकल्पौ मानुषोत्तरारण्यतोऽपि  
मनुष्याणामस्तित्वप्रसङ्गात् । अस्तु चेन्न, द्वीपत्रये मनुष्याणां सत्त्वप्रसङ्गात् । न तदपि  
सुखविरोधोऽत् । नादिविकल्पोऽपि समुद्राणां संख्यानियमाभावतः सर्वसमुद्रेषु तत्सत्त्व-  
प्रसङ्गादिति ।

अत्र प्रतिविधीयते । नान्त्योपान्त्यविकल्पोक्तदोषाः समाटौकन्ते, तयोरनभ्यु-  
पगमात् । न प्रथमविकल्पोक्तदोषोऽपि द्वीपेष्वर्धतृतीयसंख्येषु मनुष्याणामस्तित्वनियमे  
सति शेषद्वीपेषु मनुष्याभावसिद्धिन्मानुषोत्तरत्वं प्रत्यविशेषतः शेषसमुद्रेषु तदभावसिद्धेः ।  
नाशेषसमुद्राणां मानुषोत्तरत्वमसिद्धमारात्तनर्द्धीपभागस्याप्यन्यथा मानुषोत्तरत्वानुपपत्तेः ।  
ततः सामर्थ्याद् द्वयोः समुद्रयोः सन्तीत्यनुक्तमप्यवगम्यते ।

दूसरोंके सबन्धसे भी समर्थ नहीं हो सकता है । यदि ऐसा न माना जावे तो अतिप्रसंग दोष  
आ जायगा । अत मानुषोत्तरके उस ओर मनुष्य नहीं पाये जाते हैं ।

शेका—अर्धतृतीय शब्द द्वीपका विशेषण है या समुद्रका अथवा दोनोंका ? इनमेंसे  
अन्तके दो विकल्प तो बराबर नहीं हैं, क्योंकि, वैसा मान लेने पर मानुषोत्तर पर्वतके उस  
तरफ भी मनुष्योंके अस्तित्वका प्रसंग आ जायगा । यदि यह कहा जावे कि अच्छी बात है,  
मानुषोत्तरके परे भी मनुष्य पाये जावे सो भी कबना ठीक नहीं है, क्योंकि, इसप्रकार तो  
तीन द्वीपोंमें मनुष्योंके सद्भावका प्रसंग आता है । और वैसा माना नहीं जा सकता, क्योंकि,  
सूत्रसे विरोध आता है । इसीप्रकार पहला विकल्प भी नहीं बन सकता है, क्योंकि, इसप्रकार  
द्वीपोंकी सख्याका नियम होने पर भी समुद्रोंकी सख्याका कोई नियम नहीं बनता है, इसलिये  
समस्त समुद्रोंमें मनुष्योंके सद्भावका प्रसंग प्राप्त होता है ?

समाधान—दूसरे और तीसरे विकल्पमें दिये गये दोष तो प्राप्त ही नहीं होते हैं,  
क्योंकि, परमागममें वैसा माना ही नहीं गया है । इसीप्रकार प्रथम विकल्पमें दिया गया दोष  
भी प्राप्त नहीं होता है, क्योंकि, ढाई द्वीपमें मनुष्योंके अस्तित्वका नियम हो जानेपर शेषके  
द्वीपोंमें जिसप्रकार मनुष्योंके अभावकी सिद्धि हो जाती है उसीप्रकार येन समुद्रोंमें भी  
मनुष्योंका अभाव सिद्ध हो जाता है, क्योंकि ढाई द्वीपोंको छोड़कर शेष द्वीपोंकी तरफ दो समु-  
द्रोंके अतिरिक्त शेष समुद्र भी मानुषोत्तरसे परे हैं, अतः शेष द्वीपोंकी तरफ शेष समुद्रोंके भी  
मानुषोत्तरसे परे होनेमें कोई विशेषता नहीं है । इसप्रकार शेष द्वीपोंके लिये जो नियम लागू है वही  
शेष समुद्रोंके लिये भी हो जाता है । इसलिये शेष समुद्रोंमें मनुष्योंका अभाव है यह बात निश्चित  
हो जाती है । शेषके संपूर्ण समुद्रोंका मानुषोत्तर पर्वतके उस तरफ होना असिद्ध भी नहीं है,  
अन्यथा समीपवर्ती द्वीपभागके भी मानुषोत्तर पर्वतके उस तरफ होना सिद्ध नहीं होगा । इस-  
लिये सामर्थ्यसे दो समुद्रोंमें मनुष्य पाये जाते हैं, यह बात बिना कहे ही जानी जाती है ।



सम्यग्दर्शनविशेषप्रतिपादनार्थमाह--

मणुसा असंजदसम्माइडि-संजदासंजद-संजद-इणे अत्थि  
सम्माइड्डी वेदयसम्माइड्डी उवसमसम्माइड्डी ॥ १६४ ॥

सुगमत्वान्नात्र वक्तव्यमस्ति ।

एवं मणुस-पज्जत्त-मणुसिणीसु ॥ १६५ ॥

एतदपि सुगमम् ।

देवादेशप्रतिपादनार्थमाह --

देवा अत्थि भिच्छाइड्डी सासणसम्माइड्डी सम्मामिच्छाइड्डी असं-  
जदसम्माइड्डी ति ॥ १६६ ॥

एवं जाव उवरिम-उवरिम-भेवज्ज-विमाण-वासिय-देवा ति  
॥ १६७ ॥

देवा असंजदसम्माइड्डी-इणे अत्थि खडयसम्माइड्डी वेदय-  
सम्माइड्डी उवसमसम्माइड्डी ति ॥ १६८ ॥

अथ मनुष्योंमें सम्यग्दर्शनके विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं--

मनुष्य असयतनसम्यग्दृष्टि, गयतामयत और मयत गुणस्थानोंमें आधिक्यसम्यग्दृष्टि  
प्राप्तकरनाएतदिति और उपगमसम्यग्दृष्टि होते हैं ॥ १६४ ॥

इस सूत्रका अर्थ सुगम होनेसे यथा पर विशेष कहते योग्य नहीं है ।

अथ विशेष मनुष्योंमें विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं--

इमीप्रकार पर्याप्त मनुष्य और पर्याप्त मनुष्याचार्योंमें भी जानना चाहिये ॥ १६५ ॥

इस सूत्रका अर्थ भी सुगम है ।

अथ तैवोंमें विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं--

एव मिय्याएत्थि, सामानुत्तनसम्यग्दृष्टि, समग्गिमथ्याएत्थि और असयतसम्यग्दृष्टि  
होते हैं ॥ १६६ ॥

अथ उक्त अर्थके तैव-विशेषोंमें प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं--

इमीप्रकार उपरिम श्रेयस्फले उपरिम पटल तकके देव जानना चाहिये ॥ १६७ ॥

अथ तैवोंमें सम्यग्दर्शनके श्रेयोंके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं--

एव प्रमयतनसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें आधिक्यसम्यग्दृष्टि, वेदकसम्यग्दृष्टि और उपशम-

सुगमत्वार्हत्वात्त्रितये न किञ्चिद्वक्तव्यमस्ति ।

भवणवासिय-वाणवेंतर-जोइसिय-देवा देवीओ च सोधम्मीसाण-  
कप्पवासिय-देवीओ च असंजदसम्माइडि-इणे खडयसम्माइड्डी णत्थि  
अवसेसा अत्थि अवसेसियाओ अत्थि ॥ १६९ ॥

किमिति क्षायिकसम्यग्दृष्टयस्तत्र न सन्तीति चेन्न, देवेषु दर्शनमोहक्षपणाभावा-  
त्क्षपितदर्शनमोहकर्मणामपि प्राणिनां भजनवास्यादिष्यधर्मदेवेषु सर्वदेवीषु चोत्पत्तेर-  
भावाच्च । शेषसम्यक्त्वदृश्यस्य तत्र कथं नमभव इति चेन्न, तत्रोत्पन्नजीवानां पृथक्त्तरप-  
र्यायपरिणतेः सत्त्वात् ।

सोधम्मीसाण-एत्थुडि जाव उवरिम-उवरिम-भेवज्ज-विमाण-  
वासिय देवा असंजदसम्माइडि-इणे अत्थि खडयसम्माइड्डी वेदग-  
सम्माइड्डी उवसमसम्माइड्डी ॥ १७० ॥

सम्यग्दृष्टि होते हैं ॥ १६८ ॥

पूर्वोक्त तैनों सूत्रोंका अर्थ सुगम होनेसे इनके विषयमें अविना कुछ भी नहीं कहना है।  
अथ भवतवासी आदि देवोंमें विशेष प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं--

भवतवासी, वानव्यन्तर और ज्योतिषी देव तथा उनका देविया और सौधर्म तथा  
ईशानकरुचवासी देवियां असयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें आधिक्यसम्यग्दृष्टि नहीं होने हैं या  
नहीं होती हैं । शेषके दो सम्यग्दर्शनोंसे युक्त होते हैं या होती हैं ॥ १६९ ॥

अंता--आधिक्यसम्यग्दृष्टि जिन उक्त स्थानोंमें क्यों नहीं होते हैं ?

समाधान--नहीं, क्योंकि, परन्तु तो वहांपर दर्शनमोहनियका क्षपण नहीं होता है ।  
दूसरे जिन जीवोंने पूर्व पर्यायमें दर्शनमोहनियता शय कर दिया है उनकी भवतवासी आदि  
अधम देवोंमें और सभी देवियोंमें उत्पत्ति नहीं होती है ।

अंका--शेषके दो सम्यग्दर्शनोंका उक्त स्थानोंमें सद्भाव कैसे संभव है ?

समाधान--नहीं, क्योंकि, वहांपर उत्पन्न हुए जीवोंके अन्तर सम्यग्दर्शनरूप  
पर्याय हो जाती है, इसलिये शेषके दो सम्यग्दर्शनोंका वहांपर सद्भाव पाया जाता है ।  
अथ शेष देवोंमें सम्यग्दर्शनके भेद बतलानेके लिये सूत्र कहते हैं--

सौधर्म और पेशान करुसे लेकर उपरिम श्रेयस्फले उपरिम भागतक रहनेवाले

देव असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानमें आधिक्यसम्यग्दृष्टि, वेदकसम्यग्दृष्टि और उपशमसम्यग्दृष्टि  
होते हैं ॥ १७० ॥



प्रकृतिकेन्द्रियमदिति चेन्नस्त्वेषां यदि मनोऽनपेक्ष्य ज्ञानोत्पत्तिमात्रमाश्रित्यासंज्ञित्वस्य  
निवृत्तमिति चेन्नमनसोऽभावाद् मुद्रयतिशयाभावात्, ततो नानन्तरोक्तदोष इति सुगममेतत् ।

असृणी पृंदिद्य-पहुडि जाव असृणिण-पंचिदिया ति' ॥१७४॥

एतदपि सुगमं सूत्रम् ।

आहारगुणान् जीवप्रतिपादनार्थमाह—

आहाराणुवादेण अत्थि आहारा अणाहारा ॥ १७५ ॥

एतदपि सुगमम् ।

आहारगुणप्रतिपादनार्थमाह—

आहारा पृंदिद्य-पहुडि जाव सजोगिकेवलि ति' ॥ १७६ ॥

अत्र कालयोगमनःकर्माहारान् परित्यज्य नोऽकर्माहारो ग्राह्यः, अन्यथाहारकाल-  
विरहान्यां नह निरोधात् ।

जीवोंकी तरह यात्र पदार्थोंका ग्रहण करते हैं ?

यमाधान—यदि मन्त्री अपेक्षा न करके कालकी उत्पत्तिमात्रका आश्रय करके जानो-  
रगति कर्मणोकी कारण होती तो ऐसा होता। परंतु ऐसा तो है नहीं, क्योंकि, कदाचित् मनके  
भ्रामसे विकलेन्द्रिय जीवोंकी तरह केवलीके बुद्धिके अतिशयका अभाव भी कहा जावेगा,  
रमलिये केवलीके पूर्वोक्त दोष लागू नहीं होता है। नौप कथन सुगम है ।

असृणी जीवोंके गुणस्थान बतलानेके लिये सूत्र कहते हैं—

असृणी जीप पकेन्द्रियमे लेकर असृणी पनेन्द्रियपर्यन्त होते हैं ॥ १७४ ॥

यत्र सूत्र सुगम है ।

यत्र आहारस्मार्गणाके छान जीवोंके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

आहारस्मार्गणाके अनुवादसे आहारक ओर अनाहारक जीव होते हैं ॥ १७५ ॥

यह सूत्र भी सुगम है ।

यत्र आहारस्मार्गणामें गुणस्थानोंके प्रतिपादन करनेके लिये सूत्र कहते हैं—

आहारक जीप पकेन्द्रियसे लेकर सजोगिकेवली गुणस्थानतक होते हैं ॥ १७६ ॥

यदापर आहार शब्दसे कजलाहार, लेपाहार, ऊमाहार, मानसिकाहार और कर्माहारकी  
छोड़कर नोऽकर्माहारका ही ग्रहण करना चाहिये । अन्यथा आहारकाल और विरहके साथ  
विरोध जाता है ।

१. अतिरिक्त विषय-विषयम् । म मि १. ८.

२. अतिरिक्त विषय-विषयम् । म मि १. ८.

अणाहारा चटुसु ड्वाणेसु विगहगइ-समावण्णाणं केवलीणं वा  
समुग्धाद-गदाणं अजोगिकेवली सिद्धा चेदि ॥ १७७ ॥

एते शरीरआयोग्यपुद्गलोपादानरहितत्वादानाहारिण उच्यन्ते ।

इदि संत-सुत्त-विवरण समच ।

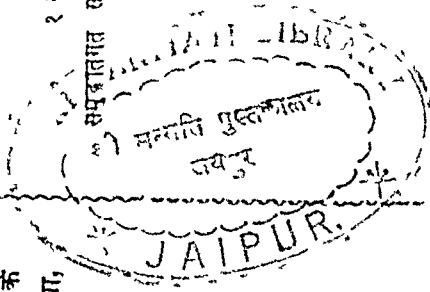
अत्र अनाहारकोंके गुणस्थान बतलानेके लिये सूत्र कहते हैं—

विप्रद्वगतिको प्राप्त जीवोंके मिव्यात्व, सासादन और अविस्तसम्पदृष्टि तथा समुदा-  
तगत केवलियोंके सजोगिकेवली, इन चार गुणस्थानोंमें रहनेवाले जीव और अजोगिकेवली  
तथा सिद्ध अनाहारक होते हैं ॥ १७७ ॥

ये जीव शरीरके योग्य पुद्गलोंका ग्रहण नहीं करते हैं, इसलिये अनाहारक होते हैं ।

इसप्रकार सत्यरूपणा-सूत्र-विवरण समाप्त हुआ ।

१ अनाहारियों विप्रद्वग्यापणेषु त्रीणि गुणस्थानानि, पित्थाणि सामादनमस्यपरिपरपपामस्यदृष्टिश्च ।  
समुक्तागत सजोगिकेवली जोगिकेवली च । म मि १. ८





# परिशिष्ट

## १ संत-परुवणा-सुत्तानि

| सूत्र संख्या | सूत्र  | पृष्ठ | सूत्र संख्या  | सूत्र | पृष्ठ |
|--------------|--|-------|---|-------|-------|
| १            | णमो अरिहंतानं णमो सिद्धानं<br>णमो आइरियानं णमो उवल्हा-<br>यानं णमो लोए सव्वसाहूणं<br>इदि ।                     | ११    | १ ओघेण अत्थि मिच्छाइही ।  | १५१   | २५    |
| २            | एत्तो इमेमि चोइसण्हं जीविसमा-<br>माणं मग्गणट्टराए तत्थ इमाणि<br>चोइम चैव द्वाणणि गायव्याणि<br>मांति ।          | १२    | १० सासणसम्माइही ।   | १५२   | २६    |
| ३            | तं जहा ।   | १३    | ११ सम्माभिच्छाइही ।   | १५६   | २६    |
| ४            | गह इंदिए ऋए जोवे वेदे ऋएए<br>णाणे मंजमे दंमणे लेस्सा भविय<br>मम्मत्त सण्णि आत्तरए चेदि ।                       | १३    | १२ असंजदमम्माइही ।  | १७०   | २७    |
| ५            | एत्तमिं नेम चोइसण्हं जीविसमा-<br>माणं पन्त्तणट्टराए तत्थ इमाणि<br>अट्ट अणियोगइराणि णाय-<br>व्याणि भवंति ।      | १३    | १३ संजदासंजदा ।   | १७३   | २७    |
| ६            | तं जहा ।   | १५    | १४ पमत्तसंजदा ।   | १७५   | २७    |
| ७            | मंतपरुवणा दव्वपमाणायुगमो<br>गेत्ताणुगमो फोगणायुगमो<br>ऋलाणुगमो अंतराणुगमो भागा-<br>णुगमो अप्पावदुगणुगमो चेदि । | १५    | १५ अप्पमत्तसंजदा ।  | १७८   | २७    |
| ८            | मतपन्त्तणराए दुट्ठिहो णिंदसो<br>ओघेण आदेसेण य ।  | १५    | १६ अपुव्वऋणपविट्टसुद्विसंजदेसु<br>अत्थि उवममा सत्ता ।                                   | १७९   | २७    |
|              |  |       | १७ अणियद्विवादरसांपराइयपविट्टसु-<br>द्विसंजदेसु अत्थि उवसमा सत्ता ।                     | १८३   |       |
|              |  |       | १८ सुहुममापराइयपविट्टसुद्विसंजदेसु<br>अत्थि उवममा सत्ता ।                               | १८७   |       |
|              |  |       | १९ उवमंतऋसायवीयरायल्लदुमत्था ।  | १८८   |       |
|              |  |       | २० सीणऋसायवीयरायल्लदुमत्था ।  | १८९   |       |
|              |  |       | २१ सजोगेक्खली ।   | १९०   |       |
|              |  |       | २२ अजोगेक्खली ।   | १९२   |       |
|              |  |       | २३ सिद्धा चेदि ।  | २००   |       |
|              |  |       | २४ आदेसेण गदियाणुवादेण अत्थि<br>णियगदी निरिस्सगदी मणुस्स-<br>गदी देवगदी मिद्दगदी चेदि । | २०१   |       |

| सूत्र संख्या | सूत्र   | पृष्ठ | सूत्र संख्या  | सूत्र | पृष्ठ |
|--------------|---|-------|---|-------|-------|
| २५           | णेइया चउट्टणेसु अत्थि मिच्छा-<br>इही सासणसम्माइही सम्मा-<br>भिच्छाइही असंजदसम्माइहि<br>त्ति ।   | २०४   | ३० तिरिक्खा मिस्सा सण्णिमिच्छा-<br>इट्ठिप्पहुडि जाव संजदासंजदा<br>त्ति ।  | २२८   |       |
| २६           | तिरिक्खा पंचसु द्वाणेषु अत्थि<br>भिच्छाइही सासणसम्माइही<br>सम्माभिच्छाइही असंजदसम्मा-<br>इही संजदासंजदा त्ति ।  | २०७   | ३१ मणुस्सा मिस्सा मिच्छाइहि-<br>प्पहुडि जाव संजदासंजदा त्ति ।   | २३१   |       |
| २७           | मणुस्सा चोइससु गुणद्वारेणसु<br>अत्थि मिच्छाइही, सासणसम्मा-<br>इही, सम्माभिच्छाइही, असंजद-<br>सम्माइही, संजदासंजदा, पमत्त-<br>संजदा, अप्पमत्तसंजदा, अपुव्व-<br>ऋणपविट्टसुद्विसंजदेसु अत्थि<br>उवममा सत्ता, अणियद्विवादर-<br>सांपराइयपविट्टसुद्विसंजदेसु अत्थि<br>उवसमा सत्ता, सुहुमसांपराइय-<br>पविट्टसुद्विसंजदेसु अत्थि उव-<br>समा सत्ता, उवमंतऋसायवीय-<br>रायल्लदुमत्था, सीणऋसायवीय-<br>रायल्लदुमत्था, सजोगेक्खली,<br>अजोगेक्खलि त्ति । | २१०   | ३१ मणुस्सा मिस्सा मिच्छाइहि-<br>प्पहुडि जाव संजदासंजदा त्ति ।   | २३१   |       |
| २८           | देवा चट्टसु द्वाणेषु अत्थि मिच्छा-<br>इही मानणमम्माइही सम्मा-<br>भिच्छाइही अमंजदमम्माइहि<br>त्ति ।  | २२५   | ३२ तेण परं सुद्धा मणुस्सा ।   | २३१   |       |
| २९           | तिरिक्खा सुद्धा एइदियप्पहुडि<br>जाव अमण्णिपंचिदिया त्ति ।   | २२७   | ३३ इंदिया त्तिदिया चट्टरिदिया<br>पंचिदिया अणिदिया चेदि ।  | २३१   |       |
|              |   |       | ३४ एइदिया दुविहा, वादरा सुहुमा ।<br>वादरा दुविहा, पजत्ता अपजत्ता ।<br>सुहुमा दुविहा, पजत्ता अपजत्ता ।   | २४९   |       |
|              |   |       | ३५ त्तिदिया दुविहा, पजत्ता अप-<br>जत्ता । त्तिदिया दुविहा, पजत्ता<br>अपजत्ता । चट्टरिदिया दुविहा,<br>पजत्ता अपजत्ता । पंचिदिया<br>दुविहा, सण्णी अमण्णी । सण्णी<br>दुविहा, पजत्ता अपजत्ता ।<br>अमण्णी दुविहा, पजत्ता अप-<br>जत्ता चेदि । | २५८   |       |
|              |   |       | ३६ एइदिया त्तिदिया त्तिदिया<br>चट्टरिदिया अमण्णिपंचिदिया<br>एक्कमिं चैव मिच्छाइहिद्वारेण ।  | २६१   |       |
|              |   |       | ३७ पंचिदिया अमण्णिपंचिदियप-<br>हुडि जाव अजोगेक्खलि त्ति ।   | २६२   |       |
|              |   |       | ३८ तेण परमण्णिदिया इदि ।  | २६४   |       |
|              |   |       | ३९ कायाणुवादेण अत्थि पुद्धविक्का-<br>इया आउक्काइया तेउक्काइया   |       |       |

( ३ )

| सूत्र संख्या | सूत्र   | सूत्र संख्या | सूत्र   | पृष्ठ |
|--------------|---|--------------|---|-------|
| ४०           | वाउकाइया वणफइकाइया तस-<br>काइया अकाइया चेदि ।   | २६४          | काइया एकम्मि चये मिच्छा-<br>इट्टिइणो ।  | २७४   |
| ४१           | पुढविकाइया दुविहा, वादरा<br>सुहुमा । वादरा दुविहा, पज्जत्ता<br>अपज्जत्ता । सुहुमा दुविहा,<br>पज्जत्ता अपज्जत्ता । आउकाइया<br>दुविहा, वादरा सुहुमा । वादरा<br>दुविहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता ।<br>सुहुमा दुविहा, पज्जत्ता अप-<br>ज्जत्ता । तेउकाइया दुविहा,<br>वादरा सुहुमा । वादरा दुविहा,<br>पज्जत्ता अपज्जत्ता । सुहुमा दुविहा,<br>पज्जत्ता अपज्जत्ता । वाउकाइया<br>दुविहा, वादरा सुहुमा । वादरा<br>दुविहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता ।<br>सुहुमा दुविहा, पज्जत्ता अप-<br>ज्जत्ता चेदि । | २६७          | ४४ तसकाइया वीइंदियप्पहुडि जाव<br>अजोगिकेवल्लि ति ।  | २७५   |
| ४२           | वणफइकाइया दुविहा, पत्तेय-<br>सरीरा साधारणसरीरा । पत्तेय-<br>सरीरा दुविहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता ।<br>साधारणसरीरा दुविहा, वादरा<br>सुहुमा । वादरा दुविहा, पज्जत्ता<br>अपज्जत्ता । सुहुमा दुविहा,<br>पज्जत्ता अपज्जत्ता चेदि ।   | २६८          | ४५ वादरकाइया वादरेइंदियप्पहुडि<br>जाव अजोगिकेवल्लि ति ।   | २७६   |
| ४३           | पुढविकाइया आउकाइया तेउ-<br>काइया वाउकाइया वणफइ-   | २७२          | ४६ तेण परमकाइया चेदि ।  | २७७   |
|              |   |              | ४७ जोगाणुवादेण अत्थि मणजोगी<br>वाचिजोगी कायजोगी चेदि ।  | २७८   |
|              |   |              | ४८ अजोगी चेदि ।   | २८०   |
|              |   |              | ४९ मणजोगो चउव्विहो, सच्चमण-<br>जोगो मोसमणजोगो सच्चमोस-<br>मणजोगो असच्चमोसमणजोगो<br>चेदि ।           | २८०   |
|              |   |              | ५० मणजोगो सच्चमणजोगो असच्च-<br>मोसमणजोगो सण्णिमिच्छाइट्टि-<br>प्पहुडि जाव सजोगिकेवल्लि ति ।         | २८२   |
|              |   |              | ५१ मोसमणजोगो सच्चमोसमणजोगो<br>सण्णिमिच्छाइट्टिप्पहुडि जाव<br>खीणकसायवीयरारयछदुमत्था<br>त्ति ।       | २८५   |
|              |   |              | ५२ वाचिजोगो चउव्विहो, सच्चवाचि-<br>जोगो मोसवाचिजोगो सच्चमोस-<br>वाचिजोगो असच्चमोसवाचिजोगो<br>चेदि । | २८६   |
|              |   |              | ५३ वाचिजोगो असच्चमोसवाचि-<br>जोगो वीइंदियप्पहुडि जाव<br>सजोगिकेवल्लि ति ।                           | २८७   |

( ४ )

| सूत्र संख्या | सूत्र  | सूत्र संख्या | सूत्र  | पृष्ठ |
|--------------|--|--------------|--|-------|
| ५४           | सच्चवाचिजोगो सण्णिमिच्छाइट्टि-<br>प्पहुडि जाव सजोगिकेवल्लि ति ।  | २८८          | ५४ कम्मइयकायजोगो एइंदिय-<br>प्पहुडि जाव असंजदमम्म-<br>इट्टि ति ।               | ३०५   |
| ५५           | मोसवाचिजोगो सच्चमोसवाचि-<br>जोगो सण्णिमिच्छाइट्टिप्पहुडि<br>जाव खीणकसायवीयरारयछदु-<br>मत्था ति ।   | २८९          | ५३ आहारकायजोगो आहारमिस्त-<br>कायजोगो एकस्सिह चैव पमच-<br>संजदइणो ।             | ३०६   |
| ५६           | कायजोगो सच्चविहो, ओरालिय-<br>कायजोगो ओरालियमिस्तकाय-<br>जोगो वेउव्वियकायजोगो वेउ-<br>व्वियमिस्तकायजोगो आहार-<br>कायजोगो आहारमिस्तकायजोगो<br>कम्मइयकायजोगो चेदि । | २८९          | ५४ कम्मइयकायजोगो एइंदिय-<br>प्पहुडि जाव सजोगिकेवल्लि ति ।                      | ३०७   |
| ५७           | ओरालियकायजोगो ओरालिय-<br>मिस्तकायजोगो तिरिक्खमणु-<br>स्साणं ।  | २९५          | ५५ मणजोगो वाचिजोगो कायजोगो<br>सण्णिमिच्छाइट्टिप्पहुडि जाव<br>सजोगिकेवल्लि ति । | ३०८   |
| ५८           | वेउव्वियकायजोगो वेउव्विय-<br>मिस्तकायजोगो देवणेइयणं ।  | २९६          | ५६ वाचिजोगो कायजोगो वीइंदिय-<br>प्पहुडि जाव असण्णिणपंचिदिया<br>त्ति ।          | ३०९   |
| ५९           | आहारकायजोगो आहारमिस्त-<br>कायजोगो संजदाणमिद्धिपत्ताणं ।  | २९७          | ५७ कायजोगो एइंदियाण ।  | ३०९   |
| ६०           | कम्मइयकायजोगो विग्गहाइ-<br>समावण्णाणं केतलीणं वा समु-<br>ग्घादगदाणं ।  | २९८          | ५८ मणजोगो वाचिजोगो पज्जत्ताणं<br>अत्थि, अपज्जत्ताणं णत्थि ।                    | ३१०   |
| ६१           | कायजोगो ओरालियकायजोगो<br>ओरालियमिस्तकायजोगो एइं-<br>दियप्पहुडि जाव सजोगिकेवल्लि<br>त्ति ।  | ३०५          | ५९ कायजोगो पज्जत्ताण वि अत्थि,<br>अपज्जत्ताण वि अत्थि ।                        | ३१०   |
| ६२           | वेउव्वियकायजोगो वेउव्विय-<br>मिस्तकायजोगो सण्णिमिच्छा-   |              | ७० छ पज्जत्तीओ, छ अपज्जत्तीओ ।   | ३११   |
|              |  |              | ७१ सण्णिमिच्छाइट्टिप्पहुडि जाव<br>असंजदसम्मइट्टि ति ।                          | ३१२   |
|              |  |              | ७२ पंच पज्जत्तीओ, पंच अपज्ज-<br>त्तीओ ।  | ३१३   |
|              |  |              | ७३ वीइंदियप्पहुडि जाव असण्णि-<br>पंचिदिया ति ।                                 | ३१३   |
|              |  |              | ७४ चत्तारि पज्जत्तीओ, चत्तारि<br>अपज्जत्तीओ ।                                  | ३१४   |



| सूत्र सख्या | सूत्र   | पृष्ठ | सूत्र सख्या  | सूत्र | पृष्ठ |
|-------------|---|-------|--|-------|-------|
| १०४         | तेण परमवगदेवेदा चेदि ।  | ३४४   | वामिय-देवीओ च मिच्छाइटि-   |       |       |
| १०५         | णेइया चटुसु ट्ठोणेसु सुद्धा णंउंसयवेदा ।                          | ३४५   | सासणसम्माइट्टिहोणे सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता, सिया पज्जत्तियाओ सिया अपज्जत्तियाओ ।  |       |       |
| १०६         | तिरिक्सा सुद्धा णंउंसयवेदा एइंदियप्पहुडि जाव चउरि-दिया ति ।       | ३४५   | ९७ सम्मामिच्छाइट्टि-अंसजदस-म्माइट्टिहोणे णियमा पज्जत्ता णियमा पज्जत्तियाओ ।  |       |       |
| १०७         | तिरिक्सा तिवेदा असणिण-पंचिदियप्पहुडि जाव संजदा-सजदा ति ।          | ३४६   | ९८ सोधम्मीसाणप्पहुडि जाव उव-रिमउवरिमोवज्जं ति विमाण-वासिय-देवेसु मिच्छाइट्टि-सास-णसम्माइट्टि-अंसजदसम्माइट्टि-होणे मिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता । |       |       |
| १०८         | मणुस्सा तिवेदा मिच्छाइट्टि-पहुडि जाव अणियट्टि ति ।                | ३४६   | ९९ मम्मामिच्छाइट्टिहोणे णियमा पज्जत्ता ।   |       |       |
| १०९         | तेण परमवगदेवेदा चेदि ।  | ३४७   | १०० अणुदिस-अणुत्तर-विजय-वइज-यंत-जयंतावराजित-सव्वट्ठसि-ट्टि-विमाणवासिय-देवा अस-जदसम्माइट्टिहोणे सिया-पज्जत्ता, सिया अपज्जत्ता ।                   |       |       |
| ११०         | देवा चटुसु ट्ठोणेसु दुवेदा, इत्थिवेदा पुरिसवेदा ।                 | ३४७   | १०१ वेदाणुवादेण अत्थि इत्थिवेदा पुरिसवेदा णंउंसयवेदा अवगद-वेदा चेदि ।  |       |       |
| १११         | रुसायाणुवादेण अत्थि कोध-कसाई माणकसाई मायकसाई लोभकसाई अकसाई चेदि । | ३४८   | १०२ इत्थिवेदा पुरिसवेदा असणिण-मिच्छाइट्टिहोणे जाव अणियट्टि ति ।  |       |       |
| ११२         | कोधकसाई माणकसाई माय-कसाई एइंदियप्पहुडि जाव अणियट्टि ति ।          | ३५१   | १०३ णंउंसयवेदा एइंदियप्पहुडि जाव अणियट्टि ति ।   |       |       |
| ११३         | लोभकसाई एइंदियप्पहुडि जाव सुद्धसांपराइयसुद्धिसंजदा ति ।           | ३५२   | १०४ अकसाई चटुसु ट्ठोणेसु अत्थि उवसंतकसायवीरयायछट्टुमत्था सीणकसायवीरयायछट्टुमत्था सजोगिकेवली अजोगिकेवलि ति ।                                      |       |       |

| सूत्र सख्या | सूत्र   | पृष्ठ | सूत्र सख्या   | सूत्र | पृष्ठ |
|-------------|---|-------|---|-------|-------|
| ७५          | एइंदियणं ।  | ३१४   | ८६ एवं पंचिदियतिरिक्सा पंचि-दियतिरिक्सपज्जत्ता ।  |       |       |
| ७६          | त्रोगालियकायजोगो पज्जत्ताणं, त्रोगालियमिस्सकायजोगो अप-ज्जत्ताणं ।                         | ३१५   | ८७ पंचिदियतिरिक्सजोगिणीसु मि-च्छाइट्टि मासणसम्माइट्टिहोणे-सिया पज्जत्तियाओ, सिया अपज्जत्तियाओ । |       |       |
| ७७          | पेटच्चियकायजोगो पज्जत्ताणं, पेटच्चियमिस्सकायजोगो अप-ज्जत्ताणं ।                           | ३१७   | ८८ मम्मामिच्छाइट्टि-अंसजदसम्मा-इट्टि-मंजदासजदहोणे णियमा पज्जत्तियाओ ।                           |       |       |
| ७८          | आहारकायजोगो पज्जत्ताणं, आहारमिस्सकायजोगो अपज्ज-त्ताणं ।                                   | ३१७   | ८९ मणुस्सा मिच्छाइट्टि-सासण-सम्माइट्टि-अंसजदसम्माइट्टिहोणे मिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता ।       |       |       |
| ७९          | णेउया मिच्छाइट्टि-अंसजद-मम्मामिच्छाइट्टिहोणे मिया पज्जत्ता गिया अपज्जत्ता ।               | ३१९   | ९० मम्मामिच्छाइट्टि-मंजदासजद-संजदहोणे णियमा पज्जत्ता ।  |       |       |
| ८०          | मासणसम्माइट्टि-मम्मामिच्छाइ-ट्टिहोणे णियमा पज्जत्ता ।                                     | ३२०   | ९१ एवं मणुस्सपज्जत्ता ।   |       |       |
| ८१          | एवं पट्टमाण पुट्ठीणं णेरइया ।   | ३२२   | ९२ मणुग्गिणीसु मिच्छाइट्टि-मासण-सम्माइट्टिहोणे मिया पज्जत्ति-याओ सिया अपज्जत्तियाओ ।            |       |       |
| ८२          | मिदियादि जाव मरसाए पुट्ठी-वीणं णेरइया मिच्छाइट्टिहोणे मिया पज्जत्ता, मिया अपज्जत्ता ।     | ३२३   | ९३ मम्मामिच्छाइट्टि-अंसजदसम्मा-इट्टि-मंजदानजदहोणे णियमा पज्जत्तियाओ ।                           |       |       |
| ८३          | मासणसम्माइट्टि-मम्मामिच्छाइ-ट्टि-अंसजदसम्माइट्टिहोणे णि-यमा पज्जत्ता ।                    | ३२३   | ९४ देवा मिच्छाइट्टि-सासणसम्माइट्टि-अंसजदसम्माइट्टिहोणे सिया पज्जत्ता सिया अपज्जत्ता ।           |       |       |
| ८४          | तिरिक्सा मिच्छाइट्टि-सासण-सम्माइट्टि-अंसजदसम्माइट्टि-होणे मिया पज्जत्ता, सिया अपज्जत्ता । | ३२५   | ९५ मम्मामिच्छाइट्टिहोणे णियमा पज्जत्ता ।  |       |       |
| ८५          | मम्मामिच्छाइट्टि-मंजदासजद-होणे णियमा पज्जत्ता ।   | ३२६   | ९६ भवणवासिय-याणवत्तर-जोडसिय-देवा देवीओ सोधम्मीसाण-कप्प-   |       |       |

( ७ )

| सूत्र संख्या | सूत्र   | सूत्र संख्या | सूत्र  | पृष्ठ |
|--------------|---|--------------|--|-------|
| ११५          | गाणानुवादेण अत्थि मदिअण्णाणी सुदअण्णाणी विभंगणाणी आभिणिवोहियणाणी सुदणाणी ओहिणाणी मणपज्जवणाणी केवलणाणी चेदि ।  | ३५३          | १२२ केवलगाणी तिसु ड्ढाणेसु सजोगकेवली अजोगकेवली सिद्धा चेदि ।   | ३६७   |
| ११६          | मदिअण्णाणी सुदअण्णाणी एइंदियप्पहुडि जाव सत्सणसम्माइड्ढि ति ।  | ३६१          | १२३ संजमाणुवादेण अत्थि संजदा सामाहयच्छेदेवट्ठावणसुद्धिसंजदा परिहारसुद्धिसंजदा सुहुमसांपराइयसुद्धिसंजदा जहाक्सादविहारसुद्धिसंजदा संजदासंजदा असंजदा चेदि । | ३६८   |
| ११७          | विसंगणणं सण्णिमिच्छाइड्ढिणं वा सत्सणसम्माइड्ढिणं ।  | ३६२          | १२४ संजदा पमत्तसंजदप्पहुडि जाव अजोगकेवलि ति ।  | ३७४   |
| ११८          | पज्जत्ताणं अत्थि, अपज्जत्ताणं गत्थि ।   | ३६२          | १२५ सामाहयच्छेदेवट्ठावणसुद्धिसंजदा पमत्तसंजदप्पहुडि जाव अणियट्ठि ति ।  | ३७४   |
| ११९          | सम्माभिच्छाइड्ढि-ट्ठणे तिण वि गाणाणि अण्णाणेण मिरसाणि । आभिणिवोहियणाणं मदिअण्णाणेण मिरसिय, सुदणाणं सुदअण्णाणेण मिरसियं, ओहिणाण विभंगणाणेण मिरसियं, तिणिण विगाणाणि अण्णाणेण मिरसाणि वा । | ३६३          | १२६ परिहारसुद्धिसंजदा देसु ड्ढाणेसु पमत्तसंजदट्ठणे अव्यमत्तसंजदट्ठणे ।   | ३७५   |
| १२०          | आभिणिवोहियणाण सुदणाणं ओहिणाणं असंजदसम्माइड्ढि-प्पहुडि जाव खीणकसायवीदारागछुदुमत्था ति ।  | ३६४          | १२७ सुहुमसांपराइयसुद्धिसंजदा ए कम्हि चैव सुहुमसांपराइयसुद्धिसंजद-ट्ठणे ।   | ३७६   |
| १२१          | मणपज्जवणाणी पमत्तसजदप्पहुडि जाव खीणकसायवीदारागछुदुमत्था ति ।  | ३६६          | १२८ जहाक्सादविहारसुद्धिसंजदा च-दुसु ट्ठणेसु उवसंतकसायवीयरायछुदुगत्था खीणकसायवीयरायछुदुमत्था सजोगि-केवली अजोगिकेवलि ति ।                                  | ३७७   |
|              |   | ३६६          | १२९ संजदासंजदा एकम्मि चैव संजदासंजद-ट्ठणे ।  | ३७८   |

( ८ )

| सूत्र संख्या | सूत्र  | सूत्र संख्या | सूत्र  | पृष्ठ |
|--------------|--|--------------|--|-------|
| १३०          | असंजदा एइंदियप्पहुडि जाव असंजदरात्ताम्माइड्ढि ति ।   | ३७८          | १३९ सुक्कलेस्सिया सण्णिमिच्छा-इट्ठिप्पहुडि जाव सजोगि-केवलि ति ।  | ३९१   |
| १३१          | दंसणाणुवादेण अत्थि चक्खु-दंसणी अचक्खुदंसणी ओधिदंसणी केवलदंसणी चेदि ।   | ३७८          | १४० तेण परमलेस्सिया ।  | ३९२   |
| १३२          | चक्खुदंसणी चउरिंदियप्पहुडि जाव खीणकसायवीयरायछुदुमत्था ति ।   | ३८३          | १४१ भवियाणुवादेण अत्थि भव-सिद्धिया अभवसिद्धिया ।   | ३९२   |
| १३३          | अचक्खुदंसणी एइंदियप्पहुडि जाव खीणकसायवीयरायछुदुमत्था ति ।  | ३८३          | १४२ भवसिद्धिया एइंदियप्पहुडि जाव अजोगिकेवलि ति ।   | ३९४   |
| १३४          | ओधिदंसणी असंजदसम्मा-इट्ठिप्पहुडि जाव खीणकसायवीयरायछुदुमत्था ति ।   | ३८४          | १४३ अभवसिद्धिया एइंदियप्पहुडि जाव सण्णि मिच्छाइड्ढि ति ।   | ३९४   |
| १३५          | केवलदंसणी तिसु ट्ठणेसु सजोगिकेवली अजोगिकेवली सिद्धा चेदि ।   | ३८५          | १४४ सत्सचाणुवादेण अत्थि सन्मा-इट्ठी उइयसम्माइड्ढी वेदग-सम्माइड्ढी उवनमसत्ताम्माइड्ढी सात्सणसत्ताम्माइड्ढी सम्मासि-च्छाइड्ढी मिच्छाइड्ढी चेदि । | ३९५   |
| १३६          | लेरसाणुवादेण अत्थि किणह-लेस्सिया गील्लेस्सिया काउ-लेस्सिया तेउलेस्सिया पम्म-लेरिसिया सुक्कलेस्सिया अले-स्सिया चेदि । | ३८६          | १४५ सम्माइड्ढी खइयसम्माइड्ढी असंजदसम्माइड्ढिप्पहुडि जा-व अजोगिकेवलि ति ।   | ३९६   |
| १३७          | किण्हलेस्सिया गील्लेस्सिया काउलेस्सिया एइंदियप्पहुडि जाव असंजदसम्माइड्ढि ति ।  | ३९०          | १४६ वेदगसम्माइड्ढी असंजदस-म्माइड्ढिप्पहुडि जाव अप्पम-त्तसंजदा ति ।   | ३९७   |
| १३८          | तेउलेस्सिया पम्मलेस्सिया सण्णिमिच्छाइड्ढिप्पहुडि जाव अप्पमत्तसजदा ति ।   | ३९१          | १४७ उवसमसत्ताम्माइड्ढी असंजदस-म्माइड्ढिप्पहुडि जाव उवसंत-कसायवीयरायछुदुमत्था ति ।  | ३९८   |
|              |  | ३९१          | १४८ सात्सणसत्ताम्माइड्ढी एकम्मि-चैव सात्सणसत्ताम्माइड्ढि-ट्ठणे ।   | ३९८   |
|              |  | ३९१          | १४९ सम्माभिच्छाइड्ढी एकम्मि चैव सम्माभिच्छाइड्ढि-ट्ठणे ।   | ३९९   |

| पृष्ठ | सूत्र सख्या | सूत्र  | पृष्ठ | सूत्र सख्या  | पृष्ठ |
|-------|-------------|--|-------|--|-------|
| १५०   | ३९९         | मिच्छाङ्गी एङ्दिप्यपुङ्ङि जाव मणिगमिच्छाङ्ङि चि ।  | १६०   | एवं पंचिद्वियतिरिक्त्वा पंचिद्वियलियसपञ्जत्ता ।  | १०३   |
| १५१   | ३९९         | गेरड्या अनिय मिच्छाङ्ङी मागणम्माङ्ङी नम्माभिच्छाङ्ङी अमजदग्गम्माङ्ङि चि ।                              | १६१   | पंचिद्वियतिरिक्त्वा जेण्णिगीसु अ-संजदमम्माङ्ङि-संजदाग्गंजदडाणे राज्यसम्माङ्ङी णत्थि, अन-मेसा अत्थि । | १०३   |
| १५२   | ३९९         | एवं जाव नचापु पुङ्ङीसु   | १६२   | मणुस्सा अत्थि मिच्छाङ्ङी सासणमल्लमाङ्ङी सरमाभिच्छा-ङ्ङी असंजदसम्माङ्ङी संजदा-मंजदा संजदा चि ।        | १०३   |
| १५३   | ४००         | गेरड्या अमजजग्गम्माङ्ङिद्वि-द्वेण्णे अनिय गड्यसम्माङ्ङी वेदरासम्माङ्ङी उगसममम्मा-ङ्ङी चेदि ।           | १६३   | एवमहुएङ्ङदीवसमुद्वु ।  | १०३   |
| १५४   | ४००         | एव पडमाए पृढवीए गेरड्या ।  | १६४   | मणुसा असंजदसग्गाङ्ङि-संज-दासंजद्वेण्णे अत्थि सङ्ग-सम्माङ्ङी वेदरासम्माङ्ङी उव-समगम्माङ्ङी ।          | १०५   |
| १५५   | ४०१         | त्रिद्वियादि जाव सत्तमाए पुढ-नीए गेरड्या अंगजदग्गम्माङ्ङि-त्राणे राज्यमम्माङ्ङी णत्थि, अ-आमंसा अत्थि । | १६५   | एवं मणुम-पञ्जत्तमणुसिणीसु ।  | १०५   |
| १५६   | ४०१         | तिरिक्त्वा अत्थि मिच्छाङ्ङी माणमम्माङ्ङी तम्माभिच्छा-ङ्ङी अंगजदग्गम्माङ्ङी संजदा-मजदा चि ।             | १६६   | देवा अत्थि मिच्छाङ्ङी साराण-सम्माङ्ङी मम्माभिच्छाङ्ङी असंजदनम्माङ्ङि चि ।                            | १०५   |
| १५७   | ४०१         | एवं जाव गग्ङीवमपुदेसु ।  | १६७   | एवं जाव उवरिमउवरिम-वेत्तेज्जिनिमाणमासियदेवा चि ।   | १०५   |
| १५८   | ४०१         | तिरिक्त्वा अमजदग्गम्माङ्ङि-त्राणे अत्थि राज्यमम्माङ्ङी वेदरासम्माङ्ङी उगसमम-म्माङ्ङी ।                 | १६८   | देवा असंजदसम्माङ्ङिद्वेण्णे अनिय राह्यसम्माङ्ङी वेद-सम्माङ्ङी उगसमग्गमाङ्ङि चि ।                     | १०५   |
| १५९   | ४०२         | तिरिक्त्वा संजदावजदवाणे राज्यमम्माङ्ङी णत्थि, अन-मेसा अत्थि ।  | १६९   | भवणत्रासियवाणवेत्तरजेज्जिमिय-देवा देवीओ च, सोधन्मी-साणकपत्तासियदेवीओ च असंजदसम्माङ्ङिद्वेण्णे सङ्ग-  | १०६   |

| पृष्ठ | सूत्र सख्या | सूत्र   | पृष्ठ | सूत्र सख्या  | पृष्ठ |
|-------|-------------|---|-------|--|-------|
| १७०   | ४०६         | सोधन्मीसाणपुहुडि जाव उव-रिमउवरिम-वेवज्जविलणवा-भियदेवा असंजदसम्माङ्ङिद्वेण्णे अत्थि राज्यसम्माङ्ङी वेदरा-सम्माङ्ङी उगसमसम्माङ्ङी ।           | १७३   | सर्पणी मिच्छाङ्ङियहुडि जाव खीणनारायवीयापचडुगारथा चि ।  | १०८   |
| १७१   | ४०६         | अणुदिमअणुत्तरविजयवज्जयं-तजयंतावरजिद्वसवडादिद्वि-निमाणनासियदेवा असंजद-सम्माङ्ङिद्वेण्णे अत्थि खयरा-सम्माङ्ङी वेदरासम्माङ्ङी उव-समसम्माङ्ङी । | १७४   | असण्णी एङ्दिप्यपुहुडि जाव असण्णिपंचिद्विया चि ।  | १०९   |
| १७२   | ४०८         | सण्णियाणुभादेण अत्थि सर्पणी असण्णी ।  | १७५   | आहाराणुभादेण अत्थि आहारा अणाहारा ।   | १०९   |
| १७३   | ४०९         | संजदावजदवाणे अत्थि खयरा-सम्माङ्ङिद्वेण्णे अत्थि खयरा-सम्माङ्ङी वेदरासम्माङ्ङी उव-समसम्माङ्ङी ।  | १७६   | आहारा एङ्दिप्यपुहुडि जाव सजेणिकेवलि चि ।   | १०९   |
| १७४   | ४०९         | संजदावजदवाणे अत्थि खयरा-सम्माङ्ङिद्वेण्णे अत्थि खयरा-सम्माङ्ङी वेदरासम्माङ्ङी उव-समसम्माङ्ङी ।  | १७७   | अणाहारा चटुसु ढाणेषु निग्ग-हणइयसावण्णां कं केवलीणं ना समुवादादणदाणं अजेणिकेवली सिद्धा चेदि । | ११०   |

२२



| कर्म संख्या               | गाथा                          | पुष्ट | अन्यत्र कहा | क्रम संख्या              | गाथा             | पुष्ट     | अन्यत्र कहा |
|---------------------------|-------------------------------|-------|-------------|--------------------------|------------------|-----------|-------------|
| १५ उत्तर यद् जागिजा       | ३० अत्र हा १, २               |       |             | १०९ इतिगुडमिचयमिस्स      | ७० गो. जी        | २२        |             |
| १६ अई चो च्चिन्ने         | १० मूलाचा.                    |       |             | ५८ दोणे लोभे भेगे        | ६३ वसु आ         | ५२७       |             |
| १७ जाण्णिमा मग्गी         | ३३३ मूलाचा.                   |       |             | १३१ विव्वति जदो णिच्च    | २०३ गो. जी       | १५१.      |             |
| १८ तस्स णि धम्मय          | ५४ इशो १, १३.                 |       |             | ४१ इत्तहत्तराजनाथो       | ५७ ति प २, ४६    | (मालतरूप) |             |
| १९ त्त क्कणमिग्गय         | २६६ गो जी. २०३.               |       |             | ३० देसकुलजारसुत्तो       | ४१ वसु आ ३८८     |           |             |
| २० त्त भाग्गो पुग्गि      | १३१ गो जी. २००                |       |             | २१५ वसणमोदुदयादो         | ३९६ गो जी १४९    |           |             |
| २१ जावत्तरा मरणमया        | २०३ गो जी. १०२.               |       |             | २१६ वसणमोदुवत्समदो       | " गो जी ६५०      |           |             |
| २२ जाणा कज्जयक्कज्ज       | ३८० गो जी ५१५.                |       |             | ७३ दंसणवदलामाइय          | २०२ गो. जी ४७७.  |           |             |
| २३ जाणदि पम्मन्दि         | ३३० गो. जी. २२०               |       |             | २९३ " " ३७३              | वसु आ. ३         |           |             |
| २४ जाणरिया यणपदा          | ८० गो. क. ८०३                 |       |             | ६३ धदगाखवपटिन्ने         | ६८               |           |             |
| २५ " " १२२                | १२२ " जी १४१                  |       |             | ५४ धणुराकारिञ्जित्तो     | ६२ जयध अ ९       |           |             |
| २६ जादि ग जाणु व          | १३२ गो जी १४१                 |       |             |                          |                  |           |             |
| २७ जिग्गमोभिण्णजल्लो      | ५९ जिग्गमोभिण्णजल्लो ५९.      |       |             | ७८ पढमो अरुत्ताण         | ११२              |           |             |
| २८ जीयो क्कत्ता य पत्ता   | ११८ गो जी. जी., प्र. डी., ३३६ |       |             | १२६ परमाणु-आदियाइ        | ३८२ गो जी ४८५    |           |             |
| २९ जीया चोरम्मोया         | ३७३ गो. जी. ४७८               |       |             | २९ पयणजल्लिजलो           | ४९               |           |             |
| ३० जेवि प्राउत्तमाइ       | ३०३ मूलाचा.                   |       |             | १७ पापं मलमिति प्रोक्त   | ३४ ति. प १, १७   |           |             |
| ३१ जेदि ण सति जोगा        | २८० गो जी. २४३.               |       |             | १४९ पुढवी य सक्रप        | २७२ मूलाचा. २०६  |           |             |
| ३२ जेदि उ लपिग्गत्तो      | १६२ गो. जी. ८                 |       |             | १७१ पुरुग्गमोणे सेदे     | ३४१ गो जी. २७३.  |           |             |
| ३३ जेणे सणमोमो            | २८६ गो जी २२१                 |       |             | १६० पुरुमहुदुदाबालं      | २९१ गो. जी २३०.  |           |             |
| ३४ जो तसक्कत्ताउरिजो      | १७५ गो. जी. ३१.               |       |             | १२१ पुब्बापुब्बफहय       | १८८              |           |             |
| ३५ ने माणणं गहण           | १४९ गो. जी. ४८२               |       |             | ३९ पृतनाक्कत्ताउनायक     | ५७               |           |             |
| ३६ ज्ञानं प्रमाणमित्याहुः | १७ लीण ६, ०                   |       |             | १९२ पत्तित्थउच्चिदेदि    | ३७३ गो. जी. ४७६. |           |             |
| ३७ ज्ञानं पण्ण            | ३९० गो. जी. ५१७.              |       |             | १८९ पवत्समिदो तित्तुत्तो | ३७२ गो जी. ४७२.  |           |             |
|                           |                               |       |             | ५२ पवत्सेलपुरे रम्मे     | ६१ जयध. अ. ९     |           |             |

| क्रम संख्या         | गाथा                | पुष्ट | अन्यत्र कहा | क्रम संख्या             | गाथा                  | पुष्ट | अन्यत्र कहा |
|---------------------|---------------------|-------|-------------|-------------------------|-----------------------|-------|-------------|
| ३० पञ्चशततरपतीना    | ४० पञ्चशततरपतीना    |       |             | २२७ वसुहिवहयुपयारा      | ३८२ गो जी. ४८६.       |       |             |
| ३१ प्रमाणनयनिक्षेपे | १० प्रमाणनयनिक्षेपे |       |             | ७७ वास्सविह पुराण       | ११२                   |       |             |
|                     |                     |       |             | १४१ वाहिरपणेदि जत्ता    | २५५ गो जी १२९         |       |             |
|                     |                     |       |             | २११ भविया सिद्धि जेसि   | ३९४ गो जी ५५७         |       |             |
|                     |                     |       |             | ४७ भावियसिद्धताण        | ५९                    |       |             |
|                     |                     |       |             | ११६ भिण्णसमयट्टिपट्टिहु | १८३ गो. जी. ५२.       |       |             |
|                     |                     |       |             |                         |                       |       |             |
|                     |                     |       |             | १३८ मक्कडयममरमुहु       | २४५                   |       |             |
|                     |                     |       |             | १३० मण्णति जदो णिच्च    | २०३ गो जी. १४९        |       |             |
|                     |                     |       |             | ८८ मणसा वचसा काए        | १४० स्या. सू. पु १०१. |       |             |
|                     |                     |       |             | २०५ मरण पत्येइ रणे      | ३८९ गो. जी. ५१५.      |       |             |
|                     |                     |       |             | महावीरिणट्टयो क्कहि     | ६१                    |       |             |
|                     |                     |       |             | २८ माणुससठाणा वि ट्ट    | ४८                    |       |             |
|                     |                     |       |             | १०६ मिच्छत्तं वेयंतो    | १६२ गो. जी. १७.       |       |             |
|                     |                     |       |             | १५३ मूलगणोपरोखीया       | २७३ गो. जी. १८६.      |       |             |
|                     |                     |       |             |                         | मूलाचा. २१३.          |       |             |
|                     |                     |       |             | ७ मूलणिमेण पज्जव        | १३ स. त. १, ५.        |       |             |
|                     |                     |       |             | ४८ मेख्व णिपकप          | ५९                    |       |             |
|                     |                     |       |             | १ मंगलणिमित्तेज         | ७ पञ्जा. ज. से. डी.   |       |             |
|                     |                     |       |             | २०१ मथो बुद्धिबिणो      | ३८८ गो. जी. ५१०.      |       |             |
|                     |                     |       |             | १६ मक्कत्ताउत्तयमुद्धिः | ३३ ति. प. १, १६       |       |             |
|                     |                     |       |             |                         | (मालतरूप)             |       |             |





| पृष्ठ  | म           | पृष्ठ       | श            | पृष्ठ |
|--------|-------------|-------------|--------------|-------|
| १०३    | रोमश        | १०७         | शाकल्य       | १०८   |
| १०७    | रोमहरिणी    | १०८         | शालिभट्ट     | १०४   |
| ६१, ६३ | लोहार्य     | ६५, ६६      | शिवमाता      | ७३    |
| १०८    |             |             |              |       |
| १०८    | व           |             |              |       |
| १०७    | वर्धमान     | ६४, ७२, १०३ | सत्यदत्त     | १०८   |
| १०७    | वलीक        | १०३         | सात्यमुनि    | १०८   |
| १०८    | चन्कल       | १०८         | सिद्धार्थदेव | ६६    |
| १०८    | वशिष्ठ      | १०८         | सुदर्शन      | १०३   |
|        | वसु         | १०८         | सुनक्षत्र    | १०४   |
|        | नाकलि       | १०८         | सुभट्ट       | ६६    |
| ३०२    | वान्मीकि    | १०८         | स्वच्छन्द    | १०८   |
| १०३    | वारिणेण     | १०४         | सोमिल        | १०३   |
| ६६     | विजयाचार्य  | ६६          |              |       |
| २६     | विशामाचार्य | ६६          |              |       |
|        | विष्णु      | ६६          |              |       |
|        | व्याग्रभूति | १०८         | हरिदमथु      | १०७   |
| १०३    | व्यास       | १०८         | गारित        | १०७   |

### ४. भौगोलिक नाम सूची

| पृष्ठ  | अ              | ग  | द           | प      |
|--------|----------------|----|-------------|--------|
| ७१     | गङ्गा          | ०२ | दक्षिणापथ   | ६७     |
| ६७, ७७ | गिरिनगर        | ६७ | वाक्षिणात्य | ७८     |
| ६०     | गांड           | ७७ | द्रामिलदेश  | ७१, ७७ |
|        |                |    |             |        |
|        | गन्धुगुला      |    |             |        |
| ७८     | त्रिज ( गिरि ) |    |             | ६१     |
|        |                |    |             | ६२     |

| पृष्ठ | म          | पृष्ठ | वाल्म     | पृष्ठ  | सा        | पृष्ठ |
|-------|------------|-------|-----------|--------|-----------|-------|
| ७६    | महिमा      | ७८    | विपुलगिरि | ६१, ६२ | सौराष्ट्र | ६७    |
| ७८    | माथुर      | ७९    | वेण्यातट  | ६७     | ह         | ९२    |
| ७१    | वनवास विषय | ७१    | वैभार     | ६२     | हिमवान्   |       |

### ५. ग्रन्थ नामोल्लेख

| क                 | व        | स        |
|-------------------|----------|----------|
| कषाय प्राश्रुत    |          | २१७, २२१ |
| कालसूत्र          |          | १४२      |
| तत्त्वार्थभाष्य   |          | १०३      |
| तत्त्वार्थसूत्र   | २३९, २५९ |          |
| वर्गणासूत्र       | २९०      |          |
| वेदनाक्षेत्रविधान | २५१      |          |
| सत्कर्मप्राश्रुत  |          | २१७, २२१ |
| सम्मतिसूत्र       |          | १५       |

### ६. वंश नामोल्लेख

| इ          | ज   | र        |
|------------|-----|----------|
| अर्द्ध     |     | ११२      |
| इक्ष्वाकु  |     | ११२      |
| काश्यप     |     | ११२      |
| कुब        |     | ११२      |
| चक्रवर्ति  |     | ११२      |
| चारण       | ११२ | राजवंश   |
| जितवंश     | ११२ | व        |
| नाथवंश     | ११२ | वादि     |
| प्रसाध्रमण | ११२ | वासुदेव  |
|            |     | विश्राधर |
|            |     | ह        |
|            |     | ७३, ११२  |

## ७. प्रतियोंके पाठ-भेद.

- १ अ-अमरावतीकी प्रति; आ-आराकी; क-कारंजाकी; स-महाराणकी ।  
 २ " चिन्होंसे तात्पर्य यहां उपरके शब्दोंसे नहीं, किन्तु उमी पंक्तिके बाई ओरके शब्दोंसे समझना चाहिये ।  
 ३. इन प्रतियोंके पाठभेदोंकी दिशा तालानेके लिये यहा केवल थोड़ेसे पाठभेद दिये जाते है । यथार्थतः ऐसे पाठभेद हैं बहुत ही अधिक ।

| पृष्ठ | पंक्ति | अ                | आ           | क        | स           | मुद्रित         |
|-------|--------|------------------|-------------|----------|-------------|-----------------|
| १     | १      | ॐ नमः सिद्धेभ्यः | "           | "        | ॐ नमः त्रि- |                 |
|       |        | ॐ गणधरपरमे-      | अथ श्री धवल | "        | जम्भ्यः ।   |                 |
|       |        | ॐ शिवेश्वराय     | प्रारम्भः । |          |             |                 |
|       |        | नमः । निर्धम     |             |          |             |                 |
|       |        | मस्तु            |             |          |             |                 |
| १     | २      | केवल-            | "           | केवल-    | केवल-       | केवल-           |
| १     | २      | णमह              | "           | "        | णमह         | णमह             |
| ६     | १      | -अगारिजा         | -अक्रिजा    | "        | "           | -अगारिजा        |
| "     | "      | -मल-मूढ-         | -मल-गूढ-    | -मल-मूढ- | -मल-मूढ-    | -मल-मूढ-        |
| ७     | ६      | वक्राण्ड         | "           | "        | वक्राण्ड    | वक्राण्ड        |
| ८     | ५      | परुणय            | "           | "        | परुणय       | परुणय ? ण,      |
| "     | "      | तालफल व          | "           | "        | तालफलं व    | तालफल           |
|       |        | मुत्तुव          | "           | "        | मुत्त व     | मुत्त व         |
| ९     | २      | सयलच्छवच्छाण     | "           | "        | सयलशवधू-    | "               |
|       |        | सच्छाण           | "           | "        | णं सहाण     | "               |
| १२    | १      | -चारणे           | "           | "        | "           | -चारणी          |
| १३    | १      | -णिमोण           | -णिमाणं     | "        | "           | -णिमोण          |
| १३    | २      | सहादीया          | सहादीया     | "        | "           | सहादीया         |
| "     | "      | साहपसाहु         | "           | "        | "           | साहपसाहा        |
| १५    | ७      | -लक्ष्मण         | "           | "        | "           | -लक्ष्मण-कम्पणी |
| १६    | ५      | णियतवाच्य-       | "           | "        | "           | णियतवाच्य-      |

( २० )

| पृष्ठ | पंक्ति | अ                            | आ                  | क | स                         | मुद्रित   |
|-------|--------|------------------------------|--------------------|---|---------------------------|---|
| १     | १      | यज्जय-                       | "                  | " | "                         | यज्जय-  |
| १     | १      | जीयो वा जीयो जीयो वा जीयो वा | जीयो वा वा जीयो वा | " | "                         | जीयो वा, जीवा वा, अजीयो वा, अजीवा वा, जीवो य अजीवो य, जीवा य अजीवो य, जीयो य अजीवा य, जीया य अजीवा य. |
| २०    | ४      | सुगाय-                       | "                  | " | तम्भार-                   | सम्भाव-   |
| २१    | २      | तस्मय-                       | "                  | " | तस्मद्-                   | तस्मय-  |
| २२    | १      | अथाशारत्यादि-                | "                  | " | अथाशारत्यादि              | "   |
| २०    | ४      | जाणिजो                       | "                  | " | "                         | जाणिजा  |
| ३१    | ५      | धिपर्यो.                     | "                  | " | "                         | धिपर्यस्तोः   |
| ३०    | ३      | असौ व्यामोहेन                | "                  | " | सोऽव्यामोहेन              | "   |
| ३३    | ३      | गच्छति कर्त्ता               | गच्छति कर्त्ता     | " | "                         | "   |
|       |        | मिद्धि-                      | कार्यमिद्धि-       | " | "                         | "   |
| ३५    | ६      | नारम्य लम्भ                  | "                  | " | "                         | सारे लम्भ   |
| ३९    | ५      | नमो जिगानाम्                 | "                  | " | तमो जिगानाम् 'णमो जिगानं' | "   |
| ४०    | ४      | कयकाउया                      | "                  | " | "                         | कयकोउय-   |
| ४१    | ६      | जो सुतस्सारीप                | जो सुतस्सारीप      | " | "                         | जो सुतस्सारीप   |
|       |        | सुत्तकत्तारेण                | सुत्तकत्तारेण      | " | "                         | सुत्तकत्तारेण णि-   |
|       |        | करोरेन्दणमो-                 | करोरेन्दणमो-       | " | "                         | करोरेन्दण-  |
|       |        | आरो त णिरत्त-                | आरो त णिरत्त-      | " | "                         | मोकारो त णि-  |
|       |        | मंगल । जो सुत्त-             | मंगल । जो सुत्त-   | " | "                         | कत्तमंगल । जो   |
|       |        | स्सारी सुत्तकत्ता-           | स्सारी सुत्तकत्ता- | " | "                         | सुत्तस्सारीप  |
|       |        | रेण णिवत्तो देव-             | रेण णिवत्तो देव-   | " | "                         | सुत्त-कत्तारेण  |
|       |        | दाणमोकारो तम                 | दाणमोकारो तम       | " | "                         | कय-देवदा-   |
|       |        | णिवत्त मंगल ।                | णिवत्त मंगल ।      | " | "                         | णमोकारो तमणि-   |
|       |        |                              |                    | " | "                         | कत्त मंगल ।   |
| ४३    | ५      | निनष्टेरा                    | "                  | " | "                         | विनष्टेरा   |
| ४६    | ३      | -भुलाः दोसत्त-               | "                  | " | "                         | -भुलादोसत्त-  |



( २३ )

| पृष्ठ | पंक्ति | अ                   | आ               | क               | स               | मुद्रित      |
|-------|--------|---------------------|-----------------|-----------------|-----------------|--------------|
| १७९   | ४      | -ख्यानानुरूपेः      | "               | "               | -ख्यानोरूपेः    | "            |
| "     | ५      | -क्षयोपशमोप-        | -क्षयोपशमज-     | "               | -ख्यानोरूपेः    | -क्षयोपशमोप- |
| १८१   | ३      | शमज-                | "               | "               | शमज-            | शमज-         |
| "     | ५      | -करणनाम-            | "               | "               | -करणनाम-        | "            |
| १८३   | ९      | -देशी               | "               | "               | -देशा-          | "            |
| १८४   | ६      | -राश्य-             | "               | राश्य           | "               | "            |
| १९६   | ६      | तासु                | "               | "               | तासु            | तेषु         |
| १९८   | ६      | -स्यात्पौ-          | "               | "               | -स्यापौ-        | "            |
| १९९   | १      | क्षेयसमवि           | "               | "               | क्षेयसमवि-      | "            |
| २०१   | ८      | -माक्षिष्ट-         | "               | "               | -मैक्षिष्ट-     | "            |
| २०२   | ५      | -स्यापत्य           | "               | "               | -स्यापत्यानि    | "            |
|       | ५      | तत्तु अंचति         | "               | "               | तदञ्चति         | "            |
|       | ४      | तदञ्चति             | -दृष्ट्यादिसु   | "               | -दृष्टिसु       | "            |
| २१०   | ९      | तद्व्य-             | तद्व्य-         | तद्व्य          | तद्व्य          | "            |
| २२१   | ४      | -मनुत्तमुत्तमुत्त-  | "               | "               | -मनुत्तमुत्त-   | "            |
| "     | ६      | तदो                 | आर्यारि-        | आर्यारि-        | आर्यारि-        | आर्यारि-     |
|       | ६      | आर्यारि-            | रियकस्माणं      | रियकस्माणं      | रियकस्माणं      | रियकस्माणं   |
| २२३   | ६      | अपणो                | तदो अपणो        | अपणो            | अपणो            | "            |
| "     | ७      | गमियमिदं            | "               | "               | गमिय            | "            |
| २२८   | ३      | -सयतास्ता-          | "               | "               | -सयतास्ता-      | "            |
| २३०   | २      | -त्वोदेशा-          | "               | "               | -त्वोदेशा-      | "            |
| "     | ५      | -वासजनना-           | "               | "               | -वासजनना-       | "            |
| २३३   | २      | -मान्द्य-           | "               | "               | -मान्द्य-       | "            |
| २६६   | ७      | किट्टेण             | "               | "               | किट्टेण         | "            |
| २६७   | ११     | -शक्त्याविर्भावित   | -शक्त्युपबृंहि- | -शक्त्याविर्भा- | -शक्त्याविर्भा- | "            |
|       |        | वृत्तयः             | तद्वृत्तः       | वित्तवृत्तयः    | वित्तवृत्तयः    | "            |
| २७६   | ७      | सप्रतिघातः          | "               | "               | सप्रतिघातः      | "            |
| २७९   | ६      | स्यादप्रयत्नो       | "               | "               | स्यात् प्रयत्नो | "            |
| २८१   | ४      | समनस्के             | "               | "               | समनस्केषु       | "            |
| २८२   | ५      | सरस रूप-            | "               | "               | तत्स्वरूप-      | "            |
| "     | "      | -मुत्तरसूत्रद्वयमाह | "               | "               | -मुत्तरसूत्रमाह | "            |

( २४ )

| पृष्ठ | पंक्ति | अ                 | आ                 | क                 | स                 | मुद्रित |
|-------|--------|-------------------|-------------------|-------------------|-------------------|---------|
| "     | ७      | सजोगिकेवलि        | अजोगिकेवलि        | "                 | सजोगिकेवलि        | "       |
| २८९   | ७      | तत्रान्तर्जल्पस्य | तत्रान्तर्जल्पस्य | तत्रान्तर्जल्पस्य | तत्रान्तर्जल्पस्य | "       |
| ३९२   | २      | मिस्सकायजोगो      | "                 | "                 | मिस्सजोगो         | "       |
| २९३   | ५      | पूत शरीर-         | "                 | "                 | पूर्व शरीर-       | "       |
| २९८   | ३      | तत्तच्च डिडेवु-   | "                 | "                 | तत्तच्च डिडेवु-   | "       |
| ३०२   | ३      | सर्वघाति-         | "                 | "                 | सर्वघाति-         | "       |
| "     | १०     | चेतेषु            | "                 | "                 | चेते              | "       |
| ३०५   | ३      | -धारणाभावान्न     | धारणान्न          | -धारणाभावान्न     | "                 | "       |
| ३०६   | २      | ऽप्यथा न          | "                 | "                 | ऽप्यथा            | "       |
| ३१६   | २      | वलेनोच्छन्न-      | "                 | "                 | वलेनोरत्न-        | "       |
| ३१९   | २      | प्रवृत्तसूत्र-    | "                 | "                 | प्रवृत्तसूत्र-    | "       |
| "     | ३      | कुतो भवेत्        | "                 | "                 | कुतो भवेत्        | "       |
| ३२०   | ५      | तत्र तु न         | "                 | "                 | तत्रतन            | "       |
| "     | ७      | सन्त्येताभ्यां    | "                 | "                 | सन्त. ताभ्यां     | "       |
| ३२१   | ७      | प्राप्तौ यौ-      | "                 | "                 | प्राप्त्यौ-       | "       |
| ३२४   | ७      | नियमान्न          | नियमान            | नियमान्न          | विद्यमान-         | "       |
| ३२५   | ८      | संज्ञासंज्ञद-     | संज्ञासंज्ञद-     | "                 | "                 | "       |
|       |        | द्वेषे            | सजद्वेषे          | "                 | "                 | "       |
| ३२६   | १०     | महव्वदो सु य ण    | "                 | "                 | महव्वदार् ण       | "       |
|       |        | अहर दो वा         | "                 | "                 | लहर देवा-         | "       |
| ३३४   | ६      | नन्वतारभक्त्य     | "                 | "                 | न चारभक्त्य       | "       |
| ३३७   | ७      | उवरिम-            | उवरिम-            | "                 | उवरिम-उवरिम-      | "       |
| ३३८   | ३      | -नुपशान्तास्त-    | उवरिम-            | "                 | -नुपशान्त-        | "       |
| "     | ७      | तदुतु न           | तत्र तुन          | "                 | तत्रतन-           | "       |
| ३३२   | १      | पुरद              | "                 | "                 | "                 | "       |
| "     | २      | समाणा             | "                 | "                 | समाणा-            | "       |
| ३५७   | ३      | शब्दस्य           | "                 | "                 | शब्दस्य च         | "       |
| "     | ४      | नि सुतासु-        | "                 | "                 | अनि सुतासु-       | "       |
| ३५८   | ८      | अभेयमासु-         | "                 | "                 | आभेयमासु-         | "       |
| ३६३   | ११     | नामिश्रण          | "                 | "                 | न मिश्रण-         | "       |
| ३६५   | १      | तद्व्यति-         | "                 | "                 | तद्व्यति-         | "       |

| श्रु | पं | क               | आ            | क            | स           | सुद्धित          |
|------|----|-----------------|--------------|--------------|-------------|------------------|
| ३६६  | १  | स्यमोदेश-       | "            | "            |             | स्यमै-वेश-       |
| ३६६  | २० | स्यमसंयत-       | स्यमसंयतस्य  | स्यमसंयत-    |             | स्यमसंयत-        |
| ३६७  | १  | नामभविष्यत्     | "            | "            | शेष रूपमिदं | नामभविष्यत्      |
| ३६७  | ५  | शेष सामेदं      | शेषः सामेदं  | "            |             | शुद्धिव्यय       |
| ३७०  | १  | शुद्धिव्यय      | "            | सूत्रे       |             | "                |
| "    | ७  | सूत्रे          | निशिक्ष्यते  |              |             | "                |
| ३७२  | २० | वादे            | वादे         | वादेन        |             | "                |
| ३७३  | ५  | संजमो           | संजमो        | "            | संजयो       | "                |
| ३७५  | ५  | निमशात्ताना     | निमशात्तानां | निमशात्ताना  |             | "                |
| ३७७  | ३  | निबन्धनायेव-    | निबन्धनाय-   | निबन्धनवेद्य |             | निबन्धनावेवा-    |
|      |    | भवि             | भवि          |              |             | भवि-             |
| ३७८  | ४  | गुणस्थ गुणस्थान | गुणस्थ गुण-  | गुणस्थान     |             | गुणस्थ गुणस्थान- |
|      |    | प्रमाणनिरू-     | स्थान निरू-  | प्रमाणनिरू-  |             | प्रमाणनिरू-      |
| ३८०  | ६  | नियम            | "            | "            |             | नियमित           |
| "    | ९  | न दर्शनस्य      | "            | न दर्शनविषय- | तद्दर्शनस्य | "                |
|      |    | विषय-           |              |              |             |                  |
| ३८१  | ६  | रूपद्वय-        | द्वय-        | द्वय         |             | द्वय-            |
| ३८५  | ८  | मानदर्शन-       | "            | "            |             | मानदर्शन-        |
| ३८८  | ८  | णाणत्वि         | "            | "            |             | णाणी य           |
| ३८९  | १  | द्वय-           | द्वय-        | द्वय-        |             | द्वय-            |
| ३९२  | ८  | नेक्षया ने      | "            | "            |             | नेक्षया तद्      |
| ३९३  | ७  | गन्त्रां        | "            | "            |             | गच्छतां          |
| ३९४  | १  | निष्कलं सो      | "            | "            |             | निष्कलं सो       |
|      |    | भगि             | "            | "            |             | भवन्ति           |
| ३९५  | ६  | त्याग-          | "            | "            |             | त्याग्य          |
| ४०२  | ७  | तिरिक्त्वा      | "            | "            |             | तिरिक्त्वा       |
| ४०३  | ८  | सज्जामंजवा      | सज्जामंजवा   | "            |             | "                |
|      |    | नजवा            | "            | "            |             | "                |
| ४०३  | ९  | मेतत्           | मेतत्        | मेतत्        |             | मेतत्            |
| ४०४  | १  | भयन्ता ममर्थ    | "            | "            |             | भयन्तःसमर्थो     |
| ४०५  | २  | भवत्            | भवत्         | भवत्         |             | "                |
| ४०५  | ५  | पञ्जरा          | पञ्जरा       | पञ्जरा       |             | पञ्जरा           |

## प्रतियोगे छूटे हुए पाठ

सूचना—ये पाठ केवल निर्देशमात्रके लिये दिये जाते हैं। इस प्रकारके छूटे हुए पाठ प्रतियोगे बहुत अधिक है।

| पृष्ठ | पंक्ति | प्रति | कहासे                     | कहा तक                 |
|-------|--------|-------|---------------------------|------------------------|
| २५    | ८      | अ     | चइदं । जीवियासाए          | पविद सरिरं ।           |
| ३९    | ७      | अ     | मंगलकरणीय                 | मंगलकता ।              |
| ५२    | ६      | क     | तां सिद्धस्थरत्नैभ्यो     | स्थरता-                |
| ५३    | ३      | अ     | रत्नैकेदेशस्य             | कृत्स्नकर्मक्षयकर्तृणि |
| ५६    | २      | अ     | प्रतिसमयमसंख्यात          | सततमभ्यर्चनम् ।        |
| ६६    | १०     | अ     | तदो सुभदो                 | भेगदेश-धारया           |
| ८१    | ४      | अ     | स्य बहुयु                 | पमाण छविवहं            |
| ९३    | ९      | आ     | परमाणु जाणदि              | असंखेज्जदि-            |
| ९४    | १      | अ     | उत्तस्सेण                 | अणुक्कस्सोही जाणदि     |
| १२८   | ५      | अ     | पदस्य पयडि-               | पवदि सेत्ते            |
| १३०   | १      | अ     | उत्तरपयडि                 | पयडिडिदिवधो            |
| १७७   | २      | क     | इत्तवान्                  | विरोधः                 |
| १९३   | ८      | अ     | सर्वत्र सर्वदा            | अदृश्यविषये            |
| १९५   | १      | अ     | वाच्यवाचक-                | तस्यास्त्विति चेन्न    |
| २२३   | १      | अ     | तवो अतोमुहुत्त            | पुरिसवेद गवेदि         |
| २२४   | ४      | आ     | मणुसगइपा                  | अहवा                   |
| २३०   | ७      | क     | जीवानां सादृश्यं          | गुणद्वारेण             |
| २५३   | ४      | अ     | तस्सेव                    | समेजगुणा               |
| २८३   | ५      | आ     | संशयान्धव                 | केवलिनो यन्नं          |
| २९०   | ७      | आ     | पदेसा अणंत-               | दृग्भवगणा-             |
| २९८   | ८      | आ     | विरोध इति सर्वाभि-        |                        |
| ३१०   | ९      | क     | अपज्जत्ताण वि अरिथ        |                        |
| ३४८   | ८      | आ     | अकपायः                    |                        |
| ३६१   | ३      | क     | मिथ्यात्वोदयस्य सत्त्वान् |                        |

## विशेष टिप्पण

सूचना—प्रथम सख्यासे पृष्ठ और दूसरीसे पत्तिका तात्पर्य है ।

पृ. प 'वारह-अंगगिद्धा' में ' गिज्जा' पाठ भी प्रतियोंमें मिलता है । इस गाथासे कुछ ११. मिलती जुलती एक गाथा चडुनन्दिश्रावकाचारमें निम्न प्रकारसे पाई जाती है—

वारह-अगगी जा दसण-तिलया चरित्त वरथ-हरा ।  
चोदस पुब्बाहरणा ठवेयव्वा व सुगदेवी ॥ ३९१ ॥

३९. १०. 'देहितो कय' इतना पाठ आराकी प्रतिमें नहीं है, और इस पाठके न होनेसे अर्थका सामञ्जस्य भी ठीक बैठता है, किन्तु पाठ-निश्चय करते समय आराकी प्रति हमारे सामने न होनेसे हम उसे छोड़ नहीं सके और किसी प्रकार अर्थ-संगति विठलाई गई । पर जान पड़ता है कि अ और क. प्रतियोंमें वरह आगेकी गाथा नं. १९ के '(जिनि-) देहिं तो कय' पाठसे लिपिकारोंके दृष्टि-दोषसे आगया है । ऐसे लिपि-दोष इन सभी प्रतियोंमें अनेक हैं । (देखिये प्रतियोंके पाठ भेद)

३७. ५. 'महिमाए मिलियाणं' से यह स्पष्ट नहीं होता कि महिमा एक नगरीका नाम था जहां वरह मुनि-समेलन हुआ । इन्द्रनन्दिसुत श्रुतान्वारमें भी महिमाका उल्लेख आमक है । यथा, देशेन्द्रदेशनामानि वेणाकतटीपुरे महामदिमासमुदितमुनीन् प्राति प्रह्लाचारिणा प्रापल्लेखम् ॥ इस पद्यमें 'देशेन्द्रदेश' 'देशान्धदेश' का अगुद्ध रूप श्रात होता है । 'महामहिमा-समुदितमुनीन्' का 'महोत्सवानिमित्त सम्मिलित मुनि' भी हो सकता है । प्रस्तुत ग्रंथके पृ. २९ पर 'जिनमहिम-सम्यक्कालोऽपि मङ्गलं यथा नन्दी-श्वरदिवसादिः' में 'महिम' का अर्थ उत्सव होता है । वसुनन्दिश्रावकाचारमें भी 'महिम' शब्द नन्दीश्वर उत्सवके अर्थमें आया है यथा—

विविह करेइ महिम् नर्दिसर-चेइय-गिहेचु ॥ ३०७ ॥

इसके अनुसार 'महिमाए मिलियाण' का अर्थ 'नन्दीश्वर उत्सवके लिये सम्मिलित' भी हो सकता है । किन्तु प जुगलकिशोरजी मुस्तारने अपनी श्रुतान्वार कथा (जै सि भा ३, ४) में मदिमाको नगरीका नाम अनुमान किया है और उसे सतारा जिलेके महिमानगढसे अभिन्न होनेका संकेत किया है । इसी अनुसार अनुवादमें उसे नगरीका द्योतक स्वीकार कर लिया गया है । किन्तु है यह प्रश्न अभी भी विचारणीय ।

७१. ५. जिणवालिंयं दहूण पुण्फयंताहरियो वणवामविसयं गदे । यद्वा 'दहूण' का अर्थ अनुवादमें 'देखकर' (दृष्ट्वा) किया गया है । किन्तु इसका अर्थ 'देखनेके लिये' (दृष्टुम्) भी हो सकता है । (देखो भूमिका पृ. १९, पुष्पदन्त और जिनपालित)

७१. ९. 'अण्पाउओ ति अवगय-जिणवालिदेण' इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतान्वारमें यह प्रसंग इस प्रकार दिया है 'विश्रायात्पयुप्यानल्पमतीन्मानवान् प्रतीत्य ततः' जिसका अर्थ यह होता है कि भूतबलिने मनुष्योंको अल्पपयु समझकर सिद्धान्तोंको पुस्तकारुद्ध करनेका निश्चय किया । पं जुगलकिशोरजीने इसना अर्थ इसप्रकार किया है 'भूतबलिने यह मालूम किया कि जिनपालित अल्पपयु हैं' (जै. सि. भा ३, ४) । किन्तु जिनपालितके अल्पपयु होनेसे सिद्धान्तके लोप होनेकी आशंकाका कोई कारण नहीं था, किन्तु पुष्पदन्त और भूतबलिमेंसे किसी एकके अल्पपयु होनेसे सिद्धान्त-लोपकी आशंका ही मकनी थी । इसी उपपत्तिको ध्यानमें रखकर अनुवादमें अल्पपयुका सम्बन्ध पुष्पदन्तसे जोड़ दिया गया है । 'अवगत-जिनपालितात् येन स तेन भूतबलिना' ऐसा समास ध्यानमें रक्खा गया है ।

११२. ५. जगदिद्ध । यह पाठ प्रतियोंका है । टिप्पणीमें इसके स्थानपर 'ज दिद्ध' पाठकी कल्पना संचित की गयी है । वसुनन्दिश्रावकाचारकी गाथा ३ में 'इन्द्रसुण्णा सेणियस्स जह दिद्ध' ऐसा चरण दृष्टिगोचर हुआ । अतः अनुमान होता है कि यहाँ भी संभवतः शुद्ध पाठ 'जह दिद्ध' रहा होगा जिनका संस्कृत रूप 'यया दिष्टम्' होता है ।

१४६. ५. 'अन्तर्विद्विमुन्वयो' आदि । इसका अनुवाद निम्न प्रकार करना ठीक होगा—

समाधान— नर्दा, स्योंकि, अन्तर्मुख चैतन्य अर्थात् स्वरूपमन्वेदनको दर्शन और वहिर्मुख प्रकारको ज्ञान माना है ॥ इत्यादि ।

२२४. ७. उपावाणुच्छेद ना अर्थ अनुवादमें इन प्रकार समझना नार्हे—

शुच्छेद से प्रकारका होता है-उरगदशुच्छेद और अतुपावाणुच्छेद । उनमें उरगदा-शुच्छेदसे द्रव्याधिक नयका ग्रहण किया गया है जिसका अभिप्राय यह है कि जिस समयमें जिस प्रकृतिकी सत्त्वादि-च्युच्छित्ति होती है उसी समय उसका अभाव कहा जाना है । अनुपावाणुच्छेद पर्यायार्थिकरूप है जिसका अभिप्राय यह है कि जिस समयमें जिस प्रकृतिकी सत्त्वादि-च्युच्छित्ति होती है उसके अगले समयमें उसका अभाव कहा जाता है ।

३८५. ६. यदां प्रतियोंमें दर्शनकी परिभाषा न होनेसे वाच्य आधुपासा रह जाता है, अतएव उक्तने अशक्ती पूर्ति पृ. ३८४ पक्ति १ के अनुसार कर दी है, और उतने वाच्यार्था को कोष्टकके भीतर रख दिया है । प्रस्तुत ग्रंथमें यही एक ऐसा स्थल सामने आया जहाँ द्रम अन्यत्रसे पाठकी पूर्ति किने दिना निर्वाह न कर सके ।

३८८. ९. गाथा न २०१ में 'भेज्जो' का अर्थ गोम्पट्टसारकी जीवप्रवोधिनी टीकाओं 'परेणाव-बोध्याभिप्राय' तथा टोडरमलजके हिन्दी अनुवादमें 'जिसके अभिप्रायको और कोई न जाने' किया गया है । किन्तु 'भेज्ज' का अर्थ वैशी नाममालाके अनुसार भीरु होता है । यथा 'भयानुर भेड-भेज्ज-भेज्जलया' । (टीका) 'भेटी भेज्जो तथा भेज्जलओ त्रयोऽपि अमी भीरवानकाः' (दे. ना. पा ६, २०७) । यह अर्थ प्रस्तुत प्रसंगमें तुसरोंकी अपेक्षा अधिक उपयुक्त प्रतीत हुआ । अतएव इसीके अनुसार अनुवादमें 'भीरु' अर्थ ही किया गया है ।



